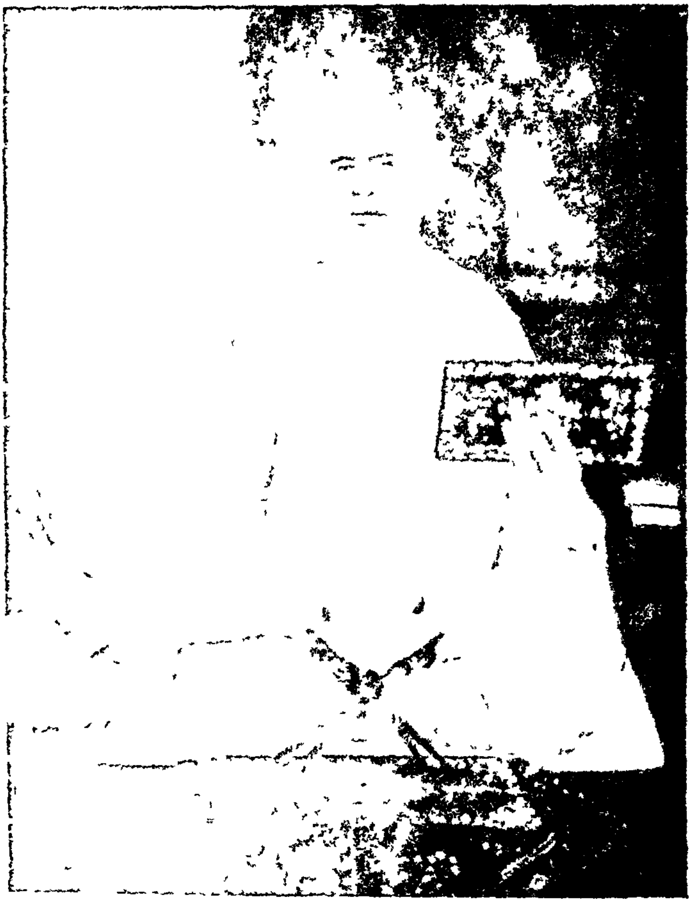


पू. न्यायाम्भोनिधि श्री विजयानन्दसूरीश्वरजी (आत्मारामजी) महाराज

श्री-आत्मानन्दजैनग्रन्थरत्नमालाया द्विनवतितम रत्नम्

तार्किकशिरोमणिनिजशासनवादिप्रभावकाचार्यप्रवर-
श्रीमल्लवादिक्षमाश्रमणप्रणीत

द्वादशारं नयचक्रम्

आचार्य श्रीसिंहसूरिगणिवादिक्षमाश्रमणविरचितया न्यायागमानुसारिण्या
वृत्त्या समलङ्कृतम्

प्रथमो विभाग.

(१–४ अरा)

टिप्पणादिभि परिष्कृत

सपादक

पूज्यपादाचार्यमहाराजश्रीमद्विजयसिद्धिसूरीश्वरप्रशिष्यस्य
पूज्यपादमुनिराजश्रीभुवनविजयस्यान्तेवासी

मुनि जम्बूविजय

प्रकाश प्रापयित्री

भावनगरस्था श्रीजैन-आत्मानन्दसभा

वीरसंवत् २४९२ | विक्रमसंवत् २०२२
ईस्वीसन् १९६६ | आत्मसंवत् ७

इदं पुस्तकं मुंबय्यां लक्ष्मीबाई नारायण चौधरी इत्येताभिः
डॉ. एम्. बी. वेल्करवीथ्यां
२६-२८ तमे गृहे निर्णयसागरमुद्रणालये
मुद्रापितम्

प्रथमाऽऽवृत्तिः

प्रतयः ७५०

मूल्यं २५ रूप्यकाः

तत्र श्री खीमचंद चांपशी शाह, प्रमुख,
"श्रीजैन-आत्मानंद सभा-भावनगर" इत्यनेन प्रकाशितं

Śrī Ātmānand Jain Granthamālā Serial No 92

DVĀDASĀRAM NAYACAKRAM

OF

Ācārya Śrī Mallavādı Ksamāsramaṇa

With the commentary Nyayagamanusarini

OF

Srī Sımhasūrı Gaṇı Vādı Ksamāsramaṇa

PART I

(1 – 4 Aras)

Edited with critical notes by

Muni Jambūvijayajī

Disciple of

His Holiness Munirāja Śrı Bhuvanavijayajı Mahārāja

Grand Disciple of

H H Ācārya Śrı Vijaya Siddhisūrısvarajī Mahārāja

Published by

Srı Jain Atmanand Sabha–Bhavnagar

Vira Samvat 2492 A. D 1966

Vikrama S 2022 Ātma S 70

Printed by
Laxmibai Narayan Chaudhari,
at the Nirnaya Sagar Press,
26-28, Dr. M B Velkar Street,
Bombay 2

First Edition : 750 Copies

Price Rs. 25 00

Published by
Khimchand Champshi Shah,
President, Jain Atmanand Sabha,
Bhavnagar.



पू. आगमप्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजयजी महाराज

प्रकाशकनु निवेदन

महातार्किक, शासन प्रभावक, आचार्यप्रवरश्री मल्लवादिसूरीश्वरजी विरचित **द्वादशार नयचक्रम्** नामे उच्चकोटिनो दार्शनिक आकर ग्रंथ अमारी श्रीजैन आत्मानंद सभा द्वारा प्रकट थाय छे, तेने अमे सभाना अत्यारसुधीना ग्रंथप्रकाशनना इतिहासमां अपूर्व अवसर लेखीए छीए. आ ग्रंथनु प्रकाशन ए जैन साहित्य-प्रकाशनना इतिहासमां एक ऐतिहासिक अने विरल घटना छे, तेम सभानी सात दायका जेटली सुदीर्घकालीन कार्यवाहीमां एक अनोखो सीमास्तंभ बनी रहे एवी घटना छे. दार्शनिक साहित्यनो आ ग्रंथमणि विद्वद्वर्योना करकमलमां भेट धरतां जाणे कोई लुप्त थवाता शास्त्रतीर्थनो पुनरुद्धार करवाना सद्भाग्यना सहभागी थया होईए एवो आनंद, गौरव अने कृतकृत्यतानी लागणी अमे अनुभवीए छीए.

आवी सुख-सौभाग्यनी लागणी अनुभववा अमे भाग्यशाळी थया तेनो पूरेपूरो यश ए लुप्तप्राय ग्रंथरत्नना समर्थ पुनरुद्धारक स्व. परमपूज्य मुनिमहाराजश्री भुवनविजयजी महाराजना विद्वान् शिष्यरत्न परमपूज्य मुनिमहाराजश्री जंबूविजयजी महाराजने घटे छे. पूज्य मुनिश्री जंबूविजयजी महाराज जैन साहित्यना तेमज भारतीय समग्र दार्शनिक साहित्यना तलस्पर्शी अने सर्वस्पर्शी ज्ञाता छे. एमनी अति उच्चकोटिनी आ विद्वत्ताए देशविदेशना संख्याबंध विद्वानोने एमना प्रत्ये आकर्ष्या छे. जो तेओए आ ग्रंथना पुनरुद्धारनु भगीरथ कार्य करवानु स्वीकार्यु न होत, अने पूरा बे दायका सुधी पोतानी समग्र बुद्धि अने शक्तिनो निचोड ए माटे अर्पण कर्यो न होत, तो लुप्त थई गयेल आ मूळ ग्रंथ जेवा रूपमां अत्यारे प्रकाशित थई रह्यो छे तेवा रूपमां प्रकाशित करवानो विचार पण केवळ दरिद्रना मनोरथ जेवो ज रहेत!

जैन साहित्यनो इतिहास तपासतां आचार्यश्री मल्लवादी विरचित आ **द्वादशार नयचक्रम्** महाग्रंथ विक्रमनी तेरमी सदीना प्रारंभ काळ सुधी हयात होवाना पुरावा मळे छे. पण त्यार पछी ए ग्रंथ अमुक काळ हयात हतो एवा प्रत्यक्ष आनुषंगिक पुरावाओ तो मळे छे, पण ए ग्रंथ त्यार पछी एवी रीते लुप्त थई गयो के आज सुधी एनी एक पण हस्तप्रत कोई पण हस्तलिखित ज्ञानभंडारमांथी उपलब्ध थई शकी नथी. आवो उच्चकोटिनो दार्शनिक महाग्रंथ, अने एनु आवी रीते सदंतर लुप्त थई जवु, ए कोईपण तत्त्वज्ञने ऊंडो आघात आपे एवी दुःखद घटना कही शकाय, पण पूज्य मुनिश्री जंबूविजयजीना एकधार्या अविरत प्रयत्नोने अंते ए ग्रंथ, लगभग सांगोपांग रूपमां विद्वानोनी समक्ष रजू थई शके छे. ए माटे जेटलो संतोष अने आह्लाद मानीए तेटलो ओछो छे, एम कहेवु अयुक्त न गणावु जोईए के आ ग्रंथना प्रकाशन समये अमे आह्लाद अने संतोषनी ज लागणी अनुभवीए छीए तेने शब्दो द्वारा व्यक्त करवानु शक्य नथी.

आ ग्रंथना प्रकाशन माटे अमे "पुनरुद्धार" शब्दनो प्रयोग कर्यो छे ते खूब समजपूर्वक कर्यो छे. काळना प्रवाहमां सग्न लुप्त थयेल ग्रंथने अन्य संख्याबंध साधनोनी सहायथी सजीवन करवो ए काम केटलु मुश्केल छे, ए तो एवु काम करनाराज जाणी शके. आवां साधनो नजीक, दूर अने सुदूरथी शोधी शोधीने अने एना उपर कागळोना थप्पाओ अने खिमोना दिवसो ज नहि पण महिनाओ सुधी ऊंडु चिंतन मनन करीने आ ग्रंथने सळंग सूत्रमां तैयार करवामां पूज्य मुनिश्री जंबूविजयजी महाराजे केटली चिंता, अप्रमत्तता अने धीरज अनुभवी हशे एनी तो केवळ कल्पना ज करवानी रहे छे. अमे आ कार्यने शास्त्रतीर्थनो पुनरुद्धार कहीए छीए, ते पण हेतुपूर्वकज कहीए छीए. आ कार्य केटलु कपरु, अतिश्रमसाध्य अने लगभग अशक्य कही शकाय एवी कोटिनु हतु, एनो थोडोक ख्याल

एक रूपकथी आपणने आवी शके. आपणे कल्पना करीए के एक प्राचीन, भव्य अने सुविशाळ जिनमंदिर कोई काळ ना बळे ध्वस्त थई गयु, ए विध्वंस उपर सैकाओना तडकाछायडा वीती गया. दरम्यानमा एना रळियामणा अवशेषो पण माईलो सुधी वेर विखेर थई गया ! पछी, जाणे कोई शुभ भवितव्यतानो योग जागी ऊठ्यो होय एम, कोई भावनाशील यात्रिकनु ध्यान ए तीर्थना एकाद सुविशाळ अने सुमनोहर अवशेष तरफ गयु अने एना अतरमा ए लुप्त जिन मदिरने उभु करवानी अदम्य तमन्ना जागी उठी ए तमन्ना एवी उत्कट के ए एने क्षणभर पण चेन लेवा न दे अने ए मदिरना नजीक अने दूर वीखरायेला अवशेषोने एकत्र करीने जिन मदिरनो पुनरुद्धार करवा प्रेरणा आप्या ज करे आ रीतनो पुनरुद्धार करवामा केटली जहेमत, केटली महेनत अने चित्तनी केटली एकाग्रता जोईए एनो ख्याल मेळवीए तो पूज्य मुनिश्री जबूविजयजीए आ ग्रथना पुनरुद्धारमा जे अतिविरल कार्य करी बताव्यु छे तेनी झाखी थई शके

आ अति मुश्केल कार्य तेओश्रीए देशपरदेशना विद्वानोनो सपर्क साधी सस्कृत, अर्धमागधी, अग्रेजी उपरात तिबेटन, चीनी, फ्रेंच वगेरे भाषाओमा लखायेला सबधित बौद्ध अने ब्राह्मण ग्रथोमाथी सदर्भो मेळवी अथाग प्रयत्नोने अते केवी रीते पार पाड्यु तेनी केटलीक रसप्रद अने प्रेरक विगतो सपादक मुनिश्रीए एमनी प्रस्तावनामा (पृ. ७०)मा आपी छे, ते सौ कोईए वाचवा जेवी छे आ कार्यमाटे तेओश्रीए खास तिबेटन (भोट) भाषानो अभ्यास कर्यो हतो

अमारी सभाने आ ग्रथरत्नना प्रकाशननो यश अपाववा बदल मुनिश्री जबूविजयजीनो अमे कया शब्दोमा आभार मानीए ते समजी शकातु नथी अमे तो तेओने साभार हृदये एटली ज प्रार्थना करीने सतोष मानीए छीए के तेओनी आवी कृपादृष्टि अमारी सभा उपर हमेशा वरसती रहे.

पूज्य मुनिश्री जबूविजयजीना गुरुवर्य पूज्य मुनिमहाराजश्री भुवनविजयजी महाराजनो पण आ कार्यमा जे साथ अने सहकार मळ्यो छे ते माटे अमे तेओनो पण खूब खूब उपकार मानीए छीए. आ ग्रथ प्रकाशित थायछे ते समये तेओ पोते विद्यमान नथी एनु ऊडु दु ख सौ कोई अनुभवे ए स्वाभाविक छे पण आ ग्रथनो जेवी रीते सफळतापूर्वक पुनरुद्धार थयो छे अने एमा पूज्य मुनिवर्यश्री भुवनविजयजीनो जे अविस्मरणीय फाळो छे, अने जेनी विशेष नोंध प्रस्तावनामा विगतवार आपेली छे, तेने लीधे तेओनु नाम चिरस्मरणीय बनी शक्यु छे, एमा शका नथी ए स्वर्गस्थ पूज्य मुनिवरना पवित्र आत्माने अमे आ प्रसगे भावपूर्वक अनेकश वदना करीए छीए

कल्पनातीत कठिनाईओथी भरेलु आ ग्रथना सपादननु महाभारत कार्य पूज्य मुनिश्री जबूविजयजीए सहर्ष स्वीकार्युं अने एने मागोपाग पार उतार्युं, ते पूज्यपाद आगम प्रभाकर मुनि महाराजश्री पुण्यविजयजी महाराजना आग्रहभर्या अनुरोधना प्रतापेज वि. स २००१ मा पूज्य मुनिश्री पुण्यविजयजी महाराजे पूज्य मुनिश्री जबूविजयजीने आगमोना सपादनने बदले आ आकर ग्रथनु सपादन करवानु भारपूर्वक लख्यु, ते पछी ए माटेनी जरूरी बधीज सामग्री एकत्र करी आपी, अने आ माटे जे कई नवीन सामग्रीनी जरूर पडे तेनी गोठवण करवानु पण सतत चालु राख्यु, तेमज आ कार्य क्रमे क्रमे निरतर आगळ वधतुं रहे ए माटे पण एओ पूरी चिंता पण सेवता रह्या आ रीते आ ग्रथना प्रकाशनमा पूज्य मुनिश्री पुण्यविजयजीनो फाळो पण खूबज यादगार बनी रहे एवो छे ग्रथना सपादन अने प्रकाशन माटे जरूरी

आर्थिक जोगवाई माटे पण तेओ सतत चिंता सेवता अने जैन संघने ए माटे प्रेरणा आपता रह्या छे, ए कहेवानी जरूर न होय.

अमारी सभा साथे वीसमी सदीना एक समर्थ ज्योतिर्धर अने शासन प्रभावक आचार्य महाराज न्यायाम्भोनिधि श्रीआत्मारामजी महाराज (श्रीविजयानंदसूरीजी महाराज) नुं पुण्यनाम जोडाएलुं छे तेथी ए समुदायना विद्वान् अने संशोधन कार्यदक्ष एवा मुनिवरोनी अमने हमेशां सहायता अने हूंफ मळती रही छे. तेमां य पूज्यपाद स्वर्गस्थ प्रवर्तकश्री कांतिविजयजी महाराज, तेओना संशोधनदक्ष शिष्यरत्न स्वर्गस्थ मुनिश्री चतुरविजयजी महाराज, तेमज तेओना शिष्यरत्न सर्वविध ज्ञानभंडारोना उद्धारक, आगम तेमज इतर ग्रंथोना मर्मज्ञ अने आदर्श संशोधक, पूज्यपाद आगमप्रभाकर मुनिवर्यश्री पुण्यविजयजी महाराज—ए मुनिवर त्रिपुटीनी तो अमारी संस्था ऊपर हमेशां अपार कृपा वरसती रही छे. आ संस्था अत्यार सुधीमां संशोधन-संपादननी दृष्टिए नमूनेदार अने उच्चकोटिना लेखी शकाय एवा जैन साहित्य ग्रंथोनुं जे सारा एवी संख्यामां प्रकाशन करी शकी छे, ते आ मुनिवर त्रिपुटीना हार्दिक सहकारने लीधे ज.

आगम प्रभाकर पूज्य मुनिश्री पुण्यविजयजी महाराज ए तो सौ कोई जिज्ञासुओ अभ्यासीओ अने विद्वानो माटे ज्ञानना अखूट झरणा रूप छे. एमनी उदारता, सज्जनता अने सहृदयता अति विरल छे. एमनी पासे जुदी जुदी साहित्य प्रवृत्तिओनो केटलो मोटो गंज खडकायेलो हमेशां रहे छे, ए तो एमना कार्यथी परिचित होय तेओ ज जाणी शके. पोतानी आवी अनेकविध प्रवृत्तिओना सतत रोकाण वच्चे पण तेओ अमारी संस्था प्रत्ये जे ममता दाखवता रहे छे अने समये समये जे जरूरी मार्गदर्शन आपता रहे छे, ए ज अमारुं साचुं बळ छे. महाराजश्रीनो उपकार शब्दोथी मानवानो उपचार करवाने बदले एमनी कृपादृष्टिनी याचना करवी ए ज अमारे माटे समुचित छे.

अमारी विनंतिनो स्वीकार करीने आवा एक उच्च कोटिना ग्रंथ माटे वियेना युनिवर्सिटीना तत्त्वज्ञान विषयना विद्वान प्रोफेसर एरिक फ्राउवाल्नेरे उपयुक्त अंग्रेजी प्रस्तावना (Introduction) लखी आपी छे. आ माटे अमे तेओना प्रत्ये अमारी आभारनी ऊंडी लागणी प्रदर्शित करीए छीए.

पूज्य मुनिश्री पुण्यविजयजी महाराजनी प्रेरणाथी जे जे भावनाशील भाईओ, बहेनो अने संस्थाओए आ कार्यमां अमने उदारता पूर्वक आर्थिक साथ आप्यो छे, तेओना अमे हार्दिक आभारी छीए. आ सहायकोनी नामावलि अन्यत्र आपवामां आवेल छे.

मुंबईमां सुप्रसिद्ध निर्णयसागर प्रिंटिंग प्रेसे, पोतानी अनेक मुश्केलीओ वच्चे पण, आ ग्रंथनुं मुद्रण करवानी जवाबदारी स्वीकारी न होत तो अत्यारे आ ग्रंथ जेवा सुघड, स्वच्छ अने व्यवस्थित रूपमां प्रगट थयो छे ते रूपमां भाग्ये ज प्रकाशित थई शक्यो होत. आ माटे अमे निर्णयसागर प्रेस अने तेना संचालकोनो आभार मानीए छीए.

अत्यारे आ ग्रंथना बार आरामांथी चार अरने समावतो पहेलो भाग अमे प्रगट करीए छीए अने बाकीनो भाग यथाशक्य शीघ्र प्रगट करवानी अमारी उमेद छे. अमारी ए उमेद सत्वर पार पडे अने उत्तम कोटिना नवा नवा ग्रंथोना प्रकाशनद्वारा जैन शासननी वधु ने वधु सेवा करवानो अमने अवसर मळे, एवी प्रार्थना साथे अमे आ निवेदन पूरुं करीए छीए.

खीमचंद चांपशी शाह, एम्. ए.
प्रमुख, जैन आत्मानंद सभा, भावनगर

आ. प्र. मुनिश्री पुण्यविजयजी महाराजना सदुपदेशथी आ ग्रंथ माटे नाणांकीय सहायकोना मुबारक नामो

(ई. स. १९४५–१९६०)

५०० ००	श्रीजैन सोसायटी संघ	अमदावाद
१५०० ००	श्री महासुखलालना धर्मपत्नी श्रीमती चंपाबेन विक्रमलाल	अमदावाद
८०० ००	शेठ खुबचंद रूपचंद	पाटण
२५१ ००	शेठ साराभाई पोपटलाल	अमदावाद
१००० ००	शेठ विक्रमलाल महासुखलाल	अमदावाद
२००० ००	शेठ बाबुलाल मोहनलाल छोटालाल पालखीवाळा	अमदावाद
२००० ००	शेठ समदडीया कुंदनमलजी सरदारजी	नागोर
९०० ००	शेठ मणिलाल छोटालाल	पाटण
१००० ००	शेठ हेमचंद मोहनलाल	पाटण
५१०० ००	श्रीबीकानेर संघ	बीकानेर
१००० ००	श्रीमरीन ड्राईव (मुंबई) संघ पर्युषणमां ज्ञानखातानी उपजमांथी द –शेठ चीनुभाई	मुंबई
२१५५ ८२	श्रीसीमंधरस्वामी जैन देरासर द.–ट्रस्टीओ, शेठ नवलचंद छगनलाल, शेठ चंद्रकांत मोहनलाल, शा केसरीचंद नगीनदास	सुरत
१८१०६ ८२		

पूज्यपाद संघस्थविर आचार्य भगवान श्री विजयसिद्धिसूरीश्वरजी महाराजना पट्टालंकार
पूज्यपाद आचार्य महाराज श्री विजयमेघसूरीश्वरजी महाराजना शिष्य



पूज्य गुरुदेव मुनिराज श्री भुवनविजयजी महाराज

जन्म वि. सं. १९५१ श्रावण वदि ५, मांडल
दीक्षा वि. सं. १९८८ जेठ वदि ६, अमदावाद
स्वर्गवास वि. सं. २०१५ माह सुदि ८, शंखेश्वरजी तीर्थ

॥ श्रीमद्गुरुभ्याय नमः । श्रीसद्गुरु शरणम् ॥

पूज्यपाद अनन्तउपकारी गुरुदेव मुनिराज श्री १००८

भुवनविजयजी महाराज !

बहुपुण्यार्जितं दत्वा दुर्लभं शरणं मम ।
लालनां पालनां पुष्टिं कृत्वा वात्सल्यतस्तथा ॥ १ ॥

निर्लीनं धर्मसंस्कारानुत्तमांश्च गृहस्थितौ ।
भवद्भिः सुपितृभ्यां सुबहूपकृतोऽस्म्यहम् ॥ २ ॥

ततो भवद्भिर्दीक्षितो भगवत्त्यागवर्त्मनि ।
अहमभ्युद्धृतो मार्गं तं संसारौघपावनम् ॥ ३ ॥

तत्र शास्त्रोक्तपद्धत्या नानादेशविहारतः ।
अचीकरन् भवन्तो मां तीर्थयात्रां शुभावहाम् ॥ ४ ॥

अनेकशास्त्राध्ययनं भवद्भिः कारितोऽस्म्यहम् ।
ज्ञानचारित्रसंस्कारैरुत्तमैर्वासितोऽस्मि च ॥ ५ ॥

ममात्मश्रेयसे नित्यं भवद्भिश्चिन्तनं कृतम् ।
व्यापृताश्च ममोर्त्से सदा स्वाखिलशक्तयः ॥ ६ ॥

ममाविनयदोषाश्च सदा क्षान्ता दयालुभिः ।
इत्थं भवदनन्तोपकारैरुपकृतोऽस्म्यहम् ॥ ७ ॥

मोक्षाध्वसत्पान्थ ! मुनीन्द्र ! हे गुरो !
वचोऽतिगा वः खलु मय्युपक्रिया ।
असम्भवप्रत्युपकारसाधनां
स्मृत्वाहमद्यापि भवामि गद्गदः ॥ ८ ॥

हे सत्पुरुष ! सर्वदर्शनसमालोचप्रभाभासुरो
विख्यातो नयचक्रमित्यभिधया ग्रन्थो महागौरवः ।
युष्मत्प्रेरणमार्गदर्शनबलात् सम्पादितोऽयं मया
कृत्वा दर्शनशास्त्रबोधममलं सम्पद्यतां श्रेयसे ॥ ९ ॥

— तत्रभवदन्तेवासी शिशुर्जम्बूविजयः

॥ શ્રીશંખેશ્વરપાર્શ્વનાથાય નમ ॥

સ્વ. પૂજ્ય ગુરુદેવ મુનિરાજ શ્રી ૧૦૦૮ ભુવનવિજયજી મહારાજની

સંક્ષિપ્ત જીવનરેખા

પરમપૂજ્ય ગુરુદેવ ભુવનવિજયજી મહારાજનું મૂળ સંસારી નામ ભોગીલાલભાઈ હતું અમદાવાદ (ગુજરાત) પાસેનું દેથળી ગામ એ તેમનું મૂળ વતન, પણ કુટુંબ ઘણું વિશાળ હોવાના કારણે તેમના પિતાશ્રી મોહનલાલ જેઠાભાઈ શંખેશ્વરતીર્થ પાસે આવેલા માંડલ ગામમાં કુટુંબની પેઢી દુકાન હોવાથી ત્યાં રહેતા હતા શ્રી મોહનલાલભાઈનો લગ્નસંબંધ માંડલ ખાતે જ દાનરશીભાઈના સુપુત્રી ડાહીબેન સાથે થયેલો હતો ભોગીલાલભાઈનો જન્મ પણ વિ સં ૧૯૫૨ માં શ્રાવણવદિ પાંચમને દિવસે માંડલમાં જ થયેલો ડાહીબેનમાં ધાર્મિક સંસ્કારો સુંદર હતા અને ઘર પણ ઉપાશ્રય નજીક જ હતું એટલે અવાર નવાર સાધુ-સાધ્વીઓના સમાગમનો લાભ મળતો

એક વખતે શ્રી ભોગીલાલભાઈ પારણામાં સૂતા હતા તેવામાં તે સમયના અત્યંત પ્રભાવશાળી પાયચંદગચ્છીય શ્રી ભાઈચંદજી મહારાજ અચાનક ઘેર આવી ચડ્યા શ્રી ભોગીલાલભાઈની મુખમુદ્રા જોતાં જ તેમણે ડાહીબેનને ભવિષ્યકથન કર્યું કે 'આ તમારો પુત્ર અતિમહાન થશે-ખૂબ ધર્મોદ્યોત કરશે' અને આપણે જાણીએ છીએ કે ૭૦ વર્ષ પૂર્વે ઉચ્ચારેલી આ ભવિષ્યવાણી અક્ષરશ સાચી નીવડી છે.

શ્રી ભોગીલાલભાઈની બુદ્ધિપ્રતિભા અને સ્મરણશક્તિ બાલ્યાવસ્થાથી જ અત્યંત તેજસ્વી હતાં. સામાન્ય વાચનથી પણ નિશાળના પુસ્તકોના પાઠો એમને લગભગ અક્ષરશ કંઠસ્થ થઈ જતા. નિશાળ છોડ્યા પછી ચાલીસ-ચાલીસ વર્ષ વીતી ગયા બાદ પણ એ પાઠ અને કવિતાઓ સાથી અક્ષરશ. તેઓ કહી સંભળાવતા હતા બાલ્યાવસ્થાથી જ જ્ઞાનપ્રેમ એમના જીવનમાં અત્યંત વણાઈ ગયેલો હતો વ્યવહારમાં પણ એમની કુશળતા અતિપ્રશંસનીય હતી પરીક્ષાશક્તિ તો એમની અજોડ હતી.

પંદર-સોળ વર્ષની ઉંમરે ઝીંઝુવાડાના વતની શા પોપટલાલ ભાઈચંદનાં સુપુત્રી મણિબેન સાથે એમનો લગ્નસંબંધ થયો હતો મણિબેનના માતુશ્રી બેની બેન ખૂબ ધર્મપરાયણ આત્મા હતા તેમનું કુટુંબ આજે પણ ઝીંઝુવાડામાં ધર્મઆરાધનામાં શ્રેષ્ઠ ગણાય છે તેમના કુટુંબના સંતાનોમાંથી ઘણા જ પુણ્યાત્માઓએ દીક્ષા લઈને જિનશાસનની ખૂબ પ્રભાવના કરી છે અને આજે પણ પ્રભાવના કરી રહ્યા છે આ રીતે ધર્મસંસ્કારોથી સુવાસિત ધર્મપત્નીના સુયોગથી તેમ જ માતા તરફથી મળેલા ધર્મસંસ્કારોના સુયોગથી તેમના જીવનમાં સોનામાં સુગંધનો યોગ થયો હતો માંડલથી શંખેશ્વરજી તીર્થ ઘણું નજીક હોવાથી શ્રીશંખેશ્વરજીતીર્થ ઉપર પ્રારંભથી જ એમના હૃદયમાં અપાર ભક્તિભાવ હતો શ્રી શંખેશ્વર પાર્શ્વનાથ ભગવાનના ભોગીલાલભાઈ જીવનના પ્રારંભથી જ પરમ ઉપાસક હતા

ભોગીલાલભાઈ સત્તર વર્ષની વયે માંડલ છોડી મૂળ વતન દેથળી ગયા ત્યાં લગભગ બે વર્ષ રહી અમદાવાદ ગયા અને ધંધામાં જોડાયા તેમને બીજા પણ બે નાના ભાઈઓ અને એક બહેન છે કે જેઓ અમદાવાદમાં રહે છે વિ સં ૧૯૭૯ માં મહા સુદિ ૧ ને દિવસે અઠ્ઠાવીસમા વર્ષે તેમને મણિબાઈની કુક્ષિથી પુત્રરત્નની પ્રાપ્તિ થઈ જે હાલ 'મુનિરાજશ્રી જંબૂવિજયજી'ના નામથી પ્રસિદ્ધ છે પુત્ર ચાર વર્ષની વયનો થતાં બત્રીસમે વર્ષે તેમણે સંપૂર્ણ બ્રહ્મચર્ય પાલનની પ્રતિજ્ઞા લીધી યુવાવસ્થા સર્વ પ્રકારની સાધનસંપન્નતા, અનુકૂળ વાતાવરણ આ બધા સંયોગો વચ્ચે પણ આજીવન બ્રહ્મચર્યવ્રતની પ્રતિજ્ઞા સ્વીકારવી એ શ્રી ભોગીલાલભાઈમાં રહેલા દૃઢ આત્મબળની સાક્ષી પૂરે છે

આંતરિક અભિરુચિ, ઘરનું ધાર્મિક વાતાવરણ તેમજ સદ્ગુરુ આદિના સતત સંસર્ગ અને પ્રેરણાને પરિણામે ભોગીલાલભાઈનો પ્રભુભક્તિ, ધાર્મિક આચરણ તથા તપ-જપાદિ આરાધના તરફનો ઝોક વધતો ગયો તેમણે શ્રી સિદ્ધાચળની નવ્વાણું યાત્રા કરી બીજા ઘણા તીર્થસ્થળોની યાત્રા કરી તેમજ હૃદયમાં ઊંડે ઊંડે પણ દીક્ષાની ભાવના પ્રગટવાથી ધાર્મિક તેમજ સંસ્કૃત અભ્યાસ પણ શરૂ કર્યો દીક્ષા લીધા પહેલાં જ સંસ્કૃતભાષાનું તથા કાવ્યાદિનું સારું એવું જ્ઞાન એમણે સંપાદન કરી લીધું હતું

પૂ. આ. શ્રી વિજયસિદ્ધિસૂરીશ્વરજી દાદાના પટ્ટધર પૂ. આ. શ્રી વિજયમેઘસૂરીશ્વરજી મહારાજ ઉત્તમ ચારિત્રપાત્ર, ત્યાગી અને જ્ઞાની સત્પુરુષ હતા. તેમની ધર્મદેશના ઉચ્ચ કોટિની ગણાતી હતી. ભોગીલાલભાઈના ધાર્મિક જીવન ઉપર તેની ઘણી અસર થઈ હતી અને તેથી એ તેમના પરમ ભક્ત બન્યા હતા. વિ. સં. ૧૯૮૮માં શ્રી ભોગીલાલભાઈની દીક્ષાની ભાવના જાગ્રત બની, પણ પુત્ર દશ વર્ષનો હતો તેમજ તેમના પત્નીના માતા-પિતા વગેરે પણ હયાત હતા. તેઓ બધા આ બાબતમાં સંમતિ આપે તેમ ન હતા. આમ દીક્ષા કઠિન બની. એટલે તેમણે ગુપ્ત રીતે જ અમદાવાદમાં પૂ. આ. શ્રી વિજયસિદ્ધિસૂરીશ્વરજી દાદાના વરદ હસ્તે વિ. સં. ૧૯૮૮ના જેઠ વદિ છઠને દિવસે દીક્ષા લીધી અને પૂ. આ. શ્રી વિજયમેઘસૂરીશ્વરજી મહારાજના શિષ્ય તરીકે તેમને સ્થાપવામાં આવ્યા અને 'મુનિરાજશ્રી ભુવનવિજયજી' તરીકે પ્રસિદ્ધ થયા.

સંયમી જીવન સારી રીતે નિરતિચારપણે ચારિત્રપાલન કરતા તેમણે સારી સુવાસ ફેલાવી હતી. અપ્રમત્તભાવે સતત જ્ઞાનોપાસના એ એમની એક મોટી વિશિષ્ટતા હતી. [illegible] કાવ્ય-સાહિત્ય આદિનો અભ્યાસ કરવા ઉપરાંત આગમશાસ્ત્રોનું અવગાહન એમણે શરૂ કર્યું અને આ પરમપદમાં જ તેમણે શાસ્ત્રોનું ઊંડું જ્ઞાન પ્રાપ્ત કરી લીધું હતું. આગમસાહિત્ય પ્રભુની સાક્ષાત્ વાણીરૂપ હોવાને લીધે તેના ઉપર તેમને ઘણો જ અનુરાગ હતો. જીવન દરમ્યાન ૪૫ આગમોમાંથી ઘણા ભાગના આગમોનું ટીકા સાથે તેમણે વાચન-મનન કર્યું હતું. કેટલાક આગમોનું તો તેમણે અનેકવાર વાચન-મનન કર્યું હતું.

દૃઢ મનોબળ, અપ્રમત્તતા, નિઃસ્પૃહતા, નિરભિમાનિતા, ઉચ્ચ તપ, અપૂર્વ સત્ત્વ, વાત્સલ્ય, માર્ગની [illegible] નિર્ભયતા, ધીરતા, અત્યંત નિર્મળ ચારિત્ર, સતત જ્ઞાનોપાસના તથા ઉત્કટ પ્રભુભક્તિ આ એમના જીવનની ખાસ વિશિષ્ટતાઓ હતી.

જિનેશ્વરદેવોના પરમ કલ્યાણકર સંદેશનો જગતમાં ખૂબ જ પ્રચાર અને પ્રસાર થાય એ માટે એમના હૃદયમાં ઘણી જ પ્રબળ ઝંખના હતી.

વિ. સં. ૧૯૯૩માં તેમના સંસારી પુત્રે પણ પંદર વર્ષની વયે પૂ. શ્રી ભુવનવિજયજી મહારાજ પાસે પરમ ભાગવતી દીક્ષા વૈશાખ સુદિ ૧૩ના દિવસે સ્વીકારી અને 'મુનિરાજશ્રી જંબૂવિજયજી' તરીકે પ્રસિદ્ધિ પામ્યા. વિ. સં. ૧૯[illegible]માં સંસારી પત્ની મણિબહેને પણ તેઓશ્રીના જ ગુરુને દીક્ષા સ્વીકારી અને તેમનું નામ સાધ્વીશ્રી મનોહરશ્રીજી રાખવામાં આવ્યું.

મુનિરાજશ્રી જંબૂવિજયજી તીવ્ર બુદ્ધિશાળી હોવાથી તેમને ઘડવા માટે પૂ. મહારાજશ્રીએ પૂરો પ્રયાસ કર્યો. કયા જનક કયો પિતા એનાથી ન હરખાય? તેમજ તેજસ્વી શિષ્યથી કયા ગુરુ ગૌરવ ન પામે? તેમાંય મુનિરાજ જંબૂવિજયજી તો સંસારીપણાના પુત્ર. લોભીનો ખજાનો [illegible] મધુર જળને જુદી જુદી રીતે વાળી કુશળ ખેડૂત પોતાના ખેતરને હરિયાળું બનાવે તેમ મુનિરાજશ્રી જંબૂવિજયજીના જ્ઞાન, દર્શન અને ચારિત્રની [illegible] સમાન બનાવી [illegible] મનોહર મૂર્તિ બનાવવા માટે વર્ષોનો પરિશ્રમ ઉઠાવે અને પોતાની સર્વ શક્તિનો વ્યય કરે, તેમ ભવિષ્યના મહાન ચિંતક અને [illegible] તેમજ નૈષ્ઠિક મુનિરાજશ્રી જંબૂવિજયજીના ઘડતર માટે સ્વર્ગસ્થ ગુરુદેવે અહર્નિશ પ્રેમભાવે અવિરત પ્રયત્ન કર્યો હતો. આજે મુનિરાજશ્રી જંબૂવિજયજીનું નામ વિદ્વાન-જગતમાં મોખરે છે. તેઓ તિબેટી, [illegible] અનેક દેશી-વિદેશી ભાષાઓ જાણે છે અને 'નયચક્ર' જેવા દુર્ઘટ ગ્રંથનું સંપાદન કરી રહ્યા છે.

'નયચક્ર' જેવા મહાન ગ્રંથરૂપી ઉચ્ચકોટિના મહત્ત્વ સભર [illegible] જટિલતા અને ગહનતાની [illegible] 'નયચક્ર'ના સંપાદન માટે તેઓશ્રીએ તિબેટની ભાષાના અભ્યાસ કર્યો અને ઓછામાં ઓછા [illegible] અનેક પરિશ્રમ પછી 'નયચક્ર'નો પ્રથમ વિભાગ જે અત્યારે પ્રકાશિત થઈ રહ્યો છે તેનો યશ આ માનવ સમાજને જ [illegible] ખરેખર સમાજને માટે અત્યંત ગૌરવનો વિષય છે.

INTRODUCTION

Mallavādi counts among the great names in the older history of the Śvetāmbara sect. Tradition reports his decisive victory over the Buddhists. Nevertheless until recently nothing had been known of his teachings because his works have not been handed down to us. No manuscripts have been found so far and there is but little hope that they will be unearthed. There exists, however, a commentary to one of Mallavādi's works, the Nyāyāgamānusāriṇī by Siṃhasūri, the work to which this publication is dedicated. And it is with its help that to a wide extent the reconstruction of Mallavādi's original is made possible. Above all we get acquainted with Mallavādi's views and doctrines.

Through this work we come to know Mallavādi as a remarkable and somewhat selfwilled thinker. It was mainly one aspect of the Jain doctrine with which he was occupied, viz. the doctrine of the Naya, the various possibilities to consider things. By means of quotations we know of a commentary to Siddhasena Divākara's Sammatitarkaprakaraṇam which is one of the most important works dating to an earlier period that deal with the subject in question. As the name indicates already, also the Nayacakram deals with the same subject, and it is Mallavādi's merit to develop new possibilities in its treatment.

Mallavādi's Nayacakram attempts to categorize the old doctrine of the Naya or the various ways of considering things in a new and more systematic order so as to bring about a refutation of all contradicting doctrines. Mallavādi's arguments are based on what Siddhasena Divākara had laid down in his Sammatitarkaprakaraṇam. Besides he is in favour of concepts and trends of thought customary with Indian grammarians. Grammar, he states, has to be recognized by all systems (Sarvatantrasiddhāntaḥ) and its views are binding for them all.

The old doctrine of the Naya teaches a number of standpoints which form a basis for the consideration of things. It holds that each of these modes of consideration by itself is onesided and therefore wrong so that true knowledge of things only becomes possible by the combination and concentration of all modes (Jainism). According to their object the latter have been divided into two groups by Siddhasena Divākara: modes aiming at the thing per se, i. e. substance (davvatthianayo), or its qualities and states (pajjavanayo). His ideas are based on the Jain view of the essence of things as we find it clearly defined with patriarchs such as Kundakunda. According to them things consist of their substance (dravyam) or their essence (bhāvaḥ) and their various qualities (guṇāḥ) and states (paryāyāḥ), but they have no

essential existence of their own as they have in the Vaiseşikam, but are welded into an inseparable unity The "being" of things (bhāvah) is a "becoming" (bhavanam), i e it exists in an incessant continuity of changing phenomena, a process in the course of which they continually shape into a new state

Here Mallavadi's trends of thought take their start. the substance of things in contrast to the continually changing states may be accepted as the common and general feature (sāmānyam) within them, while in the conditions the restricted, the special (viśesah) manifests itself Accordingly also the modes of consideration aiming at the substance of things or their states, can be differentiated If, viz things are being considered according to their substance, i e to their feature general, the result is a general statement, an affirmation or an assent (vidhih, utsargah)[1] Are they, on the other hand being considered according to their states, i e to their special feature, the result is a limited statement, a restriction or a negation (niyamah, apavādah) Thus, for the consideration of things two possibilities are given general affirmation and assent, or specific restriction and negation As a third item a connection of both these viewpoints is added

Thus, Mallavadi teaches three fundamental modes of considering things general affirmation (vidhih), affirmation and restriction (vidhiniyamam), pure restriction (niyamah) In addition hereto each of these modes of consideration can be subject of the same three viewpoints, so that finally a total of twelve modes of consideration is brought about They are

1 vidhih, 2 vidher vidhih, 3 vidher vidhiniyamam, 4 vidher niyamah,

5 vidhiniyamam, 6 vidhiniyamasya vidhih, 7 vidhiniyamasya vidhiniyamam, 8 vidhiniyamasya niyamah,

9 niyamah, 10 niyamasya vidhih, 11 niyamasya vidhiniyamam, 12 niyamasya niyamah

Arranged in a circle these twelve modes form the "wheel of modes of consideration" (nayacakram), at the same time the title of Mallavādī's work By taking into account these twelve modes of consideration Mallavadī believes to have exhausted all possibilities in the consideration of things This entails that all philosophical systems have to range with these modes of consideration In order to prove them wrong their place in this framework must be defined, whereby their possible onesidedness or their errors may be uncovered

1 It should be noted that the terminology applied here corresponds to the terminology of grammar

Thus, the main contents of Mallavadi's work is the framing and refutation of various philosophical doctrines. It is easily understandable that such procedure was not at all easy, considering the fact that the framework at his disposal was firmly established. His method is often reckless even on the verge of forcefulness. Yet, it never lacks in intellectual brilliance. The principal line in the first four chapters of the present volume runs as follows.

Chapter 1. The first and simplest viewpoint, the simple, general affirmation (vidhih) is the viewpoint taken by ordinary men (laukikāh) towards things. It accepts things as they appear refuting at the same time the attempt to define them further by a philosophical system which may either see a common factor in all things (sāmānyam) as does Sāmkhyam, something specific (visesah) as the Buddhists do, or both, as it is the case with Vaiśeṣikam. This viewpoint is vindicated in the fact that it considers the essence of things i. e. their process of becoming (bhavanam). According to an old rule of grammar the intrinsic which concerns the inmost essentials of things (antarangam) claims priority to all external definitions (bahirangam) of commonness, specificity or both. This viewpoint is essentially agnostic (ajñānikavādah) as it renounces a priori any attempt to define the essence of things in concreter terms stating its futility. Here it coincides with the Pūrvamīmāmsā, which declares only the ritualistic precepts of the Veda as essential for man's happiness repudiating any philosophical consideration of things[1]. That is also why Mallavādi includes the Pūrvamīmāmsā in this viewpoint.

Furthermore, this chapter includes a highly interesting sideline. In the attempt to reason his viewpoint the defender of the first mode of consideration bases his argument on perception. He introduces perception as conceived by ordinary men and repudiates any philosophical doctrine as to its nature. Thus wide space is given for the discussion of the Buddhist theory of perception.

Chapter 2. As a second viewpoint Mallavadi mentions the express affirmation of the most general kind (vidher vidhih). The first viewpoint had left undetermined the exact nature of being or becoming. The analysis of this word which is effected according to the rules of Indian grammarians by its verbalization, shows that becoming means that something becomes something else (bhavatiti bhavah). Becoming therefore is in need of a subject (kartā) or vehicle. What then is the vehicle of all becoming? In reply to this question Mallavādi quotes several doctrines of which the

1 The development of the Mīmāmsā into a philosophical system belongs to the time after Mallavādi.

following always contradicts the preceding The first of these doctrines makes a world-soul (puruṣaḥ) the vehicle of becoming, the second necessity (niyatiḥ), the third time (kālaḥ), the fourth "the own being" or the nature of things (svabhāvaḥ), and the fifth finally being per se (bhāvaḥ), which Mallavādi follows with Bhartṛhari's doctrine of the word as the First Cause of all things (śabdabrahmavadaḥ)

Chapter 3 Against this viewpoint stands a third which refutes the vehicle of becoming as the sole principle It manifests itself in two doctrines the Sāmkhya system and the doctrine of a godhead as the creator of all things (īśvaravādaḥ) And again Mallavādi allows the first of the two doctrines to be contradicted by the second The viewpoint of the Sāmkhya system reasons in the following way it differentiates two forms of being or becoming, being present (sannidhibhavanam) and *coming about* (āpattibhavanam) Only an existent duplicity, however, makes them possible As concerns being present someone who knows (jñātā) presupposes something that is known (jñeyam), someone who enjoys (bhoktā) presupposes something that is enjoyed (bhogyam) and vice versa The coming about requires a manifold unity (anekam ekam) which by changing again and again (pariṇāmaḥ) adopts a new form At the same time it requires a second principle on account of which the change is being brought about. Thus, the two principles of Sāmkhya, the soul (puruṣaḥ) and original matter (pradhānam) are given The doctrine of a godhead does away with the differentiation of being present and coming about It also teaches a duplicity, however a vehicle and causer of all becoming (bhāvayitā or pravartayitā) besides material principles whose becoming it causes and steers (bhāvyam or pravartyam) Both doctrines hold up express affirmation (vidher vidhiḥ) by presupposing a general vehicle of becoming, restrict it, however. by presupposing a second principle that is only passively steered and does not act as the active subject of becoming (vidher niyamaḥ)

Chapter 4 By a fourth viewpoint the supposition of a subject and separate vehicle of becoming is done away with completely At first using as examples action (karma) and soul (puruṣaḥ) Mallavādī shows by a number of rather daring conclusions that neither action nor soul can alone be general cause as they converge in one and the same essential existence The same holds good in general for the steering and the steered, the causing and the caused (pravartakam and pravartyam) Thus, one essential existence remains as the sole vehicle of becoming the "substance that becomes" (dravyam) A subject or causer of becoming (kartā) is eliminated Thus, the second viewpoint, the additional affirmation (vidher vidhiḥ) which demanded such a subject, is refuted It is true though, that simple affirmation (vidhiḥ) remains valid and is to be found in the supposition of the general

vehicle of becoming Yet it is restricted to substance (dravyam) i e the pure process of becoming (niyamah)

So far the contents of the present volume

Already this short survey shows clearly Mallavadi s peculiar but also headstrong way of thinking At the same time the reasons for his success as well as the later disappearance of his works reveal themselves His entirely new way to see things had to baffle his opponents and at the same time helped him to get the upper hand in disputes It was also the cause however for his works not to hold their ground The traditional trends of thought as applied in the various systems their attitude in seeing things could not all of a sudden be deviated into new channels Thus Mallavadi and his works were soon consigned to oblivion That is also why we find hardly any effect of his thoughts Even the polemics of his opponents s schools do scarcely mention him

Still we can count him among the most peculiar and from the stand point of philosophy most important teachers of the Svetambara sect his works being of great interest even today It is through his refashioning of the Naya doctrine that the problem can be seen from a new and more acute angle There is one thing however, that scores a special point of interest for his and Simhasuri s work as mentioned the bulk of it is dedicated to the polemics against other systems Dating back to a time which is extremely lacking in information as to philosophical systems it yields quite a number of news on authors and works of which we know very little indeed To mention a few examples numerous fragments are preserved in chapters one and eight of Mallavadi's work of Dignaga the founder of the epistomological school of Budhism whose works we only know in parts and from Tibetan and Chinese translations In the seventh chapter for the first time we come across a number of fragments of Ravana s Katandi the oldest known commentary to the Vai esika Sutras In the same chapter we also learn of lost works by Praśastapada while the third chapter is one of the main sources for the classical Samkhya and the principal work of that school the Sastitantram by Vrṣagana Mallavadi s Nayacakram with Siṃhasuri s commentary therefore is important not only for Jainism but also for the history of Indian philosophy in general Its publication by means of a highly useful edition is therefore to be warmly welcomed

How difficult this task was can only be valued by someone who has himself tried his hand at it The only thing existent is Simhasuri s commentary which naturally takes Mallavadi s original for granted and is not understandable without it Therefore it is imperial to reconstruct the original from Simhasuri This is difficult and sometimes almost impossible because as a rule Simhasuri quotes only the first and the last words of the sentence to be

॥ ॐ ह्रीँ अर्हं श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥

आचार्यमहाराजश्रीमद्विजयसिद्धिसूरीश्वरजीगुरुभ्यो नमः ।
आचार्यमहाराजश्रीमद्विजयमेघसूरीश्वरजीगुरुभ्यो नमः ।
सद्गुरुदेवमुनिराजश्रीभुवनविजयजीपादपद्मेभ्यो नमः ।

प्राक्कथनम्

भगवतो गुरुदेवस्य प्रेरणा

जैनशासननभोदिनमणिप्रभावकाचार्यश्रीमल्लवादिक्षमाश्रमणविरचितस्य श्रीसिंहसूरिगणिवादिक्षमाश्रमणविरचितवृत्त्या समलङ्कृतस्य द्वादशारस्य **नयचक्र**महाशास्त्रस्यारचतुष्टयात्मकं प्रथमं विभागं विदुषां पुरतः प्रकटयन्तो वयमद्याभूतपूर्वमानन्दमनुभवामः ।

विक्रमसंवत् २००१ वर्षे शहापुरग्रामे [जिल्ला 'ठाणा' मध्ये] यदा चतुर्मासीं स्थितास्तदा कश्चिदागमग्रन्थं सम्पादयितुमस्माकं मनसि विचारः प्रादुर्भूतः । तदानीं च अनेकप्राचीनग्रन्थसङ्ग्रहव्यवस्थापने सिद्धहस्तैः प्राचीनग्रन्थसंशोधने चोत्कटरसिकैः समुद्धहद्भिर्मुनिराजश्रीपुण्यविजयजीमहोदयैरद्यतनशैल्या सम्पाद्य जैनागमग्रन्थान् प्रकाशयितुं 'जैनागमप्रकाशिनी संसद्' इत्यभिधा एका संस्था पत्तननगरे स्थापिताऽऽसीत् । अतो मलधारिश्रीहेमचन्द्रसूरिविरचितवृत्तिसमेतस्य सैद्धान्तिकप्रवरश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणविरचितविशेषावश्यकमहाभाष्यस्य दुर्लभत्वमुपयोगित्वं च विभाव्य भगवतां गुरुदेवानां पूज्यपादमुनिराजश्री१००८ भुवनविजयजीमहाराजानां प्रेरणया तत् सम्पादयितुं मुनिराजश्रीपुण्यविजयजीमहोदयेभ्योऽस्माभिरस्माकं समीहा निवेदिता । तैस्तु एवमुत्तरं लिखितम्–

'मलधारिश्रीहेमचन्द्रसूरिविरचितवृत्तियुतस्य विशेषावश्यकमहाभाष्यस्य प्रकाशनं तावत् सत्वरं सञ्जातमेव । नितान्तमावश्यकता तु नयचक्रप्रकाशनस्य वरीवर्ति । नयचक्रमद्यावधि अमुद्रितम् । किञ्च, मल्लवादिप्रणीतं नयचक्रं तावत् कुत्रचिदपि नैवोपलभ्यते । सिंहसूरिक्षमाश्रमणविरचिता तदीया वृत्तिरेवैका केवलमुपलभ्यते । हस्तलिखितप्रत्यनुसारेण नयचक्रवृत्तेः संशोधनं विधाय, तदनुसारेण नयचक्रमूलं च संकलय्य, अद्यतनशैल्या च साङ्गोपाङ्गं सम्यक् सम्पाद्य सवृत्तिकस्य नयचक्रस्य प्रकाशनं नितान्तमपेक्ष्यते सम्प्रति । यद्यप्येतत् कार्यमतिकठिनं तथापि सर्वथाऽऽवश्यकमुपयोगि चात्यन्तम् । यद्येतत् कार्यं युष्माभिः स्वीक्रियते तर्हि तत्सम्पादनार्थमुपयुक्तां सर्वां हस्तलिखितग्रन्थादिसामग्रीं प्रेषयामि । तस्य मुद्रणप्रकाशनादेः सर्वां व्यवस्थामहं विधास्ये । यदि चैतस्मिन् कर्मणि सहायकत्वेन कश्चित् पण्डितोऽपेक्ष्यते तर्हि तमपि प्रेषयिष्यामि ।'

एवंविधया आग्रहपूर्णया तत्सूचनया मया सहर्षमेवैतत् कार्यं स्वीकृतं प्रत्युत्तरे चाऽऽवेदितं यथा 'पण्डितस्य नापेक्षा, नयचक्रवृत्तेर्हस्तलिखिताः प्रतय एव शीघ्रं प्रेषणीयाः' इति ।

---

१ श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथतीर्थे विक्रमसंवत् २०१[illegible] वर्षे माघशुक्लपक्षे [illegible] पूज्यपादानां भगवतां गुरुदेवानां मुनिराजश्रीभुवनविजयजीमहाराजानां स्वर्गवासः संजातः । तदा स्वर्गवासात् प्राग् श्रीशङ्खेश्वरग्रामे तदा [illegible] लिखितं [illegible] च परिशिष्टानि प्रायः [illegible] मुद्रितम् ॥ इदं तु [illegible]–गुरुदेवानां स्वर्गवासात् प्रागेवास्य ग्रन्थस्य [illegible] मुद्रिता [पृ० १–५८] । तदनन्तरमवशिष्टोऽप्ययं भागो मुद्रितः [५५३–७३७] इति अस्य पुस्तकस्यास्मिन् प्राक्कथने टिप्पणेषु यथायोगं निर्दिष्टोऽस्माभिरिति ॥

नयचक्रवृत्तेरतिविशिष्टायाः प्रतेरवाप्तिः[1]

तदनन्तरमितस्ततो भृशं गवेषयद्भिरस्माभिर्नयचक्रवृत्तेरेकाऽतिदुर्लभाऽतिविशिष्टा च प्रतिरपि लब्धा। सा हि धर्ममूर्तिसूरीणामुपदेशेन गोविन्दमणितनुजेन पुत्रेण लेखिता सम्प्रति भावनगरस्थ 'श्रेष्ठि डोसाभाई अभेचंदनी पेढी'सत्क ज्ञानभाण्डागारे विद्यमानोऽस्माभिरत्र भा० इति सञ्ज्ञिता। उपाध्यायश्रीयशोविजयवाचकैर्नयचक्रवृत्तेरादर्शो विक्रमसंवत् १७१० वर्षे लिखितः। धर्ममूर्तिसूरिभिस्तु वि० सं० १६५० निकटवर्षे लेखितेयं प्रतिः। अतो यशोविजयवाचकलिखितादादर्शात् षष्टिप्रायैर्वर्षैः प्राचीनायामस्यां भा० प्रतौ यशोविजयवाचकवरविरचितादर्शमवलम्ब्य लिखितासु पा० दे० ली० वि० र० ही० प्रतिष्वविद्यमाना बहवो विशुद्धाः पाठा अस्माभिर्लब्धाः। बहुत्र गवेषितापि अस्माभिः भा० प्रतेराधारभूता प्रतिः क्वचिदपि न लब्धा, न वा भा० प्रतिमवलम्ब्य लिखितापि काचित् प्रतिर्दृष्टा, अत ईदृशी एकैव प्रतिरस्मिन् जगति सम्प्रति विद्यते इति वयं सम्भावयामः। अन्यासु सर्वास्वपि प्रतिषूपलभ्यमाना परःसहस्राः शुद्धपाठा अनेकाश्च पङ्क्तयो भा० प्रतौ विद्यन्ते। एतच्च भा० प्रतेरितरप्रतिभ्यो वैशिष्ट्यं पुरस्तात् प्रतीनां परिचये विस्तरेणोपदर्शयिष्यामः। एवं महता पुण्योदयेनेदृश्या अतिदुर्लभाया प्रतेरवाप्त्यैव नयचक्रवृत्तेः संशोधनं सामञ्जस्येन कर्तुं वयमपारयाम।

अतीतेषु सप्तसु वर्षशतेष्वपि मल्लवादिविरचितनयचक्रस्य लुप्तप्रायत्वात् सम्प्रत्यपि बहुशो गवेषितस्यापि कुत्रचिदनुपलम्भाच्च नयचक्रवृत्तिमनुसृत्य तदन्तर्गतान् नयचक्रमूलप्रतीकान् संयोज्य नयचक्रमूलमस्माभिः सङ्कलयितुं प्रारभ्यत।

प्रकाशनायोपक्रमः

एवं बहूनि वर्षाणि नानाविधान् ग्रन्थानवगाह्य परिशील्य च सततं षोडशभिर्मासैः सवृत्तिकस्य नयचक्रस्य मुद्रणप्रायोग्य आदर्शः [प्रसकॉपी] मया स्वयमेवालेखि। तदनन्तरमादर्शो मुद्रणाय प्रेषितः। किन्तु प्रकृतस्वास्थ्यादयो नानाविधा विघ्ना अन्तरा समुपस्थिताः। उपयुक्तसामग्रीसञ्चयेऽपि भूयान् कालो व्यतीतः। मुद्रणालये मुद्रणेऽपि भूयान् विलम्बः सञ्जातः। सम्पूर्णमुद्रणानन्तरं टिप्पणपरिशिष्टनिर्माणमपि द्राघीयसा कालेन निष्पन्नम्। इत्याद्यनेककारणवशादस्य प्रकाशनं चिरतरं विलम्बितम्। अस्य द्वादशसु अरेषु अरचतुष्टयात्मकः प्रथमो विभागः सम्प्रति प्रकाश्यते। अवशिष्टानष्टारान् सम्यक् टिप्पणादिभिरलङ्कृत्य शीघ्रतरमेव प्रकाशयितुमाशास्महे।

विभागयोजना

इदं तु ध्येयम्—द्वादशारमिदं नयचक्रं त्रिमार्गम्। मार्गो नेमिरिव्यवधानतः। अतश्चतुर्षु चतुर्ष्वरेषु एको मार्गः परिसमाप्यते। एवं च त्रिभिर्विभागैर्ग्रन्थोऽयं प्रकाशनीय इत्यस्माकं प्राग् मनीषाऽभूत्। किन्तु तृतीयो मार्गोऽतीव लघुतरः, प्रथमस्तु बृहत्तरः, भा० प्रतौ समग्रस्य नयचक्रस्य ५७२ पत्राणि, तत्र २६८ पत्राण्यादिमारचतुष्टयात्मकस्य प्रथमस्य मार्गस्य, नयचक्रवृत्तावपि 'अर्धमेकपुस्तकं समाप्तम्' इत्युल्लेखः प्रथममार्गान्ते [पृ० ३८५ पं० १६] दृश्यते। इत्यादि परिभाव्य विभागद्वयेन समग्रं नयचक्रं प्रकाशयितुं

---

[1] दृश्यतां पृ० २७१ पं० १५, पृ० २७१ पं० २७, टि० पृ० १४४ पं० २७-३०। 'विधिशब्दसकलभङ्गात्मकसम्यग्दर्शनाधिकारे वर्तमानं विकलनयस्वरूपज्ञानमूलत्वात् सम्यग्दर्शनस्य विध्युभयविकल्पचतुष्टयात्मके तृतीये मार्गे वर्तमानं तत्र नियमभङ्गं प्रथममुक्त्वा अत्राप्यपरितुष्यन् नियमविधिभङ्गारम्भस्त्वाह। इति दशमारे नयचक्रवृत्तौ पृ० ८०४-२॥

मङ्कल्पयाम । तत्रास्मिन् प्रथमे विभागे आद्यमरचतुष्टयं प्रकाश्यते। द्वितीये तु विभागेऽवशिष्टं समग्रमपि नयचक्रं प्रकाशयिष्यते ।

ग्रन्थाभिधानम्

'विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत् ।
जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम् ॥

इति यत् पूर्वश्रुतमहोदधेर्नयप्राभृतान्तर्गतं सङ्क्षिप्तमत्यन्तगम्भीरार्थं गाथासूत्रं यच्च तद् व्याख्यातुं मल्लवादिक्षमाश्रमणैर्विरचितमतिविस्तृतं भाष्यमेतदुभयमपि 'नयचक्रम्' इत्याख्यायते । द्वादशारनिबद्धत्वाद् द्वादशारनयचक्रनाम्नोल्लेखस्य क्वचिद् दृश्यमानत्वेऽपि नयचक्रनाम्नैवास्य प्राधान्येन प्रसिद्धिः ।

आचार्यश्रीमल्लवादिक्षमाश्रमणानां परिचयः

नयचक्रकर्तारः आचार्यश्रीमल्लवादिक्षमाश्रमणा जैनदार्शनिकेषु महावादित्वेन तार्किकशिरोमणित्वेन च परां प्रसिद्धिमुपगताः । याकिनीमहत्तरासूनुभिराचार्यश्रीहरिभद्रसूरिभिरनेकान्तजयपताकास्वोपज्ञवृत्तौ "उक्तं च वादिमुख्येन श्रीमल्लवादिना" [पृ. ५८, ११६] इति वादिमुख्यत्वेन वर्णितत्वात्, कलिकालसर्वज्ञाचार्यश्रीहेमचन्द्रसूरिभिः सिद्धहेमशब्दानुशासने "उत्कृष्टेऽनूपेन" [२।२।३९] इति सूत्रस्य बृहद्वृत्तौ "अनु मल्लवादिनं तार्किकाः" इत्युदाहरणेन मल्लवादिनस्तार्किकेषूत्कृष्टताया प्रतिपादितत्वात्, जिनेश्वरसूरिभिः प्रमालक्ष्मवृत्तौ 'अत एव श्रीमन्महामल्लवादिपादैरपि नयचक्रे एवादरो विहितः" [पृ. ८९] इत्यभिहितत्वाद् जिनप्रवचनस्याष्टसु प्रभावकेषु वादिप्रभावकतया सङ्घतिलकाचार्य-वाचकवरश्रीयशोविजयोपाध्यायादिभिः प्रस्तुतत्वादन्यैरपि च बहुभिर्ग्रन्थकारैस्तत्र तत्र वर्णितत्वाच्च मल्लवादिक्षमाश्रमणानां महावादित्वं तार्किकचक्रचक्रवर्तित्वं च स्पष्टमेव प्रतीयते ।

नयचक्रवृत्तेः प्रान्तभागे दृश्यमानोल्लेखानुसारेण तेषां श्वेताम्बरत्वं क्षमाश्रमणत्वं विजितानेकवादित्वं तत्प्रणीतद्वादशारनयचक्रस्य प्राचीनसप्तशतारनयचक्राध्ययनानुसारित्वं च स्फुटमेव प्रतीयते । तथाहि—

"अधुना तु शास्त्रप्रयोजनमुच्यते—सत्स्वपि पूर्वाचार्यविरचितेषु सन्मति-नयावतारादिषु नयशास्त्रेषु अर्हत्प्रणीतनैगमादिप्रत्येकशतसङ्ख्यप्रभेदात्मकसप्तशतारनयचक्राध्ययनानुसारिषु तन्निश्रार्षे सप्तनय-

---

१ पृ० १ ॥ २ 'पूर्वमहोदधिसमुत्पतितनयप्राभृततरङ्गागमप्रभ्रष्टश्लिष्टार्थकणिकामात्रमन्ततीर्थकरप्रज्ञापनाव्यतीतगोचरमवितथमन नयचक्रमास्यन्तविस्तारं गाथासूत्रम्" [पृ० ९ पं० ४–५] इति स्वयं मल्लवादिनः उल्लेखदर्शनाद् मल्लवादिकथानकेष्वपि यद्यपि 'प्राचीननयचक्रस्य विधिनियमभङ्गवृत्तीत्यादिगाथामवलम्ब्य मल्लवादिना नव्यं नयचक्रं प्रणीतम्' इत्युल्लेखदर्शनाच्च विधिनियमभङ्गवृत्तीत्यादिगाथा प्राचीनागमगता तद्भाष्यं तु मल्लवादिप्रणीतमिति प्रतिभाति । एवं सत्यपि भाष्यस्यास्य व्याख्यानभूतत्वाद् 'विधिनियमभङ्गवृत्ती'त्यादिगाथाया भाष्यमध्यपतितत्वाच्च गाथासूत्रस्य भाष्यस्य मल्लवादिप्रणीतत्वेन प्रसिद्धौ न कश्चिद् दोषः । अत एव "आह मल्लवादी विधिनियमभङ्गवृत्ति ... वैधर्म्यम् ॥" इति स्याद्वादरत्नाकरे वादिदेवसूरिभिः [पृ० ११०] शान्तिसूरीणाम् 'उक्तं च मल्लवादिना—विधिनियमभङ्गवृत्ति ... वैधर्म्यम् ॥" इति उत्पादादिसिद्धेः स्वोपज्ञवृत्तौ [पृ० ००] चन्द्रसेनसूरीणां चाभिधानमपि सङ्गच्छते । दृश्यतां टिप्पृ० १३ पं० ३–१८ । अन्ये त्वाहुः—गाथासूत्रमपि मल्लवादिनैव प्रणीतम्, यतो नयप्राभृतानुसारित्वात् पूर्वमहोदधिसमुत्पतितनयप्राभृततरङ्गागमप्रभ्रष्टश्लिष्टार्थकणिकामात्रत्वं तस्योपपद्यतेतराम्, एवं च शान्तिसूरीणां चन्द्रसेनसूरीणां च वचनमपि यथावत् सङ्गच्छत इति । किन्त्वस्मिन् मते गाथासूत्रस्य प्राचीनग्रन्थान्तर्गतत्ववर्णनपराणां मल्लवादिकथानकानां कथमपि सङ्गतिर्नोपपद्यत इति ध्येयम् ॥ ३ टिप्पृ० १३ पं० १३–२८ ॥ ४ भाष्यत्वेनास्य निर्देशः पृ० २८७ पं० ९ पृ० २९७ पं० १५ पृ० ३०० पं० ९ पृ० ४४१ पं० १२ इत्यादिषु द्रष्टव्यः ॥ ५ दृश्यतां टिप्पृ० १ पं० ११–१५ टि० २ ॥

शनार[नय]चक्राध्ययने च सत्यपि द्वादशारनयचक्रोद्धरणं दु षमाकालदोषवशात्प्रतिदिनप्रक्षीयमाणमेधायुर्बलो त्साहश्रद्धासंवेगग्रहणधारणादिशक्तीनां श्रवणमेव तावद् दुर्लभम्, श्रुतावपि तत्त्वावबोध, बुद्धौ तत्त्वमन्य(प्य?)स्य व्यवहारकाले परप्रत्यायनं प्रत्यादरो दुर्लभ, सत्यप्यादरे ग्रन्थार्थसंस्मरणं तदुद्ग्राहणमुद्ग्राहितार्थप्रतिपादनं चात्यन्त दुरापमिति मत्वा तद्वेदखिन्नान् विस्तरग्रन्थभीरून् संक्षेपाभिलाषिण शिक्षकजनाननुग्रहीतु 'कथं नामाल्पीयसा कालेन नयचक्रमर्थयेरन्निमे सम्यग्दृष्टय' इत्यनयानुकम्पया संक्षिप्तग्रन्थ बह्वर्थमिदं नयचक्रशास्त्रं श्रीमच्छ्वेत**पटमल्लवादिक्षमाश्रमणेन** विहितं स्वनीतिपराक्रमविनिर्जिताशेषप्रवादिविजिगीषुचक्रविजयिना सकलभरतविजयवासिनृपतिविजिगीषुचक्रविनयिना भरतचक्रवर्तिना देवतापरिगृहीताप्रतिहतचक्ररत्नेन स्वपुत्रपरम्परानुयायिजगद्व्यापिविपुलविमलयशसा चक्ररत्नमिव तदिदं नयचक्ररत्नं चक्रवर्तिनामिव चक्ररत्नं पुत्रपौत्रादिनृपतीनां विहितं कृतम्। किमयमिति चेत्, उच्यते—चक्रवर्तिनामिव चक्रवर्तित्वविधये । वादिनां जैनानां जिनशासनप्रभावनाभ्युद्यतानां वादिचक्रवर्तित्वविधये 'वादिचक्रवर्तित्वं विधेयात्' इत्यत(व)मर्थमित्यनेनास्य **नयचक्र**शास्त्रस्य विधाने प्रयोजनमभिहितम्। तदेतदेव **द्वादशारनयचक्रं** सिद्धं प्रतिष्ठितमव्याहतं चक्रवर्तिचक्ररत्नवदेव अन्याविप्रधृष्याचिन्त्यशक्तिपराभिभवनप्रभुशक्तियुक्तं च सिद्धम्।"

भगवतो मल्लवादिनो जीवनवृत्तान्त

मल्लवादिजीवनवृत्तविषयिका संस्कृतप्राकृतभाषानिबद्धा बह्वय कथा उपलभ्यन्ते। विस्तरेण ता **कथावली प्रभावकचरिता**दिभ्योऽवगन्तव्या । अत्र तु प्राचीनकथानां कश्चित् सार एव संक्षेपेण प्रदर्श्यते—

---

१ आमन्त्रनाभिभेदानामानन्त्यं **नयचक्रत** ॥ ७७ ॥ इति अकलङ्कदेवप्रणीते **प्रमाणसंग्रहे**। "तत मूलनयद्वय शुद्ध्यशुद्धिभ्यां बहुविकल्पा नया **नयचक्रत** प्रतिपत्तव्या पूर्वपूर्वा महाविषया उत्तरोत्तरा अल्पविषया अल्पविकल्पपरिमाणाश्च।" -अष्टसहस्री पृ २८८। "संक्षेपेण नयास्तावद् व्याख्यातास्तत्र सूचिता । तद्विशेषा प्रपञ्चेन सञ्चिन्त्या **नयचक्रत** ॥" -तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ २७६। "इष्टं तत्त्वमपेक्षातो नयानां **नयचक्रत** ॥ [न्यायविनिश्चय ३।९१]॥ तदत्तया सकलविकल्पानामवान्तरविकल्पानेकप्रकाराणां नयानामपेक्षातः प्रतिपक्षोपादानाल्पल्पाऽपेक्षया तत्त्वं श्रुतविकल्पत्वेन प्रमाणत्वमिष्टमभ्युपगतम्, अन्यथा दुर्नयत्वात्तदनुपपत्तेः। इत्थं तदा तत्त्वं विस्तरतो **नयचक्रत** तन्नामधेयचिरन्तनशास्त्रात् प्रतिपत्तव्यम्। इति न्यायविनिश्चयविवरणे पृ ३६६-३६७।—एवमेव दिगम्बरजैनग्रन्थेष्वपि **नयचक्रा**भिधस्य चिरन्तनशास्त्रस्योल्लेखा प्राप्यन्त इत्यपि ध्येयम्॥ २ प्रायो विक्रमीयद्वादशशताब्द्या उत्तरार्धे विद्यमानभद्रेश्वरसूरिभिर्विरचिते प्राकृतभाषामये **कहावली**नामके ग्रन्थे विक्रमसंवत् १३३४ वर्षे प्रभाचन्द्रसूरिभिर्विरचिते **प्रभावकचरिते** मल्लवादिप्रबन्धे [श्लो १-७१] विक्रमसंवत् १३६१ वर्षे वैशाखपूर्णिमायां वर्धमानपुरे श्रीमेरुतुङ्गाचार्यै रचिते **प्रबन्धचिन्तामणौ** प्रकीर्णकप्रबन्धे मल्लवादिप्रबन्धः विक्रमसंवत् १४०५ वर्षे राजशेखरसूरिभिर्विरचिते **प्रबन्धकोशे** मल्लवादिप्रबन्धाख्ये नवमे प्रबन्धे [श्लो० १-६६] विक्रमसंवत् १४२२ वर्षे सहजतिलकाचार्यविरचितायां **सम्यक्त्वसप्ततिवृत्तौ** वादिप्रभावकवर्णने प्राकृतभाषामये मल्लवादिचरिते [श्लो १-८७] च मल्लवादिचरित्रं तावदुपलभ्यते । एतेषु सर्वेषु **कहावली**ग्रन्थस्य प्राचीनत्वात्प्रायावधि अमुद्रितत्वाच्च **कहावली**ग्रन्थत उद्धृत्य मल्लवादिचरितमत्रोपन्यस्यते—

वायगसमाणत्था य सामण्णओ वाइ-खमासमण-दिवायरा। भणियं च—

वाई य खमासमणो दिवायरो वायगो त्ति एगे(ग)ट्ठा उ। पुव्वगयं जस्सेसं(स) जिणागमे तम्मि(म्मि) इमे नामा॥

विसेसओ पुण पुव्वगयं वाउ(इ)ता जो वायं पाउं गमयो सो वाई नाम जहा **मल्लवाई** त्ति मल्लवाय(इ)कहा भण्ण —

भरुयच्छे **जिणाणंदो** नाम सूरी। तहा तत्थेव **बुद्धाणंदो** नाम वाई। पुण य जो वाए पराजिणइ, तद्दरिसणेण(ण)इ न चिट्ठव्वं ति पइण्णाए जिओ जि(जि)णाणंदसूरिणा सह वाओ। तहा[य] वयव्वसाए पराजिय सूरिणा। तओ सो नीसरिउ

एयंतरम्मि य मुक्का गयणत्थाहि मल्लवाइस्सोवरि सासणदेवयाहिं कुसुमवुट्ठी । साहिओ य राइणा जहावत्ति(आ) बुद्धाणंदवुत्तन्तो । तो सउ(त)त्त च नाउं पराजियं ति नीसारीउकामा वि बुद्धदरिसण राया निवारिओ मल्लवाइणा । तओ रण्णा अ(आ)णाविओ जिणाणंदप्पमुहो सघो भरुयच्छे पवेसिओ महाविभूइए । वक्खाणिओ य मल्लवाइणा विहिपुव्वगं(य) नयचक्कगंथो । एवं च निययपभावगो विहरिउं मल्लवाई गओ देवलोयं ति । मल्लवाइ त्ति गयं । जो उण मल्लवाइ व्व पुव्वगयावगाही खमापहाणो समणो सो खमासमणो णाम जत्थ आसी इह सत्थ देवलोयगओ जिणभद्दि(द्द)गणिखमासमणो विरइआ य तेण विसेसावस्सय विसेसणवइस्सयाणि जेसु केवल्नाणदंसणवियारावसरे पयडियाभिप्पाओ सिद्धसेणदिवायरो ।' —पृ २९८–२९९

विक्रमीयचतुर्दशशताब्द्याः पूर्वार्धे विद्यमानैर्नेमिचन्द्रसूरिभिर्विरचितस्य आख्यानमणिकोशस्य

' मोक्खमुहद्दीयभूय सत्ताए पवयणुन्नइ कुणन्ता । विण्हुमुणि–वइर–सिरिसिद्ध–मल्ल–समियऽज्जखउडव्व ॥ २३ ॥

इति गाथाया आम्रदेवसूरिभिः विक्रमसंवत् ११९० वर्षे निष्पादिताया टीकायामपि मल्लवादिनः कथेत्थमुपलभ्यते—

इदानीं मल्लवाद्याख्यानकं कथ्यते—

सरसप्पवालकलिए अमियावासे महाअरण्णे य । रयणायर व्व भरुयच्छपट्टणे निवसए सूरी ॥ १ ॥
नामेण जिणाणंदो बुद्धाणंदाभिहाणभिक्खू वि । निवपुरओ वाओ परोप्परं तेहिं पारद्धो ॥ २ ॥
जो हारइ सो नियमा नयरं परिहरइ विरइया तेहिं । ताहिं वि इमा पइण्णा संघाए तयणु वायम्मि ॥ ३ ॥
भवियव्वयावसेण विणिज्जिओ भिक्खुणा मुणिवरिंदो । नीहरिऊण ससंघो समागओ वल्लहिनयरीए ॥ ४ ॥
पव्वइया सूरिसमा दुल्लहदेवी सम तिहिं पुत्तेहिं । अजियजस–जक्ख–मल्लाभिहाह [सुवि]बुद्धबुद्धीहिं ॥ ५ ॥
समहिज्जियसुत्तत्था तिण्णि वि जाया विसेसओ मल्लो । मोत्तूण पुव्वगयं तह नयचक्कं समग्गंपि ॥ ६ ॥
बारसअरयपमाणं रइयं पुव्वाओ तं समुद्धरियं । अरयाण पत्तेयं पारंभे तह य पज्जंते ॥ ७ ॥
कीरइ जिणाण पूया महापयत्तेण इयरहा विग्घं । सन्नायं वक्खाणे पज्जंतम्मि य सयलसंघस्स ॥ ८ ॥
सूरीहिं तीए अज्जाए अप्पिओ पोत्थयाण भंडारो । अह अन्नया य विहरिउकामेहिं पयपिआ मल्लो ॥ ९ ॥
नयचक्कपोत्थयमिणं न वाइयव्वंति विहरया गुरुणो । अह निग्गयाए अज्जाए तीए कणावि कज्जेण ॥ १० ॥
इह पोत्थयम्मि किं चिट्ठइ त्ति संजायकोउहल्लेण । मल्लेण तयं मेत्तूण छोडियं तयणु से पत्तं ॥ ११ ॥
पढम कड्ढिऊण करम्मि वाइओ तम्मि पढमसिलोगो । निस्सेसमसत्थभावस्स साहगो महुरवाणीए ॥ १२ ॥

विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत् ।
जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम् ॥१३॥

जा सम्मं परिभावइ तस्सऽत्थं ताव देवयाए तयं । अविहित्ति चिंतिऊण सपत्तमवि पोत्थयं हरियं ॥ १४ ॥
तमपेच्छंतो सन्तो जा सञ्जाओ विलक्खवयणो सो । ता आगयाए अज्जाए पुच्छिओ किं विमणोऽसि ॥ १५ ॥
तेण वि पोत्थयहरणं कहियं तीए वि सयलसंघस्स । तं सोउं सामसुहो संघो सव्वोवि संजाओ ॥ १६ ॥
विमलम्मि पवित्तियव्वं न मए नयचक्कपोत्थएण विणा । इक्को य भक्खियव्वा केवलया भोयणे वल्ला ॥ १७ ॥
भणिओ संघेण सो बाहिज्जइत्ति केवलेहिं वल्लेहिं । ता देहरक्खणट्ठए गिण्हसु तं किंपि विगइं पि ॥ १८ ॥
संघाएसं बहु मन्निऊण सो वल्ल-घय-गुलाहारो । गतूण संठिओ गुरुगुहाए गिरिदुग्गसेलस्स ॥ १९ ॥
तत्थट्ठियस्स वि मल्लस्स मुणिवरा दिंति भत्तपाणाइं । तम्मइपरिक्खणत्थं अहऽन्नया देवयाए इमं ॥ २० ॥
भणियं रयणीए के मिट्ठा ? वल्ल त्ति जंपियं तेण । पुणरवि पज्जंते तीए जंपियं छण्ह मासाण ॥ २१ ॥
केण ? त्ति घयगुडेण [ति] जंपिए मल्लचेल्लएण तओ । तस्सेव मइपगरिसरंजियचित्ताए देवीए ॥ २२ ॥
भणियं वर किं पि मणप्पियं तयं मज्झ मग्गसु इयाणिं । तुट्ठ तुट्ठाइ तो मल्लचेल्लएण इमं भणिया ॥ २३ ॥
नयचक्कपोत्थयं मे वियरसु ता देवयाए सो भणिओ । पढमसिलोगाओ च्चिय होही तं तारिसं तुज्झ ॥ २४ ॥
ता देवयाणुभावेण विरइयं तेण तयं नयचक्कं । संघेण वि थुणंतीए पवेसिओ सो विभूइए ॥ २५ ॥
गुरुणो वि विहरिऊण समागया नायसयलवुत्तन्ता । अजियजस जक्ख मल्ले गुणगणजुत्तत्ति तहिं तओ ॥ २६ ॥
संठविया सूरिपदे जाया परवाइवारणमइंदा । अह अन्नया य सिरिमल्लसूरिणा सुमरियं एयं ॥ २७ ॥
जं निस्संघ बुद्धाणंदेण वायमुद्दाए सूरिणा विजिया । भरुयच्छाओ संघेण समया तयणु नीहरिया ॥ २८ ॥

जिनानन्दनामानो जैनसूरयो भृगुकच्छनगरे बुद्धानन्दाभिधेन वादिना पराजितत्वाद् भृगुकच्छं विहाय सुराष्ट्रविषये वलभीपुरं गताः। तत्र जिनानन्दसूरीणां दुर्लभदेवी नाम भगिनी, तस्याश्च अजितयशाः, यक्षः, मल्ल इति त्रयः पुत्राः। सा तत्र त्रिभिरपि पुत्रैः सार्धं सूरीणां समीपे प्रव्रज्यां स्वीचकार। सूरीणां समीपेऽधीयानास्त्रयोऽपि ते सर्वशास्त्रार्थेषु कोविदाधिपा अभवन्। तेषु मल्लो बालोऽपि विशेषेण महाप्राज्ञस्तीक्ष्णबुद्धिश्चाभूत्। तेन श्रुतदेवताराधनं कृत्वा वरं लब्ध्वा

'विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत्। जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम्॥'

इति पूर्वश्रुतसन्दृब्धा प्राचीननयचक्रान्तर्गता सकलतामहापदार्थप्रकाशिका गाथां व्याख्यातुं द्वादशारं नाम नव्यं नयचक्रं प्रणीतम्। तदनन्तरं जिनानन्दसूरिभिः अजितयशा यक्षो मल्ल इति त्रयोऽपि शिष्याः सूरिपदे प्रतिष्ठापिताः। तदनन्तरं भृगुकच्छं गत्वा बालोऽप्यप्रतिमबुद्धिर्मल्लो बुद्धानन्देन समं षड् दिनानि राजसभायां सर्वजनसमक्षं वादं विधाय नयचक्रबलेन वस्तुविचारविकल्पप्रतिविकल्पाद्यविच्छिन्नवाग्मित्वेन बुद्धानन्दं वादे पराजितवान्। ततो राज्ञा जिनानन्दसूरिप्रमुखः संघो वलभीपुरत आनायितो महाविभूत्या च भृगुकच्छे प्रवेशितः। एवं बालोऽप्यतिवादिसमवायाद् विजेतृत्वाच्च मल्लो 'मल्लवादि'नाम्नैव सर्वत्र प्रसिद्धिं जगाम। अत एव चाचार्यश्रीमल्लवादिक्षमाश्रमणानामष्टसु जिनप्रवचनप्रभावकेषु वादिप्रभावकतया विशेषतः प्रसिद्धिः।

आचार्यश्रीमल्लवादिक्षमाश्रमणानां सत्तासमयः—

"श्रीवीरमुक्तितः शतचतुष्टये चतुरशीति [४८४] संयुक्ते।
वर्षाणां समजायत श्रीमानाचार्यखपुटगुरुः ॥ ७९ ॥

नियगुरुजणोऽवमाणं सहस्स परस्स य नाउण। मल्लमुणिंदो मल्लन्व रहसेणं जत्ति सपंतो ॥ २९ ॥
तत्तालिंखपत्तीणं तेण सह भिक्खुणा समारद्धो। निवसहता वाओ बहुदिवसमहाए पवक्खं ॥ ३० ॥
एयस्स गुरूणं सा लिहिंसिओ तिक्खिवाइविदो वि। ता एयम्मि दुहा वि हु बाले किंग मज्ज मा गमणा ॥ ३१ ॥
इय भणिउमेस वाओ समप्पिओ भिक्खुणा मुणिंदस्स। सो वि हु सुमरिय सासनदेविमुवक्खिउमारद्धो ॥ ३२ ॥
सियवायनागजिणमहसवहेउमग्गपवरजुत्तीहिं। काउणमुवण्णासं वरिओ छट्टिम्मपक्खंते ॥ ३३ ॥
भणियं च तेणमणुवाइ संमिस्स नए इम गोसे। तो बुद्धदास भिक्खू निवठाणाओ सनिम्माए ॥ ३४ ॥
चिंतइमुज्झाणेणं मन्वाइ मण्णि सेढिय दुक्खं। सुवन्नजिय भणिओ त लिहिउ समारद्धो ॥ ३५ ॥
परिभावयाए सत्तमज्झिमाए सिर्ताए ता न सेउ किं पि। तस्स समरंत तओ वनस्सिओ हिययमज्झम्मि ॥ ३६ ॥
निवसन्तसहाए भणियव्वं सिह् नए पभासंमि। एवमरज्जवमाणेण सो गओ जत्ति पंचत्त ॥ ३७ ॥
निच्चम्मि निइसउण्णो वीसइणे जा न एइ सो भिक्खू। इस्सरणाय ता तस्स गहण्णा पेल्लिया पुरिसा ॥ ३८ ॥
ते तत्थ गया भिक्खू निज्जंति भित्तीमसीवमुवविट्ठ। वत्तानिवसरणजुय मेडियपाणि विसयपाग ॥ ३९ ॥
गन्तूण तहिं रण्णो साहियमह भणइ मव्वइ एव। जह न हु निमित्ते तहा चिंततो सो भणेवा मओ ॥ ४० ॥
तो तेण द्वारिय नयणु रहण्णा मल्लवाइणो दिज्ज। ज्यमत्त सजाया सव्वत्थ पभावणा महइ ॥ ४१ ॥
निसुणाणच्छमाइ दूरण्णा भिक्खूण इमाण सयलं। तो मल्लवाइणा सो निवारिओ नायरत्तेण ॥ ४२ ॥
सूरी वि जिणाणंदो निव्वा निसिमसवसइत्तो। पचणीओ गहया तम्मुह गुरुविभूइए ॥ ४३ ॥
विहिया पभूयकालं पभावणा मल्लवाइसूरीहिं। निम्मविया य सव्वे वि तेण पव्वाइणो बहुसो ॥ ४४ ॥
सुगोरवसुद्धवेइयाए पडिबोहिय भवियजणं। सिरिमल्लवाइसूरी मरिऊण गओ ३ सरलोए ॥ ४५ ॥
मल्लवाइकहाणं समत्तं ॥ आ आन्नसगिण्णेणे प्रवचनोत्सवविचारोऽष्टादश समाप्त।" —पृ० १७२ ॥

मिथ्यादृष्टिसुरेभ्यो येन सदा सुमतप्रमोन्मीथम् ।
मोचितमिह ताथागतमतस्थितेभ्यश्च बादिभ्यः ॥ ८० ॥
श्रीवीरवत्सराद्‌थ शताष्टके चतुरशीति [८८४] संयुक्ते ।
जिग्ये स मल्लवादी बौद्धांस्तद्‌व्यन्तरांश्चापि ॥ ८१ ॥

इति प्रभावकचरित्र विनयसिंहसूरिप्रबन्धे प्रभाचन्द्रसूरिभिरभिहितत्वाद् वीरनिर्वाणसंवत् ८८४ वर्षे [विक्रमसंवत् ४१४ वर्षे] मल्लवादिसूरीणां विद्यमानत्वमासीदिति निर्णीयते । किञ्च, मल्लवादिसूरिभिर्नयचक्रे वैशेषिक-वसुरात भर्तृहरि-वसुबन्धु दिङ्नागाभिधदिङ्नागप्रभृतीनां येषां येषां मतानि चर्चितानि परीक्षितानि

---

१ भगवन्तत्वार्थवयमेवेति विमर्शप्रवत् पारायणे तत्त्र ' पृ १२४ प १० ॥

२ ' इति भर्तृहर्यादिमतम् । वसुरातस्य भर्तृहर्युपाध्यायस्य मत तु पृ ८११ एव तावद् भर्तृहर्यादिमतमुक्तम् । वसु वसुरातो भर्तृहर्युपाध्याय —पृ ५५८-५९ ।

वसुरातो भर्तृहरेर्गुरुरासीदित्येव नयचक्रटीकातो निर्णीतोऽन्यतोऽपि समर्थितो भवति । तथाहि—वाक्यपदीयस्य द्वितीय काण्डे ४९ कारिकायां भर्तृहरिणा स्वगुरोः शिक्षितं पुण्यराजस्य टीकायां गुरु शब्देन वसुरातस्य ग्रहण कर्तव्यमिति सूचयति । तथाहि— पर्वतादागम लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः । स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः ॥ २ । ४८ ॥ पश्चात् निबन्धकारान्तरिविनिर्मितः इत्याह इति । तत्र उपलभ्य रावणविरचितो मूलभूतव्याकरणागमस्तिष्ठति । कतिपय प्रकरणस्थानीय चन्द्राचार्यवसुरातगुरुप्रभृतीनां मत । स खलु यथावद् व्याकरणस्य स्वरूप तत उपलभ्य स्वतो च शिष्याणां व्याख्याय बहुशाखत्व नीता विस्तरं प्रापित इत्यनुश्रूयते । अथ कदाचिद् योऽसौ विरचय तत्र भगवता वसुरात गुरुणा ममायमागम संज्ञाय वात्सल्यात् प्रणीत इति स्वरचितस्यास्य प्रत्ययस्य गुरुपूर्वकमनभिध युक्तमाह— प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागमसंग्रहः ॥ २ । ४९ ॥ —पृ २८५-२८६ । ४८६ कारिकाया वृत्तावपि [पृ २८४] न तेन स्वगुरोर्भगवतो वसुरातादन्य कश्चित्स भाष्यार्थमवगाहितुमनुभावयुक्त भवति । इत्यभिहितं पुण्यराजेन । किञ्चान्यत् परमार्थेन चीन भाषायां लिखितं वसुबन्धुजीवनचरित महावैयाकरणेन ब्राह्मणेन वसुरातेन वसुबन्धुरचितअभिधर्मकोशे व्याकरणविषया ये दोषा उद्भाविताः ते च वसुबन्धुना निरस्ता इत्युक्तमुपलभ्यते । परमार्थ इत्यनेन जीवनचरित विक्रमात् ६ ५ ६२५ वर्षमध्ये कदाचिदपि चीनभाषायां लिखितवान् । एतच्च चरित तोङ्-पा नामक पत्रे (July 1904) France देशे मुद्रितम् । तदनुसारेण J Takakusu महोदयैर्लिखित A Study of Paramartha's Life of Vasubandhu and the Date of Vasubandhu इत्यस्मिन् निबन्धे निम्नलिखित वर्णन दृश्यते—

'Vasubandhu and Vasurata—Vasurata was according to Paramārtha a Brahmin husband of a sister i e brother in law of king Baladitya He was well versed in the Grammar treatise When Vasubandhu composed the Abhidharmakośa this Brahmin attacked his composition on the authority of the Vyakarana thinking that the Buddhist disputer would certainly defend his own work when the grammatical faults were thus pointed out Vasubandhu answered If I do not understand the Vyakarana how can I ever understand the admirable truth of the Buddhism Thereupon he composed a treatise utterly refuting the thirty two chapters of the Vyakarana Thus the Vyakarana was lost while the Abhidharmakośa survived The king and queen mother gave him some lacs of gold Vasurata further tried to defeat him through the intervention of another scholar' (Journal of the Royal Asiatic Society London April, 1904, p. 45)

भर्तृहरिसमयनिर्णायार्थमपि मल्लवादी अने भर्तृहरिनो समय (जैन सत्यप्रकाश, पु १७ अंक २ November 1951 पृ २९-३० बुद्धिप्रकाश पुस्तक ९८ अंक ११, November 1951 पृ० ३३८-३३५) इत्यस्माक

च तेषु केषाञ्चित् मल्लवादिनः पूर्वकालीनत्वात् केषाञ्चिच्च मल्लवादिना समकालीनत्वात् निकटकालीनत्वाद्वा प्राचीनग्रन्थानुसारेण प्रभाचन्द्राचार्यैर्निर्दिष्टो मल्लवादिसमयः कथमपि न विरुध्यत इति विदाङ्कुर्वन्तु समयनिर्णयरसिका विद्वांसः ।

लेखोऽनन्तर तृतीये टिप्पणेऽत्रैव प्रास्ताने वक्ष्यमाणा अपरे च लेखा द्रष्टव्या । Tibetan Citations of Bhartrhari's Verses and the Problem of his Date by Hajime Nakamura (Studies in Indology and Buddhology Presented in honour of Professor Susumu Yamaguchi on the occasion of his Sixteenth Birthday, Kyoto, 1955, pp 122-139) इत्यत्रापि विलोक्यम् ॥

३ "वसुबन्धोः स्वगुरोः 'ततोऽर्थाद् विज्ञान प्रत्यक्षम्' [वादविधि] इति ब्रुवतो यदुत्तरमभिहित परगुणमत्सराविष्टचेतसा तु येन केनचिदभिप्रायेण स्वमत दर्शितमेव दिङ्नेन वसुबन्धुप्रत्यक्षलक्षण दूषयता ।"–पृ० ९६ । "वसुबन्धुं प्रति उक्ता ये दोषास्ते तत्रापि स्यु ।" पुनर्वसुबन्धुं दूषयितुकामेन विकल्पित स एवार्थ ।"–पृ० ९९ पं० २५-२९ । दिङ्न-वसुबन्ध्वादिभ्यो बुद्धाच्च पूर्वकालत्वात् कापिलस्य तन्त्रस्य आर्हतैकदेशनयमतानुहारित्वाच्च"–पृ० ६९० पं० १७-१८ । "प्रत्यक्षलक्षणवादिनो दिङ्नभिक्षो "–पृ० ६३ पं० ५ । "मायेय-दिङ्नाविव"–पृ० ७२ । "इति निर्दिष्टं स्वार्थमनुमानं मयैव, न वादविधिकारादिभिरिति यत्पुरुषपिक्रयोपसहरत्यान्यापोहिक ।"–पृ० ६८० पं० २२-२३ ।

अत्रेदमनवधेयम्–दिङ्न इति दिङ्नक इति दत्तक इति च दिङ्नागस्यैव नामान्तराणि । एतच्चास्माभि पञ्चमेऽरे पृ० ५४७-५८८ इत्यत्र टिप्पणे विस्तरेणोपदर्शितमिति तत्र विलोकनीयम् । 'भर्तृहरि और दिङ्नाग का समय' नागरीप्रचारिणी पत्रिका, काशी, वर्ष ६०, अङ्क ३-४, स० २०१२, पृ० २२८-२३३) 'भर्तृहरि अने दिङ्नाग' (जैन आत्मानन्द प्रकाश, वर्ष ५०, अङ्क २ 15-9-52, भाद्रपद मास, पृ० २२-२८) इत्यादयोऽस्मल्लेखा अपि विशेषजिज्ञासुभिर्द्रष्टव्या –"समाने चार्थे शास्त्रान्वितोऽशास्त्रान्वितस्य निवर्तको भवति, तद्यथा देवदत्तशब्दो देवदिण्णशब्दं निवर्तयति, न गाव्यादीन् [१।१।२ आह्निक]…ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादच ५।३।८३ । चतुर्थात् । चतुर्थाल्लोपो वक्तव्य । बृहस्पतिदत्तक बृहस्पतिक । प्रजापतिदत्तक प्रजापतिक । अनजादौ च । अनजादौ च लोपो वक्तव्य –देवदत्तक देवक यज्ञदत्तक यज्ञक । लोप पूर्वपदस्य च । पूर्वपदस्य च लोपो वक्तव्य – देवदत्तक दत्तक, अप्रत्यये तथैवेट —देवदत्त दत्त, यज्ञदत्त दत्त ।" इति पातञ्जलमहाभाष्यस्य निर्देशानुसारेणापि 'दत्तक' इति नाम्न प्रचार उपपद्यते दत्त-दिन्नशब्दयो सम्बन्धश्चावगम्यते । दिङ्नागस्य ग्रन्थेभ्यो भर्तृहरेर्वाक्यपदीयं प्राचीनमित्यपि ध्येयम् । दिङ्नागेन हि वाक्यपदीयस्य तृतीयस्मात् प्रकीर्णकाण्डाद् 'विभक्तिभेदो नियमात्…' [३।१४।८] इति कारिका प्रमाणसमुच्चयस्य पञ्चमेऽपोहपरिच्छेदे द्वितीयकारिकाया वृत्तावुद्धृता, दृश्यतां नयचक्रस्याष्टमेऽरे पृ० ६०७ । वाक्यपदीयस्य द्वितीयकाण्डात '१५६,१५८' इति च द्वे कारिके प्रमाणसमुच्चये पञ्चमस्यापोहपरिच्छेदस्यान्त्यभागे उद्धृते, दृश्यताम् उपरि निदिष्टं 'भर्तृहरि और दिङ्नागका समय' इति 'भर्तृहरि अने दिङ्नाग' इति चास्माक लेखद्वयम् । भर्तृहरेर्वाक्यपदीयस्य तृतीयं प्रकीर्णकाण्ड चावलम्ब्यैव दिङ्नागेन त्रैकाल्यपरीक्षा नाम प्रकरण रचितम्, दृश्यता Dignāga sein Work und seine Entwiklung by Dr E Frauwallner, WZKSO Band III, 1959, pp 83-164 । Landmarks in the History of Indian Logic by E Frauwallner WZKSO Band V, 1961, pp 134-135 । अस्मत्सम्पादितस्य वैशेषिकसूत्रस्य सप्तम परिशिष्टमप्येतदर्थं विलोकनीयम् ।

उपरिनिर्दिष्टनयचक्रवृत्त्यन्तर्गतोल्लेखानुसारेण वसुबन्धुदिङ्नागयोर्गुरुशिष्यभाव स्फुटमेव प्रतीयते । बौद्धग्रन्थेष्वपि तथा वर्णनमुपलभ्यत एव, दृश्यताम् On Yuan-chwang's Travels in India by Thomas-watters, Part II इत्यादि । एव सत्स्वपि प्रमाणेषु On the Buddhist Master of the Law-Vasubandhu (Serie Orient de Roma III, Roma, 1951) इत्यादौ वसुबन्धुदिङ्नागयो साक्षात् गुरुशिष्यभावे या विप्रतिपत्तिरुपदर्शिता तत्र किमपि बलवत प्रमाणमस्माभिर्न विलोक्यते ॥

१ वार्षगण्य-वसुरात-भर्तृहरि-वसुबन्धु-दिङ्नागादीना समयविषये विदुषा बहवो विवादा प्रवर्तन्ते, अतस्तेषा सर्वमान्यो निश्चित समयोऽभिधातु न शक्यते । तथापि प्रभाचन्द्राचार्येण निर्दिष्टेन मल्लवादिसमयेन तेषा समयस्याविरोध उपपादयितुं शक्यत एव ॥

दिगम्बरजैनाचार्येण समन्तभद्रेण आप्तमीमांसायां दिङ्नागस्य मतं निराकृतमिति स्पष्टमेव विलोक्यते। अतो दिङ्नागस्य समन्तभद्राचार्यस्य वा समयनिर्णये स्वारस्य निभद्भिस्तदपि मनसि निधाय दिङ्नाग-समन्तभद्राचार्ययोः समयनिर्णये यतितव्यम्।

नयचक्रस्यान्तरङ्गं स्वरूपम्

'मल्लवादिसूरिप्रणीतं नयचक्रं गद्यत्वेन निबद्धत्वेऽपि द्वात्रिंशद्भिरक्षरैरेकोऽनुष्टुप् श्लोक इति गणनया दशसहस्रश्लोकमितमासीत्। चतुर्विंशतिसहस्रश्लोकमानं पद्मचरितं नाम रामायणमपि मल्लवादिसूरिभिर्विरचितम्' इति प्रभावकचरितान्तर्गतोल्लेखात् प्रतीयते। याकिनीमहत्तरासूनुहरिभद्रसूरि सम्मतिवृत्तिकाराभयदेवसूरि-प्रभृतिविहितोल्लेखप्रामाण्यात् सिद्धसेनदिवाकरप्रणीतसम्मतिप्रकरणस्य वृत्तिरपि मल्लवादिसूरिभिर्विरचितेति स्फुटमेव प्रतीयते। "सम्मतिवृत्तिर्मल्लवादिकृता ७००" इति बृहट्टिप्पनिकायामुल्लेखदर्शनाद् मल्लवादिविरचितेयं सम्मतिवृत्तिः ७०० श्लोकपरिमितासीदिति प्रतिभाति।

किन्तु सम्प्रत्येतेषु ग्रन्थेषु कश्चनापि नोपलभ्यते। केवलं सिंहसूरिगणिक्षमाश्रमणविरचिता १८००० श्लोकपरिमिता नयचक्रटीकैव सम्प्रत्युपलभ्यते तदनुसारेण च नयचक्रस्य स्वरूपं सम्यक् कल्पयितुं शक्यते।

---

१ "शब्दान्तरार्थापोहं हि स्वार्थे कुर्वती श्रुतिरभिधत्त इत्युच्यते" इति दिङ्नागीयं वचः तत्त्वसंग्रहपञ्जिकायां श्लो० १०१६ सन्मतिवृत्तौ पृ० २०४ सिद्धसेनगणिविरचितायां तत्त्वार्थसूत्रवृत्तौ पृ० ३९७ प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तेः कर्णकगोमिविरचितायां वृत्तौ पृ० ५१, ५३ इत्यादिषु बहुषु स्थानेषूद्धृतम्। विशेषार्थिभिः मन्मुद्रितप्रमाणवार्तिकस्ववृत्तेः टिप्पणे, नयचक्र पृ० ५४८ इत्यत्र टिप्पणं विलोकनीयम्। एतच्च दिङ्नागीयं वचः समन्तभद्राचार्येण आप्तमीमांसायामित्थं निराकृतम्—

"नाऽस्वभावोऽन्यथा गाथप्रतिषेधनिरङ्कुशः।
आह च स्वार्थसामान्यं, तादृग् वाच्यं खपुष्पवत् ॥ १११ ॥

किञ्चान्यत् 'नार्थशब्दविशेषस्य वाच्यवाचकतेष्यते। तस्य पूर्वमदृष्टत्वात् सामान्यं तूपदिश्यते ॥' इति दिङ्नागस्य मतं निरस्तुम् 'अर्थशब्दविशेषस्य वाच्यवाचकतेष्यते। तस्य पूर्वमदृष्टत्वं सामान्यादुपदर्शनात् ॥' इति प्रतिश्लोको दिङ्नागस्य मतं निराकुर्वता मल्लवादिक्षमाश्रमणेनापि यत्नः 'अर्थविशेषश्च तद्वाच्य एव' इति चोक्तम्। दृश्यतां पृ० ६१५ पं० २ १२ पृ० ६१६ पं० पृ० ७ पं० १४-१६। समन्तभद्राचार्येणाप्येतद् दिङ्नागस्य वचः प्रतिविहितमित्थम् आप्तमीमांसायाम्—

"सामान्यार्था गिरोऽन्येषां विशेषो नाभिलप्यते।
सामान्याभावतस्तेषां मृषैव सकला गिरः ॥ १ ॥"

२ "नयचक्रं नवं तेन श्लोकायुतमितं कृतम्। प्राग्ग्रन्थार्थप्रकाशेन सर्वोपादेयतां ययौ ॥ ३४ ॥ नयचक्रमहाग्रन्थं चिरयाणी पुरान्तरे। व्याख्यानं परवादीभकुम्भभेदनकेसरी ॥ ६९ ॥ श्रीपद्मचरितं नाम रामायणमुदाहरत्। चतुर्विंशतिरेतस्य सहस्रा ग्रन्थमानतः ॥ ७० ॥' इति प्रभावकचरिते मल्लवादिप्रबन्धे ॥

३ 'उक्तं च वादिमुख्येन मल्लवादिना सम्मतौ' इति अनेकान्तजयपताकास्वोपज्ञवृत्तौ [पृ० ५८ ११६] हरिभद्रसूरयः ॥

४ अत्र नाशभङ्गस्त्रिधा द्वितीयेऽपि त्रिधैव, तृतीयो दशधा चतुर्थो दशधैव पञ्चमस्तु त्रिंशदधिकशतपरिमाणः प्रपञ्चः श्रीमल्लवादिप्रभृतिभिर्दर्शितः। पुनः षड्विंशत्यधिकचतुर्दशशतपरिमाणान्त एव द्वात्रिंशद्यामवस्थानेषु कारिका सप्ततीन्यभिहितं तत्त्व। अत्र तु ग्रन्थविस्तरभयात् तथा न प्रदर्शितास्तत एवावधार्याः। इति सम्मतिवृत्तौ [१४०, पृ ४४०] अभयदेवसूरयः। 'स्वार्थे काश्चितो भङ्गा निर्दिष्टा मल्लवादिना। मूलसम्मतिटीकायामिदं दिग्मात्रदर्शनम् ॥' इति अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे [पृ० २१०] यशोविजयवाचकाः। 'सिद्धान्तविरोधि अनिष्टं सिद्धसेनस्य विरुद्धो मल्लवादिनः। द्वेधा मतान्तरादस्य हेतुरनैकान्तिकसाधन ॥' इति कारिकायाः न्यायावतारवार्तिकवृत्तौ [पृ० १०८] दर्शनादेकान्तमापन्नानां सम्मतेः विरुद्धं च मल्लवादिनाऽभिहितम्, दृश्यतां टिपृ० ११ पं० ०। एतच्च नयचक्रवृत्त्या समर्थितं भवति, दृश्यतां पृ० ३०९ पं० ६-२७। सम्मतिवृत्तावपि तथाभिहितं भवेदिति सम्भाव्यते ॥

जैनदार्शनिकशास्त्रेषु प्रमाणमीमांसा-प्रमाणपरीक्षा-प्रमालक्ष्मादयो ग्रन्था प्राधान्येन प्रमाणस्वरूप-प्रतिपादकाः, सन्मति-नयोपदेशादयो ग्रन्था नयस्वरूपप्रतिपादकाः, प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारादय. प्रमाण-नयोभयस्वरूपप्रतिपादकाः, अनेकान्तजयपताकादयो ग्रन्था एकान्तवादनिरसनेनानेकान्तवादव्यवस्थापकाः, नयनिरूपणद्वारेण एकान्तवादनिरसनमनेकान्तवादप्रतिष्ठापनं चास्य **नयचक्रस्य** मुख्यो विषयः। 'द्रव्यस्या-नेकात्मनोऽन्यतमैकात्मावधारणमेकदेशनयनाद् नय.' इति हि नयलक्षणम्। तेषां च वचनपथतुल्यसङ्ख्यत्वाद-नन्तत्वेऽपि जैनाचार्यैर्नैगम सङ्ग्रह व्यवहार-ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढ-एवम्भूताख्येषु सप्तसु नयेष्वन्तर्भावो विहितः। एतेषामपि मतानां द्वयोर्द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनययो. सक्षेपो विधीयते। नैगम-सङ्ग्रह-व्यवहारा द्रव्यार्थिकस्य भेदा., ऋजुसूत्रादयस्तु पर्यायार्थिकस्य भेदाः। अयं हि नयवादो जैनदर्शनस्यातिविशिष्टो विषयोऽतस्तद्विषयका अनेके जैनग्रन्था उपलभ्यन्ते।

इद पुनरत्रावधेयम्—नयचक्रस्य नयविषयकत्वेऽपि साक्षाद् नैगमादयो नया न तस्य विषयः, अपि तु निम्नलिखिता विध्यादयो द्वादश नया एव प्राधान्येन **नयचक्रे** प्रतिपाद्यन्ते—

१ विधिः, २ विधिविधि[1], ३ विध्युभयम्, ४ विधिनियम[1], ५ उभयम्, ६ उभयविधिः, ७ उभयोभयम्, ८ उभयनियम[1], ९ नियमः, १० नियमविधि[1], ११ नियमोभयम्, १२ नियमनियम.।

एते च विध्यादिनया जिनप्रवचनप्रतिपादितनयैरपि सम्बद्धा एव। विध्यादयः षड् नया द्रव्यार्थिकस्य भेदा, उभयोभयादयश्च षड् नया पर्यायार्थिकस्य भेदाः। एवं नैगमादिष्वपि नयेषु यथा विध्यादयो नया अन्तर्भवन्ति तथा तत्तद्विध्यादिनयनिरूपणान्ते विस्तरेण वर्णितं **मल्लवादि**सूरिभिः। दिङ्मात्रं त्वत्रोपदर्श्यते—

प्रथमस्य विधिनयस्य व्यवहारनये, द्वितीयतृतीयचतुर्थानां सङ्ग्रहनये, पञ्चमषष्ठयोर्नैगमे, सप्तमस्य ऋजुसूत्रनये, अष्टमनवमयो. शब्दनये, दशमस्य समभिरूढे, एकादशद्वादशयोस्तु एवम्भूतनयेऽन्तर्भावः। एतादृशविध्यादिद्वादशनयनिरूपणस्य **नयचक्र** एव दर्शनाद् **मल्लवादि**नश्चिन्तनशैली प्रतिभा च काप्यपूर्वा-सीदिति स्फुटमेवावगम्यते।

नयचक्रस्य बहिरङ्गं स्वरूपम्

'**नयचक्रम्**' इति चान्वर्थिकैवेयं सज्ञा। रथादिचक्रवदत्रापि 'अर'सज्ञकानि द्वादश प्रकरणानि विद्यन्ते। द्वादशसु प्रकरणेषु क्रमशो द्वादश विध्यादयो नया अत्र निरूप्यन्ते। विध्यादिनयनिरूपणव्याजेन तत्तन्नयानुसारिणस्तत्कालीनाः सर्वेऽपि दार्शनिकविचारा **मल्लवादि**सूरिभिरत्रोपन्यस्ता.। यथा च रथादिचक्रेऽ-राणां परस्परतोऽन्तरमेवमत्रापि आदौ परपक्षं निरस्यानन्तरं स्वपक्षस्थापनाय विध्यादिनयानां प्रवृत्तत्वात् परपक्ष-निरसनात्मको योऽशस्तद् द्वादशानामराणां परस्परतोऽन्तरम्। यथा च तत्र नानावयवघटितो नेमिरेवमत्रापि त्र्यवयवघटितो नेमि,[7] चतुर्षु चतुर्षु अरेषु एकैकस्य नेमे. परिसमाप्तत्वात्। यथा च तत्र सर्वेषामप्यराणा-माधारभूतस्तुम्बापरपर्यायो नाभिरन्यथा तदसम्बद्धानां तेषां विशरणात् स्वकार्यकरणासामर्थ्याच्चैवमत्रापि वर्तते सर्वेषामपि विध्यादिद्वादशनयाराणामाधारभूतः स्याद्वादनाभि., तत्प्रतिबद्धसर्वनयावस्थानादतोऽन्यथा

---

१ दृश्यतां पृ० १० पं० २४, पृ० ८४ पं० ६। टिप्पृ० १८ पं० १-५॥ २ पृ० ८ पं० १२। टिप्पृ० १० पं० ३९॥ ३ पृ० १० पं० १-८ इत्यादि॥ ४ दृश्यतां पृ० ४५८ पं० १ इत्यादि॥ ५ दृश्यतां पृ० ४५५ पं० ६ इत्यादि॥ ६ पृ० ४५३ पं० ८॥ ७ दृश्यतां प्राक्कथनम् पृ० ९ टि० १॥

विशरणात्। एत हि द्वादशाऽपि नया परस्परविरोधेन प्रवर्तमाना विघटन्ते, यदा तु त एव स्याद्वादमाश्रयन्ते तदा स्याद्वादनाभिप्रतिबद्धत्वेनैकवाक्यतया एकप्रबन्धेनान्योन्यापेक्षया प्रवर्तमाना सत्यार्थत्वेन प्रतिष्ठिता भवन्ति। एवं चान्वर्थकमिदं 'नयचक्रम्' इति नाम।

चक्राकाररूपेण सर्वेषां नयानामत्र निवेशितत्वाद् द्वादशस्याप्यरस्य मतं पुनः प्रथमादिनयेन निषिध्यते। एवं चानवरतमिदं नयचक्रं क्रमते।

नयचक्रे नयोपन्यासपद्धतिः

पूर्वपूर्वविरोधेनोत्तरोत्तरनयस्योत्थानमिति सर्वेऽपि नयवादाः पूर्वपूर्वनयमतदूषणाय स्वस्वमतप्रतिष्ठापनार्थं च क्रमशो नयचक्रे उपतिष्ठन्ते। अत्र च विध्यादिनयनिरूपणव्याजेन सर्वेषामपि तत्समयवर्तिनां मुख्यदार्शनिकमतानां व्यवस्थितश्चिन्तनक्रमो मल्लवादिभिर्न्यायाधीशवद् माध्यस्थ्येनोपन्यस्तः। एकान्तवादत्यागेन वादपरमेश्वरस्य स्याद्वादस्य संश्रय एव सर्वेषामपि श्रेयानिति च तेषु तेषु[1] विध्यावरपूर्ववर्णितं मल्लवादिभिः। इत्थं च जैनदर्शनस्यानेकान्तवादितया सर्वनयसमूहात्मकत्वमप्रतिमया प्रतिभया सुष्ठूपपादितं मल्लवादिसूरिभिः।

नयचक्रे चर्चिता दार्शनिकवादाः

सर्वदर्शनचर्चागर्भितत्वादस्य ग्रन्थस्य सर्वेषामपि दर्शनानां तत्कालीनप्राचीनस्वरूपज्ञानायात्यन्तमुपयोग्ययं ग्रन्थः। अन्यत्र दुर्लभानां बहूनां ग्रन्थानां ग्रन्थकृतां चात्रोल्लेखदर्शनात् तत्तद्दर्शनेतिहासजिज्ञासुभिरवश्यमेवावलोकनीयोऽयं ग्रन्थः। विस्तरार्थिभिस्तावद् नयचक्रग्रन्थ एवाभ्यसनीयः। इह तु दिङ्मात्रमुपदर्श्यते–

सांख्यमतस्य विचारणा प्राधान्येन वार्षगणतन्त्रमवलम्ब्यैव मल्लवादिभिः कृतेति प्रतिभाति। वार्षगणतन्त्रादिप्राकरग्रन्थेषु विद्यमानेषु ईश्वरकृष्णरचितायाः सांख्यकारिकाया अप्राधान्याद् सांख्यकारिकातः कोऽपि पाठो मल्लवादिना नोद्धृत इति भाति। नयचक्रवृत्तौ तु सिंहसूरिक्षमाश्रमणैः सांख्यकारिकातः कारिकाद्वयमुद्धृतमिति ध्येयम्।[2] वार्षगणतन्त्राद् बहवः पाठाः संक्षेपेण विस्तरेण वा नयचक्रवृत्तौ तत्र तत्रावतारिताः। वार्षगणतन्त्रानुसारिसांख्यसिद्धान्तस्वरूपस्य नयचक्रवृत्तौ [पृ ३१३–३२४] विस्तरेण वर्णनं विलोक्यते। प्राचीनसांख्यमतजिज्ञासूनामत्यन्तमुपयोग्ययं ग्रन्थः। सांख्यमतस्पष्टीकरणाय क्वचित् क्वचिद् भोटग्रन्था अप्यस्माभिरुपयुक्ताः, दृश्यतां भोटपरिशिष्टम्, टिपृ १३४, १३६, १४०।

न्यायदर्शनसम्बन्धीनि अक्षपादप्रणीतानि सूत्राणि नयचक्रे[3] नयचक्रवृत्तौ चानेकत्रोद्धृतानि।[4] ईश्वरचर्चायामीश्वरप्रतिपादकानां केषाञ्चित् प्राचीनग्रन्थानां मतं नयचक्रे विस्तरेणोपन्यस्य मल्लवादिभिर्निरस्तमिति प्रतीयते, दृश्यतां पृ० ३२५- ३४६। न्यायवार्तिककृत उद्योतकरस्य क्वचिद् नामोल्लेखो न दृश्यते, तथापि 'अचेतनत्वात् स्थित्वा प्रवृत्तेः, तुर्यादिवत्' [पृ० ३२९ प० २] इतीश्वरसाधनाय नयचक्रे उपन्यस्तं प्रमाणमुद्द्योतकरस्याभिमतमिति न्यायवार्तिकादवगम्यते। "उद्द्योतकरस्तु प्रमाणयति स्थित्वा प्रवृत्तेस्तन्तुतुर्यादिवत्" इति तत्त्वसंग्रहपञ्जिकाकृतः कमलशीलस्य वचनाच्च तद् उद्द्योतकरस्य मतं प्रतीयत इति ध्येयम्। दृश्यतामस्माकं टिप्पणेषु पृ० ३२८ टि० १, भिपृ० ८९ प० ५–१३।

---

१ पृ० ८३–८४ ४३६ ७१९–७२० इत्यादि॥ २ पृ० ३५ २७७॥ ३ पृ० ६१४॥ ४ पृ० ३६ ५३, १८३ १५६, १६८, २४१, ६१४ ६६७ इत्यादि॥

वैशेषिकमतविचारणायां कणादप्रणीतवैशेषिकसूत्रव्याख्यातॄणां वाक्यकार-भाष्यकार-**टीका**काराणां कटन्दीकारस्य च मतं सप्तमेऽरे विस्तरेण चर्चितं मल्लवादिभिः। 'वैशेषिकसूत्राणां संक्षिप्तव्याख्यारूपः कश्चिद् **वाक्य**नामा ग्रन्थ आसीत्, तदुपरि केनचिद् विरचितं **भाष्य**मासीत्, भाष्यस्य चोपरि **प्रशस्तमतिना टीका** विरचिताऽभूत्, एवमन्या **'कटन्दी'**नाम्न्यपि वैशेषिकसूत्राणां काचिट्टीकाऽऽसीत्, अपरा अपि बहव्यष्टीका आसन्' इति **नयचक्र**वृत्तिगतनिर्देशानुसारेण प्रतीयते। पदार्थधर्मसंग्रहाख्यं प्रशस्तपादभाष्यमपि प्रशस्तपादापराभिधानेनानेन प्रशस्तमतिनैव प्रणीतमिति प्रतीयते। एतत् सर्वमस्माभिः सप्तमारे पृ. ५१२ टि. ७ इत्यत्र' विस्तरेणोपदर्शितमिति तत्रैव विलोकनीयम्। प्राचीनवैशेषिकेतिहासजिज्ञासुभिरवश्यं विलोकनीयोऽयं ग्रन्थः। किञ्च, कणादप्रणीतानि वैशेषिकसूत्राण्यपि **नयचक्र**वृत्तावनेकत्रावतारितानि। तेषु कतिचित् सूत्राणि सम्प्रति प्रचलिते **उपस्कार**कृदाद्यभिमते वैशेषिकसूत्रपाठे नैव दृश्यन्ते, केषुचिच्च सूत्रपाठेषूभयत्र महदन्तरं दृश्यते। मुनिराजश्रीपुण्यविजयजीमहाभागैः प्रेषिते पश्चात् मुद्रणानन्तरमस्मद्दृष्टिपथमायाते चन्द्रानन्दविरचितप्राचीनवृत्तिसमन्विते प्राचीने वैशेषिकसूत्रपाठे तु अत्रान्यत्र च प्राचीनग्रन्थेष्ववतारितानि सर्वाण्यपि सूत्राणि प्रायो यथावदुपलभ्यन्ते इति तस्यातिविशिष्टत्वं विभाव्य चन्द्रानन्दविरचितवृत्तियुतः समग्रोऽपि प्राचीनो वैशेषिकसूत्रपाठोऽस्माभिः पृथक् पृथक् टिप्पणेष्वत्र मुद्रितः। दृश्यतां वैशेषिकसूत्रसम्बन्धिपरिशिष्टम्, टिपृ. १४१।

मीमांसकमतप्रस्तावे वेद-ब्राह्मणादिग्रन्थेभ्योऽनेके पाठाः जैमिनीयमीमांसादर्शनसूत्राणि चात्रोल्लिखितानि। मीमांसादर्शनस्य प्राचीनव्याख्याभ्यो मतमुपन्यस्यात्र परीक्षितमिति प्रतीयते। मीमांसकमतस्य स्थापना प्रथमेऽरे [पृ. ४५, १११], विस्तरेण तत्परीक्षा तु द्वितीयेऽरे [पृ. ११७-१५९] विलोकनीया।

अद्वैतमतसमीक्षायां पुरुष-नियति-काल-स्वभाव-भावादिवादिनां बहूनामद्वैतवादिनां मतानि द्वितीयेऽरे चर्चितानि, अतस्तदानीं नानाविधा अद्वैतवादिन आसन्निति प्रतीयते। पुरुषाद्वैतादिवादप्रस्तावे उपनिषदादिभ्योऽनेकानि वचांस्यत्रावतारितानि। उपनिषदां प्राचीना व्याख्या अप्यत्रावलम्बिता इति सम्भाव्यते। **बादरायण**प्रणीतब्रह्मसूत्रस्य निर्देशो न क्वापि दृश्यते, केवलं "तद्व्यतिरिक्ताः शासनिनः कपिल-व्यास-कणाद-

---

१ Oriental Institute, Baroda इत्यतः Gaekwad's Oriental Series No. 136 रूपेण प्रकाशितस्य अस्मत्सम्पादितस्य चन्द्रानन्दविरचितवृत्तियुतस्य वैशेषिकसूत्रस्य प्रस्तावनायां [पृ० ६–११] षष्ठे परिशिष्टे [पृ० १४६–१५२, पृ० १५० टि० १] च सविस्तरमेतदुपदर्शितमस्माभिः, अतो विस्तरार्थिभिस्तदपि सर्वं विलोकनीयम्॥ २ दृश्यतां टिपृ० ८ पं० २४। उपरिनिर्दिष्टस्यास्मत्सम्पादितस्य वैशेषिकसूत्रस्य प्रथमं द्वितीयं च परिशिष्टमपि विस्तरार्थिभिर्विलोकनीयम्॥ ३ उपरिनिर्दिष्टस्यास्मत्सम्पादितवैशेषिकसूत्रस्य वृद्धिपत्रकम् [पृ० २२७–२३४] अत्रार्थे विलोकनीयम्॥ ४ किञ्चान्यत्, अपरमपि वैशिष्ट्यमत्र विद्यते। वैशेषिकसूत्रे दश अध्यायाः, तत्र आद्येषु सप्तस्वध्यायेषु प्रत्यध्यायमाह्निकद्वयम्, अन्तिमे त्वध्यायत्रये न कश्चिदाह्निकविभागश्चन्द्रानन्दस्याभिमतः, सर्वदर्शनसङ्ग्रहकारस्य **मा**धवाचार्यस्याप्ययमेवाभिप्रायः प्रतीयते। सम्प्रतितनेषु तु वैशेषिकसूत्रपाठेषु तद्व्याख्यासु च दशस्वप्यध्यायेषु प्रत्यध्यायमाह्निकद्वयं दृश्यते। एतच्चास्माभिरुपरिनिर्दिष्टस्य वैशेषिकसूत्रस्य चतुर्थे परिशिष्टे विस्तरेणावेदितमिति जिज्ञासुभिस्तत्र विलोकनीयम्॥ ५ **मुनिराजश्रीपुण्य**विजयजीमहोदयप्रेषितप्रत्यनुसारेणैतन्मुद्रणानन्तरं **शार**दालिप्या लिखितमपि चन्द्रानन्दरचितवृत्तेरेकं पुस्तकम् Oriental Institute, Baroda इत्यतोऽस्माभिर्लब्धम्। तदनुसारेण ये शुद्धाः पाठास्तेऽत्र शुद्धिपत्रके पृथक् सङ्गृहीता इति जिज्ञासुभिस्तदपि विलोकनीयम्॥ ६ पृ० १२१, १२२, १३६, १४१, १४२, १४४, १५४, १५९, १८९, १९० १९२, २१० इत्यादि॥ ७ पृ० ४५, ११४॥ ८ पृ० १४४, १५४, १९१, २४८, २६६, २६७, ३३२ इत्यादि॥

शौद्धोदनि मस्करिप्रभृतय" [पृ ८ प ५] इति व्यासस्य नामोल्लेखो नयचक्रवृत्तौ दृश्यते । नित्यत्वादिवादिना मतान्यपि तत्तद्ग्रन्थेभ्योऽत्रोपन्यस्तानि । भौतवादिमते संवादार्थं कतिचन ब्रह्मवादिकारिका अप्युपन्यस्ता । चतुर्थारेऽपि [पृ ३७३] ब्रह्मनिरूपणमुपलभ्यते । भर्तृहरेः शब्दब्रह्मवादस्याप्युल्लेखः पृ २३० प १६–१८ इत्यत्र दृश्यते ।

बौद्धमतप्रस्तावे क्षणिकत्ववाद-विज्ञानवाद-शून्यवादाद्यनेकवादानां चर्चात्र विलोक्यते । अभिधर्मपिटक-प्रकरणपादादिसंस्कृतबौद्धागमेभ्य आर्यदेवकृतचतुःशतकाद् वसुबन्धुप्रणीताभिधर्मकोशाद् दिङ्नागरचितप्रमाणसमुच्चय-वृत्ति-न्यायमुख-आलम्बनपरीक्षा-हस्तवालप्रकरण-अपोहविषयकप्रकरणाद्यनेकग्रन्थेभ्योऽन्यग्रन्थेभ्यश्च पाठा अत्रोद्धृताः । प्रथमाष्टमारयोर्महता विस्तरेण दिङ्नागमतं परीक्षितं मल्लवादिभिः । नयचक्रादिषु वर्णितं दिङ्नागमतं सम्यगवगन्तुं भोटपरिशिष्टमपि योजितमत्रास्माभिष्टिप्पणेषु । प्रमाणसमुच्चयादीनां दिङ्नागरचितग्रन्थानां संस्कृते विनष्टत्वात् तेषां भोटभाषानुवादानां तूपलम्भाद् भोटभाषान्तरतः संस्कृते परिवर्तनं विधाय दिङ्नागप्रणीतप्रमाणसमुच्चयादेः कतिपयोंऽशो भोटपरिशिष्टे उपन्यस्तोऽस्माभिः, अतो विशेषार्थिभिः भोटपरिशिष्टमेव विलोकनीयम्, टिपृ० ९५–१४० । प्रमाणसमुच्चयस्य, प्रत्यक्षलक्षणवर्णनपरस्य दिङ्नागस्यैव कस्यचिद् ग्रन्थान्तरस्य वा कश्चिट्टीकाकारोऽप्यत्र पृ० ९३ प० २७ इत्यत्र निर्दिष्टः प्रतीयते, दिङ्नागेन

---

१ पृ० २४१ प० ४–११ ॥ २ एकादशेऽरे क्षणिकत्ववादः । तथा दृश्यतां पृ० २४७ प० १४–१५ ॥ ३ द्वादशेऽरे । तथा दृश्यतां पृ० २४७ प० १७–२५ ॥ ४ दशमेऽरे बौद्धाभिमतो रूपादिसमुदायवादः प्रतिपादितः । तथा दृश्यतां पृ० २४७ प० ८–१२ ॥ ५ पृ० ६१, ६२ ६४, ७४ ८२ इत्यादि ॥ ६ पृ० ७३ ८२ ९४ ॥ ७ पृ० ६७ ७८ ७९ ९२ ॥ ८ पृ० ६४ ८६ ८९, ९३ ९६ ३०६ इत्यादि ॥ ९ पृ० ६४ ७३, ३०६ टिपृ० ३–३१ इत्यादि ॥ १० पृ० ९१ ॥ ११ पृ० ९३ प० १ टिपृ० १३६ ॥ १२ पृ० ५४७ ६११ ६१२ ७३३ ७३४ इत्यादि ॥ १३ दिङ्नागेनानेकेषु ग्रन्थेषु अपोहवादः प्रतिपादितः, अतोऽष्टमेऽरे दिङ्नागस्यापोहविषयकात् कस्मात् प्रकरणादपोहविषयकः पूर्वपक्षो मल्लवादिभिरुपन्यस्त इति निर्णेतुं न पार्यते । यद्यपि सम्प्रति उपलभ्यमानस्य प्रमाणसमुच्चयस्य पञ्चमेऽपोहपरिच्छेदेऽपोहवादप्रतिपादनं दृश्यते तथापि मल्लवादिना दिङ्नागस्य प्रमाणसमुच्चयात् स न साक्षादुपन्यस्तः यतो मल्लवादिना निर्दिष्टाः केचिदंशाः प्रमाणसमुच्चये तद्वृत्तौ वा दृश्यन्ते केचित्तु नैव दृश्यन्ते पाठभेदेन क्रमभेदेन वा दृश्यन्ते, दृश्यतां नयचक्रे पृ० ५४७ प० १ ७ । पृ० ५४८ प० १२–१४ । पृ० ६०६ टि० ७ । पृ० ६०७ टि० ५ । पृ० ६०९ प० १, १४ टि० १ ८ । पृ० ६१० टि० १४ । पृ० ६११ प० ५–७, २१–२२ टि० १६ । पृ० ६१२ प० ५ । पृ० ६१५ प० १२ । पृ० ६२० प० १४, पृ० ६२३ टि० ९ । पृ० ६२७ प० ३ । पृ० ६२८ प० ७–८, टि० ४ । पृ० ६३० टि० २ । पृ० ६३४ टि० २ । पृ० ६३७ टि० ३ । पृ० ६५० प० ३ टि० १ । पृ० ६५२–६५३ । पृ० ७३३ प० १३ १५ । पृ० ७३४ प० १ । पृ० ७३ प २४ । अतो दिङ्नागस्य कुतश्चिदन्यस्माद् ग्रन्थात् स उपन्यस्तः । 'न चाकृतिसम्बन्धे शब्देऽपाभिधानं न्याय्यम् स्वरूपमात्रप्रतीतेरित्यादि यावद् न गुणत्वादिव्यभिचारात्' [पृ० ६२७] इति नयचक्रस्य वृत्तौ 'यत्र शब्दस्यार्थेन सम्बन्धोऽव्युत्पन्नो यथा म्लेच्छशब्दानां तत्र शब्दमात्रमेव प्रतीयते इत्यादि सह टीकया भाष्यग्रन्थो द्रष्टव्यो यावद् न गुणत्वादिव्यभिचारादित्यवधिराचार्येण यावत्कारितं सव्याख्यानं सामान्यपरीक्षाकारग्रन्थेऽलिखित एवात्रापीति न लिख्यते" [पृ० ६२७–६२८] इति नयचक्रवृत्तिकारेणापोहनिराकरणप्रसङ्गेऽभिधानाद् दिङ्नागस्य सामान्यपरीक्षातः अपोहविषयकः सर्वः पूर्वपक्षो मल्लवादिभिरुपन्यस्त इति वयं सम्भावयामः । एवं सत्यपि दिङ्नागेन स्वप्रणीतग्रन्थसारसमुच्चयाय प्रमाणसमुच्चयस्य विरचितत्वाद् दिङ्नागेन ग्रन्थान्तरगता विषया अपि प्रमाणसमुच्चये केचिदक्षरशः केचित्तु अर्थसाम्येन पुनरपि चर्चिता इति प्रमाणसमुच्चयस्य नयचक्रस्य चावगमार्थं नयचक्ररहस्यज्ञानं चापयुक्तं सुतरामस्त्येव । अत एव च तत्र तत्रास्माभिर्भोटभाषानुवादात् संस्कृते परिवर्त्य प्रमाणसमुच्चयस्यांशोऽत्र उपन्यस्ता इति ध्येयम् ॥

यत्र स्वरचितग्रन्थस्योपरि वृत्तिर्विरचिता तत्र तादृश्या वृत्तेरत्र **नयचक्रवृत्तौ** भाष्यत्वेन निर्देशो विहित इति पृ० ७१८ पं० १४ इत्यत्रस्थादुल्लेखात् प्रतीयते, अतोऽत्र **टीकाकारो** **दिङ्नागाद्** भिन्न एव प्रतीयते। अष्टमेऽरे दिङ्नागरचितस्य ग्रन्थस्य केनचिद् विरचितायाष्टीकाया अनेकेषु स्थानेषु, एकत्र च अनेकेषां टीकाकाराणामप्युल्लेखो दृश्यते। ईश्वरसेनेन **जिनेन्द्रबुद्धिना** च प्रमाणसमुच्चयस्य टीका विरचिता, धर्मकीर्तिना च प्रमाणसमुच्चय व्याख्यातु प्रमाणवार्तिकं रचितम्। तत्र ईश्वरसेनस्य समयोऽनिश्चितः, तत्कृता प्रमाणसमुच्चयटीकापि सम्प्रति न प्राप्यते। धर्मकीर्तिजिनेन्द्रबुद्ध्योस्तु **मल्लवादिसिंहसूरिभ्यामुत्तरकालीनत्वात्** तयोर्निर्देशोऽत्रानवकाश एव। धर्मकीर्तिरचित**न्यायबिन्दोर्धर्मोत्तरकृतव्याख्यायाष्टिप्पणकारोऽप्यस्त्येको मल्लवादी**, किन्तु स **नयचक्रकाराद् मल्लवादिनो** भिन्न एव। अतः के इमे टीकाकारा इति मृग्यमेतिहासरसिकैः।

शब्दार्थवाक्यार्थादिविचारणाया **भर्तृहरेर्वाक्यपदीयादनेकाः** कारिका अत्रावतारिताः। अष्टमेऽरेऽभिजल्पशब्दार्थचर्चाया **भर्तृहरेरुपाध्यायस्य वसुरातस्यापि** मतोल्लेखो विलोक्यते।

षडङ्गयोगविषयकः सङ्क्षिप्तोऽप्यत्यन्तमुपयोगी निर्देशो **नयचक्रवृत्तौ** [पृ० ३३२] विद्यते। प्रत्याहार-रेचकपूरककुम्भकप्राणायाम-ध्यान-धारणा-तर्क-समाधीनां षण्णां योगाङ्गानां वर्णनं योगजिज्ञासूनामवश्यं विलोकनार्हम्।

पाणिनीयशब्दानुशासनसूत्र-धातुपाठयोः पातञ्जलमहाभाष्यस्य चात्र भूयांस उल्लेखा उपलभ्यन्ते।

---

१ "**टीकायां** चोदितम्–अनाक्षिप्तस्व्यार्थैरपि सामानाधिकरण्य भविष्यति विवक्षावशात् 'इद विशेष्यमिदं विशेषणम्' इति। अत्र **भाष्ये**ण पर एवोत्तरमाह–**न ह्यसत्यां व्याप्ताविलादि**।"–पृ० ६१८ पं० १४–१६। "सह **टीकया भाष्यग्रन्थो** द्रष्टव्य सव्याख्यान **सामान्यपरीक्षाकारलिखित** एवात्रापि"–पृ० ६२८ पं० ७–८। "**सम्बन्धो यद्यपि** द्विष्ठः [प्र० समु० २।१९] इत्यादिकारिका **सभाष्याः**"–पृ० ६७८ पं० १६–१७। "**भाष्यग्रन्थमाह**—स्वसम्बन्धिभ्योऽन्यत्रादर्शनादित्यादि। अस्य व्याख्या **टीकाग्रन्थो** यत्र दृष्ट इत्यादि"–पृ० ७२८ पं० १४–१५। "उत्तरमाह तत 'अद्रव्यत्वाच्च भेदाच्च' इति कारिकया, चशब्द[द्ध भा]ष्ये लिखितम्"–पृ० ७३४ पं० १३–१४॥ २ उपरितन टिप्पण द्रष्टव्य। "**यथोक्तमित्यादि टीकाग्रन्थ** एव **यद्यपि क्वचिदित्यादि** स एव **टीकाग्रन्थः**"—पृ०६६२ पं० ११–१४॥ ३ "यथा चाहुरित्यादि। **टीकाकारैर्यानि** साधनान्युक्तानि जातिमत्पक्षदोषप्रदर्शनार्थानि तान्येवापोहवत्पक्षेऽपि तद्दोषप्रदर्शनार्थानि।"–पृ०६२१ पं० २५–२६। अत्रेदमवधेयम्–के इमे टीकाकारा इति निर्णेतु वयं न शक्नुमः। तथाहि—चीनग्रन्थान्तर्गतोल्लेखानुसारेण 'दिङ्नागस्य शङ्करस्वामी नाम शिष्य आसीत्' इति Dr E Frauwallner इत्येभि WZKSO, Band V, 1961 पृ० १४० इत्यत्रावेदितम्। किन्तु दिङ्नागरचितग्रन्थस्योपरि तेन रचिता काचिदपि टीका न श्रूयते। धर्मपालेन दिङ्नागस्य **आलम्बनपरीक्षाया** उपरि टीका रचिता, तथापि **मल्लवादिना** यस्मिन् विषये टीकासन्दर्भा उद्धृतास्ततो भिन्नविषयत्वादालम्बनपरीक्षाया **धर्मपालकृतटीकाया** अत्रानवकाश एव॥ ४ **कर्णकगोमिना प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तेष्टीकाया** [पृ० १२ पं० २१] **अर्चटेन हेतुबिन्दुटीकाया** [पृ० १२ पं० २] **दुर्वेकमिश्रेण हेतुबिन्दुटीकालोके** [पृ० ४०५ पं० १९] च निर्दिष्टेय टीका॥ ५ अत एव **मल्लवादिना** तत किमपि पूर्वपक्षरूपेणोपन्यस्त न वेत्यपि ज्ञातु न शक्यते॥ ६ पृ० ३६, ६६, ११८, १२७, २३०, २४२, २४८, ३३३, ३९३, ४५०, ५५८, ५७९–५८२, ६०४, ६२०, ६६९, ७१६, ७३६ इत्यादि॥ ७ अत्र प्राक्कथने पृ० १५ टि० २ इत्यत्र द्रष्टव्यम्॥ ८ पृ० १५, ४९, ५८ इत्यादि॥ ९ पृ० १५, १६ इत्यादि॥ १० पृ० १५, २१, ३३, ५६, १२३, १२५, १२८, १३०, १३३, १३४, १४२, १५५, १७३, १८०, २१९, २६२, २४८, २६१, २६८, ३०४, ३७९, ३८०, ३८३, ३८५, ३८८, ३९५, ३९७, ४१२, ५७०, ५७१, ५७३, ५७५, ५८६, ६१७ इत्यादि॥

प्रसर 'भाव द्रव्य पर्याय'शब्दार्थव्युत्पत्ति पाणिनीयमतानुसारेणात्र दर्शिता मल्लवादिभि । [1]पाणिनीयशिक्षाया, यास्[2]कनिरुक्तस्य, पाणिनीयसूत्राणा वार्तिक[3]स्य च पाठा अप्यत्रोद्धृता । पाणिनीयसूत्राणा काचित प्राचीना वृत्तिर[4]प्यासीदिति नयचक्रवृत्त्यवलोकनात् प्रतिभाति । पञ्चमारे वैयाकरणमतप्रस्तावे [5]यास्कनिरुक्त-पातञ्जलमहाभाष्यादिग्रन्थेभ्योऽनेकानि वचास्यत्रोद्धृतानि । पृ० ३७९ प० ८ इत्यत्र "भाष्यकारेण माष्यादाद्दलोक्त" इत्युल्लेखदर्शनात् पतञ्जले साम्यमतानुसारित्वमपि स्फुटमेव ज्ञायते । पातञ्जलमहाभाष्ये [५। १। ११९] वर्णित 'गुणसन्द्रावो द्रव्यम्' इति मतमपि सात्यादेराहृत प्रतीयते, दृश्यता नयचक्रवृत्तौ पृ० २६८ प० ११, पृ० ३०३ इत्यादि । अष्टमेऽरे तन्त्रार्थसङ्ग्रहाभिधस्य वैयाकरणग्रन्थस्याप्युल्लेखो [7]नयचक्रवृत्तौ दृश्यते । भागुरि सौनागाद्याचार्याणामपि मत निर्दिष्टमत्र । चरकसहितादिवैद्यकशास्त्रसम्बन्धिनोऽप्यनेके पाठा अत्रोद्धृता ।

नयचक्रे वृत्तौ च जैनागमादिग्रन्थाना पाठादिनिर्देशः

जैनागमग्रन्थेभ्यो बहव पाठा अत्रोद्धृता । कर्मप्रकृतिवृत्त्यादिषु दृश्यमानाद् वर्गणास्वरूपवर्णनात कथञ्चिद् भिन्न वर्गणास्वरूपवर्णन नयचक्रवृत्तौ [पृ० ३४८] विस्तरेण दृश्यते । बहु[10]षु स्थलेषु प्रसङ्गानुसारेण नानाविधा आगमिकसिद्धान्तसम्बद्धाश्चर्चा अत्र दृश्यन्ते । [11]तत्त्वार्थाधिगमसूत्राणि प्रभूतेषु स्थानेष्वत्रोद्धृतानि नयचक्रवृत्तौ । तत्त्वार्थभाष्यस्याप्यवतरण [पृ० ११४ प० २४, पृ० ५९६ प० ८] [13]नयचक्रवृत्तौ दृश्यते । सिद्धसेनाचार्यप्रणीतात् स[14]न्मतिप्रकरणाद् द्वात्रिंशिकादे[15]श्चानेका कारिका अत्रोद्धृता । तृतीयेऽरे

---

१ पृ १५ १७ ११५ १७३ २४४ २६१ ३३४ ३७७, ४१४ ४५४ ७३७ इत्यादि ॥ २ पृ० ५६४-५६५ ५९४ ॥ ३ पृ १२६ ८३ ४०६ । 'एकोत्तरं शतमुदकनामानि निरुक्ते पठ्यन्ते । —पृ० ७१५ प १५ ॥ ४ तथा चाहम्-सूत्रेष्वेव हि तत् सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके । उदाहरणमर्थस्य प्रत्युदाहरण पशो ॥ इति । —पृ० ३९७ । पृ० ७ २०४ २३२ २६१ ३६९ ३७८ ४११ ४१ ५९ इत्यादि ॥ ५ द्रष्टव्यमुपरितन टिप्पणम् ॥ ६ द्रष्टव्यमत्र प्राक्कथन पृ० २ टि० १० पृ० २३ टि० ३ ॥ ७ पृ० ७९ प० ११ ॥ ८ पृ० ३७५ ११-१२ ॥ ९ पृ० ११ १५८, १७१ १७६ १८३ २०३, २२१, ३५८ इत्यादि ॥ १० पृ० ३, ११५ १७९ १८३ १८६, १९० २११ २१८ २२८ २४१ २४२, २५९ २७७ २७८ २९८ ३१४ ३५१ ३५९ ३६१, ३६२ ३७१ ४५०, ४६३ ४७० ५५, ५४१ ५५९, ७ ७ इत्यादि ॥ ११ पृ० २, पृ० १११ प० १५ पृ० ११२ प० ४, पृ० १८२ १८३ २०८-२०५, २११ २१७ ३०१-३०, ३१३ ३२९ ३३७ प १७-१२ पृ० ३४८-३५१ ३६२, ३६६-३६८ ३७२, ८ ४७४-४७८ ५८३ ४१ ५५९ ५९८- ९९ इत्यादि ॥ १२ पृ १७ २२, ८१, २४८ ३१२, ३१३ इत्यादि द्रष्टव्य । तत्त्वार्थाधिगमसूत्राणां छाया तु नयचक्रवृत्तौ नैकेषु स्थलेषु दृश्यते दृश्यतां पृ० २०४ प० १९ पृ० २ ५ प० ५-७ पृ० २१८ प० ५ टि० १० इत्यादि ॥ १३ नयचक्रमूलेऽपि तत्त्वार्थभाष्यस्यावतरणच्छाया चाष्टमेऽरे स्फुटमेव विलोक्यते, दृश्यतां पृ० ५८८ प० ४ १६ टि० ९ पृ० ५९६ प० १ ६ ७ ॥ १४ पृ २ ७ [illegible] ल्लाचार्यसिद्धसेन " पृ० ३५, पृ० ८४ ११५ २४४ ४९६ ५८१ । 'तथाचार्यसिद्धसेनोऽप्याह—नाम ठवणा दविए त्ति पृ० ५९६ । पृ० ७३६ ७३७ पृ० ५१२-१ । यथाचार्यसिद्धसेनआह—भई मिच्छादसणसमूह ॥'-५ ३-१२ ॥ १५ पृ ४ ४६ १२० २४८ ॥ १६ तथा चाचार्यसिद्धसेन आह— 'यत्र ह्यर्थो वाच व्यभिचरति नाभिधान [1]तत्' [ ]

---

1 आचार्यसिद्धसेनेन कस्मिन् ग्रन्थेऽभिहितमेतदिति न ज्ञायते सम्प्रति तस्य ग्रन्थस्यानुपलम्भे । तत्त्वार्थसूत्रस्य वृत्तौ [१।३४ पृ० ११६] सिद्धसेनगणिभिरप्युद्धृतमेतद् ॥ 2 एतत्पर्यन्तमाचार्यसिद्धसेनस्य वचनम् । अत परं तथा व्याख्यानतोऽपि इति निर्देशात् तस्य सिद्धसेनाचार्यवचनस्य कश्चिद् विवेचनात्मको व्याख्यात्मको वृत्त्यादि ग्रन्थान्तर वा 'नाम-स्थापना-द्रव्य मिथलिङ्गव्यत्ययप्रकरणादमायुक्तयाची शब्द' इति शब्दनयलक्षण भवतीति सम्भाव्यते ॥

नयचक्रवृत्तिगतनिर्देशप्रामाण्येन गद्यमयग्रन्थप्रणयनमपि सिद्धसेनाचार्यैः कृतमिति प्रतीयते। सिद्धसेनाचार्यप्रणीतायां द्वात्रिंशिकायां तत्त्वार्थसूत्रस्यानुसरणं स्फुटमेव विलोक्यत इत्यपि स्थेयम्। मल्लवादिक्षमाश्रमणैः सिद्धसेनाचार्यप्रणीतसम्मतिप्रकरणस्य वृत्तिर्विरचितेति प्रागावेदितमेवास्माभिः। अतो मल्लवादिक्षमाश्रमणानां सिद्धसेनाचार्येभ्य उत्तरकालीनत्वं सिद्धमेव। सम्प्रति एकत्वेन मन्यमाने नन्दिसूत्रे पुरा भागद्वयमासीत्—कश्चिदंशः सूत्ररूपः कश्चिच्च ततः पृथग् भाष्यरूप इति अष्टमेऽरे नयचक्रवृत्तिगतनिर्देशानुसारेण प्रतीयते। कस्मिंश्चित् समये तु सूत्रं भाष्यं च परस्परेण सम्मील्यैकीभावमापन्नमुभयोश्च प्रसिद्धिर्नन्दिसूत्रनाम्नैव जातेत्यनुमीयते, दृश्यतां टिपृ० ६८ पं० २–७। एतद्विषयेऽस्माभिर्विस्तरेण प्रकाश्ये सुरतनगरस्थदेवचन्दलालभाईपुस्तकोद्धारफण्डेन प्रकटयिष्यमाणे देवानन्दविंशिकादौ, अतस्तज्जिज्ञासुभिस्तत्र विलोकनीयम्। किञ्चान्यत्, नयचक्रे वृत्तौ च दृश्यमानेष्वागमपाठेषु सम्प्रत्युपलभ्यमानागमपाठेभ्यः सुमहदन्तरं दृश्यते। केचित्तत्रोद्धृताः पाठा आगमग्रन्थेषु सम्प्रति दृश्यन्त एव न। सम्प्रति प्रसिद्धा ह्यागमिकपाठसङ्कलना देवर्धिगणिक्षमाश्रमणतो वीरनिर्वाणसंवत् ९८० वर्षे पुस्तकारूढेति कल्पसूत्रवृत्त्यादिषु श्रूयते, मल्लवादिक्षमाश्रमणास्तु वीरनिर्वाणसंवत् ८८४ वर्षेऽभूवन्, अतस्तेषां प्राचीनागमपाठपरम्परानुसारित्वमूल एवायं महान् पाठभेदः। अत एव च नयचक्रवृत्तिकृतां सिंहसूरिक्षमाश्रमणानामपि प्राचीनत्वं प्राचीनागमपाठपरम्परानुसारित्वं च स्फुटमेव प्रतीयते। अत आगमशास्त्राणां केषाञ्चित् पाठानां प्राचीनस्वरूपं जिज्ञासुभिरवश्यं विलोकनीयोऽयं ग्रन्थः। बृहत्कल्पावश्यकनिर्युक्तिः काश्चन निर्युक्तिगाथा अप्यत्रावतारिताः। योनिप्राभृतस्यापि निर्देशोऽत्र दृश्यते।

स्याद्वादस्य पारमार्थिकं स्वरूपं सप्तमेऽरे भगवता मल्लवादिना यद् वर्णितं तदपि स्याद्वादस्य परमार्थं जिज्ञासुभिरवश्यं विलोकनीयम्।

इति। तथा व्याख्यातारोऽपि प्रथिता—"[1]नाम-स्थापना-द्रव्य-भिन्नलिङ्गवाच्येष्टाकरणाद् भावयुक्तवाची शब्दः" इति।"–पृ० ५८८–५८९॥

१ "सत्तार्था इत्यविशेषेण वचनात्, अस्ति-भवति-विद्यति-पद्यति-वर्ततयः सन्निपातषष्ठाः सत्तार्थाः [ ] इत्यविशेषेणोक्तत्वात् सिद्धसेनसूरिणा"–पृ० ३२४ पं० २६–२८॥ २ दृश्यतां टिपृ० ४१ पं० १–४ टि० १॥ ३ पृ० ५५९ पं० १०–१३॥ ४ दृश्यतां पृ० ३२४ पं० ८–५, पृ० ३६१ पं० ६–८ इत्यादि॥ ५ एतेषां पाठानां नयचक्रे वृत्तौ च पृष्ठाङ्काः प्राक्कथने पृ० २३ टि० १० इत्यतो ज्ञातव्याः॥ ६ "णिच्छयतो सव्वलहुं . ॥ ६५॥" इति बृहत्कल्पनिर्युक्तिगाथा मल्लवादिना नयचक्रमूले पृ० ३०१ इत्यत्रोद्धृता। अत्र पाठभेदः सिंहसूरिक्षमाश्रमणकृततद्गाथाव्याख्या च विलोकनीया॥ ७ दृश्यतां पृ० १८२, २१२, २४३, ३७३, ४०८, ४१४, ४७८, ५५० इत्यादि॥ ८ दृश्यतां पृ० २०२ पं० २०–२२॥ ९ दृश्यतां पृ० ४९९ पं० ५–पृ० ५०२ पं० ३। अस्य नयचक्रप्रथमविभागस्य गुर्जरभाषानिबद्धायां प्रस्तावनायामपि जिज्ञासुभिर्विलोकनीयम्॥

---

1 "लक्षणं च यथार्थाभिधानं शब्दः [तत्त्वार्थभाष्य १।३५] तथा नाम-स्थापना-द्रव्य-भिन्नलिङ्गवाच्येष्टाकरणाद् भावयुक्तवाची शब्दः [ ] इति च लक्षणान्तरम्" इति अष्टमेऽरे [पृ० ५९६ पं० ७–९] "यदपि लक्षणकारेण शब्दनयलक्षणमुक्तं 'नामस्थापनाद्रव्यभिन्नलिङ्गवाच्येष्टाकरणाद् भावयुक्तवाची शब्दः' इति" इति नवमेऽरे [पृ० ४९४–१] च पुनरप्युद्धृतमेतद् नयचक्रवृत्तौ। विशेषावश्यकभाष्यस्य कोट्याचार्यगणिविरचितायां टीकायामप्युद्धृतमेतत्।

नयेषु सुनय-दुर्नयविभागः प्राचीनानां श्वेताम्बराचार्याणां सम्मतो न वेत्यत्र नैकमत्यं पूर्वाचार्याणाम्[1]। सकलविकलादेशस्वरूपविषयेऽपि नानाविधानि मतानि सन्ति। तदत्र भगवद्भिर्मल्लवादिक्षमाश्रमणैः सिंहसूरिक्षमाश्रमणैश्च यदुक्तं तदस्मिन् विषये विशेषजिज्ञासूनामत्यन्तमुपयोगि भविष्यति। अतस्तज्जिज्ञासुभिः नयचक्रे वृत्तौ च तत्र तत्र विद्यमाना एतद्विषयकाः सन्दर्भा अवश्यं विलोकनीयाः[2]। मालवनगरे विद्यमानस्य सप्तशतवर्षकालीनस्य घटस्य निर्देशोऽप्यैतिह्यरसिकानां रसप्रदो भविष्यति, दृश्यतां पृ० ४०१, ४६८।

अरचतुष्टयपरिचयः

अस्मिन् विभागे प्रकाशितस्यारचतुष्टयस्य विषयो विस्तरेण विषयानुक्रमाद् वेदितव्यः, इह तु संक्षेपेण दिङ्मात्रं दर्शयामः —

[प्रथमारविषयः]

आदौ मङ्गलार्थमभिधेयगर्भितं जैनशासनस्तवं विधाय अनेकान्तवादस्यैव च सर्वव्यवहारव्यवस्थापकत्वमभिधाय एकान्तप्रतिपादकानामन्यशासनानां विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादसत्त्वं विधिनियमभङ्गवृत्ति

---

१ 'सम्पूर्णवस्तुकथनं प्रमाणवाक्यम्, तदेव स्याद्वाद इति अनेकान्तवाद इति सकलादेश इति चाभिधीयते। वस्त्वेकदेशकथनं नयवादः, तत्र यो नाम नयो नयान्तरसापेक्षः स नय इति सुनय इति सम्यगेकान्त इति विकलादेश इति चोच्यते। यस्तु नयान्तरनिरपेक्षः स दुर्नय इति नयाभास इति मिथ्यैकान्त इति चोच्यते। प्रमाणवाक्यं नयवाक्यं च स्यात्पदसमन्वयं प्रयोक्तव्यम्, यत्र न प्रयुज्यते तत्रापि सामर्थ्यात् तद् गम्यते।' इति अकलङ्कादयो दिगम्बराचार्या मन्यन्ते। श्वेताम्बराचार्येषु त्वत्र विचारभेदः — अकलङ्कादुत्तरकालीना वादिदेवसूरि-यशोविजयवाचकप्रभृतय उपरिनिर्दिष्टामकलङ्कदृष्टां व्यवस्थामनुमन्यन्ते। न्यायावतारवृत्तिकृत् सिद्धर्षिस्तु यद्यपि 'प्रमाणं नयः दुर्नयः' इति विभागं स्वीकुर्वन्ति तथापि प्रमाणवाक्य एव स्यात्पदप्रयोगं ते स्वीकुर्वन्ति, न तु नयवाक्ये। एवमेव च हेमचन्द्रसूरयः अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकायां [का० २८] स्वीकुर्वन्ति। मलयगिरिसूरयस्तु 'यो नयो नयान्तरसापेक्षतया स्यात्पदलाञ्छितं वस्तु प्रतिपद्यते स परमार्थतः परिपूर्णं वस्तु गृह्णातीति प्रमाणमेव। यस्तु नयवादान्तरनिरपेक्षतया स्वाभिप्रेतेनैव धर्मेणावधारणपूर्वकं वस्तु परिच्छेत्तुमभिप्रैति स नयः, वस्त्वेकदेशपरिग्राहकत्वात्, स च नियमाद् मिथ्यादृष्टिरेव' इति आवश्यकवृत्तौ [पृ० ३६९-३७१] प्रतिपादयन्ति दैगम्बरीं च व्यवस्थां निराकुर्वन्ति। अतस्तेषां मतेन प्रमाणम् नय इति च द्वावेव विभागौ, प्रमाणं सम्यक्, नयास्तु सर्वेऽपि मिथ्या एव। यशोविजयवाचकैरिदं मलयगिरिसूरिमतं गुरुतत्त्वविनिश्चयटीकायां विस्तरेण विचारितम्। अस्य नयचक्रप्रथमविभागस्य गुजरातीभाषानिबद्धायां प्रस्तावनायामेतानि विविधानि मतानि विस्तरेणास्माभिरुपदर्शितानि, अतो जिज्ञासुभिरत्र विलोकनीयम्।

२ स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादवक्तव्यं स्यादस्ति नास्ति स्यादस्ति अवक्तव्यं स्यान्नास्ति अवक्तव्यं स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यम् इति सप्तभङ्ग्यां सर्वेऽपि भङ्गा विवक्षया सकलादेशरूपा विकलादेशरूपाश्च भवन्तीति अकलङ्कादयो दिगम्बराचार्या मन्यन्ते। प्राचीनाः श्वेताम्बराचार्याः किं मन्यन्त इत्येतन्निर्णेतुं दुष्करम्। अकलङ्कादुत्तरकालीनेषु श्वेताम्बराचार्येषु तु तर्कपञ्चाननसिद्धसेनगण्यादयो बहव आचार्या आद्यं भङ्गत्रयं सकलादेशत्वेन स्वीकुर्वन्ति, अवशिष्टांस्तु विकलादेशत्वेन। वादिदेवसूरयस्तु अकलङ्कनिर्दिष्टां प्रक्रियां स्वीकुर्वन्ति, यशोविजयवाचका अपि आदौ एवमेव स्वीकुर्वन्ति किन्तु अन्ततो यदा अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे सिद्धसेनगणिप्रभृतीनामेव मतं तदपि स्वीकुर्वन्ति। कलिकालसर्वज्ञहेमचन्द्रसूरिशिष्यस्य मल्लिषेणस्य तु गुणरत्नसूरेश्चाभयतिलकस्यापि मतं स्याद्वादमञ्जर्यादिग्रन्थानुसारेण ज्ञेयम्। किन्तु यदा आगमग्रन्थो मलयगिरिसूरिप्रभृतीनां विकलादेशाभासः सकलादेशः प्रमाणम् विकलादेशो नयः इत्यभिप्राय अपि तु अन्य एव। तत्र तु सर्वेऽपि भङ्गा विवक्षया सकलादेशा विकलादेशाश्च। विकलादेशात्मकानां सकलादेशः प्रमाणम् विकलादेशो नयः इत्यस्य स्वीकारेऽपि विकलादेशात्मकानां स्यात्पदयोगे सप्तभङ्गात्मकत्वं नाभ्युपगतम्। विस्तरार्थिभिरस्य नयचक्रप्रथमविभागस्य गुजरातीभाषानिबद्धा प्रस्तावना विलोकनीया॥ ३ पृ० ८६ पं० ५-८ इत्यादि। विस्तरार्थिभिरस्य नयचक्रप्रथमविभागस्य गुर्जरभाषानिबद्धप्रस्तावना विलोकनीया॥

युक्तत्वाज्जैनागमनस्यैव च सत्यत्वं प्रतिपादयितुकामेन ग्रन्थकृता 'विधिनियमे'त्यादिप्राचीना गाथा गाथासूत्रत्वेनोपन्यस्ता [पृ. ९ प. ६]। तद्व्याख्याया विध्यादीन् द्वादश भङ्गानुद्दिश्य 'यथोद्देशं निर्देशः' इति न्यायेन क्रमशो विध्यादिनयान् विस्तरेण व्याख्यातुकामेनादौ विधिनयस्य निरूपणं प्रारब्धम्। इदं पुनरवधेयम्—आदौ परपक्षनिरसनं ततः स्वपक्षस्थापनं ततो वाक्यपदीयादिप्रतिपादितेषु शब्दार्थ-वाक्यार्थेषु यस्य नयस्य यौ शब्दार्थ-वाक्यार्थावभिमतौ तयोरुपदर्शनमन्ते च यथायोगं नैगमाद्यन्यतमे नयेऽन्तर्भावं द्रव्यादिशब्दार्थं च प्रदर्श्य जिनप्रवचननिबन्धनत्वात् सर्वनयानां यस्य नयस्य यद् निबन्धनं जिनागमेषु तस्योपदर्शनमिति द्वादशस्वपि विध्यादिनयारेषु ग्रन्थकारस्य प्रतिपादनशैली। अत एतच्छैल्यनुसारेण 'यथालोकग्राहमेव वस्तु' इति मन्यमानो लौकिको विधिनय आदौ 'सामान्यम्, विशेषः, कारणे कार्यं सत्, कारणे कार्यमसत्' इत्यादीन्यलौकिकवस्तुविषयकाणि शास्त्रकाराणां मतानि विस्तरेण परीक्ष्य निरस्य च क्रियाविधायिशास्त्रस्यैवार्थवत्त्वं प्रतिपादयति, लोकव्यवहारादतिरिच्य वर्तमानानां सामान्यादिविषयकशास्त्रारम्भाणां वैयर्थ्यात्। अपि च, शास्त्रकाराः स्वाभिमतालौकिकवस्तुसाधनाय प्रत्यक्षादिप्रमाणानामपि अलौकिकं लक्षणान्तरं कल्पयन्ति, अतो विधिनयेन प्रमाणज्येष्ठत्वात् प्रत्यक्षस्य बौद्धाचार्यदिङ्नागाभिमतमलौकिकं प्रत्यक्षलक्षणं विस्तरेण निराकृतम्, तदनन्तरं सांख्याचार्यवार्षगण्यप्रणीतं कणादप्रणीतमपि च प्रत्यक्षलक्षणं दूषितम्। किञ्च, 'सामान्य-विशेषादि लोकतत्त्वं नानुभवस्य न च तेन ज्ञातेनापि किञ्चित् फलमतो लोकयात्रानिर्वाहार्थं यथालोकग्राहं वस्तु स्वीकर्तव्यम्' इत्याज्ञानिकवादं वहन् मन्यतेऽयं लौकिको विधिनयः। विधिवाक्यानामेव प्रामाण्यमभ्युपगच्छन्तो वेदवादिनो मीमांसका एतन्नयमतानुसारिणः, तेऽपि हि 'इदकाम इदं कुर्यात्' इति क्रियाविधायिशास्त्रस्यैव प्रामाण्यमाचक्षते, 'को ह वैतद् वेद, किं वाऽनेन ज्ञातेन' इत्याज्ञानिकवादं चोपजीवन्ति। अतो विधिनयनिरूपणद्वारेण मीमांसकमतमप्यत्र नय उपन्यस्तम्। अन्ते शब्दार्थ-वाक्यार्थावपि मीमांसकाभिप्रायेणात्रोपदर्शितौ। सर्वनयानां जिनप्रवचनस्यैव निबन्धनत्वादस्य नयस्य निबन्धनत्वेन भगवतीसूत्रगतं वाक्यं मल्लवादिसूरिभिरुपदर्शितं विधिनयसमाप्तौ।

[द्वितीयारविषयः]

एवं विधिनयेनाभिहिते द्वितीयो विधिविधिनयस्तद्दूषणायोपतिष्ठते। पूर्वपूर्वविरोधित्वादुत्तरोत्तरनयानामाद्ये विधिनये वर्णितं मीमांसकमतमत्र विस्तरेण निराकृतमादौ। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इति

---

१ पृ० ११ पं० ३ ॥ २ पृ० ३४ प० ४ ॥ ३ पृ० ४५ प० १ ४ पृ० ५९–१०७ ॥ ५ पृ० १०७–१०९। टिपृ० ३२ प० ५–६, टिपृ० ४० प० १–४, टिपृ० १२१ ॥ ६ पृ० ११० ॥ ७ "एष च वेदवादिभिरपि लोकप्रमाणक आज्ञानिकवाद उपजीव्यते किञ्चिन्न ज्ञायते, को ह वैतद्वेद? किं वाऽनेन ज्ञातेन? क्रियाया एवोपदेशोऽतः श्रेयान्।'–पृ० १११–११२। पृ० ३५ पं० ३, पृ० ३६ प० ६–७, पृ० ११८ प० १२, पृ० १७४ प० ११। अत्र वेदवादिनामाज्ञानिकवादोपजीवित्वं यत् प्रतिपादितं तत्रेमे वेदान्तर्गता उल्लेखा अनुसन्धेयाः–

"को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आबभूव। ६। इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद। ७।"–ऋग्वेद. (नासदीयसूक्त) १०।१२९।६–७। "को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत्।"–ऋग्वेद. १०।१०।६। "को वेद जानमेषां को वा पुरा सुम्नेष्वास मरुताम्"–ऋग्वेद ५।५३।१। "को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।"–ऋग्वेद १।१६४।४। "न वि जानामि यदिवेदमस्मि"–ऋग्वेद १।१६४।३७ ॥ इत्यादि ॥ ८ पृ० ११५ ॥

मीमांसादर्शनप्रसिद्धवाक्यस्य वह्नयोऽर्थाश्चर्चयित्वा निरस्तौ । ततो विधिविधिनयः स्वाभिमतम् 'एकमेव कारणं नानाभेदेन विवर्तते' इति सर्वैककारणमात्रत्वसिद्धान्तं स्थापयति । इदं तु ध्येयम्—एतत्सिद्धान्तावलम्बिनः सर्वेऽप्यद्वैतवादा अस्मिन् नयेऽन्तर्भवन्ति । अतो मल्लवादिना परस्परविरोधीनि यथाक्रमं पुरुष-नियति-काल-स्वभाव-भावाद्वैतवादिदर्शनान्यत्र निरूपितानि । एवं च विधिनयाभिमतमज्ञानिकवादं निरस्य ज्ञानमयः पुरुष एव नानाभेदेन भवतीति 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यादिर्वेदोपनिषत्सु प्रतिपादितं पुरुषाद्वैतवाद आदौ निरूपितः । ततः पुरुषाद्वैतवादं निरस्य नियत्यद्वैतवादः प्रतिपादितः । एवं पूर्वपूर्वनिरासेन पुरुष-नियति-काल-स्वभाव-भावाद्वैतदर्शनानि प्रतिपाद्य विधिविधिनयाभिमतौ शब्दार्थवाक्यार्थौ चोपदर्श्यास्याद्वैतवादस्य भगवतीसूत्रगतेन वाक्येन सम्बद्धत्वमेतन्नयान्ते दर्शितं मल्लवादिसूरिभिः ।

[तृतीयारविषयः]

अथ विधिविधिनयदर्शनेऽपरितुष्यन्नुपतिष्ठते तृतीयो विध्युभयारः । प्रकृतिपुरुषरूपेण द्वैतवादिनः सांख्या 'ईश्वरोऽधिष्ठाता, तदधिष्ठितं चेदं सर्वं जगत् प्रवर्तते' इति ईश्वरेशितव्यात्मकत्वेन द्वैतमभ्युपगच्छन्त ईश्वरवादिनश्चास्मिन् नयेऽन्तर्भवन्ति । तत्रादौ सांख्यः पुरुषाद्यद्वैतवादं निरस्य स्वाभिमतं प्रकृति-पुरुषद्वैतवादमुपन्यस्यति, संनिधिभवनापत्तिभवनभेदेन भवनस्य द्वैविध्यात् । किन्तु सांख्येन विधिविधिनयानुसारिष्वद्वैतवादेषु ये दोषा उद्भाविताः तेऽपि प्रकृतिकारणवादेऽपि तादवस्थ्याद् वार्षगणतन्त्रवर्णिते सांख्यमते सर्वसर्वात्मकत्ववादिना विस्तरेण निरस्ते तत्रासारस्यादीश्वरवादी भाव्य-भवितृभेदेन ईश्वरेशितद्वैतवादमुपन्यस्यति । अन्ते च विध्युभयारमतौ शब्दार्थवाक्यार्थौ दर्शयित्वा मल्लवादिसूरिभिर्द्वैतवादस्य जिनप्रवचननिबद्धत्वमुपदर्शितम् ।

[चतुर्थारविषयः]

एवं तृतीयनयेनाभिहिते चतुर्थे विधिनियमनयारे ईश्वरस्यापि प्रबलपुरुषकर्माधीनत्वादनीश्वरत्वात् कर्मप्रवर्तकत्वात् सर्वेषामपि प्राणिनामीश्वरत्वापत्तेश्च कर्मवादिमुखेन ईश्वरवादं विस्तरेण दूषयित्वा तदनन्तरं कर्मैकान्तवादं पुरुषकारैकान्तवादं च निरस्य विधिनियमनयेन स्वमतं प्रतिपादितम् । चेतनाचेतनात्मकस्य सर्वस्य परिवृत्त्या अन्योन्यात्मकत्वानुभवनात् कर्मसम्बद्धपुरुषाणां कर्मकृतत्वात् कर्मणां च पुरुषकृतत्वादात्मनैवात्मनः कार्यकारणवाद् 'एकं सव सर्वं चैकम्' इति हि विधिनियमनयदर्शनम्, विधेर्नियम्यत्वात् । अस्मिंश्च नये द्रव्यमेव शब्दार्थो नित्यः सर्वात्मकः । ॐ ब्रह्म परमार्थः । पृथक् सर्वं पदं वाक्यार्थ इति दर्शयित्वा आचाराङ्गसूत्रान्तर्गतेन वाक्येन सम्बद्धत्वमस्य नयस्य दर्शितं मल्लवादिसूरिभिः ।

अत्र च नयचक्रस्य प्रथमो मार्गोऽपि समाप्यतेऽर्धप्रायं च पुस्तकमपि समाप्यते ।

नयचक्रमूलस्य विचारः

विक्रमीयैकादशशताब्द्यां विद्यमानैः पूर्णतल्लगच्छीयैः शान्तिसूरिभिर्न्यायावतारवार्तिकवृत्तौ, वादिवेतालशान्तिसूरिभिरुत्तराध्ययनसूत्रबृहद्वृत्तौ, विक्रमीयद्वादशशताब्द्यां विद्यमानैर्मलधारिहेमचन्द्रसूरिभिरनुयोगद्वारसूत्र

---

१ पृ० १२१-१७२ ॥ २ पृ० १७३ ॥ ३ पृ० २४५ ॥ ४ पृ० २६१ ॥ ५ पृ० २६८-३२४ ॥ ६ पृ० ३२४ पं० १४ ॥ ७ पृ० ३३४ ॥ ८ पृ० ३३५-३५२ ॥ ९ पृ० ३५२ पं० ४ ॥ १० पृ० ३५७ पं० ३ ॥ ११ द्रष्टव्यं पृ० ३४८ पं० १-३, पृ० ३५० पं० १,१५-१६ इत्यादि ॥

वृत्तौ, कलिकालसर्वज्ञहेमचन्द्रसूरिगुरुभ्रातृप्रद्युम्नसूरिशिष्यैराचार्यचन्द्रसेनसूरिभिः विक्रमसंवत् १२०७ वर्षे रचितायाम् उत्पादादिसिद्धिस्वोपज्ञवृत्तौ च नयचक्रास्तित्वस्य निर्दिष्टत्वात् १२०७ वर्षं यावद् नयचक्रस्य विद्यमानत्वं स्पष्टमेव प्रतीयते। किन्तु ततः परं विक्रमसंवत् १३३४ वर्षे विरचिते प्रभावकचरिते प्रभाचन्द्राचार्यैर्नयचक्रानुपलब्धेरावेदितत्वाच्चनयोश्चन्द्रसेनप्रभाचन्द्राचार्ययोरन्तरा कस्मिंश्चित् समये नयचक्रं विलुप्तमिति प्रतीयते। ततः परमुपलभ्यमाना 'नयचक्रवाल'ग्रन्थस्योल्लेखास्तु सिंहसूरिक्षमाश्रमणविरचितां नयचक्रटीकामाश्रित्य प्रवृत्ता इति सम्भाव्यते। एतद्विषयेऽस्माभिष्टिप्पणेषु विस्तरेण प्रपञ्चितमिति तत्रैवावलोकनीयं विस्तरार्थिभिः।

नयचक्रमूलसङ्कलनोपायाः

एवं चिरालुप्तस्यास्माभिरपीतस्ततो भृशं गवेषयमाणैरनुपलब्धस्य मल्लवादिप्रणीतनयचक्रस्य सङ्कलनाय ग्रन्थान्तरेषु नयचक्रादुद्धृताः पाठा अस्माभिश्चिरं गवेषिताः। किन्तु आश्चर्यमेतद् यदस्माद् ग्रन्थाद्

'लौकिकोऽव्यवहारोऽपि न यस्मिन्नवतिष्ठते।
तत्र साधुत्वविज्ञानं व्यामोहोपनिबन्धनम्॥' [पृ. ८ पं. ३]
'विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत्।
जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम्॥' [पृ. ९ पं. ६]

इति कारिकाद्वयमेव ग्रन्थान्तरेषूद्धृतमिदानीमुपलभ्यते। अतो नयचक्रवृत्त्यन्तर्गतप्रतीकाद्यनुसारेण नयचक्रमूलमत्र महता परिश्रमेण सङ्कलितमस्माभिः। वृत्तिकारा हि सिंहसूरिक्षमाश्रमणा न प्रतीकान् धृत्वा नयचक्रं व्याचक्षते, अपि तु प्राधान्येन तात्पर्यमेव प्रकाशयन्ति। अतो बहुषु स्थलेषु प्रतीका विविच्य दुर्निर्णेयाः, बहुषु स्थलेषु सन्दर्भानामाद्यान्त्यभागानुपन्यस्यापराणि पदानि 'इत्यादि-यावत्'शब्दाभ्यां सङ्केतयित्वैव परित्यक्तानि, 'स्पष्टम्, सुगमम्' इत्याद्युल्लिख्यापि बहवो नयचक्रसन्दर्भा वृत्तिकृद्भिरव्याख्याताः। अतः प्रतिपदं पुनः पुनश्चिरं चिन्तयित्वातिपरिश्रमेण यथामति प्रतीकान् विविच्य सङ्कलय्य च नयचक्रमूलमत्र संयोजितमस्माभिः। अस्मिन् संपादने नयचक्रमूलसंयोजनस्यात्यन्तं कठिनत्वात् तत्र सर्वतोऽप्यधिकतमः परिश्रमोऽस्माभिरनुभूतः। या च यावती च सामग्र्यस्माभिर्लब्धा सा सर्वैवाऽत्र कार्येऽस्माभिरुपयुक्ता। यत्र नयचक्रकृता ग्रन्थान्तरेभ्यो वचांस्युद्धृतानि तत्र दुर्लभानपि तान् ग्रन्थानन्विष्य तदनुसारेण योजितमत्र मूलम्। दिङ्मात्रमत्रोदाहरामः—

---

१ दृश्यतां टिप्पृ० १ टि० २, टिप्पृ० १३ पं० २-१४॥ २ दृश्यतां टिप्पृ० २ पं० ८-१०॥ ३ "ख्याता प्रमाणमीमांसा प्रमाणोक्तिसमुच्चयः। नयचक्रवालतर्कः स्याद्वादकलिका तथा॥ १८॥ प्रमेयपद्मामार्तण्डस्तत्त्वार्थं सर्वसाधनः। धर्मसंग्रहणीत्यादितर्का जिनशासने॥ १९॥" इति विक्रमीयचतुर्दशशताब्द्या उत्तरार्धे पञ्चदशशताब्द्याश्च प्रारम्भे वर्तमानैर्मलधारिराजशेखरसूरिभिर्विरचिते वाराणसेययशोविजयग्रन्थमालातः प्रकाशिते षड्दर्शनसमुच्चये। विक्रमीयचतुर्दशशताब्द्या उत्तरार्धे विद्यमानैर्जिनप्रभसूरिभिः जिनागमस्तवे, विक्रमीयपञ्चदशशताब्द्यां विद्यमानैर्गुणरत्नसूरिभिः हरिभद्रसूरिप्रणीतषड्दर्शनसमुच्चयस्य बृहद्वृत्तौ, बृहट्टिप्पनिकाख्यायां प्राचीनग्रन्थसूच्यां च ये नयचक्रवालविषयका उल्लेखास्तेऽस्माभिः टिप्पृ० २ टि० ६ इत्यत्र प्रदर्शिता एव। यदा नयचक्रं विलुप्तं केवलाया नयचक्रटीकाया एव चोपलब्धिरासीत् तदानीन्तना एव एते सर्वेऽपि नयचक्रवालसम्बन्धिन उल्लेखाः, अतो नयचक्रटीकामाश्रित्येमे उल्लेखाः प्रवृत्ता इति वयं विभावयामः॥ ४ दृश्यतां टिप्पृ० २ टि० ६॥ ५ दृश्यतां पृ० ८ टि० १२। टिप्पृ० १३ पं० २-१४॥

"यच्चाप्यभिहितमभिधर्मकोशे यदेतदनेकप्रकारभिन्नमित्यादि यावदनेकवर्णसंस्थानं पश्यन्" [पृ० ७८ पं० ८] इति पूर्वपक्षमुद्दिश्य नयचक्रवृत्तौ तस्य विस्तरेण परीक्षा विलोक्यते। वसुबन्धुरचिता अभिधर्मकोशकारिकास्तेषां च स्वोपज्ञं विस्तृतं भाष्यमेतदुभयमपि अभिधर्मकोशनाम्ना व्यपदिश्यतेऽतो मल्लवादिक्षमाश्रमणैरभिधर्मकोशभाष्यमत्राभिधर्मकोशनाम्ना निर्दिष्टम्। नयचक्रसंपादनारम्भसमये 'सभाष्यं अभिधर्मकोशं संस्कृतभाषायां नष्टं' इति प्रसिद्धिरभूत्। अस्माभिस्तु संस्कृतभाषायां तदवाप्तये चिरं प्रयतमानैः 'पं० राहुलसांकृत्यायनमहाशयैरचिरादेव भोटदेशात् उपलब्धस्य अभिधर्मकोशभाष्यस्य 'फोटो'प्रतिकृतयः शान्तिनिकेतनविद्यालयेऽध्यापकानां विद्वद्वरश्रीप्रह्लादप्रधानमहाशयानां सविधे सन्ति' इति श्रुतम्। अस्मदभ्यर्थितैः सर्वोऽप्यभिधर्मकोशभाष्यांशः प्रह्लादप्रधानमहोदयैः शीघ्रमेव लिखित्वा महता सौजन्येनास्मत्सविधं प्रेषितः। ततो मल्लवादिभिरभिधर्मकोशभाष्यादुद्धृतः सर्वोऽपि पाठस्तदनुसारेण नयचक्रवृत्त्यनुसारेण च पृ० ७८–७९ इत्यत्र नयचक्रमूलेऽस्माभिर्दर्शितः। प्रह्लादप्रधानमहोदयेभ्यो लब्धोऽभिधर्मकोशभाष्यांशः 'पृ० ७८ टि० ५, टिपृ० ३७–३९, ४५, ४६, ४९, ५०' इत्यत्र मुद्रितोऽस्ति जिज्ञासुभिस्तत्र विलोकनीयम्।

पृ० ९३ पं० १ इत्यत्र बौद्धग्रन्थाद् मल्लवादिभिरुद्धृतः "रज्ज्वां सर्प इति ज्ञानम्" इत्यादिश्लोको नयचक्रवृत्त्यनुसारेण हस्तवालप्रकरणस्य भोटभाषानुवादानुसारेण च नयचक्रमूलेऽस्माभिर्योजितः। दृश्यतां भोटपरिशिष्टे टिपृ० १३६। अन्येऽपि 'पृ० ८८ पं० ३, पृ० ३०६ पं० १' इत्यादिषु मल्लवादिना प्रमाणसमुच्चयादिबौद्धग्रन्थेभ्य उद्धृता पाठाः सम्प्रति संस्कृतेऽनुपलभ्यमानत्वात् तेषां बौद्धग्रन्थानां भोटादिभाषान्तरसाहाय्येनास्माभिर्नयचक्रमूले योजिताः।

पृ० १३१ पं० २६ इत्यत्र "उक्तं हि" इत्युल्लिख्य मल्लवादिभिरुद्धृता "अनुवादादर" इत्यादिकारिका बृहत्कल्पवृत्त्याद्यन्तर्गतावतरणसाहाय्येन नयचक्रमूलेऽस्माभिर्योजिता। दृश्यतां टिपृ० ५८ पं० ५।

दिङ्मात्रमेतत्। ईदृशेष्वनेकस्थानेषु मुद्रितामुद्रितनानादेशोपलब्धनानाभाषानिबद्धग्रन्थानां साहाय्येन नयचक्रमूलसंकलनाय चिरं प्रयतितमस्माभिः।

किञ्चान्यत्, अनेकस्थानेषु वृत्त्यनुसारेण दुर्निर्णेया नयचक्रमूलपाठा सुदूरं गत्वा वृत्तिकारेणातिदेशादिप्रसङ्गेऽक्षरशः किञ्चिद्भेदेन वा वृत्तावुपन्यस्ताः। एतादृशान् वृत्त्यन्तर्गतान् सर्वपाठानितस्ततः समुच्चित्य तदनुसारेण यथायोगं नयचक्रमूलमनेकस्थानेष्वस्माभिः सङ्कलितमत्र। तथाहि 'पृ० ६५–७०' इत्यत्र विद्यमानं मूलं 'पृ० १०९ पं० २५–पृ० ११० पं० १६' इत्यत्र वर्णितमतिदेशमवलम्ब्य सङ्कलितम्। 'पृ० २४८–२५८' इत्यत्रस्थं मूलं 'पृ० ७०४ पं० २८–पृ० ७७७ पं० १३' इत्यत्र नयचक्रवृत्तावुल्लिखितं पाठमाश्रित्य योजितम्। एवमन्यत्रापि बहुषु स्थानेषु योजितं नयचक्रमूलम्। ये चातिदेशपूर्वाभिहितस्मारणादिप्रसङ्गेन निर्दिष्टा नयचक्रमूलकल्पने सहायकाः संक्षेपेण विस्तरेण वा नयचक्रवृत्त्यन्तर्गता ईदृशाः पाठास्ते विवेचकानां सौकर्यायात्र विशिष्टेषु [पैका ब्लेक नं० १] अक्षरेषु मुद्रिताः। अनिदेशादिप्रसङ्गवर्णितपदावाक्य-

---

१ अभिधर्मकोशकारिका भाष्ययोः कोशनाम्ना व्यवहारोऽपि प्रसिद्ध एव, दृश्यताम् अभिधर्मदीपवृत्ति पृ० १८, ३३, ४० ४१, ४७ ६५ ८१ ९०, ९३ इत्यादि॥ २ अभिधर्मकोशभाष्यस्य परःशतेभ्यो वर्षेभ्य प्राक् सञ्जातं भोटभाषानुवादं चीनभाषानुवादं चावलम्ब्य L de la Vallee Poussin इत्येभिः कृतं फ्रेञ्चभाषानुवादं Paris नगरात् (1931 A D वर्षे) प्रकाशितं वर्तते, सोऽपि चास्माभिरुपयुक्तोऽत्र॥

सन्दर्भानुसारेण च नयचक्रमूलं सङ्कलितं तेषामुल्लेखोऽपि तत्र तत्र टिप्पणेषु विहितोऽस्माभिः। इत्थं यथामति यथाशक्ति च मल्लवाद्यभिप्रेतं मूलं कल्पयितुं बहुतरं परिश्रान्तमस्माभि । यत्र तु मूलं कल्पयितुं वयमसमर्थास्तत्र तावानंशो रिक्तः स्थापितो बिन्दुभिश्च मूले निर्दिष्टः, दृश्यतां पृ० १० पं० १, पृ० ८६ पं० ५, पृ० ९२ पं० ५ इत्यादि।

टीकाकृतां सिंहसूरिगणिवादिक्षमाश्रमणानां परिचयः

"इति नियमभङ्गो नवमोऽरः श्रीमल्लवादिप्रणीतनयचक्रस्य टीकायां न्यायागमानुसारिण्यां सिंहसूरिगणिवादिक्षमाश्रमणदृब्धायां समाप्तः" इति नवमारसमाप्तौ "इति नियमनियमभङ्गो नाम आदितो विधिभङ्गादारभ्य गम्यमाने द्वादशो भङ्गो द्वादशारनयचक्रस्य श्रीमल्लवादिकृतस्य टीकायां श्रीमत्सिंहसूरिगणिविरचितायां समाप्तः" इति द्वादशारसमाप्तौ चोल्लेखदर्शनादियं नयचक्रवृत्तिः सिंहसूरिभिर्विरचिता ते च 'वादि-गणि-क्षमाश्रमण'पदविभूषिता आसन्निति स्फुटमेव प्रतीयते। विविधदार्शनिकमतमतान्तरोल्लेखैरागमसिद्धान्तवर्णनैश्च परिपूर्णत्वादस्यां टीकायां 'न्यायागमानुसारिणी' इति टीकाकृद्विहितो निर्देशः सर्वथा घटमान एव। इयं टीका टीकाकृतां परमं वैदुष्यं स्फुटमेव प्रकाशयति।

"इति मल्लवादिक्षमाश्रमणपादकृतनयचक्रस्य तुम्बं समाप्तम्। ग्रन्थाग्रम् १८०००" इति टीकान्त उल्लेखदर्शनाद् 'द्वात्रिंशद्भिरक्षरैरेकः श्लोकः' इति गणनयाष्टादशसहस्रश्लोकमानेयं टीका प्रतिभाति। दार्शनिकागमिकयौगिकायुर्वेदिकाद्यनेकविधोल्लेखपरिपूर्णा दुरवगाहसूक्ष्मचर्चागहना चेयं टीका टीकाकृतां सिंहसूरिक्षमाश्रमणानामनेकशास्त्रपारगामित्वमावेदयति स्वयमेव। एतद् विहायापरं किमपि तेषां जीवनवृत्तं नोपलभ्यते।

विशेषावश्यकभाष्यस्य [2]कोट्टार्यवादिगणिमहत्तरप्रणीतायां वृत्तौ सिंहसूरिक्षमाश्रमणप्रणीतैका कारिकेत्थमुद्धृता विलोक्यते—

"सिंहसूरिक्षमाश्रमणपूज्यपादास्तु—

सामान्यं निर्विशेषं द्रवकठिनतयोर्वीर्यदृष्टं यथा किम् ?
योन्या शून्या विशेषास्तरव इव धरामन्तरेणोदिताः के ?।

---

१ टीकानामतुलना—"समाप्ता चेयमागमानुसारिणी मध्यान्तविभागटीका आचार्यस्थिरमत्युपरचिता। [पारमिताख्य] विंशतिसाहस्रिकाया हृदयं समाप्तम्।" इति बौद्धाचार्यस्थिरमतिरचितायां मध्यान्तविभागटीकायाम् पृ० २६२। परमार्थेन चीनभाषायां निबद्धाद् वसुबन्धुजीवनचरित्राद् 'वसुबन्धुसमकालीनेन बौद्धाचार्येण सङ्घभद्रेण 'न्यायानुसारः' इत्यभिधानमभिधर्मकोशस्य विवरणं रचितम्' इत्यपि ज्ञायते॥ २ भगवद्भिर्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणैः प्रारब्धा विशेषावश्यकभाष्यस्य स्वोपज्ञवृत्तिः षष्ठगणधरवक्तव्यतां यावद् विरचिता, ततः परं तेषां दिवंगतत्वादपूर्णा वृत्तिः कोट्टार्यगणिवादिमहत्तरैः समाप्तिं नीता। मुनिराजश्रीपुण्यविजयमहोदयानां सौजन्यादस्माभिरस्याः १८६ पत्रात्मको हस्तलिखित आदर्शोऽधिगतः। तत्र ८१ पत्रपर्यन्तं षष्ठगणधरवक्तव्यतां यावद् जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणविरचिता व्याख्या, ततः परं तु कोट्टार्यगणिरचिता व्याख्या। तत्र बौद्धाचार्यस्य दिङ्नागस्यानेकानि वचांसि कोट्टार्यगणिभिरुद्धृतानि। विक्रमीयाष्टमशताब्द्यां विद्यमानयोः प्रसिद्धदार्शनिकयोर्मीमांसककुमारिल-बौद्धाचार्यधर्मकीर्त्योस्त्वेकमपि वचनमत्रोद्धृतं न विलोक्यते। अतो भगवन्तः कोट्टार्यगणिनः कुमारिल-धर्मकीर्त्यभ्युदयादर्वाक् प्राक्कालीनाः, आवश्यकचूर्णे सिंहसूरिक्षमाश्रमणानां च तत्र नामोल्लेखदर्शनाद् आवश्यकचूर्णिकृतः सिंहसूरिक्षमाश्रमणतश्चार्वाचीनाः तयोः समकालीना वेति प्रतीयते। अपरेऽपि सन्ति कोट्याचार्या नाम विशेषावश्यकभाष्यस्य टीकाकाराः, किन्तु ते कोट्टार्यगणिभ्यो भिन्ना अर्वाचीनाश्चेति सम्भाव्यते। कोट्याचार्यैर्बहुषु स्थलेषु धर्मकीर्त्यादेर्वचांसि उद्धृतानि। अतो धर्मकीर्तेरर्वाग्भावित्वं तेषां स्फुटमेव प्रतीयते॥

> किं निर्मूलप्रशाख सुरभि खकुसुम स्यात् प्रमाणप्रमेयम् ?
> स्थित्युत्पत्तिव्ययात्म प्रभवति हि सता प्रीतये वस्तु जैनम् ॥

अस्य दार्शनिकविचारसारगर्भितस्य पद्यस्य प्रणेतृत्वेन कोऽप्यार्यगणिभिर्निर्दिष्टा सिंहसूरिक्षमाश्रमणपूज्यपादा नयचक्रटीकाकृद्भ्य सिंहसूरिक्षमाश्रमणेभ्योऽभिन्ना इति वय सम्भावयाम । यद्यस्माक सम्भावना यथार्था तर्हि नयचक्रटीकाकृद्भिरपरोऽपि ग्रन्थ प्रणीत इति सुवचम् ।

टीकाकृता समय

टीकाकृता सिंहसूरिक्षमाश्रमणाना नियत समय क्वापि निर्दिष्टो न दृश्यते । तथापि विक्रमीयाष्टमशताब्दीवर्तिना कुमारिल धर्मकीर्त्यादीना प्रसिद्धदार्शनिकग्रन्थकाराणा मतोल्लेखस्य नयचक्रवृत्तौ क्वाप्यदर्शनाद् नयचक्रवृत्तिकृता तेभ्य प्राचीनत्व स्पष्टमेव प्रतीयते । यद्यपि नयचक्रवृत्तौ पृ ६ इत्यत्रोद्धृत "ज चोद्दस" इत्यादिकारिकात्रय किञ्चित् क्रमभेदेन विशेषावश्यकभाष्ये दृश्यते, विशेषावश्यकभाष्यस्य च ५३१ शकसवत्सरोल्लेखिगाथाद्वयेन सहिता तालपत्रेषु लिखितैका प्राचीना प्रतिर्जेसल्मेरनगरे विद्यते तथापि तदनुसारेणात्र विशेषावश्यकभाष्य-नयचक्रवृत्त्यो पूर्वापरभावो निर्णेतु न पार्यते । तथाहि—एतत् कारिकात्रय जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणैरपि ग्रन्थान्तरादुद्धृत सम्भाव्यते, अत सिंहसूरिक्षमाश्रमणाना समयनिर्णय एतन्न बहूपयुज्यत इति वय मन्यामहे । विस्तरार्थिभि टिप्पृ ९ प २५–टिप्पृ १० इत्यत्र विलोकनीयम् ।

इद तु सम्भावयाम । बौद्धन्यायस्य पितृत्वेन प्रसिद्धो दिङ्नागाचार्य 'अपोह शब्दार्थ' इति वादस्य प्रणेता । प्रमाणसमुच्चयस्यापोहपरिच्छेदेऽन्यत्र चापोहविषयके प्रकरणे विस्तरेण खमतमिद प्रतिपादित तेन । नयचक्रवृत्तौ च पृ १९ प १८ इत्यत्र सिंहसूरिक्षमाश्रमण "कुतोऽर्थान्तरापोहलक्षण विद्वन्मन्याद्यतनबौद्धपरिकल्पित सामान्यम्" इति 'अद्यतन'शब्देन अपोहवादिनो निर्देशाद् दिङ्नागस्य सिंहसूरेश्च समीपकालभावित्व प्रतीयते । वीरसवत् ९८० वर्षे [विक्रमसवत् ५१० वर्षे] देवर्धिगणिक्षमाश्रमणत पुस्तकारूढाया सम्प्रति विद्यमानाया आगमिकपाठपरम्पराया सिंहसूरिक्षमाश्रमणादृतागमिकपाठपरम्परात सुतरा भिन्नत्वादपि सिंहसूरिक्षमाश्रमणानां प्राचीनत्व प्रतीयते । नयचक्रवृत्तौ 'पृ १४५ प १९, पृ २४० प १०' इत्यादौ क्वचिन्नयचक्रपाठभेदोल्लेखदर्शनाद् मल्लवादि सिंहसूरिक्षमाश्रमणयो परस्परत कालकृतमपि किञ्चिदन्तर प्रतिभाति ।

---

१ शकसवत्सरतो विक्रमसवत्सरस्य १३४ वर्षाधिक्य चैत्रमासे । अतोऽत्र ६६५ विक्रमसवत्सरोऽत्र भवतीति ध्येयम् ॥ २ अत्रेदमवधेयम् । जेसल्मेरनगरे विद्यमानस्य विशेषावश्यकभाष्यस्यान्ते ५३१ शकसवत्सरोल्लेखीद गाथाद्वयमित्थ दृश्यते—

> पच सता इगतीसा सगणिवकालस्स वट्टमाणस्स । तो चेत्तपुण्णिमाए बुधदिण सातिमि णक्खत्ते ॥
> रज्जे णु पालणपरे सी[लाइ]च्चम्मि णरवरिंदम्मि । वलभीणगरीए इम महवि मि जिणभवणे ॥

अस्मिन् गाथाद्वये ५३१ शकसवत्सरस्य वलभीनगर्या शीलादित्यस्य राज्ञ उल्लेखो दृश्यते । अन्तिमे तु चरणे कानिचिदक्षराणि त्रुटितानि अतस्तस्मिन् सवत्सरे किं जात इत्यत्र वति न ज्ञायते । इद च गाथाद्वय केनचिट्टीकाकृतापि न व्याख्यातम्, अपि तु भाष्यादर्शेष्वपि क्वचिन्न दृश्यते । अत ५३१ शकसवत्सरे चैत्रपूर्णिमाया बुधवासरे स्वात्युल्लेखे वलभ्या नगर्या शीलादित्ये राज्ञि राज्यमनुपालयति जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणै किञ्चिद् कृत तपो वा अन्यो वा कश्चिद् व्यतिकरो जात ' इत्यर्थोऽत्र विवक्षित इति सम्भाव्यते ॥

सम्पादनोपयुक्तानां नयचक्रवृत्तिप्रतीनां परिचयः

नयचक्रवृत्तेः सम्पादने निम्नलिखिताः प्रतयोऽस्माभिरुपयुक्ता.—

भा०—भावनगरस्थायाः 'श्रेष्ठि श्री डोसाभाई अभेचन्दनी पेटी' इत्यभिधाया जैनसङ्घसञ्चालितायाः संस्थाया ज्ञानभाण्डागारान्तर्गता ५७२ पत्रात्मिका प्रतिः। प्रतिपत्रं पृष्ठद्वयम्। प्रतिपृष्ठं १३ पङ्क्तयः। प्रतिपङ्क्ति प्राय ४० अक्षराणि। अस्या प्रतिपत्र पार्श्वभागे [In the margin] 'नयचक्रवालवृत्तिः' इत्युल्लेखो दृश्यते। इय च प्रति. पाठान्तरप्रदर्शनेऽत्र भा०संज्ञया व्यवहृता। अस्याः प्रारम्भे "ॐ नमो वीतरागाय। नमः श्रीमल्लवादिने।" इत्युल्लेखो दृश्यते। प्रान्ते तु प्रतेर्लेखयितॄणामीदृश उल्लेखो विलोक्यते—

"इति श्रीमन्मल्लवादिक्षमाश्रव(म)णपादकृतनयचक्रस्य तुम्ब समाप्तं। ग्रन्थाग्र १८००० । शुभ भवतु।

श्रीआर्यरक्षितसूर. प्रसूते विशाले गच्छे लसन्मुनिकुले विधिपक्षनाम्नि।
सूरीश्वरा गुणनिधानसुनामधेया आसन् विशुद्धयशसो जगति प्रसिद्धाः॥ १॥
तत्पट्टपद्मतरणिः सरणिर्भवाब्धौ श्रीधर्ममूर्तिरिति सूरिवरो विभाति।
सौभाग्यभाग्यसुखसद्गुणरत्नरत्नगोत्र. पवित्रचरितो महितो विनेयैः॥ २॥
तेन स्वश्रेयसे ज्ञानभाण्डागारे हि लेखिते। नन्दतान्नयचक्रोरुतुम्बपुस्तकमुत्त[म]म्॥ ३॥
गुञ्जो गुञ्जोपमो लक्ष्म्या मन्त्रिगोविन्दनन्दनः। श्रीगुरोराज्ञया सुज्ञ. शालमे[त्र?]मलीलिखत्॥ ४॥"

विधिपक्षगच्छीयपट्टावल्यादिदर्शनेन धर्ममूर्तिसूरयो विक्रमीयसप्तदशशताब्द्यामासन्निति विक्रमसवत् १६५० वर्षप्रायसमये तत. प्रागेव वा तैरिय प्रतिर्लेखिता प्रतीयते। विस्तरेण धर्ममूर्तिसूरीणा समय-जीवन-चरितादिजिज्ञासुभिर्विधिपक्षगच्छीयपट्टावल्येव विलोकनीया।

य०—समर्थश्रुतधरतार्किकशिरोमणिपवित्रनामधेयपूज्यपादसुप्रसिद्धन्यायविशारदन्यायाचार्ययशोविजयोपाध्यायैरनेकमुनिवृन्देन सह पत्तने लिखिता ३०९ पत्रात्मिका प्रतिः। सम्प्रतीय प्रतिः अहम्मदावादस्थे 'देवशानो पाडो' इत्यत्र विद्यमाने प० महेन्द्रविमलजीसत्के ज्ञानभाण्डागारे विद्यते। अस्या आद्यान्त्यपत्रयो. पार्श्वभागे [In the margin] 'नयचक्रवालटीका' इत्युल्लेखो विलोक्यते, प्रारम्भे इत्यमुल्लेखो दृश्यते—

"भट्टारकश्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्यमहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यपण्डितश्रीलाभविजयगणिशिष्यपण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यपण्डितश्रीनयविजयगणिगुरुभ्यो नमः।

प्रणिधाय पर रूप राज्ये श्रीविजयदेवसूरीणाम्।
नयचक्रस्यादर्शं प्रायो विरलस्य वितनोमि॥ १॥ ऐँ नमः॥"

अन्ते तु ईदृश उल्लेखो दृश्यते—

"इति श्रीमल्लवादिक्षमाश्रमणपादकृतनयचक्रस्य तुम्ब समाप्तम्॥ छ॥ ग्रन्थाग्र १८०००॥

---

१ वैक्रमे १५८५ वर्षे धर्ममूर्तिसूरीणा जन्म, १५९९ वर्षे दीक्षा, १६०२ वर्षे सूरिपदम्, १६७० वर्षे स्वर्गगमनम्॥ २ एभिराचार्यैर्बहव प्रतिष्ठा. कारिता बहवश्च ग्रन्था लेखिता॥

यादृशं पुस्तके दृष्टं तादृशं लिखितं मया । यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयते ॥ १ ॥

संवत् १७१० वर्षे पोसवदि १३ दिने श्रीपत्तननगरे॥ प० श्रीयशविजयेन पुस्तकं लिखितं। शुभं भवतु ॥

उदकानलचौरेभ्यो मूषकेभ्यो विशेषतः । कष्टेन लिखितं शास्त्रं यत्नेन प्रतिपालयेत् ॥ १

भग्नपृष्ठकटिग्रीवा दृष्टिस्तत्र अधोमुखी । कष्टेन लिखितं शास्त्रं यत्नेन प्रतिपालयेत ॥ २ ॥

पूर्णं प० यशविजयगणिना श्रीपत्तने वाचितम् ॥ छ ॥

आदर्शोऽयं रचितो गच्छे श्रीविजयदेवसूरीणाम् । सम्भूय यैरमीषामभिधानानि प्रकटयामि ॥ १ ॥

विबुधा श्रीनयविजया गुरवो जयसोमपण्डिता गुणिनः ।

विबुधाश्च लाभविजया गणयोऽपि च कीर्तिरत्नाख्याः ॥ २ ॥

तत्त्वविजयमुनयोऽपि प्रयासमत्र स्म कुर्वते लिखने ।

सह रविविजयैर्विबुधैरलिखच्च यशोविजयविबुधः ॥ ३ ॥

ग्रन्थप्रयासमेनं दृष्ट्वा तुष्यन्ति सज्जना गाढम् । गुणमत्सरव्यग्रहिता दुर्जनदृक् वीक्षते नेनम् ॥ ४ ॥

तेभ्यो नमस्तदीयान् स्तुवे गुणांस्तेषु मे दृढा भक्तिः । अनवरतं चेष्टन्ते जिनवचनोद्भासनार्थं ये ॥ ५ ॥

श्रेयोस्तु ॥

सुमहानप्ययमुच्चैः पक्षेणैकेन पूरितो ग्रन्थः । कर्णामृतं पटुधिया जयति चरित्रं पवित्रमिदम् ॥ ६ ॥ श्री ॥"

पा०–पत्तनस्थजैनसङ्घसत्कज्ञानभाण्डागारीया प्रतिः । पत्रसङ्ख्या ४६९ । अन्त्यानि त्रिचतुराणि पत्राणि न विद्यन्तेऽतः प्रान्ते किं लिखितमिति न ज्ञायते । प्रतेः प्रारम्भे तु य० प्रतिवदेव पाठ इति य० प्रतिमवलम्ब्यैवेयं प्रतिर्लिखितेति स्पष्टमेव ।

डे०–अहमदाबादनगरे 'डेलानो उपाश्रय' इत्यत्रस्थे जैनज्ञानकोशे विद्यमाना ४४८ पत्रात्मिका प्रतिः । इयमपि प्रतिः य० प्रतिमवलम्ब्य लिखिता । अस्या अन्ते ईदृश उल्लेखः–"ग्रंथाग्रं १८००० । संवत् १७२९ वर्षे कार्तिकवदि ७ शुक्रे लपीतं पुस्तकं श्रीरस्तु ॥"

लीं०–लींबडीनगरस्य जैनज्ञानभाण्डागारे विद्यमाना प्रतिः । इयं प्रतिः डे० प्रतितो लिखिता प्रतीयते । चतुर्थारपर्यन्तानि २४७ पत्राण्येवास्या अस्माभिर्लब्धानि । अतोऽन्ते कीदृश उल्लेख इति न ज्ञायते ।

वि०–पञ्चनददेशे जीराग्रामे विजयानन्दसूरीणां ज्ञानमन्दिरे विद्यमाना ३८७ पत्रात्मिका प्रतिः । इयमपि प्रतिः परम्परया य० प्रतिमवलम्ब्यैव लिखिता । अस्याः प्रारम्भे ईदृश उल्लेखः —

"ॐ नमः श्रीजिनाय । प्रणिधाय परं रूपं राज्ये श्रीविजयदेवसूरीणाम् । नयचक्रस्यादर्शं प्रायो विरलस्य वितनोमि ॥ ऐं नमः ॥"

प्रान्ते पुनरित्ययमुल्लेखः—"ग्रन्थमानसंख्या १८००० । संवत् १७५३ वर्षे शाके १६१८ प्रवर्तमाने पौषमासे कृष्णपक्षे ३ तिथौ जीरवासरे श्रीशरपेजग्रामे लिखितमिदं पुस्तकम् ।"

र०–विजापुरनगरे रङ्गविमलजीगणिजैनग्रन्थभाण्डागारे विद्यमाना ५५२ पत्रात्मिका प्रतिः । इयमपि प्रतिः परम्परया य० प्रतितः एवावतारिता । अस्याः प्रारम्भे "भट्टारकश्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्य ... " इत्यादिरुल्लेखो य० प्रतिवदेव । अन्तेऽपि "ग्रन्थाग्रं १८००० श्रीरस्तु । पूर्णं प० यशविजयगणिना श्रीपत्तने

लाचितम्" इत्यत आरभ्य "जयति चरित्र पवित्रमिदम्" इत्यन्त उल्लेखो य० प्रतिवदेव। तदनन्तरं लिपिकर्तुर्निर्देश—"संवत् १७२४ वर्षे फाल्गुनकृष्णे १ प्रतिपदा भौमे लिखितमिदं पुस्तकं शुभं भव । श्रीरस्तु।"

ही०—खम्भातनगरस्थ गुणोदयजैनमन्दिरे विद्यमाने श्रीहीराचन्द्रजीयतिसत्कज्ञानकोशे विद्यमाना ३३४ पत्रात्मिका प्रति । इयं प्रति. परम्परया य० प्रतित साक्षात् तु र० प्रतितोऽवतारिता प्रतीयते पाठसाम्यात्। अस्या. आरम्भे 'प्रणिपात पर रूपम. . ." इत्यादिरुल्लेखो य० प्रतिवदेव। अन्तेऽपि "पूर्वं प० यशोविजयगणिना लाचितम्" इत्यादि "जयति चरित्र पवित्रमिदम्" इत्यन्त उल्लेखो य० प्रतिवदेव।

इदं तु ध्येयम्—य० प्रतौ य० प्रतिमवलम्ब्य लिखितासु सर्वासु पा० डे० आदिप्रतिषु च पार्श्वभागे 'नयचक्रवृत्ति' इत्युल्लेखो दृश्यते।

इदमपि ध्येयम्—वि० र० ही० प्रतिषु पाठेऽस्मिन् [पृ० ४२५ पं० २४–पृ० ४२७ पं० १८] दृश्यमानस्य पाठस्य परिवर्तदर्शनाद् वि० र० ही० प्रतयो न साक्षाद् य० प्रतितोऽवतारिता, अपि तु य० प्रतितोऽवतारितात् कुतश्चिदन्यस्मादादर्शाल्लिखिता इति स्पष्टमेव प्रतीयते।

प्रतीनां समानत्वासमानत्वे

पा० डे० ली० वि० र० ही० प्रतीना य० प्रतितोऽवतारितत्वादस्मिन् सम्पादने वस्तुतो भा० प्रतिः य० प्रतिश्चैव द्वे एव प्रती आधारभूते। किन्तु सम्पादनकाले सप्तमारमुद्रणपर्यन्त य० प्रतेरनुपलब्धत्वात् तत्स्थाने पा० डे० ली० वि० र० ही० प्रतयोऽस्माभिरुपयुक्ता.। सप्तारमुद्रणानन्तर विक्रमसंवत् २०१२ वर्षे 'अमदावाद' नगरे 'देवसाने पाडो' इत्यत्र प० महेन्द्रविमलजीसत्कज्ञानकोशतोऽकम्पितेव य० प्रतिप्राप्ति. सञ्जाता। मुनिराजश्रीपुण्यविजयजीमहाभागै शीघ्रमेव य० प्रतिरस्मत्सविधे 'पालिताणा' नगरे प्रेषिता। य० प्रतेः प्राप्तौ विस्तृतो वृत्तान्तो जिज्ञासुभिर्गुर्जरभाषानिबद्धास्मदीयप्रस्तावनातोऽवसेय.। पा० डे० ली० वि० र० ही० प्रतिषु ये केचन परस्परत पाठभेदा विलोक्यन्ते ते य० प्रत्यक्षराणा सम्यगनवगमादिकारणलेखकदोषादेव प्रसूता। कैश्चिच्च य०प्रतिस्थसङ्केतानवगमाल्लेखकैर्भूयान् पाठव्यत्ययोऽपि कृतः। पृष्ठेऽस्मिन् ६६६–६७० [२] इत्यत्रेदृशो भूयान् व्यत्यय सञ्जात। एव च पा० डे० ली० र० ही० प्रतीना य०प्रतिमूलकत्वाद् य०प्रतौ भा०प्रतौ च यत् परस्परतो वैशिष्ट्य तदेवात्रोपदर्श्यते—

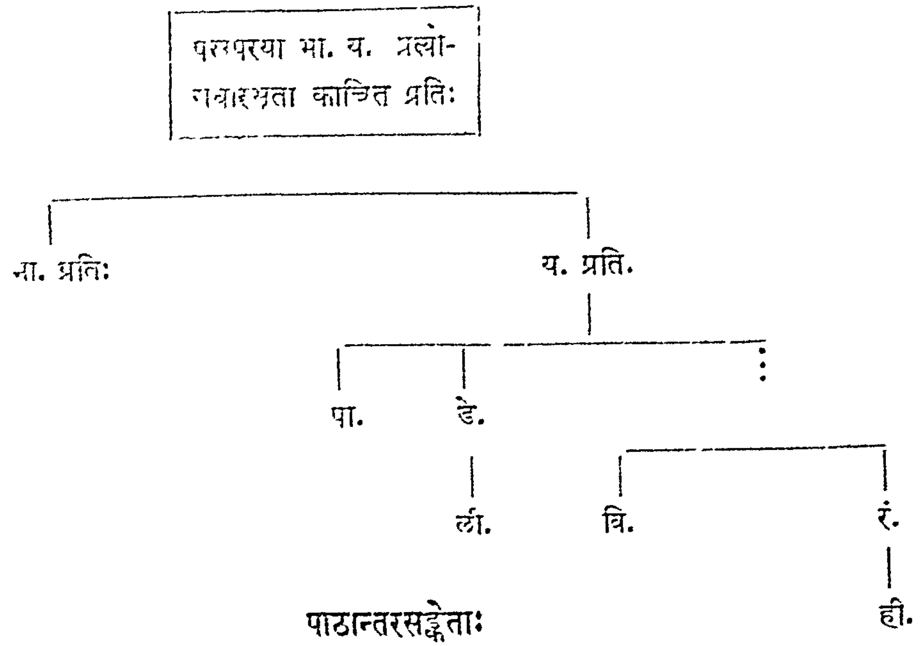
---

१ द्रष्टव्यं पृ० ३६२ पं० २८ टि० ६, टिपृ० ९३ पं० २१–२४॥ २ अष्टमेऽरे "शब्दलिङ्गगतपक्षापक्ष०" [पृ० ६६६ पं० १०] इत्यत्र य० प्रतौ २३० पत्राङ्क समाप्यते तदनन्तर २३४ तमे पत्रे प्रमादात् २३१ इत्यङ्को लिखित., एव २३१ तमे पत्रे २३२ इत्यङ्क, २३२ तमे २३३ इत्यङ्क, २३३ तमे च २३४ इत्यङ्को लिखित। य० प्रतौ प्रमादादेव लिखितेष्वप्यङ्केषु तत्रैव वामकोणे शुद्धाङ्का अप्युपन्यस्ता। पा० प्रतिलेखकस्येद सम्यग् विज्ञातमासीत्, अतस्तेन शुद्धाङ्कानुसारेणैव पा० प्रतिर्लिखिता। किन्तु य० प्रतिमवलम्ब्य कैश्चिदन्यलेखकैर्या प्रतयो लिखितास्तैस्त्वेतदपरिज्ञानादशुद्धाङ्कानुसारेणैव स्वप्रतयो लिखिता इति २३० पत्रानन्तरम् २३४ तम पत्र तैर्लिखितमिति तासु महान् पाठव्यत्यय सञ्जात। अतो "सिध्यते [पृ० ६७४ पं० १८] इत्यत आरभ्य अत्रशब्दवाच्यस्याग्निविशिष्टस्य धू० [पृ० ६७६ पं० २२] इत्यन्त. पाठोऽसम्बद्ध एव शब्दलिङ्गगतपक्षापक्ष० [पृ० ६६६ पं० १०] इत्यनन्तरमापतित, यच्च तस्य स्वस्थान तत परिभ्रष्ट। एवं पाठव्यत्ययदूषितप्रत्यनुसारेण यदि सम्पादन क्रियेत तदा बहूनि पत्राणि पाठव्यत्यासेन भ्रष्टानि स्यु। भगवतो गुरुदेवस्य कृपयास्माकं सौभाग्याद् भा०य०पा०प्रतीनामस्मत्सविधे सद्भावादीदृशो पाठदोषोऽस्माकं सम्पादने आयात इति सर्वैरवधेयम्॥

भा० प्रति य० प्रतित पूर्वं लिखिता, य० प्रतावविद्यमाना परःशता शुद्धपाठा अनेकाश्च पङ्क्तयो भा० प्रतौ सुरक्षिता विद्यन्ते, पञ्चमेऽरे पृ ३९७ प १५ पृ ४०० प १८ इत्यत्र य० प्रतौ भूयान् पाठविपर्यासो दृश्यते। भा० प्रतौ तु यथावत् पाठ। द्वादशेऽरे एकत्र सार्धपत्रप्रमित पाठो य प्रतौ न विद्यते, भा प्रतौ तु उपलभ्यते। नयचक्रवृत्तेर्भा०प्रतौ ये पाठा आगमग्रन्थेभ्य उद्धृतास्तत्र 'त'कारबाहुल्य तथा 'ध'कारप्रयोग इत्यादीनि जैनागमाना प्राकृतभाषाया प्राचीनानि लक्षणानि सुरक्षितानि, य० प्रतौ तु तत्र यथाक्रम क्वचिद् 'य'कार 'ह'कारश्चेत्यादि किञ्चित् परिवर्तनमपि दृश्यते। एतदादयो य प्रतितो विशेषा भा प्रतौ विलोक्यन्ते। एव य प्रतावपि भा प्रतितो भूयासो विशेषा विलोक्यन्ते। तथाहि—य० प्रतेराधारभूत आदर्श कश्चिदन्य एवातो भा० प्रतौ यत्र पर सहस्रा अशुद्धपाठा दृश्यन्तेऽनेकाश्च पङ्क्तय पतितास्तत्र य प्रतौ यथावत् पाठा उपलभ्यन्ते। यशोविजयोपाध्यायैरादौ स्वय वाचयित्वा सूक्ष्मेक्षिकया सावधानतया च निर्मितत्वाद् य० प्रति भा० प्रत्यपेक्षया बहुषु स्थानेषु शुद्धतरा। विविधजैनज्ञानभाण्डागारेषूपलभ्यमानाना भा० प्रतिव्यतिरिक्ताना सर्वासामपि नयचक्रवृत्तिप्रतीना य० प्रतिमूलकत्वादिय शुद्धपाठपरम्परा यशोविजयोपाध्यायैरेव बाहुल्येन सुरक्षिता। एवमपि अनेका अशुद्धयो य० भा०प्रत्यो समाना दृश्यन्त परम्परया द्वे अपीमे कस्याश्चिदेकस्या एव प्रतेरवतीर्णे इति निश्चितमेव प्रतीयते। अत एव प्रतीयते—

---

१ दृश्यता पृ० ८ प० ११ टि० ५, पृ० ३० प० ९ टि २ पृ० ४९ टि० ६ पृ० ९० टि० ६, पृ० १८४ टि० ५ पृ० १५५ टि० २ पृ० १९८ टि० २ पृ० २४९ टि० ९ पृ० २५४ टि० ६, पृ० २७६ टि० १ पृ० २८४ टि० ३, पृ २८७ टि० ८, पृ० २९० टि० १, पृ० २९५ टि० ४ पृ० ३०५ टि० ७ ९ पृ ३०९ टि ७ पृ० ३११ टि० ५ पृ० ३ ४ टि० १ पृ ३२७ टि० ३ पृ० ३३० टि० ७ पृ० ३८७ टि० ८, पृ० ३७३ टि० ४ पृ० ३७९ टि० ६ पृ० ३९१ टि० ८ पृ० ४०३ टि० पृ० ४१४ टि० ७ पृ० ४२२ टि० २ पृ० ८२४ टि० १४ पृ० ४२५ टि० ८ पृ० ४३१ टि० ८ पृ० ४५० टि० ३ पृ ४७४ टि० ७ पृ० ५०४ टि० ६ पृ० ५०५ टि० १० पृ० ५६१ टि० १ पृ० ६६० टि० ६ पृ० ७ १ टि० २ इत्यादि॥ २ दृश्यता पृ० ३९७ टि० ७॥ ३ योऽपि क्षणो नास्ति यथैवदपि त्वव्यपदेशकारणदण्डस्थानीयस्वभावमात्, यत सम्बन्धात् क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिक उच्यते ततोऽन्य। अत इत्येतदनन्तर द्वादशेऽरे "सा क्षणिकताऽत्र नास्त्येव शब्दार्थ" इत्यादि "विशेषमपि चात्र ब्रूम ननूक्तयस्तु" इत्यन्त सार्धपत्रपरिमित पाठो य० प्रता त्रुटितत्वाद् नास्त्येव। गुरुदेवकृपया भा० प्रतौ तु [पृ० ५७१-२ त ५७३-१ मध्य] स उपलब्ध। अतोऽत्र भा० प्रतिरत्यन्तमुपकरोति॥ ४ दृश्यता पृ० ११५ प० ७ ४ टि० १४-१५ पृ० ११६ प० १ टि० १ इत्यादि॥ ५ दृश्यता पृ० ३ प० २० टि० १७, पृ ७ प० १४ टि० ९ पृ० ७ ६ प० ४ टि० ११ इत्यादि॥ ६ दृश्यता पृ० १० प० १ टि० ७, पृ० २८ प० ११ टि ६ पृ० ८७ प० ७ पृ० ८८ प० १६ टि० ८ पृ १८१ टि० १ पृ० २२२ टि० ३ पृ० ३३० टि ९, पृ २६१ टि० ६ पृ० ३७८ टि० ६ पृ ४ ५ टि ४ पृ ४०६ टि० १ पृ ४७० टि० ४ इत्यादि॥



पाठान्तरसङ्केताः

भा० पा० डे० आदिसङ्केतैः भा० पा० डे० आदिप्रतिस्थाः पाठभेदाष्टिप्पणेषु दर्शिताः । सप्तमारमुद्रणपर्यन्त य० प्रतेरनुपलम्भेऽपि पा० डे० लीं० वि० र० ही० प्रतीनां य० प्रत्यवलम्बित्वाद् यत्र पा० आदिषु सर्वासु समानः पाठस्तत्र तत्स्थः पाठभेदो य० सङ्केतेनैव टिप्पणेषु दर्शित. । यत्र तु भा० प्रभृतिषु सर्वास्वपि प्रतिषु अशुद्धः पाठस्तत्र स पाठः प्र०सङ्केतेन टिप्पणेषु दर्शितः, अस्मदभिमतस्तु शुद्धः पाठो ग्रन्थे निवेशित. ।

नयचक्रवृत्तेः संशोधनायावलम्बिता पद्धतिरुपायाश्च

नयचक्रवृत्ते. संशोधनं प्रभूतग्रन्थसाहाय्येनास्माभिर्विहितमित्यसकृदावेदितं प्राग् । इदमन्यदप्यत्रानुसन्धेयम् । केवलं व्याकरणादिनियमानुसारेण यथाकथञ्चिच्छुद्धपाठकल्पनेन विषयसङ्गतिकरणेन च संशोधनकार्यं न सम्यग् निर्वहति, शुद्धपाठोऽपि ग्रन्थकृदभिप्रेत एव कल्पनीयो भवति । तत्र चोपायान्तरमपि विद्यते । तथाहि–केषाञ्चिदक्षराणामाकृतयः कालक्रमेण परिवृत्तिमापन्ना, एतल्लिपिपरिवर्तनं तु सम्यगजानाना बहवो लेखका वाचकाश्चाकृतिसाजात्यादन्यथाक्षराणि कल्पयन्ति, अन्यथा च लिखन्ति । पृष्ठमात्रानिवेशनमपि सम्यगविविञ्चन्तोऽयथास्थानं च पृष्ठमात्रा निवेशयन्तो लेखका बहुशो मिथ्यापाठान् सृजन्ति । अत्र यदि सूक्ष्मेक्षिकया लिपिपरिवर्तनमवेक्ष्य संशोधनं विधीयते तदानायासेनैव ग्रन्थकृदभिप्रेताः शुद्धपाठा अवाप्यन्ते । अतोऽयमुपाय एतद्ग्रन्थसंशोधने प्राधान्येनावलम्बितोऽस्माभि. । तत्साहाय्येन ग्रन्थकृत्सम्मता. परःशताः शुद्धपाठा अस्माभिर्यथावदेव लब्धाः । तथाहि–'पृ० १६ पं० १४, पृ० ४७ पं० ७' इत्यत्र 'करकट' शब्दो हस्तलिखितप्रतिषु दृश्यते, वस्तुतस्तु प्राचीनलिप्या 'क्ख' इत्यक्षरं 'रक' इति लिख्यते स्म, अतस्तत्र 'कक्खट' इत्येव शुद्धपाठ. । बौद्धमतस्यात्र प्रस्तुतत्वात् 'कक्खटलक्षणा पृथिवी' इति च बौद्धानामभिमतत्वात् 'कक्खट' इति पाठो बौद्धमतेनापि सर्वथा संवदति, दृश्यतां पृ० १६ टि०८ । अतोऽत्र

'कक्खट' इति पाठ एव ग्रन्थकृतोऽभिमत शुद्धश्चेति स एवात्रादरणीय । एवमाकृतिसारूप्यादिकारणैर्बहूनामक्षराणा हस्तलिखितनयचक्रवृत्तौ परिवर्तन सञ्जातम् । ईदृशानि अन्योन्य परिवर्तितानि कानिचिदक्षराण्यत्रोदाह्रियन्ते—

ऽ = अ	ण्व = च्च	त्व = ङ्व	नु = उ	म = न
ऽ = इ	त = न	त्स = न्स्	नु = तु	र = भ
ए = प = य	त = व	द = ह	– न = न्न	ग्रं = र्गं
क = वा	तत्र = तन्त्र	द्रि = भि	प = य	ल = त
क्र = ं	तृ = त्रि	द्वि = पि	पृत = वृत्त	श = त्रा
रक्र = क्ख	त्त = तृ	द्य = ह्य	प्य = ण्य	स = भ
ग = म	त्त = त्तृ	ध = य	व = च	स्त = सू
च = व	त्त = त्त	धा = क	भ = त	च = श्च
ज्ञ = प्र	त्थ = च्छ	न = ण	भू = चु	ा = ी
ट = ड	त्व = च	नतु = नतु	म = स	ा = य

एतल्लिपिपरिवर्तन मुहुर्मुहु सूक्ष्मेक्षिकया विचिन्त्य विविच्य च यथास्थान यथासम्भव शुद्ध पाठ आदृतोऽस्माभि । भोटग्रन्थानामपि शुद्धपाठनिर्णयेऽस्माभिर्व्यधायि बहुषु स्थानेषूपयोग । तथाहि—पृ० ९३ प० २३ इत्यत्र भा० प्रतौ 'तदशदृष्टौ' इति पाठो दृश्यते, य० प्रतिषु तु 'तदद्दष्टौ' इति पाठ । भोटभाषान्तरमनादादर्थसङ्गतेश्च 'तदशदृष्टौ' इति पाठ एव शुद्धत्वात् तत्रास्माभिरादृत, दृश्यता भोटपरिशिष्टे टिपृ० १३६ । एव पृ० ३१४ प० ४ पृ०३२१ प० १६ इत्यत्र च मुद्रितोऽशुद्ध पाठो नयचक्रमुद्रणानन्तर समासादितभोटग्रन्थसाहाय्येन टिपृ० १३८ प० ६ टिपृ० १४० प० ८ इत्यत्र चास्माभि शुद्धीकृत ।

यत्र कश्चित् पाठ खण्डित इत्यस्माक मत तत्र खण्डितपाठपूरणाय [ ] एतादृशकोष्ठकान्तरस्मत्सम्भावित पाठो निवेशित । यत्र च सर्वासु प्रतिष्वशुद्ध पाठस्तत्स्थाने शुद्धपाठ च सम्यक् कल्पयितु वयमसमर्थास्तत्राशुद्धपाठस्याग्रे (?) एतादृश चिह्न स्थापितमस्माभि, यथा पृ० २५७ प० १४ इत्यत्र । यत्र त्वशुद्धपाठस्थाने कश्चिच्छुद्ध पाठोऽस्माभि सम्भावितो न तु निश्चितस्तत्राशुद्धपाठस्याग्रे (?) एतादृशकोष्ठकान्तरस्मत्सम्भावित पाठोऽस्माभिर्निवेशित, यथा पृ० १६ टि० १० इत्यादौ । यत्र चान्यथापि पाठ कल्पयितु शक्यत तत्र वैकल्पिकी पाठसम्भावनापि टिप्पणेषु तत्र तत्रास्माभि प्रदर्शिता, यथा पृ० १४ टि० ९, पृ० १८ टि० १३, पृ० ७२ टि० ८ इत्यादौ ।

नयचक्रवृत्ता ग्रन्थान्तराणा प्राचीना विशिष्टपाठा

मल्लवादि सिंहसूरिक्षमाश्रमणानामतिप्राचीनत्वात् तेषा समक्ष वेदोपनिषत्-साङ्ख्यादिदर्शनशास्त्र-पाणिनीयशब्दानुशासनसूत्र धातु पातञ्जलमहाभाष्य-जैनागमादिग्रन्थाना प्राचीना पाठपरम्पराऽऽसीदिति निर्विवादमेव । कालक्रमेण ग्रन्थेषु अन्यान्यलेखकहस्तै पाठभेदा जायन्ते वर्धन्ते चेति विदितमेव विदुषाम् । अतो नयचक्रवृत्तावुद्धृतेषु वेदादिपाठेषु सम्प्रत्युपलभ्यमानपाठेभ्यो न्यूनाधिकभेददर्शनेऽपि अत्रोद्धृता प्राचीन

परम्परानुसारिणः पाठाः प्रायस्तदन्यथा त्वास्माभिः परिकल्पिताः । यथा च सम्प्रति पाठभेदो दृश्यते तथा टिप्पणेषु तत्र तत्र दर्शितमस्माभिः । अतो टिप्पणान्यवश्यमवश्यं विलोकनीयानि ।

पृष्ठाङ्काः

अस्मिन् ग्रन्थेऽस्य मुद्रितग्रन्थस्य पृष्ठाङ्काः सर्वत्र पृष्ठस्य शीर्षके उपन्यस्ताः । यत्तु पार्श्वभागे [In the margin] पृष्ठाङ्काः स भा० प्रतेर्वेदितव्यः । भा० प्रतेर्हि ५७२ पत्राणि, प्रतिपत्रं च पृष्ठद्वयम्, अतो भा० प्रतेरस्मिन् पत्रे यस्मिंश्च पृष्ठे यो यो विभाग आयाति तस्य प्रारम्भे २-१, २-२, ३-१, ३-२, ४-१, ४-२ इत्यादिक्रमेण सर्वे पृष्ठाङ्का अत्रास्माभिः पार्श्वभागे उपन्यस्ताः । २-१ = भा० प्रतेर्द्वितीयपत्रस्य प्रथमं पृष्ठम्, २-२ = द्वितीयपत्रस्य द्वितीयं पृष्ठम्, ३-१ = तृतीयपत्रस्य प्रथमं पृष्ठम्, ३-२ = तृतीयपत्रस्य द्वितीयं पृष्ठमित्यादिरर्थः ५७२-१ पर्यन्तं सर्वत्र स्वयमेवोह्यः । अस्मिन् ग्रन्थेऽधोनिर्दिष्टेषु टिप्पणेषु पृथग् योजितेषु च टिप्पणेषु यत्र यत्रामुद्रितवक्ष्यमाणपाठावलोकनार्थमस्माभिः सूचितं तत्र तत्रास्याङ्कस्य विशेषेणोपयोगः । नयचक्रवृत्तेः संशोधने हि पूर्वापरसन्दर्भाणां भूयानुपयोगोऽस्माभिर्विहितः । बहुषु च स्थलेषु पूर्वाभिहितपाठानामर्थो वक्ष्यमाणसन्दर्भसाहाय्येनैव स्पष्टतयावगम्यते पाठशुद्धिर्मूलसङ्कलनं च यथावत् कर्तुं पार्यते । एवं च टिप्पणेषु स्थलेषु यत्रामुद्रितवक्ष्यमाणपाठावलोकनार्थमस्माभिः सूचितं तत्रास्य भा० प्रतिपृष्ठाङ्कस्योपयोगोऽस्माभिर्विहितः । यथा पृ० ९ टि० १० इत्यादौ[1] । अस्मिन् विभागे नयचक्रमुद्रणानन्तरं पश्चाद्भागे पृथग् योजितानां टिप्पणानां पृष्ठाङ्कोऽपि पृथगेवात्र निर्दिष्टः, एवं च यत्र यत्र टिपृ० इत्यस्माभिर्निर्दिश्यते तत्र तत्र नयचक्रमुद्रणादूर्ध्वं पृथग् योजितानां टिप्पणानामेव पृष्ठाङ्कोऽवगन्तव्यः ।

टिप्पणानां द्वैविध्यम्

अत्र द्विविधानि टिप्पणानि योजितान्यस्माभिः—नयचक्रग्रन्थेऽधस्ताद् मुद्रितानि पादटिप्पणरूपाणि, अपराणि पुनर्नयचक्रमुद्रणानन्तरं योजितानि । अधोमुद्रितेषु पादटिप्पणेषु प्राधान्येन पाठान्तराणि दर्शितानि संशोधनोपयोगिनः सन्दर्भाश्च ग्रन्थान्तरेभ्य उद्धृताः, क्वचित् क्वचिच्च ग्रन्थस्य स्पष्टीकरणं तुलनादिकमपि च विहितम् । नयचक्रमुद्रणानन्तरं योजितेषु तु टिप्पणेषु विस्तरेण विवेचनं तुलनादिकं चानुष्ठितम्, तेषु तेषु प्रसङ्गेषु ग्रन्थान्तरेभ्य उद्धृत्य बहवो दुर्लभाः पाठा अप्यत्रोपन्यस्ताः[2], ऐतिह्यादिकमपि चार्चितम्, ग्रन्थमुद्रणसमयेऽस्माभिरज्ञाता या अशुद्धयोऽनन्तरमस्मद्बुद्धौ स्फुरितास्तत्तत्स्थाने शुद्धपाठा अपि तत्रास्माभिर्निर्दिष्टाः[3] । एवं च एतैर्नयचक्रमुद्रणानन्तरं योजितैष्टिप्पणैः सहैवायं सवृत्तिको नयचक्रग्रन्थो विद्वद्भिः पठनीयः । किञ्च, एतेषां टिप्पणानामेवाङ्गभूतं 'भोटपरिशिष्टम्, वैशेषिकसूत्रसम्बन्धिपरिशिष्टम्, य० प्रतिपाठपरिशिष्टम्' इति परिशिष्टत्रयमपि योजितमत्र । तेषां वैशिष्ट्यमुपयोगित्वं च तदवलोकनादेव सम्यग् ज्ञातुं शक्यते । किञ्चित्त्वत्र दर्श्यते—

---

१ दृश्यतां टिपृ० १० पं० ३७, टिपृ० २४ पं० २२, टिपृ० ५० पं० १, टिपृ० ५१ पं० १३ इत्यादि । विशेषार्थिभिस्तु शुद्धिपत्रकं विलोकनीयम् ॥ २ तत्रास्मिन् विभागे पृ० ६४, ८६, ८८, ८९ ९१, ९३, ९६, ९७, ९९, १००, १०१, १०२, ३०६ इत्यादिस्थलेषु दिङ्नागस्य वचांसि नयचक्रमूले वृत्तौ चोद्धृतानि यथायोगं च परीक्षितानि ॥ ३ दृश्यतां पृ० १५ पं० ८, टिपृ० १६ पं० ६–१८, पृ० ५६ पं० १६ टि० १२, पृ० १२० पं० १७ टि० १०, पृ० १२२ पं० ५ टि० २, पृ० १२८ पं० १४ टिपृ० ५६ पं० १–५, पृ० १५४ पं० १६ टि० ७, पृ० १७५ पं० १९ टि० ६, पृ० १८६ पं० २८ टि० ६, पृ० १८३ पं० १५ टि० ४, पृ० १८३ पं० २३ टि० ९, पृ० १९७ पं० ८ टि० ४, पृ० ३१४ पं० १ टि० २, पृ० ३३२ पं० १, पृ० ३३१ टि० ३ इत्यादि ॥

१ भोटपरिशिष्टम् (टिपृ० ९५–१४०)

बौद्धन्यायस्य पितृत्वेन प्रसिद्धेन दिङ्नागाचार्येण रचितानां प्रमाणसमुच्चयादीनां बहूनां ग्रन्थानां खण्डनमण्डनादिकं प्रभूतेषु प्राचीनग्रन्थेषूपलभ्यते । नयचक्रे महता विस्तरेण दिङ्नागमतं चर्चितम् । सम्प्रति न्यायप्रवेशं योगावतारं प्रज्ञापारमितापिण्डार्थसंग्रहं च विहाय दिङ्नागरचिताः केऽपि ग्रन्था संस्कृतभाषायां नोपलभ्यन्ते । कियाञ्चित् प्रमाणसमुच्चयादीनां ग्रन्थानां परं शतेभ्यो वर्षेभ्यः पूर्वं विहितो भोटभाषानुवादस्तूपलभ्यते । नयचक्रान्तर्गतायां दिङ्नागमतपरीक्षायां सम्यगाशयपरिज्ञानार्थं दिङ्नागमतपरिज्ञानस्यात्यन्तमावश्यकत्वाद् भगवतो गुरुदेवस्य कृपया भोटभाषामधीत्य प्रमाणसमुच्चयादिग्रन्थानां भोटभाषानुवादाश्च महता परिश्रमेण अमरिका-युरोप-जापानादिदेशेभ्योऽनेकेषां विदुषां सौजन्येन 'मायक्रोफिल्म फोटो'आदिरूपेणानाय्य भोटभाषानुवादात् संस्कृतभाषायां परिवर्त्य च प्रमाणसमुच्चयादिग्रन्थानामत्रोपयुक्ता बहवः सन्दर्भा अस्मिन् प्रथमविभागान्तर्गते भोटपरिशिष्टेऽस्माभिरुपन्यस्ताः । अष्टमेऽप्यरे दिङ्नागस्य वचांसि निर्दिश्य महता विस्तरेण दिङ्नागमतपरीक्षा नयचक्रे विधास्यते, तत्रोपयुक्तं प्रमाणसमुच्चयाद्यशास्तु द्वितीयविभागे टिप्पणेषु तत्र तत्रो

---

१ दृश्यतां पृ० ३ पं० १० टि० ७ पृ० ८० पं० १० टि० ५ पृ० ४५ टि० ९ पृ० ६ टि० पृ० ६७ टि० ३ पृ० ७२ टि० १ इत्यादि ॥ २ Gaekwad's Oriental Series Oriental Institute Baroda इत्यतोऽयं ग्रन्थः प्रकाशितः ॥ ३ नयकारिकामकाऽयं ग्रन्थो विधुशेखरभट्टाचार्येण Indian Historical Quarterly IV/1928 (पृ० ७७१–७७८) इत्यत्र प्रकाशितः । दुर्गाचरण चटर्जी इत्यनेन तु स एव आंग्लभाषानुवादेन सह Journal and Proceedings Asiatic Society of Bengal (New Series) Vol XXIII/1927 (पृ० ४९– ५९) इत्यत्र प्रकाशितः ॥ ४ अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितार्थसङ्ग्रहकारिकामकाऽयं ग्रन्थः Prof Giuseppe Tucci इत्यनेन Journal of the Royal Asiatic Society London, 1947 (पृ० ४३–७) इत्यत्र आंग्लभाषानुवादेन सह प्रकाशितः ॥ ५ दृश्यतां टिपृ० ९५ । विस्तरार्थिभिरस्मत्सम्पादितस्य वैशेषिकसूत्रस्य सप्तमं परिशिष्टं पृ० ११–१५ इत्यत्र E Frauwallner लिखितं Dignaga, sein Werk und seine Entwiklung (WZKSO, BD III Wien Austria 1959 pp 83-164) इति जर्मनभाषानिबद्धं निबन्धं च विलोकनीयम् ॥ ६ अस्मिन् विभागेऽन्येष्वपि केषुचित्स्थलेषु प्रमाणसमुच्चयादिग्रन्था अस्माभिरुपन्यस्ताः दृश्यतां पृ० ६ टि० १५ पृ० ५४ टि० पृ० ७९ टि० ७ पृ० ८८ टि० १० पृ० ९१ टि० १ पृ० २०६ टि० १ टिपृ० ७३ पं० १०–१३ टिपृ० ७४–७५, टिपृ० ७७ पं० २९–२८ टि० टिपृ० ८४ पं० १७–१९ टि० टिपृ० ८ पं० १–६ ११–१२ टि० ६ ॥ ७ दृश्यतां पृ० ६०५ पं० ६ टि० पृ० ६०५ पं० १ ६ पृ० ११ पं० ५–६ पृ० ६१२ पं० ५– पृ० ६१३ पं० ६ १७ पृ० ६१ पं० १२–१३, पृ० ६२० पं० १४ पृ० ६२१ पं० ८ पृ० ६ ७ पृ० ६३८ पं० २ पृ० ६४७ पं० ८ १८ पृ० ६४८ पं० १८ पृ० ६४९ पं० ११ १४–१५ पृ० ६५० पं० १ पृ० ६ –६५३ पृ० ६६१ पं० ११० १ १४ पृ० ६६३ पं० ४– पृ० ६६९ पं० २३ पृ० ६७० पं० २ पृ० ६७२ पं० ३ पृ० ६७४ पं० ६ पृ० ६७५ पं० १–४ पृ० ६७ पं० ५ १७ पृ० ६७९–६८० पृ० ६८३ ६८४ ६८५ ६८६ पृ० ६८७ पं० १३ पृ० ६८८ पं० १–३ पृ० ६९१ पं० ६, पृ० ६९३ पं० ५ १९ पृ० ६९४ पं० १० पृ० ६९९ पृ० ७०२ पं० ७०३ पं० १९ पृ० ७०४ पं० ३ पृ० ७० पं० ३ १४ १९ पृ० ७०६ पं० २१ पृ० ७११ पं० ११ पृ० ७१८ पं० २ पृ० ७२० पं० ४ पृ० ७२ पं० ९ पृ० ७२४ पं० २३ पृ० ७२७ पं० १० पृ० ७ ८ पं० ० पृ० ७४० पं० २ ११ पृ० ७३१ टि० १ पृ० ७३२ पं० ७१, पृ० ७३ पं० ४ १३ १९ टि० १ पृ० ७३८ पं० ५ पृ० ७३ पं० २४ ॥ ८ दृश्यतां पृ० ५०१–६ ८ पृ० ६३८ टि० १ पृ० ६१७ टि० १ पृ० ६ १–६३ पृ० ६३८–६४० पृ० ६५०–६ १ पृ० ६६२ टि० १ पृ० ६८३–६८४ पृ० ७२४–७२९ ॥

प्रवर्तीतः । तद् भोटपरिशिष्टं नयचक्रस्याध्येतॄन् यथोपकरोति तथा सामान्यतो न्यायाद्यनेकप्राचीनदर्शन-शास्त्राध्येतॄन् विशेषतश्च प्रमाणवार्तिकतत्त्वसङ्ग्रहादिबौद्धदर्शनशास्त्राध्येतॄनत्यन्तमुपकरिष्यति । अनेकत्रपाणि नृप रैश्चास्माभिः सङ्कलितमिदं भोटपरिशिष्टमेव विस्तरार्थिभिर्विलोकनीयम् ।

वैशेषिकसूत्रसम्बन्धि परिशिष्टम् (टिपृ. १४१)

चन्द्रानन्दविरचितवृत्तिसमन्वितस्य कणादप्रणीतवैशेषिकदर्शनस्यास्मिन् ग्रन्थे पृथक् पृथक् स्थाने टिप्पणेषु मात्रयात्र मुद्रणे कारणं टिपृ० ८ पं० २२–३० इत्यत्र विस्तरेण दर्शितमेवास्माभिः । किञ्चित्त्व-त्राधिकमत्र प्रतिपादितम् । वैशेषिकसूत्राणामत्र पृथक् पृथक् टिप्पणेषु मुद्रितत्वात् कतमं सूत्रं क्व मुद्रितमिति सारल्यार्थं तु वैशेषिकसूत्रसम्बन्धिपरिशिष्टमत्र सङ्कलितमस्माभिः ।

इदं तु बोध्यम्—वैशेषिकसूत्राणामविज्ञातकर्तृका एका व्याख्या २०१३ विक्रमाब्दे बिहारप्रदेशे दरभङ्गानगरस्थेन मिथिलाविद्यापीठेन प्रकाशिता । तन्मातृकायां पृथक् सूत्रपाठो नास्ति । तथापि तत्सम्पादकैः श्रीनरेन्द्रचन्द्रवेदान्ततीर्थमहाशयैर्व्याख्यानुसारेण यः सूत्रपाठः सम्भावितः स चन्द्रानन्दाभिमतवैशेषिकसूत्र-पाठेन बहुशः संवदति । वैशेषिकसूत्राणामुपस्कारकृच्छङ्करमिश्रः ख्रिष्टीयपञ्चदशशतके आसीत्, मिथिलाविद्या-पीठप्रकाशितव्याख्याकारस्तु त्रयोदशे ख्रिष्टीयशतके तदनन्तरं वा लब्धोदय इति प्रतीयते । अथ चन्द्रानन्दस्तु तस्माद्व्याख्यातुः सुतरां प्राचीन इत्यपि ध्येयम् ।

[illegible] C, P प्रत्यनुसारेण चन्द्रानन्दरचिता वृत्तिरत्र मुद्रिता । ततः परम् Oriental Institute Baroda संस्थायां शारदालिप्या लिखिता चन्द्रानन्दरचितवृत्तेरेका प्रतिर्लब्धा । कदाचिदपरिचितामपि शारदालिपिं पठता गुरुदेवस्य कृपयाऽऽलोच्य तत्र P प्रत्यपेक्षया ये शुद्धपाठा विद्यन्ते तेऽस्माभिः पृथक् शुद्धिपत्रके दर्शिताः ।

---

१ न्यायवार्तिके न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायां मीमांसाश्लोकवार्तिके तद्व्याख्यासु युक्तिदीपिकाख्यायां सांख्यकारिकावृत्तौ प्रमाणसमुच्चयस्य दिङ्नागस्य वचांस्युद्धृत्य दिङ्नागमतं तत्र तत्र निराकृतम् । अतस्तादृशेषु स्थानेष्विदं भोटपरि-शिष्टमत्रत्यानि टिप्पणेषु यानि प्रमाणसमुच्चयांशा नयचक्रे तद्वृत्तौ चोद्धृतानि दिङ्नागवचांसि च न्यायवार्तिकाद्य-ध्येतॄणामत्यन्तमुपकरिष्यन्ति । अस्माभिः सम्पादितस्य वैशेषिकसूत्रस्य (Gaekwad's Oriental Series No 136, Baroda) प्रथमे परिशिष्टे [पृ० १६९–२१९] प्रमाणसमुच्चये तद्वृत्तौ विशालामलवत्यां च तट्टीकायां विद्यमाना वैशेषिक-दर्शनसम्बन्धिनी प्रायः सर्वापि चर्चा न्यायदर्शनसम्बन्धिनी च भूयसी चर्चा भोटभाषान्तरतः संस्कृते परिवर्त्योपन्यस्ता, अतस्तज्जिज्ञासुभिस्तदपि विलोकनीयम् ॥ २ धर्मकीर्तिविरचितं प्रमाणवार्तिकं हि प्रमाणसमुच्चयस्य व्याख्यानरूपम् । तत्र प्रमाणवार्तिकस्य प्रमाणपरिच्छेदः प्रमाणसमुच्चयप्रथमपरिच्छेदस्य प्रथमां कारिकां तद्वृत्तिं चावलम्ब्यैव प्रवृत्तः, प्रत्यक्षपरिच्छेदः प्रमाणसमुच्चयप्रथमपरिच्छेदस्य २–१८ कारिकास्तद्वृत्तिं चावलम्ब्य प्रवृत्तः, परार्थानुमानपरिच्छेदस्तु प्रमाणसमुच्चयस्य तृतीय-परिच्छेदस्य प्रारम्भिकं त्रिंशत् कारिका अन्याश्च काश्चित् कारिकास्तद्वृत्तिं चावलम्ब्य प्रवृत्तः । एतच्च प्रायः सर्वमपि भोटभाषान्तरतः संस्कृतेऽनूद्यास्य नयचक्रग्रन्थस्य भोटपरिशिष्टेऽन्यत्र च तत्र तत्र टिप्पणेषूपन्यस्तम् । अतोऽस्मिन् ग्रन्थे मुद्रितानां भोटपरिशिष्ट-टिप्पणानां प्रमाणवार्तिकाध्ययने उपयोगित्वं स्फुटमेव, प्रज्ञाकरगुप्तेन रचितः प्रमाणवार्तिकभाष्यरूपो वार्तिकालङ्कारः तत्त्व-सङ्ग्रहादयश्च बौद्धग्रन्था अपि तदनुसारिण इति तत्रापीमानि भोटपरिशिष्टटिप्पणानि भृशमुपयोगीनि भविष्यन्ति तदध्येतॄणाम् ॥
३ अस्मत्सम्पादितस्य वैशेषिकसूत्रस्य द्वितीयं परिशिष्टं (पृ० १०१–१२२) विस्तरार्थिभिर्विलोकनीयम् ॥

य० प्रतिपाठपरिशिष्टम् (टिप्प० १४२–१४६)

वाचकवरश्रीयशोविजयोपाध्यायैर्लिखिताया य०प्रतेः सप्तारमुद्रणं यावदनासादितत्वाद् य० प्रत्यनुसारिण्यः पा० डे० लीं० वि० र० ही० प्रतयो य०प्रतेः स्थानेऽत्रास्माभिरुपयुक्ताः । य० प्रत्यक्षराणां सम्यगनवगमादिकारणवशाल्लेखकहस्तेन सञ्जाताः कचन पाठभेदाः पा० डे० आदिप्रतिषु तत्र तत्र दर्शिताः । य० प्रत्याप्त्यनन्तरं तु ते पाठभेदा अनतिप्रयोजनाः, अतः पा० डे० आदिप्रतिषु यत्र परस्परतः पाठभेदस्तत्र य० प्रतौ यादृशः पाठस्तमुपदर्शयितुं य० प्रतिपाठपरिशिष्टमत्र संयोजितम् । एवं च सप्तारमुद्रणादूर्ध्वमवाप्तापि वाचकवरश्रीयशोविजयोपाध्यायैर्लिखिता य० प्रतिरत्र साकल्येनोपयुक्तास्माभिरिति विदाङ्कुर्वन्तु विद्वांसः । अतः परमष्टमारादीनां मुद्रणे भा० य० प्रती एवोपयोक्ष्येते, न तु पा० डे० लीं० वि० र० ही० प्रतय इत्यपि ध्येयम् ।

उपसंहारः

काश्चनाशुद्धयोऽस्माभिष्टिप्पणेषु प्रमार्जिता एव । प्रुफावलोकनेऽनवधानादिजाशुद्धयः शुद्धिपत्रके एव विशेषतो दर्शिताः । अतष्टिप्पणानि शुद्धिपत्रकं चानुसन्धायैवायं ग्रन्थोऽध्येतव्यो विद्वद्भिः ।

एवं संशोधनाय सुबहु कृतेऽपि यत्ने नयचक्रमूलाभावात्, हस्तलिखितनयचक्रवृत्तिप्रतिष्वशुद्धिबाहुल्यात्, मल्लवादि सिंहसूरिक्षमाश्रमणाभ्यां येषां मतानि चर्चितानि तेषां भूयसां प्राचीनग्रन्थानां सम्प्रति विनष्टत्वेन संशोधनोपयोगितथाविधग्रन्थान्तरसामग्र्यभावात्, अस्मन्मतिमान्द्यात्, भगवद्भिर्गुरुदेवैः महता परिश्रमेण स्पष्टमुच्चार्य सम्यगवधाय च सर्वेष्वपि शोधन[प्रुफ]पत्रेषु चतुष्कृत्वः पञ्चकृत्वो वा पठितेष्वपि शोधन[प्रुफ]पत्राणामवलोकने मम सम्यगनवधानाद् मुद्रणावसरे सीसकाक्षरविपर्यासाच्च याः काश्चन स्खलनाः अत्र दृष्टिपथमवतरेयुस्ताः सर्वा अपि विविच्य सज्जना विद्वन्महोदयाः एतद्ग्रन्थाध्ययनाध्यापनादिना अस्माकं परिश्रमं फलेग्रहिं कुर्युरिति वाढमभ्यर्थयामहे ।

धन्यवादवितरणम्

एवं महता परिश्रमेण सुचिरं संशोध्य सम्पाद्य चास्य नयचक्रमहाशास्त्रस्य प्रथमो विभागोऽद्य विदुषां पुरः प्रकाश्यते । अद्यतनशैल्या साङ्गोपाङ्गं संशोधनं सम्पादनं च विधायेमं ग्रन्थं प्रकाशयितुं प्राचीनग्रन्थसंशोधनेऽनेकप्राचीनग्रन्थसङ्ग्रहव्यवस्थापने च सिद्धहस्तानां मुनिराजश्रीपुण्यविजयजीमहाराजानां चिरादुत्कटा समीहासीत् । तत्प्रेरणयैवैतद् कार्यं मयाङ्गीकृतम् । नयचक्रवृत्तेर्हस्तलिखिताः सर्वा अपि प्रतयस्तैरेव भृशं परिश्रम्येतस्ततः सञ्चित्य मत्समीपं प्रेषिताः । अत्र सम्पादने उपयुक्ताः पत्तन-जैसलमेरादिनगरस्थानां विशेषावश्यकभाष्यस्वोपज्ञटीका कोट्यार्यगणिरचितटीका सम्मतिवृत्तिः वैशेषिकसूत्र-चन्द्रानन्दरचितवृत्ति-न्यायभाष्य न्यायवार्तिक न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका न्यायकन्दली सांख्यकारिकावृत्ति-तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिकादिग्रन्थानां प्राचीना दुर्लभतमाश्च हस्तलिखिता आदर्शा अपि तेषां सकाशादेव मयाधिगताः । किं बहुना ? ये च यावन्तश्च ग्रन्था एतत्सम्पादने मयापेक्षितास्ते सर्वेऽपि यथोपलम्भं तैर्मह्यं दत्ताः । किञ्च, अस्य ग्रन्थस्य संशोधनं सम्पादनं च यद्यपि मयैवात्र व्यधायि तथापि भूरिद्रव्यव्ययसाध्या एतद्ग्रन्थमुद्रणप्रकाशनक्रियान्यथा तैरेव व्यधायि । एवं च नयचक्रग्रन्थसंशोधनोपयोगिविविधसामग्रीप्रदानेन प्रभूतं साहाय्यं तैरत्रानुष्ठितम् ।

युरोपखण्डे ओस्ट्रियादेशे विएनानगरे विश्वविद्यालये भारतीयदर्शनशास्त्राध्यापकैः संस्कृत-हिन्दी-बङ्गला-चीन-भोट-फ्रेंच-जर्मन-आङ्ग्लाद्यनेकभाषाविद्भिः Prof Dr Erich Frauwallner[1] महाशयैश्चिर नयचक्रग्रन्थमधीत्य मुहुर्मुहुश्चिन्तनमननादि च विधाय अस्य आङ्ग्लभाषामयी प्रस्तावना लिखिता, भोटपरिशिष्टेऽपि तैर्बहवो विशिष्टा उपयोगिन्यश्च सूचना विहिता. ।

पुण्यपत्तने फर्ग्युसनविद्यालये जर्मनभाषाध्यापकैर्भारतीयदर्शनशास्त्रविशारदैः संस्कृत-चीन-भोटादि-नानाविधभाषानिष्णातैः श्रीमद्भिः 'वासुदेव विश्वनाथ गोखले' इत्येतैर्महाभागैर्मदर्थं भोटभाषानुवादग्रन्थावाप्तये भृशं प्रयतितम्, स्वयं च भोटभाषाध्ययनाय तैरहमत्यन्तं प्रोत्साहितः, भोटपरिशिष्टेऽपि तेषां बह्व्यः सूचना अत्युपयोगिन्यः सञ्जाताः । प्राध्यापकश्रीप्रह्लादप्रधानमहोदयैरभिधर्मकोशभाष्यस्य दुर्लभा अशा लिखित्वा परमसौजन्येन प्रेषिता[2] । येषां च Prof Dr Yensho Kanakura, Dr[3] H Kitagawa,[4] Mr Walter H Maurer[5] प्रभृतीनां जापान-अमेरिकादिदेशवासिनां विदुषां सौजन्येन विविधा दुर्लभा भोटग्रन्था अस्माभिरधिगतास्तेषां नामग्राहमुल्लेखो भोटपरिशिष्टेऽस्माभिर्विहित एव । निर्णयसागरमुद्रणालयस्थैः पण्डित श्री० 'नारायण राम आचार्य' इत्येभिः शास्त्रिमहोदयैः प्रतिपृष्ठं मूल-टीका-टिप्पणानां यथास्थानं विन्यासेऽतिपरिश्रान्तम् । विविधाक्षरेषु निर्णयसागरमुद्रणालयेऽस्य ग्रन्थस्य सम्यग् मुद्रणाय नैभृशं प्रयतितम् । एतेभ्यः सर्वेभ्यो विद्वन्महोदयेभ्यः महत्तरो धन्यवादान् वितरामि ।

भगवतां गुरुदेवानामुपकाराणां स्मृतिः

विशेषतस्त्वत्र येषां साहाय्यादाशीर्वादाच्चेदं कार्यं परिपूर्णतामगमत् ते मदीया भगवन्तः प्रातःस्मरणीया पूज्यपादा गुरुदेवाः प्रामुख्येन संस्मरणीयाः । प्रातःस्मरणीय-परमपूज्य-परमकृपालु-परमाराध्य-गुरुदेव-श्री १००८ मुनिराजश्रीभुवनविजयजीमहाराजानां कृपया साहाय्येन पुण्यप्रभावेणैव चायं सर्वोऽपि ग्रन्थो मया सम्पादितः । तेषां सम्मत्यैवैतत् सम्पादनकार्यं मया अङ्गीकृतम् । अस्य ग्रन्थस्य सर्वाण्यपि मुफपत्राणि वपुषोऽपाटवेऽप्यविगणय्य स्वशरीरकष्टं तैरेव महता परिश्रमेण चतुःकृत्वः पञ्चकृत्वश्चावलोकितानि वाचितानि च । विविधान् दुर्लभान् ग्रन्थानवाप्तुमवाप्य च परिरक्षितुं तैर्भृशं प्रयतितम् । एतेषु सर्वेष्वपि वर्षेषु मदीयमन्तरङ्गं बहिरङ्गं च सर्वमपि चिन्ताभारं कार्यभारं चोद्वहद्भिरेतस्मिन्नतिदुष्करे संशोधनसम्पादनकर्मणि तैः सर्वतोऽपि साहाय्यं मे प्रदत्तम् । तेषामसीमवात्सल्यात् सर्वथा साहाय्याच्चैवेदं कार्यं निश्चिन्तमनसा मया सम्पादितम् । किञ्च, ते मम गृहस्थावस्थायां पितृचरणाः, सम्प्रति श्रमणावस्थायां तु गुरुदेवाः । एवं च पितृत्वेन विविधशास्त्राध्यापकत्वेन धर्मसंस्कारादायकत्वेन च तेषां ज्ञाननिधानानां भगवतां गुरुदेवानामनन्त उपकारभरो मयि वरीवर्त्येव । संसारार्णवतरणाय तरणिकल्पां दीक्षां प्रदाय ग्रहणासेवनाशिक्षे च चिरं सम्यग्

---

१ Head, Indological Institute, University of Vienna, Austria, Europe
२ Principal, Fakir Mohan College Balasore, Orissa
३ Dean, Indian Seminar, Professor of Indology, Tohoku University, Sendai, Japan
४ Nagoya University, Nagoya, Japan
५ Reference Librarian for the South Asia Section, Orientalia Devision, the Library of Congress, Washington, U S A.

ग्राहयित्वा तैर्यदहमुपकृत उद्धृतश्च तत् कथमपि वर्णयितु न शक्यते, वाचामगोचरत्वात्। मदीया सर्वाप्युन्नति स्तेषा कृपाबलादेव। तेषा हि पीयूषवर्षिणी कृपादृष्टि सर्वदाह्लादयति मच्चेत पदे पदे च मामत्यर्थमुपकरोति।

इत्थमनन्तोपकारिणामाराध्यपादपरमपूज्यतीर्थस्वरूपगुरुदेवश्री १००८ भुवनविजयजीमहाराजानामनन्ता उपकारा कथमपि मया वर्णयितु न शक्यन्ते।

अनन्त यस्य वात्सल्यमनन्ता चोपकारिता।
महिमान गुरोस्तस्य को वा वर्णयितु क्षम ?॥

तेषामेव कृपासाहाय्यवशादवशिष्टानपि नयचक्रस्याराान द्वितीये विभागे सम्यक् सम्पाद्य शीघ्रतर प्रकाशयितुमाशासे।

सिद्धगिरीशस्य भगवतो युगादिदेवस्य ऋषभजिनेशस्यार्चनम्

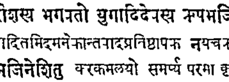
इत्थ चिरपरिश्रमेण सम्पादितमिदमनेकान्तवादप्रतिष्ठापक नयचक्रमहाशास्त्र युगादीशस्य शत्रुञ्जय तीर्थाधिपते परमात्मन श्रीऋषभजिनेशितु करकमलयो समर्प्य परमा कृतार्थता परम च प्रमोदमनुभवामि।

यस्य प्रभो प्रभावादित्थ सम्पादितो मया ग्रन्थः।
त श्रीसिद्धगिरीश महयाम्येतेन कुसुमेन॥

—इत्यावेदयति

विक्रमसवत् २०१५, मार्गशीर्षबहुलदशमी
प्रभुश्रीपार्श्वनाथजन्मकल्याणकदिनम्
झींझुवाडा

पूज्यपादाचार्यमहाराजश्रीमद्विजयसिद्धिसूरीश्वरपट्टशिष्य-
पूज्यपादाचार्यमहाराजश्रीमद्विजयमेघसूरीश्वरशिष्य-
पूज्यपादगुरुदेवमुनिराजश्रीभुवनविजयान्तेवासी
मुनि जम्बूविजय



॥ ॐ ह्रीँ अर्हं श्रीशंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥

आचार्यमहाराजश्रीमद्विजयसिद्धिसूरीश्वरजीगुरुभ्यो नमः ।

आचार्यमहाराजश्रीमद्विजयमेघसूरीश्वरजीगुरुभ्यो नमः ।

सद्गुरुदेवमुनिराजश्रीभुवनविजयजीपादपद्मेभ्यो नमः ।

प्रस्तावना[1]

गुरुदेवनी प्रेरणा

जैनशासनमां 'वादिप्रभावक' तरीकेनी प्रसिद्धि पामेला तार्किकशिरोमणि आचार्यश्री **मल्लवादि** क्षमाश्रमणे रचेला द्वादशार **नयचक्रना** चार आरा जेटला प्रथम विभागने आचार्यश्रीसिंहसूरिगणिक्षमाश्रमणविरचित **न्यायागमानुसारिणी** टीका साथे विद्वानो समक्ष प्रसिद्ध करतां आजे अमने अपूर्व आनंद थाय छे ।

विक्रमसंवत् २००१ मां शहापुर (जिल्ला **टाणा**) मां अमारुं चातुर्मास हतुं ते वखते पूज्यपाद भगवान् गुरुदेव मुनिराज श्री १००८ **भुवनविजयजी महाराजानी प्रेरणाथी** कोई पण आगम ग्रंथनुं संपादन करवानो अमारो विचार थयो । मलधारिश्रीहेमचन्द्रसूरिकृतटीकासहित **विशेषावश्यकमहाभाष्यने** दुर्लभ तेमज उपयोगी समजीने ए ग्रंथनुं सम्पादन करवानी अमारी इच्छा अमे प्राचीन ज्ञानभंडारोना उद्धारक तथा अनेक ग्रंथोना संशोधक मुनिराज श्रीपुण्यविजयजी महाराजने दर्शावी, कारण के जैनागमग्रंथोनुं प्रकाशन करवा माटे थोडा समय पहेलां ज तेमणे **'जिनागमप्रकाशिनी संसद्'** नामनी संस्थानी स्थापना करी हती । परन्तु तेमणे जणाव्युं के 'ए ग्रंथनुं प्रकाशन एक वार थई गयुं छे अने बीजी आवृत्तिनुं संपादन तो कोई पण करशे, परंतु **नयचक्रनुं** अद्यतन शैलीथी सांगोपांग संशोधन, संपादन अने प्रकाशन थवानी खास जरुर छे, कारण के ए अद्यावधि अमुद्रित छे अने तेनुं संशोधनकार्य पण घणुं कठिन छे, केमके आचार्यश्री मल्लवादिरचित **नयचक्र मूळ** तो मळतुं ज नथी, तेना उपर आचार्य श्रीसिंहसूरिक्षमाश्रमणे रचेली अतिविस्तृत **नयचक्रवृत्ति** ज मात्र मळे छे, एटले एनुं संशोधन–संपादन करवानी खास अगत्य छे । जो ए कार्य तमे स्वीकारो तो एने अंगेनी जोईती तमाम हस्तलिखितग्रंथादि सामग्री तथा पंडितनी जरुर होय तो मददमां पंडितने पण मोकली आपुं, एना मुद्रण–प्रकाशननी बधी व्यवस्था हुं करीश ।' एमनी आ प्रकारनी आग्रहभरी सूचनाथी में ए कार्यनो तरत स्वीकार कर्यो अने उत्तरमां जणाव्युं के 'पंडितनी मारे जरुर नथी, पण **नयचक्रवृत्तिनी** हस्तलिखित प्रतिओ मोकली आपो ।'

---

[1] शंखेश्वर तीर्थमां **श्रीशंखेश्वरपार्श्वनाथ** भगवाननी छत्रछायामां पूज्यपाद **गुरुदेव** श्री १००८ **भुवनविजयजी** महाराजानो विक्रमसंवत २०१५ मां माघ शुक्र अष्टमीनी रात्रे स्वर्गवास थयो तेथी थोडा समय पहेलां ज **झींझुवाडा** गाममां आ प्रस्तावना लखाई गई हती । पूज्यपाद **गुरुदेवनी** छत्रछायामां लखायेली ते **प्रस्तावना** ज लगभग अक्षरशः आजे अहीं रजु करवामां आवे छे । पूज्यपाद **गुरुदेवना** स्वर्गवास पूर्वे सात अर सुधी (पृ० ५५२) आ ग्रंथ छपाई गयो हतो अने आठमा अरना मुद्रणनो प्रारंभ थयो हतो । **पू० गुरुदेवना** स्वर्गवास पछी अत्यारसुधीमां आठमो अर तथा नवमा अरनो केटलोक भाग (पृ० ७४८ सुधी) पण छपाई गयो छे । ते उपरांत, जेसलमेरना भंडारमांथी मळी आवेला अने अमे सम्पादित करेला चन्द्रानन्दरचितवृत्तिसहित वैशेषिकसूत्रनुं पण महाराजा सयाजीराव गायकवाड युनिवर्सीटिना Oriental Institute, Baroda (प्राच्यविद्यामंदिर, वडोदरा) तरफथी प्रकाशन हमणां थई गयुं छे । एने ध्यानमां राखीने क्वचित् टिप्पणो आ प्रस्तावनामां अमे उमेर्यां छे ।—**मुनि जम्बूविजय**, विक्रमसंवत २०१८, वैशाख शुक्र चतुर्थी, **शंखेश्वर** ॥

नयचक्रना संपादननो प्रारंभ

शहापुरनुं चोमासुं पूर्ण थया पछी त्यांथी विहार करीने अमे पुना गया। त्यां तेमणे नयचक्रवृत्तिनी अनेक हस्तलिखित प्रतिओ मोकली आपी। पूज्यपाद गुरुदेव श्री १००८ भुवनविजयजी महाराजश्रीना आशीर्वाद मेळवीने में नयचक्रवृत्तिनुं संशोधनकार्य आरम्भ्युं। नयचक्रवृत्तिनी प्राचीनमां प्राचीन जेटली हस्तलिखित प्रतिओ मळी शके ते बधी य अमे भेगी करी। परंतु ए तपासतां जणायुं के ए बधी ज प्रतिओ न्यायाचार्य न्यायविशारद वाचकवर श्रीयशोविजयजी महाराजे विक्रम संवत् १७१० मां तैयार करेला आदर्श उपरथी ज साक्षात् अथवा परंपराए लखवामां आवेली हती, एटले उपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराजे स्वयं लखेला ए आदर्शने शोधी काढवा तथा मेळववा अमे घणो ज प्रयास कर्यो छतां ते समये तो एनो पत्तो न लाग्यो, परंतु पाछळथी बहु मोडो मोडो—प्रस्तुत ग्रंथनो मात्र आरा जेटलो भाग छपाई गया पछी—एनो पत्तो लाग्यो हतो, ए विषे विस्तारथी अमे आगळ जणावीशुं। एटले नयचक्रना संपादनना प्रारंभ समये अमारा पासे आवेला प्रतिओमांथी पा० डे० ली० वि० २० ही० आ ७ प्रतिओ पसंद करीने तेना उपरथी अमे संशोधनकार्य आरम्भ्युं। वांचतां जणायुं के बधामां घणा अंशे समान ज अशुद्धिओ भरेली हती, वळी नयचक्र मूळ तो हतुं ज नहि तथी नयचक्रवृत्तिनुं रहस्य समजवानुं तेम ज संशोधननुं कार्य घणुं जटिल हतुं। एटले संशोधनमाटे बीजा ग्रंथो तरफ में नजर करी, कारण के नयचक्र ए दार्शनिक ग्रंथ होवाथी नयचक्रमां वर्णवेली चर्चा जो बीजा दार्शनिक ग्रंथोमां मळी आवे तो तेना आधारे नयचक्रवृत्तिनुं संशोधनकार्य अमुक अंशे सरल बने, एटला माटे घणा समय सुधी पुनामां रोकाईने त्यांनी आत्मानंद जैन लायब्रेरी, डेक्कन कोलेज, भांडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्युट, डो० वासुदेव विश्वनाथ गोखले वगेरेना विशाळ ग्रंथसंग्रहमांथी पुस्तको मेळवीने जैन-बौद्ध-मीमांसा सांख्य-वेदांत-न्याय आदि दर्शनोना लगभग बधा ज प्राचीन ग्रंथोनुं हुं अवलोकन करी गयो। केटलाक अत्यंत दुर्लभ हस्तलिखित ग्रंथो तेमज अनेक भाषामां देश परदेशमां छपायेला ग्रंथोने पण घणा घणा प्रयत्ने मेळवीने तेमनुं पण अवलोकन कर्युं। आ बधा ग्रंथोमांथी हुं धारतो हतो तेटली सहायता संशोधनमां जोके प्राप्त न थई तो पण एमांथी संशोधनमां उपयोगी घणी ज सामग्री मळी आवी के जेनो अमे टिप्पणोमां ठाम ठाम निर्देश कर्यो छे। आ संस्करणमां अमे बे जातनां टिप्पणो योजेलां छे। एक तो नयचक्रमां नीचे ज फुटनोटरूप आपेलां छे, ज्यारे बीजां नयचक्रनी पाछळ जोडेलां छे। ज्यां अमे टिप्पृ० शब्द वापर्यो छे त्यां आ नयचक्रनी पाछळ जोडेलां टिप्पणोनो ज पृष्ठांक समजवो। ए टिप्पणोमां अमे अनेक परिशिष्टोनी पण सङ्कलना करली छे, ए बधां टिप्पणो तथा परिशिष्टोनुं अवलोकन करवाथी तथा संपादनमां अमे जे जे ग्रंथोनो उपयोग कर्यो छे ते ग्रंथोनी (टिप्पृ० १८७ पछी जोडेली) सूची उपर दृष्टिपात करवाथी केटला विशाळ प्रमाणमां अमे प्राचीन-अर्वाचीन ग्रंथराशिनो उपयोग कर्यो छे ए वस्तु वाचको स्वयमेव सारी रीते जाणी शकशे।

नयचक्रवृत्ति संपूर्ण वांची गया पछी मने लाग्युं के सांख्य-वैशेषिक-बौद्ध आदि दर्शनोना जे जे ग्रंथोनुं नयचक्रमां खंडन करेलुं छे तेमांथी मोटा भागनुं साहित्य आजे नामशेष थई गयुं छे, तेम छतां नयचक्रमां ज बौद्धग्रंथोनी समीक्षा करवामां आवी छे ते बौद्धग्रंथो संस्कृतभाषामां आजे नष्ट थई गया होवा छतां तेमांना केटलाक ग्रंथोनुं टिबेटन भाषामां लगभग १००० वर्षो पूर्वे थएलुं भाषांतर मळे छे, एटले

ए भापा जो शीखी लेवामा आवे तो ए टिबेटन भापातरोने आधारे नयचक्रमां आवती घणी चर्चाओ स्पष्ट समजाय ए हेतुथी टिबेटन भापा शीखवानी तथा ए टिबेटन भापांतरना ग्रथोने मेळववानी पण मे तैयारी करी।

नयचक्रनी अत्यंत महत्त्वनी प्रतिनी प्राप्ति

त्यारपछी घणी शोधने अते नयचक्रवृत्तिनी एक अत्यत दुर्लभ प्रति के जे अमारी धारणा प्रमाणे विश्वमा आ जातनी एक ज प्रति छे अने जे उ० श्रीयशोविजयजी महाराजे वि० स. १७१० मां लखेली नयचक्रवृत्तिनी प्रतिथी पण लगभग ५०–६० वर्ष पूर्वे लखायेली छे तेनो अमने पत्तो लाग्यो। ए प्रति आचार्यश्री धर्ममूर्तिसूरिना उपदेशथी गोविंदमत्रिना पुत्र पुंजे लखावी हती अने अत्यारे ए भावनगरनी शेठश्री डोसाभाई अभेचदनी जैनसघनी पेटीना ज्ञानभडारमा छे एटले अमे अहिं अमारा सपादनमा एनी भा० (भावनगरनी प्रति) एवी सज्ञा राखी छे। आ भा० प्रतिने घणा प्रयासे मेळवीने अमे जोयु तो अमारी तमाम प्रतिओमां न हता एवा सेकडो शुद्ध पाठो एमाथी अमने मळी आव्या। केटलेक ठेकाणे तो अनेकानेक अधिक पक्तिओ पण एमाथी अमने मळी आवी। पाचमा अरमा पृ० ३९७ प० १५–पृ० ४०० प० १८ मा अमारी पासेनी बीजी बधीज प्रतिओमा एक आखु पानु आगळपाछळ लखाएलु छे त्या आ भा० प्रतिमा बराबर पाठ लखाएलो छे। बारमा अरमा बीजी बधी ज प्रतिओमा लगभग एक आखु पानु पडी गयु छे त्या आ भा० प्रतिमा ए पाठ सारी रीते सचवाएलो छे, इत्यादि अनेक विशेषताओ आ भा० प्रतिमा छे। ते ज प्रमाणे भा० प्रतिमां ज्या सेकडो स्थळे अशुद्ध पाठो छे तेमज अनेक स्थळे पाठो किंवा पक्तिओ पडी गयेली छे, त्या अमारी पासेनी पा० डे० लीं० वि० रं० ही० प्रतिओमा शुद्ध पाठो सारी रीते सचवाएला छे। एटले अमारी पासे बे जातनी प्रतिओ थई। एक बाजु भा० प्रति अने बीजी तरफ पा० डे० लीं० वि० र० तथा ही० प्रति। पूज्यपाद न्यायविशारद न्यायाचार्य वाचकवर श्री यशोविजयजी महाराजे वि० स १७१० मा नयचक्रवृत्तिनी प्राचीन प्रति उपरथी जे प्रति लखेली तेनी अमे अमारा सपादनमा य० सज्ञा राखी छे। पा० डे० लीं० वि० र० ही० आ प्रतिओ य० प्रति उपरथी ज साक्षात् किंवा परपराए लखवामा आवेली छे, एटले एम पण कही शकाय के एक बाजु भा० प्रति अने बीजी बाजु य० प्रति तथा पा० डे० लीं० वि० र० ही० प्रतिओ। भावनगर सिवाय भिन्न भिन्न स्थानोना ज्ञानभडारोमा नयचक्रवृत्तिनी जे प्रतिओ जोवामा आवे छे ते बधी ज आ य० प्रति उपरथी साक्षात् किंवा परपराए लखवामा आवेली छे एवो अमने अनुभव थयो छे। एटले आ प्रमाणे बन्ने य जातनी नयचक्रवृत्तिनी हस्तलिखित प्रतिओ मळवाथी अमारु सशोधनकार्य घणे अशे सरल थयु। जो एक ज जातनी प्रति मळी होत तो आ ग्रथ घणे अशे अशुद्ध रहेत, परतु सद्भाग्ये बन्ने य जातनी प्रतिओ अमने मळी गई तेथी आ ग्रथना सशोधननु अमारु कार्य घणु सरळ थयु। आम छता बीजु तो घणु कठिन कार्य अमारे करवानु हतु ज, कारणके आ प्रमाणे नयचक्रवृत्तिनी बन्ने य जातनी हस्तलिखित प्रतिओ मळ्या पछी पण लेखकदोपथी परापूर्वथी चाली आवती समान प्रकारनी अनेक अशुद्धिओ बन्ने य जातनी प्रतिओमा हती ज, छता बीजा अनेक ग्रंथोना आधारे पाठोने शुद्ध करवा माटे अमे यथामति सर्व प्रयत्नो कर्या छे। वळी तपास करता जणायु के नयचक्रमूळ तो लगभग ७०० वर्ष पहेलाथी ज नष्ट थई गयेलु छे अने ते मळवानी अत्यारे आशा ज नथी, एटले नयचक्रमूळ पण अमे वृत्ति उपरथी तैयार करवा माड्यु।

१ जुओ प्राक्कथन पृ० ३५ टि० १,२,३ ॥

नयचक्रनु प्रकाशन अने भागोनी योजना

आ प्रमाणे घणा वर्षो सुधी विविध ग्रंथोनु अवगाहन तथा चिंतन मनन कर्या पछी सतत १६ मास सुधी वृत्तिसहित नयचक्रनी प्रेसकोपी में एकला हाथे तैयार करी अने पछी प्रेसमा छापवा मोकली। ते पछी प्रेसमा छपाता घणो विलंब थयो, अमारी प्रकृतिनी अस्वस्थता वगेरे अनेक प्रकारना विघ्नो आव्या, उपयोगी ग्रंथसामग्री मेळवता पण घणो समय लाग्यो, टिप्पणो अने परिशिष्टो तैयार करवा पाछळ पण पुष्कळ समय लाग्यो इत्यादि अनेक कारणोथी प्रस्तुत ग्रंथना प्रकाशनमा घणो ज विलंब थयो छे। अत्यार सुधी सात आरा जटलो भाग छपाई गयो छे, तेमाथी पूज्यपाद गुरुदेवनी कृपाथी चार आरा जेटलो प्रथम-विभागने विद्वानो समक्ष प्रगट करवा हु आजे भाग्यशाळी थयो छु, ए मारे मन मोटो आनंदनो विषय छे, बाकीना भागने पण जल्दी प्रगट करवानी अमारी धारणा छे। आ प्रथम विभागमा चार अर तथा द्वितीय विभागमा बाकीनो बधो अंश प्रगट करवानी अमारी योजना छे।

विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत्।
जनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम्॥

आ पूर्वगतश्रुतमयी नयप्राभृतनी एक प्राचीन गाथा तथा आ गाथानी व्याख्यारूपे जे महान ग्रंथनी रचना आचार्यश्री मल्लवादीए करी छे ते नयचक्रना नामथी प्रसिद्ध छे। जो के आ ग्रंथ बार आरानो होवाथी 'द्वादशारनयचक्र' एवो पण उल्लेख कोईक कोईक स्थळे जोवामा आवे छे, छता एनु मुख्य नाम नयचक्र छे, ए वात अमे टिप्प० १ मा टिप्पणमा विस्तारथी जणावी छे, माटे जिज्ञासुओए त्या जोई लेवु।

आचार्यश्री मल्लवादी

नयचक्रकार आचार्यश्री मल्लवादी जैनदार्शनिकोमा उत्कृष्ट कोटिना तार्किक तरीके प्रसिद्ध छे। याकिनीमहत्तरासूनु आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी महाराजे अनेकान्तजयपताकानी स्वोपज्ञवृत्तिमा मल्लवादीने वादिमुख्य तरीके वर्णव्या छे। कलिकालसर्वज्ञ आचार्यश्री हेमचंद्रसूरिमहाराजे सिद्धहेमशब्दानुशासननी बृहद्वृत्तिमा "उत्कृष्टेऽनूपेन २।२।३९। उत्कृष्टेऽर्थे वर्तमानाद् अनूपाभ्यां युक्ताद् गौणान्नाम्नो द्वितीया भवति। अनु सिद्धसेनं कवयः। अनु मल्लवादिनं तार्किकाः। उपोमास्वातिं संग्रहीतारः। उप जिनभद्रक्षमाश्रमणं व्याख्यातारः। तस्मादन्ये हीना इत्यर्थः।" आ प्रमाणे उत्कृष्ट तार्किक तरीके वर्णव्या छे। जैन प्रवचनना आठ प्रभावको पैकी वादिप्रभावकना निरूपणमा संघतिलकसूरि तथा उपाध्यायश्री यशोविजयजी महाराज वगेरेए मल्लवादीजीनु ज उदाहरण नाम आपेलु छे। बीजा पण अनेक ग्रंथोमा एमनु महान वादि तरीके वर्णन आवे छे। ए जोता जैनशासनमा वादि अने तार्किक तरीके एमनु स्थान उत्कृष्ट छे ए स्पष्ट जणाई आवे छे।

---

१ 'अस्य चाधस्य पूर्वस्य विनष्टप्रतनयप्राभृतनयविचारस्य अर्थस्थानकमात्रमन्यतीतवरप्रज्ञानाभ्यतीतगोचर प्रवचनाधारनयचक्रस्य मचिन्त्य गाथासूत्रम्–विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत्। जनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम्॥ –नयचक्र पृ १। विशेष विचारणा माटे जुओ प्राक्कथन पृ ९ टि० २। २ 'उक्तं च वादिमुख्येन मल्लवादिना सम्मतौ –पृ ८ ११६। ३ जुओ सम्यक्त्वसप्ततिवृत्तिमां मल्लवादिकथा। प्राक्कथन पृ० ११ टि० २। ४ वादि बीजा तरनिपुण भण्या, मल्लवादी परे जेह। राजद्वारे जयकमळा वरे, गाजता जिम मेह। धन्य धन्य शासनमंडन मुनिवरा। —उ० यशोविजयकृत समकितना ६७ बोलनी सज्झाय। ५ जुओ प्राक्कथन पृ० ११ टि० २॥

नयचक्रनी टीकाने अने टीकाकार श्रीसिंहसूरिक्षमाश्रमणे मल्लवादिजीना सर्वप्रथम जे उल्लेख कर्यो छे ते जोतां मल्लवादीजी श्वेताम्बर परंपराना हता, 'क्षमाश्रमण' पदवीथी विभूषित हता, अनेक वादीओ उपर तेमणे विजय मेळव्यो हतो अने नयचक्रनुं अध्ययन करनाराओ 'वादीओमां चक्रवर्ती बने' ए हेतुथी तेमणे नयचक्रनी रचना करी हती, वळी तेमना समयमां आर्ष (प्राचीनमहर्षिप्रणीत) सप्तशतारनयचक्र अध्ययन हतुं ज छतां ते विस्तृत होवाथी संक्षेपरुचि अध्येताओने माटे तेमणे संक्षेपमां द्वादशार नयचक्रनी रचना करी हती, ए हकीकत स्पष्ट जणाय छे। ए उल्लेख प्राक्कथन पृ० १०–११ मां अमे आपेलो छे।

मल्लवादीजीना सत्तासमयनी सूचक छतां ए सौथी प्राचीन उल्लेख छे। "पूर्वाचार्यविरचितेषु सन्मति-नयावतारादिषु नयशास्त्रेषु अर्हत्प्रणीतनैगमादिप्रत्येकशतसंख्यप्रभेदात्मकसप्तशतनयशतारनयचक्राध्ययनानुसारिषु" आ प्रमाणे टीकाकारे अहीं करेला उल्लेख उपरथी ए पण फलित थाय छे के नयावतारग्रंथ तेम ज जैन दार्शनिक साहित्यमां अनेकान्त अने नयविषयमां अत्यारे महत्त्वनो गणातो श्रीसिद्धसेनदिवाकरजीरचित सम्मतितर्क ग्रंथ ए नय के न्याय विषयना आद्य ग्रंथो नथी, एना पहेलां सप्तशतनयशतारनयचक्र नामनो नयविषयनो आकर ग्रंथ विद्यमान हतो ज अने श्री सिद्धसेनदिवाकरप्रणीत सम्मतितर्क तथा नयावतार वगेरे ग्रंथो पण प्राचीन सप्तशतार नयचक्र अध्ययन उपरथी बनेला हता। नयावतार ग्रंथ अत्यारे मळतो नथी। अत्यारे जे न्यायावतार मळे छे ते आनाथी जुदो छे, कारणके न्यायावतारमां नयनी चर्चा नहिंवत ज छे, ज्यारे अहीं तो नयावतारने 'नयशास्त्र' तरीके वर्णव्यो छे। आ नयावतारना कर्ता कोण हता ए विषे अहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नथी छतां सम्मतिनी साथे तेनो निर्देश होवाथी संभव छे के तेना कर्ता पण सिद्धसेन दिवाकर होय। वळी 'तत्प्रसिद्ध्यर्थं सप्तशतारनयचक्राध्ययने च सत्यपि' आ प्रमाणे नयचक्रटीकाकारे करेला उल्लेख उपरथी तेमना समयमां सप्तशतारनयचक्र ग्रंथ हतो ज, परंतु विक्रमनी ११ मी शताब्दीमां वादिवेताल शांतिसूरिजीए उत्तराध्ययनसूत्रनी बृहद्वृत्तिमां तथा विक्रमनी १२ मी शताब्दीमां मलधारी हेमचन्द्रसूरिजीए अनुयोगद्वारसूत्रनी वृत्तिमां 'सप्तशतार नयचक्राध्ययनमासीत्' एवो उल्लेख कर्यो होवाथी तेमना समयमां सप्तशतारनयचक्र ग्रंथ मळतो नहोतो ज ए स्पष्ट जणाय छे। विस्तारथी उत्तराध्ययनसूत्रबृहद्वृत्ति वगेरेना उल्लेख जाणवा माटे जुओ टिप्प० १ टि० २।

आचार्यश्री मल्लवादीनुं जीवनचरित्र

मल्लवादीजीना जीवनचरित्र विषे कंईक अंशे भिन्न अने कंईक अंशे समान वर्णनवाळी भद्रेश्वरसूरिकृत कहावली[1], आम्रदेवसूरिकृत आख्यानमणिकोशटीका, प्रभाचन्द्रसूरिकृत प्रभावकचरित्र, संघतिलकसूरिकृत सम्यक्त्वसप्ततिवृत्ति आदि ग्रंथोमां अनेक कथाओ मळी आवे छे। विस्तारथी जाणवानी इच्छावाळाओए ए कथाओ जोई लेवी। अहीं संक्षेपमां प्राचीन आख्यायिकाओनो सार जणाववामां आवे छे—

भरुचनगरमां जिनानन्द नामना जैनाचार्यनो बुद्धानन्द नामना बौद्धवादीने हाथे वादमां पराजय थयो तेथी जिनानन्दसूरि भरुचथी नीकळीने सौराष्ट्र देशमां वलभीपुर नगरमां आव्या, त्यां तेमनी दुर्लभदेवी नामनी भगिनी रहेती हती। तेने अजितयश, यक्ष तथा मल्ल ए नामना त्रण पुत्रो हता। आ त्रणेय पुत्रो

---

१ नयचक्र तथा नयचक्रटीकामां आगमग्रंथो माटे ज आर्ष शब्द वापरेलो छे। २ आ पैकी कहावली तथा आख्यान-मणिकोशमां आवती आख्यायिका माटे जुओ प्राक्कथन पृ० ११ टि० २, कहावली आदिनो समयनिर्देश पण त्यां करेलो छे।

साथे दुर्लभदेवीए जिनानदसूरिपास दीक्षा लीधी । त्रणेय बधुओ जिनानदसूरिपासे अभ्यास करीने अनेक शास्त्रोमा पारगत थया । मल्लनी उमर नानी होवा छता तेमना बुद्धि घणी तीक्ष्ण हती तेमज अपूर्व प्रतिभा हती । कथानकमा जणाव्या प्रमाणे 'प्राचीन नयचक्रमा रहेली—

विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत् ।
जैनादन्यच्छासनमनृत भवतीति वैधर्म्यम् ॥

आ एक गाथा उपरथी तमे नवु नयचक्र रची शकशो' एवु देवी तरफथी तेमन वरदान पण मळ्यु हतु । एटले तेमणे ए गाथान अवलम्बीने नवीन नयचक्रनी रचना करी हती । त्यारपछी भरुच जईने मल्लवादीए भरुचनी राजसभामा छ दिवस सुधी वाद करीने बुद्धानद नामना बौद्धवादीनो पराजय कर्यो हतो । आ प्रमाणे एमनु मूळ नाम मल्ल होवाथी तेमज ए महासमर्थ वादी होवाथी एमनी मल्लवादी तरीके प्रसिद्धि थई हती । गुरुमहाराजे तेमने सूरि पदवी पण आपी हती। आ रीते तेमणे वादिप्रभावक तरीके जैन शासननी महान प्रभावना करी हती।

मल्लवादीनो सत्तासमय

मल्लवादीना समयविषेनो जे चोक्कस उल्लेख प्रभावकचरित्रमा विजयसिंहसूरिप्रबधमा छे ते प्राक्कथन पृ० १४–१५ मा अमे आपेलो छे ।

एमा आचार्य खपुट वीरसवत् ४८४ (एटले विक्रमसवत १४ मा) हता, तेमज मल्लवादीए वीर सवत ८८४ (एटले विक्रमसवत् ४१४ मा) बौद्धो उपर जीत मेळवी हती एम जणायु छे ।

मल्लवादीनो आ समय नयचक्रग्रथमा जेमना मतनो उल्लेख आवे छे ते ग्रथकारोना समय साथे सगवावना बराबर मळी रहे छ । नयचक्रमा वार्षगण्य, वसुरात, वसुरातशिष्य भर्तृहरि, वसुबधु, वसुबधु शिष्य दिङ्नाग आदिना मतोनी चर्चा विस्तारथी आवे छे । आ बधा प्राचीन ग्रथकारोना समय विषे विद्वानो घणा समयथी चर्चाओ कर्या ज करे छे, परतु एमणे ए चर्चाओ करती वखते मल्लवादीनो आ समय पण ध्यानमा लेवो ज जोईए । दिङ्नागना समयनी विचारणा करती वखते ए वात पण ध्यानमा लेवी जोईए के दिगम्बरजनाचार्य श्री समतभद्ररचित आप्तमीमासा दिङ्नागना ग्रथ पछी रचाएली छे' । भर्तृहरिनु वाक्यपदीय दिङ्नागना प्रमाणसमुच्चय पूर्वेनु छे, कारण के प्रमाणसमुच्चयना पाचमा परिच्छेदमा वाक्यपदीयनी बे कारिकाओ छे ए विषे मे घणा लेखोमा जणाव्यु छे । त्रैकाल्यपरीक्षा नामना ग्रथनी रचना पण दिङ्नागे भर्तृहरिना वाक्यपदीयना प्रकीर्णकाडने साम राखीने ज करी हती । दिङ्नाग अपोहवादनो मुख्य प्रणेता गणाय छ । प्रमाणसमुच्चयमा तथा अपोहविषयक कोई स्वतत्रग्रथमा पण दिङ्नागे अपोह विषे खूब चर्चा करी छ । नयचक्रवृत्ति पृ० १९ प० १८ मा "पुनोऽर्थान्तरापोहलक्षण विद्वन्मन्याद्यतनबौद्धपरिक्लृप्त सामान्यम्' आ प्रमाणे 'अद्यतनबौद्ध' शब्दथी अपोहवादीनो उल्लेख छे ए जोतां नयचक्रटीकाकार सिंहसूरिक्षमाश्रमणना समयमा पण अपोहवादी बौद्ध 'अद्यतन' गणाता हता, ए उपरथी एम लाग छ के मल्लवादी तथा दिङ्नाग परस्पर निकटकालीन होय ।

---

१ जुओ प्राक्कथन पृ० १५ टि० १ ॥ २ जुओ प्राक्कथन पृ० १ टि० २ ॥ ३ जुओ प्राक्कथन पृ० १६ टि० ३ ॥ ४ विघ्न अने वृत्तर्क वगेरे नामो पण दिङ्नागनां मळे छ जुओ प्राक्कथन पृ० १६ टि० ३ ॥ ५ आ वात अमे विस्तारथी प्राक्कथन पृ० १५ टि० १ मां जणावी छे ॥ ६ जुओ प्राक्कथन पृ० १५ टि० २ ॥ ७ जुओ प्राक्कथन पृ० १६ टि ३ ॥

मल्लवादिक्षमाश्रमणे नयचक्रमां तथा सिंहसूरिक्षमाश्रमणे वृत्तिमां ज्यां ज्या जैन आगम ग्रंथोमाथी पाठो उद्धृत करेला छे त्या त्या ए पाठोमा अने वर्तमानमा प्रचलित आगमपाठोमा थोडुं घणुं पण अंतर जोवामा आवे छे, ज्यारे केटलाक पाठो तो प्रचलित आगमपाठपरपरामां छे ज नहिं। वर्तमानमा प्रचलित पाठ-परपरा भगवान् देवर्धिगणिक्षमाश्रमणे वलभीमा करेली सकलनाथी प्रतिष्ठित थई छे एम प्रसिद्ध छे। देवर्धिगणिक्षमाश्रमणे वीरनिर्वाणसवत् ९८० (एटले विक्रमसंवत् ५१०) मा वलभीमा सकलना करी हती, ज्यारे मल्लवादी वीरनिर्वाणसंवत् ८८४ (एटले विक्रमसवत् ४१४) मा हता। एटले ए पाठभेदनुं कारण पण समजी शकाय छे के आचार्यश्री मल्लवादी पासे तथा आचार्यश्री सिंहसूरिक्षमाश्रमण पासे जैनागमोनी जे पाठपरपरा हती ते अत्यारे प्रचलित आगमपाठपरपराथी कंईक जुदी अने प्राचीन हती। नयचक्र तथा नयचक्रवृत्तिमा उद्धृत आगमपाठो अने प्रचलित पाठोमा केवु अतर छे ए अमे ते ते स्थळोए टिप्पणोमा जणाव्यु छे।

मल्लवादिरचित ग्रन्थो

मल्लवादीए सिद्धसेनदिवाकरप्रणीत सम्मतिप्रकरण उपर वृत्ति रची हती, एम याकिनीमहत्तरासूनु हरिभद्रसूरिमहाराज[3] वगेरेए करेला उल्लेख उपरथी जणाय छे, अने ते वृत्तिनु प्रमाण ७०० श्लोक जेटलुं हतुं एवो बृहट्टिप्पणिकामा उल्लेख नजरे पडे छे। प्रभावकचरित्रमा मल्लवादिप्रबधमा आवता उल्लेख उपरथी जणाय छे के 'मल्लवादीजीए रचेलु नयचक्र १०००० श्लोक जेटलु हतु, तेमणे २४००० श्लोक-प्रमाण पद्मचरित[6] नामना रामायणग्रंथनी पण रचना करी हती'।

अत्यारे तो मल्लवादिरचित सम्मतिवृत्ति, पद्मचरित तथा नयचक्र एमांथी एक पण ग्रथ मळतो नथी। वि० स० १३३४ मा प्रभावकचरित्रकार प्रभाचद्राचार्य जणावे छे[7] के 'मल्लवादीए बुद्धानद नामना जे बौद्धवादीने हराव्यो हतो ते मरीने व्यतर थयो छे अने ते व्यतर पूर्व जन्मना वैरथी मल्लवादीना नयचक्र तथा पद्मचरित आ वे ग्रथो जगतमा विद्यमान होवा छता कोईने वाचवा देतो नथी'। आ उल्लेख उपरथी स्पष्ट समजी शकाय छे के वि० स० १३३४ मा पण नयचक्र अप्राप्य हतु, एटले आजथी लगभग सातसो वर्ष पहेला पण नयचक्र मळतु नहोतु।

परतु सद्भाग्ये नयचक्र उपर सिंहसूरिगणिवादिक्षमाश्रमणे रचेली १८००० श्लोकप्रमाण अतिविस्तृत टीका अत्यारे मळे छे तेना आधारे नयचक्रनी रचनाशैली तेम ज विषयनुं स्वरूप सारी रीते जाणी शकाय तेम छे।

नयचक्रनो विषय

जैनदर्शनना प्रमाणमीमासा आदि ग्रथोमा प्रमाणनु प्रतिपादन छे, सम्मति आदि ग्रथोमा नयोनुं तथा अनेकान्तवादनुं निरूपण छे, प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार आदि ग्रथोमा प्रमाण तथा नय ए बन्नेयनुं

---

१ जुओ प्राक्कथन पृ० २३ टि० १० ॥ २ जुओ प्राक्कथन पृ० २४ टि० ४ ॥ ३ जुओ प्राक्कथन पृ० १७ टि० ३ ॥ ४ जुओ प्राक्कथन पृ० १७ टि० ४ ॥ ५ जुओ प्राक्कथन पृ० १७ प० ९ ॥ ६ जुओ प्राक्कथन पृ० १७ टि० २ ॥ ७ "बुद्धानन्दस्तदा मृत्वा विपक्षव्यन्तरोऽजनि। जिनशासनविद्वेषिप्रान्तकालमतेरसौ ॥ १२ ॥ तेन प्राग्वैरतस्तस्य ग्रन्थद्वय-मधिष्ठितम्। विद्यते पुस्तकस्थं तद् वाचितुं स न यच्छति ॥ १३ ॥"—प्रभावकचरित्रमा मल्लवादिप्रबंध ॥

प्रतिपादन छे, अनेकान्तजयपताका आदि ग्रंथोमा सत्-असत्, नित्य-अनित्य वगेरे एकान्तवादोनु निराकरण करीने अनेकान्तवादनी स्थापना करी छे, त्यारे नयोना निरूपणद्वारा एकान्तवादी सर्वदर्शनोनु निराकरण तथा जैनदर्शनसम्मत अनेकान्तवादनी स्थापना ए नयचक्रनो मुख्य विषय छे। अनेकात्मक वस्तुना एक देशनु अवधारण करनारी दृष्टिने नय कहेवामा आवे छे। आवा नयो अनंत छे, छता जैनाचार्योए ते बधायनो संक्षेप सात नयोमा करेलो छे, जेमके १ नैगम, २ संग्रह, ३ व्यवहार, ४ ऋजुसूत्र, ५ शब्द, ६ समभिरूढ, ७ एवंभूत। आ ७ नयोनो पण १ द्रव्यार्थिक तथा २ पर्यायार्थिक एम बे नयोमा समावेश करवामा आवे छे[2]। आ नयवाद ए जैनदर्शननो तद्दन स्वतंत्र तथा अत्यंत महत्त्वनो विशिष्ट विषय छे अने ए विषे जैनसाहित्यमा पुष्कळ ग्रंथो रचायेला छे। प्रस्तुत नयचक्रग्रंथ नयविषयक होवा छता एमा जे नयोनु निरूपण छे ते भिन्नप्रकारना विधि आदि १२ नयो छे, तेमना नाम नीचे प्रमाणे छे—

१ विधि, २ विधिविधि, ३ विध्युभयम्, ४ विधिनियम, ५ उभयम्, ६ उभयविधि, ७ उभयोभयम्, ८ उभयनियम, ९ नियम, १० नियमविधि, ११ नियमोभयम्, १२ नियमनियम।

आ विधि आदि बार नयोनो जैनप्रवचनप्रतिपादित सात नयो साथे पण संबंध तो छे ज। जैन प्रवचनमा मूळनय बे छे १ द्रव्यार्थिक तथा २ पर्यायार्थिक। प्रारंभना विधि आदि छ नयो द्रव्यार्थिक-नयना भेदो[3] छे, त्यारे पाछळना उभयोभयम् आदि छ नयो पर्यायार्थिकनयना भेदो[4] छे। ते ज प्रमाणे विधि आदि बारे नयोनो नैगमादि सात नयोमा पण यथायोग्य रीते अंतर्भाव थई जाय छे। विधि आदि कया नयनो अंतर्भाव नैगमादि कया नयमा थाय छे ए विषे ग्रंथकारे ते ते विधि आदि नय निरूपणना अंते जणाव्यु छे, तेनु सामान्य दिग्सूचन आ प्रमाणे छे—

पहेला विधिनयनो अंतर्भाव व्यवहार नयमा थाय छे, बीजा, त्रीजा तथा चोथा नयनो अंतर्भाव संग्रहनयमा थाय छे, पांचमा तथा छठ्ठा नयनो अंतर्भाव नैगमनयमा, सातमा नयनो ऋजुसूत्रमा, आठमा तथा नवमानो शब्दनयमा, दशमानो समभिरूढनयमा तथा अगिआरमा अने बारमा नयनो अंतर्भाव एवंभूत नयमा थाय छे।

एक अरमा एक नयनु निरूपण ए रीते नयचक्रना बार अरमा विधि आदि बार नयोनु निरूपण छे। आ जातना बार नयोनु निरूपण मात्र नयचक्रमा ज जोवामा आवे छे, ए उपरथी आचार्यश्री मल्लवादीनी चिंतनशैली तथा प्रतिपादनशैली केवी अपूर्व हती, तथा तेमनी प्रतिभा केवी अद्भुत हती ए स्पष्ट जणाई आवे छे।

नयचक्रनी रचनाशैली

ग्रंथकारे 'नयचक्र' नाम बराबर सार्थक राखेलु छे। जेम रथादिना चक्रमा बार आरा होय छे तेम आमा पण अरात्मक बार प्रकरणो छे। एक एक अरमा अनुक्रमे विधि आदि बार नयोना निरूपणमा विधि

१ अत एव श्रीहरिभद्रसूरिपादैः श्रीमद्भगवद्देवपादैश्च परमतनिरासेऽयतितमनेकान्तजयपताकायां तथा सम्मतिटीकायामिति। अत एव श्रीमन्मल्लवाद्यादिभिरपि नयचक्र एवान्यरा विहित इति न तैरपि प्रमाणलक्षणमाख्यातं परपक्षनिरासादपि स्वपक्षस्य पारिशेष्यात् सिद्धिरिति। -जिनवरसूरिकृत न्यायप्रमाणलक्षणवृत्ति पृ० ८९॥ २ यथोक्तम्- द्रव्यस्यानेकात्मनोऽन्यतमैकात्मावधारणमेकदेशनयनान्नयः -नयचक्रवृत्ति पृ० १० प २४॥ ३ जुओ नयचक्रवृत्ति पृ० ७ प १२॥ ४ जुओ सम्मतितर्कनी त्रीजी गाथा॥ ५ जुओ पृ० ४ प १ वगेरे॥ ६ जुओ पृ० ४ प० ६ वगेरे॥ ७ जुओ पृ० ८९३ प० ७॥

आदि ते ते नय साथे संबंध धरावता ते समयना बधा ज दार्शनिक विचारोने मल्लवादीए नयचक्रमा समावी लीधा छे। जेम चक्रना आराओमा वच्चे अतर होय छे तेम आमा पण अंतर छे। दरेक अरमा परमतनु खडन अने स्वमतनी स्थापना आवे छे। आ जे खडनात्मक विभाग छे ते विध्यादि अरो वच्चेनु अतर छे। चक्रमा जेम अनेक मार्गो होय छे तेम आमा पण मल्लवादीए त्रण मार्गोनी योजना करी छे। टीकाकारे 'मार्ग' शब्दनो 'नेमि' अर्थ करेलो छे, एटले आ नयचक्रनी नेमि त्रण खडोनी बनेली छे। पहेला खडमा 'विधिः' आदि चार नयो छे, बीजा खडमां 'उभयम्' आदि ४ नयो छे, ज्यारे त्रीजा खडमा 'नियमः' आदि चार नयो छे, वळी चक्रना आराओमा परस्पर अतर होवा छता पण जेम बधा आराओ मध्यमां रहेली नाभिमा जोडाएला होय छे तेम आमा पण विधि आदि बार अरोना निरूपण पछी स्याद्वादनाभि आवे छे, तेमा ए प्रमाणे सिद्ध कर्युं छे के आ बधा नयरूपी अरो स्याद्वादरूपी नाभि साथे जोडाएला रहे तो ज प्रतिष्ठित थई शके, नहितर जेम चक्रमा नाभि विना आराओ टकी शकता नथी तेम आ बधा नयवादो स्याद्वादनो आश्रय लीधा सिवाय जरा पण टकी शके तेम नथी। स्याद्वादनाभिनु ज बीजु नाम नयचक्रतुंब छे। आ प्रमाणे आ ग्रथनु नयचक्र नाम बराबर सार्थक छे।

चक्र आकारे विधि आदि नयवादोनी योजना करवाथी ए पण सूचित थाय छे के आ नयोनुं खडन-मडननु चक्र हंमेशा चाल्या ज करे छे। एमना वादविवादनो कोई अत ज नथी। 'वादपरमेश्वर' स्याद्वादनो आश्रय लेवामा आवे तो बधा नयोना झगडाओनो तरत ज अत आवी जाय। जेम परमेश्वरनो आश्रय लेवाथी सर्व क्लेशोनो अंत आवी जाय छे तेम वादोमां परमेश्वर अनेकान्तवाद—स्याद्वादनो आश्रय लेवाथी सर्व विग्रहोनो अत आवी जाय छे।

नयचक्रनी एक खास विशिष्टता ए छे के विधिवाद, अद्वैतवाद, द्वैतवाद, ईश्वरवाद आदि कोई वादोनु जैनो तरफथी सीधु खडन तेमा नथी। भिन्न भिन्न नयो ज एक बीजानु खडन करे छे। ग्रन्थकार तो न्यायाधीशनी जेम तटस्थ दृष्टिथी जोया ज करे छे अने ज्यारे प्रसग आवे छे त्यारे वादपरमेश्वर स्याद्वादनो आश्रय लेवानु सूचन करे छे के जेथी तेमना विग्रहनो अत आवी जाय। छेवटे नयचक्रतुम्बमां तेमणे जणाव्यु छे के विधिनय, विधिविधिनय, विध्युभयनय (द्वैतवाद—ईश्वरवाद) आदि बधा नयो जो स्याद्वादनो आश्रय ले तो सत्य छे, नहितर ए बधा एकान्तवादो मिथ्या छे। परस्परसापेक्षता—स्याद्वाद ए बधा नयोनी सत्यतानो आधार छे।

पूर्वपूर्व नयना मतनु खडन करवा माटे उत्तरोत्तर नय उपस्थित थाय छे। आ रीते नयचक्रमा नयोनी गोठवणी छे। आ शैलीथी ते समयना तमाम दार्शनिक विचारोनो व्यवस्थित चिंतनक्रम तथा खंडन-मडनक्रम

१ जुओ प्राक्कथन पृ० ९ टि० १॥ २ जुओ पृ० ८३, ८४, ४३६, ७१९, ७२०, ८९७-२॥ ३ आ स्थळे सन्मतितर्कनी बे कारिकाओ ध्यानमा लेवा जेवी छे—'एव सव्वेवि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिवद्धा। अण्णोण्णणिस्सिआ उण हवति सम्मत्तसब्भावा ॥ ११२१ ॥' (भावार्थ—) सर्वे नयो जो पोतपोताना पक्षना एकान्ते आग्रही होय तो मिथ्यादृष्टि छे, पण जो अन्योन्यसापेक्ष होय तो तेओ साचा छे। 'णिययवयणिज्जसच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा। ते पुण अदिट्ठसमओ विभजइ सच्चे व अलिए वा ॥ ११२८ ॥' सर्वे नयो पोताना मन्तव्यनु प्रतिपादन करवामा सत्य होय छे, परतु बीजानु खंडन करवा लागे छे त्यारे तेओ निष्फळ जाय छे। जे मनुष्यने शास्त्रना रहस्यनु ज्ञान नथी ते माणस ज 'आ नय सत्य ज छे अथवा आ नय असत्य ज छे' एवो विभाग करे छे,—अर्थात् शास्त्रना रहस्यने जाणनार मनुष्य 'आ नय सत्य ज छे अथवा आ नय असत्य ज छे' एवो विभाग करतो नथी। जुओ नयचक्रवृत्ति पृ० ३५ प० २३-२६ ॥

तटस्थदृष्टिथी गोठवीने बधा नयवादोनो समावेश मल्लवादीए नयचक्रमां बहुज सुंदर पद्धतिथी कर्यो छे। नयवादो केवी रीते अनेकान्तवादनो आश्रय ले छे ए पण अनेक स्थळे जणाव्युं छे अने ते ते दरेक नयोनुं बीज जैनागमग्रन्थोना कया कया वाक्यमां रहेलुं छे ए पण दरेक नयने अंते मल्लवादीए जणाव्युं छे। आ रीते अनेकान्तदृष्टिथी जैनदर्शननी सर्वनयसमूहात्मकता सिद्ध करवामां मल्लवादीए पोतानी अप्रतिम प्रतिभानो परिचय कराव्यो छे।

नयचक्रमां चर्चेला दार्शनिक वादो

आ प्रमाणे ते समयना सर्वदर्शनोनी विचारणा आ ग्रन्थमां होवाथी ते समयना दार्शनिक विचारोनुं स्वरूप तथा इतिहास जाणवा माटे आ ग्रन्थ अत्यंत उपयोगी छे। दार्शनिक इतिहासना संशोधको माटे आ ग्रन्थमां विशाळ सामग्री भरेली छे। दार्शनिक ग्रन्थ-ग्रन्थकारोना नामोना तथा पाठोना अन्यत्र दुर्लभ एवा अनेक उल्लेखो आ ग्रन्थमां विपुल प्रमाणमां छे। विस्तरार्थीओए ग्रन्थनुं अवगाहन करवुं तथा टिप्पृ० १४७ मां आपेली सूचि जोई लेवी। अहिं तो अमे दिङ्मात्र जणावीए छीए।

वेद—वेदनी संहिताओ तथा उपनिषद् वगेरेमांथी आमां अनेक स्थळे पाठो उद्धृत करेला छे। अत्यारे प्रचलित पाठो अने अहिं उद्धृत करेला पाठो वच्चे केटलेय स्थळे अल्प अथवा अधिक भेद छे। अमे अहिं नयचक्रवृत्तिनी प्रतिमां मळता प्राचीन पाठो ज जाळवी राख्या छे। जुओ पृ० १५४ पं० ११–१६, पृ० १२१ पं० २०–२१, पृ० २१० पं० २१–२२, पृ० ३३२ पं० ३, पृ० १९२ पं० ३ वगेरे। अत्यारे क्यां पाठभेद मळे छे ए अमारा टिप्पणोमां अमे केटलेक स्थळे जणाव्युं छे[१]। नयचक्रवृत्तिमां उद्धृत करेला पाठो प्राचीन पाठपरंपरा साथे कयी रीते बराबर मळी रहे छे एनुं उदाहरण टिप्पृ० ६० पं० १०–२४ मां जोई लेवुं।

सांख्य—वार्षगण्यप्रणीत वार्षगणतंत्र सांख्यदर्शननो अत्यंत महत्त्वनो प्राचीन आकर ग्रन्थ हतो ते अत्यारे मळतो नथी। नयचक्रवृत्ति पृ० ३२४ पं० १२ मां एनो वार्षगणतंत्र नामथी उल्लेख करेलो छे। केटलाक संशोधक विद्वानोनुं मानवुं छे के षष्टितंत्र ए वार्षगण तंत्रनुं ज बीजुं नाम छे[२]। आचार्यश्री मल्लवादीए सांख्यमतनी विचारणा करती वखते वार्षगणतंत्रनो तथा तेना भाष्यनो अनेकस्थळे उपयोग करेलो छे। वार्षगणतंत्र अने तेना भाष्यमांथी अनेकपाठो संक्षेप अथवा विस्तारथी नयचक्रवृत्तिमां उद्धृत करेला छे। वार्षगणतंत्रना ज प्रमाणे सांख्यदर्शनना सिद्धान्तो वर्णवेला हता तेनुं विस्तारथी निरूपण नयचक्रवृत्ति पृ० ३१३–३०८ मां छे। प्राचीन सांख्यदर्शनना जिज्ञासुओने माटे आमां घणी सामग्री छे। वार्षगणतंत्र जेवो आकरग्रन्थ विद्यमान हतो त्यारे ईश्वरकृष्णरचित सांख्यकारिकानुं कशुं महत्त्व नहि होय एम लागे छे। [३]दिङ्नाग पण प्रमाणसमुच्चयमां वार्षगणतंत्रनुं खंडन करेलुं छे, एथी सांख्यमतना स्पष्टीकरण माटे कोई कोई स्थळे प्रमाणसमुच्चयादि ग्रन्थोना टिबेटन भाषान्तरोनो पण अमे टिप्पणोमां उपयोग कर्यो छे, जुओ भोटपरिशिष्ट टिप्पृ० १३४, १३६–१४०। नयचक्रमूलमां मल्लवादीए ईश्वरकृष्णरचित

१ जुओ प्राक्कथन पृ० ३८ टि० १॥ २ जुओ टिप्पृ० ४० पं० १–१ टिप्पृ० १३१ टि० १॥ ३ नयचक्रवृत्तिमां आ ग्रन्थमां पृ० ६८५ पं० १० टि० १ मां आ भाष्यनो नामोल्लेख छे। प्रमाणसमुच्चय उपर जिनेन्द्रबुद्धिनी विशालामलवती टीका जोतां तेना आधारे पण वार्षगणतंत्र उपर अनेक व्याख्याओ हती एम जणाय छे जुओ टिप्पृ० ७८ पं० १२ टिप्पृ० १३८ टि० १ ३॥ ४ वसुबन्धुए अभिधर्मकोशभाष्यमां [५।२६] वार्षगण्यनो उल्लेख कर्यो जणाय छे। अभिधर्मदीपवृत्तिमां पण वार्षगण्यनो उल्लेख छे जुओ अभिधर्मदीपवृत्ति पृ २५९ प १४ टि ३॥

सांख्यसप्ततिनो कोई पण उपयोग कर्यो जणातो नथी, परन्तु नयचक्रवृत्तिमां पृ० २७७ मां टीकाकार श्री सिंहसूरिक्षमाश्रमणे सांख्यसप्ततिमांथी बे कारिकाओ उद्धृत करी छे।

न्याय—अक्षपादप्रणीत न्यायसूत्रमांथी अनेक सूत्रो अहीं उद्धृत करेलां छे[1]। ईश्वरवादमां आवती चर्चा जोतां जणाय छे के न्यायदर्शनना कोई प्राचीन ग्रंथोनो आमां उपयोग कर्यो हशे। जुओ पृ० ३३८, ३४१-३४४ वगेरे। नयचक्रवृत्ति पृ० ३४१ पं० २४ मां **माहेश्वरो योगविधिः** एवो उल्लेख छे, ए जोतां माहेश्वरदर्शन साथे न्यायदर्शननो संबंध जणाय छे। न्यायवार्तिककार उद्द्योतकरनो आमां कोई नामोल्लेख नथी, परंतु मल्लवादीए ईश्वरवादमां [पृ० ३२९ पं० २] "अचेतनत्वात् स्थित्वा प्रवृत्तेः तुर्यादिवत्" वगेरे जे प्रमाणो नयचक्रमां रजु कर्यां छे ए प्रमाणो न्यायवार्तिकमां (४।१।२१) विस्तारथी छे, तेमज तत्त्वसंग्रहपंजिकाकार कमलशीले पण ए उद्द्योतकरनो मत छे एम जणाव्युं छे[2]। ए जोतां उद्द्योतकरना मतनी पण मल्लवादीए समीक्षा करी होय एवो संभव छे। ईश्वरवादमां महाभारत तथा उपनिषदमांथी पण कारिका उद्धृत करेली छे, जुओ पृ० ३३०, ३३२।

वैशेषिक—कणादप्रणीत वैशेषिकसूत्रो आमां अनेकस्थळे उद्धृत करेलां छे। वैशेषिकसूत्र उपर वाक्य नामनी कोई व्याख्या हती, तेना उपर कोई भाष्य हतुं अने तेना उपर प्रशस्तमतिए टीका लखेली हती। वैशेषिकसूत्र उपर कटंदी नामनी स्वतंत्र टीका पण हती, ते उपरांत बीजी पण अनेक टीकाओ हशे एम नयचक्रना सातमा अरमां आवती विस्तृत चर्चा उपरथी जणाय छे[3]। एमां वाक्यकार, भाष्यकार, टीकाकार, कटंदीकारना उल्लेखो घणे स्थळे छे। वाक्य-भाष्य-कटंदीना पाठोनो सर्वप्रथम उल्लेख आ ग्रंथमां ज जोवामां आवे छे। प्राचीन वैशेषिक दर्शनना इतिहास उपर आ ग्रंथ घणो प्रकाश पाडे छे। 'प्रशस्तपाद तथा प्रशस्तमति एक ज व्यक्ति छे, तेणे बे ग्रंथो रच्या लागे छे, एक तो वैशेषिकदर्शनना सिद्धान्तविषेनो स्वतंत्र ग्रंथ पदार्थधर्मसंग्रह के जे अत्यारे प्रशस्तपादभाष्यना नामथी ओळखाय छे, बीजो ग्रंथ ते वैशेषिकसूत्रना वाक्य-भाष्यनी टीका' आ हकीकत सातमा अरमां पृ० ५१२ टि० ७ मां अमे विस्तारथी जणावी छे[4]। जिज्ञासुओए त्यां जोई लेवुं। प्रशस्तपाद दिङ्नागना प्रमाणसमुच्चयथी पूर्ववर्ती जणाय छे[5]। एटले प्रशस्तमतिना समय साथे मल्लवादीना वीरनिर्वाणसंवत् ८८४ (विक्रमसंवत् ४१४) मां अस्तित्वनो कोई विरोध आवतो नथी।

---

१ जुओ प्राक्कथन पृ० १९ टि० ३, ४॥ २ जुओ नयचक्रवृत्ति पृ० ३२८ टि० १॥ ३ जुओ नयचक्रवृत्ति पृ० ४५८ पं० १०, पृ० ४६१ पं० ११, पृ० ४६२ पं० १०, पृ० ४९५ पं० १८, पृ० ४९८ पं० २४, पृ० ४९९ पं० २१, पृ० ५१० पं० १४-१५, पृ० ५१३ पं० १४, पृ० ५१६ पं० १९-२०, पृ० ५११ पं० ९, १०, १८ पृ० ५२८ पं० १५ वगेरे॥ ४ पदार्थप्रवेशक ए पदार्थधर्मसंग्रहनुं ज बीजुं नाम छे॥ ५ Oriental Institute, Baroda थी Gaekwad's Oriental Series No 136 रूपे प्रकाशित थयेला वैशेषिकसूत्रनी प्रस्तावनामां (पृ० ६-११) तथा तेना छट्ठा परिशिष्टमां पण (पृ० १४६-१५२, पृ० १५० टि० १) अमे विस्तारथी आ बधुं जणाव्युं छे, जिज्ञासुओए त्यां जोई लेवुं॥ ६ दिङ्नागे वृत्तिसहित प्रमाणसमुच्चयमां तथा जिनेन्द्रबुद्धिए तेनी विशालामलवती नामनी टीकामां वैशेषिकदर्शन संबंधी जे जे विचारणा करी छे लगभग ते बधानो तथा नैयायिक संबंधी चर्चानो टिबेटन भाषांतर उपरथी संस्कृतभाषामां अनुवाद करीने (उपरना टिप्पणमां जणावेला) वैशेषिकसूत्रना सातमा परिशिष्टमां (पृ० १७१-२२१) अमे आप्यो छे अने तेना आधारे अमने आ हकीकत जणाय छे, जुओ वैशेषिकसूत्रनी प्रस्तावना पृ० ११॥ ७ आ वात श्री० एरी फ्राउवल्नरे (Prof Dr Erich Frauwallner, University of Vienna, Austria) पण प्रमाणसमुच्चयना टिबेटन भाषान्तर वगेरेने आधारे 'चन्द्रमति und sein दशपदार्थशास्त्रम्' ए नामना जर्मन लेखमां पृ० ७१ मां जणावी छे। आ जर्मन लेख Studia Indologica (University of Bonn, Germany) मां छपायो छे॥

नयचक्र तथा वृत्तिमां उद्धृत करेला वैशेषिकसूत्रना पाठो घणा प्राचीन छे। आमां उद्धृत करेलां केटलांक सूत्रो अत्यारे प्रचलित उपस्कारादिसम्मत वैशेषिकसूत्रपाठमां छे ज नहि, ज्यारे केटलांक सूत्रो थोडा घणा पाठभेद साथे नजरे पडे छे। उपस्कारनी रचना शंकरमिश्रे विक्रमनी प्रायः सोळमी शताब्दीमां करेली छे ते पूर्वे रचायेला दर्शनशास्त्रोना अनेक ग्रंथोमां उद्धृत करेलां वैशेषिकसूत्रो अने उपस्कारसंमत पाठ वच्चे अनेकस्थळे अंतर पडे छे। परंतु पांचमो अर छपाई गया पछी वैशेषिकसूत्रनी एक बहु ज प्राचीन वृत्तिनी हस्तलिखित प्रति जेसलमेरना जैनभंडारमांथी मळी आवी हती, तेमां प्राचीन वैशेषिकसूत्रपाठ पण अलग आपेलो छे अने साथे साथे चन्द्रानन्दरचित वृत्ति पण एमां छे। नयचक्रमां तथा बीजा पण प्राचीन दर्शनशास्त्रोमां उद्धृत करेलां तथा ज वैशेषिकसूत्रो आ प्रतिमां लगभग अक्षरशः मळे छे[1]। अत्यार सुधी मळेली वैशेषिकसूत्रनी तमाम वृत्तिओमां आ वृत्ति सौथी प्राचीन छे[2], एटले एनुं महत्त्व समजीने अमे अमारा आ नयचक्र ग्रंथमां जुदां जुदां टिप्पणोमां ए चन्द्रानन्दरचित वृत्ति सहित वैशेषिकसूत्रने संपूर्ण छापी दीधुं छे, जुओ वैशेषिकसूत्रमतनुं परिशिष्ट टिप्पण १४१।

मीमांसा—मीमांसकमतनी चर्चा प्रथम तथा बीजा अरमां विशेषे जणाय छे। तेमां जैमिनिप्रणीत मीमांसादर्शनना सूत्रोनो तथा वेद आदि ग्रंथोना पाठोनो उल्लेख छे[3]। मीमांसादर्शनना शाबरभाष्य जेवी प्राचीन वृत्तिओने पण ग्रंथकारे सामे राखी हशे एम लागे छे[4]। मीमांसादर्शनना प्रसिद्ध पंडित कुमारिल अने प्रभाकरथी मल्लवादी तथा सिंहसूरि बन्ने पूर्ववर्ती छे। एटले तेमना नयचक्रमां तथा नयचक्रवृत्तिमां जे कंई मीमांसकमतनी चर्चा छे ते मीमांसादर्शनना प्राचीन ग्रंथोने अनुलक्षीने छे।

अद्वैतवाद—अद्वैतवादनी चर्चामां पुरुष, नियति, काल, स्वभाव, भाव वगेरे अनेक अद्वैतवादोनी चर्चा बीजा अरमां छे, ए जोतां ते समये घणा अद्वैतवादो प्रचलित हता एम जणाय छे। एमां पुरुषाद्वैतवादनी चर्चामां अनेक पाठो वेद तथा उपनिषदोमांथी उद्धृत करेला छे[5]। वेदान्तदर्शनना प्रसिद्ध ग्रंथ बादरायणप्रणीत ब्रह्मसूत्रनो आमां क्यांय पण स्पष्ट उल्लेख नथी, परंतु "तद्व्यतिरिक्ता शासनिनः कपिल-व्यास-कणाद-शौद्धोदनि-मस्करिप्रभृतयः" आ प्रमाणे व्यासनो नामोल्लेख नयचक्रवृत्ति पृ० ८ पं० ७ मां छे। महाभारत तथा गीताना प्रणेता व्यासऋषि प्रसिद्ध छे। ब्रह्मसूत्रना रचयिता बादरायणनुं पण बीजुं नाम व्यास छे। महाभारतना कर्ता व्यास अने ब्रह्मसूत्रना कर्ता व्यास बन्ने एक ज छे के भिन्न छे ए विषे विद्वानोमां मतभेद छे। अहीं नयचक्रवृत्तिमां व्यास शब्दथी कोई पण व्यास विवक्षित होय एवो संभव छे। नियति आदि

---

१ जुओ अमे संपादन करेला वैशेषिकसूत्रनुं [illegible] पृ० २९-२९८॥ २ वैशेषिकसूत्र ६।२।४ नी वृत्तिमां चन्द्रानन्दे उद्द्योतकरनो उल्लेख कर्यो छे एटले चन्द्रानन्द न्यायवार्तिककार उद्द्योतकर पछी छे ए निश्चित छे। १।२।१ सूत्रनी वृत्तिमां एक वृत्तिकारनो पण उल्लेख छे। वैशेषिकसूत्र उपर घणी वृत्तिओ रचाएली हती एटले एमां ए वृत्तिकार कोण छे ते कंई कही शकातुं नथी। संभव छे के ए वृत्तिकार प्रशस्तमति पण होय। मिथिलाविद्यापीठे विक्रम सं० २०१३ मां प्रकाशित करेली अज्ञातकर्तृक व्याख्या तथा शंकरमिश्र रचेलो उपस्कार वगेरे बधी ज वृत्तिओ चन्द्रानन्द पछी घणा समये रचाएली छे। वैशेषिकसूत्रना ८, ९ तथा १० मा अध्यायमां चन्द्रानन्दे आह्निकविभाग पाड्या नथी ए वात ध्यानमां राखवानी हकीकत छे। सर्वदर्शनसंग्रहमां माधवाचार्ये वैशेषिकसूत्रनुं स्वरूप वर्णव्युं छे त्यां पण ८, ९ तथा १० मा अध्यायमां आह्निकविभाग बताव्या नथी ए वात बतावी आपे छे के चन्द्रानन्दनी वृत्तिमां केवी प्राचीन परंपरा सचवाएली छे। विशेष जिज्ञासुओए अमे संपादित करेला वैशेषिकसूत्रनां प्रथम द्वितीय चतुर्थ परिशिष्ट तथा प्रस्तावना जोई लेवी॥ ३ जुओ प्राक्कथन पृ० १० टि० ६, ७॥ ४ जुओ नयचक्र पृ० ११६ टि० ८॥ ५ जुओ प्राक्कथन पृ० ० टि० ८॥

अद्वैतवादो ते ते दर्शनोना ग्रंथोने आधारे चर्चेला जणाय छे, पण अत्यारे ए ग्रंथो मळता नथी। **नयचक्रवृत्ति** पृ० २३० प० १६ मां **भर्तृहरि**ना शब्दब्रह्मवादनो उल्लेख छे। भाववादमां आवता एक पाठनी **भर्तृहरिए वाक्य-पदीयनी** स्वोपज्ञवृत्तिमां उद्धृत करेला ब्रह्मवादीओना पाठ साथे घणी समानता छे, जुओ **नयचक्र पृ०** २२९ टि० ३। भाववादीए पोताना मतना समर्थनमां ब्रह्म विषे पृ० २४१ मां प्राचीन चार कारिकाओ उद्धृत करी छे के जे कारिकाओने **भर्तृहरिए** पण वाक्यपदीयनी स्ववृत्तिमां उद्धृत करी छे, ते उपरांत बीजा पण अनेक ग्रंथोमां ब्रह्माद्वैतवादना समर्थनप्रसंगे ए पैकीनी कारिकाओ उद्धृत करेली जोवामां आवे छे। चोथा अरमां 'ॐकार ज ब्रह्म छे, ॐकार ब्रह्मस्वरूप छे अने ए ज परमार्थ छे एवो चोथा विधिनियम नयनो मत छे' एम जणावेलुं छे'। **शंकराचार्य मल्लवादी**थी तथा **सिंहसूरिक्षमाश्रमण**थी पाछळ थयेला होवाथी **शंकराचार्य**ना मतनो आमां कोई निर्देश छे ज नहिं। **शंकराचार्य**नो समय विक्रमनी नवमी शताब्दीमां गणाय छे।

बौद्ध—बौद्धोना अनेक वादोनी चर्चा आ ग्रंथमां छे अने ते प्रसंगे बौद्धोना ते ते विषयना ग्रंथोमांथी अनेक अवतरणो अहिं उद्धृत करेलां छे, ११ मा तथा १२ मा अरमां क्षणिकवाद तथा शून्य-वादनी विस्तारथी चर्चा छे। ११ मा अरमां पृ० ५१४-२ मां

जहुक्खित्तम्मि लेट्ठुम्मि उप्पादे(डे) अत्थि कारणं।
पडणे कारणं णत्थि अण्णत्थुक्खेवकारणात् ॥

आ गाथा बौद्ध आगमग्रंथमांथी उद्धृत करेली छे[२]। ते सिवाय बौद्धग्रंथोमांथी उद्धृत करेला बीजा अनेक संस्कृत पाठोनी पण समीक्षा छे। आठमा अरमां **दिङ्नाग**ना अपोहवादनुं विस्तारथी खंडन छे। **प्रमाण-समुच्चय** उपरांत बीजो पण अपोहविषयक ग्रंथ **दिङ्नागे** रचेलो हतो एम स्पष्ट जणाय छे, कारण के आठमा अरमां उद्धृत करेला **दिङ्नाग**ना केटलाक पाठो **प्रमाणसमुच्चय**मां जोवामां आवता नथी[३] अने केटलाक पाठोमां पाठभेद किंवा निरूपणमां क्रमभेद नजरे पडे छे। संभव छे के **दिङ्नाग**ना **सामान्यपरीक्षा** नामना ग्रंथमांथी ज अपोहविषयक पूर्वपक्ष लईने तेनुं खंडन करवामां आव्युं होय। कारण के आ प्रसंगमां **सामान्यपरीक्षा**नो नामनिर्देश **नयचक्रवृत्ति**मां आठमा अरमां एक स्थळे छे[४]। **हेतुमुख**मां पण **दिङ्नागे** अपोहनुं प्रतिपादन कर्युं हतुं एम Prof. Dr. E. Frauwallner नुं कहेवुं छे। **दिङ्नाग**ना अनुमान संबंधी विचारोनुं पण आठमा अरमां निरूपण अने तेनुं विस्तारथी खंडन छे[५]। पहेला अरमां **दिङ्नागे प्रमाणसमुच्चय** वगेरेमां जणावेला प्रत्यक्ष प्रमाणना लक्षणनुं विस्तारथी खंडन छे[६] अने ए प्रसंगमां **अभिधर्मपिटक, प्रकरण-**

---

१ जुओ पृ० ३७३ प० ८—पृ० ३७८ प० १॥ २ बौद्धाचार्य **नागार्जुने** रचेली **मध्यमककारिका** उपर **चन्द्रकीर्तिए** रचेली वृत्तिमां पण आ गाथा उद्धृत करेली छे, जेमके—"यतोऽप्युक्तम्—'यथ उक्खित्ते लोढम्मि उक्खेवे अत्थि कारणं। पतने कारणं णत्थि अण्ण उक्खेवकारणात ॥' इति। यथाप्यत्र क्षेप (यथाप्युत्क्षेप ?) पतनकारणं नान्यत्, एवमिहापि जातिमेव कारणत्वेन विनाशस्य वर्णयामो नान्यत् इति नास्त्यहेतुकता विनाशस्य। जातिहेतुकत्वाचा-स्योद्गमनमेव [विनाशस्य] हेतुरिति कृत्वा एषापि गाथा सुनीता भवति—'ए विमे संस्कृता धम्मा संभवन्ति सकारणा। स भाव एव धम्माणां य विभोन्ति समुद्धता ॥"—**मध्यमकवृत्ति** पृ० २२२-२२३॥ ३ जुओ **प्राक्कथन** पृ० २१ टि० १३॥ ४ पृ० ६२८ प० ८॥ ५ जुओ पृ० ६७४-६७५, ६७८-६८०, ६८३-६८८, ६९१, ६९३, ७०७, ७२०, ७२८-७२७॥ ६ पृ० ६४, ८६, ८८, ८९, ९१, ९३, ९६, ९७, ९९, १००, १०१, १०२ ७ पृ० ६१, ६२, ६८, ७४, ८२ इत्यादि॥ ८ पृ० ६१॥

पाद आदि अनेक बौद्ध आगम ग्रंथोमांथी अनेक पाठो उद्धृत करेला छे। वसुबन्धुए रचेला अभिधर्मकोशभाष्यना एक पाठनी मल्लवादीए विस्तारथी समीक्षा करेली[1] छे, ते उपरांत हस्तवालप्रकरण, आर्यदेव रचित चतुःशतक वगेरे बौद्ध ग्रंथोमांथी पण पाठो उद्धृत करेला छे। बौद्धोना विज्ञानवादनो पृ० १०५–१०६ मां उल्लेख छे। दशमा अरमां रूपादि समुदायवादनुं, अगियारमा अरमां क्षणिकवादनुं तथा बारमा अरमां विज्ञानवाद–शून्यवादनुं निरूपण छे[4]। आ ग्रंथमां दिङ्नागनो दिन्न नामथी उल्लेख अनेकवार करेलो छे। दिन्न अने दत्तक पण दिङ्नागना ज नामो हता एम अमे सातमा अरमां पृ० ५४७ टि० ५ तथा टि० ९ मां जैन तथा बौद्ध ग्रंथोने आधारे विस्तारथी जणाव्युं छे। आठमा अरमां पृ० ६२८ मां सामान्यपरीक्षानो पण उल्लेख छे, आ ग्रंथ पण दिङ्नागे रचेलो छे। अत्यारे ए संस्कृतमां मळतो नथी। दिङ्नागे रचेला सामान्यलक्षणपरीक्षा नामना एक लघु ग्रंथनुं प्राचीन चीनी भाषांतर मळे छे[6]। दिङ्नागना प्रमाणसमुच्चय, आलम्बनपरीक्षा, सामान्यपरीक्षा, न्यायमुख आदि अनेक ग्रंथोना पाठोनो उल्लेख अने खंडन आ ग्रंथमां छे। अत्यारे दिङ्नागना लगभग बधा ज ग्रंथो संस्कृत भाषामां नष्ट थई गया छे परंतु तेमांना केटलाक ग्रंथोनुं टिबेटन भाषांतर मळे छे एटले नयचक्रमां आवती दिङ्नागना मतनी चर्चा स्पष्टरीते समजी शकाय ए माटे टिबेटन भाषा शीखीने दिङ्नागादि रचित ग्रंथोना टिबेटन भाषांतरो मेळवीने तेना उपरथी संस्कृतमां अनुवाद करीने अमे जरूरी अने उपयोगी अंशो भोटपरिशिष्टमां अने फुटनोटोमां आपेला छे। आ भोटपरिशिष्ट (टिपृ० ९५–१४०) जैन, न्याय, सांख्य, मीमांसा, वेदांत, बौद्ध आदि दर्शनोना प्राचीन ग्रंथोना अभ्यासीओने घणुं उपयोगी छे।

प्रमाणसमुच्चय अथवा दिङ्नाग रचित बीजा कोई ग्रंथना टीकाकारनो पण नयचक्रवृत्ति पृ० ९३ पं० २७ वगेरेमां उल्लेख छे[9]। प्रमाणसमुच्चय उपर स्वोपज्ञवृत्ति तथा ते उपरांत बीजी पण घणी टीकाओ

---

१ पृ० ७८॥ २ पृ० ९३ टिपृ० १२६॥ ३ पृ० ७३ ८७ ९४॥ ४ समुदायवाद, क्षणिकवाद अने विज्ञानवादनो पृ० २४७ मां पण उल्लेख छे॥ ५ जुओ प्राक्कथन पृ० २१ टि० १३॥ ६ जुओ अमे संपादित करेला वैशेषिकसूत्रनुं आठमुं परिशिष्ट पृ० १६९॥ ७ पृ० ९१, पृ० ५४६–१॥ ८ पृ० ५४, ७३ ३७६, टिपृ० ३०–३१ इत्यादि॥ ९ बौद्धन्यायना पिता तरीके गणाता बौद्धाचार्य दिङ्नागे नाना मोटा सो ग्रंथो रच्या हता एम कहेवाय छे। एम अहींतहीं वर्णवेला प्रमाण संबंधी विचारोने एणे प्रमाणसमुच्चय अने तेनी स्वोपज्ञवृत्तिमां संगृहीत कर्या छे एम दिङ्नागे पोते ज प्रमाणसमुच्चयना प्रारंभमां जणाव्युं छे। भिन्न भिन्न प्रकरणोना दोहनरूप होवाथी प्रमाणसमुच्चय कंईक अंशे संक्षिप्त छे एम अमने लागे छे अने मल्लवादी दिङ्नागना मतने विस्तारथी रजु करी तेनुं खंडन करे छे एटले संभव छे के मल्लवादीए केटलेक स्थळे दिङ्नागना ते ते प्रकरणोमांथी सीधो ज ते ते विषयनो पूर्वपक्ष नयचक्रमां रजु कर्यो होय। आथी ज मल्लवादीए ते ते चर्चाओना प्रसंगमां उद्धृत करेला दिङ्नागना पाठो पैकी केटलाक पाठो प्रमाणसमुच्चयमां अक्षरशः मळे छे केटलाक पाठभेद अथवा क्रमभेदथी मळे छे, अने केटलाक नथी मळता। तेम छतां प्रमाणसमुच्चय ए दिङ्नागनो सर्वोपरि तेमज अतिमहत्त्वनो (Masterpiece) आकर ग्रंथ होवाने लीधे दिङ्नागे भिन्न भिन्न प्रकरणोमां करेला निरूपण अने प्रमाणसमुच्चयमां करेला निरूपणोमां अनेक स्थळे अक्षरशः तो अनेक स्थळे अर्थथी समानता जोवामां आवे ए स्वाभाविक ज छे। आ दृष्टिए जोतां नयचक्रमां आवती दिङ्नागना मतनी चर्चा समजवामां प्रमाणसमुच्चय अत्यंत उपयोगी होवाने लीधे प्रमाणसमुच्चय तेनी स्वोपज्ञवृत्ति तेमज जिनेन्द्रबुद्धिरचित विशालामलवती नामनी प्रमाणसमुच्चयटीकाना (टिबेटन भाषांतर उपरथी संस्कृतमां अनुवाद करीने) अनेक अनेक अंशो अमे भोटपरिशिष्ट तथा फुटनोटोमां आप्या छे॥ १० जुओ प्राक्कथन पृ० २२ टि० १, ३॥

रचाएली छे, अहीं स्वोपज्ञवृत्तिकार दिङ्नाग ज 'टीकाकार' शब्दथी विवक्षित होय एम लागतुं नथी। अत्यारे प्रमाणसमुच्चय उपर दिङ्नागे रचेली स्वोपज्ञवृत्ति तथा जिनेन्द्रबुद्धिए रचेली विशालामलवतीटीका ज टिबेटन भाषान्तरना रूपमां मळे छे। धर्मकीर्तिनुं प्रमाणवार्तिक पण प्रमाणसमुच्चयना केटलाक पाठो उपरनी स्वतन्त्र व्याख्या छे। धर्मकीर्ति तथा जिनेन्द्रबुद्धि बन्ने य नयचक्रकार श्री मल्लवादी तथा नयचक्रटीकाकार सिंहसूरिक्षमाश्रमण पछी थएला छे, एटले धर्मकीर्ति तथा जिनेन्द्रबुद्धिना मतना उल्लेखनो अहीं संभव ज नथी, आ बधी बाबतो विषे अमे विस्तारथी प्राक्कथनमां [पृ० ११] जणाव्युं छे। जिज्ञासुओए त्यां जोई लेवुं।

'दिङ्नाग ए वसुबन्धुनो शिष्य हतो छतां तेणे मत्सराविष्ट थईने पोताना गुरु वसुबंधुना ग्रंथनुं (वादविधिनुं) खंडन कर्युं छे' एवो स्पष्ट उल्लेख नयचक्रवृत्ति पृ० ९६ मां छे, एटले दिङ्नाग वसुबंधुनो शिष्य हतो आ जाततुं जे वर्णन बौद्ध कथाग्रंथमां आवे छे तेने पण आनाथी समर्थन मळे छे। नयचक्रवृत्तिकार सिंहसूरिक्षमाश्रमण दिङ्नागना लगभग समीप काळमां ज थएला छे, एटले एमनो आ विषेनो उल्लेख तद्दन प्रमाणभूत छे, एटले वसुबंधु अने दिङ्नागना गुरुशिष्यभाव विषे कोई कोई समीक्षको जे आशंका करे छे तेने हवे स्थान ज रहेतुं नथी।

भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय—शब्दार्थ, वाक्यार्थ विगेरेनी विचारणामां भर्तृहरिना वाक्यपदीयनी अनेक कारिकाओ आ ग्रंथमां उद्धृत करेली छे। आठमा अरमां अभिजल्प शब्दार्थनी चर्चामां भर्तृहरिना वाक्यपदीयनुं विस्तारथी खंडन छे। वसुरात भर्तृहरिनो उपाध्याय (गुरु) हतो अने भर्तृहरि वसुरातनो शिष्य हतो एवो स्पष्ट उल्लेख आठमा अरमां छे। वसुरातना मतनुं खंडन पण आठमा अरमां छे। 'वसुरात मोटो वैयाकरण हतो अने तेणे वसुबंधुना अभिधर्मकोशमां व्याकरणसंबंधी भूलो जणावी हती' एवो उल्लेख बौद्ध ग्रंथमां आवे छे। वसुरात पासे भर्तृहरिए अभ्यास कर्यो हतो एवो उल्लेख वाक्यपदीयमां पण आवे छे। दिङ्नागे भर्तृहरिना वाक्यपदीयमांथी बे कारिका उद्धृत करेली छे तेमज त्रैकाल्यपरीक्षानी रचना करती वखते दिङ्नागे वाक्यपदीयना प्रकीर्णकाण्डनी अनेक कारिकाओनो उपयोग कर्यो छे ए वात अमे मल्लवादिना समयनी चर्चामां जणावी दीधी छे। भर्तृहरिना शब्दब्रह्मवादनो निर्देश पृ० २३० पं० १७ मां छे ए अमे पहेलां कही गया छीए।

योग—षडंगयोगविषयक संक्षिप्त छतां अत्यंत उपयोगी उल्लेख नयचक्रवृत्ति पृ० ३३२ मां छे। एमां प्रत्याहार, रेचक-पूरक-कुंभक प्राणायाम, ध्यान, धारणा, तर्क तथा समाधि आ योगनां छ अंगोनुं सुंदर वर्णन छे। योगना अभ्यासीओए ए वर्णन जरूर वांचवा जेवुं छे।

---

१ प्रमाणसमुच्चय उपर दर Darm rinchen नामना टिबेटन लेखके टिबेटन भाषामां घणां वर्षो पूर्वे एक टीका लखेली छे अने तेना Derge edition ना फोटाओ थोडा समय पूर्वे जापानीज विद्वान् हाकुयु हादानो (Prof. Dr. Hakuyu Hadano, Tohoku University, Sendai, Japan) पासेथी अमने मळ्या छे। परंतु ए टीका मूळथी ज टिबेटन भाषामां लखेली होवाथी अमे अहीं एनो निर्देश कर्यो नथी। विशालामलवतीथी आ टिबेटन टीका घणी ज अर्वाचीन छे ए पण ध्यानमां रहे॥ २ जुओ प्राक्कथन पृ० १६ टि० ३॥ ३ जुओ प्राक्कथन पृ० ३ टि० ३॥ ४ जुओ प्राक्कथन पृ० १६ टि० १६॥ ५ जुओ पृ० ५८१, ५९५। जुओ प्राक्कथन पृ० १५ टि० २॥

वैद्यक—चरकसंहिता आदि वैद्यकशास्त्रोमांथी अनेक पाठो प्रसंगे प्रसंगे उद्धृत करेला छे[1]। 'त्रिफला घी साथे खावा जोईए, गोळ साथे नहि, कारणके गोळ आखने नुकसान करे छे' आ अर्थवाळो उल्लेख अक्षिवैद्यकमांथी नयचक्रवृत्ति पृ० १५८ पं० २४ मां छे।

व्याकरण—व्याकरणनो आ ग्रंथमां ठाम ठाम उपयोग करेलो छे। विधि आदि नयोनां मते द्रव्य तथा पर्याय शब्दनो जे जुदो जुदो अर्थ थाय छे ते दरेक नयमां छएछ प्रकारे व्याकरणने आधारे दर्शाव्यो छे, भाव शब्दना अर्थनी पण ते ते नय प्रमाणे व्याकरणनी व्युत्पत्तिने अनुसरीने अनेक स्थाने चर्चा छे। प्रकारे पाणिनिव्याकरणने लगता प्रयोगो ज आमां मुख्यतया उपयोग कर्यो छे। पाणिनिव्याकरणनां सूत्रो, पाणिनीय धातुपाठ, पाणिनीय शिक्षा, यास्कनिरुक्त, पाणिनिव्याकरण उपर कात्यायने रचेलुं वार्तिक तथा पतंजलिए रचेला पातंजलमहाभाष्यमांथी आमां अनेक पाठो उद्धृत करेला छे[2]। विशिष्टता ए छे के नयचक्रकार तथा नयचक्रटीकाकार बन्ने य घणा प्राचीन होवाथी तेमनी सामे पाणिनीयव्याकरण, पाणिनीय धातुपाठ तथा पातंजलमहाभाष्यनी जुनी पाठपरंपरा हती, ते पछी तो आजे सेंकडो वर्ष वीती गया ते दरम्यानमां अनेक स्थळे पाठभेद थई गया छे। संशोधको सारी रीते जाणे छे के उत्तरोत्तर लेखकोने हाथे कालान्तरे अनेक पाठभेदो निर्माण थाय छे, एटले अत्यारे प्रचलित पाणिनीयसूत्रपाठ तथा पाणिनीयधातुपाठमां अने नयचक्रवृत्तिमां उद्धृत करेला पाठ वच्चे क्वचित् भेद पण जोवामां आवे छे, जेमके नयचक्रवृत्ति पृ० १५ पं० ८ मां "अन्यार्कियत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् (५।३।९१)" आ प्रमाणे पाणिनीय व्याकरणमांथी सूत्र उद्धृत करेलुं छे, पण अत्यारे तो "कियत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्" एवो ज पाठ मळे छे। आ विषे अमे टिप्पणमां (टिपृ० १६ पं० ६–१७) विस्तारथी चर्चा करी छे। जिज्ञासुओए त्यां जोई लेवुं। आवा बीजा पण पाठभेदना उदाहरणो आ ग्रंथमां छे[3]। ए उपरथी एम चोकस जणाय छे के पाणिनीय सूत्रपाठनी जुनी पाठपरंपरा नयचक्रवृत्तिकार सिंहसूरिक्षमाश्रमण पासे हती। नयचक्रवृत्तिमां उद्धृत करेला पाणिनीय धातुपाठमां पण ए रीते पाठभेद क्वचित् क्वचित् जोवामां आवे छे[6]। खास करीने अहिं उद्धृत करेला पातंजलमहाभाष्यना पाठो अने वर्तमान पातंजलमहाभाष्यना पाठो वच्चे विशेष भेद जोवामां आवे छे, जेमके नयचक्रवृत्ति पृ० १२४ पं० ०८ तथा पृ० १३४ पं० १३ मां 'दशदाडिमादिश्लोक' एवो उल्लेख छे, छतां अत्यारे तो पातंजलमहाभाष्य (१।१।१, १। २।४५) मां ए पाठ गद्यरूपे मळे छे, जुओ टिपृ०५५ पं० १६, परंतु याकिनीमहत्तरासूनु श्री हरिभद्रसूरिमहाराजे ए पाठ आवश्यकनिर्युक्ति उपरनी टीकामां पृ० ३७० मां नीचे मुजब श्लोकरूपे उद्धृत कर्यो छे—

---

१ जुओ प्राक्कथन पृ० १५ टि० २ ॥ २ जुओ प्राक्कथन पृ० २३ टि० ९ ॥ ३ जुओ प्राक्कथन पृ० २३ टि० १ ॥ ४ जुओ प्राक्कथन पृ० २३ टि० १० ॥ ५ पृ० २३ टि० १–४ ॥ ६ नयचक्रवृत्तिमां दशमा अरमां 'अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमनप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिङ्गनहिंसादहनभाववृद्धिषु' ए प्रमाणे 'अव्' धातुना १९ अर्थो आप्या छे छतां अत्यारे पाणिनीय धातुपाठमां अव रक्षणगतिकान्तितृप्त्यवगमप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिङ्गनहिंसादानभागवृद्धिषु एवो पाठभेद जोवामां आवे छे पण हैमधातुपाठ (४८९) मां नयचक्रवृत्तिप्रमाणे ज अक्षरशः पाठ छे एटले नयचक्रवृत्तिकार तथा हेमचन्द्राचार्य पासे पाणिनीयधातुपाठनी जुनी परंपरा हती अने अत्यारे प्रचलित पाणिनीय धातुपाठमां पाठभेदो थई गया छे, ए निश्चित छे। आवां बीजां पण धातुपाठभेदनां उदाहरणो नयचक्रवृत्तिमां छे ॥

दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिनं पललपिण्डः ।
चर कीटिके दिशमुदीचीं स्पर्शनकस्य पिता प्रतिशीनः ॥

एटले नयचक्रवृत्तिकार सिंहसूरिक्षमाश्रमणे 'दशदाडिमादिश्लोक'नो जे उल्लेख कर्यो छे ए बराबर मळी रहे छे। आ उपरात बीजा स्थळोए पण जे पाठभेद जोवामा आवे छे ते उपरथी एमना पासे पातजलमहाभाष्यनी प्राचीन पाठपरपरा हती ए नक्की थाय छे।

पाचमा अरमा वैयाकरणोना मतनु प्रतिपादन छे अने छठ्ठा अरमा एनु विस्तारथी खण्डन छे। ए चर्चामा पातजलमहाभाष्य उपरात व्याकरणना सिद्धान्तोने लगता बीजा पण प्राचीन ग्रथोनो ग्रथकारे उपयोग कर्यो हशे एम लागे छे। आठमा अरमा (पृ० ५७९ प० १५) तंत्रार्थसग्रह नामना व्याकरण-सबधी ग्रथनो नामोल्लेख नयचक्रवृत्तिमा छे। पृ० ३७ प० ११–१२ मा भागुरि अने सौनाग नामना वैयाकरणोना मतनो पण उल्लेख छे। पाचमा अरमा पृ०३७९, प० ८ मा "भाष्यकारेण सांख्यादाहत्योक्त" आ जातनो उल्लेख नजरे पडे छे, वळी 'गुणसन्द्रावो द्रव्यम्' आ प्रमाणे पतजलिए पातजलमहाभाष्य (५।१।११९) मा जे द्रव्यनु लक्षण वर्णवेलु छे ते पण साख्योना ग्रथमांथी–सभवत. षष्टितत्रमाथी लीधेलु छे, जुओ नयचक्रवृत्ति पृ० २६८ प० ११, पृ० ३०३ वगेरे। ए उपरथी पतजलि साख्यमतानुसारी होय एम जणाय छे।

नयचक्रमां जैन आगमादि संबंधी निर्देशो

जैन—जैन आगमसाहित्य तथा बीजा पण जैन ग्रथोमाथी आमा अनेक पाठो उद्धृत करेला छे। आचारागसूत्र, सूत्रकृताग, स्थानाग, भगवतीसूत्र, नंदिसूत्र, जीवाभिगमसूत्र, पन्नवणा, अनुयोगद्वारसूत्र आदि आगमोना पाठो आमा उद्धृत करेला छे[1]। भद्रबाहुस्वामि रचित निर्युक्तिनी गाथाओनो पण अनेकवार उल्लेख छे। "तत्सवादि निर्युक्तिलक्षणमाह–'वत्थूण संकमण होति अवत्थू णये समभिरूढे" आ जातनो दशमा अरमा (पृ० ५१०–२) नयचक्रवृत्तिकारे उल्लेख करेलो छे, आ गाथा चतुर्दश पूर्वधर भगवान् भद्रबाहुस्वामिकृत आवश्यकनिर्युक्तिनी (७५७ मी गाथा) छे एटले चतुर्दशपूर्वधारी भगवान् भद्रबाहुस्वामि रचित निर्युक्तिनी गाथा पण मल्लवादीए उद्धृत करेली छे[2]। तत्त्वार्थसूत्रनो तो आमा विपुलप्रमाणमां उपयोग करेलो छे[3]। नयचक्रवृत्तिमा अनेक स्थळे तत्त्वार्थसूत्रना वाक्योनो समावेश छे। नयचक्रवृत्ति पृ० ११४ प० २४ पृ० ५९६ प० ८ मा तत्त्वार्थभाष्यनु पण अवतरण छे[4]। आठमा अरमा (पृ० ५५९) आवता एक उल्लेख उपरथी फलित थाय छे[5] के अत्यारे जेने आपणे नंदिसूत्र मानीए छीए तेमा भाष्यनी गाथाओ दाखल थई गई छे अर्थात् प्राचीन काळमा नंदिसूत्र अने नंदिसूत्र उपरनु भाष्य ए बन्नेय जुदां हता पण पाछळथी कोई समये सूत्र अने भाष्य एक थई जईने बधुय नंदिसूत्रने नामे ओळखावा लाग्यु छे। आ विषे टिपृ० ६८ प० १–७ मा अमे जणाव्यु छे, ते उपरात सुरतना 'देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार-

१ जुओ प्राक्कथन पृ० २३ टि० १०॥ २ जुओ प्राक्कथन पृ० २४ टि० ६७॥ ३ जुओ प्राक्कथन पृ० २३ टि० १२॥ सिद्धसेनदिवाकरजीनी द्वात्रिंशिकामा पण तत्त्वार्थसूत्रनो उपयोग थयो छे एम स्पष्ट जणाय छे, जुओ टिपृ० ४१ प० १–४, टि० १॥ ४ जुओ प्राक्कथन पृ० २३ टि० १३॥ ५ जुओ प्राक्कथन. पृ० २४ टि० ३॥

फंड' तरफथी भविष्यमा प्रगट थनारा देवानंद विशेषांकमा अमे विस्तारथी चर्चा करी छे, जिज्ञासुओए त्या जोई लेवु। वळी नयचक्र तथा नयचक्रवृत्तिमा उद्धृत करेला आगमपाठो तथा अत्यारे प्रचलित पाठो वच्चे खास पाठभेद जोवामा आवे छे। ए उपरथी एटली वात निश्चित छे के मल्लवादी तथा सिंहसूरि-क्षमाश्रमण पासे आगमोनी बहु प्राचीन पाठपरंपरा हती। सिद्धसेनदिवाकरप्रणीत सम्मतितर्कनी तथा द्वात्रिंशिका वगेरेनी अनेक कारिकाओ आमा उद्धृत करेली छे, पृ० ३२४ पं० २७ मा "अस्ति-भवति-विद्यति-पद्यति-वर्ततय संनिपातषष्ठा सत्तार्था इत्यविशेषेणोक्तत्वात् सिद्धसेनसूरिणा" ए जातनो उल्लेख जोता सिद्धसेनदिवाकरजीए कोई गद्यात्मक ग्रंथनी पण रचना करी हशे एम लागे छे। संस्कृत-प्राकृत जैन ग्रंथोमाथी आमा अनेक अवतरणो लीधेला छे। ए बधा कया कया ग्रंथमाथी लीधा हशे, ए कई कही शकातु नथी। योनिप्राभृतनो पण आमा पृ० २०२ पं० २०-२३ मा उल्लेख छे।

जैन शास्त्रीय विषयोनु निरूपण आ ग्रंथमा अनेक स्थळे छे, जेमके पृ० २१७ मा सुषमसुषमादि छ आराओना स्वरूपनु वर्णन छे, पृ० ३४८ मा औदारिकादि आठ वर्गणाओनु स्वरूप विस्तारथी वर्णवेलु छे, तेमा कर्मप्रकृतिवृत्ति आदिमा आवता वर्गणाओना वर्णनथी आमा जे विशिष्टता छे ते खास ध्यान दईने वाचवा जेवी छे। निर्वृत्ति-उपकरण द्रव्येन्द्रिय अने लब्धि-उपयोग भावेन्द्रियनु वर्णन आमा अनेक स्थळे छे। ए उपरात बीजा पण अनेक स्थळे शास्त्रीय विषयोना उल्लेखो छे, एमा केटलेक स्थळे विशिष्टता पण छे तेथी आगमादि शास्त्रोना अभ्यासीओए ए उल्लेखो खास वाचवा जेवा छे।

विक्रमनी आठमी-नवमी शताब्दीमा विद्यमान दिगम्बर जैनाचार्य अकलंके श्रुतज्ञानना बे भेदो रूपे स्याद्वाद अने नयनु निरूपण करेलु छे। सकलादेश ए स्याद्वाद छे अने विकलादेश ए नय छे। स्याद्वाद प्रमाण छे, ज्यारे नयवाद प्रमाणरूप नथी छता सम्यक् तो छे ज। कारण के अकलंकना मते नयवाक्य सापेक्ष

---

१ जुओ प्राक्कथन पृ० ११ टि० ११-१६ ॥ २ जुओ पृ० १८३ पं० १७-२१ पृ० ४७४-४७७ ॥ ३ विक्रमार्क-शकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि। कालेऽकलङ्कयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत् ॥—आ अकलङ्कचरितना श्लोकमां आवता 'विक्रमार्कशक' शब्दना अर्थ विषे मतभेद छे। विक्रम संवत् ७०० मां अकलङ्कनो बौद्धो साथे वाद थयो' एम केटलाक अर्थ करे छे, ज्यारे केटलाक 'शक संवत् ७०० मां वाद थयो' एवो अर्थ करे छे ॥ ४ उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वाद-नयसंज्ञितौ। स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसङ्कथा ॥ ६२ ॥ अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः। यथा जीवः पुद्गलधर्माऽधर्माकाशकाल इति। तत्र जीवो ज्ञानदर्शनवीर्यसुखरसाधारणैः अमूर्तत्वासंख्यातप्रदेशत्वसूक्ष्मत्वैः साधारणासाधारणैः सत्त्वप्रमेयत्वगुरुलघुत्वधर्मित्वगुणित्वादिभिः साधारणैः अनन्तान्तः। तस्य जीवस्यादेशात् प्रमाणं स्याद्वादः। तथा स्वरपरमागमतो बोद्धा। ज्ञो जीवः सुखदुःखादिवेदनात् इत्यादिविकलादेशो नयः। साकल्यमनन्तधर्मात्मकता। वैकल्यमेकान्तो धर्मान्तराविवक्षातः। स्यात्पदप्रयोगात् सर्वथैकान्तत्यागात् स्वरूपादिचतुष्टयविशेषणविशिष्टो जीवोऽभिधीयत इति प्रतिपत्तिः। नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तः। स्याज्जीव एव इत्युक्तेऽनेकान्तविषयः स्याच्छब्दः। स्यादस्त्येव जीव इत्युक्ते एकान्तविषयः स्याच्छब्दः। अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात् प्रतीयते। विधौ निषेधेऽन्यत्रापि कुशलश्चेत् प्रयोजकः ॥ ६३ ॥ —स्वोपज्ञवृत्तिसहित लघीयस्त्रय (न्यायकुमुदचन्द्रमां पृ० ६८६-६९१) ॥ ५ भेदाभेदात्मके ज्ञेये भेदाभेदाभिसन्धयः। ये तेऽपेक्षानपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते नय-दुर्नयाः ॥ ३० ॥ —लघीयस्त्रय। 'तत्प्रतिक्षेपो दुर्नयः। इतरांशो नयः, स्वार्थप्राधान्येऽपि तद्गुणत्वात्। तदुभयात्मार्थज्ञानं प्रमाणम्। —लघीयस्त्रय (का० ४८) स्वोपज्ञवृत्ति (न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ६५०)। धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाण-नय-दुर्नयानां प्रकारान्तरासम्भवाच्च। प्रमाणात् तदतत्स्वभावप्रतिपत्तेः, तत्प्रतिपत्तेः तदन्यनिराकृतेश्च।' —अष्टशती (अष्टसहस्री पृ० २९०) ॥

छे[१] अने नयवाक्यमां पण 'स्यात्' पदनो प्रयोग अकलंके स्वीकार्यो छे[२]। जे निरपेक्ष (स्यात् पदना प्रयोग विनानु) नयवाक्य छे ते दुर्नय छे अने बधा दुर्नयो मिथ्या छे। आ रीते अकलंकप्रणीत प्रक्रिया मुजब १ प्रमाण, २ नय अने ३ दुर्नय एवा त्रण भेदो थाय छे। प्रमाणनो विषय अनेकान्त छे, नयनो विषय सम्यगेकान्त छे, दुर्नयनो विषय मिथ्या एकान्त छे। वस्तुने अनन्तधर्मात्मक रूपे दर्शावतुं जे वचन ते सकलादेश कहेवाय छे। वस्तुना बीजा धर्मोनी विवक्षा न होय अने वस्तुना एकदेशनु (एक अन्तनुं) ज जेमा प्रतिपादन होय तेवु वचन विकलादेश कहेवाय छे। सप्तभंगीना सांते भंगो विवक्षा प्रमाणे सकलादेश अथवा विकलादेश बनी शके छे। आ प्रमाणे अकलंकनु मन्तव्य छे।

अकलंके दर्शावेला आ विचारोने त्यार पछी थएला अनन्तवीर्य, विद्यानन्दी, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र, वादिराजसूरि आदि दिगंबर आचार्योए स्वीकारी लीधा जणाय छे। परंतु श्वेतांबर आचार्योमां आ विषे घणो मतभेद छे। वादिदेवसूरि के जेओ विक्रम संवत् ११४३ थी १२२६ सुधी विद्यमान हता तेमणे-तेमना प्रसिद्ध ग्रंथ प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारमा प्रमाण, नय अने दुर्नय एवा भेदो स्वीकार्या छे, तेमज "नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गीमनुव्रजति [१५।५३]" एम कह्यु छे। आ सूत्र उपर तेमना ज शिष्य रत्नप्रभाचार्ये रचेली रत्नाकरावतारिका टीकामां (पृ० १३६) जणाव्युं छे के "नयवाक्यं प्राग्लक्षितविकलादेशस्वरूपं सप्तभङ्गीमनुगच्छति, प्रमाणसप्तभङ्गीवदेतद्विचारः कर्तव्यः, नयसप्तभङ्गीष्वपि प्रतिभङ्गं स्यात्कारस्यैवकारस्य च प्रयोगात्। तासां विकलादेशत्वादेव सकलादेशात्मिकायाः प्रमाणसप्तभङ्ग्या विशेषव्यवस्थापनात्। विकलादेशस्वभावा हि नयसप्तभङ्गी वस्त्वंशमात्रप्ररूपकत्वात्, सकलादेशस्वभावा तु प्रमाणसप्तभङ्गी संपूर्णवस्तुस्वरूपप्ररूपकत्वादिति।"—आ जोतां वादिदेवसूरि पण नयवाक्यमा 'स्यात्' पदनो प्रयोग मान्य करे छे।

न्यायावतारना टीकाकार सिद्धर्षिगणी तथा कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरि महाराजे प्रमाण नय अने दुर्नय एवा त्रण भेदो तो स्वीकार्या छे, परन्तु नयवाक्यमा स्यात् पदनो प्रयोग तेमणे मान्य राख्यो नथी,

---

१ अकलंक नयोने सापेक्ष माने छे, छतां अपेक्षा शब्दनो अर्थ उपेक्षा करे छे ए ध्यानमां राखवानुं छे। जुओ 'निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः, सापेक्षत्वमुपेक्षा"—अष्टशती (अष्टसहस्री पृ० २९०) ॥ २ तत्त्वार्थराजवार्तिक तथा लघीयस्त्रयमां नयवाक्यमां स्यात्पदनु विधान अकलंके स्पष्ट शब्दोमां करेलु छे, छतां प्रमाणवाक्यने ज ए 'स्याद्वाद' कहे छे ए पण विचारणीय छे। कारण के नयवाक्यमा पण जो स्यात् पदनो प्रयोग होय तो नयवादने पण स्याद्वाद कहेवो जोईए ॥ ३ "यत्र यदा यौगपद्यं तदा सकलादेशः ⋯ ⋯एकगुणमुखेनाशेषवस्तुरूपसंग्रहात् सकलादेशः। तत्रादेशवशात् सप्तभङ्गी प्रतिपदम्। यदा तु क्रमं तदा विकलादेशः निरंशस्यापि गुणभेदादंशकल्पना विकलादेशः। तत्रापि तथा सप्तभङ्गी।"—तत्त्वार्थराजवार्तिक ॥ ४ विशेष जिज्ञासुओए सिद्धिविनिश्चयटीका, अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, परीक्षामुख, प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, न्यायविनिश्चयविवरण आदि ग्रंथो जोई लेवा ॥

५ "तदेवमनेकधर्मपरीतार्थग्राहिका बुद्धिः प्रमाणम्। तद्द्वारायातः पुनरेकधर्मनिष्ठार्थसमर्थनप्रवणः परामर्शः शेषधर्मस्वीकारतिरस्कारपरिहारद्वारेण वर्तमानो नयः।... अयमेव च स्वाभिप्रेतधर्मावधारणात्मकतया शेषधर्मतिरस्कारद्वारेण प्रवर्तमानः परामर्शो दुर्नयसंज्ञामश्नुते। तद्बलप्रभावितसत्ताका हि खल्वेते परप्रवादाः। (पृ० ८२)..... ननु च यद्येकैकधर्मसमर्थनपरायणाः शेषधर्मतिरस्कारकारिणोऽभिप्रायाः दुर्नयतां प्रतिपद्यन्ते तदा वचनमप्येकधर्मकथनद्वारेण प्रवर्तमानं सावधारणत्वाच्च शेषधर्मप्रतिक्षेपकारि अलीकमापद्यते। ततश्चानन्तधर्माध्यासितवस्तुसन्दर्शकमेव वचनं यथावस्थितार्थप्रतिपादकत्वात् सत्यम्। न चैवं वचनप्रवृत्तिः।..न चैकैकधर्मसन्दर्शकत्वेऽप्यमूनि वचनान्यलीकानि वक्तुं पार्यन्ते, समस्तशाब्दव्यवहारो-

सिद्धर्षि तथा हेमचन्द्राचार्यना मते प्रमाणवाक्यमा ज 'स्यात्' पदनो प्रयोग होई शके, धर्मान्तरनिराकरणार्थक एवकार अने स्यात् पद विनानु ज वाक्य छे ते नय छे, जेमा स्यात् पदनो प्रयोग न होय

च्छेदप्रसङ्गात् तदन्यकत्वे तत प्रवृत्त्यसिद्धेरिति। अत्रोच्यते—इह तावद् द्वये प्रतिपादका — लौकिकास्तत्त्वचिन्तकाश्च। तत्र प्रत्यक्षादिप्रसिद्धमर्थमर्थिवशाल्लौकिकास्तावद् मध्यस्थभावेन व्यवहारकाले व्यपदिशन्ति। न च तद्वचनानामलीकता, शेषधर्मान्तरप्रतिक्षेपाभावात्, तत्प्रतिक्षेपकारिणामेवालीकत्वात्। 'सर्वं वचन सावधारणम्' इति न्यायात् तेषामपि शेषधर्मनिराकारित्वसिद्धेर्भवतीत्यालीकत्वमापद्यत इति चेत् अवधारणस्य तदसम्भवमात्रव्यवच्छेदव्यापारात्। (पृ ९१) न च समस्तधर्मयुक्तमेव वस्तु प्रतिपादयद् वचन सत्यमित्यभिदध्महे यतोऽनेकधर्मालिङ्गितवस्तुसन्दर्शकानामलीकता स्यात् किं तर्हि? सम्भवदर्थप्रतिप्रतिपादक सत्यमिति। सम्भवन्ति च शेषधर्माप्रतिक्षेपे वचनगोचरापन्ना धर्मा तस्मात् तत्प्रतिपादक सत्यमेव। यदा तु दुर्नयाभिनिविष्टबुद्धिभिस्तीर्थान्तरीयैस्तद्धर्मिगतधर्मान्तरनिराकरणाभिप्रायेणैव सावधारण तत् प्रयुज्यते यथा नित्यमेव वस्तु अनित्यमेव वा इत्यादि तदा निरालम्बनत्वादलीकता प्राप्नुवत् केन वार्येत? तत्त्वचिन्तका पुन प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धमनेकान्तात्मक वस्तु दर्शयन्तो द्वेधा दर्शयेयु तद्यथा—विकलादेशेन सकलादेशेन वा। तत्र विकलादेशो नयाधीन, सकलादेश प्रमाणायत्त। तथाहि—यदा मध्यस्थभावेनार्थित्ववशात् किञ्चिद्धर्मं प्रतिपिपादयिषव शेषधर्मस्वीकरणनिराकरणविमुखया धिया वाच प्रयुञ्जते तदा तत्त्वचिन्तका अपि लौकिकवत् सम्मुग्धाकारतयाचक्षते यथा 'जीवोऽस्ति कर्ता प्रमाता भोक्ता' इत्यादि। अत सम्पूर्णवस्तुप्रतिपादनाभावाद् विकलादेशोऽभिधीयते, न्यमतेन सम्भवद्धर्माणां दर्शनमात्रमित्यर्थ। यदा तु प्रमाणव्यापारमविकल परामृश्य प्रतिपादयितुमभिप्रयन्ति तदाङ्गीकृतगुणप्रधानभावा अशेषधर्मसूचककथञ्चित्पर्यायस्याच्छब्दभूषितया सावधारणया वाचा दर्शयन्ति स्यादस्त्येव जीव इत्यादिकया, अतोऽय स्याच्छब्दसंसूचिताभ्यन्तरीभूतानन्तधर्मकस्य साक्षादुपन्यस्तजीवशब्दक्रियाभ्यां प्रधानीकृतात्मभावस्य अवधारणव्यवच्छिन्नतदसम्भवस्य वस्तुन सन्दर्शकत्वात् सकलादेश इत्युच्यते, प्रमाणप्रतिपन्नसम्पूर्णार्थकथनमिति यावत्। तदुक्तम्—'सा ज्ञेयविशेषगतिर्नयप्रमाणात्मिका भवेत् तत्र। सकलग्राहि तु मान विकलग्राही नयो ज्ञेय ॥' न्यायावतारटीका पृ० ९२ ॥

१ 'सदेव सत् स्यात् सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीति नय प्रमाणै । ॥ २८ ॥'—अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका। अस्या मल्लिषेणसूरिप्रणीता **स्याद्वादमञ्जरी** नाम व्याख्या— 'अर्थ्यत परिच्छिद्यत इत्यर्थ पदार्थ **त्रिधा** त्रिभि प्रकारै **मीयेत** परिच्छिद्येत दुर्नीति-नय प्रमाण। नीयते परिच्छिद्यते एकदेशविशिष्टोऽर्थ आभिरिति नीतयो नया। दुष्टा नीतयो दुर्नीतय दुर्नया इत्यर्थ। नया नैगमाद्या। प्रमीयते परिच्छिद्यते अर्थोऽनेकान्तविशिष्टोऽनेनेति प्रमाण स्याद्वादात्मक प्रत्यक्ष-परोक्षलक्षणम्। दुर्नीतयश्च नयाश्च प्रमाणे च दुर्नीति-नय प्रमाणानि तै। केनोल्लेखेन मीयेतेत्याह— सदेव, सत्, स्यात् सदिति। सदेवेति दुर्नय। सदिति नय। स्यात् सदिति प्रमाणम्। तथाहि—दुर्नयस्तावत् 'सदेव' इति ब्रवीति। 'अस्त्येव घट' इति अय वस्तुन्येकान्तास्तित्वमेवाभ्युपगच्छन्नितरधर्माणां तिरस्कारेण स्वाभिप्रेतमेव धर्म व्यवस्थापयति। दुर्नयत्व चास्य मिथ्यारूपत्वात्। मिथ्यारूपत्व च तत्र धर्मान्तराणां सतामपि निह्नवात्। तथा 'सत्' इत्युल्लेखवान् नय। स हि 'अस्ति घट' इति घटे स्वाभिमतमस्तित्वधर्म प्रसाधयन् शेषधर्मेषु गजनिमीलिकामालम्बते। न चास्य दुर्नयत्वम् धर्मान्तरानिरस्कारात्। न च प्रमाणत्वम् स्याच्छब्दलाञ्छितत्वात्। 'स्यात् सत्' इति स्यात् कथञ्चित् सद्वस्तु इति प्रमाणम्। प्रमाणत्व चास्य दृष्टेष्टाबाधितत्वाद् विपक्षे बाधकसद्भावाच्च। अनया दिशा असत्त्व नित्यत्वाऽनित्यत्व-वक्तव्यत्वा-ऽवक्तव्यत्व सामान्य विशेषाद्यपि बोद्धव्यम्।' पृ० १५९ १६० Bombay Sanskrit and Prakrit Series No LXXXIII ॥ २ उपरनु १ मु टिप्पण जोता ए पण स्पष्ट जणाय छे के न्यायावतारटीकाकार सिद्धर्षि गणी प्रमाणवाक्यथी एक धर्मनु मुख्यरूपे अने शेष अनन्तधर्मोनु गौणरूपे प्रतिपादन थाय छे एम स्वीकारे छे। परन्तु लघीयस्त्रयनी स्वोपज्ञवृत्तिमा (का० ४८) आवना 'तत्प्रतिक्षेपो दुर्नय। तदपेक्षो नय, स्वार्थप्राधान्येऽपि तद्गुणत्वात्। तदुभयात्मार्थज्ञान प्रमाणम्।' आ पाठ उपर न्यायकुमुदचन्द्रमा (पृ० ६५१) आ प्रमाणे व्याख्या करेली छे— कुत स नय इत्याह—**स्वार्थे**त्यादि। **स्वो** विषयीक्रियमाणो योऽर्थ तस्य **प्राधान्येऽपि तद्गुणत्वात्** अविवक्षितधर्माणामप्रतिक्षेपेण गुणीभूतत्वात्। यदि एवविधो नयो भवति प्रमाण तर्हि कीदृशमित्याह—तदित्यादि। तद् अगुणीभूतविवक्षिताविवक्षितधर्मो**भयमात्मा** यस्य **अर्थस्य** तस्य ज्ञान **प्रमाणम्**। आ जोता प्रमाणवाक्यमा सर्वधर्मोनु मुख्यतया प्रतिपादन अने नयवाक्यमा एक धर्मनु मुख्यतया तथा शेषधर्मोनु गौणतया प्रतिपादन दिगम्बर आचार्योने अभीष्ट होय एम जणाय छे।

अने धर्मान्तरनिराकरणार्थक एवकारनो प्रयोग होय ते दुर्नय छे। हेमचन्द्रसूरिमहाराजना शिष्य आचार्य रामचन्द्र अने गुणचन्द्रनो पण आ ज अभिप्राय जणाय छे।

आचार्यश्री मलयगिरिनुं कहेवुं एम छे के 'प्रमाण, नय अने दुर्नय एम त्रण विभागो वाळी प्रक्रिया

---

१ आचार्य रामचन्द्र अने गुणचन्द्रे तेमना गुरु कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरिमहाराजनी विद्यमानतामां ज द्रव्यालंकार नामना ग्रंथनी रचना करी हती, एमां १ जीवप्रकाश, २ पुद्गलप्रकाश अने ३ अकम्पप्रकाश एवा त्रण परिच्छेदो छे। तेना उपर तेमनी स्वोपज्ञवृत्ति छे अने तेमनुं पोतानुं ज टिप्पण पण छे। विक्रम संवत् १२०२ मां (ग्रन्थकारनी विद्यमानतामां ज) लखायेली अने ग्रन्थकारे पोते ज सुधारेली स्वोपज्ञवृत्तिनी छेल्ला बे प्रकाश जेटली एक प्रति जेसलमेरमां अत्यारे विद्यमान छे, तेना फोटाओ मुनिराजश्री पुण्यविजयजी महाराज पासेथी हमणा अमने मळ्या छे। द्रव्यालंकार मूळमात्रनी संपूर्ण प्रति अमदावादमां हाजापटेलनी पोळमां संवेगीना उपाश्रयना ज्ञानभंडारमां छे, एनी फोटो कोपी अत्यारे अमारी पासे छे, एमां प्रारंभमां "अनन्तवेद्यपि ज्योतिर्यस्य सद्ध्यानवेदिताम्। गमितं पञ्चभिर्द्रव्यैर्नमस्तस्मै परात्मने ॥ १ ॥ मृगोऽपि वन्द्यतां याति मृगलाञ्छनमाश्रितः। स्वगुरूक्तीतसूत्रस्य व्याख्यामिति वितन्महे ॥ २ ॥" ए प्रमाणे बे कारिकाओ छे। ए जोतां तेमना गुरुदेवे दर्शावेली पद्धतिने अनुसरीने तेमणे आ ग्रंथ रच्यो छे, एटले एमां आवता विचारो हेमचन्द्राचार्यने मान्य हता एम कही शकाय। आ ग्रंथनी त्रीजा प्रकाशनी वृत्तिमां तेमणे आ प्रमाणे जणाव्युं छे—"एवं सदसद्रूपयोरेकत्राविरोधसिद्धौ सप्तभङ्ग्यपि सिद्धा। सा चैवम्—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च। (पृ० १०५) अत्र चाद्यास्त्रयो भङ्गाः सकलादेशाः [सकलाश्च ते आदेशाश्च भणनानि टि०] वस्तुनः खण्डीकृत्यानभिधानात् [मुख्यया वृत्त्या अस्ति च नास्ति चेति न खण्डीकृतम् टि०]। शेषास्तु विकलादेशाः, वस्तुनः खण्डीकृत्याभिधानात्। अत्र हि सदसत्त्वादेर्विभागीकृत्य वस्त्वभिधीयते। अथवा प्रमाणादेशेन [स्याद्वादाभिप्रायेण टि०] सर्वेऽपि सकलादेशाः, प्रमाणस्य परिपूर्णाभिधायित्वात्। नयादेशेन तु विकलादेशाः [एतेऽपि 'स्यात्'पदरहिता सन्त इत्यर्थः टि०] नयस्य खण्डाभिधायित्वात्। इयं च सप्तभङ्गी श्रुतं [आगमलक्षणं टि०] प्रमाणम्, शब्दादर्थप्रतीतेरिति।

सच्चासच्चावचनविषयं चोभयं च क्रमेण, सत्त्वासत्त्वावचनविषयत्वेन युक्तं क्रमेण।
सच्चासच्चावचनविषयं चाक्रमात् सप्तभङ्गी, सैषा नीतिर्नियमरहिता, 'स्यात्'पवित्रा तु मानम् ॥ १ ॥ ....

सकलादेशाः पूर्वा एकध्वनिशासनात् त्रयो भङ्गाः।
अन्ये विकलादेशाः, प्रमा-नयैर्वा विभागोऽयम् ॥ ३ ॥" (पृ० १०९-११०)।

आमां चोरस कोष्ठकमांना पाठो आचार्य रामचन्द्र अने गुणचन्द्रे पोते ज टिप्पणरूपे लखेला छे। एटले **नयादेशेन जे सप्तभंगी छे एमां स्यात् पदनो प्रयोग नथी** ए वात 'विकलादेशाः' शब्दना 'स्यात्पदरहिता.' ए टिप्पणमां तेमणे स्पष्ट जणावी छे। 'स्यात्' पदवाळी सप्तभंगीमां ज्यां प्रारंभना त्रण भंगोने सकलादेश अने विकलादेश रूपे एमणे स्वीकार्या छे त्यां 'सकलादेश'नो प्रमाण अने 'विकलादेश'नो नय एवो अर्थ तेमने इष्ट नथी, पण जुदो अर्थ इष्ट छे। विचार करवाथी आ वात स्पष्ट समजाशे ॥

२ "अनेकधर्मात्मकं वस्तु अवधारणपूर्वकमेकेन नित्यत्वाद्यन्यतमेन धर्मेण प्रतिपाद्यस्य बुद्धिं नीयते प्राप्यते येनाभिप्रायविशेषेण स ज्ञातुरभिप्रायविशेषो नयः। ..इह हि यो नयो नयान्तरसापेक्षतया स्यात्पदलाञ्छितं वस्तु प्रतिपद्यते स परमार्थतः परिपूर्णं वस्तु गृह्णाति इति प्रमाणे एवान्तर्भवति। यस्तु नयवादान्तरनिरपेक्षतया स्वाभिप्रेतेनैव धर्मेण अवधारणपूर्वकं वस्तु परिच्छेत्तुमभिप्रैति स नयः, वस्त्वेकदेशपरिग्राहकत्वात्। अत एवोक्तमन्यत्र–'सव्वे नया मिच्छावाइणो'। यत एव च नयवादो मिथ्यावादस्तत एव च जिनप्रवचनतत्त्ववेदिनो मिथ्यावादित्वपरिजिहीर्षया सर्वमपि स्यात्कारपुरस्सरं भाषन्ते, न तु जातुचिदपि स्यात्कारविरहितम्। यद्यपि च लोकव्यवहारपथमवतीर्णा न सर्वत्र सर्वदा स्यात्पदं प्रयुञ्जते तथापि तत्राप्रयुक्तोऽपि सामर्थ्यात् स्याच्छब्दो द्रष्टव्यः प्रयोजकस्य कुशलत्वात्। (पृ ३६९B) दिगम्बराणां त्वियं प्रमाणनयपरिभाषा–सम्पूर्णवस्तुकथनं प्रमाणवाक्यं यथा स्याज्जीवः स्याद्धर्मास्तिकाय इत्यादि। वस्त्वेकदेशकथनं नयवादः, तत्र यो नाम नयो नयान्तरसापेक्षः स नय इति वा सुनय इति वोच्यते। यस्तु नयान्तरनिरपेक्षः स दुर्नयो नयाभास इति। तथा चाहाकलङ्कः–'भेदाभेदात्मके ज्ञेये

दिगम्बरोनी ज छे, 'श्वेताम्बर आचार्योने तो स्याद्वाद अने नय एवा बे विभागो ज मान्य छे। स्याद्वाद प्रमाण छे अने सर्वे नयो एकान्तवादी तमज मिथ्या छे।'

सप्तभङ्गीमां सकलादेश–विकलादेशनी बाबतमां अकलङ्क पछीना श्वेताम्बर ग्रंथकारोमां वादि देवसूरिनीए प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारमां "इय सप्तभङ्गी प्रतिभङ्ग सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च [४। ४३]" एम कह्युं छे, अने बीजा पण केटलाक ग्रंथकारोए एम कह्युं छे। सप्तभङ्गीना सकलादेश–विकलादेशनी बाबतमां अकलङ्कनी प्रक्रिया पण एवी ज छ। छतां अनेक श्वेताम्बर ग्रंथकारोनुं मानवुं एवुं छे के सप्तभङ्गी पैकीना प्रारंभना १ स्यादस्ति २ स्यान्नास्ति ३ स्यादवक्तव्यम्–आ त्रण भङ्गो सकलादेश छे अने ते पछीना ४ स्यादस्ति नास्ति, ५ स्यादस्ति अवक्तव्यम्, ६ स्यान्नास्ति अवक्तव्यम्, ७ स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यम्–आ चार भङ्गो विकलादेश छे। आ विषे उ० यशोविजयजी महाराजे पण केटलाक विचारो रजु कर्या छे।

नयचक्रकार मल्लवादी अने टीकाकार सिंहसूरिक्षमाश्रमण बन्ने श्वेताम्बर परम्पराना प्राचीन आचार्यो छे। एटले ए बन्नेनो आ बधी बाबतो विषे केवो अभिप्राय सूचित थाय छे ए जाणवानी आपणने जिज्ञासा

भेदाभेदाभिसन्धय। यतोऽपेक्षानपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते नय-दुर्नयाः ॥ [लघीयस्त्रय का० ३०] अस्याः कारिकाया लेशतो व्याख्या-भेदो विशेषः अभेदः सामान्यम्, तदात्मके सामान्यविशेषात्मके इत्यर्थः ज्ञेये प्रमाणपरिच्छेद्ये वस्तुनि ये भेदाभेदाभिसन्धयः सामान्यविशेषविषयाः पुरुषाभिप्रायाः अपेक्षानपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते ते यथासंख्यं नय-दुर्नया ज्ञातव्याः। किमुक्तं भवति? विशेषसापेक्षः सामान्यग्राहको वाभिप्रायः सामान्यसापेक्षो विशेषग्राहको वा नयः। इतरेतराकाङ्क्षारहितस्तु दुर्नयः। नयचिन्तायामपि च ते दिगम्बरा स्यात्पदप्रयोगमिच्छन्ति, तथा चाकलङ्क एव प्राह– नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात् इति। अत्र टीकाकारेण व्याख्या कृता–'नयोऽपि नयप्रतिपादकमपि वाक्यं न केवलं प्रमाणवाक्यमिति अपिशब्दार्थः तथैव स्यात्पदप्रयोगप्रकारेणैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्, यथा स्यादस्त्येव जीव इति। स्यात्पदप्रयोगाभावे तु मिथ्यैकान्तगोचरतया दुर्नय एव स्यात्' [न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ६९१] इति। तदेतदयुक्तम्, प्रमाण-नयविभागाभावप्रसक्तेः। तथाहि– स्याज्जीव एव इति किल प्रमाणवाक्यम्, स्यादस्त्येव जीव' इति नयवाक्यम्। एतच्च द्वयमपि लघीयस्त्रय्यलङ्कारे साक्षादकलङ्केनोदाहृतम्। अत्र चाभयत्राप्यविशेषः। तथाहि– स्याज्जीव एव' इत्यत्र जीवशब्देन प्राणधारणनिबन्धना जीवशब्दवाच्यताप्रतिपत्तिः 'अस्ति' इत्यनेन उद्भूतविवक्षितास्तित्वगतिः एवकारप्रयोगात्तु यदाशङ्कितं सकलेऽपि जगति जीवस्य नास्तित्वं तद्व्यवच्छेदः स्यात्प्रयोगात् साधारणासाधारणप्रतिपत्तिरित्युभयत्राप्यविशेष एव' (पृ० ३७१) आवश्यकसूत्रमलयगिरिरचितवृत्ति ॥

१ तुलना – तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा। अण्णोण्णणिस्सिया उण हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥ —सन्मति १।२१। एगेण वत्थुणोऽणेगधम्मुणो जमवधारणेणेव। नयणं धम्मेण तओ होइ नओ सत्तहा सो य ॥ ६७६ ॥ —विशेषावश्यकभाष्य। 'नयन्तीति नयाः अनन्तधर्मात्मकं वस्तु एकधर्मेण नित्यमेवेदमनित्यमेवेति वा निरूपयन्ति —तत्त्वार्थसूत्रहारिभद्रीवृत्ति १।६ तत्त्वार्थसूत्रसिद्धसेनीयवृत्ति १।६।

२ यशोविजयजी महाराजे मलयगिरि महाराजना कथन विषे केटलाक विचारो गुरुतत्त्वविनिश्चयटीकामां (पृ० १७) रजु कर्या छे। स्यात् पद अनेकान्तद्योतक छे नियमात् अनन्तधर्मपरामर्शक नथी एम कहीने त्यां तेओए समाधान कर्युं छे। परन्तु न्यायावतारनी टीकामां निर्दिश्यमानधर्मव्यतिरिक्ताशेषधर्मान्तरसंसूचकेन स्याता युक्तो वादोऽभिप्रेतधर्मवचनस्याद्वाद' (पृ ९३) ए प्रमाणे सिद्धर्षिगणीए कह्युं छे॥ ३ जुओ तत्त्वार्थसूत्रसिद्धसेनीयवृत्ति पृ० ४१५ सन्मतिटीका पृ ४४६ इत्यादि ॥ ४ उ० यशोविजयजी महाराजे जैनतर्कभाषा (पृ० २०) गुरुतत्त्वविनिश्चयटीका (१) शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका (पृ० २५४) मां विवक्षा प्रमाणे सातेय भंगो सकलादेश तथा विकलादेश पण थाय छे एम जणाव्युं छे छतां अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणमां (पृ० २४८) तेमणे प्रारंभना त्रण भंगो सकलादेश अने पछीना चार भंगो विकलादेश छे' ए मन्तव्यने ज व्याजबी ठराव्युं छे ॥

थाय ए स्वाभाविक छे । तेथी **नय**चक्रमा तेमज **न**यचक्रटीकामा भिन्न भिन्न प्रसंगे आवता आ विषय संबंधी उल्लेखो ए दृष्टिथी जिज्ञासुओए अवश्य वाचवा—विचारवा जेवा छे ।

स्याद्वादना पारमार्थिक स्वरूपना जिज्ञासुओए आचार्यश्री **मल्लवादी**ए सातमा अरमा स्याद्वादनु जे पारमार्थिक स्वरूप जणाव्युं छे ते खास जोवा जेवु छे ।

मालवनगरमा विद्यमान ७०० वर्षना घडानो उल्लेख पुरातत्त्वविदोने खास रसदायक नीवडशे ।

आ प्रमाणे विविध विषयना अनेक शास्त्रपाठोना विपुल उल्लेखो आ ग्रंथमा छे, ए जोतां तेमज अनेक

---

१ आमा **नय** संबंधी केटलाक उल्लेखो नीचे मुजब छे—"तथा भवन्ति नान्यथेति नित्य एवाकृतकत्वादाकाशवत्, अनित्य एव कृतकत्वाद् घटवद्वेति । यथोक्तम्—'द्रव्यस्यानेकात्मनोऽन्यतमैकात्मावधारणमेकदेशनयनान्नय' इति ।'— **न**यचक्रवृत्ति पृ० १० पं० २३।२४ । "जैनमतवचनावनवृत्ता तु वृत्तिर्विवक्षितद्वादशविकल्पविशेषणा, अन्यथा अवृत्तित्वमेव वक्ष्यमाणवत् ।"—**नयचक्र** पृ० १० पं० ५ । (वृत्ति-) तत्समाहारैकल्पनया तत्सान्वाख्यान-मित्यर्थ । अन्यथैवैकान्तावधारणे अवृत्तित्वमेव वक्ष्यमाणवदिति. ।"-**न**यचक्रवृत्ति, पृ० ११ पं० ७-१० । "स्याद्वादैक-देशाश्च नया एकान्तवादा । यथोक्तम्-'भद्द मिच्छदंसण' (सम्मति ३।६९) गाहा । नैता. स्वमनीषिका, लक्षणमपि तथैव नयानाम्, उक्त हि—'द्रव्यस्यानेकात्मकत्वेऽन्यतमात्मैकान्तपरिग्रहो नय स्वप्राधान्येनार्थनयनाद् नय' [ ] । स च मिथ्यादृष्टिरनेकाकारार्थस्य विपरीतप्रतिपत्तित्वात् । अनेकात्मकवस्तुप्रतिपत्तित्वात् **स्याद्वादस्य याथार्थ्यम्** ।"— **न**यचक्रवृत्ति पृ० ८४ इत्यादि । **सकलादेश** संबंधी केटलाक उल्लेखो नीचे मुजब छे— "अनेकान्तवादो हि वादनायक:, सर्ववादविरोधाविरोधयोर्निग्रहानुग्रहसमर्थत्वात्, अर(रि)विजिगीष्वादीनामिवोदासीननृप । न चेयम्-स्यादन्यत् स्यादन्यत् कारणात् कार्यमित्यादि । कुत ? तदतत्समर्थविकल्पत्वात् । तस्मिंस्तस्मिंश्च विकल्पे समर्थत्वात् 'कारणं कार्यं सदसन्यत्, असदन्यत्' इति वा पक्षे समर्थो विकल्पोऽस्येति अनन्तरोक्त**विकलादेश**हेतुद्वयसमाहारैकल्पोऽयं हेतु पक्षद्वयसाधन-समर्थ ।" इति षष्ठेऽरे **न**यचक्रवृत्तौ पृ० ४३६ । "द्रव्यार्थस्य विकल्पा षट् संक्षेपेणानोक्ता पर्यायार्थस्य षट् । तेषामुपग्राहकं जिनवचन तद्यथा—'इमा ण भंते ! रयणप्पभा पुढवी किं सासता असासता ?' इति पृष्टे व्याकरण **'सिता सासता सिता असासता' इति समग्रादेशात्** । पुन 'से केणट्ठेण भंते । एत एव वुच्चति सिता सासता सिता असासता' इति व्याख्यापनार्थ प्रश्न । तस्य **विकलादेशाद् व्याकरणं** रत्नप्रभाया स्वतत्त्वमुभयात्मक विभागेन विदधाति— **दव्वट्ठताए सासता वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं संठाणपज्जवेहिं असासतत्ति** ।" इति **न**यचक्रतुम्बे नयचक्रवृत्तौ पृ० ५६३-२ । 'विध्यादिसकलभङ्गात्मकसम्यग्दर्शनाधिकारे वर्तमाने विकलनयस्वरूपज्ञानमूलत्वात् सम्यग्दर्शनस्य"—इति दशमेऽरे **न**यचक्रवृत्तौ पृ० ४९४-२ । "विध्यादिसर्वभङ्गात्मकैकवृत्तिसम्यग्दर्शनाधिकारे प्रत्येकवृत्ति-मिथ्यादर्शनत्वापादनार्थं प्रवृत्तत्वादाह"—इति द्वादशारान्तरे **न**यचक्रवृत्तौ पृ० ५२८-२ ॥

२ "को हि नाम नोऽनेकान्तवाद्येव ब्रूयात्—प्रागुत्पत्ते मृदात्मना सत् कार्यं घटात्मना चासदिति । एवं हि मृदोऽकार्यत्वे . को भेद ? अभूत्वोत्पत्तिवाचिप्राक्छब्दोच्चारणादेव साक्षादसत्त्वैकान्ताभ्युपगम । अन्येन मृदात्मना भवति स्वेन च घटात्मना न भवतीत्येव ब्रुवन् प्रत्यक्षादिविरुद्धं मत्तोन्मत्तकादिवत् स्यात् । देशकालभेदलक्षणोभयपर्यायमात्रत्वादेवमयमसद्वाद एव स्यात् । इत्थ पुन कोऽनेकान्तवादी ब्रूयात् आपेक्षिकमृदात्मसत्त्वम् असद्वादिवत् । आपेक्षिकमृदात्मसद्विशेषणात्तु असदभि-धानमेवेदम्, अभिधेयस्वतत्त्वनिरसननियतत्वात्, अग्न्यनुष्णत्वाभिधानवत् । अव्युदासे तु घटात्मनापि सत्त्वेव तद्भावत्वात् । सदसदात्मकवस्तुतत्त्वप्रत्यक्षीकरणार्थ **जैना** एकमेवात्मान परमार्थं द्रव्यार्थपर्यायार्थोभयलक्षणमुपवर्णयन्ति, खपुष्पवदन्यथाऽसम्भवात् । द्रव्यशब्दं च मृदादिरूपावतीतानागतवर्तमानभेदाभेदार्थं पर्यायशब्दं सर्वाभेदभेदार्थं, मृदात्मान द्रव्यार्थपर्यायार्थ घटात्मान च द्रव्यार्थपर्यायार्थं च ।"—**नयचक्र** पृ० ५००-५०२ । एतदर्थजिज्ञासुभि**र्न**यचक्रवृत्तिर्द्रष्टव्या ॥ ३ "कालोऽपि केषाञ्चित् कारकमिति तद्दर्शयन्नाह—**मालवनगरे सप्त वर्षशतानी**ति । तत्र आम एव घटो वर्षे प्रदर्श्यते सगोप्यते च 'सगोपितसाराणि द्रव्याणि' इति ख्यापनार्थम् [पृ० ४०१-४०२] । .यथा **मालवनगरे** घटो दृढीभूत आर्द्रादि-सामग्रीशुष्क-नव-युव-मध्यम पुराणाद्यवस्थासु अन्यथा भवनेऽपि घटत्वमनतिक्रामन् सप्तसु वर्षशतेषु नीतेष्वपि स एव तथा भवति एवं तदपि कार्यं द्रव्यादीति [पृ० ४३८]"—**नयचक्रवृत्ति** ॥

दार्शनिकवादोनी विस्तृत चर्चाओथी आ ग्रंथ परिपूर्ण छे, ए जोता नयचक्रकार आचार्यश्री मल्लवादी तथा टीकाकारश्री सिंहसूरिक्षमाश्रमण अनेक शास्त्रोनु कवु अगाध पाडित्य धरावता हता, ए स्पष्ट जोई शकाय छे। दार्शनिक प्रतिवादीओनी सामे एकक विषयमा अनेक विकल्पो रजु करीने तेमनु खडन करवामा मल्लवादी अत्यत कुशळ हता ए आखा ग्रथमा सर्वत्र जोई शकाय छे। दार्शनिक चर्चाओमा हजारो भांगाओनी जाळ उभी करवी ए मल्लवादीनी खास विशिष्टता छे, जुओ पृ० ३११ प० ६, २५। नयचक्रमा अते पृ० ५७९–१ मा अनेकान्तवादनी सिद्धि पदोना सयोगोथी थता १६७६९०२५ भागाथी करी छे। सम्मतिटीकामा पण मल्लवादीजीए पोतानी विशिष्ट शैली प्रमाण करोडो भागाओनी रचना करी हशे एम सम्मतिटीकामा अभयदेवसूरिजी महाराज तथा अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणमा उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजे करेला उल्लेख उपरथी जणाय छे, एटले प्रतिवादीओनी सामे विकल्पजाळ अने भगजाळनी रचना ऊभी करीने सामा पक्षनो पराजय करवो ए मल्लवादीनी खास विशिष्टता छे।

आ प्रमाणे नयचक्रमा उल्लिखित ग्रथ, ग्रथकार, वाद वगेरेनो स्वल्प परिचय आपीने हवे आ प्रथम भागमा प्रकाशित करेला चार अरनो विषय अहिं सक्षेपमा जणावीए छीए। विस्तारार्थीओए विषयानुक्रम ज जोई लेवो।

चार अरोनो विषय

प्रथना प्रारभमा मगलाचरणमा अनेकान्तवादात्मक जैनशासननी स्तुति करीने पछी जैनेतरदर्शनो विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्त होवाथी असत्य छे, अर्थात् विधिनियमभङ्गवृत्तियुक्त होवाथी जैनशासन ज सत्य छे एम जणावता–

विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत् ।
जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम् ॥

आ प्राचीन गाथासूत्रनो उपन्यास करीने तेना विवरणमा विधि आदि बार नयोनो ग्रथकारे नामोल्लेख कर्यो छे। पछी 'ययोर्न्य निर्देश' ए न्यायथी विधिनयनु निरूपण ग्रथकार शरू कर्यु छे।

प्रथम विधि अर

पहेलां परपक्षनु खडन, पछी स्वमतनु स्थापन, पछी ते ते नयसमत शब्दार्थ तथा वाक्यार्थनु निरूपण, पछी ते ते नयनो नैगमादिनयमा यथायोग्य अतर्भाव अने जैनदर्शन सर्वनयसमूहात्मक होवाथी जैनागमोमा त ते नयवादनु क्या वीज रहेलु छ ए दरेक नयने अत बताव्यु छे। आ प्रतिपादनशैली आखा य ग्रथमा व्यापक छे। ए शैलीप्रमाणे विधिवादी पहेला परमतना खडननो प्रारभ करे छे। 'यथालोकग्राह्य वस्तु' लोकोमा जे रीते अनुभव थाय छ ते प्रमाणे ज वस्तुनु स्वरूप छे, एवी विधिनयनी मान्यता छे। एकान

१ बौद्ध ग्रथोमा भग माटे विभग शब्दनो प्रयोग जोवामा आवे छे पदोना सयोगोथी थता आवा अनेक विभगोनु वर्णन अभिधम्मपिटकना विभगप्रकरण वगेरे ग्रथोमा छे जुओ The Methodology of Vibhangaprakarana by Dr D Dhammaratana The Nava-Nalanda Mahavihara Research Publication Volume II pp 230 320 ॥ २ जुओ प्राक्कथन पृ० १७ टि० ४ ॥ ३ विधिनयना मान्यता तथा दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, कणाद आदिनुं तेणे करेलुं खडन क्या क्या स्थाने छे ते बारे जाणवा माटे जुओ प्राक्कथन पृ० २६ ॥

सामान्य, विशेष, सामान्यविशेषनानात्व, सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद वगेरेनु भिन्न भिन्न शास्त्रोमां शास्त्रकारोए पोतानी कल्पनाथी जे प्रतिपादन करेलु छे ते तद्दन असगत अने निरर्थक छे । वळी बौद्ध, साख्य आदि शास्त्रकारोए पोतानु मन्तव्य सिद्ध करवा प्रत्यक्ष प्रमाणना पोतानी कल्पनाथी जे अलौकिक लक्षणो कल्प्या छे ते पण तद्दन खोटा छे । आ प्रसगमा बौद्धाचार्य दिङ्नागे कल्पेला प्रत्यक्षप्रमाणना लक्षणनु विस्तारथी खडन छे । ते पछी साख्याचार्य वार्षगण्यप्रणीत तथा कणादप्रणीत प्रत्यक्षलक्षणनु विधिनये खडन कर्युं छे । लोकयात्रानो केम निर्वाह करवो ए ज आ नयनी दृष्टिए महत्त्वनी वात छे । जगतना सूक्ष्मस्वरूपनु ज्ञान प्राप्त करवु अशक्य छे अने प्राप्त थाय तो पण एनु कई फळ नथी, तेथी आ नय जगतना स्वरूप विषे अज्ञानवादने ज पसद करे छे अने 'अमुक फळ इच्छनारे अमुक क्रिया करवी जोईए' एवा क्रियाविधायि शास्त्रोने ज आ नय सार्थक माने छे । मीमासकोनी पण आवी विचार सरणी छे । वेदमा आवता वाक्योमा 'अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम.' वगेरे क्रियाविधायि विधिवाक्योने ज मीमासको प्रमाणभूत गणे छे, तेथी विधिवादी तरीके मीमासको प्रसिद्ध छे । नयचक्र तथा वृत्तिमा मीमासकमतना समर्थनमा उद्धृत करेला 'को ह्येतद्वेद, किं वाऽनेन ज्ञातेन' इत्यादि पाठ उपरथी जणाय छे के मीमासको जगतना स्वरूप विषे अज्ञानवादने पसद करता हशे । तेथी आ रीते आटले अशे मीमासको विधिनयानुसारी होवाथी आ अरमा मीमासकमतनु प्रतिपादन छे, तेथी पृ० ११४ मा शब्दार्थ अने वाक्यार्थ पण मीमासकमत प्रमाणे दर्शाव्या छे । छेवटे आ नयनो व्यवहारनयमा अतर्भाव थाय छे । एम बतावीने पृ० ११५ मा आ विधिनयनु बीज भगवतीसूत्रना 'आता भते ! णाणे अण्णाणे ? गोतमा णाणे णियमा आता, आता पुण सिया णाणे सिया अण्णाणे' [१२।१०।४६८] आ वाक्यमा रहेलु छे, एम जणाव्यु छे ।

बीजो विधिविधि अर

आ पछी बीजो विधिविधिनय शरू थाय छे । दरेक उत्तरोत्तरनय प्रारंभमा पूर्वपूर्वनयना मतनु खडन करे छे अने पछी स्वपक्षनी स्थापना करे छे, ए शैली होवाथी प्रारभमा विधिवादी मीमासकोनु विस्तारथी खडन छे, ए प्रसगमा 'अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकामः' आ मीमासादर्शनमा प्रसिद्ध वाक्यना अनेक अर्थविकल्पो करीने तेनु विस्तारथी खण्डन करेलु छे[1] । पछी विधिविधिनयना मतनी स्थापना छे । एक ज कारणमाथी नानारूपे जगतनी सृष्टि थाय छे एवु आ नयनु मतव्य छे, एटले आ नयना मतने अनुसरता पुरुषवाद, नियतिवाद, कालवाद, स्वभाववाद, भाववाद आदि अद्वैतवादोनो आ नयमा समावेश छे । तेमा पहेला अज्ञानवाद(विधिनय)नु खण्डन करीने ज्ञानमय पुरुषाद्वैतवादनी स्थापना छे । वेद, उपनिषद वगेरेमा 'पुरुष एवेद सर्वम्' एवो जे मत छे तेनु अहीं प्रतिपादन छे, पछी पुरुषवादनु खण्डन करीने नियतिवादनी स्थापना छे के 'नियतिथी ज जगत चाले छे' । पछी नियतिवादनु खडन करीने कालवादनी स्थापना छे के 'काळ ज जगतमा बधु करे छे' । पछी कालवादनु खडन करीने स्वभाववादनी स्थापना छे के 'स्वभावथी ज जगतनी रचना थएली छे' । ते पछी स्वभाववादनु खडन करीने भाववादनी स्थापना छे के 'जगतना

---

१ जुओ पृ० ३५ प० ४, पृ० ३६ प० ६, ७, पृ० ११२ प० ४, पृ० ११८ प० १२, पृ० १३४, १७४ ॥
२ जुओ प्राक्कथन पृ० २७ टि० १-३ ॥

बधा ज पर्यायोमा 'भवन भाव' आ अद्वैत सर्वत्र अनुस्यूत छे'। पुरुषादि अद्वैतवादोनु खण्ड जणावीने छेवटे विधिविधिनयसमत शब्दार्थ तथा वाक्यार्थ बतावीने अने विधिविधिनयनो संग्रहनयमां अंतर्भाव जणावीने भगवतीसूत्रमा आ नयनु बीज क्यां रहेलु छे ते जणाव्यु छे।

त्रीजो विध्युभय अर

त्यारपछी विध्युभय नय शरू थाय छे। आ नय द्वैतवादने माने छे, एटले प्रकृति पुरुषरूपे द्वैतने माननारा साख्योनो अने जगत तथा जगतना अधिष्ठाता (स्रष्टा) ईश्वररूपे द्वैतने माननारा ईश्वरवादीओनो आमा समावेश थाय छे। प्रारंभमा पुरुषादि अद्वैतवादनु विस्तारथी खडन करीने पछी सांख्यसमत द्वैतवादनी स्थापना छे'। पछी 'पुरुषादि कारणवादमा जे दोषो छे ते ज दोषो प्रकृतिकारणवादमां पण आवीने ऊभा रहे छे' आ जातनु दोषारोपण सर्वसर्वात्मकवादी करे छे। आ प्रसगमा साख्योना वार्षगणत्वनो मत विस्तारथी जणावीने तेनु खडन करेलु छे। आ रीते साख्यसमत द्वैतवाद घटतो न होवाथी ईश्वरवादी शास्त्रकारो 'भाव्य जगत् अने तेनो अधिष्ठाता भविता ईश्वर' आ जातना द्वैतवादनी स्थापना करे छे। अतमा आ नयसमत शब्दार्थ तथा वाक्यार्थ वर्णवीने आ नयनो संग्रहमा अतर्भाव बतावीने द्वैतवादनु बीज जैनागम ग्रंथोमां क्यां रहेलु छे ते जणाव्यु छे।

चोथो विधिनियम अर

हवे चोथो अर शरू थाय छे। एना प्रारंभमा ईश्वरवादनु विस्तारथी खडन छे। जगतमा सुखदु:ख दरेक प्राणीओना पोतपोताना कर्मने आधीन छे, सर्व प्राणी पोताना ईश्वर छे, जगतनो कोई एक नियत आदिकर्ता ईश्वर छे ज नही इत्यादि दलीलोथी सृष्टिकर्ता ईश्वरनु खडन करीने पछी कर्म एकान्तवाद तथा पुरुषकार एकान्तवादनु पण खडन करीने विधिनियमनये स्वमतनु प्रतिपादन कर्यु छे। आमा कर्मरूपे बन्ध छे अने कर्म आत्मरूप बने छ, आ रीते जगतना चेतनाचेतन सर्व पदार्थो अन्योन्यात्मकरूपे परिणमे छे। बधामां एक ज अविभक्त भवन रहेलु छे एवो आ नयनो मत छ। आ नयनो अतर्भाव सग्रहनयमा थाय छे। आ नय द्रव्यने ज माने छ। बधा ज पदार्थो अन्योन्यात्मक होवाथी 'एक सर्वं सर्वं चैकम्' एवो आ नयनो मत छे। नित्य सर्वात्मक द्रव्य ए ज आ नयमां शब्दार्थ छ, कारण के 'ॐ ब्रह्म' ज आ नयमा परमार्थ छ। त्यारपछी वाक्यार्थ बतावीने 'जे एगणाम से बहुणाम' आचारागसूत्रमां आ नयवादनु बीज छे एम जणावीने आ नयना वर्णननी समाप्ति करी छे। अहीं पहेले मार्ग एटले नयचक्रनी प्रथम नेमि समाप्त थाय छे अने समग्र नयचक्रनो लगभग अर्धो जेटलो भाग पण चार अरोमां आवी जाय छे तेथी चार अरने अंते 'अर्धमकमेकपुक्तक समाप्तम्' एवो उल्लेख नयचक्रवृत्तिनी बधी हस्तलिखित प्रतिओमा छे।

नयचक्र मूळ

विक्रमनी ११ मी शताब्दीना प्रथम पूर्णतल्लगच्छीय शान्तिसूरिमहाराजे न्यायावतारवार्तिक

१ सर्वेऽपि भवन अने आत्मभवन एवा भवनना बे प्रकार छे। प्रकृति अने पुरुष रूपे द्वैत होय तो आ बे प्रकारनु भवन घटी शके छे। आ रीते सांख्यमत मानवो ए न्यायो मेळ छे॥ २ जुओ प्रास्ताविक पृ० २० टि० ८-७

वृत्तिमां करेला उल्लेख प्रमाणे तेमना समयमां नयचक्रनुं अस्तित्व हतुं । विक्रमनी ११ मी शताब्दीमां थएला वादिवेताल श्री शांतिसूरिमहाराजे उत्तराध्ययनसूत्रनी बृहद्वृत्तिमां (पृ० ६८ मां) "इदानीमपि नयचक्रमास्ते' एम जणाव्युं छे । मलधारि हेमचन्द्रसूरिमहाराजे पण अनुयोगद्वारसूत्रनी वृत्तिमां (पृ० २६७ मां) "इदानी-मपि द्वादशारं नयचक्रमस्ति" एम जणाव्युं छे, एटले तेमना समयमां नयचक्रनुं अस्तित्व हतुं ए सर्वथा निश्चित छे । कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरिमहाराजना गुरुबंधु श्री प्रद्युम्नसूरिना शिष्य श्री चंद्रसेनसूरिए उत्पादादिसिद्धिनी वि० स० १२०७ मां रचेली स्वोपज्ञवृत्तिमां "उक्तं च मल्लवादिना—

'विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत् ।
जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम् ॥'

एतत्कारिकाविशेषभावार्थः स्वस्थानादवसेयः" आ प्रमाणे 'स्वस्थान' एटले नयचक्र जोवानी जे भलामण करी छे ते जोतां वि० स० १२०७ सुधी पण नयचक्र मूळनुं अस्तित्व हतुं ए निश्चित छे, परंतु त्यारपछी थोडा वखते गमे त्यारे नयचक्र अदृश्य थई गयुं होवुं जोईए, केमके वि० स १३३४ मां प्रभावक-चरित्रकार प्रभाचन्द्राचार्यना समयमां नयचक्र मळतुं नहोतुं. ए वात अमे प्रथम जणावी गया छीए, त्यारपछीना कोई कोई ग्रंथमां नयचक्रवालना अस्तित्वनो निर्देश मळे छे, परंतु 'नयचक्रवाल' ए नाम नयचक्रवृत्ति माटे वापरवामां आवेलुं होय एवो संभव छे। विशेष जिज्ञासुओए आ विषे अमे टिपृ० २ टि० ६ मां चर्चा करी छे त्यां जोई लेवुं ।

नयचक्रमूळनी संकलना माटेना उपायो

आ रीते नयचक्रमूळनी अप्राप्तिनो इतिहास लगभग ७०० वर्ष जेटलो जुनो छे, तेमज अमे पण प्राचीन भिन्न भिन्न भंडारमां घणी तपास करवा छतां नयचक्र मूळ न मळ्युं, एटले नयचक्रनुं मूळ केवी रीते तैयार करवुं ए अमारा सामे घणो ज विकट प्रश्न हतो, केमके मूळ विना वृत्तिनो अर्थ समजवानुं कार्य अत्यंत दुष्कर छे । आथी नयचक्रना पाठोना अवतरणो कोई बीजा ग्रंथोमांथी मळी आवे तो एटलुं मूळ तो अमने अनायासे प्राप्त थई जाय, ए आशयथी अमे प्राचीन—अर्वाचीन सख्याबंध ग्रंथोनुं अवलोकन कर्युं, परंतु उत्तराध्ययनबृहद्वृत्ति तथा प्रवचनसारोद्धारनी टीकामांथी

"लौकिकैर्व्यवहारोऽपि न यस्मिन्नवतिष्ठते ।
तत्र साधुत्वविज्ञानं व्यामोहोपनिबन्धनम् ॥"

नयचक्र पृ० ८ मांनी आ एक कारिका तथा बीजा ग्रंथोमांथी

"विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत् ।
जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम् ॥

—आ एक कारिका, एम बे कारिका जेटलुं मूळ अमने मळी आव्युं । आ सिवाय नयचक्रना बीजा कोई ज भागनुं उद्धरण कोई पण ग्रंथमां अमारा जोवामां आव्युं नहीं । एटले नयचक्रना शेष अंशनी संक-लना अमे टीकामां रहेलां मूळना प्रतीको वगेरेने आधारे अमारी कल्पनाथी ज करेली छे, कारण के टीकाकार मूळना प्रत्येक पदनुं विवरण करता नथी । मूळना ते ते संदर्भोना आदि तथा अंतना केटलाक शब्दोने प्रतीकरूपे दर्शावीने बाकीना वचला भागने 'इत्यादि यावत्' एवा शब्दोथी ज टीकाकार घणी वार सूचित

१ जुओ प्राक्कथन पृ० २८ टि० १, २ ॥ २ नयचक्र पृ० ८ ॥ ३ नयचक्र पृ० ९ ॥

करे छे, वचला अशना जरूरी शब्दोनी व्याख्या करे छे अने शेष अशनु तात्पर्य जणावी दे छे, एटले टीकामा मूळना बधा पदो प्रतीकरूपे लीधेला न होवाथी टीका उपरथी मूळना बधा पदोनी अविच्छिन्न सकलना करवी अशक्य छे। टीकानी शैली एवा प्रकारनी छे के एमा मूळनां प्रतीको क्यां क्यां छे एनो निर्णय करवानु कार्य पण अतिशय विकट छे। केटलेक स्थळे 'सुगमम्, सुबोधम्, गतार्थम्' वगेरे कहीने टीकाकार कशी व्याख्या ज आपता नथी, आम छता मूळनी सकलना करवा माटे अमे अपार परिश्रम कर्यो छे। केटलाक सदर्भोमा मूळ शोधी काढवा माटे पचास पचास अने सो सो वार पण चिंतन कर्युं छे। आ सपादनमा मूळनी सकलना करवामा अमने सौथी वधारे परिश्रम लाग्यो छे। वारवार चिंतनने अते जे अनेक विकल्पो स्फुर्या तेमाथी पसद करीने यथामति कल्पना प्रमाणे मूळनी सकलना[1] करी छे। प्रतीको उपरात बीजा पण जे जे साधनोथी नयचक्र मूळनो उद्धार करवानु शक्य होय ते सर्व साधनोनो अहीं यथायोग उपयोग कर्यो छे, जेमके नयचक्र मूळमा अनेक स्थळ परमतनो उल्लेख करीने मल्लवादीए तेनु खडन कर्युं छे। ज्या शक्य होय त्या ते ते स्थळे ते ते दर्शनना अनेक दुर्लभ ग्रथो शोधी काढीने तेना आधारे तेटलो नयचक्र मूळनो भाग आपवानो अमे प्रयत्न कर्यो छे। तेनां केटलाक उदाहरणो अहीं आपीए छीए।

"यथाप्यभिहितमभिधर्मकोशे यदेतदनेकप्रकारभिन्नमित्यादि यावदनेकवर्णसस्थान पश्यत" आ प्रमाणे नयचक्रवृत्ति पृ० ७८ मा नयचक्रना प्रतीकोनो उल्लेख छे। अहीं मल्लवादीए अभिधर्मकोशभाष्यना एक पाठ उपर विस्तारथी चर्चा उपाडेली छे। टीकाने आधारे ए पाठनी यथावत सकलना करवानु कार्य विकट छे, अने ज्यासुधी अभिधर्मकोशना ए पाठमा शु लखेलु छे ए जाणवामां न आवे त्या सुधी एना उपरनी लाबी चर्चानो बराबर आशय समजवानु काम पण मुश्केल छे। बौद्धाचार्य वसुबधुकृत अभिधर्मकोशकारिका तथा तेना उपरनु विस्तृत स्वोपज्ञभाष्य ए बन्ने अभिधर्मकोशना नामथी प्रसिद्ध छे, परतु ज्यारे आ ग्रथनु सपादन कार्य चालतु हतु त्यारे अभिधर्मकोशभाष्य सस्कृतमां नष्ट थई गएलु मनातु हतु, मात्र एना प्राचीन टिबेटन तथा चीनी भाषातरो उपरथी बेल्जियमना विद्वान् ला वालि पूसिने फ्रेंच भाषामा करेलु भाषातर विद्यमान हतु। ए मेळववा माटे अमे घणा प्रयत्नो कर्या त्यारे अनेक महिनाओ पछी अमने आ देशमा ए फ्रेंच भाषातरनु पुस्तक मळी शक्यु हतु। त्यारपछी नयचक्रमा आवतो ए भाग एमा शोधी काढीने फ्रेंच उपरथी अग्रेजी अने अग्रेजी उपरथी सस्कृत करीने नयचक्रमा उपयोगी मूळ अमे तैयार करी राख्यु हतु, तेटलामा अमे साभळ्यु के हस्तलिखित सस्कृत अभिधर्मकोशभाष्य पण तानतरमा टिबेटमा जड्यु छे अने तेना भारतमां लाववामा आवेला फोटा शातिनिकेतनमा प्राध्यापक श्री प्रह्लाद प्रधान पासे छे, एटले पुनाना विद्वान् डॉ० वासुदेव विश्वनाथ गोखले द्वारा ए भाष्यना अमारा कार्यमा उपयोगी अशो मेळववा माटे अमे प्रयत्न कर्यो। प्रह्लाद प्रधाने पण घणा ज सौजन्यथी अभिधर्मकोशभाष्यना ते ते अशो लखाने अमने मोकली आप्या। पृ० ७८ टि० ५ टिपृ० ३७–३९, ४५ ४६, ४९, ५० वगेरे स्थळे ए अशो अमे छाप्या छे। एना आधारे पृ०७८–७९ मा आवतु नयचक्रनु मूळ अमे बराबर तैयार करी शक्या अने ते उपरनी बधी ज चर्चा विशद थई गई।

नयचक्रवृत्ति पृ० ९२ मा "अत्रापि तावत्लोकोदाहरण तत्सत्रायभिहित रज्ज्वां सर्प इति ज्ञानम्" ए प्रमाणे पाठ छे। नयचक्रवृत्तिना आधारे मूळने बराबर तारवतु अघरु छे। तपास करता अमने जणायु के

बौद्ध ग्रंथ हस्तवालप्रकरणमांथी मल्लवादीए एक कारिका अहीं उद्धृत करेली छे अने ते हस्तवालप्रकरण संस्कृतमां अत्यारे नष्ट थई गयुं छे पण तेना प्राचीन टिबेटन अने चीनी अनुवादो मळे छे। लंडननी रोयल एशियाटिक सोसायटीना सन् १९१८ ना जर्नलमां ए अनुवादो छपाया छे एटले ए टिबेटन अनुवाद मेळवीने तेना उपरथी संस्कृतमां कारिका तैयार करीने नयचक्रमां मूळरूपे अमे गोठवी दीधी अने ए कारिका नयचक्रवृत्तिमां आवता प्रतीको साथे बराबर मळी रहे छे ए वाचको जोई शकशे।

ए उपरांत बौद्धाचार्य दिङ्नागरचित प्रमाणसमुच्चय आदि अनेक ग्रंथोमां आवता पाठोने पण मल्लवादीए खंडन करवा माटे नयचक्रमां उद्धृत करेला छे। ए ग्रंथो संस्कृतमां नष्ट थई गया छे. छतां जे केटलाकना टिबेटन भाषांतरो मळे छे तेना उपरथी संस्कृतमां पाठो तैयार करीने नयचक्रमूळमां अनेक स्थळोए ते ते पाठोने ते ते स्थाने अमे गोठव्या छे अने टिबेटन ग्रंथने आधारे तैयार करेला नयचक्र मूळ साथे नयचक्रवृत्ति पण बराबर मळी रहे छे।

पृ० १३१ पं० २६ मां 'उक्तं हीति पुनरुक्तापवादमर्थविशेषापेक्षं दर्शयति अनुवादादर।' आ प्रमाणे प्रतीकोनो उल्लेख करीने नयचक्रवृत्तिमां एनी विस्तारथी व्याख्या छे। 'उक्तं हि' एम कहीने मल्लवादीए अन्यग्रंथमांथी कयो पाठ उद्धृत कर्यो छे ए टीकाना आधारे नक्की करवानुं शक्य ज नथी, परंतु विशेषावश्यकभाष्य उपरनी कोट्टार्यगणिरचितवृत्ति वगेरेमां नीचे मुजब आ उद्धरण संपूर्ण आवे छे—

'अनुवादादरवीप्साभृशार्थविनियोगहेत्वसूयासु।
ईषत्सम्भ्रमविस्मयगणनास्मरणेष्वपुनरुक्तम्॥'

एटले एने आधारे अमे ए कारिकाने पृ० १३१ पं० ६ नयचक्रमूळमां गोठवी दीधी।

आ तो उदाहरणोनुं मात्र दिग्दर्शन छे। अनेक देशोमां छपाएला अने अनेक भाषाओमां रचाएला विविध साहित्यने आधारे आवां अनेक स्थळे अमे नयचक्रनुं मूळ तैयार करवानो प्रयत्न कर्यो छे। वाचको समग्र ग्रंथनुं तथा टिप्पणोनुं परिशीलन करवाथी आ वस्तु सहज जोई शकशे।

आ उपरांत नयचक्रनुं मूळ तैयार करवा अमे बीजो मार्ग पण लीधो छे। केटलेय स्थळे वृत्तिमां आवता प्रतीको उपरथी मूळनो निर्णय थई शके तेम नथी, छतां वृत्तिकारे दूर गया पछी अतिदेशादि प्रसंगोमां ते ते मूळनो अक्षरशः अथवा कंईक भेदथी निर्देश करेलो छे। नयचक्रवृत्तिनुं संपूर्ण अवलोकन करीने आवा आवा पाठो एकत्र करीने तेना आधारे ते ते अनेक यथायोग्य स्थाने अमे नयचक्रमूळनी योजना करी छे। आ उपायथी अमने घणे ज स्थळे मूळनी योजना करवामां सुगमता थई छे, जेमके पृ० ६५–७० मां आवतुं नयचक्रमूळ पृ० १०९ पं० २५–पृ० ११० पं० १६ नयचक्रवृत्तिमां आवता अतिदेशने आधारे ज मुख्यतया तैयार कर्युं छे। पृ० २४८ थी पृ० २५८ सुधीनुं नयचक्रमूळ मुख्यतया पृ० २७५ पं० २८–पृ० २७७ पं० १३ नयचक्रवृत्तिमां आवता अतिदेश उपरथी तैयार कर्युं छे। मूळ तैयार करवा माटे आवा आवा नाना मोटा अतिदेशादि प्रसंगोमां नयचक्रवृत्तिमां आवता अनेक संदर्भोनो अमे अनेक स्थळे उपयोग कर्यो छे अने वाचकोना ख्यालमां तरत आवे ते माटे ए संदर्भोने अमे जुदा टाईपोमां (पैका ब्लेक नं० १) मां छापेला छे। अतिदेशादिवाळां वाक्यो वृत्तिमां क्यां क्यां आवेलां छे ए पण अमे टिप्पणोमां स्थळे स्थळे जणाव्युं छे। नयचक्रवृत्तिने आधारे मूळनी संकलना करवानुं कार्य अत्यंत

दुष्कर होवा छता आ रीत घणा उपायो द्वारा मल्लवादिसम्मत मूलनी कल्पना करवानो अमे यथामति अने यथाशक्ति प्रयत्न कर्यो छे, परतु ज्या कोई पण रीते मूळ तारववु अमने सहज अशक्यप्राय लाग्यु त्या खाली भाग राखीने आवा टपका ज आप्या छे, जुओ पृ० १० प० १,पृ०८६ प० ५, पृ० ९२ प० ५ वगेरे।

नयचक्रटीकाकार सिंहसूरिक्षमाश्रमण

"इति नियमभङ्गो नवमोऽर श्रीमल्लवादिप्रणीतनयचक्रस्य टीकाया न्यायागमानुसारिण्या सिंहसूरि गणिवादिक्षमाश्रमणदृब्धाया समाप्त ।" आ प्रमाणे नवमा अरने अते (पृ० ४९४–२) तमज "इति नियमनियमभङ्गो नाम आदितो विधिभङ्गादारभ्य गण्यमाने द्वादशो भङ्गो द्वादशारनयचक्रस्य श्रीमन्मल्लवादि-कृतस्य टीकाया श्रीमत्सिंहसूरिगणिविरचिताया समाप्त " आ प्रमाणे बारमा अरने अते (पृ० ५४८–२) नयचक्र-टीकामा आवता उल्लेख उपरथी 'आवा टीकाकार सिंहसूरि हता अने तेओ 'गणि, वादी तथा क्षमाश्रमण' पदवीथी विभूषित हता' एम स्पष्ट जणाय छे। एमणे पोतानी टीका माटे 'न्यायागमानुसारिणी' एवो जे उल्लेख कर्यो छे ते सर्वथा यथार्थ छे, कारण के आ टीका दार्शनिक अने आगमिक उल्लेखोथी भरपुर छे। टीकामा आवती अनेकविध सूक्ष्म चर्चाओ जोता तमज जैन आगमादि ग्रंथो, वेद, उपनिषद्, सर्वदर्शनोना आकर ग्रथो, योगसाहित्य, आयुर्वेदिक साहित्य, व्याकरणना ग्रथो वगेरेना विपुल उल्लेखो जोता टीकाकार श्री सिंहसूरि क्षमाश्रमण अनेकशास्त्रोनु केवु अगाध पाडित्य धरावता हता ए स्पष्ट जोई शकाय छे। आ विषे विस्तारथी अमे प्रथम जणावी गया छीए। आ सिवाय एमना जीवनचरित्र विषे बीजी कोई ज माहिती कोई पण ग्रथमा अमे जोई नथी। "इति मल्लवादिक्षमाश्रमणपादकृतनयचक्रस्य तुम्ब समाप्तम् । ग्रथाग्र १८००० ।" आ प्रमाणे बधी प्रतिओमा अते उल्लेख मळे छे तेथी '३२ अक्षरनो एक श्लोक' ए गणत्री प्रमाणे आ टीका १८००० श्लोकप्रमाण छे। पाना उपरथी अमे करेली स्थूल गणना प्रमाणे पण आ १८००० श्लोकप्रमाण मळी रहे छ।

भगवान् जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणे पोते रचेला विशेषावश्यकभाष्य उपर स्वोपज्ञटीका रचवा माडी हती, परतु छठ्ठा गणधरनी वक्तव्यता सुधी टीकानी रचना करीने तेओ स्वर्गवासी थया हता, एटले शेष रहेला लगभग अर्धा भागनी टीका कोट्यार्यवादिगणिमहत्तरे पूर्ण करी छे। जेसल्मेरना ज्ञानभडारमा

---

१ तुल्ना–असङ्गविरचित व्याख्या तमज वसुबन्धुविरचित भाष्य सहित [बौद्धाचार्यमैत्रेयरचित] मध्यान्तविभाग नामना ग्रथ उपर स्थिरमतिए रचेला टीका माटे पण आगमानुसारिणी एवो निर्देश मळे छे जुओ प्राक्कथन पृ० १७ टि० १। स्थिरमति अने गुणमति ए बने वलभी पुरना बौद्ध विहारना नामाकित विद्वानो हता। स्थिरमतिना समय विक्रमनी छट्ठी शताब्दी आसपास गणाय छ। बौद्ध विद्वान सघभद्र ए बौद्धाचार्य वसुबन्धुना मोटो प्रतिस्पर्धी हतो तेणे वसुबन्धुना अभिधर्मकोश उपर न्यायानुसार नामनी व्याख्या रची हती एवो उल्लेख बौद्ध ग्रथोमा मळे छ। सघभद्रनो समय विक्रमनी पाचमी शताब्दी आसपास होवो जोइए॥ २ ए व गाथा नीचे मुजब छ— पच सता पणतीसा सगणिव कालस्स वट्टमाणस्स। तो चेत्तपुण्णिमाए बुधादिण सातिमि णक्खत्ते ॥ रज्जेणुपालणपरे सी[लाइ]च्चम्मि णरवरिंदम्मि। वलभीणगरीए इम महवि मि जिणभवणे ॥ —शक सवत् ५३१ मा चैत्री पूर्णिमाने दिवसे बुधवारे स्वाति नक्षत्रमा शीलादित्य राजाना राज्यमा वलभी नगरीना जिनभवनमा ग्रथ पूरो थयो एवो आ गाथामा निर्देश छ। परतु जराक खडित थयु होवाने लीधे थोडो पाठ त्रुटित थयो होवाथी त विषय सपूर्ण स्पष्ट जणातु नथी। वळी ए गाथा बीजी कोइ प्रतिमा मळती नथी तमज एना उपर कोइए टीका पण करी नथी। ते विषय ए प्रति ज्ञानमा आवी होय ए पण बनवा जोग छ।

विद्यमान विशेषावश्यकभाष्यनी ताडपत्र उपर लखायेली एक प्राचीन प्रतिना अंतमां बे गाथाओ जोवामां आवे छे अने तेमां शक संवत् ५३१ मां चैत्र शुद पूर्णिमाने दिवसे वलभीपुरमां बनेली कोई बाबतनो उल्लेख छे। ए जोतां विशेषावश्यकभाष्यनी रचना शक संवत् ५३१ (एटले विक्रम संवत ६६५) सुधीमां थई गई हती एम जणाय छे। जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण विरचित स्वोपज्ञटीकामां दिङ्नागना प्रमाणसमुच्चयना बीजा स्वार्थानुमान परिच्छेदनी "आप्तवादाविसंवादसामान्यादनुमानता" आ अर्धी कारिका उद्धृत करेली छे, तेमज बीजे केटलेक स्थळे पण दिङ्नागनी न्यायपरिभाषा एमां दृष्टिगोचर थाय छे। कोट्टार्यगणिरचित टीकामां पण दिङ्नागना प्रमाणसमुच्चय तथा न्यायमुखमांथी केटलाक पाठ उद्धृत करेला छे। परंतु बन्ने य टीकामां मीमांसक विद्वान् कुमारिलना मतनुं तथा बौद्धाचार्य धर्मकीर्तिना मतनुं कई पण नाम-निशान नथी, एटले भगवान् जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण तो प्राचीन छे ज पण टीकाकार कोट्टार्यगणिवादी पण घणा प्राचीन छे। कोट्याचार्ये रचेली विशेषावश्यकभाष्यनी टीकामां धर्मकीर्तिना प्रमाणवार्तिकमांथी उद्धरणो लीधेलां छे परंतु कोट्टार्यगणिरचित टीकामां नथी, एटले 'कोट्टार्यगणिरचित टीका कोट्याचार्यरचित टीकाथी प्राचीन छे ए निर्विवाद छे। आ विशेषावश्यकभाष्यनी टीकामां [1]कोट्टार्यगणिवादिमहत्तरे एक सिंहसूरिक्षमाश्रमणनो नीचे प्रमाणे उल्लेख करेलो छे–

"सिंहसूरिक्षमाश्रमणपूज्यपादास्तु–

सामान्यं निर्विशेषं द्रवकठिनतयोर्वार्यदृष्टं यथा किम्?
योन्या शून्या विशेषास्तरव इव वरामन्तरेणोदिताः के?।
किं निर्मूलप्रशाखं सुरभि खकुसुमं स्यात् प्रमाणप्रमेयम्?
स्थित्युत्पत्तिव्ययात्म प्रभवति हि सतां प्रीतये वस्तु जैनम् ॥"

आ उल्लेख जोतां अहीं निर्दिष्ट पूज्यपाद सिंहसूरिक्षमाश्रमण दार्शनिक विद्वान् छे ए नक्की छे। नयचक्रटीकाकार सिंहसूरिक्षमाश्रमण पण महादार्शनिक विद्वान् छे। अमने तो लागे छे के नयचक्रटीकाकार सिंहसूरिक्षमाश्रमण अने कोट्टार्यगणिए जेमनो निर्देश कर्यो छे ते पूज्यपाद सिंहसूरिक्षमाश्रमण एक ज व्यक्ति होवी जोईए। जो अमारी संभावना साची होय तो नयचक्रटीका उपरांत बीजा पण दार्शनिक ग्रंथनी एमणे रचना करी हशे।

नयचक्रटीकाकार सिंहसूरिक्षमाश्रमणनो समय

नयचक्रटीकाकारना समय विषे कोई चोक्कस उल्लेख जोवामां आवतो नथी। नयचक्रटीकामां मीमांसक विद्वान् कुमारिलना मतनुं तेम ज बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्तिना मतनुं क्यांय नाम-निशान नथी, एटले नयचक्रटीकाकार सिंहसूरिक्षमाश्रमण कुमारिल अने धर्मकीर्तिथी पूर्वे ज थएला छे। अर्थान्तरापोहना

---

१ कुमारिल तथा धर्मकीर्तिना समय विषे विद्वानोमां वादविवाद चाल्या ज करे छे, पण एटलुं तो नक्की छे के–कुमारिले 'मीमांसाश्लोकवार्तिक'मां दिङ्नागना मतनुं विस्तारथी खंडन कर्युं छे, एटले कुमारिल दिङ्नागनी पछी ज थएल छे। कुमारिलनुं खंडन धर्मकीर्तिए कर्युं छे। चीनी यात्री इत्सिंगे विक्रम सं० ८४८ मां लखेला भारतनी यात्राना वर्णनमां धर्मकीर्तिनो बहुमान पूर्वक उल्लेख करेलो छे, एटले ते पहेलां धर्मकीर्तिनुं अस्तित्व जणाय छे। २ कोट्टार्यगणि अने कोट्याचार्य ए बन्नेय जुदी जुदी व्यक्ति छे, ए विषे जिज्ञासुओए आत्मानंदप्रकाशना वि स २००४ ना फागण मासना अंकमां मुनिराज श्री पुण्यविजयजी महाराजे लखेलो 'विशेषावश्यकमहाभाष्यस्वोपज्ञटीकानुं अस्तित्व' ए नामनो लेख जोई लेवो ॥

मुख्य प्रणेता तरीके दिङ्नागनुं नाम प्रसिद्ध छे, ए अमे मल्लवादीना समयनी विचारणामां जणावी गया छीए। नयचक्रटीकामां पृ० १९ पं० १८ मां "कुतोऽर्थान्तरापोहलक्षणं विद्मः यावदद्यतनबौद्धपरिकल्पितं सामान्यम्" आ प्रमाणे उल्लेख आवे छे। एमां 'अपोहवादी'ने माटे 'अद्यतनबौद्ध' एवो शब्द टीकाकारे वापर्यो छे, ए जोतां सिंहसूरिक्षमाश्रमण दिङ्नागना समीपकालीन होय एम जणाय छे। नयचक्रटीकामां पृ० १४५ पं० १०, पृ० २४० पं० १० वगेरे कोईक कोईक स्थळे नयचक्रना पाठभेदनो टीकाकारे निर्देश कर्यो होवाथी मल्लवादी अने सिंहसूरि वच्चे समयनुं कईक पण अंतर जरूर हशे एम लागे छे। टीकाकारे उद्धृत करेला जैन आगमोना पाठो अने अत्यारे प्रचलित वलभीसंस्करणना पाठो वच्चे महत्त्वनुं अंतर जोवामां आवे छे, ए जोतां पण नयचक्रटीकाकार प्राचीन छे ए निर्विवाद छे।

नयचक्रटीका पृ० ६ मां 'जं चोद्दस ' वगेरे त्रण गाथाओ उद्धृत करेली छे। ए त्रणेय गाथाओ कंईक क्रमभेदथी विशेषावश्यकभाष्यमां पण जोवामां आवे छे एटले ए त्रण गाथाओ विशेषावश्यकभाष्यमांथी नयचक्रटीकाकारे उद्धृत करेली छे एवी कल्पना उठे ए स्वाभाविक छे, परंतु ए त्रणेय गाथाओ भगवान जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणे पण बीजा कोईक ग्रंथमांथी विशेषावश्यकभाष्यमां उद्धृत करी होय एवो संभव जणाय छे, ए विषे अमे विस्तारथी टिप्पणमां जणाव्युं छे। जिज्ञासुओए टिपृ० ९–१० मां जोई लेवुं। एटले मात्र ए त्रण गाथाओने आधारे विशेषावश्यकभाष्य तथा नयचक्रटीकाना पूर्वापरभाव विषे अमे निर्णय करी शकता नथी।

प्रति परिचय

आ ग्रंथना संपादनमां भा० य० पा० डे० लीं० वि० र० ही० आ आठ प्रतिओनो अमे उपयोग कर्यो छे, तेमां पण वस्तुत भा० अने य० ए बे प्रति ज महत्त्वनी छे, परंतु य० प्रति प्रस्तुत ग्रंथनो सात अर्थात् जेटलो भाग (पृ० ५५२) छपाई गयो त्यां सुधी घणी तपास करवा छतां पण अमने क्यांय मळी नहोती, पाछळथी ज मळी आवी, एटले आ संपादनना प्रारंभ समये य० प्रतिनी जग्याए अमे य० प्रति उपरथी ज साक्षात् किंवा परंपराए लखायेली पा० डे० लीं० वि० र० ही० प्रतिओनो उपयोग कर्यो हतो, पण हवे तो य० प्रति मळी आवी छे, एटले पा० डे० लीं० वि० र० ही० प्रतिनो परिचय संक्षेपमां ज आपीशुं अने भा० य० प्रतिनो परिचय विस्तारथी आपीशुं।

भा०—आ प्रति भावनगरना जैन संघनी शेठ श्री डोसाभाई अभेचंदनी पेढीना ज्ञानभंडारनी छे। मोटा अने सुंदर अक्षरोमां लखेली छे। पाना ५७२ छे। एना अंतमां आ प्रति लखावनारनो परिचय एक पुष्पिकामां आपेलो छे। आ पुष्पिका प्राक्कथन पृ० ३२ मां अमे आपेली छे।

ए पुष्पिका उपरथी जणाय छे के विधिपक्षगच्छीय महान् आचार्यश्री धर्ममूर्तिसूरिजीना उपदेशथी गोविंद मंत्रिना पुत्र पुंजे आ पुस्तक लखावी ज्ञानभंडारमां मूक्युं हतुं। धर्ममूर्तिसूरिजीए घणे स्थळे प्रतिष्ठाओ करावी हती तेमज ज्ञानभंडारो पण तैयार कराव्या हता। विधिपक्षगच्छनी पट्टावली जोतां धर्ममूर्तिसूरिजी विक्रमनी १७ मी शताब्दीना मध्यभागमां विद्यमान हता, एटले आ प्रति पण तेमणे

१ विधिपक्षगच्छनी पट्टावली आगे धर्ममूर्तिसूरिना जन्म विक्रम संवत् १५८५ दीक्षा १५९९, सूरिपद १६०२ अने स्वर्गवास १६७० मां जणाय छे।

ए अरसामां लखाची हशे एम जणाय छे। आ प्रति अमने कंई उपयोगी नीवडी छे ए अमे पहेला जणावी गया छीए। आ प्रति जेना उपरथी लखवामा आवी हशे ते प्रति हजु सुधी क्याय जोवामा आवी नथी, तेमज आ प्रति उपरथी लखायेल कोई प्रति पण क्याय अमारा जोवामा आवी नथी, एटले आ जातनी प्रति विश्वमा एक ज छे एम धारीए छीए।

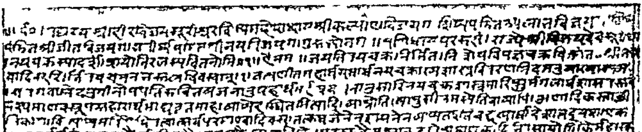
य०–आ प्रति न्यायविशारद न्यायाचार्य पूज्यपाद उपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराजे अनेक मुनिवरो साथे लखेली छे। आ ग्रथना सात अर (मुद्रित पृ० ५५२) छपाई गया पछी वि० स० २०१२ मा आ प्रति मुनिराजश्री पुण्यविजयजी महाराजने अणधारी ज मळी आवी हती अने तेमणे तरतज अमारा उपर पालीताणामा मोकली आपी हती। आ प्रति केवी रीते मळी आवी अने तेनु केवु स्वरूप छे ए विषे मुनिराजश्री पुण्यविजयजी महाराजे आचार्यश्रीवल्लभसूरिस्मारकग्रंथमा 'श्रीयशोविजयोपाध्याय अने तेमणे लखेली हाथपोथी नयचक्र' ए लेखमा (पृ० १८१–१८४) विस्तारथी माहिती आपी छे। ए लेखमाथी उपयोगी अशने अहीं अमे नीचे उद्धृत करीए छीए—

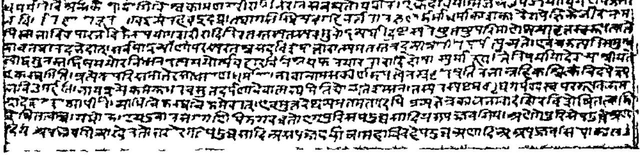
"प्रस्तुत नयचक्रग्रथ, के जे भावनगरनी श्री आत्मानंद सभा तरफथी प्रकाशित थशे तेना संशोधन माटे अमे जे अनेक प्राचीन प्रतिओ एकत्र करी हती तेमा बनारसना खरतरगच्छीय मडलाचार्य यतिवर श्री हीराचंद्रजी महाराजना सग्रहनी अने पूज्यपाद आचार्य महाराज रंगविमलजी महाराजना सग्रहनी प्रतिओ पण सामेल छे। ए प्रतिओना अतमा जे पुष्पिका छे ते जोता खातरी थई हती के द्वादशारनयचक्रटीका ग्रथनी एक प्रति पूज्यपाद न्यायविशारद न्यायाचार्य महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज अने तेमना सहकारी मुनिवरोए मळीने लखी हती। आजे जाणवा–जोवामा आवेली नयचक्रटीकाग्रंथनी प्राचीन–अर्वाचीन हाथपोथीओमांथी मात्र भावनगर श्रीसघना ज्ञानभडारनी प्रतिने बाद करता बाकीनी बधी ज प्रतिओ ए उपाध्यायजीए लखेली प्रतिनी ज नकलो छे। आ बधी नकलो लेखकोना दोषथी एटली बधी कूट अने विकृत थई गई छे के जेथी आ ग्रथना संशोधनमा घणी ज अगवडो उभी थाय। आ स्थितिमा प्रस्तुत ग्रथना सशोधनमा प्रामाणिकता वधे ए माटे उपाध्यायजी महाराजे लखेली मूळ प्रतिने शोधी काढवा माटे हुं सदाय सचेत हतो, पण ते प्रति क्यायथी मळी नहिं।

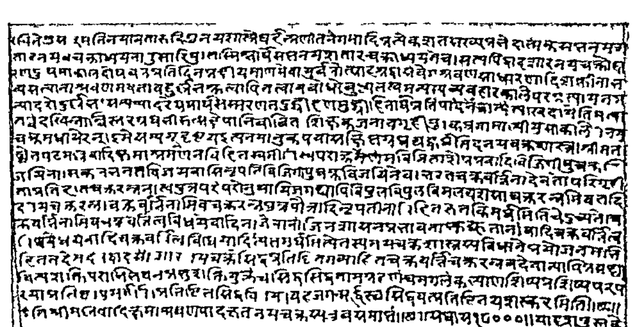
परतु जैन श्रीसघना कहो, के प्रस्तुत ग्रथना रसिक विद्वानोना कहो, के प्रस्तुत ग्रथना संशोधन पाछळ रातदिवस अथाग परिश्रम सेवनार मुनिवरश्री जंबूविजयजीना कहो, महाभाग्योदयनु जागी उठवु के–जेथी मारा प्रत्ये पूज्यभावभर्या मित्रभावथी वर्तता अने सदाय मारी साथे रहेता–पूज्यपाद श्री १००८

---

१ कोडाय (कच्छ) ना भडारमाथी मळी आवेली विक्रमसवत् १६६२ मा लखाएली सिद्धिविनिश्चयटीकानी अत्यत दुर्लभ प्रति पण आ महा श्रुतज्ञानरसिक आचार्ये लखावेली हती, तेना अतमा नीचे मुजब उल्लेख छे—"सवत् १६६२ वर्षे लिखित विष्णुदासेन। श्री आर्यरक्षितगुरो प्रसृते विशाले गच्छे लसन्मुनिकुले विधिपक्षनाम्नि। सूरीश्वरा गुणनिधान-सुनामधेया आसन विशुद्धयशसो जगति प्रसिद्धा ॥ तत्पट्टरेक(खंक?)तरणि स्तरणिर्भवाब्धौ श्रीधर्ममूर्तिरिति सूरिवरो विभाति। सौभाग्यभाग्यमुखसद्गुणरत्नरत्नगोत्र पवित्रचरितो महितो विनेयै. ॥ [तेन स्व]श्रेयसे ज्ञानभाण्डागारे लेखिते सिद्धिविनिश्चयटीका वाच्यमाना चानन्दतु। नागडागोत्रजो .गिरा। साधु श्रीधनराजाहो ग्रन्थमेनमलीलिखत् ॥" पृ० ५८१ ॥

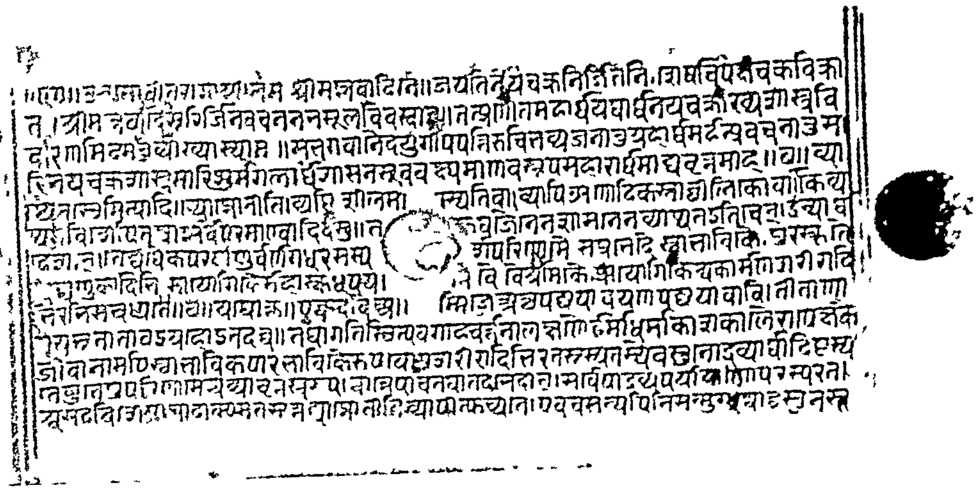




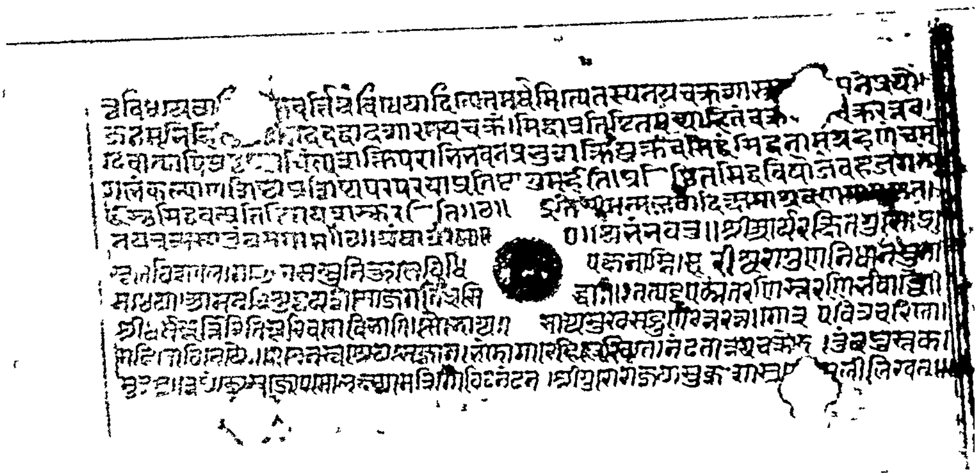


उपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराजना हस्ताक्षरमां

શેઠ શ્રી ડોસાભાઈ અભેચંદના ભંડારની હસ્તપ્રતિ



પત્રાંક ૧



પત્રાંક ૫૧૨

शांतमूर्ति श्रीहंसविजयजी महाराजना प्रशिष्य पन्यास मुनिवरश्री रमणीकविजयजीए आ वर्षे देवसाना पाडाना उपाश्रयमाना पन्यासजीश्री महेन्द्रविमलजी महाराजना ज्ञानभंडारने जोवानो उपक्रम तेमना शिष्य श्री हर्षविमलजीनी उदारताथी कर्यो। आ उपक्रमथी ए ज्ञानभंडारनु अवलोकन करता प० श्री रमणीकविजयजीना हाथमा श्री यशोविजयजी महाराजना त्रण अलभ्य ग्रंथो तेमना पोताना ज हस्ताक्षरमा प्राप्त थया अने ते तमणे मने आप्या। एमा एक वादमाला नामनो ग्रथ (उपाण्ल वादमालाथी जुदो) बीजो वीतरागस्तोत्रअष्टमप्रकाशवृत्ति (स्याद्वादरहस्य) अतिमश्लोकव्याख्या अपूर्ण पर्यंत अने त्रीजो मल्लवादिआचार्यरचित नयचक्र उपर सिंहसूरिक्षमाश्रमणे रचेली टीकानी प्रति–ए रीते त्रण अपूर्व ग्रथो मने आप्या। आ त्रणमाथी नयचक्रटीका ग्रथनी पोथी जोता मने हर्षरोमाच प्रकटी गया अने अपूर्व आनदनो अनुभव थयो।

आ प्रतिना अतमा उपाध्यायजी महाराजे जे पुष्पिका आलेखी छे ए तो वर्षो पहेला भावनगरथी प्रसिद्ध थता 'श्रीआत्मानदप्रकाश' मा मुनि जबूविजयजीए प्रसिद्ध करी ज दीधी छे। ते छता प्रस्तुत स्मारक ग्रथमा उपाध्यायजी महाराजनी ए पोथीना प्रतिबिंबने साक्षात् जोनारा रसिक भक्त वाचकोने अतृप्ति न रहे ते माटे ए आखी पुष्पिका अहीं आपवामा आवे छे–

'प्रतिष्ठितसिद्धविजयावहजगन्मूर्द्धस्थसिद्धवत् प्रतिष्ठित यशस्करमिति ॥ छ ॥ इति श्रीमल्लवादिक्षमाश्रमणपादकृतनयचक्रस्य तुम्ब समाप्तम् ॥ छ ॥ ग्रथाग्र १८००० ॥

यादृश पुस्तके दृष्ट तादृश लिखित मया। यदि शुद्धमशुद्ध वा मम दोषो न दीयते ॥ १ ॥
सवत् १७१० वर्षे पोस वदि १३ दिने श्रीपत्तननगरे। प श्रीयशविजयेन पुस्तक लिखित। शुभ भवतु
उदकानलचौरेभ्यो मूषकेभ्यो विशेषत। कष्टेन लिखित शास्त्र यत्नेन प्रतिपालयेत् ॥ १ ॥
भग्नपृष्टिकटिग्रीवा दृष्टिस्तत्र अधोमुखी। कष्टन लिखित शास्त्र यत्नेन प्रतिपालयेत् ॥ २ ॥
पूर्वं प यशविजयगणिना श्रीपत्तने वाचितम् ॥ छ ॥

आदर्शोऽय रचितो राज्ये श्रीविजयदेवसूरीणाम।
सम्भूय येर्मीषामभिधानानि प्रकटयामि ॥ १ ॥
विबुधा श्रीनयविजया गुरवो जयसोमपण्डिता गुणिन।
विबुधाश्च लाभविजया गणयोऽपि च कीर्तिरत्नाख्या ॥ २ ॥
तत्त्वविजयमुनयोऽपि प्रयासमत्र स्म कुर्वते स्मिन्ने।
सह रविविजयैर्विबुधैरलिखत् यशोविजयविबुध ॥ ३ ॥
सदयप्रयासमेन दृष्ट्वा तुष्यन्ति सज्जना बाढम्।
गुणमत्सरव्यवहिता दुर्जनदृक् वीक्षते नैनत् ॥ ४ ॥
तेभ्यो नमस्करीयान् स्तुव गुणास्तेषु म दत्त भक्ति।
अनवरत चेष्टन्ते जिनवचनोद्भासनार्थं ये ॥ ५ ॥ श्रेयोऽस्तु ॥
सुमहानप्ययमुच्चै पक्षेणैकेन पूरितो ग्रन्थ।
कालामृत पद्धधियां जयति चरित्र पवित्रमिदम् ॥ ६ ॥ श्री'

आ पुष्पिकामां एम जणाववामां आव्युं छे के–'प्रस्तुत हाथपोथी पाटणमां वि. सं. १७१० मां लखी छे। ए लखवा पहेलां उपाध्यायजी महाराजे आ आखो ग्रंथ पाटणमां वांची लीधो हतो अने त्यार पछी श्रीनयविजयजी महाराज, श्रीजयसोमपंडित, श्रीलाभविजयजी महाराज, श्रीकीर्तिरत्नगणि, श्रीतत्त्वविजयजी, श्रीरविविजय पंडित अने श्रीयशोविजय महाराज पोते–एम सात मुनिवरोए मळीने १८००० श्लोक प्रमाण आ महाकाय शास्त्रनी मात्र एक पखवाडीयामां ज नकल करी छे'।

आ ग्रंथ केटलो महत्त्वनो अने जैनदार्शनिक वाङ्मयना अने जैनशासनना आधारस्तंभरूप छे। एनी प्रतीति आपणने एटलाथी ज थाय छे के श्रीयशोविजयजी महाराज जेवाए आ ग्रंथनी नकल करवानुं कार्य हाथ धर्युं।

प्रस्तुत प्रतिने लखवामां जे सात मुनिवरोए भाग लीधो छे तेमना अक्षरो व्यक्तिवार पारखवानुं शक्य नथी। अमारी मात्र श्री यशोविजयजी म० अने तेमना गुरुवर श्रीनयविजयजी म० ना हस्ताक्षरोने पारखी शकीए तेम छीए। आ ग्रंथमां पत्र १ थी ४१, ५७ थी ७६, २५१ थी २५५, अने २९१ थी २९४ एम कुल ७२ पाना श्रीयशोविजयजीए लखेलां छे, जे अक्षरो झीणा होई एकंदर ४५०० थी ४८०० जेटली श्लोकसंख्या थाय छे। श्रीयशोविजयजी महाराज पंदर दिवसमां चोकसाईभर्युं आटलुं बधुं लखी काढे, ए एमनी लेखनकलाविषयक सिद्धहस्तताना अपूर्व नमूनो छे अने सौने ए आश्चर्यचकित करे तेवी हकीकत छे। प्रस्तुत प्रतिना कुल ३०९ पाना छे। तेनी पंक्तिओना लखाणनो कोई खास मेळ नथी। सौए पोतानी हथोटी प्रमाणे लीटीओ लखी छे, छतां मोटे भागे १७ थी ओछी नथी अने २४ थी वधारे नथी। प्रतिनी लंबाई–पहोळाई १०×४॥ इंचनी छे। ३०९ मा पानामांनी अंतिम छ श्लोक प्रमाण पुष्पिका श्रीयशोविजयजी महाराजे लखी छे।"

पा०–आ प्रति पाटणना तपागच्छीय जैनसंघना ज्ञानभंडारनी छे। एना ४६९ पाना मळे छे, छेवटना त्रण चार पाना मळता नथी, एटले ए प्रति क्यारे लखाई हती ए अमे चोक्कस कही शकता नथी, छतां य० प्रति उपरथी वि०सं० १७१० पछी गमे त्यारे पा० प्रति लखाई छे ए वात नक्की छे। प्रतिनुं स्वरूप जोतां वि० सं० १७१० पछी थोडा वखतमां ज पा० प्रति लखाई होवी जोईए एम लागे छे।

डे०–अमदावादना डेलाना उपाश्रयना ज्ञानभंडारनी आ प्रति छे। ४६८ पाना छे। विक्रमसंवत् १७२९ मां कार्तिक वदि ७ शुक्रवारे आ प्रति लखेली छे।

लीं०–आ प्रति लींबडी (सौराष्ट्र) ना जैनसंघना ज्ञानभंडारनी छे। अमारी पासे आना चार आराना २४७ जेटला पाना ज आव्या हता, एटले संपूर्ण पत्रसंख्यानी अमने खबर नथी। आ प्रति डे० प्रति उपरथी लखाई छे एम बन्नेनी तुलना करतां जणाय छे।

वि०–पंजाबना जीरा गाममां आवेला विजयानंदसूरिजी (आत्मारामजी) महाराजना ज्ञानभंडारनी आ प्रति छे। ३८७ पाना छे। वि० सं० १७५३ मां पोष वदि त्रीज गुरुवारे सरखेज (अमदावाद जिल्ला) गाममां आ प्रति लखायेली छे।

रं०–आ प्रति विजापुर (गुजरात) मां विद्यमान रंगविमलजी जैन ज्ञानभंडारनी छे। पाना ५५२ छे। वि० सं० १७२४ मां फागण वदि १ मंगळवारे लखाएली छे।

ही०—आ प्रति यति श्री हीराचंद्रजीना काशीना सुपार्श्वनाथ जैनमंदिरमां विद्यमान ज्ञानभंडारनी छे। ५३४ पाना छे। र० अने ही० प्रतिओनी तुलना करता ही० प्रति र० उपरथी लखवामां आवी छे एम चोक्कस जणाय छे।

छट्ठा अरमां मुद्रित नयचक्रवृत्ति पृ० ४२५ पं० २४ थी पृ०४२७ पं० १८ सुधीनो एक पाना जेटलो पाठ वि० र० ही० आ त्रणेय प्रतिओमां देखातो नथी, एटले य० प्रति उपरथी लखेली जे प्रतिमां एटलो पाठ पडी गयेलो हशे तेना उपरथी वि० र० ही० आ त्रणेय प्रतिओ साक्षात् के परंपराए लखाएली छे।

भा० प्रतिमां मार्जिनमां (हांसियामां) दरेक पानामां नयचक्रवालवृ० एवुं लखाण छे, ज्यारे य० प्रति अने य० उपरथी लखायेली उपर जणावेली पा० वगेरे प्रतिओमां आदि अने अंतना पानामां मार्जिनमां नयचक्रवालटीका एवुं लखाण छे।

भा० आदि प्रतिओमां जे परस्पर पाठभेद छे ते अमे नयचक्रवृत्तिनी नीचे टिप्पणोमां—फुटनोटमां दर्शाव्या छे। भा० प्रतिमांथी लीधेला पाठांतरो पासे अमे भा० एवो संकेत वापर्यो छे। पा० डे० लीं० वि० र० ही० प्रतिओ जो के य० प्रति उपरथी ज लखवामां आवी छे, छतां केटलेक स्थळे य० प्रतिना अक्षरो बराबर न उकेली शकवाथी तथा बीजा पण कारणोथी लहियाओने हाथे पा० आदि प्रतिओमां क्वचित् क्वचित् गंभीर विपर्यास थई गयो छे[1] अने अनेक स्थाने पाठांतरो पण निर्माण थयेला छे। आवा पाठांतरो ज्यां अमने जणाववा जरूरी लाग्या छे त्यां ते ते पाठांतरो पासे पा० आदि संकेतो अमे वापर्या छे। पा० डे० लीं० वि० र० ही० मां ज्यां एक सरखो ज पाठ छे, त्यां ए बधायनी आधारभूत य० प्रतिमां ए पाठ छे ज एम धारी लईने एवा पाठांतर आगळ अमे य० संकेत ज वापर्यो छे, जुओ पृ० २ टि० ४ वगेरे। य० प्रति मळ्या पछी अमे तेमां तपासीने जोयुं तो अमारी धारणा प्रमाणे ज य० प्रतिमां प्रायः बधे ते ते पाठो छे। सातमा अर सुधीना संपादनमां पा० डे० लीं० वि० र० ही० नो उपयोग करवामां आव्यो छे, पण हवे तो तेमनी आधारभूत य० प्रति मळी गई छे, तेथी नयचक्रवृत्तिना आठमा अरथी शरू थता बाकीना संपादनमां भा० अने य० ए बे प्रतिओनो ज उपयोग करवामां आवशे। भा० अने य० ए बन्नेय प्रतिओ वच्चे पुष्कळ पाठसाम्य होवाथी भा० अने य० ए बंने प्रतिओ कोई जुदी जुदी प्रतिओ उपरथी ज लखाएली छे, छतां लेखकोना हाथे थएला अने परापूर्वथी चाल्या आवता एवा पण सेंकडो अशुद्ध पाठो छे के जे भा० अने य० ए बन्नेय प्रतिओमां एक सरखा छे। ज्यां आवा अशुद्ध पाठोने अमे अमारा समज प्रमाणे सुधार्या छे त्यां अमे शुद्ध करेला पाठो नयचक्रवृत्तिमां स्थाप्या छे अने बधी ज प्रतिओमां एक ज सरखो अशुद्ध पाठ छे ते पाठ अमे नीचे टिप्पणोमां दर्शावीने तेनी आगळ प्र० एवो संकेत वापर्यो छे, जुओ पृ० ८ टि० ९ वगेरे। 'सर्व प्रतिओमां मळतो अशुद्ध पाठ' एवो प्र० नो अर्थ छे। आ प्रमाणे केटलाक अशुद्ध पाठो बन्नेयमां समान होवाने लीधे भा० अने य० ए बे य प्रतिओ केटलाक

---

1 जुओ टिप्पृ० १३ पं० २१-२४। आठमा अरमां लगभग पांच पानानो भयंकर विपर्यास आ कारणथी थयो छे, जुओ पृ० ६६६ टि० ?। प्राक्कथन पृ० ३४ टि० २। अमारी पासे भा० अने य० प्रति होवाने लीधे साम करीने ए भयंकर पाठविपर्यासमांथी अमे बची गया छीए॥

अशुद्ध पाठोवाळी कोई एक ज प्रतिमाथी परंपराए उतरी आवेली छे ए चोकस छे। उपरनी चर्चा उपरथी प्रतिओनी वंशावली जे प्रमाणे फलित थाय छे ते अमे प्राक्कथन पृ० ३६ मा आपेली छे।

नयचक्रवृत्तिना संशोधननी सामग्री

भा० अने य० प्रतिनी जे विशिष्टताओ छे ते विषे अमे पहेला विस्तारथी जणावी गया छीए। आ बनेय जातनी प्रतिओनी मददथी पाठशुद्धि करवामा अमने घणी ज सरलता थई छे, तेम छतांय लेखकदोषथी पूर्वकाळथी चाली आवेली सेकडो अशुद्धिओ बनेय प्रतिओमा समान रूपे जोवा मळे छे। आ अशुद्धिओ दूर करवा माटे व्याकरणना नियमो, दार्शनिक परिभाषा, ग्रंथकारनी शैली, नयचक्रवृत्तिमा आवता पूर्वापर संदर्भो, अनेक दार्शनिक ग्रंथो तेमज बीजा पण विविध विषयना ग्रंथोनो ज्या ज्या शक्य होय त्या अमे उपयोग कर्यो छे, अने सहायभूत थएला ग्रंथोना पाठोनो उल्लेख टिप्पणोमा अनेक स्थळे कर्यो छे। ते उपरात प्राचीन लिपिना अक्षरोनी आकृतिने बराबर न समजी शकवाथी पाछळना लेखकोए अनेक स्थळे जे अक्षर परिवर्तन करी नाख्युं छे तेनो पण सूक्ष्मताथी अभ्यास करीने तेना आधारे सेंकडो स्थळे अमे अत्यंत खात्री पूर्वक पाठशुद्धि करी शक्या छीए, जेमके पृ० १६ पं० १४ मा 'शब्द-स्पर्श-रूपरसगन्धात्मा पृथिवी कर कटलक्षणा वेति' आवो पाठ तमाम हस्तलिखित प्रतिओमा छे, अहीं 'करकटलक्षणा' आ पाठ अशुद्ध लागवाथी 'कर्कशलक्षणा' एवो सुधारो मनथी अमे कल्प्यो तो खरो परंतु आगळ पृ० ४७ पं० ६ मा पण 'करकट' एवो पाठ अमारी दृष्टिमा आव्यो। 'लेखको सर्वत्र एक जातनी अशुद्धि करे' ए अमारी बुद्धिमा उतर्यु नहिं तेथी 'कर्कशलक्षणा' एवो सुधारो अमे पडतो मूक्यो। त्यार पछी रशियामा पेट्रोग्राड (वर्तमान लेनिनग्राड) थी 'बिब्लिओथेका बुद्धिका' सीरिजमा प्रकाशित थएला बौद्धाचार्य शान्तिदेव रचित शिक्षासमुच्चयमा (पृ० २४५ मा) "कतमश्च महाराज! बाह्यः पृथिवीधातुः? यत् किञ्चिद् बाह्यं कक्खटत्वं खरगतमनुपात्तमयमुच्यते बाह्यः पृथिवीधातुः" आवो उल्लेख एक वखत अमारी नजरे पड्यो, ते जोता ज खात्री थई गई के नयचक्रवृत्तिमा साचो पाठ 'कक्खटलक्षणा' ज होवो जोईए। 'कक्खटलक्षणा पृथिवी' ए बौद्धोनो मत छे। त्यार पछी लिपि विषे विचार करता जणायु के प्राचीन देवनागरी लिपिमां क्ख अक्षर रक एम ज लखातो हतो एटले 'कक्खटलक्षणा' पाठनी सत्यता विषे कोई पण शंकाने अवकाश ज न रह्यो। आ प्रमाणे भिन्न भिन्न ग्रंथोनी सहायथी तेमज लिपिसादृश्यमूलक अक्षर परिवर्तनना निरीक्षणथी अमे सेकडो स्थळोए पाठोने यथावत् शुद्ध करी शक्या छीए। आ ग्रंथनी हस्तलिखित प्रतिओमा जोवामा आवता लिपिसादृश्यमूलक अक्षरपरिवर्तनना केटलाक उदाहरणो प्राक्कथन पृ० ३७ मा अमे आपेला छे। ते उपरात पृष्ठमात्रा (पडिमात्रा) नी विपरीत योजनाथी पण घणा अशुद्ध पाठो हस्तलिखित प्रतिमा छे, टिप्पणोमा आपेला पाठांतरो उपरथी वाचको आ संबंधमा सारी रीते समजी शकशे।

टिबेटन ग्रंथोनो पण संशोधनमा उपयोग करवामा आव्यो छे; जेमके पृ० ९३ पं० २१ मा प्रारंभमा बधी ज प्रतिओमा 'तदद्दष्टौ' पाठ मळ्यो हतो, परंतु बौद्ध ग्रंथ हस्तवालप्रकरण के जेमाथी ए पाठ उद्धृत करवामा आव्यो जणाय छे तेना टिबेटन भाषांतरने आधारे त्या 'तदशद्दष्टौ' पाठो होवो जोईए एवो अमे निर्णय कर्यो हतो, अने ते पछी मळी आवेली भा० प्रतिमा पण 'तदशद्दष्टौ' एवो पाठ मळी

१ आगमग्रंथोमा आठ स्पर्शोना निरूपणमा 'कक्खड' स्पर्शनो उल्लेख आवे छे त्या पण 'कक्खट' स्पर्श ज विवक्षित छे। कक्खट=खर=कठिन।

आव्यो हतो। तेथी अमारी धारणा साची पडी हती। आ प्रमाणे बीजा स्थळोमा पण टिबेटन ग्रंथोनो सशोधनमा उपयोग कर्यो छे।

पृष्ठाङ्कस्पष्टीकरण

आ मुद्रित ग्रंथमा बे जातना पृष्ठांको अमे आपेला छे। एक पृष्ठांक जे दरेक पानाना मथाळे छे ते आ मुद्रित ग्रंथनो पृष्ठांक छे। बीजो पृष्ठांक जे दरेक पानाना मार्जिनमा आपेलो छे ते हस्तलिखित भा० प्रतिनो पृष्ठांक छे अने ते खास हेतु पूर्वक अहीं आपवामा आव्यो छे। नयचक्रमूल तथा वृत्तिना केटलाक पाठोना स्पष्टीकरण, समर्थन तथा सशोधन माटे नयचक्रवृत्तिमा रहेला पूर्वापर संदर्भोनो अमे ठाम ठाम उपयोग कर्यो छे। अने ते ते संदर्भो कया कया पृष्ठमा आवेला छे ते पण अमे टिप्पणोमा जणाव्यु छे। मुद्रणकार्य चालु हतु त्यारे मुद्रित थई गयेला पाठ माटे तो अमे मुद्रित पृष्ठांक आप्यो छे, पण जे अंश भविष्यमा मुद्रित थवानो हतो ते माटे भा० प्रतिना पृष्ठांकनो अमे निर्देश कर्यो छे। भा० प्रतिमा एकदर ५७२ पत्र छे, दरेक पत्रमा उपरनु अने नीचेनु एम बे पृष्ठ छे। भा० प्रतिमा जे जे भाग जे जे पृष्ठमा शरू थाय छे ते ते भागनी समीपमा मुद्रित नयचक्रवृत्तिमा मार्जिनमा (हासियामा) भा० प्रतिना ते ते पृष्ठांक आववाय ग्रंथमा सख्या आपेला छे, जेमके २–१ एटले भा० प्रतिना बीजा पत्रनु प्रथम पृष्ठ, २–२ एटले बीजा पत्रनु बीजु पृष्ठ, ए प्रमाणे ३–१, ३–२ वगेरेनो अर्थ पण समजी लेवो, स्थूल टाईपमा छापेलो प्रथम अक भा० प्रतिनो पत्रांक दर्शावे छे, ज्यारे बीजो अक १ अने २ अनुक्रमे उपरनु तथा नीचेनु पृष्ठ दर्शावे छे। जेमके मुद्रित पृ० ९ प० २२ मा 'भवति शुद्धपदोच्चारणवद्' एवो पाठ छे, आनु विस्तारथी स्पष्टीकरण नयचक्रवृत्तिमा अतभागे भा० प्रतिना पृ० ५६८–१ मा आवे छे, एटले ए भाग जोई लेवा माटे अमे वाचकोने मुद्रित पृ० ९ टि० १० मा भलामण करी छे, अर्थात् मुद्रित नयचक्रवृत्तिमा अतभागमा मार्जिनमा ज्या ५६८–१ छप्यु होय त्या वाचकोए ए भाग जोई लेवो। आ रीते पृ० ३३ टि० ७, पृ० ४५ टि० ९ वगेरे अनेक स्थळ स्पष्टीकरणादि माटे भा० प्रतिना ते ते पृष्ठांको साथे सबध धरावता पाठो जोवानी भलामण करी छे।

टिप्पणो

आ मुद्रित ग्रंथमा बे प्रकारना टिप्पणो छे–एक तो नयचक्रमा ज नीचे फुटनोटरूपे आपेला छे, ज्यारे बीजा नयचक्रनी पाछळ जोडेला छे। फुटनोटमा मुख्यतया पाठांतरो आपेला छे, छता केटलक स्थळे बीजी पण महत्त्वनी सामग्री रजु करेली छे, केटलाक मा अमे स्वीकारेला पाठनु समर्थन छे, केटलाकमा स्पष्टीकरण छे, केटलाकमा ऐतिहासिक दृष्टिए तुलना आदि छे।

नयचक्रनी पाछळ ज टिप्पणो जोडेला छे ते घणा विस्तृत छे। नयचक्र तथा नयचक्रवृत्तिमा आवता ते ते पाठोनु समर्थन, स्पष्टीकरण तथा तुलना आदि ए टिप्पणोमा विस्तारथी आपेलु छे। सशोधन, समर्थन अने स्पष्टीकरण बने त्या सुधी बीजा ग्रंथोना आधारथी करवु के जेथी ए प्रमाणभूत बने आ अमारी पद्धति छे। तेथी ए कार्यमा अमे ज अनेक प्राचीन अर्वाचीन ग्रंथोना पाठोनो आधार लीधो छे तेनो उल्लेख आ टिप्पणोमा अमे स्थळे स्थळ कर्यो छे। नयचक्र छपाती वखते जे केटलीक अशुद्धिओ रही

गई अने जे पाछळथी अमारा ध्यानमां आवी तेनुं परिमार्जन पण आ टिप्पणोमां अनेक स्थळे कर्युं छे। नयचक्र छपाया पछी जे टिबेटन ग्रन्थोनी सामग्री मळी तेना आधारे पण क्वचित् शुद्धि करी छे जेमके मुद्रित पृ० ३१४ पं० ४ मा 'वीतस्य वा भाव. पक्षप्रदेशः' ए प्रमाणे पाठ हस्तलिखित प्रतिओमां मळे छे त्यां 'वीतस्य [आवीतस्य] वा भाव. पक्षप्रदेश.' एम अमे सुधार्युं हतुं, पण पाछळथी टिबेटन ग्रंथोना आधारे जणायुं के 'वीतस्य वाक्यभाव' पक्षप्रदेश·' एवो ज पाठ साचो छे एटले अमे टिपृ० १३८ पं० २ मा ए प्रमाणे सुधार्युं छे। ए प्रमाणे पृ० ३२१ पं० १६ ना पाठने अमे टिपृ० १५० पं० ८ मां टिबेटन ग्रंथने आधारे सुधार्यो छे। आ टिप्पणो विस्तृत होवाथी अने एमां विविध माहिती अनेक स्थळे होवाथी एक प्रकारनी टीका जेवां छे। दुर्लभ अने उपयोगी अनेकविध माहिती एमां छे। विशेष जिज्ञासुओए टिप्पणोनो विषयानुक्रम ज जोई लेवो। आ टिप्पणोना ज अगरूपे १ भोटपरिशिष्ट, २ वैशेषिकसूत्रसवृत्ति परिशिष्ट तथा ३ ग० प्रतिपाठ परिशिष्ट एम त्रण परिशिष्टोनी योजना करेली छे। तेनी उपयोगिता तथा स्वरूप नीचे प्रमाणे छे—

भोटपरिशिष्ट (टिपृ० ९५–१४०)

आ परिशिष्ट तैयार करवामां अमने अति परिश्रम पड्यो छे। दिङ्नाग बौद्ध न्यायनो पिता गणाय छे। तेथी जैन, साख्य, न्याय, मीमांसा, बौद्ध आदि अनेक दर्शनोना प्राचीन ग्रंथोमां दिङ्नागना मतनी विस्तारथी चर्चा जोवामां आवे छे। परंतु तेणे नाना मोटा जे अनेक ग्रंथो रच्या ते लगभग बधाज ग्रंथो संस्कृत भाषामां अत्यारे नष्टप्राय थई गया होवाथी ए बधी चर्चाओनो सार समजवो अति विकट छे। प्रमाणसमुच्चय, तेनी स्वोपज्ञवृत्ति, न्यायमुख, आलम्बनपरीक्षा वगेरे दिङ्नागना थोडाक ग्रंथोना टिबेटन तथा चीनी भाषामां लगभग हजार वर्ष पूर्वे थएला भाषांतरो मळे छे, तेथी ए भाषाओ शीखीने भारत, युरोप, अमेरिका, जापान आदि देशोना विद्वानो दिङ्नागना ग्रंथोनुं रहस्य समजवा माटे अनेक वर्षोथी परिश्रम करे छे, कारणके प्रमाणसमुच्चय आदि ग्रंथोना टिबेटन भाषांतरो अत्यंत दुर्बोध अने क्लिष्ट होवाथी टिबेटन भाषाना विद्वानोने पण ए समजतां घणी मुसीबत पडे छे। नाना नाना प्रकरणोमां पोते चर्चेली छूटी–छवाई वातोने एकत्र करवा माटे, व्यवस्थित करवा माटे अने आवश्यक संस्कार आपवा माटे दिङ्नागे प्रमाणसमुच्चयनी[1] रचना करी होवाथी ए एनो सौथी महत्त्वनो ग्रंथ गणाय छे। तेना उपर ईश्वरसेन आदि अनेक विद्वानोए टीका रची हती, परंतु ते बधामांथी अत्यारे तो जिनेन्द्रबुद्धिए रचेली विशालामलवती नामनी मात्र एक ज टीकानुं टिबेटन भाषांतर मळे छे। नयचक्रवृत्तिनो लगभग एक पष्ठांश जेटलो भाग दिङ्नागना मतनी विचारणामां रोकायेलो छे। तेथी टिबेटन भाषा शीखीने पछी प्रमाणसमुच्चय आदि ग्रंथोना टिबेटन भाषांतरो वांचीने एना आधारे दिङ्नागनुं मंतव्य यथावत् जाणवा माटे प्रयास करवो ए ज अमारा पासे श्रेष्ठ मार्ग हतो के जेथी नयचक्रमां आवती चर्चाओनो आशय पण बराबर समजाय अने नयचक्रवृत्तिमां आवता अनेक पाठोनी शुद्धि पण बराबर थई शके। तेथी टिबेटन भाषा शीखवानो प्रारंभ कर्यो अने परम कृपाळु पूज्यपाद गुरुदेवनी कृपाना प्रभावथी अल्प समयमां ए

१ "प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने। प्रमाणसिद्ध्यै स्वमतात् समुच्चय· करिष्यते विप्रसृतादिहैकत ॥" प्रमाणसमुच्चय ॥ १ । १ ॥

भाषानु अध्ययन पण कर्यु। त्यारपछी प्रमाणसमुच्चय आदिना टिबेटन भाषांतरो मेळववानो प्रयत्न कर्यो, परंतु ए मेळवता अमने जे अपार कष्टनो अनुभव थयो छे तेनु वर्णन करवा बेसीए तो पानाओना पाना भराय। आखरे अनेक वर्षोना प्रयत्नने अंते अमेरिका, युरोप, जापान आदि देशोना अनेक विद्वानोना सहकार अने सौजन्यथी त्यांना पुस्तकालयोमा विद्यमान ते ते टिबेटन भाषांतरो माइक्रोफिल्म आदि रूपे अमने मळी शक्या। फिल्म उपरथी घणा खर्चे फोटाओ तैयार कराव्या। त्यारपछी तेमाना उपयोगी अंशनु महिनाओ सुधी चिंतन करीने जे संस्कृत तैयार करी शकायु ते अमे भोटपरिशिष्टमा आप्यु छे। टिबेटनु मूळ नाम भोट छे अने तेनी भाषा भोट भाषा कहेवाय छे। तेथी आ परिशिष्टनु अमे भोटपरिशिष्ट नाम राख्यु छे। अमने आशा छे के आचार्य श्री मल्लवादीए नयचक्रमा तथा सिंहसूरिक्षमाश्रमणे नयचक्रटीकामा दिङ्नागना मतनी जे विचारणा करी छे तेनु तात्पर्य समजवामा आ भोटपरिशिष्ट वाचकोने अत्यंत सहायक थशे। विशालामलवतीटीका सहित तेमज स्वोपज्ञवृत्तिसहित प्रमाणसमुच्चयना प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान, परार्थानुमान, दृष्टांत आ चार परिच्छेदोमाथी नयचक्रमा आवती चर्चामा उपयोगी अंशनु तथा बीजा पण प्रसक्तानुप्रसक्त घणा अंशनु तेमज दिङ्नागरचित आलम्बनपरीक्षावृत्ति, हस्तवालप्रकरण अने आर्यदेवरचित चतुःशतकना अमुक अंशनु पण टिबेटन भाषांतर उपरथी संस्कृत करीने भोटपरिशिष्टमा अमे आप्यु छे[1]। नयचक्रना आठमा अरमा दिङ्नागना मतनी जे अति विस्तृत विचारणा छे ते प्रमाणसमुच्चयना बीजा स्वार्थानुमान परिच्छेद, त्रीजा परार्थानुमान परिच्छेद अने पाचमा अपोह परिच्छेद साथे संबंध धरावे छे। टीका तथा स्वोपज्ञवृत्ति सहित प्रमाणसमुच्चयनो एटलो अंश टिबेटन भाषांतर उपरथी संस्कृत करीने नयचक्रना आठमा अरमा टिप्पणोमा (फुट नोटमा) आपवामा आवशे। अमने आशा छे के टिबेटन भाषांतरो उपरथी संस्कृतमा तैयार करेला आ बधा अंशो जैन, सांख्य, मीमांसा, न्याय, बौद्ध आदि दर्शनोना प्राचीन ग्रंथोमा ज्या दिङ्नागना मतनी चर्चा आवे छे त्या पण ते ते चर्चा समजवामा अभ्यासीओने खास उपयोगी थशे।

वैशेषिकसूत्रसम्बन्धि परिशिष्ट (टिपृ० १४१)

चन्द्रानन्दरचितवृत्तिसहित प्राचीन वैशेषिकसूत्र नयचक्रमा जुदे जुदे स्थळे संपूर्णतया अमे शा माटे छाप्यु छे तेना कारणो अमे पहेला जणावी गया छीए। टिपृ० ८ पं० २२-३५ मा पण आ विषे अमे जणाव्यु छे। वैशेषिकसूत्रना दश अध्यायो छे, तेमा प्रथम सात अध्यायोमा दरेकमा बे बे आह्निक छे। आ बधा सूत्रो नयचक्रमा भिन्न भिन्न स्थळे टिप्पणोमा छापेला होवाथी ते ते सूत्रो कया कया पानामा छपायेला छे ए जणाववा माटे आ परिशिष्टनी अमे संकलना करी छे।

मुनिराज श्री पुण्यविजयजी महाराज पासेथी मळेली जेसल्मेरनी एक प्रति के जेनी P संज्ञा राखी छे तेना आधारे चन्द्रानन्दरचितवृत्तिसहित वैशेषिकसूत्र अमे अहीं छाप्यु हतु। परंतु त्यारपछी वडोदराना

---

१ टिबेटन लिपि तद्दन जुदा प्रकारना होय छे एना टाइपो आ देशमां महेलाइथी मळी शके नहीं एटले भोटपरिशिष्ट छापती वखते टिबेटन लिपि उपरथी देवनागरीमा रूपांतर करीने प्रमाणसमुच्चय अने स्वोपज्ञवृत्तिना ते ते अंशनु टिबेटन भाषांतर पहेला छाप्यु छे अने त्यारपछी ते ते अंशोनुं संस्कृत आप्यु छे॥ २ जुओ पृ० ६०७-६०८, ६१४, ६१७, ६२९-६३३, ६३८-६४०, ६५०-६५१, ६६३, ६७०, ६७४, ६७५, ६७८-६८०, ६८३, ६८४, ६८८, ६९३, ७०२, ७०३, ७२०, ७२४-७३०॥

Oriental Institute प्राच्यविद्यामंदिरमांथी पण आ ग्रंथनी शारदा लिपिमां लखेली एक प्रति मळी आवी छे के जेनी अमे O संज्ञा राखी छे। शारदा लिपि बहु जुदा ज प्रकारनी होय छे, गुरुदेवनी कृपाथी ए लिपि जाणीने पछी तेनी साथे P प्रति सरखावतां O प्रतिमां महत्त्वना जे केटलाक शुद्ध पाठो अमने मळी आव्या ते शुद्ध पाठो अलग शुद्धिपत्रकमां दर्शाव्या छे। एटले नयचक्रना टिप्पणोमां वैशेषिकसूत्र वांचती वखते वाचकोए आ भागना अंते आपेलो 'चन्द्रानन्दरचितवृत्तियुतस्य वैशेषिकसूत्रस्य अध्यायक्रमेण O पुस्तके शुद्धपाठाः' ए विभाग पण जोई लेवो।

नयचक्रवृत्तिमां पांचमा अर सुधी जे वैशेषिकसूत्रो उद्धृत करवामां आव्यां छे तेनो सूत्रांक अमे उपस्कारसहित वैशेषिकसूत्र प्रमाणे आप्यो हतो, पण त्यारपछी मळेला चन्द्रानन्दरचितवृत्तिसहित वैशेषिकसूत्रमां सूत्रांक जुदो होवाथी वाचकोए एने आधारे सूत्रांक बदलीने वांचवो।

य० प्रतिपाठपरिशिष्ट (टिपृ० १४२–१४६)

पूज्यपाद उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजे सात मुनिवरो साथे मळीने विक्रम संवत् १७१० मां लखेली नयचक्रवृत्तिनी प्रति के जेनी अमे य० संज्ञा राखी छे ते नयचक्रना सात अर छपाई गया त्यां सुधी मळी नहोती तेथी सात अर सुधीना मुद्रणमां य० प्रति उपरथीज साक्षात् किंवा परंपराए लखाएली पा० डे० ली० वि० ए० ही० प्रतिओनो यथायोग उपयोग कर्यो छे, आ वात अमे विस्तारथी पहेलां जणावी गया छीए। लेखकोना हाथे पा० डे० ली० वि० ए० ही० प्रतिओमां जे केटलाक पाठभेद थई गया छे एमांना महत्त्वना पाठभेदो अमे नयचक्रवृत्तिनी नीचे फुटनोटोमां जणाव्या छे, परंतु हवे तो ए बधानी आधारभूत य० प्रति मळी गई छे, एटले य० प्रतिमां वस्तुतः केवो पाठ छे ते जणाववा माटे 'य० प्रतिपाठ परिशिष्ट'नी योजना करी छे। उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजे लखेली नयचक्रवृत्तिनी प्रति घणी मोडी मळी होवा छतां एनो अमारा संपादनमां आ रीते अमे संपूर्ण उपयोग करी लीधो छे।

पारिभाषिक तथा लाक्षणिक शब्दो

आ ग्रंथमां केटलाक पारिभाषिक शब्दो आवे छे ए अमे यथावत् जाळवी राखवा काळजी राखी छे, जेमके 'वीत अने आवीत' ए हेतुप्रयोगोनां पारिभाषिक नाम छे। सांख्य ग्रंथोमां ए शब्दो खास वपराता हता, एटले सांख्य मतनो ज्यां निर्देश छे त्यां तेमज बीजा प्रसंगोमां पण 'आवीत' शब्दनो अनेकवार प्रयोग आ ग्रंथमां छे, जुओ पृ० ९ पं० १०, पृ० १८ पं. ८, पृ० ३१४ पं० १ वगेरे। वाचस्पतिमिश्र वगेरेए सांख्यग्रंथोमां 'आवीत' शब्दने स्थाने 'अवीत' शब्दनो प्रयोग कर्यो छे पण प्राचीन शब्द 'आवीत' ज हतो, एटले अर्वाचीन सांख्य ग्रंथोने अनुसरीने 'आवीत' ना स्थाने अमे 'अवीत' सुधार्यु नथी, किन्तु नयचक्रवृत्तिनी हस्तलिखित प्रतिओमां अनेक स्थाने आवतो 'आवीत' 'आवीत' शब्द ज अमे सर्वत्र आ ग्रंथमां जाळवी राख्यो छे। दिङ्नागे पण सांख्यमतनी चर्चामां 'आवीत' शब्द ज वापर्यो छे, जिनेन्द्रबुद्धिरचित विशालामलवती टीकामां 'आवीत' शब्दनी विशिष्ट व्याख्या पण आपेली छे. जुओ टिपृ० १३८ पं० ३, १७,१८। कुमारिले पण 'आवीत' शब्दनो प्रयोग कर्यो छे जुओ नयचक्र पृ० ३१४ टि० २। आ बधाने आधारे स्पष्ट जणाय छे के प्राचीन वार्षगणतंत्रमां 'आवीत' शब्दनो प्रयोग हतो।

'ऊर्ध्व' ना स्थाने 'उर्द्ध' शब्दनो प्रयोग तथा चूर्णकना अर्थमां 'त्रुटि' शब्दना स्थाने 'तुटि' शब्दनो प्रयोग पण आ ग्रंथमां अनेक स्थळे छे। पृ० ३४१ पं० २४, पृ० ३४३ पं० १९ वगेरेमां 'सायोज्य' शब्दनो प्रयोग आ ग्रंथमां छे त्यां अमे अर्वाचीन ग्रंथोने आधारे 'सायुज्य' एम सुधार्युं नथी, पण आ ग्रंथमां अनेक स्थळे आवतो 'सायोज्य' एवो प्राचीन शब्दप्रयोग अमे जाळवी राख्यो छे। आ ग्रंथमां आवता बीजा पण आवा प्राचीन शब्दोने बने त्यांसुधी यथावत् जाळवी राखवा ध्यान राख्युं छे।

जैन आगमादि ग्रंथोनी प्राचीन प्राकृतभाषामां 'गोयमा' ने बदले 'गोतमा', 'कओ' ने स्थाने 'कतो', 'कय' ने स्थाने 'कत' ए प्रमाणे 'त' कारनो बहुलतया प्रयोग थतो हतो, एज प्रमाणे 'ह'-कारने स्थाने 'ध'कारनो पण क्वचित् प्रयोग थतो हतो, जेमके 'नयणपहा'ने स्थाने 'वयणपधा'। नयचक्र तथा तेनी वृत्तिमां आगम वगेरे प्राकृत ग्रंथोमांथी ज्या पाठो उद्धृत करेला छे त्यां आगमिक प्राकृत भाषाना 'त'कारबाहुल्य वगेरे प्राचीन लक्षणो खास जोवामां आवे छे, एटले आ ग्रंथमां 'गोतमा, आता' वगेरे पाठोने अमे कायम राख्या छे, जुओ पृ० ११५ पं० ४ वगेरे। तेमां पण नयचक्रवृत्तिनी भा० प्रतिमां आगमिक 'प्राकृतभाषाना' प्राचीन लक्षणो विशेष जळवाई रह्यां छे, य० प्रतिमां क्वचित् क्वचित् परिवर्तन पण थई गयेलुं छे। आ ग्रंथमां शरूआतना मुद्रण वखते भा० अने य० प्रतिमांथी प्राकृतभाषाना पाठोने पसंद करवामां अमे बहु नियम जाळवी शक्या नथी, पण पाछळथी आवा प्रसंगोमां अमे भा० प्रतिमां आवता प्राकृत पाठोने खास पसंद कर्या छे।

उपसंहार

अन्य ग्रंथोमांथी नयचक्र तथा नयचक्रवृत्तिमां उद्धृत करेला पाठोना मूळस्थानो शोधी काढवा माटे अमे शक्य प्रयत्नो कर्या छे, उद्धृत करेला पाठो वाचकोनी अनुकूलता माटे खास पका ब्लॅक नं १ टाईपमां छाप्या छे अने एना पछी तरत [ ] आवा चोरस कोष्ठकमां ते ते पाठोनां मूळस्थानो ज्यां अमने मळी शक्यां त्यां दर्शाव्यां छे, ज्यां न मळ्यां त्यां चोरस कोष्ठक खाली राख्यां छे।

नयचक्रवृत्तिमां जे पाठो अमने नयचक्रमूलना खास प्रतीकरूप लाग्या छे ते पाठोने मोटा टाईपमां छाप्या छे, एथी नयचक्रमूलनी संकलना करवामां तथा नयचक्रवृत्तिमां आवतुं एनुं विवरण समजवामां वाचकोने अनुकूळता रहेशे।

आ प्रमाणे अनेक हकीकतोने ध्यानमां राखीने, भा० अने य० ए बन्नेय जातनी प्रतिओना पाठोनी तुलना करीने, लिपिपरिवर्तनना शक्य शीणवटथी चिंतन करीने, अन्यग्रंथोनो विपुल प्रमाणमां उपयोग करीने अने ते ते पाठो उपर घणा समय सुधी वारंवार चिंतन अने मनन करीने आ ग्रंथमां आवता पाठोने शुद्ध करवा अमे यथाशक्ति अने यथामति घणो घणो प्रयत्न कर्यो छे। ज्यां पाठ पडी गयो छे अने अधिक पाठ उमेरवानी जरूर छे एम अमने लाग्युं छे त्यां अमारी संभावनानो पाठ [ ] आवा चोरस

१ जेम त्रुटि (बे अणु) माटे 'तुटि' शब्दनो प्रयोग नयचक्रवृत्तिमां अनेक स्थाने छे तेम ते क्षण माटे त्रुटि शब्दनो प्रयोग काश्मीरथी प्रकाशित थयेला प्राचीन ग्रंथोमां अनेक स्थाने जोवामां आवे छे जेमके- क्षणद्वयं त्रुटिर्ज्ञेया ... काश्मीर सीरीझ XLI मां प्रकाशित थयेली तन्त्रालोकवृत्तिमां द्वितीय आह्निकमां पृ० १९ मां छे।

कोष्टकमा अमे उमेर्यो छे। हस्तलिखित प्रतिओमा विद्यमान अशुद्ध पाठने ज्या बनी शक्यु त्या शुद्ध करवानो अमे प्रयत्न कर्यो छे, पण ज्या अमे शुद्ध करी शक्या नथी अने ज्या अमने खास शका छे त्या अशुद्ध पाठनी आगळ (?) आ प्रमाणे प्रश्नचिन्ह आप्यु छे, जुओ पृ० २५७ प० १४। हस्तलिखित प्रतिओमा ज्या अशुद्ध पाठो छे अने शुद्ध पाठोनी निश्चित सभावना ज्या अमे करी शक्या नथी त्या अमे कल्पेला शुद्ध पाठो ( ) आवा कोष्टकमा गोठवीने प्रश्न चिन्ह साथे टिप्पणमा ज खास करीने घणी जग्याए दर्शाव्या छे, जुओ पृ० १०६ टि० १० वगेरे। केटलेक स्थळे बीजी रीते पण पाठ होई शके एम अमने लाग्यु छे, त्या ए पण टिप्पणोमा जणाव्यु छे, जुओ पृ० १४ टि० ९, पृ० १८ टि० १३, पृ० ७२ टि० ८ वगेरे।

नयचक्र छपाती वखते महत्त्वना जे पाठो अशुद्ध रही गया अने पाछळथी अमारा ध्यानमा आव्या ते पाठो नयचक्रनी पाछळ जोडेला टिप्पणोमा सुधारी लीधा छे। मुद्रणदोषथी अने प्रूफ वाचता दृष्टिदोषथी जे अशुद्धिओ रही गई ते अमे खास करीने शुद्धिपत्रकमा सुधारी लीधी छे, एटले वाचकोए नयचक्रनी पाछळ जोडेला टिप्पणो तथा शुद्धिपत्रकनो खास उपयोग करवा पूर्वक आ ग्रथनु वाचन करवुं एवी अमारी खास विनति छे।

आ प्रमाणे अनेक वर्षो सुधी चिंतन, मनन अने परिश्रम करीने अनेकविध साहित्यना उपयोग करवा पूर्वक आ ग्रथनु सागोपाग सशोधन अने संपादन करवा अमे यथामति सर्व प्रयत्न कर्यो छे। छता नयचक्र मूळना अभावने लीधे, हस्तलिखित प्रतिओना अशुद्धिबाहुल्यने लीधे, सशोधनमा उपयोगी तयाविध सामग्रीना अभावने लीधे, अमारी मतिमदताने लीधे, तथा क्वचिद् दृष्टिदोषथी प्रूफ वाचवा वगेरेमा थएली असावधानताने लीधे आ ग्रथमा जे काई अशुद्धिओ रही गई होय तेनु स्वयं प्रमार्जन करीने हस जेम क्षीर अने नीरनु पृथक्करण करीने क्षीरने ग्रहण करे छे तेम विद्वानो आ ग्रथनु अध्ययन अने मनन करीने अमारा परिश्रमने सफल करे एवी अमारी हार्दिक नम्र प्रार्थना छे।

धन्यवाद

'आ ग्रथनु संशोधन अने संपादन सागोपाग अने बहु व्यवस्थित रीते थाय' एवी मुनिराज श्री पुण्यविजयजी महाराजनी चिरकाळथी उत्कट इच्छा हती, एटले तेमनी खास प्रेरणाथी मे आ कार्य स्वीकार्यु हतु। ज्यारथी मे आ कार्य स्वीकार्यु त्यारथी मांडीने अत्यार सुधीमा आ अतिदुष्कर कार्यने पार पाडवा माटे तेमणे मने घणीज वार प्रोत्साहन आप्यु छे। नयचक्रवृत्तिनी बधीज हस्तलिखित प्रतिओ घणा घणा परिश्रमे अनेक स्थानेथी एमणेज मेळवीने मारा उपर मोकली आपी हती। पा० प्रतिनी कोपीने भा० प्रति साथे मेळवी भा० प्रतिमा आवता पाठान्तरोनी नोंध पण तैयार करीने एमणे मोकली हती। पाटण अने जेसलमेर वगेरेना ज्ञानभण्डारोमा रहेली विशेषावश्यकभाष्यनी स्वोपज्ञटीका, कोट्याचार्यगणिकृत टीका, चन्द्रानन्दरचितवृत्तिसहित वैशेषिकसूत्र, न्यायभाष्य, न्यायवार्तिक, न्यायकदली, सांख्यकारिकावृत्ति, तत्त्वसग्रहपजिका वगेरे ग्रथोनी प्राचीन हस्तलिखित प्रतिओना आदर्शो के जेनो आ ग्रथना सपादनमा अमे अनेक स्थाने उपयोग कर्यो छे ए पण एमनी पासेथी ज मळी शक्या छे। किं बहुना? आ ग्रथना सशोधनमा जे जे ग्रथोनी जरुर पडे ते ते ज्यासुधी बनी शके

त्यासुधी घणा परिश्रमे पण मेळवीने एमणे मने पुरा पाड्या छे । जो के आ ग्रंथना संशोधन अने संपादननी संपूर्ण जवाबदारी मारी एकलानी ज छे, छतां विपुल द्रव्यना व्ययथी साध्य आ ग्रंथना मुद्रण-प्रकाशननी बधी व्यवस्था तेमणे ज करी छे, एटले आ ग्रंथना मुद्रण तेमज प्रकाशननी बधी व्यवस्थाना योजक तरीके तेमनो महत्त्वनो फाळो छे । ए बदल हु तेमनो अत्यन्त आभारी छु ।

संस्कृत हिन्दी-बंगाली चीनी टिबेटन-जर्मन फ्रेंच तथा इंग्लीश आदि अनेक भाषाओना ज्ञाता डॉ एरी फ्राउवाल्नर (Prof Dr E Frauwallner) के जेओ ऑस्ट्रीयामा वियेनानी युनिवर्सिटीमा भारतीय विभागना प्रमुख छे अने भारतीय दर्शनशास्त्रोना मुख्य अध्यापक छे तेमणे बहु मनन करीने आ ग्रंथनी इंग्लीश प्रस्तावना लखी छे, प्रमाणसमुच्चयस्वोपज्ञवृत्तिना कनकवर्मकृत टिबेटन भाषान्तरना पेकिंग एडिशनना फोटा पण पेरीसमांथी मेळवीने मोकली आप्या छे, तेमज भोट परिशिष्टमा अनेक उपयोगी सूचनाओ करी छे । पूनाना प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् अने संस्कृत पाली चीनी टिबेटन जर्मन फ्रेंच इंग्लीश आदि भाषाओना ज्ञाता डॉ वासुदेव विश्वनाथ गोखले महाशये टिबेटन ग्रंथो वगेरे दुर्लभ सामग्री अमारा माटे मेळववा नि स्वार्थ भावथी घणो प्रयत्न कर्यो हतो, टिबेटन भाषा शीखवा माटे पण खास प्रेरणा एमणे करेली हती, भोट परिशिष्ट छपाती वखते पण एमणे घणी उपयोगी सूचनाओ करी हती । जापानमा सेन्डाइ शहेरमा आवेली टोहोकु युनिवर्सिटीमा भारतीय विभागमा मुख्य अध्यापक, जापानमा जैनसाहित्यना खास अभ्यासी डॉ येन्शो कानाकुरा (Prof Dr Yensho Kanakura) तथा जापाननी नागोया युनिवर्सिटीमा भारतीय विभागना अध्यापक डॉ हिदेनोरी कितागावा (Dr Hidenori Kitagawa) प्रमाणसमुच्चयस्वोपज्ञवृत्ति उपर जिनेन्द्रबुद्धिरचित ९००० श्लोकप्रमाण विशालामलवती टीकाना टिबेटन भाषांतर वगेरेना देर्गे एडीशनना दुर्लभतम फोटाओ भेट मोकली आप्या हता । डॉ हिदेनोरी कितागावाए प्रमाणसमुच्चय स्वोपज्ञवृत्तिना बन्ने टिबेटन भाषान्तरोना केटलाक भागनी नार्थंग एडीशननी घणी महेनत Mimeograph करेली कोपी पण मोकली आपी हती । अमेरिकन विद्वान श्री वोल्टर हार्डिंग माउरर (Mr Walter H Maurer) नी प्रेरणाथी अमेरिकामा वोशिंगटनमा आवेली कॉंग्रेस लायब्रेरीए (The Library of Congress, U S A) टिबेटन भाषान्तरना छोनी एडीशनना चालीस जेटला टिबेटन ग्रंथोनी माइक्रोफिल्म घणा परिश्रमे तैयार करीने भेट मोकली आपी हती । विद्वद्वर श्री प्रह्लादप्रधाने अभिधर्मकोश भाष्यना अमारे जरूरी हता ते ते अतिमहत्त्वना अंशो फोटा उपरथी लखीने घणाज सौजन्यथी मोकली आप्या हता । म्हैसूरना श्री रंगास्वामी आयंगर (Dr H R R Iyengar) तथा जापानना Prof H Kimura वगेरे ज विद्वानो पासेथी टिबेटन ग्रंथो मळ्या तेमनो नामोल्लेख अमे भोटपरिशिष्टमां टि॰ ९७ मा कर्यो छे । आ उपर्युक्त बधा सज्जन महाशयोने हु अंत करण पूर्वक धन्यवाद आपु छु ।

निर्णयसागर प्रेसना मेनेजर, पंडितजी श्री नारायण राम आचार्य तथा कपोझिटरोए नयचक्र प्रेसमां छपातु हतु ते वखते त ते पानामां मूळ, टीका तथा टिप्पणने यथास्थान गोठवा माटे घणी घणी महेनत उठावी

१ टिबेटन भाषांतरोनां देर्गे आदि विविध संस्करणोना परिचय माटे जुओ गायकवाड सीरीझमां छपाएला अने शर्मा न करेला वैशेषिक सूत्रनु गायकवाड परिशिष्ट पृ १५५-१६६ ॥

छे, ते उपरात जुदा जुदा टाईपोमा आ ग्रथ व्यवस्थित रीते अने शुद्धपणे छपाय ते माटे तेमणे घणीज काळजी लीधी छे। तेमने अत करणथी मारा खूब खूब आशीर्वाद छे। आत्मानद सभाना कार्यवाहको प्रॉ. **खीमचंदभाई चांपसी** तथा **श्री फत्तेहचंद झवेरभाईए** आ ग्रथनु मुद्रण अने प्रकाशन सुदर अने शीघ्र थाय ते माटे अगतरीते घणो रस अने प्रयत्न सेव्यो छे, तेने हु भूली शकु तेम नथी ज, तेमने अत करणथी मारा खूब खूब आशीर्वाद छे।

भगवान् गुरुदेवना उपकारो

अतमा मारे खास सस्मरण मारा **गुरुदेवश्रीनुं** करवानु छे। आ आखोय ग्रथ तैयार करवामा प्रात-स्मरणीय परमपूज्य पूज्यपाद परमाराध्य मारा गुरुदेव श्री १००८ मुनिराज श्री **भुवनविजयजी महाराजानी** मने अनुपम सहाय मळी छे। सटीक पीस्तालीस आगमो अने धर्मशास्त्रो ए एमनो मुख्य विषय छे। ए विषयनु एमनुं आजीवन परिशीलन अने तलस्पर्शी ज्ञान छे। एटले प्रस्तुत ग्रथना सशोधनमा ज्यारे ज्यारे ए अंगे जरूर पडती त्यारे त्यारे एमनी पासेथी मने मार्गदर्शन मळ्युं छे। वळी आ ग्रथनु संशोधन-सपादनकार्य में तेओश्रीनी सम्मतिथी ज स्वीकार्युं हतुं। छाती दु खी जाय त्या सुधी सतत बोलवु पडे छता जरापण कटाळ्या विना उल्लास पूर्वक आ आखाय ग्रथना प्रुफोनुं चार चार वार तथा पाच पाच वार वाचन एमणे एकलाए ज कराव्यु छे। तदुपरान्त मारी अतरग तथा बहिरग तमाम चिंताओनो भार आ बधा वर्षोमा तेओश्रीए ज उठाव्यो छे। आ ग्रथना सशोधन-सपादनमा उपयोगी हस्तलिखित तेमज मुद्रित विविध-विषयक दुर्लभ ग्रन्थो अने टिबेटन ग्रथोने मेळववा माटे तेमज साचववा माटे तेमणे पार विनानी रात-दिवस चिंता उठावी छे अने घणोज परिश्रम लीधो छे।

आ अगे एमणे उठावेला विविध कष्टोनो हुं ज्यारे ज्यारे विचार करु छु त्यारे त्यारे आनंद, आश्चर्य अने बहुमान पूर्वक तेमना चरणोमा मारु मस्तक नमी पडे छे। तेमना अपार वात्सल्य, अनत कृपा तथा संपूर्ण सहायथीज आ ग्रन्थ हु निश्चितरूपे तैयार करी शक्यो छु। आ ग्रथ तैयार करवा निमित्ते तेओश्रीए अनेक वर्षो सुधी जे परिश्रम उठाव्यो छे, जे भोग आप्यो छे, रात-दिवस जे अपार चिंताओ सेवी छे अने मने अनेक रीते जे सहाय करी छे तेनु वर्णन शब्दो द्वारा माराथी थई शके तेमज नथी, वळी तेओ पूर्वावस्थामा मारा परमपूज्य **पिताश्री** छे अने अत्यारे श्रमण अवस्थामा मारा तारक **गुरुदेवश्री** छे। पिता तरीके मारा उपर एमनो अनत उपकार छे ज, मारा जीवनने एमणे ज धर्मसस्कारोथी वासित कर्युं छे, ससार समुद्र तरवा माटे नौका समान भागवती दीक्षा आपीने तेमज दीक्षा आप्या पछी पण घणाज परिश्रम अने काळजी पूर्वक ग्रहणशिक्षा अने आसेवना शिक्षा मने ग्रहण करावीने एमणे मारा उपर जे अनत उपकारो कर्या छे एनु वर्णन कोई पण रीते थई शके तेम नथी। मारो अतरग तथा बाह्य समग्र जीवन विकास तेमनी अमृतवर्षिणी कृपादृष्टि अने एमना आशीर्वादने ज आभारी छे। आवा अनत उपकारी परमवत्सल परमपूज्य परमाराध्य मारा गुरुदेव तथा मारा पिताश्री पूज्यपाद श्री १००८ **भुवनविजयजी महाराजाना** अनत उपकारोनु वर्णन करवा माटे मारी पासे शब्दो ज नथी।

अनन्तं यस्य वात्सल्यमनन्ता चोपकारिता ।
महिमानं गुरोस्तस्य को वा वर्णयितुं क्षमः ? ॥

आगामी भाग पण एमनी कृपा, सहाय अने आशीर्वादथी शीघ्र बहार पाडी शकुं एवी परमकृपाळु परमात्माने हुं प्रार्थना करुं छुं ।

भगवान् श्री आदीश्वर दादाने समर्पण

आ रीते चिरकाल सुधी घणा परिश्रमे संशोधन-संपादन करीने तैयार करेला आ अनेकान्तवादना महान् जैनदार्शनिक ग्रंथने आ युगना आदिदेव शत्रुंजयतीर्थाधिपति परमात्मा श्री १००८ आदीश्वर-दादाना करकमळमां अर्पण करीने कृतार्थ थाउं छुं ।

यस्य प्रभोः प्रभावादित्थं सम्पादितो मया ग्रन्थः ।
तं श्रीसिद्धगिरीशं महयाम्येतेन कुसुमेन ॥

— निवेदक

विक्रमसंवत् २०१५, मागसरवदि १०
प्रभुश्रीपार्श्वनाथजन्मकल्याणकदिन
झींझुवाडा

पूज्यपादाचार्यमहाराजश्रीमद्विजयसिद्धिसूरीश्वरपट्टशिष्य
पूज्यपादाचार्यमहाराजश्रीमद्विजयमेघसूरीश्वरशिष्य
पूज्यपादगुरुदेवमुनिराजश्रीभुवनविजयान्तेवासी
मुनि जम्बूविजय

ॐ

‘न्यायागमानुसारिणी’ वृत्त्यलङ्कृतस्य सटिप्पणस्य नयचक्रप्रथमविभागस्य विषयानुक्रमकोशः

१ नयचक्रे विद्यमानो विषयः स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थं स्थूलाक्षरैरत्र निर्दिष्टः ॥ २ टिप्पणेषु विद्यमानो विषयो द्रागेव स्थूलप्रतीतिर्भूयादिति सूक्ष्माक्षरैरत्र निर्दिष्टः ॥

४. चतुर्थो विधिनियमारः ३३५–३७५

नयचक्रप्रथमविभागस्य टिप्पणादीनामनुक्रमकोश.

ॐ अर्हम्

॥ णमो त्थु ण समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

॥ नमः श्रीअन्तरिक्षपार्श्वनाथाय ॥

तार्किकचक्रचक्रवर्ति प्रवचनप्रभावकाचार्यभगवच्छ्री-

मल्लवादिक्षमाश्रमणप्रणीत

श्रीमत्सिंहसूरिगणिवादिक्षमाश्रमणसन्दृब्धया न्यायागमानुसारिण्या

नयचक्रवालवृत्त्या समलङ्कृत द्वादशार

नयचक्रम् ।

(टीकान्तर्गतप्रतीकाद्यनुसारेण सङ्कलितम्)

[प्रथमो विध्यरः]

मूलम्

व्याप्येकस्यमनन्तमन्तवदपि न्यस्त धिया पाटवे
व्यामोहे न, जगत्प्रतानविसृतिव्यत्यासधीरास्पदम् ।
वाचा भागमतीत्य वाग्विनियत गम्य न गम्य क्वचि-
ज्जैन शासनमूर्जित जयति तद् द्रव्यार्थ पर्यायतः ॥

न्यायागमानुसारिणी नयचक्रवालवृत्तिः

॥ ॐ नमो वीतरागाय ॥ ऐँ नमः ॥

जयति नयचक्रनिर्जितनिःशेषविपक्षचक्रविक्रान्तः ।
श्रीमल्लवादिसूरिर्जिनवचननभस्तलविवस्वान् ॥

तत्प्रणीतमहार्थयथार्थनयचक्राख्यशास्त्रविवरणमिदमनुव्याख्यास्यामः[1] । स भगवानैदंयुगीनोपपत्ति-रुचिभव्यजनानुग्रहार्थमर्हत्प्रवचनानुसारि नयचक्रशास्त्रमारिप्सुर्मङ्गलार्थं शासनस्तवं वक्ष्यमाणवस्तूप[3]-संहारार्थमाद्यं वृत्तमाह—व्याप्येकस्थमित्यादि[4] । व्याप्नोतीति[5] व्याप्तुं शीलमस्येति वा व्यापि, औणादिक[6]-स्ताच्छीलिको वा । किं व्याप्यम् ? अविशेषितत्वात् सर्वं परमाण्वादि वस्तु । तत् कथं जैनेन शासनेन व्याप्यत इति चेत्, द्रव्यार्थादेशात् । तद्यथा—एकपरमाणुर्वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शपरिणामैः सप्रभेदैः स्वाभाविकैः पुरस्कृतैः पश्चात्कृतैश्च द्व्यणुकादिभिः सांयोगिकैर्महास्कन्धपर्यन्तैर्वैस्रसिकैः[7] प्रायोगिकैश्च कार्मणशरीरादिभिरभिसम्बध्यते । यथोक्तम्—

> एक्कदवियम्मि[8] जे अत्थपज्जया वयणपज्जया वा वि ।
> तीताणागतभूता तावइअं तं हवइ दव्वं[9] ॥ [सन्मति० १।३१]

तथा गति-स्थित्यवगाह-वर्तनालक्षणैर्धर्माधर्माकाशकालैरापेक्षिकैः जीवानामपि स्वाभाविकपारभाविकै-रुपयोग-शरीरादिभिः । अतस्तस्य तस्य वस्तुनो द्रव्यार्थादिष्टस्य तेषु तेषु परिणामेषु[10] अव्यावृत्तस्वरूपत्वात् तेषां च तथा तदभेदात् सर्वेषां द्रव्य-पर्यायाणां[11] परस्परतश्च सदविशेषात् तादात्म्यम् । अतस्तत् तद् व्याप्नोतीति 'व्यापि' इत्युच्यते ।

टिप्पणम्

> सिद्धचक्रं नमस्कृत्य हृदये प्रणिधाय च ।
> नयचक्रमहाशास्त्रे टिप्पणं क्रियते मया ॥

१ भगवन्त श्रीमल्लवादिक्षमाश्रमणपूज्यपादा 'विधि-नियमभङ्गवृत्ती'त्यादिवक्ष्यमाणैककारिकामात्रं मूलभूतमति-सङ्क्षिप्तार्थं गाथासूत्रं व्याचिख्यासव सर्वमिदं भाष्यात्मकं विवरणं निरचयामासु । अस्यापि च विवरणस्यातिगम्भीरस्य बोधागाधस्य महासमुद्रभूतस्य दुरवगाहत्वात् तदुत्तितीर्षूणामुपकारार्थं श्रीसिंहसूरिगणिवादिक्षमाश्रमणपूज्या नौयानभूतां न्यायागमानुसारिणीं टीकां प्रणीतवन्त । एवं च श्रीमल्लवादिक्षमाश्रमणविरचितभाष्यात्मकविवरणस्य अनुव्याख्यान-रूपत्वादस्य टीकाग्रन्थस्य 'अनुव्याख्यास्याम' इत्यभिहितं टीकाकृद्भि । अनु पश्चादर्थे, भगवान् मल्लवादी व्याख्यास्यति, अयं च टीकाकृदनुव्याख्यास्यति इति भाव ॥ २ "अत्र लोपोऽभ्यासस्य" [पा० ७।४।५८] इति सूत्रेण 'आरिप्सुः' इति सिद्धम् ॥ ३ 'अनेकान्त एव परमार्थ, तत्प्रतिपादकत्वाच्च जैनमेव शासनं सत्यम्' इति वक्ष्यमाणं वस्तु ॥ ४ व्याप्येहस्थितमि° य० । व्याप्येतस्थमि° भा० ॥ ५ व्याप्नोति व्याप्तुं शील° य० । व्याप्नोतीति व्याप्तिः शील° भा० ॥ ६ व्याप्तुं शीलमस्येति ताच्छील्ये चोक्ते "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" [पा० ३।२।७८] इति सूत्रेण 'व्यापि' इति सिध्यति । अचोक्ते तु ताच्छील्ये औणादिकं रूपम् ॥ ७ °स्रसिकैः प्र० ॥ ८ °दविअम्मि भा० ॥ ९ °गयभूता तावइयं होइ तं दव्वं भा० ॥ १० परिमाणेषु भा० लीं० विना ॥ ११ द्रव्यापर्या° डे० रं० । द्रव्यानापर्या° पा० ॥

एव च सति अतिमम्मुग्धत्वाद् वस्तुनस्तद्विपययोरभिधान प्रत्यययोर्व्यवहारे विनिश्चयफलयोरभावादिदोषा स्यु । मा भूवन्निति पर्यायादेश आश्रीयते–एकत्वमिति, प्रत्येकपरिसमाप्तेरसाधारणधर्माणा भावानामसङ्कीर्णरूपत्वेन स्ववृत्तिप्रतिलम्भात्, न हि कश्चित् कश्चिद्रूपेऽस्य भवितुमर्हति भाव इत्येकमेकमेव वस्तु । तदर्पणात् 'एकत्वम्' इति चोच्यते शासनम्, तस्य तस्य पृथक् पृथगर्पणात् स्व पररूपत । समप्रादेशवशाद् व्यापीति व्यापि च एकस्य चैकमेव तत् । एवमुत्तरेष्वपि । २-१

अनन्तमन्तवदपि, द्रव्य क्षेत्र काल भावादेशैरविशेषितत्वाद् विशेषितत्वाच्च । यथोक्तम्–

एय दुवालसग गणिपिडग दव्वतो एग पुरिस पडुच्च सादिय सपज्जवसियं, अणेगे पुरिसे पडुच्च अणादिय अपज्जवसियं । खेत्ततो भरतेरवते पडुच्च सादिय सपज्जवसिय, महाविदेहे पडुच्च अणादिय अपज्जवसिय । कालओ उस्सप्पिणि अवसप्पिणीओ पडुच्च सादिय सपज्जवसिय, णोउस्सप्पिणि अवसप्पिणीओ पडुच्च अणादिय अपज्जवसिय । [भावओ] जे जदा जिणपण्णत्ता भावा इच्चादिना सादिय सपज्जवसितमेव [नन्दिसू० १२] ।

अथवा नास्मिन्नन्तोऽस्तीति अनन्तम्, अन्तोऽस्तीति अन्तवत् । कस्य ? अविशेषितत्वात् सर्वस्य । तद्यथोक्तम्–

इमा ण भते ! रयणप्पभा पुढवी किं सासया असासता ? गोतमा ! सिया सासया सिया असासया ? से केणट्ठेण भते ! एव वुच्चइ-सिया सासया सिया असासयेति ? गोतमा ! दव्वट्ठताए सासता, वण्णपज्जवेहिं गधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहि सठाणपज्जवेहिं असासता [जीवाभि० सू० ३।१।७८] इत्यादि । २-१

न्यस्त धिया पाटवे" । न्यस्त निक्षिप्त धियामाभिनिबोधिकभेदाना पटुताया कर्तव्यायां कारणत्वेनेत्यर्थ । यथोक्तम्–जत्थाभिनिबोहियनाण तत्थ सुयनाण । जत्थ सुयनाण तत्थाभि

१ सत्यपितिसम्मुग्ध° भा ॥ २ °रनिश्चय° भा ॥ ३ पद्यात्मस्यम् य० ॥ ४ तस्य तस्य तस्य पृथक् भा० । तस्य पृथक् य० ॥ ५ °वशाद् व्यापि चैकमेव तत् भा० । अत्र 'समप्रादेशवशाद् व्यापि चैकस्य चैकमेव तत्' इति पाठ साधुरिति प्रतीयते । द्रव्यार्थादेशाद् व्यापि पर्यायार्थादेशादेकत्वम्, समप्रादेशवशात्—द्रव्यार्थ-पर्यायार्थोभयादेशवशात् तद् 'व्यापि च एकत्वं च' इत्यभिप्राय ॥ ६ पर्य भा० ॥ ७ °अं य० । एवमग्रेऽपि य०प्रतिषु °य इत्यस्य स्थाने °अ इति पाठोऽवसेय ॥ ८ कालउ उस्सप्पिउसप्पिणीउ भा० ॥ ९ °सप्पि य० । एवमग्रे पि ॥ १० °सप्पिणि-णुसप्पि° भा० ॥ ११ भा० विनाऽन्यत्र — सया गोयमा सिअ पि० । सया गो सिय पा० दे० टी ३० ही० ॥ १२ सिअ य० । एवमग्रेऽपि ॥ १३ यत्ति य० ॥ १४ गो दव्वट्ठयाए सासया य० ॥ १५ मया य० ॥ १६ 'पाटवे' इत्यत्र निमित्तसप्तमी तेन धियां पाटवस्य हेतुरिति भाव । एवं 'व्यामोहे न' इत्यत्राऽपि पञ्चम्यामूलप्रत्यय 'न व्यामोहहेतु' इत्यर्थ ॥ १७ णियोधियणाण भा । एवमग्रेऽपि ॥ १८ सुतणाण भा० । एवमग्रेऽपि ॥

निबोहियन्नाणं[1] [नन्दिसू० २४] इति[2]। श्रुतज्ञानसंस्कृतधियां[3] 'नित्य एव, अनित्य एव, अवक्तव्य एव' इत्येवमाद्येकान्तवादिग्राहेषु घटादेः कुम्भकारादिवेतनदानाद्यभावप्रसङ्गान्न नित्य एव, चिकीर्षा-स्मरण-प्रत्यभिज्ञान-संरक्षणाद्यभावप्रसङ्गान्नानित्य एव, स्वरूपानवधारणे वाग्व्यवहारोच्छित्तिप्रसङ्गात् 'अवक्तव्यः' इति वक्तव्यत्वावक्तव्यत्वयोः स्ववचनविरोधान्नावक्तव्य इत्येवमादिदोषप्रदर्शनेन, स्यान्नित्यः, स्यादनित्यः, स्यादवक्तव्यः' इत्यनेकान्ताभ्युपगमाद् यथाप्रमाणं धर्म-धर्मिव्यवस्थानात् तद्दोपपरिहारेण वस्तुस्वरूपोपपादनेन परमतनिषेधानुज्ञानाभ्यां प्रवादिनां परस्परविरोधनिरोधैकवाक्योपानयनाद् मध्यस्थसाक्षिवत् प्रमाणीभूतम्, तेषामपि तत्त्वावबोधपाटवाधानसमर्थत्वात्।

स्यान्मतम्—नन्वत[4] एव स्थाणु-पुरुषादिविषयसंशय-विपर्ययवद् नित्यानित्याद्येकान्तविकल्पात्मकत्वाद् व्यामोहहेतुरपि, काल-नियति-स्वभाव-पुरुष-दैवेश्वर-यदृच्छाद्येकान्तकारणविकल्पजगत्प्रतानविस्तृति[5][6]दर्शनादिति। अत्रोच्यते—न;[7] व्यत्यासधीरास्पदत्वात्। एकपुरुषपितृ-पुत्रत्वादिवज्जैनं हि शासनं कालादिजगत्प्रभेदैकान्तगतौ[8]व्यत्यस्य व्यावर्त्य परस्परविरोधनिवारणेन अनेकान्तात्मकप्रतिष्ठानसमाधान-

३-१ कारणमेकान्तानेकवादसमाहारात्मकैकप्रतिपत्तिकं परमतनिषेधानुमोदनाभ्यामेव। न काल एव, न नियतिरेव, एककारणवादिनां कारणसत्त्ववत् कार्यसत्त्वेऽनैकान्तिकत्वात्, कारणस्यापि कारणवत्त्वेऽनवस्थादोषादनेककारणत्वप्रसङ्गादनेककारणत्वस्य सिद्धेः, अनेककारणत्वेऽपि सदाद्यविशेषादनन्वयस्वाभावादित्यादिदोषात् 'कालोऽपि, नियतिरपि' इत्यादि, एकान्ते दोषदर्शनादनेकान्ते चादोषप्रदर्शनाद्[9] लौकिकवादसंवादि। यथोक्तम्—

क्वचिन्नियतिपक्षपातगुरु गम्यते ते वचः
 स्वभावनियताः प्रजाः समयतन्त्रवृत्ताः क्वचित्।
स्वयङ्कृतभुजः क्वचित् परकृतोपभोगाः पुन-
 र्न वा विशदवाद ! दोषमलिनोऽस्यहो विस्मयः॥ [सिद्ध० द्वा० ३।८] इति।

तदेवंविधं शासनमूर्जितम्, स्वातन्त्र्यात् परमतोपजीवन[10]वैक्लव्यरहितत्वात् परैराघ्रातस्य सुसिद्धा[11]न्ता(न्तस्या)त्यागात् कल्पनान्तराश्रयणाभावादनाकुलत्वाच्च। जेतृत्वाद्वा ऊर्जितम्। अनन्तरोक्तैर्हेतुभिर्जयति, परस्परानुवर्तिनयोत्साहबलसम्पदुपेतत्वाद्वा जयत्येव, उदितपुण्यनयोपेतचक्रवर्तिशासनवत्।

---

१ अत्र 'जत्थ आभिणिबोहियणाण तत्थ सुयणाण। जत्थ सुयणाणं तत्थाभिणिबोहियणाणं। दोऽवि एयाइं अण्णमण्णमणुगयाइ"—इति नन्दिसूत्रे पाठः। अस्य व्याख्या—"जत्थेत्यादि। यत्र पुरुषे आभिनिबोधिकज्ञानं तत्रैव श्रुतज्ञानमपि। तथा यत्र श्रुतज्ञान तत्रैवाभिनिबोधिकज्ञानम्। आह—यत्राभिनिबोधिकज्ञानं तत्र श्रुतज्ञानमित्युक्ते यत्र श्रुतज्ञानं तत्राभिनिबोधिकज्ञानमिति गम्यत एव, तत किमनेनोक्तेन? इति, उच्यते—नियमतो न गम्यते, ततो नियमावधारणार्थमेतदुच्यत इत्यदोष। नियमावधारणमेव स्पष्टयति—द्वे अप्येते आभिनिबोधिक-श्रुते अन्योन्यानुगते परस्परप्रतिबद्धे।"—नन्दिसूत्रमलय० वृ०॥ २ "इते स्वरात् तश्च द्वि" [प्रा० व्या० १।४२] इति सूत्रेण 'इति'शब्दस्य आदेरिकारस्य लुक्॥ ३ 'श्रुतज्ञानसंस्कृतधियाम्' इत्यस्य वक्ष्यमाणेन 'प्रवादिनाम्' इत्यनेन सम्बन्धः प्रतिभाति॥ ४ नत्वत य०॥ ५ दैवथेरयद° य०॥ ६ °तारवि° य०॥ ७ र व्यत्या° य०॥ ८ °णत्वे य०॥ ९ °र्न चाददोष भा०॥ १० °जीविनवै° य०॥ ११ सुसिद्धतात्यागात् भा०॥

तत्तु मवथा योगिना गम्यम्, सर्वनयप्रपञ्चसंस्कृतधियामनुविषयप्रज्ञत्वात् तेषाम्। अस्मदादिभिरेकदेशमाहात्म्यदर्शनाच्छेषमाहात्म्यमनुमानेन गम्यते। न गम्यं क्वचिदिति, यथैकदेशागम्यत्वेऽनभिभवनीयत्वेऽपि अन्यत्र गम्यता विषयखण्डपतेस्तथा मा भूदिति न गम्यं क्वचित्। अथवा गमनीयं गम्यं प्रतिपादनीयम्। न गम्यं प्रतिपादनीयम्, लोकप्रसिद्धव्यवहारानुपातिस्याद्वादपरिमृदुस्फुटपदार्थत्वादेकदेशगते शेषसुगमत्वात्। अयोग्यपुरुषापेक्षया वा न गमयितव्यम्, यथा— ३-

> स्थूलमतये न वाच्या सूक्ष्मा अर्था स तानगृह्णान् ।
> व्याकुलितमंता मिथ्यात्वं वा गच्छेदपरिणामात् ॥ [ ]

अथवा प्रागममीक्ष्योक्तार्थसमीकरणार्थं कल्पनान्तरैर्न गमनीयं क्वचित्। यथा बौद्धे 'सर्वं क्षणिकम्' इति प्रतिज्ञाय स्मृत्यभिज्ञान-बन्ध-मोक्षाद्यभावदोषपरिहारार्थं सन्तानकल्पना। प्रधाननित्यतां प्रतिज्ञाय परिणामकल्पना व्यक्तात्मना कापिले। क्रियावद् गुणवत् समवायिकारणम् [वै० सू० १।१।१५] इति सामान्यद्रव्यलक्षणं प्रतिज्ञाय एकान्तनित्यानित्यवादे च तदव्याप्तिपरिहारार्थम् 'अद्रव्यमनेकद्रव्यं च द्विविधं द्रव्यम्' इति 'द्रव्यत्वं च सामान्यविशेषाख्यं तत्त्वम्' इति द्रव्य-पर्यायनयद्वयाश्रयणेन पदार्थप्रणयनं काणभुजे। तथा 'द्रव्य-गुण-कर्माणि नाना' इति प्रतिज्ञाय सदसत्तभेदे नीलोत्पलादि सद्द्रव्यादिसामानाधिकरण्य-[विशेषण]विशेष्यत्वादिव्यवहाराभावदोषभयात्

---

१ मतन्तु वि०। 'विषयानुगामिनी प्रज्ञा अनुविषयप्रज्ञा, योगिनस्तु अननुविषयप्रज्ञा। ते हि न एकदेशमाहात्म्यदर्शनाच्छेषमाहात्म्यमनुमानेन अवगच्छन्ति' इति 'अननुविषयप्रज्ञत्वात्' इति पाठस्य आशयः प्रतिभाति। अथवा 'अननुमानविषयप्रज्ञत्वात्' इत्यपि पाठोऽत्र स्यादिति सम्भाव्यते॥ २ त्वेनाभि पा०। त्वेनाभि° वि०॥ ३ विषयखण्डयतेस्तथा प्र०। अत्र विषयो देश इत्यर्थः॥ ४ मन्य मिथ्या° विस० विना॥ ५ बौद्धे भा० विसं०। बौद्धौ भा० विस० विना। अत्र पूर्वापरसन्दर्भानुसारेण 'बौद्धे' इत्येव पाठः समुचितः टीकाकृदभिप्रेतश्चेति भाति॥ ६ क्षाभाव° य०॥ ७ °रार्थमता प्र०॥ ८ °त्मता भा०। हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्। सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥ १०॥'—साङ्ख्यका०॥ ९ 'क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्'—इति वैशेषिकसूत्रे पाठः॥ १० वि० विनाऽन्यत्र— वाद् च भा० पा०। वाद् च डे० लीं० लीं० ही०॥ ११ 'तथा तम् [=स्याद्वादम्] अन्तरेण सामानाधिकरण्यं विशेषणविशेष्यभावोऽपि नोपपद्यते। तथा हि भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः शब्दयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्। तयोश्चात्यन्तभेदे घट-पटयोरिव नैकत्र वृत्तिः। नाप्यत्यन्ताभेदे भेदनिबन्धनत्वादस्य न हि भवति—नीलं नीलमिति। किञ्च नीलशब्दादेव तदर्थप्रतिपत्तौ उत्पलशब्दानर्थक्यप्रसङ्गः। सर्वथैकं वस्तु सद्वेत नियम्यमाने विशेषणविशेष्यभावाभावः। विशेषणं विशेष्यात् कथञ्चिदर्थान्तरभूतमवगन्तव्यम्। अस्त्विदं चेदं विशेषणं तस्य विशेष्यं वस्तु तदेव वा स्यादन्यदेव वा? न तावत् तदेव न हि तदेव तस्य विशेषण(ष्य) भवितुमर्हति। असति च विशेष्ये विशेषणत्वमपि न स्यात्, विशेष्यं विशिष्यते येन तद् विशेषणमिति व्युत्पत्तेः। अथ अन्यत्, तर्हि अन्यत्वाविशेषात् सर्वं सर्वस्य विशेषणं स्यात्। अतो नात्यन्ते भेदेऽभेदे वा सम्भवतीति भेदाभेदलक्षणः स्याद्वादोऽकामेनाप्यभ्युपगन्तव्य इति।'—सिद्धहेम० लघुन्यासे पृ० २-१॥

शेषशासनन्यग्भावेनैव जेष्यति तद् यदेवम्विधम् । एवम्विधनैव तु प्रतिपादनीया। किमेव प्रतिपाद्यमस्ति ? द्रव्यार्थ-पर्यायार्थद्वित्वाद्यनन्तान्तविकल्पो-

---

तत्सिद्ध्यर्थं सदिति यतो द्रव्य-गुण-कर्मसु द्रव्य-गुण कर्मभ्योऽर्थान्तरं सा सत्ता [वै० सू० १।२।७-८] इत्याश्रितपदार्थव्याजेन द्रव्यार्थ-पर्यायार्थाश्रयणं सङ्करदोषपरिहारार्थं च सामान्यस्यान्त्यविशेषस्य च परिकल्पनेति ।

वाचां भागमतीत्य वाग्विनियतमिति, प्रज्ञापनीयेष्वेव भावेषु अनन्तासङ्ख्येयसङ्ख्येयभाग-गुणहानिवृद्धिभ्यां क्षयोपशमविशेषापेक्षया मतिविशेषाभ्युपगमाच्चतुर्दशपूर्वधराणामेव परस्परतः, अद्यतनपुरुषेन्द्रियशक्त्युत्कर्षापकर्षवत् । उक्तं च —

जं चोद्दसपुव्वधरा छट्ठाणगया परोप्परं होंति ।
तेण तु अणंतभागो पण्णवणिज्जाण[6] जं सुत्तं ॥
४-१ पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं ।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुअणिबद्धो ॥
अक्खरलंभेण समा ऊणहियां होंति मइविसेसेहिं ।
ते वि य[11] मईविसेसे[12] सुअणाण[13]ब्भंतरे जाण ॥ [विशेषाव० भा० ६३, ६२, ६४]

शेषशासनन्यग्भावेनैवेत्यादि[14] । परवादतिरस्करणेन जेष्यत्येव तदवश्यम्, स्तुतिद्वारेण भवता तत्सामर्थ्याङ्गीकरणात्, नूनमेतत् प्रतिपादयिष्यति भवान्[15]—न तदनुरोधेनैव कस्यचिदिति । किं तत् कस्यचित् प्रसादेन जयति ? विवदमानस्य गले पादं कृत्वा जयतीत्यभिप्रायः । यदेवम्विधमिति, यद् योगिनामेव सर्वथा गम्यम्, न गम्यं कचिदप्यन्येषाम्, वाचां भागमतीत्य वाग्विनियतम्, व्याप्येकस्य-मनन्तमन्तवदपि, न्यस्तं धियां पाटवे, व्यामोहे [न], जगत्प्रतानविस्मृतिव्यत्यासधीरास्पदं

---

१ "सदिति यतो द्रव्य-गुण-कर्मसु सा सत्ता । द्रव्य गुण-कर्मभ्योऽर्थान्तर सत्ता"—इति वैशेषिकसूत्रे पाठ । "सदिति यतो द्रव्य-गुण-कर्मसु सा सत्ता । इतिकारेण प्रत्यय-व्यवहारयो प्रकारमुपदिशति । तथा च द्रव्यादिषु त्रिषु 'सन् सत्' इतिप्रकारको यत प्रत्यय 'सदिदं सदिदम्' इत्याकारक शब्दप्रयोगो वा यदधीन. सा सत्ता ॥ ननु द्रव्य-गुण-कर्मभ्य पृथग्भावेन सत्ता नानुभूयतेऽतो द्रव्याद्यन्यतमदेव सत्ता इत्यत आह—द्रव्य-गुण-कर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता । द्रव्यादयोऽननुगता, सत्ता चानुगता । तथा च अनुगतत्वाननुगतत्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यासेन तेभ्यो भेदस्य सिद्धत्वात् ।"—वैशे० सू० उप० पृ० ४० ॥ २ समिति° य० ॥ ३ चउद्दस° य० ॥ ४ परुप्परं य० ॥ ५ तेणं अणंत° य० । तेणं तु अणंत° भा० । "तेण उ अणंत°" —विशेषाव० भा० ॥ ६ पन्न° य० । एवमग्रेऽपि ॥ ७ तु भा० ॥ ८ सुत° भा०। "सुय°"—विशेषाव० भा० ॥ ९ °हिआ हुंति य० ॥ १० मइविसेसेण भा० । "मइविसेसेहि"—विशेषाव० भा० ॥ ११ अ य० ॥ १२ मती° भा० ॥ १३ सुतणाण° भा० । "सुयणाण°"—विशेषाव० भा० ॥ १४ °न्यग्भावेनेवेत्यादि भा० । °न्यग्भावेन वेत्यादि य० ॥ १५ भवान् तदनु° प्र० ॥

पञ्चविधि भेदपदार्थैकवाक्यविधिविधानादशेषज्ञानावयवमवबोधसमुद्रावयवीभूत शासनमेवम्विधमेव ।

जगत्प्रतानविसृतिव्यत्यासेन धीरमोरुपन्मचल प्रतिष्ठान च यस्य तत्र किमाश्चर्यं 'जयत्यूर्जित च' इति ? किं तर्हि ? एवम्विधत्वेन तु प्रतिपादनीया अन्यमतासाधारणगुणता । सैव विरोधधर्मसम्भावनाऽभावाद् दुष्प्रतिपादेत्यभिप्राय ।

अत्राचार्य आह–'किमेव प्रतिपाद्यमस्ति ? प्रतिपादितमेव तत् । यस्माद् द्रव्यार्थपर्यायार्थेत्यादि । द्रव्येणार्थो द्रव्यार्थ, द्रव्यमर्थोऽस्येति वा । अथवा द्रव्यार्थिक, द्रव्यमेवार्थो यस्य सोऽय द्रव्यार्थ, स्वार्थिकोऽय 'ठन्' प्रत्यय 'द्रव्यार्थिक' । एव पर्यायार्थ पर्यायार्थिको वा । अर्थाच्चासन्निहिते [पा० वार्ति० ५।२।११५] इति वचनादर्थि प्रत्यर्थिवदिनिरेव स्यादिति चेत्, न, असन्निधानाभावात् तदर्थस्य । अथवा 'अस्ति' इत्यस्य मतमास्तिक, द्रव्य आस्तिको द्रव्यास्तिक । तयोर्द्वयोर्भावो द्वित्व न, तदादयोऽनन्तानन्ता विकल्पा, वचनपथतुल्यसङ्ख्यपरसमयतुल्यसङ्ख्यानयानाम् । ४-२

जावइया वयणपहा तावइया चेव [10] होंति णयवाया ।
जावइया णयवाया तावइआ चेव परसमया ॥ [सन्मति० ३।४७]

एवविधविकल्पोपकॢप्तनयवादोपष्टम्भविधि भेदपदार्थानामेकवाक्यविधि, तस्य विधानादशेषज्ञानान्यवयवा अस्य सर्वनयजनितानि । अवबोधसमुद्र एवाभेदेनावयवीभूतो यस्मिंस्तदवबोधसमुद्रावयवीभूत शासन दुरवगाहगम्भीराक्षोभ्यपरापरत्वाकररत्नसामान्यात्, एवम्विधमेवेति, उक्तनयतरङ्गभङ्गसङ्ग्रह-प्रस्तारात्मकमविकल्पैर्पदार्थावद्योतनादनेकादित्यसमूहवत् कृतप्रकाश तमसोऽनवकाशाभावात् सवितृमहस्रवद् भास्वरत्वादनभिभवनीयम् ।

---

१ सम्भावनाभावाद् दु प्रति° य । °सम्भावाद् दु प्रति भा० ॥ २ अत्राचार्य आह इति पाठो य० प्रतिषु नास्ति ॥ ३ किमत्र भा । किमेव पा० ह लीं० ॥ ४ अत इनिठनौ पाणिनिसूत्रा० ५।२।११५ ॥ ५ अत्र 'तयोर्द्वयोर्भावो द्वित्वम्, तदादयोऽनन्ता विकल्पा' इत्यपि पाठ स्यादिति सम्भाव्यते । यथाश्रुत तु तयोर्द्वयोर्भावो द्वित्वमेव कथ न किं तर्हि ? तदादयोऽनन्तानन्ता विकल्पा इत्यर्थाभिप्रायेण सङ्गमनीयम् ॥ ६ °नन्तानन्तविकल्पा भा वि विना । °नन्तानन्तविकल्पा भा० वि । अत्र 'अनन्ता अत्र विकल्पा' इत्यपि पाठ स्यादिति सम्भाव्यते, तथा सम्भावनायां च मूलमपि °द्वित्वाद्यनन्तविकल्पोपकॢप्त° इति सम्भावनीयम् । 'अनन्तानन्ता' इति पाठे तु "अन्त स्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चयनाशयो । अवयवेऽपि" इति हैमकोशानुसारेण अन्तशब्दस्य स्वरूपवाचित्वमवयववाचित्व वा गृहीत्वा सङ्गमनीयम् ॥ ७ तुल्यत्वाद्यनयाना य० ॥ ८ °यतिया भा० । एवमग्रेऽपि ॥ ९ °वयणपघा भा ॥ १० हुति य ॥ ११ °वादा भा० ॥ १२ एवमविधमेव भा ॥ १३ वयविभूत भा० । अय भा० प्रतिपाठोऽपि साधुरेव भाति । अत्र च पाठे अवबोधसमुद्र एवाभेदेन अवयवी भूतो यस्मिंस्तदवबोधसमुद्रावयविभूतम् इति विग्रह कार्य, अभूततद्भावविवक्षायां च्विप्रत्ययायोगात् 'इ'कारस्य दीर्घत्वाभावेऽपि न क्षतिरिति ध्येयम् ॥ १४ पदार्थावद्योतमद्योतमादनेका° भा । °पदार्थावद्योतमद्योतनादनेक° १० ही० । °पदार्थावद्योतमद्योतमादनेका भा० १० ही० विना ॥

शेषशासनिवचनानि प्रत्यक्षानुमानविनिश्चेयपदार्थविपर्ययप्रणयनेन अश्रावणशब्दवादिवचनवदाशङ्कामपि सत्यत्वे न जनयितुमलम् ।
लौकिकव्यवहारोऽपि न यस्मिन्नवतिष्ठते ।
तत्र साधुत्वविज्ञानं व्यामोहोपनिबन्धनम् ॥

तद्व्यतिरिक्ताः शासनिनः कपिल-व्यास-कणाद-शौद्धोदनि-मस्करिप्रभृतयः, तेषां वचनानि । प्रत्यक्षानुमानविनिश्चेयपदार्था रूपाद्यो घटादयोऽग्न्यादयश्च । तेषां विपर्ययेण प्रणयनं तैः कृतम् । तेन विपर्ययप्रणयनेन निरुक्तीकृतं[1] विसंवादत्वम् । तत् कथम्? प्रत्यक्षविनिश्चेयास्तावद्[2] युगपद्भाविषु प्रतिनियतेन्द्रियविषयेषु घटाद्याधारादृते[3] ग्रहणाभावान्न रूपादय एव, रूपाद्यन्यतमधर्मग्रहणद्वारमन्तरेण घटाद्यग्रहणात् तदभावे तदभावाच्च न द्रव्यमात्रमेव । अयुगपद्भाविष्वपि पिण्ड-शिवकादिषु मृद्ग्रहणे पिण्ड-शिवकाद्यग्रहणात् मृदभावे पिण्ड-शिवकाद्यभावात् न पर्याया एव । मृदोऽपि शिवकाद्यन्यतमावस्थाविशेषा[4][5]वस्थानमन्तरेण अग्रहणादभावाच्च न द्रव्यमेव । एतेनाग्न्यादि-धूमादिर्लिङ्ग-लिङ्गिव्यवहारो[6] व्याख्यातः कार्यानु[7]मानविनिश्चेयेऽपि न विशेषा[5] एव, निर्मूलत्वात्, खपुष्पवत् । न सामान्यमेव, अविशेषितत्वात्, खपुष्पवत् । तस्मादेव प्रत्यक्षानुमानविनिश्चेयपदार्थेषु सर्वलोकप्रसिद्धेषु[8] विपर्ययप्रणयनमन्यशासनिनाम्—रूपादय एव घटः, घट एव रूपादयः, रूपादयश्च घटश्च[9] रूपादिगुणोऽवयवीत्यर्थः, न रूपादयो न घट इति वा । अश्रावणशब्दवादिवचनवदिति सर्वलोकप्रसिद्धेन्द्रियप्रत्यक्षविरोधिवचनोदाहरणादनु[10]मानविरोधाद्यप्युदाहृतमेव । आशङ्कामपि सत्यत्वे न जनयितुमलमिति[11], निःसन्दिग्धमेवासत्यत्वं तेषामित्यर्थः ।

अपि च—[12]लौकिकव्यवहारोऽपीत्यादि यावद् व्यामोहोपनिबन्धनमिति । सातिशय[13]बुद्धिभिरपि परीक्षकैर्निरतिशयलोकप्रसिद्ध्यनुवर्तिभिः परात्ममतविशेषप्रतिपत्तिनिराकरण-तत्त्वप्रतिपादने कार्ये[14], इतरथा साक्षिविरहितव्यवहारवदनियतार्थैव[15] परीक्षा स्यात् । लौकिकास्तु नित्यानित्यावक्तव्याद्यनेकान्तरूपमेव घटादिकमर्थमव्युत्पन्ना[16] अपि प्रतिपद्य व्यवहरन्तो[17] दृश्यन्ते । तदपह्नव[18]प्रवृत्तयश्चैकान्तवादाः 'नित्य एव, अनित्य एव, अवक्तव्य एव घटः' इत्यादयः । तत्र शेषशासनेषु 'साध्विदं[19] साधु त्विदम्' इति विचारो व्यामोहस्यैव निबन्धनं[20] हेतुरित्यर्थः, विचारानवकाशाद् विसंवादाच्च ।

---

१ निरुक्ततं भा० ॥ २ °यस्तावद् प्र० । °येषु तावत् इत्यपि पाठः स्यादत्र ॥ ३ °घटद्योवारादृते भा० । घटद्योवारादने य० ॥ ४ शिविका° य० । एवमग्रेऽपि ॥ ५ ˜ ˜ एतच्चिह्नान्तर्गत °वस्थानमन्तरेण इत्यत आरभ्य न विशेषा इत्यन्त पाठो य० प्रतिषु नास्ति ॥ ६ °लिंगंलिंगंलिंगिव्यवहारो भा० ॥ ७ °मानविनिश्चयेपि भा० ॥ ८ सर्वेलोके प्र° भा० ॥ ९ रूपादयं च घटं च प्र० ॥ १० °दनुमानुविरो° य० । °दनुविरो° भा० ॥ ११ जनयतितुमल भा० ॥ १२ "उक्तं हि—लौकिकव्यवहारोऽपि न यस्मिन्नवतिष्ठते । तत्र साधुत्वविज्ञानं व्यामोहोपनिबन्धनम् ॥" इत्येवमुद्धृता सम्पूर्णा कारिका उत्तराध्ययनसूत्रबृहद्वृत्तौ [पृ० २-१] प्रवचनसारोद्धारटीकायां [पृ० २-१] च १३ °शयबुद्धिभि° प्र० ॥ १४ कार्ये प्र० ॥ १५ °वदनियतार्थैव प्र० ॥ १६ °त्पन्न अपि प्र० ॥ १७ व्यवहारतो भा० । व्यवहारतो य० ॥ १८ °पह्नेव प्रवृ° प्र० ॥ १९ साध्वेदं प्र० ॥ २० व्यामोहस्येव निब° प्र० ॥

लोकप्रत्यक्षादिनिश्चेयेऽपि शेषशासनविसंवदनजनितास्थं च प्रमाणद्वय-संसिद्धिसम्पादितप्रत्ययप्रतिष्ठापितात्यन्तपरोक्षार्थश्रद्धानं जिनशासनम् ।

अस्य चार्थस्य पूर्वमहोदधिसमुत्पतितनयप्राभृततरङ्गागमप्रभ्रष्टश्लिष्टार्थकणिकामात्रमन्यतीर्थकरप्रज्ञापनाभ्यतीतगोचरपदार्थसाधनं नयचक्राख्यं सङ्क्षिप्तार्थं गाथासूत्रम्—

विधि नियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत् ।
जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम् ॥

लोकप्रत्यक्षादिनिश्चेयेऽपि, किं पुनरतीन्द्रियार्थे ? शेषशासनविसंवदनजनितास्थं च, शेषशासनानां विसंवादनेन जनिता आस्था अस्मिन् जिनशासनेऽस्माकम् 'इदं वरिष्ठम्' इति परपक्षास्थित्यादेव स्वपक्षसिद्धिरपवीतेनेति । अथवा स्वपक्षसौस्थित्यानुमानमप्यस्तीत्याह—प्रमाणद्वयसंसिद्धीत्यादि । लौकिकपरीक्षकाणां प्रत्यक्षानुमानप्रामाण्यं प्रत्यविसंवादात् पूर्वन्यायेन स्थितास्थितमृत्तनपृथुबुध्नादिसंस्थानोपादानकारणाभ्यां द्वयेन द्वयस्य वा प्रत्यक्षेणानुमानेन च तद्विनिश्चेयपदार्थद्वयस्य संसिद्धिः, तया सम्पादितः प्रत्ययः प्रमाणं जैन्यां प्रक्रियायाम्, तत एव च प्रतिष्ठापितमत्यन्तपरोक्षेऽप्यर्थे मेरूत्तरकुरुद्वीप समुद्र विमान भवन नरकप्रस्तारप्रमाणादौ श्रद्धानं यस्मिंस्तदिदम् 'ऊर्जितं जयति' इति प्रत्याम्नायते, अन्यथा प्रामाण्याभावात् । यथोक्तम्—प्रत्यक्षग्राह्ये च सिध्यति परोक्षग्राह्यं सिध्येत् । तदसिद्धौ सम्भावनाऽभाव एव, प्रत्यक्षविसंवादित्वात्, उन्मत्तवाक्यवत् [ ] इति ।

अस्य चार्थस्येत्यादि यावद् गाथासूत्रमित्यनेन शास्त्रारम्भसम्बन्धप्रयोजनाभिधानम् । पूर्वमहोदधिसमुत्पतितनयप्राभृततरङ्गागमप्रभ्रष्टश्लिष्टार्थकणिकामात्रमिति सम्बन्धः, न स्वमनीषिकयोच्यते, प्रमाणागमपरम्परागतमेवेदमित्यर्थः । अन्यतीर्थकरप्रज्ञापनाभ्यतीतगोचरपदार्थसाधनं प्रयोजनम्, शिष्यानुग्रहस्यान्यथा कर्तुमशक्यत्वात् । नयचक्राख्यमारभ्यं शास्त्रम्, तदन्तरेण तदसिद्धेः । शिष्यस्य प्रसङ्गविप्रसृतधियो मा भूद्व्यामोह इति सङ्क्षिप्तार्थं गाथासूत्रमिदम्—विधि-नियमेत्यादि । अन्यशासनानृतत्वप्रतिपादनसाधनमिदम् । अर्थापत्त्या तु 'भवति'शुद्धपदोच्चारणवद् विधि-नियमभङ्गवृत्तियुक्तत्वाज्जैनं वचः सत्यमिति गम्यते ।

---

१ °क्षाग्निनिश्चयेपि प्र० ॥ २ °करणाभ्यां प्र० ॥ ३ तथा सम्पा° प्र० ॥ ४ प्रमाणं य० ॥ ५ परोक्षग्राह्य° प्र ॥ ६ सिध्यति तदसिद्धौ य ॥ ७ °तरङ्गागमप्रभ्रष्ट' प्र० ॥ ८ °प्रज्ञापनाभ्य भा० ॥ ९ °नृतत्वाप्रतिपा प्र० ॥ १० एतच्च नयचक्रवृत्तिकार एव ग्रन्थान्ते इत्थं स्पष्टीकरिष्यति—"इत्येवमनेन क्रमेण ग्रन्थेनेदमभिहितम्—विधि-नियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवज्जैनादन्यच्छासनमनृतम् । जैनमेव शासनं सत्यम्, विधिनियमभङ्गवृत्त्यात्मकत्वात्, भवतिवद् घटवद्वेति —नयचक्रवृ० पृ० ५६८-१ ॥

विधिराचारः स्थितिः… ..। नियमः …..। तयोर्भङ्गाः—१ विधिः, २ विधि-विधिः, ३ विधेर्विधि-नियमम्, ४ विधेर्नियमः, ५ विधि-नियमम्, ६ विधि-नियमस्य विधिः, ७ विधि-नियमस्य विधि-नियमम्, ८ विधिनियमस्य नियमः, ९ नियमः, १० नियमस्य विधिः, ११ नियमस्य विधिनियमम्, १२ नियमस्य नियमः। तेषां वृत्तिः स्वविषयसम्पातनेन भावना अर्थानाम्। जैनसत्यत्वसाधनवृत्ता तु वृत्ति-

---

तद्व्याचक्षाणः सूरिः 'विधि-नियमशब्दावलौकिकौ' इति परो मा मंस्तेति तत्पर्यायशब्दानु-
६-१ च्चारयति—**विधिराचार** इत्यादि। विधीयत इति विधिर्भावसाधनो[1]ऽध्याहृतकर्त्रर्थः। यो विदधाति स कर्ता द्रव्यार्थः। को विदधाति? पिण्डशिवकादिभावान् मृद्विदधाति। तथा हि मृदा शिवकादयो विधीयन्ते। लक्षणतस्तु अनपेक्षितव्यावृत्तिभेदार्थो द्रव्यार्थो विधिः, लोके दृष्टत्वात्। [2]आदानमर्यादया [3]चार **आचार** आत्मरूपापरित्यागः पररूपानपेक्षः। एवं **स्थित्या**दिषु योज्यम्। पर्यायार्थतस्तु **नियमः**, निराधिक्ये, आधिक्येन यमनं नियमः परस्परप्रतिविविक्तभवनादिधर्मलक्षणः प्रतिक्षणनियतोऽवस्था-विशेषो युगपद्भाव्ययुगपद्भा[4]वी वा रूपादिः [5]शिवकादिश्च यो यो भवति स एव स एवेति। पर्यायशब्दानां शेषाणामप्ययमर्थो यथाक्षरं योज्यः।

[6]**तयोर्भङ्गा विधिर्विधि[विधि]**रित्यादि। तत्र **विधि**रनपेक्षितभेदानुगतिव्यावृत्तिव्यापारो यथा गौरिति। [7]****विधिविधिस्तु** शुक्लादिभेदनियमवादिनं प्रत्यभेदप्रतिपादनव्यापृतः—कोऽयं शुक्लादिभेदो नाम गोत्वव्यतिरिक्तः? इति। [9]**विधेर्नियमो**ऽतिप्रसक्तस्य विशेषेऽवस्थापनं विधिप्रधानस्यैव तदंशेऽवस्थापनम्, यथा गां शुक्लामानयेति। तदुभयात्मकं [10]**विधेर्विधि-नियमम्। विधि-नियमं तु** विधिश्च नियमश्च विधि-नियमम्, द्वन्द्वैकवद्भावः, तुल्यकक्षौ विधिनियमावेव सहितौ, व्यात्मकं सर्वमिति। शेषा यथायोगमेतद्व्याख्यानुसारेण व्याख्येया भङ्गाः। सामान्येन तु कारणं विधिः, कार्यं नियमः, उभयं* विधि-नियमम्, शेषास्तद्विकल्पा एव।

एवं [11]भङ्गान् व्यवस्थाप्येदानीं वृत्तिं व्याख्यातुकाम आह—**तेषां** विधि-नियमभङ्गानां **वृत्ति**रिति। तस्यास्तु [12]लक्षणम्—**स्वविषयसम्पातनेन भावना अर्थानाम्**, आत्मीय आत्मीये विषये विषयेऽवर्ता[13]र्थे यया तदर्था भाव्यन्ते। तथाहि—तथा भवन्ति नान्यथेति, नित्य एवाकृतकत्वादाकाशवत्, अनित्य एव कृतकत्वाद् घटवद् वेति। यथोक्तम्—द्रव्यस्यानेकात्मनोऽन्यतमैकात्मावधारणमेकदेशनयनान्नयः [　　] इति। प्रत्यक्षानुमानाभ्यां [14]पूर्ववत् स्थितास्थितमृत्त्वपृथुबुध्नादिसंस्थानोपादान[15]कारणाभ्या वृत्ति-

---

१ °धनो व्याहृ° प्र० ॥ २ आदानं मर्यादया य० ॥ ३ चार आत्मरूपा° य०। चार आचार आचार आत्मरूपा° भा० ॥ ४ °द्भावी रूपादि य० ॥ ५ शिवकादिं च भा०। शिविकादि च य० ॥ ६ तयोर्भंगा भा०। तयोर्भागा य० ॥ ७ * * एतच्चिह्नान्तर्गतो विधिविधिस्तु इत्यत आरभ्य उभयं इत्यन्त पाठो भा० प्रतौ नास्ति ॥ ८ °व्यावृत्तः य० ॥ ९ विधिर्नियमो य० ॥ १० विधिर्विधेर्नियमं य० ॥ ११ भंगाद्यवस्थाप्ये° प्र० ॥ १२ लक्षणं विषयसम्पा° य० ॥ १३ °वताय प्र० ॥ १४ पूर्वावस्थिता° य० ॥ १५ करणाभ्यां भा० ॥

विवक्षितद्वादशविकल्पविशेषणा, अन्यथा अवृत्तित्वमेव वक्ष्यमाणवत्। सा च विध्यादिप्रत्येकवृत्तिरूपाख्यानसमधिगम्या।

तत्र विधिवृत्तिस्तावद् यथालोकग्राहमेव वस्तु, स्वपरविषयताया सामान्यविशेषयोरनुपपत्तेरसत्ततो विवेकयत्नः शास्त्रेष्विति।

सामान्यविशेषौ हि स्वविषयौ परविषयौ वा स्याताम्। तत्र सामान्य तावदेकस्य सर्वत्वाद् यदि स्वविषयम्, सामान्यविरोधः। यदि सामान्यम्, तत

तत्त्वमित्यत आह–जैनसत्यत्वसाधनवृत्ता[1] तु वृत्तिर्विवक्षितद्वादशविकल्पविशेषणेति, तत्समा ६-२ हारैकरूपतया तत्त्वाख्यानमित्यर्थः, अनेकसम्बन्धिदेवदत्तपितृपुत्रत्वादिधर्मसमाहारैकरूपवस्तुतत्त्वाख्यानवत्। अन्यथेत्येका तावधारणे प्रत्येकं स्वरूपानवधारणात् अवृत्तित्वमेव वक्ष्यमाणवदिति, तदित्थमिदमेव शास्त्रं वर्त्स्यतीति परस्परव्याहततत्त्वास्त्ववृत्तय एव ता इत्यर्थः। वृत्तितत्त्वविनिश्चिचीषाया सा च विध्यादिप्रत्येकवृत्तिरूपाख्यानसमधिगम्येति तद्व्याख्या कार्या। किं कारणम्? तत्समुदायकार्यत्वात् तस्याः।

इममर्थं विस्तरेण व्याख्यातुकाम उद्दिशति – तत्र विधिवृत्तिरित्यादि। तत्र एतास्वनन्तरोद्दिष्टासु विध्यादिवृत्तिषु विधिवृत्तिस्तावद् यथालोकग्राहमेव वस्तु। लोकस्य ग्राह, ग्राहवद् ग्राह, यथा जलचरो ग्राह प्राण्यन्तराण्यभ्यासमाकर्षति तथा लोकोऽपि स्वाभिप्रायसकाशं सर्वमाकर्षति। यो यो लोकग्राहो यथालोकग्राहम्, एवेत्यवधारणाल्लोकाभिप्रायं नातिवर्तते वस्त्वित्यर्थः। परीक्षकाभिमानिनां तु तीर्थ्यानां स्वपरविषयताया सामान्यविशेषयोरनुपपत्तेरसत्ततो लोकाभिप्रायाद् विवेकयत्नः शास्त्रेष्विति। इतिशब्दो हेत्वर्थे, यस्मादेतमर्थं प्रतिपादयिष्यामस्तस्माद् यथालोकग्राहमेव वस्तु, ततो लोकाभिप्रायाद्विवेकयत्नानर्थक्यम्।

तत् कथमिति चेत्, उच्यते–सामान्यविशेषौ हि स्वविषयौ परविषयौ वा स्याताम्, वस्तुन सामान्य घटादेर्वस्तुन आत्मनि वर्तत, परस्य वा पटादेरात्मनि घटाद्व्यतिरिच्यमाने। चतुर्ष्वप्येषु विकल्पेषु साङ्ख्यादीनां दोष इति मन्यमानो लौकिकः पक्षं ग्राहयन्ति दूषयिषु सोपपत्तिकम् —तत्र आद्य सामान्य तावदेकस्य सर्वत्वाद् यदि स्वविषयम्। सर्वमेकमेकं च सर्वम्, ७-१ कस्मात्? कारणस्य वैश्वरूप्यात्। यथाह–

सर्वं सर्वात्मकम्। यद्येवं कस्मात् सर्वमेकत्र नोपलभ्यते सर्वत्र चैकमिति? उच्यते—देशकालाकारनिमित्तावरुद्धत्वात्तु न समानकालमात्माभिव्यक्तिः। ते मन्यामहे जलभूम्योरप्येतत् पारिणामिकं रसादिवैश्वरूप्यं स्थावरस्य जङ्गमतां गतस्य जङ्गमाभ्यवहृतवनस्पत्यादेर्जङ्गमशरीरपरिणाममापन्नस्य, जङ्गमस्यापि स्थावरतां गतस्य स्थावराभ्यवहृतस्य तत्परिणतस्य, एवं स्थावरस्य स्थावरतां गतस्य जङ्गमस्य जङ्गमतां गतस्य। तस्मात् सर्वं सर्वात्मकम् [ ]।

---

१ °वृत्तावृत्ति प्र० ॥ २ तत्त्वाद्व्याख्यान प्र ॥ ३ °सर्वधेदेव प्र० ॥ ४ प्रायोद्विवेक प्र० ॥ ५ पक्षय भा० ॥ ६ उद्रूप° भा० ॥ ७ सर्वमेष च य० ॥ ८ रसादिवैश्वरूप य०। रसादिवैश्वरूप्य भा० ॥ ९ व्यवहृत प्र० ॥

आत्मा न भवति, अनेकार्थविषयत्वात् सामान्यस्य; अथ आत्मा, ततो न सामान्यम्, एकत्वादात्मनः; सेनाहस्तिनोरिव ।

अथोच्येत – आत्मैव सामान्यम्। सत्त्वादिर्घटादेरात्मा, स हि तत्समुदायकार्य-

---

तत एकस्य सर्वत्वात् सर्वस्य चैकत्वात् स्वविषयं सामान्यं घटस्यात्मनि वर्तत इति परमतं प्रदर्श्योत्तरमाह– **यद्येवम्, सामान्यविरोधः** सामान्यस्य विरोधः सामान्येन च विरोधः ।

तत् कथम्? उच्यते– **यदि सामान्यम्, तत आत्मा न भवति, अनेकार्थविषयत्वात् सामान्यस्य ।** कश्चिदर्थः केनचिदर्थेन केश्चिद्धर्मैः समानो भवतीति कृत्वानेकार्थविषयं सामान्यम् । तस्मादनेकार्थविषयत्वात् सामान्यस्य[1] वस्तुनः स्वमात्मा घटादेरेकरूपस्य न भवति, एकत्वादात्मनः, सामान्यस्य च निवृत्तेरात्मनश्च आत्माभावात् कस्य सामान्यम्? । **अथ** मा भूदेष दोष इत्यात्मेष्यते, **ततोऽपि न सामान्यम्, एकत्वादात्मनः** केन सामान्यं तस्य? इत्यात्मनः सामान्येन विरोधः, समानभावो हि सामान्यम् । **सेनाहस्तिनोरिवे**ति, हस्त्यश्वरथपदातिसमूहः सेनेत्यनेकार्थापेक्षां दर्शयति, हस्तीति चैकार्थतां दर्शयति ।

अथोच्येतेति स परिहर्तुकामस्य परस्याभिप्रायमाह । स्यादेव विरोधो यदि 'आत्मनः सामान्यम्'
७-२ इति भेदेन स्वत्वमभ्युपगम्येतेति । यद्यपि व्यतिरेकार्थषष्ठीप्रापितः[2] स्वस्वाम्यादिभेदः तथाप्यदोषः, व्यपदेशिवद्भावात् 'राहोः शिरः' इत्याद्यव्यतिरेकषष्ठीदर्शनादिति । कि तर्हि? ब्रूमः– इह तु **आत्मैव सामान्यम्** । किं तत्? **घटादेः सत्त्वादिरात्मा** । यथोक्तम्–

आध्यात्मिकाः कार्यात्मका भेदाः शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्धाः पञ्च त्रयाणां सुख-दुःख-मोहानां सन्निवेशमात्रम् । कस्मात्? पञ्चानां पञ्चानामेककार्यभावात्, सुखानां शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्धानां प्रसादलाघवाभिष्वङ्गोद्धर्षप्रीतयः कार्यम्, दुःखानां शोषतापभेदोपष्टम्भोद्वेगापद्वेषाः,[3] मूढानां वरणसदनापध्वंसनबैभत्स्यदैन्यगौरवाणीति । तथा करणात्मकाः श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा-घ्राण-वाग्-हस्त-पाद-पायू-पस्थ-मनांस्येकादश तैर्यग्योन[4]-मानुष-दैवानि बाह्याश्च भेदाः सत्त्वरजस्तमसां कार्यं समन्वयदर्शनात्[5] [   ] इति ।

एवं पृथिव्यादि गवादि घटादि । तस्मात् **सत्त्वादिर्घटादेरात्मा । स हि तत्समुदायकार्यत्वात् सामान्यम्**[6] । तस्मादात्मैव सामान्यमिति ।

---

१ सामान्यवस्तुनः भा० ॥ २ व्यतिकार्थषष्ठीप्रापितस्वस्वा° प्र० ॥ ३ °भेदापष्वम्भो° भा० । °भेदापस्तम्भो° य० । अत्र °भेदापष्टम्भो° इति °भेदापस्तम्भो° इति °भेदावष्टम्भो° इति वा पाठोऽपि भवेत् । किन्तु अधुना उपलभ्यमानेषु प्रायः सर्वेष्वपि साङ्ख्यसिद्धान्तप्रतिपादकग्रन्थेषु 'उपष्टम्भ'शब्दस्य 'उपस्तम्भ'शब्दस्य वा प्रयोगदर्शनादस्माभिरपि स आदृत इति ज्ञेयम् । मुद्रितन्यायकुमुदचन्द्रस्य टिप्पण्यां तु [पृ० ३५०] 'उपष्टम्भ'शब्दस्थाने ध० ज० भां० श्र०प्रतिषु 'अवष्टम्भ' इति पाठान्तरमपि उल्लिखितमस्तीति ध्येयम् ॥ ४ तैर्ययोन° भा० । तैर्ययौन° य० ॥ ५ कार्यसमन्वय° य० ॥ कार्यं समन्वय° भा० । अत्र 'कार्यम्' इति पाठश्चेत् सम्भाव्यते तर्हि 'बाह्याश्च भेदा सत्त्वरजस्तमसा कार्यम्, समन्वयदर्शनात्' इति योजनीयम् । य० प्रतिपाठानुसारेण तु 'त्रयाणां सुखदुःखमोहानां सन्निवेशमात्रम्' इति पूर्वतनवाक्यमनुवर्त्य 'बाह्याश्च भेदा त्रयाणां सुखदुःखमोहानां सन्निवेशमात्रम्, सत्त्वरजस्तमसां कार्यसमन्वयदर्शनात्' इति योजनीयम् ॥ ६ °कार्यत्वा सामा° भा० ॥

त्वात् सामान्यम् । एवं सति आत्मभेदः – सुखं सुखं च सुखादिसमुदयश्च, तदात्मत्वात् । एवं शेषावपि । ततश्च त्रिगुणविपरिणामकारणकल्पनावैयर्थ्यम् ।

नित्यमेव त्र्यात्मकमिति चेत्, एकत्वनित्यत्वात् प्रकाश-प्रवृत्ति-नियमभेदाभावादनारम्भः । उभयस्य चाभावः । यथा च प्रधानावस्थायां त्रित्वैकत्वादि-विरोधधर्मसम्बन्धोऽव्यतिरिक्तत्रिगुणैकरूपता चेष्यते सदा त्रिगुणैकत्वात् त्रित्वै-

---

अत्र ब्रूमः —एवं सत्यात्मभेदः, समुदायैककार्यत्वात् सुखादि एकमसामान्यमितीष्टस्य सामान्यस्य भेदः । तत् कथमिति चेत्, उच्यते–सुखं सुखञ्च सुखादिसमुदयश्च । सत्त्वं सुखम्, रजो दुःखम्, तमो मोहः । तत् त्रयमेवात्म्यार्पितमेकमेवेति सुखस्य सुखत्वं तत्समुदायत्वं च प्राप्तम् । किं कारणम् ? तदात्मत्वात्, यस्मात् सुखाद्यात्मकः समुदायः समुदायात्मकं च सुखम् । एवं शेषावपीति दुःखमोहावतिदिशति । एवं दुःखं दुःखञ्च दुःखादिसमुदायश्च, मोहो मोहश्च मोहादिसमुदयश्च । तत्र को दोष इति चेत्, ततश्च त्रिगुणविपरिणामकारणकल्पनावैयर्थ्यम् । समुदायैककार्याणां ८-१
त्रयाणामेकत्वाभ्युपगमादवस्थात्साम्यावस्थाविशेषः, तस्माच्चावस्थाविशेषादप्रच्युतत्वात् कुतो गुणानां वैषम्यम् ? वैषम्याभावे कुतः प्रकृतेर्महदहङ्कारतन्मात्रभूतेन्द्रियादिपूर्वोत्तरहेतुकार्यभावः ?

अत्राशङ्का —नित्यमेव त्र्यात्मकमिति चेत्, प्रधानावस्थायामपि त्रिगुणत्वान्नित्यं सर्वकालं त्र्यात्मकं सत्त्वरजस्तमआत्मकत्व[तो] गुणवैषम्य-विपरिणाम-कारणत्वाद्युपपद्यन्ते सुखादिसमुदायात्मकत्वेऽप्यात्मभेददोषश्च नास्तीति । एतदपि वाच्यानत्वादनुत्तरम्, तथापि तु सुतरां तथा, एकत्वनित्यत्वात् प्रकाश-प्रवृत्ति नियमभेदाभावादनारम्भः । एकत्वस्य नित्यत्वात् एकत्वेन वा नित्यत्वात्, सदैकत्वादित्यर्थः । प्रकाश-प्रवृत्ति-नियमकार्यभेदः सत्त्वरजस्तमसां योऽभ्युपगम्यते भवद्भिराचार्य पवन-पाषाणवत्, तद्यथा – नाटकाचार्यः स्वहस्तोत्क्षेपणादिना प्रकाशात्मना आत्मनो नर्तकायाश्च व्यवतिष्ठते, पवनः पर्णचलनादिना स्वपरप्रवर्तनेन व्यवतिष्ठते, नौस्तम्भनपाषाणः स्वपरनियमनेन व्यवतिष्ठते तथा सत्त्वरजस्तमांसि इत्येतन्नोपपद्यते, सर्वकालमेकत्वनित्यत्वात् त्रित्वाभावः, ततस्तदनारम्भः प्रधानावस्थायामिव गुणानां सर्वकालं कार्यानारम्भो निर्व्यापारत्वात् । वैषम्यनिर्मूलता च, आरम्भाभावात् । उभयस्य चाभावः कारणस्य कार्यस्य च, अथवा आत्मनः सामान्यस्य च, सुखादेः समुदायिनस्तत्समुदायस्य च प्रधानस्य । किं कारणम् ? अन्यतराव्यवस्थानेऽन्यतरस्याव्यवस्थानात् । तत् कथं भाव्यत इति चेत्, उच्यते—यथा च प्रधानावस्थायामित्यादि यावत् त्रित्वैकत्वादिव्यतिक्रमेणेति । त्रित्वैकत्वादीत्युक्तपरामर्शः, यथा त्रित्वमेकत्वं च विरुद्धौ धर्माविष्येते एवमवयवा अवयवी च, अन्यदनन्यच्च, आत्मा चानात्मा च, सर्वमसर्वं चेत्यादि । आदिग्रहणात् सूक्ष्म ८-२

---

१ एकमेवेति भा० ॥ २ प्राप्त च किं य० ॥ ३ सर्वं भा० ॥ ४ नियमेन व्यव° य० ॥ ५ त्या चित्या भा० । °त्याचत्या° य० ॥ ६ °भावस्तदनारम्भ य० ॥ ७ विरुद्धौ च धर्मा भा० ॥

कत्वादिव्यतिक्रमेण, एवं शब्दादौ त्रिगुणाव्यतिरेकैकरूपत्वं विरोधधर्मसम्बन्धश्च तन्मयत्वात्। ततश्च सर्वस्यावस्थानात् कारणकार्यनियमाभावाद् यदृच्छामात्रत्वादङ्गीकृतपुरुषार्थयत्नार्थहानिः।

सामान्यविशेषयोश्च सम्बन्धित्वादेकतराभ्युपगमेऽन्यतरस्यावश्यापेक्ष्यत्वात् सामान्याभ्युपगमे नियमपक्षापत्तिरपि।

परविषयतायामपि असमानावस्थानादसामान्यम्। किं कारणम्? अनवधृतैकतरकारणत्वाद् द्रव्यादीनाम्।

स्थूलं चेत्यादि सामर्थ्यादापादनीयम्। एष दृष्टान्तः। **साधर्म्यं सदा त्रिगुणैकत्वादिति**। [1]यथा तत्र त्रित्वैकत्वाद्यात्मस्व[2]तत्त्वव्यतिक्रमेणेति **विरोधधर्मसम्बन्धोऽव्यतिरिक्तत्रिगुणैकरूपता चेष्यत** इति प्रधानस्यैव दृष्टान्तस्य [3]वर्णनम्। **एवं शब्दादाविति** दार्ष्टान्तिकोपनयः, **त्रिगुणाव्यतिरेकैकरूपत्वं विरोधधर्मसम्बन्धश्च** शब्दतन्मात्रादिषु, तत्कार्येष्वाकाशादिषु भूतेष्वेकगुणादिवृद्धेषु, तद्विकारेषु च गवादिर्घटादिषु च, श्रोत्रादिष्वेकादशस्विन्द्रियेषु च प्रधानधर्मा आपाद्याः। कि कारणम्? **तन्मयत्वात्**, सत्त्वादिगुणमयं हि तत्। **ततश्च सर्वस्यावस्थानात्** प्रधानावस्थायामिव न किञ्चित् सूत्रादि [5]पटादि वा कस्यचिन् [6]**कारणं कार्यं** वा प्रमाणं प्रमेयं [7]वेति **नियमाभावात्** सर्वत्र यादृच्छिकी प्रवृत्तिः प्रसक्ता, यदृच्छामात्रत्वान्न प्रधानमहदहङ्कारादिकारणकार्यनैयम्यम्। ततश्च **यदृच्छामात्रत्वादङ्गीकृतपुरुषार्थयत्नार्थहानिः**। पुरुषश्चैतन्यस्वरूपः, तस्यार्थो द्विविधः—शब्दाद्युपलब्धिरादिः गुणपुरुषान्तरोपलब्धिर[8]न्तः, [9]तत् कृत्वा तद्विनिवर्तत इति तस्मै पुरुषार्थाय यत्नः प्रधानस्य, तस्य यत्नस्य अर्थः प्रयोजनम्, तस्य हानिर्यादृच्छिकत्वात्। तस्य च हानौ प्रधान-पुरुष-संयोगत्रित्वपरिज्ञानार्थशास्त्रयत्ना[र्थ]हानिरपि।

सामान्यविशेषयोश्च सम्बन्धित्वादित्यादि यावद् **नियमपक्षापत्तिरपि**। सामान्यं विशेष

९-१ इत्येतौ परस्परसम्बन्धिनौ, आद्यन्तवत् पितापुत्रवद्वा। तत्र यदि सामान्यमभ्युपगम्यते विशेषापेक्षित्वात् सामान्यस्य [10]विशेषोऽवश्यैष्यः, पितृत्वाभ्युपगमे पुत्रत्वाभ्युप[11]गमवत्। विशेषाभ्युपगमे च सामान्याभ्युपगमस्तद्वदेवेत्यतस्ते बलादेव विशेषपक्षापत्तिरपि **नियमपक्षापत्तिरि**त्यर्थः। **अपि**शब्दात् प्रागुक्तदोषापत्तिः। एवं तावत् स्वविषयत्वे सामान्यस्य दोषा उक्ताः।

परविषयतायामप्यसमानावस्थानादसामान्यम्। अमुख्यसामान्यानां सदृशानुप्रवृत्तिव्यावृत्ति-

---

१ यथा त्रित्वैकत्वा° य० ॥ २ °तत्त्वतिक्रमेणेति प्र० ॥ ३ वर्णनमेव शब्दादाविति प्र० ॥ ४ °घटादिष्वेकादश° भा० ॥ ५ पदादि य० । पदाटादि भा० ॥ ६ कारणं वा कार्यं वा य० ॥ ७ चेति य० ॥ ८ °रतः य० । "प्रधानस्य पुरुषार्था प्रवृत्ति । स च पुरुषार्थो द्विविध —शब्दाद्युपलब्धिरादिर्गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरन्तश्च"—सांख्यका० माठरवृ० पृ० ७९ ॥ ९ अत्र 'तत् कृत्वा' इति पाठ सामान्ये नपुंसकमित्यभिप्रायेण सङ्गमनीय., अन्यथा 'तं कृत्वा' इति स्यात् ॥ १० विशेषपोवस्यैष्यः भा० । विशेषपोत्वस्यैष्यः य० ॥ ११ °गमत्वात् प्र० ॥

तत्र द्रव्यमपि भवनलक्षण युगपदयुगपद्भेदभाविमृद्भवनपरमार्थरूपादिशिवकादिवृत्ति व्यापि ।

लक्षणाना परेष्टाना परेष्टाना परविषयाणामसम्भवात् स्वेष्टसमानभवनलक्षणसामान्यसम्भवात् परकीयमसामान्यमेवेत्युपरि उपसहरिष्यते इति लौकिक, तत् सिद्ध कृत्वा तावदाह—**असमानावस्थानादसामान्यम्**इति । तत् पुनर्द्रव्यमेवक्षेत्रकालभावविषयम्, ते हि द्रव्यान्य परे परेरिष्यमाणा घटादेर्वस्तुन, तदपि परसत्तैन्पेक्षया समानमि युच्यते नात्मानमेवेति परविषयम् । कि पुन **कारण** तत्सामान्यम्? इत्यत आह—**अनवधृतैकतरकारणत्वादिति**, नावध्रियते द्रव्यमेव क्षेत्रमेव काल एव भाव एव वा कारणमिति । एव तर्हि 'एकतमकारणत्वात्' इति वाच्यम्, न चात्र डतरडतमौ प्राप्नुत, कस्मात्? अन्य कि यत् तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् । वा बहूना जातिपरिप्रश्ने डतमच् [पा० ५।३।९१-९२] ईत्यत्र 'एक'शब्दस्यापठितत्वात् । एव तर्ह्यातिशायिक तरप्प्रत्यय । समानगुणेषु हि स्पर्द्धा भवति, गुणवचनाभावान्नेति चेत्, कारणत्वगुणेनोऽतिशयो भविष्यति । एव तर्हि तमबस्त्विति चेत्, द्वयोर्द्वयो प्रकर्षविवक्षाया तरबित्यलोप । अथवा एकाच्च प्राचाम् [पा० ५।३।९४] इति जातिपरिप्रश्नेऽस्त्येव डतरजित्यलोप । केन ९-२ **अनवधृतमेकतरकारणत्व द्रव्यादीनामि**ति चेत्, उच्यते—लौकिकैर्व्यवहारनयप्रधानै, स च आर्हतनयैकदेश एव । न पुनर्यथा शास्त्रकारा सामान्यमेव विशेष एव द्रव्याद्यन्यतमदेव वा कारण कार्ये वेत्यवधारयन्ति ।

कथ पुनर्द्रव्यादिकारणतावधार्यते न वेति? उच्यते—द्रव्य तावत् तत्र **द्रव्यमपि भवनलक्षण व्यापी**त्यभिसम्बन्ध्यते । **अपि**शब्दात् क्षेत्रमपि । भवतत्रसिद्धान्ते व्याकरणे द्रव्य च भव्ये [पा० ५।३।१०४] इत्युक्तत्वाद् भवतीति भव्य भवनयोग्य या द्रव्यम् । द्रवति द्रोष्यति दुद्रावेति द्रु, द्रोर्विकारोऽवयवो वा द्रव्यम्, दु द्रु गतौ [पा० धा० ९४४-९४५], सदैव गत्यात्मकत्वाद् विपरिणामात्मक हि तत् । न तु यथा **गुणसन्द्रावो द्रव्यम्** [पातञ्जलम० ५।१।११९] क्रियावद् गुणवत् समवायिकारण मिति द्रव्यलक्षणम् [वै० सू० १।१।१५] इति वा । कथ भवतीति चेत्, भिद्यते इति भेद, भेदेन भवितु शीला तस्या धर्मो वा साधु भवतीति [वा] भेदभाविनी मृत्, तस्या भवन भेदभाविमृद्भवनम्, तदेव परमोऽर्थ, कोऽसौ? रूपादय शिवकादयश्च । ते पुनर्यथासङ्ख्य युगपदयुगपच्च भेदभाविमृद्भवनपरमार्थरूपादिशिवकादय, समानाधिकरणसमास । पुनरपि ते वृत्तिरस्य तेषु वा वृत्तिरस्य तदिद **युगपदयुगपद्भेदभाविमृद्भवनपरमार्थरूपादिशिवकादिवृत्ति** । कि तत्? द्रव्यम । व्याप्नोतीति **व्यापि**,

---

१ परेष्टाना परविषया° भा० ॥ २ परकीयसामान्य प्र० ॥ ३ °ष्यते य० । एतत्पाठानुसारेण तु 'उपसहरिष्यते । लौकिकमेतत् सिद्ध कृत्वा तावदाह इति योजनीयम् ॥ ४ °मानादस्थानादसामान्य य० । °माना दसामा य° भा ॥ ५ अत्र 'नात्मानमेव इति सङ्गमयितु तदपेक्ष्य इति पाठ साधीयान् साधु ॥ ६ नावध्रियते भा० ॥ ७ °तदोर्निर्धा भा १ ही विना ॥ ८ इत्यत्रैकश° भा० । इत्यत्रैकश य ॥ ९ °शायिक भा० ॥ १० तमबस्त्विति १० वि० विना ॥ ११ तरपित्य° प्र० ॥ १२ कार्ये चेत्य' य० । काय चेत्य' भा० ॥ १३ अत्र तत्रेति इति पाठ समीचीन प्रतिभाति तथा च तत्र पक्षे कथ पुनर्द्रव्यादिकारणतावधार्यते' इति प्रश्नप्राग्यो भाति ॥ १४ तत्र द्रव्यमपि प्र० ॥ १५ द्रव्ये च भा० । द्रव्य च य० ॥ १६ ननु यथा य०॥ १७ शीलस्तस्या प्र ॥

क्षेत्रमपि सर्वगतिनिवासवृत्तिस्वतत्त्वमेकैकभावार्थसङ्घातसमवस्थानात्मा रूपादि-ग्रीवाद्येकगमनसमवस्थानव्यवस्थापितपृथिव्यादि-घटादि व्यापि विश्वस्य सद्द्रव्ययुगपदयुगपद्भाविरूपादिशिवकादिभावविस्पन्दितस्य ।

न क्वचिदपि न प्रवर्तते । यथा रूपादिशिवकादयो मृदो भवनमात्रं तथा युगपद्भूतं पृथिव्या[1]दि परमार्थः पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशादि [2]द्रव्यभवनमात्रम् । पृ[3]थिव्याश्चाश्मलोष्टादि, तथाऽपां हिमकरकादि, तेजसोऽ-
१०-१ प्यर्चिरादिस्वभेदा इत्यादि । अयुगपद्भूतं व्रीहि-बीजा-ङ्कुर-पत्र-ना[4]ल-काण्ड-पुष्प-फल-शू[5]क-कण-तुषादि परमार्थ इति सर्वं द्रव्यभवनमात्रम्, एकपुरुषपितृपुत्रत्वादिवसात्तां(वत्तांस्तान्) भावान् भ[6]वतीति द्रव्यम्।

क्षेत्रमपि व्याकरणसिद्धान्तगत्यैव **क्षि निवासगत्योः** [पा० धा० १४०७] इति सर्वस्य सिद्धं **सर्वगतिनिवासवृत्तिस्वतत्त्वम् । गति**र्व्याप्तिः । **निवास**स्तथावस्थानम् । सर्वभावानां प्राप्त्यवस्थानोपकारेण वर्तत इति तद्वृत्तिस्वतत्त्वम् । प्रदेशरचनाविशेषो हि क्षेत्रम् । **एकैकभावार्थसङ्घातसमवस्थानात्मा,** एकैकस्य घटपटादेर्भावस्यार्थे पृथुबुध्नादिरूपेण संहत्य समवस्थितस्य **आत्मा** स्वरूपतत्त्वं प्रधानमित्यर्थः । किं कारणम्? क्षेत्राभावे तदभावात् क्षेत्रानुग्रहादेव तद्भावात् । यथासङ्ख्यं **रूपादि-ग्रीवाद्येकगमनसमवस्थानव्यवस्थापितपृथिव्यादि-घटादि ।** यथास्वप्र[7]क्रियं **वैशेषिकादीनाम्** रूप-रस-गन्ध-**स्पर्शवती पृथिवी** [वै० सू० २।१।१], शब्द-स्पर्श-रूप रस-गन्धात्मा पृथिवी, क[8]क्खटलक्षणा वेति । एवं घटोऽप्यवयवी, गुणसमुदयमात्रम्, प्रज्ञप्तिस[9]न् वेति विकल्पनामात्रम् । लोक[10]नयेन तु [त] एव हि रूपग्रीवाद्यवयवा रूपादयो ग्रीवादयश्चैकगतयस्तथा तथा समवस्थिताः पृथिव्यादीन् [11]घटादींश्च व्यवस्थापयन्ति यत्र तत् क्षेत्रम् । किं हि तत् पृथिव्याः पृथिवीत्वं रूपाद्येकगतिसमवस्थानादन्यत्, घटस्य वा ग्रीवाद्येकगतिसमवस्थानादन्यद् घटत्वम्? तस्मात् सर्वगतिनिवासवृत्तिस्वतत्त्वं तत् । **व्यापि** [12]**विश्वस्ये**त्यादि याव-[13]**द्विस्पंदितस्य ।** [14]**विश्वं सद्द्रव्यं** च व्याप्नोति **युगपदयुगद्भाविरूपादिशिवकादिभावविस्पंदितं** पृथि[15]व्यादि घटपटादि विपरिणामजातं चेत्यर्थः ।

---

१ °व्यादेः पर° प्र० ॥ २ द्रव्यं भवन° प्र० ॥ ३ पृथिव्यां चाश्म° प्र० ॥ ४ °ताल° य० ॥ ५ °शूक° प्र० ॥ ६ भवंतीति प्र० । "द्रव्यमिति भव्यमाह । द्रव्य च भव्ये । भव्यमिति प्राप्यमाह । 'भू प्राप्तावात्मनेपदी' [पा० धा० १८४५] । तदेव प्राप्यन्ते प्राप्नुवन्ति वा द्रव्याणि'—इति **तत्त्वार्थभाष्ये** १।१।५। "१८४५ भू प्राप्तावात्मनेपदी भावयते भवते । णिच्सन्नियोगेनैव आत्मनेपदमित्येके । भवति ।"—पा० **सिद्धान्तकौमुदी** ॥ ७ °प्रक्रियां प्र० ॥ ८ करकट° प्र० । 'क्ख' इत्यक्षरं 'रक' इत्येवमालिख्यते स्म प्राचीनलिप्यामिति ध्येयम् । "निष्ठुर' कक्खट' क्रूर' परुषः कर्कश खरः ॥ दृढ कठोर कठिनो जरठ . . .।"—इति **अभिधानचिन्तामणौ** ६।२२–२३। "कतमश्च महाराज! आध्यात्मिक पृथिवीधातु? यत् किञ्चिदस्मिन् कायेऽध्यात्म कक्खटत्वं खरगतमुपात्तम् । तत् पुन कतमत्? तद्यथा—केशा रोमाणि नखा दन्ता इत्यादि । अयमुच्यते आध्यात्मिकः पृथिवीधातु । कतमश्च महाराज! बाह्य पृथिवीधातु? यत् किञ्चिद् बाह्यं कक्खटत्वं खरगतमनुपात्तमयमुच्यते बाह्य' पृथिवीधातु'"—इति **शिक्षासमुच्चये** पृ० २४५ ॥ ९ °सत्वेति प्र० ॥ १० °नये तु त एव इत्यपि पाठ स्यादत्र ॥ ११ पटादीं च भा० ॥ १२ विश्वस्ये° य० ॥ १३ °द्विस्पंदि° भा० ॥ १४ विश्वं य० ॥ १५ °व्यपादि° प्र० ॥

कालोऽपि युगपदयुगपत्कालस्वतत्त्वभूतपदार्थनिरूपितवृत्तिः — अनेकप्रभेदोपवर्ण्यास्तिकायपृथिव्यादियुगपद्वृत्तिः, आदान धारण पाचन निसर्जनसलिलनिर्वर्त्यव्रीहिकणौदनादिनिर्वृत्तिवृत्तिषु अयुगपद्वृत्ति ।

द्रव्याद्यपि तु रूपादिशिवकादियुगपदयुगपद्भाविभावा', उक्तवदेव तथा

कालोऽपीत्यादि । कालोऽपि परविषय सामान्यम् । परिणामवती क्रियैव काल, कलन काल,[1] कलासमूहो वा । यथा — मासमास्ते गोदोहमास्त इति । वर्तन भवनमिति तत्पर्यायो वर्तनालक्षणो वा द्रव्यात्मा । स च युगपदयुगपत्कालस्वतत्त्वभूतपदार्थनिरूपितवृत्ति, पूर्वोक्तरूपादिशिवकादिपरिणतिवद् वक्ष्यमाणास्तिकायसलिलनिर्वर्त्यपृथिवी व्रीहिकणौदनादिवद्वा । तद्यथा — युगपद्वृत्तिस्तावदनेकप्रभेदोपवर्ण्येत्यादि यावद् युगपद्वृत्ति । साङ्ख्यादिप्रक्रियोपवर्ण्यास्त एव हि धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवास्तिकाया सप्रभेदा, अथवा पृथिव्यादय एव अस्तिकाया' विद्यमानकाया, ते यत्र युगपद्वर्तन्ते स तद्युगपद्वृत्ति काल । यत्र च आदान धारणेत्यादि यावन्निर्वृत्तिवृत्तिष्वयुगपद्वृत्तिरिति । यथोक्तम् —

आदानीयास्त्रयो मासास्त्रयो मासास्तु धारणा ।
पाचनीयास्त्रयो मासास्त्रयो मासा विसर्जना ॥ [　　]

इति । ई(अ)दान्या पूर्व उत्तर पूर्वोत्तरश्च वायव, शेषा शोषका । अत्रापि प्रतिप्रक्रियमादित्यसन्तापापीतसलिलधारण पाचन [नि]सर्जनवत्, धूम ज्योति सलिल-मरुत्सङ्घातमेघादान धारण पाचन-[नि]सर्जनवत्, विस्रसापरिणतपुद्गलविकाराभ्रत्वादिवद्वा, पुद्गलाविनाभावाद् देववैक्रियादेरपि आदानाद् धारणम्, धारणात् पाचनम्, पाचनान्निसर्जनम् । निसृष्टस्य सलिलस्य कार्याणि भूमिद्रवीभाववनस्पत्योषधिप्ररोहपुष्पफलप्राणिशरीराप्यायनादीनि । ततोऽपि कार्यान्तराण्याहारमलवपु स्थामादीनि घटपटादिनिर्वृत्तयश्चेत्यादि । निर्वृत्तय कार्याणि, तासा निर्वृत्तीना वृत्तिष्वयुगपद्वृत्ति काल एव, तदुपष्टम्भजन्यत्वात् तेषा[11] भावानामिति ।

इदानीं भाव उच्यते । स तु पूर्वोक्तेषु द्रव्यादिषु भवन भाव इत्युक्तत्वादुक्त एव । तद्दर्शयन्नाह — द्रव्याद्यपि त्वित्यादि । गुणपर्यायवद् द्रव्यम् [तत्त्वार्थसू० ५।३७] इत्युक्तम् । गुणा रूपादय, शिवकादय पर्याया, ते युगपदयुगपद्भाविन, त एव भावा । क्षेत्रकालौ च द्रव्यमेव, भवनसामान्याद्भाव एव वा । तस्मात् तानि द्रव्यादीनि युगपदयुगपद्भाविभावव्युदासेन भवितुमर्हन्ति

---

१ कालन काल कालसमूहो वा प्र ॥ २ णतवद् य ॥ ३ °व्रीहिनरौदनादिवद्वा इति सर्वास्वपि प्रतिषु पाठ उपलभ्यते, किन्त्वत्र नराद्यस्यासङ्गतत्वाद् युगपदयुगपत्कालस्वतत्त्वभूतपदार्थनिरूपणप्रस्तावे युगपद्भाविनां पृथिव्याद्यस्तिकायानामयुगपद्भाविनां च व्रीहिकणौदनादीनां विवक्षितत्वाच्च °व्रीहिकणौदनादिवद्वा इति पाठ सम्भावितोऽस्माभि । अथवा निसृष्टस्य सलिलस्य कार्याणि भूमिद्रवीभाववनस्पत्योषधिप्ररोहपुष्पफलप्राणिशरीराप्यायनादीनि' इत्यनन्तरं वक्ष्यमाणत्वात् तदनुसारेण 'व्रीहिप्ररोहणादिवद्वा' इत्यपि पाठोऽत्र स्यादिति ध्येयम् ॥ ४ वर्णेत्यादि प्र० ॥ ५ विसजना य० ॥ ६ इदात्या य० । एतदनुसारेण इदात्या इत्यपि पाठ सम्भवेदत्र । अस्मिंस्तु पाठे 'इह आदानीयादिषु ऋतुषु अन्त्या विसर्जना पूर्व उत्तर पूर्वोत्तरश्च वायव' इत्यर्थोऽत्रावगन्तव्या । अत्र इदाऽऽप्या इत्यपि पाठश्चिन्त्य ॥ ७ °त्तर च प्र० ॥ ८ °स्थामादीनि प्र ॥ ९ °त्तयश्चेत्यादि मा० । °त्तय एवेत्यादि य० ॥ १० इत्युक्तत्वात् स एव प्र ॥ ११ °कालौ द्रव्यमेव य ॥

भवनात् तेषाम्, अन्यथा द्रव्यादीनां वन्ध्यापुत्रवदभावत्वापत्तेः । भावोऽपि सर्ववस्तुतत्त्वव्यापी ।

अत एतानि घटादिवस्त्वात्मसामान्यपक्षग्राहिणाप्यवश्यापेक्ष्याणि, प्रत्यक्षत एव तथात्मत्वात्; किमु परविषयमुख्यसामान्यपक्षवादिना? प्रत्यक्षत एव तथा तथा परविषयस्य समानस्य भवनात्, परेण समानेन भूयते ।

कथञ्चिदपीति उक्तवदेव इत्यतिदिशति । तथा[1]भवनात् तेषामिति तदेव भवनं हेतुत्वेन व्यापारयति । अन्यथेति भवनसामर्थ्याभावे द्रव्यादीनां [2]वन्ध्यापुत्रवदभावत्वापत्तेः, न सन्ति द्रव्यादीनि भवनशून्यत्वाद् वन्ध्यापुत्रवत् । पञ्चमीनिर्देशात् तद्वैधर्म्येण भवनहेतु[3]त्वमावीतेनाह । नेष्यते च द्रव्यादीनामभावत्वम्, भावत्वमेवैषाम । [4]भावश्च भवनसम्बन्धी घटवत् । अतो द्रव्यादीनि भवनसम्बन्धीनि । भवनं द्रव्यादीन् व्याप्नोतीत्यत आह—भावोऽपि सर्ववस्तुतत्त्वव्यापीति ।

अत [5]एतानीत्यादि यावदपेक्ष्याणीति । एतस्मात् प्रतिपादितोपपत्तिवलाद् द्रव्यादीनि भावपर्यन्तानि भवन[6]प्रधानान्यप्रत्याख्येयानि तस्माद् घटादिवस्त्वात्मसामान्यपक्षग्राहिणापि स्वविषयसामान्यवादिनेत्यर्थः । अपि[7]शब्दात् स्वग्राहरक्तमनसापि सता त्वया अवश्य[8]पेक्ष्याणि सारं [9]सारमेपितव्यानीत्यर्थः । किं कारणम्? [10]प्रत्यक्षत एव तथात्मत्वात् । दृश्यते एव हि द्रव्याद्येकरूपभवनसामान्यतोक्तविधिना । किमु परविषयमुख्यसामान्यपक्षवादिनेति, द्रव्यादीनां परस्परभिन्नानां समानभवनान्मुख्यं सामान्यम्,
११-२ [11]लोकश्चैवंविधसामान्यवादी, व्यवहारनयानुयायित्वात् । [12]न तु यथा [13]साङ्ख्यादिषु सादृश्यान्यापोहतत्त्वादि [14]प्रमाणविरुद्धम् । [15]तच्चोपचरितं भवितुमर्हति न मुख्यम्, सादृश्यानुवृत्तीनां लोके 'समानेन भूयते' इति सामान्यलक्षणस्यादृष्टत्वाद् दृष्टत्वाच्चास्मदिष्टस्य लौकिकस्य सामान्यस्येत्यत आह—[16]प्रत्यक्षत एव तथा तथा परविषयस्य समानस्य भवनात्, तेन तेन प्रकारेण द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षयुगपदयुगपद्भाविभावस्य [17]रूपादिशिवकादिरूपस्य समानस्य भवनात् । सर्वतन्त्रसिद्धान्तेन व्याकरणेन लोकानुवृत्तिना [18]निरुक्ति तत्त्वानुवादिनीमप्याह—परेण समानेन भूयत इति, समानो भवतीत्यर्थः । समानभावः सामान्यम्, यद् भवन्ति सर्वभावाः स तेषां भाव इति स्वार्थिको भावप्रत्ययः । स्वभावसम्बन्धार्थो चात्र कर्तृलक्षणा षष्ठी 'तस्य भावः' इति । यथा—'शिलापुत्रकस्य शरीरम्' इति ।

---

१ °भावनात्तेषां° भा० । °भावना तेषा° य० ॥ २ वंध्यादिपुत्र° य० ॥ ३ °हेतुमावीतेनाह य० ॥ ४ भावं च प्र० ॥ ५ एवानीत्यादि प्र० ॥ ६ °प्राधान्यप्रत्या° य० ॥ ७ °शब्दाश्च ग्राह° प्र० ॥ ८ श्यापेक्षाणि प्र० ॥ ९ मारसपितव्यानी° भा० । मारमपितव्यानी° य० ॥ १० प्रत्यक्ष एव प्र० ॥ ११ लोकंविवंविध° प्र० ॥ १२ ननु यथा प्र० ॥ १३ सांख्यादीपूसाद° भा० । एतदनुसारेण सांख्यादीष्प्रसाद° इत्यपि पाठोऽत्र स्यात्, यत "दृष्टत्वाच्चाऽस्मदिष्टस्य लौकिकस्य सामान्यस्य" इति वक्ष्यतेऽनन्तरमेव ॥ १४ प्रमाणावि° भा० ॥ १५ तच्चोपवनितं प्र० ॥ १६ प्रत्यक्ष एव प्र० ॥ १७ रूपाशिवकादि प्र० । अत्र रूपशिवकादि° इत्यपि पाठ सम्भवेत् ॥ १८ निरुक्तितत्त्वादिवादिनाप्याह य० ॥

तथा च सर्वस्यास्य जगतो द्रव्याद्यपेक्षया तथा तथा विशेषणैकता, तद्भेदत्वसम्बन्धत्वाभ्याम्, विकचसुरभिशरन्नीलोत्पलवत्। तत्रान्यस्य कस्यचिदपोह्यस्य सदृशस्य तत्त्वस्य वा समानस्याभावात् सामान्यानुपपत्तिः। उदितदोषानुबद्धा एकमयत्वात् स्वसामान्यापत्तिर्वा।

एवं सामान्यं व्याख्यायेदानीं तदर्थोपसंहारेणा[1]नुमानमाह – **तथा चे**त्यादि यावद् **विशेषणैकता**। तथा चेति एवं च कृत्वा प्रतिपादितपरस्परभे[2]दत्वे परस्परसम्बन्धस्यापत्तौ च **सर्वस्यास्य जगतो द्रव्य**देशकालभावापेक्षया तेन तेन प्रकारेण **विशेषणैकता**। द्रव्यं क्षेत्रेण कालेन भा[3]वेन च विशिष्यते, द्रव्येण क्षेत्रमितरौ च, एवं [4]तैस्तत् परस्परतश्च तानि। यथाङ्गुलिरनन्तगुणतायुगपद्भाविभावै रूपादि-युगपद्भाविभावैः [5]देशेन तद्(तद्) यान्तरैश्च विशिष्यते 'अङ्गुलिर्वक्रा ऋज्वी प्रदेशेऽस्मिन्नाकाशस्य वर्तते प्रदेशिनी अधुना' इत्यादि तथैकैकमपि वस्तु घटपटादि न [6]केनचिन्नाभिसम्बध्यते तथा तथा [7]विशिष्यते [8]च **तद्भेदत्वसम्बन्धत्वाभ्याम्**। प्रयोगश्चात्र – [9]द्रव्यादिविशेषणसम्बन्धी घट, वस्तुभेदत्वे सति तत्सम्बन्धत्वात्, **विकचसुरभिशरन्नीलोत्पलवत्**। **विकच**-मुकुलितादि क्षेत्रविशेषणम्, **सुरभि**-[10]**नील**त्वादि सहक्रमभाविरूपादिभावविशेषणम्, [11]**शर**दिति कालविशेषणम्। **उत्पल**मिति द्रव्यम्, तदपि तेषां विशेषणमेव व्यवच्छेदकत्वात्। १२ १

एवमनेकत्वसामान्यमापाद्य प्राक् [12]प्रतिज्ञातं [13]परविषयतायामप्यसमानावस्थानादसामान्यं परेषामिति तद्दर्शयति—**तत्रान्यस्य कस्यचिदपोह्यस्य सदृशस्य तत्त्वस्य वा [14]समानस्याभावात् सामान्यानुपपत्ति**। एवमापादितपरस्परविशिष्टैकत्वे जगतो घटैकत्वमात्रत्वेऽर्थान्तराभावात् कुतोऽर्थान्तरापोहलक्षणं विद्वन्मन्यायतनबौद्ध[15]परिक्लृप्तं सामान्यम्? कुतो वा समानं दृश्यत इति मन्यसे, सदृशभावः सादृश्यमिति सादृश्यलक्षणं सामान्यम्, [16]सदृशस्य तस्याभावात्? कुतो वा तत्त्वम्? तस्य भावस्तत्त्वम्, तत्तत्त्वमस्य तत्तत्त्वम्, तत्तु भिन्ने भवति समानानेकार्थानुवृत्तिलक्षणं सत्त्वद्रव्यत्वगुणत्व-कर्मत्वादि।

स्यान्मतम् – परस्परविशिष्टैकत्वादेव तत्समुदायः परविषयसामान्यमिति। एतच्चायुक्तमित्यत आह— **उदितदोषानुबद्धैकमयत्वात् स्वसामान्यापत्तिर्वा**। यदुक्तं प्राक् '[17]स तत्समुदायका[18]र्यत्वात् सामान्यम्' इत्यत्र एव सत्यात्मभेद – सुखं सुखं च सुखादिसमुदयश्च, तदात्मत्वात्। एवं दोषावपि

---

१ तदर्थोपसारेणा° य० ॥ २ °स्परभेदाच्च परस्पर भा०। °स्परभेदत्वे परस्पर° य ॥ ३ भावेन निदि य० ॥ ४ तैर्भूत् पर य ॥ ५ अत्र देशेन द्रव्यान्तरैश्च इत्यपि पाठः सम्भाव्यते ॥ ६ केनचिताभि° भा० ॥ ७ विशेष्यते य० ॥ ८ चातद्भेद° भा ॥ ९ द्रव्यादिविशेषेण य० ॥ १० नीलनादि य० ॥ ११ शरदिति कालविशेषणम् इति पाठो य० प्रतिषु नास्ति ॥ १२ प्रीतिज्ञान भा०। प्रीतिज्ञान य० ॥ १३ परनिपयिता° य०। दृश्यतां पृ. १४ पं० ६ ॥ १४ सामानस्य भा० ॥ १५ परिक्लिप्त भा०। परिक्षिप्त य ॥ १६ सदृशास्यातस्य भा०। अस्मिंस्तु भा० पाठे 'न स अस्य' इति नञ्तत्पुरुषं कृत्वा पञ्चम्यन्तरूपं ज्ञेयम् 'असतस्य' इति, तद्भिन्नस्येत्यर्थः। तथा च 'सदृशस्याप्यस्याभावात्' इति भा० पाठानुसारेणापि प्रतीयते ॥ १७ दृश्यतां पृ० १२ पं० २ ॥ १८ °कायत्वसामान्यम् य०। कायत्वमासाद्यम् भा० ॥

सङ्घातावस्थानभेदाद्वा घटपटवदत्यन्तभेद एव सर्वार्थानाम्। तथाहि – परमाण्वादीनां घटो भवति, घटस्य वा कपालानि। अनवस्थाने वा नित्यप्रवृत्तत्वात् सर्वार्थानां समयमपि तथा समवस्थानं नास्ति यथा समानता निरूप्येत।

अथान्तरेण रूपप्राप्तिमुक्तिप्रत्ययाभ्यां दण्डिवद् व्यक्तिभिन्नार्थसिद्धि-

---

इत्यादि यावत् [1]सामान्यविशेषयोश्च तत्सम्बन्धित्वादेकतराभ्युपगमे नियमपक्षापत्तिरपि इति। **स्वविषयसामान्यापत्तिर्वेति** वाशब्दो विकल्पार्थः स्वसामान्यपक्षाभिहितसर्वपूर्वोत्तरपक्षविकल्पप्रदर्शनार्थः, 'द्रव्यं
१२-२ द्रव्यं च द्रव्यादिसमुदयश्च' इत्यादि विकल्पजातं सर्वमि[2]हापि संभवतो योज्यम्।

तथा **सङ्घातावस्थानभेदाद्वा घटपटवदत्यन्तभेद एव सर्वार्थानाम्।** यदि सङ्ग्रहनयदर्शनेन [3]सर्वमेकम्, अथ ऋजुसूत्रनयदर्शनेन सर्वं भिन्नम्, तथापि सङ्घातेनावस्थितानां घटपटवदत्यन्तं परस्परतो भेद एव, नैकत्वं सर्वार्थानाम्। नैनूक्तम् – सङ्ग्रहनयदर्शनेनैकमिति, सत्यमुक्तम्, तत्तु सङ्घातेनावस्थितानां नोपपद्यते दृष्टविरुद्धत्वादित्यभिप्रायः। ततः किमिति चेत्, **तथाहि** – एवं च कृत्वा, किं? **परमाण्वादीनां घटो भवति घटस्य वा कपालानि,** पिता पुत्रः कः सम्बन्ध इत्यर्थः। **घटस्य वा कपालानीति** तद्विनाशजन्यत्वस्याप्यसम्बन्धं दर्शयति। **आदि**ग्रहणाद् द्व्यणुकत्र्यणुकादीनां ग्रीवादीनां चान्यत्र सङ्घातसमवस्थानभेदात् समवस्थानकृत एव तेषां सम्बन्धः, तथा च समानं [4]भवन्ति ते।

स्यान्मतम् – एवं व्याख्यातुस्तवैव मतेन परस्परविलक्षणानामर्थानां भेदादेवानवस्थानं प्राप्तम्, द्रव्यादिभेदभिन्नानामन्योन्यनिरपेक्षाणां सङ्घातसमव[5]स्थानाभावादिति। अत्रोच्यते – **अनवस्थाने वा नित्यप्रवृत्तत्वात् सर्वार्थानां समयमपि तथा समवस्थानं नास्ति यथा समानता निरूप्येत,** परस्परनिरपेक्षोत्पादविनाशत्वादित्यर्थः।

एवं सर्वैकभिन्नपक्षयोः [6]सामान्याभाव उक्तः। पक्षान्तरेऽपि वक्तुकामः ग्राहयति – **अथान्तरेण रूपप्राप्तिमि**त्यादि यावत् **सिद्धिरिष्यत** इति। अन्तरेणैकरूपप्राप्तिं भेदरूपप्राप्तिं वा **उक्तिप्र[7]त्ययाभ्यां दण्डिवदिति,** नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरुत्पद्यते, विशेषप्रत्ययानामनाकस्मिकत्वाच्च दण्डनिमित्तदण्डिप्रत्ययाभिधानवत्, 'दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी' इत्यत्र हि दण्डसंयोगनिमित्तौ देवदत्ते दण्ड्युक्तिप्रत्ययौ
१२-१ यथा दृष्टावेवं द्रव्यत्वघटत्वादिसामान्यविशेषसमवायनिमित्तौ द्रव्यघटाद्युक्तिप्रत्ययौ स्याताम्, नान्यथा। **व्यक्तिभिन्नार्थसिद्धिरिष्यत** इति, उक्तिप्रत्ययाभ्यां द्रव्यघटादिव्यक्तितो भिन्नस्य द्रव्यत्वघटत्वादेरर्थस्य सिद्धिरिष्यते। एवं गुणक[8]र्मणोश्च सङ्ख्योत्क्षेपणादिव्यक्तिभिन्नतत्तत्त्वार्थसिद्धिरेपितव्या, भिन्नेष्वर्थेष्वभिन्नोक्तिप्रत्ययदर्शनादिति।

---

१ दृश्यता पृ० १४ प० ४॥ २ °हापि तंभवतो प्र०॥ ३ ' * एतच्चिह्नान्तर्गत· **सर्वमेकम्** इत्यत आरभ्य **सर्वार्थानाम्। न°** इत्यन्त पाठो य० प्रतिषु नास्ति॥ ४ **भवति ते** भा०॥ ५ °**स्थानभावादिति** प्र०॥ ६ **सामान्यभाव** प्र०॥ ७ °**प्रत्यया दण्डिवदिति** य०॥ ८ °**कर्मगवाश्व** भा० र० ही०। °**कर्मगवाश्च** भा० र० ही० विना॥

रिष्यते। न, अन्यतोऽपि तयोः सिद्धेः । तौ हि कस्मिंश्चिदेव आकारादिमात्रे, सामयिकत्वाच्छब्दादर्थे प्रत्ययस्य वृद्धव्यवहारादाकारादिमात्रे प्रतिपत्तेः। तथाहि—

अत्रोच्यते—तन्न, अन्यतोऽपि तयोः सिद्धेः । अपिशब्दानियमाभावेन लोकसिद्धं नामादिकमप्युक्तिप्रत्ययकारणमाह। कयोः सिद्धिः ? उक्तिप्रत्यययोः । तन्नियमाभावं दर्शयति—तौ हि कस्मिंश्चिदेवाकारमात्रे। आदिग्रहणान्नाममात्रे। आकरणमाकारः, बुद्ध्या यो यथा परिगृह्यतेऽर्थः नाम्ना वा निर्दिश्यते स एव तस्याकारः। स च तावन्मात्रो न ततोऽधिकः, यथा—आकाशं डित्थ इति वा, स वाऽन्यथा वान्यथा वा, आकाशादिषु विनानुवृत्त्या आकाशकालदिशां व्याप्तत्वेऽप्येकत्वात् कुतो भिन्नेष्वभिन्नाभिधानप्रत्ययौ ? कुतो वाकाशादितत्त्वानीति ? दृश्येते चानाप्युक्तिप्रत्ययौ। तस्मान्नास्ति सामान्यम्। घटत्वादिसामान्योपचारात्तेष्वभिधानप्रत्ययाविति चेत्, न, मुख्यसामान्यासिद्धेः साधर्म्याभावाच्चोपचाराभावात् तत्त्वपरीक्षायामुपचारस्यावकाशाभावाद् मिथ्याभिधानप्रत्ययत्वप्रसङ्गात् आकाशादिष्विति।

किञ्चान्यत—सामयिकत्वाच्छब्दादर्थे प्रत्ययस्य। समयाय प्रभवति समयः प्रयोजनमस्य समये भवो वा सामयिकः। यथोक्तम्—सामयिकः शब्दादर्थे प्रत्ययः [वै० सू० ७।२।२०] इति, न सामान्यनिमित्त इति। तौ चाभिधानप्रत्ययौ लोकवृद्धव्यवहारात्मकौ वृद्धव्यवहारं दृष्ट्वा बालानामभिधानप्रत्ययौ भवतोऽशिक्षितविचित्रशास्त्रव्यवहाराणामपि अन्वयव्यतिरेकात्मकाद्वृद्धव्यवहारादेव। न तत्त्वानुवृत्ति- १३-२ व्यावृत्तिकृतौ, लोकस्य तत्त्वाद्यज्ञानात्। न तत्त्वात्, तत्त्वाज्ञानात्तेषाम्।

स्यान्मतम्—सञ्ज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्, प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् सञ्ज्ञाकर्मणः [वै० सू० २।१।१८-१९] इत्युक्तं शास्त्रे। तस्माद् मन्वादयोऽन्तरालप्रलय-महाप्रलयेषु व्युच्छिन्नव्यवहाराणामपि शब्दार्थानां सम्बन्धं पश्यन्ति। तस्माद् घट-घटत्वसमवायसम्बन्धोऽपि सामयिकः 'अस्यायं वाचकः' इति यथा 'अयं पनसः' इति समयं ग्राहयते बाल इति। एतच्चायुक्तम्, अनवस्थाप्रसङ्गात्—येन शब्देन समयः क्रियते तस्यान्येन कार्य इत्यनुपपत्तः, उत्तरस्यार्थाप्रतीतौ अस्य समयो न प्रकल्पते। तत्समयानपेक्षा स्वाभाविकी यस्यार्थे वृत्तिः स नित्य इति च शब्दार्थसम्बन्धपरिज्ञानप्रयोगव्यवहारपरम्परया अन्यवच्छेदादुक्तम्। यथाह पतञ्जलिः—न हि तदेव नित्यं यत् ध्रुवं कूटस्थमविचाल्यनपायोपजनविकार्यनुत्पत्त्यवृद्ध्यव्यययोगि। किं तर्हि ? तदपि हि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते। तद्भावस्तत्त्वम्। आकृतौ चापि तत्त्वं न विहन्यते [पातञ्जलम० १।१ पस्पशा०] इति। समयप्रत्याख्यानवत् प्रतिपादनप्रत्याख्यानातिदेशो वृद्धव्यवहारादाकारादिमात्रे प्रतिपत्तेरित्यत्रोपायः, 'न शब्दादेव' इति वक्ष्यमाणत्वात्।

---

१ नत्त अन्यतो य० । नित्त अन्यतो° भा० ॥ २ नामादिमप्युक्ति° प्र० ॥ ३ °वाकारमात्रे भा० ॥ ४ वान्यथा २ वाकाशादिषु य० ॥ ५ इश्यते प्र० ॥ ६ च्छब्दार्थे य० ॥ ७ भवतो शिक्षित° य० । भवतो शिक्षित भा ॥ ८ मान्वादयो तरालप्रलयमहा प्र० ॥ ९ घटपटत्वसम प्र० ॥ १० उत्तरास्याथाप्रतीतौ ऽस्य समयो भा० । उत्तरास्यार्थाप्रतीतौ स्वसमयो य० ॥ ११ प्रकल्पते भा० डे० ही० विना ॥ १२ तद्दन प्र० ॥ १३ विकार्यनुत्पत्त्यवृद्ध्यव्यययोगि प्र० ॥ १४ वृद्धव्यव° प्र० ॥

अन्तरेण तत्त्वमारब्धद्रव्याभावेऽपि छिद्रवुध्नघटादौ घटाभिधानप्रत्ययौ दृष्टौ। आभामात्रेऽपि तु तौ तत्र तत्त्वोपनिलयनात् कृताविति चेत्, स्थाणु-मृगतृष्णिकयोर्नर-सलिलत्वप्रसङ्गः, तत्र तदभिधानप्रत्ययसद्भावात्। नरत्वसलिलत्वानुपनिपाते नरसलिलोक्तिप्रत्ययौ मा भूताम्। अनुपचरितकिञ्चिद्भूताकारात्तु किञ्चिदुक्तिप्रत्ययौ स्याताम्।

तथा विशेषोऽपि। यदि स्वविषयः, विशेषविरोधः। यदि विशेषस्तत आत्मा

तत्त्वसम्बन्धादृतेऽप्यभिधानप्रत्यययोः प्रवृत्तिं दर्शयंश्चाह—**तथा ह्यन्तरेणे**त्यादि। [1]तत्त्वं हि द्रव्ये समवैति। द्रव्यञ्च द्विधा—अद्रव्यमनेकद्रव्यञ्च। अद्रव्ये त्वाकाशादौ तत्त्वाभावेऽप्युक्तिप्रत्ययावुक्तौ[2]। अनेकद्रव्यमारब्धद्रव्यम्, तच्च समवाय्यसमवायिकारणैरारभ्यते। समवायिकारणं घटस्य कपालानि,
१४-१ असमवायिकारणं तत्संयोगाः। 'आङ्' [3]इति च विध्युपायमर्यादोपसङ्ग्रहार्थः। को विधिः? स्वतः स्वात्मनि च, [4]क उपायः? संयोगादिनिमित्तान्तरसहितानि, का मर्यादा? आ अन्त्यावयविद्रव्यात् द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते। विनाशोऽपि कारणविभागात् कारणविनाशाद्वा। तत्र**च्छिद्र**[5]**वुध्ने घटे** कारणविभागा[6]दुत्पन्ने सयोगाभावा**दारब्धद्रव्याभावेऽपि घटाभिधानप्रत्ययौ दृष्टौ**, तथा कुड्यलिखिते समवाय्यसमवायिकारणाभावे शिशूनां च [7]क्रीडनके लोष्टपाषाणादौ सद्भावासद्भावस्थापनाकृते। [8]भवेदेतत्—**आभामात्रेऽपि तु** आकारमात्रे संस्थानमात्रे सादृश्यमात्र इत्यर्थः, **तौ** चोक्तिप्रत्ययौ **तत्र तत्त्वस्य** घटत्वस्यो**पनिलयनात् कृतमि(कृतावि)ति चेत्**, तत्र तत्त्वाभाव उक्तः, सत्यपि च तत्त्वेऽसन्दिष्टाकार[9]मात्रोक्तिप्रत्ययौ चोक्तौ, अथाप्या[10]भामात्रे तत्त्वोपनिलयनमिष्यते त्वया ततः **स्थाणु-मृगतृष्णिकयोर्नर-सलिलत्वप्रसङ्गः, तत्र तदभिधानप्रत्ययसद्भावात्** तत्तत्त्वोपनिल[11]यनाच्च, घटत्वोपनिलयनाद् घटवत्। **अनुपनिपाते नरत्वस्य** स्थाणौ **सलिलत्वस्य** मृगतृष्णिकायां **नरसलिलोक्तिप्रत्ययौ मा भूताम्**, तौ च दृष्टौ, कथमगृहीतविशेषणत्वान्नरत्वसलिलत्वानुपनि[12]पाते नायुक्तौ? तत्रोपचार[13]लभ्यौ हि तौ, इह तु लोकनये विनोपचारेण लभ्यौ। कथमिति चेत्, **अनुपचरितकिञ्चिद्भूता**[14]**कारात्तु किञ्चिदुक्तिप्रत्ययौ स्यातां** भवितुमर्हतः, आकारस्यासम्पूर्णस्य दृष्टत्वादेव। भवत्पक्षे पुनर्न हि तत्त्वं किञ्चिन्निलीनं [15]किञ्चिन्न निलीनमित्यस्ति।

१४-२ एवं तावत् सामान्यं विकल्पद्वये विचारितम्, विशेषोऽधुना विचार्यः। तत आह—**तथा विशेषोऽपी**ति। सोऽपि द्वयीं कल्पनां नातिवर्तते—स्वविषयः परविषयो वेति। तत्र **यदि स्वविषयः, विशेषविरोधः**। विशेषस्य विरोधो विशेषाभावापत्तेः, विशेषेण विरोध आत्माभावापत्तेः। किं वाच्या-

---

१ तत्त्वं हि द्रव्यसमवैति भा०। तत्त्वं च द्रव्ये समवैति य०॥ २ °भावे व्यक्तिप्रत्ययावुद्धौ। अनेक° प्र०॥ ३ इत च विध्युपायमर्यादायसंग्रहार्थः प्र०॥ ४ क इति पाठ प्रतिषु नास्ति॥ ५ °द्रच्चुन्ने प्र०॥ ६ °भागा उत्पन्ने प्र०॥ ७ क्रीडनकेलाबुपाषाणादौ य०॥ ८ भवेदेतदातामात्रे° य०। भवेदेतामात्रे भा०॥ ९ °मात्राऽक्तिप्र° भा०। °मात्र उक्तिप्र इत्यपि स्यादत्र पाठ॥ १० °भासमात्रे य०॥ ११ °यनात्व घट° भा०॥ १२ °पातनेनायुक्तौ य०॥ १३ लभ्यौ इ तौ भा०॥ १४ °कारातु प्र०॥ १५ किचिन्निलीनमित्यस्ति य०॥

न भवति, अन्यत्वाद् विशेषस्य गुणतः कालतो वा, अन्यथा घटादौ सामान्यापत्तेः। अथ आत्मा, ततो विशेषो न भवति, एकत्वादात्मनः।

अथोच्येत–नैकत्वान्यत्वविरोधदोषौ, 'आत्मनः विशेषः' इत्यनपादानादिप्रतिज्ञानात्। यद्यात्मापेक्ष एव विशेषः एक एवान्यः इत्यात्मनोऽन्यथाभवनादनात्मत्वं रूपादिरूपेण घटरूपादिपूर्वोत्तराणामभावत्वम्। तथा चोभयाभावः।

त्रेण ? नेत्युच्यते, यदि विशेषस्ततः आत्मा न भवति, अन्यत्वाद्विशेषस्य। [1]विशेषेण विरोधस्तावद् यदि घटाद्यात्मनि विशेषो वर्तते स्वविषयः ततः आत्मा न, अन्यत्वाद्विशेषस्य रूपादेर्गुणतः परस्परतो विशिष्यमाणस्येति तद्दर्शयति–गुणतः इति। कालतो वा प्रतिक्षणा[3]न्यान्योत्पत्त्या [4]विनष्टेषु रूपादिषु कस्तदात्मा ? इत्यात्माभावः। तदभावे कस्य विशेषः ? अन्यथा घटादौ सामान्यापत्तेः। अन्यथेति रूपादीनां समुदायैक्यापत्त्यभ्युपगमे विशेषपरित्यागः सामान्यपरिग्रहश्चापद्यते, तत्र चोक्तो दोषः सुखदुःखं च सुखादिसमुदयश्च इत्यादिः, त एवात्र 'रूपं रूपं [च] रूपादिसमुदयश्च' इत्यादि। मा भूदात्माभावदोषः तस्मिंश्चात्माभावे विशेषाभावदोष इति पक्षान्तरं गृहीयात्–अथात्मा सविशेषः, आत्मा एव एष स एवानन्य इति। ततो विशेषो न भवति, एकत्वादात्मनः, घटादेर्वस्तुन एकत्वादात्मनस्तत्त्वादित्यर्थः, अन्यो हि विशेषः।

एतद्दोषपरिहारार्थमथोच्येत परेण–नैकत्वान्यत्वविरोधदोषौ। 'आत्मनो विशेषः' इति सम्बन्धापादानयोः षष्ठीपञ्चमीनिर्देशे भेदेन 'आत्मनि विशेषः' इत्यधिकरणसप्तम्या [8]निर्देशे वा स्यातामेतौ दोषौ। किं तर्हि ? 'आत्मैव विशेषः' इत्यनपादानादिप्रतिज्ञानान्नैकत्वान्यत्वविरोधदोषौ ममेति। [15] अत्रोच्यते–यद्यात्मापेक्ष एव विशेषः इति तत्प्रत्युच्चारणम्, द्वितीयविकल्प आयातो विशेषस्य विरोध इति। अत्राप्ययं दोषः–एक एवान्य इत्यात्मनोऽन्यथाभवनादनात्मत्वं रूपादिरूपेण। किं वाङ्मात्रेण ? नेत्युपपत्तिमाह–अन्यथाभवनादिति। तन्निदर्शयति–घटरूपादिपूर्वोत्तराणामभावत्वम्। तत् कथम् ? अन्ये चेदन्ये रूपादय एव भवन्तीति घटाभावः, तदभावे कस्य [11]विशेषः ? घटस्यैव वाऽन्यथा भवतीति रूपाद्यभावः। ततश्चोत्तरेषां शिवकादीनां पिण्डावस्थानां पूर्वेषां च मृदादीनामभावः। अथवा घटतोऽन्यत्वं पटत्वम्, रूपतोऽन्यत्वं रसादित्वम्, तेन प्रकारेण अन्यथाभवनाद् घटाभावो रूपाद्यभावश्च। तथा चोभयाभावः, आत्माभावो विशेषाभावश्च अथवा रूपाद्यभावप्रापिणो घटात्माभावो घटात्माभावप्रापिणो रूपाद्यभाव इति।

---

१ विशेषेण विरोधस्तावद् यदि घटाद्यात्मनि विशेषेण विरोधस्तावद् यदि घटाद्यात्मनि इति सर्वासु प्रतिषु द्विर्भूत पाठः ॥ २ आत्मनोऽन्यत्वाद्वि° य० । आत्मानोऽन्यत्वाद्वि° भा० ॥ ३ °णान्यान्योत्पत्त्य य० । °णानान्योत्पत्त्य भा० ॥ ४ विनष्टेषुरूपादिषु कस्तदात्मा य० ॥ ५ पस्याऽभ्युप° भा० । °पस्या ऽभ्युप° य० ॥ ६ सर्वे पाप य० ॥ ७ पृ० १३ पं० १ ॥ ८ निर्देश घा य० ॥ ९ भवनात्मत्वं य० ॥ १० अन्यान्यरूपा य० । अन्ये रूपा° भा० ॥ ११ विशेषा भा० ॥ १२ यथान्यथा भा० ॥ १३ भवन्तीति य० ॥ १४ °भावो रूपाद्यभावश्च य० ॥ १५ °प्रतितो य० ॥

एतदनिष्टतायां तु परापेक्षपक्षापत्तिः। तथापि द्रव्यभेदः। का हि वृत्तिसाहायकादृते सिद्धवृत्तेर्घटस्य पटाद्यपेक्षा? तथात्मैवास्य भिद्येत। अथ वा पार्थिवत्वादपेक्षा, समानजातित्वादपेक्ष्यते घटेन पटः; विजातीयात् तर्हि विशेषाभाव उदकादेः। द्रव्यत्वापेक्षा तत्रापीति चेत्, विजातीयाभ्यां गुणकर्मभ्यामविशेषः। तत्रापि सत्तापेक्षेति चेत्, विजातीयात् तर्ह्यत्यन्तासतो जातेरिवाजातेः कार्याद्वा कथम्? इति भावाभावयोरविशेषः। तथापि चोभयाभावः।

एतदनिष्टतायां तु परापे[क्षप]क्षापत्तिरिति। 'घटादेरात्मनोऽन्यथाभवनादनात्मत्वं ततश्च विशेषस्यात्मनश्चाभावः' इत्युक्तविरोधदोषानभ्युपगमे **परापेक्षपक्षः** 'परविषयो विशेषो न स्वविषयः' इत्यापन्नः। स किन्नामको दोष इति चेत्, स्वपक्षपरित्यागनामकः। उपचर्य च एवमभ्युपगम्यमानेऽप्ययमपरो दोषः—**तथापि द्रव्यभेदः**, द्रव्यस्य घटादेरात्मनः स्वरूपपररूपाभ्यां द्विधात्मावस्थानं प्रसक्तं परापेक्षत्वाद्विशेषस्य। स्यान्मतम्—पटाद्यवृत्त्यात्मक एव घटः पटाद्यपेक्षत इति। तन्नेत्युच्यते—**का हि वृत्तिसाहायकादृते सिद्धवृत्तेर्घ[टस्य प]टाद्यपेक्षा**। सहाय[भावः साहाय]कम्, वृत्तेः साहायकं वृत्तिसाहायकम्, घटवृत्तेः सहायभावं पटस्य मुक्त्वा स्वत एव सिद्धवृत्तेः पूर्वमेव घटस्य कान्या उत्तरकाला पटाद्यपेक्षा? नास्त्येवेत्यर्थः। किं कारणम्? प्रयोजनाभावात्। **तथात्मैवास्य भिद्येत**, तेन प्रकारेण **तथा** घटस्वरूपमेव भिद्येत, सहायापेक्षवृत्तित्वात्, शिबिकोद्वाहात्मवृत्तिवत्।

१५-२

अथ वा पार्थिवत्वादपेक्षा, अस्ति घटस्य पटाद्यपेक्षेत्याह। का सा? समाना जातिः। **समानजातित्वादपेक्ष्यते घटेन पटः**। का समानजातिः? पार्थिवत्वम्। विशेषः कथमिति चेत्, घटात्मत्वाद्विशेषः पटादेरिति। अत्रोच्यते—**विजातीयात् तर्हि विशेषाभाव उदकादेः**। यदि समानजात्यपेक्षया विशेष इष्यते एवं तर्ह्यसमानजातीयादुदकादेर्घटस्य विशेषाभावः प्राप्नोति। अनिष्टं चैतत्। **द्रव्यत्वापेक्षा तत्रापीति चेत्**, द्रव्यत्वसामान्यापेक्षया घटस्य उदकादेर्विशेषो भविष्यतीति चेत्। **विजातीयाभ्यां गुणकर्मभ्यामविशेषः**, न हि विजातीययोर्गुणकर्मणोर्द्रव्यत्वापेक्षास्ति, ताभ्यामपि च घटस्य विशेष इष्यते। **तत्रापि सत्तापेक्षेति चेत्, विजातीयात् तर्हि अत्यन्तासतः** 'अविशेषः' इति वर्तते। एवमपि खरविषाणादेरत्यन्तासतो विशेषाभावः स्यात्, अपेक्ष्याभावात्। किमिव? **जातेरिव अजातेः**। पार्थिवत्वजातेश्च भवत्सिद्धान्तेन अपगतजातेर्जात्यन्तरापेक्षा नास्ति, तस्याः कथं जात्यन्तरादुदकादेर्वा व्यक्त्यन्तराद् विशेषो भवति, अपेक्षाभावात्? **कार्याद्वा कथं** 'विशेषः' इति वर्तते। कार्यं हि भवत्सिद्धान्ते प्रागविद्यमानं समवाय्यसमवायिकारणसान्निध्ये पश्चादुत्पद्यते, 'क्रियागुणव्यपदेशाभावा-

१६-१ दसत् कार्यम्' इति सिद्धान्ताभ्युपगमात्, कारणावस्थायां कारणाना कार्यस्यासत्त्वादेव अपेक्षा नास्तीति

---

१ °तायां मु परापेक्षोपपत्तिरिति य० ॥ २ °त्मत्वं नतंच विशेप° भा० ॥ °त्मकत्वं नतंच विशेष° य० ॥ ३ उपचयं च भा० ॥ ४ सहायकं प्र०। "योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्" [५-१-१३२] इति पाणिनिसूत्रेण 'साहायकम्' इत्येव साधु ॥ ५ 'वृत्तिसहा° य० ॥ ६ द्रव्यत्वं सामा° प्र० ॥ ७ तत्रापि त्तापेक्षेति प्र० ॥ ८ अत्यंतासतासतः य०। अत्यंतासतासततासतः भा० ॥ ९ तस्या कथं भा०। तस्यां कथं रं० ही० विना य०। तस्यात्कथं र० ही० ॥ १० अपेक्ष्याभावात् र० ही० ॥ ११ पंचात्पद्यते प्र० ॥

पार्थिवत्वादितुल्यत्वाच्च तद्वत् तदात्मत्वं, तत्तत्त्वेन अपेक्ष्यत्वादिति विवेक-

---

विशेषाभावः प्राप्तः । निष्पन्ने चोपरतव्यापारावस्थाया सिद्धत्वात् कार्यस्य कारणानां कारणत्वाभावात् कार्यकारणविशेषाभावः । इतिशब्दो हेतूपसंहारार्थः, इत्युक्तहेतुपारम्पर्याद् **भावाभावयोरविशेषः**, यथा पूर्वोक्तविधिना सतोऽसदपेक्षाऽभावाद् विशेषाभावः, एवमसतोऽपि सदपेक्षाऽभावादविशेषः । असतो वा कापेक्षा ? एवमनयोरविशिष्टत्वात् सत्त्वमेव वा अभावस्य भाववत्, असत्त्वमेव वा भावस्य अभाववत् । **तथापि चोभयाभावः**, भावाभावयोरभावः सामान्यविशेषयोरात्मविशेषयोर्वा घटादेरिति ।

एवं तावद् घटादेः पार्थिवत्वाद्यपेक्षा न युक्ता । अभ्युपेत्यापि तदपेक्षां **पार्थिवत्वादितुल्यत्वाच्च तद्वत् तदात्मत्वम्** । कार्यस्य घटस्य कारणेन मृदा सह **पार्थिवत्वेन** धर्मेण **तुल्यत्वात् तद्व**दिति घटस्य घटभवनात्मत्ववत् **तदात्मत्वं** मृत्त्वं, पार्थिवत्वात्मघटत्ववद्वा । किं कारणम् ? **तत्तत्त्वेनापेक्ष्यत्वात्** । तस्य भावः तत्त्वम्, भवनं भावः, तस्य तत्त्वं तत्तत्त्वम्, **तत्तत्त्वेनापेक्ष्यत्वात्**, घटभवनमेवाऽपेक्ष्यते हि पार्थिवत्वम्, तस्मात् प्राप्तं **तदात्मत्वं** घटस्य पार्थिवत्वस्य घटाऽभवद् घटत्वेनापेक्ष्यत्वात् । इतिशब्दो हेत्वर्थे, अतस्तन्मात्वादपेक्ष्यमाणस्य **विवेकयत्नार्थहानि** विशेषार्थापेक्षाप्रतिपादनयत्नहानिः । **अविशेष** इति, एवं च कृत्वा स एव अविशेषः । **आदि**ग्रहणात् द्रव्यत्वादितुल्यत्वात् सत्त्वतुल्यत्वादित्येवमेवाविशेष आपाद्यः ।

स्यान्मतम्—अयं विशेष एव न भवति, आपेक्षिकत्वात् सामान्यविशेषाणां द्रव्यत्वादीनामौपचारिकत्वाच्च । द्रव्यत्वं गुणत्वं [कर्मत्वं] च सामान्यानि विशेषाश्च [वै० सू० १।२।५] इत्युक्तानि, किं १६ पुनर्गोत्वघटत्वादीनीति ? कस्तर्हि विशेषो मुख्यः ? अन्त्य एव । सामान्यमपि मुख्यं भाव एवेत्यभिप्रायः । यस्मादणुष्वेकाकाशदेशगातीतप्राप्तेषु अन्यत्वज्ञानाभिधानप्रभावविभावितोऽन्त्यो विशेषः, न हि आकस्मिकान्त्ययोक्तिप्रत्ययौ, तस्मादस्त्यसौ । स एव च विशेषो मुख्यः । यथोक्तम्—अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः [वै० सू० १।२।६] इति । तथा भाव [एव] च मुख्यसामान्यम्, सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सा सत्ता [वै० सू० १।२।७-८] इति वचनात् । द्रव्यत्वादीनामौपचारिकत्वात्तद् द्रव्यात्मतयोपपादितमिति ।

---

१ सतोऽसदपेक्षा प्र ॥ २ तदपेक्षा° य ॥ ३ सत्त्वमेवाथभावस्य प्र० । 'सत्त्वमेवाभावस्य' इत्यपि पाठः सम्भवेत् ॥ ४ °स्याद्वा तद्वत् भा० ॥ ५ घटभावना सत्त्ववत् प्र० ॥ ६ नापेक्षत्वात् प्र० ॥ ७ °घटनपक्ष्यते हि भा० । 'घटनपक्ष्यत्वे हि य ॥ ८ घटत्व भा० प्रतौ नास्ति ॥ ९ °दात्मतादपे प्र० ॥ १० सत्यतुल्य° य० ॥ ११ °काशयेशाती° य० । °काशयेत्साती° भा० । 'आकृति संस्थानम् । परिमण्डलसंस्थानाः सर्व एव परमाणव इति तुल्याकृतित्वं पार्थिवानां पार्थिवाणुभिः सर्वे समानगुणत्वम् । 'अणुमनसोश्चाद्यं कर्म [वै० सू० ५।२।१३] इत्यदृष्टकारितक्रियावत्त्वं सर्वेषां समानमिति । आधारोऽप्येकदेशः । तस्मादाकाशदेशात् कश्चित् परमाणुरतिक्रान्तः, कश्चिच्च तत्समकालमेव तत्र आयातः । तत्र 'अयमन्यः पूर्वस्मात्' इति अन्यप्रत्ययो निर्निमित्तः परमर्षेरपि न भवति । दृष्टश्च अन्यप्रत्ययः । तस्य अन्यप्रत्ययस्य यो हेतुः सोऽन्त्यविशेषस्तस्मात् परमाणुद्रव्यादन्य इत्येवं नैगमनयस्य बुद्धिः' —इति विशेषावश्यकभाष्यस्य कोट्टार्यवादिगणिमहत्तरविरचितायां वृत्तौ पृ० १५-२ ॥ १२ दृश्यतां पृ० ६ टि० १ ॥ १३ °कत्वात्तद्व्यात्मतयो प्र० ॥

यत्नार्थहानिः, अविशेषः । अन्त्येऽपि तद्द्रव्यादिप्रभेदगतिग्राह्यत्वात्, अन्यथा योगिनामज्ञानप्रसङ्गात् ।

अत्रोच्यते—**अन्त्येऽपि त**[1]**द्द्रव्यादिप्रभेदगतिग्राह्यत्वात्** । अ[2]न्ते भवोऽन्त्यः, अन्त्येऽपि त[3]स्मिन् विशेषे विशेषाभाव इति अपिशब्दात् सम्बन्धः । को हेतुः ? **तद्द्रव्यादिप्रभेदगतिग्राह्यत्वात्** । द्रव्यमादिर्येषां त एते द्रव्यादयः द्रव्यक्षेत्रकालभावाः, तेषां प्रभेदः तत्प्रभेदः, तत्प्रभेदेन **गतिः** परिणामो वृत्तिर्विकल्पः, य[4]था 'अस्य कार्यस्येयं गतिः' इति दृष्टत्वात् । तया गत्या ग्राह्यत्वम्, कस्य ? अन्त्यविशेषस्य । तस्मात् तद्द्रव्यादिप्रभेदगतिग्राह्यत्वाद् नान्त्यविशेषः कल्प्यः, द्रव्यादिव्यतिरेकेण प्रत्यक्षानुमानाभ्यामग्राह्यत्वात् तत्स्वरूपेणैव ग्राह्यत्वाच्च । तद्यथा—योगी प्रत्यक्षेणैकं परमाणुं पश्यन् द्व्यणुकत्वात् प्रच्युतं पश्यति अन्यं त्र्यणुकत्वात् प्र[5]च्युतमन्यं द्व्यणुकसमवेतमन्यं [6]त्र्यणुकसमवेतं च, द्रव्यतः स्वत एव च भिन्नानि तानि परमाण्वादिद्रव्याणि पश्यति, तत्र किमन्त्यविशेषेण ? एवं [7]क्षेत्रतो पूर्वभागस्थितमेकमपरमर्वा-
१७-१ ग्भागस्थितम् । कालतोऽपि कैं[8]ञ्चित् प्रथमे समये स्थितम्, अन्यं द्वितीये स्थितमागतं वा । युगपदा[9]गतस्थितयोरपि द्रव्यक्षेत्रभावकृतं नानात्वमस्त्येव । भावतः कैं[10]ञ्चित् कृष्णं शुक्लं कञ्चित् सुरभिमसुरभि तिक्तं कटुकं वेत्यादि, अथवा कृष्णमन्यं कृष्णतरं कृष्णतमं द्विगुणत्रिगुणसंख्येयासंख्येयानन्तगुणकृष्णादि[11] वा । एवं शेषवर्णगन्धरसस्पर्शैश्च सप्रभेदैर्दर्शनं वाच्यम् । **अन्यथे**ति परस्परविशिष्टद्रव्यादिविशेषाभावे विषयनिरपेक्षत्वाद् **योगिनामज्ञानप्रसङ्गात्** । अवश्यं द्रव्यादयो विषयाः स्वत एव विशिष्टा एपितव्याः । न चेत्, योगिनो मिथ्याज्ञानप्रसङ्गः, अन्यथास्थितस्यार्थस्य अन्यथादर्शनात् । अन्त्यविशेषाणां च परस्परविशेषोक्तिप्रत्ययप्रवृत्तौ निमित्तान्तरं कल्प्यम् । स्वत एव विशिष्टत्वेऽन्त्यविशेषस्य कल्पना वा त्याज्या, परमाणूनामपि तद्वद् विशेषो निमित्तनिरपेक्षः किं नेष्यते ? विशेषेष्वपि निमित्तान्तराणि चेत्, अनवस्थाप्रसङ्गः, ततश्च विशेषोक्तिप्रत्ययानुपपत्तिरेवेत्यलं प्रसङ्गेन । स्थितम्—न स्वविषयो विशेष इति ।

परविषयविशेषपरीक्षावसरः, तत आह—**परविषयतायां तु विशेषस्यानवस्थानादविशेषः** । ननु प्रागप्युक्तम्—प[12]रापेक्षपक्षापत्तिर्वा इति, सत्यम्, त[13]त्र उपात्तपरित्यागादहृदयत्वापादनद्वारेण प्रसङ्गतोऽन्येऽपि

---

१ लीं० विनान्यत्र—तत्तद्द्रव्यादि° य० । तद्द्रव्यादि भा० ॥ २ अन्त्ये भवो प्र० । "अन्तेषु भवा अन्त्या" [प्रशस्त० भा० पृ० १६८] इति प्रशस्तपादभाष्यानुसारिण्येव अन्त्यशब्दव्याख्या प्राय सर्वत्रापि बहुमता स्वीकृता च । शङ्करमिश्रस्तु वैशेषिकसूत्रोपस्कारे मतद्वयमत्रोपन्यस्यति—"अन्तेऽवसाने भवन्तीत्यन्त्याः, यतो न व्यावर्तकान्तरमस्तीत्याचार्याः । उत्पादविनाशयोरन्ते अवसाने भवन्तीत्यन्त्या नित्यद्रव्याणि । तेषु भवन्तीत्यन्त्या विशेषा इति वृत्तिकृतः"–वै० सू० उप० १।२।६ ॥ ३ तस्मिं विशेषाताव इति भा० ॥ ४ यथास्य कायस्येयं भा० । यथा कायस्येयं य० । अत्र 'कायस्य शरीरस्य' इत्यर्थाभिरुचौ तु यथाश्रुतो भा०प्रतिपाठः साधुरेवेति ध्येयम् ॥ ५ प्रच्युताशानं द्व्यणुक° य० । प्रच्युद्युताशानां द्व्यणुक° भा० । अत्र प्रच्युतात्मानं द्व्यणुक° इति पाठोऽपि सम्भवेत ॥ ६ त्र्यगुणसम° भा० ॥ ७ क्षेत्रतोपूर्वभागस्थितमेकपरमवाभाग° भा० । क्षेत्रतोपूर्वभागस्थितमेकपरमर्वाग्भाग° य० । ऊर्ध्वशब्दसमानार्थक एव ऊर्धशब्दोऽपि शब्दकोषेष्वस्ति । अत्र च नयचक्रवृत्तौ प्राय सर्वत्रापि ऊर्ध्वशब्दस्थाने ऊर्धशब्द एव दृश्यत इति ध्येयम् । अवाग्भाग अधोभाग इत्यर्थः ॥ ८ किंचित् प्र० ॥ ९ °दागतयोरपि य० ॥ १० किंचित् य० ॥ ११ कृष्णादि वा प्र० ॥ १२ पृ० २४ पं० १ ॥ १३ तइ उपात्त° य० । तऽपात्त भा० ॥

परविषयताया तु विशेषस्यानवस्थानादविशेषः । इह द्रव्यादिप्रत्यपेक्षया सर्वस्यास्य सम्बद्धत्वादेकैकस्य निरवशेषमिद जगद् विशेषण स्यात्, एकघटसहत- नानावस्थगुणवत् । तत्र सर्वार्थाना नित्यप्रवृत्तत्वात् समयमपि नास्ति तेषा समवस्थान यदाश्रयो विशेषार्थोऽवस्थाप्येत, आत्तवत् ।

दोषा उक्ता , इह तु प्राधान्येनैव अन्येन च प्रकारेण दोषाभिधान प्रक्रियते । **अनवस्थानादविशेष** इति साधयिष्यमाणमनवस्थान सिद्ध कृत्याह । यथा च प्राक् '[1]असमानावस्थानादसामान्यम्' इति भवन्य सामान्याभाव प्रतिपादितस्तथेहापि तद्विपर्ययेण तदेव प्रकरण योज्यम् – किं कारणम ? [2]अनवधृतैकतर- कार्यत्वादित्यादि सर्व तादृगेव यावत् [3]तैत एतानि घटादिवस्त्वात्मविशेषपक्ष[4]ग्राहिणाप्यवश्यापेक्ष्याणि, १७-२ प्रत्यक्षत एव तथा तथा परेण विशिष्टत्वादात्मन , किमु परविषयमुख्यविशेषवादिना ? प्रत्यक्षत एव तथा तथा परविषयस्य विशेषस्य भवनात् परेण विशिष्टेन भूयत इति । इहेति परविषयविशेषपक्षे **द्रव्यादिप्रत्यपेक्षया सर्वस्यास्य सम्बद्धत्वादेकैकस्य निरवशेषमिद जगद् विशेषण**मिति, पूर्ववदेव द्रव्य द्रव्यान्तराणि क्षेत्र काल भाव च प्रत्यपेक्षते स्वप्रभेदान् परप्रभेदाश्च, एव क्षेत्र कालो भावश्चेति सर्व सर्वेण सम्बद्धम्, तस्मात् सर्वस्य सम्बद्धत्वात् पूर्ववत् सैत्क्रमवृत्तिरूपादिशिवकादिपृथिव्यादिव्रीह्याद्यङ्कुरादिसम- वस्थानाद् द्रव्याणा क्षेत्रतोऽपि तेषामेकगतिसमवस्थानात् कालतोऽप्यनेकप्रभेदोपवर्ण्यधमा[ध]स्तिकाय पृथिव्यादिपानीयादानधारणादिसमवस्थानाद् भावतोऽपि पूर्ववद् द्रव्यादिरूपादिशिवकादिभवनसमवस्थानात् **स्यादेकघटसहतनानावस्थगुणवदि**ति । यथोक्तम् – द्रव्यमेव हि तथावस्थानाद् रूपादिभाव लभते, एक- पुरुषपितृपुत्रत्वादिवत् [ ], द्रव्यमेव हि घटाख्य रूप रसो गन्ध स्पर्श सङ्ख्या सस्थान शुक्ल नील तिक्त कटु सुरभि मृदु कर्कश शुक्लतर शुक्लतम चेत्यादिविशेषणता नातिवर्तते । त एव ह्येते गुणा पर्यायाश्च नानावस्था परस्परविशिष्टा परस्परस्य द्रव्यस्य च विशेषणम्, द्रव्यमेव गुणा पर्यायाश्च । तथान्येऽपि द्रव्यक्षेत्रकालभावा सप्रभेदा इति । स्याच्छब्दात् पुन [6]स्यादेतदेव यद्येतद् वक्ष्यमाण- दोषेण न व्याहन्येतेत्यत आह – **तत्र सर्वार्थाना नित्यप्रवृत्तत्वात् समयमपी**त्यादि यावद् **यदा- श्रयो विशेषार्थोऽवस्थाप्येते**ति । एव परस्परविशेषणत्वेन सर्वेऽर्था नित्य प्रवृत्ता एवेति समयमात्रमपि **नास्ति तेषा समवस्थानम्** । समवस्थानाश्रयो हि विशेषोऽवस्थाप्येत, तदभावात् कुतो विशेष ? **आत्त-** १८ १ **व**दिति तत्कालावगृहीतप्रणो[7]त्पन्नविनष्टभाववदित्यर्थ । तत किमिति चेत्, [8]समवस्थानाभावान्निराश्रय खपुष्पवन्नास्ति विशेष ।

स्यान्मतम् – सम्बन्धदेशो न दूष्यते, उपेक्ष्यत इति । किमुक्त भवति ? सम्बन्धदेशान् द्रव्यादीन् मुक्त्वा निराश्रयत्वाद् विशेषो मा भूत्, सम्बन्धदेशस्थाना तु घटपटादीना किमिति [9]मुधा विशेषो न स्यात्

---

१ दृश्यता पृ० १४ प० ६ ॥ २ अनधृत्तिकतरकार्यत्वात् भा० । अनिवृत्तिकतरकार्यत्वात् य० । दृश्यतां पृ० १४ पं ६ ॥ ३ दृश्यतां पृ० १८ प० ३ ॥ ४ ग्राहिणाप्यवश्यापेक्ष्याणि प्रत्यक्षग्राहिणाप्यवश्यापेक्ष्याणि प्रत्यक्ष° इति य प्रतिषु द्विर्भूत पाठ ॥ ५ साह प्र० ॥ ६ स्यादेव भा ॥ ७ °त्पन्यविनष्ट भा० । त्पत्त्य विनष्ट य० ॥ ८ सस्थानाभावा° प्र० ॥ ९ मुधा प्र० ॥

सम्बन्धदेशोपेक्षायामुपात्तत्यागोऽकस्मात्, तुल्यत्वात् सामान्याभ्युपगमात्। रूपादिभेदसम्बन्ध एव विशेषः, न, अन्यासम्बन्धेऽरूपादित्वाच्छुद्धानां क्वचिदप्यभावात्। लोके दृष्टो ननु च वायुः शुद्ध एव स्पर्शः, तत्रापि हि क्षेत्रादिद्रव्यस्य रूपादयो न गृह्यन्ते, अनभिव्यक्तिसौक्ष्म्यात्, द्रव्यादिवत्।

तदाश्रयत्वाद् विशेषस्य? इति। अत्रोच्यते—**सम्बन्धदेशोपेक्षायामुपात्तत्यागोऽकस्मात्**[1]। एवं सति अकस्मादेवोपात्तस्य[2] विशेषस्य त्यागः, **सामान्याभ्युपगमात्**। कथं सामान्यमभ्युपगतमिति चेत्, **तुल्यत्वात्** सम्बन्धदेशस्थानां द्रव्यक्षेत्रकालभावप्रत्यासत्तितुल्यलक्षणत्वात्[3] सामान्यस्य[4] समानभावस्य।

अत्राह—**रूपादिभेदसम्बन्ध एव विशेष** इति। रूपरसगन्धस्पर्शनद्रव्यसंस्थानादीनां सप्रभेदानां सम्बन्ध एव विशेष उच्यते, त एव हि परस्परतो विशिष्यमाणा विशेषाख्या इति। अत्रोच्यते—तद् **न, अन्यासम्बन्धेऽरूपादित्वात्**[5]। अन्यैर्द्रव्यादिभिरसम्बन्धे तेषामरूपादित्वं प्रसज्यते, यस्मात् सर्वे सर्वत्र सर्वदा सर्वथा द्रव्यक्षेत्रकालभावाविभागैः[6] सम्बद्धरसा एव हि रूपादयः। किं कारणम्? **शुद्धानां**[7] **क्वचिदप्यभावात्**, प्रागुक्तं द्रव्यादिसम्बन्धाभावे रूपादिस्वरूपाभावात् तत्सम्बद्धानामेव दृष्टत्वात् सप्रभेदद्रव्यादिसम्बन्धाभावे रूपादयो न सन्त्येवेत्यरूपादित्वं तेषां प्रसक्तम्।

इतर आह—**लोके दृष्टो ननु च वायुः शुद्ध एव स्पर्शः**। स्यादरूपादित्वं यदि 'द्रव्यक्षेत्रकालरूपरसादिभिरसम्बन्धे रूपाद्यभाव एव' इत्ययमेकान्तः स्यात्, स्याच्चानुमानं यदि दृष्टेन न बाध्यते, दृष्टश्च
१८०-२ वायुः स्पर्शमात्र एव, न हि दृष्टाद् गरिष्ठं प्रमाणमस्तीति। अत्रोच्यते—**तत्रापि हि क्षेत्रादिद्रव्यस्य रूपादयो न गृह्यन्ते, अनभिव्यक्तिसौक्ष्म्यात्**, वैधर्म्येण **द्रव्यादिवत्**। यथा द्रव्यादयो गृह्यन्ते प्रत्यक्षेण न तथा वायौ[8] रूपरसगन्धादयोऽनभिव्यक्तिसौक्ष्म्याद् गृह्यन्ते। किं कारणम्? चक्षुरादीन्द्रियग्राह्यत्वपरिणत्यभावाद्[9] हेत्वनुमेयताभावात्। यथोक्तं सद्ग्रन्थान्तरे—

मूर्तिः[10] कथं न वायोर्नास्वाद्येत[11] च कथं न रूप्येत।
तद्व्यक्तिग्रहणं प्रति न शक्नुयात् त्विन्द्रियैः कश्चित्[12] ॥ [ ] इति।

गन्धवन्तोऽग्निवायवः[13], मूर्तत्वात्, पृथिवीवत्। एवं रसवन्तौ अग्निवायू, मूर्तत्वात्, भूम्यम्बुवत्। रूपवान् वायुः, मूर्तत्वात्, अग्निभूमिजलवत्। रूपरसगन्धस्पर्शवन्ति वाय्वग्निजलानि, मूर्तत्वात्, पृथिवीवत्। इहापि च साधर्म्यदृष्टान्त उच्यते—वातायनरेणुस्पर्शरसरूपगन्धादिवद् न गृह्यन्त इति, तेषां हि रविकरोद्द्योतव्यक्तानां[14] रूपमेव ग्राह्यम्।

---

१ °मुपांत्यत्यागो° य० ॥ २ °वात्तस्य भा०। °पांत्यस्य य० ॥ ३ 'तुल्यक्षणत्वात् य० ॥ ४ सामानभवनस्य भा० ॥ ५ °त्वादन्यैर्द्रव्यादिभिरसंबंध तेषामरूपादित्वादन्यैर्द्रव्यादिभिरसंबंधे तेषामरूपादि° इति द्विर्भूत' पाठ सर्वासु प्रतिषु ॥ ६ * * एतच्चिह्नान्तर्गत' °सम्बद्धरसा इत्यत आरभ्य द्रव्यादि° इत्यन्त. पाठो भा० प्रतौ नास्ति ॥ ७ शुद्धानं य० ॥ ८ वायो रूप° भा०। अत्र 'वायो' इत्यस्य पञ्चम्यन्तत्वे भा० प्रतिपाठोऽपि साधुरेव ॥ ९ 'ग्राह्यपरि° य० ॥ १० मूर्ति कथं प्र० ॥ ११ वायोर्नास्वाप्येत य०। वायोर्णास्वाप्येत भा० ॥ १२ °या त्विन्द्रियैः कंचित् प्र० ॥ १३ °वन्तो। पग्नि° भा०। °वन्तोपग्नि° य० ॥ १४ रविकारो° प्र० ॥

अथोच्येत – एककालसहावस्थानादर्थाना विशेषो भविष्यति, अवतिष्ठते हि किञ्चित् कञ्चित् कालम्। एवमपि तथाभूतसामान्याभ्युपगमादविशेषत्वमेव। सर्वसामानाधिकरण्याच्च एकविकारेऽपि सर्वस्यान्यथात्व जायते, तन्मात्रेऽन्यत्वात्, गन्धोनाधिकभ्वम्भोवत्।

अथ तु तद्बुद्ध्यासन्नमेव ग्रहीष्यते सामान्यविशेषयोः, एव तर्हि द्रव्यगुणकर्मणा न सामान्य नापि विशेषः, तेषा परस्परासत्त्यभावात्। तद्बुद्ध्या-

---

अथोच्येत परेण – यदि सम्बन्धदेशसमवस्थानादर्थाना विशेषो न भवति, एककालसहावस्थानादर्थाना विशेषो भविष्यति, यस्मादवतिष्ठते हि किञ्चित् कञ्चित् कालम्, यथा पूर्वापरस्थितघटपटाविति। ननु विशेषकारणमत्र वक्तु प्राप्तम्, इद तु सामान्यकारणमेव आशङ्कितमिति। अत्रोच्यते – सामान्यद्वारेण विशेष सिद्ध्यतीति तत्सिद्धिद्वारेण विशेषासिद्धिरिति सर्वत्र ग्राह्यम्। अत्राप्याचार्य उत्तरमाह – एवमपि तथाभूतसामान्याभ्युपगमादविशेषत्वमेव। पराभ्युपगम एव उत्तरत्वमापद्यते, एककालावस्थाने कालसामान्याभ्युपगमाद् देशसम्बन्धसामान्याभ्युपगमवदुपात्तत्यागोऽकस्मात् तुल्यत्वादित्यविशेषत्वमेव।

किञ्चान्यत् — प्रागुक्तविधिना सर्वसामानाधिकरण्याच्च विशेषस्वतत्त्वस्य परस्परापेक्षत्वाद् १९-१
विशिष्यमाणत्वाद् भावाना परस्परत सर्वं जगदेकाधिकरणम्, तत्रैकविकारेऽपि सर्वस्य शेषस्याप्यशेषस्य तदपेक्षत्वादन्यथात्व विकारो जायते। कुत ? तन्मात्रेऽन्यत्वात्। को दृष्टान्त ? गन्धोनाधिकभ्वम्भोवदिति, यथा भ्वम्भसोरयथासङ्ख्येन गन्धोनस्य अम्भसो गन्धाधिकायाश्च भुव तद्धीनाधिकभावेन विकारो दृष्ट – गन्धहीना आप तदधिका भूरिति। तस्मान्नास्त्येव अनवस्थानान्निराश्रय खपुष्पवद् विशेष इति।

अथ तु तद्बुद्ध्यासन्नमेव ग्रहीष्यते सामान्यविशेषयोरिति। अथेत्यधिकारान्तरे। तुर्विशेषणे प्राक्तनादेशकालासत्त्यधिकाराद् बुद्ध्यासत्त्यधिकार विशिनष्टि। बुद्ध्या आसन्न, 'स' इति बुद्धिस्तद्बुद्धि, योऽसौ प्रथमो घट स एव द्वितीय इति बुद्धि। का सा? तत्त्वानुवृत्तिबुद्धि, व्यावृत्तिबुद्धिरपि तद्बुद्ध्यासत्त्या द्रव्यत्वबुद्धौ प्रसक्तायाम् 'नापो न सिकता न शिवकादिर्घट एव' इति। यथोक्तम् – अनुवृत्तिप्रत्ययकारण सामान्यम्, व्यावृत्तिबुद्धिहेतुर्विशेष [ ] इति। अत्र ब्रूम – एव तर्हि द्रव्यगुणकर्मणा न सामान्य नापि विशेष। किं कारणम् ? तेषा परस्परासत्त्यभावात्। यया तद्बुद्ध्या द्रव्यस्य गुणस्य कर्मणो वासत्तिर्गृह्यते, किं द्रव्यबुद्ध्या गुणो गृह्यते कर्म वा ? द्रव्यबुद्ध्या हि तद् द्रव्यमेव,

---

१ घस्थानार्थाना प्र० ॥ २ स्थाने कगल य० ॥ ३ °मादेश° प्र० ॥ ४ °घद्रपातत्यागो° य०। °वदृष्टांतत्यागो भा०। दृश्यता पृ० २८ प० १ ॥ ५ °व्यात्व विशेष° भा० ॥ ६ त्वाद्वि विशि° य० ॥ ७ °स्याशेषस्याप्य° य०। °स्य शेषस्य शेषस्याप्य भा० ॥ ८ °दन्यथात्वधिकारो प्र० ॥ ९ कत्वं मावदिति यथा स्वमसौरयथासख्येन न गघोनस्य प्र० ॥ १० तर्हिनाधिक° प्र ॥ ११ घिकारो य०। ऽधिकारो भा० ॥ १२ गृहीं° य० ॥ १३ °सत्य° प्र०। एवमग्रेऽपि ॥ १४ बुद्ध्यासन्न स इति बुद्धिर्योऽसौ य० ॥ १५ कर्माण घा भा० ॥

सन्नता हि द्रव्यस्य द्रव्यस्य च, तत्रैव सामान्यविशेषौ स्याताम्, न गुणकर्मणोः। एवं च तयोः सत्त्वसामान्य-द्रव्यारम्भादिविशेषाभावः। तथासत्तिः सिकतानां वज्रस्य च, तेषां सामान्यविशेषौ स्याताम्, न भूम्यम्भसोः; यावत् तुल्यजाति-

---

तदासन्नत्वाद् 'द्रव्यम्' इति गृह्यते[1], तत्रैव च सामान्यविशेषौ स्यातां[2] न गुणकर्मणोः। कस्मात्? यस्मात् तद्बुद्ध्यासन्नता द्रव्यस्य द्रव्यस्य च, न द्रव्यस्य गुणस्य च, तथा न द्रव्यस्य कर्मणां[3] च, न १९-२ गुणस्य कर्मणश्चेति सामान्याभावो विशेषाभावश्च[4], तद्बुद्ध्यासत्त्यभावात्। एवं च कृत्वा तयोः सत्त्व[5]-[6]सामान्य-द्रव्यारम्भादिविशेषाभावः। तयोः द्रव्यगुणयोर्गुणकर्मणोर्द्रव्यगुणकर्मणा च तयोश्च तयोश्चे-त्यावृत्त्या सत्त्वलक्षणं* सामान्यं मा भूत्। तस्मात् 'सत्' इति त्रयाणामविशेष इत्ययुक्तम्। तथा 'अनित्यं द्रव्यवत् कार्यं कारणं सामान्यविशेषवत्' इति च सामान्यं द्रव्यगुणकर्मणां मा भूत्। उक्तं च वः शास्त्रे— सदनित्यं द्रव्यवत् कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणामविशेषः [वै० सू० १।१।८]। 'एवं तर्हि अनानात्वं द्रव्यगुणकर्मणां प्राप्तम्' इति चोदिते विशेष उच्यते—नाविशेष एव, आरम्भानारम्भ[7]-भेदात्, द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्। कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते [वै० सू० १।१।१०-११] इति। किञ्चान्यत्—लक्षणभेदात्, क्रियावद् गुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्, द्रव्याश्रयी अगुणवान् संयोगविभागेष्व[8][कारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्, एकद्रव्यमगुणं संयोग-विभागेष्व]नपेक्षं कारणमिति कर्मलक्षणम् [वै० सू० १।१।१५-१६-१७]। तथा विरोधाविरोधभेदात्, कार्याविरोधि द्रव्यं कारणाविरोधि[9] च, उभयथा गुणः[10], कार्यविरोधि[11] कर्म [वै० सू० १।१।१३-१४]। इत्येवमादिद्रव्यगुणकर्मनानात्वहेतुकलापश्च विशेषाभावादनर्थक आपद्यते। एवं तावद् द्रव्यस्य [द्रव्यस्य] च सामान्यविशेषौ स्याताम्, न गुणकर्मणोः।

इतर आह—यथा द्रव्ययोः प्रत्यासत्तिर्द्रव्यत्वाभिसम्बन्धात् तथा सत्त्वाभिसम्बन्धाद् द्रव्यगुण-कर्मणां भविष्यति। यथोक्तम्—सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सा सत्ता [वै० सू० १।२।७-८] इति। अत्र ब्रूमः[12]—द्रव्ययोरपि त्वदनुकम्पाद्रवीकृतचेतसा मया त्वयि चित्तानुवृत्त्या उक्तम्, तत्राप्या[13]ग्रहं मा कृथाः, तदपि नोपपद्यते बुद्ध्यासत्तिकृतसामान्यविशेषवादिनो भवतः सामान्या-भावे विशेषाभावात्। **तथासत्तिः सिकतानां वज्रस्य च**, पार्थिवत्वसामान्यानुविद्धत्वादश्मसिकता-लोष्टवज्रादीनाम्। **तेषां सामान्यविशेषौ स्याताम्, न भूम्यम्भसोः**, अन्यतरस्य पार्थिवत्वाभावात्[14]। २०-१ तेनैव हेतुक्रमेण तथासत्तिः पिण्डघटयोः, न मृत्-सिकतानाम्, एवं परतः परतो **यावत् तुल्यजाति-**

---

१ गृह्येत य० ॥ २ °विशेषे स्यातां य०। विशेषस्यातां भा० ॥ ३ 'कर्मणश्च' इति स्यादत्र पाठ ॥ ४ °भावं च प्र० ॥ ५ सत्त्वं य० ॥ ६ ,-, एतच्चिह्नान्तर्गत° °सामान्य° इत्यत आरभ्य सत्त्वलक्षणं इत्यन्त. पाठो य०प्रतिषु नास्ति ॥ ७ आरंभमारंभभेदात् य० ॥ ८ °भागेष्वनपेक्षं प्र० ॥ ९ कारणविरोधि च प्र०। "न द्रव्यं कार्यं कारण च वधति"—वै० सू० १।१।१२। अस्य व्याख्या—"द्रव्यं न स्वकार्यं हन्ति न वा स्वकारणं हन्ति, कार्यकारणभावापन्नयोर्द्रव्ययोर्वध्यघातकभावो नास्तीत्यर्थः, आश्रयनाशारम्भकसंयोगनाशाभ्यामेव द्रव्यनाशादिति भाव°। वधतीति सौत्रो निर्देश."—वै० सू० उप० पृ० २० ॥ १० "गुणा"– वै० सू० ॥ ११ कार्यं वि° प्र० ॥ १२ क्रमः प्र०। एवमग्रेऽपि ॥ १३ नेत्राप्या° प्र० ॥ १४ °वत्वालत्वाभावात् भा० ॥

गुणक्रिययोरण्वोरेव, न तु तयोरपि अन्त्यविशेषसमवायेन अपक्षिप्तप्रत्यासत्त्यो । तस्मात् सामान्याभावाद् विशेषाभाव, सर्वत्रैवोभयाभाव ।

अर्थाश्लेषलक्षणाया त्वासत्तौ पृथिवीघटरूपादीनामेव स्यात् सामान्यविशेषता, नेतरसामान्यविशेषयो ।

गुणक्रिययोरण्वोरेव 'स्याता सामान्यविशेषौ' इति वर्तते । तथासत्ति घटकपालयो, न पिण्डघटयो, एव कपालशकलयो, न घटशकलयो, शकलशर्करयो, न घटशर्करयो, पांशुशर्करयो, न शकलशर्करयो, पांशुधूल्यो, न धूलीशर्करयो, धूलीत्रुट्यो, न पांशुत्रुट्यो, त्रुटिपरमाण्वो, न धूलीपरमाण्वो । अथवा घटस्य च घटस्य च, न घटस्य कपालस्य चेत्यादि । तयोरपि अण्वो पार्थिवशुक्लगतिसमवायिनोरेवाण्वो, न आप्यपार्थिवादिनीलशुक्लगतिस्थितिजातिगुणक्रिययो । **न तु तयोरपी**त्यादि यावदपक्षिप्तप्रत्यासत्त्योरिति । तुल्यजातिगुणक्रियासमवायिनोरन्यत्वप्रत्ययप्रभावोज्झितान्त्यविशेषयो तत्समवायेनापक्षिप्ता अपहृता प्रत्यासत्तिस्तयोरपि इति कृत्वा पुनस्तद्बुद्ध्यासमवप्रकरणम् [7] **तस्मात् सामान्याभावाद् विशेषाभाव, सर्वत्रैवोभयाभाव** इति द्रव्यगुणकर्मणा न सामान्य नापि विशेष इत्यत प्रभृति यावत् 'अण्वो' इत्येतदवधिमध्याभिहितोपपत्तिबलाद् यथोपपादितसामान्यविशेषाभाव स्मारयति ।

अत्राह—सा द्विधा प्रत्यासत्ति, अयमसम्बन्धादनर्थसम्बन्धाश्च । तत्रानर्थलक्षणा सद्-द्रव्य-पृथिवी-मृद्-घटादितत्त्वानुवृत्तिबुद्धिग्रहणा यथोक्ता, सामान्यविशेषसमवायानामर्थत्वाभावात् । अर्थलक्षणा तु द्रव्यगुणकर्मसम्बन्धात्मिका, तेषामर्थसंज्ञितत्वात् । यथोक्तम्—अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु [वै० सू० ८।२।३] । तत्र क्रियावत् [वै० सू० १।१।१५] इत्यादि द्रव्यलक्षणम् । तद्भेदलक्षण च—रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी, रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाश्च, तेजो रूपस्पर्शवत्, वायु स्पर्शवान् [वै० सू० २।१।१-४], यत्र रूपादिचातुर्गुण्य सा पृथिवी, गन्धहीना द्रवस्नेहाधिकाश्चाप, द्रवस्नेहरसगन्धहीन तेज, रूपहीनो वायु, द्रव्याश्रय्यादिलक्षणो गुण । श्रोत्रग्रहणो योऽर्थ स शब्द [वै० सू० २।२।२१] । चक्षुर्ग्रहणो योऽर्थ स रूपम् । इत्याद्यर्थलक्षणनियतया प्रत्यासत्त्या सामान्यविशेषौ स्यातामिति ।

अत्रोच्यते—**अर्थाश्लेषलक्षणाया त्वासत्तौ पृथिवीघटरूपादीनामेव स्यात् सामान्यविशेषता,** लक्षणोद्देशनिर्देशदृष्टत्वेत्यथ । **नेतरसामान्यविशेषयो** 'सामान्यविशेषता' इति वर्तते, सत्त्व-

---

१ °रणवारेव भा० । रण्वादरेव य ॥ २ वर्तते य ॥ ३ °घाकर्ण्यो पा० वि० ॥ ४ °त्रुट्यो भा० । एवमग्रेऽपि । य० प्रतिपत्ति प्राय सर्वत्राप्यग्रे 'त्रुटि'शब्द एव दृश्यते ॥ ५ °वायिनोरेवण्वो भा० । °वायिनोरण्वोः य ॥ ६ °द्बुद्ध्यासत्प्रकरण प्र० ॥ ७ पृ० २९ पं० ५ ॥ ८ पृ० ३१ पं० १ ॥ ९ °क्रमयस्तु य ॥ १० 'क्रियावद् गुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्' –वै० सू० ॥ ११ स्निग्धा '–वै० सू० ॥ १२ 'स्पर्शवान् वायु –वै० सू० ॥ १३ 'द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्' —वै० सू० १।१।१६ ॥ १४ °ग्रहणोऽर्थ स शब्दः भा० । °ग्रहणोऽर्थ शब्द य० ॥

तथापि स्वविषयसामान्यविशेषापत्तिः। सा चोक्तदोषा।
तस्मात् सर्वथान्तरङ्गं स्वमूर्तिस्थं प्रधानं व्यवस्थितमनपेक्षम्—न हि तस्य

द्रव्यत्वपृथिवीत्वगुणत्वरूपत्वाद्यनुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिलक्षणयोर्न स्यात्। दृश्यते च तयोरपि **वैशेषिकैः** गुणसमुदायद्रव्यवादिभिश्च सादृश्यानुवृत्तिनिवृत्तिलक्षणसामान्यविशेषता। कोऽभिप्रायः? अर्थाश्लेषलक्षणासत्तिकृतसामान्यविशेषाभ्युपगमे तत्त्वानुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिग्रहणौ न स्याताम्। तत्त्वानुवृत्तिनिवृत्तिकृतयोर्वाभ्युपगमेऽर्थाश्लेषकृतप्रत्यासत्त्योरभाव इति विरोधाद् न [3]प्रकल्पते इत्ययमभिप्रायः।

किञ्चान्यत्—**तथापि स्वविषयसामान्यविशेषापत्तिः।** अर्थाश्लेषलक्षणासत्तौ सत्यामपि 'स्वविषयमेव सामान्यम्, स्वविषय एव विशेषः' इत्येतौ[4] प्रागुक्तौ विकल्पावापन्नौ। **सा चोक्तदोषा,** सापि च स्वविषयसामान्यविशेषापत्तिरुक्तदोषैव—यदि स्वविषयम्, सामान्यविरोधः। यदि सामान्यं तत आत्मा न भवति, अनेकार्थत्वात् सामान्यस्य। अथ आत्मा ततो न सामान्यम्, एकत्वादात्मनः। अथ आत्मैव सामान्यम्, रूपादिर्घटादेरात्मा तत्समुदायकार्यत्वात्; एवं सत्यात्मभेदः—रूपं रूपं च रूपादिसमुदयश्च इत्यादि। तथा विशेषोऽपि। यदि स्वविषयः, विशेषविरोधः। यदि विशेषस्तत आत्मा न भवति, अन्यत्वाद्विशेषस्य गुणतः कालतो वा, अन्यथा घटादौ सामान्यापत्तेः। अथ आत्मा ततो विशेषो न भवति, एकत्वादात्मनः। अथोच्येत—नैकत्वान्यत्वविरोधदोषौ[7], 'आत्मैव विशेषः' इत्यनपादानादिप्रतिज्ञानात्; यदि आत्मापेक्ष एव विशेषः, एक एव[8] अन्य इत्यात्मनोऽन्यथाभवनादनात्मत्वमित्यादिपूर्वोक्तदोषसम्बन्धिनी स्वविषयसामान्यविशेषापत्तिः।

अत्राह संसर्गवादी[9]—यदि 'आत्मैव सामान्यम्, आत्मैव विशेषः' इति ब्रूयां साङ्ख्य-बौद्धवत् स्युरेते[10] दोषा ममापि। न पुनरहमेवंपक्षः। मम तु सामान्यविशेषौ द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थेभ्योऽत्यन्तभिन्नौ[11], नागृहीतविशेषणा[12] विशेष्ये बुद्धिरस्तीति 'सत्त्वाभिसम्बन्धात् सत्, द्रव्यत्वाभिसम्बन्धाद् द्रव्यम्' इत्यादिसामान्यविशेषवादिनः कथं स्वविषयसामान्यविशेषपक्षदोषाः? इति। अत्रापि परविषयसामान्यविशेषवादिप्रत्याख्यानात् का गतिः? इत्यलं प्रसङ्गेन।

तस्मादित्युक्तदोषोपसंहारार्थः, एतद्दोषापेतं **सर्वथान्तरङ्गं वस्तु इति प्रतिपत्तव्यं** घटादि इत्यभिसम्भन्त्स्यामः। सर्वेण प्रकारेण **सर्वथा** यां[13] तां गतिं गत्वा 'सामान्यमेव, विशेष एव' इत्येवमादिना विचार्य "विचार्य[14] **अन्तरङ्गं वस्तु** घटस्य केनचित् प्रतिविशिष्टेनाकारेण उदकाद्याहरणधारणादिसमर्थेन भवनं समानेन चार्थान्तरैस्तदेवाश्रयणीयम्, न बहिरङ्गं सत्त्वद्रव्यत्वादि स्वपरविषयसामान्यविशेषैवादि[15]-

---

१ °गुणरूपत्वा° य०॥ २ °नुवृत्तिबुद्धि° य०॥ ३ प्रकल्प्यते य०। अत्र प्रकल्पेते इति भा० पाठे 'सामान्यविशेषौ न प्रकल्पेते' इत्यर्थो ज्ञेय.। प्रकल्प्यते इति इति य० पाठे तु 'सामान्यविशेषता न प्रकल्प्यते' इत्यभिसम्बन्धो ज्ञेय॥ ४ भा० विनान्यत्र—इत्येतो प्रागुक्तौ विक° डे० लीं०। इत्युतो प्रागुक्तौ विक° पा० रं० ही०। इत्युक्तौ विक° वि०॥ ५ दृश्यता पृ० ११ पं० ६॥ ६ पृ० २२ पं० ६॥ ७ °दोषो ही० विना॥ ८ एक एक एव भा०॥ ९ °वावी य०॥ १० °वत्स्यरेते भा०। °वत्परेते य०॥ ११ कर्मभ्योत्यंतभिन्नौ य०॥ १२ नागृहीतविशेषणविशेषणविशेष्ये भा०॥ १३ यां गतां गतिं य०। "एवं या ता गतिं गत्वा कल्पयित्वापि सर्वथा सर्वप्रकारेण"—नयचक्रवृ० पृ० ९२-२॥ १४ विचारांतरंगं य०॥ १५ °षतादिपरि° य०॥

अनुवृत्त्यपेक्षा घटान्तरेषु । यदि स्यात् ततोऽनुवर्तेत स तेष्वपि, ततश्च सर्वसामान्यात् स एव स स्यात्, तद्यथा—पूर्वाह्णापराह्णयोरेक एव घटः । तत्सन्निवेशस्वरूपा-

---

परिकल्पितम् । यथोक्तम्—अन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्गो विधिर्बलवान् । य एष प्रेक्षापूर्वकारी पुरुषः स प्रातरुत्थाय प्रत्यङ्गवर्तीनि स्वानि कार्याणि कुरुते, ततः सम्बन्धिनाम्, ततः सुहृदाम्, ततः शेषाणाम् [पा० म० भा० १।१।५६] इति । तदन्तरङ्गत्वं कुतः? स्वमूर्तिस्थत्वात् स्वा मूर्तिर्मृदाद्यात्मिका, तत्रस्थत्वाज्जलाद्याहरणसमर्थस्य भवनस्य । प्रधानत्वाच्च तदेव ग्राह्यम् । कुतः प्रधानम्? तदर्थत्वात् सामान्यविशेषयोः, कन्यार्थवस्त्रालङ्कारवत्, घटार्थो हि सामान्यविशेषकल्पनाव्यापारः । व्रीहिहरणार्थपलालादिवदप्रधानत्वात् सामान्यविशेषयोस्त्याज्यता । व्यवस्थितत्वाच्च तदेव घटभवनं ग्राह्यम् । व्यवस्थितं च आत्मन्येव स्थितत्वात्, न यथा तौ सञ्चारिणौ सामान्यविशेषावव्यवस्थितौ परापेक्षत्वाद् अव्यवस्थितत्वाच्चावस्तु वन्ध्यापुत्रवत् । क्व पुनः सञ्चारिणौ? सद्द्रव्यादिषु । सद् द्रव्य-पृथिवी-मृद् घटत्वाभिसम्बन्धात् 'अस्ति द्रव्यं पार्थिवो मार्त्तिको घटः' इति घटे सम्प्रत्ययः [ ] इत्युक्तत्वादाचार्येण । घटभवनस्यो ... रणासत्तात्मनः पुनः क्व सञ्चरणम्?

अनपेक्षत्वाच्च, 'तदेव वस्तु' इत्यभिसम्बध्यते प्रत्येकं सर्वत्र । तद्धि घटभवनं न घट इति वा पट इति वा घटपटादिद्रव्यान्तरमपेक्षते यथा अनुवृत्तिव्यावृत्तिसामान्यवादिमते तदर्थं घटपटाद्यर्थान्तरापेक्षा व्यावृत्तिविशेषवादिमते च तदर्थं पटादिद्रव्यान्तरापेक्षा । लौकिकानुवर्तिव्यवहारनयवादिमते तु सन्निहितस्वाधीनवृत्तित्वाद् घटात्मभवनस्य न तदपेक्षास्तीति तद्दर्शयति—**न हि तस्यानुवृत्त्यपेक्षा घटान्तरेषु ।** अर्थापत्त्या न व्यावृत्त्यपेक्षा पटादिद्रव्यान्तरेषु । **यदि स्यात्** अपेक्षा **ततोऽनुवर्तेत स** घटः **तेष्वपि**[12] घटान्तरेष्वपि । न पुनरपेक्षास्ति, तस्य स्वसामर्थ्येनैव सिद्धत्वाद् घटात्मनः । यद्यपेक्षेत घटो घटान्तराणि, घटान्तरेष्वप्यनुवर्तेत । **ततश्च सर्वसामान्यात् स एव स स्यात्,** 'घटान्तरमपि घटात्मैव स्यात्, तत्तत्त्वानुवृत्तेः, घटात्मवत्' इति दोषः स्याद् देशभिन्नेष्वपि घटेषु कालभिन्नघटवत् । तन्निदर्शयति—**तद्यथा—पूर्वाह्णापराह्णयोरेक एव घट** इति । नापि घटस्तत्त्वानुवृत्तिमपेक्षते, घटात्मन्यसिद्धे तत्त्वानुवृत्त्यसिद्धेः, तत एव च न पटादिव्यावृत्तिमपेक्षते, तदायत्तत्वादित्यत आह—**तत्सन्निवेशस्वरूपा**

---

१ "असिद्धं बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षणे" इति । बहुलं ह्यनया परिभाषा । अवश्यमेवैषा वक्तव्या । सा चाप्येषा लोकतः सिद्धा । कथम्? प्रत्यङ्गवर्ती लोको लक्ष्यते । तद्यथा—पुरुषोऽयं प्रातरुत्थाय यान्यस्य प्रतिशरीरं कार्याणि तानि तावत् करोति, ततः सुहृदाम्, ततः सम्बन्धिनाम्' -इति पाठः पातञ्जलमहाभाष्ये ॥ २ मूर्तिर्मृदा° प्र० ॥ ३ °स्थत्वाज्ज° प्र ॥ ४ प्रधानत्व । तदेव भा । प्रधानत्वाच्च देव य० ॥ ५ °पलादि° प्र ॥ ६ आत्मन्यवस्थितत्वात् य० ॥ ७ एतच्च आचार्यीयं वचनं नयचक्रवृत्तिकारः पुनरप्यग्रे उद्धरिष्यतीत्थम्—"यथोक्तम्—'सद्द्रव्यपृथिवीमृद्घटादि(भि)सम्बन्धादस्ति द्रव्यं पार्थिवो मार्तिको घट इति घटे सम्प्रत्ययः' इति -नयचक्रवृ० पृ० ४०७-१ ॥ ८ °हरणसत्ता° पा० ॥ ९ °तापक्ष्या प्र० ॥ १० घटात्मता भव प्र ॥ ११ वृत्त्य घटा य० ॥ १२ पदापक्षेत भा० । पटाद्यपेक्षेत य० ॥ १३ °सामान्यात्स एव म० पा० । सामान्यात्स एव भा पा० विना । तुलना—'ततश्च सर्वविशिष्टत्वात्स एव न स्यात्'–नयचक्रवृ० पृ० १४ प० ११ ॥ १४ °नात्मक° य० ॥

पेक्षत्वाच्च तस्यास्तदपेक्षा व्यर्था, इतरेतराश्रयदोषापादनात्। तथा विशेषेऽप्यस्य नापेक्षा, तथाहि स एव न स्यात्, उक्तवत्। — पूर्वं यथालोकप्रसिद्धमनपेक्षितपूर्वापरप्रभेदं 'प्रकृतिः' इति वा 'अन्यत्' इति वा वर्तमानं नित्यं न प्रलयभाक् सद् वर्तते भावो योऽसौ तदेव वस्त्विति प्रतिपत्तव्यम्। किं न एतेन? यदि कारणम्, यदि कार्यम्।

पेक्षत्वाच्च तस्याः तदपेक्षा व्यर्था। घटावयवसन्निवेशस्वरूपमपेक्षते घटान्तरानुवृत्तिः पटादि-[१]व्यावृत्तिश्चेति युक्ता अनुवृत्तेर्घटापेक्षा [२]व्यावृत्तेश्च पटादेः। घटस्य पुनरनुवृत्तिव्यावृत्त्यपेक्षा व्यर्था, स्वत एव सिद्धत्वात्। स्यान्मतम्—घटोऽपि घटत्वापेक्षात्मलाभः, तत्त्वानुवृत्तिरपि घटात्मलाभापेक्षेति। एतच्चायुक्तम्, **इतरेतराश्रयदोषापादनात्।** घट-घटत्वानुवर्तनयोरितरेतराश्र[३]यदोषमापादयत्येषा कल्पना, इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न [४]प्रकल्पन्ते, तद्यथा—[५]नौर्नावि बद्धा नेतरत्राणाय। इत्युक्तम्—सामान्यं नापेक्षत इति। **तथा विशेषेऽप्यस्य नापेक्षेति।** यथा सामान्यापेक्षा नास्ति घटात्मलाभस्य तथाविशेषेऽपीति प्रोक्तहेतुविधिनातिदिशति। तथा च योजितमस्माभिरर्थतः। अन्यतो योजनापि—**तथा हि स एव न [६]स्यादुक्तवदिति।** न [७]हि तस्य व्यावृत्त्यपेक्षा [८]पटादिषु। यदि स्यात्, स तेभ्योऽपि व्यावर्तेत। ततश्च सर्वविशिष्टत्वात् स एव न स्याद् घटोऽपि, घटपटयोरिव। तत्सन्निवेशस्वरूपापेक्षत्वाच्च तस्याः तदपेक्षा व्यर्था, इतरेतराश्रयदोषापादनादिति सर्वमतिदेश्यम्।

किञ्चान्यत्—**पूर्वत्वाच्च** घटात्मभवनस्य। सामान्यविशेषाभ्यां हि [९]पूर्वं घटभवनम्। तत् कथमिति
२२-२ चेत्, **यथालोकप्रसिद्धम्।** लोके प्रसिद्धं लोकप्रसिद्धम् यथैव [१०]लोके प्रसिद्धं तथा घटभवनम्, आकारादिमात्रमेव च घट इति लोके प्रसिद्धम्, तदेव पूर्वम्, **अनपेक्षितपूर्वापरप्रभेदत्वात्।** के पुनः पूर्वापरप्रभेदाः? घटादारभ्य यावत् प्रकृतिस्ते पूर्वप्रभेदाः साङ्ख्यानाम्, 'सत्' इति वा वैशेषिकाणाम्, अपरे प्रभेदाः यावदन्त्यविशेषकृतमन्यत्, इति साङ्ख्यवैशेषिकाभ्यां कल्पितम्, अत आह—**प्रकृतिरिति वान्यदिति वा।** बौद्धेन वा क्षणिकत्वादत्यन्तमन्यदिति। **वर्तमानत्वाच्च,** वर्ततेस्सत्त्वार्थत्वात्, अस्तिभवति-विद्यतिपद्यतिवर्ततयः सन्निपातषष्ठाः [११]सत्तार्थाः [ ] इति वचनात्। अत एव **नित्यं** जलाहरणादि-व्यवहारसन्निपाति सततमतीतानागतकालयोरपि घट[१२]पटाद्यवस्थानात्। **न प्रलयभागिति,** न अम्भसि[१३]तरङ्गवत् स्वात्मप्रवेशम्, न प्रदीपज्वालानलवदत्यन्तविनाशम्, द्विविधमपि प्रलयं न भजते, द्रव्यस्य पर्यायान्तरेण पर्यायस्यापि [१४]द्रव्याविनाभावादेव, एकान्तासदुत्पत्तिविनाशवादयोरहेतुदृष्टान्तत्वादेकान्तनित्य[१५]वादे च धर्मा-विर्भाव[१६]तिरोभावाभावात्। तद्धि तेन [१७]रूपेण सर्वकालं **सद्,** [१८]वर्ततेः सत्तार्थत्वादिति तदेव व्याचष्टे—

---

१ 'व्यावृत्तिरेवति भा०। °व्यावृत्तिरेवेति य० ॥ २ व्यावृत्तेएव पटादेः प्र० ॥ ३ 'यत्वादोष° प्र० ॥ ४ प्रकल्प्यंते भा० ही० लीं० विना ॥ ५ भा० विनान्यत्र—तरतारणाय °डे० लीं०, °तरवारणाय पा० वि० र० ही०। "तदिदमितरेतराश्रय भवति। इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते। तद्यथा नौर्नावि बद्धा नेतरत्राणाय भवति" —इति पातञ्जलमहाभाष्ये १।१।१ ॥ ६ स्याद्रुक्तवदिति प्र० ॥ ७ दृश्यता पृ० ३२ पं० २ ॥ ८ पदादिषु प्र० ॥ ९ पूर्वंघट° प्र० ॥ १० लोकप्रसिद्धं भा० वि० ॥ ११ भा० विनान्यत्र—सत्वार्थाः पा०। सप्तार्थाः डे० लीं०। सखार्थाः वि० र० ही० ॥ १२ °पटयोवस्था° य० ॥ १३ °स्तरंगधत् प्र० ॥ १४ द्रव्याविभावादेव भा० ॥ १५ °वादे च पा० वि० विना। °वादेन वि० ॥ १६ 'तिरोभावाभावाभावात् भा०। °तिरोभावात् वि० लीं० ॥ १७ भूपेण भा० ॥ १८ वर्तते सत्ता° य० ॥

को हि वादानामन्तं कर्तुं शक्नुयात् ? आह च —

णिययवयणिज्जसच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा।
ते पुण अदिट्ठसमयो विभजइ सच्चे व अलिए वा ॥ [सन्मति० १।२८]
को ह्येतद् वेद ? किं वाऽनेन ज्ञातेन ? [ ]

वर्तत इति। भाव इति वृत्तिभवनयोः प्रागुक्तं पर्यायशब्दत्वं दर्शयति। योऽसाविति प्रत्यामनति, य एव व्याख्यातो भावः सोऽसौ तदेव वस्तु नान्यदिति प्रतिपत्तव्यमिति निगमयति। तदन्तरङ्गप्रधानमनपेक्ष्य पूर्वं वर्तमानं च तद् वस्तु। इतिशब्दः परिसमाप्त्यर्थोऽवधारणार्थो वा, इयानेव पर्याप्तोऽयं, नातोऽधिको न्यूनो वा, येऽन्येऽन्यत् कल्पयन्ति — कारणमेव, कार्यमेव, सामान्यमेव, विशेष एव, तदुभयमेव, अन्यतरोपसर्जनप्रधानमेव, नैव वाऽस्त्युभयमिति। किं न एतेन ? यदि कारणम्, यदि २३१ कार्यम्, ततः को दोषः ? दृश्यते हि कारणमपि कार्यमपि, यथा — परमाणुकारणं द्व्यणुकादि मृत्पिण्डशिवकादीनां कार्यमपि, तद्भेदजत्वात्। एवं द्व्यणुकत्र्यणुकादीनामपि कारणकार्यभावः सङ्घातभेदाभ्याम्। सामान्यं द्रव्यक्षेत्रकालभावानां स्वपरभवनसामान्यानतिवृत्तेः। स्वपरविशिष्टभवनात्मकत्वाद् विशेषः। एवमुभयमन्यतरोपसर्जनप्रधानत्वं सहक्रमस्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यविवक्षावशात्। न चास्त्युभयम्, एकान्तरूपस्य परस्पराप्रतिबद्धस्यासिद्धेरसिद्ध्यादिशून्यतानुभवनात्।

स एव व्यवहारनयाश्रयाद्वैतिको ब्रूते — को हि वादानामिति एकान्तवादानाम् अन्तं कर्तुं शक्नुयात् — उच्छेत्तुं शक्नुयात् कर्तुमिति। किं कारणम् ? न हि साङ्ख्याभिहिताः सत् कारणे कार्यम्,

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम् ॥ [साङ्ख्यका० ९]

इत्येवमादयो हेतवः, न वा वैशेषिकोक्ताः क्रियागुणव्यपदेशाभावादसत् [वै० सू० ९।१।१] इत्यादयः, 'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः प्रत्ययायत्तजन्मत्वात्' इत्यादयो वा बौद्धोक्ताः परस्परेणोच्छेत्तुं शक्यन्ते, अभियुक्तबुद्ध्युत्कर्षपरम्परया अदृष्टनिष्ठत्वात्। एतस्मिन्नर्थे ज्ञापकमाह — आह चेति, नाहमेव स्वमनीषिकया ब्रवीमि, किं तर्हि ? अन्येऽप्येवं ब्रुवते।

णिययवयणिज्जसच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा।
ते पुण अदिट्ठसमयो विभजइ सच्चे व अलिए वा ॥ [सन्मति० १।२८]

स्वविषयसत्यत्वादेवाविचाल्या इति तथाऽन्ये मोघाः। तेषामनेकान्तस्थितिस्वतत्त्वानवबोधात् 'सत्यमेव, असत्यमेव वा' इत्यदृष्टसमयस्तान् विभजते इत्याचार्यसिद्धसेनः।

---

१ 'स्ना अभ्यासे [पा० धा० ९२९] इति धातोः प्रत्याहारस्य रूपमिदम् ॥ २ पूर्ववत्' प्र० ॥ ३ नातो न्यूनोऽधिको वा भा० ॥ ४ क्रमशः विशेषः प्र० ॥ ५ °तन्त्र्यविवक्षा° भा० ॥ ६ °याद्वैतिका य० ॥ ७ हिताः सत् य० ॥ ८ पा० विनाऽयम् — 'दृष्टनिष्ठत्वात्'। 'दृष्टनिष्ठत्वात्' पा०। निष्ठा समाप्तिरन्त इति पर्यायाः, तथा च अदृष्टनिष्ठत्वात् अदृष्टपर्यन्तत्वादित्यर्थः ॥ ९ मूमि भा० ॥ १० °समउ भा० ॥ ११ °त्यमेवेत्यदृष्ट° य० ॥

तथा च कारणे कार्यसदसत्त्वानियमः, कारणे सत्येव भावाभावाभ्याममति च सेवाद्युद्योगफलानियमात्। तद्यथा — वातकर्कोटकीपुष्पं दृष्टमसत्कार्यम्। अव्यक्त-

तथान्येऽपि —

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥ [वाक्यप० १।३४] इति।

२३-२ अनुमानान्तरबाध्यत्वेऽनवस्थितानुमानत्वाल्लोकप्रसिद्धिरेव प्रमाणमित्यर्थः। **को ह्येतद् वेद** इत्यशक्यप्राप्तिं दर्शयति **किं वानेन ज्ञातेन** इति प्रयोजनाभावं च। यस्मात् प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनानां जिज्ञासा-संशय-शक्यप्राप्ति-प्रयोजनपूर्वाणां संशयव्युदासः फलमन्ते भविष्यतीति दशावयववादिनां मतम्, तथा च व्यवहारप्रसिद्धिः। तस्मात् त्वत्यन्तामवतनाव्याप्त्यतिप्रसङ्गागमकाक्षरदरिद्रकृपणनिकारचिनन्यायलक्षणानीति।

तथा च कारणे कार्यसदसत्त्वानियमः। एवं च कृत्वानेन न्यायेन यथा 'कारणमेव, न कार्यम्; कार्यमेव, न कारणम्, सामान्यमेव, न विशेषः, विशेष एव, न सामान्यम्, उभयम्; अन्यतरोपसर्जनम्, उभयाभावो वा' इत्ययं नियमो नास्त्युक्तविधिना तथा कारणे कार्यस्य सत्त्वमेव असत्त्वमेवेत्ययमपि नियमो नास्ति। कथम्? यदि कार्यं सत् ततः 'कारणमेव' इति नास्ति, कार्यस्यापि सत्त्वात्। कथम्? क्रियानिमित्तकत्वात् कारणकार्यत्वयोः कार्याभावे कारणाभावः कारणाभावे कार्याभाव इति। तथा यदि कारणं सत्, ततः कार्यमेव न भवति, कारणस्यापि सत्त्वात्। एवं सामान्यविशेषोभयान्यतरोपसर्जनोभयाभावेष्वपि भावनीयम्। तत्र तावत् कारणे कार्यं सदेव असदेव सदसच्चैव इति वा ये ब्रुवते तेषां नियमाभाव उक्तः अन्यतरोपसर्जनोभयाभावयोरप्युक्त एव भवतीत्यभिप्रायः। 'कारणे कार्यं सदेव, असदेव' इत्यनियमः। को हेतुः? **कारणे सत्येव भावाभावाभ्याम्** इति यथासङ्ख्यं हेतू। सत्येव भावात् 'असत् कारणे कार्यम्' इत्यनियमः, सत्येवाभावात् 'सदेव' इत्यनियमः। **असति च** 'कारणे कार्यस्य सदसत्त्वानियमः' इति वर्तते। कुतः? **सेवाद्युद्योगफलानियमात्।** दृष्टो हि
२४-१ लोके कृषीवलवणिग्राजपुरुषशिल्प्यादीनां कृषिवाणिज्यसेवाशिल्पादिषु कारणेषूद्युक्तानां फलानियमः। स सत्स्वसत्सु च दृष्टः। तद्यथा — **वातकर्कोटकीपुष्पं** फलकारणं सत्कार्यम्, पुष्पत्वात्, आम्रपुष्पवदित्यनुमानप्रसङ्गेऽपि च **दृष्टमसत्कार्यम्।** असत् कार्यं पुष्पफलमस्मिन्नित्यसत्कार्यम्। तस्याफलत्वदर्शनाद् दृष्टविरुद्धमनुमानम्। अतोऽसत्कार्यं तदिति।

अव्यक्तमिति चेत्। स्यान्मतम् — अव्यक्तानि वातकर्कोटकी-वञ्जुल-जपाकुसुमादीनां फलानि

१ °रपाध्यत्वेऽनुवस्थिता° भा०। °रपाध्यत्वेनुवस्थिता° य० ॥ २ जानेन प्र० ॥ ३ °संशय-सम्यक्प्राप्ति° य०। "प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवा [न्यायसू० १।१।३२]। दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये सञ्चक्षते जिज्ञासा संशय शक्यप्राप्ति प्रयोजन संशयव्युदास इति" — इति न्यायसूत्रभाष्ये १।१।३२ ॥ ४ °व्याप्त्य-व्याप्त्यतिप्रस° य०। °व्याप्त्यतिप्रस° भा० ॥ ५ कार्यसदसत्त्वानियमः य०। कार्यसत्त्वानियमः भा० ॥ ६ असत्वमेव त्ययमपि भा० लीं०। अत्र 'असत्त्वमेव वेत्ययमपि' इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ७ कार्यात्सत्ततः प्र० ॥ ८ कारणभावे भा० ॥ ९ °सर्जनाभावयो° प्र० ॥ १० °भ्यामिति यथासंख्यं प्र० ॥ ११ सत्येवात् भा०। सत्येव भावात् य० ॥ १२ कृषीवल° प्र०। एवमग्रेऽपि ॥ १३ °शिल्पादीनां प्र० ॥ १४ °ज्यासेवा° य० ॥ १५ °शिल्पादिपूद्युक्तानां य० ॥ १६ वातककेटिकी° भा०। वातककोटिक° य० ॥ १७ °कर्कोटिकी° प्र० ॥

मिति चेत्, न, व्यक्तिकार्यस्य अव्यक्तकार्यत्वादसत्त्वतुल्यत्वात्। बीजादीनामप्य कारणतैव क्वचिदकरणादिति कारणमप्यकारणमेव, कार्यकारणाव्यभिचाराभावात्। कार्यसदसत्त्वानियमात्तु कारणे कारणतायामेव करणाकरणे कार्यस्य, अविदित- वेदनार्थविधिपरताया वाक्यप्रवृत्तेस्तस्यामवस्थायामनुपजनितविपयत्वादपवाद-

---

कार्याणीति। एतच्चायुक्तम्, **व्यक्तिकार्यस्य अव्यक्तकार्यत्वादसत्त्वतुल्यत्वात्।** व्यक्ति कार्यमस्येति व्यक्तिकार्यम्। किं तत्? कार्यम्। तस्य कार्यस्य अव्यक्तकार्यत्वात्, असत्त्वेन तुल्यम्, तद्भावोऽसत्त्व- तुल्यत्वम्, तस्मात्सत्त्वतुल्यत्वान्नाव्यक्त कार्यमस्तीति। अथवा [1]व्यक्तिश्च सा कार्यं तद् व्यक्तिरेव कार्यम्, तदव्यक्त कार्यमव्यक्तकार्यम्, तस्याव्यक्तकार्यत्वात्सत्त्वतुल्य[त्व]म्, तस्मात्सत्तद् यातकर्कोटक्यादि- पुष्पफलम्, नाव्यक्त कार्यमिति।

स्यान्मतम्—करोतीति कारणम्। यथोक्तम्—

[3]ष्ठिवसिव्योर्ल्युट्परयोर्दीर्घत्व वष्टि भागुरि।
करोते कर्तृभावे च सौनागा सम्प्रचक्षते॥ [ ]

तस्मात् स्वकार्यस्याकरणात्कारणत्वमेवेति। एतदपि नोपपद्यते, यस्माद् **बीजादीनामप्यकारणतैव क्वचिदकरणादिति** प्राप्तम्। इतिशब्दो हेत्वर्थ। यस्मात् तेषामपि बीजाना त्रिवर्षपरमोषितानामङ्कुरा- द्युत्पादने शक्त्यभाव, आदिग्रहणाद् मृदादेर्घटाद्युत्पाद्ने। तत को दोष? **कारणमप्यकारणमेवास्तु कार्यकारणाव्यभिचाराभावादिति।** एव च सति कृपीवलादीना सकृद्दृष्टबीजाङ्कुरादिकारणकार्यभाव- व्यभिचाराणा तेन्यप्रवृत्ते पुनरनारम्भात् [10]करणाभावे कारणाभाव एव स्यात्, अनिष्ट चैतत। लोके २४२ पुनरुपपद्यते—**[11]कार्यसदसत्त्वानियमात्तु [12]कारणे** बीजादौ **कारणतायामेव** सत्या **करणाकरणे** सन्निहिते तन्त्वादौ कारणे **कार्यस्य** पटादेश्च, कादाचित्कयो करणाकरणयोर्दर्शनात्।

स्यान्मतम्—कारणे कार्यस्य सत्त्वासत्त्वयो करणाकरणयोश्चानियमे किमर्थं पुन 'करोतीति कारणम्' इति शब्दव्युत्पत्तिराश्रीयते? [14]इति। अत्रोच्यते—**अविदितवेदनेत्यादि।** अज्ञातज्ञापनमविदितवेदनमर्थो ऽस्य विधेरिति **अविदितवेदनार्थो विधि, तत्परताया वाक्यप्रवृत्ते तस्यामवस्थायामनुपजनित- विपयत्वादपवादस्पर्शस्य।** तत्र हि 'करोतीति कारणम्' इति कारणत्वविधानमात्र क्रियते देशकालादि- विशेषाविशेषणात्सति स्वविषये कथमपवाद स्पृशेत्—किं करोत्येव न करोत्यपि क्वचित् कदाचिदिति?

---

१ व्यक्तिश्च प्र॥ २ अत्र 'तदव्यक्त कार्यम व्यक्तकार्य तस्याव्यक्तकार्यत्वादसत्त्वतुल्यम्' इति योजनाया यथाश्रुतमपि समीचीनमेवेति भाति॥ ३ ष्ठिवसीव्योर्लुट्पर' य०। ष्ठिवुसीव्योर्लुट्पर भा०। 'ष्ठिवु निरसन'—पा० धा० ५६०, १११०। षिवु तन्तुसन्तान—पा धा० ११०८। 'ष्ठिविसिव्योर्ल्युटि वा दीर्घ'—इति अमरकोषटीकाया क्षीर स्वामी॥ ४ °स्याकरणात्कारणत्वमे य०। °स्याकारणाकारणत्वमे भा॥ ५ दकारणा° प्र०॥ ६ त्रिवर्षे परमोषितामङ्कुराद्युत्पादन। शक्त्य° भा०। त्रिवर्षपरिमोषितामङ्कुराद्युत्पादनाशक्त्य° य०। 'विधिदृष्टेन यज्ञेन धर्मस्तेषु महान्भवेत्। यत्र बीज सहस्राक्ष त्रिवर्षपरमोषित॥'—महाभा० आश्वमे० ९१।१६॥ ७ मृदादिघटा प्र०॥ ८ कार्यकरणाव्य भा॥ ९ तदर्था[या?] प्रवृत्ते प्र॥ १० कारणाभावे प्र०॥ ११ कार्यसदसदसत्त्वानिय° भा०। कार्यसद्सत्त्वानिय य०॥ १२ करणे प्र०॥ १३ णयोष्चानियमे प्र०॥ १४ इत्युच्यते अविदित य०॥

स्पर्शस्य, नीलोत्पलवत् । तथा न्यग्रोधफलमसत्कारणं दृष्टम् । आम्रपुष्पफले सत्कार्यकारणे दृष्टे ।

सर्वसर्वात्मकत्वसर्वकारणत्वात् सेवादिक्रियाकलापो यथा अर्थप्राप्तेः कारणं तथा क्लेशप्राप्तेरपि ।

नन्वत एव क्लेशोऽपि भवतीति चेत्, एवं सतीप्सितेन तावद्भवितव्यम्, सन्निहिततच्छक्त्यभीहितत्वात्, सर्वशास्त्रज्ञान्यनरव्याख्यानवत् ।

तदा न मन्यते वक्ता – इदं तावत् प्रतिष्ठां यातु 'करोतीति कारणम्' इति । प्रतिष्ठिते चास्मिंस्तत उत्तरकालं सिद्धे सति कारणत्वे [1]सम्भवतः कार्यसत्त्वासत्त्वयोः तेन विशेषणप्रकारेण [2]करोत्येव न करोत्येवेति विकल्पदेशवशान्नियमोपपत्तेर्विशेषणमाश्रीयते । को दृष्टान्तः ? **नीलोत्पलम्** । यथा हि 'नीलोत्पलं भवति' इति तद्भवनमात्रं विधीयते 'नीलमेव, उत्पलमेव' इति वा नियमविशेषानाश्रयणात्, तथा 'करोतीति कारणम्' इति क्रियाभवनमात्रं विधीयते 'करोत्येव, न वा' इत्यनाश्रित्य विशेषनियमम् । यथा वा नीलं तिल-कम्बलादिविशेषानपेक्षम् उत्पलमपि रक्तादिविशेषानपेक्षं परस्परविशिष्टमुभयमुच्यते तथा 'करोतीति कारणम्' इति करणमात्रं देशकालादिकार्यप्रतिबन्धाप्रतिबन्धनिरपेक्षमुच्यते । अथवा शबलोत्पलत्वे सत्यपि तस्य धर्मभेदानपेक्षं 'नीलोत्पलम्' इत्युच्यते, तथा [3]करणभावाभावभेदधर्मनिरपेक्षं क्रियामात्रं 'करोतीति कारणम्' इत्युच्यते ।

तथा न्यग्रोधफलम् । तेन प्रकारेण [4]**तथा**, यथा प्रागुक्तसदसत्त्वानियमात्तु कारणे कार्यस्य २५-१ कारणतायामेव करणाकरणे तथा कार्यकरणाकरणानियमात्तु कारणस्य कार्यस्य कार्यत्वानियमः । वटन्यग्रोधोदुम्बरादिफलानां फलत्वात् पुष्पकार्यत्वानुमानप्रसङ्गे **फलमसत्कारणं [6]दृष्टमिति** पूर्ववद् व्यभिचारः । **आम्रपुष्पफले सत्कार्यकारणे दृष्टे** इत्यत्रापि कादाचित्कयोरेव कार्यकारणयोर्दर्शनात् कार्यकारणसदसत्[7]करणाकरणानियममेव दर्शयति ।

इतश्च कार्यकारणसदसत्त्वानियमः – **सर्वसर्वात्मकत्वसर्वकारणत्वात्** । स्थावरजङ्गमाभ्यवहृतान्योन्यरसरुधिरादिरूपादिपरिणामापत्तिवैश्वरू[8]प्यदर्शनात् सर्वं सर्वात्मकम्, तत एव सर्वं सर्वस्य कारणं कार्यं चेति कृत्वा **सेवादिक्रियाकलापो यथा अर्थप्राप्तेः कारणं तथा क्लेशप्राप्तेरपि** [9]प्रकल्प्यत एव कारणम् । तदपि च फलमर्थक्लेशप्राप्त्यादि अनियतम्, उभयत्र व्यभिचारात् ।

इतर आह – **नन्वत एव क्लेशोऽपि** कार्यसत्त्वादेव **भवतीति** 'नियतं कारणे कार्यम्' इत्यापन्नं [10]**चे**दित्येवं चेन्मन्यसे । **एवं सति ईप्सितेन तावद् भवितव्यम्** । किं च तदीप्सितं फलम् ? अर्थप्राप्तिः, न क्लेशः **सेवकस्य** । किं कारणम् ? **सन्निहिततच्छक्त्यभीहितत्वात्** । सन्निहिता सा २५-२ शक्तिरस्य सोऽयं सेवकः **सन्निहिततच्छक्तिः** अप्रोषितार्थप्राप्तिशक्तिः, [11]सेवा वा सन्निहिता, सा शक्तिरस्याः सा सन्निहिततच्छक्तिः, तया **अभीहितत्वात्** चेष्टितत्वादिति वृत्तिवृत्तिमतोरनन्यत्वात् सेवा-

---

१ सम्भवतः इति पञ्चम्यर्थे 'तसि'प्रत्ययान्त शब्दप्रयोग, कार्यसत्त्वासत्त्वयो सम्भवादित्यर्थ ॥ २ करोत्येव वेति १० हं० । करोत्येव न करोत्येवेवेति पा० । अत्र 'करोत्येव न करोत्येव वेति' इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ३ कारणभावा° य० ॥ ४ तथा तथा प्रागुक्त° य० । तथा प्रागुक्त° भा० ॥ ५ पृ० ३७ प० ३ । अत्र 'प्रागुक्तं' इत्यपि पाठ स्यात् ॥ ६ दृष्टवदिति पूर्ववद् प्र० ॥ ७ सत्करणाकारणनियम° प्र० ॥ ८ °रूपदर्शनात् पा० विना ॥ ९ प्रकल्प्यत प्र० ॥ १० चेदित्यचेन्मन्यसे य० ॥ ११ सवा वा य० ॥

तत्र देशकालाकारनिमित्तावनद्धत्वान्नेष्टमेव फलमवाप्यते, शाव्याख्यानवत् । अथ देशादय किम् ? यदि ते कार्यं ततस्तेषामकारणत्वादसर्वत्वादतत्त्वत्वादप्रतिबन्धकत्वम् । अथ ते कारण ततः सर्वकारणत्वसर्वात्मकत्वात् किमिति सर्वं न भवति, समुदितकारणत्वात्, सयुक्ततन्तुपटवत् ?

अथ वा सर्वं न भवति, अनभिव्यक्तत्वाद्देशादे', प्रधानसाम्यावस्थानवद्

सेवकयोर्यथेष्ट विग्रहसम्बन्धौ । युक्त हि ताभ्यामीप्सितार्थप्राप्तियुक्ताभ्या भवितुम्, नानीप्सितक्लेशभाग्भ्याम् । को दृष्टान्त ? सर्वशास्त्रज्ञान्यतरव्याख्यानवत् । यथा सर्वशास्त्रज्ञ पुरुषो व्याकरणाद्यन्यतमच्छास्त्रमीप्सितमेव व्याचष्टे तथैतदिति ।

अत्र ब्रूम — तत्र देशकालाकारनिमित्तावनद्धत्वान्नेष्टमेव फलमवाप्यते सेवकेनैव प्रसन्नः नृपादपि, स्वनगरभाण्डागारादिक्षेत्रप्रतिबन्धवत् श्व प्रभातादिकालप्रतिबन्धवत् प्रसादनाभिमुख्याकारावबन्धवत् द्वितीयकर्मण्यताप्रदर्शनादिनिमित्तावबन्धवत् । शास्त्रज्ञदृष्टान्तस्यापि तद्विधावबन्धसद्भावे सति अव्याख्यानवन्नियम एव फलस्येत्यत आह — शाव्याख्यानवत्, सर्वशास्त्रज्ञोऽप्येभिरेवावबन्धैरीप्सित न व्याचष्ट इति ।

लौकिको ब्रवीति — अथ देशादय किम् ? इति । विकल्पद्वयापातेन निरोत्स्याम्येतदित्यभिप्राय । ये देशादयोऽवबन्धकाभिमतास्ते यदि कार्यं तथेष्टास्ततस्तेषामकारणत्वादसर्वत्वम् । कारणभावाद्धि सर्वं सर्वात्मक स्यात्, तदभावादसर्वत्व देशादीना प्राप्तम् । असर्वत्वाच्च तेषामतत्त्वत्व तेषु, कस्यचित् तदधीनवृत्तित्वाभावात् । ततोऽतत्त्वत्वादप्रतिबन्धकत्वमपि ।

अथाचक्षीथा — ते देशादय कारणमिति । तत कारण चेत्, सर्वकारणत्वात् सर्वात्मकत्वात् किमिति सर्वं न भवति ? भवत्येवेत्यर्थः । कस्मात् ? समुदितकारणत्वात्, समुदितकारणत्व सर्वकारणत्वात् सर्वात्मकत्वाच्च । अत्र प्रयोग — सर्वं सर्वत्र स्यात्, समुदितकारणत्वात्, सयुक्ततन्तुपटवत् । यथा तन्तूना परस्परसयोगे सति नियमात् पटो भवति स्वकारणवसनिधानादेव सर्वकारणत्वसर्वात्मकत्वसद्भावे को देशादिप्रतिबन्धो नाम अन्य इति किमिति मुधा सर्वं न भवेदिति ? २६ १

अथ वा सर्वं न भवतीत्यादि स एव लौकिक आशङ्कते । अथ मत भवत साङ्ख्यस्य — सर्वं न भवति शरीरक्लेशसुखार्थानर्थप्राप्त्यादि । कुत ? अनभिव्यक्तत्वात् । अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणगतिषु [पा० धा० १४५९], म्रक्षितमभिव्यक्त स्फुटीकृतम्, अनभिव्यक्तमस्फुटम्, अनभिव्यक्तत्वाद् देशादे कारणस्य सर्वं न भवति । को दृष्टान्त ? प्रधानसाम्यावस्थानवत् । यथा प्रधान सत्त्वरजस्तमस्त्रिगुणत्रसाम्यावस्थानेऽनभिव्यक्तत्वात् सर्वकारणमपि सत् सर्वान् भावान् प्रकरोति घटपटादीन्, अथ च प्रकरणात् 'प्रकृति' प्रधीयन्ते भावास्तत इति 'प्रधानम्' इत्यादिभिर्नामभिरुच्यते, तस्य चानभिव्यक्तत्व तत्साम्यावस्थानात्म-

---

१ °वत् श्वे प्रभाता° प्र ॥ २ शास्त्रज्ञदृष्टान्तस्यापि य० । शास्त्रस्यापि भा० ॥ ३ °व्यानयादनि य० ॥ ४ सर्वशास्त्रज्ञो य० ॥ ५ यदे काय प्र ॥ ६ °मकारत्वाद य० ॥ ७ मुधा भा० । मुचा य० ॥ ८ "अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु'–पा० धा० १४५९ । 'अञ्जौप् व्यक्तिम्रक्षणगतिषु"–हैमधा० ७१६ ॥ ९ °मपि न् भावान् भा० । °मपि सत् सर्वा भावाम य० ॥

मयूराण्डकरसगतग्रीवादिवद्वा । ननु च देशादेः सर्वत्वात् सर्वात्मकत्वाद् वैषम्यावस्थैव इति लौकिकप्रकृतित्वमेव प्रकृतेः, सर्वात्मकत्वात्, देशादिवत् ।

अनभिव्यक्तिसाम्यावस्थाने चायुक्ते, अप्रयोजनत्वात्, निर्वृत्तानिर्वृत्तार्थक्रियौदासीन्यवत् । प्रकृतिकारणत्यागेन कारणान्तरस्य वा तथाप्रणेतुरापत्तिः ।

न्येथाः तथा हि देशादिकारणं साम्यावस्थानादनभिव्यक्तं प्रधानवत् सर्वं कार्यं न कुरुते । लोकप्रसिद्धमप्यत्रोदाहरणम्—**मयूराण्डकरसगतग्रीवादिवत् ।** यथा मयूराण्डकरसावस्थायामेव मेचकवर्ण[1]ग्रीवाद्यवयवानभिव्यक्तिः तत्साम्यावस्थानात्[2], अतः सर्वं न भवति मयूराण्डकरसावस्थायामिव तद्ग्रीवादीति ।

अत्रोच्यते—मैवं मंस्थाः, **ननु** चेत्यादि । **नन्वि**त्यनुज्ञापने, त्वयाप्येतदिष्टम्—सर्वं देशादीति ।

२६-२ तस्माद् **देशादेः सर्वत्वात्** सर्वात्मकत्वम्, **सर्वात्मकत्वाच्च वैषम्यावस्थैव ।** इतिशब्दो हेत्वर्थे, यस्माल्लौकिक**प्रकृतित्वमेव प्रकृतेः[3]** सूक्ताभिमतायाः । कथम् ? यथा हि लौकिकी प्रकृतिर्देशादिर्विषमा[4]वस्थैव सती सर्वकारणात्मिका कार्यात्मिका [5]विषमा समा च व्यक्ता चाव्यक्ता च तथा साङ्ख्यपरिकल्पितप्रकृतिरपि स्यात् । किं कारणम् ? **सर्वात्मकत्वात्, देशादिवद्** मयूराण्डकरसवद् वा वैषम्यावस्थैवेत्यर्थः । साम्यावस्थैव वा देशादेरपि, सर्वात्मकत्वात्, प्रकृतिवदिति ।

किञ्चान्यत्—एते अपि च कल्पने **नोपपन्ने**—देशादीनाम**नभिव्यक्तिः** प्रकृतेः **साम्यावस्थान**[6]मिति । कस्मात् ? **अप्रयोजनत्वात् ।** न हि देशादीनामनभिव्यक्तौ प्रयोजनमस्ति, पुरुषविमोक्षणहेतोर्व्यक्तरूपतया प्रवर्तमानानां तथा पुरुषार्थ[7]सिद्धेः, अनिर्वृत्तौ[8]दनस्य पचिक्रियायामौदासीन्यवत्[9] । नापि निर्वर्तितार्थायाः प्रकृतेः पुनरात्मानमुपसंहृत्य साम्यावस्थाने किञ्चित् प्रयोजनमस्ति, सिद्धौदनस्य ओदनार्थ[10]रन्धनादिप्रवृत्तिवत् । अथवा प्रकृतेरेव **अनभिव्यक्तिसाम्यावस्थाने न युक्ते, अप्रयोजनत्वात् ।** अप्रयोजनत्वं निर्वृत्तानिर्वृत्तार्थत्वात् । यदि निर्वृत्तार्था, सिद्धौदनरन्धनवदयुक्तं साम्यावस्थानम् । अनिर्वृत्तार्थं[11] चेत्

२८ प्रधानम्, असिद्धौदनौदासीन्यवदयुक्तं साम्यावस्थानम् । तथानभिव्यक्ति । किं कारणम् ? प्रकाशनार्थं [12]प्रवृत्ताया व्यक्तिवैषम्याभ्यां तदर्थसिद्धेः, ताभ्यामृते चासिद्धेः, अनभिव्यक्तिसाम्यावस्थानयोरपि प्रवृत्तिविशेषत्वात्, द्विधाप्यप्रयोजनत्वादयुक्तमिति । अथवाऽप्रयोजना अनभिव्यक्तिः, निर्वृत्तार्थत्वात्, देशादिरूपेण [13]प्रकाशितात्मवृत्तिः किमर्थं नाभिव्यज्यते ? किमर्थं वा सर्वं पुरुषार्थमकृत्वा साम्येन अवतिष्ठते ?

२७-१ साङ्ख्यैश्च द्विविधपुरुषार्थसिद्ध्यै प्रकृतिप्रवृत्तिरिष्टा, नाकस्मिकी यदृच्छावादिमतवत् । न चेश्वरस्वभावादिकारणवादिमतवद् वा कारणान्तरम् । यथासङ्ख्यं चात्र दृष्टान्तद्वयं दर्शयति—**निर्वृत्तानिर्वृत्तार्थक्रियौदासीन्यवदि**ति, पचनापचनवदोदनस्येत्यर्थः । स्यान्मतम्—तस्याः प्रकृतेरव्यक्तिसाम्यावस्थाने कालनियतियदृच्छास्वभावेश्वराद्यन्यतमकारणवशादिति । एतच्चायुक्तम्, **प्रकृति[14]कारणत्यागेन** अभ्युपेतविरोधदोष-

---

१ °वर्णाग्रीवा° प्र० ॥ २ °नादतः सर्वं न भवति मयूराण्डकरसादतः सर्वं न भवति मयूराण्डावस्थायामिव य० ॥ ३ प्रकृतेरुक्ताभिमतायाः प्र० । तुलना—"समस्ततन्त्रार्थविघटनमेवेति किमवशिष्यते वार्षगणे तन्त्रे ? सुभाषिताभिमतस्त्याज्योऽयमनुपपन्नपरोक्षार्थवाद "—नयचक्रवृ० पृ० २३२-२ ॥ ४ °देशादिविषमा° प्र० ॥ ५ विषमा च व्यक्ता चा° भा० ॥ ६ °स्थानामिति प्र० ॥ ७ °पार्थसिद्धिः भा० ॥ ८ अनिवृत्तौ° प्र० ॥ ९ °वनस्पते क्रियाया° वि० ॥ १० ओदनाथोरन्धनादि° भा० । ओदनाथोरचनादि° य० ॥ ११ °त्तार्था चेत् य० ॥ १२ प्रवृत्तयो र० ही० विना ॥ १३ प्रकाशिका ता(वा?)त्मवृत्तिः प्र० ॥ १४ °कारणित्वत्यागेन भा० ॥

आत्मान्तरत्वप्रकाशन हि ज्ञानार्थस्य स्वतन्त्रस्य अप्रतिहतसर्वगतत्वस्य प्रधानस्य धर्मः। अतस्तेन नित्यप्रवृत्तेनैव भवितव्यम्, तत्स्वभावत्वात्, यथा

सम्बन्धिनी यस्मात् **कारणान्तरस्य वा तथाप्रणेतुरापत्ति**, कारणादन्यत् कारण कारणान्तरम्, प्रकृते रन्यत् कारण यत् [1]प्रकृतिं तथा प्रणयति तदस्ति स्वभावनियतिकालयदृच्छेश्वरादीनामन्यतमदित्यापन्नम्, अनिष्ट चैतत्।

कारणान्तरनिरपेक्षस्य कारणस्य स्वकार्याकरण च युक्तिविरुद्धमित्यत आह–**आत्मान्तरत्वप्रकाशन** हीत्यादि यावत् **प्रधानस्य धर्म** इति। आत्मनोऽन्य आत्मा आत्मान्तरम्, तस्य भाव आत्मान्तरत्व परस्परविभिन्नमहदहङ्कारायवस्थान्तरत्वम्, तस्य प्रकाशनम्। हिशब्दो यस्मादर्थे, यस्मादनभिव्यक्ते साम्यावस्थानस्य च प्रतिपक्षोऽवस्थान्तरप्रकारत्वेन आत्मप्रकाशनमय प्रकृतेर्धर्म। स्यान्मतम्–[2]उपायानभिज्ञत्वात् कारणान्तर साचिव्यगुणोपेतमपेक्षत इति, एतच्चायुक्तम्, **ज्ञानार्थत्वात्**। उक्त च–धर्मज्ञान वैराग्यैश्वर्याणि बुद्धिधर्म (र्मा) अधर्मा[3]ज्ञानावैराग्यानैश्वर्याणि च। तेषामष्टाना [4]सप्तभिर्बध्नाति एकेन मोचयति [ ] इति **तस्य** प्रधानस्य **ज्ञानार्थस्य** परिणत्यवस्थात्मकस्यायुक्ता सचिवापेक्षा। स्यान्मतम्–परतन्त्रत्वात् सहायान्तरमपेक्षते, तच्च न, **स्वतन्त्रत्वात्**। स्यान्मतम्–क्वचित् प्रधान कारण क्वचिदन्यत्, [5]अव्यापित्वात्, लौकिककालादिकारणवदिति। एतच्चायुक्तम्, **अप्रतिहतसर्वगतत्वात्** तस्य।

अथवा [6]**आत्मान्तरत्वप्रकाशन**मिति आत्मा पुरुष, आत्मनोऽन्य आत्मा आत्मान्तरम्, २७-२
तस्य भाव आत्मान्तरत्व पुरुषाद्भिन्न त्रिगुणस्वभाव स्वमात्मान प्रधान पुरुषाय प्रकाशयति। पुरुषाद्धान्य पुरुष आत्मान्तरम्, तस्य भाव आत्मान्तरत्व पुरुषान्तरत्वम्, तस्मै पुरुषाय [7]प्रकाश्य आत्मस्वरूप पुरुषान्तराणा प्रकाशयति, पुरुषान्तरत्व वा चैतन्यस्वरूपमध्यस्थशुद्धकेवलत्वै परस्परभिन्नै पुरुषान्तरत्वै पुरुषान्तरेषु प्रकाशितेष्वपि अन्येषा पुरुषाणा यत पुरुषान्तरत्व तैरेव चैतन्यादिभिर्युक्त प्रकाशयति। प्रकृतेर्वा स्वयमचेतनाया [8]आचैतन्यस्वरूपस्य प्रकाशनम्। अय हि **धर्मस्तस्य ज्ञानार्थस्य स्वतन्त्रस्य अप्रतिहतसर्वगतत्वस्य प्रधानस्य।**

एव तस्य स्वभावधर्म समर्थ्य इदानीमनभिव्यक्तिसाम्यावस्थानप्रतिपक्षभूत नित्यप्रवृत्तत्व प्रधानस्यानुमिमीते–**अतस्तेन नित्यप्रवृत्तेनैव भवितव्यम्**इति प्रतिज्ञा। अत इत्यनन्तरोक्तधर्मत्वात् प्रधानस्य, तद्धर्मत्वमिदानीं हेतुत्वेन व्यापारयितुमाह सामान्यत –**तत्स्वभावत्वा**दिति, स स्वभावो धर्मो यस्य तत्त तत्स्वभाव प्रधान पूर्वोक्तैर्हेतुभिर्विशेषितमतस्तन्नित्यप्रवृत्त भवितुमर्हति। इह [9]यद् यद् यत्स्वभाव तत् तत्

---

१ प्रकृति तथा य०॥ २ उपायानभिक्षत्वात् य०। उपयानभिक्षत्वात् भा०॥ ३ ज्ञानवैराग्या प्र०॥ ४ सयुक्तिर्बध्नाति प्र। 'रूपे सप्तभिरेव बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृति। सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण॥ [साङ्ख्यका ६३]। रूपैरिति सप्तमी रूपै प्रकृतिरात्मानं बध्नाति। कतमे? तदुच्यते–धर्माधर्माज्ञानवैराग्या वैराग्यैश्वर्यानैश्वर्याणि एतानि सप्त रूपाणि। एतै सप्तमी रूपैरात्मान बध्नाति। ।सैव च पुरुषार्थ विमोचयत्येकरूपेण। किं तदेकरूपम्? ज्ञानम्। तेन ज्ञानेन आत्मान पुरुषाद् विमोचयति एकेन' –जे० साङ्ख्यका० वृ० B॥ ५ अव्यापित्वात् य०॥ ६ आत्मान्तरप्रका° प्र॥ ७ प्रकाशाप्यात्मस्वरूप भा०। प्रकाशाप्यात्मस्वरूप य०॥ ८ अचैतन्य° य॥ ९ यद्यत्स्वभाव तत्तेनैव य०॥

अग्निर्दहनप्रकाशनप्रवृत्तः।

ननु भस्मच्छन्नोऽग्निरपि न दहति न प्रकाशयति। अथ कथं जीवति? कथं ज्ञायते 'अग्निः' इति अदहन्नप्रकाशयन् वा तावत् कोशकादि स्वाश्रयमात्रम्, गृहप्रदीपकवत्? छादनाभावोऽपि च प्रधाने।

तेनैव स्वभावेन नित्यप्रवृत्तं दृष्टम्, **यथाग्निर्दहनप्रकाशनप्रवृत्तः।** यत् पुनर्नित्यप्रवृत्तं न भवति न तत् तत्स्वभावम्, यथा न किञ्चित् तादृगिति।

दहनादितत्स्वभावस्याग्नेस्तथाप्रवृत्त्यदर्शनात् साध्यधर्मवैकल्यं दृष्टान्तदोष इति तन्निदर्शयन्नाह— **ननु भस्मच्छन्नोऽग्निरपि न दहति न प्रकाशयतीति,** दहनतपनयोरभेदादिति। अत्रोच्यते—**अथ**
२८-१ **कथं जीवति?** इति। जीवनमग्नेश्चेतनत्वात्, चैतन्यमाहारलाभालाभयोः पुष्टिग्लान्यादिदर्शनाद् मनुष्यवत्। स[1] चेन्धनं दहन् जीवति, स्थितेर्जीवितपर्यायत्वात् स्थितेरिन्धनदहनाविनाभावात्। अचेतनत्वमभ्युपगम्यापि स्थितिप्रकाशनेन्धनदहनात्मकस्याग्नेः[2] प्रत्यक्षानुमानविषयस्य सतस्तथा प्रत्यक्षानुमानाभ्यामग्रहणेऽस्तित्वे प्रमाणान्तरासिद्धेः **कथं ज्ञायते 'अग्निः' इति अदहन्**[3] अप्रकाशमानः **अप्रकाशयन् वा** द्रव्यान्तरं **तावत् कोशकादि स्वाश्रयमात्रम्?** तत् परिमाणमस्य[4] तावत्, स्वपरिमाणमात्रमपि स्वाश्रयद्रव्यं कोशकादि अप्रकाशयन् कथम् 'अग्निः' इत्युच्यते? **कोशक** इत्युच्यतेऽन्नपुलिका[5]। दृष्टान्तो **गृहप्रदीपकः**[6]। गृहे प्रज्वालितः प्रदीपको गृहप्रदीपकः, यथा गृहप्रदीपकोऽन्नपुलिकामात्रमपि[7] यदि न प्रकाशयति प्रकाशात्मकः सन्न 'प्रदीपः' इति ज्ञायते[8], अग्निवैधर्म्यदृष्टान्तो वा—गृहप्रदीपो गृहं प्रकाशयन्नस्ति, यदि न तथाग्निः स्वमाश्रयं प्रकाशयति प्रकाशात्मकः संस्ततो नास्तीति गम्यते। किञ्चान्यत्, भस्मच्छन्नाग्निसाधर्म्याभावोऽपि[9] च प्रधानस्य च्छादनाभावादित्यत आह—**छादनाभावोऽपि च प्रधान** इति। अग्नेर्भस्मवत्[10] प्रकृतेरावरणाभावाद् भस्मच्छन्नाग्नितुल्यं न भवति प्रधानमतो विशेष्य ब्रूमः—निरावरणाग्निदहनप्रकाशनवत् तत्स्वभावत्वान्नित्यप्रवृत्तेनैव भवितव्यम्। इति तदवस्था नित्यप्रवृत्तता। ततश्चानभिव्यक्तिसाम्यावस्थानानुपपत्तिः।

स्यान्मतम्—यद्यपि प्रधानं महदादिभावेनात्मान्तरत्वप्रकाशनार्थं पुरुषस्य प्रवर्तते तथापि केषाञ्चित् पुरुषाणां कृते प्रयोजनेऽन्येषामकृते कालक्रमेण व्यक्तत्वव्यक्तिसाम्यवैषम्यावस्थाः प्रतिपद्यते, सा चास्य

---

१ स चेनं भा०। स चेतनत्वनं य० ॥ २ °प्रकाशनेत्वमदहना° प्र० ॥ ३ अदहनप्रकाशमानः प्र० ॥ ४ परिणमस्य प्र०। "यत्तदेतेभ्य परिमाणे वतुप्"—पा० ५।२।३९ ॥ ५ °च्यतेऽत्रपुलिका य०। °च्यतेत्रपुलिका भा०। सर्वास्वपि प्रतिषूपलभ्यमानस्य 'अत्रपुलिका' इति पाठस्यात्र कोऽर्थ इति सम्यग् न विज्ञायते, तथापि भाजनविशेषोऽत्राभिप्रेत स्यादिति मत्वा **अन्नपुलिका** इति पाठोऽत्र सम्भाव्यते। 'अत्र' इति **'पुलिका'** इति च पृथक् पदद्वय तु नैवात्र जाघटीति। अग्रेऽपि **गृहप्रदीपकोऽत्रपुलिकामात्रमपि** [पं० १५] इति वचनात् तत्र च **'अत्र'** इति पृथक् पदस्य सर्वथा अनावश्यकत्वादसङ्गतत्वाच्चेति ध्येयम् ॥ ६ **गृहीदीपकः** प्र० ॥ ७ °**पकःऽत्रपुलिका**° प्र० ॥ ८ **ज्ञायतेऽग्निरिति वैधर्म्य**° य०। य०प्रतिपाठानुसारेणात्र 'ज्ञायते तथा न ज्ञायतेऽग्निरिति। वैधर्म्यदृष्टान्तो वा' इत्यपि पाठ स्यात् ॥ ९ **भस्म**° य०। एवमग्रेऽपि ॥ १० **अग्निर्भ**° प्र० ॥

कालादिकारणान्तरनिरपेक्षस्य तस्य स्वतन्त्रत्वात् सर्वपुरुषार्थप्रवृत्तत्वाच्च निरवशेषपुरुषविषये स्वान्यत्वज्ञापने कृते कृतकृत्यत्वात् किं साम्यावस्थानेन? अकृतेऽप्यकृतकृत्यत्वात् किं प्रतिनिवृत्त्या प्रयोजनम्?

अनभिव्यक्तिसाम्यावस्थानानुपपत्तेश्च किमिति सततसमवस्थितसमनुप्रवृत्ति प्रत्यक्षकारणनानाभेदाभिव्यक्तिस्वभावमेवेद जगन्नाभ्युपगम्यते? मृत्पिण्ड-

---

प्रवृत्ति स्वभावाद् नियते कालाद् यदृच्छाया[1] वेति। एतदपि नोपपद्यते, कालादिकारणान्तरनिरपेक्षस्ये- २८ त्यादि। प्रधान हि कारण नियतिकालस्वभावेश्वरयदृच्छाद्यतमानपेक्ष कारण जगतोऽभ्युपगत भवता, न तु यथा लोकनये कश्चित् कालोऽपि नियतिरपीत्यादि। स्वतन्त्रत्वाच्च तस्य प्रकृतिपुरुषयो स्वरूपभेदपरिज्ञापनस्य स्वार्थस्यानुरूपश्रोत्राद्येकादशेन्द्रियग्रामस्य शब्दबुद्ध्यादिविकल्पग्रामस्य वचनादानविहरणानन्दोत्सर्गकर्मशब्दाद्यर्थग्रामस्य च निवर्तने स्वतन्त्रत्वान्न कारणान्तरापेक्षास्ति। सर्वपुरुषार्थप्रवृत्तत्वाच्च कृतार्थस्याकृतार्थस्य च यथासङ्ख्य साम्यावस्थाने निवृत्तौ[2] च प्रयोजनाभाव इत्यत आह—निरवशेषपुरुषविषये स्वान्यत्वज्ञापने कृते कृतकृत्यत्वात् किं साम्यावस्थानेन? अकृतेऽप्यकृतकृत्यत्वात् किं प्रतिनिवृत्त्या प्रयोजनम्, असिद्धौ तत्सूपकारनिवृत्तिवत्? इति तद्वस्थमप्रयोजनत्वम्। अत्र चोद्यम्—ननु प्रागुक्तम्[3]—अनभिव्यक्तिसाम्यावस्थाने चायुक्ते[4], अप्रयोजनत्वात्, निर्वृत्तानिर्वृत्तार्थेन्द्रियोदासीन्यवदिति, अत पुनरुक्तमिति। अत्र ब्रूम —न, कारणान्तरापेक्षाप्रतिषेधपरत्वादस्य, प्रवृत्तिनिवृत्त्यो प्रधानस्य अप्रयोजनत्वमात्रप्रतिपादनपरत्वात् तस्येत्यदोष।

अव्यक्तिसाम्यावस्थानानुपपत्तेश्चेति। अप्रयोजनत्वादिभिरनभिव्यक्तिसाम्यावस्थाने अनुपपन्ने, ततश्चाव्यक्तिसाम्यावस्थानानुपपत्ते[5] किमिति किं कारण जगदेवस्वभावमिति न गृह्यते? इत्यभिसम्बन्ध। सततसमवस्थितसमनुप्रवृत्तीति, सतत सर्वकाल समवस्थिता नित्यानुपरता[6] समनुप्रवृत्ति कारणकार्यप्रवृत्त्यात्मिका प्रकर्षेण वृत्तिर्यस्य तदिद जगत् सततसमवस्थितसमनुप्रवृत्ति[7]। प्रत्यक्षकारणनानाभेदाभिव्यक्तिस्वभावमिति, प्रत्यक्षाणि च तानि कारणानि च[8] प्रत्यक्षकारणानि मृत्पिण्डदण्डचक्रोदकसूत्र- २९ कुलालादीनि घटादीनां कार्याणाम्, तानि नानाजातीयानि, तन्तुतुरीवेमकुविन्दादीनि पटादीनामित्येव प्रकाराणि, तेषां भेदा प्रत्यक्षकारणनानाभेदा, तैस्तेषां वाभिव्यक्तिर्घटपटादिकार्यरूपेण, सैव स्वभावो यस्य तदिद प्रत्यक्षकारणनानाभेदाभिव्यक्तिस्वभावम्। किं तत्? जगत्। एवेत्यवधारणे, किमवधारयति? प्रत्यक्षदृष्टशुक्रशोणिताहारादिकारणान्येव इत्यवधारयति[9]। किमतो निरस्तम्? अव्यक्तादि अदृष्ट[10] कारणान्तरम्। तस्माद् दृष्टकारणनानाभेदाभिव्यक्तिस्वभावमेवेद जगत् किमिति नाभ्युपगम्यते? किमित्यदृष्ट कारणान्तर परिकल्प्यते? इति। एव तावत् कारणे कार्यसद्भावानियम उक्त।

---

१ यदृच्छायद्यत्यतदपि प्र० ॥ २ निवृत्ते च प्र० ॥ ३ पृ० ४० प ३ ॥ ४ वायुक्ते य० ॥ ५ नुपपत्ति प्र ॥ ६ नित्या अनुप भा० ॥ ७ प्रवृत्ति क्षकारणनानाभेदाद्व्यक्ति प्र० ॥ ८ च तानि प्रत्यक्ष° भा० ॥ ९ इत्यवधारयत भा० । इत्यवधार्यते पा दे० लीं० । इत्यवधार्यते वि० १० ही० । तुलना– एवेत्यवधारणे, किमवधारयति? लाभऽयमवधारयति'–नयचक्रवृ० पृ० ३९–२ ॥ १० अदृष्टकारणा° भा० वि० विना ॥

शिवकस्थासकोसकुशूलघटकपालशकलशर्करिकापांशुवातायनरेणुपुनरुपचयप्राप्तानन्त्यस्कन्धपांशुमृत्पिण्डादेरनियतादिसदसद्भूतकारणाध्यासाविमुक्त्यनिर्मूलत्वं कार्यस्य ।

अतोऽवगम्यतां न किञ्चिदन्यत् फलं तच्छास्त्रेण क्रियते यल्लोकव्यवहार-

---

कार्यानियमोऽपि च । कार्यमेव[1] सदसद्भूतकालादिविशेषकारणमेवेत्यनियमः प्रधानादिशास्त्रकारपरिकल्पितकारणपूर्वकमेवेति वा । किं कारणम् ? तथानुगम्यमानदृष्टान्ताभावात् । किं तर्हि ? एतावान्नियमः — **कारणाध्यासाविमुक्त्यनिर्मूलत्वं[2] कार्यस्येति**, तथानुगम्यदृष्टार्थत्वात्, **मृत्पिण्डशिवके**त्यादि**पांशुमृत्पिण्डादे**रित्यन्तस्य[3] दण्डकस्योपरि **अनियतादिसदसद्भूतकारणाध्यासाविमुक्त्यनिर्मूलत्व**मिति वक्ष्यमाणसम्बन्धत्वात् । कार्यमेव, सदेव असदेव वा[4] कारणं कालादि, सादिकारणमित्यस्य वाऽनियमप्रदर्शनार्थमुदाहरणमाह — **मृत्पिण्डशिवके**त्यादि यावत् **पांशुमृत्पिण्डादे**रिति, एषां मृत्पिण्डाद्यवस्था-
२९-२ विशेषाणां वातायनरेणुपर्यन्तानामेव लोके दृष्टत्वात् पुनरुपचयात् प्राप्तमानन्त्यं येषां स्कन्धानां ते **पुनरुपचयप्राप्तानन्त्यस्कन्धाः** वातायनरेणुभ्यः प्रभृति पुनरुपचयक्रमेण पांशु-मृत्पिण्ड-शिवक-स्थास-कोसक-कुशूल[5]-[घट-कपाल-]शकल-शर्करिका-पांशु[6]-वातायनरेणव इति चक्रकक्रमेण कारणकार्यानियमो दृष्टः । उत्क्रमेणापि च सङ्घातभेदाभ्यां कार्यकारणसदसत्त्वानियमो दृष्टः, पिण्डमुपमृद्य शिवककरणात् शिवकं चोपमृद्य पिण्डकरणात् स्थासकादीनामन्यतममवस्थाविशेषमुपमृद्यापि पिण्डादिकरणात् क्रियाक्रियाफलक्रमेण च कदाचित् कारणकार्यानियमदर्शनादित्य**नियतादि**[7], इत्थमनियत आदिरस्येत्यनियतादि, जगदिति सम्बध्यते, तदेव अनियतसदसद्भूतकारणकार्यम्, अ[नियतादिसद]सद्भूत कारणम्, तस्य अध्यासस्तेन[8] वा कारणेन अध्यासोऽधिष्ठानम् । तेन कारणाध्यासेन अविमुक्तिरत्यागः कारणसामान्याविनाभावः, न तु अत्यन्तनिर्मूलोत्पत्तिविनाशलक्षणकार्यत्वं खपुष्पवत्, तथैव लोके दृष्टत्वात् । तया अविमुक्त्या अनिर्मूलत्वं कार्यभूतस्य जगतः ।

अतः प्रोक्तहेतोर्दृष्टकार्यकारणसदसत्त्वानियमात् परपरिकल्पितप्रधानाद्यदृष्टैककारणानुपपत्तेः कालादिविशेषकारणैक्यानुमानाभावाच्च कारणसामान्यमात्रानुमानाच्चा**वगम्यताम् — न किञ्चिदन्यत्[9] फलं तच्छास्त्रेण क्रियते**, निरर्थकानि[10] शास्त्राणीत्यर्थः । किं तत् ? **यल्लोकव्यवहारफलादतिरिच्य वर्तेत**,
३०-१ यदपेक्ष्य शास्त्राणि सार्थकानि स्युः । तस्मादवगम्यताम् — इदं जगल्लोकप्रसिद्धमेव अनियतानुपरताद्यन्त[11]दृष्टकारणकार्यप्रबन्धमिति । न तु यथान्यैः कल्पितम् — उपरतव्यापारं सत् प्रधानमतीन्द्रियं पुनरिन्द्रियग्राह्यत्वादिभावेन जगत् सृजति, पुनरात्मानं संहृत्य उपरतव्यापारं[12] तिष्ठति । न चात्यन्तासत्कार्यं क्षणोत्पन्नविनष्टमसम्बद्धमूलं वैतदिति । इतिशब्दो हेत्वर्थः[13] । को हेतुः ? शास्त्रनैरर्थक्यम् । कस्मिन् साध्ये ?

---

१ कार्यमेव सद्भूतकालादि° प्र० ॥ २ °ध्यासाधिमुक्त्य° प्र० ॥ ३ °त्यंत्यस्य य० । °त्यस्य भा० ॥ ४ वा कालादि कालादि सादि भा० ॥ ५ °कोसकुशूलशर्करिका° य० ॥ ६ °पांसु° भा० ॥ ७ कारणाकार्या° भा० ॥ ८ °स्तेन कारणेन प्र० ॥ ९ °दन्यत्र फलं प्र० ॥ १० °काणि शास्त्रा° य० ॥ ११ °द्यन्तरदृष्ट° य० ॥ १२ उपहृतव्यापार य० ॥ १३ हेत्वर्थो भा० । अत्र हेत्वर्थे इति पाठ समीचीनतर इति भाति ॥

फलादतिरिच्य वर्तेत इति वृथैवमादौ शास्त्रारम्भः । अत्र तु शास्त्रमर्थवत् स्यात्—इदङ्काम इदं कुर्यादिति । अर्थ्यो हि क्रियाया एवोपदेशः चित्रादिवत्, न तु लौकिक एव गृह्यमाणेऽर्थे इदमेव नैव वेति विचारः । अनुपहतेन्द्रियमनःप्रत्यक्षेण लोके यथासौ

शास्त्रारम्भवृथाभावे, अत आह—**वृथा एवमादौ शास्त्रारम्भः** । क्व तर्हि शास्त्रमर्थवत् स्यादिति चेत्, अतीन्द्रिये पुरुषार्थसाध्यसाधनसम्बन्धे । कोऽसौ ? इत्यत आह—**अत्र तु शास्त्रमर्थवत् स्यात्—इदङ्काम इदं कुर्यादिति** । इदंशब्देन सर्वनाम्ना सामान्यवादिना सर्वा क्रिया फलेच्छाप्रेरितास्तत्साधनी सूचयति 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः, पुत्रकामो यजेत, पशुकामो यजेत, अन्नाद्यकामो यजेत' इत्याद्या, क्रियाक्रियाफलसम्बन्धस्यातीन्द्रियत्वात् । उक्तं च—अप्राप्ये शास्त्रमर्थवत् [मीमांसाद० ६।२।१८] प्रत्यक्षादिप्रमाणैरनधिगम्ये इत्यर्थः ।

अर्थ्यो हीत्यादि । अर्थादनपेतोऽर्थ्यः । हिशब्दो यस्मादर्थे, यस्मात् **क्रियाया एवोपदेशोऽर्थ्यः** समाधनाया फलादिसम्बन्धिन्या, **चित्रादिवत्** । आदिग्रहणाच्चित्रपुस्तकाष्ठकर्मादिवत् । यथावयवस्थानविन्यासवर्णसंयोगप्रविभागविषयविनियोगाद्युपदेशः एवोपयोगात् सार्थकः, न कुड्यवर्णचित्रकारादिस्वरूपोपदेशः तत्र तदनुपयोगात्, तथा नित्यक्षणिकत्वान्तिकत्ववर्णनं घटपटादेः त्रिगुणकारणपूर्वकत्वाद्वर्णनं जगतः सततसप्रवृत्तिक्षणिकानुपारम्यत्वादिवर्णनं वा । स्यान्मतम्—प्रधानक्षणभङ्गादिवारम्भोऽप्रत्यक्षविषयत्वात् सार्थकः, क्रियाक्रियाफलसम्बन्धोपदेशवदिति । एतदपि नोपपद्यते, यस्माद् **न तु लौकिक एव गृह्यमाणेऽर्थे इदमेव नैव वेति** साधको **विचारः** इत्यभिसम्बन्धः, प्रसिद्धार्थविपर्ययस्य विचारस्यानिष्ठादोषपनिष्टत्वात् । नेति प्रतिषेधे, तुर्विशेषणे लोके भवो लौकिकः, देशकालपुरुषक्रिया २०-१ विशेषाद्यपेक्षरूपादिमत्यर्थे कार्यकारणमृत्पिण्डादिघटाद्याकाराकारिके प्रत्यक्षत एव गृह्यमाणे 'इदं सर्वं सत्त्वरजस्तमःसर्वं त्रिगुणात्मकमेव, न चैतदेवम्, क्षणभङ्गात्मकम्, नैवेदम्' इत्यादिविचारः किंसम्बन्धः ? किंफलः ? को वात्र पुरुषार्थसाधनपरिज्ञानोपयोगः ? इति विमृश्यतां भवद्भिरेव ।

---

१ धानिना डे० ली० । अत्र °वाचिना इति पाठः समीचीनतरः प्रतिभाति ॥ २ इत्याद्या क्रिया क्रियाफल° य० । भा० प्रतौ तु इत्याद्या क्रि° इति पाठादनन्तरं अर्थादनपेतोऽर्थ्यः इत्यन्तः सर्वोऽपि पाठो नास्त्येवात्र । तुलना—'क्रियाक्रियाफलक्रमेण च" पृ० ४४ पं० १५। 'क्रियाक्रियाफलसम्बन्धोपदेशवदिति' पं० १५॥ ३ स्यादुक्तं चाप्राप्ये य० । "अशब्दं तु सम्प्राप्तं शास्त्रं स्यात् प्रकल्पकम् । तस्मादर्थेन गम्यतामप्राप्ते वा शास्त्रमर्थवत् ॥"—इति जैमिनिप्रणीते मीमांसादर्शने पाठः ॥ ४ यस्मादर्थो भा० ॥ ५ °पदेशोय य० । पदेशाय भा० ॥ ६ सम्बन्धेत्याः भा० । सम्बन्धत्या डे० ली० । सम्बन्धेव्या डे० ली० विना य० ॥ ७ क्षणिकत्वादित्वतत्ववर्णनं डे० ली० । °क्षणिकत्वादित्वतत्ववर्णनं डे० ली० विना य० । क्षणिकत्वादितत्त्ववर्णनं भा० ॥ ८ सार्थकः क्रियाफलसम्बन्धो° भा० ॥ ९ इदमेव वेति प्र० । "लौकिक एव गृह्यमाणेऽर्थे इदमेव नैव वेति विचारोऽर्थवान् भवति । यदि भवद्भिः चतुष्पात्त्वं प्रति इत्युच्य गमनात् गमनशीलो हरिणवद् मण्डूकः, तत एव विलोमा हरिणे मण्डूकवत् स्यादिति प्रसिद्धिविपरीतं त्रिलोकाप्रामाण्यकरणं इति तत् प्रसङ्गसिद्धापीलत आह—न तु लौकिक एव गृह्यमाण इत्याद्युक्तदर्शनवदिति ।" इति वक्ष्यते नयचक्रवृत्तौ पृ० ९८-२ ॥ १० पयस्य निष्ठादोषनिष्टत्वात् भा० । °पयस्य विचारस्यानिष्ठादोषनिष्टत्वात् य० । अत्र अनिष्ठा अनवस्था, तथा च अनवस्थादिदोषवत्त्वादित्यर्थः ॥ ११ तुर्विशेषणे य० ॥ १२ °मर्थे य० ॥ १३ °घाकाराकारिके प्र० ॥ १४ °सत्त्वत्रि भा० ॥ १५ न चैवम् य० ॥

व्यवस्थितस्तथा गृह्यत एव। तत्र पुनर्वचनं प्रत्यक्षप्रसिद्धेर्बाधकमापद्यते 'अनुवादादिभावाभावे सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' इति लोके दृष्टत्वात्—न यथेदं लोकेन गृह्यत इति।

प्रत्यक्षाप्रमाणीकरणे सर्वविपर्ययापत्तिस्तर्कतः—अलोमा हरिणः, चतुष्पात्त्वे सत्युत्प्लुत्य गमनात्, मण्डूकवत्। मण्डूकोऽपि लोमशः, तस्मादेव, हरिणवत्।

स्यान्मतम्—लोकदर्शनम[1]प्रमाणम्, अव्युत्पन्नलोकप्रत्यक्षव्यभिचारात्, मृगतृष्णिका[2]दिष्विवेति। अत्रोच्यते—तथा सति प्रत्यक्षस्य अप्रमाणीकरणं प्रमाणज्येष्ठस्य। मा[3] च मंस्थाः—मृगतृष्णिकादिप्र[4]त्यक्षज्ञानव्यभिचारात् सर्वं प्रत्यक्षं व्यभिचरतीति। किं तर्हि? **अनुपहतेन्द्रियमनःप्रत्यक्षं** यत् तन्न व्यभिचरतीति गृह्यताम्। तादृशा च **प्रत्यक्षेण लोके** घटपटादिर्**यथासौ** येन प्रकारेण येन स्वरूपेण **व्यवस्थितस्तथा गृह्यत एव** स्वस्थेन्द्रियमान[5]सैः, तत्र तादृशेऽर्थे **पुनर्वचनम्** इदमेवं नैव वेति, **प्रत्यक्षप्रसिद्धेर्बाधकमापद्यते** यदि तद् वचनं प्रमाणं स्यात्। न पुनस्तत् प्र[6]माणम्, तया प्रसिद्ध्या स्वयमेव बाध्यमानत्वात्। प्रसिद्धार्थं वचनं न नियमादनुवादाद् वा अन्यत्र प्रमाणं स्यादित्यतो ज्ञापकमाह—**अनुवादादिभावाभावे** यः **सिद्धे सति आरम्भो नियमार्थः** स इति परिभाषाया **लोके दृष्टत्वात्**, लोकव्यवहारानुवादि व्याकरणादिशास्त्रमपि लोकत एवेति कृत्वा। कीदृक् पुनस्तद् वचनम्? इत्यत आह—**न यथेदं लोकेन गृह्यत इति।** इतिशब्दः प्रदर्शने, इदं तद्वचनं प्रसिद्धेर्बाधकाभिमतमिति प्रदर्श्यते। कथम्?

३१-१ नेति प्र[7]तिषेधे, येन प्रकारेण **यथा**, यथा मृत्पिण्डदण्डचक्रसूत्रोदककुलालपरिस्पन्दनिर्वृत्तो घटः पृथुबुध्नादिस्वरूप उदकाद्याहरणसमर्थ इति [8]लोकेन चक्षुरादिभिर्गृह्यते नायमेवंस्वभावः। किं तर्हि? **यथाहं ब्रुवे** सर्वसर्वात्मकत्वात् पटकटरथादिरूपोऽपि, गुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाश्रयः परमाण्वाद्यस्मदत्यन्तापरोक्षपार्थिवद्रव्यारब्धस्तद्व्यतिरिक्तोऽवयवी, र[9]थाङ्गादिवद् बुद्ध्या विभज्यमानो विभज्यमानो न परमा[10]णुषु न रूपादिषु न बुद्धिमा[11]त्रे वा तिष्ठति निरुपाख्यत्वादिति वा, **तथा** तथा भवतीति। शास्त्रविद्वचनं मा भूदनर्थकमिति प्र[12]सिद्धेर्बाधकमापद्यते इति न्याय्यमुच्यते। यथोक्तम्—

> प्रमाणानि प्रवर्तन्ते विषये सर्ववादिनाम्।
> संज्ञाभिप्रायभेदात्तु विवदन्ते तपस्विनः॥ [सिद्ध० द्वा० २०।४] इति।

तस्मादप्रमाणं प्रत्यक्षविरुद्धत्वाच्छास्त्रकारवचनम्।

शास्त्रकारवचनप्रामाण्ये वा प्रत्यक्षाप्रामाण्यम्। एवं च सति को दोषः? तत्र **प्रत्यक्षाप्रमाणीकरणे स**[13]**र्वविपर्ययापत्तिस्तर्कतः**, सर्वभावानां प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धानां विपर्यय आपादयितुं शक्यते। तद्यथा—**अलोमा हरिणः, चतुष्पात्त्वे सत्युत्प्लुत्य गमनात्, मण्डूकवत्। मण्डूकोऽपि** [14]**लोमशः, तस्मादेव** हेतोः, **हरिणवत्**। यूका पक्षिणी, षट्[15]पात्त्वात्, भ्रमरवत्। भ्रमरोऽपक्षः, षट्[16]पात्त्वात्,

---

१ °नगप्रमा° प्र०॥ २ °कादिष्वेवेति प्र०॥ ३ मा व मंस्थाः प्र०॥ ४ 'प्रत्यक्षं ज्ञान° प्र०॥ ५ °मानसेस्तत्र प्र०॥ ६ प्रमाणतया प्र०॥ ७ प्रतिषेध भा०। प्रतिषेधः य०॥ ८ लोके चक्षु° भा०॥ ९ रथाङ्गादिवद्वद्ध्या प्र०॥ १० °माणुषु न प्र०॥ ११ °मात्रे या तिष्ठति प्र०॥ १२ अत्र 'प्रत्यक्षप्रसिद्धेर्बाधकमापद्यते' इत्यपि पाठः स्यात्॥ १३ सर्वविषययापत्ति° भा०। सर्वविषयापत्ति° य०॥ १४ लोमश[शो?]वैतस्मा° भा०॥ १५ पद्यात्वात् य०। पट्पदत्वात् भा०॥ १६ पद्यात्वात् य०॥

पृथिवी अवसुधा, पदार्थत्वात् महाभूतत्वात्, आकाशवत्। एव शेषपदार्थेष्वपि दृष्टान्तभेदात्।

शास्त्रनिरूपणविपरीतमप्रमाण न हरिणस्वरूपादि, निरपवादत्वात्। न,

यूकावत्। तथा [1]'पृथिव्यवसुधा, पदार्थत्वात्, आकाशवत्। असाधारणधर्मसम्बन्धेनापि रूपरस-
गन्धस्पर्शधर्मसम्बन्धिनी न भवति। [2]*पृथिव्यवसुधा, महाभूतत्वात्, आकाशवत्। आकार-गौरव-
रौक्ष्यादिधर्मसम्बन्धिनी न भवति*, तत एव, तद्वत्। तथा बौद्धमतेऽपि पृथिवी न भू, महाभूतत्वाद्
रूपत्वाच्च, जलवत्, न [3]कर्कटट-धारणधर्मा, तत एव, तद्वत्। एव शेषपदार्थभेदेष्वपीति जलानला- ३१-२
निलेषु व्योमनीन्द्रियादिषु आत्मादिषु यथाप्रक्रिय यथासम्भव च स्वरूपनिरा[4]करणम्, असाधारणधर्म-
निराकरणे च पदार्थत्वमहाभूतत्वरूपत्वादिहेतुकानि साधनानि योज्यानि महदहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियशब्दादिषु
आत्मनि च द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायेषु सप्रभेदेषु नामरूपयो सञ्ज्ञाविज्ञानवेदनासंस्कारेषु
क्षित्युदकज्वलनपवनेषु चक्षुरादिषु रूपादिषु च। **दृष्टान्तभेदादिति** भूमेराकाशदृष्टान्तवदाकाशस्य भूम्यादि-
दृष्टान्तेन तथा जलादेरपि परस्परतस्ते ते धर्मा निराकार्या इतरमितरस्य दृष्टान्त कृत्वेति।

तार्किक आह – **शास्त्रनिरूपणविपरीतमप्रमाणम्**इत्यादि। शास्त्रेण निरूपण शास्त्रे निरूपण वा शास्त्रनिरूपणम्। सन्दिग्धविपर्य[5]स्ताव्युत्पन्नबुद्ध्यनुग्रहार्थं [6]हि शास्त्रेण निरूपयन्ति सन्तो वस्तु अनुग्राह्येभ्य शिष्येभ्य – प्रकृतिपुरुषावेव, क्षणभङ्ग, विज्ञानमात्रमेव, द्रव्यगुणादि वा, इति शास्त्रस्यापवादत्वा-च्छास्त्रेणापोदिताद् विपरीत [7]वस्तून्यमानमप्रमाणम्, शास्त्रस्य सन्देहाद्यपवादत्वात्। **न** हरिणादिस्वभावादि अप्रमाणम्, तत्र शास्त्रेण [8]'मोह एव व्यापार इति तन्निरपवाद **हरिणस्वरूपादि**, तस्य **निरपवादत्वात्** तत्तु लोकेन यथा गृहीत तथैव। [9]आदिग्रहणाद् मण्डूकस्वरूपादि। तत् प्रमाणमेव, निरपवादत्वात्, अग्नेरौष्ण्यमिति। अत्रोच्यते – **न, स[10]र्वस्यैवापोदितत्वात्।** यथा हि शास्त्र घटादिव[11]स्तु परिकल्प्य अपवादप्रवृत्त तथा हरिणादिस्वरूप प्रत्यक्षतो लोकप्रसिद्धमप्यपवदति निरङ्कुशत्वात्। तत् कथमिति चेत्, **देशका[12]लकृतविशेषैकान्तिन** इत्यादि।

अथवा **शास्त्रनिरूपणविपरीतमप्रमाणम्**, 'निरपवादत्वात्' इति वक्ष्यते, शास्त्रनिरूपण
[13]पृथिवीगन्धवत्त्वादि प्रकृतिपुरुषादि वा, तस्य [14]वा विपरीत तर्केण प्रतिपाद्यमानमप्रमाणम्, प्रत्यक्षतर्कयो- ३२ १

---

१ पृथिव्यप्सुधा य०। पृथिव्यचुसुधा भा० ॥ २ ** एतच्चिह्नान्तर्गत पृथिव्यवसुधा इत्यत आरभ्य न भवति इत्यन्त पाठो य० प्रतिषु नास्ति॥ ३ करकट य । द्रष्टव्यं पृ १६ टि ८। 'खरस्वभावा न मही भूतत्वात्, तद्यथा अनिल इत्यादिषु हेत्वाद्यसिद्धि स्वत एव योज्या।'–माध्यमिकवृ० पृ० ३३ ॥ ४ °करण असाधा° प्र०। अत्र स्वरूपनिराकरणेऽसाधारणधर्मनिराकरणे च इत्यपि पाठ स्यात्॥ ५ स्तात्युत्पन्नबुद्ध्यनु° य०। °स्तायुत्पन्न बुद्धियनु° भा० ॥ ६ प्रहार्थं किं शास्त्रेण प्र०। अत्र पूर्वापरसन्दर्भानुसारेण 'किं'स्थाने 'हि' इत्येव शुद्ध प्रतीयते। प्राचीनलिप्यां ककारहकारयो समानलेखदर्शनात् 'हि' इत्यस्यैव 'किं' इति विकृतिर्जातेति प्रतिभाति॥ ७ वस्तूभ्यमान प्रमाणं भा०। वस्तूभ्यनुमानप्रमाण य० ॥ ८ नोह एव वि विना। अस्मिन् पाठे तु 'न ऊह एव' इत्यर्थ स्यात्॥ ९ भ्यादिग्र° य० ॥ १० सवस्येवा वि० विना॥ ११ वस्तु परपरिकल्प्यापवा य। °वस्तु परिकल्पापवा भा०॥ १२ °कालकृतविशेषैकान्तिकन इत्यादि भा०। °कालविशेषैकान्तिकत इत्यादि य० ॥ १३ पृथिवी-पत्ववत्यादि प्र० ॥ १४ वा निप° भा० ॥

सर्वस्यैवापोदितत्वाद्देशकालकृतविशेषैकान्तिनः । सर्वसर्वात्मकैकान्ते मण्डूकोऽपि लोमश एव, अर्थानर्थविषयसामान्यविशेषनानात्वैकान्तेऽतदात्मकत्वात्

---

[1]रविपर्यार्थत्वाच्छास्त्रस्य केनापोद्यते शास्त्रम्? **न हरिणस्वरूपादि** । 'विपरीतमप्रमाणम्' इति वर्तते, कस्य? [2]प्रत्यक्षप्रसिद्धेः । कस्मात्? सापवादत्वात् । तद्धि हरिणालोमत्वादि प्रत्यक्षप्रसिद्धेन लोमशत्वा[3]दिना निराक्रियमाणत्वादप्रमाणमेवेति । लौकिक आह — **न, सर्वस्यैवापोदितत्वादिति** । शास्त्रेष्वपि हि हरिणस्वरूपादि प्रत्यक्षसिद्धमपोद्यत एव, कथं निरपवादत्वं शास्त्राणाम्? वरं हरिणस्वरूपादिविपरीतप्रतिपादनं तर्कतः तन्मात्रापवादात्, तार्किकैस्तु शास्त्रेण सर्वमपोद्यते प्रत्यक्षतो लोकप्रसिद्धं कारणं कार्यं च । तत् कथमिति चेत्, **देशकालकृतविशेषैकान्तिनः**, [4]देशकृतः कालकृतश्च विशेषो देशकालकृतविशेषः, स एवैकान्तः, स यस्यास्त्यसौ देशकालकृतविशेषैकान्ती, तस्य वादिनः प्रतिदेशं प्रतिसमयं च [5]सर्वं विशिष्टमेव न समानं किञ्चित् । अतो यावदणुशो रूपादिशो विज्ञानमात्रशो निरुपाख्यत्वशश्च भेदात् कुतो हरिणः? कुतस्तस्य लोमाद्यवतिष्ठते? अतः सर्वमपोदितम्, [6]किं वा नापोदितम्? किं वात्र प्रत्यक्षमनुमानं चेति?

तथा **सर्वसर्वात्मकैकान्ते मण्डूकोऽपि लोमश एव**, स्थावरस्य जङ्गमतां गतस्य स्थावरस्य स्थावरतां जङ्गमस्य स्थावरतां जङ्गमस्य जङ्गमतां गतस्य [ ] इति वचनादिति । ननु तेन वादिना सर्वं समर्थितम्, नापोदितमिति चेत्, सर्वस्य सर्वात्मकत्वे सर्वैक्यात् किं तत् सर्वम्? इत्यपोदितमेवेति, भिन्नार्थसमूहवाचित्वात् सर्वशब्दस्य ।

३२-२ **अर्थानर्थविषयसामान्यविशेषनानात्वैकान्ते** । अर्थविषयं सामान्यम्, अर्थवि[7]षयश्च विशेषः । तद्यथा — द्रव्यस्य पृथिव्यादेरर्थविषयं सामान्यम् — रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी [वै० सू० २।१।१], यत्रैतच्चातुर्गुण्यं सा पृथिवी, रूपस्पर्शरसद्रवस्नेहवत्य आपः, एवं यत्र रूपस्पर्शौ तत् तेजः, यत्र स्पर्श एव स वायुरिति सामान्यम् । विशेषः पुनरितरेतरधर्मव्यावृत्तिभिरि[8]तरत्र चतुःपञ्चद्व्येकगुणत्वं यथासङ्ख्यम् । तेषामेवानर्थसामान्यं पृथिवीत्वम्, तत्सम्बन्धलभ्यत्वात् पृथिवीबुद्ध्यभिधानयोः, एवमप्तेजोवायुत्वानि सामान्यानि, [9]विशेषाश्चेतरेतरेभ्यस्त एव, स्वसामान्यभेदा वा [10]विशेषाः । तानि द्रव्याणि [11]गुणाः कर्म सामान्यानि विशेषाः तत्समवायलक्षणश्च सम्बन्ध इत्येते पदार्था [12]नाना, स्वतत्त्व-प्रयोजन-लक्षण-[13]मत्यभिधान-

---

१ °रविपयत्वार्थद्वशास्त्रस्य भा० । °रविपयार्थत्वाच्छाच्छास्त्रस्य य० । अत्र °रविपर्ययार्थत्वाच्छास्त्रस्य इत्यपि पाठ सम्भवेत् ॥ २ प्रत्यक्षसिद्धेः य० ॥ ३ °त्वादिवा निरा° भा० डे० ॥ ४ प्रदेश° प्र० ॥ ५ सर्वैविशिष्ट° डे० लीं० विना ॥ ६ किं वा नापोदितम् इति पाठो भा० प्रतौ नास्ति ॥ ७ °विषयं च प्र० ॥ ८ °रित्यत्र भा० ॥ ९ विशेषाण्वेतरे° भा० । विशेषावेतरे° य० ॥ १० विशेषा एतानि य० ॥ ११ गुणाकर्म । सामान्यानि भा० ॥ १२ नानात्वस्वतत्त्व° प्र० । अत्र नाना, स्वस्वतत्त्व° इत्यपि पाठ स्यात् ॥ १३ °मित्य° प्र० । 'मतिः बुद्धि' इत्यर्थप्रत्यवेक्षया अत्र °मत्य° इति शुद्ध प्रतीयते । °मित्य° इति यथाश्रुतपाठेऽभिरुचौ तु 'मानं मिति' इति व्युत्पाद्य मितिः प्रमिति यथार्था बुद्धिरित्यर्थो ज्ञेय । तुलना — "अभिहाणबुद्धिलक्खणभिन्ना वि जहा सदत्थओऽणन्ने । दिक्कालाइविसेसा तह दव्वाओ गुणाइआ ॥ [विशेषाव० भा० २११०] । एतदेव हि विशेषाणा विशेषत्वं यत्ते परतो विशिष्यन्ते । एतदेव लक्षण भेदाना सञ्ज्ञा-स्वालक्षण्य-स्वतत्त्व-प्रयोजन-मतिभेदात्" — इति विशेषावश्यकभाष्यस्य कोट्टार्यगणिवादिमहत्तरविरचितटीकाया हस्तलिखितप्रतौ पृ० १७८-२ ॥

कुतोऽणुहरिणमण्डूककारणकार्यधरणिसंयोगगुणोत्प्लवनकर्मभवनव्यावृत्तितथासमवाया, द्रव्यादीनामितरेतरानात्मकत्वादत्यन्तमन्यत्वान्निर्मूलत्वात् सर्वथा तत्त्ववृत्तिव्यतीतत्वात्, खपुष्पवत्, अन्यथा बालकुमारवत्।

भेदादिति ये वदन्ति तेषां तन्नानात्वैकान्ते **अतदात्मकत्वात् कुतोऽणु[1]हरिणमण्डूककारणकार्यधरणिसंयोगगुणोत्प्लवनकर्मभवनव्यावृत्तितथासमवाया[2]?** अणुग्रहणेन हरिणमण्डूकसमवायिकारणद्रव्यग्रहणं परमतेन। हरिणमण्डूकग्रहणेन सैन्ध[3]वाणुद्व्यणुकाद्यारम्भनिर्वृत्तावयविद्रव्यं कार्यं गृह्यते। तस्य हरिणमण्डूकादिद्रव्यस्य धरण्या संयोगो गुणः, उत्प्लवनं कर्म, भवनं भावः सत्ता, व्यावृत्तिर्[4]यभवनविलक्षणो विशेषः, तेषां तथासमवायः सम्बन्ध इति षडप्येते पदार्था वक्ष्यमाणखपुष्पदृष्टा[5]न्ता न सन्ति। का तर्हि भावना? नास्ति परपरिकल्पितं द्रव्यम्, गुणकर्मसामान्यविशेषानात्मकत्वात्, [6]खपुष्पवत्, तेभ्योऽत्यन्तमन्यस्वभावत्वाद्वा। न गुणकर्मणी स्तः, अद्रव्यात्मकत्वात्, खपुष्पवत्। एवं सामान्यविशेषसमवायाः। न द्रव्यं सत्, [7]अगुणकर्मत्वात्, खपुष्पवत्*, असामान्यविशेषात्मत्वात्, खपुष्पवत्। न पृथिवी 'पृथिवी' इति व्यपदेश्या, पृथिवीत्वा**दत्यन्तमन्यत्वात्**, जलवत्। पृथिवीत्वं 'पृथिवीत्वम्' इति न व्यपदेश्यम्, पृथिव्या अत्यन्तमन्यत्वात्, जलत्ववत्। न सन्ति गुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः, अद्रव्यात्मकत्वात्, खपुष्पवत्। एवमेकैकमपि **इतरानात्मकत्वात्** खपुष्पवन्नास्ति, इतरस्वरूपवद् वा न स्वात्म[8]स्वरूपमिति शेषपदार्थदृष्टान्तभे[9]दायोज्यमिति। [10]द्रव्यं भव्यम्, द्रव्यं च भव्ये [पा० ५।३।१०४] इति वचनाद् भवतीति भव्यं द्रव्यम्, भवनं च भावः। भवनादन्यत्वाद् द्रव्यादयो न सन्त्येव वन्ध्यापुत्रवत्। भवनमपि द्रव्यादन्यत्वाद् नास्त्येव वन्ध्यापुत्रवत्। न भवति वा द्रव्यम्, भवनस्वरूपानापत्तेः, वन्ध्यापुत्रवत्। एवं भवनमपि द्रव्यस्वरूपानापत्तेः तद्वत्। एवं गुणादयोऽपि। एवं व्यावृत्तिः समवायश्चेति।

अथवा 'क्रियागुणव्यपदेशाभावात् सदेव कार्यं प[11]श्चाज्जायते' इति, तन्नोपपद्यते, **निर्मूलत्वात्**, खपुष्पवत्। न सन्ति गुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः, अद्रव्यत्वात्, खपुष्पवत्। एवमगुणत्वाद् गुणादन्ये, असामान्यत्वात् सामान्यादन्ये, अविशेषत्वाद् विशेषादन्ये, अकारणत्वात् कारणादन्यत्, अकार्यत्वात् कार्यादन्यद् नास्ति। एतेभ्यो हेतुभ्यः **कुतोऽणु[12]हरिणमण्डूककारणकार्यधरणिसंयोगगुणोत्प्लवनकर्मभवनव्यावृत्तितथासमवायाः?** न सन्तीत्यर्थः। त[13]दुपसंहृत्योच्यते—**सर्वथा तत्त्ववृत्तिव्यतीतत्वात्**। तस्य भावस्तत्त्वम्, तत्त्वस्य वृत्तिस्तदतत्त्वेन तत्स्वरूपान्यस्वरूपेण च वृत्तिः,

---

१ कुतोऽणुमण्डूकहरिणकारणकार्यधरणि° प्र। अत्र पूर्वापरसंदर्भपर्यालोचनेन कुतोऽणुहरिणमण्डूककारणकार्यधरणि° इति पाठ एव समीचीन इति प्रतीयते। दृश्यतां पृ० २२॥ २ °वाय। अणु° भा०। °वाय अणु य॥ ३ सयधाणु भा० वि० विना॥ ४ रप्यभवन य०॥ ५ अत्र वक्ष्यमाणखपुष्पदृष्टान्ताश्च सन्ति' इत्यपि पाठः स्यात्॥ ६ * * एतादृशचिह्नान्तर्गतं खपुष्पवत् इत्यत आरभ्य अगुणकर्मत्वात् खपुष्पवत् इत्यन्तः पाठो य प्रतिषु नास्ति॥ ७ अत्र अगुणाकर्मत्वात् इत्यपि पाठः स्यात्। तुलना—"अगुणाकर्मत्वादिभ्यो हेतुभ्यः पूर्वोक्तवदभाव एव" पृ० ५३ पं० ५॥ ८ स्वात्मरूप भा०॥ ९ भेदाद्योन्य भा०॥ १० द्रव्य भव्य द्रव्यवदभव्य इति भा०। द्रव्य द्रव्यवदमन्य इति य०॥ ११ पचक्षोयत इति य०। पचाक्षायत इति भा०॥ १२ हरिणामण्डूकाकारणकार्यधरणि° य०। हरिणामण्डूकाकारणाकायाधरणि भा०॥ १३ तद्रूप° भा॥

हरिणादिस्वरूपविपरीतोक्तौ प्रसिद्धिविरुद्धप्रतिज्ञत्वादेवातथात्वमिति चेत्, न, उक्तवत् तुल्यत्वाल्लोकस्य चाप्रमाणीकृतत्वादेवं वचनेऽभ्युपगमविरोधात्।

लोमशालोमशैक्ये सपक्षासपक्षावृत्तिवृत्त्योरतर्क इति चेत्, न, दृष्टान्तस्य

यथा द्रव्यमेव वर्तते तथा तथा रूपरसादि[1]गुणस्थितिगत्यादिक्रियाभवनव्यावृत्तिसम्बन्धि, एकपुरुषपितृपुत्रत्वादिधर्मसम्बन्धित्ववदिति। तां [2]वृत्तिं सर्वथा व्यतीतत्वा[3]दणुद्रव्यादिषट्पदार्थाना मविकल्पानामसत्त्वम्। खपुष्पवदित्यन्ते दृष्टान्त उपदिष्टः सर्वत्र द्रष्टव्यः, तथा च योजितम्। अन्यथेति वैधर्म्येण वालकुमारवत्। यदस्ति तत् तदतत्स्वरूपतत्त्वव्यतीतं न भवति, यथा वाल एव कुमारः कुमार एव च वालः, अन्यौ च तौ अवस्थाभेदात्, [4]वालत्वमूलं कुमारत्वं कुमार[5]त्वान्यश्च वालत्वमिति तदतत्त्वरूपा तत्त्ववृत्तिः, तां व्यतीत्य न स वालः कुमारो वेति, स च संस्तत्त्ववृत्तिव्यतीतो न भवतीति।

हरिणादिस्वरूपवितथोक्तौ प्रसिद्धिविरुद्ध[6]प्रतिज्ञत्वादेवातथात्वमिति चेत्। चेदित्याशङ्कायाम्, [7]स्यादाशङ्का—हरिणस्वरूपं लोमशत्वम्, तस्य वितथोक्तिरलोमा हरिण इति, तस्या वितथोक्तौ प्रसिद्धिविरुद्धा प्रतिज्ञा यस्य स प्रसिद्धिविरुद्धप्रतिज्ञः, तद्भावः प्रसिद्धिविरुद्ध[8]प्रतिज्ञत्वम्, तस्मादेव [9]अतथात्वमिति। अत्रोच्यते—न, उक्तवत् तुल्यत्वात्। नेति प्रतिषेधे, नैत[10]दप्युपपद्यते। [11]किंवत्? उक्तवत्, उक्तेन तुल्यमुक्तवत्। यथो[12]क्तम्—शास्त्रनिरूपणविपरीतमप्रमाणं निरपवादत्वादिति, तेनै[13]तदपि तुल्यम्—'हरिणादिस्वरूपवितथोक्तौ प्रसिद्धिविरुद्ध[14]प्रतिज्ञत्वादेव अतथात्वम्' इति, अत्रापि उत्तरस्यापि तुल्यत्वात्।
३४-१ कथमिति चेत्, [15]न, सर्वस्यैवापोदितत्वादित्यादि सर्वं तदेव यावत् [16]खपुष्पवत्, अन्यथा वालकुमारवदिति। किञ्च, लोकस्य चाप्रमाणी[16]कृतत्वात्तथा कुतः प्रसिद्धिविरोधः? [17]क्व वा तत् [18]प्रसिद्धमिति। किञ्चान्यत्—[19]एवं वचनेऽभ्युपगमविरोधात्। ननु भवतामेकान्तवादिनां लोकमप्रमाणीकृत्य लोकप्रसिद्धिविरुद्ध[20]प्रतिज्ञत्वदोषापा[21]दनमभ्युपगमविरोधाय कल्पते, तस्मादयुक्तमेवं वक्तुमिति।

स्यान्मतम्—[22]प्रतिज्ञादोषद्वारेण हरिणस्वरूपादिविपरीतप्रतिपादनाप्रामाण्यं न शक्यते मयाभ्यु[23]पेतविरोधात्, हेतुदोषद्वारेण शक्नोमीत्यत आह—लोमशालोमैक्ये सपक्षासप[24]क्षावृत्तिवृत्त्योरतर्क इति चेत्। 'चतुष्पात्त्वे सति उत्प्लुत्य [25]गमनाद् हरिणो [26]निर्लोमा, लोमशो मण्डूकः' इत्युभयोरुभय-

---

१ °गुणास्थिति° य०। °गुणेस्थिति° भा० ॥ २ ता वृत्ति य० ॥ ३ °त्वात् गुणद्रव्यादि° य०। 'कुतोऽणुहरिणमण्डूककारणकार्यधरणिसयोगगुणोत्प्लवनकर्मभवनव्यावृत्तितथासमवाया.' [पृ० ४९ प० १] इत्यत्र उल्लिखिता अणुद्रव्यादय षट् पदार्था अत्राभिप्रेता इति वोध्यम् ॥ ४ वालत्वमूलं य०। वालत्वमलं भा० ॥ ५ °रत्वान्यं च य०। °रत्वात्पंच भा० ॥ ६ °प्रतिज्ञात्वा° प्र० ॥ ७ स्यादाशंक्यहरिकहरिण° प्र० ॥ ८ °प्रतिज्ञात्वम् भा० ॥ ९ अतथातथात्व° य० ॥ १० °दप्युपपद्यते भा०। °दप्युत्पद्यते य० ॥ ११ किंवद्रुक्तवत् प्र० ॥ १२ दृश्यता पृ० ४७ पं० ३ ॥ १३ °प्रतिज्ञात्वादेव प्र० ॥ १४ दृश्यता पृ० ४७ प० ३ ॥ १५ दृश्यता पृ० ४९ पं० ३ ॥ १६ अत्र °कृतत्वात्त्वया कुतः इति पाठः स्यादिति सम्भाव्यते ॥ १७ क्ष चा प्र० ॥ १८ प्रसिद्धिमिति य० ॥ १९ भा० विनान्यत्र—एवं वने वि० रं० ही०। एवं चने पा० डे० लीं० ॥ २० °प्रतिज्ञपत्वदोषा° प्र० ॥ २१ °पादान° य० ॥ २२ प्रतिज्ञादोषद्वारेण स्वरूपादि° भा०। प्रतिज्ञादौपद्रद्वारेण स्वरूपादि° य० ॥ २३ °पेतविधात् हेतु° भा०। °पेतविधात हेतु° य० ॥ २४ °क्षवृत्ति° य० ॥ २५ गमनाद् इति पाठः सर्वासु प्रतिषु नास्ति ॥ २६ निलोमा प्र० ॥

प्रत्यक्षप्रसिद्धिविषयत्वाल्लोकस्याप्रमाणीकृतत्वात् प्रत्यक्षस्य च इहेव तत्रैव सर्वत्रापि सपक्षासपक्षवृत्त्यवृत्त्योरसत्त्वापत्तेः। अविशेषैकान्ते तावत् कुतोऽन्यपक्षोऽसपक्षो

धर्मापत्तौ लोमशालोम्नोरैक्ये सति अयं हेतुर्धर्मपरिकल्पकृताद्भेदाद् हरिणालोमत्वे साध्ये सपक्षे निर्लोमन्यावृत्ते असपक्षे च लोमशे वृत्तेर्विरुद्धो हेतुः 'चतुष्पात्त्वे सति उत्प्लुत्य गमनात्' इत्यापद्यते, सपक्षासपक्षवर्तित्वात् साधारणानैकान्तिको वा, लोमशालोमैक्ये पक्षाभेदाद् धर्माभेदे च सपक्षासपक्षाभावाद-साधारणानैकान्तिको वा। तस्मादेषोऽतर्कः। अतर्कत्वाच्चास्य हरिणादिस्वरूपविपरीतप्रतिपादनमप्रमाणम्। चेदित्याशङ्कायाम्, एवं चेन्मन्यसे, तन्न, **दृष्टान्तस्य प्रत्यक्षप्रसिद्धिविषयत्वात्**। दृष्टान्तो हि लोके प्रत्यक्षप्रमाणप्रसिद्धो घटपटादिरर्थः, तद्विषयं च साध्यसाधनसमन्वयव्यतिरेकविभावनम्, सर्वानुमानस्य सर्वावयवानां च तद्बलेन साध्यसिद्धौ सामर्थ्यसिद्धेः। यथोक्तम्–दृष्टान्तबलाद्ध्यवयवसिद्धिः, तदाश्रयत्वात् सर्वावयवानाम्। तेन दृष्टान्तस्तत्त्वमवभोत्स्यते। प्रत्यक्षत्वाच्च तस्य तद्वद् वस्तुप्रतिपत्तेरशेषं तव सिद्धान्तदर्शनमवभोत्स्यते। प्रत्यक्षग्राह्ये च सिध्यति परोक्षग्राह्यं सिध्येत्, तदसिद्धौ संम्भावनाऽभाव एव [ ] इति। ततस्तस्य दृष्टान्तस्यासिद्धिः, **लोकस्याप्रमाणीकृतत्वात् प्रत्यक्षस्य च**। दृष्टान्तस्याभावे कुतो दार्ष्टान्तिकसाध्यसाधनसमन्वयव्यतिरेका इति प्रत्यक्षनिराकरणे तर्कासिद्धिरेव, कुतस्तर्कातर्कत्वविचारः? इति तदवस्थो हरिणादिस्वरूपविपरीतापत्तिदोषः। ३४ २

किञ्चान्यत्–इहेवेत्यादि यावदसत्त्वापत्तेरिति। यथा हरिणस्वरूपनिराकरणे भवान् "यं यं दोषं ममापादयति स स तत्रैव, अत्र च वीप्सार्थो द्रष्टव्यः–तत्र तत्रैव ऐकान्तवादिनः, एवकारोऽवधारणे, यथास्मिन् साधने 'मम दोषो नास्ति, तत्रैव' इति त्वदभ्युपगमानुरूप्येणोपपादितं तथा नात्रैव, किं तर्हि? सर्वत्रान्यत्रापि पक्षहेतुदृष्टान्तेषु दोषास्तत्रैव न ममेत्यर्थः। अप्रमाणीकृतत्वाल्लोकस्य प्रत्यक्षस्य च इति वर्तते, कारणान्तरोपन्यासोऽप्येषोऽभिधीयते–**सपक्षासपक्षवृत्त्यवृत्त्योरसत्त्वापत्तेः**। यदिष्टं भवतान्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थानुमानम्, तौ च सपक्षासपक्षयोर्वृत्त्यवृत्ती, तद्बलेन साध्यसिद्धिः, तयोरेव चैवासत्त्वमापद्यते। ततस्तयोः सपक्षासपक्षवृत्त्यवृत्त्योर्यथासङ्ख्यमसत्त्वापत्तेः तत्रैव अविशेषैकान्तवादिनो "विशेषैकान्तवादिनः तदुभयानेकत्वैकान्तवादिनो वेति हेतूद्देशमात्रमेतत्। तदिदानीं प्रत्येकं विधीयते–तत्र **तावदविशेषैकान्ते कुतोऽन्यपक्षः, असपक्षः, व्यावृत्तिर्वा?** अविशेषः सामान्यम्, 'अविशेष एव' इत्येकान्तः सर्वं सर्वात्मकमिति, तस्मिन्नविशेषैकान्ते तत्र ग्राह्ये कुतोऽन्यपक्षः, अन्यस्य पक्षोऽन्यपक्षः, प्रति

---

१ वर्तित्वाधारणा° प्र० ॥ २ °भावसाधारणा° प्र० ॥ ३ °पादनप्रमाणम् य०। °पादितप्रमाणम् भा० ॥ ४ तत्र प्र० ॥ ५ मविष्यते प्र० ॥ ६ तदसिद्धा तद्दर्शनमेव भोत्स्यते य० ॥ ७ समाननाभाव एव प्र० ॥ ८ तर्कासिद्धेरेव कुतस्तुतर्कातर्कत्व° भा० ॥ ९ इहैवे प्र०। अत्र पूर्वापरग्रन्थवीक्षया इहेव इति पाठ एव सुघटितो भाति। तुलना— इति आघूष्यते–तत्रैव अविशेषैकान्तवादिनः सपक्षासपक्षवृत्त्यवृत्त्योर्हरिणादिस्वरूपविपरीतापादनसाधनस्येव असत्त्वापत्तेरिति –पृ० ५२ पं० १३ ॥ १० तथा हरिण प्र० ॥ ११ य य दोष य ममापादयति भा०। य य दोषमापादयति य० ॥ १२ एका तरवादिन प्र० ॥ १३ तथा मात्रैव प्र० ॥ १४ थाम्यत्वमा प्र० ॥ १५ 'तयोः' इति षष्ठ्यन्तमेतद्। तयोः असत्त्वापत्तेरित्यभिसम्बन्धः ॥ १६ विशेषैकान्तवादिन इति पाठो य० प्रतिषु नास्ति ॥ १७ तस्मिन्नविशेषाते तत्र प्र० ॥

व्यावृत्तिर्वा, तत्त्व एव तथाभिव्यक्तेः? विशेषैकान्ते कुतस्तत्पक्षः सपक्षस्तत्सत्त्वं वा, तथाऽस्थितेः? उभयानेकत्वैकान्ते साध्यसाधनधर्मधर्मिण एव कुतः, तथाऽपूर्वत्वात्?

३५-१ वादिनोऽन्यस्याभावात्[1] तथापि चान्येनाविशेषात् सर्वसर्वात्मकैकत्वाविशेषात्। अथवा अन्यस्य वचनस्याभावात् त्वद्वचनात्मकत्वादेव सर्ववचनानां त्वदन्यवचनत्वविशेषाभावादेव[2] वा। अथवा [3]किं नः परवादिवचनयोर्[4]भावाभ्युपगम-निष्ठुरवचनाभ्याम्[5]? अन्यश्चासौ पक्षश्चेत्यन्यपक्षोऽर्थोऽस्तु, स कुतः, त्वत्पक्षसर्वै[6]कात्मकत्वादर्थ[7]विशेषैकान्तात्? एवं 'नित्यः शब्दः, अकृतकत्वात्, आकाशवत्' इति वादिनोऽनित्यशब्द[8]पक्षवक्तृवचनवाच्यानामभावः। तद्वत् तदनित्यधर्मसामान्येन समानस्य घटादेरभावान्नित्यैकान्तवादिनोऽसपक्षाभावः। तदभावाद् व्यावृत्त्यभावः। वाशब्दात् कुतः स्वपक्षः सपक्षः तद्वृत्तिर्वा, सर्वसर्वात्मकैकत्वाभेदादेव? स्यान्मतम्—आविर्भावतिरोभावयोरभूत्वा भावाद् भूत्वा चाभावादनित्यत्व[9]कृतकत्वे स एव अविशेषवादिनोऽपीति। एतच्चायुक्तम्, कुतः? **तत्त्व एव तथाभिव्यक्तेः**[10]। तत्त्वमेकत्वम्, तस्मिंस्तत्त्व एव **तथा** तेन प्रकारेण तथा अभिव्यक्तेः। किमुक्तं भवति? मृद एवाभिन्नाया अन्तर्लीनाविर्भावतिरोभावमात्रत्वादङ्गुलिवक्रऋजुगुणावस्थयोरिव अवस्थाविशेषाभिव्यक्तेः किमन्या मृत् सा पिण्डशिवकघटा[11]द्यवस्थासु? तस्मात् तत्त्व एव तथाभिव्यक्तेः कुतोऽन्य[12]पक्षोऽसपक्षो व्यावृत्तिस्तत्पक्षः सपक्षस्तत्सत्त्वं चेति साधूच्यते—[13]तथैव अविशेषैकान्तवादिनः सपक्षासपक्षवृत्त्यवृत्त्योर्[14]हरिणादिस्वरूपविपरीतापादनसाधनेष्विव असत्त्वापत्तिरिति।

तथा **विशेषैकान्ते कुतस्तत्पक्षः सपक्षस्तत्सत्त्वं वा[15]?** देशतः परमाणुशो रूपादिशो विज्ञानमात्रशोऽनुपाख्यत्वशश्च भेदात् कालतोऽत्यन्तपरमनिरुद्धक्षणार्द्ध[16]मनवस्थानाच्च कुतस्तत्पक्षः, अत्रापि तस्य
३५-२ पक्षो[17] वक्तुर्वचनस्य वा, 'स एव पक्षः' इत्यर्थ एव वा, 'अनित्यः शब्दः' इति धर्मधर्मिणोर्विशेषणविशेष्ययोश्चासम्भवात्। कुतः सपक्षः, अर्थान्तरसम्बद्धसामान्याभावात्, साध्याभावसामान्याभ्युपगमे [18]सपक्षासपक्षाविशेषप्रसङ्गात्। कुतः सत्त्वं तत्र, तदभावात् कृतकत्वादिसविकल्पधर्मान्तराभावात् परस्परविलक्षणनिर्व्यापारधर्ममात्रत्वात् सर्वधर्माणां निरुपाख्य[19]त्वशून्यत्वपरमार्थत्वाच्च। पूर्ववच्च [20]प्रतिवादिपक्षासपक्षव्यावृत्त्यभावो वाशब्दात्। [21]पूर्ववच्चोपसंहृत्य तदर्थविशेषनो हेतुरुच्यते—**तथाऽस्थितेः**। तेन प्रकारेण **तथा** क्षणिकनिर्व्यापारशून्यत्वप्रकारेण अस्थितेः कस्यचिदर्थस्येति विशेषैकान्तेऽपि सर्वत्र सपक्षवृत्त्याद्यसत्त्वापत्तिरित्थमिति।

तथा **उभयानेकत्वैकान्ते**[22]। उभयमिति सामान्यविशेषौ, 'तदुभयम[23]नेकं भिन्नं परस्परतः' इत्येतस्मिन्नप्येकान्ते **साध्यसाधनधर्मधर्मिण एव कुतः?** साध्यस्य ता[24]वदनित्यत्वस्याभावः, धर्ममात्रस्य

---

१ °न्यस्यभावात् प्र० ॥ २ °वचनत्वंविशेषा° य० ॥ ३ किं न पर° प्र० ॥ ४ °रवचनयो° भा० ॥ ५ °रभावाद्युपगमनिष्ठुरवचनान्याम् प्र० ॥ ६ त्वत्पक्षं सर्वै° प्र०। अत्र त्वत्पक्षे सर्वै° इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ७ °कात्मत्वाद° य० ॥ ८ नित्यशब्दः प्र० ॥ ९ चाभावानित्यत्व° प्र० ॥ १० °विशेषोभिव्यक्तेः य० ॥ ११ °घटाव्यवस्थासु प्र० ॥ १२ °न्यपक्षे। सपक्षे। व्यावृत्ति° भा०। °न्यपक्षे सपक्षाव्यावृत्ति° य० ॥ १३ ते चैव य०। दृश्यता पृ० ५१ प० १ ॥ १४ वृत्त्यवृत्त्याहरिणा° य० ॥ १५ वा देशतः पर° भा०। वादेशतः पर° य० ॥ १६ दृश्यता पृ० २६ टि० ७ ॥ १७ पक्षे। वक्तु° भा०। पक्षेर्वक्तु° य० ॥ १८ सपक्षासपक्षविशेष° य० ॥ १९ °पारयशून्यत्व° भा० ॥ २० प्रतिवादिपक्षव्यावृत्त्यभावो प्र०। यथा पूर्वं वाशब्दात् स्वपक्ष-सपक्ष-तद्वृत्त्यभावो निवक्षितस्तथात्रापि वाशब्दात् प्रतिवादिपक्षासपक्षव्यावृत्त्यभावो विवक्षित इति भाव। दृश्यता पं० ८ ॥ २१ पूर्वावच्चो° य० ॥ २२ कान्तेन उभयमिति य० ॥ २३ °मनेकांभिन्नं भा०। °मनेकाभिन्नं य० ॥ २४ तावनित्वस्याभावः प्र० ॥

दृष्टान्ताभ्युपगमात् प्रत्यक्षप्रमाणीकरणाल्लौकत्वापत्तेः प्रतिज्ञातव्याघातः।

शास्त्रत्वादलोकत्वमिति चेत्, न, लोकाश्रयत्वात् तेषां शास्त्राणाम्। तानि हि शास्त्राणि सामान्यविशेषकारणकार्यमात्राणां सर्वत्राध्यारोपेण प्रणीतानि।

निर्मूलत्वात्, खपुष्पवत्, तथा साधनस्यापि कृतकत्वस्य। कृतमित्यनुकम्पितं कुत्सितमज्ञातं वा कृतकम्। निर्मूलत्वं पुनर्द्रव्यादत्यन्तभिन्नत्वादिति धर्मयोरभावः। धर्मिणोरपि शब्दघटयोः अगुणाकर्मत्वादिभ्यो हेतुभ्यः पूर्वोक्तवदभाव एव। तत्सद्भावहेतुरप्युच्यते – तथाऽपूर्वत्वात्। अपूर्वत्वममूलत्वम्, द्रव्यगुणादीनां परस्परतोऽत्यन्तमन्यत्वात्। एवं तावत् सपक्षासपक्षवृत्त्यवृत्तिविपरीतत्वात् तत्रैव अतर्कत्वदोषो दृष्टान्तवलात् तर्कसिद्धेरित्यविशेषविशेषोभयानेकत्वैकान्तवादेपूक्ता दोषाः।

निश्चान्यत्, दृष्टान्तस्य प्रत्यक्षत्वात्, अनुमानत्वाद्धेतोः, उपनयस्य उपमानत्वात्, आगमत्वात् ३६ १ प्रतिज्ञायाः, दृष्टान्ताभ्युपगमात् प्रत्यक्षप्रमाणीकरणमापन्नम्। तस्माच्च लौकत्वम्, दृष्टान्तसत्त्वादित्व प्रतिपादनार्थत्वाच्छास्त्रार्थस्य तार्किकाणां तर्करूपतिष्ठता व्याख्यायम्। यथोक्तम् – लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः [न्यायसू० १।१।२५] इति। तथा लोको दृष्टान्तः, तद्विरुद्धं यदभिधीयते तद् दृष्टान्तविरुद्धमिति। ततः को दोष इति चेत्, प्रतिज्ञातव्याघातः। किं प्रतिज्ञातम्? शास्त्रनिरूपणविपरीतमप्रमाणम्, न द्रव्यस्वरूपादि, निरपवादत्वादिति, तद्व्याहन्यते शास्त्रप्रमाणीकरणे, प्रत्यक्षबलाल्लोकस्य प्रवृत्तत्वात्।

शास्त्रत्वादलोकत्वमिति चेत्। स्यान्मतम् – ननूक्तं शास्त्रकाराः स्वदृष्टार्थप्रतिपादनकुशला बुद्धिसंवादार्थं दृष्टान्तप्राणैस्तर्कैः शास्त्रार्थान् प्रतिपादयन्ति, न पुनः शास्त्रार्था लोके प्रत्यक्षीकर्तुं शक्याः। तत एव तदर्थवाचीनि शास्त्राण्यलोकः [　　] इति। तच्च न, लोकाश्रयत्वात् तेषां शास्त्राणाम्। तानि हि शास्त्राणि, यस्मादर्थे हिशब्दः, यस्मात् तानि सामान्यविशेषकारणकार्यमात्राणां सामान्यमात्रस्य दध्नि कारणमात्रस्य क्षेहशौक्ल्यादर्दृष्टस्य विशेषमात्रस्य घार्चिष्षु नवनवोत्पादविनाशरूपस्य दृष्टस्य सर्वत्राध्यारोपेण प्रणीतानि। क्षीरस्यैव क्षेहादिसामान्यस्य कारणाख्यस्य संस्थानमात्रं दृष्ट्वा दध्याद्यवस्थाविशेषमन्तरेण तस्य सामान्यस्य स्थित्यभावमपश्यद्भिः 'यथेदं संस्थानमात्रम्, न कार्यं न विशेषस्तथान्यऽपि घटपटान्योऽर्थास्त्रिगुणप्रधानसंस्थानमात्रम्' इति सर्वत्राध्यारोप्य तदर्थानि शास्त्राणि प्रणीतानि 'कारणमेव सामान्यमेव सर्वत्र' इत्येतस्यार्थस्य प्रतिपादनप्रसङ्गेन। ३६ २ तथा अर्चिषां प्रतिक्षणोत्पत्तिविनाशपौर्थक्यानि दृष्ट्वा रूपरसस्पर्शगन्धमूर्त्यादिसामान्यावस्थानमन्तरेण तत्सम्भवमपश्यद्भिः 'यथेदं विशेषमात्रम्, न सामान्यं न कारणं तथान्येऽपि महीमहीध्रसरित्समुद्रद्वीपगगनतारानक्षत्रग्रहगणादयो भावाः' इति सर्वत्राध्यारोप्य तदर्थानि शास्त्राणि तत्प्रतिपादनप्रपञ्चवचनरचनाविभक्तारक्षापारनोयसमुद्रीभूतानि प्रणीतानि।

---

१ °पादेपूक्ता प्र०॥ २ व्याख्यायथोक्तलौकिक° प्र॥ ३ यथा लोको य०॥ ४ तद्विरुद्धपदभिधीयते य॥ ५ दृश्यतां पृ० ४७ पं० १॥ ६ °हन्यते प्रमाणी° भा॥ ७ लोकप्रत्यक्षीकर्तुं भा० वि०। लोकप्रत्यक्षीकर्तुं भा वि० विना॥ ८ शास्त्राण्यलोकः प्र०॥ ९ दध्निकारण° य॥ १० °श्चाध्यारोपण भा०। °श्चाध्यारोपण य०॥ ११ °र्थास्ति गुण° भा०। °र्थास्तेगुण° य०॥ १२ °पाधर्म्यानि य०॥ १३ प्रापितानि प्र॥

अन्यत्र दृष्टस्याध्यारोपाद् घटतत्त्ववदलौकिकत्वमिति चेत्, न, व्यामोहस्य मृगतृष्णिकादिवदलौकिकत्वात्तथा।

तथाच तत्र प्रतिज्ञादीनामप्यनुपपत्तिः, यदि यथा लोकेन गृह्यते न तथा वस्तु, प्रतिज्ञा तावद् यथा गृह्यमाणा अविशेषादेर्न तथा स्यात्। ततश्चांशे

अन्यत्र दृष्टस्याध्यारोपाद् घटतत्त्ववदलौकिकत्वमिति चेत्। स्यान्मतम्—'लौकिकम्' इति इन्द्रियग्राह्यमुच्यते घटरूपादिवत्। यत्र घटे घटत्वं पृथुकुक्ष्याद्याकारविशेषस्तदन्यत्र घटान्तरेऽध्यारोप्यते, तच्च नास्ति अध्यारोपादेव। लोकसंवादात्तु प्रतिपादनार्थोऽध्यारोपः। एवं शास्त्राणामप्यध्यारोपादेवालौकिकत्वमिति नास्ति प्रतिज्ञातव्याघातदोषो यं भवान् मन्यते लौकिकत्वापत्तेरिति। अत्र ब्रूमः—न, व्यामोहस्य मृगतृष्णिकावदलौकिकत्वात् तथा। तेन प्रकारेण तथा, सत्यम्, भवति तदलौकिकमविशुद्धत्वाद् मृगतृष्णिकादिज्ञानवत्। विशुद्धलोकस्य न पुनरुपपद्यते, मृगतृष्णिकावदेव तस्य व्यामोहस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात्। ऊषरभूप्रदेशे ग्रैष्मोष्मसन्तप्तचक्षुषो रविकिरणाः पतिताः प्रत्युत्पतन्तो दूराद् व्यामोहहेतवस्तोयवदाभासन्ते। तस्माच्छास्त्रविज्ञानस्य मृगतृष्णिकाविज्ञानवदप्रामाण्यप्रसङ्गादसमञ्जसोद्ग्राहम्।

किञ्चान्यत्—तथा च तत्र प्रतिज्ञादीनामप्यनुपपत्तिः। न केवलं शास्त्रविज्ञानाप्रामाण्यमेव, किं तर्हि? तेन प्रकारेण तथा च एवं च कृत्वा तत्र सति तस्मिन्नलौकिके मृगतृष्णिकावत् प्रतिज्ञादी-
२७-१ नामप्यवयवानामनुपपत्तिः। कथम्? यदि यथा लोकेन गृह्यते न तथा वस्तु। यदीति पराभ्युपगमं दर्शयति, यदि प्रतिपादनकौशलेन प्रतिपादनबुद्धिसंवादमात्रत्वेन दृष्टान्तमुपादाय यथाहं युक्त्योपपादयामि शास्त्रेण च तथा तद् वस्तु न तु यथा लोकेन गृह्यते तथेति भवतोऽभिप्रायः। तत्र **प्रतिज्ञा तावद् यथोक्ता गृह्यमाणा अविशेषादेर्न तथा स्यात्।** अविशेषैकान्तवादे तावत् सर्वस्य सर्वात्मकत्वात् 'नित्यः शब्दः' इति प्रतिज्ञा यथा श्रोत्रेण गृह्यते न तथा भवितुमर्हति। किं कारणम्? नेत्रादिग्राह्यरूपाद्यात्मिकापि सेति कृत्वा। एवं विशेषैकान्तवादेऽपि 'अनित्यः शब्दः' इति प्रतिज्ञा 'अ'कार-'नि'कारादिवर्णविज्ञानानां देशकालकृतात्यन्तनानात्वक्षणिकत्वशून्यत्वनिरुपाख्यत्वात् परस्परापेक्षाभावे सर्वभावाभावे च यथा गृह्यते न तथा स्यात्। एवमुभयानेकैकान्ते पूर्ववदन्यतरग्राह्यस्य इतरपक्षनिरपेक्षस्याभावात्।

ततश्चांशे प्रत्यक्षविरोधः। ततश्चेति तस्मादेव हेतोर्लोके गृह्यमाणस्य विपरीतत्वादविशेषैकान्ते तावत् प्रत्यक्षविरोधः, अंशे भागे, तस्यैव वस्तुनः अविशेषैकान्तवादिपरिकल्पितस्य प्रत्यक्षोपलभ्यस्य विशे-

---

१ अन्यत्र दृष्टस्याध्यारोद् घटतत्त्ववदलौकिक° प्र०॥ २ यदत्र घटे प्र०॥ ३ °तत्वं घिकुक्ष्याद्या° प्र०। अग्रेऽपि किञ्चिदीदृश एव अशुद्ध पाठ इत्थं दृश्यते—"घटेनैव घट क्रियत इति मृत्पिण्डघटेन ऊर्द्ध्वग्रीवकुण्डलौष्ठपृथि(थु)कुक्षिशुभ्रादिघट. क्रियते प्रकाश्यते, करोति. प्रकाशार्थत्वात्"—नयचक्रवृ० पृ० २१५-२। एतदनुसारेण अत्रापि पृथुकुक्ष्या° इति शुद्ध सम्भाव्यते। यथाश्रुताग्रहे तु विकुक्ष्या° इति पाठ कल्प्यः, 'विशाला कुक्षिर्विकुक्षि पृथुदरमि.' इति च तदर्थो ज्ञेय.॥ ४ °पादेव य०॥ ५ दृश्यता पृ० ५३ प० १॥ ६ जठरभू° भा०॥ ७ °च्छास्त्रविज्ञानस्य भा०॥ ८ °पत्तिः केवलं य०॥ ९ एवं कृत्वा य०॥ १० °नामुपपत्तिः भा०॥

प्रत्यक्षविरोधः, अंशे स्ववचनविरोधः, अंशेऽभ्युपगमविरोध', स्वोक्तविपर्ययरूपाभ्युपगमात्। अथ तथा ततो न तर्हि लोकगृहीतमन्यथा।

किञ्चित् तथा किञ्चिदन्यथा उन्मत्तप्रतिपत्तिवदिति चेत्, एवं तर्हि साक्षाल्लोकपक्षापत्त्याभ्युपगमविरोधः, किञ्चिद्ग्रहणात्तथाग्रहणादन्यथाग्रहणाच्च। भेदवद-

---

पत्वात् प्रत्यक्षविरोध । **अंशे स्ववचनविरोध ,** तत्काले प्रतिपादन[1]शब्दविशेषत्वेष्टे । **अंशेऽभ्युपगमविरोध ,** स्वशास्त्रे सर्वत्र प्रसिद्धेन पूर्वकालाभ्युपगतेन सर्वात्मकत्वेनाधुनातनधर्मधर्मिविशेषस्य विरोधात्। **स्वोक्तविपर्ययरूपाभ्युपगमादित्य**स्ते कारणमुक्तम्, प्रत्यक्ष[3]स्ववचनाभ्युपगमानामभ्युपगमाविशेषात्। ३७ २
एव विशेषैकान्ते श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यस्य शब्दस्य तावन्मात्रकालावस्था[4]तु पूर्वोत्तरक्षणसम्बन्धतद्बुद्ध्यवस्था[5]नैर्मोपाख्यत्वप्रत्यक्षत्वात् [6]प्रत्यक्षविरोध । [7]तथैव स्ववचनस्योपपत्ते स्ववचनेन अनित्यशब्दप्रतिज्ञा विरुध्यते। अत एव चाभ्युपगमेन विरोध । पूर्ववत् स एव हेतुरत्रापि। तथा उभयानेकस्यैकान्ते प्रागभिहितसाधनान्येवात्र व्यापायाणि 'अद्रव्यत्वाद् वन्ध्यापुत्रवद् नानित्यत्वम्, न शब्दोऽस्ति' इत्यादिस्वरूपाभाव । अचाक्षुषप्रत्यक्षगुणस्य [8]सतोऽपवर्ग कर्मभि साधर्म्यम्, सतो लिङ्गाभावात् [वै० सू० २।२।२५-२६] [9]कार्यत्वात् कारणतो विकारात् इत्यादिशास्त्रविहितहेतु[10]व्याख्यानार्थं प्रतिपादनकाले तत्प्रयोगात् प्रत्यक्षीकरणाचानित्यत्वशब्दत्वाद्यभावात् प्रत्यक्षविरोध । स्ववचनस्य तत्कालस्य तथावस्थानाभ्युपगमात् स्ववचनविरोध । पूर्वाभ्युपगमेन चेदानीन्तनस्य विरोधादभ्युपगमविरोध । पूर्ववत् **स्वोक्तविपर्ययरूपाभ्युपगमादि**ति सर्वत्र हेतुरिति ।

अथ तथा। अथैते दोषा मा भूवन् वितथत्वाश्रया इति 'तथैव' इत्यभ्युपगम्यते परै । **ततो न तर्हि लोकगृहीतमन्यथा** इत्यापन्नम्। लोकत्वाच्च प्रतिज्ञातव्याघातस्तदवस्थ इति ।

किञ्चित् तथा किञ्चिदन्यथा, उन्मत्तप्रतिपत्तिवदिति चेत्। स्यान्मतम् — किञ्चिल्लोकेन गृहीत तथैव भवति प्रतिज्ञादि, किञ्चिदन्यथा घटादि, लोकस्यापरीक्षकत्वात्। परीक्षकाश्च पदवाक्यप्रमाणविद । दृष्टान्त उन्मत्तप्रतिपत्ति । यथोन्मत्तोऽपरीक्षक पदवाक्यप्रमाणानभिज्ञ किञ्चित् तथा प्रतिपद्यते किञ्चिदन्यथा, तत्प्रतिपत्तिश्चाप्रमाण सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेश्च, तद्वल्लोकप्रतिपत्तिरपीति । ३८ १

अत्रोच्यते—**एवं तर्हि [11]साक्षाल्लोकपक्षापत्त्याभ्युपगमविरोध** । साक्षादिति प्रत्यक्षत एव लोकपक्षापत्ति । [12]कथम्? **किञ्चिद्ग्रहणात् तथाग्रहणादन्यथाग्रहणाच्च।** किञ्चित्त्वादेव न [13]सर्वं सर्वात्मकम्, सर्वासर्वत्वसिद्धिश्च विभागनिर्देशात् 'किञ्चित्' इति । एव तेन प्रकारेण **तथा** इति स चान्य

---

१ शब्दविशेषत्वेष्टे भा ॥ २ सर्वात्मकत्वे यधुना य । सर्वात्मकत्वेऽभ्यधुना भा ॥ ३ °स्ववचनाभ्युपगमा प्र ॥ ४ °वस्थास्तु प्र० ॥ ५ नसोपाख्यत्व प्र ॥ ६ प्रत्यविरोध य० ॥ ७ तथैव च तस्योपपत्ते य० ॥ ८ सतोपसर्गं प्र ॥ "अचाक्षुषप्रत्यक्षगुणस्य सतोऽपवर्ग कर्मभि साधर्म्यम्। सतो लिङ्गाभावात्। नित्यवैधर्म्यात्। अनित्यश्चाय कारणत । न चासिद्धम् विकारात् ।"—वै० सू० २।२।२५—२९ ॥ ९ कायत्वात् प्र० ॥ १० भा० विना यत्र—°व्याख्यातार्थं प्रति° पा० डे० लीं०। व्याख्यानार्थंप्रति° ले० ही । °व्याख्यातार्थप्रति वि ॥ ११ साक्षाल्लोकपक्षाभ्युपगम° प्र०। अत्र साक्षाल्लोकपक्षापत्त्याभ्युपगम इत्येव पाठो युक्त, टीकायां तथैव व्याख्यातत्वात्। दृश्यतां पृ० ५७ पं० १९ ॥ १२ कथचिद्ग्रहणात् प्र ॥ १३ सर्वंसर्वात्म° प्र० ॥

भेदपदार्थोपादानाच्च 'न तथा' इति पुनर्नयोऽभ्युपगमविरोधः ।

स्तयोश्च [1]कश्चिद्धर्मः प्रकारव्यपदेशमारोपितव्यः, तेषु त्रिष्वपि सिद्धेषु यस्मात् 'तथा' इति घटते । एवम् 'अन्यथा' इत्यपि, 'अयमन्यस्मादन्यः, अन्यश्च अस्मादन्यः' इति सर्वासर्वत्वसिद्धेर्लोकपक्षापत्तिः । एवं विशेषैकान्ते देशकालकृतात्यन्तभेदनिरुपाख्यशून्यत्वेषु किं तत् स्यात् 'किञ्चित्' इति विभज्य अन्यस्मादवस्थितादनवस्थितमसद्वान्यदिति [2]वोच्येत विलक्षणमिति ? एवं तथा अन्यथा इति च न घटेते । एवमुभयानेकत्वैकान्ते पूर्ववद् द्रव्यादीनामितरेतरानात्मकत्वात् सामान्यविशेषयोः कार्यकारणयोर्वा निर्मूलत्वादिभ्यो वा हेतुभ्योऽसत्त्वाद् वस्तुनः 'किञ्चित्तथान्यथा' इत्यनुपपत्तेर्लोकपक्षापत्तिः । तया च सह सर्वसर्वात्मकत्वादिशास्त्राभ्युपगमो विरुध्यते । एवं तावत् प्रतिज्ञा दुष्टा । प्रतिज्ञावद्धेतुदृष्टान्तावपि दुष्टावेव, तदसाधकत्वात् । उन्मत्त इति च दृष्टान्तो लोकपक्षपाताद्दृते न सिध्यति, उत्कृष्टो मद उन्माद इति मदान्तरापेक्षो विमदत्वापेक्षो वा निर्देशः, स च लौकिक एव, तमभ्युपगम्य तन्निराचिकीर्षव एवोन्मत्ततरा इति ।

३८-२ एवं तावद् वाक्यविषयो दोषः । इदानीमेकपदविषय उच्यते — **भेदवदभेदपदार्थोपादानाच्च 'न तथा' इति पुनर्नयोऽभ्युपगमविरोधः ।** भेदोऽस्यास्तीति भेदवान्, नास्य भेद इत्यभेदः, भेदवांश्च अभेदश्च स एवेति भेदवदभेदः, कोऽसौ ? **पदार्थः** [11]वृक्ष इत्यादिः स्वार्थ-द्रव्य-लिङ्ग-सङ्ख्या-कर्मादिकारकरूपः । यदुक्तं क्रम-यौगपद्यचिन्तायाम् —

> स्वार्थमभिधाय शब्दो निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेतम् ।
> [12]समवेतस्य तु वचने लिङ्गं सङ्ख्यां विभक्तिं च ॥
> अभिधाय तान् विशेषानपेक्षमाणस्तु कृत्स्नमात्मानम् ।
> प्रियकुत्सनादिषु तथा प्रवर्ततेऽसौ विभक्त्यन्तः ॥ [पा० म० भा० ५।३।७४]

इति व्याकरणे सर्वतन्त्रसिद्धान्ते । तत्र स्वार्थ इति जातिराकारो [वो]च्येत[13] स एवार्थः स्वार्थ इति सोऽन्यापेक्षत्वादन्येन विना [14]न 'स्वः' इति स्यात्, अतो द्रव्यादिसिद्धेर्भेदवान् पदार्थः । तेषामेव च स्वार्थादीनामत्यन्तभेदेऽन्योन्या[15]नात्मकत्वात् खपुष्पवदभावः स्यात्, देशकालाद्यभेदोपलब्धेश्च अभेदसिद्धेरभिन्नः पदार्थः । तस्माद् भेदवदभेदपदार्थ उपात्तः पदं प्रयुञ्जानेन शास्त्रविदा स्वार्थमात्रवादिनापि । तथा द्रव्ये

---

१ कंचिद्धर्मः प्र० ॥ २ चोद्येत य० । वोद्येत भा० । "वद व्यक्तायां वाचि" [पा० धा० १००९] इति धातोरत्र विवक्षायां तु प्रतिस्थो यथाश्रुतपाठोऽपि साधुरेव ॥ ३ दृश्यतां पृ० ४९ प० २ ॥ ४ °त्तथा अन्यथा भा० ॥ ५ द्रष्टाः प्र० ॥ ६ द्रष्टावेव भा० । इष्टावेव य० ॥ ७ °साधत्वात् य० ॥ ८ माद य० । "मदोऽनुपसर्गे" [पा० ३।३।६८] इति सूत्रेण 'अप्'प्रत्ययस्य विधानात् मद इति भा० पाठ एव साधु । "मदनं मदः 'व्यधजपमद्भ्यः' [सिद्धहेम० ५-३-४७] इत्यल्"— अभि० चिन्ता० स्वो० ३।२२६ ॥ ९ तस्माल्लोकाभ्युपगमाल्लोकप्रमाणीकृत एव किञ्चिदकिञ्चित्तथान्यथेत्यादिपरस्परविलक्षान्निरा° वि० । अत्र च वि०प्रतिपाठे °स्मा° इत्यत आरभ्य °विलक्षा° इत्यन्त पाठांशोऽयेतनात् [पृ० ५७ पं०१७] स्थानात् उत्पत्य इह आगतः सर्वथा निरर्थकोऽशुद्ध परित्याज्य एव ॥ १० °वाण्व भा० ॥ ११ वृक्ष इत्यादिस्वार्थ° य० । अत्र वृक्षजात्यादिः स्वार्थ° इत्यपि पाठः स्यात् ॥ १२ "समवेतस्य च वचने लिङ्गं वचनं विभक्तिं च । अभिधाय तान् विशेषानपेक्षमाणश्च कृत्स्नमात्मानम् । प्रियकुत्सनादिषु पुनः प्रवर्ततेऽसौ विभक्त्यन्तः"—इति पातञ्जलमहाभाष्ये पाठः ॥ १३ च्येत भा० ॥ १४ भा० विनान्यत्र — न भव इति पा० । न भू इति डे० लीं० । न त्व इति र० ही० । नत्र इति वि० ॥ १५ °न्येन्यानात्म° य० ॥

अत्र प्रतिज्ञैवाभ्युपगमः, तस्या लोकाप्रामाण्यात्। नन्वविशेषादिप्वसतः पक्षादेरुपादानाल्लोकाभ्युपगमात् 'लोकवदेव चार्थं' इति व्यवस्थाप्य शब्द-

---

लिङ्गे सङ्ख्यायां कारके कुत्सादौ पदार्थे च योज्य क्रमेण युगपद्वा वाच्ये। तमभ्युपगम्याविशेषवादिनो विशेषवादिन उभयानेकत्ववादिनो वा 'न तथा' इति तमेव पुनर्नुवतो नैवोऽभ्युपगमविरोधः। नैव इति न स्वात्माभ्युपगमेन, किं तर्हि? तत्कालाभ्युपगमेनेत्यर्थः। स च सवचनाभ्युपगमविरोध इति।

अथ प्रतिज्ञैवाभ्युपगमः। स्यान्मतम्—न हि पदप्रयोगविषयोऽभ्युपगमोऽस्ति, पदार्थाभावात्, पदार्थस्य उत्प्रेक्षाविषयत्वाद् वाक्यार्थाधिगमोपायत्वेन उद्धृत्य वाक्यार्थाद् व्याख्येयत्वात्। वाक्यमेव ३९ १
शब्दः, तदर्थ एव च शब्दार्थः। तस्मात् प्रतिज्ञैवाभ्युपगमः, तत्साधनार्थत्वाच्छेषवाक्यावयवव्यापारस्य। कस्मात्? **तस्या लोकाप्रामाण्यात्**। तत्र तस्याः प्रतिज्ञायाः हेतुभूतायाः, तद्बलादित्यर्थः, लोकाप्रामाण्यात् लोकस्याप्रमाणत्वसिद्धेः। 'नित्यः शब्दोऽकृतकत्वादाकाशवत्' इति नित्यत्वे सिद्धे तद्बलाद् नित्यानित्याद्यनेकरूपैकवस्तुप्रतिपत्तिर्लोकोऽप्रमाणीभवतीति।

अत्रोच्यते—**नन्वविशेषादिप्वसतः पक्षादेरुपादानाल्लोकाभ्युपगमादिति**। 'सर्वं सर्वात्मकम्' इत्येतस्मिन्नविशेषैकान्तेऽभ्युपगते पुनः 'नित्यः शब्दः' इत्यस्य पक्षस्य तद्धेतोर्दृष्टान्तस्य चाभावः पूर्वोक्तेभ्यो हेतुभ्यो निर्विशेषत्वादिभ्यः। तथा विशेषैकान्ते पूर्वोक्तहेतुभ्य एव पक्षादीनामभावो निर्मूलत्वादिभ्यः। उभयानेकत्वैकान्तेऽपि परस्परविभिन्नस्वभावानां सामान्यविशेषैकार्यकारणानामभाव इत्युक्तम्। तस्माद् विशेषादिप्वसतः पक्षादेर्लोकमतसिद्धस्योपादानाल्लोक एव पुनरभ्युपगतो भवति भवद्भिः शास्त्रविद्भिः। तस्माल्लोकाभ्युपगमाल्लोकः प्रमाणीकृत एव 'किञ्चिदन्यत् किञ्चित्तथान्यथा' इत्यादिपरस्परविलक्षणव्यवहाराभ्युपगमाच्च "लोकाप्रामाण्यं न सिध्यतीति ते यूयं सुदूरमपि गत्वा लोकमेव शरणं गन्तुमर्हथ शास्त्रविदः। एवं शास्त्रव्यवहारो लोकदर्शनमन्तरेण न सिध्यतीति वाक्यविषयः पदविषयो वा ततः साक्षाल्लोकपक्षापत्त्याभ्युपगमविरोध इत्युक्तः।

तथा तद्विषयः स्ववचनविरोधोऽपि प्रतिपत्तव्यः। कस्मात्? **लोकवदेव चार्थं इति व्यवस्थाप्य** ३९ २
शब्दप्रयोगात्। लोकेन तुल्यं वर्तते लोकस्येव लोक इव वा लोकवत्, एवेत्यवधारणे, किमवधारयति? लोकेऽप्यवधारयति नार्थे लोकम्, शास्त्रविदामपि लोकत्वात्। पृथक्त्वेऽप्यर्थलोकयोरुभयत्र वायमेवकारो द्रष्टव्यः—लोकवदेवार्थः अर्थवदेव लोक इति, द्वयोरपि परस्पराव्यभिचारात् शास्त्रविदां लोकपृथक्त्वे

---

१ युगपद्वाच्या भा०। युगपद्वाच्य य०। अपोद्धारपरिकल्पनाव्यवस्थामाश्रित्य स्वार्थमभिधायकादो निरपेक्षो द्रव्यमाह गमयेवम् इति प्रविभक्तिक्रमनियमानुगममात्रं क्रियते। न हि शब्दस्य क्रमवती विरम्य विरम्य स्वार्थोष्विषु वृत्तिः सम्भवति यष्टुपारव्याद्येन च नियमवियोगात्। प्रतिपत्तिक्रमो ह्ययं धातुरभिधातुर्वा न व्यवस्थितः। सर्वविशेषणविशिष्टं हि वस्तु संसर्गिणीनां मात्राणां कस्याप योगवशेन एकस्या बुद्धेर्विषयतामापन्नमुत्तरकालमिच्छन् बुद्ध्यन्तरं प्रविभजते—इति भर्तृहरिविरचितायां वाक्यपदीयस्ववृत्तौ १।२६॥ २ नयाभ्यु° य०॥ ३ नयति न शास्त्रा° य०। नन्वशास्त्रा भा०॥ ४ वाक्यार्थद् रै० ही। वाक्यार्थोद् रै० ही० विना॥ ५ नत्वविशेषा° भा० पा० डे० लीं०। तत्वविशेषा° वि० रै० ही॥ ६ सवमयात्मकम् वि०। सर्वसर्वात्मकम् वि० विना॥ ७ वामाय भा०॥ ८ परोक्षार्थी° प्र०॥ ९ °पाशाय° प्र०॥ १० °लोकमसिद्ध य०॥ ११ लोकप्रामाण्य य०॥ १२ °मर्हथ शास्त्र° प्र०॥ १३ इव वा लोकवत् प्र०॥ १४ पृथक्त्वप्यर्थ° प्र०॥

प्रयोगात् तथासत्यत्वसिद्धे शब्दार्थे पुनः 'न यथालोकग्राहं वस्तु' इति विरुध्येत स्ववचनेन। लोकविरोधस्तु प्रस्तुत एव, तदविरोधेऽप्रवृत्तेः। लोकाप्रामाण्ये च सर्वत्र प्रत्यक्षानुमानविरोधावुपस्थितावेव, तत्स्थत्वात्तयोः।

लौकिकार्थपृथक्त्वे च तत्कल्पितार्थानाम्। इतिशब्दः प्रकारे, अनेन प्रकारेण इत्थं **व्यवस्थाप्य बुद्ध्या** अभ्युपगम्य स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनार्थं परेषां शब्दप्रयोगात्. पदावधिको वाक्यावधिको वा शब्दप्रयोगव्यवहारो लोकानुपातीत्यमिष्टं[1] तैरपि शास्त्रकारैः। तत्र च **तथासत्यत्वसिद्धे शब्दार्थे**, तेन प्रकारेण तथा, येन प्रकारेण मृद्रूपादिपृथुबुध्नाद्याविकेऽर्थे घटशब्दो लोकेन प्रयुक्तस्तेनैव प्रकारेण सत्यत्वेन सिद्धे सत्यत्वसिद्धे[2] लोके शब्दं प्रयुञ्जानैः शास्त्रविद्भिः 'लोकोऽभ्युपगतोऽस्माभिः' इत्युक्तमेव भवत्यर्थात्। ततः **पुनः 'न यथालोकग्राहं वस्तु' इति विरुध्येत**। लोकस्य ग्राहो लोकग्राहः, ग्राह इव ग्राहः, यो यो लोकग्राहो यथालोकग्राहम्। किं तत्? वस्तु। यथैवागोपालप्रसिद्धं वस्तु ब्रुवाणो वादी 'यो यः प्रयुज्यते मया शब्दः स स न तथार्थः स्यात्' इत्यनेन **स्ववचनेनैव** विरुद्धमाह, स्वेन वचनेन तत्तद्वचनं विरुध्येत। **विरुध्येत** ४०-१ इति आशंसावचने[3] लिङ् [पा० ३।३।१३४], कथं सुखनिष्ठुरं 'विरुध्यत एव' इत्यवधार्योच्यते? 'कथञ्चिद् विरुध्येत' इति दाक्षिण्यमाचार्यः स्वकं दर्शयति। एवं तावत् स्ववचनविरोधः।

लोकविरोधस्तु[4] प्रस्तुत एव। रूढिविरोधो लोकविरोधः, स तु प्रस्तुत एव। **तदविरोधेऽप्रवृत्तेः**, तेन लोकेन अविरोधे शास्त्राणामप्रवृत्तेः, तस्या रूढेः शब्दप्रयोगादेवाभ्युपगताया विरोधमनुपपाद्य शास्त्राणामविशेषविशेषोभयानेकत्वैकान्तप्रतिपादनार्थानामप्रवृत्तेः। कथमप्रवृत्तिः? तानि रूढमेवार्थमनुब्रूयुः, अरूढं[5] वा व्युत्पादयेयुः? यदि रूढमनुवदन्ति[6], व्यर्थानि। अथारूढं व्युत्पादयन्ति रूढिविरोधिनमर्थम्, विरुध्यन्त[7] एव लोकेन निःसंशयमिति साधूच्यते – **तदविरोधेऽप्रवृत्तेर्लोकविरोधः प्रस्तुत एवेति**।

किञ्चान्यत् – **लोकाप्रामाण्ये[8] च** शास्त्रकाराणां **सर्वत्र** पदे पदे वाक्ये वाक्ये **प्रत्यक्षानुमानविरोधावुपस्थितावेव**। तत्र तावत् 'अंशे प्रत्यक्षविरोध' इत्याद्यभिहितं[9] पूर्वम्, इदानीं सर्वत्र प्रत्यक्षविरोधो वाच्य इति विशेषः। अनुमानविरोधो वा नोक्तः सोऽभिधेयः[10], तदनुषङ्गेण पुनः प्रत्यक्षविरोधवचनं च तत्पूर्वकत्वादनुमानस्येति। शास्त्रकारप्रवृत्तेर्लोकविरुद्धत्वादेव प्रत्यक्षानुमानविरोधावप्युपस्थितावेव। **एवे**त्यवधारणे, न न भवतः, भवत एवेत्यर्थः। किं कारणम्? **तत्स्थत्वात् तयोः**। लोकनाद्धि लोकोऽनुपहतेन्द्रियमनस्कः प्राणिगणो लोक इत्युच्यते। तयोः तस्मिंल्लोके स्थितत्वात् प्रत्यक्षानुमानयोः "लोकश्चे[11]दप्रमाणं लोकस्थे प्रत्यक्षानुमाने प्रागेवाप्रमाणे। अथवा[12] स एव स्थितस्तत्स्थः, सुपि स्थः [पा० ३।२।४] ४०-२ इति वचनात्, लोक एव प्रामाण्येन व्यवस्थितः। क? तयोः प्रत्यक्षानुमानयोः। स एव लोकः प्रत्यक्षानुमानज्ञानाधारत्वात् तद्रूपापत्तेश्च प्रत्यक्षमनुमानं[13] च, ततस्तदप्रामाण्ये तयोरप्रामाण्यमिति।

---

१ °पातीत्यमिष्टैस्तैरपि भा०। °पातीत्यनिष्टैस्तैरपि पा०। °पातीत्यनिष्टास्तैरपि डे० लीं०। °पातीत्यनिष्टकैरपि वि०। °पातीत्यलिष्टकैरपि रं० ही०॥ २ सत्यसिद्धे प्र०॥ ३ आशंकावचने लिङ् प्र०॥ ४ °धस्तुत एव प्र०॥ ५ अरूढं वा व्युत्पा° भा०। अरुढ वा युत्पा° य०॥ ६ °नुवंदिति य०॥ ७ °ध्यत एव य०॥ ८ लोकप्रामाण्ये य०॥ ९ पृ० ५४ पं० ४॥ १० °य तदनु° य०॥ ११ लोकं चेद° प्र०॥ १२ °वा एव य०॥ १३ °मानश्च भा०॥

शास्त्रवदेव तयोरप्यलौकिकत्वकल्पनार्थं लक्षणान्तरं कल्प्यं सामान्यविशेषैकान्तसवादि। घटादिकल्पनापोढं प्रत्यक्षम्। अथ का कल्पना? नामजातिगुण-

---

स्यान्मतं भवताम्—कथं प्रमाणज्येष्ठं प्रत्यक्षं न प्रमाणीक्रियेत? इति। तत्र च संम्प्रधारमिमं प्रयच्छामि—तदपि च प्रत्यक्षमेव कल्प्यं **शास्त्रवदेवे**त्यादि। शास्त्रे ज्ञातेऽपि तद्विहितक्रियासाध्यत्वात्तदिष्टफलस्य क्रियायाश्चाव्यभिचाराज्ज्ञाने, यथोक्तम्—

जानाना सर्वशास्त्राणि छिन्दन्त सवसंशयान्।
न च ते तत् करिष्यन्ति गच्छ स्वर्गं न ते भयम्॥ [   ] इति।

तस्मात् ज्ञानं फलस्याव्यभिचारि कारणं क्रियासाधनवादिनोऽपि, किमङ्ग पुनर्ज्ञानमात्रसाधनवादिनः? इति तदेव विचार्यते—**शास्त्रवदे**वेत्यारभ्य यावद् **व्यञ्जनकाय** इति। शास्त्र इव शास्त्रवत्, यथा शास्त्रेऽभिहिता पदार्था अत्यन्तविलक्षणास्तथा प्रत्यक्षमपि लौकिकप्रत्यक्षविलक्षणं तथानुमानं चास्तु, **तयोरप्यलौकिकत्वकल्पनार्थं** प्रत्यक्षानुमानयोरप्यलौकिकत्वस्य कल्पनार्थं **लक्षणान्तरं कल्प्यम्**। किं तत्? **सामान्यविशेषैकान्तसवादि**, सामान्यं च विशेषश्च सामान्यविशेषौ, सामान्यविशेषौ च सामान्यविशेषौ च सामान्यविशेषा इत्येकशेषः सरूपत्वात् 'सामान्यमेव, न विशेषः, विशेष एव, न सामान्यम्, तौ परस्परविलक्षणौ वा' इति त एव एकान्ता लौकिकपदार्थविलक्षणाः शास्त्रेषु कल्पिताः। तैः सवदितुं शीलमस्य तदिदं सामान्यविशेषैकान्तसवादि। घट आदिर्यस्याः कल्पनायाः सा **घटादिकल्पना** घटसङ्कोत्क्षेपणसत्ताघटत्वाद्यध्यारोपात्, तस्याः तत कल्पनायाः **अपोढं प्रत्यक्षं** कल्पनीयम्। स्यादाशङ्का— ४१ १ कल्पनापोढं प्रत्यक्षं विशेषैकान्तवादिन एव मतं नेतरयोः, तयोः कथमलौकिकत्वमिति चेत्, अत्रोच्यते—यत् तावत् विशेषमात्रं स्वलक्षणविषयमनिर्देश्यं प्रत्यक्षं तत् कल्पनापोढत्वादलौकिकं तत् सामान्यानात्मकत्वात् खपुष्पवदसदिति सिद्धम्। तथा विशेषानात्मकत्वात् खपुष्पवत् सामान्यमात्रं सर्वं सर्वात्मकं कल्पनापोढं वस्तु तद्मतं, असत्त्वात् तज्ज्ञानमपि तद्वत्। तथोभयानेकत्वैकान्ते तयोरितरेतरानात्मकत्वात् खपुष्पवदभाव इत्यलौकिकत्वम्। यद्यपि सामान्यविशेषव्यपाश्रयं लक्षणमभिहितम्—**श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्** [षष्टित०], **आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षाद् यद् निष्पद्यते तदन्यत्** [वै० सू० ३।१।१८] इत्यादि, तथापि सामान्यविशेषैकान्तवादिना बलात् तदेव कल्पनापोढमलौकिकं चेत्यापन्नम्, तस्य चोभयात्मकत्वाभ्युपगमे प्रतिज्ञाहानिः। अथवा तेनैव दूषितत्वात् कन्तौ हतौ हनिष्यति? इति तस्यैवोपरि वक्ष्यते परिकर इत्यनेनाभिप्रायेण पूर्वमेव ता[त्त]न्परिकल्पितप्रत्यक्षलक्षणमुपन्यस्य दूषयितुकाम सूरिरित्यलमतिप्रसङ्गेन।

प्रकृतमुच्यते—**अथ का कल्पना** ययापोढं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति? अत्रोच्यते—**नाम-जाति-गुण**

---

१ समधार भा०। सम्प्रचार य०। 'एवं तावत् कल्पितमेव भवत्सिद्धान्ते किं सम्प्रधारण्या अत्र' –इति वक्ष्यते परमतोपन्यासान्तेऽत्रैव नयचक्रवृत्तौ पृ० ६२ पं० २६॥ २ शास्त्रे ज्ञानेपि य०। शास्त्रे। ज्ञानेपि भा०॥ ३ °याच्च। व्यभि° भा०। याच्च व्यभि च॥ ४ साधकयाग्नि प्र०॥ ५ °काय इति पा०। कायति दे लीं। कायेति १ हीं० वि०॥ ६ पदार्थात्यत° प्र०॥ ७ चास्तु प्र०॥ ८ आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् –इति मुद्रिते वैशेषिकसूत्रे पाठः किन्तु अपपाठ एव सः। तुलना– आत्मेन्द्रियमनोर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते। व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते॥ –चरकसं० १।११।२०॥ ९ दूषितत्वात् य०। दूषितत्वात् भा०॥

क्रियाद्रव्यस्वरूपापन्नवस्त्वन्तरनिरूपणानुस्मरणविकल्पना। ततोऽपोढमक्षाधिपत्योत्पन्नमसाधारणार्थविषयमभिधानगोचरातीतं प्रत्यात्मसंवेद्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। चक्षु-

क्रिया-द्रव्यस्वरूपापन्नवस्त्वन्तरनिरूपणानु[1]स्मरणविकल्पना । ततोऽपोढम् अपेतम् । 'नाम संज्ञा शब्दः' इत्यनर्थान्तरम्, तद्वारिका कल्पना । सा द्विविधा समासतः—याद[2]च्छिकी नैमित्तिकी च ।
नामग्रहणाद् यादृच्छिकी जात्यादिग्रहणाच्च नैमित्तिकी गृहीता । निमित्तनिरपेक्षं नाम यादृच्छिकं 'डित्थो
४१-२ डवित्थः' इत्यादि । शब्दद्वा[3]रत्वे सत्यपि जात्यादिनिमित्तापेक्षा भिन्ना । तत्र 'गौः' इति जात्या 'शुक्लः' इति गुणतः
मतुब्लोपादभेदोपचाराद्वा विशेषणस्वरूपापन्नं[4] ततो विशेषणादन्यद् वस्तु तयोर्विशेषणविशेष्ययोरभेदसम्बन्धना-
त्मिक[5]या कल्पनया पूर्वं मनसा निरूप्यते पश्चादनुस्मर्यते । तथा डित्थादिष्वपि 'अस्येदम्, सोऽयम्' इति वा
भिन्नयोरर्थाभिधानयोरभेदसम्बन्धनया निरूपणानुस्मरणे, शब्दार्थयोर्निमित्तनैमित्तिकयोर्भिन्नयोरभेदाध्यारो-
पात् । क्रियाशब्देषु 'पा[6]चकः' इत्यादिषु नाभेदोपचारः अभिन्नरूपत्वात् क्रियाक्रियावतोः, अतो न निरूप[7]णं
किन्तु अनुस्मरणमेव । स[8]र्वत्र च शब्दार्थभेदोपचारान्निरूपणानुस्मरणे स्त एव । तथा द्रव्यशब्देषु संयोग-
समवायनिमित्ताद् 'दण्डी, विषाणी' इत्यादिषु । तस्याः कल्पनाया अपोढम् । **अक्षाधिपत्योत्पन्नमिति,**

रूपालोकमन[9]स्कारचक्षुर्भ्यः सम्प्रवर्तते ।
विज्ञानं मणि-सूर्यांशु-गोशकृद्भ्य इवानलः ॥ [ ]

चक्षुः प्रतीत्य रूपं च आ[10]लोकं च बाह्यं समनन्तरनिरु[11]द्धं मनःसञ्ज्ञितं चित्तं चित्तान्तरावकाशदानात्मकं
प्रतीत्य चक्षुर्विज्ञानमुत्पद्यते, चतुर्भिश्चित्तचै[12]त्ताः [अभि० को० २।६४] इति सिद्धान्तात् । तथापि च
अधिपतिना चक्षुषा व्यपदिश्यते 'चक्षुर्विज्ञानम्' इति, असाधारणकारणत्वात्, यथा यवाङ्कुर इति
[13]वीजर्तुवारिमारुताकाशसंयोगे सत्यपीति । **असाधारणार्थविषयमिति,** चक्षुरादिविज्ञानानां परस्परविविक्त-
४२-१ रूपादिनिर्विक[14]ल्पस्वलक्षणविषयत्वात् । **अभिधानगोचरातीतम्,** मनोनिरूपितार्थविषयत्वादभिधानस्य
तद्गोचरातीतम् । किं कारणम् ? **प्रत्यात्मसंवेद्यत्वात्,** आत्मानमात्मानं प्रति प्रत्यात्म, प्रत्यात्मना सवेद्यते
नान्यस्मै शक्यमाख्यातुं शूलादिवेदनास्वरूपवत् । **ज्ञानमिति** क[15]ल्पनाया अन्यत्रासम्भवात् सम्बन्धः ।
प्रत्यक्षम्, अक्षमक्षं प्रति वृत्तेः पञ्चेन्द्रियजम् ।

---

१ °नुस्मरणं विकल्पना य० । "निरूपणानुस्मरणविकल्पेनाऽविकल्पका ।"—अभि० को० १।३३ ॥ २ भा० विनाऽन्यत्र—यादृत्तिकी पा० । यावृत्तिकी वि० डे० लीं० र० ही० ॥ ३ द्वारत्वे सत्यपि भा० । द्वाराच्च सत्यपि य० ॥ ४ °स्वरूपायत्त ततो प्र० ॥ ५ भा० विनान्यत्र °काया कल्पनया पा० डे० लीं० वि० । °काया कल्पनाया र० ही० ॥ ६ पारकः प्र० ॥ ७ °पणां भा० वि० । °पणा भा० वि० विना ॥ ८ सर्वत्र च शब्दार्थभेदो भा० । सर्वत्र शब्दार्थाभेदो° य० ॥ ९ °नमस्कार° वि० ॥ १० आलोकं बाह्यं य० ॥ ११ °रुद्धमनः° य० ॥ १२ °त्तवेत्ता प्र० ॥ १३ वीजर्तुवारि° भा० । वीजंतुवारि° य० । "यच्चासाधारण तद्व्यपदेशभाग् भवति, तद्यथा—ऋत्वादिकारणात् प्रादुर्भवन्नङ्कुरो न ऋत्वादिभिर्व्यपदिश्यते, अपि त्वसाधारणेन बीजेन व्यपदिश्यते 'यवाङ्कुर' इति । तथेहापीत्यदोष. ।"—न्या० वा० १।१।४, पृ० ९९ । "जलकर्षणबीजर्तुसयोगात् सस्यसम्भव ।"—चरकसं० १।११।२३ ॥ १४ °कल्पस्य लक्षण० य० ॥ १५ कल्पनायाऽन्यत्र भा० । कल्पनमन्यत्र य० । "स्वरूपविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थमाह—प्रत्यक्षमित्यादि । अक्ष प्रतिगत प्रत्यक्षम् । इद लक्ष्यम् । कल्पनापोढमिति लक्षणम् । कल्पनापोढनिर्देशाच्च तज्ज्ञानात्मकमिति प्रतीयते । यस्माज्ज्ञाने एव कल्पनाससर्गोऽस्ति तस्मात् तत्प्रतिषेधेन तदेव प्रतीयते । यथा 'अवत्सा धेनुरानीयताम्' इति वत्सप्रतिषेधेन गोधेनुरेव प्रतीयते, नान्या ।"—प्र० समु० टीका १।३ । "कल्पनाप्रतिषेधाच्च ज्ञानस्य सामर्थ्यलब्धत्वात्, अवत्सा धेनुरानीयतामिति यथा वत्सप्रतिषेधेन गोधेनो "—तत्त्वसं० पं० पृ० ३६७ ॥

विज्ञानसमङ्गी नील विजानाति नो तु 'नीलम्' इति अभिधर्मागमोऽपि। प्रकरणपादेऽप्युक्तम्–

नील स नाम नील न नीलार्थाऽनक्षर स च।
नीलमिति भाषमाणो नीलस्यार्थं न पश्यति ॥

एतस्यैवार्थस्य भावना तु–अर्थेऽर्थसंज्ञी, न त्वर्थे धर्मसंज्ञी [अभि० पि०]। अर्थे रूपादिके

"**चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी नील विजानाति नो तु 'नीलम्' इति**" अभिधर्मागमोऽपीति [1]विश्वस्तमेव लौकिकप्रत्यक्षविलक्षण [2]कल्प्यमानमचीक्लृप, तदागमोऽप्येनमेवेति दर्शयति। **चक्षुर्विज्ञान समङ्गी** चक्षुर्विज्ञानसमन्वयी सन्तान, [3]अगि रगि लगि गत्यर्था [पा० धा०], चक्षुर्विज्ञान समङ्गितु [4]शीलमस्येति चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी, एव श्रोत्रादिविज्ञानसमङ्गिन। **नील विजानाति**, रसादिविविक्त रूप स्वलक्षण विजानाति। **नो तु 'नीलम्' इति** विजानाति, इतिशब्दस्य शब्दपर्यायत्वात् 'इद तद् नीलम्' इति शब्दनिर्देश्य न [5]विजानाति, अपटुत्वादिन्द्रियविज्ञानस्य कुत शक्तिरेव कल्पयितुम्।

प्रकरणपादेऽप्युक्तमिति [6][7]भवत्समतागमव्याख्यानग्रन्था [8]न्तरेऽप्येतदर्थानुवादिन्यभिहितमिति दर्शयति। **नील स नाम नील [ने]ति** श्लोक[9]। यदेतन्नीलमेतदिति नाम्ना [10]निर्देशो नीलमस्य नाम एतन्निरूपणविकल्पकृतम्। **न नीलार्थ** नीलस्य रूपस्य [11]वस्तुनश्चक्षुरिन्द्रियविषयस्य परमार्थ स्वरूपतोऽनक्षर अक्षरैर्व्यञ्जन-पद नामकायैरनभिलपनीय। **स च** पुरुषो निरूपण[12]काले स्वय निश्चिन्वन्ननुस्मरणकाले वानुस्मरन् पर [13]प्रतिपिपादयिषन् वा **नीलमिति** वाच **भाषमाणो नीलस्यार्थ**मनभिलाप्यस्वरूप स्वज्ञाना[14]र्थ-[15]दविकल्प **न पश्यति**, तदा तत्स्वरूपविषयस्याविकल्पस्य नीलार्थविज्ञानस्य च निरुद्धत्वात् तदा यस्य ४२ नीलशब्दाभि[16]लाप्यस्याध्यारोपितस्य सामान्यस्य इन्द्रियगोचरानागते।

एतस्यैवार्थस्य भा[17]**वना तु**। तुशब्दो विशेष[18]णार्थ, एनमेवार्थं [19]भावनयाऽनया विशेषयति। भवति [20]एषोऽर्थ, त भवन्त 'भव भव' इति बुद्धौ भावयति यया व्याख्यया सा भावना। का पुन सा? **अर्थेऽर्थसंज्ञी, न त्वर्थे धर्मसंज्ञीति**। एतस्य भावनावाक्यस्य पुनर्व्याख्या–**अर्थे रूपादिके** प्रत्यक्षविज्ञानविषये

---

१ विश्वस्तमेत लोकिक° भा। विधेस्तमेत लौकिक य०। अत्र निश्वस्तमेतल्लोकिक° इत्यपि पाठ सम्भवेत्॥ २ कल्प्यामानचीक्लृप भा०। कल्प्यमानचीक्लृप पा। कल्प्यमानचीक्लृप भा० पा विना॥ ३ '१२८ उख १२९ उखि १३० वख १३१ वखि १३२ मख १३३ मखि १३४ णख १३५ णखि १३६ रख १३७ रखि १३८ लख १३९ लिखि १४० इख १४१ इखि १४२ ईखि १४३ वल्ग १४४ रगि १४५ लगि १४६ अगि १४७ वगि १४८ मगि १४९ तगि १५० त्वगि १५१ श्रगि १५२ श्लगि १५३ इगि १५४ रिगि १५५ लिगि गत्यर्था'–इति पाणिनीयधातुपाठे॥ ४ समगिल निल प्र०॥ ५ विजानात्पटुत्वा प्र॥ ६ पदे य। "यच्च शास्त्रमिति अभिधर्मशास्त्रमभिप्रेतम्। तत्तु सानुचरम् । अन्ये तु व्याचक्षते शास्त्रमिति ज्ञानप्रस्थानम्। तस्य शरीरभूतस्य षट् पादा–प्रकरणपादो विज्ञानकायो धर्मकाय प्रज्ञप्तिशास्त्र धातुकाय सगीतिपर्याय इति। अतस्तदपि शास्त्र सानुचरमेव।'–अभि० को० स्फु० व्याख्या ११२॥ ७ भवत्समतागम° प्र०॥ ८ °न्तरेष्वतदर्थानुवादि यभि° भा०। °न्तरेण तदर्थानुवादिनाभि°॥ ९ स नाम नील लि स्लोक पदेतद्भी य। स नाम नील लि स्लोक पदेतद्भी भा॥ १० अत्र 'निर्देशो इत्यपि पाठ सम्भवेत्॥ ११ वस्तुन चक्षु प्र॥ १२ कागे य०॥ १३ प्रतिपिपादयिषित्वा नील° य। प्रतिपादयिषत्वा नील भा०॥ १४ वाचयद्° भा०॥ १५ °कल्प नीलार्थ° भा०॥ १६ लाप्यसाध्यारोपि प्र॥ १७ डे० ली विनान्यत्र–भावनात् तुशब्दो भा पा० त्रि १ ही०। भवेत् तुशब्दो डे० ली०॥ १८ °णार्थं भाव भा॥ १९ भावनयातया प्र०॥ २० पयोथ य०॥

स्वरूपसंज्ञी, अर्थस्वरूपविशेषमात्रालम्बनया संज्ञया निर्विकल्पया सम्प्रयुक्तं स्वलक्षणविषयमस्य सन्तानस्येति। न त्वर्थे रूपादिके यदृच्छादिनामसंज्ञी। एवमभिधर्मे उक्तम्—धर्मो नामोच्यते नामकायः पदकायो व्यञ्जनकायः।

कल्पितमपि त्विदमफलमलौकिकत्वात्। स्ववचनव्यपेक्षाक्षेपदुस्तरविरोधपरि-

रूपरसगन्धशब्दस्प्रष्टव्यलक्षणे **स्वरूपसंज्ञी** रूपादिमात्रसंज्ञी, संजानातीति संज्ञी, स्वरूपसंज्ञा अस्यास्तीति वा स्वरूपसंज्ञी। किमालम्बना सा संज्ञा किंस्वरूपा वा यया सम्प्रयुक्तं तत् प्रत्यक्षं रूपादिचित्तं निर्विकल्पं चैतसिक्या सम्प्रयुक्तकधर्माख्यया योगात् [3]संज्ञया संज्ञीत्युच्यते तत्सन्तानः? इत्यत आह—**अर्थस्वरूपविशेषमात्रालम्बनया निर्विकल्पया [3]संज्ञया [4]सम्प्रयुक्तमिति** गतार्थं व्याख्यातत्वाद् **भाष्येण**। तदेव **स्वलक्षणविषयम्**, स्वमेव विशेष एव लक्षणम्, लक्ष्यत इति लक्षणम्, कृत्यल्युटो बहुलम् [पा० ३।३।११३] इति कर्मणि ल्युट्प्रत्ययः, स्वलक्षण[विषय]मनन्यविषयमित्यर्थः। **अस्य सन्तानस्येति** चक्षुर्विज्ञानसमङ्गिनः, चक्षुर्विज्ञानवत् चक्षुरादिपञ्चविज्ञानकाया व्याख्याता इत्थं कल्पनापोढा [5]इति प्रदर्श्यन्ते। '[6]यत् पुनरुक्तं कल्पनात्मकं ज्ञानं न तत् प्रत्यक्षम्, अर्थस्वलक्षणाविषयत्वात्, गवि अश्वज्ञानवत्' इति साधनम्। इतश्च सविकल्पकं 'नीलमिदम्' इत्यादिज्ञानं न प्रत्यक्षम्, विशेषणाध्यारोपात्, उत्पलाधार-
४३-१ सुरभ्यादिज्ञानवदिति। **इति** परिसमाप्त्यर्थः, '[7]अर्थेऽर्थसंज्ञी' इत्येतस्य व्याख्यानमिति परिसमाप्तम्।

'न त्वर्थे धर्मसंज्ञी' इत्यस्य व्याख्या—**न त्वर्थे**। **न**इति प्रतिषेधे, **तु** विशेषणे, तमर्थमध्यारोपविशिष्टं प्रतिषेधति। तस्मिन्नेव **रूपादिकेऽर्थे** [8]न तु **यदृच्छादिनामसंज्ञी** यदृच्छा-जाति-गुण-क्रिया-द्रव्य-शब्दसंज्ञी, 'धर्म'शब्दस्य 'शब्द'शब्दार्थपर्यायत्वात् धर्मसंज्ञी न भवति शब्दसंज्ञी न भवतीत्यर्थः। नैषा स्वमनीषिकोच्यते, किं तर्हि? **एवम[9]भिधर्म उक्तम्** अभिधर्मपिटकेऽभिहितम्। किमुक्तम्? **[10]धर्मो नाम उच्यते नामकाय** इत्यादि। [11]नामैव नामकायः, कायवत् प्रतिक्षणं शरारुत्वा[12]च्चतुर्भूतसङ्घातत्वाच्च नाम्नां वा विज्ञानादीना सङ्घातत्वात्, संज्ञाशब्दानां क्षणिकानामपि सहतानामेव उत्पत्तिविनाशाभ्युपगमात्। यथोक्तम्—

> वर्णो गन्धो रसः स्पर्शश्चत्वारोऽपि च धातवः।
> [13]अष्टावेतेऽविनिर्भागाः सहोत्पादाः सहक्षयाः॥ [ ]

इति सिद्धान्तात्। पदानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताः, तत्कायः **पदकायः**। व्यञ्जनानि अक्षराणि, अर्थस्य व्यञ्जकत्वात्। तत्कायो **व्यञ्जनकाय** इति।

एवं तावत् कल्पितमेव भवत्सिद्धान्ते, किं सम्प्रधारणया अत्र? इदानीं परमार्थो विचार्यते—**कल्पितमपि तु इदमफलमित्यादि**। नास्य फलमिति अफलम्। किं कारणम्? **अलौकिकत्वात्**, खरविषाणकुण्ठतीक्ष्णादिकल्पनवत्। कस्मादलौकिकत्वमिति चेत्, **स्ववचनव्यपेक्षाक्षेपदुस्तरविरोधपरि-**

---

१ यथा सम्प्र° य०॥ २ °युक्तधर्मा° य० ॥ ३ संज्ञाया भा० ॥ ४ संयुक्त° वि० विना ॥ ५ भा० विनान्यत्र—इति प्रदर्शने वि०। इतिः प्रदर्शने पा० डे० लीं० रं० ही० ॥ ६ अत्र 'यत् पुनरुक्तकल्पनात्मकं' इत्यपि पाठः सम्भवेत् ॥ ७ अर्थेऽर्थःसंज्ञी प्र० ॥ ८ मतु यदृच्छा° भा०। मनु यदृच्छा° य० ॥ ९ °मभिधर्मस्य उक्तम् वि०। °मभिधर्मपउक्तम् पा० ॥ १० धर्म्यो प्र० ॥ ११ अत्र 'नामैव कायो नामकाय' इत्यपि पाठ स्यात् ॥ १२ °च्चतुर्भूतीसङ्घातत्वाच्च प्र० ॥ १३ अष्टावेते विनि° य० ॥

हारं त्वदुक्तिवदेवेदमप्रत्यक्षम्, कल्पनात्मकत्वान्निरूपणविकल्पात्मकत्वादालम्बन विपरीतप्रतिपत्त्यात्मकत्वादध्यारोपात्मकत्वात् सामान्यरूपविषयत्वात् तदतद्विषयवृत्तित्वात् सदसदभेदपरिग्रहात्मकत्वात् सर्वथा साधारणार्थत्वादे', अनुमानादिज्ञानवत् ।

हारम् । यस्मात् स्व वचन स्ववचन प्रत्यक्षलक्षणवादिनो दिङ्नमिश्रो, स्ववचनस्य स्ववचने या व्यपेक्षा
प्रत्यवमर्शे स्ववचनव्यपेक्षा, सैव आक्षेप, तेन आक्षेपेण दुस्तरो विरोधस्य परिहारोऽस्येति स्ववचन- ४३२
व्यपेक्षाक्षेपदुस्तरविरोधपरिहारम्, स्वेनैनैतद्वचनेन पौर्वापर्येण प्रत्यवमृश्यमानेन विरुध्यते 'सदाह मौन-
व्रतिकोऽस्मि, पिता मे कुमारब्रह्मचारी' इत्यादिवचनवत्, न तु असदुपपत्तिवद् दूष्यमिदम्, तदर्थे
दृष्टान्तमाह—त्वदुक्तिवदेवेदम्, यथेय त्वदुक्ति कल्पनात्मिका सती न प्रत्यक्ष तथैवेदमप्रत्यक्षमिति
प्रतिज्ञा । कल्पनापोढलक्षणलक्षित ज्ञानमत्र धर्मि, तत्प्रत्यक्षत्वैधर्मविशिष्ट साध्यते । को हेतु ? कल्पना-
त्मकत्वात् । नन्विदमसिद्ध कल्पनात्मकत्व तस्य ज्ञानस्य कल्पनापोढत्वात् । अत्रेद तत्साधनार्थम-
भिधीयते धर्मान्तरम्—तत् कल्पनात्मक निरूपणविकल्पात्मकत्वात्, 'इदम् इत्थम्' इति ज्ञान निरूप-
णम्, स एव विकल्प, तदात्मक तत् प्रत्यक्ष घटत्वादिज्ञानवदिति । आह—निरूपणविकल्पात्मकत्वम-
प्यसिद्धमिन्द्रियज्ञानस्येति, आचार्योऽत्र तत्साधनार्थमाह—**आलम्बनविपरीतप्रतिपत्त्यात्मकत्वात्** ।
तन्नालम्बन द्रव्यसन्तो नीलादिपरमाणवो न तत्समूहो नीलपीताद्याकारवान्, संवृतिसत्त्वात् । तस्यापि
नीलपीताद्याकारस्य प्रत्येक तारतम्यवत्त्वात् यथा प्रतिपत्तिर्न तथालम्बनमित्यालम्बनविपरीतप्रतिपत्त्यात्मक
तत् । यदालम्बनविपरीतप्रतिपत्त्यात्मक न तत् प्रत्यक्षम्, यथा स्थाणौ पुरुषप्रतिपत्तिरिति । स्यान्मतम्—
द्रव्यसतामेवाणूना नीलपीताद्याकारत्वान्न विपरीता प्रतिपत्तिरिति, एतच्चायुक्तम्, आकारस्य **अध्यारोपा-** ४४१
त्मकत्वात्, माणवके सिंहत्वाध्यारोपवत् । स चाध्यारोपित इति कुतो गम्यते ? **सामान्यरूपविषय-
त्वात्** । तत्सामान्य च कारीष-तौष-तार्ण-पार्णादिविशेषानाश्रिताग्नित्ववत् । तदपि असिद्धमिति चेत्,
सिद्धमेव, **तदतद्विषयवृत्तित्वात्** । स च असश्च विषयस्तदतद्विषयौ, तत्र वृत्तिरस्येति तदतद्विषयवृत्ति तद्
ज्ञानम्, अनेकपरमाणुसमूहजत्वात् तस्य समूहे तेषु च वृत्तत्वात्, समूहस्य असत्त्वात् समूहिनामेव
द्रव्यसतामणूना सत्त्वात् तयोश्च अभेदेन नीलाद्याकारपरिग्रहेण ज्ञानोत्पत्ते । समूहासत्त्व च तद्ग्रहे
बहुद्रव्यभावात्, पलालपङ्क्ति-मुष्टि ग्रन्थ्यादिवत् । उक्त च—

> गुणाना परम रूप न दृष्टिपथमृच्छति ।
> यत् तु दृष्टिपथप्राप्त तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥ [षष्टित०] इति ।

---

१ स्वेनैवैतद्वच य० ॥ २ यौनप्रतिकोऽसि प्र ॥ ३ °त्वविशिष्ट य ॥ ४ साधते प्र० ॥ ५ °त्मक तस्य य० ॥ ६ आचार्योतु तत्साध° प्र० ॥ ७ अत्र ❋ ❋ एतादृशचिह्नान्तर्गतो य तत्रालम्बन इत्यत आरभ्य नीलपीताद्याकारत्वान्न इत्यन्त पाठस्तस्थाने सर्वास्वपि य० प्रतिषु एवंविध पाठ उपलभ्यते—यथाप्रतिपत्तिरिति स्यान्मत द्रव्यसतामेवाणूना नीलपीताद्याकारवान् संवृतिसत्त्वात् तस्यापि नीलपीताद्याकारस्य प्रत्येक तारतम्यवत्त्वात् यथाप्रतिपत्तिरिति स्यान्मत द्रव्यसतामेवाणूना नीलपीताद्याकारत्वान्न । अयं य० प्रतिस्थ पाठ खण्डितत्वात् परिभ्रष्टत्वात् अविचित्रभूतत्वाच्चाशुद्ध इति परित्याज्य एव ॥ ८ सदाध्यारोपित प्र० ॥ ९ स च सश्च भा० । स चासश्च य० ॥ १० समूहस्यासत्त्वात् प्र० ॥ ११ सतुच्छक वि० । समुत्यक पा० ॥

उक्तं वोऽभिधर्मे एव – सञ्चितालम्बनाः पञ्च विज्ञानकायाः, रूपादिपरमाणोरेकस्यासञ्चितस्यालम्बनस्य घटनीलादिष्वभावात्। तथा सम्भावनेऽपि तेषामतीन्द्रियत्वादालम्बनत्वानुपपत्तेश्चक्षुरादिविज्ञानानां रूपादिपरमाणुसङ्घात एवालम्बनम्। ततः प्रत्येकमालम्बनपरमाणूनां परमार्थसतामेषामविषयता।

अतः सदसद्भेदपरिग्रहात्मकत्वात् तैमिरिककेशोण्डुका[1]दिज्ञानवत् तदतद्विषयत्वमस्य। किञ्चान्यत् – सर्वथा साधारणार्थत्वात्। साधारणोऽर्थोऽस्य ज्ञानस्येति साधारणार्थम्। तत्साधारणार्थत्वमभेदपरिग्रहात्मकत्वात्। आदि[2]ग्रहणात् 'अन्वयव्यतिरेकार्थविषयत्वात् सामान्यविशेषात्मकार्थविषयत्वात्' इत्यादिभ्यो हेतुभ्यः। दृष्टान्तोऽनुमानादिज्ञा[3]नानि त्वयैवोदाहृतानि –

भ्रान्तिसंवृतिसज्ज्ञान[4]मनुमानानुमानिकम्।
स्मार्ता[5]भिलापिकं चेति तदा[6]भासं सतैमिरम्॥ [प्र० समु० १।८] इति।

तस्माद्धेतुपारम्पर्येण कल्पनात्मकत्वसिद्धेरेकैकस्माद्वोक्तहेतोरप्रत्यक्षमिदं कल्पनापोढलक्षणलक्षितं ज्ञानम्, अनुमानादिज्ञानवदिति, यथा अनुमानादिज्ञानं कल्पनात्मकत्वादप्रत्यक्षं तथा भवते[7]ष्टमिन्द्रियज्ञानम्।

४४-२ मा मंस्थाः 'प्रोक्तकल्पनात्मकत्वादिहे[8]त्वसिद्धिः' इति। यस्मादुक्तं **वोऽभिधर्म एव** अभिधर्मपिटक एव बुद्धवचनेऽभिहितम् – **सञ्चितालम्बनाः पञ्च विज्ञानकाया** इति। 'नित्यं[9] सम्प्रयुक्तकधर्मैर्युक्तत्वाद् रागादिभिः काया इत्युच्यन्ते पञ्च चक्षुरादिविज्ञा[10]नानि। **रूपादिपरमाणोरेकस्य असञ्चितस्य**[11] अन्यैः समानजातीयैरसङ्गतस्य **आलम्बनस्य**[12] विषयस्ये[13]न्द्रियबुद्धिग्राह्य[14]त्वस्य **घटादिषु** घटपटरथादिषु **नीलादिषु** रूपरसगन्धस्पर्शशब्देषु तद्गुणेषु प्रत्यक्षाभिमतेषु संवृतिसत्सु **अभावात्** सञ्चिताणुघटनीलाद्याकार एव गृह्यते चक्षुरादिभिः। तस्यां चावस्थायां परमाणुत्वेन अवस्थानम् आर्हतान् प्रत्यसिद्धम्, परिणामान्तरा[15]पत्त्यभ्युपगमात्। वैशेषिकाणां परमाण्वारब्धावयविद्रव्यम्। साङ्ख्यानां समवस्थानविशेषापन्नाः सत्त्वादयो गुणाः। लौकिकानां तु स्थूलकार्यानुमिततज्जातीयसूक्ष्मकारणमात्रसम्भावनम् – सन्ति केचित् सूक्ष्मा बहवः स्थूलस्य कारणभूताः पटस्येव तन्तव इति। सम्भावितानां **तथासम्भावनेऽपि तेषां** सङ्घात-परिणामाभ्यामृते चाक्षुषत्वाद्यभावो लोकव्याप्त्याणु[16]वत्, अतो**ऽतीन्द्रियत्वा**[17]दालम्बनत्वानुपपत्तिः। अतश्चालम्बनत्वानुपपत्तेर्द्रव्यसतां परमाणूनामेतत् प्रतिपत्तव्यम् – **चक्षुरादिविज्ञानानां रूपादिपरमाणुसङ्घा**[18]**त एव आलम्बन**मिति। आदिग्रहणाद् रसादिपरिमण्डलादिपरमाणुसङ्घात एव आलम्बनम्। ततः किमिति चेत्, **ततः प्रत्येकमालम्बनपरमाणूनाम्**, आलम्बनार्थाः परमाणव आलम्बनपरमाणवः, तेषां **परमार्थसतामेषाम्**, त एव हि परमार्थसन्तो न समूहो नीलादिर्घटादिश्च संवृतिसत्त्वात्, भवत्सिद्धान्तेनैव **अविषयता** परमाणूनाम्।
४५-१

१ °केशोंडुका° य०। °केशोंदुका° भा० ॥ २ आदिग्र° भा० वि० विना ॥ ३ °ज्ञानानि तथैवोदाहृतानि प्र० ॥ ४ °संज्ञान° प्र० ॥ ५ स्माभिलापिकं य० ॥ ६ "प्रत्यक्षाभं सतैमिरम्" – प्र० समु० ॥ ७ भवतीष्ट° प्र० ॥ ८ °त्वादिहेत्त्वसिद्धि° भा०। °त्वादिहेतुसिद्धि° य० ॥ ९ नित्यसंप्र° य० ॥ १० °नानि तानि हि रूपादिपरमाणो° य० ॥ ११ असंचितस्यान्यैः समान° भा०। असंचितस्यत्मैः समान° य० ॥ १२ °नस्याविषय° य० ॥ १३ °यसेंद्रिय° प्र० ॥ १४ अत्र '°ग्राह्यस्य' इति पाठः सम्भाव्यते ॥ १५ परिमाणांतरा° य० ॥ १६ °व्यास्याणु° य० ॥ १७ °त्वाद्यलंबन° भा०। °त्वाद्यालंबन° य० ॥ १८ °संबोधत प्र० ॥

तत्र प्रतिविविक्तरूपान्तराविविक्तस्वतत्त्वे रूपसङ्घाते इन्द्रियसन्निकृष्टे आलम्बनविपरीता येयं प्रतिपत्तिरव्यपदेश्यैकात्मकनीलरूपविषया ननु हेत्वपदेशाव्यपदेश्यैव सा । यतः सञ्चयग्रहणापदेशेन व्यपदेश्यं धूमेनेवाग्निरिव गृह्यते ततोऽन्यत् कल्पितमेकं सामान्यं नीलरूपं तद्द्वारेण ।

तत्र[1] प्रतिविविक्तरूपान्तराविविक्तस्वतत्त्वे[2], प्रत्येकं विविक्तानि रूपान्तराणि प्रतिपरमाणु वा रसादिभेदेन वा, तेषामेव रूपान्तराणामविविक्तं स्वतत्त्वं[3] यस्य सोऽयमविविक्तस्वतत्त्वः[4] । कोऽसौ ? रूपसङ्घातः, रूपधातुभेदपरमाणुसङ्घातः अधिकृतचक्षुर्विषयाभिमतरूपसङ्घातो वा । तस्मिन् **रूपसङ्घाते इन्द्रियसन्निकृष्टे** स्वविषय[5]याभिमुख्येन उपस्थिते **आलम्बनविपरीता** परमार्थत आलम्बनभूतेभ्यः परमाणुभ्यः 'नीलम्' इति वा 'घटः' इति वा **येयं प्रतिपत्तिः** सा विपरीता, तदग्रहे तद्बुद्ध्यभावात्, बलाकासु पङ्क्तिज्ञानवत्, **अ[6]व्यपदेश्यैकात्मकनीलरूपविषया,** व्यपदेश्यानेकपरमाण्वालम्बनेभ्योऽन्यो[7]ऽव्यपदेश्य एक आत्मा अस्येति अव्यपदेश्यैकात्मकम्, किं तत् ? नीलरूपम्, तद् विषयोऽस्या इति **अव्यपदेश्यैकात्मकनीलरूपविषया** अभिमता 'प्रतिपत्तिः' इति वर्तते । सैव वा प्रतिपत्तिरव्यपदेश्या एकात्मकानेक[8]परमाणुनील[9]रूपविपरीतैकनीलरूपविषया, तद्व्याख्यानार्थम**भिधर्मपिटके** भगवता यथोच्यते – नीलं विजानाति, नो तु 'नीलम्' इति । नाव्यपदेश्या सा प्रतिपत्तिरित्यभिप्रायः, तं प्रदर्शयति – **ननु हेत्वपदेशाव्यपदेश्यैव सा ।** यस्मादुक्तम् – हेतुरपदेशो निमित्तं लिङ्गं प्रमाणं कारणमित्यनर्थान्तरम्[10] [वै० सू० ९।२।४] इति । न चावश्यं शब्दाभिधेयमेव व्यपदेश्यम्, किं तर्हि ? य[11]द्यदर्थान्तरेणाधिगम्यते तत्तद्व्यपदेश्यम्, अर्थान्तरस्य हेत्वपदेशनिमित्तादिपर्यायत्वात् । ते[12]नापि च **यतः सञ्चयग्रहणापदेशेन** निमित्तान्तरैर्ज[13]न्यमि- ४५ २ न्द्रियज्ञानमिष्टं तस्माद् **व्यपदेश्यं** तत् । तथा चोक्तम् – सञ्चितालम्बनाः पञ्च विज्ञानकायाः [अभि० पि०] इति, न सञ्चयालम्बना इति । एतस्यार्थनिदर्शनार्थमुदाहरणमाह – **धूमेनेव अग्निरिव गृह्यते,** यथा धूमेन अर्थान्तरभूतेन 'अग्निरत्र' इति ज्ञानमुत्पद्यमानं व्यपदेश्यं दृष्टं तथैतदपि नीलरूपादिविषयं चक्षुरादिविज्ञानं परमाणुभिरर्थान्तरैर्जनितत्वाद् व्यपदेश्यम् । **ततोऽन्यदित्यादि** । तत एव यथा व्यपदेश्यं तथा धूमादग्निरिव तद् **नीलरूपं ततः** परमाणुभ्यः परमार्थसद्भ्यः **अ[14]न्यत् कल्पितम**कल्पितेभ्यः **एकं** बहुभ्यः **सामान्यं** विशेषेभ्यः, न साक्षादिन्द्रियैरव्यवहितं गृह्यते, किं तर्हि ? व्यवहितमेवार्थान्तरैः परमाणुभिः **तद्द्वारेण** परमाणुद्वारेण गृह्यते, न स्वत एवेति ।

---

१ तच प्रति° भा० ॥ २ °क्तस्य तत्त्वे य० ॥ ३ स्व तत्व भा० । स्वतत्त्व वि० ॥ ४ °क्तस्व° य० ॥ ५ स्वविषयाभि° य० ॥ ६ अव्यपदे° प्र ॥ ७ °म्बनेभ्यो ये°यपदेश्य प्र ॥ ८ एकात्मिकानेक° य० । एकाऽनेक° भा० । अत्र यद्यपि य प्रतिषु एकात्मिका° इति पाठ उपलभ्यते तथापि प्रतिपत्तेरेकात्मकत्वस्य आलम्बनविपरीतप्रतिपत्तित्वासाधकत्वात् एकात्मकनीलरूपविषयत्वस्यैव तत्साधकत्वाच्च एकात्मकानेक° इत्येव पाठोऽत्र समीचीन इति भाति ॥ ९ नीलविपरीत भा० ॥ १० हेतुरपदेशो लिङ्गं प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम्'–वै० सू० ॥ ११ यद्यर्था° लीं० वि० । मद्यर्था° १० ही० ॥ १२ तथापि च प्र० ॥ १३ °जनामि प्र० ॥ १४ अन्यकल्पित प्र ॥

ननु च सञ्चयस्य कारकहेतुत्वेनापदेशः प्रत्यक्षप्रतिपत्तेर्न धूमवज्ज्ञापकहेत्वपदेशतया अग्नेरिवार्थान्तरस्यैकरूपत्वस्य। नन्विदमस्यैवार्थस्य प्रदर्शनार्थं प्रस्तुतमस्माभिः, यदीदं प्रत्यक्षं स्यात् कारकादेव स्वार्थादालम्बनाद्धेतोर्जायेत दाहानुभवनवत् प्रत्यक्षत्वादव्यवहितप्रतिपत्त्यात्मकत्वात् प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणविषयत्वादनध्यारोपात्मकत्वादिति यावत् ।

अत्राह – **ननु च सञ्चयस्ये**त्यादि याव**दर्[1]थान्तरस्यैकरूपत्वस्ये**ति । **नन्वि**त्यनुज्ञापने, **च**शब्दः प्रसिद्धभेदसमुच्चये, नन्विदं प्रसिद्धम् – अन्यः कारको हेतुरन्यो ज्ञापक इति । तस्मादणूनां तत्सञ्चयस्य नीलस्य च कारकस[2]म्बन्धाद् धूमस्याग्नेश्च ज्ञापकसम्बन्धात् प्रत्यक्षानुमानप्र[3]तिपत्त्योर्वैधर्म्यमतः साध्यध[4]र्मवैकल्यं दृष्टा[5]न्तस्य इष्टविघाताद् विरुद्धता हेतोरिति वाक्यार्थः । अक्षराण्युत्तानार्थान्येवेति न विवृण्महे ।

अत्राचार्यो दोषद्वयं परिहरन्नाह – **नन्विदमस्यैवार्थस्य प्रदर्शनार्थं प्रस्तुतमस्माभिः** । नैतदनिष्टमस्माकं न वा साध्यधर्मवैकल्यं यत् सञ्चयस्य ज्ञापकत्वप्रसङ्गात् प्रत्यक्षप्रतिपत्तेस्तद्दोषद्वयमस्मान् प्र[6]त्यापाद्येत । न पुनरे[7]वमेतत्, अस्यैव प्रतिपिपादयिषितत्वात् । तदुच्यते – **यदि** भवन्मत**मिदं प्रत्यक्षं स्[8]यात्, कारकादेव** निष्पादकादेव चक्षुरादिविज्ञानस्य नीलपीतादेः **स्वार्था**भिमता**दालम्बन**भूता**द्धेतोर्जायेत**

४९-१ सञ्चयाख्यात् संवृतिसतः, न परमार्थसतोऽण्वादेरपि स्यात्, भवति तु । तस्मान्न प्रत्यक्षम्, ज्ञापकधूमाद्यपेक्षाग्नि[9]ज्ञानवत्, वैधर्म्येण **दाहानुभवनवत्** । स्वार्थमात्रालम्बनं वा स्यात् **प्रत्यक्षत्वाद् दाहानुभवनवत्** । यथोक्तम् –

[10]अन्यथा दाहसम्बन्धाद्दाहं दग्धोऽभिमन्यते ।
अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः सम्प्रतीयते ॥ [वाक्यप० २।४२१]

अव्यवहितप्रतिपत्त्यात्मकत्वात् प्रत्यक्षस्येति तस्यैवोपचयहेतुः, अर्थान्तरेणाव्यपेतस्यार्थस्य ग्राहकं प्रत्यक्षं दृष्टम्, यथा दाहानुभवः, तथा तस्य स्वलक्षणविषयत्वात् प्रत्यक्षस्यार्थान्तरनिरपेक्षता स्यात्, न पुनरस्तीति **स्वलक्षणविषयत्वादन[11]ध्यारोपात्मकत्वादिति यावत्**, सर्वत्रार्थान्तराध्यारोपवृत्त्यर्थान्त[12]रहेयतयोत्पन्नं न ज्ञानमिति यावदुक्तं भवति तावदुक्तं भवति **स्वलक्षणविषयत्वा[13]दव्यवहितप्रतिपत्त्यात्मकत्वात् प्रत्यक्षत्वादि**त्यादि । अर्थान्तरनिमित्तग्राह्यं [14]चाप्रत्यक्षं दृष्टम्, यथा दाहशब्दजनितज्ञानमिति । एवं तावत् कारकतां सञ्चयस्याभ्युपगम्य दोष आपादितः ।

---

१ °र्थान्तरस्यैक° भा० वि० विना । दृश्यतां पृ० ७७–२ ॥ २ °संबद्धाधूमस्य प्र० ॥ ३ °प्रतिपत्त्योर्थैपगम्यतः साध्य° य० ॥ ४ °धर्मविकल्पं प्र० ॥ ५ °न्तस्यैष्ट° वि० विना ॥ ६ प्रत्यापाद्येव भा० । प्रत्यपाद्येव य० ॥ ७ भा० विनान्यत्र – °वमेवदस्यैव पा० वि० । °वमेवचस्यैव डे० लीं० । °वमेववस्यैव र० ही० ॥ ८ भा० विनान्यत्र – स्यादकारका° वि० डे० लीं० । स्यावकारका° र० ही० । स्यावकारका° पा० ॥ ९ °ज्ञावत् भा० विना ॥ १० "अन्यथैवाग्निसम्बन्धाद्दाहं दग्धोऽभिमन्यते । अन्यथा दाहशब्देन दाहाद्यर्थः प्रतीयते ॥" – वाक्यप० ॥ ११ °ध्यारोपत्वादिति य० ॥ १२ °न्तराहपतयोत्पन्नं तज्ज्ञानामिति य० । °न्तराह ॥ पतयोसन्नं तज्ज्ञानमिति भा० ॥ अत्र 'अर्थान्तराध्यारोपवृत्ति अर्थान्तरहेयतयोत्पन्नं न ज्ञानम्' इत्यर्थं प्रतिभाति । अर्थान्तरहेयतया अर्थान्तरगम्यतयेत्यर्थः, 'हि गतौ' [पा० धा० १२५८] इति 'हि'धातोर्गत्यर्थत्वात् सर्वेषां गत्यर्थानां च ज्ञानार्थत्वात् । तुलना— "अतस्तदर्थत्रयमुपसंहृत्य हेतुहेयनिगमनार्थमाह" – नयचक्रवृ० पृ० ९७–२ । "अर्थान्तरनिमित्तग्राह्यं चाप्रत्यक्षं दृष्टम्" [पं० २३] इति च वक्ष्यते ॥ १३ °त्वादेर्व्यव° भा० ॥ १४ वा[ऽ]प्रत्यक्ष प्र० ॥

कारकतापि च सञ्चयस्य नैव तस्य, परमार्थतोऽसत्त्वादलातचक्रवत् प्रत्यवयवव्यवस्थानमात्रत्वात्। लोकवत्तु सञ्चयसत्त्वे विशिष्टोऽपदेशो व्यपदेशो ग्राह्यादन्य, तेन व्यपदेशेन व्यपदेश्य प्रमेयमनुमेय न प्रत्यक्षम्, धूमानुमिताग्निवत्,

इदानीं कारकतामपि दूषयितुकाम आह — **कारकतापि च सञ्चयस्य नै**[5]**वास्ति तस्येति** प्रतिज्ञा, **परमार्थतोऽसत्त्वादिति** हेतु । **अलातचक्रवदिति** दृष्टान्त । परमार्थतोऽसत्त्व संवृतिसत्त्वाद् भवन्मतेन घटवत्। यथोक्तम् —

> [1]यस्मिन् भिन्ने न तद्बुद्धिरन्यापोहे[2] धिया च तत्[3]।
> घटाम्बुवत् संवृतिसत् परमार्थसदन्यथा ॥ [अभि० को० ६।४] इति ।

यथा उल्मुक भ्रमद् भ्रान्तदृष्टेश्चक्रवदवभाति, न तच्चक्रमस्ति, अग्निकणाना नैरन्तर्याभावात्, चक्रस्य पर- ४६-२
[6]मार्थतोऽसत्त्वाच्च चक्रविज्ञानस्य अकारकता एव सञ्चयस्य संवृतिसत्त्वान्नीलविज्ञानस्य[7] अकारकता । तथा अतीन्द्रियत्वादणुनीलानाम् । इतश्च सञ्चयस्य अकारकता, [8]**प्रत्यवयवव्यवस्थानमात्रत्वात्**, अवयव-मवयव[9] प्रति प्रत्यवयवम्, अवयवा नीलादिपरमाणव, तेषामेव [10]सहत्यैकत्र परस्परासत्त्या व्यवस्थानमात्र सञ्चयो न तेभ्योऽर्थान्तरमिष्ट भवताम् । अत परमार्थतो नास्त्येवासौ सञ्चयो [11]नाम कश्चित्। तस्य असत [12]खरविषाणस्येव का कारकता ?

अभ्युपेत्यापि सञ्चयस्य सत्त्व दोष ब्रूम — **लोकवत्तु सञ्चयसत्त्वे**, यथा लोकस्य अव्युत्पन्नस्यापि समुदायिव्यतिरेकेण सन्नेव अवयवी [13]परिणामान्तर तत्समुदायो वा योऽस्तु सोऽस्तु परैर्व्युत्पादित [14]सन्नेवासौ तन्तुपटादिषु बुद्धि शक्ति-कार्या-ऽभिधान सङ्ख्यादिभेददर्शनादिष्ट[15], तत्राभरार्थानुसारेण व्यपदेशोऽस्त्येवेति [16]गृह्यताम् । ततश्च 'अव्यपदेश्यो विषय प्रत्यक्षस्य, प्रत्यक्ष चाव्यपदेश्यम्' इत्युभयमनृतम् । तत् कथमिति चेत्, **विशिष्टोऽपदेशो व्यपदेश** इति विशब्दस्य विशिष्टार्थताम् अपदेशशब्दस्य [17]हेत्वर्थता च दर्शयति । विशिष्टोऽन्य इत्यर्थ । कुतोऽन्य इति चेत्, उच्यते — **ग्राह्यादन्य**, ग्राह्यो नीलादि, तस्मा दन्य[18] सञ्चयस्तद्व्यपदेश । **तेन** सञ्चयेन **व्यपदेशेन** हेतुना **व्यपदेश्यम्**, किं तत् ? [19]**प्रमेय** नीलादि त्वदभिमतप्रत्यक्षप्रमाणगम्यम् । कि भवति तन्नीलादिरूपम् ? **अनुमेय** प्राप्नोति, व्यपदेशव्यपदेश्यत्वात्[20], **न प्रत्यक्षम्** । तस्य ज्ञेयस्यास्मादेव हेतो प्रत्यक्षत्वाभावोऽनुमेयभावश्च साध्यते, तद्विज्ञानस्य[21] अप्रत्यक्षता ४७-१
[22]अनुमानता च साध्यते । को दृष्टान्त ? **धूमानुमिताग्निवत्** । यथा धूमेन व्यपदेशेन साधितोऽग्नि

१ 'यत्र भिन्ने' — इति अभिधर्मकोशे पाठ ॥ २ रन्यापोह्यधिया य० ॥ ३ यत् प्र० । अत्र 'तत्' इति अभिधर्मकोशे पाठस्तथैव च व्याख्यातो वसुबन्धुना तद्भाष्ये । नयचक्रवृत्तिकृतामपि 'तत्' इति पाठ एव सम्मत, यतस्तैरेव अस्य श्लोकस्य विवरणावसरे इत्थ व्याख्यातम् — "यस्मिन् घटे भिन्नेऽवयवशो न तद्बुद्धिर्भवति तद् घटवत् संवृतिसत्' — नयचक्रवृ० पृ० ६६-१ ॥ ४ °म्बुवृत् भा० वि विना ॥ ५ °दाह्याति भा० ॥ ६ °माथतो सत्वाच्च° पा० १० ही । °माथसतोसत्वाद्य चक्र° भा० ॥ ७ °त्वान्नीलविज्ञा य० ॥ ८ °प्रत्यवयवस्थान प्र० ॥ ९ °मवय प्रति य ॥ १० सहतैकत्र प्र० ॥ ११ नाम कश्चित् भा० । न मे कश्चित् य० ॥ १२ खर विषाणस्यैव भा । रसविषाणस्यैव य० ॥ १३ परिणामान्तरत् । तत्समु भा । परिमाणान्तरवत् । तत्समु° य० । दृश्यता पृ० ६४ प० १९ ॥ १४ सन्नेवासौ भा० ॥ १५ एसूश्रास्त्' प्र० ॥ १६ गृह्यतान् । भा ॥ १७ हेत्वथता त दर्श य० । हेत्यर्थता दर्श भा० ॥ १८ न्य सञ्च प्र० ॥ १९ अमेय प्र० ॥ २० पदेशा । त्वात् भा० । पदेशत्वात् य० ॥ २१ तद्विज्ञानस्य भा० । तज्ज्ञानस्य य० ॥ २२ °मानत्वम साध्यते प्र० ॥

कारकतायामकारकतायां वा वस्तुनः पितृधूमादिवत् ।

अभिधानाव्यपदेश्यतैकात्मकत्वे अपि च नैव, अनुमिताग्निवद् बहुविषयत्वाद् नीलस्य ।

तद्धि नीलरूपनिरूपणं विकल्पः, प्रतिपरमाणुपरस्परप्रतिभिन्नस्वतत्त्वानेक-

---

रनुमेयोऽप्रत्यक्षश्च तथा [1]'नीलरूपम् । यथा च धूमालम्बनोत्पादिताग्निज्ञानमनुमानमप्रत्यक्षं च तथा नीलज्ञानं सयोगोत्पादितमिति ।

किञ्चान्यत्—सर्वथा तद् नीलादिज्ञानं तेन सञ्चयेन व्यपदेश्यं तदविनाभावात् तस्य, **कारकतायामकार[2]कतायां वा** न कश्चिद् विशेषो व्यपदेश्यत्वसिद्धौ **वस्तुनः** । कुतः ? अर्थान्तरनिमित्तादेव, **पितृधूमादिवत्**, [3]यथा पिता पुत्रस्य जनकः, तेन व्यपदिश्यते कारकेण पुत्रः धूमेन ज्ञापकेन अग्निः, अविशिष्टत्वाद्वस्तुनः । तत[4]स्तुल्ये व्यपदेश्यत्वहेतौ अप्रत्यक्षत्वानु[5]मानत्वसाधनसमर्थे सत्यव्यपदेश्य[6]निरोधकोऽयमनर्थको विचारः कारको ज्ञापक इति कारकत्वमभ्युपेत्याप्येष दोषोऽभिहितः । एवं तावदर्थकृतोऽस्य नीलस्य व्यपदेशः सिद्धो यत्सिद्धेरप्रत्यक्षानुमेयत्वे सिद्धे । तत्सिद्धेश्च [7]तज्ज्ञानस्य अनुमानत्वं सिध्येत अव्यपदेश्यत्वादिलक्षणविरोधश्च । एवं तावदर्थतो व्यपदेश्यमेव ।

यदपीष्टम्—अभिधानतो न व्यपदेश्यं तन्नीलादिपरमाणुरूपं परमाणुसमूहाभेदादेकं [8]चेति, एते द्वे **अभिधानाव्यपदेश्यतैकात्मकत्वे अपि च नैव** स्तो नीलरूपस्य इति प्रतिज्ञा । दृष्टान्तोऽ**नुमिताग्निवदि**ति प्रतिपत्तिसौकर्यात् प्रागेव हेतोर्दृष्टान्त उक्त, [9]तद्बलावयवसिद्धेः । हेतुसमर्थनार्थत्वात् दृष्टान्तस्य

४७-२ हेतुस्तर्हि क इत्यत्रोच्यते—**बहुविषयत्वात्** । यथा धूमज्ञानानुमितोऽग्नि[10]रूपादिविनिवृत्त्युपलक्षितो देशकालादिभेदभिन्नोऽपि अभिधानव्यपदेश्योऽनेकात्मकत्वापन्न एव गृह्यते तथा **नीलार्थो**ऽपि स्याद् बहुपरमाणुविषयत्वात्, तथा ज्ञानमपीति ।

इदानीं प्रागभिहितकल्पनात्मक[11]त्वादिभिर्हेतुभिरनुमानात् पापीयस्त्वं तस्य प्रत्यक्षस्य प्रतिपादयितुकाम आह—**तद्धि नीलरूपनिरूपण**मित्यादि । **तदि**ति प्रागपदिष्टं विकल्पात्मकत्वम्, हिशब्दो यस्मादर्थे, यस्मान्नीलरूपस्य निरूपणमुक्तन्यायेन अर्थव्यपदेशेन शब्दव्यपदेशेन वा [12]दृष्टम्, स च **विकल्प** एवेत्यविकल्पकत्वं नास्ति, अतः 'कल्पनापोढम्' इति [13]दुष्टं लक्षणं ज्ञानार्थयोः । अध्यारोपाच्च निरूपणं तस्य, तत् कथमिति चेत्, उच्यते—**प्रतिपरमाणु** परमाणुं परमाणुं प्रति प्रतिपरमाणु **परस्परतः प्रतिभिन्नानि स्वानि तत्त्वानि** । यो यस्य भावः स तस्य तत्त्वम्, [14]न सोऽन्यत्र भवति, भवनमेव हि तत्त्वम्, अतो विभिन्नानि प्रतिपरमाणु तत्त्वानि, एकैकस्य परमाणोः परमाण्वन्तरेभ्योऽत्यन्तभिन्नं स्वं तत्त्वम्, भावान्तर[15]मनपेक्ष्य

---

१ नीलं रूपम् य० ॥ २ °कतया वा य० ॥ ३ थथा भा० ॥ ४ °स्तुल्यो प्र० ॥ ५ °मानसाधन° य० ॥ ६ °निरोधिकोऽयम° प्र० ॥ ७ तद्ज्ञानस्य य० । तज्ञानस्य भा० ॥ ८ वेति प्र० ॥ ९ 'तद्बला चासौ अवयवसिद्धिश्चेति तद्बलावयवसिद्धि' इति समासे यथाश्रुतपाठ सङ्गच्छते । 'तद्बलादवयवसिद्धे.' इत्यपि सम्भवेदत्र पाठ, दृश्यता पृ० ५१ प० ९ ॥ १० °रूपादि° प्र० ॥ ११ °त्वादिभिहे° य० । °त्वादितिहे° भा० ॥ १२ दृष्ट य० ॥ १३ दृष्टं य० । द्रष्टव्यं भा० ॥ १४ नासो° प्र० ॥ १५ °मनवेक्ष र० । °मनपेक्ष ही० । °मनवेक्ष्य र० ही० विना ॥

रूपैकतत्त्वैकरूपाध्यारोपाद् रूपान्तरसामान्यरूपविषयत्वात् तदतद्विषयवृत्तत्वा-दतदनपोहाद् नाप्यनुमानवत् तत्सामान्यात्मकतैव, प्रज्ञप्तिपरमार्थस्थितसञ्चय-परमाणुपरिग्रहाभेदात्मकत्वात् सर्वथा साधारणार्थता, कल्पनात्मकत्वान्न प्रत्यक्षम्, अप्रत्ययप्रत्ययात्मकत्वात्, शब्दाश्रावणत्वप्रत्ययवत्। सद्वृत्यतीन्द्रियत्वाभ्यां हि

स्वैरसेनैव भवनाद् भावानामेकत्व(द)साधारणभवनत्वात् परमाणूनां स्वानि तत्त्वानि भिन्नानि । तथा
तेषां परमाणूनां नीलादिरूपाण्यप्यनेकरूपाण्येव । तेषां च स्वतत्त्वानां तेषां च नीलादिस्वरूपाणामनेक-
रूपाणामेकद्वित्रिगुणादिभिन्नानां यथासङ्ख्यम् **एकतत्त्वैकरूपाध्यारोपात्** सर्वपरमाणुतत्त्वानामेकस्वतत्त्वा
ध्यारोपात् सर्वपरमाणुरूपाणामेकनीलरूपाध्यारोपादर्थान्तरनिरूपणम् । स चाप्यध्यारोपो **रूपान्तरसामान्य-** ४८ १
रूपविषयत्वात्, रूपादन्यद् रूपं रूपान्तरम्, परमाणुरूपात् परमाण्वन्तररूपं रूपान्तरम्, एवं सर्वाणि
परमाण्वन्तररूपाणि, तेषां रूपं नीलमित्यभेदेन यत् सामान्यं बुद्ध्या गृह्यते सोऽध्यारोपस्तद्विषयः । तदपि
सामान्यं **तदतद्विषयवृत्तत्वात्** सामान्यमित्युच्यते, स चान्यश्चार्थो विषयोऽस्येति कृत्वा । ततश्चात्र
प्रत्यक्षेऽन्यस्यानपोहः, अनुमाने त्वनग्नेरनेरन्यस्यापोहः । **तस्मादतदनपोहात्** प्रत्यक्षमविविक्तविषयं स्व-
विषयाभिमतेऽन्यत्र चापरित्यागेन अभेदेन च वृत्तेः, नानुमानं स्वविषये सामान्यमात्र एव वृत्तेः । अतोऽनु
मानात् परपरिकल्पितं प्रत्यक्षं पापीयः सङ्कीर्णतरविषयत्वादिति । तस्माद् **नाप्यनुमानवदि**ति तत् अप्य-
नुमानतुल्यमपि तत्र भवति, अपोह्यार्थापोहशक्तिशून्यत्वात् । तस्मात् **तत्सामान्यात्मकतैव** अनु-
मानस्य, न प्रत्यक्षस्येति तस्य नीलादेरर्थस्य प्रत्यक्षविषयस्य तज्ज्ञानस्य च तदवस्था सङ्कीर्णरूपता ।

किञ्चान्यत्—तदतद्विषयवृत्ततापि न नीलरूपादेस्तज्ज्ञानस्य चोपपद्यते । किं कारणम् ? सदसतो
सम्बन्धाभावात्, घटखपुष्पवत् । तत उपचरितमेव तदतद्विषयवृत्तत्वमपीति तत्प्रदर्शनार्थमाह—**प्रज्ञप्ति**
परमार्थस्थितसञ्चयपरमाणुपरिग्रहाभेदात्मकत्वात् । प्रज्ञप्तिमन् सञ्चयः, परमार्थमन्तरेणु तथास्थिताः
परमाणवः, तेषां परिग्रहः सन्सदभेदात्मकः, तस्मात् सन्सत्परिग्रहाभेदात्मकत्वात् तदतद्विषयवृत्तता ।
सा च **सर्वथा साधारणार्थता**, सर्वथा एतेष्वनन्तरोक्तेषु हेतुषु । ततो मूलहेतुः ‘कल्पनात्मकत्वात्’
इति स एवैते साधितः, तस्मान्न तत् **प्रत्यक्षं न** चानुमानवदसङ्कीर्णस्वविषयमित्येतदर्थभावनार्थो ४८-२
पुनस्त एव हेतवो व्यापारिताः प्रत्येकमपि पूर्ववदतस्मिन्नर्थे योज्याः । इतश्च तज्ज्ञानमप्रत्यक्षम्, **अप्रत्यय**
प्रत्ययात्मकत्वात्, शब्दाश्रावणत्वप्रत्ययवदिति । प्रत्ययः कारणं हेतुरित्यर्थः, न प्रत्ययोऽस्येति अप्रत्ययः,

---

१ स्वरसेनैव य० ॥ २ भावनामेकत्वचसाधारणभवनत्वाद्भवनत्वत्वात्पर° भा० । भावानामे कत्वचसाधारणभवनत्वा २ त्पर° य० । अत्र ‘भावानामेकत्वदसाधारणभवनत्वादसाधारणभवनत्वात् परमाणूनाम्’ इत्यपि पाठः य प्रतिपाठानुसारेण सम्भाव्यते । एवं च सर्वेषां परमाणूनामत्यन्तभिन्नं स्वतत्त्वमिति अभिधातुम् असाधारण भवनत्वादसाधारणभवनत्वात् इति वीप्सया प्रयोगः इति भाति । अथवा भावानाम्, एवं चासाधारणभवनत्वात् परमाणूनाम् इत्यपि पाठोऽत्र स्यात् ॥ ३ तथा तथा तेषां भा० ॥ ४ सामान्यबुद्ध्या य० ॥ ५ त्वनग्नेरन्यस्या° भा० ॥ ६ °दतनपो° भा ॥ ७ नानुमानं प्र० । ‘यथा प्रत्यक्षमविविक्तविषयं तथा नानुमानमविविक्तविषयम्, स्वविषये सामान्यमात्रे एव वृत्तेः’ इत्याशयोऽत्र भाति ॥ ८ °यदपि तत् य० । अत्र यदपि तत् इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ९ तज्ज्ञानस्य प्र ॥ १० °चरितमचतद प्र० ॥ ११ सदभेदा य० ॥ १२ °णायाता भा० ॥ १३ इति एवैते य० ॥

नाणुषु न सञ्चये प्रत्ययता तथाप्रतिपत्तिं प्रति। अनुमानज्ञानमपि च तन्न प्रतिपूर्यते सम्बद्धगृहीतस्यान्यथाप्रतिपत्तेः, विरुद्धादिज्ञानवत्।

तिष्ठतु तावत् प्रत्यक्षविधिविधानाभ्युपगमेन स्वलक्षणमात्रविषयप्रत्यक्षत्वस्य

कोऽसौ? प्रत्ययः, प्रत्ययो विज्ञानम्, द्वितीयस्य प्रत्ययशब्दस्य विज्ञानार्थत्वात्, अकारणज्ञानत्वादित्युक्तं भवति। कथं [1]पुनरकारणं तज्ज्ञानम्? **संवृत्यतीन्द्रियत्वाभ्यां यस्मान्नाणुषु न सञ्चये प्रत्ययता तथाप्रतिपत्तिं प्रति,** द्रव्यसतामविषयत्वात् तस्य, द्रव्यसन्तो हि परमाणवोऽनीन्द्रियत्वादेव न प्रत्यक्षज्ञानहेतवः, तथा नीलत्वादयः संवृतिसन्तः, तत्सञ्चयोऽसत्त्वादेव अकारणम्। तस्मादुभयथापि अप्रत्ययः स प्रत्ययः 'नीलं रूपम्' इति। को दृष्टान्तः? यथा 'अश्रावणः शब्दः' [2]इति प्रत्ययोऽप्रत्ययोऽप्रत्यक्षं च तथेदमपीति।

स्यान्मतम्—कल्पनात्मक[3]त्वादिभ्य एव हेतुभ्योऽनुमानज्ञानं तर्हि चक्षुरादिविज्ञानं भविष्यतीति। अत्रोच्यते—**अनुमानज्ञानमपि च [4]तन्न प्रतिपूर्यते।** कर्मकर्तर्यात्मनेपदं [5]यक् च, तत्प्रतिषेधाद् 'न प्रतिपूर्यते' इति रूपम्, यथाऽयमोदनो विपन्नत्वात् पूतिमांसवदात्मानं न भोजयति न भुज्यते स्वयमेव [6]तथेदमपि ज्ञानमात्मानं न प्रतिपूरयति न प्रतिपूर्यते। कस्माद्धेतोः? **सम्बद्धगृहीतस्यान्यथाप्रतिपत्तेः।** सम्बद्ध एव गृहीतः, तस्य [7]सम्बद्धगृहीतस्यान्यथाप्रतिपत्तेः, तस्य ज्ञानस्य अन्यथाप्रतिपद्यमानसम्बद्धगृहीता-

४९-१ र्थत्वादित्यर्थः। [8]यद् ज्ञानं [9]सम्बद्धमेवार्थं [10]गृह्णन् तमेवार्थमन्यथा प्रतिपद्यते [11]तद् ज्ञानं नानुमानमपि सम्पूर्णं भवति। तद्यथा—**विरुद्धादिज्ञानम्।** यथा 'कृतकत्वान्नित्यः शब्दः' इति पक्षधर्मज्ञानं शब्द[12]सम्बन्धि घटादिष्वनित्यानुगमसम्बद्धं गृहीत्वा नित्यं [13]शब्दं प्रतिपद्यमानं विरुद्धहेत्वाभासज्ञानं भवति, आदिग्रहणात् प्रमेयश्रावणत्वद्वारं नित्यज्ञानं वा शब्दविषयमनैकान्तिकाभासं यथा तथेदमपि न सम्पूर्णमनुमानज्ञानमपीति।

अथवा **तिष्ठतु तावदित्यादि** यावत् **प्रत्यक्षविषयत्वाभ्युपगमविरोध** इति। स्थितं [14]तावदस्तु विदूरस्थेन आगमेनाभ्युपगतेन प्रत्यक्षविषयत्वस्य विरोध इत्येतत्। इदमेवास्मिन् प्रकरणे यदुदाहृतं '[15]पूर्वं चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी इत्यादि तदेव न घटत इति वाक्यार्थः। **प्रत्यक्षस्य विधिः** प्रत्यक्षस्य जन्म, तस्य **विधानं** व्याख्यानम्—[16]सञ्चितालम्बनाः पञ्च विज्ञानकायाः [अभि० पि०] इति, स एव **अभ्युपगमः** प्रत्यक्षविधिविधानाभ्युपगमः। **स्वलक्षणमात्रविषय[17]प्रत्यक्षत्वमेव,** स्वलक्षणमात्रं विषयो यस्य तत् स्वलक्षणमात्रविषयम्, किं तत्? प्रत्यक्षम्, तस्य भावः स्वलक्षणमात्रविषयप्रत्यक्ष[18]त्वम्, **तस्य प्रत्यक्षविधि-**

---

१ पुनः कारणं तद् ज्ञानम् य०। पुन कारणं तज्ज्ञानम् भा० ॥ २ इति प्रत्ययोऽप्रत्यक्षं च प्र० ॥ ३ °त्वादिभ्यो हेतुभ्यो य० ॥ ४ तत्र प्रति° य० ॥ ५ यक तत्प्रति० प्र०। "भावकर्मणोर्यग्विधाने कर्मकर्तर्युपसङ्ख्यानम्"—पा० वा० ३।१।६७। "कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रिय [पा० ३।१।८७]। कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्ता कर्मवत् स्यात्, कार्यातिदेशोऽयम्, तेन यगात्मनेपदचिण्चिण्वदिटः स्युः। कर्तुरभिहितत्वात् प्रथमा। पच्यते ओदनः। भिद्यते काष्ठम्।"—पा० सिद्धान्तकौ० ३।१।८७ ॥ ६ तथ्वदमपि भा० ॥ ७ सम्बद्धागृही° य० ॥ ८ यज्ञानं भा० ॥ ९ सम्बद्धमर्थं भा० डे० ली०। सम्बद्धमवार्थं भा० डे० ली० विना ॥ १० गृह्णुत्तामवार्थं° भा० ॥ ११ तज्ञानं भा० ॥ १२ °संबंधे घटादिस्वनित्या° प्र० ॥ १३ शब्द प्रति° य० ॥ १४ तावत्वस्तु य० ॥ १५ पूर्वचक्षुर्विज्ञा° पा०। पूचक्षुर्विज्ञा° भा० डे० ली०। तच्चक्षुर्विज्ञा° र० ही० वि०। दृश्यता पृ० ६० प० २ ॥ १६ दृश्यता पृ० ६४ प० १ ॥ १७ °प्रत्यक्षणमात्रं विषयो यस्य भा०। अत्र 'प्रत्यक्षत्वम्, एव स्वलक्षणमात्रं विषयो यस्य' इत्यपि पाठः स्यात् ॥ १८ °त्वन्। तस्य भा० ॥

विरोधः प्रत्यक्षविषयत्वाभ्युपगमविरोधः। 'चक्षुर्विज्ञानसमङ्गिनीलविज्ञानम्' इत्येतदेव तु न घटते प्रत्यक्षलक्षणोदाहरणम्।

एवं ते सञ्चयस्य रूपमात्रत्वात् तद्ग्रहणे तत्प्रत्यक्षत्वात् सञ्चितालम्बनकल्पनावैयर्थ्यादतन्मात्रत्वे सवृतिसत्त्वादरूपत्वाच्च चक्षुर्नैव चक्षुः स्यात्, उभयथापि रूपाग्राहित्वात्, घटादिवत्।

विधानाभ्युपगमेन विरोधः समनन्तरमन्योपपादितोऽसौ स्थित एव। चक्षुर्विज्ञानसमङ्गिनीलविज्ञानमित्येतदेव तु न घटते। तुशब्दो विशेषणे, किं विशिनष्टि? पूर्वस्माल्लक्षणवाक्यादागमस्यास्यातुद्धतरता विशिनष्टि। चक्षुष चक्षुषि चक्षुषा वा विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानमसाधारणविषयम्, तत् समङ्गति समन्वेतीति चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी, क? सन्तान, विज्ञानस्य तदर्थैकगमनात् तद्द्वारेण तत्सन्तानोऽपि समङ्गतीत्युच्यते। तत्समङ्गिनो नीलविज्ञानम्। तदेव 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढमनिर्देश्यं स्वलक्षणविषयम्' इत्यादि वचनं तेन लक्षितस्य उदाहरणम् 'इदं तत्' इति प्रत्यक्षीकरणं प्रदर्शनम्, यथा वृद्धिरादैच् [पा० १।१।१] इत्युपलक्षितस्य 'आश्वलायन' इत्युदाहरणम्।

कथं तत्र घटते? तत आह–एवं ते सञ्चयस्येत्यादि यावत् सञ्चितालम्बनकल्पनावैयर्थ्यादिति। एवं ते उदाहरणत्वेष्टौ सत्यां सञ्चयस्य रूपमात्रत्वात्, किं भवति? सञ्चितालम्बनकल्पनावैयर्थ्यं स्यादित्यभिसम्भन्त्स्यते। रूपमात्रत्वं सञ्चयस्य कुत इति तद्ग्रहणे तत्प्रत्यक्षत्वात्, यद्ग्रहे यस्य प्रत्यक्षत्वं तत् तावन्मात्रमेव दृष्टम्, यथा दाहग्रहे दाहप्रत्यक्षत्वे दाहमात्रमेव नातोऽन्योऽर्थ इष्ट एवं सञ्चयग्रहे नीलरूपमात्रमेव। अतः किम्? सञ्चितालम्बनकल्पनावैयर्थ्यम्, सञ्चयाभावात्। सञ्चयाभावो रूपमात्रत्वात्। सञ्चितालम्बनकल्पनावैयर्थ्याच्चोदाहरणमेव तु न घटते 'चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी' इत्यादि।

अतन्मात्रत्वे सवृतिसत्त्वादित्यादि यावदुभयथापि रूपाग्राहित्वाद् घटादिवत्। अथ मा भूदेष दोष इति न रूपमात्रं सञ्चयः, स एव च गृह्यत इतीष्यते, ततः सञ्चयस्य सवृतिसत्त्वादरूपत्वं स्वरविषाणवत्। सवृतिसत्त्वं प्रागुपपादितम्। अरूपत्वाच्च न चक्षुर्ग्राह्यः स्यात् सञ्चयः, रूपादन्यत्वात्, शब्दवत् खपुष्पवद्वा। ततः को दोष इति चेत्, उच्यते–चक्षुर्नैव चक्षुः स्यात्, रूपस्याग्राहकत्वात्, घटवत् जिह्वावत् त्वग्वदित्यादि। कथं 'रूपस्याग्राहकं चक्षुः' इति दृष्टप्रसिद्धिविरुद्धमुच्यत इति चेत्, तवैव दृष्टप्रसिद्धिविरोध आपाद्यते मया। किं कारणम्? उभयथा रूपाग्राहित्वात्तस्य। यदि सञ्चयस्तथाप्यसञ्चरूपं एवेत्युक्तत्वादचक्षुर्विषयो रूपम्, ततो रूपस्याग्राहकत्वाच्चक्षुरचक्षुः श्रोत्रवत्। अथासञ्चितमेव परमाणुनीलरूपमिष्टं तथाप्यतीन्द्रियत्वादचक्षुर्विषयो रूपम्, अतो रूपस्याग्राहकत्वाच्च चक्षुर्न च चक्षुः स्याद् घटवदिति सूक्तम्–उभयथापि रूपस्याग्राहकं चक्षुरिति। एवं तावत् 'चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी' इत्यत्र चक्षुषोऽचक्षुष्ट्वाच्चक्षुर्ग्रहणमनर्थकम्।

---

१ चक्षुर्विज्ञानमित्येतदेव तु घटते य० ॥ २ तस्याप्यलायन भा०। 'तस्याप्यलायन य०। अश्वलो नाम ऋषिः, तस्य अपत्यमाश्वलायनः। नडादिषु पठितत्वात् अश्वलशब्दात् 'नडादिभ्यः फक्' [पा० ४।१।९९] इति सूत्रेण फक् प्रत्यये सिद्धे तद्धितेष्वचामादेः" [पा० ७।२।११७] इति सूत्रेण वृद्धिरादैच्" [पा० १।१।१] इति वृद्धौ 'आश्वलायन' इति रूपम् ॥ ३ त्यस्यते भूपमात्रत्व भा० ॥ ४ दृष्ट य० ॥ ५ रूपादिग्राहि पा० वि० ॥ ६ स्यात्सञ्चरूप एवेत्युक्त य० ॥

विज्ञानमपि न विज्ञानं स्यात्, अन्यथार्थप्रतिपत्तेः, अलातचक्रादिज्ञानवत्। न च चक्षुर्विज्ञानं समङ्गति, रूपादन्यत्रासम्भवात्। न हि सञ्चयो रूपम्। यदपि च तद्रूपं तद्विषयमपि चक्षुर्विज्ञानस्य समङ्गनं नास्ति, अविषयत्वात्, अन्येन्द्रियविषयवत्। सञ्चयविषयमपि संवृतिसत्त्वात् खपुष्पवत्।

नीलविज्ञानसम्बन्धी न भवति तत्सन्तानः, तदाकारज्ञानोत्पत्तिहेत्वभावात्, अदग्धस्य दाहाज्ञानवत्।

विज्ञानग्रहणमप्यत एवानर्थकमित्यत आह—**विज्ञानमपि न विज्ञानं स्या**दित्यादि यावत् **खपुष्पव**दिति। 'विशेषेण ज्ञानं विज्ञानं[1] तद्भवदभिमतं प्रत्यक्षं मुख्यं विज्ञानं न स्यात्[2], इतरथा कथमाचार्यश्रीमल्लवादी 'विज्ञानं न स्यादिति स्ववचनविरोधं मायेय-दिङ्नाविव ब्रूयात्? किं कारणं पुनर्विज्ञानं तत्र स्यात्? **अन्यथार्थप्रतिपत्तेः**, अरूपस्य सञ्चयस्य रूपत्वेन प्रतिपत्तेः सञ्चयत्वेन वा रूपमात्रस्य प्रतिपत्तेः। को दृष्टान्तः? **अलातचक्रा**[3]**दिज्ञानवत्।** यथोल्मुकाग्निकणमात्रमर्थं 'चक्रम्' इति प्रतिपद्यमानं न विज्ञानमेवं तदपि। **आदि**ग्रहणात् स्थाणौ[4] पुरुषज्ञानमित्यादि। एवं तावच्चक्षुरिति [5]विज्ञानमिति च द्वयं दूषितम्। 'चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी' इत्यत्र समङ्गित्वमपि दूषयितुकाम आह—**न**[6] **च चक्षुर्विज्ञानं समङ्गती**ति, तद्द्वारेण पुरुषाख्यसन्तानैकगमनं समङ्गनं ततस्तन्निषेधः। कस्मान्न समङ्गति? चक्षुर्विज्ञानस्य **रूपादन्यत्रा**[7]**सम्भवात्**, न वा तत्सन्तानोऽन्यत्र सम्भवति, उक्तं हि—सति सम्भवे व्यभिचारे च विशेषण-

५०-२ विशेष्यभावः [ ] इति। सञ्चयापेक्षो व्यभिचारोऽस्त्यतो विशेष्यत इति चेत्, तन्न, यस्मा**न्न सञ्चयो रूपम्।** अरूपत्वाच्चक्षुर्विज्ञानसङ्गत्यभावः। स्यान्मतम्—नीलरूपाव्यभिचारादेव तदेकगमनात् समङ्गीत्युच्यते चक्षुर्विज्ञानमिति, एतच्चायुक्तम्, तस्याप्यतीन्द्रियत्वाच्चक्षुर्विज्ञानाविषयत्वादरूपत्वम्। अभ्युपेत्यापि त्वन्मतेन **यदपि च तद्रूपम्**, रूप्यत इति रूपम्, चक्षुर्विज्ञानेन किल रूप्यत इति, **तद्विषयं** स विषयो यस्य तत् तद्विषयम्, किं तत्? **एकगमनम्**, कस्य? **चक्षुर्विज्ञानस्य, तदपि नास्ति।** कस्मात्? **अविषयत्वात्।** अविषयत्वमतीन्द्रियत्वात् प्रस्तुतप्रत्यक्षस्य। **अन्येन्द्रियविषयवत्**, यथा शब्दोऽन्येन्द्रियविषयश्चक्षुर्विज्ञानेन न समङ्ग्यते तथा तदपि रूपमिति। स्यान्मतम्—सञ्चयश्चक्षुर्विज्ञानसङ्गतियोग्यः स्यादिति, अत्र ब्रूमः—**सञ्चयविषयमपि** 'चक्षुर्विज्ञानस्य समङ्गनं नास्ति' इति वर्तते। कस्मादसत्त्वम्? **संवृतिसत्त्वात् खपुष्पव**दिति [8]सङ्गमनाभावसाधर्म्येण दृष्टान्तः। एवं तावद् 'रूपम्, चक्षुः, विज्ञानम्, समङ्गी' इत्येतानि दूषितानि।

इदानीं 'नीलम्, विजानाति' इति च दूष्यम्। तत्र नीलं पदार्थतो दूषितमेव, विजानातीति च दूषितमेव पदार्थतः, रूपचक्षुर्विज्ञानानां सङ्गतेश्च दूषितत्वात्। मा भूदक्षरस्थानं दूषणशून्यमिति कृत्वा वाक्यार्थतोऽपि दूष्यते—**नीलविज्ञानसम्बन्धी न भवति तत्सन्तानः, तदाकारज्ञानोत्पत्तिहेत्वभावात्।** स आकारोऽस्येति तदाकारं ज्ञानं नीलाकारम्, तस्योत्पत्तिस्तदाकारज्ञानोत्पत्तिः, तस्या हेतुः सञ्चयो नीलरूपं वा स्यात्, उभयमपि तत्र भवत्युक्तविधिनैव, [9]अतस्तदाकारज्ञानोत्पत्तिहेत्वभावात्।

---

१ विशेषणज्ञानं प्र०॥ २ स्यादितिरथा प्र०॥ ३ °चक्रज्ञान° य०॥ ४ स्थाणुपुरुष° य०॥ ५ चज्ञान° य०॥ ६ न चक्षु° भा०॥ ७ रूपाद्यन्यत्रा° प्र०॥ ८ सङ्गमना° प्र०। 'समङ्गना°' इत्यपि पाठः स्यादत्र॥ ९ अस्तदा° प्र०॥

नीलं च सञ्चयं च प्रत्येकसमुदितकारणत्वाद् विज्ञास्यतीति चेत्, न, युगपज्ज्ञानासम्भवात्, ज्ञानस्य क्रियावैधर्म्यात्।

तयोरेकज्ञानत्वादेकज्ञेयत्वे इतरेतरत्वे सर्वसर्वात्मवादिता। सर्वनीलैक्ये हि समवायग्रहणे प्रत्येकैकनीलग्रहणं स्यात्। ततश्च यथात्र सन्द्रावात् सर्वनीलैकता

को दृष्टान्तः ? अदग्धस्य दाहाज्ञानवत्, यथा अदग्धस्य दाहानुभवज्ञानं तदाकारज्ञानोत्पत्तिहेत्वभावान्नास्ति तथा नीलविज्ञानसम्बन्धी न भवति तत्सन्तान इति। एवं नीलरूपतत्सञ्चययोरन्यतरविषयत्वेष्टौ दोषा उक्ताः। ५१ ·

इदानीं प्रत्येकं त एव समुदिता इत्युभयैकविषयत्वे दोषं वक्तुकामः पक्षान्तरं ग्राहयति—**नीलं च सञ्चयं च प्रत्येकसमुदितकारणत्वाद्विज्ञास्यतीति चेत्,** स्यान्मतम्—त एव हि नीलपरमाणवः प्रत्येकं शिबिकोद्वाहन्यायेन समुदिताश्च कारणं न चैकैकः, न च समुदायस्तद्व्यतिरिक्तोऽस्तीत्युभयकारणत्वं ज्ञानस्य, तस्माज्ज्ञानोत्पत्तिहेत्वभावासिद्धिरिति। एतन्न, **युगपज्ज्ञानासम्भवात्,** द्वयोरर्थयोर्युगपदेकज्ञानाभावादेकैकस्मिंश्चार्थे युगपज्ज्ञानयोरभावाद्भवत। यथोक्तम्—

विजानाति न विज्ञानमेकमर्थद्वयं यथा।
एकमर्थं विजानाति न विज्ञानद्वयं तथा॥ [चतुःश० २६८] इति।

स्यान्मतम्—हस्तेन अनेकबदरामलकाद्यर्थग्रहणवत् स्यादिति। एतच्चायुक्तम्, **ज्ञानस्य क्रियावैधर्म्यात्।** ज्ञानं च प्रत्यक्षमुच्यते, कल्पनाया ज्ञानाव्यभिचारात्, प्रत्यक्षं कल्पनापोढं यज्ज्ञानमर्थे रूपादौ [न्यायप्र०] इति वचनात्। एवं रूपरूपसमुदाययोर्नानात्वे दोषः।

यत्रापि स्यात् **तयोरेकज्ञानत्वादेकज्ञेयत्वम्,** एकं ज्ञानमनयोरित्येकज्ञाने, तयोरेकज्ञानत्वात् एवमेव ज्ञेयं तद्भाव एकज्ञेयत्वं दाहानुभववत्, तस्मिन्नेकज्ञेयत्वे **इतरेतरत्वे** अन्योन्यात्मापन्नत्वे सति **सर्वसर्वात्मवादिता।** कथम् ? समुदायानर्थान्तरत्वाद् रूपं समुदाय एव समुदायस्वरूपवत्, समुदायो वा रूपमेव रूपानर्थान्तरत्वाद् रूपस्वरूपवत्। एवं रसादि घटादि रूपादिसमुदायान्तराभिमतार्थानामनर्थान्तरत्वात् सर्वसर्वात्मत्ववादिता। तस्मात् **सर्व**परमाणु**नील**ानां सञ्चयानर्थान्तरत्वादै**क्ये** सति **समवाय** ५१ २
ग्रहणे युवतिकेशपाशसमुदाये गृह्यमाणे, **हि**शब्दो यस्मादर्थे, यस्मात् **सर्वनीलैक्यं** तस्मादेकमेव नीलरूपमेकदेशगतं गृह्येत, एवमेकं प्रति **प्रत्येकैकनीलग्रहणं स्यात्,** एकनीलनीलग्रहणेऽपि च सर्वनीलकेशपाशाग्रहणमेकनीलात्मकत्वात् समुदायस्य। **ततश्च यथात्र सन्द्रावात् सर्वनीलैकता,** गुणसद्भावो द्रव्यम्, नार्थान्तरम्, सेन्दुत्व सर्वनीलगुणा एकतामापन्ना, **तथा रूपादिपञ्चकस्यापि** रूपरसगन्धस्पर्शशब्दपञ्चकस्यापि 'सैन्द्रावादेकता स्यात्' इति वर्तते। कस्माद्धेतोः ? **गुणत्वात्,** धर्मत्वादित्यर्थः, न हि वैशेषिकवद् द्रव्यगुणभेदोऽस्तीति कृत्वा। दृष्टान्तो **नीलैकत्ववत्,** यथा सर्वनीलानां गुणत्वाद्धर्मत्वा-

१ अन्यतरविषयत्वस्य इष्टौ इत्यर्थः॥ २ स्तीत्युरुपकार° भा०। °स्तीतिपुरुपकार° य०॥ ३ पदेद ज्ञाना° प्र०॥ ४ °वादेकस्मि भा०॥ ५ दृश्यतां पृ० ६० टि० १५॥ ६ आत्मप्रत्यायनार्थं तु प्रत्यक्षमनुमानं च द्वे एव प्रमाणे। तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढं यज्ज्ञानमर्थे रूपादौ नामजात्यादिकल्पनारहितं तदक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षम्'—न्यायप्र० पृ० ७॥ ७ ज्ञेयत प्र०॥ ८ प्रति प्रति प्रत्येके° भा०॥ ९ °वात्° प्र०॥ १० सद्भावात् प्र०॥ ११ दृश्यतां पृ० १५१ २॥ १२ सद्वत्व य०॥ १३ गन्धशब्दरूपशब्दपञ्चक° प्र०॥ १४ सद्भावा य०॥

तथा रूपादिपञ्चकस्यापि, गुणत्वात्, नीलैकत्ववत्। ततश्च गुणसन्द्रावद्रव्यत्वात् सर्वथा पृथिव्यादीनाम्, तेषामपि रूपादिपरमार्थत्वात् सर्वसर्वात्मकत्वम्।

अयं तु सन्द्रावातिशयो मायेयीयः, सञ्चितालम्बनाभ्युपगमाद् रूपादिपरमाणूनां सञ्चितानामसञ्चितानां प्रागनभ्युपगमात्। आगम एवोक्तं हि वः—सङ्घाता एव सङ्घातान् स्पृशन्ति, सावयवत्वात् [ ]। तत्र परस्परस्पर्शनिरूपणे सर्वात्म-

---

देकत्वं तथा रूपरमार्थकत्वम्। ततश्च सन्द्रावसिद्धौ[1] गुणानां रूपाद्यैक्ये सति को दोषः? उच्यते—गुणसन्द्रावद्रव्यत्वात् गुणानां संहृति[2]मात्रमेव यस्माद्द्रव्यं तस्मात सर्वथा पृथिव्यादीनां पृथिव्यप्तेजोवाय्वादीनाम् 'एकत्वम्' इति वर्तते। किं कारणम्? तदेव रूपाद्येकत्वं कारणम्, तत आह—तेषामपि रूपादिपरमार्थत्वादिति, रूपादय एव परमार्थो गुणसन्द्रावद्रव्यत्वात्, तेषां चैक्यम, अतः पृथिव्यप्तेजोवायुघटपटसरित्समुद्रज्योतिरादेः सर्वस्य लोकस्य तदात्मकत्वादैक्यं प्राप्तमिति। तदुपसंहरन्नेवाह—सर्वसर्वात्मकत्वमिति। अतः साधूच्यते—सर्वसर्वात्मवादिनैव[3] विशेषैकान्तवादिनोऽप्यविशेषैकान्तवादिन इवेति।

७२-१ अविशेषैकान्तवादिनमतिशेते च विशेषैकान्तवादीति तद्व्याचिख्यासुराह गुणसन्द्रावात्मकद्रव्यत्वापादनाय[4]—[अयं] त्वित्यादि यावन्न[5] स सञ्चयादृते सम्भवतीति। तुशब्दो विशेषणार्थः, किं विशिनष्टि? रूपादीनामैक्यापत्तेः प्राक् पृथक्स्वरूपैस्तन्मात्रैः[6] शब्दादिभिराहङ्कारिकैराकाशाद्यारम्भाभ्युपगमवादिनाम-विशेषैकान्तवादिनां[7] कदाचिदसञ्चिताः सन्त्यपि रूपादय इति प्रक्रिया, विशेषैकान्तवादिनां तु सञ्चिततैक्यापत्तिरेव[8] क्वचित् पृथगसञ्चितरूपाद्यनभ्युपगमात् सर्वसर्वात्मकवादातिशय इति विशिनष्टि व्याख्यातार्थं सन्द्रावातिशयोऽयं[9] मायेयीयः[10] सञ्चितालम्बनाभ्युपगमाद्रूपादिपरमाणूनामिति ग्रन्थम्[11]। तत्सञ्चयत्वकारणप्रदर्शनार्थमाह[12]—सञ्चितानामसञ्चितानां प्रागनभ्युपगमात्, प्रागसञ्चिताः परमाणुरूपादयः पश्चात्[13] सञ्चित्य आलम्बनीभूता[14] इति नाभ्युपगम्यते यस्माद् मायासूनवीयैः। अवश्यं चैतदेवं भवद्भिरभ्युपगतमेतदिति तदर्थोपप्रदर्शनार्थम् आगम एवोक्तं हि वः। हिशब्दो यस्मादर्थे, यस्मादुक्तं हि वः सिद्धान्ते, किमुक्तम्? सङ्घाता एव सङ्घातान् स्पृशन्ति सावयवत्वादित्युक्तम्। किं परमाणवः परस्परं स्पृशन्ति? न स्पृशन्ति? स्पृशन्तोऽपि किं देशेन देशं स्पृशन्ति? सर्वं वा? सङ्घातं वा[15]? सङ्घाता वा सङ्घातान् स्पृशन्तो देशेन वा देशं सर्वं वा स्पृशन्ति? [ ] इति परिप्रश्नोपक्रमं तत्र परस्परस्पर्शनिरूपणे इत्यादि, सर्वात्मस्पर्शनास्पर्शनयोर्दोषापादनेन निर्द्धारितम्—सङ्घाताः सङ्घातान् देशेन स्पृशन्ति देशमेव [ ] इति। यदि परमाणुः[16] परमाणुं स्पृशेद् देशाभावात् सर्वात्मना

७२-२ स्पृशेत्, ततश्च स तत्प्रवेशेन पिण्डोऽणुमात्रकः स्यात्[17] सप्रतिघत्वहानं चास्य स्यात्। तथा सङ्घातोऽपीति

---

१ सद्भाव° प्र०। एवमग्रेऽपि ॥ २ संहृति° य० ॥ ३ °वादिनैव प्र० ॥ ४ °नाया वि० ॥ ५ °न्न संचया° भा० ॥ ६ °स्तन्मात्रैः भा०। °स्तत्मात्रै वि०। °स्तत्मात्रै भा० वि० विना ॥ ७ °वादिनाविशेषै° प्र० ॥ ८ सञ्चितयैक्या° प्र० ॥ ९ °शयोय य० ॥ १० मायेयीयः प्र० ॥ ११ ग्रंथो प्र० ॥ १२ °यत्वंका° य० ॥ १३ पंचात् प्र० ॥ १४ संचितालम्बनी° य० ॥ १५ संघातं वा इति पाठो भा० प्रतौ नास्ति ॥ १६ परमाणुऽपरमाणुं स्पृशेद् भा०। परमाणुं स्पृशेद् य० ॥ १७ स्यात्मप्रतिपद्यत्वहानं प्र०। "सनिदर्शन एकोऽत्र रूप सप्रतिघा दश। रूपिणोऽव्याकृता अष्टौ त एवारूपशब्दकाः ॥ १।२९ ॥ सप्रतिघा दश रूपिण इति रूपिग्रहणमरूपिनिरासार्थम्, रूपण रूपम्, तदेषामस्तीति रूपिण। दशेति चक्षुर्धात्वादयः पञ्च तद्विषयधातवश्च पञ्चेति।"—अभि० को० स्फुटा० १।२९॥

स्पर्शनास्पर्शनयो पिण्डाणुमात्रकृतत्वसप्रतिघत्वाभावादिदोषापत्तेर्देशस्पर्श एवो-पात्त । न स सञ्चयादृते सम्भवति।

यत्तूक्त नो नीलमिति एतदेवैक सवदति, कदाचिदपि नीलपरमाण्वाकारनियत-ज्ञानोत्पत्तिहेत्वभावात्, समुदायस्यानीलत्वात्। भेदतत्त्वाभिमतप्रत्येकसमुदाय परिग्रहेऽपि तेपामितरेतरनीलत्वेनानीलत्वादतद्रूपत्वाज्ज्ञात्याकारादिना अनन्यत्व-

---

स्मर्वात्मना स्पर्शाभाव । अस्पर्शनेऽपि **सप्रतिघत्वाभाव** । परमाणुपु चाविद्यमान प्रतिघात सिक्ता-स्विनाम्मत् तैल तत्सङ्घातेऽपि न स्यात्, स च दृष्ट सङ्घाते, तस्मान्नास्त्यस्पर्शन परमाणूना सङ्घातानां च । तस्मात् सङ्घाता एव सङ्घातान् देशेन स्पृशन्ति । आदिग्रहणाद् गतिप्रतिबन्धाभावश्लेपा स्यात्, ततश्च सङ्घाताभावादालम्बनाभाव स्यादित्यादिदोषापत्ते' **देशस्पर्श एवोपात्त । सोऽपि च स्पर्शो न च सञ्चयादृते स सम्भवति** कथञ्चिदिति साधूच्यते – सङ्घातातिशयो मायेयीय इति । एव 'नील विजानाति' इति वाक्यार्थोऽपि न घटत इत्युक्तम् ।

एतत्तु तस्मिन्नभिधर्मे प्रत्यक्षलक्षणोदाहरणवाक्ये सवदत्यर्थत । केनार्थेन कतमत्? **यत्तूक्त नो 'नीलमिति** 'विजानाति' इति वर्तत । अन्मा-नो-ना प्रतिपधे, 'नील न विजानाति' इति **एतदेवैक सवदति** नान्यत् किञ्चित् । कि कारणम्? **कदाचिदपि नीलपरमाण्वाकारनियतज्ञानोत्पत्तिहेत्व-भावात्** । ये तावत् परमाणवो नीला उच्यन्ते तेषा कदाचिदपि नीलाकारे नियतस्य ज्ञानस्योत्पत्तौ हेतुत्व न भूत न भवति न भविष्यति चातीन्द्रियत्वात्, अतोऽसौ त्वदभिमतचक्षुर्विज्ञानसमङ्गी न कदाचिन्नील विजानातीति सुनिश्चितोपपत्तिक वच । स्यान्मतम् – सञ्चयस्येन्द्रियविषयत्वान्नीलात्मकत्वाच्च तस्य नील विजानातीति, एतच्चायुक्तम्, **समुदायस्यानीलत्वात्** । यदि समुदाये सवृतिसति नीलत्व स्यात् ५३ १ स्यादेतदेवम्, न पुनरभावस्य नीलतास्तीति 'न विजानाति नीलम्' इत्येतदेवात्र सुभापितमिति ।

स्यान्मतम् – न विजानीयान्नील येचेनैव परमाणुमतीन्द्रिय पश्यतीति ब्रूयात् तत्समुदाय वा खपुष्प-स्थानीयमिति, किं तर्हि? तानेव परमाणून् प्रत्येक भिन्नान् सहतान् सपप्रचयवत्स्थान् पश्यतीति । एतच्चायुक्तम्, **भेदतत्त्वाभिमतेत्यादि** । भेदा एव तत्त्व भेदतत्त्वम्, तद्भावस्तत्त्वम्, 'भेदतत्त्वम्' इत्यभिमता **प्रत्येक** त एव **समुदाय** , न समुदायप्राधान्यम्, किं तर्हि? भेदप्रधान एव समुदाय **प्रत्येकसमुदाय** सं, **तत्परिग्रहेऽपि** भेदस्वरूपपरस्परविशिष्टसमुदायपरिग्रहेऽपि, शिबिकोद्वाहक न्यायेन प्रत्येकमसामर्थ्येऽपि तत्प्रधानसमुदाये नीलज्ञानोत्पत्तिहेतुसामर्थ्यमस्त्वित्येतस्मिन्नपि च पक्षे परिगृह्य-माणे नीलाभावान्न नील विजानाति । कस्मात्? **तेपामितरेतरनीलत्वेनानीलत्वात्** । तानि नीलत्वानि प्रतिपरमाणु भिन्नानि स्वाश्रयपरमाणुतोऽन्यत्र न वर्तन्ते, स्वैरमोत्पत्तिभङ्गत्वात्वार्थान्तरासम्बन्धाच्च भावानाम् । तस्मादितरस्य नीलत्वमितरत्र नास्ति, तस्यापि नीलत्वमितरत्र नास्ति । कि कारणम्? **अतद्रूपत्वात्**,

---

१ घा[ऽ]विद्य° य० ॥ २ पतेषा स्यात् तत च य० ॥ ३ °दृते सम्भवति भा० ॥ ४ नील विजानाति पा ड० टी १ ही० । नील विजानाति वि० ॥ ५ °कारनियत य० ॥ ६ स्यान्मत चयस्थे' य० ॥ ७ तस्या य० ॥ ८ स्यातदेयम् य० ॥ ९ यचेन य० ॥ १० °माणू प्रत्येक य ॥ ११ मस्तत्परि° य० ॥ १२ स्वर-स्योत्प भा० । स्वरस्योप° य ॥ १३ तस्यापि नीलत्वमितरत्र नास्ति इति पाठो य०प्रतिपु नास्ति ॥

करस्यानुपपत्तेरत्यन्तव्यावृत्तार्थत्वाद्द्रव्यसद्रूपत्वाद् ग्रहणाभावान्न नीलं विजानाति।

अत एव प्रत्यक्षविधिविधायकवाक्यस्यैपोऽर्थ आपद्यते—चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी सञ्चितालम्बनः सन्तानः सञ्चयं संवृतिसन्तं नीलं विजानाति, तस्यासतश्चक्षुपा

तदेव रूपं तद्रूपम्, न[1] तद्रूपमतद्रूपम्, तद्भावोऽतद्रूपत्वम्, तस्मादतद्रूपत्वात्। न हि तन्नीलमितरनील-[2]
रूपं भवति। यदि भवेत् तदेव [3]तत् स्यात्, तद्रूपत्वात्, तद्वत्; न तु भवति। अथवा तद्रूपमस्य तद्रूपम्,
न तद्रूपमस्य रूपमित्यतद्रूपम्। केन रूपेण? **जात्याकारादिना,** न हि तन्नीलमितरनीलरूपं जात्या नीलत्व-
५३-२ लक्षणया सामान्यभूतया आकारेण वा सस्थानविशेषेण वृत्तपरिमण्डलादिना, जातिरूपेणाकाररूपेण वा
यत् स्यादनन्यत्वकर[4] तयोर्नीलयोः परमाण्वोस्तस्य त्वन्मतेन[5] कस्यचिदनुपपत्तेरतद्रूपत्वम्। [6]अतो न नीलं
नीलान्तररूपेणास्ति, तद्वन्नीलान्तरमपि तद्रूपेण नास्ति। **आदि**ग्रहणात् प्रथमक्षणद्रव्यं द्वितीयक्षणद्रव्यरूपं
न भवति, तदपीत[7]रेरूप न भवतीति। देशतोऽपि देशान्तरद्रव्यं देशान्तरद्रव्यरूपं न भवति। अतोऽ**नन्य-
त्वकरस्यानुपपत्तेरतद्रूपत्वम्।** अनन्यत्वकरस्यानुपपत्तिरत्यन्तव्यावृत्तार्थत्वात्। **अर्थ** इति परमार्थ-
सन् नीलपरमाणुरेव, ते च परमाणवोऽत्यन्तमितरेतरव्यावृत्ता[8]साधारणरूपाः। कस्मात्? **द्रव्यसद्रूपत्वात्,**
द्रव्यसतो ह्येतद् रूपं यदन्यनिरपेक्षविविक्तस्वरूपत्वम, तत्र यथा तद् रसरूपेण गन्धरूपेण वा नास्ति
द्रव्यसद्रूपत्वात् तथा नीलान्तररूपेणापि नास्ति। तदपि च द्रव्यसद्रूपमा[9]णीपाद्यभावे रथाभाववत् नीला
न्तररूपाभाववद्वा तदभावेऽपि न भवत्येव, नीलत्वशून्यत्वाद्वा नीलान्तरनीलवत्। तदपि परनीलं तद्वद-
नीलम्। अतः कतरत् तन्नीलं स्याद्यद्विज्ञायेत चक्षुपा चक्षुर्विज्ञानसं[10]मङ्गिना? इति **ग्रहणाभावान्न
नीलं विजानाति** चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी। अनन्यत्वकरस्य जात्यादेरभावादेव वा रूपमिति वा रस इति
चात्यन्तभिन्नानां परमाणूनामभेदेन द्रव्यसतां ग्रहणाभावान्न नीलं विजानाति। इतरेतराभावपरमार्थत्वा-
द्वोक्तन्यायेनैव न नीलं नीलान्तरं चास्ति रूपरसादिवद[न]न्यरूपमिति 'न नीलं विजानाति' इत्येतदेव
संवदतीति [11]सूक्तमिति।

अत एवेत्यादि। **अत** इत्यनन्तरनिर्दिष्टनीलार्थचक्षुर्विज्ञानसमङ्गनाभावात्, एवेत्यवधारणे, वक्ष्य-
माणवाक्यार्थापत्तिः, **प्रत्यक्षविधेः** प्रत्यक्षजन्मनो **विधायकस्य वाक्य[12]स्यैपोऽर्थ आपद्यते,** 'नो तु नील-
५४-१ मिति' इत्यत्र 'इति'शब्दस्य प्रकारार्थवाचित्वादेवंप्रकारो वाक्यार्थ आपद्यत इति। कतमस्य वाक्यस्येति
स्फुटीकरणार्थं प्रस्तुतमेव प्रत्यक्षलक्षणोदाहरणवाक्यं प्रत्युच्चार्य प्रदर्शयति—**चक्षुर्विज्ञान** इत्यादि तदेव।
चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी सञ्चितालम्बनः पूर्वोक्तः **सन्तानः** चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी सञ्चितमालम्बनमस्येति
सञ्चितालम्बनः **सञ्चयं संवृतिसन्तं नीलं** रूपं [13]**विजानात्य**सद्वस्तु नीलाभिमतं जानाति, न सत्
किञ्चिदित्ययमर्थो जायते। किं कारणम्? **तस्य नीलस्य** सञ्चयस्य **असतः चक्षुपा** चक्षुरिन्द्रियेण

१ न तद्रूपं तद्भावो° य०॥ २ °तरस्य नील° य०॥ ३ त स्यात् भा०॥ ४ स्यादनत्वकरं तयो° भा०। स्यादनत्वकरतयो° य०॥ ५ तन्मतेन य०॥ ६ अत्ये न भा०। अन्ये न य०॥ ७ °तरूपं प्र०॥ ८ °वृत्ताऽसाधा° भा०। °वृत्त्यासाधा° रं० ही०॥ ९ °माणीयाद्यभावे प्र०। "अक्षाग्रकीले त्वण्याणी। अक्षस्य नाभिक्षेप्यस्य काष्ठस्याग्रेऽन्ते यन्वार्थं कीलस्तत्र, अणति शब्दायते अणि, आणि.. 'कृगृकुटि' [उणादि० ६१९] इति वा णिदि"—अभि० चिन्ता० स्वो० ३।४२०। ईपा रथावयव॥ १० °समंगिने ग्रहणाभावान्न नीलं भा०। °समंगिनेति नीलं य०॥ ११ दृश्यता पृ० ७५ प० ३॥ १२ °स्यैर्थोर्थ प्र०॥ १३ विज्ञानात्यत्य° भा०। विज्ञानान्य° य०॥

ग्रहणात्। नो तु नीलमेव भवति, परमार्थसत्परमाणुनीलत्वात्।

भावना त्वस्य – अनर्थेऽर्थसञ्ज्ञी, न च कदाचित् कश्चिदप्यर्थे धर्मसञ्ज्ञी। अनर्थे संवृतिसति समुदाये द्रव्यसन्नीलसञ्ज्ञी, न त्वर्थेऽर्थसञ्ज्ञी, न त्वर्थे एव द्रव्यसति अर्थसञ्ज्ञी तस्यातीन्द्रियत्वात्। न च कदाचित् कश्चिदप्यर्थे धर्मसञ्ज्ञी, अतीन्द्रियत्वादत्यन्त सर्वकालमग्राह्यत्वात्। अनर्थे एव धर्मसञ्ज्ञी, अनर्थे एवासति नामादिधर्मसञ्ज्यपि, सञ्चयस्य नामादीनां च कल्पनात्मकत्वात् कल्पनापोहासम्भवात्।

ग्रहणात्। नो तु नीलमेव भवति, एवम्प्रकारमसद्रूपं नीलं न भवति, सदेव हि तन्नीलं न जानाति परमार्थसत्। किं कारणं तन्नीलं न भवतीति चेत्, परमार्थसत्परमाणुनीलत्वात्, परमार्थसन्तो हि परमाणव एव नीला न सञ्चय। तस्मान्न नीलं विजानाति चक्षुर्विज्ञानसमङ्गीति।

भावना त्वस्येत्यादि। उक्तोपपत्तिबलादेव त्वदुक्ता भावना न घटते – अर्थेऽर्थसञ्ज्ञी, न त्वर्थे धर्मसञ्ज्ञी [अभि० पि०] इति। कथं तर्हि घटते? इत्यत्राह – भावना त्वस्य अनर्थेऽर्थसञ्ज्ञी, न च कदाचित् कश्चिदप्यर्थे धर्मसञ्ज्ञीति। तद्व्याचष्टे – अनर्थे संवृतिसति समुदाये। अनर्थो हि संवृतिसत्त्वात् समुदाय, तन्मद्दे तद्बुद्ध्यभावात्, यथोक्तं यस्मिन् भिन्ने न तद्बुद्धि [अभि० को० ६।४] इति श्लोक, पङ्क्त्यादिवत्। इति त्वन्मतेनैव तस्मिन्नसल्लक्षणे समुदाये द्रव्यसन्नीलसञ्ज्ञी परमार्थसत्परमाणुनीलसञ्ज्ञी, तेषामेवार्थत्वात्। 'अनर्थेऽर्थसञ्ज्ञी' इत्येतस्मादनन्तरवाक्यादर्थाक्षिप्तमेतल्लभ्यते – न त्वर्थेऽर्थसञ्ज्ञीति। तद्व्याचष्टे – न त्वर्थे एव द्रव्यसति परमाणुनीले एव अर्थसञ्ज्ञी भवति। कस्मात्? तस्यार्थस्यातीन्द्रियत्वादित्येतत् कारणं ५४ २ पुष्कलमस्त्यस्मिन्नस्मत्कल्पितभावनावाक्य इति दर्शयति। यद्येवमर्थे धर्मसञ्ज्ञी भवतु, नेत्युच्यते, न च कदाचित् कश्चिदप्यर्थे धर्मसञ्ज्ञी। कदाचिदिति समुदायस्यैवेन्द्रियविषयत्वात् तद्ग्रहणकाले इतरकाले वा न धर्मसञ्ज्ञ्यर्थे भवितुमर्हति। अथवा प्रत्यक्षकालेऽनुमानकाले वा। किं कारणम्? अतीन्द्रियत्वात्, अत्यन्त सर्वकालं 'कदाचित्' इत्यस्य व्याख्यानम्, अग्राह्यत्वात्। कस्य? परमाणुनीलादे। ततोऽर्थादेतदप्यापन्नम् – अनर्थ एव धर्मसञ्ज्ञीति। तद्व्याचष्टे – अनर्थ एवासति नामादिधर्मसञ्ज्यपि। किं कारणम्? सञ्चयस्य नामादीनां च कल्पनात्मकत्वादनर्थेऽर्थसञ्ज्ञीति यावत्, कल्पनात्मके सञ्चयेऽनर्थेऽनर्थकल्पनात्मकशब्दादिधर्मसञ्ज्ञी। कस्मात्? कल्पनापोहासम्भवात् समुदाये समुदायाश्रयनामादिषु वा, नामजात्यादियोजना च कल्पना, तदपोहस्तस्य ज्ञानस्य कल्पितसमुदायतन्नामादिविषयस्य न सम्भवत्यत। तस्मादस्मदुक्तैषा भावना घटते। अथवा त्वदीयैरेवाक्षरैरेषोऽर्थो भाव्यते – अर्थेऽर्थसञ्ज्ञी न, अर्थे नीलादौ परमार्थसत्यर्थसञ्ज्ञी न भवत्यतीन्द्रियत्वात् तस्य। तुशब्दो विशेषणे, अर्थे धर्मसञ्ज्ञी 'न' इति वर्तते, यस्मात्तदर्थ एवार्थसञ्ज्ञी न भवतीति स कुतोऽर्थे धर्मसञ्ज्ञी भवति? इति विशेषस्तुशब्दात्। अर्थापत्त्या पुनरयदनर्थेऽर्थसञ्ज्ञी तस्मिन्नेव च धर्मसञ्ज्ञीति।

---

१ दृश्यतां पृ० ६१ पं० ४॥ २ न घटते प्र०॥ ३ दृश्यतां पृ० ६७ पं० ७॥ ४ °कालेऽत्तइत्तर° भा०। कालेत्तइत्वर य। अत्र 'काले उत्तरकाले वा' इत्यपि पाठः स्यात्॥ ५ सञ्ज्ञाप्यर्थे य॥ ६ °सञ्ज्ञपि प्र०॥ ७ °दनर्थेऽनर्थ यावत् य०॥

ततः शून्यशून्यप्रत्युत्पादनावदसद्विपयत्वान्निर्मूलकल्पनामात्रसत्यता।

यच्चाप्यभिहितमभिधर्मकोशे – यदेतदनेकप्रकारभिन्नं रूपायतनं तत्र कदाचिदेकेन

५५-१ ततः किं जातम्? **शून्यशून्यप्रत्युत्पादनावदसद्विपयत्वं** दोपजातमपि तस्याः कल्पनायाः। यथा शून्यं शून्येन गुणितं जातं शून्यमेवेति यथा गणकानां क्वचित् कल्पनमसद्विपयं शिष्यमतिपरिकर्मार्थं तथेदमसद्विपयम्। ततश्च **असद्विपयत्वान्निर्मूलकल्पनामात्रसत्यता,** निर्वीजा समुदयकल्पना तद्धर्मकल्पना च, निर्मूले द्वे अपि कल्पने, ते प्रमाणमस्य तन्मात्रम्, तन्मात्रमेव सत्यम्, नान्यत् किञ्चित सत्यं भवत्कल्पिते प्रत्यक्षे। तस्मान्निर्मूलकल्पनामात्रसत्यत्वाल्लौकिकैर्ष्टसत्मलिलादिवीजमृगतृष्णिकादिकल्पनाभ्योऽपि पापीयस्यौ प्रत्यक्षानुमानकल्पने युष्मदीये।

यच्चाप्यभिहितमभिधर्मकोशे यदेतदनेकप्रकारभिन्नमित्यादि यावदनेकवर्णसंस्थानं पश्यत

---

१ शून्यशून्यप्रत्युपादना° य०। शून्यप्रत्युपादना° भा०। अत्र **प्रत्युत्पादना** गुणनमित्यर्थः ॥ २ **तथा** य० ॥ ३ **निर्वीजात्समु°** य० ॥ ४ °**ष्टमत्सलिला**° भा०। °**ष्टमंसलिला**° य० ॥ ५ **यतदनेक**° प्र०। अभिधर्मकोशस्य तद्भाष्यस्य च **वसुवन्धु**प्रणीतत्वाद**भिधर्मकोश**शब्देन **अभिधर्मकोशभाष्य**मेवात्र विवक्षितम्। तत्र च विद्वद्वरश्री**वासुदेवविश्वनाथगोखले**महोदयाना प्रयासेन भदन्तश्री**शान्तिभिक्षु**महोदयसाहाय्येन च विद्वद्वरश्री**प्रह्लादप्रधान**महोदयाना सौजन्यात् समुपलब्धे हस्तलिखितेऽ**भिधर्मकोशभाष्ये** एवम्विध पाठ —

"रूप द्विधा विंशतिधा शब्दस्त्वष्टविधो रस। षोढा चतुर्विधो गन्ध स्पृश्यमेकादशात्मकम् ॥ १।१० ॥ निर्दिष्टानि पञ्चेन्द्रियाणि। अर्था पञ्च निर्देश्या। तत्र तावद् **रूपं द्विधा** – वर्ण सस्थानं च। तत्र वर्णश्चतुर्विधो नीलादि, तद्भेदा अन्ये। सस्थानं सप्तविधं दीर्घादि विसातान्तम्। तदेव रूपायतन पुनरुच्यते **विंशतिधा,** तद्यथा–१ नीलम्, २ पीतम्, ३ लोहितम्, ४ अवदातम्, ५ दीर्घम्, ६ ह्रस्वम्, ७ वृत्तम्, ८ परिमण्डलम्, ९ उन्नतम्, १० अवनतम्, ११ सातम्, १२ विसातम्, १३ अभ्रम्, १४ धूम, १५ रज., १६ महिका, १७ छाया, १८ आतप, १९ आलोक, २० अन्धकारमिति। केचिद् नभश्चैकवर्णमिति एकविंशतिं सम्पठन्ति। तत्र सात समसस्थानम्, विसात विषमसस्थानम्, महिका नीहार, आतप सूर्यप्रभा, आलोक चन्द्रतारकाग्न्योषधिमणीना प्रभा, छाया यत्र रूपाणा दर्शनम्, विपर्ययादन्धकारम्। शेष सुगमत्वान्न विपञ्चितम्। अस्ति रूपायतनं वर्णतो विद्यते न सस्थानत नीलपीतलोहितावदातच्छायातपालोकान्धकाराख्यम्। अस्ति सस्थानतो न वर्णत दीर्घादीना प्रदेश कायविज्ञप्तिस्वभाव। अस्त्युभयथा परिशिष्टं रूपायतनम्। आतपालोकावेव वर्णतो विद्येते इत्यपरे, दृश्यते हि नीलादीनां दीर्घादिपरिच्छेद इति। कथ पुनरेकं द्रव्यमुभयथा विद्यते? अस्ति उभयस्य तत्र प्रज्ञानात्, ज्ञानार्थो ह्येष विदि, न सत्तार्थ। कायविज्ञप्तावपि तर्हि प्रसङ्ग। उक्त रूपायतनम्। **शब्दस्त्वष्टविधः** उपात्तानुपात्तमहाभूतहेतुक सत्त्वासत्त्वाख्यश्चेति चतुर्विध। स पुनर्मनोज्ञामनोज्ञभेदादष्टविधो भवति। तत्रोपात्तमहाभूतहेतुको यथा हस्तवाक्छब्द। अनुपात्तमहाभूतहेतुको यथा वायुवनस्पतिनदीशब्द। सत्त्वाख्यो वाग्विज्ञप्तिशब्द। असत्त्वाख्योऽन्य। उपात्तानुपात्तमहाभूतहेतुकोऽप्यस्ति शब्द इत्यपरे, तद्यथा – हस्तमृदङ्गसयोगज इति। स तु यथैकवर्णपरमाणुर्न भूतचतुष्कद्वयमुपादायेष्यते तथा नैवेष्टव्य इति उक्त शब्द। **रसः षोढा,** मधुराम्ललवणकटुकतिक्तकषायभेदात्। **चतुर्विधो गन्धः,** सुगन्धदुर्गन्धयो समविषमगन्धत्वात्। त्रिविधस्तु शास्त्रे–सुगन्धो दुर्गन्ध समगन्ध इति। **स्पृश्यमेकादशात्मकम्,** स्प्रष्टव्यमेकादशद्रव्यस्वभावम् — चत्वारि महाभूतानि श्लक्ष्णत्व कर्कशत्वं गुरुत्वं लघुत्व शीत जिघत्सा पिपासा चेति। तत्र भूतानि पश्चाद् वक्ष्याम। श्लक्ष्णत्व मृदुता। कर्कशत्वं परुषता। गुरुत्वं येन भावास्तुल्यन्ते। लघुत्वं विपर्ययात्। शीतमुष्णाभिलाषकृत्। जिघत्सा भोजनाभिलाषकृत्, कारणे कार्योपचारात्, यथा – 'बुद्धाना सुख उत्पाद सुखा धर्मस्य देशना। सुखा सङ्घस्य सामग्री समग्राणा तप सुखम् ॥' इति। तत्र रूपधातौ जिघत्सापिपासे न स्त, शेषमस्ति। यद्यपि तत्र वस्त्राण्येकशो न तुल्यन्ते सञ्चितानि पुनस्तुल्यन्ते। शीतमुपघातक नास्ति, अनुग्राहकं किलास्ति। **यदेतद् वहुविध रूपमुक्त तत्र कदाचिदेकेन द्रव्येण चक्षुर्विज्ञानमुत्पद्यते यदा तत्प्रकारव्यवच्छेदो**

द्रव्येण चक्षुर्विज्ञानमुत्पाद्यते यदा नीलादितत्प्रकारव्यवच्छेदो भवति, कदाचिदनेकेन यदा न तत्प्रकारव्यवच्छेदः, तद्यथा दूरान्मणिसमूहमनेकवर्णसंस्थानं पश्यतः । अत्रापि कथमनेकप्रकारभिन्न

इति बुद्धवचनं प्रत्यक्षलक्षणानुषङ्गागतं चक्षुर्विज्ञानसमङ्गिनीलविज्ञानोदाहरणसंभावनयाऽन्यत्रोपपद्यते एवेत्युपपादयिष्यत्युपन्यस्यति । इदं पुनर्बुद्धवचनं 'प्रमाणम्' इति अभिधर्मकोशे निदर्शितं तद्विचार्यम् । तत्रानेकः प्रकारः प्रदृष्टः प्रकारः, कोऽसौ ? अन्योन्यातुल्यत्वम् । केन प्रकारेण भिन्नं रूपायतनम् ? नीलपीतादिप्रकारभिन्नम् । तत्र तस्मिन् रूपायतनेऽनेकप्रकारभिन्ने कदाचिदेकेन द्रव्येण चक्षुर्विज्ञानमुत्पाद्यते । कदा पुनरेकेन द्रव्येणोत्पाद्यते ? यदा नीलादितत्प्रकारव्यवच्छेदो भवति, 'नीलमेवेदं न पीतादि, पीतमेवेदं न नीलादि' इत्येकप्रकारव्यवच्छेदो यदा भवति तदा चक्षुर्विज्ञानमेकेन द्रव्येणोत्पाद्यते । कदाचिदनेकेन, कदा पुनरनेकेन ? यदा न तत्प्रकारव्यवच्छेदो भवति, नीलादिप्रकारव्यवच्छेदो यदा न भवति तदा चक्षुर्विज्ञानमनेकेन द्रव्येणोत्पाद्यते । अस्मिन्नर्थ उदाहरणमप्याह – तद्यथा दूरान्मणिसमूहमित्यादि । विप्रकृष्टदेशस्थितं मणीनां समूहमनेकवर्णसंस्थानमनेकेन वर्णेन संस्थानं ५५
व्यवस्थानमस्य तमनेकवर्णसंस्थानं पश्यतः, अनेकवर्णमनेकसंस्थानं च पश्यत इति वा । यो नीलपीताद्यनेकवर्णो वृत्तत्र्यस्राद्यनेकसंस्थानो वज्रेन्द्रनीलमरकतमन्यकपुष्परागपद्मरागस्फटिकादिमणिसमूहोऽनेकप्रकारभिन्नस्तं पश्यतः पुरुषस्य दूरान्न व्यवच्छेदो भवति, आरात्तु व्यवच्छेदो भवति–अयमिन्द्रनीलो वज्रादीनामन्यतमो वेति ।

तत्र कल्पनापोढस्वलक्षणविषयप्रत्यक्षलक्षणचोद्योपक्रमप्रसङ्गेन यत्तर्हीदं 'सञ्चितालम्बनाः पञ्च विज्ञानकायाः' [अभि० पि०] इति तत् कथं यदि तदेकतो न विकल्पयति ? इति, यच्चोक्तमनेकप्रकारभिन्नैकानेकद्रव्योत्पाद्यज्ञानतेत्यत्र कल्पनात्मकत्वप्रसङ्गोऽस्वलक्षणविषयत्वप्रसङ्गश्चेति चोदिते तत्परिहारार्थम्– 'आयतनस्वलक्षणं प्रत्येते स्वलक्षणविषया न द्रव्यस्वलक्षणम्' [अभि० को० भा० १।१०] इति कथं तत् कल्पनापेतम् ? इत्यत्र विचारं करिष्यते । इदमेव तावद्विचारयामो बुद्धवचनम्–कदाचिदेकेन द्रव्येण ज्ञानमुत्पाद्यते कदाचिदनेकेनेति । अत्रापि कथमनेकप्रकारभिन्नसामान्यवृत्तिरूपायतनताया

भवति । कदाचिद् बहुभिर्यदा न व्यवच्छेदः, तद्यथा सेनाव्यूहमनेकवर्णसंस्थानं मणिव्यूहं वा(बा) दूरात् पश्यतः । एवं श्रोत्रादिविज्ञानं वक्तव्यम् । कायविज्ञानं तु परं पञ्चभिः स्प्रष्टव्यैरुत्पद्यते इत्येके चतुर्भिर्महाभूतैरेकेन च श्लक्ष्णत्वादिना । सर्वैरेकादशभिरित्यपरे । ननु चैवं समस्तालम्बनत्वात् सामान्यविषयाः पञ्च विज्ञानकायाः प्राप्नुवन्ति, न स्वलक्षणविषयाः । आयतनस्वलक्षणं प्रत्येते स्वलक्षणविषया इष्यन्ते न द्रव्यस्वलक्षणमित्यदोषः । इदं विचार्यते – कायजिह्वेन्द्रिययोर्युगपद् विषयप्राप्तौ सत्यां कतरद् विज्ञानं पूर्वमुत्पद्यते ? यस्य विषयः पटीयान् । समप्राप्ते तु विषये जिह्वाविज्ञानं पूर्वमुत्पद्यते भोक्तृकामतावर्तित्वात् सत्त्वस्य । उक्ता पञ्चेन्द्रियार्था यथा च तेषां ग्रहणम् ।' १।१० ॥

१ °ष्यम पश्यति य० । °ष्यम पश्यति भा० । अत्र °ष्यन् पठति इत्यपि पाठः स्यात् ॥ २ °तने नेक° प्र० ॥ ३ कथं पुन° वि० विना । कथं पुन वि ॥ ४ यदा तत्प्रकार य० ॥ ५ वृत्तत्र्यस्रा° प्र० ॥ ६ मयपत्यमिन्द्र य० ॥ ७ 'एवं प्रत्यक्षं कल्पनापोढमुपलक्ष्य अभिधर्मेऽप्युक्तम्–'चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी नीलं विजानाति नो तु नीलमिति । अर्थेऽर्थसंज्ञी न त्वर्थे धर्मसंज्ञी' इति । यत्तर्हीदं सञ्चितालम्बनाः पञ्च विज्ञानकायाः [अभि० पि०] इति तत् कथं यदि तदेकतो न विकल्पयति ? यच्चोक्तम्– आयतनस्वलक्षणं प्रत्येते स्वलक्षणविषया न द्रव्यस्वलक्षणम् इति [अभि० को० भा० १।१०] इति तत् कथम् ? इति चेत्, तत्रानेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थे सामान्यगोचरम् । अनेकद्रव्योत्पादत्वात् तत् स्वायतनसामान्यगोचरमित्युच्यते न तु भिन्नेष्वभेदकल्पनात् ।'–इत्युक्तमिदं चोद्यपरिहारादिकं दिङ्नागाचार्यविरचितायां प्रमाणसमुच्चयस्ववृत्तौ १।४ ॥ ८ 'स्पर्शतीति यच्चो' भा० । स्पर्शति यच्चो य ॥ ९ °ज्ञानेत्यत्र य ॥ १० इदमेतावद्वि य० ॥

सामान्यवृत्तिरूपायतनतायां तद्रूपायतनं पश्यतस्तस्य तद्विषयत्वात् स्वलक्षणविषयाः पञ्चविज्ञानकायाः पश्यन्ते इति वक्तव्यम्। कथं चेति सञ्चितालम्बनतायामविभागसमवस्थसमूहात्मकत्वादेकप्रकारावच्छेदो मणिसमूहप्रभानुविद्धवर्णसंस्थानवत्?

एकस्य च द्रव्यस्य कदाचिदग्रहणादेकेन द्रव्येण कथं चक्षुर्विज्ञानमुत्पाद्यते, रसानास्वादनरसाज्ञानवत्। एकद्रव्यज्ञानोत्पादने तु सञ्चितालम्बनकल्पना निरर्थिकैव, तदभ्युपगमविरोधः।

यावत् पश्यन्त[1] इति वक्तव्यम्। कथं वक्तव्यमिति सम्बन्धः। अनेकप्रकारे[2] भिन्ने सामान्ये वृत्तिरस्य रूपायतनस्य तदनेकप्रकारभिन्नसामान्यवृत्तिरूपायतनम्, तद्भावस्तद्रूपायतनता, तस्यां सत्याम-नेकप्रकारभिन्नसामान्यवृत्तिरूपायतनतायां **तद्रूपायतनं पश्यतः** समूहात्मकं तदालम्बनत्वात् **तस्य** चक्षुर्विज्ञानस्य **तद्विषयत्वात्** सामान्याख्यसमूहरूपायतनविषयत्वात् कथं स्वलक्षणविषयं तदुच्यते? तथा
५८-१ सर्वेऽप्यादिपञ्चविज्ञानकाया रूपायतनतद्विज्ञानयोरुदाहरणमात्रत्वात् **कथं स्वलक्षणविषयाः पञ्च विज्ञानकायाः पश्यन्त[3] इति वक्तव्यो**ऽत्र समाधिः। आयतनस्य सामान्यस्यपर्यायान्न स्वलक्षणतेत्यर्थः।

कथं चेतीत्यादि यावदे**कप्रकारावच्छेद** इति। **कथ**मिति हेतुपरिप्रश्ने, **च**शब्दो दोषसमुच्चये, केन हेतुना तस्यामनेकप्रकार[5]भिन्नसामान्यवृत्तिरूपायतनतायाम्, **इति**शब्दः प्रकारवाची, इत्थं नानारूपं[6] रूपायतनं पश्यतः **सञ्चितालम्बनतायामविभागसमवस्थसमूहात्मकत्वात्**, अविभागेनैक्यापत्त्या समवस्था यस्य समूहस्य सोऽयमविभागसमवस्थसमूहः, तदात्मकत्वाद्रूपायतनस्य कथ**मेकप्रकारावच्छेदः**? न भवितुमर्हतीत्यर्थः। किमिव? **मणिसमूहप्रभानुविद्धवर्णसंस्थानवत्**, यथा नानावर्णानां मणीनां समूहे तत्प्रभयानुविद्धे वर्णसंस्थाने नास्त्येकप्रकारावच्छेदस्तथैकद्रव्यावच्छेदाभाव इति।

किञ्चान्यत्—**एकस्य च द्रव्यस्य कदाचिदग्रहणात्** एकस्य च द्रव्यस्य परमाणोः सर्वदाप्यतीन्द्रियस्य ग्रहणाभावादे**केन द्रव्येण कथं चक्षुर्विज्ञानमुत्पाद्यते?** न कदाचित् कथञ्चिदुत्पाद्यत इत्यर्थः। तस्मात् 'कदाचिदेकेन द्रव्येण ज्ञानमुत्पाद्यते यदा नीलादिप्रकारव्यवच्छेदो भवति' इति किमेतदवुद्धवचनं वुद्धवचनम्? इति चिन्त्यताम्। किमिव पुनरेकस्य द्रव्यस्य कदाचिदग्रहणाच्चक्षु[8]र्विज्ञानं नोत्पाद्यते
५८-२ इति चेत्, उच्यते[9]—**रसानास्वादनरसाज्ञानवत्**, रसनेन्द्रियेणानास्वादिते यथा रसज्ञानं नोत्पद्यत एवं चक्षुषा न गृहीते चक्षुर्विज्ञानं नास्ति। यदि चास्य वुद्धवचनस्य वुद्धवचनत्वसिद्ध्यर्थमेकेन द्रव्येण ज्ञानमुत्पाद्यत इत्य[10]भ्युपगम्यते[11] तत **एकद्रव्यज्ञानोत्पादने तु सञ्चितालम्बनकल्पना निरर्थिकैव।** यदा चैवं प्रत्येकं चक्षुर्विषयता अणूनामिष्यते तदेदमपरं वुद्धवचनमवुद्धवचनं निरर्थकं च जायते। कतमत्? सञ्चितालम्बनाः पञ्चविज्ञानकायाः [अभि० पि०] इति। एतस्य वा[12] सत्यत्वे तदसत्यता स्थितैवेति परस्परतो वचनद्वयविषयोऽभ्युपगमविरोध इत्यत आह—**तदभ्युपगमविरोधः।**

---

१ पश्यंत प्र० ॥ २ अत्र अनेकप्रकारभिन्ने इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ३ पश्यंत भा० ॥ ४ °त्वान्न च लक्षण° भा० । °त्वात्तच्चलक्षण° य० ॥ ५ °प्रकारसामान्य° प्र० । द्रष्टव्यता पं० ९ ॥ ६ नानारूपि य० ॥ ७ द्रष्टव्यता पृ० ७८ प० २ ॥ ८ °ग्रहणचक्षु° प्र० ॥ ९ उच्यते सानास्वादन° प्र० । अत्र 'उच्यते रसनानास्वादने' इत्यपि पाठः स्यात् ॥ १० इत्यन्युप° वि० । इत्यनुप° वि० विना ॥ ११ °गम्यते त एक° भा० पा० ॥ १२ वा य० ॥

प्रकारावच्छेदानवच्छेदानेकप्रकारभिन्नत्वज्ञानान्यपि न स्युः, रूपायतनस्य सञ्चितगतेरेव, नरसिंहवत्। नरसिंहानेकप्रकारगतिरपि हि नरत्वसिंहत्वसञ्चययोः पूर्वं भेदेन दर्शनात्। असञ्चये तु तद्द्रव्येष्वणुषु प्रकारग्रहणमेव नास्ति, असञ्चित स्यादर्शनात्, कुत एव तद्व्यवच्छेदादि?

'अनेकेन' इति वचनात् संवृतिसत्सामान्यासत्कल्पनविषया' पञ्च विज्ञानकायाः,

---

विज्ञान्यत्–प्रकारावच्छेदेत्यादि यावत् सञ्चितगतेरेव। न 'प्रकार, अवच्छेद, अनवच्छेद, अनेकप्रकारभिन्नत्वम्' इत्येतान्यपि ज्ञानानि भवितुमर्हन्ति। कस्मात्? रूपायतनस्य सञ्चितगतेरेव, सञ्चितमेव हि रूपायतनं गम्यते नासञ्चितम्। अतो न 'प्रकार' इति ज्ञानं घटते प्रकृष्ट कारः प्रकारः नीलं पीतं इति, अयमस्माद्विशिष्ट इति परस्परतोऽत्यन्तभेदाभावे प्रकाराभावात्, अभेदगते सामान्ये न तु प्रकारज्ञानं घटते, तथावच्छेदोऽन्यस्मादन्यस्य भेदाभेदविकल्पनात्, तथानवच्छेदः, 'अनेक' इति, 'अनेकेन च प्रकारेण भिन्न' इति भिन्नानामभेदगतिः। सञ्चितगतेरभेदगतेश्च न प्रकारादिज्ञानानि अकल्पनात्मकानि स्वलक्षणविषयाणि च भवितुमर्हन्ति। किमिव? नरसिंहवत्, यथा नरस्याकारोऽधस्य सिंहस्याकारः शिरोभागः, तदुभयाभेदगतेर्नरसिंह इत्युच्यते एवं प्रकारादिज्ञानान्यपि भिन्ने- ५७ १
ष्वभेदकल्पनादेव स्युर्नान्यथेति। नरे सिंहे च नरसिंहाविति भिन्नयोरभेदगत्यभावाद्दृष्टान्ततेति चेत्, न, सञ्चययोरेवाभेदरूपत्वात्। नरसिंहानेकप्रकारगतिरपि हीत्यादि, तयोर्हि प्रत्येकं नर इति सिंह इति च भिन्नयोरपि प्रकारगतिर्यस्मान्नरत्वसिंहत्वसञ्चययोः, नीलादिपरमाण्वादिद्रव्याणां पूर्वं भेदेन दर्शनादभेदकल्पनात्मिका भेदगतिरिति युक्ता, न तथा तु।

अभ्युपेत्यापि नरसिंहप्रकारगतिमेव च असञ्चये तु तद्द्रव्येष्वणुष्वित्यादि। सञ्चितालम्बना पञ्च विज्ञानकाया इति यदुक्तं त्वया तद्विस्मृत्येदमुक्तम्–'यदेतदनेकप्रकारभिन्नं रूपायतनं तत्र कदाचिदेकेन द्रव्येण ज्ञानमुत्पाद्यत इति। 'चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी नीलं विजानाति नो तु नीलमिति' एतदपि निस्मृत्येदमुक्तम्– कदाचिदनेकेन यदा तद्व्यवच्छेदो न भवति, तद्यथा– मणिसमूहमनेकवर्णसंस्थानं पश्यत इति, नीलपीताद्यनेकरूपस्य युगपद्ग्रहणाभ्युपगमे नीलैकरूपविज्ञानविरोधादित्यलं प्रसङ्गेन। प्रकृतमुच्यते– द्रव्यसत्सु अणुषु नीलपीतादिप्रकारग्रहणमेव नास्ति तदसञ्चये। किं कारणम्? असञ्चितस्यादर्शनात्। असञ्चितानामदर्शनमतीन्द्रियत्वादित्युक्तम्। कुत एव तद्व्यवच्छेदादि? सति हि दर्शने तद्व्यवच्छेदानवच्छेदप्रकारभिन्नत्वज्ञानानि सम्भाव्येरन्, असति दर्शने दूरादेव तानि न स्युः। एवं तावत् 'एकेन द्रव्येण' इत्ययुक्तम्।

यदपि चोक्तम् 'अनेकेन द्रव्येण कदाचिज्ज्ञानमुत्पाद्यते' इति, एतस्मात् 'अनेकेन' इति वचनात् तस्यानेकद्रव्यस्य संवृतिसत्त्वात् सामान्यता, सामान्यत्वादसत्कल्पनं तत्, तद्विषयाः पञ्च विज्ञानकायाः, असत्कल्पनविषयत्वादनुमानतदाभासज्ञानवदप्रत्यक्षमप्रमाणं वा दूरान्मणिसमूहदर्शनवदिति

---

१ °गतेरिव य०॥ २ गम्यते घासचितम् य॥ ३ प्रकारमाभावात् प्र०॥ ४ सञ्चितगते य॥ ५ नरसिंह इति च य॥ ६ पूर्वमेदेन प्र०॥ ७ युक्ता १० ही०॥ ८ अभ्युपेत्यादि नर° भा०। अभ्युपेत्यादि नर° य०॥ ९ दृश्यतां पृ० ६४ पं० १॥ १० दृश्यतां पृ० ७८ पं० २॥ ११ दृश्यतां पृ० ६१ पं० १॥ १२ दृश्यतां पृ० ७९ पं० १॥ १३ एतद्व्यवच्छे प्र०॥ १४ इत्युक्तम् य॥ १५ तस्यनेकद्रव्यसंवृति° य०॥

न स्वलक्षणविषयाः, एकविज्ञानानेकविषयतापि ।

यदपि च बुद्धेनोक्तम् – द्वयं प्रतीत्य विज्ञानस्योत्पत्तिर्भवति। कतमद् द्वयं प्रतीत्य ? चक्षुः प्रतीत्य रूपाणि चोत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानम्। श्रोत्रं प्रतीत्य शब्दांश्चोत्पद्यते श्रोत्रविज्ञानम्। घ्राणं प्रतीत्य गन्धांश्चोत्पद्यते घ्राणविज्ञानम्। जिह्वां प्रतीत्य रसांश्चोत्पद्यते जिह्वाविज्ञानम्। कायं प्रतीत्य स्प्रष्टव्यांश्चोत्पद्यते कायविज्ञानम्। मनः प्रतीत्य धर्मांश्चोत्पद्यते मनोविज्ञानम् [ ]। **अत्रापि यदि व्यक्त्यपेक्षो निर्देशः सञ्चयवचनाय ततोऽयमेव दोषः। अथ द्रव्योक्तये तत इहाभ्युपगमविरोधः। बुद्ध्यादेरपि चैन्द्रियकत्वम्, अतीन्द्रियत्वात्, रूपवत्। यश्चात्र विरोधः स तुल्यः परमाण्वैन्द्रियकत्वेन। अतीन्द्रियत्वादनुमानविरोधः।**

न स्वलक्षणविषयाः प्रसक्ताः । न च [1]केवलमस्वलक्षणविषयतैव दोषः, किं तर्हि ? **एकविज्ञानानेकविषयतापि** दूरदर्शनवदेवेति[2] ।

बुद्धवचनासमञ्जसत्व[3]प्रतिपादनप्रसङ्गेनेदमभ्युपन्यस्तम् – **यदपि च बुद्धेनोक्तमित्यादि** यावद् **धर्मांश्चोत्पद्यते मनोविज्ञानमिति** । यद्यनेकेन द्रव्येण ज्ञानमुत्पाद्यते, साक्षाद् बुद्धेनोक्तं यदपि च **द्वयं प्रतीत्येत्यादि** विरुध्यत इत्यभिसम्बन्धः। आध्यात्मिकमायतनं बाह्यं च **द्वयं प्रतीत्य विज्ञानस्योत्पत्तिर्भवति** इत्युक्त्वा स्वयमेव पुनः प्रतिपृच्छ्य व्याकरोति – [4]**कतमद्द्वयं प्रतीत्य ? [5]चक्षुः प्रतीत्य रूपाणि च** प्रतीत्य इत्यादि विभज्य वाच्यं गतार्थमेव तत्। द्वयषट्काद् विज्ञानषट्कमुत्पद्यत इति पूर्वपक्षः। तथा चाह –

५८-१ विजानाति न विज्ञानमेकमर्थद्वयं यथा ।
एकमर्थं विजानाति न विज्ञानद्वयं तथा ॥ [चतु.श० २६८] इति ।

अत्रोत्तरमाह – **अत्रापि** 'चक्षुः प्रतीत्य रूपाणि च प्रतीत्य चक्षुर्विज्ञानस्योत्पत्तिर्भवति' इति द्वयी गतिर्बहुवचननिर्देशस्य – सञ्चयापेक्षयातीन्द्रियाणामपि[6] रूपाणां व्यक्तिपदार्थाश्रयः स्यात् ? जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् [पा० १।२।५८] इति जातिपदार्थाश्रयो वा ? तत्र **यदि व्यक्त्यपेक्षो निर्देशः [7]सञ्चयवचनाय ततोऽयमेव** [8]'संवृतिसत्सामान्यासत्कल्पनविषयाः पञ्च विज्ञानकाया न स्वलक्षणविषया इति **दोषः । अथ द्रव्योक्तये** तज्जातीयाः परमाणव एकरूपनिर्देशेन सर्वे निर्देष्टव्या इत्येकस्मिन् बहुवचनं **तत इहाभ्युपगमविरोधः,** अभ्युपगतं त्वया 'अतीन्द्रियाः परमाणवः' इति, तेन विरोधः। अस्मिंश्चाभ्युपगमेऽन्यदप्यनिष्टापादनमुच्यते – **बुद्ध्यादेरपि चैन्द्रियकत्वम्, अतीन्द्रियत्वात्, रूपवदिति** । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषवेदनादयो धर्माश्चाक्षुषाः स्युर्भवत्परिकल्पिताः, अतीन्द्रियत्वात्, रूपवत्। रूपं वा न चक्षुर्ग्राह्यं स्यात्, अतीन्द्रियत्वात्, बुद्ध्यादिवत्। ब्रूयास्त्वम् – नन्वतीन्द्रियत्वं चक्षुर्ग्राह्यत्वं च परस्परतो [9]विरुध्येते इति। तन्मा मंस्थाः, भवतोऽनिष्टापादनपरत्वाद् भवद्बुद्धिनिवर्तनफलत्वाच्चास्य प्रयोगस्येति। अथापि **यश्चात्र विरोधः** सम्भाव्येत **स तुल्यः परमा[10]ण्वैन्द्रियकत्वेन,** [11]परमोऽणुः परमाणुः,

---

१ केवल अस्वलक्षण° प्र० । अत्र केवलोऽस्वलक्षण° इत्यपि पाठः स्यात् ॥ २ °दर्शनमवदेवेति प्र० ॥ ३ °सत्त्वप्रति° य० ॥ ४ कतद्द्वयं प्र० ॥ ५ चक्षुः य० ॥ ६ णामपिरूपाणामरूपाणां प्र० ॥ ७ संचयवरनाय ततो° य० । संचय ततो° भा० ॥ ८ द्रष्टव्या पृ० ८१ पं० ५ ॥ ९ विरुध्येतेति य० ॥ १० °माण्वेंद्रिय° प्र० ॥ ११ परमाणुः परमाणु अणुशब्दः य० । परमाणुः परमाणुशब्दः भा० ॥

उक्तभावनावत् स्ववचनविरोधोऽपि।

वादपरमेश्वरसंश्रयश्चैवम्। न च नस्तेन सह विरोधः, तस्य लोकनाथत्वात्। स हि विलुप्यमानस्य लोकतत्त्वस्य त्राता। कथं संश्रय इति चेत्, अनेकात्मकरूपायतनाभ्युपगमात्।

अणुत्वं सूक्ष्मपर्यायः, परमाणुस्तदतिशयवान्, स चातीन्द्रियत्वं घटते, तस्यातीन्द्रियस्यैन्द्रियकत्वं चाभ्युपेत्य यथा विरुद्धमेवमिदमपि बुद्ध्यादीन्द्रियकस्य तुल्यमिति समानदोषतया विरोधोद्भावनमस्तु को दोषः ? किञ्चान्यत्, 'चक्षुः प्रतीत्य रूपाणि च प्रतीत्य चक्षुर्विज्ञानमुत्पद्यते' इति चातीन्द्रियत्वादनुमान-५८ २ विरोधः, स्थूलानां सूक्ष्मपूर्वकत्वात् कार्यानुमानसिद्धाः परमाणवः, तस्मान्नित्यानुमेयानां तेषां चक्षुर्विषयत्वाभ्युपगमे वचनयोरनुमानविरोधिता । किञ्चान्यत्—उक्तभावनावत् स्ववचनविरोधोऽपि, [उक्ता भावना] उक्तभावना, तद्वदुक्तभावनावत्, अनयैव परमाणुरतीन्द्रियैन्द्रियकत्वाभ्युपगमेऽनुमानविरोधभावनयोक्तया तुल्यत्वात् 'अतीन्द्रियाभिमतः परमाणुश्चक्षुर्विषयतामायाति' इति ब्रुवतः स्ववचनविरोधोऽपि ।

वादपरमेश्वरसंश्रयश्चैवम् । एवं च भवतः एकान्तवादित्वत्यागेनानेकान्तवादाश्रयः । यस्मात् सर्व एव लोकः स्वसात्कर्तुं समर्थत्वाल्लोकस्य ईश्यते एकान्ता अपि । तेषां तु सर्वेषामनेकान्तवादः परमेश्वरस्तद्वशवर्तिनामीष्टे । तेषां स्वार्थानयनसमर्थानामपि परस्परविरोधदोषवतामुदासीनमध्यमनृपतिवत् सन्ध्यादिषाड्गुण्यान्यतमगुणाश्रयिणां विजिगीषूणां परार्पणलक्षणसंश्रयगुणाधारः परमेश्वरः स्याद्वादः, तत्संश्रयेणैव स्ववृत्तिलाभात् तदसंश्रये परस्परकार्यविलोपात् स्वयं विनाशश्च तेषाम्। लौकिको व्यवहारनय आह—न च नस्तेन सह विरोधः । कस्मात्? तस्य लोकनाथत्वात्। लोको हि व्यवहारनयस्तद्वशवर्तित्वेन तन्मतविलोकनात्, तस्य लोकस्य नाथत इति लोकनाथः स्याद्वादः । कस्मात्? स हि स्वतोऽसुतो विलुप्यमानस्यैकान्तवादिभिर्लौकिकतत्त्वस्य लोकसारस्य सम्यग्दर्शनरत्नस्य त्राता त्राणशीलस्त्राणधर्मा साधु त्राणकारी चेति । कथं त्रातेति चेत्, सदसदादिभेदेत्यादि, लोकभूतानां सदसदादीनां भेदाः सदसदादिभेदाः नित्यानित्याद्येकान्ताः, तेषां याथार्थ्यानि यथार्थभावाः स्वविषयसमर्थनानि, तेषां लोकसंवादनोपसंहारयितृत्वात् परस्परसाम्यावस्थापनेन परिपालनात् त्रातेत्युच्यते । ५९ १

इतर आह—कथं संश्रय इति चेत् । अस्तु तावद्वादपरमेश्वरस्य लोकत्राणात् स्याद्वादस्य लोकत्राणं च परस्परविरोधोपपादनेनैकीकरणाच्च तेषाम्, वादपरमेश्वरसमाश्रयः कथमेकान्तवादिनाम्? इत्यत्रोच्यते—अनेकात्मकरूपायतनाभ्युपगमात् । अनेक आत्मा यस्य तदिदमनेकात्मकं रूपायतनं यत् तदेकेन

---

[1] अतीन्द्रियस्याणुत्वस्य' इति वचनतो ॥ [2] अत्र 'उक्ता भावना, तद्वदुक्तभावनावत्' इत्यपि पाठः स्यात् ॥ [3] यथाणुत्व भा० । यत्याणुत्व' १० ही ॥ [4] भावोक्तया प्र० ॥ [5] सन्ध्यादि प्र० । 'षाड्गुण्यस्य सर्वमिच्छन्ति' । सन्धि विग्रहो यानमासनं संश्रयो द्वैधीभावश्च षाड्गुण्यम् इत्याचार्याः । तत्र पणबन्धः सन्धिः १, अपकारो विग्रहः २, उपेक्षणमासनम् ३, अभ्युच्चयो यानम् ४, परार्पणं संश्रयः ५, सन्धिविग्रहोपादानं द्वैधीभावः ६ इति षड् गुणाः । परस्मात् हीयमानः सन्दधीत १ । अभ्युच्चीयमानो विगृह्णीयात् २ । न मां परो नाहं परमुपहन्तुं शक्त इत्यासीत ३ । गुणातिशययुक्तो यायात् ४ । शक्तिहीनः संश्रयेत ५ । सहायसाध्ये कार्ये द्वैधीभावं गच्छेत् ६ इति गुणावस्थापनम् । —कौटिलीयार्थशास्त्रे ७।१८ ९९ ॥ [6] °षाण्यपि लो य० । कार्यायन्गो° भा० ॥ [7] यस्तोको य ॥ [8] °यादिनभि य० ॥ [9] तास्ता य० । ताता भा० ॥ [10] यथाथ्यानि भा० । यथार्थानि य० ॥ [11] समर्थमानिवा तेषा य ॥ [12] °माहप्रिस्थापरन° य ॥ [13] °पनेन पाल्नात् य० ॥ [14] °त्राणात्स्याद्वादस्या य० ॥

अत्र चैकरूपायतनाधारतया 'तत्र'शब्देन अनन्तरनिर्दिष्टमेव रूपायतनमुक्तं तस्यैवोभयरूपता पुनर्दर्शिता। एवं च तस्यैवैकानेकता, तथाऽविभक्ततत्त्वेन ज्ञानोत्पत्तेः। ततश्च स्यादेकं रूपायतनं स्यादनेकं रूपायतनम्, उक्तहेतुवत्।

द्रव्येण कदाचिज्ज्ञानमुत्पादयति कदाचिदनेकेनेति तद्व्यवच्छेदाव्यवच्छेदाभ्यामिति, तदभ्युपगमात् स्याद्वादसमाश्रयः। स्याद्वादैकदेशाश्च नया एकान्तवादाः, यथोक्तम्—भद्दं मिच्छदंसण [सन्मति० ३।५९] गाहा। नैताः स्वमनीषिकाः, लक्षणमपि तथैव नयानाम्, उक्तं हि—द्रव्यस्यानेकात्मकत्वेऽन्यतमात्मकैकान्तपरिग्रहो नयः स्वप्राधान्येनार्थनयनान्नयः [ ], स च मिथ्यादृष्टिरनेकाकारार्थस्य विपरीतप्रतिपत्तित्वात्, अनेकात्मकवस्तुप्रतिपत्तित्वात् स्याद्वादस्य याथार्थ्यम्[1]। कथं पुनर्लोकभूतेन व्यवहारनयेनैकान्तवादिनो[2] निगृह्यन्त इति चेत्, लोकनाथसमाश्रितत्वात् तेषां लोकनाथपक्षसमाश्रय एव प्रतिवादिपक्षाभ्युपगमः, स निग्रहस्थानमेकान्तवादिनामभ्युपगमसमकालमेवावसितो वाद[3] इति।

५९-२ **अत्र चैकरूपायतनाधारतयेत्यादि**। त्वयापि स्याद्वाद्यभ्युपगतानेकात्मकवस्त्वेकानेकत्वानेकान्तवादोऽभ्युपगत एव, यस्मादनेकप्रकारभिन्नमित्यादि[4] यावदनेकवर्णसंस्थानं पश्यत इत्यत्र च वाक्ये एकमेव रूपायतनं ज्ञानाधार इतीष्टम्[5], यस्मात् तदाधारतया पुनः तत्र इत्यधिकरणवाचिप्रत्ययान्तेन **'तत्र'शब्देनानन्तरनिर्दिष्टमेव रूपायतनमुक्तम्**व्यतिरेकमभेदं तस्य वस्तुन आगृह्योक्तम्। **तस्यैवोभयरूपता[6] पुनर्दर्शिता** 'कदाचिदेकेन द्रव्येण कदाचिदनेकेन ज्ञानमुत्पाद्यते' इति ब्रुवता। रूपायतनस्यैवैकानेकसङ्ख्यानिर्देश्यत्वमनभ्युपगच्छता कथं 'तत्र'शब्दसामानाधिकरण्यमापादयितुं[7] शक्यते? यदि तदेकमनेकं च न स्यात्, तथा इतरथा तत्र च रूपायतनेऽन्यत्र वेति स्यात्, न तु भवति।

तस्मादेवं चेत्यादि। **एवं चोक्तविधिना तस्य** त्वयैवोक्तस्य रूपायतनस्यैकस्यैवै**कतानेकता च** अतस्त्वयैवोक्ता। कस्मात्? **तथाऽविभक्तेत्यादि**। तेन प्रकारेण **तथा, अविभक्तं तत्त्वं** तद्भावस्तत्त्वं यस्य तदिदमविभक्ततत्त्वम्, तद्भावस्तत्त्वमेकानेकत्वाद्यविभक्तवस्तुतत्त्वम्[8], तेन **तथाऽविभक्ततत्त्वेन ज्ञानोत्पत्तेरिति** हेतुः। कस्मिन् साध्ये? **तस्यैवैकानेकतायाम्**। दृश्यते हि तदेव रूपायतनमेकमनेकं च परमाणवस्तत्समूहश्चेति ज्ञानोत्पत्तिः[9]। **दूरान्मणिसमूहमनेकवर्णसंस्थानं[10] पश्यत** इत्युदाहरणमप्येवमेवैकानेकरूपद्रव्यरूपायतनत्वे साध्ये चक्षुर्विज्ञानाधारस्य वस्तुनः साधर्म्यदृष्टान्तत्वं भजते, न एकान्तैकानेकरूपत्वे। **ततश्चावश्यमपोऽर्थ** आपद्यते—**स्यादेकं[11] रूपायतनं स्यादनेकं रूपायतनमिति**। कस्मात्? स्निग्धरूक्षत्वाभ्यां[12] बन्धैक्यपरिणामापत्तेस्तत्समूहग्राह्यत्वादेकम्, द्रव्यार्थावस्थानात् परमाणूनां स्वरूप-
६०-१ भिन्नानां भेदादनेकम्। तत एव द्रव्यम्, रूपादिगुणपर्यायपरिणामापत्तेरद्रव्यम्। प्रतिस्वमसाधारणरूपादिपरिणामापेक्षया स्वलक्षणविषयम्। साधारणीभूतभेदसमूहापेक्ष[13]चाक्षुषत्वादिपरिणामापत्तेः सामान्यविषयम्,

---

१ यथार्थो भा०। यथार्थं य०॥ २ °वादिभिगृह्यन्त य०। °वादिभिर्गृह्यन्त भा०॥ ३ वाद प्रति य०॥ ४ दृश्यता पृ० ७८ पं० २॥ ५ इतिष्टं र० ही०। इमिष्टं र० ही० विना॥ ६ तस्यैवोरूपरूपता य०। तस्यैवोरूपरूपरूपता भा०॥ ७ अत्र °ण्यमुपपादयितुं शक्यते इति पाठ स्यादिति भाति॥ ८ °वस्तुत्वम् भा०॥ ९ °त्पत्ति प्र०॥ १० दृश्यता पृ० ७९ पं० २॥ ११ स्यादेकं पररूपा° य०॥ १२ °त्वाभ्यां चवैक्यपरि° प्र०। "स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः"—तत्त्वार्थसू० ५।३२॥ १३ °हापेक्षं चाक्षुष° य०॥

ननु कदाचिच्छब्दः कालान्तरवचनः, न, एककाल एवोभयरूपत्वात् स्यात् तत् तत् स्यान्न तत् तत्, ग्रहणापदेशविशिष्टार्थत्वात्, अनेकवर्णमणिरूपवदेकपुरुषपितृपुत्रत्वादिवद्वा।

अतोऽनपेक्षितस्वाभ्युपगममनेकान्तदूषणमापद्यते। अविभावितैवमर्थ्यपूर्वा-

---

यथोक्तम्—भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषा [तत्त्वार्थ० ५।२८] इति। उक्तहेतुवदिति, तथाऽविभक्ततत्त्वज्ञानोत्पत्तेर्भेदाभेदात्मकज्ञानोत्पत्तिर्यदेतदपि वस्तु भेदाभेदात्मकमिति।

इतर आह—**ननु कदाचिच्छब्दः कालान्तरवचनः**। तस्मिन्नेव हि वस्तुनि कदाचित् कालान्तरे ज्ञानमेकाकारमुत्पद्यते कदाचिदनेकाकारम्, ज्ञानस्यैवाकारवत्त्वान्निराकारबाह्यवस्तुपक्षे इति। अत्रोच्यते—तन्न, **एककाल एवोभयरूपत्वात्**। एकस्मिन्नेव हि काले नीलपरमाणुसमूहाकारज्ञानस्य भेदाभेदात्मकत्वं दृष्टम्, अतो न सम्यगुक्तम्—'कदाचिच्छब्दः कालान्तरवचनः, तस्मादेकाकारं कदाचित् कदाचिदनेकाकारं ज्ञानमुत्पद्यते तस्मिन्नेव वस्तुनि' इति। तस्मादेककाल एवोभयरूपत्वात् **स्यात् तत् तत्**, तदेव तद्वस्तु परमाणुद्रव्यसमूहाभेदात्। **स्यान्न तत् तत्**, रूपादिपरिणामभेदात्। हेत्वन्तरमप्यत्रोच्यते—**ग्रहणापदेशविशिष्टार्थत्वात्**, ग्रहणं ज्ञानम्, ज्ञानमेवापदेशो हेतुः, तेन हेतुना विशिष्टो ग्रहणापदेशविशिष्टश्चासावर्थश्च, तद्भावो ग्रहणापदेशविशिष्टार्थत्वम्। यस्माच्चक्षुर्विज्ञानाद्धेतोर्विशिष्टोऽर्थो रूपं समुदायमनुपाख्यारूपं गृह्यते तस्मादनेकात्मकं तद्वस्तु। को दृष्टान्तः? **अनेकवर्णमणिरूपवत्**, एक एव वा मणिर्मेचकस्फटिकादिर्यतमस्तद्रूपवत्, नानावर्णानां वा मणीनां समूहस्य रूपवत्। यथा तद् ग्रहणापदेशविशिष्टं ज्ञानपरि ६० २
च्छिन्नं विभिन्नरूपं तथा चक्षुर्विषयाभिमतं वस्तु। **एकपुरुषपितृपुत्रादिवद्वे**ति ग्रहणापदेशविशिष्टत्वसाधर्म्यं दृष्टान्तान्तरम्। यथैकः पुरुषोऽनेकसम्बन्धिजनापेक्षया 'पिता पुत्रो भागिनेयो मातुलः' इत्येवमादिव्यपदेश्यत्वं भजते न चास्य विरोधः सङ्करोऽनवस्थाप्रसङ्गो वा ग्रहणापदेशविशिष्टार्थत्वादेव चक्षुर्विज्ञानविज्ञेयं वस्तु प्रतिपत्तव्यम्।

अतोऽनपेक्षितेत्यादि। अत एव कारणाद् येऽत्र चोदयन्ति परस्परविरुद्धानां कथमेकत्र सम्भवः [　　] इति, तेषां **तदनपेक्षितस्वाभ्युपगममनेकान्तदूषणमापद्यते**, स्वोऽभ्युपगमः स्वाभ्युपगमः, स नापेक्षितो यस्मिन् दूषणे तदनपेक्षितस्वाभ्युपगममनेकान्तदूषणम्। तद्यथा—सर्वं सर्वात्मकमविशिष्टं प्रतिज्ञाय परिणामभेदव्याख्यानं चानपेक्ष्यानेकान्तदूषणम्, देशकालकृतात्यन्तविशिष्टत्वं प्रतिज्ञाय सन्तानाविशेषव्याख्यानं चानपेक्ष्यानेकान्तदूषणम्, असत्कार्योत्पत्तिं प्रतिज्ञाय तुल्यजातीयद्रव्यगुणान्तरारम्भनियमव्याख्यानं चानपेक्ष्यानेकान्तदूषणं च। कस्माद्धेतोः? **अविभावितैवमर्थ्यपूर्वाभ्युपगमत्वादनेकान्तवादिनाम्**। उक्तानेकान्तस्वरूपोऽयमेवमर्थः, तद्भाव ऐवमर्थ्यम्, अविभावितमैवमर्थ्यं पूर्वाभ्युपगमश्च यैस्तेषां ६१ १

---

१ चाक्षुष इति भा० ॥ २ यदेतदपि वस्तु भेदात्मकमिति य० ॥ ३ काल नील° य ॥ ४ ग्रहणाविशिष्ट° य ॥ ५ °साधर्म्यश्च य ॥ ६ °दायात्मक य ॥ ७ चक स्फटिका य० ॥ ८ शाविशिष्ट ज्ञान परिच्छिन्न विभिन्नरूप भा०। शाविशिष्टज्ञान परिच्छिन्नविभिन्नरूपं य० ॥ ९ स्वाभ्युप य० ॥ १० नापेक्षतो भा०। नापेक्षते य० ॥ ११ तद्दान° य० ॥ १२ स्वानपेक्ष्या° य० ॥ १३ एवमर्थ्यम् य० ॥ १४ मातमै° य० ॥

भ्युपगमत्वात्त्वेकान्तवादिनां न विशेषदोषः कस्यचिदपि ।

आयतनस्वलक्षणं प्रत्येते स्वलक्षणविषयाः, न द्रव्यस्वलक्षणं प्रति [अभि० को० भा० १।१०]

इत्येतत्तु प्राक् चोदितमेव दोषं प्रतिष्ठापितवानसि । यत्तु 'समस्तालम्बनं विज्ञानं सामान्यविषयं प्राप्नोति, न स्वलक्षणविषयम्' इत्येतत् प्रतिष्ठापितमेव कृतम् । एष तु विशेषदोषः —अज्ञानत्वप्रसङ्गः स्फुटतरकः..........कुतः प्रत्यक्षत्वम् ?

योऽपि चैकाकारपरिकल्पनात् प्रत्यक्षस्य कल्पनात्मकत्वप्रसङ्गोऽस्वलक्षणविषयत्वप्रसङ्गश्च सञ्चितालम्बनतायामिति चोदिते समाधिरभिधीयतेऽस्वलक्षणत्वदोषपरिहारः—

अनेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थे सामान्यगोचरम् ।

अनेकद्रव्योत्पाद्यत्वात् तत् 'स्वायतने सामान्यगोचरम्' इत्युच्यते, न तु भिन्नेष्वभेदकल्पनात् [प्र० समु० वृ० १।४] तेषु पृथक् पृथग्ग्रहणाभावात् । यथा हि शमीशाखापत्रेषु सर्व-

---

इमेऽविभावितैवमर्थ्यपूर्वाभ्युपगमा एकान्तवादिनः, तद्भावादविभावितैवमर्थ्यपूर्वाभ्युपगमत्वादुन्मुग्धभ्रान्तमत्तादिवदनपेक्षितस्वाभ्युपगमम[1]नेकान्तदूषणम् । तस्मात् कस्य वयं विशेष्य 'अयमेव उन्मुग्धो भ्रान्त उन्मत्तो वा' इति दोषं ब्रूमः ? सर्व एव यूयमेवं [2]दोषदुष्टाः, किं तपस्विना विशेषैकान्तवादिनैवापरा[3]द्धं [4]वादपरमेश्वरपरिरक्ष्यलोकतत्त्वविलोपनोद्यमिना ? इत्यत आह—न विशेषदोषः कस्यचिदपीति प्रागभिहितम् ।

सम्बन्धागतकल्पनात्मकत्वापादनचोद्यदूषणमनुक्त्वा तदभ्युपगमेन परिहारोक्तिः 'आय[5]तनस्वलक्षणं प्रत्येते स्वलक्षणविषया न द्रव्यस्वलक्षणं प्रति' इत्येतत्तु व्याख्यानं प्रागुच्चार्य चोदितमेव दोषं चलयित्वा प्रतिष्ठापितवानसि स्थिरीकृतवानसीत्यर्थः । यत्तु [6]समस्तालम्बनमित्यादि यावदित्येतत् प्रतिष्ठापितमेव कृतमिति । एष तु विशेषः कल्पनात्मकत्वदोषादन्यो दोषः । कतमः ? अज्ञानत्वप्रसङ्गः । तद्यथा—स्फुटतरक इत्यादि यावत् कुतः प्रत्यक्षत्वमित्येतदुपदर्शितमिति गतार्थम् ।

योऽपि चै[7]काकारेत्यादि चोद्यप्रत्युच्चारणमेतद् यावत् सञ्चितालम्बनतायाम् । एतदुक्तं [8]भवति—यदि तदेकतो न विकल्पयति कथं सञ्चितालम्बनता ? कल्पनानां[9]न्तरीयिका हि सा कल्पनामन्तरेण न सम्भवतीति चोदिते तत्रोत्तरो वक्ष्यमाणो यः समाधिरभिधीयते स एव च किल अस्वलक्षणत्वदोष-
६९-२ परिहारोऽभि[10]मतोऽर्थद्वयवाचित्वाविरोधादस्य [11]वाक्यस्येति तत् प्रत्युच्चारयति सव्याख्यानम्—अनेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थे सामान्यगोचरमित्यादि यावत् तेषु पृथक् पृथग्ग्रहणाभावादिति गतार्थम् । पिण्डार्थस्तु—यद्यपि परमाणुसमूहजन्यत्वान्न ज्ञानमर्थतः सामान्यगोचरं तथापि रूपं रसो वा [12]स्वार्थोऽन्यापृक्तत्वादर्थान्तरकल्पने तस्य ज्ञानस्यापटुत्वात्, तच्च विज्ञानमुत्पादयितुं शिबिकोद्वाहवत् सहत्य समर्थाः परमाणवो नान्यथेति सामान्यगोचरतास्तु, को दोषः । यदि तद् भिन्नेष्वभेदं कल्पयदुत्पद्येत स्यात् कल्पना-

---

१ °गमनेकान्त° प्र० ॥ २ दोषद्रष्टाः भा० । दोषद्रष्टारः य० ॥ ३ °परात्वं य० ॥ ४ वादिपरमेश्वर° प्र० । दृश्यता पृ० ८३ पं० २ ॥ ५ °तनं स्वल° प्र० । दृश्यता पृ० ७९ प० २४ ॥ ६ दृश्यता पृ० ७९ पं० २३ ॥ ७ दृश्यता पृ० ७९ टि० ७ ॥ ८ भगवता भा० ॥ ९ °नन्तरी° प्र० ॥ १० °मतोर्थयद्वाचित्वा° य० ॥ ११ वाकस्येति य० । वावस्येति भा० ॥ १२ स्तार्थोऽन्यापृथक्त्वाद° वि० । स्तार्थोन्यापृक्तत्वाद° वि० विना ॥

पत्रालम्बनं ज्ञानमविवेकेनोत्पद्यते, न च सङ्घात' कश्चिदेकोऽस्ति तेषामनारब्धलक्षणकार्यत्वात्, एवमणुष्वपि । अयमसमाधिरेव, अङ्गीकृतार्थविनाशित्वात्, शब्दकृतकत्वाभिव्यक्तिस्थापनार्थप्रवृत्तवैशेषिकवत् स्वविषयता प्रतिज्ञाय तदतद्भूतसामान्यगोचरोपसंहारात् । नन्वत एव न तत् प्रत्यक्षम्, स्वार्थे सामान्यगोचरत्वात्, अनुमानवत् । अनुमानमपि वा न ।

त्मकम्, न तु भिन्नेष्वभेदैकाकारपरिकल्पनात् तदुत्पद्यते इति । अस्यार्थस्य दृष्टान्तः —यथा हि शमीशाखापत्रेष्वित्यादि । यथा सर्वपत्रालम्बनं ज्ञानमन्तादिमध्याविवेकेनोत्पद्यते एवं प्रत्यक्षमपि । स्यान्मतम्—तद्व्यतिरेकेण पत्रे समुदाये च यथा ज्ञानं प्रत्यक्षमपि* तथा स्यादिति । एतच्चायुक्तम्—न च सङ्घात कश्चिदेकोऽस्ति, तेषामनारब्धलक्षणकार्यत्वात् । न हि समुदायो वैशेषिककल्पितकार्यद्रव्यवत् पृथगस्ति । नापि परिणामान्तरमापन्नम्, तेषां कारणभूतानां क्षणिकत्वान्नारम्भनिष्ठाकालभेदावस्थानाभावादिति । एवमणुष्वपीति दार्ष्टान्तिकं निदर्शयति ।

अत्रोत्तरमुच्यते—अयमसमाधिरेव । कुतः ? अयस्यास्य जरत्कुटीवन्नारोढुमक्षमत्वात् त्वद्वाक्यजनितस्य प्रागुदितदौपम्याय समाधिरप्यसमाधिरेव, अङ्गीकृतार्थविनाशित्वात्, शब्दकृतकत्वाभिव्यक्तिस्थापनार्थप्रवृत्तवैशेषिकवत् । वैशेषिकस्येव वैशेषिकवत्, 'अचाक्षुषप्रत्यक्षस्य गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम्, सतो लिङ्गाभावात् [वै० सू० २।२।२५-२६] कार्यत्वात्' इत्यादिभिरनित्यत्वं वैशेषिकत्वात् सिद्धं कृतकत्वं च, तस्याभिव्यक्तिस्थापनार्थं प्रवृत्तस्य वैशेषिकस्येवाङ्गीकृतार्थनाशित्वमेवम् 'अनेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थे सामान्यगोचरम्' इत्यर्थवचनयोर्लोप । तद्व्याचष्टे, कुतस्तत्साधर्म्यमिति चेत्, उच्यते—स्वविषयता प्रतिज्ञाय तदतद्विषयतया तदतद्भूतसामान्यगोचरोपसंहारात् । स चासञ्च विषयोऽस्य स तदतद्विषयः, तद्भावस्तदतद्विषयता । तदतद्भूतं सामान्यम्, तद् गोचरोऽस्य विषय उपसंहारस्य, तस्मादुपसंहारात् । स चान्यश्च विषयः सामान्यस्येति तदन्यतरत्नैव न वर्तते एकत्वग्राह्यत्वात्, त्वन्मतेनैव प्रतिस्वं नियतत्वाद्भावानां नैकरूपमपि तत्र च तत्र वृत्तं न चातोऽन्यत्र । तत्रावृत्तत्वात् तन्न भवति, अतत्रावृत्तत्वादतन्न भवति । ततस्तदतद्भूतं सामान्यं गोचरोऽस्योपसंहारस्य यः स तदतद्विषयतया त्वयेदानीं क्रियते । तस्मात् तदतद्विषयतया तदतद्भूतसामान्यगोचरोपसंहारादङ्गीकृतप्रत्यक्षविनाश इत्यत आह—नन्वत एव न तत् प्रत्यक्षं स्वार्थे सामान्यगोचरत्वादनुमानवत् । स्वार्थे इति स्वविषये स्वग्राह्ये वस्तुनि, यत् स्वग्राह्ये वस्तुनि सामान्यगोचरं तज्ज्ञानमप्रत्यक्षं दृष्टं यथानुमानमिति । अनुमानमपि वा नेति, नानुमानमपि तत् स्यात्, स्वार्थे सामान्यगोचरत्वात्, प्रत्यक्षवत् ।

६२

---

१ * * एतच्चिह्नान्तर्गतं स्यान्मतम् इत्यत आरभ्य प्रत्यक्षमपि इत्यन्तः पाठो भा० प्रतौ नास्ति ॥ २ °काय° प्र० ॥ ३ निर्द(र्दि)शति भा० ॥ ४ °धादा प्र० । दृश्यतां प्रतिपाद्य प्रतिपादनाभ्यामर्थादित्यर्थोऽत्र भाति ॥ ५ तपपस्याय प्र० ॥ ६ °वाय्यात् प्र० । दृश्यतां पृ० ५५ पं० १२ ॥ ७ तद्भावस्तदतद्वि° य० । तद्तद्वि° भा० ॥ ८ तदतद्भूत य० ॥ ९ प्रतिए प्र० ॥ १० तत्र य० ॥ ११ न स्वस्थस्य य० ॥ १२ यत् स्वग्राह्ये वस्तुनि इति पाठो प्र० प्रतौ नास्ति ॥ १३ यत्तत्तद् ज्ञानम° प्र० ॥

स्ववचनविरोधि कुमारब्रह्मचारिपितृवचनवच्चैतत् 'अस्वार्थविशिष्टे स्वार्थे स्वविषये रूपादिप्रकारे सामान्यगोचरम्' इति, यस्मादर्थविषयशब्दौ लक्षणार्थावेव, उक्तं हि त्वयैव—प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणे । यस्माल्लक्षणद्वयं प्रमेयम् । न हि स्वसामान्यलक्षणाभ्यामन्यत् प्रमेयमस्ति । स्वलणक्षविषयनियतं प्रत्यक्षम्, सामान्यलक्षणविषय-

---

'स्वार्थे सामान्यगोचरम्' इत्येतत् **स्ववचन[1]विरोधि** । किमिव ? **कुमारब्रह्मचारिपितृवचनवच्चै-**
तत्, यथा कश्चिद् ब्रूयात् 'पिता मे कुमारब्रह्मचारी' इति, तस्य तद्वचनं स्वत एव विरुध्यते—यदि पिता
कथं कुमारब्रह्मचारी ? अथ कुमारब्रह्मचारी कथं पिता ? इति, तथेदमपि यदि तज्ज्ञानं स्वार्थे कथं
६२-२ सामान्यगोचरम् ? अथ सामान्यगोचरं कथं तत् स्वार्थे ? स्वार्थ इति च त्वया न चक्षुषोऽन्यस्य वेन्द्रियस्य
विषय इति विशेषमाश्रित्य लक्षणमभिधीयते, किं तर्हि ? प्रमेयमुच्यते सामान्यतो वस्तु 'स्वलक्षणं स्वार्थः'
इति । तथा सा[2]मान्यलक्षणमिति न धूमानुमेयाग्निमात्रम्, किं तर्हि ? लिङ्गगम्यं सर्वम् । एतस्यार्थस्य
प्रतिपादनार्थमाह स्वार्थलक्षणमेव निरूपयन्—**अस्वार्थविशिष्टे**, स्वोऽर्थः स्वार्थः, न स्वार्थोऽस्वार्थः
स्वार्थादन्यः, ततो विशिष्टः[3] स्वार्थः, तस्मिन् **स्वार्थे**, तमेवार्थं पर्यायेणाह—**स्वविषये**, किमुक्तं भवति ?
[4]एकस्मिन् **रूपादिप्रकारे** प्रकृष्टे कारे रूपे रसेऽन्यस्मिन्नेव **सामान्यगोचरमिति**, सामान्यविषयं च
स्वा[5]र्थे ज्ञानमिति च विस्पर्धितमेतत् परस्परतो द्वयम् । **यस्मादर्थविषयशब्दौ लक्षणार्थावेव** लक्षण-
शब्दपर्यायवाचिनौ तस्मात् स्वार्थः स्ववि[6]षयः स्वलक्षणमित्येतद्विवक्षितं भवतः, तद्विस्मृत्य भ्रान्तेन नेन्द्रिय-
ग्राह्यस्वार्थसामान्यभेद[7]कल्पनात् परिहारो युज्यते वक्तुम् । कस्मात् ? [8]*प्रत्यक्षव्याख्याविषयत्वात् स्वार्थ-
स्वलक्षणस्वविषयशब्दानाम् ।

मा मंस्थाः—नै[9]तदेवं भवतीति, **उक्तं हि** प्रमाणसङ्ख्यानिरूपणे **त्वयैव***—[10]**प्रत्यक्षमनुमानञ्च प्रमाणे**
इत्यादि । प्रमाणद्वित्वं नियम्यते, प्रमेयद्वित्वात्, परिमेयद्वित्वनियतप्रस्थतुलादिपरिमाणद्वित्ववत् । तद्दर्शयति—
यस्माल्लक्षणद्वयं प्रमेयम् । स्यान्मतम्—प्रमेयान्तरं स्वसामा[11]न्यद्विरूपलक्षणम्, तदपेक्षया प्रमाणान्तरं
स्यादिति । तन्निवारणार्थमाह—**न हि स्वसामान्यलक्षणाभ्यामन्यत् प्रमेयमस्ति**, प्रत्यक्षानुमानाभ्याम-
ग्रहणात्, खरविषाणवत् । स्यान्मतम्—तत्रैव विषयद्वये विकल्पसमुच्चया[12]ङ्गाङ्गिभावैः प्रत्यक्षानुमाना-
६३-१ गमादीनां प्रमाणाना वृत्तिर्भविष्यतीति, तन्न भवति, यस्मात् **स्वलक्षणविषयनियतं प्रत्यक्षं सामान्य-
लक्षणविषयनियतमनुमानमित्युक्तम्** । कथं पुनर्लक्षणशब्दोऽर्थपर्यायः ? [13]अर्यते गम्यत इत्यर्थः । तथा
लक्ष्यत इति लक्षणं कर्मसाधनत्वाल्लक्षणशब्दस्य । तच्च लक्षणं वस्तु स्वभावः स्वरूपमर्थः प्रमेयमिति पर्यायाः ।
तत् पुनर्द्विरूपं परिच्छेद्यं [14]द्वाभ्यां प्रमाणाभ्या परिच्छेद्यत्वात्, प्रमाणं परिच्छेदकं प्रमेयं परिच्छेद्यमित्यर्थः ।

---

१ °चनविरोधे प्र० ॥ २ सामान्यं लक्ष° प्र० ॥ ३ °ष्टः तस्मिं भा० ॥ ४ एकस्मिन्नपादि° प्र० ॥ ५ सार्थे प्र० ॥ ६ °षय स्वलक्षणमित्येतद्विपक्षितं प्र० ॥ ७ °कल्पना परि° प्र० ॥ ८ * * एतच्चिह्नान्तर्गत प्रत्यक्ष° इत्यत आरभ्य त्वयैव इत्यन्त पाठो भा० प्रतौ नास्ति ॥ ९ नैतदेवं न भवतीति य० । अत्र 'नैतदेव सम्भवतीति' इत्यपि पाठ स्यात् । भा० प्रतौ तु अत्र सर्वोऽपि पाठो नास्त्येव ॥ १० "प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणे द्वे एव । यस्माल्लक्षणद्वयं प्रमेयम् । न हि स्वसामान्यलक्षणाभ्यामन्यत् प्रमेयमस्ति । स्वलक्षणविषयं हि प्रत्यक्षम्, सामान्यलक्षणविषयं ह्यनुमानम्"-प्र० समु० वृ० १।२ ॥ ११ °न्यद्विस्वरूप° य० ॥ १२ °ङ्गाङ्गीभावैः प्र० ॥ १३ अयते प्र० । 'ऋ गतौ' [पा० धा०] इति धातो 'अर्यते' इति रूपम् । "अर्यतेऽसौ अर्थः"-अभि० चिन्ता० स्वो० २।१०६ ॥ १४ स्वाभ्यां भा० ॥

नियतमनुमानम् [प्र० समु० वृ० ११?]। प्रमेयाधिगमनिमित्तं हि प्रमाणम्। न चैतददृष्टार्थम्। न च प्रमाणयोर्विषयसङ्करः इत्यधिगम्यस्य द्वित्वात् तदधिगमनिमित्तं द्विरूपमित्येव व्यवस्थापिते सामान्यगोचरव्यावृत्तार्थेन स्वार्थेन भवितव्यम्। ततः 'स्वार्थं सामान्यगोचरम्' इत्येतद् विरुध्यते।

सामान्ये स्वविषये प्रत्यक्षं ज्ञानमुत्पद्यते इति चेत्, सामान्यमेव स्वविषयः, स्वलक्षणं नास्ति। अतो लक्षणद्वयाभावात् प्रमेयप्रमाणद्वित्वावधारणकल्पना व्यर्था, प्रमाणयोर्वा विषयसङ्करः प्राप्तः। प्रत्यक्षमपि वानुमानभेद एव स्यात्, अनेकार्थजनितसामान्यगोचररूपादिप्रकारपरिग्रहात्, धूमनलाकालिङ्ग-

यस्माल्लोके दृष्टं प्रमेयाधिगमनिमित्तं प्रमाणम्, हिशब्दस्य हेत्वर्थत्वात्, प्रमेयाधिगमनिमित्तं हि प्रमाणमिति। न चैतत् 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः, दानं दद्याद्धर्मकामः' [ ] इत्येवमाद्यागमवदृष्टार्थम्, प्रत्यक्षदृष्टार्थमेवैतदुपलम्भकत्वादुपलभ्यस्य द्विविधस्य दृष्टत्वात्। न च प्रमाणयोर्विषयसङ्करः इति प्रागुक्तयुक्तिका विविक्तविषयता दर्शयति। इतिशब्दः प्रदर्शने, एतावानत्र सङ्क्षेपेणार्थः, तद्विस्तरोऽपरो ग्रन्थ इति सूचयति।

इदानीं व्यवस्थापितार्थोपसंहारार्थमिदं वाक्यमाह – अधिगम्यस्य द्वित्वात् तदधिगमनिमित्तं द्विरूपमित्येव व्यवस्थापिते लक्षणादोऽव्यपर्यायवाची नेन्द्रियमात्रविशेषार्थप्रवृत्त इत्यनभिप्रायार्थे स्थिते प्रत्यक्षानुमानयोः स्वरूपाभावः स्ववचनविरोधश्च दोषः 'स्वार्थं सामान्यगोचरम्' इति ब्रुवतः प्रोक्तविधिनेति स्थितम्। पुनश्चात्र दोषः – एवमवस्थिते सामान्यगोचरव्यावृत्तार्थेन स्वार्थेन भवितव्यम्। ततः को दोषः? 'स्वार्थं सामान्यगोचरम्' इत्येतद्विरुध्यते, न हि तादृशः स्वार्थस्य सामान्यता सम्बन्धोऽस्ति, नापि सामान्यस्य स्वार्थसम्बन्ध इति। ६३ २

मा भूदेष दोष इति तस्मिन्नेव सामान्ये स्वविषये स्वार्थे प्रत्यक्षं ज्ञानमुत्पद्यत इति चेत्, तत एव सामान्यमेव स्वविषयः स्वलक्षणं नास्ति। अतः परिभाषितासाधारणलक्षणविषयाभावादेव एतस्मिन् लक्षणद्वयं नास्ति, एकमेव सामान्यलक्षणम्, द्वयाभावात् तद्विषयमेकमेवानुमानं प्रमाणं स्यात्। ततश्च प्रमेयप्रमाणद्वित्वावधारणकल्पना व्यर्था, मा भूदवधारणं व्यर्थमिति, स्वार्थं सामान्ये च प्रत्यक्षं प्रवृत्तं तथानुमानं चेति प्रमाणयोर्वा विषयसङ्करः प्राप्तः। वाशब्दः तस्य ज्ञानस्य द्रूपणा वा। प्रत्यक्षमपि वा परपरिकल्पितमनुमानभेद एव स्यात्। कस्माद्धेतोः? अनेकार्थजनितसामान्यगोचररूपादिप्रकारपरिग्रहात्। मा भूदसिद्धोऽयं हेतुरिति, त्वदीयेन हि—

तत्रानेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थे सामान्यगोचरम्। [प्र० समु० ११?] इति।

अनेकैः भिन्नैरर्थैः अभिव्यक्तेषु सामान्यं रूपं रसः इत्यादिप्रकारं परिगृह्योत्पद्यमानं ज्ञानं तेन जनितं रूप, तस्मादनेकार्थजनितसामान्यगोचररूपादिप्रकारपरिग्रहात् गम्यं ज्ञानम्। को दृष्टान्तः? धूम-

१ °पदूषणं द० ॥ २ प्रत्यक्ष दृष्टार्थ प्र ॥ ३ प्रारत प्र०। अत्र °प्रवृत्त इति पाठः स्यात् ॥ ४ °घच० ॥ ५ °व्यावृत्तार्थेन भवितव्यम् द० ॥ ६ स्वार्थस्य प्र० ॥ ७ °स्वलक्षणया द० ॥ ८ °धारणे द० ॥

जनितज्ञानवत्। अस्वलक्षणविषयत्वं चोभयत्र।

अनेकैकत्वापत्तिसामान्यगोचरस्वलक्षण एवासावर्थ इति चेत्, न, आरातपरान्तमध्यवर्णप्रमाणसंस्थानविविक्तवृत्त्यवस्थपत्रविशेषस्वलक्षणविषयसामान्यात्मकत्वात्। न च सङ्घातः कश्चिदस्ति, तेषामनारब्धलक्षणकार्यत्वात्। एवमणुष्वपि,

---

वलाकालिङ्गजनितज्ञानवत्, 'धूमादत्राग्निः, वलाकाभ्योऽत्र जलम्' इति लिङ्गजनितयोरग्निजलज्ञानयोरपि स्वरूपतोऽनुमानत्वाभेदः, एवं रूपादिपूत्पद्यमानानां प्रत्यक्षाभिमतानामनुमानत्वाभेदः। एतस्मादेव हेतो-
६४-१ **रस्वलक्षणविषयत्वं च**, अस्वलक्षणविषयं प्रत्यक्षम्, अनेकार्थजनितसामान्यगोचररूपादिप्रकारपरिग्रहात्, अनुमानवत्। **उभयत्रे**त्यनेन अनुमानेऽप्यस्वलक्षणविषयत्वम्, तत एव हेतोः, अनन्तरभावितप्रत्यक्षवत्। अथवा **उभयत्रे**ति स्वलक्षणे सामान्यलक्षणे [2]चास्वलक्षणविषयत्वम्। कथम्? स्वलक्षणाभिमतमस्वलक्षणम्, अनेकैकीभावात्, समुदायवत्। तत्सामान्यमपि न स्वलक्षणम्, अत एव, अनन्तरोक्तसमुदायवत्। सामान्यास्वलक्षणत्वं सिद्धं साध्यत इति चेत्, न, 'स्वार्थ एव सामान्यगोचरम्' इति वचनात् [3]स्वार्थत्वेनाभ्युपगतत्वादिति। अवश्यं चैतदे[4]वमभ्युपगन्तव्यम्, यतः शमीशाखापत्रसङ्घाताविशेषदर्शनोदाहरणेन च स्फुटमेव दर्शितमप्रत्यक्षत्व[5]मननुमानत्वमप्रमाणत्वमस्वलक्षणविषयत्वं विषयसङ्कर इत्येवमादि दोषजातम्।

'[6]**अनेकैकत्वापत्तिसामान्यगोचरस्वलक्षण एवासावर्थ इति चेत्।** स्यान्मतम्—अनेकस्यैकत्वापत्तिः सामान्यम्, स एव गोचरोऽस्येति* अनेकैकत्वापत्तिसामान्य[7]गोचरः, स एव स्वलक्ष[8]णः सामान्यगोचर एव स्वलक्षणः, असावेवार्थः प्रत्यक्षस्येत्येषा भवत [9]आशंसा चेत्, **न, [10]आरातपरान्तमध्ये**त्यादि यावत् **स्वलक्षणविषयसामान्यात्मकत्वात्।** नैतदुपपद्यते, [11]पूर्वपरादिपरस्परविविक्ताव[12]स्थपत्रविषयसामान्यात्मकत्वात्। आरादन्तः, परान्तः, मध्यः, नीलप्रकर्षादि**र्वर्णः**, ह्रस्व[13]दीर्घाल्पमहत्त्वादि **प्रमाणम्**, वृत्तादि **संस्थानं** च, तैर्विविक्ता वृत्तयोऽवस्थाश्च येषां पत्रविशेषाणां ते **तैर्विविक्तवृत्त्यवस्थप[14]त्रविशेषाः**, त एव स्वलक्ष[15]णाः, ते विषयोऽस्य सामान्यस्य तत् स्वलक्षणविषयं सामान्यमात्मा स्वरूपमस्य, तद्भावः
६४-२ सामान्यात्मकत्वम्, तस्मात् सामान्यात्मकत्वात्। एतदुक्तं भवति—देशाकृ[16]तिवर्णप्रमाणसंस्थानादिभिरत्यन्तविशिष्टानां स्वलक्षणानामेव सामान्यात्मकत्वम्, नान्यत् सामान्यमस्ति, अतोऽनुपपन्नम्—अनेकैकापत्ति[17]सामान्यगोचरस्वलक्षण एवार्थ इति। ननूक्तमनेकैकापत्तिसामान्यगोचरमिति, तन्न, यस्माद् **न च सङ्घातः कश्चिदस्ति।** चशब्दान्नावयवी, न च परिणामान्तरं तद्व्यतिरिक्तं त्वन्मतेन। कस्माद्धेतोः?

---

१ °विप्रत्य° प्र० ॥ २ च स्व° प्र० ॥ ३ स्वार्थत्वेचाभ्यु° प्र० ॥ ४ °वभ्युप° भा० ॥ ५ °मनुमानत्व° प्र०। 'प्रत्यक्षमपि वानुमानमेद एव स्यात्' [पृ० ८९ पं० ७] इति वचनानुसारेण "°मनुमानत्व°" इति सर्वप्रतिषु दृश्यमानस्य पाठस्यात्र सङ्गतत्वेऽपि शमीशाखापत्रसङ्घाताविशेषोदाहरणानन्तरम् 'नन्वत एव न तत् प्रत्यक्षम्, स्वार्थे सामान्यगोचरत्वात्, अनुमानवत्। अनुमानमपि वा न' [पृ० ८७ पं० ४] इत्यभिहितत्वात् "°मननुमानत्व°" इति पाठोऽत्र समीचीनतर इति प्रतिभाति ॥ ६ * * एतच्चिह्नान्तर्गत अनेकैकत्वा° इत्यत आरभ्य °ऽस्येति इत्यन्त· पाठो य०प्रतिषु नास्ति ॥ ७ °न्यं गोचरः प्र० ॥ ८ °क्षण सामा° य० ॥ ९ आसं चेत् भा० ॥ १० आचातपरान्त° प्र० ॥ ११ पूर्वापरा° भा० ॥ १२ °वस्थापत्रवि° भा०। °वस्थापत्रवि° य० ॥ १३ °दीर्घाभ्यमह° य० ॥ १४ °पत्रशेपा· प्र० ॥ १५ °क्षणाः स्वविषयो य०। °क्षणाः। स विषयो भा० ॥ १६ °कृतियोवर्णं° य०। °कृतियोर्वर्ण° भा० ॥ १७ °सामान्यसामान्यगोचर° य० ॥

न हि तदनेकद्रव्योत्पाद्यम्। न च सञ्चयः कश्चिदस्ति, अत एव न प्रत्ययस्यालम्बनं युज्यते, अनालम्बनत्वाच्चाभासार्थोऽपि न तत्रास्ति वन्ध्यापुत्रपुत्रत्वानाभासनवत्।

स्वाभासा हि विज्ञप्तिं जनयदालम्बनं युज्यते। अस्वत्वात्त्वस्य अद्रव्यत्वात् कुत आभासविज्ञापनम्? खे तु परमाणवो नाभाससमुत्पादयितुमलम्, अतीन्द्रियत्वात्। इति प्रत्यक्षज्ञानं नोत्पद्यते, निरालम्बनत्वात्, खपुष्पवत्।

तेषां पत्राणामनार[1]ब्धलक्षणकार्यत्वात्। न हि पत्रविशेषैरारब्धं किञ्चित् कार्यान्तरमस्ति, ते एव ह्यनारब्धलक्षणाः[2] पत्रविशेषाः सञ्चित्य कार्य[3]भूताः, तस्मान्न तेष्वन्यत् सामान्यमस्ति। एवमणुष्वपि, परमाणुष्वपि तथा न किञ्चित् सामान्यमस्ति। तस्मान्न स्वार्थे सामान्यगोचरं तज्ज्ञान[4]मिति।

यदपि चोक्तम्–अनेकद्रव्योत्पाद्यत्वात् तत् स्वायतने सामान्यगोचरमित्युच्यते न तु भिन्नेष्वभेदकल्पनात् [प्र० समु० वृ० १।४] इति, सा त्वदिष्टा[5] सामान्यगोचरतापि च न घटते, यस्मान्न तदनेकद्रव्योत्पाद्यम्। कुतस्तर्ह्युत्पद्यते? सञ्चयात्। न च सञ्चयः सामान्यम्, ततो न च स रूपादिभ्यो भेदेन कश्चिदस्ति रूपादिसञ्चयः। अत एव न प्रत्ययस्यालम्बनं युज्यते, प्रत्ययो ज्ञानम्। किं कारणम्? अभूतत्वाद् वन्ध्यापुत्रवत्। स्यादाशङ्का[6]–स्वाभासज्ञानोत्पत्तेरालम्बनं भविष्यति समुदायोऽकारणत्वे सत्यपीति। एतत् कुतः? अकारणत्वादेवालम्बनत्वाभावे का प्रत्याशा आभासार्थस्य? इत्यत आह–**अनालम्बनत्वाच्च आभासार्थोऽ[7]पि न तत्रास्ति।** किमिव? **वन्ध्यापुत्रपुत्रत्वानाभासनवत्।** ६०
यथा ह्यसत्त्वादनालम्बनं वन्ध्यापुत्रो[8]ऽनालम्बनत्वाच्चानाभासस्तथा सञ्चय इति।

स्वाभासा[9] हीत्यादि। विषयो हि नाम यस्य ज्ञानेन स्वभावोऽवधार्यते[10] [आलम्बनपरीक्षावृ० १] इति त्वदुक्तोपपत्तिरेवात्र व्यापार्यते। तत् पुनः कुतः? **अस्वत्वा**दनात्मकत्वात्। यस्त्वात्मना स्वभावेनासिद्धः स विषयः स्वाज्ञानस्येति का युक्तिः? **अस्वत्वात्त्वस्याद्रव्यत्वात्** परमार्थसत्त्वाभावात् **कुत आभास[11]विज्ञापनं** परवाचोयुक्त्या, वि[12]ज्ञापनं विज्ञप्तिर्बुद्धिरिति पर्यायाः, दूरत एव नास्तीत्यर्थः। एवं तर्हि **खे तु परमाणव** आ[13]त्मानं ते विषयतां यान्तु, नेत्युच्यते, ते **नाभाससमुत्पादयितुमलमतीन्द्रियत्वात्।** अतीन्द्रियत्वं निराभासत्वाद् वियद्वदिति। इति[14]शब्द उपसंहारे, इतीत्थमनालम्बनत्वं सञ्चयस्याणूनां च सिद्धं प्रत्यक्षज्ञानस्य, तस्मात् **प्रत्यक्षज्ञानं नोत्पद्यते, निरालम्बनत्वात्, खपुष्पवत्।** अतः प्रत्यक्षस्य निरालम्बनस्य खपुष्पवदनुत्पत्तेरुक्तोपपत्तिविधिना कल्पनापोढस्य सविषयस्य प्रत्यक्षस्य ज्ञा[15]नस्य वाऽभावे प्रतिपादिते स्ववचनव्यपेक्षाक्षेपदुस्तरविरोधप्रस्तुतेश्च 'कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्' इत्येतल्लक्षणमनर्थकं स्यात्, लक्ष्यस्याभावात्, खरविषाणकुण्ठतीक्ष्णादिनिर्णयवत्।

---

१ °रब्धस्वलक्षणकार्यत्वात् प्र०। तुलना– तेषामनारब्धलक्षणकार्यत्वात्" पृ० ८७ पं० १॥ २ तएह्यना° य०॥ ३ कार्यीभूता वि० विना॥ ४ तज्ज्ञान प्र०॥ ५ दृश्यतां पृ० ८६ पं० १०। पृ० ७१ टि० ७॥ ६ स्यादशाका य०॥ ७ आभार्थोपि भा०॥ ८ °पुत्रे प्र०॥ ९ स्वाभास ही° य०॥ १० स्वाभावोचवायत इति भा०। स्वभावोनवाय इति य०॥ ११ °सनिज्ञान भा०॥ १२ विज्ञपन रे० ही० विना॥ १३ आत्मन य०॥ १४ 'शब्दोपस' प्र०॥ १५ ज्ञानस्योनावेऽप्रति भा॥

अभ्युपेतेऽपि तु सञ्चितालम्बनप्रत्ययत्वे नैवास्य प्रत्यक्षता, तदाभासत्वात् कल्पनात्मकत्वाद् भ्रान्तिज्ञानात्मकत्वात् संज्ञासंस्थानसङ्ख्यावर्णान्यथाकल्पनात्, मृगतृष्णिकाप्रत्ययवदलातचक्रप्रत्ययवद् द्विचन्द्रप्रत्ययवत् कामलोपहतचक्षुषो नीलरूपपीतप्रत्ययवत्। अत इदं नैव प्रत्यक्षम्, अतथाभूतार्थाध्यारोपात्मकत्वात्, भ्रान्तिवत् संवृतिसज्ज्ञानवत्, यथा गोपाल.........तथा संवृतिसति.........। यथोक्तम्—

यस्मिन् भिन्ने न तद्बुद्धिरन्यापोहे धिया च तत्।
घटाम्बुवत् संवृतिसत् परमार्थसदन्यथा ॥ [अभि० को० ६।४]

अभ्युपेतेऽपि तु विषये दोषः। स चाभ्युपगम्यमानोऽपि विषयः सञ्चय एव सम्भाव्येत, न परमाणवोऽतीन्द्रियत्वात्। स चालम्बनप्रत्ययो ज्ञानस्य सञ्चयः, तस्मिन्नभ्युपेतेऽपि तु सञ्चितालम्बनप्रत्ययत्वे नैवास्य प्रत्यक्षता सिध्यति त्वन्मतेनैव, तदाभासत्वात्। तदाभासत्वं कल्पनात्मकत्वात्,
६५-२ उक्ता च कल्पनात्मकता। तदुभयमपि भ्रान्तिज्ञानात्मकत्वात्। भ्रान्तिः [1]संज्ञासंस्थानसङ्ख्यावर्णान्यथाकल्पनात्, [2]संज्ञा च संस्थानं च सङ्ख्या च वर्णश्च, तेषां तैर्वान्यथाकल्पनात्। अन्यथाप्रतिपत्तिरे[3]वात्र कल्पनाभिमता। सञ्ज्ञासंस्थानसङ्ख्यावर्णानामन्यथाप्रतिपत्तेर्मृगतृष्णिकाप्रत्ययवदलातचक्रप्रत्ययवद् द्विचन्द्रप्रत्ययवत् कामलोपहतचक्षुषो नीलरूपपीतप्रत्ययवदिति यथासङ्ख्यं [4]दृष्टान्ताः यथाक्रमं [5]च हेतवो भ्रान्तिज्ञानात्मकत्वे साध्ये ततश्च प्रत्यक्षत्वाभावे साध्ये। तत्समर्थनार्थं उत्तरो ग्रन्थः। तदर्थमुपसंहृत्यान्ते साधनम्—अत इदं नैव प्रत्यक्षम्, अतथाभूतार्थाध्यारोपात्मकत्वात्, भ्रान्तिवत्, नावारूढस्य तीरवृक्षधावनदर्शनात्मिकामेकां क्रियाभ्रा[6]न्तिं मुक्त्वा प्रोक्तचतुर्विधभ्रान्तिवत्। उपनयस्तु व्यवहारप्रसिद्धस्य परमाणुनीलत्वग्रहणस्य सर्वत्रातथाभूतार्थप्रतिपत्तिसाधर्म्यात्। अथवा तत एव हेतोः संवृतिसज्ज्ञानवदप्रत्यक्षम्। तद्व्याख्या—यथा गोपालेत्यादिना दृष्टान्तं समर्थ्य तथा संवृतिसतीत्यादिना दार्ष्टान्तिकसमर्थनम्।

[7]संवृतिसल्लक्षणे ज्ञापकमाह—यँस्मिन् भिन्ने श्लोकः। यस्मिन् घटे भिन्ने कपालशकलशर्करादिभावेन घटाभिमताद्वस्तुनोऽन्यैर्ष्वप्यपोढेषु कपालादिषु न घटबुद्धिरस्ति, तदग्रहे तद्बुद्ध्यभावात्, अङ्गुल्य-

---

१ संज्ञासंख्यासंस्थानवर्णा° य० ॥ २ संज्ञा च संस्थानं च वर्णं च प्र० ॥ ३ °वात्कल्पना° प्र० ॥ ४ दृष्टान्तः य० ॥ ५ हेतोर्वा भ्रांति° य० ॥ ६ भ्रान्तिमुक्त्वा प्र० ॥ ७ दृश्यता पृ० ६७ पं० ७। "चत्वार्यपि सत्यान्युक्तानि भगवता द्वे अपि सत्ये—संवृतिसत्यं परमार्थसत्यं च। तयोः किं लक्षणम्? यत्र भिन्ने न तद्बुद्धिरन्यापोहे धिया च तत्। घटाम्बुवत् संवृतिसत् परमार्थसदन्यथा ॥ ६।४ ॥ यस्मिन्नवयवशो भिन्ने न तद्बुद्धिर्भवति तत् संवृतिसत्, तद्यथा—घटः। तत्र हि कपालशो भिन्ने घटबुद्धिर्न भवति। यत्र चान्यानपोह्य धर्मान् बुद्ध्या तद्बुद्धिर्न भवति तच्चापि संवृतिसद् वेदितव्यम्, तद्यथा—अम्बु। तत्र हि बुद्ध्या रूपादीन् धर्मानपोह्य अम्बुबुद्धिर्न भवति, तेष्वेव तु सा संवृतिसंज्ञा कृता इति संवृतिवशाद् घटश्च अम्बु चेति ब्रुवन्तः सत्यमेवाहुः न मृषेति एतत् संवृतिसत्। अतोऽन्यथा परमार्थसत्यम्। यत्र भिन्नेऽपि तद्बुद्धिर्भवत्येव अन्यधर्मापोहेऽपि बुद्ध्या तत् परमार्थसत्, तद्यथा—रूपम्। तत्र हि परमाणुशो भिन्ने वस्तुनि रसादीनपि च धर्मानपोह्य बुद्ध्या रूपस्वभावबुद्धिर्भवति। एवं वेदनादयोऽपि द्रष्टव्याः। एतत् परमार्थेन भावात् परमार्थसत्यमिति। यथा लोकोत्तरेण ज्ञानेन गृह्यते तत्पृष्ठलब्धेन वा लौकिकेन तथा परमार्थसत्यम्, यथान्येन तथा सत्यं संवृतिसत्यमिति पूर्वाचार्याः। उक्तानि सत्यानि।"—इति विद्वद्वरश्रीप्रह्लादप्रधानमहोदयैः सौजन्यतः प्रदत्तेऽभिधर्मकोशभाष्ये ६।४ ॥ ८ °ष्वपो° भा० डे० लीं० ॥

रज्ज्वा सर्प इति ज्ञान रज्जुदृष्टावनर्थकम् ।
तदंशदृष्टौ तत्रापि सर्पवद् रज्जुविभ्रम ॥ [हस्तवालप्र० ६]

यच्चोक्तम्—'आयतनस्वलक्षण प्रत्येते स्वलक्षणविषया न द्रव्यस्वलक्षण प्रति' इति तत् कथमिति चेत्,

तत्रानेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थे सामान्यगोचरम् ।

अनेकद्रव्योत्पाद्यत्वात् तत् स्वायतने सामान्यगोचरमित्युच्यते, न तु भिन्नेष्वभेदैकाकारपरिकल्पनात् [प्र समु०वृ० १।४]। अत्राप्यनेकार्थविषयैकप्रत्ययत्वात् सामान्यरूपत्वादस्वलक्षणविषय-

---

भावे मुष्टिबुद्धिवत् । अतोऽङ्गुलिव्यतिरेकेण मुष्टभाववत् कपालादिव्यतिरेकेण घटाभाव इति सवृतिसन् घट । एव क्रियासम्भवे क्रियया अपोहे । यत्रापि क्रिययाऽपोहो न सम्भवति तत्रापि धियाऽपोहेऽन्येषा रूपादीना घटस्य समुदायाद् न तद्बुद्धिरस्ति । रूपादिसमुदायस्य च परमाणुरूपाद्यपोहे 'न तद्बुद्धिरस्ति' इति वर्तते, दृष्टान्त —अम्बुवत्, एकस्मिन्नपि जलबिन्दौ जलबुद्धिदर्शनात्, रूपादिषु पुनर्बुद्ध्यापोढेषु न ६६ तोयबुद्धिरस्तीत्येतत् सवृतिसतो लक्षणम् । अथवा यस्मिन् घटे भिन्नेऽवयवशो न तद्बुद्धिर्भवति तद् घट-वत् सवृतिसत् । यत्र चाम्बुबुद्ध्याऽर्थान्तरापोहे न तद्बुद्धिरर्थान्तरनिवृत्तिरूपस्य वस्तुन स्वरूपाभावाद भिन्नाग्न्यादिनिवृत्तिमात्र व्यवहारप्रसिद्धाम्बुवत् तदपि सवृतिसत् । परमार्थसदन्यथा, एतद्विपरीतलक्षण स्वत एव विविक्तरूप यद्विद्यते रूप रस इत्यादि तत् परमार्थसत् प्रत्यक्षगोचरमिति ।

एतदपि परमार्थसदित्यभिमत सवृतिसल्लक्षणानतिवृत्तेरसदेव, यथोक्तविधिना सवृतिसदेव सर्वमपी-त्यत्रापि ज्ञापकोदाहरण तत्सवाद्यभिहितम्—रज्ज्वा सर्प इति ज्ञानम्, तावदेव रज्ज्वा सर्प इति विपर्यय-ज्ञान भवति यावदेरपन्नादिविशेषलिङ्गादर्शनम् । विशेषतस्तु तदवधारणदृष्टौ सत्या प्राक्तन सर्पदर्शन जायतेऽनर्थकम् । सापि रज्जुबुद्धिस्तदवयवे दृष्टौ सत्या यथा सर्प इति ज्ञानमनर्थक तथानर्थिका, तत आह—तदंशदृष्टौ तत्रापि सर्पवद् रज्जुविभ्रम इति । एवमनया कल्पनया सर्वपिण्डज्ञानाना सवृति-सद्विषयत्वेनैवेति साधूक्तम्—अप्रत्यक्ष नीलादिविषय चक्षुरादिविज्ञान ज्ञान्यपुत्रीय भ्रान्तिवदिति । एव तावत् कल्पनापोढप्रत्यक्षलक्षणमञ्चितालम्बनपञ्चविज्ञानकायग्रन्थविरोधोद्भावनचोद्योपक्रमायातपरिहारार्थ-स्यानेकार्थजन्यस्वार्थसामान्यगोचरवाक्यस्य सप्रसङ्गो दोषोऽभिहित ।

अधुना यदेतदनेक[प्रकारभिन्न]रूपेत्यादिग्रन्थचोद्यद्वारायातकल्पनात्मकपरिहारार्थं यच्चोक्तम् 'आयतनस्वलक्षण [प्रत्येते स्वलक्षणविषया न द्रव्यस्वलक्षण] प्रति' इति तत् कथमित्येतत्परि ६६ हाराथस्य तस्य वाक्यस्य दोष वक्तुकाम परपक्षमेव तावत् प्रत्युच्चारयन् व्याचष्टे सूरिष्टीकाकारलिखित लिखन् यावदेकाकारपरिकल्पनादिति गतार्थम् । उत्तर तु अत्रापि, 'अपि'शब्दात् पूर्वस्मिन्नर्थविकल्पे व्याख्याता दोषास्तेऽत्रापि सम्भवन्ति । कथमिति चेत्, अनेकार्थविषयैकप्रत्ययत्वात्, अनेकोऽर्थ परमाणव, तद्विषय एक इति प्रत्यय सोऽनेकार्थविषयैकप्रत्यय, तद्भावादनेकार्थविषयैकप्रत्ययत्वात् ।

---

१ अपोढे प्र० ॥ २ घटास्य(स्य?)समु' भा ॥ ३ वर्तते प्र० ॥ ४ हाराप्रसि भा० ॥ ५ °दस्पंद स्पन्दादि' भा० ॥ ६ तदद्दष्टौ य० ॥ ७ दोभिहित य० ॥ ८ दृश्यता पृ० ७८ प २ ॥ ९ दृश्यता पृ ७६ पं० २४ । पृ० ७६ टि० ७ ॥

त्वात्। प्रत्यक्षस्याप्रत्यक्षत्वसाधने च द्वे लेशेनोन्नीते त्वयैव–त्वदभिमतप्रत्यक्षमप्रत्यक्षमनेकार्थजन्यत्वादनुमानवत्। अनुमानमपि हि पक्षधर्माद्यनेकार्थजन्यम्।

ज्ञापकः स हेतुरिति चेत्, कारकादपि अनेकस्मादर्थाज्जायते साध्यसाधनधर्मान्वयैकान्तवतः।

न, असञ्चितानेकार्थजन्यत्वादनुमाने। ननु धूमादिरपि सञ्चय एव गृहीतोऽ-

---

तेषु परमाणुषु प्रत्येकमतीन्द्रियेषु समुदितेष्वसमुदितेषु वा प्रत्ययाभावात् तत्समूहेऽनेकार्थविषयः स एवैकः प्रत्ययः, समूहालम्बनतदाभासज्ञानोत्पत्त्यभ्युपगमात्[1]। अर्थभेदविषयज्ञानाभ्युपगमे च विजानाति न विज्ञानम्[2] [चतु श० २६८] इत्यादि विरुध्येत। तस्मादेकः प्रत्ययोऽनेकार्थविषय एकार्थरूपः। तत एव सामान्यरूपस्तदतद्विषयतया तदतद्भूतसामान्यगोचरः। ततश्च अस्वलक्षणविषयः[3], त एव हि परमाणवः स्वलक्षणं न तत्समूहः[4] सामान्यत्वात्। अत एव संवृतिसञ्च[5] सः। तस्मादस्वलक्षणविषयत्वात् कल्पनात्मको निर्देश्यश्चेत्येवमाद्यस्माभिः प्राक् प्रक्रान्तं तत् पुनरामशेषं त्वयैव भावितम् 'अनेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थे सामान्यगोचरम्' [प्र० समु० ११४] इति परिहारं ब्रुवता।

किञ्चान्यत्, भवदभिमतप्रत्यक्षस्याप्रत्यक्षत्वसाधने च द्वे 'लेशेनोन्नीते[6] त्वयैव, मा भूत् स्वाभ्युपगमदोषव्यक्तिरिति[7] कुशलजनतर्कगम्ये[8], न स्फुटे। कतमे द्वे? अनेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थे सामान्यगोचरत्वादिति चैते द्वे। तत्र तावत् प्रथमं साधनम्–त्वदभिमत[9]प्रत्यक्षमप्रत्यक्षम्, अनेकार्थजन्यत्वात्,

६७-१ अनुमानवत्। दृष्टान्तेऽनुमानेऽनेकार्थजन्यत्वमसिद्धमिति मा मंस्थाः, यस्मादनुमानमपि पक्षधर्माद्यनेकार्थजन्यम्, पक्षधर्मः सपक्षानुगमो विपक्षव्यावृत्तिरित्यनेकार्थेन जन्यतेऽग्न्यनित्याद्यनुमानज्ञानं तथेदमपि प्रत्यक्षमनेकपरमाण्वर्थजन्यमिति। ज्ञापकः स हेतुरिति चेत्। स्यान्मतम्–अनुमाने पक्षधर्मादिरनेकोऽप्यर्थो धूमकृतकत्वादिरग्न्यनित्यादि[10]ज्ञानस्य न कारकः, किं तर्हि? पूर्वप्रसिद्धमेवाविनाभाविनं सम्बन्धं स्मारयतीति ज्ञापकः स हेतुः, इतरस्तु प्रत्यक्षज्ञानस्य कारकोऽर्थः, तस्माद्वैधर्म्याददृष्टान्त इति। एतच्चायुक्तम्, अत्रापि तुल्यत्वात्, कारकादपीत्यादि, 'अनुमानमपि' इति वर्तते[11], अनुमानमपि स्वार्थं कारकादनेकस्मादर्थाज्जायते। कतमस्मात्[12]? साध्यसाधनधर्मान्वयैकान्तवतः पक्षधर्मसपक्षानुगमविपक्षव्यावृत्तिमत ऐकान्तिकात्, 'अग्निमान् प्रदेशो धूमवत्त्वा[13]ङ्गुलीमूलवत्, अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवत्, न नदीवन्नाकाशवत्' इति कारकहेतुत्वेनानुमानेऽपि तदर्थस्य।

इतर आह–न, असञ्चितानेकार्थजन्यत्वादनुमाने। नैतत् साधर्म्यमुपपद्यते, कस्मात्? असञ्चितानेकार्थजन्यत्वादनुमानस्य सञ्चितानेकार्थजन्यत्वाच्च प्रत्यक्षस्य। देशकालभिन्नसन्निहितासन्निहितार्थविषयं ह्यनुमानम्, तद्विपरीतविषय प्रत्यक्षमिति। अत्रोच्यते–ननु धूमादिरपि सञ्चय एव गृहीतोऽ-

---

१ °त्पत्त्युपगमात् भा०॥ २ दृश्यता पृ० ७३ प० १३॥ ३ °लक्षणाविषयः प्र०॥ ४ °मूहसामा° प्र०॥ ५ °संचय स तस्मा° पा० डे० लीं० र० ही०। °संचयः स तस्मा° वि०॥ ६ लेशेन्नीते प्र०॥ ७ °व्यतिरिति प्र०॥ ८ °गम्यते न स्फुटे भा०। अत्र "गम्ये ते, न स्फुटे' इत्यपि पाठ स्यात्॥ ९ तदभिमत° प्र०॥ १० °रग्निनित्यादि° प्र०॥ ११ वर्तते भा०॥ १२ कतस्मात् य०॥ १३ धूमत्वाङ्गु° प्र०॥

ण्यादिमणूनिव गमयति ।

हेतुप्रत्ययोऽसौ, अनधिपतिप्रत्ययः कल्पनाया इति चेत्, कारकादप्यनेकस्मादर्थाज्जायते साध्यसाधनधर्मान्वयैकान्तवत् ।

अथ कथमसावनधिपतिः? इन्द्रियाविषयत्वात् । ननु सञ्चयहेतुप्रत्ययोऽप्यनधिपतिरिन्द्रियाविषयत्वात् । तथा स्वार्थे सामान्यगोचरत्वादनुमानवदप्रत्यक्षम् । अनुमानं वा प्रत्यक्षं स्यात्, अनेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थे सामान्यगोचरत्वात्, प्रत्यक्षवत् । द्वयमप्येतदेकमेव, एकलक्षणत्वात् ।

ण्यादिमणूनिव गमयति । नन्विति प्रसिद्धानुज्ञापने, ननु धूमोऽग्निमत्त्वविशिष्टप्रदेशधर्मश्चक्षुर्भूतसङ्घातोऽन्वयव्यतिरेकसहितोऽग्निमत्त्वविज्ञानं प्रदेशे जनयत्यणुसमुदय इव रूपविज्ञानम्, गमयत्यग्निं ६७-
तज्ज्ञानं जनयतीति ज्ञानोत्पत्तौ कारकत्वाव्यभिचाराद्भयत्रेति ।

हेतुप्रत्यय इत्यादि । स्यान्मतम्— हेतुः प्रत्ययो निमित्तमनालम्बनमित्यर्थः, असौ धूमोऽनुमाने निमित्तम् । अनधिपतिप्रत्ययः, कल्पनाया हेतोः, निर्विकल्पं हि ज्ञानमधिपतिप्रत्ययं प्रत्यक्षम्, न तथानुमानम्, अतो वैधर्म्यान्न दृष्टान्त इति चेत्, एवं चेन्मन्यसे ।

अत्र परेणैवोत्तरं वाचयितुकाम आह— अथ कथमित्यादि । इदमसिद्धं त्वं प्रष्टव्यः — कथमसावनधिपतिर्धूम इति, अनालम्बनमित्यर्थः । इतर आह— इन्द्रियाविषयत्वाद्धेतुप्रत्ययस्यार्थस्याग्न्यादिलक्षणस्य । आचार्य आह— ननु सञ्चयहेतुप्रत्ययोऽप्यनधिपतिरिन्द्रियाविषयत्वात् । परमाणुसञ्चय एव भैक्षस्तेऽप्यनधिपतिः, तस्मादेव हेतोरिन्द्रियाविषयत्वात्, सञ्चयस्य परमाणुव्यतिरिक्तस्यासत्त्वादिति विस्तरेण प्रागभिहितमेतत् । तस्मात् सर्वथा तुल्यमुभयं कारकत्वेनेति । तथा स्वार्थे सामान्यगोचरत्वादनुमानवदप्रत्यक्षमित्येतस्मिन् साधने कारकहेतुत्वप्रतिपादनार्थं प्रपञ्चस्तुल्य इत्यतिदिशति ।

अनुमानं वेत्यादि । वाशब्दो विकल्पार्थः, यदि प्रतिपादितमिदं युक्तिवशात् प्रत्यक्षस्य त्वदभिमतस्यानुमानत्वं मया तत् त्वया स्वग्राहरक्तमनसा स्वसमयप्रसिद्ध्यनुपातिना नेष्यते प्रत्यक्षत्वमेवेष्यते ततस्तस्मात् साधर्म्यादनुमानं वा प्रत्यक्षं स्यादनेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थे सामान्यगोचरत्वादित्येताभ्यामेव हेतुभ्यां प्रत्यक्षवदित्येते अपि द्वे साधने लेशेनोन्नीते, न स्फुटमिति ।

किञ्चान्यत्, एतस्मादेव हेतुद्वयाद्विपर्ययैक्यापत्तेः प्रमाणैक्यमित्यत आह— द्वयमप्येतदेकमेव, एक- ६८ १
लक्षणत्वात् । स्वसामान्यलक्षणं ह्येकमेव वस्तु विषयोऽस्य प्रमाणद्वयस्येत्युक्तविधिना प्रसक्तत्वात् प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं तदुभयं स्यात्, अनेकार्थजन्यसामान्यैकगोचरत्वात्, चक्षुरादिद्वारजन्मप्रत्यक्षभेदप्रत्यक्षत्ववत् । अनुमानमेव वा स्यात्, तत एव कारणात्, धूमकृतकत्वाद्यनुमिताग्न्यनित्यादिज्ञानानुमानवत् ।

---

१ °त्यग्निं न ज्ञानं जनयतीति प्र ॥ २ अत्र 'हेतुप्रत्ययो' इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ३ निमित्तमालम्बनं प्र० । अत्र 'निमित्तं नालम्बनं' इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ४ इदमसिद्ध द्रष्टव्य कथं साधनधिनऽधिपतिधूम भा० । इदमसिद्धं द्रष्टव्यं कथं साधनधिपतिधूम य० ॥ ५ सचयनहेतु° य० ॥ ६ °यविषयत्वात् प्र० ॥ ७ प्रत्यक्षोप्यन° प्र ॥ ८ युक्तिवशात्प्रत्य भा० । युक्तिवत्तात्प्रत्य° य० ॥ ९ °ण्यमित्यादि° प्र० ॥

अनेकार्थजन्यत्वाच्च स्वार्थसामान्यगोचरतायां यदाभासं तेषु ज्ञानमुत्पद्यते तथा त आलम्बनम्, प्रत्येकं परमाणुरूपस्य बुद्धावसन्निवेशात् समुदयकृततन्निर्भासतयालम्बनमिति प्राप्तम्। एवं च सति अर्थसन्निकर्षादक्षं प्रति यदुत्पद्यते तज्ज्ञानं

इदानीं वसुबन्धोः स्वगुरोः 'ततोऽर्थाद् विज्ञानं प्रत्यक्षम्' [वादवि०] इति ब्रुवतो यदुत्तरमभिहितं परगुणमत्सराविष्टचेतसा तत्त्वपरीक्षायां परमोदासीनचेतसा तु येन केनचिदभिप्रायेण स्वमतं दर्शितमेव दिन्नेन वसुबन्धुप्रत्यक्षलक्षणं दूषयता, तस्य पुनरर्थो योऽस्तु सोऽस्तु किं नोऽनेन? इदमेव तावदस्तु—रूपादिष्वालम्बनार्थो वक्तव्यः [प्र० समु० वृ० १।१५] इति विकल्प्य विकल्पद्वये दोषजातं तल्लक्षणे प्रक्रान्तं तत् तवापि समानमिति प्रतिपादयिष्यन् **नयचक्रकारः** सविशेषं तन्मतविरोधहेतुं स्ववचनजनितमाह—**अनेकार्थजन्यत्वाच्च स्वार्थसामान्यगोचरतायामित्यादि शिष्याचार्ययोस्तुल्योत्तर**त्वात्। स्वार्थ इति नीलादिः, स एव किल सामान्यमनेकार्थजन्यत्वात्, अनेकोऽर्थः परमाणवः तज्जन्यं नीलविषयं प्रत्यक्षमत इन्द्रियस्य स्वार्थ इत्येतस्यामनेकार्थजन्यत्वाच्च स्वार्थसामान्यगोचरतायां **यदाभासं तेषु ज्ञानमुत्पद्यते तथा त आलम्बनं** रूपादय इति नीलपीतादित्वेन यथैवाभासन्ते तथैवालम्बनमित्येत-
६८-२ दिष्टम्। किं कारणं त एव नीलादिपरमाणवो नालम्बनमिति चेत्, उच्यते—**प्रत्येकं परमाणुरूपस्य बुद्धावसन्निवेशात्**, एकमेकं प्रति प्रत्येकं परमाणूनां यन्नीलादिरूपं तस्यातीन्द्रियत्वाद्बुद्धौ न सन्निवेशः, तस्मात् किं प्राप्तम्? **समुदयकृततन्निर्भासतयालम्बनमित्येतत् प्राप्तम्**, नीलादिरूपस्य तत्समुदायात्मकत्वात्।

एवं च सति परमाणुसञ्चयनीलादिनिर्भासतयालम्बनत्वे सति प्रत्यक्षार्थ एवं जायते, तद्यथा—**अर्थसन्निकर्षादक्षं प्रति यदुत्पद्यते तज्ज्ञानं प्रत्यक्षमिति** ज्ञानमर्थेन विशेष्यते, अर्थेनेन्द्रियस्य सन्नि-

---

१ 'ततोऽर्थाद् विज्ञानं प्रत्यक्षम्' इति प्रत्यक्षलक्षणं **वादविधौ** बौद्धाचार्येण **वसुबन्धुना**ऽभिहितम्। वसुबन्धोः शिष्यो **दिन्नः**। 'दिन्न' इति च **दिङ्नागस्यैव** नामान्तरम्। दिन्नेन स्वगुरोर्वसुबन्धोः प्रत्यक्षलक्षणं दूषयितुकामेन **प्रमाणसमुच्चये** तद्वृत्तौ च विस्तरेण प्रक्रान्तमित्थम्—"ततोऽर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षम् [वादवि०] इत्यत्र **ततोऽर्थादिति सर्वश्चेद् येन तत् तत एव न।** यदि 'ततः' इत्यनेन सर्वः प्रत्यय उच्यते, यज्ज्ञानं यस्माद्विषयाद्भवति तस्य व्यपदिश्यते, तत एव तु न भवति, आलम्बनप्रत्ययादेव ज्ञानं न भवति 'चतुर्भिश्चित्तचैत्ता' [अभि०को० २।६४] इति सिद्धान्तात्। **आलम्बनं चेत् स्मृत्यादिज्ञानं नान्यदपेक्षते** ॥ १५ ॥ यदि 'ततोऽर्थात्' इत्यनेन विषयमात्रम्, स्मृत्यनुमानाभिलाषादिज्ञानमपि आलम्बनान्तरं नापेक्षते, अग्न्यादिज्ञानं हि न धूमाद्यालम्बनम्। रूपादिष्वालम्बनार्थो वक्तव्यः—किं यदाभासं तेषु ज्ञानमुत्पद्यते तथा ते आलम्बनम्, अथ यथा विद्यमाना अन्याभासस्यापि ज्ञानस्य कारणं भवन्ति? ततः किमिति चेत्, यदि यदाभासं तेषु ज्ञानमुत्पद्यते तथा पञ्चानां विज्ञानकायानां सञ्चितालम्बनत्वात् संवृतिसदेवालम्बनमितीष्टं नीलाद्याभासज्ञानेषु ततोऽर्थाद् विज्ञानत्वात् प्रत्यक्षत्वं भवति, तथाहि—तेषु तत्समुदायाध्यारोपे सत्यपि द्रव्यसदाकारो लभ्यते। द्रव्यसङ्ख्याद्याकारोऽपि लप्स्यते, त एव हि द्रव्यादित्वेनाभासन्ते। अथ यथा विद्यमाना अन्याभासस्यापि ज्ञानस्य कारणं भवन्ति तथा सति द्रव्यादिप्रसङ्गदोषो नास्ति तथा तेषामसत्त्वात्, तथापि येन तस्य व्यपदेश इत्येतन्न लभ्यते, प्रत्येकं च ते समुदिताः कारणं न समुदायो व्यवहारसत्त्वात्। एतदेवाह—**यदाभासा न सा तस्माच्चितालम्ब्यं हि पञ्चकम्। यतः सा परमार्थेन तत्र न व्यपदिश्यते** ॥ १६ ॥ इत्यवसरकारिका। चक्षुरादीनामप्यालम्बनत्वप्रसङ्गः, तेऽपि हि परमार्थतोऽन्यथा विद्यमाना नीलाद्याभासस्य द्विचन्द्राद्याभासस्य च ज्ञानस्य कारणीभवन्ति'—**प्र० समु० वृ०** १।१५-१६॥ २ **तन्मतविरोधं हेतुं** य०॥ ३ **एव विकल°** य०॥ ४ **अनेकार्थः** य०॥ ५ **एकमेकं प्रत्येकं** प्र०॥ ६ **ज्ञायते** प्र०। दृश्यतां पृ० ७६ पं० २७॥ ७ **विशिष्यते** य०॥

प्रत्यक्षम्। न तदुपपद्यते, तस्यार्थस्याभावात्। न च सञ्चयोऽर्थः, संवृतिसत्त्वात्। अतो नासावुत्पत्तिप्रत्यय इष्यत इति विशेषणविशेष्यत्वाभावाज्ज्ञानत्वप्रत्यक्षत्वाभ्युपगमहानिः।

चक्षुरादिज्ञानेष्वत स्वनिर्भासव्यतिरिक्तप्रमेयाभावादसत्सत्प्रतिपत्तेरप्रत्यक्षत्वेन प्रसिद्धेन प्रत्यक्षत्वनिराकरणादनुमानविरोधः।

यथा चात्र समानानेकार्थजन्येन्द्रियस्वार्थाद्यदुत्पद्यते तदपि च तैमिरकवद-

---

क्षपादुत्पद्यमानं ज्ञानमक्षं प्रति वृत्तं प्रत्यक्षमिति ज्ञानेऽस्य विशेषणता। सन्निकर्षाद्वा अक्षं प्रति यो वर्ततेऽर्थः स प्रत्यक्षः, अर्थेन्द्रियसन्निकर्षोऽक्षं प्रति वृत्तं प्रत्यक्षमित्यत्वादुपचरितवृत्तिरथाऽनेन 'विशेष्यते' इति। अत्रोत्तरमुच्यते—न तदुपपद्यते प्रत्यक्षं तस्यार्थस्याभावात्। 'एवं च सति' इत्युच्चार्य सञ्चयं प्रमत्त इत्यभ्युपगम्य दूषयति—यस्मान्न च सञ्चयोऽर्थः। किं कारणं नार्थः सञ्चय इति चेत्, संवृतिसत्त्वात्। संवृतिसत्त्वमद्रव्यत्वाद् वान्ध्येयवत्। अत एतस्मात् कारणाद् नासावुत्पत्तिप्रत्यय ईष्यते, उत्पत्तौ प्रत्यय आलम्बनप्रत्यय इत्यर्थः, सोऽसत्त्वान्नेष्यते। इतिशब्दो हेत्वर्थे, एतस्मात् कारणात् सोऽर्थो न विशेषणेन विशेष्यस्तस्माद्विशेषणविशेष्यत्वाभावाज्ज्ञानत्वप्रत्यक्षत्वाभ्युपगमहानिः, 'ज्ञानं प्रत्यक्षम्' इत्येतदभ्युपगतं विशेषणस्य विशेष्यस्य चार्थस्याभावात् किंविषयं ज्ञानं प्रत्यक्षं च स्यादिति हीयते।

किञ्चान्यत्—चक्षुरादिज्ञानेष्वत इत्यादि यावदनुमानविरोधः। चक्षुरादीन्द्रियबुद्धयः स्वविषयनिर्भासस्वरूपमात्रा एव, ज्ञानत्वात्, वस्तुत्वात्, सत्त्वात्, तैमिरिकादिज्ञानवत्। अतश्चक्षुरादिविज्ञानेषु A६९ स्वनिर्भासव्यतिरिक्तप्रमेयाभावः। ततश्च तैमिरिकस्य केशोण्डुक-मशक-मक्षिका द्विचन्द्रादिदर्शनवत् सा तु असत्सत्प्रतिपत्तिरेव, 'असद्वस्तु सद्वस्तु' इति प्रतिपत्तिः। तस्माद्धेतोरसत्सत्प्रतिपत्तेर्विपर्ययप्रतिपत्तेस्तस्य ज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वं प्रसिद्धमलातचक्रादिज्ञानवत्, तेन अप्रत्यक्षत्वेन प्रसिद्धेन त्वया प्रतिज्ञातं तत्प्रत्यक्षत्वं निराक्रियते, तन्निराकरणादनुमानविरोधः। ननु प्रत्यक्षनिराकरणात् प्रत्यक्षविरोधोऽयं कथमनुमानविरोधः? अत्रोच्यते—त्वन्मतेन प्रत्यक्षत्वमस्य विकल्पस्योक्तानुमानेन निराकरणान्निर्विकल्पकप्रत्यक्षत्वाभावात् कतमत् तत् प्रत्यक्षं येन निराक्रियेत यद्वा निराकुर्यात्? अतोऽनुमानविरोध एवायम्।

किञ्चान्यत्—घटसमुत्क्षेपणसत्ताघटत्वाद्याकारज्ञानानामपि प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः। कथमिति चेत्, उच्यते—यथा चात्रेत्यादि दार्ष्टान्तिकं मुक्त्वा दृष्टान्तं तत्साधर्म्यं च वर्णयति। यथा चात्र भवन्मतेन समानानेकार्थजन्येन्द्रियस्वार्थात्, समानेन नीलवर्णेनाऽनेकेन परमाणुसङ्घातलक्षणेनार्थेन जन्यं इन्द्रियस्वार्थं, नासाधारणो यस्त्वभिमतस्वलक्षणस्वार्थः, कस्मात्? तैरयुक्त्या तत्रानेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थे सामान्यगोचरं ज्ञानम् [प्र० समु० १।४] इति वचनाद् यादृशात् स्वार्थस्येष्टत्वात्, तादृशात् स्वार्थाद् यदुत्पद्यते

---

१ विष्यते प्र० ॥ २ गमय्य दूष° भा ॥ ३ नासावुत्पत्ति य० । नासावुत्पत्ति भा० ॥ ४ हीष्यते वि० ॥ ५ °रादिषु ज्ञाने° य ॥ ६ प्रतिपत्तिरसत्सा° य ॥ ७ न तत्पक्षधर्मस्य विकल्पस्यो° भा० । 'न तत्पक्षधर्मस्य विपक्षस्यो° य० ॥ ८ °प्रत्यक्षत्वाभावात् भा० ॥ ९ प्रत्यक्षं येन य० ॥ १० दार्ष्टान्तिकमुक्त्वा य० ॥ ११ समानासमानानेका° प्र ॥ १२ अत्र तल्लक्षणा इत्यपि पाठः स्यात् ॥ १५ स्वार्थसामान्य° य० ॥

प्रमाणम्, समानानेकार्थातथाभूतार्थान्नीलादिसङ्घातात् प्रज्ञप्तिसत आलम्बनात् परमार्थसदाकारो लभ्यते, त एव हि परमाणवो नीलादित्वेनाभासन्ते इति तद्विषयं ज्ञानं प्रत्यक्षमिष्टं तथा घटसङ्ख्याद्याकारेभ्यः प्रत्यक्षज्ञानजनकार्थसधर्मभ्यः समानानेकार्थजन्येन्द्रियस्वार्थेभ्यः समानानेकार्थातथाभूतार्थेभ्यः परमार्थसदाकारो लप्स्यते इति घटादिज्ञानं प्रत्यक्षं स्यात्, संवृतिसदालम्बनत्वात्, नीलादिज्ञानवत्। नीलादिज्ञानं वा न प्रत्यक्षं स्यात्, घटादिज्ञानवत्। त एव हि ते परमाणव आभासन्ते। एवमुभयोस्तुल्ये जनकत्वे कुत एतत्–नीलाद्याभासं ज्ञानं प्रत्यक्षं न घटाद्याभासमिति। यथैव हि परमाण्ववयवसमुदाये त एवाभासन्ते तथा घटादिज्ञानेष्वपि समुदितास्त एवाभासन्ते, तथास्थेष्वेव घटबुद्धिः प्रवर्तते प्रज्ञप्तिश्च एवं तथास्थेष्वेव नीलादिरूपबुद्धिः प्रवर्तते प्रज्ञप्तिश्च।

'ज्ञानम्' इत्यभिसम्भन्त्स्यते, तदपि च तैमिरिकवदप्रमाणम्, तिमिरे भवं तैमिरम्, यथा द्विचन्द्र-
६९-१ दर्शनं तथा समानेनाप्यनेकवर्णमणिसमूहेन जन्य इन्द्रियस्वार्थो मेचकस्तस्मादुत्पद्यमानं तदपि च तैमिरिकवद[1]प्रमाणम्। कुतः ? यस्मात् समानानेकार्थात् तस्मादतथाभूतार्थात् त[2]न्नीलादिसङ्घाताज्ज्ञानमुत्पद्यते, अतथाभूतार्थत्वमस्य संवृतिसत्त्वमत आह–[3]समानानेकार्थातथाभूतार्थान्नीलादिसङ्घातात् प्रज्ञप्तिसत आलम्बनात् संवृतिसतः परमार्थसदाकारो नीलादिको लभ्यते, यतस्त एव हि परमार्थसन्तः परमाणवो नीलादित्वेनाभासन्त इति तद्विषयं ज्ञानं नीलादिप्रत्यक्षमिष्टम्। तथा निराकृतेभ्यः[4] प्रत्यक्षत्वेन घटसङ्ख्याद्याकारेभ्यो घटसङ्ख्योत्क्षेपणसत्तावदत्वाद्याकारेभ्यः प्रत्यक्षज्ञानजनकार्थसधर्मभ्यः, कतमेन [5]साधर्म्येण सधर्मभ्य इति चेत्, उच्यते–[6]समानानेकार्थजन्येन्द्रियस्वार्थेभ्य इत्येतत्सधर्मभ्यः। किमुक्तं भवति ? [6]समानानेकार्थातथाभूतार्थेभ्यः, परमार्थसदाकारो लप्स्यते नीलादिसङ्घातवदित्यतस्तदुपसहृत्य साधनमाह–घटः संयुक्तो वियुक्तः परोऽपरः स्पन्दत इत्यादि ज्ञानं प्रत्यक्षं स च तद्विषयः प्रत्यक्षः स्यात्, संवृतिसदालम्बनत्वात्, नीलादिज्ञानवत्। नीलादिज्ञानं तदर्थश्च न प्रत्यक्षे वा स्याताम्, संवृतिसत्त्वात, घटादिज्ञानार्थवत्। वाशब्दस्य विकल्पार्थत्वादुभयत्र ज्ञानोत्पादकार्थाविशेषात्। तत् समर्थयति–त एव हि ते परमाणवो य एव घटादित्वेनाभासन्ते य एव नीलादित्वेनाभासन्त इति। एवमुभयोर्नीलादिघटादिज्ञानयोस्तुल्ये जनकत्वे तत् कुत एतत्–नीलाद्याभासं ज्ञानं प्रत्यक्षं न घटाद्याभासमिति ? स्वरुचिमात्राद[7]न्यत् कारणं नास्तीत्यर्थः।

यथैव हीत्यादि यावत् समुदितास्त एवाभासन्त इति बुद्ध्याद्याभासनसामर्थ्याविशेषाच्च जनकहेत्वविशेषमेव दर्शयति। अत्र च यथा परमाण्ववयव[8]समुदाये त एव नीलप्रत्ययभासत्वाज्ज्ञानस्या-
३६९-१ कारसन्निवेशविशिष्टाः सामान्यत आभासन्ते तथा घटादिज्ञानेष्वपि आकारविशेषेण समुदितास्त [9]एवाभासन्ते, नान्यो घटो नामास्ति यस्तथाभासेत। तथास्थेषु तेन प्रकारेण स्थितेषु रूपादिष्वेव घट

---

१ °रिकवद्° य० ॥ २ तन्नादिसंघातजनमुत्पाद्यते प्र० ॥ ३ समानासमानानेका° प्र० ॥ ४ °कृतेभ्यः सत्पक्षत्वेन घट° य०। °कृतेभ्या घट° भा० ॥ ५ साधर्म्येन य० ॥ ६ समानासमानानेका° य० ॥ ७ °दन्यत्र प्र० ॥ ८ °समुदायनाव नीलप्रत्य° प्र० ॥ ९ एव भासंते य० ॥

अथोच्येत—नीलादिसमुदाये द्रव्यसदाकारो विद्यते, तदण्वात्मकत्वात् तथासत्त्वात् तत्प्रत्यक्षत्वं न्याय्यम्। न तु घटाद्याकारः[1], अतत्परमाणुत्वात् तथाऽसत्त्वात्। एतच्च तुल्यमुभयत्राविशेषात्। यथैव तस्मिन् घटाद्यनाकारता तदनणुत्वात् तथाऽसत्त्वात् एवं रूपाद्याकारस्यानाकारता सञ्चितस्यैन्द्रियकत्वादालम्बनत्वात् तदनणुत्वात् तथाऽसत्त्वादन्यथाऽविषयत्वादनालम्बनत्वादप्रत्यक्षत्वात्।

पक्षान्तरापत्तिश्चैवं यथा ते विद्यन्ते तथा त आलम्बनमिति। यथा चोक्तं प्रत्येकं

इति बुद्धिः प्रवर्तते प्रज्ञप्तिश्च एवं तथास्यैव परमाणुषु नीलादिरूपबुद्धिः प्रवर्तते प्रज्ञप्तिश्चेति सर्वमुभयत्र तुल्यम्।

अत्र परेणोभयोर्वैधर्म्यप्रदर्शनार्थमथोच्येत—नीलादिसमुदाय इत्यादि यावत् तदण्वात्मकत्वात् तथासत्त्वादिति। नीलादिसमुदाये नीलादिद्रव्यसदाकारः परमार्थसदाकारः स विद्यते। किं कारणम्? तदण्वात्मकत्वात् तेषां नीलादीनामण्वात्मकत्वात् अणूनां द्रव्यसत्त्वात्। तत्प्रत्यक्षत्वं न्याय्यम्, न्यायादनपेतं न्याय्यं युक्तमित्यर्थः, तद्विषयस्य च ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वं तत्प्रत्यक्षत्वम्। न तु घटाद्याकारो न त्वस्ति घटमङ्कोत्क्षेपणाद्याकारः, अतत्परमाणुत्वात्, तस्याकारस्य परमाणुत्वं तत्परमाणुत्वम्, न तत्परमाणुत्वमतत्परमाणुत्वम्, अतोऽतत्परमाणुत्वात्। ततः किम्? तथाऽसत्त्वात्, तेन प्रकारेणासत्त्वात् परमाणुत्वेन तेषां घटाद्याकाराणामसत्त्वात्।

अत्राचार्य उत्तरमाह—एतच्च तुल्यमुभयत्राविशेषात्, परमाणुतन्यत्वादेव नीलादिघटाद्याकारप्रत्यक्षयोः। यथैव तस्मिन् रूपादिसमुदाये घटाद्यनाकारता तदनणुत्वात्, तस्य घटाद्याकारस्यानाकारता तस्याकारस्यानणुत्वात्, तथाऽसत्त्वादनणुसत्त्वेन घटाद्याकारेणासत्त्वादणुत्वेनैवासत्त्वात्। एवं रूपाद्याकारस्यानाकारता अनन्तरोक्तहेतोः सञ्चितस्यैन्द्रियकत्वात् परमाणुसमुदायस्यैन्द्रियकत्वात् तस्यैवालम्बनत्वात्, असञ्चितस्यातीन्द्रियत्वादत एवानालम्बनत्वात्, तदनणुत्वात् तस्य सञ्चितस्यैन्द्रियकस्यालम्बनस्यानणुत्वात् तथाऽसत्त्वादनणुत्वादेवासत्त्वात्, अन्यथा[ऽ]विषयत्वात् परमाणुत्वेनाविषयत्वात्, अविषयत्वादेव अनालम्बनत्वात्, अत एव अप्रत्यक्षत्वात्।

किञ्चान्यत्—पक्षान्तरापत्तिश्चैवम्। यदाभासं तेषु ज्ञानमुत्पद्यते तथा त आलम्बनम् [प्र० समु० वृ० १।१५] इत्येतं पक्षं परित्यज्य यथा ते विद्यन्ते तथा त आलम्बनमित्ययं पक्ष आश्रितो भवति, पक्षान्तरगमनं च पराजयस्थानायेति। किञ्चान्यत्, अस्मिन्नपि च पक्षे त्वयैव वसुबन्धुं प्रत्युक्ता ये दोषास्ते तवापि स्युः। यस्मात् त्वयापि चायं पक्षोऽङ्गीकृत एव। कथमिति चेत्, तद्दर्शयति—यथा च प्रत्यक्षोत्पत्तिविधानमङ्गनतायमुक्तम्—प्रत्येकं च ते समुदिताः कारणमिति। तत्रानेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थे सामान्यगोचरम् [प्र० समु० १।४] इत्यस्य व्याख्यायां पुनर्वसुबन्धुं दूषयितुकामेन विरचितं स एवाह—'किं यथा विद्यमाना अन्याभासस्यापि विज्ञानस्य कारणं भवन्ति तथा प्रत्यक्षस्यालम्बनं रूपादयः' इति पूर्वपक्षत्वेन। एतयोश्च वचनयोरेकार्थत्वादसावपि पक्षोऽभ्युपगतस्त्वया। ततः को

---

१ °समुदयेऽस्मिन् प्र० ॥ २ °दणुत्वेनैव सत्त्वात् भा० ॥ ३ °स्यैन्द्रियिकत्वात् य० ॥ ४ °न्द्रियिक भा० ॥ ५ दृश्यतां पृ० ९६ पं० २५ ॥ ६ व्याख्यायां य० । व्याख्यया भा० ॥ ७ दृश्यतां पृ० ९६ पं० २६ ॥

च ते समुदिताः कारणम् [प्र० समु० वृ० १।१५]। एवमपि न त आलम्बनमतीन्द्रियत्वात्। एवंविधालम्बनतायां च धूमोऽग्निप्रत्यक्षज्ञानालम्बनं स्यात्, तथा विद्यमानत्वेऽन्यथाभासस्यापि ज्ञानस्य कारणीभवनात्, त्वदुक्तप्रत्यक्षालम्बनवत्। चक्षुराद्यपि चालम्बनं स्यात्।

न च ग्राह्यस्य नीलादेर्विषयस्य चक्षुरादिविज्ञानस्य नीलादिपरमाणव आल-

दोष इति चेत्, एवमपि न त आलम्बनमतीन्द्रियत्वादिन्द्रियगोचरातीतत्वाद् गगनवदिन्द्रियज्ञाना[1]लम्बनं न भवन्ति परमाणवः।

किञ्चान्यत्, उत्तरदोष उच्यतेऽभ्युपगम्यापि एवंविधालम्बनतायां चेत्यादि यावत् त्वदुक्तप्रत्यक्षालम्बनवदिति। 'अन्यथा विद्यमानाः परमाणवोऽतीन्द्रियत्वेन विद्यमानाः समूहाभासस्यापि ज्ञानस्य कारणं भवन्ति' इत्येवंविधालम्बनतायां सत्यां धूमोऽग्निप्रत्यक्षज्ञानालम्बनं स्यात्, तथा
५०-१ विद्यमानत्वेऽन्यथाभासस्यापि ज्ञानस्य कारणीभवनात्। धूमत्वेन विद्यमानो धूमोऽन्याभासस्याग्न्याभासस्याग्न्याभासज्ञानस्य कारणीभवन्नुपलभ्यत इति पक्षधर्मत्वमस्यास्य। त्वदुक्तप्रत्यक्षालम्बनवदिति दृष्टान्ते तस्य सलक्षानुगमनं दर्शयति। यथा त्वदुक्तस्य प्रत्यक्षस्यालम्बनं परमाणवोऽन्यथा विद्यमानाः परमाणुत्वेन विद्यमानाः समूहाभासज्ञानस्य कारणं भवन्ति तथा धूमोऽपि तत्साधर्म्यात् तज्जनितज्ञानालम्बनत्वाग्नेः प्रत्यक्षालम्बनतया व्याप्तत्वात् प्रत्यक्षालम्बनतामात्मनः साधयति। धूमनिमित्ताग्निज्ञानं वा प्रत्यक्षं स्यात्, तथा विद्यमानत्वेऽन्याभासविज्ञानजनकार्थालम्बनत्वात्, त्वदुक्तप्रत्यक्षवत्। तत्साधर्म्याद्देवं[2] वा त्वदुक्तप्रत्यक्षं स[3]हार्थेनाप्रत्यक्षं स्याद् धूमजनिताग्न्यर्थज्ञानवत्।

किञ्चान्यत्, तस्मादेव हेतोश्चक्षुराद्यपि[4] चालम्बनं स्यात्, एवमयमतिप्रसङ्गदोष एवंवादिनः। यदि कारणमालम्बनं विज्ञानस्यान्याभासस्या[5]पीष्टं ततश्चक्षुरादीन्द्रियाणि चक्षुरादिविज्ञानानामालम्बनानि स्युः, अन्यथा विद्यमानत्वेऽन्याभासस्यापि विज्ञानस्य कारणीभवनाच्चक्षुरिन्द्रियं चक्षुर्विज्ञानस्यालम्बनं स्याद् रूपादिपरमाणुवत्। तज्ज्ञानं वा चक्षुरिन्द्रियालम्बनं स्यात्, तज्जन्यत्वे सत्यन्याभासत्वात्, परमाणुजन्यरूपविज्ञानवत्। एवं श्रोत्रादिविज्ञानानि। परमाण्वालम्बनत्वमभ्यु[6]पगम्यायं दोष उक्तः।

५०-२ न च ग्राह्यस्य नीलादेर्विषयस्येत्यादि। चक्षुरादिभिर्ग्राह्यस्य नीलादेः समूहात्मकस्य, विषयो गोचरः, सम्बन्धि चक्षुरादिविज्ञानम्, तस्य नीलादिपरमाणवो न आलम्बनम्, अन्यथा परमार्थतो विद्यमानत्वात्। [7]अन्यथेति स्वाभासादन्यथाभासन्ते न तथा परमार्थतो विद्यन्ते परमार्थतस्तु स्वलक्षणा अप्यग्राह्या विद्यन्ते, तस्मादन्यथा परमार्थतो विद्यमानत्वात्[8] चक्षुरादिवन्नीलादिग्राह्यविषयज्ञानालम्बना न भवन्ति परमाणवः। यथा चक्षुरादीन्द्रियाण्यन्यथा परमार्थतोऽनीलादिपरमाण्वात्मकानि सन्ति अन्यथा नीलादिज्ञानोत्पत्तौ हेतुभावं बिभ्रति नालम्बनानि तथा परमाणव इति। इतश्च परमाण्वालम्बनं न भवति

१ गगनव° प्र०॥ २ °स्यादेव वा त्वदुक्त° भा०। °स्यादेव तावदुक्त° य०॥ ३ भा० विनान्यत्र–सहात्सहार्थेन वि०। सहात्महार्थेन पा०। सतात्महार्थेन डे० लीं०। २०ही०प्रत्योस्तु अयं पाठ एव नास्ति॥ ४ °रादपि प्र०॥ ५ °स्वाभास° प्र०॥ ६ °लम्बनमभ्यु° य०॥ ७** एतच्चिह्नान्तर्गत अन्यथेति इत्यत आरभ्य °मानत्वात् इत्यन्तः पाठो य० प्रतौ नास्ति॥ ८ परमानत्वात् भा०॥

म्बनम्, अन्यथा परमार्थतो विद्यमानत्वात् तदसाधारणविषयत्वाद्वा, रसज्ञानवत्।

ननु च प्रत्येकमेव ते समुदिताः कारणम्, तथासन्त एव समुदिताः परमाणवश्चक्षुरादिज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वादालम्बनम्, तदवस्थाना ज्ञानोत्पादनशक्त्यभिव्यक्ते[1], चक्षुरादिपरमाणूनामिव। न ह्येक इन्द्रियपरमाणुर्विषयपरमाणुर्वा विज्ञानमुत्पादयितुमलम्, न तत्समुदाय[2] प्रज्ञप्तिसत्त्वात्। प्रत्येककारणतायामणूना समुदाये दर्शनशक्तिव्यक्ति, शिबिकावाहकसमुदायवहनशक्तिवत्, अन्धपङ्क्तिवत् प्रत्येका दर्शनवैलक्षण्येन।

चक्षुर्विज्ञानम्, तदसाधारणविषयत्वाद्वा, तस्यासाधारणविषयत्वाच्चक्षुर्विज्ञानस्य[1]। असाधारण एवैको नीलपरमाणुर्विषयोऽस्येति तदसाधारणविषयत्वम्, तच्च सिद्धम्, प्रत्येकं च ते समुदिता कारणम् [प्र॰ समु॰ वृ॰ १।१५] इति वचनात्। तस्मादसाधारणविषयत्वाद्वा रसज्ञानवत्, यथा रसज्ञानमसाधारणविषयत्वान्नीलपरमाण्वालम्बनं न भवत्येव चक्षुर्विज्ञानमपि। वा[?]न्यात् तन्नीलपरमाणवश्चक्षुर्विषया न भवन्ति, असाधारणविषयत्वात्, असाधारणाश्च ते विषयाश्च, रसज्ञानवत्, रसज्ञाने इव रसज्ञानवत्, यथा रसज्ञाने रसलक्षणोऽर्थोऽसाधारणविषयत्वात् त्वन्मतेनैव चक्षुर्विज्ञानविषयो न भवति एवं नीलपरमाणव इति।

इतर आह—ननु च प्रत्येकमेव ते समुदिता कारणमित्यादि यावदन्धपङ्क्तिवत् प्रत्येकादर्शनवैलक्षण्येनेति। ननु मया विशेष्योक्तम्—प्रत्येकमेव ते समुदिता कारणमिति। किमुक्तं भवति? ७१ १ तथासन्त एव परमाणुत्वेन परमार्थसन्त एव समुदिता परमाणवश्चक्षुरादिज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वादालम्बनम्। किं कारणम्? तदवस्थाना ज्ञानोत्पादनशक्त्यभिव्यक्ते, समुदाय अवस्था येषां ते तदवस्था, तदवस्था एव हि ज्ञानमुत्पादयितुं शक्ता, सा हि ज्ञानोत्पादनशक्ति प्रत्येकं विद्यमानापि नाभिव्यज्यते, समुदायेऽभिव्यज्यते। को दृष्टान्त? चक्षुरादिपरमाणूनामिव प्रत्येकं रूपदर्शनशक्तानामपि न सा शक्तिरभिव्यज्यते समुदाये त्वभिव्यज्यते, तद्वदालम्बनपरमाणूनामपि। विषय-विषयिपरमाणूना प्रत्येकं तच्छक्तीनामप्यसमुदिताना शक्त्यभावं तुल्यं दर्शयति—न ह्येक इन्द्रियपरमाणुर्विषयपरमाणुर्वा विज्ञानमुत्पादयितुमलमिति। न तत्समुदाय प्रज्ञप्तिसत्त्वात्, नापि तेषामिन्द्रियविषयपरमाणूना समुदायो विज्ञानमुत्पादयितुमलं प्रज्ञप्तिसत्त्वात् परमार्थतोऽसत्त्वादित्यर्थ। तस्मादेकमेकं प्रति कारणभावं प्रत्येककारणता, तस्या सत्यामेव प्रत्येककारणतायामणूना समुदाये दर्शनशक्तिव्यक्ति। किमिव? शिबिकावाहकसमुदायवहनशक्तिवत्, यथा शिबिकावाहकाना प्रत्येकं विद्यमानैव सा वहनशक्ति समुदायेऽभिव्यज्यते तथेन्द्रियविषयपरमाणूना दर्शनदृश्यशक्ति[2]। वैधर्म्येण अन्धपङ्क्ति प्रत्येकादर्शनवैलक्षण्येन, यथान्धाना प्रत्येकमसती दर्शनशक्तिव्यक्तिस्तत्पङ्क्तावपि न भविष्यति तथेन्द्रियविषयद्रष्टृदृश्यशक्तयो नाभविष्यन्, भवन्ति तु। तस्मात् प्रत्येकं विद्यमानशक्तय एवेन्द्रियविषयपरमाणव समुदायेऽभिव्यक्तशक्तयो भवन्तीति। ७१-२

---

१ तस्य साधा॰ प्र॰ ॥ २ दृश्यता पृ॰ ९६ प॰ ३० ॥ ३ यावदन्धपङ्क्तिव प्रत्येका भा॰। यावदन्धपङ्क्ति च प्रत्येका॰ य॰ ॥ ४ ॰मानाभिव्यज्यते य॰ ॥ ५ दर्शनीशक्ति॰ प्र॰ ॥ ६ तथेन्द्रि॰ य॰ ॥

नन्वेवमभ्युपगतनिराकरणफलैवेयं प्रत्यक्षव्यवस्था, असञ्चितपरमाण्वालम्बनश्रयणात् प्रत्येकदर्शनशक्तिख्यापनाज्जनकानन्यथात्वात् सञ्चयाभावात् ।

आदिप्रतिज्ञानवत् स्वलक्षणविषयत्वप्रतिसमाधानेन निर्वहणमेतदनेकार्थजन्यस्वार्थसामान्यगोचरनिरसनम् । प्रत्यवेक्षितपूर्वापरानुमतनिगमनपरिग्रहेण वा

अत्रोच्यते – **नन्वेवमभ्युपगतनिराकरणफलैवेयं प्रत्यक्षव्यवस्था ।** अभ्युपगतं सञ्चितालम्बनाः पञ्च विज्ञानकायाः [अभि[1]० पि०] इति, तस्याभ्युपगतस्य निराकरणं फलमस्याः प्रत्यक्षव्यवस्थायाः । कुतः ? **असञ्चितपरमाण्वालम्बनश्रयणात्**, प्रत्येकं दर्शनशक्तिमतामिन्द्रियविषयपरमाणूनां दर्शनशक्तिव्यक्तिरित्यस्या कल्पनायां नन्वसञ्चिताः परमाणवश्चक्षुर्विज्ञानोत्पा[2]दनशक्ता इत्येतदाश्रितं भवति पञ्चानां विज्ञानकायानामसञ्चितालम्बनत्वम् । तच्चाभ्युपगतं [3]निरुणद्धि सञ्चिता[4]लम्बनत्वमिदं कल्पनान्तराश्रयणम् । किं कारणम् ? **प्रत्येकदर्शनशक्तिख्यापनात्**, शिबिकावाहकसाधर्म्यात् त एव हि दर्शनशक्तियुक्ताः प्रत्येकमिति भवति । स्यान्मतम् – ननु प्रत्येकशक्तानामेव सञ्चये तच्छक्त्यभिव्यक्तिरित्युक्तम् । आचार्य आह – स[5]त्यम्, उक्तमेतत्, अयुक्तम्, किं कारणम् ? **जनका[6]नन्यथात्वात्**, न हि ज्ञानस्य जनकेभ्यः परमाणुभ्योऽन्यः सञ्चयोऽस्तीति प्रागेतद् विस्तरेण प्रतिपादितम्, तस्माज्जनका[7]नन्यथात्वात् **सञ्चयाभावात्** प्रत्येकं दर्शनशक्त्यभि[8]व्यक्तिप्रत्यक्षव्यवस्था अभ्युपगतनिराकरणफलैवेयम् । अथवा जनकानामन्यः प्रकारोऽन्य[9]था, तद्भावोऽन्यथात्वम्, तत्प्रतिषेधो जनकानन्यथात्वम्, तस्माज्जनकानां परमाणूनामतीन्द्रियाणामनन्यथात्वा[10]दैन्द्रियकत्वव्यवस्थानाभा[11]वात् सञ्चयस्यार्थान्तरभूतस्याभावा[12]दसञ्चितपरमाण्वालम्बनश्रयणं तदवस्थम् ।

अथवा युक्तैषा कल्पना त्वयाश्रयितुं 'स्वलक्षणविषयं प्रत्यक्षम्' इत्येतत्प्रतिज्ञानसंवादित्वात् तन्नि-
७२-१ चोदुकामेन । यस्मात् **प्रत्येकं ते समुदिताः कारणम्** [प्र[13]० समु० वृ० १।१५] इत्येतत् प्रत्यक्षविषयसमर्थनवचनमादिप्रतिज्ञानेन तुल्यं वर्तत इति **आदिप्रतिज्ञानवत्**, आदिप्रतिज्ञानानुरूपम्, या हि प्रतिज्ञा 'स्वलक्षणविषयं प्रत्यक्षम्' इति सैतेन वचनेन निरुह्यते, यस्मात् **स्वलक्षणविषयत्वप्रतिसमाधानेन निर्वहणमेतत्** 'स्वलक्षणविषयं प्रत्यक्षम्' इति आदौ प्रतिज्ञाय [13]प्रत्येकं **ते समुदिताः कारणमिति** ब्रुवताऽणूनां स्वलक्षणत्वात् [14]प्रत्यवेक्षितपौर्वापर्यसाध्यसाधनसम्बन्धं हि वक्तव्यम् । अहो साधु, किन्तु पुनरत्र देवानांप्रिय भवतो दोषजातम् । किं तत् ? **अनेकार्थजन्यस्वार्थसामान्यगोचरनिरसनम्**, तत्रानेकार्थजन्यत्वात् **स्वार्थे सामान्यगोचरम्** [प्र० समु० १।४] इति चोद्योत्तरपक्षपरिग्रहेण [15]प्रत्यवेक्षितपौर्वापर्यसौस्थित्यार्थनिगमनवचनमनेन तु निरस्यते । अथ मा भूदेष दोष इति **प्रत्यवेक्षितपूर्वापरानुमत-**

---

१ दृश्यता पृ० ६४ पं० १ ॥ २ °दनशक्त्या य० । °दननशक्ता भा० ॥ ३ निरुद्धि प्र० ॥ ४ °लंबनन त्वमिदं य० । °लंबमनत्वमिदं भा० ॥ ५ 'सत्यम्, उक्तमेतत्, अयुक्तं तूक्तम्' इत्यपि पाठः सम्भवेदत्र ॥ ६ °नन्यथात् प्र० ॥ ७ °नन्यत्वात् य० ॥ ८ °व्यक्तप्रत्यक्ष° वि० । अत्र °व्यक्तेः प्रत्यक्ष° इति सम्भवेत् पाठ ॥ ९ °न्यथान्यथा भा० । °न्यथा २ य० ॥ १० °त्वादैन्द्रियिकत्व° भा० ॥ ११ °भावा संचय° प्र० ॥ १२ °दसतिपरमाण्वा° प्र० ॥ १३ दृश्यता पृ० ९६ पं० ३० ॥ १४ प्रत्यवेक्षितप्योर्थोपर्यसाध्य° भा० । प्रत्यवेक्षितव्योर्थोपर्यसाध्य° य० ॥ १५ प्रत्यवेक्षितयाथापर्यं सौस्थित्या° प्र० ॥

आदिप्रतिज्ञातार्थनिरसनम् ।

अनेकान्तवद्द्वयोरन्तयोरवस्थातव्यम्–प्रत्येकताया चावस्थेयमव्यम्भोवच्च तदशक्यशक्ते समुदाये, साक्षात् त्वदुक्ततत्त्वत्वादनेकैकत्वभूशगत्यर्थसमुदायपरिग्रहाच्च ।

इतरथापि चैषा समुदाय एव न स्यात्, प्रत्येकमभूतत्वात्, वन्ध्यापुत्रवत् । बौद्धैरेवोक्ता व्यतिरिक्तसंस्कृतक्षणिकानित्यत्वाभ्युपगमेन महासङ्घातिरस्य, प्रत्येक-

---

निगमनपरिग्रहेण वा आदिप्रतिज्ञातार्थनिरसनम् । वाशब्दस्य [1]विकल्पत्वात् स्वलक्षणविषयप्रत्यक्षत्व वा निरस्यते, अनेकार्थजन्यस्वायसामान्यगोचरता वा, उभय वा निरस्यत इति ।

किञ्चान्यत्, प्रत्येक ते समुदिता कारणमिति वचनात्व्यस्ता इत्येतदर्थापन्नमिति तदेव पुन [4]स्मारयति दोषान्तरं –अनेकान्तवद् [5]द्वयोरन्तयोरवस्थातव्यम् । द्वावन्तौ द्वौ देशौ, द्वयोर्देशयोरवस्थेय ते परमाणुभिरेकत प्रत्येकसमुदितैः । किमिव ? अनेकान्तवत् । अनेकान्तेन तुल्य वर्तत इत्यनेकान्तवत्, यथा द्रव्यान्तर्[6]पर्याया तयोरवतिष्ठमाना परमाणवस्त एव तत्समुदायश्चेति व्यपदिश्यन्ते तथा प्रत्येकताया चावस्थेयमित्यनेकान्तसाधर्म्य दर्शयति । चशब्द समुच्चये, किं समुच्चिनोति ? समुदायमुपरितनम, ७२ २ प्रत्येकताया च समुदाये चावस्थातव्यमिति । [8]अव्यम्भोवच्च तदशक्यशक्ते समुदाये, अग्ने शक्य दहनादि ह्लादनस्नेहनाद्यशक्यम्, अम्भसस्तु स्नेहनह्लादनादि शक्यमशक्य दहनादि, तदशक्ये शक्तस्त दशक्यशक्त प्रत्येकाशक्ये शक्त समुदाय । वाक्यार्थस्तु लोकव्यापिनोऽपि परमाणव सङ्घातभेद[9]परिणामापेक्षा एव चाक्षुषत्वादिभाजो भवन्ति नान्यथेत्युभया[10]त्यागवादिनो जैना यद् वदन्ति तदेव तवाप्यापन्नम् । कुत ? [11]साक्षात्त्वदुक्ततत्त्वत्वात्, त्वयैव साक्षादुक्त तत्त्वमेषा परमाणूनाम 'प्रत्येक चक्षुर्विज्ञानोत्पादने न [12]शक्ता, समुदिता शक्ता' इति । एव तावत् साक्षादनेकान्ताभ्युपगम [13] । अर्थापत्त्या वाभ्युपगत एव, अनेकैकत्वभूशगत्यर्थसमुदायपरिग्रहाच्च । समित्येकीभावे, स चैकीभावोऽनेकस्य, इण् गतौ [पा० धा० १०४५], अयन गमन गतिराय इति पर्याया, उत्कटाय [14]उदाय, सङ्गतो भूशमाय, समुदायशब्दस्य तत्परिग्रहात् 'प्रत्येक ते समुदिता अनेकैकीभूतभूशगतय इत्यर्थ उक्त, तस्माच्चानेकान्तवादाभ्युपगम ।

किञ्चान्यत्, इतरथापि चैषा समुदाय एव न स्यात्, न्यायतोऽपीत्यर्थ, एतत् प्रतिज्ञानम् । समुदाय एव न स्यात्, प्रत्येकमभूतत्वात्, वन्ध्यापुत्रवदित्येष न्याय, यथा प्रत्येकमभूताना वन्ध्यापुत्राणा समुदायो नास्ति तथा परमाणूनामिति । नन्वयमन्याय प्रत्येकमभूतत्वासिद्धे परमाणूनामिति चेत्, नेत्युच्यते, बौद्धैरेवोक्ता व्यतिरिक्तसंस्कृतक्षणिकानित्यत्वाभ्युपगमेन सहासङ्घातिरस्य ।

---

१ विलक्षणत्वात् स्वल° य० ॥ २ द्रष्टव्यता पृ० ९६ प० ३ ॥ ३ तन्व य० ॥ ४ स्मरयति प्र ॥ ५ द्वयोरतरयो य० ॥ ६ °पर्यायातरयो° य० ॥ ७ धावस्या प्र० ॥ ८ अग्न्यमावच्च भा० । अग्न्यमावच्च य० ॥ ९ परिमाणापेक्षा य० ॥ १० °भयाना त्याग प्र ॥ ११ साक्षात्तदुक्ततत्त्वघात् तथैव प्र० ॥ १२ शक्त प्र ॥ १३ पत्त्याभ्यु नि भा । °पत्यु वाभ्यु° वि० भा० विना ॥ १४ उदाय सगतो भृदा आय प्र० ॥

त्वप्राप्त्यनन्तरमेव विनष्टत्वात्। प्रत्येकत्वप्राप्तिरपि चैवं नैव, असत्त्वात्, वन्ध्यापुत्रवत्। सहोत्पाददोष इति चेत्, न, तुल्यत्वात्। किं भूतस्य सहता? अभूतस्य? यदि भूतस्य भवनानन्तरविनष्टत्वात् कुतः सहता, उक्तवदसत्त्वापत्तेरेव?

यदुक्तं वः सिद्धान्ते –

बुद्धिबोध्यं त्रयादन्यत्[1] संस्कृतं क्षणिकं च तत्। [ ] इति।

७३-१ आकाश-[2]प्रतिसङ्ख्या-ऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधाख्यात्[3] त्रयादन्यत् प्रत्ययजनितत्वात् संस्कृतम्, संस्कृतत्वाच्च क्षणिकानित्यम्, क्षणोऽस्यास्तीति क्षणिकम्, क्षणमात्रमेवास्य कालो न परत इति क्षणिकानित्यमेव न कालान्तरावस्थाय्यनित्यत्वं[4] लौकिकाभिमतघटादिवदित्येतेनाभ्युपगमेन सह प्रत्येकं[5] ते समुदिताः कारणमित्यस्याभ्युपगमस्य सङ्गतिर्नास्ति। किं कारणम्? **प्रत्येकत्वप्राप्त्यनन्तरमेव[6] विनष्टत्वात्**, एकैकस्य परमाणोः स्वरूपलाभसमनन्तरमेव विनष्टत्वात् कः प्रत्येकसमुदायः[7]? को वा देशतोऽत्यन्तं रूपादिभेदेन यावदनभिलाप्यतथावस्थानां[8] भिद्यमानानां प्रत्येकं भावः? इति सिद्धं प्रत्येकमभूतत्वं देशतः कालतश्चावस्थान्तराप्राप्तेरिति। **प्रत्येकत्वप्राप्तिरपि चैवं नैव**, निर्मूलत एव परमाणूनां यापि प्रत्येकत्वप्राप्तिः सापि चैवमुक्तविधिना नैवास्ति, स्वरूपप्राप्तिमात्रदेशकालाप्रतीक्षित[9]विनाशित्वाद**सत्त्वात्, वन्ध्यापुत्रवत्**, यथा वन्ध्यापुत्राणां प्रत्येकत्वप्राप्तिर्नास्ति तथा परमाण्वभिमतानां तथानवस्थानामभावान्न प्रत्येकत्वप्राप्तिरिति।

सहोत्पाददोष[10] इति चेत्, तेषां परमाणूनामसत्त्वमसिद्धं तथानवस्थानामपि देशैक्येन कालैक्येन[11] च सहोत्पादाभ्युपगमात्, तस्मादस्ति प्रत्येकत्वप्राप्तिरिति। एतच्च **न, तुल्यत्वात्** परमाण्वसत्त्वस्य, देशकालभेदोत्पादासत्त्वेन सहोत्पादासत्त्वस्य तुल्यत्वात्, विकल्पद्वयेऽपि यौगपद्यासिद्धेरिदमसित्वं[12] प्रष्टव्यः – **किं भूतस्य सहता? अभूतस्य?** इति विकल्पद्वयानतिवृत्तेरेव[13] प्रश्न उभयथापि न घटत

७३-२ इत्युत्तरं वक्तुमनसः। इतर आह – अभूतस्य सहतेत्ययुक्तो विकल्पः[14], क एवं ब्रूयात् 'अभूतस्य खपुष्पस्येव सताऽसता वा सहता' इति यतः स विकल्पः पूर्वपक्ष्यते[15]? तस्माद्भूतस्य सहतेति ब्रूमः। अत्राचार्य आह – त्वमेवैतद्विकल्पद्वयं 'तथावस्थाः प्रत्येकं समुदिताः कारणं परमाणवः' इति ब्रुवाणश्चिन्तय क एवमाहेति। किं न एतेन[16]? यो ब्रवीति स ब्रवीतु, **यदि भूतस्य** यदि तावद् भूतस्य सहोत्पादः, **भवनानन्तरविनष्टत्वात्** क्षणिकवादे[17] **कुतः सहता?** नास्त्यत्र कारणं सहत्वे कस्यचित् केनचिदित्यर्थः। उक्तवदित्यतिदेशाद्देशकालाभ्यामत्यन्तभेदे निरभिलाप्यस्वभावानां प्रत्येकत्वप्राप्तिरेव नास्तीत्युक्तं तथा तेषा**मसत्त्वापत्तेरेवाणूनां**[18] 'कुतः सहता' इत्यभिसम्बन्धः। प्रतिलब्धसहत्वस्य चोत्पाद उच्यते त्वया, तत्तु

---

१ °दन्य सं° प्र०। "अपिच वैनाशिकाः कल्पयन्ति 'बुद्धिबोध्यं त्रयादन्यत् संस्कृत क्षणिक च' इति। तदपि च त्रयं प्रतिसङ्ख्याप्रतिसङ्ख्यानिरोधावाकाश चेत्याचक्षते। त्रयमपि चैतदवस्तु अभावमात्र निरुपाख्यमिति मन्यन्ते। बुद्धिपूर्वक. किल विनाशो भावाना प्रतिसङ्ख्यानिरोधो नाम भाष्यते, तद्विपरीतोऽप्रतिसङ्ख्यानिरोध', आवरणाभावमात्रमाकाशमिति"–ब्रह्मसूत्रशाङ्करभा० ४।२२॥ २ आकास्या प्रति° भा०। आकाशस्याप्रति° य०॥ ३ °ख्या त्रया° प्र०॥ ४ °स्थाय्येनि° प्र०॥ ५ द्रश्यता पृ० ९६ पं० ३०॥ ६ °प्रातानन्त° भा०। °प्रानन्त° य०॥ ७ प्रत्येकं समु° य०॥ ८ °वस्थानं य०। °वस्थं भा०॥ ९ °प्रतीक्षितविना° भा०॥ १० °त्पाददोप प्र०॥ ११ °क्येन सहो° य०॥ १२ °मसिद्धं द्रष्टव्यः भा०। °मसिद्धं द्रष्टव्यं य०॥ १३ °वृत्तेरेय प्र०॥ १४ °ल्पः एवं य०॥ १५ °पक्षते प्र०॥ १६ एतेम प्र०॥ १७ °वादेः भा०। °वादः य०॥ १८ °पत्तेरणूनां य०॥

अथाभूतस्य वन्ध्यापुत्रसमुदायोऽपि स्यात्, अभूतत्वादस्थितत्वात्, अणुसमुदायवत्। सन्तानादिति चेत्, सोऽप्येवमेव।

अथोच्येत—वाह्यवस्तुस्वतत्त्वप्रतिपत्तिजनित' सर्व एवैष विरोधसक्लेश'। विज्ञानमात्रकमिद त्रिभुवनम्। न द्रव्यसवृत्यादि ततो भिन्नमस्ति।

ननु देवानाप्रिय! त्वन्मतवदेव विज्ञानवादविध्वसनार्थ एवायमारम्भ'।

सहत्य यौगपद्यमप्रतिलम्भमसत्त्वापत्तेरेव। तस्मात् 'सहोत्पादाददोष'[1] इत्यपरिहार। अथाभूतस्योत्पादे यौगपद्येनेष्यते सापि सहता[2] नोपपद्यतेऽनिष्टप्रसङ्गात्। किमनिष्टम्? **वन्ध्यापुत्रसमुदायोऽपि स्या**दित्यनिष्टम्। कुत? **अभूतत्वादस्थितत्वादणुसमुदायव**दितीद साध्यानिष्टापादनम। अणुसमुदायोऽपि[3] न स्यादभूतत्वादस्थितत्वाद्वन्ध्यापुत्रसमुदायवत्[4]। अभूतत्वमस्थितत्व च हेतुद्वय शून्यक्षणिकवादिनो सिद्धत्वादुक्तम्। **सन्तानादिति चेत्**, स्यान्मतम्—अभूतत्वमस्थितत्व[5] चेष्यते तेषाम्, तथापि जन्म विनाशसन्तानस्याव्यवच्छेदात्[6] स्थितत्वमस्त्यत सहोत्पाददोष इति। एतच्चायुक्तम्, यस्मात् **सोऽप्येवमेव**, सोऽपि सन्तानो भूतो वा स्यादभूतो वा? यदि[7] भूत कुत सन्तता, उत्तरवद् भवनानन्तरविनष्टेभ्योऽन्यस्य सन्तानस्याभावात्? अस्ति चेत् तद्विलक्षणो नित्योऽन्य[8] इति सर्वक्षणिकप्रतिज्ञाहानि। अथाभूत, ७४ १ वन्ध्यापुत्रवदित्याद्यभिहितदोषाकाङ्क्षमेव।

अथोच्येत—वाह्यवस्तुस्वतत्त्वेत्यादि यावत् **ततो भिन्नमस्ती**ति। अथेत्यधिकारान्तरे, अथ सञ्चितालम्बनविषयज्ञानपक्षे[11] कल्पिता कल्पिता उपपत्तयो विफला भवन्ति सदोषाश्चेति त परित्यज्येदमुच्येत—**सर्व एवैष विरोधसक्लेशो वाह्यवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिजनित**, 'विज्ञानाद् वाह्य वस्तुतत्त्वमस्ति' इति प्रतिपत्तौ सत्या जायतेऽय सक्लेश। यदि परमाणव आलम्बन ततोऽतीन्द्रियत्वसञ्चितालम्बनत्वाद्यभ्युपगमविरोध, अथ समुदाय, असत्त्वात् खपुष्पवदनालम्बनमेव, प्रत्येक ते समुदिता, स्ववचनविरोधादिदोष प्रोक्तन्यायेनेत्येवमादिविरोधोद्भावनजनितेन चित्तसक्लेशेन किमर्थं बाध्यामहे[12]? एव तु सर्वदोषविनिर्मुक्तमिद कल्पनान्तरमाश्रयामहे—**विज्ञानमात्रकमिद त्रिभुवनम्**। यदुक्तम्—

> द्यौ क्षमा वायुराकाश सागरा[13] सरितो दिश।
> अन्त करणतत्त्वस्य भागा वहिरिव स्थिता॥ [वाक्यप० ३।७।४१] इति।

न द्रव्यसवृत्यादि[14], न पुनरेतस्या कल्पनायामेवम्विध सक्लेशोऽस्ति यत्[15] इद सवृतिसदिद परमार्थसदिदमैन्द्रियकमतीन्द्रियमित्यादि विकल्प्यमान विज्ञानाद्व्यतिरिक्तमथजातमिच्छता स्यात्, न तु तत् **ततो भिन्नमस्ति**। तस्मादनर्थको विचार इति।

अत्रोच्यते—**ननु देवानाप्रिय त्वन्मतवदेव विज्ञानवादविध्वसनार्थ एवायमारम्भ**। यथेद

---

१ °दावदोष य०॥ २ सहिता य०॥ ३ °दायापि य०। दापि भा०॥ ४ स्यादतो त्वादस्थित प्र०॥ ५ ततत्व° य०॥ ६ सतानसाध्यवच्छे प्र॥ ७ यवि य०॥ ८ सहेतोक्तवद् प्र॥ ९ नित्यान्य य०॥ १० वान्यवस्तु° प्र॥ ११ सहिताल नि विना। सहिताल वि०॥ १२ वाच्यामहे प्र॥ १३ सागर य०। "द्यौ क्षमा वायुरादित्य सागरा सरितो दिश। अन्त करणतत्त्वस्य भागा वहिरवस्थिता॥'—इति मुद्रिते वाक्यपदीये पाठ॥ १४ द्रव्य सवृत्यादि न भा०। द्रव्यसवृत्या न य॥ १५ अत्र 'य इद' इत्यपि पाठ स्यात्॥

तिष्ठतु तावद् बाह्यार्थाभावे विज्ञेयत्वाभावो विज्ञेयत्वाभावे च विज्ञानत्वाभावः। विज्ञानं हि प्रत्यक्षादि। तत्र कतमद् विज्ञानमात्रमिदं सर्वं त्रैधातुकम्? न तावत् प्रत्यक्षविज्ञानमात्रम्, तस्यैवमवस्थत्वात्। नानुमानविज्ञानमात्रम्, तस्यापि तत्पूर्वकत्वात् तदसिद्धावसिद्धेरतन्त्वपटवत्। न संशयभ्रान्त्यादिकल्पनाविज्ञानमात्रं

कल्पनापोढं प्रत्यक्षमित्येतस्य त्वन्मतस्य तत्संवादिनो बुद्धवचनस्य च विध्वंसनार्थोऽयं ममारम्भस्तथा
७४-२ विज्ञानमात्रवादविध्वंसनार्थोऽप्ययमेवारम्भः, त्वत्तीर्थकरा[1]भिहितत्वात् तस्यापि। अथवा तत्परमार्थत्वात्
तत्प्रतिपादनार्थत्वाच्च सर्वदेशनानां बौ[2]द्धीनां तद्विध्वंसनार्थ एवायमारम्भः। एतदपि प्रमाणाभावादयुक्तमिति
ग्राह्यम्, प्रमाणाभावश्च प्रमेयाभावादिति स दोषः स्थित एवेति दर्शयति—**तिष्ठतु तावन्**नित्यादि। तं
चोपायेन दर्शयिष्यन्नाह—**बाह्यार्थाभावे विज्ञेयत्वाभावः**, तस्य विज्ञानमात्रत्वात्। **विज्ञेयत्वाभावे च**
तस्य **विज्ञानत्वमपि नास्ति**, विजानातीति हि विज्ञानम्, किं विजानाति विज्ञेयाभावे? ततः प्रमेयत्वा-
भावात् प्रमाणत्वाभावः प्रत्यक्षस्येति ज्ञेय-ज्ञान-प्रमाण-प्रमेयत्वविलक्षणं खपुष्पवत् किं तत् प्रत्यक्षं नाम?
इत्येष दोषो दुर्निवारः, स तावत् तिष्ठतु। इदं तावदस्तित्वाभ्युपग[3]मेनैवान्यथा विचार्यते—**विज्ञानं**
हीत्यादि। हिशब्दो दृष्टान्तार्थे, दृष्टं हि लोके **विज्ञानं प्रत्यक्षादि**, प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणे
विज्ञाने। **आदि**ग्रहणात् संशयविपर्ययानध्यवसायलक्षणानि च विज्ञानानि प्रमाणाभासाभिमतानि। इद-
मसि त्वं प्रष्टव्यः—**तत्र** निर्धार्य **क**[4]**तमद् विज्ञानमात्रमिदं स**[5]**र्वं त्रैधातुक**मिति, नैकमपि विज्ञानमात्रं
भवतीत्यभिप्रायः। ब्रूयास्त्वम्—प्रत्यक्षविज्ञानमात्रमिति, तन्न **तावत् प्रत्यक्षविज्ञानमात्रं तस्यैवमव-**
७५-१ **स्थत्वात्**, तस्य प्रत्यक्षविज्ञान[6]स्यैवमवस्था यथास्माभिर्व्याख्याता न रूपादिविषया न समुदायविषया न
चक्षुरादिनिमित्ता संवृत्या परमार्थेन वा युज्यते इति तस्मान्न प्रत्यक्षविज्ञानमात्रम्। स्यान्मतम्—अनुमान-
विज्ञानमात्रमिति। तदपि **नानुमानविज्ञानमात्रम्**। किं कारणम्? **तस्यापि तत्पूर्वकत्वात्**, तस्याप्य-
नुमान[7]स्य तत्पूर्वकत्वात् प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्। प्रत्यक्षपूर्वकं हि स्वानुभवोत्तरभाविविकल्पात्मकमविकल्पज्ञान-
समनन्तरजन्माऽनुमानं मानस[8]मैन्द्रियमयोगिमानसप्र[9]त्यक्षपूर्वकमेवेष्यते, तस्यैव प्रत्यक्षस्या[10]सिद्धौ कुतोऽनु-
मानसिद्धिः? अतो नानुमानमात्रमत आह—**तदसिद्धावसिद्धिरतन्त्वपटवत्**। यथा तन्तुपूर्वकस्य पटस्य
तन्त्वसिद्धावसिद्धिस्तत्पूर्वकत्वात् तथा प्रत्यक्षासिद्धावसिद्धिरनुमानस्य। एवं तावत् प्रमाणविज्ञानमात्रत्वा-
सिद्धिः। एवं तर्हि संशयभ्रान्त्यादिकल्पनाविज्ञानमात्रमस्तु, त[11]दपि **न संशयभ्रान्त्यादिकल्पनाविज्ञानमात्रं**
वा, न संशयमात्रं न भ्रान्त्यादिमात्रम्, **आदि**ग्रहणान्न स्वप्नानुभवानुभूतानुकारमात्रं न तैमिरिककेशोन्दुका-
द्याकारमात्रम्, सर्वस्यास्य कल्पनात्मकस्य प्रमाणाभासस्य **अ**[12]**त एव** प्रत्यक्षपूर्वकत्वादेव तदसिद्धाव-

---

१ °राभिहत° प्र० ॥ २ बौद्धानां य० ॥ ३ °गमेवानान्यथा प्र०। अत्र '°गमेनान्यथा' इत्यपि पाठ स्यात् ॥ ४ °मत् विज्ञा° भा०। °मत्तविज्ञा° य० ॥ ५ सर्वत्रैधातु° प्र० ॥ ६ °स्येवमवस्था र० ही०। °स्यैयमवस्था वि०। स्येयमवस्था भा० पा० डे० लीं० ॥ ७ °नस्य पूर्वकत्वात् प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् य०। °नस्य प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् भा० ॥ ८ °समिन्द्रिय° प्र० ॥ ९ °प्रत्ययंक्षपू° भा० ॥ १० °स्यापि(स्याप्य?)सिद्धौ प्र० ॥ ११ तदपि संशयभ्रान्त्यादि कल्पनादिमात्रं वा प्र० ॥ १२ अत प्र० ॥

वा, अत एव । नानध्यवसायमात्रम्, अनवग्रहात्मकत्वात् तस्य । तस्मान्न विज्ञानमात्रमित्यलमतिविकाशिन्या सङ्कथया ।

अनयैव च दिशा स्ववचनव्यपेक्षैवाक्षेपोऽविशेषैकान्तवादिनोऽपि । सर्वसर्वात्मकतायां श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम् [पद्धति०] इति ब्रुवतो निर्विकल्पत्वाद्विभागाभावात्

सिद्धं । स्यान्मतम्—अनध्यवसायमात्रमस्त्विति । तदपि नानध्यवसायमात्रम्, न श्रेमश्चेविनाव्यक्तसुखदुःखादिस्वरूपमित्यर्थः । किं कारणम्? अनवग्रहात्मकत्वात् तस्य, न हि तदव्यक्तासञ्चेतितं नाम ज्ञानमस्ति । यद्यप्यव्यक्तज्ञानमस्ति अपटुत्वात् तदध्यवसायात्मकं न भवत्यतो विज्ञानमेव न भवति, यस्माद् विजानातीति विज्ञानमिष्टम्, तच्च न किञ्चिद् विजानातीति नानध्यवसायविज्ञानमात्रम् । तस्मान्न विज्ञानमात्रम्, प्रमाणाप्रमाणाभासविज्ञानेष्वनन्तर्भावात् कतमद् विज्ञानमात्रमिदं सर्वम्? ७५ २ एतेभ्यश्च विज्ञानेभ्यो व्यतिरिक्तस्यान्यस्य विज्ञानस्याभावान्न किञ्चिदेतद्विज्ञानमात्रं सर्वम् । इत्यलमतिविकाशिन्या सङ्कथयेति सङ्क्षिप्योपसंहरति प्रत्यक्षलक्षणस्य सर्वथा दूषितत्वात्, इतरथा शेषस्यापि दूषणवचनप्रपञ्चस्यानेकस्यावकाशोऽस्तीति । एवं तावद्विशेषैकान्तवादिना कल्पितं गौणिकप्रत्यक्षविलक्षणं प्रत्यक्षं न घटते, स्ववचनव्यपेक्षाक्षेपदुस्तरविरोधत्वात् ।

अनयैव च दिशा स्ववचनव्यपेक्षैवाक्षेपो द्रष्टव्य इति वाक्यशेषः । एषोऽतिदेशः कस्य चेत्, अविशेषैकान्तवादिनोऽपि । अपिशब्दादनन्तरोक्तस्य विशेषवादिनोऽसम्भवात् उभयवादिनोऽपि । तत्र यद् विशेषवादिना प्रागुक्तं शेषवात् 'कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्' इत्युक्तं कल्पनात्मक[त्व]मेव हेतुत्वेनाऽऽपाद्य 'अप्रत्यक्षत्वम्, अनुमान[त्व]म्, उभयैक्यम्, सङ्करः, अभावः, निर्विषयत्वम्, अस्वलक्षणता चैव, कारकज्ञापकविशेषाभावान्नाभिधानानभिधायकव्यपदेश्यता च' पञ्चाशत् कल्पनापोढतामभ्युपेत्यापि 'स्वसामान्ययोरन्यतरयोरभावादेकस्य रूपस्य तद्विज्ञानस्य चाभावः' इत्यादि लक्षणवाक्यमुद्दिश्य तदिदानीं तुल्यन्यायं वाच्यमिति अतिदिशन् दर्शयति—सर्वसर्वात्मकतायामित्यादिना यावदनक्षमिति । एवं हि लक्षणदूषणातिदेशः—'सर्वं सर्वात्मकम्' इत्यविशेषमिच्छतः साङ्ख्यस्यापि सर्वात्मकस्यैकस्य वस्तुनो रूपरसादिभेदेन श्रोत्रादिभेदेन च विकल्पयितुमशक्यत्वाद् विशेषैकान्तवादिन इव निर्विकल्पपरमार्थपरमाणुमात्र ७८ १ साधर्म्याद्निर्विकल्पकत्वम् । अविकल्पकत्वाद् यथा पूर्वं प्रत्यक्षलक्षणोदाहरणवाक्ये शेषाः 'चक्षुर्नैव चक्षुः, रूपं नैव रूपम्, विज्ञानं नैव विज्ञानम्' इत्यादयस्तथा श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षं श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानां मनसाऽधिष्ठिता वृत्तिः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु यथाक्रमं ग्रहणे वर्तमाना प्रमाणं प्रत्यक्षमिति ब्रुवतः सर्वसर्वात्मकत्वे निर्विकल्पत्वाद्विभागाभावात् किं श्रोत्रं यत् त्वगादिभ्यो विभक्तम्? किं वा श्रोत्रं त्वगादि यच्छ्रोत्राद्विभक्तम्? यदोक्तं 'श्रोत्रादि' इति, तत्र क आदिः सर्वस्य सर्वत्वात्

---

१ असञ्चेतितपाठस्तु भ० ॥ २ तस्मान्न हि तदव्यक्तासञ्चेतित य० ॥ ३ अत्र यन्न ...पाठः स्यात् ॥ ४ °त्प्रमा य० ॥ ५ भासविज्ञाने य० ॥ ६ °काशिन्या भा० ॥ ७ शेषापि भा० ॥ ८ चित् °० ॥ ९ सम्भवत उभ भा० ॥ १० अभावं य० ॥ ११ च इत्यत्र भा० डि० लि० ॥ १२ स्यादि य० ॥ १३ °स्येत्याभाव भा० । °स्यपाभाव य० । पृ० ७२ पं० १ ॥ १४ °सर्वस्य य० ॥ १५ °कल्पकम् य० ॥ १६ ...पृ० ...पं० ४ ॥

किं श्रोत्रम्? किमश्रोत्रम्? क आदिः? कोऽनादिः? का वृत्तिः? का वाऽवृत्तिः? किं प्रति? किमप्रति? किमक्षम्? किमनक्षमित्यादि?

लोके शास्त्रे च हि वस्तुस्वतत्त्वसाक्षात्प्रतिपत्तिः प्रत्यक्षम्। तत्तु त्वन्मतवन्न त्वेवंलक्षणम् प्रत्यक्षम्, निर्विकल्पत्वासिद्धेः कल्पनात्मकत्वादिभ्यो भ्रान्त्यादिवत्।

सञ्चितालम्बनस्थान उक्तवद् रूपादेरेकस्यासर्वस्यालम्बनस्यासञ्चितवद् घट-

---

प्रथमद्वितीयाद्यन्योन्यापेक्षविभागाभावात्? कोऽनादिर्मध्योऽन्तो वा? का वृत्तिस्तेषां श्रोत्रादीनां पूर्वमप्रवृत्तानां पश्चाद्वृत्तिः कालभेदेनावस्थान्तरत्वेन च विशिष्टा? का वाऽवृत्तिर्वस्तुपरमलक्षणा विभागाभावादेव? किं प्रति, कतमोऽन्यो भावो[1] यमपेक्ष्य तं प्रत्यक्षमित्युच्यते? नपुंसकलिङ्गस्याव्यक्तगुणसन्देहविषयत्वान् 'किं प्रति' इति प्रश्नः। किमप्रति, सर्वसर्वात्मकैकत्वे[2] कैः किं नापेक्ष्यते? किमक्षमिन्द्रियं यद् विषयव्यतिरिक्तं श्रोत्रादि परस्परव्यतिरिक्तं वा? किमनक्षमिन्द्रियव्यतिरिक्तं विषयो रूपादि परस्परतो वा? इति प्रदर्शने, इत्थं विभागाभावाद् विभागेन लक्षणप्रणयनं स्ववचन[3]व्यपेक्षाक्षेपदुस्तरविरोधम्। आदिग्रहणात् किं शब्दादि? किं मनः? किमधिष्ठेय केन? इति।

किञ्चान्यत्, त्वन्मतेनैव प्रत्यक्षलक्षणा[5]योगादयुक्तम्। लोके शास्त्रे च[6] हि वस्तुस्वतत्त्वसाक्षात्प्रतिपत्तिः प्र[7]त्यक्षम्, वस्तुनः स्वं तत्त्वमसाधारणमात्मीयं रूपम्, या तस्य साक्षात्प्रतिपत्तिर्न व्यवहिता सा प्रत्यक्षम। त[8]त्तु त्वन्मतवन्न त्वेवंलक्षणं प्रत्यक्षम्, त्वन्मत इव त्वन्मतवत्, यथा सर्वसर्वात्मकत्वे

७९-२ त्वन्मते श्रोत्रादिवृत्तेः सर्वसर्वात्मकवस्त्वेकदेशशब्दादिविषयत्वात् समुदायरूपत्वाद्वस्तुस्वतत्त्वस्य विभागाभावाच्छ्रोत्रादिवृत्तिर्न सम्भवतीत्युक्तं तथा तस्य निर्विकल्पस्य वस्तुनो वस्तुस्वतत्त्वसाक्षात्प्रतिपत्त्यभिमतं लौकिकं सामयिकं च प्रत्यक्षलक्षणं न घटते, निर्विकल्पत्वा[9]सिद्धेः, नैव तन्निर्वि[10]कल्पं प्रत्यक्षं शब्दादिविभागविकल्प[11]विषयत्वात्, अविभागरूपं च सर्वसर्वात्मकं वस्तुस्वतत्त्वम्, तद्विषयं च तन्न भवति, ततश्च कल्पनात्मकम्, कल्पनात्मकत्वादिभ्यो भ्रान्त्यादिवद् 'न प्रत्यक्षम्' इति वर्तते, कल्पनात्मकत्वान्निरूपणविकल्पा[12]त्मकत्वादालम्बनविपरीतप्रतिपत्त्यात्मकत्वादध्यारोपात्मकत्वादसामान्यरूपविषयत्वात् तदतद्विषयवृत्तित्वात् सदसद्भेदपरिग्रहात्मकत्वात् सर्वथा साधारणार्थत्वात्, भ्रान्तिसंशयानुमानादिज्ञानवदिति।

सञ्चितालम्बनस्थान उ[13]क्तवदित्यादि यावन्नीलादिप्वभावादित्यनेनाऽतिदिष्टग्रन्थार्थभावनोपायदिक्प्रदर्शनं करोति मा भूद् व्यामोह इति। यादृक् सञ्चितालम्बनस्थानेऽस्माभिरुक्तम् 'परमाणुनीलादीनां सञ्चयः सामान्यं संवृतिसत्त्वादसत्' इति, इह तु तद्विपरीतं समुदायपरमार्थत्वं नीलादिसंवृतिसत्त्वम्।

---

१ भावोन्यमपेक्ष्य य०। भावोऽन्यमपेक्ष्य भा०॥ २ ˚त्मकत्वकैकत्वे के कं नापेक्ष्यते भा०। ˚त्मकत्वकैकत्वे कैकं नापेक्ष्यते य०॥ ३ ˚व्यपेक्षदुस्तर˚ य०॥ ४ ˚धनादिश्र˚ प्र०॥ ५ ˚णायोगायदुक्त लोकशास्त्रे य०॥ ६ चहि प्र०॥ ७ र० विनान्यत्र–प्रत्यक्ष ही०। प्रत्यक्षा पा० डे० ली लि० भा०॥ ८ तनु त्वन्मत˚ र० ही०॥ ९ ˚त्वात्सिद्धेः प्र०॥ १० ˚कल्पकं य०॥ ११ ˚विषयित्वात् प्र०॥ १२ ˚त्मकवत्वा˚ य०। द्रष्टव्यता पृ० ६३ पं० १॥ १३ द्रष्टव्यता पृ० ६८ पं० १॥

नीलादिष्वभावात तथासम्भावनेऽपि तस्यातीन्द्रियत्वादालम्बनत्वानुपपत्तेश्चक्षुरादिविज्ञानानां रूपादिसङ्घात आलम्बनमिति प्राप्तम्। ते च प्रत्येक परमार्थतोऽसन्त इति तेषामविषयतेत्याद्यशेष यथाभागमत्र योज्य भेदाभेदसंवृतिपरमार्थस्थानव्यवस्थापनया ।

सवृतिसन्तो नीलादय ऐन्द्रिया , न परमार्थसत्समुदाय । किं कारणम् ? तस्य रूपाद्यात्मकत्वात् तदेकदेश-०
भूतस्य रूपादेरपरमार्थसतोऽप्यविभागावस्थस्य एकस्यासर्वस्यालम्बनस्यासञ्चितवत् न ह्येकोऽसर्व
कदाचिदालम्बन रूप रस शब्दो वा यथाऽसञ्चिता परमाणव पूर्वस्मिन् वादे नेन्द्रियका एवमसञ्चित-७५
वस्मिन् वादे लोकलोकोत्तरव्यवहारप्रत्यक्षाभिमतेषु घटादिषु नीलादिषु चाभावान्न प्रत्यक्ष तद्विषय
ज्ञानमित्यभिसम्बन्ध । किमुक्त भवति ? रूपान्य सर्वैकात्मरूपा एव सन्ति न पृथक्स्वरूपा । ततस्तद्विषय
ज्ञानमभावविषयत्वात्प्रत्यक्ष वन्ध्यासुतादिविषयज्ञानप्रत्यक्षवदिति । अनया दिशा 'यदाभास प्रत्यक्ष न
सोऽस्ति विषय , योऽस्ति न तदाभास प्रत्यक्षम्' इत्यादि विशेषैकान्तवादिन प्रति योऽभिहित प्रपञ्च स
सर्वो योज्य । तथासम्भावनेऽपि चेत्यादि, रूपादेरैक्यस्य सत्त्वरजस्तमोगुणसाम्यावस्थानलक्षणप्रधानाख्य-
पदार्थत्वसम्भावनेऽपि । नैव तत्साम्यावस्थान शब्दादिभेदैकसर्वात्मकत्वाभावरूप सम्भाव्यते, सम्भाव्य-
मानेऽपि च तस्मिन्नव्यक्ते तस्याऽव्यक्तस्यातीन्द्रियत्वादालम्बनत्वानुपपत्तेश्चक्षुरादिविज्ञानाना
रूपादिसङ्घात आलम्बनमिति प्राप्तम् । ते च रूपान्य प्रत्येक परमार्थतोऽसन्त , इतिशब्दो
हेत्वर्थे, इत्यन कारणाद्रूपादिसङ्घातालम्बनत्वात् तेषा प्रत्येक परमार्थसत्त्वाभावान्न विषयता । रूपादयो
न चक्षुरादिविषया , परमार्थतोऽसत्त्वात्, वन्ध्यासुतवत् । रूपादिविषय वा न प्रत्यक्षम्, परमार्थतोऽस-
द्विषयत्वात्, वन्ध्यासुतज्ञानवत् । तस्माद् योनि-बीज प्रकृति-बहुधानक-प्रधाना-ऽव्यक्तादिपर्यायाख्य यद्
वस्तु तदतीन्द्रियत्वादप्रत्यक्षम् । यदिन्द्रियविषय तत्परिणामभेद सङ्घाते रूपादि न तत् परमार्थसत् । इत्या-७५
द्यशेष विशेषैकान्तवादिमते यथाभाग यो यो भागो यथाभाग तद्विपर्ययेणाविशेषैकान्तवादेऽत्र यद्
यत्र भवते तत् तथानुसृत्य योज्यमित्यतीत ग्रन्थार्थं स्मारयति । तद्योजनोपायदिग्ज्ञानप्रदर्शनार्थमप्याह—
भेदाभेदसंवृतिपरमार्थस्थानव्यवस्थापनयेति । ये तत्र भेदरूपा परमाणव परमार्थसन्तस्तेऽत्र संवृति-
सन्त सर्वसर्वात्मकपरमार्थवादे, यस्तत्राभेद परमाणुसमुदाय संवृतिसन् सोऽत्र परमार्थसन्नित्यनया
व्यवस्थापनया योज्यम् ।

पुनरुत्तरोऽपि ग्रन्थो योज्य । तद्यथा — सर्वसर्वात्मकैकरूपान्तराविविक्तस्वतत्त्वे रूपादिसत्त्वादि-सङ्घात इन्द्रियसंनिकृष्ट आलम्बनविपरीतैकरूपेय प्रतिपत्ति व्यपदेश्यानेकात्मकनीलरूपविषया, न च हेत्वपदेशाद्व्यपदेश्यता, यत सर्वात्मकग्रहणापदेशेन धूमेनेवाग्निसामान्यवद् गृह्यते नानिर्देश्यरूपम् ।

---

१ गाधसमु॰ भा ॥ २ ॰व्यवि(व?)भासावस्थस्य प्र॰ ॥ ३ शब्दो यथा य ॥ ४ कस्या प्र॰ ॥ ५ नुष्टत्य य॰ । नुष्वत्य भा॰ ॥ ६ ॰पनायेति प्र ॥ ७ ॰त । तत्र भा १॰ पा॰ । न्त तत्र डे लीं॰ वि॰ हीं॰ ॥ ८ ॰सत् सोत्र य॰ । ॰स शौत्र भा ॥ ९ ॰तये प्र॰ । दृश्यतां पृ॰ ६५ प॰ १ ॥ १० सन्निष्ट य॰ ॥ ११ अत्र पत्तिरव्यप इति समीचीन भाति ॥ १२ ॰पदेश । व्यप॰ भा॰ । ॰पदेशा यप॰ य॰ ॥

नानात्वैकान्तवादेऽपि आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत् [वै० सू० ३।१।१८] **द्रव्यादिनिर्मूलत्वात् किमात्मादि? इति न प्रत्यक्षम्, द्रव्यरूपादिभवनविशेषकारण-**

किं कारणम्? ततोऽन्यैत् कल्पितमेकं रूपम्। ननु सर्वस्य कारकहेतुत्वेनापदेशः प्रत्यक्षप्रतिपत्तेः, न धूमवज्ज्ञापकहेत्वपदेशतयाग्नेरिवाऽर्थान्तरस्यानेकरूपत्वस्य। नन्विदमस्यैवार्थस्य प्रदर्शनार्थं प्रस्तुतमस्माभिः, यदीदं प्रत्यक्षं स्यात् कारकादेव स्वार्थादालम्बनाङ्गेनोर्जायेत दाहानुभववत् प्रत्यक्षत्वादव्यवहितप्रतिपत्त्यात्मकत्वात् प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणविषयत्वादनध्यारोपात्मकत्वादिति यावत्। अपि च कारकतापि सर्वस्य नैव तत्र, द्वितीयचन्द्रवत् परमार्थतोऽसत्त्वादनुपात्तव्यावृत्तिव्यवस्थानमात्रत्वात्। लोकवत्तु
७८-१ सर्वसत्त्वे विशिष्टोऽपदेशो व्यपदेशो ग्राह्यादन्यः, तेन व्यपदेशेन प्रमेयं व्यपदेश्यमनुमेय न प्रत्यक्षम्, धूमानुमेयाग्निवत्, अकारकतायां कारकतायां वा वस्तुनः पितृधूमादिवत्।

अभिधानाव्यपदेश्यानेकात्मकत्वे अपि च नैव, अनुमिताग्निवद्वैकानेकविषयत्वार्त्त्वालस्य। तद्धि नीलरूपनिरूपणं विकल्पः, प्रतिपरमाणुपरस्परप्रतिभिन्नस्वतत्त्वानेकर्म्पैकनरैवैकरूपाध्यारोपात् सर्वसर्वात्मकैककल्पवस्तुरूपाद्यनेकरूपाध्यारोपाद्वा रूपान्तरसामान्यरूपविषयत्वात् तदतद्विषयवृत्तत्वादनपोहादपोहाद्वाऽप्यनुमानवत् तत्सामान्यात्मकतत्र परमार्थस्थितसञ्चयप्रजातिनीलाणुभेदपरिग्रहात्मकत्वात् साधारणार्थविविक्तकल्पनात्मकत्वाच्च प्रत्यक्षमप्रत्ययप्रत्ययात्मकत्वाच्छब्दाश्रावणत्वप्रत्ययवत्। संवृत्यतीन्द्रियत्वाभ्यां हि न नीलादिषु न च सञ्चये कारणता तथाप्रतिपत्तिं प्रति। अनुमानज्ञानमपि च तत्र प्रतिपूर्यते, सम्बन्धगृहीतस्यान्यथाप्रतिपत्तेः, विरुद्धादिज्ञानवदिति समानमेतत् कल्पनात्मकत्वात्। अन्यदपि यथासम्भवं तत्प्रक्रियापतितं मुक्त्वा यदुभयोः सामान्यं तत् सर्वं योज्यम्। एवं तावद्विशेषाविशेषैकान्तवादयोः स्ववचनव्यपेक्षाक्षेपदुस्तरविरोधत्वाल्लौकिकप्रत्यक्षविलक्षणं प्रत्यक्षं कल्पितमपि त्वयुक्तमित्युक्तम्।

नानात्वैकान्तवादेऽपि सामान्यविशेषयोः 'अयुक्तं प्रत्यक्षम्' इति वर्तते। कीदृशं वा तत् प्रत्यक्षं कथमयुक्तं वा? इति, [11]**आत्मेन्द्रियमनोर्थसन्निकर्षाद् यन्निष्पद्यते तदन्यत्**, आत्मा मनसा
७८-२ मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेनेति चतुष्टयत्रयद्वयसन्निकर्षादुत्पद्यमानं प्रत्यक्षमित्येतदपि नानात्वैकान्तवा[12]दिमतं **द्रव्यादिनिर्मूलत्वात्** [13]**किमात्मादि? इति न प्रत्यक्षम्**, द्रव्यमादिर्येषां त इमे द्रव्यादयो द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवाया अद्रव्यत्वात् [द्रव्येभ्योऽन्ये] खपुष्पवन्न स्युः, एवं गुणेभ्योऽन्ये न स्युरगुणत्वात्, अकर्मत्वात् कर्मणोऽन्ये, असामान्यत्वात् सामान्यतोऽन्ये, अविशेषत्वाद् विशेषेभ्योऽन्ये, असमवायत्वात् समवायादन्ये, निर्मूलत्वाच्च खपुष्पवत् सर्वे। तस्य निर्मूलत्वं चापरिणामित्वाद् वन्ध्यापुत्रवत्। अतोऽसत्त्वादात्मादीनामात्ममनोऽक्षार्थाभावे किमात्मादि, यत्सन्निकर्षाज्ज्ञानमुत्पद्येत? कस्य तत्, आत्मद्रव्याभावात्? किं तत्, गुणाभावात्? इतिशब्दो हेत्वर्थे, 'राजपुरुषोऽस्मीति न बिभेमि' इति यथा तथा **इति न प्रत्यक्षम्**, आत्मादिद्रव्याणां ज्ञानादिगुणानां [14]चाभावान्नास्ति प्रत्यक्षमित्यर्थः। तेषां चात्मादीनामन्यथा परमार्थतो विद्यमानानामनेकान्तात्मकानामेका[15]न्तात्मतया कल्पनादन्यथाध्यारोपात् कल्पनात्मकत्वादिभ्यो हेतुभ्यो भ्रान्त्यादिवन्न प्रत्यक्षमिति पूर्वोक्तं तदेव व्याचष्टे—**द्रव्यरूपादीत्यादि यावत्कल्पनात्।**

---

१ °न्यत कल्पि° प्र० ॥ २ तुलना पृ० ६६ पं० १ ॥ ३ भवत् य० ॥ ४ तुलना पृ० ६७ पं० १ ॥ ५ तुलना पृ० ६८ पं० १ ॥ ६ °रूपरूपैक° प्र० ॥ ७ °कगपाध्या° भा० । दृश्यता पृ० ६९ पं० १ ॥ ८ °मप्रत्ययात्मकत्वा° प्र० । दृश्यता पृ० ६९ पं० ४ ॥ ९ °ब्दावदिति प्र० ॥ १० 'मपि च युक्त° य० ॥ ११ दृश्यता पृ० ५९ पं० २२ ॥ १२ °वादिनमतं य० ॥ १३ किमादीनि न य० ॥ १४ च भावा° प्र० ॥ १५ °कात्तामेतया प्र० ॥

कार्यतदतत्पदार्थानेकान्तस्वतत्त्वान्यतमैकान्तकल्पनात् कल्पनात्मकत्वादिभ्यो भ्रान्त्यादिवत्।

अत सर्वप्रमाणाविरोधितत्त्वव्यवहारसमवस्थलोकपरिग्रहवदेव सामान्यविशेषौ घटादिविषयाविति विधि ।

एष च वेदनादिभिरपि लोकप्रमाणक आज्ञानिकवाद उपजीव्यते यस्याय-

द्रव्यग्रहणेन पृथिव्यादीनां तत्कल्पितानां सर्वगुणानां गुणग्रहणेन भवनग्रहणेन सत्ताया विशेषग्रहणेन
गोत्वादीनां यावदन्त्यविशेषस्य कारणग्रहणेनावयवादिद्रव्याणां संयोगादिगुणानां कर्मणां च ग्रहणम्। ७९
कार्यग्रहणेन द्व्यणुकाद्यवयविद्रव्याणां चित्रादिगुणानां च ग्रहणम्। तत्र परमार्थत स च असंश्च पदार्थो-
ऽनन्तरोक्तो द्रव्यादि, तस्यानेकान्त स्वतत्त्व द्रव्यमपि रूपाद्यपि भवनमपि विशेषोऽपि कारणमपि
कार्यमपीति। तस्य तस्यान्यतमैकान्तकल्पनात्तत्त्व द्रव्यमेव गुण एव कर्मैव भवनमेव विशेष एव
नैतरस्वतत्त्वमपीति। तस्मात् कल्पनात्मकत्व सिद्धम्। तत कल्पनात्मकत्वादिभ्यो भ्रान्त्यादिव-
दप्रत्यक्षम्। कल्पनात्मकत्वादय शुक्त्याद्यध्यारोपात्मकालम्बनविपरीतप्रत्ययत्वादय ।

अत सर्वप्रमाणाविरोधीत्यादि यावद्विधिरिति। अत इत्यनन्तरोक्तसर्वोपपत्तिप्रपञ्चतो यत्
प्राक् प्रतिज्ञात 'यथालोकग्राह्यमेव वस्तु' इति तन्निगमयति सोपपत्तिक सर्वप्रमाणाविरोधितत्त्वव्यव-
हारसमवस्थलोकपरिग्रहवदेवेति, प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणैरनवधारितकारणकार्योभयानुभयात्मक तस्य
तस्य वस्तुनो भावस्वतत्त्वमविरोधि, तस्मिंस्तत्त्वे तत्त्वस्य तत्त्वेन वा व्यवहार, तस्मिन् समवस्था यस्य
लोकस्य तस्य लोकस्य परिग्रह स सर्वप्रमाणाविरोधितत्त्वव्यवहारसमवस्थलोकपरिग्रह, तद्वत् तेन तुल्य
वर्तत इति। एवेत्यवधारणे, तादृग्लोकपरिग्रहवदेव सामान्यविशेषौ, न तु सामान्यमेव विशेष एव
परस्परतो भिन्नावभिन्नावेवेति वा यथा शास्त्रेषु कल्पिताविति। अथवा सर्वप्रमाणाविरोधिनि तत्त्वव्यवहारे
समवस्था यस्य स लोक सर्वप्रमाणाविरोधितत्त्वव्यवहारसमवस्थ, तस्य परिग्रहवदेव सामान्यविशेषौ
नान्यथेति यथा प्रतिपादित लोकवदेव घटादिविषयाविति, यथा लोके घटाद्भिन्नमेव सामान्य विशेषश्च ७९-८
द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपभवनाविशेषविशेषाभ्यामुक्तविभिन्ना कार्यकारणादिभेदेन वा नियतौ सर्वत्र न सर्वादये-
त्यनवधृतस्वभावौ। इति विधि, 'इति' शब्दाने, एष विधिरिव विचारितो य ऐश्वरुद्दिष्ट ।

एष च "वेदनादिभिरपि लोकप्रमाणक आज्ञानिकवाद उपजीव्यत इति। नयानामेकैकस्य
शतधा भेदात् सप्तनयशतानि आर्षे व्याख्यायन्ते, तेषां पुनश्चतुर्धा संक्षेप क्रिया-ऽक्रिया-ऽज्ञान विनय-

---

१ न्तरोक्तो द्यादि भा०। न्तरोक्ता द्यादि य०॥ २ नतर य०॥ ३ काऽध्यारो य०॥
४ पृ० ११ प० ३॥ ५ °स्यालोक प्र॥ ६ स्यालोकेष प्र०॥ ७ °स्परो भिन्नौ प्र०॥ ८ °स्यस्य परि°
प्र०॥ ९ पाभ्यामुक्त य०॥ १० °धृतैकसमावौ प्र। अत्र '°धृतैकसमावौ' इत्यपि पाठ स्यात्॥ ११ विधे प्र०॥
१२ प्रथदिष्ट भा०। अत्र 'प्रथम उद्दिष्ट' इत्यपि पाठ स्यात्॥ १३ वेदनादिभि° प्र०॥ १४ आर्षे भा०। अर्थे
य०॥ १५ संक्षेप मिथ्याज्ञान प्र। चत्तारि वाइसमोसरणा पण्णत्ता, तं जहा - किरियावाइ अकिरियावाइ अन्नाणियवाइ
वेणइयवाइ -इति स्थानाङ्गसूत्रे चतुर्थस्थाने॥

मन्यो भेदः – सर्वमिदमज्ञानप्रतिबद्धमेव जगत् पृथिव्यादि। इन्द्रियाण्यपि च तन्मयान्येवाचेतनानि। तत्करणत्वात् तैः प्रकाशितं स्थूलमज्ञं प्रतिपद्येत ज्ञः। तस्यापि चेन्द्रियसन्निकृष्टस्यासाधारणस्वरूपस्य न निरूपणोपायोऽस्ति, प्रत्येकं समुदाये वा

वादसमवसरणवचनात् तत्रोक्तः[1], आज्ञानिकवादः 'किञ्चिन्न ज्ञायते, को ह[2] वैतद् वेद? किं वाऽनेन ज्ञातेन? इत्यशक्यप्राप्त्यफलत्वाभ्यां वस्तुतत्त्वविचारो न युज्यते, क्रियाया एवोपदेशोऽतः श्रेयान्' इति लेशेनाभ्युपगतत्वात्[3]। **यस्यायमन्यो[4] भेद** इति तस्यैवाज्ञानवादस्यान्योऽयं[5] भेदः। कतमोऽसौ भेदः? **सर्वमिदमज्ञानप्रतिबद्धमेव[6] जगत् पृथिव्यादी**ति। कथम्? रूपादिमत्त्वाद् घटादिवत्। **आदि**ग्रहणात् पृथिव्यप्तेजोवायवः। नन्वेते पदार्था अज्ञा एव[7], किमर्थमज्ञानप्रतिबद्धं जगत् पृथिव्यादीत्युच्यते? उच्यते – आकाशकालदिगात्मेन्द्रियमनःप्रभृतीनामपि तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेर्न सन्ति तन्मयत्वादेव च तद्वदचेतनान्यत आह – **इन्द्रियाण्यपि[8] च तन्मयान्येवाचेतनानी**ति। तन्मयत्वानुमानं च भूयस्त्वाद्

८०-१ गन्धवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने। तथापस्तेजो[9] वायुश्च रसरूपस्पर्शेषु रसरूपस्पर्शविशेषात् [वै० सू० ८।२।५-६] इति।

स्यान्मतम् – प्रत्यभिज्ञानाहङ्कारेच्छादिविशेषलिङ्गदर्शनादात्मा तद्गुणस्तद्व्यतिरिक्तोऽस्तीति। एतच्चायुक्तम्, गुणगुणिनोर्भेदमिच्छता ज्ञानादन्यत्वमास्थात् पृथिव्यादिगुणत्वेऽपि तुल्यानुमानत्वात्। अभ्युपेत्यापि आत्मादिव्यतिरेकं **तत्करणत्वात्** तेषामिन्द्रियाणां करणत्वात् तानि वाऽस्य करणानि तत्करणो[10] ज्ञः, **तैः** करणैः **प्रकाशितं** घटादि**स्थूलमज्ञं** प्रकाश्यत्वादेव चान्यमप्यर्थं प्रकाश्य प्रतिपद्यमानोऽपि[11] **प्रतिपद्येत ज्ञः**, सम्भाव्यमानप्रतिपत्तिरपि पुरुषः स्थूलमेवार्थं प्रतिपद्येताज्ञानात्मकम्। करणानि[12] चाज्ञानि। अचेतनकरणप्रकाशितमप्यचेतनं प्रदीपप्रकाशितघटादिवदेव स्यात् स्थूलं च, न परमाण्वादि सूक्ष्मं शुद्धं चेतनस्वरूपपुरुषादि वा स्यादज्ञानाप्रतिबद्धम्[13]। **तस्यापि चेन्द्रियसन्निकृष्टस्ये**त्यादि। सत्यपि च तस्य स्थूलस्य ग्राह्यत्वे तत्स्वरूपाज्ञानादज्ञानसम्बद्धमेव। तस्येन्द्रियसन्निकृष्टस्य[14] द्रव्यान्तरव्यतिरिक्त**मसाधारणं** यत् **स्वरूप**मात्मादेर्वातीन्द्रियस्य[15] तस्य कचित् कदाचिददृष्टत्वात् 'इदमिदम्' इति **न निरूपणोपायोऽस्ति**। निरूपणं निर्णयज्ञानमिष्टम्। किं कारणं न निरूपणोपायोऽस्ति 'इदमिदम्' इति चेत्, उच्यते – **प्रत्येकं समुदाये वा तद्दृष्ट्यनुपपत्तेः[16]**, तस्यासाधारणरूपस्यापूर्वस्यापूर्वत्वादेव दर्शनानुपपत्तिर्निर्णयानुपपत्तिश्च। प्रत्येकं तावन्न[17] हि घट एकैकः कृष्णादिरूपोऽपूर्वत्वाद्दृश्यते स्वरूपतः, तत एव प्रत्येकमनिरूपितस्वरूपाणां कुतो निरूपणं समुदाये, सिकतासु प्रत्येकमनिरूपितस्य समुदाये तैलस्य निरूपणाभाववत्? निश्चयेन रूपणं [निरूपणम्], तदुपायाभावात् 'अज्ञानप्रतिबद्धमेव सर्वम्' इति साधूक्तम्।

---

१ तत्रोक्तं तेज्ञानिकवादः य०। तत्रोक्तान्तज्ञानानिकवादः भा० ॥ २ कोहं य० ॥ ३ द्रष्टव्यता पृ० ३५ पं० ४, पृ० ४५ पं० २ ॥ ४ °मन्ये डे० ली०। °मन्य पा० र० ही० वि० ॥ ५ तस्यैव ज्ञान° प्र० ॥ ६ °दज्ञान° भा०। °दं ज्ञान° य० ॥ ७ अज्ञान एव य० ॥ ८ °याचोपि च तन्मयानेवा° प्र० ॥ ९ तथा तेजो प्र०। "तथापस्तेजो वायुश्च रसरूपस्पर्शाविशेषात्"– इति मुद्रिते वैशेषिकसूत्रे पाठ ॥ १० °णोऽज्ञः भा० ॥ ११ प्रतिपद्यमानेपि प्रतिपद्येत ज्ञः य०। प्रतिपद्यत ज्ञः भा० ॥ १२ कारणानि च ज्ञानि य० ॥ १३ °ज्ञानादिप्रति° य० ॥ १४ °कृष्टद्रव्यान्तर° प्र० ॥ १५ °न्द्रियस्य कचित् प्र० ॥ १६ °ष्ट्यानुप° य० ॥ १७ तावंत हि प्र० ॥

तद्दृष्ट्यनुपपत्तेः[1]। स्वसंवेदनेनोच्छ्वसनाभ्यवहृतपरिणतिसुप्तादिचलनकण्डूयनस्फुरणघ्राणरसनादिक्रिया असञ्चेतिता । इत्थं कल्पिताकल्पिततथाभूतप्रत्ययानुपपत्तेरज्ञानानुविद्धमेव सर्वं ज्ञानम्। परिच्छेदार्थश्च प्रमाणव्यापारः । न चेत्थं तत्परिच्छेदोऽस्ति।

न च 'अज्ञानम्' इत्युक्तविरोधः, राधकपूर्णकमातृव्यपदेशवद्विशेष्यप्राधान्यादनवधारणाज्ज्ञानाज्ञानयोरविशेषात् संशयविपर्ययानध्यवसायनिर्णयावगमावबोधार्थत्वात्।

स्यान्मतम्—अनुभवितुर्ग्राह्यविषयम् 'इदमिदम्' इति निरूपणं मा भूद् यदि न भवति, स्वसंवेदन- ८० २ त्वान्तरं सुखदुःखादिषु किं निरूपणं न भवति? इति। उच्यते—स्वसंवेदनेनोच्छ्वसनाभ्यवहृतपरिणतीत्यादि, व्यभिचारान्न भवति, प्राणापानावसञ्चेतयन्नेव हि कुरुते सर्वो लोकः, अभ्यवहृतमपि खलरसभावेन रसरुधिरादिभावेन च परिणमयन्न सञ्चेतयति स्वयमेव। तथा सुप्तादीनां चलनकण्डूयनस्फुरणादिक्रिया कुर्वतामसञ्चेतयमानानामेव ताः क्रिया दृश्यन्ते। सुप्त-मत्त-मूर्च्छित-गर्भाः सुप्ताद्यः । तथाऽयमनसामव्यक्तचलनकण्डूयनमशकदंशस्पर्शसंवेदनं गन्धादिनां च सुप्तादीनां चाम्लद्रव्यास्वादनमसञ्चेतितम्। रसनमास्वादनमित्यर्थः[3]। आदिग्रहणात् क्षुतजृम्भितकासितादयः । यथैताः क्रिया असञ्चेतितास्तथा स्वसंवेदनमपि । इत्थं कल्पिताकल्पिततथाभूतप्रत्ययानुपपत्तेः, कल्पितत्वात् कल्पितत्वादेव तथाभूतो न भवति प्रत्ययः, अकल्पितोऽपीत्थमुक्तविधिना नोपपद्यते तथाभूतः प्रत्ययः शुद्ध इत्यर्थः। तस्मात् कल्पिताकल्पिततथाभूतप्रत्ययानुपपत्तेरज्ञानानुविद्धमेव सर्वं ज्ञानमिति। परिच्छेदार्थश्च प्रमाणव्यापारः, प्रमाणं हि व्याप्रियमाणं यथार्थपरिच्छेदार्थमिष्यते, न चेत्थं तत्परिच्छेदोऽस्तीति वैधर्म्यं दर्शयति।

स्यान्मतम्—'अज्ञानप्रतिबद्धम्' इत्यज्ञानशब्दोच्चारणादेव ज्ञानाभ्युपगमः कृतो भवति प्रतिषेधस्याऽन्यात्रावगतस्यात्र प्रसिद्धविषयत्वात्, अन्यथा प्रतिषेधानुपपत्तेः स्ववचनविरोधाच्च। तदपि न चाज्ञानमित्युक्तविरोधः । किमिव? राधकपूर्णकमातृव्यपदेशवत्। कुतः? विशेष्यप्राधान्यादनवधारणात्, ८१ १ का भावना? यथा राधकस्य पूर्णकस्य चैकैव माता विवक्षिता भवति तदा 'राधकमाता' इति राधकेन विशिष्यमाणा 'पूर्णकमाता' इति पूर्णकेन वा अथ 'राधकपूर्णकमाता' इत्युभाभ्यां वा, सर्वथा राधकस्यैव पूर्णकस्यैव वा मातेत्यवधारणं नास्ति, विशेष्यप्राधान्यात्, तथा ज्ञानाज्ञानाभ्यां तदेव विशिष्यते वस्त्विति विशेष्यप्राधान्यान्नोक्तिविरोधो ज्ञानाज्ञानयोरविशेषात्। न तु यथा विशेषणप्राधान्यादवधारणं 'नीलमुत्पलम्' इति। अतस्तेषामवबोधार्थाभेदाज्ज्ञानत्वमज्ञानत्वं चाविशिष्टमिति तत् प्रदर्शयन्नाह—संशयविपर्ययानध्यवसायनिर्णयावगमावबोधार्थत्वात्। गम्लृ सृप्लृ गतौ [पा० धा० ९८२-९८३] अत्र पूर्णगमनमवगमः, अवगमश्चावबोधः, बुध अवगमने [पा० धा० ८५८, ११७२] इति वचनात्। सर्वेषां संशयविपर्ययनिर्णयानध्यवसायानामवगमार्थत्वादवगमस्य चावबोधपर्यायत्वात्।

---

१ नाभ्यवहृत प्र० ॥ २ पानावसञ्चेत प्र० ॥ ३ रसेन प्र० ॥ ४ काशिता य० ॥ ५ किमव प्र० ॥ ६ दन्यच य ॥ ७ यथा यथा य ॥ ८ राधकपूर्णकस्य प्र० ॥ ९ ज्ञानाभ्यां प्र० ॥ १० मस्य चावबोधपर्या प्र ॥

तस्मादेतस्मिन्नयभङ्गेऽज्ञात एव शब्दस्यार्थः । यथा चाहुः—

अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम् ।
अपूर्वदेवताशब्दैः सममाहुर्गवादिषु ॥ [वाक्यप० २।१२१]

सर्वाणि च पदानि वाक्यार्थः ।

व्यवहारदेशत्वाच्चास्य द्रव्यार्थता । द्रव्यशब्दो दुर्गनिर्यात्रा व्यवहारो लोकस्य

तस्मादेतस्मिन् नयभङ्गेऽज्ञात एव शब्दस्यार्थः । भङ्गग्रहणं भङ्गान्तरसूचनार्थम्, [1]परस्परनिरपेक्षाणां भङ्गाना वृत्तेर्मृषात्वात् [2]तद्विपर्ययायाः सत्यत्वान तेषां च विधिनियमयोरेव भङ्गत्वान्नयानाम् । तस्मादस्मिन्नेव नयभङ्गे शब्दस्याज्ञातोऽर्थः, नान्येषु, तेष्वन्यन्येऽन्येऽर्था इति । एतस्य दर्शनस्य ज्ञापकमाह—[3]**यथा चाहुः—अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति** श्लोकः । सत्तामात्रमर्थः सर्वशब्दानाम, कोऽप्यस्यार्थोऽस्ति, न निरर्थकः शब्दः, स पुनरर्थो न निरूपयितुं शक्यः 'अयमयम्' इति, एतन **प्रत्याय्यलक्षणम्** । तत्र दृष्टान्तोऽ**पूर्वदेवतास्वर्ग**शब्दानामर्थाः, यथा तेषामत्यन्ता[4]परिदृष्टत्वात् 'ईदृशोऽपूर्वः स्वर्गो देवता वेदृशी' इति न
८१-२ प्रतिपद्यामहे निरूपणेन तथा गवादिशब्दानाम[5]प्यर्थैस्तत्समैरेव भवितव्यम्, न हि [6]गमनगदनगर्जनादिष्वर्थव्यवस्था विशेषरूपेति 'कश्चिदस्त्यर्थः' इत्येतावत् प्रति[7]पत्तव्यम् । एतस्मिन्नेव नयभङ्गे **सर्वाणि च पदानि वाक्यार्थः** । तद्यथा—'देवदत्त ! गामभ्याज शुक्लां दण्डेन' इत्यत्र परस्पराविवेकेन सङ्कीर्णरूपाणि पदानि एकार्थानि अन्वयव्यतिरेकाभ्यामनुगम्यमानं सम्पिण्डितमे[8]वार्थं ब्रूयुर्न पृथग्भूतम । तस्मात् सर्वाणि [9]पदानि वाक्याय वाक्यार्थः, पदान्येव वाक्यार्थः, नैकैकं न तद्व्यतिरिक्तम् । यथोक्तम्—अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात् [मीमांसासू० २।१।४६] इति । न तु यथान्यैः कल्प्यतेऽन्यथा—

आख्यातशब्दः सङ्घातो जातिः सङ्घातवर्तिनी ।
एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्ध्यनु[10]संहतिः ॥
पदमाद्यं पृथक् सर्वं पदं सापेक्षमित्यपि ।
वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायदर्शिनाम् ॥ [वाक्यप० २।१-२]

इति, अलौकिकत्वादशक्यप्राप्यफलत्वाभ्यामेव ।

क पुनरयं नयोऽन्तर्भाव्यते, किं द्रव्यनयभेदे ? [11]पर्यायनयभेदे ? उच्यते—**व्यवहारदेशत्वाच्चास्य** [12]**द्रव्यार्थता, लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः** [तत्त्वार्थभा० १।३५] इति वचनात् तस्य

---

१ परस्परइ(प्र)तिनिरपेक्षाणां य० ॥ २ तद्विपर्यायाः प्र० ॥ ३ यथा वहुः प्र० ॥ ४ °परदृष्ट° प्र० ॥ ५ °प्यर्थो तत्समै° य० ॥ ६ गमनागदन° प्र० । "कैश्चिन्निर्वचनं भिन्न गिरतेर्गर्जतेर्गमे. । गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्रानुदर्शितम् ॥ २।१७५ ॥ यथैव हि गमिक्रिया जात्यन्तरैरर्थसमवायिनीभ्यो गमिक्रियाभ्योऽत्यन्तभिन्ना तुल्यरूपत्वविर्षा त्वन्तरेणैव गमिमभिधीयमाना गौरिति शब्दव्युत्पत्तिकर्मणि निमित्तत्वेन आश्रीयते तथैव 'गिरति गर्जति गदति' इत्येवमादय साधारणा सामान्यशब्दनिबन्धना क्रियाविशेषास्तैस्तैराचार्यै गोशब्दव्युत्पादनक्रियाया परिगृहीता"—इति वाक्यपदीयस्ववृत्तौ २।१७५ । "गच्छति गदति गर्जति वा गौ"—इति पातञ्जलमहाभाष्यस्य भर्तृहरिविरचितायां त्रिपाद्याख्याया वृत्तौ ॥ ७ °पत्तव्यं तस्मिन्नेव य० । °पत्तव्यतस्मिन्नेव भा० ॥ ८ °मिवार्थं प्र० ॥ ९ पदानि वाक्यार्थः पदान्येव वा वाक्यार्थः य० । भा० प्रतिपाठे तु "चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः" [पा० २।१।३६] इति सूत्रानुसारेण 'वाक्याय इति वाक्यार्थ' इति चतुर्थीतत्पुरुषोऽत्र विवक्षितो विशेष्यलिङ्गवचनानुसारिता तु नादृतेति भाति ॥ १० °संहतिः भा० । °संवृतिः य० ॥ ११ पर्यय° भा० ॥ १२ द्रव्यार्थतो प्र० ॥

तस्या अवयव एकदेशोऽसमस्तवृत्तिरन्यथावृत्तित्वात्। लोके हि तदेकदेशवृत्तिता मृद्घटादिसामान्यविशेषत्वद्रव्यत्वानामिति दिक्।

तस्मादन्यत्त्ववस्तु, अलौकिकत्वात्, खकुसुमवत्, व्यतिरेके घटवत्।

निबन्धनं चास्य—आता भंते! णाणे, अण्णाणे? गोतमा! णाणे णियमा आता, आता पुण सिया णाणे सिया अण्णाणे। [भगवतीसू० १२।३।४६७]

---

[1]द्रव्यार्थभेदत्वात्। लोकव्यवहारविषयो हि व्यवहार, तदेकदेशो विधिनय, तस्माद्द्रव्यार्थभेद। यथा—

दव्वट्ठियणय[2]पगती सुद्धा संगहप[3]रूवणाविसओ।
पडिरूवं पुण वयणत्थणिच्छओ तस्स ववहारो॥ [सन्मति० ११४]

तस्य शब्दार्थव्युत्पत्तिदर्शनार्थमाह—**द्रव्यशब्द** इति, 'द्रोरवयवो द्रव्यम्' इति व्युत्पादितत्वात्। अथ द्रु क? दु द्रु गतौ [पा० धा० ९४४, ९४५] तत्तुल्यार्थमव्युत्पन्नं प्रातिपदिकम्, [4]दुद्रुभ्यां म [पा० ५।२।१०८] इति निपातितत्वात्, तस्यार्थो **द्रुर्गतिर्यात्रा व्यवहारो लोकस्येति। तस्या** [5]यात्राया **अवयव** ८२ १ **एकदेश** इत्यर्थ[6]कथनम्। स एकदेश क इति चेत्, उच्यते—**एकदेशोऽसमस्तवृत्तिरन्यथावृत्तित्वात्,** समस्तलोकव्यवहारविप[7]रीतवृत्तित्वात् मिथ्यादृष्टिरित्यर्थ। सा पुनरस्या विधिवृत्तेरेकदेशवृत्तिता कुत परिच्छिद्यत इति चेत्, लोकत एव परिच्छिद्यत इत्यर्थः। यस्माल्लोके **तदेकदेशवृत्तिता मृद्घटादिसामान्यविशेषत्वद्रव्यत्वानाम्,** मृत् सामान्यम्, घटो विशेष, मृद सामान्यं द्रव्यत्वम्, घटविशेषश्छिद्रबुध्नखण्डाद्य-सम्पूर्ण-रक्त-कृष्णतादि। सर्व एवैषोऽपरित्याज्योऽर्थकलाप समस्तवृत्तौ नयानां [8]यथास्वं च प्रमाणत्वाद्व्यवस्थाप्य। तस्माज्ज्ञानानुविद्धत्वेनैका ताद्वक्ष्यमाणोपसम्बन्धाच्च लौकिकस्याप्यस्याऽ[9]युक्ति। इति परिसमाप्तौ, विधिनय[10]शतभेदे **दिगिति**।

तस्मादन्यत् त्ववस्तु, अलौकिकत्वात्, खकुसुमवदिति गतार्थम्। अभिप्रायार्थ—स तु मन्यते "[11]लोकोऽलौकिकैर्नान्त साङ्ख्यादिपरिकल्पितमवस्त्विति। **व्यतिरेके घटवदिति,** यद्वस्तु तल्लौकिकमेव यथा घट [12]कार्यं वा कारणं वा सामान्यं वा विशेषो वा यो वा स वास्तु यथालोकप्रसिद्धि पृथुबुध्नादिभागुक्तसामान्यविशेषभा[13]वनात् स च लौकिक इति। **व्यतिरेके** वैधर्म्ये।

सर्वनयानां जिनप्रवचनस्यैव निबन्धनत्वात् किमस्य निबन्धनमिति चेत्, उच्यते, **निबन्धनं चास्य**—[14]**आता भंते! णाणे, अण्णाणे?** इति स्वामी **गौतमस्वामिना** पृष्टो व्याकरोति "[15]**गोतमा! णाणे**

---

१ द्रव्यार्थभेदात् प्र ॥ २ पगई य० ॥ ३ परूपणा भा० ॥ ४ दुद्रुभ्या प्र० ॥ ५ यात्रा प्र० ॥ ६ कथना भा०। कथना य० ॥ ७ °रीतवर्त्तित्वात्मि° प्र० ॥ ८ यथास्व च प्रमाण भा। यथास्वप्रमाण य ॥ ९ प्यन्या[प्या?]युक्ति य०। प्यस्यायुक्ति भा० ॥ १० शतभेदो रं० ही० विना। शतभेदा रं० ही० ॥ ११ लोकोत्तरान्त प्र० ॥ १२ कार्यं कारणं वा य ॥ १३ भावनात् प्र०। अस्मिन् पाठे तु स्वार्थे °भावितत्वात् इत्यर्थमभिप्रेत्य सङ्गमनीयम् ॥ १४ आया भंते नाणे अन्नाणे य० ॥ १५ गो० नाणे नियमा अतो य० ॥

८२-७ **णियमा आता,** ज्ञानं नियमादात्मा ज्ञानस्यात्मव्यतिरेकेण वृत्त्यदर्शनात्। **आता**[1] **पुण सिया णाणे सिया अण्णाणे,** आत्मा पुनः स्याज्ज्ञानम्, स्यादज्ञानमप्यसौ ज्ञानावरणीयकर्मवशीकृतत्वात् संशय-विपर्ययानध्यवसायबाहुल्यादित्यस्मात् सूत्रादेतद् मिथ्यादर्शनं निर्गतमज्ञानोक्तिविरोधम्नमाधिमंदि[2]ति।

इति[3] विधिभङ्गारः प्रथमो द्रव्यार्थभेदः समाप्तः॥

१ आया पुण सिय नाणे सिअ अन्नाणे य० ॥ २ °मवदिति प्र० । अत्र '°मवददिति' इत्यपि पाठः स्यात् ॥
३ इति य० प्रतिपु नास्ति ॥

ॐ अर्हम्

अथ द्वितीयो विधिविध्यरः ।

अयमपि तु विधिवृत्त्यैकान्तो विप्रतिषेधादयुक्तः । तद्यदि लोकतत्त्वमज्ञेयमेव लोकतत्त्वव्यावर्तनं तर्ह्यप्रत्ययमेव । यदि तज्ज्ञानमफलमेव किमिति शास्त्रविहितार्थ-

---

अयमपि तु विधिवृत्त्यैकान्तो विप्रतिषेधादयुक्त इति । कः पुनः सम्बन्धः ? स्वविषय-मस्थापनेनाचार्याणां मौनात्मभिर्विधिनियमवृत्तिभिर्विदितप्रत्येकनैरात्म्यैः समधिगम्या जैनसत्यत्वसाधनवृत्ता विवक्षितद्वादशविकल्पनिर्देशपर्यायैर्न वृत्तिरधिकृतेत्यनन्तरोक्ताया विधिवृत्तेरपि प्रत्येकवृत्ताया मिथ्यादृष्टित्वा-दयमपि तु विधिवृत्त्यैकान्तस्त्याज्यः । कस्मात् ? अयुक्तत्वात्, अयुक्तश्च विप्रतिषेधात् । विरुद्धः प्रतिषेधो विप्रतिषेधः, 'सत्यमुक्तं मृषा' इति प्रतिषेधवत् । अपिशब्दात् सामान्यविशेषोभयवादिकात् प्रथमनयदूषि-तोऽनुमत इत्ययमभिसम्बन्धः ।

कथं विप्रतिषेध इति चेत्, उच्यते—यदुक्तं त्वया 'सर्वमज्ञानानुविद्धमेव ज्ञानम्, न च ज्ञानाज्ञानयोः कश्चिद्विशेषोऽस्ति संशयविपर्ययानध्यवसायनिर्णयानामवबोधैकार्थत्वात्, न लोकतत्त्वं ज्ञातुं शक्यम्, विफलश्च विवेकयत्नः शास्त्रेषु' इति । तद्यदि लोकतत्त्वमज्ञेयमेव सर्वशास्त्र-विहितलोकतत्त्वव्यावर्तनं तर्ह्यप्रत्ययमेव अशक्यप्राप्त्यफलत्वाभ्याम्, प्रतिषेधस्य प्रतिषेध्य- A८३
स्वरूपज्ञानविषयत्वाच्च किं त्वयैवेदं "विदित्वाऽविदित्वा वा सामान्यविशेषौ स्वविषयौ परविषयौ वा स्यातामित्यादि लोकतत्त्वं शास्त्रान्तरेषु कल्पितं दूषितम् ? विदित्वा चेत्, न तर्हि तन्मतं न विदितम् । अथाविदित्वा ततः कथं दूषितम् ? इत्युभयथापि न युज्यते प्रतिषेधो विरुद्धत्वात्, प्रतिषिध्यते प्रतिषेध्यं च न ज्ञायत इति रम्यमेतत् । स्यान्मतम्—प्रतिषेध्यं ज्ञायते, "तस्मात् वस्तुनः सत्त्वादिगुणत्रयात्मक-क्षणिकत्वरूपद्रव्यादिषट्पदार्थात्मकतादितया बहुधा कल्पितस्यानुपपत्तेरिति । एतदपि विप्रतिषिद्धम्, तेषामपि मतानां लोकतत्त्वान्तःपातिना मिथ्याविधिकत्वं ज्ञातमज्ञातं वा स्यात् ? इति तुल्यविकल्पत्वात्, ज्ञाता-

---

१ कान्तो विप्रति प्र० ॥ २ स्थापत प्र० ॥ ३ मायानाममभि पा० दे० लीं० १० ही । भाया पातमभि वि० । दृश्यतां पृ० १० पं० ५ ॥ ४ वृत्तिभिर्विदित पा० दे० लीं० । वृत्तिभिरविदित १ ही० । वृत्तिभिरनेकान्तविदित वि० ॥ ५ सत्वाभि य० ॥ ६ पर्यायैर्न प्र० ॥ ७ द्रुमति प्र० ॥ ८ दृश्यतां पृ० ११३ पं० ३ ॥ ९ दृश्यतां पृ० ११२ पं० ६ ॥ १० दृश्यतां पृ० ११ पं० ४ ॥ ११ यमेवमशक्य प्र० ॥ १२ त्वाभ्यां प्रतिषेध्यस्वरूप य० ॥ १३ वेदित्वा प्र० ॥ १४ दृश्यतां पृ० ११ पं० ५ ॥ १५ प्रतिषेध य० ॥ १६ तं तस्य य० । तैस्य भा० ॥ १७ क्षणतद्रूप य० । क्षणद्रूप भा० ॥ १८ दस्तेषामपि य० । दपि पैमपि भा० ॥ १९ लोकमतत्वान्त प्र० ॥

प्रतिषेधप्रयासः ? क्रियोपदेशन्याय्यत्वाभ्युपगमोऽपि चैवं विघटेत, संसेव्यविषयस्वतत्त्वानुपातिपरिणामविज्ञानविरहितत्वात्, अवैद्यौषधोपदेशवद् बालकाहिग्रहणवत्।

ज्ञातत्वयोश्च तद्दोषाविमोक्षात्। सामान्यं स्वविषयं परविषयं चेत्थमित्थं च न युज्यते तथा विशेष इति प्रपञ्चितत्वादज्ञातं [1]चेत् तत् सर्वम्, अप्रत्ययत्वान्न प्रतिषेध इत्युक्तम्। ज्ञातं चेत्, कथं ज्ञातुमशक्यं लोकतत्त्वम्? इत्यप्रत्ययमेव। स्वयमसमीक्षितवाच्यवाचकसम्बन्धत्वात्त[2] [3]ते वचस उन्मत्तवदेव तावत् 'अशक्यं प्राप्तुं लोकतत्त्वम्' इत्युक्तम्, [4]विप्रतिषेधात्।

यदप्युक्तम्—[5]अनर्थको विवेकयत्नः शास्त्रेष्विति, तत्रापि विप्रतिषेधात्, **यदि तज्ज्ञानमफलमेव किमिति शास्त्रविहितार्थप्रतिषेधप्रयासः ?** शास्त्रविहितार्थज्ञानं तत्प्रतिषेधोपायज्ञानं [6]चावधार्यम्—किं सफलम्? अफलम्? यद्यफलं विज्ञानम्, शास्त्रविहितार्थान् [7]प्रतिषिषेधिषतः
Λ८३-२ प्रयासोऽप्यफल [8]एवाज्ञातत्वात् पूर्ववत्। अथ सफलम्, 'अफलमेव लोकतत्त्वज्ञानम्' इति व्याहन्यते। अतः [9]को ह्येतद्वेद? किं वाऽनेन ज्ञातेन[10]? इत्येतदयुक्तमुक्तम्, विप्रतिषेधात्।

यदप्युक्तं 'वस्तुतत्त्वाशक्यप्राप्तेः क्रि[11]याया एवोपदेशो न्याय्यस्तत्पूर्वकत्वात् सुखावाप्तेः' इत्यत्रोच्यते—**क्रियोपदेशन्याय्यत्वाभ्युपगमोऽपि चैवं विघटेत,** 'विघटत एव' इति कथं निष्ठुरमुच्यते? 'विघटेत' [12]इति तत्सम्भावनयोच्यते दाक्षिण्यलोकज्ञानाभ्याम्। को हेतुर्वि[13]घटने? [14]**संसेव्यविषयस्वतत्त्वानुपातिपरिणामविज्ञानविरहितत्वात्।** 'सम्' इत्येकीभावे, आत्मसाद्भावेन सेव्यमानस्य विषय[15]स्य स्वतत्त्वमाहारादेः शब्दस्पर्शरसरूपगन्धात्मकस्य स्वरूपं वातादिप्रकोपशमोपचयप्रलयावहम्—

नागरातिविषामुस्ताक्वाथः स्यादामपाचनः। [चरकसं० ६।१५।९८] इति।

तत्तत्त्वानुपा[16]ती परिणा[17]मः, तदनुपतितुं शीलमस्येति, किमुक्तं भवति? आसेव्यमानस्य वस्तुनस्तत्क्रियात एव स्वरूपानुपातेन विपाकः परिणामः। तद्विज्ञानविरहितत्वम्। स इत्थं विपाकः सुखाय दुःखाय वेत्येतद्विज्ञानं हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थम्, [18]तत्तु भवतां नास्त्येव। अतस्तद्विरहितत्वात् क्रियोपदेशोऽपि 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः, तण्डुलान् पचेद्भोक्तुकामः' इत्या[19]दिर्दृष्टादृष्टार्थो न घटते, अज्ञा[20]तसंसेव्यवस्तुतत्त्वपरिणा[21]मत्वात्, **अवैद्यौषधोपदेशवत्,** यथा कस्यचिदविज्ञातरसवीर्यविपाकप्रभावद्रव्यगुणविशेष[22]भागाभागसंयोगस्य देश-

---

१ चेत्तर्हि सर्वम्° य० ॥ २ °त्वाच भा० । त्वाच्च य० ॥ ३ ते नचस य० ॥ ४ विप्रतिषेधात् यद्यप्युक्तमनर्थको विवेकयत्नः शास्त्रेष्विति तत्रापि विप्रतिषेधात्तु तद् ज्ञानमफलमेव र० ही० डे० लीं० । विप्रतिषेधोप्युक्तमनर्थको विवेकयत्नः शास्त्रेष्विति तत्रापि विप्रतिषेधात् । यद्यप्युक्तमनर्थको विवेकयत्नः शास्त्रेष्विति तत्रापि विप्रतिषेधात्तु तद् ज्ञानमफलमेव पा० वि० ॥ ५ दृश्यता पृ० ११ पं० ४ ॥ ६ च वधार्यम् भा० । च वधार्थम् य० ॥ ७ प्रतिपिधित्सतः भा० । प्रतिषेधित्सतः य० ॥ ८ एव ज्ञातत्वात् य० ॥ ९ को हं य० । दृश्यता पृ० ११२ पं० ४ ॥ १० दृश्यता पृ० ३५ पं० ४ ॥ ११ दृश्यता पृ० ४५ पं० २ ॥ १२ इति न संभावनयोच्यते प्र० ॥ १३ °वटते य० ॥ १४ ससेव्य° प्र० ॥ १५ °यस्य तत्त्वमा° प्र० ॥ १६ °पाति य० ॥ १७ °णामतद्° पा० र० ही० । णामं तद्° डे० लीं० । °णामविज्ञानतद्° वि० ॥ १८ ततु भा० । ननु य० ॥ १९ °दिर्दृष्टार्थो प्र० ॥ २० °तसंवेव्य° भा० । °तवैव्यद्य° पा० । °तवैव्य° डे० लीं० । °तवैध्यद्य° र० ही० । °तवैधव्य° वि० ॥ २१ °णामवान् य० ॥ २२ °पभागसंयो° भा० ॥

उपदेशादेव तज्ज्ञानयोग इति चेत्, न, उभयथापि पौरुषेयत्वाद्वेद-

कालातुरप्रकृतिमात्म्याग्निबलावस्थातात्रिरोगसमुत्थाननिदानानि लक्षणानभिज्ञस्यौषधोपदेशो न घटते तथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम' इत्याद्युपदेशः । अथवा हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थत्वात् सर्वोपदेशानां तद- B८३
भावात् प्रीतिमेवाग्निहोत्रात् नोल्काहिग्रहणवत् तज्ज्ञानविरहितस्योपदेशश्रवणग्रहणधारणतर्कणानुष्ठानानि अनर्थानुबन्धीनि स्यादिति प्रथमप्रश्नेनार्थे द्वितीयमुदाहरणम् ।

उपदेशादेव तज्ज्ञानयोग इति चेत् । स्यान्मतम्—पुरुषस्यातीन्द्रियार्थदर्शनशक्तिशून्यत्वात् स्वार्थापूर्वकमसम्बन्धवचने पूर्वविज्ञानकारणाभावाद्बन्ध्याया दौहित्रस्मरणवत् । द्रव्य-गुण-रस-वीर्य-विपाकादि-ज्ञानस्यानुमानं पूर्वविज्ञानकारणं सम्भाव्येत । तस्मादुपदेशादग्निहोत्रस्वर्गफलाभिसम्बन्धादि-ज्ञानमिति । एतच्चायुक्तम्, **उभयथापि पौरुषेयत्वात्**, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकोपदेशज्ञानस्यापि पौरुषेयत्वात्, ज्ञानतो वचनतश्च पुरुषाधीनत्वादिति वा, यथा त्वमतीन्द्रियेष्वर्थेषु पूर्वविज्ञानकारणाभावं मन्यसे पुरुषस्य पुरुषज्ञानवचनानां तद्विषयाणां चाप्रामाण्यं रागादियोगित्वाद्वा संवादर्शनाद्दृष्टज्ञानस्य श्रोतृज्ञानवचनयोश्च ज्ञानत्ववचनताभ्यां पौरुषेयत्वानतिवृत्तेर्भारतरामायणादिवदप्रामाण्यम् । अग्निहोत्राद्युपदेशस्यातीन्द्रियार्थस्य प्रामाण्यवत् साङ्ख्याद्यतीन्द्रियार्थोपदेशप्रामाण्यं वा । वातपित्तादिपरिज्ञानेन कस्यचित् किञ्चिद्विषयं वैद्यज्ञानं स्यात्, न तु सर्वौषधादिविषयैकपुरुषज्ञानम्, अतो वैद्यकादिष्वपि पूर्वज्ञानकारणाभावः । तद्विप-र्ययपुरुषविज्ञानवदतीन्द्रियेन्द्रियग्राह्यमनपेक्ष्य विपर्ययपुरुषविज्ञानाभ्युपगमो नावश्यम्भावी, किं कारणम्? u८३
वेदवचनयोरन्यथानुपपत्तेः, पुरुषमन्तरेण वचन वेदो ज्ञानमित्यर्थं तेन च ज्ञातस्य वचनं परप्रत्यार्थं तदुभयं प्रत्ययनं प्रत्यायनं च नोपपद्यते, तयोः पुरुषसमवायित्वात् । उक्तं च—

> रूपं निरोधः सम्बन्धः प्रामाण्यं प्रत्ययः क्रिया ।
> शब्दस्य पुरुषाधीना ज्ञानं चानन्यगामिनः   [   ] इति ।

---

१ °वस्त्वतोयोग प्र० ॥ २ णामिह य ॥ ३ बालकादिग्र° य ॥ ४ तर्कमानु प्र० ॥ ५ ष्ठानादि भा० । ष्ठानानि पा० वि० । धानादि दे० मी० । थानादि द० लं० ॥ ६ हरणार्थ मुपदेशादेव न ज्ञानयोग प्र० ॥ ७ दर्शना शून्यत्वात् य ॥ ८ अत्र स्वार्थापूर्वकमसम्बन्धवचने बन्ध्याया दौहित्रस्मरणवत् पूर्वविज्ञानकारणाभावात् उपदेशाच्च तज्ज्ञानयोग इत्यर्थमभिप्रेत्य सम्भावितोऽयं पाठः । अन्यथा पूर्वविज्ञानकारणाभावो यथा वन्ध्याया दौहित्रस्मरणवत् इति पाठः स्यात् । धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्ष्य स्यात् । १।३।१ ।

शब्दलक्षणोऽर्थो धर्म इत्युक्तम् चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति अतो निर्मूलत्वात् प्रमाणमिति । ननु ये विदुः स्वयमप्यदृष्टार्थं कर्तव्यं ते कथमिव तद्वदेयुः अकर्तव्य एवायम् इति ? स्मरणानुपपत्तेः । न ह्यननुभूतोऽश्रुतो वा पदार्थः स्मर्यते । न चास्य पुरुषस्य अलौकिकस्य च स्मरणानुपपत्ते पूर्वविज्ञानकारणाभावादिति । यो हि यस्या स्मरेदिदं मे दौहित्रकमिति न स दुहितर्यसत्यां च न जातुचिद्दौहित्रं प्रतीयात् सन्धारणानमिति —मी० शाबरभा० १।३।१ ॥ ९ षर्गाभिसम्य य । फलादिसम्य भा० ॥ १० यजनथ प्र ॥ ११ योगात्स्था प्र ॥ १२ सर्वौषध° प० । अत्र सर्वस्यौष° इत्यपि पाठ स्यात् ॥ १३ पदस्था भा० वि० । °पन्थिता वि ॥ १४ यम् तस्यत्त द्विषय प० ॥ १५ तत्त्वज्ञान वि० । तत्त्वज्ञान पा ॥ १६ °वतीन्द्रियग्राह्य य ॥ १७ वचन च तदु प० ॥ १८ समवायित्वात् पा० दे० लं० वि । समवायित्वात् भा ॥ १९ रूपनिरोध प्र ॥

वचनयोरन्यथानुपपत्तेः । उपदेशाप्रसिद्धिरपि चैवं भवतः, सर्वस्योपदेशस्य साङ्ख्याद्युपदेशवल्लोकतत्त्वान्वेषणादृते सम्भवाभावात् । तस्यापि त्वनवस्थाने

ओपध्योपदेशज्ञानवदग्निहोत्राद्युपदेशज्ञानम्, तज्ज्ञानवत् तदपि वा प्रमाणान्तरगम्यमिति । एवं तावत् क्रियोपदेशमभ्युपगम्य दोष उक्तः ।

अनभ्युपगम्यापि[1] **उपदेशाप्रसिद्धिरपि चैवं भवतः**, त्वन्मतेनैवेति वाक्यशेषः, **सर्वस्योपदेशस्य साङ्ख्याद्युपदेशवल्लोकतत्त्वान्वेषणादृते सम्भवाभावात्**, उपदेशो व्याख्या, असौ च व्याख्या पदविषया वाक्यविषया[2] प्रमाणविषया तद्विषयवस्तुविषया[3] वा वेदव्याकरणसाङ्ख्यादिशास्त्रविकल्पिता यथास्वं प्रक्रियाभिः । तत्र यथा साङ्ख्यादिप्रक्रियाभिर्वस्तुतत्त्वं[4] घटादेर्लोकतत्त्वान्वेषणपरया व्याख्यया[5] विना नाधिगम्यतेऽतस्तथा[6] व्याख्यायते एवमग्निहोत्रादि संज्ञासंज्ञिसम्बन्धव्युत्पादनेन व्याख्यायते, प्रकृतिप्रत्ययादिविभागेन पदविषयं वाक्यविषयं प्रमाणविषयं च प्रत्यक्षानुमानागमबाधाभ्युच्चयविकल्पाङ्गाङ्गिभावविकल्पादि लोकतत्त्वान्वेषणमन्तरेण नाधिगन्तुं शक्यमित्युपदेशस्तत्त्वान्वेषणपरः सर्वः प्रवर्तते । तत्र यथा साङ्ख्याद्युप-
८४-१ दिष्टार्थेष्वशक्यप्राप्तिरुपदेशानर्थक्यं च तथा वेदव्याकरणमीमांसाद्युपदेशानामपीत्युपदेशाप्रसिद्धिः । अथ लोकतत्त्वान्वेषणपराणां तेषामुपदेशानां शक्यप्राप्त्यर्थोपदेशसाफल्ये[7] शक्येते, कः पराभ्युपगमे प्रद्वेषः ? इहापि च यथा लोकत एव प्रत्यक्षानुमानगम्यघटपटादितत्त्वपरिच्छेदः शक्यते कर्तुमेवं पदवाक्यप्रमाणपरिच्छेदोऽपि शक्यः, घटादिपदाच्छब्दार्थप्रत्ययविषयस्य[8] लोकत एव वर्णानुपूर्व्यादिनियतवाच्यवाचकप्रत्ययाव्यभिचारस्य प्रसिद्धेः । एवं वाक्ये प्रमाणे च[9] योज्यम् । उक्तं च —

प्रमाणानि प्रवर्तन्ते प्रमेयैः[10] सर्ववादिनाम् ।
संज्ञाभिप्रायभेदात्तु विवदन्ते तपस्विनः ॥ [सिद्ध० द्वा० २०।४] इति ।

तस्मादुपदेशाना त्वन्मतेनैव सर्वेषामप्रामाण्यसिद्धिः, लोकतत्त्वान्वेषणपरत्वे सति अशक्यप्राप्यफलत्वेनाभ्युपगतत्वात्, साङ्ख्यादिशास्त्रकारोपदेशवत् । अतो दृष्टादृष्टार्थक्रियोपदेशे पदवाक्यप्रमाणविषयविषय[11]व्याख्यावैयर्थ्यप्रसङ्गान्न वेदशास्त्रोपदेशसिद्धिर्लोकतत्त्वान्वेषणपरत्वानतिवृत्तेः, तर्कशास्त्रवाच्यलोकतत्त्वविचारविज्ञानसाफल्यं वा । उपदेशाप्रसिद्धौ परीक्षकत्वहानिः, पदवाक्यप्रमाणविषयविषया[12]व्यभिचारज्ञानार्थत्वात् परीक्षायाः । परीक्षैव चोपदेशः, परीक्षाव्याख्ययोरनर्थान्तरत्वात् । स चोपदेशस्त्वन्मतेनैवं नावतिष्ठते, लोकतत्त्वान्वेषणात्मकत्वात् ।

स्यान्मतम् — पदवाक्यप्रमाणानामपि सामान्यविशेषादिघटादिजगत्तत्त्वविचारवद्व्यवस्थैव, प्रमाणानामपि प्रमाणान्तराधिगम्यत्वेऽनवस्थादोषप्रसङ्गादिति । अत्रोच्यते — प्रमाणानवस्था तावन्नास्ति, चन्द्रार्क-
८४-२ मणिप्रदीपादिवत् स्वपरावभासित्वात् प्रमाणानाम् । पदादीनामभ्युपगम्यापि त्वन्मतेनानवस्थामाह[13] — **तस्यापि**

---

१ °गमस्यापि य० ॥ २ °पया वा प्रमा° भा० ॥ ३ तद्वस्तुविषया य० ॥ ४ °यादिर्वस्तु° प्र० ॥ ५ व्याख्याया प्र० ॥ ६ °म्यते इत° प्र० ॥ ७ °साफलो वाक्येते प्र० ॥ ८ °दात् शब्दार्थ° य० । °दाशब्दार्थ° भा० ॥ ९ चायोज्यम् भा० ॥ १० दृश्यतां पृ० ४६ पं० २२ । "प्रमाणान्यनुवर्तन्ते विषये सर्ववादिनाम् ।" – सिद्ध० द्वा० ॥ ११ °णविषयव्याख्या° प्र० । दृश्यतां पृ० १२० पं० ७ ॥ १२ °णविषयाव्यभि° भा० र० ही० । दृश्यतां पृ० १२० पं० ७ ॥ १३ °नावस्था° य० ॥

क्रियाविधाय्यपि शास्त्रं नावतिष्ठेतेति तत्प्राप्यपुण्याद्यभावः, यथा अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति **विधेरप्रसिद्धार्थविषयविधायितयाऽसंव्यवहार्यत्वात्तद्विहितक्रियाफलसम्बन्धाभाव आरोग्यार्थिडित्थभक्षणोक्तिवत् ।**

अथोच्येत—कर्तव्यता विधाय इतिकर्तव्यताविधानात् 'एवम्प्रकारमेवाग्निहोत्रं नाम कर्म भवति' इति प्रसिद्धं भविष्यति तस्येतरार्थाविचारेण ।

त्वनवस्थाने जगत्तत्त्वस्य प्रमाणविचारस्य वा **क्रियाविधाय्यपि शास्त्रं नावतिष्ठेत,** तस्यापि लोकतत्त्वान्वेषणात्मकत्वानतिवृत्तेरप्रमाणवत्[1] । इतिशब्दो हेत्वर्थे, अयं हेतुः 'क्रियाविधायिशास्त्रानवस्थानात्[2]' इति, अतस्तत्प्राप्यपुण्याद्यभाव, क्रियाविधायिशास्त्रोपदिष्टक्रियाभिव्यङ्ग्यापूर्वाभाव इत्यर्थः । कतमत् पुनस्तत् क्रियाविधायि शास्त्रम् ? उच्यते, **यथा—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'** इत्येतच्छास्त्रम्[3] । इदं तु पुनः[4] किं विधिः, अनुवादः, अर्थवादः ? उच्यते—विधिः । कथमुपलक्ष्यते विधिरिति ? **अप्रसिद्धार्थविषयविधायितया** लक्ष्यते । अत्राप्रसिद्धमग्निमग्रहानं हवनं विधीयते, स्वर्गस्य सुखसञ्ज्ञस्य तत्प्राप्याश्रयस्य विशिष्टदेशाद्यात्मकस्य वा तदभिलापस्य च कर्तरि सिद्धत्वात् 'स्वर्गावाप्तावुपायोऽग्निहवनम्' इत्युपायस्यापूर्वत्वात् । कथं पुनस्तत्क्रियाभिव्यङ्ग्यापूर्वाभावः ? उच्यते, तदेवोक्तवत्[5] । इतश्च तर्कोपस्थापितलोकतत्त्वज्ञानानपेक्षत्वात्[6] तस्य विधेरसंव्यवहार्यत्वम्, **असंव्यवहार्यत्वात् तद्विहितक्रियाफलसम्बन्धाभावः[7], दृष्टान्त आरोग्यार्थिडित्थभक्षणोक्तिवत्,** यथा आरोग्यार्थिनि पुंसि[8] 'डित्थं भक्षय' इत्युक्तिस्तत्क्रिया च निष्फले अप्रसिद्धत्वादेव त्वदुक्तिक्रिये[9] अशक्यप्राप्त्यर्थे चेत्यशक्यप्राप्त्यादिसामान्यान्निर्विषयत्वतुल्यत्वं तथापि ।

अथोच्येतेत्यादि । अत्राह—मा मंस्था साङ्ख्यादिवत्तुल्यत्वमेतस्य, किं कारणम् ? वैधर्म्यात्, ८५१ तद्यथा—**कर्तव्यता विधाय इतिकर्तव्यताविधानात्,** तत्र 'अग्निहोत्रं जुहुयात्[10]' इति कर्तव्यतयाग्निहोत्रं विधीयते, ततः पुनस्तत्र[11] 'विशेष्य[12] इतिकर्तव्यता विधीयते 'तदग्निहोत्रमेवमेव च कर्तव्यम्[13]' इति यद्यथाग्निष्टोमादिसंस्थाविशेषद्रव्य-गुण-देवता-कर्तृ-काम-काल[14]-स्थानादिविशेषैश्च, 'वसन्ते ब्राह्मणो यजेत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वाजपेयेन[15][16] वैश्यः ।' 'होलाका प्राच्यैः, उद्वृषभयज्ञ उदीच्यैः[17] [ ] ।

---

१ माणात् प्र० ॥ २ स्थाना इति य० । स्थान इति भा० ॥ ३ अग्नौ ज्योतिर्ज्योतिरग्नौ इत्यग्निहोत्रं जुहुयात् एतद्वै वाचस्सत्यम् । द्वादश रात्रीरग्निहोत्रं जुहुयाद् या वा अभेतानवेदास्तनूस्तयैव प्रजा हिनस्ति । इति कृष्णयजुर्वेदस्य काठकसंहितायाम् ६।७ । यस्याहुतेऽग्निहोत्रेऽपरोऽग्निरनुगच्छेत् तत एव प्राञ्चमुद्धृत्यान्ववसायाग्निहोत्रं जुहुयात् अथाभिमन्त्रयेत ।' इति कृष्णयजुर्वेदस्य मैत्रायणीसंहितायाम् १।८।८ ॥ ४ इदं पुन भा० ॥ ५ दैवो रं० ही० विना० ॥ ६ स्थापितलोकतत्त्वज्ञाना प्र० ॥ ७ हार्यत्वात् तद्विहित य० ॥ ८ र्थिनि पुंसि य० ॥ ९ त्वदुक्त क्रिये प्र० ॥ १० अग्नि जु यात् प्र० ॥ ११ पुनपुर वि पा० रं० ही० ॥ १२ विशेषेति य० ॥ १३ वमेव रेव च य० । वमेव च भा० ॥ १४ कर्तृकामाकाल हीं । कर्तृकामकला पा० वि० रं० ही० । कर्तृकाल भा० ॥ १५ ब्राह्मणो वसन्त आदधीत ब्रह्म हि वसन्तः । तस्मात् क्षत्रियो ग्रीष्म आदधीत क्षत्रं हि ग्रीष्मः । तस्माद्वैश्यो वर्षासु आदधीत विड् हि वर्षाः । इति शुक्लयजुर्वेदसम्बन्धिनि शतपथब्राह्मणे २।१।३।५ । वसन्तो ब्राह्मणस्याधानकालः । ग्रीष्मो हेमन्तश्च राजन्यस्य । शरद्वैश्यस्य ।' इति कृष्णयजुर्वेदसम्बन्धिनि सत्याषाढश्रौतसूत्रे ३।२ ॥ १६ वाजयेत य० ॥ १७ होलाको प्राच्य भा० । होलाको प्राचे य० । तस्माद् होलाकादयः प्राच्यैरेव प्रयुज्यन्ते । आह्नीनैबुकादयो दाक्षिणात्यैरेव उद्वृषभयज्ञादय उदीच्यैरेव —शाबरभा० १।३।१५ । होलाकादयः प्राच्यैरेव क्रियन्ते । वसन्तोत्सवो होलाका । उद्वृषभयज्ञादय उदीच्यैः ज्येष्ठमासस्य पौर्णमास्यां बलीवर्दानभ्यर्च्य धावयन्ति सोऽयमुद्वृषभयज्ञः '—इति जैमिनीयन्यायमालायां सायणमाधवीये भाष्ये १।३।८।१५-२३ ॥

नतु चैवमपि कर्तव्यताप्रतिपत्तिर्लौकिककर्तव्यताद्यर्थतत्त्वानुसृतेरेव, कर्तव्यताविधानानन्तरं चेतिकर्तव्यतावसरः, यथा घटादिकर्तव्यतायां विहितायां 'घटं कुरु' इति ततः पुनरितिकर्तव्यताक्रमः—एवं निर्वर्तयेरिति। न तु घटवदग्निहोत्रशब्दः

वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः, वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति, स एवास्मिन् भूतिं निधत्ते [तै० सं० २।१।१] इत्यादि त्वया प्रतिपत्स्यत इति शिष्यमनुशास्ति। तत उत्तरकालम् 'एवम्प्रकारमेवाग्निहोत्रं नाम कर्म भवति' [इति] विशेषविधायित्वार्थप्रतिपत्तिबलेन प्रसिद्धं भविष्यति तस्य शिष्यस्य साद्वयादिविवेकप्रयत्नवैलक्षण्येन इतरार्थाविचारेण घटपरमाण्वादिकार्यकारणसामान्यविशेषादिस्वरूपाविचारेणेति ।

अत्रोच्यते—ननु चैवमपीत्यादि । नन्वित्यनुज्ञापने, 'कर्तव्यता' इति वा कर्तव्यताप्रतिपत्तिरग्निहोत्रादिविषया सा प्रतिपत्तिर्लौकिककर्तव्यताद्यर्थतत्त्वानुसृतेरेव, प्रत्यक्षं पतनं प्रतिपत्तिः, सा द्विविधा—आध्यात्मिकी बाह्या चेति, तत्राध्यात्मिकी 'इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यम्' इत्यादिका बुद्धिरेव, बाह्या तु द्विपदचतुष्पदधनधान्याद्यर्थं समीक्रिया । सा द्विविधापि लोकप्रसिद्धमेवार्थमनुसृत्य भवितु-
८५-२ मर्हति नाप्रसिद्धम्, तस्मादग्निहोत्रादिप्रतिपत्तिरपि लोकतत्त्वानुसृतेरेव, नान्यथा । अन्यथा किंविषया सा स्यान्नालिकेरद्वीपजातवृद्धस्य गोधेनुप्रतिपत्त्यभाववत्? इति तद्दर्शयति—कर्तव्यताविधानानन्तरं चेतिकर्तव्यतावसरः, 'लौकिककर्तव्यताद्यर्थतत्त्वानुसृतेरेव' इति वर्तते । प्रसिद्धकर्तव्यताप्रतिपत्त्यनन्तरं प्रसिद्धेतिकर्तव्यताप्रतिपत्त्यवसर इति न्यायः, तदुभयमलौकिकत्वादग्निहोत्रसामान्यस्याग्निष्टोमादिविशेषस्य द्रव्यमन्त्रदेवतर्त्विग्नियमाद्यात्मनश्चाप्रसिद्धेरयुक्तम् । किञ्चान्यत्, तन्न्यायासम्भवश्च । तद्व्यावर्तनार्थं लोकप्रसिद्धकर्तव्यतेतिकर्तव्यतावैधर्म्यं दर्शयन्नाह—यथा घटादिकर्तव्यतायां विहितायां घटं कुर्विति ततः पुनरितिकर्तव्यताक्रमः, एवमिति प्रकारनिर्देशं दर्शयति, मृत्पिण्डं चक्रमूर्द्धनि संस्थाप्य दण्डेन भ्रमयित्वा द्वाभ्यां पाणिभ्यां शिवकाद्याकारविशेषक्रमेण निर्वर्तयेरिति प्रसिद्धकर्तव्यताविधानोत्तरकालं प्रसिद्धेतिकर्तव्यताविधानं घटादिविषयमुपपन्नं प्रसिद्धार्थत्वात्, न त्वग्निहोत्रकर्तव्यतायाः पशुवधादीतिकर्तव्यतायाश्च प्रसिद्धिः, अप्रसिद्धत्वादग्निहोत्रशब्दस्य काञ्चिदपि इतिकर्तव्यतां कर्तव्यतां वा वक्तुमशक्तत्वात्, अत आह—न तु घटवदग्निहोत्रशब्दः काञ्चिदपि कर्तव्यतां ब्रवीति, 'अपि'शब्दादितिकर्तव्यतामपीति ।

---

१ स एवास्मिं प्र० ॥ २ भूमिं निधत्ते पा० डे० लीं० रं० ही० । भूमिं विधत्ते वि० । भूमिं धत्ते भा० । "स एवैनं भूतिं गमयति"—इति कृष्णयजुर्वेदस्य तैत्तिरीयसंहितायां पाठ २।१।१। "स एनं भूत्यै निनयति"—इति कृष्णयजुर्वेदस्य मैत्रायणीसंहितायां पाठ २।५।१ ॥ ३ °रमग्नि° भा० ॥ ४ °विधानार्थप्रति° य० ॥ ५ सुसिद्धं प्र० ॥ ६ °क्षाप्येन भा० । °क्ष्यत्वेन य० ॥ ७ °कार्या° य० । °कार्पा° भा० ॥ ८ °तथानु° प्र० ॥ ९ °पत्तिस्या प्र० । °पत्तिः स्या भा० ॥ १० चे तत्रा° य० । वेक तत्रा° भा० ॥ ११ °स्य धेनु° य० ॥ १२ °व्यविधा° य० ॥ १३ °व्य प्रति° य० ॥ १४ °तत्विग्नि° य० ॥ १५ °न्यस्तन्यायासंभवं च य० । °न्यत्तन्याय्यासंभवं च भा० ॥ १६ °नार्थलोक° प्र० ॥ १७ °रनिर्देश्यं भा० ॥ १८ °विशेषाक्रमेण प्र० ॥ १९ नवाग्नि° पा० डे० ली० । °नग्नि° भा० ॥ २० °पशुवंधादी° भा० ॥ २१ °व्यता कर्तव्यतां य० ॥

काञ्चिदपि कर्तव्यतां ब्रवीति। जुहोतेर्हि धातोरयं प्रत्यय उत्पन्नः स तत्कर्तव्यतां हित्वा पदान्तरकर्तव्यतायां कथं प्रवर्तेत? अथ तदेव तत्, प्रसिद्धिविरुद्धं पुनरुक्तं च।

पदान्तरकर्तव्यतायां तावत् परिहारः—हवनं पदान्तरकर्तव्यतामपेक्षते वाक्यन्यायेन सामर्थ्यात्। सामर्थ्यं घटवदग्निहोत्रशब्दस्याप्यर्थवत्त्वायेष्यते। न चेदेव

स्यान्मतम्—'जुहुयात्' इत्ययं तर्हि ब्रवीति, हु दानादनयोः [पा० धा० १०८३] इत्यस्याः प्रकृतेः क्रियावाचिन्या विध्यर्थलिङ्[1]प्रत्ययान्तत्वात्, तच्च हवनमग्निविषयम्, अतस्तत्कर्तव्यतां 'जुहुयात्' इत्येष शब्दो ब्रवीति। अत्रोच्यते—एवमपि वदतस्तव, सत्यमयं ब्रवीति तत्कर्तव्यताम्, किन्तु हवन- ८६ मात्रस्य, तस्याप्यप्रसिद्धस्यैव, न त्वग्निहोत्र[2]कर्तव्यताम्, 'जुहुयात्' इत्याख्यातस्य पूर्वापरीभूतानिष्पन्नासत्त्वक्रियार्थवाचित्वात्, नाम्नः पिण्डितनिष्पन्नार्थवाचित्वात्। किं कारणम्? विवि[3]क्तार्थवाचित्वाभिमतानां शब्दानां पदान्तरार्थावृत्तेः। तत आह—जुहोतेर्हि धातोरयं प्रत्यय उ[4]त्पन्नः स तत्कर्तव्यतां हित्वा पदान्तरकर्तव्यतायां कथं प्रवर्तेत? प्रत्ययग्रहणे प्रकृतिप्रत्ययौ प्र[5]त्ययार्थं सह ब्रूतः [पा० म०भा० ३।१।१७] इति परिभाषितत्वादाप्तेः।

स्यान्मतम्—अथ तदेव तत्, यदेवाग्निहोत्रं तदेव हवनं यदेव हवनं तदेवाग्निहोत्रमिति। एतत् तावदनयो[6]रैकार्थ्यं प्रसिद्धिविरुद्धम्, नामाख्यातयोर्भिन्नार्थत्वप्रसिद्धेः। अभ्युपेत्याप्येकार्थवाचित्वमनयोः पौनरुक्त्यपरिहारार्थं लाघवार्थं च 'जुहुयात्' इत्येवास्तु, किम् 'अग्निहोत्रम्' इत्यनेन?

इतरोऽप्रसिद्धिपौनरुक्त्यपरिहारार्थमाह—पदान्तरकर्तव्यतायां तावदित्यादि। तावच्छब्दः क्र[7]मार्थे, यत् तावदुक्तं पदान्तरकर्तव्यतायां कथं प्रवर्तेत[8] इत्यत्र परिहारः। अस्मिन् परिहारेऽभिहिते[9] पौनरुक्त्याप्रसिद्धिदोषावपि 'तदेव तत्' इत्येतत्सङ्गतौ परिहृतावे[10]वेत्यभिप्रायः। तत्र हवनं पदान्तरकर्तव्यतामपेक्षते, केन न्यायेन? वाक्यन्यायेन, को वाक्यन्यायः? [11]भेदसंसर्गाभ्यां परस्पराकाङ्क्षा सम्बन्धः, त[12]याकाङ्क्षया पदान्तरार्थे [13]वर्तते पदम्, यथा 'सब्रह्मचारिणा सहाधीते' इत्युक्ते येन समानो ब्रह्मचारी [14]सब्रह्मचारी तेन सब्रह्म[15]चारिणा सहाधीते तेनैव समान इत्याकाङ्क्षा भवति सामर्थ्यात्, नान्येन केनचित्। सामर्थ्यमपेक्षेत्यर्थः। [16]ननु यथा पदार्थे परिच्छिन्ने घट इति न पदार्थान्तरमपेक्ष्यते ८६ पदेन। सा पुनरपेक्षा घटवत् घटशब्दवत्, अभेदनिर्देशाद् घटार्थत्वेन [17]घटशब्द उक्तः, घटशब्दस्या[18]र्थवत्त्ववदग्निहोत्र[19]शब्दस्याप्यर्थवत्त्वा[20]येष्यते, अन्यथाग्निहोत्रशब्दोऽनर्थकः स्यात्, तन्मा भूदानर्थक्य-

---

[1] लिङ्प्रत्यया प्र० ॥ २ होत्रे कर्त प्र० ॥ ३ विजक्ता प्र० ॥ ४ उत्पन्न सत्कर्तव्यता भा० पा० ८० लीं। उत्पन्न सत्कर्तव्यता वि० रं० ही०। अत्र उत्पन्नस्तत्कर्तव्यताम् इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ५ प्रत्यया सह य ॥ ६ इतराग्र य ॥ ७ क्रमार्थो य० ॥ ८ प्रवर्तेतेऽन्यत्र भा० पा० ८० लीं०। प्रवततेऽन्यत्र वि०। प्रवर्तते इत्यत्र रं० हीं० ॥ ९ भिहितो प्र ॥ १० हृतवेवे भा०। हृत चेवे य० ॥ ११ भेद स य० ॥ १२ तयाद्रूकाम्क्षया य ॥ १३ वर्तते भा० ॥ १४ सब्रह्मचारी य० प्रतिषु नास्ति ॥ १५ चारिणो प्र० ॥ १६ ननु भा० वि०। नमु पा० ८० लीं। समु रं० ही० ॥ १७ घट° शब्द य० ॥ १८ स्यार्थवत्त्वविद पा० ८० लीं० वि०। स्यार्थवित्त्वनियमाद् रं० हीं०। स्यार्थवद भा० ॥ १९ होत्रसर्वस्याप्यथयरवा° भा। होत्रशब्दोस्यस्याप्यर्थवत्त्वा य० ॥ २० त्वापक्षते वि ॥

ततोऽग्निहोत्रशब्दः प्रमादाधीत आपद्येत । तत एवं वचनव्यक्तिर्भवति 'अग्निहोत्राख्यं हवनं कुर्यात्' इति, यथा घटं कुर्यादित्युक्ते घटक्रियां कुर्यादिति ।

एतदयुक्तं दृष्टान्तवैधर्म्यात् । न हि किञ्चिदग्निहोत्रं नाम हवनं घटवत् प्रसिद्धं यदनूद्योच्येत यदग्निहोत्रसंज्ञकं हवनं तत् कुर्यादिति, नापि हवनं यत् कुर्यात् तदग्निहोत्राख्यमिति, वाक्यान्तरेण प्रमाणान्तरेण वाऽप्रसिद्धत्वात् । अत एव तूभय-

---

मित्याकाङ्क्ष्यते[1] । **न चेदेवं ततो** दोष इति, यदि तु निरपेक्षोऽग्निहोत्रशब्दो हवनप्रकृत्यर्थमात्र एव वर्तते[2] ततः को दोषः ? **ततोऽग्निहोत्रशब्दः प्रमादाधीत आपद्येत,**[3] अग्निशब्दस्य च न पृथक् कश्चिदर्थो हवनप्रकृत्यर्थमात्रत्वात् स्यात्, ततश्च दशदाडिमादिश्लोकावयववचन[4] प्रमादाधीन आपद्येत निराकाङ्क्षत्वात्, न पुनरेवमिष्यते । **तत एवं वचनव्यक्तिर्भवति—अग्निहोत्राख्यं हवनं कुर्यात्** अग्निहोत्रसंज्ञक्रियाकाङ्क्षहवनं[5] **कुर्यादिति** । किमिव ? **यथा 'घटं कुर्यात्' इत्युक्ते** सामान्यचोदनायाः प्रवृत्तादृ विशेषाभिसम्बन्धमन्तरेण नैरर्थक्यं स्यात्, तन्मा भूदिति घटं कुर्याद् **घटक्रियां कुर्यादिति** वचनव्यक्तिस्तथाग्निहोत्रं जुहुयादिति ।

आचार्य आह—**एतदयुक्तं[6] दृष्टान्तवैधर्म्यात्,** अर्थभेदासिद्धेः, अभ्युपेत्यापि आकाङ्क्षाक्षितमर्थभेदमग्निहोत्रहवनयोरप्रसिद्धेर्दृष्टान्तेन प्रसिद्धेन घटेन[8] वैधर्म्यमिति तद्दर्शयति—**न हि किञ्चिदग्निहोत्रं नाम हवनं घटवत् प्रसिद्धं यदनूद्योच्येत,** यथा घटं लोके प्रसिद्धमनूद्य तद्विषयं कर्म कुर्याद् घटं कुर्यादित्युच्यते न तादृगनुवदनमत्रोपपन्नमप्रसिद्धत्वादग्निहोत्रहवनयोर्नाप्याकाङ्क्षाक्षितमैक्यमस्तीति तद्दर्शयति[11] वैधर्म्येण—**यदग्निहोत्रसंज्ञकं[12] हवनं तत् कुर्यादिति,** अग्निहोत्रहवनयोरैक्येन प्रसिद्धौ सत्यां तद्विषयं करणमनुविधीयेत ।

८७-१ **नापि हवनं यत् कुर्यादिति** हवनक्रियामनूद्य **तदग्निहोत्राख्यमि**त्यैक्येन विधानं युज्येत[13] **वाक्यान्तरेणा**ग्निहोत्रस्य हवनस्य वा अविहितत्वाल्लोके शास्त्रान्तरेषु वा **प्रमाणान्तरेण वाऽप्रसिद्धत्वा**दग्निहोत्रहवनक्रिययोः कथमनूद्य विधानं[14] घटते ?

अत एव तूभयमप्यशक्यम् । अत इत्येतस्मादनन्तरोक्ताद्धेतोर्वाक्यान्तरेण प्रमाणान्तरेण वाऽप्रतीतत्वादुभयमप्यशक्यं विशेषणं विशेष्यं च प्रधानमुपसर्जनं च विधिरनुवादश्च शेषः शेषी च उत्सर्गोऽपवादश्च, अन्यतरस्याप्यर्थाप्रतीतेः । किं हवनक्रियाविशेषणमग्निहो[त्रं विशेष्यम् ? अग्निहो]त्रविशेषणं हवनं विशेष्यम् ? एवं विध्यनुवादप्रधानोपसर्जनोत्सर्गापवादशेषशेषिभावादिषु[15] खपुष्पखरविषाणयोरिवायुक्तमिति । तुशब्द एव-[16]

---

१ °कांक्षप्यते पा० डे० लीं० । °कांप्यते र० हीं० । °कांक्षते वि० ॥ २ वर्तेते° भा० ॥ ३ आपद्यते य० ॥ ४ °चन° भा० पा० डे० लीं० । °चने° वि० ॥ ५ °संज्ञाक्रियाकांक्षा(क्ष्य?)हवनं प्र० ॥ ६ एतदुक्तं य० ॥ ७ आकांक्षतमर्थं° य० ॥ ८ घट य० । घटा भा० ॥ ९ °मात्रो° प्र० ॥ १० °क्षाप्णक्र° पा० डे० लीं० र० हीं० । °क्षात्मक° वि० ॥ ११ वै हि धर्म्येण डे० लीं० । ने हि धर्म्येण पा० । नाहि धर्म्येण र० हीं० । न हि धर्म्येण वि० ॥ १२ °त्रं संज्ञिकं य० ॥ १३ युज्येत रेणाग्निहोत्रस्य प्र० ॥ १४ विधान प्र० ॥ १५ °शेषभावादिषु य० । अत्र "°शेषिभाव दि खपुष्प°" इत्यपि पाठः स्यात् ॥ १६ एवकार्थत्वे विशेषेण पा० डे० लीं० वि० । एवकार्थत्वे विशेषणे र० हीं० । एकार्थत्वे विशेषेण भा० ॥

मप्यशक्यम्, यदि विशेष्येण एव विशेषणीयम्—हवनं कुर्यात् तच्चाग्निहोत्रसंज्ञक-मग्निहोत्रं वा हवनमिति, एतदयुक्तम्, अनुवादविधिविषयत्वे वाक्यभेदापत्तेः । नापि घटादि कर्तव्यतायामिव काचित् क्रिया प्रसिद्धा यथाग्निहोत्राख्यता हवनस्यातिदिश्येत हवनाख्यता वाग्निहोत्रस्य ।

कारार्थविशेषणे, प्रोक्तवदेव विशेषणत्वादि न घटत इति निर्दिशति । कथमशक्यमिति चेद्दर्शयति—यदि विशेष्येत एव विशेषणीयम्—हवनं कुर्यात् तच्चाग्निहोत्रसंज्ञकमिति हवनक्रियाग्निहोत्रं विशेष्येत, अग्निहोत्रं वा हवनमिति 'यदग्निहोत्रं तद्धवनं कर्म' इत्यग्निहोत्रेण हवनं विशेष्येत । इति प्रदर्शने, एवं विशेष्येत यदि विशेषणविशेष्यतया प्रयोजनमवश्यम्, तच्च नैव शक्यमप्रसिद्धार्थत्वात् । यदप्युक्तम् 'अनूद्याग्निहोत्रं हवनक्रिया विधीयते, हवनं वानूद्याग्निहोत्रं विधीयते' इति, एतदयुक्तं वाक्यभेदापत्तेरित्यत आह—अनुवादविधिविषयत्वे वाक्यभेदापत्तेरिति, तत्रैकमनुवादमन्येन विधायकम्, तयोरन्यतरद् यथेष्टं तेऽस्तु, ततो भिन्नार्थत्वाद् वाक्यभेदोऽनयोरापद्यते, यथा 'कुँण्डलोऽयं देवदत्तो गेहे' इति प्रसिद्धमर्थमनूद्य ८७ 'आनयैनम्' इत्यानयनं विधीयते, 'देवदत्तमानय' इति देवदत्तानयनं वा विधाय अविदुषे 'य कुण्डलोऽनयो' इत्यनुवादः प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थानुवादविधिविषये द्वे वाक्ये, एकमेकस्यानुवादत्वेऽन्यस्य च विधित्वे वाक्यभेदापत्तिः, अतो नैषोऽपि व्याख्यानोपायः शोभन इति ।

स्यान्मतम्—न वाक्यभेदापत्त्यादिदोषाः सम्भवन्ति, क्रियाया एव विषयत्वात् । यथोक्तम्—नैतद्धि चोद्यते—अनड्वान् नानड्वानिति । किं तर्हि? आलम्भयोगो नाम्ना युज्यते इति [पा० म० भा० १।१।४३] तथा ह्यभावसिद्धं द्रव्यम् क्रिया चैव हि भाष्यते [पा० म० भा० १।३।१] इति । तस्मादग्निविषया हवनक्रियैव विधीयते, अतो ह्यण्वर्थविषयस्य नास्ति द्रव्यस्याविषयप्रतिषेध्यत्वात् 'घटं कुर्यात्, मा कार्षीत्' इति, किं तर्हि? घटक्रियां कुर्यादिति, तथा हवनं कुर्यादग्निहोत्रं कुर्यादिति हवनाग्निहोत्रनिर्देशयोरनिर्देशो न्याय्य इति । अत्रोच्यते—नापि घटादिकर्तव्यतायामिवेत्यादि । यथा घटादिविषया कर्तव्यता मृदानयनमर्दनोद्धुप-ध्मानादिका लोके प्रसिद्धा न तथा काचिदग्निहोत्रकर्तव्यता नाम प्रोक्षणबर्हिरास्तरणाज्यप्रक्षेपाद्युपध्मानादिका मन्त्रपूर्वक्रिया प्रसिद्धा यथा कर्तव्यतयातिदिश्येत हवनाख्ययाग्निहोत्राख्यता अग्निहोत्राख्यया वा हवनाख्यतातिदिश्येतेति ।

अथ पुनरित्यादि । अथेत्यधिकारान्तरं पक्षान्तरमधिकारान्तरम् । अनन्तरोक्तविधिना न निर्वहति 'हवनं कुर्याज्जुहुयात्' इति हवनक्रियाग्निहोत्रानुवादः इत्यस्मिन्नर्थेऽप्रसिद्धत्वाद्विशेषणविशेष्यत्वानुपपत्तेर्वास्य ८८

---

१ तत्कथनकर्म भि० ॥ २ येन य ॥ ३ एतदुक्त य ॥ ४ य अनु डे० टी० भि० । य यु(दा?)नु स० भ० भि० । य य(दा?)नु पा ॥ ५ कुदाल्योदे पा० ड० टी डे० टी० । कुदाल्योदे भि० ॥ ६ प्रसिद्धायानु य ॥ ७ यादे य० ॥ ८ एकमेक य० ॥ ९ नाद्रा य ॥ १० तमू वाक्य य० ॥ ११ अनड्वाननड्वानिति किं नाम्नास्य यो य० ॥ १२ ग्निहोत्र कुर्यादिति हवनाग्निहोत्रं कुर्यादिति हवना य० ॥ १३ यारिनिर्देशो भा० । 'यारितिर्देशो य० ॥ १४ दृश्यतां पृ १०३-२ ॥ १५ माध्युप य ॥ १६ दृश्यतां पृ० १०३-२ ॥ १७ तरोपक्षान्तर भा । न्तरापक्षान्तर य ॥

अथ पुनरेवमनिर्वहत्युच्येत – नैव हवनं कुर्यादिति पक्षः, किं तर्हि ? अग्निहोत्रं कुर्यादिति पक्षान्तरमाश्रीयते, अग्निहोत्रशब्दे जुहोतेर्धातोर्दर्शितार्थत्वात् कर्तृप्रत्ययार्थे च कृञः ।

एवमपि कर्तृप्रत्ययकृञ्दर्शनेन जुहोत्यर्थत्यागभेदाभ्यां जुहोत्यर्थत्यागभेदवत् सर्वधात्वर्थविशेषत्यागात्तत्त्यागापत्तिरपि, विशेषाभावे निराश्रयस्य सामान्यस्याभावात् ।

भेदापत्तेश्च द्रव्यस्य क्रियाया[1] वा विधाने निर्वोढुमशक्ये परेणोच्येत **– नैव हवनं कुर्यादिती**त्यादि कर्तव्यतावाक्यतात्यागेन परिहारं मन्यते । पक्षान्तरसंश्रये सोपपत्तिकं[2] निर्दोषं च कतमत् पुनः पक्षान्तरम् ? इत्यत आह **– किं तर्हि ? 'अग्निहोत्रं कुर्यात्' इत्येतत् पक्षान्तरमाश्रीयते** । उपपत्तिश्चात्र **– अग्निहोत्रशब्दे जुहोतेर्धातोर्दर्शितार्थत्वात्[3] कर्तृप्रत्ययार्थे च कृञो[4]** दर्शितार्थत्वात् । अयं[5] हि 'जुहुयात्' इति 'हु'धातुर्लिङ्[6]प्रत्ययान्तः, स च लिङ् कर्तरि विहितः, कर्तरि कृल्ल[7] कर्मणि च [पा० ३।४।६७,६९] इति, कर्तृशब्दश्च कृञ्प्रकृतिस्तृजन्तः[8], कर्तरि क्रियाया निर्वर्तकेऽर्थेऽभिधेये कृतो लकाराश्च भवन्तीति । तथा कर्मणि विहितोऽपि कृल्लकारो वा कृञर्थ[9] नातिवर्तते । भावे विहितस्तु क्रियामात्रार्थत्वात् कृञर्थे[10] एव । 'किं करोति ?' इति सर्वक्रियाविशेषेषु पचत्यादिषु "विशेषण[11]प्रश्नप्रदर्शनात् 'जुहुयात्' इत्ययं कुर्यादर्थ एव, तथा 'भूयते देवदत्तेन सुप्यते देवदत्तेन' इत्येवमाद्यकर्मकेष्वपि स्वपिति भवतीति । अग्निहोत्रशब्देन पुनस्तद्विशेषभूतो जुहोतेरर्थोऽभिहित एव, तस्मात् 'अग्निहोत्रं कुर्यात्' इत्ययमर्थ इति ।

अत्रोच्यते **– एवमपि कर्तृप्रत्ययकृञ्दर्शनेने[12]**ति परोक्तं प्रत्युच्चारयति । एवमिदानीं कुर्यादग्निहोत्रमित्येतत् पक्षान्तरं होत्रशब्दोक्तहवनार्थता कर्तृप्रत्ययान्तकृञर्थता च जुहोतेरित्येतत् त्वयोक्तं मया युक्त्या सहावधारितं तथा**पि जुहोत्यर्थस्य त्यागोऽर्थभेदश्च,** जुहोत्यर्थत्यागस्तावत् कर्तृविशिष्टक्रियासामान्यमात्रवाचित्वाभ्युपगमात् जुहोतेश्च क्रियाविशेषत्वात् सामान्यविशेषयोश्चान्योन्यतो भिन्नत्वात् 'कुर्याच्छब्दार्थं जुहुयाच्छब्दो ब्रवीति' इति वचनाद् होत्रशब्देन दर्शितार्थत्वाज्जुहोति[13]रनर्थक इति त्वयैव त्यक्तत्वात् । ततश्च जुहुयाच्छब्दोऽपि होत्रशब्दार्थं होत्रशब्दोऽपि जुहुयाच्छब्दार्थं ब्रवीतीति नामाख्यातयोः प्रत्येकं द्व्यर्थवृत्तित्वाद्भेदश्च होत्रशब्दः क्रियावाची नामवाची च तथा जुहुयाच्छब्दोऽपीति । [14]एवं सति शब्दार्थसङ्करः प्रसिद्धिविरोधश्च जायते, यथा – **पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाऽऽचष्टे व्रजति[15] पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यवसानं मूर्तं सत्त्वं नामभिर्व्रज्या पंक्तिः[16]** [निरुक्त० १।१] इति । ततश्च[17] **जुहोत्यर्थत्यागभेदाभ्यां** हेतुभ्यां

---

१ क्रियया य० ॥ २ °पत्तिके प्र० ॥ ३ जुहोतिधातो° भा० ॥ ४ कुच्छो य० ॥ ५ अयं जुहु° य० ॥ ६ °लिंद्° प्र० ॥ ७ "कर्तरि कृत् ३।४।६७, भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा ३।४।६८, ल कर्मणि भावे चाकर्मकेभ्य ३।४।६९।"–इति पाणिनीयव्याकरणे ॥ ८ °स्त्वजन्तः प्र० । "ण्वुल्तृचौ"–पा० ३।१।१३३ ॥ ९ कृत्सर्वं प्र० ॥ १० कर्तर्थे भा० । कर्त्रर्थे पा० । कत्रैर्थे वि० । कर्त्तर्थ र० ही० । कत्रार्थ डे० ली० ॥ ११ विशेषेण भा० । अत्र 'अविशेषेण' इत्यपि पाठ स्यात् ॥ १२ °कृद्दर्श° प्र० ॥ १३ °जुहोते° य० ॥ १४ एवं शब्दार्थ° य० ॥ १५ प्रजति भा० डे० ली० पा० । प्रेजति वि० । परंजति र० ही० ॥ १६ पत्तिः य० । पंक्तिः भा० । "पूर्वापरीभूत भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तं मूर्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिर्व्रज्या पक्ति "–इति यास्कनिरुक्ते पाठ ॥ १७ ततश्च य० प्रतिषु नास्ति ।

आसन्नश्रुताग्निहोत्रकर्तव्यत्वान्नेति चेत्, न, आसन्नतरश्रुतजुहोत्यर्थत्यागात्। परपदार्थविधानेऽपि च पदान्तरपरिश्रुतहोत्रमात्रवृत्तत्वाज्जुहुयादर्थमात्रमेवेति

जुहोत्यर्थत्यागमेव्या सर्वधात्वर्थविशेषत्यागः, यथा जुहोति कर्तृप्रत्ययः तद्वत्कृत्यप्रत्ययेऽन्येऽपि पचतिपठत्यादयः सर्वे धातवो धातुत्वात् तद्वाचिनः, तस्मात् सर्वधात्वर्थविशेषाभ्यस्ताः, विशेषशब्दस्य भेदार्थत्वान्नामा स्यात्तद्वयवृत्तित्वात् पूर्वोक्तकरोत्यर्थवद् भिन्नार्थता च। ततश्च **सर्वधात्वर्थविशेषत्यागात् तत्त्यागा-पत्तिरपि**, तस्य कृञर्थस्य सर्वधात्वर्थसामान्यभूतस्यापि त्याग आपद्यते। किं कारणम्? **विशेषाभावे निराश्रयस्य सामान्यस्याभावात्**, 'करोति' इत्युक्ते 'किं करोति? जुहोति पचति पठति' इत्यादिविशेष-समाश्रयेण विना करोतेरर्थाभावात्। अपि च सङ्कर-प्रसिद्धिविरोध-गौरवैक्त्यदोषाश्च।

आसन्नश्रुताग्निहोत्रकर्तव्यत्वान्नेति चेत्। स्यान्मतम्—संसर्गादिभेदभिन्नात् सामर्थ्यान्निश्चयाय ८९ व्यवच्छेदो विशेषलिङ्गाद् भवति। यथाह—

> संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
> अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः ॥
> सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
> शब्दस्यार्थव्यवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥		[वाक्यप० २।३१७-३१८] इति।

तत्र यच्छब्दसंनिधिसम्भवं सामर्थ्यं तद् व्यवच्छेदकारणमिहाप्यस्ति, तद्यथा—आसन्नश्रुतोऽग्निहोत्रशब्दः, तयोदितकर्तव्यतैवात्र सम्बध्यते। तस्मात् जुहोत्यर्थस्येतरव्यवच्छेदप्रत्ययार्थत्वदर्शने सत्यपि 'अग्निहोत्रं कुर्यात्' इति हवनविषयस्यैव करणस्योपादानात्। चेदित्याशङ्कायाम्, एवं चेन्मन्यसे, तदपि **न, आसन्नतरश्रुतजुहोत्यर्थत्यागात्**, येनासन्नश्रुताग्निहोत्रसांनिध्यात् तदर्थोपादानं न्याय्यं मन्यसे ततोऽप्यासन्नतरश्रुत-जुहोतिशब्दार्थोपादानं न्याय्यतरं किं न मन्यसे? स चार्थस्त्यक्तस्त्वया, तदुपादानेऽपि चाप्रसिद्धतादिदोषा-सदवस्था, स्वपदार्थं त्यक्त्वा पदान्तरार्थे कथं वर्ततेति चोक्तम्।

अभ्युपेत्यापि पदान्तरार्थाभिधानं दोष उच्यते—**परपदार्थविधानेऽपि च पदान्तरपरिश्रुतहोत्र-मात्रवृत्तत्वाज्जुहुयादर्थमात्रमेवेति** कुर्यादर्थोपादानमभेदकम्। पदान्तरेऽग्निहोत्रपदे परिश्रुतं परि-गतं ज्ञातम्, किं तत्? होत्रमात्रम्, न तद्व्यतिरिक्तमर्थान्तरं गम्यते, अतो जुहुयादित्येतस्य शब्दस्य योऽर्थ-स्तन्मात्र एव वृत्तः कुर्याच्छब्दः, इतिशब्दो हेत्वर्थे, अस्माद्धेतोर्जुहुयाच्छब्दार्थमात्रत्वादग्निहोत्रं कुर्यादित्यस्याप-

---

१ त्यागभेदत्यागवत् प्र० ॥ २ कृत्स्नम भा० । त्वत्सर्वप्र य० ॥ ३ धान्येव प्र० ॥ ४ कृत्स्न धम्य प्र० ॥ ५ शब्दो प्र० ॥ ६ श्रुतोऽग्नि पा० लि० । श्रुतिग्नि डे० हीं० भ० लीं० ॥ ७ सामर्थ्य य० ॥ ८ दुतकृदुन्दाथ डे० लीं० । दुतसकृदशब्दाथ पा० । दुतदकृ्त्यशब्दाथ लि० । कृदुन्दाथ डे० हीं० ॥ ९ स्यत्रिस्य य० ॥ १० न्यायमत्य प्र० ॥ ११ श्रुताग्नि पा० भ० लीं० । श्रुताग्नि डे० हीं० ॥ १२ शब्दात्मयो य० ॥ १३ त्यक्तमन्यत्र भा० । त्यक्तमात्रत्र डे० लीं० । त्यक्तलत्रत्र लि० । त्यक्तस्त्र डे० हीं० ॥ १४ पदम्पदज्ञान प्र० ॥ १५ यथासन्न य० ॥ १६ वर्ततेति प्र० । दृश्यतां पृ० १२१ पं० ७ ॥ १७ त्यादि प्र० ॥ १८ परपदान्तरपरिश्रुत भा० । अत्र परपदार्थविधानेऽपि इत्यपि पाठः स्यात् ॥ १९ होत्रमात्रं य० ॥ २० स्याद्धोत्र कुर्या प्र० ॥

कुर्यादर्थोपादानमभेदकं तिङ्प्रत्ययार्थैकीभूतप्रकृत्यर्थत्वादग्निसमासासत्त्वात्, अपशब्दश्चायमस्मिन्नर्थे।

८९-२ स्योपादानमभेदकम्, नास्ति भेदोऽस्येत्यभेदकमभिन्नार्थम्। कुतो भिन्नार्थं न भवतीति चेत्, 'हवनं कुर्यात्' इत्यस्माद्वाक्यार्थात्। तस्मात् त एव दोषाः। स्यान्मतम्—मात्रग्रहणासिद्धिरग्निपदविशिष्टसमासत्वात्।[1] न हि होत्रमात्रमेव[2] श्रूयते, किं तर्हि? अग्नेरग्नावग्नये वा होत्रमग्निहोत्रम्, तत् कुर्यादिति भिन्नोऽर्थ इति। एतच्चायुक्तम्,[3] **तिङ्प्रत्ययार्थैकीभूतप्रकृत्यर्थत्वाद्**[4] होत्रमात्रवृत्तत्र सिद्धमेवेत्यर्थः। यत्र तिङ्प्रत्ययार्थेनैकीभूतः प्रकृत्यर्थस्तत्र प्रकृत्यर्थमात्रवृत्तिर्दृष्टा,[5] यथा प्रलम्बतेऽध्यागच्छतीति[6]। वैधर्म्येण कुम्भकारवत् काण्डलाववत् समासत्वात्। कुम्भकारवदेव विशिष्टार्थत्वमिति चेत्, तदपि नोपपद्यते, **अग्निसमासासत्त्वात्,**[7] न ह्यस्ति अग्निशब्दस्य होत्रशब्देन तिङ्प्रत्ययार्थसाकाङ्क्षेण[8] समासः, **सुप् सुपा समर्थेन सह समस्यते**[9] [पा० म० भा० २।१।४] इति वचनात्। तिङन्तेन अस्तिक्षीराश्नीतपिबतादिषु[10] समासदर्शनाददोष इति चेत्, न, परिगणितेभ्योऽन्यत्राभावात् तिङन्तप्रतिरूपकनिपात[11]सुबन्तत्वाच्च[12] तेषाम्, **अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः** [पा० ४।४।६०] इति प्रातिपदिकवत्। अन्यथा 'देवदत्तः पचति' इत्यत्रापि समासः स्यात्, न तु भवति। सामर्थ्याभावाच्च समासानुपपत्तिः, **समर्थः पदविधिः** [पा० २।१।१] इत्यधिकारात्। असामर्थ्यं च सापेक्षत्वात्, यथा शङ्कुला[13]खण्डप्रातिपक्ष्येण[14] 'पश्य शङ्कुलया खण्डः' इति समासानुपपत्तिस्तद्वत्। न च प्राधान्याभावात् 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' इत्यनेन तुल्यम्, तत्र तु प्रधानत्वाद्भवति समासः। उक्तं तु—**भवति हि प्रधानशब्दस्य सापेक्षस्यापि समासः** [पा० म० भा० २।१।१] इति।[15] न चात्राग्निशब्दस्य होत्रशब्दस्य वा प्राधान्यमस्ति, कुर्याज्जुहुयादिति तिङन्तस्य क्रियावाचिनः प्राधान्यात् साधनानां साध्यसिद्ध्यर्थप्रवृत्तित्वात्।

९०-१ **अपशब्दो**[16] हि नाम अर्थविशेषविवक्षायां तदभिधायित्वरूपातिक्रमात्। यथा गोणीशब्दो हि सास्नादिमत्यर्थेऽ[17]पशब्दः, स तु आवपने शब्द एव। तथा गावीशब्दोऽपि गव्यर्थसेयेऽशक्तिः[18] 'गावी' इत्यस्मिन्नर्थे शब्द[19] एव। तथा चोक्तम्—

> **यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद्व्यवहारयुक्ते।**
> **सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद्दुष्यति चापशब्दैः॥** [पा० म० भा० १।१।१]

तस्मादपशब्दांश्चा[20]यमस्मिन्नर्थे कुर्यादर्थोपादानं[21] चाभेदकमिति साधूक्तम्।

---

१ °णात्सिद्धिः य० ॥ २ होममात्र° य० ॥ ३ एवतच्चा° य० ॥ ४ तिप्प्रत्य° भा० ॥ ५ °वृत्तिर्वा दृष्टा य० ॥ ६ °म्बनेऽध्यागच्छ° प्र० ॥ ७ °समाससत्वात् भा०। °समासत्वात् य० ॥ ८ तिट्° प्र० ॥ ९ "सह सुपा ॥ २।१।४ ॥ योगविभाग करिष्यते–'सह'। सह सुप् समस्यते, केन? समर्थेन। अनुव्यचलत्। अनुप्राविशत्। तत सुपा, सुपा च सह सुप् समस्यते।"–इति पातञ्जलमहाभाष्ये पाठ २।१।४ ॥ १० अस्तिक्षीरास्तीतपिवता° भा०। अस्तिक्षारास्तीतपिचता° य० ॥ ११ °निपातंत्वाच्च डे० ली० ॥ १२ °सुपंतत्वाच्च भा०। °मुपातंत्वाच्च पा० वि०। °नुपातंत्वाच्च र० ही० ॥ १३ संकुला° प्र० ॥ १४ °पक्ष्यण परय संकुलया प्र० ॥ १५ "भवति च प्रधानस्य सापेक्षस्यापि समास" इति पातञ्जलमहाभाष्ये पाठ २।१।१ पृ० ११, ४८ ॥ १६ अपिशब्दो हि नामार्थं° प्र० ॥ १७ °त्यर्थे सत्वधेयनो शब्द एव य० ॥ १८ °वसेयंसक्तिः प्र० ॥ १९ °शब्दः य० ॥ २० °ब्दाश्चा र० ही० विना ॥ २१ °पदानं प्र० ॥

त्यक्तजुहोतिकर्त्रर्थग्रहे तु निष्क्रियकर्तृत्वात् कुर्यादर्थाभावः । जुहोतिप्रयोगासत्त्वम्, त्याज्यत्वात्, व्याधिवत् । क्रियानामस्ववृत्तित्यागोपादानाभ्यां धातुप्रातिपदिकप्रकृतिभेदोऽपि, न पदभेद एव पदान्तरविषयत्वात्, अज्ञातस्याग्निहोत्रस्य क्रियाविशेषणत्वेनानुवादात् ।

त्यक्तजुहोतिकर्त्रर्थग्रहे तु 'निष्क्रियकर्तृत्वात् कुर्यादर्थाभावः । अथाचक्षीथाः – एतद्दोषभयात् त्यक्त्वा जुहोत्यर्थं निष्क्रियं कर्त्रर्थमात्रमेव गृह्यते 'कुर्यात्' इति कर्तव्यतामात्रचोदनार्थम् । एवं च सति त्यक्तजुहोतिकर्त्रर्थग्रहे तु, तुशब्दो विशेषणे, अत्यन्तमर्थाभावेनैव विशेषयति, 'करोति, कुर्यात्' इत्येवमादिशब्दानां कृञ्प्रकृतीनां घटादिकर्मापेक्षामन्तरेण 'किं करोतु, किं कुर्यात्' इत्यनिर्णीतार्थत्वात् कोऽर्थः स्यात् ? कृञर्थाभावे कर्त्रर्थस्य निःसामर्थ्यस्य वाऽकर्तृत्वं स्यात् । अतः कुर्याच्छब्दो निरर्थकः, त्यक्तस्वप्रकृत्यर्थत्वात् तादृग्विधस्य कुम्भादिप्रकृतिनिरहितस्य यादादिप्रत्ययान्तस्य प्रयोगस्यादर्शनात् । अभ्युपेत्यापि प्रयोगं जुहोतिप्रयोगासत्त्वं ब्रूमः, असत्त्वमप्रशस्तत्वम्, कुतः ? त्याज्यत्वात्, त्याज्यत्वं त्वया त्यक्तत्वादस्य मतेनाऽर्थाभावात् । अर्थाभावश्चोक्तविधिना सिद्ध एव । तस्मात् त्याज्यत्वादसत्त्वं 'जुहुयात्' इत्यस्य प्रयोगस्य । दृष्टान्तो व्याधिवत्, यथा व्याधिस्त्याज्यत्वादप्रशस्तस्तथा जुहोतिशब्दोऽपि साध्य इति । किञ्चान्यत्, ९०२ क्रियानामस्ववृत्तीत्यादि । आख्यातस्य 'क्रियाथत्वरूढस्य स्वार्थं विप्रकीर्णावयवकलापं त्यक्त्वा पिण्डितत्वेन सत्त्वार्थोपादानम्, न च तमप्युपादाय तथैवावतिष्ठते, किं तर्हि ? पुनरपि सत्त्वार्थं त्यक्त्वा क्रियार्थोपादानम् । एवं नामशब्दस्यापि भवनवृत्तिं स्वां त्यक्त्वा क्रियार्थोपादानेन क्रियार्थं त्यक्त्वा सत्त्वार्थोपादानमिति । ताभ्यामेव च त्यागोपादानाभ्यां 'कुर्यात्, जुहुयात्' इत्येतयोरपि शब्दयोः सामान्यविशेषार्थयोरितरेतरार्थवृत्त्या भेदः स्वप्रकृतिबलेन पिण्डनविप्रकिरणात् तद्वच्च तद्बलेनाऽस्यापि । तथा तद्वाचिन्योः[13] प्रकृत्योरपि भेदस्ताभ्यां त्यागोपादानाभ्याम् । कयोः प्रकृत्योरिति चेत्, धातुप्रातिपदिकयोः, अत आह – धातुप्रातिपदिकप्रकृतिभेदोऽपि, न[16] पदभेद एव, स कुतः पदभेद इति चेत्, पदान्तरविषयत्वात्, पदान्तरस्य विषयोऽस्येति पदान्तरविषयं तत् पदमाख्यातं नाम वा, तद्भावात् पदान्तरविषयत्वात् कुर्याज्जुहुयादिति । अथवा वाक्यार्थविचारप्रधानस्य मीमांसकस्य यदुक्तं भाष्ये 'वाक्यभेदो विध्यनुवादत्वापत्तेः' इति, स तु न केवलो वाक्यभेदः पदभेद एव वा, किं तर्हि ? धातुप्रातिपदिकभेदोऽपीत्यभिसम्बध्यते, 'न' इत्यनुवर्तनात् । तत्र को हेतुरिति चेत्, अज्ञातस्याग्निहोत्रस्य क्रियाविशेषणत्वेनानुवादात्, अज्ञातार्थो

---

[1] निष्क्रिया प्र० ॥ [2] त्यथनि क्रिय प्र० ॥ [3] न्तामर्थाभावेनैव य । न्तमथामावेन भा० ॥ [4] इत्यनिर्णीतार्थत्वात् काथ स्यात् भा० । इत्यनिर्णीतार्थत्वात् कार्यं स्यात् य० ॥ [5] कृञर्थाभावे प्र ॥ [6] ध्यस्यकर्तृत्वं भा । ध्यस्याकर्तृत्वं च रे० । ध्यस्यधाकर्तृत्व ही० । ध्यस्यकर्तृत्व पा० लि । ध्यस्यकर्तृत्व दे० लीं० ॥ [7] कुम्भादि प्र० ॥ [8] क्रियार्थत्व रूढस्य रे ही० विना । क्रियार्थत्वरूढस्य रे० ॥ [9] प्रशस्यार्थो भा० । प्रशस्यार्थो य० ॥ [10] भवनवृत्तिं रे० ही० विना । सत्तावृत्तिं रे० ही० ॥ [11] दान क्रियार्थोपादानं क्रियार्थं य ॥ [12] प्रकरणात् प्र० ॥ [13] तद्वाधिन्यो भा० । तद्वाचिन्याः य ॥ [14] योर्निरत्न र० लीं० । योर्निम्ना रे० ही लि । योर्निस्त पा० ॥ [15] प्रकृतिप्रकृति य० ॥ [16] न तद्भेद रे० ही । न पदभेद दे लीं० । न तद्भेद लि० । न भेद पा ॥ [17] धात्वमीमांसा य ॥ [18] दृश्यतां पृ. १९५ पं० २ ॥ [19] नत्वनु य० ॥

एवं च श्रुतेर्यासौ प्रतिपत्तिस्तस्या अभावः। स्वप्रत्यवेक्षानुवादन्यायेन च तत्त्यागात् कर्त्राद्यर्थप्रतिपत्तिवशेन शब्दार्थस्थापनाद् नृज्ञानमेव प्रमाणीकृतम्।

एवं तर्हि यथाश्रुति अग्निहोत्रवद्धवनमपि ग्रहीष्यते। नन्वर्थद्वयविधानमशक्यमेकेन वाक्येन।

विधिः, ज्ञातार्थोऽनुवादः, अग्निहोत्रमज्ञातत्वाद् विधीयते, 'तत् कुर्यात्, जुहुयात्, हवनं कुर्यात्' इति जुहोतिक्रियया विशेष्य प्रसिद्धस्य विहितस्यैवानुवदनादिति प्रागुदितमर्थमुपपत्तित्वेनोपदर्शयति।

ततश्च किम्? **एवं चेत्यादि यावत् तस्या[1] अभावः। एवं** चेत्यनन्तरनिर्दिष्टक्रियानामस्ववृत्तित्यागोपादानाभ्यामेव
९१-१ **श्रुतेर्यासौ प्रतिपत्ति**र्जुहुयादित्यस्याः पदश्रुतेर्हवनक्रियाविधानमर्थो जुहुयाद् हवनं कुर्यादिति **तस्या[2] अभावः**, सा न भवति, अन्यथार्थाधिगतेः[3], यच्छब्द आह तन्नः प्रमाणम् [पा० म० भा० १।१।१] इति च हीयते[4]। नामाख्यातयोरर्थभेदत्यागोपादानदोषेभ्यश्च शब्दाव्यवस्थानात्[5] पुरुषबुद्धिवशेन शब्दार्थावस्थानम्, कुतः? **स्वप्रत्यवेक्षानुवादन्यायेन[6][7] च तत्त्यागात्**, स्वयं प्रत्यवेक्षितोऽर्थस्त्वया[8] 'अयमस्य शब्दोऽस्यार्थ[9] एवं भवति न वेति दोषवत्त्वादयं त्याज्योऽयं गुणवत्त्वादाश्रयणीयः' इति विचार्य स्वमतिप्रमाणीकरणेन श्रुतिप्रामाण्यत्यागः कृतः। ततस्तत्त्यागात् **कर्त्राद्यर्थप्रतिपत्तिवशेन शब्दार्थस्थापनाद् नुः[10]** पुरुषस्य **ज्ञानमेव प्रमाणीकृतम्**, तस्यैव विध्यर्थवदवस्थितस्यानुवदनात्। अतश्च ते वादावसाने निग्रहस्थानं पुरुषज्ञानप्रामाण्याश्रयेण क्रियोपदेशवाक्या[11]प्रमाणीकरणात् प्रतिज्ञात्यागप्रतिज्ञान्तरगमनलक्षणम्। एष च प्रतिज्ञात्यागप्रतिज्ञान्तराश्रयणदोष इतरत्राप्यर्थव्याख्याने 'हवनं कुर्यात्' इत्येतस्मिन् भवति, कस्मात्? स्वप्रत्यवेक्षानुवादेन[12] च तत्त्यागात् कर्त्राद्यर्थनियतप्रतिपत्तिवशेन शब्दार्थस्थापनादेवमेव सप्रकृतिप्रत्यय एवाग्निहोत्रशब्दोऽवबोध्यते[13] शब्दप्रामाण्यत्यागेन स्वमतिप्रामाण्यावलम्बनात्।

एवं तर्हि यथाश्रुति अग्निहोत्रवद्धवनमपि ग्रहीष्यते। आह—न शब्दार्थं त्यजामि, उक्तदोषभयात्। किं तर्हि? या या श्रुतिर्यथाश्रुति, यथाग्निहोत्रशब्दश्रवणात् तदर्थो गृह्यते तथा हवनमपि जुहुयाच्छब्द-
९१-२ श्रवणाद्ग्रहीष्यते, ततो न दोषोऽस्तीति। तदेकत्र हवनमग्निसम्प्रदानविशिष्टकर्मकारकतयोच्यते, अन्यत्र स्वविशिष्टकर्तृकतयेति। अत्रोच्यते—**नन्वर्थद्वयविधानमशक्यमेकेन वाक्येन** अग्निसम्प्रदानकस्य कर्मभूतस्य हवनस्य तद्विशिष्टस्य च कर्तृत्वस्य[14], यथा ब्राह्मणसम्प्रदानकहविर्दानवाक्येन शुक्लगवानयनमपि।

---

१ तस्य प्रभावः प्र० ॥ २ तस्याभावः प्र० ॥ ३ अन्यर्थार्थाधि° य०। अर्थाधि° भा० ॥ ४ "शब्दप्रमाणका वयम्, यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्"–इति पातञ्जलमहाभाष्ये पस्पशाह्निके 'समर्थः पदविधिः' [पा० २।१।१] इति सूत्रस्य भाष्ये च पाठः ॥ ५ °स्थानात् तदव्यवस्थानात् वि०। °स्यात् तदव्यवस्थानात् पा० डे० लीं० र० ही० ॥ ६ °त्यक्षानु° प्र० ॥ ७ °वादेन्या° य० ॥ ८ °त्यपेक्षि° प्र० ॥ ९ शब्दो(ब्द?)स्यार्थ प्र० ॥ १० °र्थास्थापनां नुः भा०। °र्थास्थापनां नु य० ॥ ११ °देशिवाक्यो° भा०। °देशवाक्यो° य० ॥ १२ °त्यपेक्षा° प्र० ॥ १३ °शब्दोवावाध्यते य०। °शब्दोवाध्यते भा० ॥ १४ कर्तृकत्वस्य य० ॥

नैव हवनं विधीयते, किं तर्हि? अग्निहोत्रशब्देन विहितं हवनमनूद्यते। प्राप्तमनूद्यते वाक्यान्तरेण, अप्राप्तं च विधीयते। न च प्राप्तिरस्ति हवनस्य, अविहितत्वात्। यदग्निहोत्रं हवनमेव तत्, पुनरुक्तं तर्ह्येवम्, अनयोरविशेषात्। विधिविहितस्य ह्यनुवदनमनुवादः। अग्निहोत्रहवनविधेयत्वादनुवादायोग्यता।

अथ त्विच्छयैवानुवादो यथाकथञ्चित् स्यात् ततः पुनरुक्तदोषाभाव एव स्यात्। उक्तं हि—

> अनुवादादरवीप्साभृशार्थविनियोगहेत्वसूयासु।
> ईषत्सम्भ्रमविस्मयगणनास्मरणेष्वपुनरुक्तम्॥ [   ]

इदं त्वनुवादाक्षमम्, विधीयमानत्वात्, आख्यायमानपण्डितत्ववत्। विहित-

---

इतर आह—नैव हवनं विधीयत इत्यादि। जुहुयाच्छब्देन नैव हवनं विधीयते, किं तर्हि? अग्निहोत्रशब्देन विहितं हवनमनूद्यते, विध्यनुवादयोर्भिन्नलक्षणत्वात्। किं तयोर्लक्षणमिति चेत्, उच्यते—प्राप्तमनूद्यते वाक्यान्तरेण, यथा 'पण्डितमिमानय' इति 'शास्त्रेण पण्डितः' इति वाक्यान्तरविहितपाण्डित्यस्य स्थानानुवादात्। अप्राप्तं च विधीयते, यद् वाक्यान्तराप्रापितमविज्ञातं प्रमाणान्तरेण तद् विधीयते, यथा स्वर्गकामो जुहुयादिति। अत्रोच्यते—यद्येतद्विध्यनुवादयोर्लक्षणं नानुवादो हवनस्य युज्यते, यस्मान्न च प्राप्तिरस्ति हवनस्य, अविहितत्वात्। इतर आह—अस्ति प्राप्तिर्हवनस्य, अग्निहोत्रस्य हवनत्वात् तस्य च विहितत्वादित्यत आह—यदग्निहोत्रं हवनमेव तत्, पुनरुक्तं तर्ह्येवमनयोरग्निहोत्रहवनविधानयोरविशेषात्। एतच्चार्थपुनरुक्तम्, पुनरुक्तं च नानुवादः उन्मत्तवाक्यवत्। अनुवादलक्षणाभावं चास्य दर्शयति—विधिविहितस्य हि अनुवदनमनुवादः इति, हिशब्दो यस्मादर्थे, यस्माद् विधिवाक्यविहितस्यार्थस्य पश्चादर्थविशेषप्रापणार्थो वादोऽनुवादः। तच्च लक्षणं न घटते, अग्निहोत्रहवनविधेयत्वात्, १२१ अग्निहोत्रस्य हवनस्य चैकीभूतयोर्विधेयत्वात्। तन्निगमयति—अनुवादायोग्यतेति।

अथ त्विच्छयैवानुवादो यथाकथञ्चित् स्यात्। स्यान्मतम्—वक्तुर्विवक्षितपूर्विका शब्दप्रतिपत्तिरित्यस्य हवनस्य विधानं न विवक्ष्यते, अनुवादो विवक्ष्यत इति। एतदपि यथाकथञ्चित् स्याद् विहितार्थाभावात्, विवक्षेच्छयोरनर्थान्तरत्वादिच्छामात्रतश्च निरुपपत्तिकस्यार्थस्यासिद्धेन स्यादित्यभिप्रायः। यद्यपि यथाकथञ्चित् स्यात् ततः पुनरुक्तदोषाभाव एव स्यात्, इष्यते च पौनरुक्त्यं शब्दतोऽर्थतश्च, उक्तार्थशब्दार्थस्यानमनिरोधेन पुनरुक्तमन्यत्रादरादिभ्यः [   ] इति पौनरुक्त्याभावः।

उक्तं हीति पुनरुक्तापवादमर्थविशेषापेक्षं दर्शयति अनुवादादर। 'पण्डितमानय' इत्युक्ते पण्डितो देवदत्त इत्यनुवादो न पुनरुक्तम्। एवमादरे स्वामिन् स्वामिन्निति। वीप्सायां ग्रामो ग्रामो रमणीयः।

---

१ द्वे नैव य०॥ २ प्राप्तिनमवि भा। °प्राप्तिमतवि य०॥ ३ नमेतत् य०॥ ४ त्व च नानुवाद य॥ ५ णार्थानुवादोऽनुवाद य०॥ ६ यादयो य०॥ ७ अर्थात्विच्छदोवानु भा०। अर्थात्वि छ दोवानु य०॥ ८ विधान विव भा। विधान विव य॥

मेव त्वनूद्यते च विशेषविधानार्थम्। न चात्र कश्चिज्जुहोतिपुनर्वचनेन विशेषो जन्यते। ततश्च प्राक्तनमेव सञ्जातम्। सर्वथा किमतिरिच्यते पौनरुक्त्यदोषव्यपेतम्? विधिलिङ्कर्ता आस्ते। अतो नानुवादः, उत्तरविशेषासम्बन्धनात्, विधीयमानपण्डितत्ववत्।

अथोच्येत – विधिलिङ्कर्त्रर्थे प्रत्ययार्थेऽवशिष्यमाणेऽवश्यवाच्ये प्रकृतिपरव्यव-

---

भृशार्थे [1]घनं घनं मृदु मृदु शनैः शनैरिति। विनियोगे घटं कुरु घटं कुर्विति। हेतौ कृतकत्वादनित्यो घटः, तस्मात् कृतकत्वादिति। असूयायां [2]विपर्यस्याऽऽस्यं हसति हसतीति। ईषदीषदिति, स्तोकं स्तोकमिति। सम्भ्रमे स्वागतं स्वागतमिति। विस्मये विद्याधरो विद्याधर इति। गणने एकमेकं द्वे द्वे इति। स्मरणे आ! विदितो विदितः पाटलिपुत्रे दृष्टो दृष्टोऽस्मीति। एवमाद्यर्थविशेषाभावे पुनरुक्तदोषावश्यम्भावाद् न चेदनुवादत्वमस्य पौनरुक्त्यमेवास्य। पौनरुक्त्याभावे नानुवादत्वम्। तस्मादिदं **त्वनुवादाक्षमम**योग्यमित्यर्थः,

९२-२ कतमत्? जुहुयादित्येतत् पदम्। कुतः? **विधीयमानत्वात्,** योऽर्थो विधीयते न सोऽनूद्यते. **आख्यायमानपण्डितत्ववत्,** यथायं पण्डितो देवदत्त इति विधीयमानपाण्डित्यो देवदत्तो नानूद्यते तथा जुहुयादित्येतदपि अपूर्वोपदेशत्वादनुवादवैधर्म्याच्चास्य [3]तल्लक्षणाभावात्। किं तल्लक्षणमिति चेत्, **विहितमेव त्वनू[4]द्यते च विशेषविधानार्थम्,** यथा – पटुर्देवदत्तः, पटुमेनं भोजयेति। तल्लक्षणाभावात् किम्? तल्लक्षणाभावान्नानु[5]वादोऽपूर्वविधानात्, यत्र न विशेषो विधीयते मौ[6]लविधिरेव सः।

एवं तर्हि विशेषविधानादनुवादोऽस्तु तद्वदिति चेत्, तन्न भवति, यस्माद् **न चात्र कश्चिज्जुहोतिपुनर्वचनेन विशेषो जन्यते,** 'जुहुयात्' इत्यनेन शब्देन अग्निहोत्रशब्दाभिहितादर्थान्न कश्चिदन्यो विशिष्टोऽर्थोऽभिधीयते यतोऽनुवादः स्यात्। **ततश्च प्राक्तनमेव सञ्जातं** यावदेव 'अग्निहोत्रं कुर्यात्' इति वाक्यविकल्पेऽभिहितं तावदेव 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यत्रापि वाक्ये, ततोऽधिकं न किञ्चिदस्ति। एवं यां तां गतिं गत्वा कल्पयित्वापि **सर्वथा** सर्वप्रकारे[7]ण 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यस्मिन् वाक्येऽग्निहोत्रकर्मण्येवान्तर्भावितहवने जुहुयाच्छब्दप्रकृत्यर्थे **किमतिरिच्यते पौनरुक्त्यदोषव्यपेतम्? विधिलिङ्कर्तास्ते,** विधौ विहितस्य लिङ्प्रत्ययस्य कर्तृकारकस्य तन्मात्रार्थ आस्ते न दूषितः, अन्यत् सर्वं पुनरुक्तादिदोषदुष्ट-

९३-१ मेवेत्यर्थः 'अग्निहोत्रं कुर्यात्, अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्येतयोर्वाक्यार्थविकल्पयोरुक्तदोषत्वात्। **अतो नानुवादः,** उक्तदोषसम्बन्धादित्यर्थः। कथमिति चेत्, **उत्तरविशेषासम्बन्धनाद् विधीयमानपण्डितत्वव**दित्येतदनन्तरोक्तार्थसमाहारार्थं साधनं गतार्थम्। तस्मात् कर्त्रर्थमात्रमवशिष्यते, शेषं पुनरुक्तम्।

अथोच्ये[8]तेति परमतमाशङ्कते। अथ त्वयोच्येत – **विधिलिङ्कर्त्रर्थः** प्रत्ययार्थोऽनुक्तत्वादवशिष्यते, अवश्यं च वाच्योऽसौ, तस्मिन् **प्रत्ययार्थेऽवशिष्यमाणेऽवश्यवाच्ये, प्रकृतिपरव्यवस्थाया** इति

---

१ घन घनं पा॰ डे॰ लीं॰ वि॰। दान घनं भा॰। घतघनं र॰ ही॰॥ २ विपर्ययस्यास्यं य॰। विपर्यस्यं भा॰॥ ३ तल्लक्ष॰ पा॰ र॰ ही॰॥ ४ ॰द्यते च वि॰ विना॥ ५ ॰वादो यत्र न य॰॥ ६ ॰विधे॰ प्र॰॥ ७ ॰णाहोत्रं य॰॥ ८ ॰च्यतेति य॰॥

स्थाया आवश्यके प्रकृत्युपादाने प्राप्ते वरमासन्ना प्रकृतिरुपात्ता, अर्थं पुनरस्या न विवक्ष्यते गतार्थत्वात्। एवं तर्हि वरतरक प्रत्यासन्नतराऽविवक्षितार्था कृन्प्रकृतिरुपात्ता, वचनस्योपात्तार्थप्रत्यायनार्थत्वात्। सापि चापक्षिप्तवाच्यार्थस्थितिरुक्तवत्।

अस्मिंस्तु न्यायेऽतिलङ्घ्यमाने क्रियोपदेशवादोऽपि तत्त्ववादवदेव त्यक्तः स्यात्, तत्रापि यदृच्छाभ्युपगमात्। को हि चैतद्वेद बालप्रलापवद् व्यवस्थापेतमु-

---

हेत्वर्थे पञ्चमी, प्रकृते परं प्रत्ययः प्रयोक्तव्य [पा० म० भा० ३।१।२] इतीयं व्यवस्था, तस्या व्यवस्थाया मर्यादाया स्थिते[1] सोऽवश्यकं प्रकृत्युपादानम्, तस्मिंश्चावश्यके [2]प्रकृत्युपादाने प्राप्ते 'कतमा प्रकृतिरुपादातुं योग्या' [3]इत्येवं विचारयत इदं मे योग्यमिति प्रतिभाति—वरमासन्ना प्रकृतिरुपात्ता, अर्थं पुनरस्या न विवक्ष्यते [4]गतार्थत्वात्, तस्मादविवक्षितार्था सा, सत्यपि नान्तरीयकत्वे प्रत्यासन्नप्रकृत्युपादाने विलक्षणामन्यां परित्यज्याऽविलक्षणा जुहोतिप्रकृतिरेवोपात्तेत्यस्येयम्, प्रयोगोऽग्निहोत्रं जुहुयादिति। अत्रोच्यते—एवं तर्हि वरतरकमित्यादि। [7]त्वं मन्यसे वरमासन्नप्रकृत्युपादानं नान्तरीयकत्वादिति, तत्राहमेव ते [8]वरतरकं साहायकं करोमि बुद्धे—कर्तृप्रत्ययार्थसमार्थेन प्रत्यासन्नतरा पौनरुक्त्यपरिहारार्थमविवक्षिता- ९३ र्थाऽनुक्तार्था कृन्प्रकृतिरुपात्ता। किं कारणम्? वचनस्योपात्तार्थप्रत्यायनार्थत्वात्, अर्थं प्रत्याययिष्यामीति हि शब्दः, कर्तृप्रत्ययार्थस्तया कृन्प्रकृत्या प्रत्याय्यते स्फुटतरम्, अतोऽग्निहोत्रं कुर्यादित्येवास्तु। इतर आह—[12]त्वयैव समर्थितत्वादेवमेवास्तु। आचार्य आह—स्यादेव यदि सापि [13]चार्थस्थितिर्निर्दोषा स्यात्, किन्तु सापि चापक्षिप्तवाच्यार्थस्थितिरुक्तवत्, तस्यामप्यर्थस्थितौ निराकृतो वाच्योऽर्थः 'जुहोत्यर्थं त्यागमेवाभ्योम्' इत्यादिप्रबन्धेन उक्तवद् यथाश्रुतार्थाभावादिदोषात् पौरुषेयत्वादिप्रसङ्गाच्च। एवं तावन्न्यायेन परीक्ष्यमाणमेतद्वाक्यं न युज्यते पुरुषतर्कलक्षणेन।

यद्यपि पुरुषतर्कलक्षणन्याय[16]मतिलङ्घ्यापौरुषेयो नित्यो वेदस्य क्रियोपदेशः पुरुषगतरागादिदोषाशङ्काहेतुविनिर्मुक्तः प्रमाणम्, पुरुषकृतानि हि वाक्यानि अविद्यारागाद्यवियुक्तपुरुषवदप्रमाणानि अफलगाम्यप्रापिनित्यानित्यादिवस्तुतत्त्वविचारविषयाणि, सफलशास्त्रप्रापिपुरुषहितोपायक्रियोपदेशात्तु वेदवाद श्रेयानितीष्टम्, तथापि [21]त्वद्वचनादेवास्मिंस्तु न्यायेऽतिलङ्घ्यमाने क्रियोपदेशवादोऽपि तत्त्ववादवदेव त्यक्तः स्यात्। किं कारणम्? तत्रापि यदृच्छाभ्युपगमात्, अविद्यारागाद्यवियोगादेव सर्वपुरुषाणां ९४ वक्तृश्रोतृपुरुषाधीनत्वाच्चोपदेशपरम्पराया न कश्चिद्बुद्धिपूर्व उपदेशः, अतः सुप्तमत्तादिविप्रलापवद् यदृच्छया-

---

१ 'प्रकृतिपर एव प्रत्ययः प्रयोक्तव्यः' इति पातञ्जलमहाभाष्ये पाठः॥ २ प्रत्युपा य०॥ ३ इत्येव प्र०॥ ४ गतार्थत्वात् य०॥ ५ अत्र वक्ष्यमाणप्रयोगेऽग्निहोत्रं 'जुहुयादिति' इत्यपि पाठः स्यात्॥ ६ दितिऽचोच्यते भा०। दिति चोच्यते य०॥ ७ त्वं मन्यसे भा०। त्वनान्यसे य०॥ ८ वरवरक प्र०॥ ९ समार्थेन य०। समर्थेन भा०॥ १० हृ सप्रह प्र०॥ ११ अत्र कश्चित् पाठत्रुटित इव प्रतिभाति। तुलना— अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः। अर्थं संप्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते। तत्रैकेनोक्तत्वात्तस्यार्थस्य द्वितीयस्य प्रयोगेण न भवितव्यम्, उक्तार्थानामप्रयोग इति' —इति पातञ्जलमहाभाष्ये॥ १२ त्वयैव भा०॥ १३ चायस्थि प्र०॥ १४ वाच्यर्थे प्र०॥ १५ दृश्यतां पृ० १२६ पं० ४॥ १६ मिति प्र०॥ १७ प प्र०॥ १८ प्रामाण्यानि प्र०॥ १९ प्रातिनित्यादिवस्तु य०॥ २० क्रियार्थोपदे भा०॥ २१ तद्वचना प्र०॥

दितम् ? किं वाऽनेन ज्ञातेन यदेतज्ज्ञा एवमुक्तवन्तोऽव्यक्तं यद्यज्ञानाद् यदि द्वेषादेः ?

को वाऽऽह ज्ञवचनमेतत् ? यदि संशयादियोगान्न ज्ञः प्रमाणं तर्हीदमज्ञोक्तत्वादुन्मत्तवाक्यवत् । अचेतनत्वात् कुतोऽस्य प्रामाण्यम् ? कुतोऽस्य वचनम् ? काष्ठशब्दवदित्थमचेतनत्वेऽपि न घटते वेदवाक्यप्रामाण्यम् ।

ऽभ्युपगतो वेदो वैदिकैः । अत इदमापन्नम्—को ह वैतद्वेद 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्येतद् वाक्यं सार्थकं निरर्थकं वेति ? । 'किमिव न ज्ञायते[1] ? बालप्रलापवत्, यथा हि बालैरनियतक्रियाकारकसम्बन्धमुक्तमबुद्धिपूर्वत्वाज्ज्ञातुमशक्यं 'केनार्थेनाऽर्थप्रत्यायनार्थेन ?' इति । किं कारणम् ? व्यवस्थापेतत्वात्, शब्दप्रयोगो ह्यर्थप्रत्यायनार्थः सुनिश्चितार्थप्रतिपादनसमर्थनियतवर्णानुपूर्वीकः प्रत्यपेक्षितवाच्यवाचकसम्बन्ध इतीयं लोकशास्त्रव्यवस्था ततोऽपेतं ब्रह्मादिसर्ववेदवादिवचनमविद्यारागाद्यवियोगात्तथामित्यशक्यप्राप्तिरग्निहवनविधानादिवाक्यार्थस्य । तस्मात् को ह वैतद् वेद बालप्रलापवद् व्यवस्थापेतमुदितम् ? किञ्चान्यत्, अफलं चैतदित्यत आह—किं वाऽनेन ज्ञातेन यदेतज्ज्ञा वेदज्ञा अग्निहोत्रकर्मज्ञा एवमुक्तवन्तः 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इति वाक्यमव्यक्तमव्यक्तार्थमस्फुटार्थम्, यस्मादव्यक्तज्ञाना एव ते पुरुषत्वादविद्यायोगाच्च दशदाडिमादिश्लोकवादिवत् । अविद्यायोगं दर्शयति—यद्यज्ञानादिति । रागादियोगं च दर्शयति—यदि द्वेषादेः ।

इतर आह—विफलोऽयं प्रयासोऽनिष्टापादने ते. अभ्युपगमत्वात् । को वाऽऽह—ज्ञवचनमेतत्, ननु प्रा[6]गुक्तं संशयविपर्ययानध्यवसायसम्पृक्तत्वान्निर्णयस्याप्यज्ञानत्वमेवेति । अथवा को वाऽऽह ज्ञवचन-

१४-२ मेतदिति ज्ञस्य पुरुषस्य सर्वत्र प्रमाणभूतस्याभावात्, कि तर्हि ? शब्दस्यैव च निर्दोषत्वादिति । अत्राचार्य आह—यदि संशयादियोगान्न ज्ञः प्रमाणं तर्हीदमज्ञोक्तत्वादुन्मत्तवाक्यवदिति क्रियोपदेशसाफल्यवादः क्व गच्छतीति चिन्त्यताम् । एवं तावद् बुद्धिपूर्वकमकारादिवर्णानुपूर्व्या शब्दोच्चारणं चेतनोदीरितकाकवाशितं पुरुषवाशितं वा तुल्यम् । अथाचक्षीथाः—काष्ठपाषाणादिसङ्घट्टजनिताचेतनशब्दवत् सर्वमचेतनम् । तथाप्यचेतनत्वात् कुतोऽस्य प्रामाण्यम्, अचेतनत्वात्, आकाशवत् । एवं च कृत्वाऽचेतनत्वात् कुतोऽस्य वचनम् ? यच्छब्द आह तद् नः प्रमाणम् [पा० म० भा०] इतीष्टं भवता, भाषणं वचनमुक्तिः शब्दोच्चारणम्, भावसाधनत्वाद्वचनशब्दस्य, अचेतनत्वाद्वक्तृत्वमस्य नास्तीत्यर्थः । कथम् ? अज्ञोदीरितत्वादेव च वचनत्वमस्य नास्ति, वाच्यार्थप्रतिपादनाभिसन्धिपूर्वकं हि तत्, तद्भा[11]वेऽनुक्तमित्यत आह—काष्ठशब्दवदित्थमचेतनत्वेऽपि न घटते वेदवाक्यप्रामाण्यम् ।

अत्राह—यदुक्तं प्राक् 'को वाऽऽह ज्ञवचनमेतत्' इति [12]द्वितीयो विकल्पो न ब्रूमः सर्ववक्तृवचनाप्रामाण्यमिति, स्ववचनविरोधदोषात् । किं तर्हि ? सर्वज्ञवीतरागाद्यभावाद् ग्रन्थस्य सर्वभावस्वभावविषयस्य कर्तुरप्रामाण्यम्, न तु वक्तुरनादिनिधनस्य वक्तृपरम्परागतस्य, वक्तृवचनयोः क्वचित् प्रामाण्यादिति ।

---

१ किमिव ज्ञायते प्र० ॥ २ °कारकसम्बद्धमुक्त° प्र० । अत्र '°कारकमसम्बद्धमुक्त°' इत्यपि पाठ स्यात् ॥ ३ प्रत्युपे° य० ॥ ४ यदेतज्ज्ञा प्र० ॥ ५ यद्यद् ज्ञाना° य० ॥ ६ दृश्यता पृ० ११३ पं० ६ ॥ ७ °वासितं भा० ॥ ८ दृश्यतां पृ० १२० टि० ४ ॥ ९ अत्र 'भवताम्' इत्यपि पाठ स्यात् ॥ १० °पूर्वकं तत् य० ॥ ११ °भावेनुक्तमि° भा० । भावे उक्तमि° य० ॥ १२ अत्र 'द्वितीये विकल्पे' इत्यपि पाठ स्यात्, दृश्यतां पं० १६–१७ ॥

आदिवक्तृवचोत्तरवक्तर्यपि वातिकमन्त्रादिवज्ज्ञवचनानाश्वासतुल्यता ।

क्वचिच्चार्थे सत्येव अर्थाविवक्षा न्याय्या दृष्टा, तयोः कार्यवत्त्वेन दृष्टयोस्तदविवक्षया च सार्थकत्वं दृष्टम् ? अतोऽन्याय्यमेतदुक्तम् 'अविवक्षितार्थस्य नान्तरीयकत्वात् प्रयोग' इति, प्रयुक्तस्यानर्थकत्वाभावप्रसङ्गात् । विवक्षाविवक्षयोरनियमेन शब्दप्रवृत्तौ सत्यामप्रयोजनाया चाविवक्षायामन्याय्यविवक्षाऽभावे विशेष-

---

अत्रोच्यते—आदिवक्तृवचोत्तरवक्तर्यपि । यथाऽऽदिवक्तारोऽप्रमाणमसर्वज्ञत्वादवीतरागत्वाच्च शास्त्राणां सर्वेषां स्वभावविषयाणां यथार्थज्ञानवचनहीनास्तथाऽऽदिमन्वादिप्रसिद्धीनां शास्त्राणामध्येतारो यथार्थज्ञानवचनहीनाः, तस्मादुभयेषां ज्ञातृवक्तॄणां योरयथार्थयोरनाश्वासस्तुल्यः । किमिव ? वातिकमन्त्रादिवत्, यथा धातुनिर्घटलादिवातिकानां ज्ञानानि मन्त्रवचनानि च विप्रलम्भभूयिष्ठत्वादनाश्वासनानि, आदिग्रहणाद् वशीकरणमन्त्रयोगादिवत् । तत आह—आदिवक्तृवचोत्तरवक्तर्यपि वातिकमन्त्रादिवज्ज्ञवचनानाश्वासतुल्यतेत्यलमतिप्रसङ्गिन्या कथया ।

[1]किञ्च, यदुक्तम्—अविवक्षितार्थानर्थिकापि कर्तृप्रत्ययमात्रव्यापारिणी जुहोतिप्रवृत्तिरुपात्तेति । एतदपि न्यायविरोधादयुक्तम्, कथम् ? क्वचिच्चेत्यादि । क्वचिच्चेति न सर्वत्र, यथा 'नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचो विसृजति' इति, 'कतरद्देवदत्तस्य गृहम् ? अदो यत्रासौ काक' इति नैमित्तिके पक्षिणि चोपयुक्तार्थयोरेव [नक्षत्र]दृष्टा-काकशब्दयोः सार्थकयोः कालचिह्नलक्षणेऽर्थे सत्येव नक्षत्रदर्शन-काकार्थाविवक्षा न्यायादनपेता न्याय्या दृष्टा नानर्थकस्यैवोन्मत्तप्रलपितादेरिव, तयोरपि च शब्दयोः कार्यवत्त्वेन दृष्टयोस्तदविवक्षया च सार्थकत्वं दृष्टम् ? अतो न्यायापेतमेतदुक्तम्—अविवक्षितार्थस्य नान्तरीयकत्वात् प्रवृत्ते प्रयोगो जुहुयाद्भस्मनेति । किं कारणम् ? प्रयुक्तस्यानर्थकत्वाभावप्रसङ्गात्, यद्येवं न्यायशब्दानां प्रयोगे नियतो न स्यान्नान्तरीयकत्वादपि प्रयोगे साधुत्वमेव स्यात् ततश्च प्रमादात् प्रमादाद्वा प्रयुक्तस्य शब्दस्यानर्थकत्वाभाव एव स्यात् प्रमत्ताप्रमत्तवक्तृविशेषश्च स्यात्, न त्वेवं भवति दृष्टेष्टविरुद्धत्वात् । स्यान्मतम्—उपलक्षणादिप्रयोजनतया विशेषविवक्षया किमनया न्यायाविवक्षया ? सर्वस्य शब्दप्रयोगस्य वक्तुर्विवक्षितपूर्वकत्वात् प्रवृत्तविवक्षा विवक्षा नेति । एतदयुक्तम्, विवक्षाविवक्षयोरनियमेन शब्दप्रवृत्तौ सत्यामप्रयोजनाया चाविवक्षायामन्याय्याविवक्षाऽभावे विशेषहेतुर्वाच्यः, अभिमतस्यापि जुहोतिप्रवृत्त्युपादाननान्तरीयकत्वात् प्रयोगोऽर्थोऽस्याविवक्षित इति प्राप्तम् । ततश्च 'भस्मनैव जुहुयात्'

---

१ चोत्तरवक्त्र्यपि प्र० ॥ २ भासस्य प्र० ॥ ३ स्तथाऽऽदिमद् प्र० ॥ ४ त्वयोर्यथार्थयो प्र० ॥ ५ धातिक प्र० ॥ ६ यावलादियादिकाना य० । यावलादियादिकाना भा० ॥ ७ नास्यासनानि सि० मा विना ॥ ८ यत् जुयजना प्र ॥ ९ किञ्चदुक्तम् प्र० ॥ १० न्याय प्र० ॥ ११ नक्षत्र०ष्ट्वा ०पपक्षिणि प्र० ॥ १२ चापयुक्ता भा० । चोपयुक्ता य० ॥ १३ र्थापिवक्षा प्र ॥ १४ कार्यवत्त्वेन प्र० ॥ १५ क्षया च सार्थ ई० ही० ॥ १६ न्यायापेत य० ॥ १७ तार्थस्यान्तरी प्र० । अत्र अविवक्षितार्थस्य नान्तरीयकत्वात् प्रवृत्त' इत्यपि पाठः स्यात् ॥ १८ ततश्चाति प्र ॥ १९ प्रयोगस्य य० ॥ २० पूर्वकत्वात् प्र ॥ २१ विवक्षयेति य० । विवक्षयेति भा ॥ २२ शब्दानामवृत्तौ प्र । अत्र शब्दानां वृत्तौ' इत्यपि पाठः स्यात् ॥ २३ प्रत्युपादा य ॥

हेतुर्वाच्यः। युक्ततरी तु तदविवक्षा वक्ष्यमाणन्यायदर्शनादर्थतत्त्वतन्त्रत्वात्तस्याः।

एवं तावदप्रत्यायकत्वमस्य, अप्रत्यवेक्षितार्थयाथातथ्योक्तेः, बालप्रलापवत्।

त्वदभिप्रायवत्तु हवनानुवादविशिष्टाग्निहोत्राभ्युपगमेऽपि चाग्निहोत्रस्य आत्मादिवस्तुतत्त्ववदप्रसिद्धस्वरूपत्वात् करणासिद्धिः।

अथोच्येत – विध्यन्तरविधानशैल्या तत्सिद्धिः, यथा यूपं छिनत्ति ....

इत्येतद्वाक्यं साधीयः 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्येतत् साधीय इति केन हेतुना परिच्छेद्यम्? किञ्चान्यत्, **युक्ततरी तु तदविवक्षा** अन्याय्यविवक्षा। किं कारणम्? **वक्ष्यमाणन्यायदर्शनात्**, वक्ष्यमाणो हि विधिविधिनयेऽयं न्यायो दृश्यते भवता पुरुष एवेदं सर्वम् [ऋग्वेद० १०।९०।२] इत्यादि, तद्दर्शनाच्चेदमग्न्यादिविकल्पासम्भवात्साग्निहोत्रं न होतेत्यर्थाभावादेवाऽविवक्षा न्याय्या, किं कारणम्? **अर्थतत्त्वतन्त्रत्वात् तस्याः**, अर्थवशाद्धि विवक्षाऽविवक्षा वा भवितुमर्हति, नान्यथेति।

तदुपसंहृत्याह – **एवं तावदि**त्यादि। एवमनन्तरोक्तोपपत्तिविधिना 'अग्निहवनं कुर्यात्' इत्येतस्मिन्नर्थे प्रदर्शितदोषत्वादथवा 'अग्निहोत्रं कुर्यात्, अग्निहोत्रं जुहुयात्, हवनं कुर्यात्, अग्निहोत्रं हवनं कुर्यात्, जुहुयात्' इत्येवमाद्यर्थेषु प्रदर्शितदोषत्वात्। **ताव**च्छब्दः क्रमार्थः, दोषान्तराभिधानमपि

९७-१ भविष्यति, एष तावद्दोष इति। **अप्रत्यायकत्वमस्य** वाक्यस्य, कुतः? **अप्रत्यवेक्षितार्थयाथातथ्योक्तेः बालप्रलापवत्**, यथातथाभावो याथातथ्यम्, अर्थस्य याथातथ्यमर्थयाथातथ्यम्, तस्मादर्थयाथातथ्यात् तस्याप्रत्यवेक्षितस्यार्थस्याविचारितस्य 'किंस्वरूपोऽयमर्थः? प्रमाणम्? प्रमेयः? केन वा रूपेण प्रमाणं प्रमेयो वा?' इत्यप्रत्यवेक्षितस्यार्थस्योक्तेः शब्दस्यार्थस्य वा प्रत्यायकस्वरूपमप्रत्यवेक्ष्योक्तत्वात् तदप्रत्यायकत्वम्। अर्थत्वाच्च शब्दस्तदभिधेयो वा प्रत्यवेक्षितयाथातथ्योक्तेरेव प्रत्यायकः प्रधानादिवदिति वैधर्म्येण। तस्मादप्रत्यवेक्षितार्थयाथातथ्योक्तेर्यदि शब्दद्वारेण यद्यर्थद्वारेणोभयथाप्यप्रत्यायकत्वं सिद्धम्, अतश्चाप्रत्यायकत्वादनुपदेशत्वं बालप्रलापवदेव।

किञ्चान्यत् – 'अग्निहोत्रं हवनं कुर्यात्' इत्यस्मिन्नेवानन्तरोक्तेऽर्थे दोषान्तरं ब्रूमः – **त्वदभिप्रायव**दित्यादि। त्वदभिप्रायेण तुल्यं त्वदभिप्राय इव त्वदभिप्रायवत्, यथा त्वदभिप्रेते 'अग्निहोत्रं हवनं कुर्यात्' इत्येतस्मिन्नर्थे **हवनानुवादेन विशिष्टेऽग्निहोत्रेऽभ्युपगम्यमानेऽग्निहोत्रस्य** त्वदिष्टस्य कर्मणः सांख्यादिपरपरिकल्पितात्मादि**वस्तुतत्त्व**स्यालौकिकस्याप्रसिद्धस्य दुर्ज्ञानत्ववदलौकिकत्वाद**प्रसिद्धस्वरूपत्वाद्** दुर्ज्ञानत्वम्, अविज्ञातस्य च **करणासिद्धिः**, सा हवनक्रिया न सिध्यतीत्यर्थः।

अत्र परेणाथोच्येत परिहारः – **विध्यन्तरविधानशैल्या तत्सिद्धि**रिति। अग्निहोत्रं जुहुयादित्येतस्माद्विधेरन्यो विधिर्विध्यन्तरं 'यूपं छिनत्ति' इत्यादि। तस्य विधानमविवक्षितनिरूपणं पूर्वं पश्चादिति-

---

१ °च्छेद्यं य०। °च्छिद्यं भा० ॥ २ °माणे हि भा० ॥ ३ °वशाद्धि विवक्षा भवितुमर्हति भा० ॥ °वशाद्वा विवक्षा वा भवितुमर्हति य० ॥ ४ तावमित्यादि प्र० ॥ ५ °त्यावेक्षितार्थयथा° प्र० ॥ ६ °स्यावस्या° प्र० ॥ ७ प्रमाणप्रमेयो प्र० ॥ ८ °त्यपेक्ष्यो° प्र० ॥ ९ °भिधेयोऽवा भा० ॥ १० °रेवा भा०। °रेवा य० ॥ ११ दृश्यतां पृ० १०८-१ ॥ १२ °प्राये भा० ॥ १३ °भिप्रेताग्निहोत्रं प्र०। °भिप्रेतेऽग्निहोत्रं भा० ॥ १४ सांख्यादिपरिकल्पि° भा० ॥ १५ °नविच° य० ॥

पालाशमष्टाश्रिमित्यादि । एतदपि न, वैषम्यात् । कालस्तावन्न हि स छेदनक्रियाकाल एव यूपः, छेदनादिभिः संस्कृतः सन् भविष्यति यूपः, तस्य तदा यूपत्वेनामतो युक्तः यूपस्वरूपः कालान्तरभाव्युपेक्षितुं न पुनरग्निहोत्रस्य तदैव सतः ।

ननु तच्छब्दता तादर्थ्यात्, यथेन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः । छेदनस्य संस्कारता न विहिता स्यात्, यूपस्य निर्वृत्तत्वात् । असत्या च संस्कारतया छिदिरविवक्षितार्थः

कर्तव्यताभिर्निरूपणम्, गतो समासः, तथा दृष्ट्या 'विधिवाक्यस्यापि विधेरेषा गती' त्यनुमाना[१०] [२] सिद्धिर्भवति । कस्य पुनर्विधेर्विध्यन्तरविधानशैल्या सिद्धिरिष्टा ? यथा यूपं छिनत्तीत्यादि वाक्यं पालाशमष्टाश्रिमित्यादीति तेऽन्यनुमति दृष्टान्तमाह । यथात्र पूर्वमविरचितनिश्चयावधारणाभिरत्र कर्तव्यता चोदिता पश्चात् 'अष्टाश्रि पालाशं तेन वा स्यादी'तिकर्तव्यताचोदनया स्वरूपे व्यवस्थाप्यते तथेहापि । आचार्य आह—एतदपि न, वैषम्यात्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो[ः] शैलीवैषम्यात् । तद्वैषम्यं कालत [ः] प्रसिद्धितोऽवधारणतश्च । तत्र कालतस्तावन्न हि स च्छेदनक्रियाकाल एव यूपः, भवतीति वाक्यशेषः, छेदनाद्यनधिकारप्रसङ्गात् । किं तर्हि ? छेदनादिक्रियाभिः संस्कृतः सन् भविष्यति यूपः । इत्थम्भूतस्य तस्य काष्ठस्य तदा यूपत्वेनामतो युक्तः यूपस्वरूपः कालान्तरे भाव्युपेक्षितुम्, न पुनरग्निहोत्रस्य तदैव सतः संस्कारनिरपेक्षस्य कालान्तरभाव्यर्थापेक्षणमिति वैषम्यम् ।

अत्र आह—ननु तच्छब्दतेत्यादि यावत् स्थूणेन्द्र इति । यथात्र तादर्थ्यात् तच्छब्दस्तथेह यूपाय दारु यूप इति तत्कारणात् । अत्रोच्यते—छेदनस्य संस्कारता न विहिता स्याद् यूपस्य निर्वृत्तत्वात्, निर्वृत्तस्य हि च्छेदनमसंस्कारः, तस्यामसत्यां च संस्कारतायां छिदिरविवक्षितार्थः स्यात्, असंस्कारार्थत्वेऽनर्थक एव छिदिः स्यादित्यर्थः । तस्माद् यावदयं यूपं स्वीकरोति स्वत्वेन परिग्रहणीयुक्तं भवति तावदयं छिनत्तीयुक्तं भवति, छिनत्ते संस्काराप्रवृत्तत्वात् । सा भूतस्य लोके त्वप्रसिद्धत्वात्, अदृष्टार्थो वा स्यात् इति मन्यते । न चादृष्टार्थत्वमतस्त्वात् । एवं तावत् कालतः वैषम्यात्प्रयुक्तम्—विध्यन्तरविधानशैल्या तत्सिद्धि, यूपं छिनत्ति पालाशमष्टाश्रिं [१३] [१] स्यादित्यादि ।

---

१ यथा यूपं छिनत्तीति अविरचित[illegible] पूर्वं पश्चात् तेन कर्तव्यताभिर्निरूपणम् यथा पालाशमष्टाश्रिमित्यादि, [illegible] [illegible] ॥ २ विधेरेषा भ० । विधेरेषा पा ॥ ३ [illegible] ।१८। [illegible] ।८। [illegible] ।६।१। [illegible] ।६।१।२६। [illegible] ।७।१।१६। [illegible] [illegible] ।८।१।२। [illegible] ॥ ४ [illegible] ॥ ५ तथोदिताविधानात् पा० [illegible] ॥ ६ [illegible] ॥ ७ [illegible] १०८- ॥ ८ यूपत्वेनामतो य । यूपत्वेनामतो भ० ॥ ९ [illegible] ॥ १० ननु यथा [illegible] ननु यथा [illegible] ॥ ११ तद्विपर्यायो ॥ १२ [illegible] ॥ १३ [illegible] ॥ १४ [illegible] ॥

स्याद् यूपं छिनत्ति स्वीकरोतीति यावत्, अदृष्टार्थो वा।

अवधारणवैषम्यमप्यतः। इयं भावना – या तत्र भावना यूपं छिनत्ति च्छेदनेन यूपं स्वीकरोतीति, न च च्छेदनमेवेत्यवधार्यतेऽष्टाश्रिकरणादीनामसंस्कारत्वप्रसङ्गात्, किन्तु करोत्येवेत्यवधार्यते, सेह न शक्याश्रयितुमवधारणासम्भवात्, हवनेन ह्यग्निहोत्रं करोति न प्रव्रज्यादिना, न च करोत्येवेत्यवधार्यते स्वर्गादिकामाभावे करणाभावात्।

अत एव प्रसिद्धिवैषम्यमपि, तस्याप्रसिद्धस्य क्रियाकलापाभिमतार्थनामधेयमात्रत्वात्। शैलीप्रामाण्ये चास्य शैल्या यूपक्रियाऽयाथार्थ्यात्।

अवधारणवैषम्यमप्यत[1] इयमित्यादि। अनन्तरोक्ता येयं भावना, अनयैव भावनयावधारणवैषम्य[2]मपि भावयिष्यामि, अत आह – या तत्र भावना यूपं छिनत्ति च्छेदनेन यूपं स्वीकरोतीति छिदेः संस्काराभावे यूपस्वीकरणार्थताया उक्तत्वात्। तत्र च कथमवधार्यम्? उच्यते – न च च्छेदन[3]मेवेत्यवधार्यते, करोतीति वर्तते। कस्तत्र दोष इति चेत्, यत एवकारस्ततोऽन्यत्रावधारणम्, [4]अष्टाश्रिकरणादीनामसंस्कारत्वप्रसङ्गः, तदत्र प्रसक्तम्, तत् तु नेष्यते। किन्तु करोत्येवेत्यवधार्यते स्वत्वेनापरिग्रहमात्रप्रतिषेधार्थम्[5]। एषावधारणभावना यूपे। सेह हवनविधिवाक्ये न शक्याश्रयितुम्। किं कारणमशक्येति चेत्, अवधारणासम्भवाद्धवनेनाग्निहोत्रं करोतीति। कथं पुनरसम्भवः? यस्माद्धवनेनाग्निहोत्रं करोति न प्रव्रज्यादिना, न च करोत्येवेत्यवधार्यते स्वर्गादिकामाभावे करणाभावादित्यवधारणवैषम्यम्।

हवनेनाग्निहोत्रं करोतीति हवना[6]दन्यस्याग्निहोत्रस्याभावादत एव प्रसिद्धिवैषम्यमपि, तस्याग्निहोत्रस्याप्रसिद्धस्य क्रियाकलापाभिमतार्थनाम[7]धेयमात्रत्वात् प्रसिद्धयूपद्रव्यच्छेदनादिवैषम्यम्।
१७-२ मात्रग्रहणं नामधेयत्वसामान्यमेवानुमीयेत नार्थविशेषः 'इदं तदग्निहोत्रं नाम[8] वस्तु' इति। तस्मात् प्रसिद्ध्यप्रसिद्धिभ्यामपि वैषम्यमिति।

अतस्तदर्थत्रयमुपसंहृत्य हेतुहे[9]यनिगमनार्थमाह – शैलीप्रामाण्ये चास्य शैल्या यूपक्रियाऽयाथार्थ्यात्। शैलीप्रा[10]माण्ये चावलम्ब्यमा[11]नेऽस्याग्निहोत्रस्य शैल्या यूपक्रियाया उक्तविधिनैवायाथार्थ्यात्, यथार्थभावो याथार्थ्यम्, न याथार्थ्यमयाथार्थ्यम्, तस्मादयाथार्थ्याद् यूपक्रियया अग्निहोत्रक्रियायाः शैलीसाम्यं नास्ति। अतो न युक्तम् – विध्य[12]न्तरविधानशैल्या तत्सिद्धिर्यूपच्छित्त्यादिवदिति। अथवा [13]*शैलीप्रमाणं शैल्यनुमानम्, तस्मिंश्च* शैलीप्रा[14]माण्येऽभ्युपगम्यमाने चाग्निहोत्रस्य शैल्या यूपक्रियाया

---

१ °म्यप्यत भा०। °म्येप्यत य०॥ २ °म्यपि य०॥ ३ °नमवेध्यवधार्य य०। °नमवेध्यर्यते भा०॥ ४ अत्र 'अतोऽष्टाश्रिकरणादीनामसंस्कारत्वप्रसङ्ग' इत्यपि पाठः स्यात्॥ ५ स्वत्वेन परि प्र०॥ ६ °नाद्यन्य° प्र०॥ ७ °मवेयत्रत्वात् प्र०॥ ८ नामस्त्विति य०॥ ९ हि गतौ [पा० धा० १२५८], सर्वेषां गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वाद् हिनोति गमयतीति हेतुर्लिङ्गमित्यर्थः, तथा च हेयं गम्यं साध्यमित्यर्थः॥ १० °प्रमाण्यं य०॥ ११ °मानस्याग्निहोत्रस्य यूपक्रियाया प्र०॥ १२ दृश्यतां पृ० १३६ पं० ५॥ १३ भा० प्रतौ * * एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठो नास्त्येव॥ १४ °प्रमाण्ये° भा०॥

ननु सेवादिवत् क्रियामात्रत्वे इतिकर्तव्यताभ्यः प्रतिपत्तिः, न, भजनार्थसेवाज्ञातत्वे तासां सेवार्थत्वात्। इतरथा प्रतिक्रियं पृथक्त्वापत्तेः।

नात्रापि दानाद्यर्थत्वाद्वैषम्यमुत्तरक्रियामात्रत्वाच्च। एतदपि न, लोकविदितदानाद्यर्थानुबद्धेतिकर्तव्यतामात्रार्थतापत्तेरग्निसम्प्रदानविरोधात् 'न तु लौकिक एव

अयाथात्म्यात् कथङ्कारं विधिविध्यन्तरशैल्योस्तुल्या प्रसिद्धिः, अलौकिकत्वादनुमानानुपपत्तेः? लोके हि दृष्टमनुमीयते, न तु यूपकरणमष्टाद्यादिरूपमग्निहोत्रकमधर्मस्वरूपपृथग्भूतं प्रसिद्धमस्ति यतस्तच्छैल्याग्निहोत्रशैल्यनुमीयेत। तस्माच्छैलीप्रामाण्ये चास्य शैल्या यूपक्रियाऽयाथात्म्यात् तत्सिद्धिरयुक्तैव। श्येनाग्निहोत्रयोर्भेदेऽपि श्येनानुवादविशिष्टाग्निहोत्रविधित्वे चोक्तन्यायेन दृष्टान्तवैषम्यान्न शैल्यनुमानमिति।

आह–**ननु सेवादिवत् क्रियामात्रत्वे इतिकर्तव्यताभ्यः प्रतिपत्तिः**। यद्यप्यग्निहोत्रक्रियामात्रत्वे यूपच्छेदादिशैलीवैषम्यं तथापि सेवादिक्रियावदेव तद्भविष्यति। यथा हि सेवेत्युपस्थानाञ्जलिकरणादिस्वाम्याज्ञानुवृत्तिभजनार्था विशेषे[ण] मनोवाक्कायपरिस्पन्दभेदात्मिका एकैव स्वामिचित्तानुरोधलक्षणा सेवा एवमग्निहोत्राख्या क्रिया न सा स्वावयवकलापव्यतिरिक्ता काचिदस्ति। तस्मात्ता एव पश्वालम्भन- १८१ प्रोक्षणादिक्रिया 'अग्निहोत्रम्' इत्यभेदेनोच्यन्ते। आदिग्रहणात् कृषिवाणिज्यादिक्रियामात्रत्वे सौभ्य एव इतिकर्तव्यताभ्यः प्रतिपत्तिस्तथेहापीति।

अत्रोच्यते–तन्न, **भजनार्थसेवाज्ञातत्वे तासां सेवार्थत्वात्**, अत्रापि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यादित्यभिसम्बन्धः। तद्दर्शयति–भजनं भक्तिः, सेवाथ सेवाया इति भजनार्था सेवा, तस्याः सेवाया ज्ञातत्वे तासां तदवयवाभिमतानामुपस्थानाञ्जलिकरणादीनां सेवार्थत्वात्, अज्ञातत्वे तदर्थाप्रतिपादनात्, ज्ञाता एव हि ताः 'सेवा' इति प्रतिपत्तिं जनयन्ति, नान्यथा। न त्वेवमग्निहोत्रावयवक्रिया ज्ञाता, तस्माद्वैषम्यम्। अवश्यं चैतदेवम्, **इतरथा प्रतिक्रियं पृथक्त्वापत्तेः**, यथा कृषिसेवयोः परस्परं तदङ्गक्रियाणां च पृथक्त्वं तदङ्गत्वेनाज्ञातत्वादेवमग्निहोत्रस्य तदङ्गक्रियाणां च स्यात्, न तु भवति तदङ्गभावेनाज्ञातत्वादग्निष्टोमादीनामिति।

आह–**नात्रापि दानाद्यर्थत्वाद्वैषम्यम्**। किं कारणम्? अत्रापि हु दानादनयोः [पा० धा० १०८३] इति दानाद्यर्थत्वाद्धवनादीनां ज्ञातत्वम्, अतोऽग्निहोत्रस्यापि ज्ञातदानाद्यङ्गक्रियत्वात् साम्यमेव सेवादिभिः। किञ्चान्यत्–**उत्तरक्रियामात्रत्वाच्च**, यथा सेवाया उत्तरक्रियामात्रत्वमुपस्थानादीनामेवमग्निहोत्रस्याग्निष्टोमादीतिकर्तव्यतानामिति। **एतदपि न, लोकविदितदानाद्यर्थानुबद्धेतिकर्तव्यतामात्रार्थतापत्तेः**। एवमपि लोकविदितदानाद्यर्थैरनुबद्धाया इतिकर्तव्यताया योऽर्थस्तन्मात्रार्थत्वमापन्नं १८२

---

१ स्तुल्या प्रसिद्धिरलौकि भा०। 'स्तुल्यार्थो प्रसिद्धौरलौकि' य०॥ २ एशाद्यादि वि० विना। एशाद्यादि वि०॥ ३ यूपक्रियायायाथात्म्यात् य। यूपक्रियायायाथात्म्यात् भा। दृश्यतां पृ० १०८-२॥ ४ योन भा॥ ५ दृश्यतां पृ० १०२-१॥ ६ मात्रत्व प्र०॥ ७ स्ताभ्य य॥ ८ दृश्यतां पृ० १३७ पं० १॥ ९ प्रतिक्रिया प्र॥ १० आर्थापत्ते भा॥

गृह्यमाणे' इत्याद्युक्तदर्शनवत् । नैव सा तथाभूतार्था हवनक्रिया, तदाभत्वात् । प्रधानादिवादसाधुता च, प्रसिद्धिविपरीततत्त्वस्थितार्थत्वात्, वेदवादवत् । वेदवादासाधुता वा तद्वत् ।

अथ 'अग्निहोत्रम्' इत्यस्यापूर्वविशेषाभिधानार्थतैव कल्प्येत तथा सति अपूर्वाभिधाने कोऽर्थः कृतः स्यात्? यः स्वर्गकामः स हवनेन स्वर्गं भावयेदित्ययमर्थः

मग्निहोत्रस्य । लोके ह्यनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्, सङ्गत्य प्रीत्या दानमस्मिन्स्तत् सम्प्रदानम्, तस्मै दानं यत्र स्वपरानुग्रहो विद्यते तादृगस्त्यागो दानम्, न तु यत्र क्वचन मूत्रपुरीषादिविसर्गवद् द्रव्यविसर्गो भस्मनि वा सर्पिः[1]प्रक्षेपवत् । तस्मात् स्वपरोपकारकमेव अग्नौ सर्पिरादिविसर्जनं सर्वं स्यात्, न चैतदिष्टं दृष्टं वा । किं कारणम्? **अग्निसम्प्रदानविरोधात्**, तस्याग्नेर्दहनात्मकस्य सर्वद्रव्याणां विनाशकस्य सम्प्रदानत्वविरोधात, छिन्नपाणेर्मत्स्याभयदानवत् मुषितस्य वा चौ[2]राभयप्रदानदानवत्, 'अग्नये' इति सम्प्रदान[3]विशेषोक्तेर्लोकयज्ञतुल्यत्वा[4]ल्लौकिक एव गृह्यमाणेऽर्थे इदमेवं नैवं चेति विचारोऽर्थवान्न भवति, यदि भवेच्चतुष्पात्त्वे सत्युत्प्लुत्य गमनाल्लोमशो[5] हरिणवद् मण्डूकस्तत एव निर्लोमा हरिणो मण्डूकवत् स्यादिति प्रसिद्धिविपरीतं सिध्येल्लोका[6]प्रमाणीकरणे इति तत् प्रसक्तमिहापीत्यत आह – **न तु लौकिक एव गृह्यमाणे इत्याद्युक्तदर्शनवदिति** ।

नैवं[7] सेत्यादि अत्राप्यनिष्टापादनसाधनम्, **नैवं[8] सा तथाभूतार्था हवनक्रिया तदाभत्वात्**, तदाभत्वमस्याः परमार्थेन अदानात्मिकाया दानत्वेनादानात्, तच्च सिद्धम् । यथा बालरमणकादिक्रियायां स्वाद्वन्नादिसंज्ञादिक्रियायामन्योन्यदानभोजनादिक्रियास्तदा[9]भा एव एवमिदमपि दा[10]नमग्नौ प्रक्षेप इति ।

९९-१ इदं चात्रानिष्टापादनम् – **प्रधानादिवादसाधुता च प्रसिद्धिविपरीते**त्यादि, प्रसिद्धेर्विपरीतं तत्त्वम्, तद्भावस्तत्त्वम्, प्रसिद्धिविपरीते त[11]त्त्वे स्थितोऽर्थोऽस्य वादस्य, तद्भावात् **प्रसिद्धिविप[12]रीततत्त्वस्थितार्थत्वाद् वेदवा[13]दवत्** साधुता स्यात् प्रधानसंसर्गक्षणभङ्गाद्यात्मकादिवादानाम् । प्रधानादिवादानां वा असाधुताभ्युपगमवदुक्तहेतो**र्वेदवा[14]दासाधुता वा** स्यादित्युभयथाप्यनिष्टापादनम् ।

अथाग्निहोत्रमित्यादि । **अथे**त्यधिकारान्तरे, अथैतेषु विकल्पेष्वग्निहोत्रशब्दस्य क्रियावाचित्वे सर्वथा दोषोत्पादभीतेन परेण **'अग्निहोत्रम्' इत्यस्यापूर्वविशेषाभिधानार्थतैव कल्प्येत** । न पूर्वो[15]ऽपूर्वोऽदृष्टो धर्मविशेषः, तदभिधानमर्थः प्रयोजनं व्यापारः, तद्भावोऽपूर्वविशेषाभिधानार्थतैव कल्प्येत । **विशेष**[16]शब्दात् परस्परविशिष्टाभिर्यज्ञसंस्थाभिरग्निष्टोमादिभिरिष्टिभि[17]श्चाभिव्यक्तव्यापूर्वा अपि [18]विशेष्यन्ते द्रव्य-

---

१ सर्पिःनिक्षेप° भा० ॥ २ चौरभय° य० । चौरभऽय° भा० । अत्र 'चौराभयप्रदानवत्' इत्यपि पाठ स्यात् ॥ ३ °विशेषोर्लोक य० ॥ ४ °त्वादलौकिक° प्र० । दृश्यता पृ० ४५ पं० २ ॥ ५ °ल्लोममो य० । °ल्लोमनो भा० ॥ ६ °काप्रामाण्यक° प्र० । तुलना पृ० ४६ पं० ४ ॥ ७ नैव सेत्यादि प्र० ॥ ८ नैवं सा य० ॥ ९ °दाभाव एवमिदमपि प्र० ॥ १० दानमन्यै प्रेक्षे इति य० । दानमन्यैः प्रेक्षे इति भा० ॥ ११ तथे भा० । तथैव य० ॥ १२ °रीतत्वस्थि° प्र० ॥ १३ °वादत् भा० । °वादात् य० ॥ १४ दृश्यता पृ० १०९-१ ॥ १५ °पूर्वः दृष्टो प्र० ॥ १६ °शब्दः पर° प्र० ॥ १७ °श्चाभिर्व्यक्तव्याऽपूर्वापि प्र० ॥ १८ चिशेष्यते डे० ली० । विशिष्यते वि० र० ही० ॥

कृतं स्यात्, किमूनीकृतमर्थाविद्यायाः ? यावदेव स्वर्गकामो जुहुयादित्युक्तं भवति तावदेव अपूर्वं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्युक्तं भवति, ततो भावनस्य गतार्थत्वात्। न च स प्रत्यक्षोऽपूर्वो यतस्तेन निरूपणमारभ्येत–येन हवनेनापूर्वो निर्वर्तते तदनुष्ठानव्यम्।

मन्त्रदेवतादिविशिष्टानि । मा भूद् यज्ञसंज्ञायाः क्रियाया एव धर्मत्वं यथा कैश्चिन्मीमांसकैरेव व्याख्या-यते–यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् [ऋग्वेद० १०।९०।१६] इति, किं कारणम् ? तस्मिन्नर्थे प्रत्यक्षत एवानित्यायाः क्रियायाः अनन्तरं फलमस्य चादर्शनात् क्रियावैफल्यदोषप्रसङ्गाच्च 'अग्नि-होत्रम्' इति धर्मं क्रियाभिव्यङ्ग्यं उच्यते कार्ये कारणोपचाराग्निहोत्राभिव्यङ्ग्योऽग्निहोत्रमिति । ततः 'अग्निहोत्रं धर्मं जुहुयाद् भावयेत् स्वर्गकामः' इत्यपि वाक्यार्थो निरूप्य इत्येतमर्थं स्वीकारयितुं विधिविधिनय पृच्छति–**तथा सति अपूर्वाभिधाने कोऽर्थः कृतः स्यात् ?** अर्थशब्दस्य प्रयोजनाभिधेययोर्दृष्टत्वात् कोऽर्थः साधितः, किं प्रयोजनं कृतं स्यात् ? कोऽभिधेयः समर्थितः स्यात् ? 'विधिनयो ब्रवीति–यः १९,२ **स्वर्गकामः** स हवनेनेतिकर्तव्यताविशेषेण **स्वर्गं भावयेदित्ययमर्थः कृतः** साधितः समर्थितः स्यादित्यर्थः । विधिविधिनय आह–विधायपर्यायलब्धज्ञानोत्पादनार्थं आनर्थक्यनिराकरणार्थत्वाच्च शब्दप्रयो-गस्य **किमूनीकृतमर्थाविद्यायाः** इति, न किञ्चिदूनीकृतमित्यभिप्रायः । तत् समर्थयति–**यावदेवे**त्यादि, यदुक्तं भवति यः **स्वर्गं कामयते स जुहुयादिति तदुक्तं भवति अपूर्वं जुहुयात् स्वर्गकाम इति,** नापूर्वोऽर्थोऽग्निरोऽग्निहोत्रशब्देन लभ्यते, हवनेनैव तस्याभिव्यङ्गत्वात् 'जुहुयात् स्वर्गकाम' इत्येतावतैव गतार्थत्वात् 'जुहुयाद् धर्मं भावयेत् स्वर्गकाम' इत्येतस्या वाक्यार्थव्यक्तौ कोऽग्निशब्देन होत्रशब्देन चार्थः ? तत्र आह–**ततो भावनस्य गतार्थत्वात्,** भवन्तं धर्मं भावयतो हेतुकर्तृसाधनमाश्रयस्य धात्वर्थस्य भावनस्य जुहुयाच्छब्दप्रयोगादेव गतार्थत्वान्नार्थः कश्चिदग्निहोत्रमित्यनेन ।

एवं तावदग्निहोत्रशब्दस्य प्रयोगो निरर्थकः । प्रसिद्धिविरुद्धा चेयं कल्पना, लोके वेदे वा तस्य तथाभावात् । अभ्युपेत्यापि अपूर्वविशेषाभिधानमप्रत्यक्षत्वात् तन्निरूपणं हवनेन नोपपद्यत इति ब्रूमः, निरूपणवैधर्म्यात् । इह हि यद् घटादि वस्तु मृदानयनमर्दनादिक्रियया निरूपणाय प्रत्यक्षतः व्यपदिश्यते [तद्] व्यपदिश्यते 'अनया क्रियया घटो निर्वर्तते, अस्मात् कार्यम्, इदं कारणम्' इति, दृष्टकारणकार्यसम्ब-न्धत्वात् । न त्वात्वदृष्टपूर्वस्य साधर्म्यदृष्टान्ताभावेऽनुमानाभावात् । अत आह–**न च स प्रत्यक्षोऽ-** १००,१ **पूर्वो यतस्तेन निरूपणमारभ्येत** हवनस्य कार्यं स इदं चास्य कारणमिति । निरूपणं व्याख्येत्यर्थः । सा कथं व्याख्येति चेत्, उच्यते–**येन हवनेन** दृष्टापूर्वनिर्वर्तनशक्तिना निर्वर्त्योऽग्निहोत्राख्योऽपूर्वो

---

१ कैरेव भा० ॥ २ न्यासति प्र० ॥ ३ प्रमणात्र भा० । प्रसगत्र य० ॥ ४ यस्य इत्युच्यते य० ॥ ५ इत्येतमर्थं प्र० ॥ ६ अत्र अपूर्वाभिधानेन इत्यपि पाठः स्यात् । दृश्यतां पृ० १५२ पं० १४ ॥ ७ जन कर्थं स्यात् प्र० ॥ ८ विधे नयो प्र० ॥ ९ हवनेन चेतिकर्त भा० ॥ १० विशेषणेन प्र० ॥ ११ साधित साधित स्यादित्यर्थ य० ॥ १२ त्वादिविधा प्र० ॥ १३ योगमानिमनी भा० । योगे स क्रिमनी य० ॥ १४ कामयति प्र० ॥ १५ त्वानभिरू भा० । त्वाभिरू य० ॥ १६ लविधार प्र० ॥ १७ निरूपणमिति चेत् ॥ १८ साधर्म्या(म्य?)दृष्टान्ता य० । साधर्म्यादृष्टान्ता भा० ॥ १९ यास्य भा० ॥

अथोच्येत – अस्यास्तावत् प्राप्तेः प्रसिद्धिर्भविष्यति, तदनुबन्धाचेतिकर्तव्यतैव कर्तव्यता। न तर्हि पुनः 'जुहुयात्' इति वाच्यं स्यात्।

अपि चैवमुत्तरोत्तरविरोधपरिहारविचारप्राप्यार्थपरिग्रहात् पुरुषप्रमाणकस्तर्के

निर्वर्तते तत्[1] त्वयानुष्ठातव्यं हवनम्, यथा मृदानयनादिक्रिया घटनिर्वर्तनार्थमिति। तत्तु[2] न युज्यते, अत्यन्तमदृष्टकारणकार्यसम्बन्धत्वादनयोः।

सम्भावनयैतदपि कृत्वा कल्पनात्मिकयोक्तमपि न सम्भवतीति येऽभिहिता दोषास्तत्परिहारमनादृत्य परेण प्रसिद्धि[3]मात्रप्रतिपादनार्थ**मथोच्येत – अस्यास्तावत् प्राप्तेः प्रसिद्धिर्भविष्यतीति** ततो दोषपरिहारो भविष्यतीति । **प्राप्ते**[4]**रिति**, **स्त्रियां क्तिन्**[5] [पा० ३। ३। ९४] इत्यत्र 'आचादीनां च' इति वक्तव्यं **गुरोश्च हलः** [पा० ३। ३। १०३] इति 'अ'प्रत्ययेनापवादेन मा भूद् वाचेति प्रापणात् प्राप्तेर्वाक्यान्तरप्रापिता प्रसिद्धिर्भविष्यति। अग्नये होत्रमग्निहोत्रमिति चतुर्थीसमासः, योगविभागाद[6]श्वघासाद्युपसङ्ख्यानाद्वा रूपसिद्धिस्तदर्थप्रसिद्धिश्च, ततः करणं तत्फलसम्बन्धश्च कर्तुरिति सर्वमुपपन्नम्। कतमस्माद्वाक्यात् प्रापिता प्रसिद्धिरिति चेत्, वक्ष्यमाणे वाक्यान्तरे **यदग्नये**[7] **च प्रजापतये च सायं जुहोति** [मै० 'सं० १।८।७] इति, **घृतेन**[9] **पयसा दध्ना जुहुयात्** [ ] इति। **तदनुबन्धाच्च इतिकर्तव्यतैव कर्तव्यता,** तस्याः प्राप्तेर्वाक्यान्तरप्रापिताया अनुबन्धात् सम्बन्धादनुपरताकाङ्क्षाद्युत्तराः सर्वा इतिकर्तव्यता एव कर्तव्यताः। तासां चेतिकर्तव्यतानां प्रसिद्धिरग्निहोत्रस्य प्रसिद्धिस्तदात्मकस्येति। अत्रोच्यते – **न तर्हि पुनः**
१००-२ **'जुहुयात्' इति वाच्यं स्यात्,** अग्निहोत्रशब्देनैव अग्निप्रजापत्यादिसम्प्रदानजुहोत्यादीतिकर्तव्यतेनोक्तार्थत्वात् पुनरपि प्रागभिहितो यो **न**[10] **हि कश्चिज्जुहोतिपुनर्वचनेन** इत्यादिग्रन्थार्थः स एव दोषप्रपञ्चोऽस्मिन्नपि व्याख्याध्वन्युपस्थितः।

अपि चैवमित्यादि। किञ्चान्यत्, अत्रापि पुरुषप्रमाणकवादापत्तिः। कि कारणम्? **उत्तरोत्तरविरोध-**

---

१ दृश्यता पृ० १५२ प० १५॥ **२ तत्र न** प्र०। अत्र 'तच्च न' इत्यपि पाठ स्यात्॥ ३ अत्र '°**प्रसिद्धिमात्र**°' इत्यपि पाठ स्यात्॥ **४ प्राप्तिरिति** प्र०॥ **५ क्तिरित्यत्र अपादीनां** प्र०। "स्त्रिया क्तिनित्यत्र आचादिभ्यश्चेति वक्तव्यम्" इति **पा**तञ्जलमहाभाष्ये ३।३।९४॥ ६ °**दस्वमाद्युप**° प्र०। "विकृति प्रकृत्येति चेत्, अश्वघासादीनामुपसङ्ख्यान कर्तव्यम्" इति **पा**तञ्जलमहाभाष्ये २।१।३६॥ **७ यदग्नये र प्रजा**° प्र०। "शास्त्रान्तरेण प्राप्तत्वात्। कि तच्छास्त्रान्तरमिति चेत्, 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' इति केचित्" इति अर्थसङ्ग्रहे पञ्चमपरिच्छेदे॥ ८ "त्रेयमेवा वै सर्वे सह ब्रह्माविदु, तेऽग्निहोत्रेण समरावयऽस्तेषा त्रिरेकोऽजुहोद् द्विरेक सकृदेकऽस्तेषा यस्त्रिरजुहोत् तमपृच्छन् कस्मै त्वमहौपीरिति, सोऽब्रवीत् – त्रेधा वा इदम् अग्नये प्रजापतये सूर्यायेति। अथ यो द्विरजुहोत् तमपृच्छन् कस्मै त्वमहौपीरिति, सोऽब्रवीद् द्वेधा वा इदम् अग्नये च प्रजापतये च साय सूर्याय च प्रजापतये च प्रातरिति। अथ य सकृदजुहोत् तमपृच्छन् कस्मै त्वमहौपीरिति, सोऽब्रवीद् एकधा वा इदं प्रजापतय एवेति। तेषा यो द्विरजुहोत् स आर्ध्नोत् तस्येतरे साजात्यमुपायन् ऋध्नोति य एव विद्वानग्निहोत्रं जुहोति उपास्य समाना साजात्यऽ यन्ति।" इति कृष्णयजुर्वेदस्य मैत्रायणीसहिताया पाठ॥ ९ "आज्येन जुहुयात् तेजस्कामस्य, तेजो वा आज्यम्, तेजस्वी एव भवति। पयसा पशुकामस्य, एतद्वै पशूना रूपम्, रूपेणैवास्मै पशूनवरुन्धे, पशुमानेव भवति। दध्नेन्द्रियकामस्य, इन्द्रियं वै दधि, इन्द्रियाव्येव भवति।" इति तैत्तिरीयब्राह्मणे २।२।५।३८॥ १० दृश्यता पृ० १३२ पं० १॥

आश्रितो भवति सामान्याद्यर्थैकान्तवदेव । स चानिष्ठ, पौनरुक्त्यादेरसत्कार्यवादाभ्युपगमात् पुनस्तत्त्यागात् ।

एकावस्थामात्रविच्छिन्नपूर्वापरतत्त्वाग्न्यादिभिन्नवस्तुत्वाभिनिवेशविधानाच्च कुर्यादिति कारणे कार्यस्यासत्त्वैकान्ताभ्युपगमात् सर्वगतसत्कार्यकारणवृत्तित्वे

परिहारविचारप्राप्त्यार्थपरिग्रहात्, अग्निहोत्रहवनयोः पौनरुक्त्यादिदोषाद्विरोध इत्युक्ते 'अनुवादनिधित्वे न' इति परिहार, पुनरप्रसिद्धत्वाद्विरोध इत्युक्ते 'कुर्यादर्थो जुहुयाच्छब्दः' इत्येवमादिविचारै प्राप्योऽर्थस्त्वया परिगृहीत, अत स्वबुद्धिप्रामाण्यावलम्बनात् **पुरुषप्रमाणकस्तर्क आश्रितो भवति,** तर्कलक्षणं च अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः [न्या० सू० १।१।४०] इति । किमिव ? **सामान्याद्यर्थैकान्तवदेव,** यथा 'सामान्यमेव, विशेषा एव, सामान्यं विशेषाश्च' इत्येवमाद्यर्थपरिग्रहे प्रागुक्तविधिना पूर्वोत्तरविरोधपरिहारप्राप्योऽर्थोऽशक्यप्राप्तिरफल पुरुषप्रमाणत्वात् तथाऽयमपि तर्क । **स चानिष्ठ** इति, अपि च तर्कोऽप्रतिपूर्णो यदि न भवेदाश्रीयेत, किन्तु न प्रतिपूर्ण । कस्मात् ? दोषवत्त्वात् । कतमस्माद्दोषवत्त्वात् ? **पौनरुक्त्यादेरसत्कार्यवादाभ्युपगमात् पुनस्तत्त्यागात् ।** जुहुयादुक्त पौनरुक्त्यादिदोषा प्रागुक्तवत ।

असत्कार्याभ्युपगमप्रदर्शनार्थमाह—**एकावस्थामात्रविच्छिन्नेत्यादि** यावत् **कुर्यादिति कारणे कार्यस्यासत्त्वैकान्ताभ्युपगमात् । एकावस्थामात्रविच्छिन्नपूर्वापरतत्त्वाग्न्यादिभिन्नवस्तुत्वाभिनिवेशविधानाच्चेति,** चशब्दाज्जुहुयादुक्तेश्च, एकस्यैवावस्था एका च सावस्था च एकावस्था, तत्परिमाणमेकावस्थामात्र तिमितमर सलिल यद्विच्छिन्नम्, तस्यैव पुनस्तत्त्व विच्छिन्न पूर्वस्यापरस्य चेन्धनादेरग्न्यादेर्भस्मादेर्घटकपालादेश्च परविषयसामान्यवादिमतवत्, सर्वैकयावस्य सतोऽग्न्यादेर्भिन्नवस्तुत्वेनाभिनिवेशस्तदभ्युपगमोऽग्निरिति परमाणुद्व्यणुकादिर्भूम्यवादिसयोगसम्भूतवनस्पतीभूताग्निभस्मत्रुटिपरमाण्वादिविच्छिन्नावस्थामात्रत्वे सति अग्निरिति भवति क्रमेण परिणामभेदाभ्युपगमात्, तस्य विधानात्, 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इति च हवनक्रियानुष्ठान तत्फलाभिमत स्वर्गस्तयोश्च सम्बन्ध इति परस्पर विघटितत्वान्नोपपद्येत पूर्वापराभ्युपगमयो । किं कारण विघटितत्वमिति चेत्, उच्यते—**कारणे कार्यस्यासत्त्वैकान्ताभ्युपगमादिति** विघटनप्रदर्शनम् । एव हि कारणे घृतादौ कार्यस्याग्निहवनकर्मणस्तत्कार्यस्य च स्वर्गादेरसत्त्वे सति करणमुपपद्यते, तच्च सति नोपपद्यते सिद्धान्तवचनवत्, विशिष्टकाम्यावस्थाभ्युपगमे च पुरुषादिकारणात्मकसर्वैक्याभ्युपगमविरोधिनि सत्युपपद्यते नान्यथेत्यत आह—**सर्वगतसत्कार्यकारणवृत्तित्वे भेदविधिनिर्विषय**त्वात्, सुषुप्तजाग्रत्तुरीयावस्थाक्रमेणैकस्यैव युगपद्वा सर्वगत पुरुषाद्य कारणम्, तच्च सत्कार्यम्,

---

१ द्रष्टव्यं पृ० १२४ प० २ ॥ २ पुनप्रसि वि० विना । पुन प्रसि वि० ॥ ३ द्रष्टव्यं पृ० १२६ प० २ ॥ ४ चानिष्ट प्र० ॥ न विद्यते निष्ठा प्रतिपूर्णताऽस्येत्यनिष्ठोऽप्रतिपूर्ण इत्यर्थ ॥ ५ किन्तु व प्रतिपूण प्र० ॥ ६ पर स्याद्यादि प्र ॥ ७ तदाग्द्रा भा । तद्गदा पा० ४ नीं १० ही । तन्द्रग्द्रा वि० ॥ ८ तिम टिम टीम आर्द्रीभाव पा० धा० ॥ ९ यधनादे य० ॥ १० गमे य० ॥ ११ भूम्यत्यादि प्र० ॥ १२ त्रुटितपर य० ॥ १३ पपद्येत भा ॥ १४ विघटितमिति प्र । अत्र विघटनमिति इत्यपि पाठ स्यात् ॥ १५ रितत्वदीयावस्थाक्रमेणै य० । रितन्वीया यस्यात्रमेणै भा । द्रष्टव्यं पृ० १३२-२ ॥

भेदविधिनिर्विषयत्वात् सर्ववस्तुसन्निधिसद्भूतैव सा भेदसाधनसम्बन्धाभिनिर्वर्त्येति विधीयते, तदनु यथाभागकारकविन्यासात्मिकयेतिकर्तव्यतयानुष्ठीयते । अतोऽसौ प्राग् नासीत्, कार्यत्वेन परिगृहीतत्वात्, विशेषैकान्तिवस्तुवत् । स चाप्रतिपूर्ण-स्तर्कः, असिद्धहेतुकत्वात् प्रतितर्केण बाध्यत्वाच्च ।

न तु तत्त्वमेवं वस्तुनोऽसत्कार्यत्वम् व्यङ्ग्यत्वात्, पिण्डकालघटवत्, तत्त्व

सर्वगतं च तत् सत्कार्यकारणं च तदिति विग्रहात्, वक्ष्यमाणविधिविधिनयदर्शनेन तद्वृ[1]त्तित्वे 'अग्निहोत्रं कुर्यात्' इति भेद[2]विधिनिर्विषयत्वमन्याय्यभावात् । यथोक्तम्—

> न[3] कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।
> १०१-२ परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद् यतयो विशन्ति ॥ [कैवल्योप० २]

तथा—

> पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।
> उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ [शुक्लयजु सं० अ० ३१।२]

इत्यादि, एतद्दर्शनं प्रतिपादयिष्यते । अतः **सर्ववस्तुसन्निधी**त्यादि, सर्ववस्तूनां सन्निधौ **सद्भूतैव सा** हवनक्रिया तथापि **भेदाः** साधनान्यस्याः, 'घृते[4]न पयसा जुहुयात्' इत्यादिभेदक्रिया एवाग्निहवनक्रियायाः साधनानि तान्यन्तरेण तदभावात् **साधनसम्बन्धाभिनिर्वर्त्येति विधीयते,** [5]*केन ? उपदेष्ट्रा स्वर्गकामं पुरुषं प्रति वचनेन त्वया कर्तव्येति विधीयते* । **तदनु** अनुष्ठात्रापि तदुपदिष्टभेदसाधननिष्पाद्येत्यभ्युपगम्य यो यो भागो यथाभागं कारकाणां विन्यास आत्मा यस्या इतिकर्तव्यतायाः सा **यथाभागकारकविन्यासा-त्मिका,** तया **इतिकर्तव्यतया** गवालम्भना[6]ज्यप्रक्षेपादिप्रकाररूपया**नुष्ठीयते,** सामर्थ्याद**तोऽसौ प्राग् नासी**दित्याश्रिता । कस्मात् ? **कार्यत्वेन परिगृहीतत्वात्,** 'कुर्याज्जुहुयात्' इत्यादिवचनात् कार्य-त्वेन निर्वर्त्यत्वेन परिगृहीतैव सा । दृष्टान्तो **विशेषैका[7]न्तिवस्तुव**दिति, यथा विशेषैकान्तवादिना 'कार्यमेव, न कारणम्' इति प्रतिक्षणोत्पत्तिविनाशात्मकत्वात् प्रतिपन्नं वस्तु तत् प्राग् नास्ति, तच्च त्वयाभ्युपगतं क्रियाभ्युपगमादिति त्वां प्रति साध्यसाधनधर्मान्वितो दृष्टान्तः, मयापि च तद[8]भ्युपगम्योक्तत्वादिति साध्य-साधनम् । एवमनेन तर्केणासत्कार्यवादोऽभ्युपगतस्त्वया भवति । **स चाप्रतिपूर्णस्तर्कः, असिद्धहेतुकत्वात् प्रतितर्केण बाध्यत्वाच्च ।**

न तु तत्त्वमेवं वस्तुनोऽसत्कार्यत्वम्, किं कारणम् ? **व्यङ्ग्यत्वात्,** व्यङ्ग्या हि सा क्रिया न कार्या, अविवक्षितप्रत्येकसमुदितघृतादिद्रव्यधर्मत्वेनाभिव्यक्तेः । को दृष्टान्तः ? **पिण्डकालघटवत्,** यथा
१०२-१ मृत्पिण्डकाल एव घटो विद्यमानोऽपि साधनान्तरापेक्षाभि[9]व्यक्तित्वान्नोपलभ्यते, शुक्रशोणितावस्थायामिव

---

१ तद्वृत्तित्वेनाग्निहोत्रं य० ॥ २ °विधिर्निर्वि° भा० वि० विना ॥ ३ न कर्मणा प्रजायन धनेन त्यागेनैकेन अमृतत्वमानसः प्र० ॥ ४ दृश्यता पृ० १४२ टि० ९ ॥ ५ * * एतच्चिह्नान्तर्गत पाठो य०प्रतिषु नास्ति ॥ ६ °नाजप्रक्षे° भा० पा० । °नातप्रक्षे° भा० पा० विना ॥ ७ °कान्तव° य० ॥ ८ त्वदभ्यु° प्र० ॥ ९ °व्यक्तत्वा° य० ॥

एवातथाभूतेर्घटस्वात्मवत्। अत एव च कारणमात्रमर्मा सह फलेनापि, तदात्मत्वात् तन्निर्वृत्तत्वात्, घटमृत्त्ववत्।

वा द्रव्यस्तम्भावस्थाविशेषान्तरत्वे सति उत्तरकालमुपलभ्यत्वात्, कायत्वादेव वा प्रकाश्यघटवदभिव्यञ्जनस्यैव करणावयवात्। इतरथा वन्ध्यापुत्रोऽपि 'म्रियताम्, असत्त्वाविशेषात्, घटवत्। एवं तर्हि सदसत्त्वमसमा सामर्थ्यापेक्षया व्यक्ताव्यक्तता एककारणतस्य बाधिका स्यादिति चेत्, नेत्युच्यते, कुत? तत्त्व एवातथाभूते, न ह्यव्यक्तावस्था नाम काचिदस्ति, किं तर्हि? तत्त्व एवायथाभावोऽस्ति, तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्मिन्तत्त्व एव तद्भावावस्थायामेवायथाभवनात्, तेनैव हि वस्तु स्वरूपावस्थायामेवान्यथा भवति, यद्यदन्यथा भवेद् मृत्पिण्डोऽपि घटो भवेत्, न तु भवति। साधर्म्यदृष्टान्तश्च **घटस्वात्मवत्।** यथा घटो घटस्वात्मत्वेन स्थितो नवपुराणतयोत्पद्यते तथा स एव मृत्पिण्डोऽन्यो घटो भवति, न तु मातृत्वाभिमताऽव्यक्तता नाम काचिदस्ति, यदि स एव घटो नवः पुराणतयाऽन्यो न भवेत् न पुराणः स्यात्, नव एव स्यात्, ततोऽन्यो वा घटादि पुराणघटः स्यात्, नैव वा कश्चिदपि भवेत्, तस्मात् तत्त्व एवातथाभूतेर्नाव्यक्तावस्था नाम काचिदस्ति। अत्राह—'घटस्वात्मवत्' इत्यय दृष्टान्त उपपद्यते नवावस्थानन्तरं पुराणावस्थानुभवात्, 'मृत्पिण्डकालघटवत्' इति न युज्यते तत्त्व एवायथाभावाभावात्, पिण्डानन्तरं हि शिवको भवति न घटो न स्तूपकच्छत्रकस्थालककोशककुशूलका इति। अत्रोच्यते—तुल्यत्वात्सत्तिरवाद् यथा घटो भवति कुशूलकात् तथा कुशूलकः कोशकात्, कोशकः स्थालकात्, स्थालकश्छत्रकात्, छत्रकः स्तूपकात्, स्तूपकः शिवकात्, शिवकः पिण्डात्, पिण्डो१०२२ मृदः, इति मृद एव तथा तथा भूतेः। अथवा किमनया साहसमृष्टिशर्मविकल्पनया? तस्यामेव मृत्पिण्डावस्थायां घटो भवतीति प्रतिज्ञाय स्थितमिदं मलिन्यक्तत्वङ्गन तत्त्व एवान्यथाभवनादन्यत्रापि सम इत्यनन्तदुपन्यासार्थमाह—मृत्पिण्ड[का]लघटवदिति। अथवा **तत्त्व एव तथाभूतेरिति** पाठः, तत्त्व एव तद्भाव एव सति तेन तेन प्रकारेण भवनात्, पिण्ड एव मूर्तिस्वभावरूपाकारमते शिवकात्मना नीलरक्ताद्यात्मना च भवनादिति।

अत एव च कारणमात्रमर्मा, तत्त्व एवातथाभूतेस्तथाभूतेर्वा कारणप्रमाणमर्मा इयनक्रिया घृतादिधारणेभ्यो न व्यतिरिक्ता, स्वहेतोरन्यथाभावात् 'कारणमात्रमर्मा क्रिया' इति प्रतिपत्तव्यमवद्यम्। न केवलं क्रियैव कारणमात्रम्, **सह फलेनापि** सा कारणमात्रम्, फलमप्यस्याः स्वर्गादि सुखादि घृतादिकारणान्यथाभवनमात्रम्। अत्रोपपत्तिद्वयं प्रतिपादितार्थस्य **तदात्मत्वात् तन्निर्वृत्तत्वादिति,** तस्य तदात्मा स आत्मास्येति वा तदात्मा, तेन तस्मिन्नस्य स एव वा निर्वृत्त, तद्भावस्याभिव्यक्तत्वं तदात्मत्वं च, तस्मात् तदात्मत्वात् तन्निर्वृत्तत्वाद् **घटमृत्त्ववत्,** घटस्य मृत्त्वं घटमृत्त्वं 'मृदेव घटः घट एव मृद्' यथा प्रतिपादित

---

१ म्रियतामसत्त्वा' डे० लीं०। म्रियता सत्त्वा पा० लि०। म्रिय(ता)मसत्त्वा भा०। म्रियमसत्त्वा ... ॥ २ एवतथा य ॥ ३ भवनात् भा ॥ ४ ...थाभावात् य० ॥ ५ कोशकत्वात्का भा०। कोशानुत्का य ॥ ... य०। ... भा० ॥ ७ ... पा० डे० लीं० ॥ ८ ... य० ॥ ९ दृश्यतां पृ० १४४ पं० ५ ॥ १० सति तेन प्रकारेण भा० ॥

नय० १

एकान्तवादस्वाभाव्यादितिकर्तव्यताकर्तव्यताभ्युपगमात्तु पूर्वोत्तरावस्थानुबन्धात् सर्पस्फटाटोपमुकुलप्रसारणकुण्डलीकरणवद् यज्ञोपवीतसूत्रतन्तुत्वपटत्ववद्वा संस्थानमात्रभिन्नकारणकार्यत्वाभ्युपगम आपद्यत इति कार्यत्याग इति स्वशब्दार्थापत्तिविषयविपरीतार्थत्वाद् विवक्षाभेदव्याघातः ।

यदीतिकर्तव्यता जनयति ततः सा तज्जन्या न, जनकत्वात् कारणत्वात्

तत्त्र एवातथाभूतेस्तथाभूतेर्वेति तद्वत् । तस्मात् कारणमेव क्रिया क्रियाफलं च । एवं तावदप्रतिपूर्णस्तर्कः 'प्राग् नासीत् क्रिया कार्यत्वेन परिगृहीतत्वात्' इति, असिद्धहेतुत्वात् प्रतितर्केण बाध्यत्वाच्चेति सुष्ठूच्यते ।

१०३-१ किञ्चान्यत्, स्वयमेव त्वया परित्यक्तत्वाच्चाप्रतिपूर्ण एव, कस्मात्? **एकान्तवादस्वाभाव्यात्,** एवंस्वभावा ह्येकान्तवादाः सर्वोक्तमृषात्ववादवत्, यथोक्तं त्वया 'तदनुबन्धाच्चेतिकर्तव्यतैव[1] कर्तव्यता'[2] इति ब्रुवता कारणे कार्यस्य सत्त्वमभ्युपगम्यासत्त्वं[3] च[4] त्यक्तं भवति, अतो ब्रूमः—**इतिकर्तव्यताकर्तव्यताभ्युपगमात्त्वित्यादि**[5] । इतिशब्दस्य प्रकारार्थवाचित्वादित्थमित्थं च कर्तव्यं 'घृतेन[6] जुहुयात् पयसा जुहुयात्' इत्यादिप्रकारा कर्तव्यता इतिकर्तव्यता, सैव कर्तव्यता कारणभूतास्ता एव प्रोक्षणादिक्रियाः 'अग्निहोत्रम्' इत्यभ्युपगमात्, **पूर्वोत्तरावस्थानुबन्धाद्** विच्छिन्नपूर्वोत्तरावस्थस्य कस्यचिदभावात् कारणमेव कार्यं **सर्पस्फटाटोपमुकुलप्रसारणकुण्डलीकरणवद् यज्ञोपवीतसूत्रतन्तुत्वपटत्ववद्वा,** सूत्रमेव यथा यज्ञोपवीताख्यां लभते तथासमवस्थानात् तथा तन्तव एव पटस्तद्वत् **संस्थानमात्रभिन्नस्य कारणस्यैव कार्यत्वमित्ययमभ्युपगम आपद्यते इति,** इतिशब्दो हेत्वर्थे, एतस्मात् संस्थानमात्रभिन्नकारणकार्यत्वाभ्युपगमापत्तेर्हेतोः कार्यस्य त्यागः **कार्यत्यागः,**[7] 'कुर्यात्' इत्ययं हि शब्दः कार्यार्थे सति अर्थवान् भवति, नान्यथा । पुनरितिशब्दो हेत्वर्थे, ततश्च कुर्यादर्थत्यागात् **स्वशब्दार्थापत्तिविषयविपरीतार्थत्वाद् विवक्षाभेदव्याघातः,** 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यनेन स्वशब्देनैवासत्कार्यवादोऽभ्युपगतः, 'तदनुबन्धाच्चेतिकर्तव्यतैव कर्तव्यता' इत्यर्थापत्त्या कारणात्मककार्यवादोऽभ्युपगतः, तयोरन्योन्यविपरीतार्थत्वाद्विरुद्धत्वाद्

१०३-२ विवक्षाभेदो व्याघातश्च । विवक्षाभेदस्तावदसत्कार्यवाचिनः शब्दस्य कारणात्मककार्याभिधानाभ्युपगमात् कारणात्मककार्यवाचिनश्चासत्कार्याभिधानाभ्युपगमात् । अत एव च परस्परतो विरोधाद् व्याघातोऽनयोः । अथवार्थद्वयस्य स्वशब्दार्थापत्तिविषयस्याभ्युपगमाद् विवक्षाभेदोऽयं पुरुषबुद्धिवशाद् वेदवादप्रामाण्यमपौरुषेयं व्याहन्तीति विवक्षाभेदव्याघातः, स च त्वया तत्त्वानपेक्षणदोषान्नेक्ष्यते वस्तुतत्त्वविचारप्रद्वेषिणा[8] यः कार्यकारणस्वरूपानपेक्षिणोऽपि बलादयं कारणकार्यतत्त्ववाद आपद्यतेऽनेकान्तरूपो वस्तुनस्तादात्म्यादनपेक्ष्यमाणोऽपि स्वमतव्याघातीति ।

एव कारणात्मकत्वेऽभ्युपगतेऽपि **यदीतिकर्तव्यता जनयती**ति इष्यते ततो न सा कर्तव्यता घृतादि-

---

१ दृश्यता पृ० १४८ प० ३, ४ ॥ २ °कर्तव्यतैव प्रतिपु नास्ति । दृश्यता पृ० १४२ प० १ ॥ ३ °म्य सत्त्वं प्र० ॥ ४ च तत्यक्तं भा० ॥ ५ °कर्तव्यत्वाभ्युपगमास्त्वित्यादि प्र० ॥ ६ दृश्यता पृ० १४२ टि० ९ ॥ ७ कार्यत्यागः य० प्रतिपु नास्ति ॥ ८ °पिणये कार्य° प्र० ॥

पूर्वत्वाद् विधायकत्वात्, मातृवद् वचनवत्। अथ जन्या सा, एव तर्हि न जनिका जन्यत्वादिभ्यः, पुत्रादिवत्।

प्रतीतिकर्तव्यतः च कर्तव्यतासमाप्तेरितिकर्तव्यतान्तरानारम्भः। प्रत्येकं त्वसमाप्तावकारणभावादतथाता च। समुदायस्यापि च तन्मात्रत्वात्, उक्तवत्।

कारणेतिकर्तव्यताव्यतिरिक्ता काचिदस्ति **ततः सा तज्जन्या न** भवति क्रिया, नात्मनैवात्मानं जनयतीत्यर्थः। कस्मात्? **जनकत्वात् कारणत्वात् पूर्वत्वाद् विधायकत्वाद् मातृवत्,** यथा माता नात्मानं जनयति, किं तर्हि? ततोऽन्यां दुहितरं जनयति, एवमियमितिकर्तव्यता जनिका सती। तथा **कारणत्वात् पूर्वत्वाद् विधायकत्वादिति** व्याख्येयानि। **वचनवदि**त्यत्र यथा वचनमपि नात्मानं जनयति बुद्धिं तु ततोऽन्यां वाच्यविषयां जनयति तथा इतिकर्तव्यतेति। अथ मा भूदेष दोष इति जनकत्वमसिद्धं तस्या जन्यत्वात्, जन्या हि सेत्यत्रोच्यते—**अथ जन्या सा एव तर्हि न जनिका** न कारणम्, **जन्यत्वादिभ्यः,** जन्यत्वात् कार्यत्वादपूर्वत्वाद् विधेयत्वात्, **पुत्रादिवत्**। आदिग्रहणाद् वाच्यार्थज्ञानवत्। तस्मात् स्वविहितदोषत्वाज्जन्यत्वे जनकत्वे वा दोषानतिवृत्तेरयुक्तमुक्तम्—इतिकर्तव्यतैव कर्तव्यता तदनुबन्धादिति। १०४-१

किञ्चान्यत्, कारणमात्रत्वे सति कर्तव्यता प्रतीतिकर्तव्यतः परिसमाप्ता वा स्यात्, अपरिसमाप्ता वा? तत्र तावद् यदि प्रत्येकमितिकर्तव्यतासु कर्तव्यता परिसमाप्ता ततः **प्रतीतिकर्तव्यतः च कर्तव्यतासमाप्तेरितिकर्तव्यतान्तरानारम्भः,** एकया 'घृतेन जुहुयात्' इत्यनयैव इतिकर्तव्यतया तन्मात्रपरिसमाप्ताया कर्तव्यताया कृतत्वात् 'पयसा दध्ना' इत्यादीनामितिकर्तव्यतान्तराणामारम्भो निरर्थकः प्राप्तः। अनारम्भ एव वा तस्या अपि कारणमात्रत्वात् 'इतिकर्तव्यतैव कर्तव्यता' इति त्वयैवाभ्युपगतत्वात् न्यायतश्च घृतादिकारणद्रव्यमात्रत्वस्य क्रियायाः प्रतिपादितत्वात् सिद्धौदनपचनवदनारम्भ एव प्राप्तः। एव तावत् प्रत्येकपरिसमाप्तौ दोषः। **प्रत्येकं त्वसमाप्तावकारणभावादतथाता च,** यदि शिबिकावाहकैककारणत्ववत् प्रत्येकमसमाप्तौ च कर्तव्यता इतिकर्तव्यतासु तथाप्यकारणता, प्रत्येकमकारणत्वात्, सिकतातैलवत्। 'इति'शब्दस्य एवमर्थत्वात् 'एव'शब्दस्य च प्रकारार्थत्वादेवं कर्तव्यमितिकर्तव्यम्, घृतादिप्रक्षेपस्वरूपकर्तव्यता तथाता, न तथाता अतथाता, तत्तथात्वं न प्राप्नोति प्रत्येकमकारणत्वादित्यतथाता च। ननूक्तं शिबिकावाहकवहनशक्तिवत् समुदाये सैवेतिकर्तव्यताशक्तिरिति, अत्रोच्यते—**समुदायस्यापि च तन्मात्रत्वाद**वयवमात्रत्वादुक्तवदिति, उक्तं हि तैरेव एवातथाभूतैस्तथाभूतैर्वेति, अवयवा एव हि समुदायीभवन्तो दृश्यन्ते, नो चेत् सिकतातैलवदेव न स्यात् तिलसमुदायतैलमपि। १०४-२

---

१ त्वादिभ्य जन्यत्वात् य० ॥ २ वाक्यार्थ य० ॥ ३ युक्तम् य० ॥ ४ दृश्यतां पृ० १४२ प० १ ॥ ५ घतव्यता पा । कर्तव्यता त्रि डे० लीं० ः० ही० ॥ ६ व्यतासमाप्ते य० ॥ ७ दृश्यतां पृ० १४२ टि० ९ ॥ ८ इतिकर्तव्यतेति त्वयेवा य ॥ ९ णभावातथाता च यदि भा । णाभावातथाताव यदि वि । णाभावात्तथातावयदि भा वि० विना ॥ १० काकारणत्ववत् प्र ॥ ११ सा कत भा ॥ १२ यथाता भा ॥ १३ अनथात् प्र ॥ १४ त्यतथातावननूक्त प्र० ॥ १५ सति य ॥ १६ दृश्यतां पृ० १४० पं १, १९ ॥ १७ भवन्तो नो चेत् य ॥

अभिमतविध्यनुवादवैपरीत्यदोषप्रसङ्गश्च । तन्मात्रहवनार्थत्वाद् घृतादिवद् हवनस्य विधायकता, अनुवादता च घृतादेः कारणमात्रवृत्तित्वाद् हवनवत् । एवं चावाक्यत्वम्, अननुवादत्वादविधायकत्वात्, विच्छिन्नार्थपदवत् काकरुतवत् । ज्ञाताज्ञाताविशेषाच्चैवं घटज्ञानवज्ज्ञाताज्ञातालम्बनविध्यनुवादार्थयुगपद्वि-

---

किञ्चान्यत्, **अभिमतविध्यनुवादवैपरीत्यदोषप्रसङ्गश्च** । तत्र तावत् 'घृतेन जुहुयात् पयसा जुहुयात्' इत्यादिवाक्येषु घृतादेर्विधेयत्वा[2]भिमतस्य कारणमात्रस्य हवनका[3]र्यस्यान्यस्य **तन्मात्र**ेतिकर्तव्यतामात्र**हवनार्थत्वात्** 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यत्र श्रुतहवनानुवादा[4]भावोऽपि, हवनस्य घृतादिव्यतिरिक्तस्याभावात् । ततश्च घृतादिविधानवज्ज्ञातार्थाभिमतस्य **हवनवाक्यस्य विधायकतै**व स्यात्, नानुवादता । **अनुवादता च घृतादे**रज्ञातार्थविधायकाभिमतस्यापि, **कारणमात्रवृत्तित्वाद् हवन**वदिति, कारणमात्रे वृत्तिरस्य तत् कारणमात्रवृत्ति घृतादि हवनं च, उक्तविधिना कार्याभावस्य प्रतिपादितत्वात् । तस्मात् कारणमात्रवृत्तित्वाद् हवनवद् घृतादेरनु[6]वादता घृतादिवद्धवनस्य विधायकतेति । **एवं चे**ति, विध्यनुवादयोरन्योन्यस्वभावसङ्करा- व्यवस्थितात्मस्वभावत्वान्न विधिर्नानुवादोऽस्ति, अत एवमुक्तप्रकारेण**ावाक्यत्वम्, अननुवादत्वादविधायकत्वात्, विच्छिन्नार्थपदवत्** । यथा विच्छिन्नार्थमेकं पदमधिकृतपदार्थान्तरा[8]सम्बन्धं 'गाम्' इत्येतन्न वाक्यमत एव विध्यनुवादत्वाकाङ्क्ष्यार्थाभावात् तथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः, घृतेन पयसा जुहुयात्' इत्यादीनि । यस्यापि पदार्थो नास्त्येव तं प्रति **काकरुतव**दिति दृष्टान्तः । य[10]था काकरुतमर्थान्तराकाङ्क्षारहितमवाक्यमविध्यनुवादत्वात् तथेदमपि ।

ज्ञा[11]ताज्ञाताविशेषाच्चैवं घटज्ञानवत् । **एव**मिति कारणमात्रकार्यत्वाभ्युपगमे साधुतासाधुतयोः १०५। साधुता तावत् 'गौः' इत्यादेः पदस्य 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादेर्वाक्यस्य [12]विधित्वमनुवादत्वं च नोपपद्यते । शब्दो हि ज्ञातार्थोऽज्ञातार्थो वा प्रयुज्यते, ज्ञातार्थोऽनूद्याज्ञातार्थविधानार्थं प्रयुज्यते, स पुनर्ज्ञातार्थः स्वत एव प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन ज्ञातेऽर्थे प्रयुज्येत वाक्यान्तरेण वा परेण[13] ज्ञापितेऽर्थे, यथा 'अयं देवदत्तः' इति अयंशब्दस्य प्रत्यक्षदृष्टार्थवाचित्वादनूद्य देवदत्तत्वं विधीयते, वाक्यान्तरवेदितार्थानि वा पदान्यनूद्य अभ्याजनं विधीयते 'देवदत्त ! गामभ्याज शुक्लाम्' इति ज्ञाताज्ञातार्थता पदानां वाक्यानां च साधुत्वाभिमतानां प्रत्येकं सर्वेषां द्व्यर्थता दृष्टा । को दृष्टान्तः ? **घटज्ञानवत्** । यथा घ[14]टस्यारातीया भागाश्चक्षुराद्युपलभ्या ज्ञाताः परान्तर्मध्यादिभागा न ज्ञाताः । [15]सैषा लोकप्रसिद्धा साधुता पदवाक्यशब्दानां कारणात्मकार्यवादेऽस्मिन्न घटेत, सर्वस्यैकात्मकत्वे ज्ञाताज्ञातभेदानुप[16]पत्तेः, एकस्यैव वा तदुभयाभावाद्विध्यनुवादत्वाभाव[17]स्योक्तत्वात् काकरुतादिवदिति । नाप्यसाधुता वाक्यभेदानर्थक्यादिदोषसम्बद्धा घटते, यस्मात् कारणात्मककार्यवादेऽर्थान्तराभावा**ज्ज्ञाताज्ञातालम्बनविध्यनुवादार्थयुगपद्विवक्षावृत्तिवाक्यभेददोषपरिकल्पनापरि-**

---

१ दृश्यता पृ० १४२ टि० ९ ॥ २ °त्वादिमतस्य प्र० ॥ ३ °कार्यश्चान्यस्य तन्मा° भा० । °कार्यस्वातन्मा° डे० लीं० ॥ ४ °भावो हवनस्य भा० ॥ ५ हवनघृतादे प्र० ॥ ६ °वादकता य० ॥ ७ अनुवाद° प्र० ॥ ८ °रसंबंधं प्र० ॥ ९ अत्र इत्यादीति इत्यपि पाठः स्यात् ॥ १० तथा प्र० ॥ ११ ज्ञातावि° भा० । ज्ञाताज्ञातवि° य० ॥ १२ विधेत्व° भा० । विधेयत्व° य० ॥ १३ °ण पिते° भा० पा० डे० लीं० । °णापिते° वि० र० हीं० ॥ १४ घटज्ञानस्या° य० ॥ १५ शैषा भा० ॥ १६ °पत्तिः य० ॥ १७ °स्योक्तेः य० ॥

वक्षावृत्तिवाक्यभेददोषपरिकल्पनापरिश्लथता । श्रुतिभेदोऽपि वृथैव साध्वसाधुत्वाभ्याम्, एकार्थत्वात्, घटकुटवत् । इदं चाज्ञातमपि सत् त्वया तत्त्वमेवैव विवेक्तारं प्रति प्रदर्शितं घुणाक्षरवत् ।

अथोच्येत—कारणमात्रकार्यदर्शनमिह निर्मूलापविद्धक्रियावाक्यप्रयत्नमिति

श्लथता, यथासङ्ख्येन ज्ञातालम्बनोऽनुवादः, अज्ञातालम्बनो विधिः, तयोरर्थयोर्युगपद्वक्तुमिच्छा युगपद्विवक्षा, एकस्मिन्नर्थे तस्या वृत्तिः, असौ द्व्यर्थता वाक्यभेदः, देवदत्तारव्यानवाक्यस्यैव गवानयनचोदनाया देवदत्ताख्यानवदनुवादो गवानयनविधानवाक्यस्य वा देवदत्ताख्यानवाक्यवद् देवदत्त-१०७ विधानमिति [१]येयमेकस्य शब्दस्य युगपदर्थद्वयाभिधानशक्त्यभावाद्वाक्यभेददोषपरिकल्पना तस्याः परिश्लथता, अर्थभेदाभावात् । अतोऽसाधुतापि शब्दानां नास्ति, सर्वे साधवोऽसाधवो वा शब्दाः प्रसक्ता इति ।

किञ्चान्यत्, न केवलं वाक्यभेददोषो भेदाभावदोषश्चापदार्थात्मकः, श्रुतिभेदोऽपि वृथैव साध्वसाधुत्वाभ्याम् । एवमिति कारणात्मककार्यवादाभ्युपगमप्रकारेणोक्तमतिदिश्य सङ्क्षिप्य साधनमाह सोदाहरणम्—एकार्थत्वाद् घटकुटवदिति, यथा प्रतीतार्थयोर्घटकुटशब्दयोरेकार्थत्वादन्यतरप्रयोगो वृथा साधुत्वाभिमतयोः, असाधुत्वाभिमतस्य गोशब्दमात्रस्य [२]गावी-गोणा-गोपोतलिकादिमदर्थेषु [३]युगपत् प्रयुक्तस्य [४]चैकार्थत्वात् 'अर्थभेददोषपरिकल्पनापरिश्लथता' इति वर्तते । तस्मात् पदवाक्यशब्दयोः साधुत्वासाधुत्वाविशेषाच्छिष्टेतरलोकव्यवहारविशेषः । एवं ते जुहुयादुक्ते पौनरुक्त्यस्ववचनविरोधौ स्वशब्दोक्तासत्कार्यवादत्याग कारणात्मकसत्कार्यवादाभ्युपगमवैलक्षण्यप्रतिपूर्णतर्कता मद्दोषत्वादित्युक्तम् ।

[६]यद्यप्येतत् त्वयाभ्युपगतं कारणात्मकसत्कार्यत्वं तदप्यसमीक्ष्याबुद्धिपूर्वकमेवोक्तमित्येतत्प्रदर्शनार्थमाह—इदं चाज्ञातमपि सत् त्वया तत्त्वमेवैव विवेक्तारं प्रति प्रदर्शितं घुणाक्षरवत् । यथा घुणः काष्ठमुल्लिखन्नक्षराकारामपि रेखामुल्लिखति यदृच्छया तथा त्वयेदं तत्त्वमेवैव [७]कारणात्मकसत्कार्यत्वं प्रदर्शितम् '[८]देति कर्तव्यतैव कर्तव्यता' इति ब्रुवता । तत् पुनर्विवेक्तारं प्रति प्रदर्शितम्, 'इत्थमसत्कार्यं १०८ भवति, इत्थं सत्कार्यम्' इति यो वाक्यवाचकसाधनस्वरूपविवेकनसमर्थस्तं प्रत्येव प्रदर्शितं नात्मतुल्यबुद्धीन् प्रति, दर्शयन्नपि स्वयं तद्विवेकं [११]न चेच्छति ।

अथोच्येत—कारणमात्रकार्यदर्शनमिहेत्यादि यावद्वचनच्छलादिति । अथ त्वयैवमुच्येत—न मया कारणमात्रकार्यत्वमेकान्तोऽभ्युपगम्यते यतस्त्वयैते दोषा मा प्रत्यापाद्यन्ते । किं तर्हि ? मयाभ्युपगम्यते

---

१ येतयमेकस्य भा० । ययमेकस्य पा० डे० लीं । यत्वयमेकस्य वि० । यद्ययमेकस्य रं० ही० ॥ २ तमश्रुति पा० डे० लीं वि० भा० ॥ ३ गावादिसाग्रादिमदर्थे पा० डे० लीं० वि० । गावादिसाग्रादियमदर्थे भा० । गावादिसादितमदर्थे रं० ही ॥ ४ युगपत्प्रयुक्तस्य चेकार्थत्वात् भा० । युगपदप्रयुक्तचैकार्थत्वात् पा० डे० लीं । युगपत्प्रयुक्तावकार्थत्वात् रं० ही । युगपद् प्रयुक्त चैकार्थत्वात् वि ॥ ५ हारति प्र० ॥ ६ यद्यप्ये य० ॥ ७ तकार्यात्व रं ही० पा० वि० ॥ ८ तमसत्का य० ॥ ९ दृश्यतां पृ० १४२ पं० १ ॥ १० निधिकम प्र० ॥ ११ न वे प्र० ॥

असत्कार्यं विवक्ष्यते, अलब्धवृत्तित्वात्, खपुष्पवत् । तद् द्विविधम्—अनितिकर्तव्यतात्मकमितिकर्तव्यतात्मकं च । तत्रानितिकर्तव्यतात्मकं घटादि यूपादि च । इतिकर्तव्यतात्मकं पुनः प्राप्तिसंवादि, यथा सेवादि । तच्च न कारणमात्रम्, कुर्यात्प्रतिपादितादसत्कार्यवादादादौ मध्येऽन्ते च कर्तव्यताभ्युपगमाद् यदुच्यते त्वया दोपजातं तद् वचनच्छलात् ।

न कारणमेव न कार्यमेव नोभयमेव नानुभयमेवेत्यविचार्य वस्तुतत्त्वैकान्तपरिग्रहमकृत्वा कारणं कार्यमुभयमनुभयं वाभ्युपगम्यते । अस्मिन् 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इति वाक्ये यत् कारणमात्रकार्यप्रदर्शनमनु[1]पात्तापरित्यक्तमिह विधिनये सदपि यत् तदत्र **निर्मूलापविद्धक्रियावाक्यप्रबन्धम्**, निर्मूलमपविद्धः क्रियाप्रबन्धो वाक्यप्रबन्धश्च यस्मिंस्तदिदं निर्मूलापविद्धक्रियावाक्यप्रबन्धम् । [2]* इतिशब्दो हेत्वर्थे, यस्मान्निर्मूलापविद्धक्रियावाक्यप्रबन्धं* तस्मात् कारणमात्रकार्यदर्शनस्य तद्दोपपरिहारार्थमि[3]ष्यते विवक्ष्यतेऽनवधारितैकान्तदर्शनत्वात् कारणमात्रत्वं त्यक्त्वा यत् कार्यासत्त्वं तदेव 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इति वाक्ये कारणमात्रकार्यदर्शनमेव सत् **'असत् कार्यम्'** इति **विवक्ष्यते**ऽभ्यु[4]पगम्यते च । किं कारणम् ? **अलब्धवृत्तित्वात्**, अलब्धा वृत्तिरनेनेत्यलब्धवृत्ति कार्यम्, तस्मादलब्धवृत्तित्वात् **खपुष्पवत्**, यथा खपुष्पमलब्धवृत्तित्वादसत्तथा कार्यं स्वर्गापूर्वादि अलब्धवृत्तित्वादसत् । लब्धवृत्तित्वे 'कुर्याज्जुहुयात्' इति न चोद्येत, सिद्धौदनार्थं 'पचेत्' इत्यचोद[5]नावत् । अतोऽसत् कार्यमागृह्य स्वर्गादि तत्प्राप्त्यर्थं क्रियाश्रीयते—अग्निहोत्रं कुर्यादिति । **तद् द्विविधम्**, तच्च कार्यं द्विविधम्—**अनितिकर्तव्यतात्मकमितिकर्तव्यतात्मकं च । तत्रानितिकर्तव्यतात्म[6]कं** कार्यं **घटादि यू[7]पादि च** लोके वेदे च दृष्टम्, मृदानयनमर्दनदण्डग्रहणचक्रभ्रमणादीतिकर्तव्यतात्मकं घटाख्यं कार्यं न भवति तदुपरमेऽपि पृथगुपलब्धेः, तथाष्टाश्रिकरणादीतिकर्तव्यतात्मको न भवति यूपः । **इतिकर्तव्यतात्मकं पुनः** कार्यं **प्राप्तिसंवादि**, प्राप्त्या संवदितुं शीलमस्य प्राप्तिसंवादि, **यथा सेवादि**, उपस्थानाञ्जलिकरणादिरूपैव सेवा ता[8]भ्यः पृथगनुपलब्धेः । त[9]च्च कार्यं **न कारणमात्रं** [10]नेतिकर्तव्यतात्मक घटादियूपादिवत्, **कुर्यात्प्रतिपादितादसत्कार्यवादात्**, कुर्याच्छब्दप्रतिपादितात् 'अग्निहोत्रं कुर्यात्' इत्यत्र कुर्याच्छब्देन प्रतिपादितात् 'घटं कुर्यात्' इति प्रतिपादितघटासत्कार्यार्थवाक्यवदिदमपि वाक्यं स्फुट[11]तरासत्कार्यार्थम् । किं कारणम् ? **आदौ मध्येऽन्ते च कर्तव्यताभ्युपगमात्**, अतोऽसत्कार्यवादस्य उपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यवसानेषु क्रियाविशेषेष्वभ्युपगतत्वाद् **यदुच्यते त्वया दोषजातं तत्** 'त्वद्वचनात् प्रा[12]प्तिप्रापितेतिकर्तव्यतैव कर्तव्यता' इति **वचनच्छलात्**, कारणमात्रकार्यत्वापत्तिस्ततो विध्यनुपपत्तिरित्यादि सर्वं दोपजातं नास्तीति ।

१०६-२

१०७-१ एतदपि नोपपद्यते, विधिविधिनयदर्शनोपपादयिष्यमाणकारणमात्रत्ववादात् । अभ्युपेत्यापि **अस-**

---

१ °नुयात्वापरि° य० ॥ २ * * एतच्चिह्नान्तर्गत पाठो य० प्रतिपु नास्ति ॥ ३ °सिष्टतो विवक्षते° प्र० ॥ ४ °भ्युपगमे च प्र० ॥ ५ °नवत् भा० वि० डे० ली० ॥ ६ °त्मकं च कार्यं य० ॥ ७ यूपादिव लोके प्र० ॥ ८ ताभ्य इतिकर्तव्यताभ्य इत्यर्थ ॥ ९ तत्कार्यं य० ॥ १० नेवेतिकर्त° डे० ली० र० ही० ॥ ११ °तरं वि० ॥ १२ दृश्यता पृ० १४२ पं० १ ॥

असत्कार्यवादोक्तावपि नैवास्य वाक्यता, इतिकर्तव्यतावाक्यासिद्धौ तदसिद्धेस्तत्सिद्धौ तत्सिद्धेः । इतिकर्तव्यतावाक्यमवाक्यम्, अननुवादत्वात्, उन्मत्तप्रलापवत् । 'जुहुयात्' इत्यस्योक्तवदेव सर्वप्रयोगपरीक्षायामर्थाभावादितिकर्तव्यतावाक्यप्रत्ययापि न कर्तव्यतागतिः ।

केदमभिहितं 'जुहुयात्' इति? हवनापूर्वकरणार्थतयो प्रधानाग्निहोत्रश्रुति-

---

त्कार्यवादोक्तावपि नैवास्य वाक्यता प्रागनुपन्यस्तापितेतिकर्तव्यताकर्तव्यतार्थस्याग्निहोत्रवचनेनेरणाद्धस्य वाक्यस्य वाक्यता । कुतः? [1] इतिकर्तव्यतावाक्यासिद्धौ तदसिद्धेस्तत्सिद्धौ तत्सिद्धेः, तत् पुनरितिकर्तव्यतावाक्यम्, तदवाक्यत्वे तद्बलप्रतिष्ठाप्यकर्तव्यतावाक्यमप्यवाक्यम् । तत्र तावत् 'घृतेन जुहुयात्' इत्येतदितिकर्तव्यतावाक्यमवाक्यम्, [3]अननुवादत्वात्, उन्मत्तप्रलापवत् । यथा कामोन्मत्तस्य 'पक्षी' इति [4]दर्शने भ्रान्ते "हा प्रिये ! हा प्रिये !" इत्यादिर्विप्रलापो न वाक्यं प्रसिद्धार्थानुवादाभावादेवं 'घृतेन जुहुयात्' इत्यस्यापि तदभावात् तत्कर्तव्यतावाक्याभावः । [5]अननुवादत्वं चास्य घृतसम्प्रदानकहवनविधानाद् विधिवाक्यस्य, विध्यनुवादयोश्चार्थोपनिराकाङ्क्षयोरन्यतराभावः । स्यान्मतम्—विधिमात्रस्य 'द्वारं द्वारम्' इति अनुवादमात्रस्य 'उद्घाट्यताम्' इति न्यायवाद् नापेक्षेतेति चेत्, न, तत्रापि तदितरस्थितप्रकरणादिभ्यस्तत्सिद्धेरपेक्षैव । तस्मादिह 'इतिकर्तव्यतैव कर्तव्यता' इति वचनात् कर्तव्यतावाक्यस्यैवासिद्धेः 'घृतेन जुहुयात्' इत्यस्य प्रसिद्धार्थस्यानुवादत्वाभावादवाक्यत्वम्, तदवाक्यत्वात् तद्बलप्रतिष्ठाप्याग्निहोत्रहवनकर्तव्यताविधिवाक्यासिद्धिः, अत आह—'जुहुयात्' इत्यस्य उक्तवदेवेत्यादि, 'जुहुयात्, अग्निहोत्रं जुहुयात्, हवनं कुर्यात्, अग्निहोत्रं हवनं कुर्यात्, प्रागनुपन्यस्तापितघृतादीतिकर्तव्यतात्मककर्तव्यताग्निहोत्रं जुहुयात्, अग्निहोत्रमपूर्वं जुहुयात्' इत्युक्तविकल्पेषु प्रागभिहितन्यायेनैवमेवेति सर्वे प्रकारे प्रयोगस्य परीक्षाया निर्मूलार्थत्वमविषयत्वात्, अविषयत्वमपूर्वार्थत्वात्, अपूर्वार्थत्वमज्ञातार्थत्वात्, अज्ञातार्थत्वं प्रमाणान्तरेण वाक्यान्तरेण वा प्रागविहितत्वादिति । तमुपसंहरति—इतिकर्तव्यतावाक्यप्रत्ययापि न कर्तव्यतागतिः ।

केदमभिहितं 'जुहुयात्' इति? उच्यते त्वया 'यज्जुहुयात् तद् घृतादिना' इति हवनमनूद्य घृतादिना तद्विधानं क्रियेत यथा 'घटं कुर्यात्' इति प्रसिद्धं घटमनूद्य तत्करणविधानम्, तत्तु न प्रसिद्धम् । कथं न प्रसिद्धम्? 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यत्र हवनस्योक्तत्वादितरानुवादेन सम्पन्नमिति चेत्, न, तस्यैव सर्वप्रयोगपरीक्षायामर्थाभावात् । तत्र तावद् हवनापूर्वकरणार्थतयो प्रधानाग्निहोत्रश्रुतित्यागा-

---

[1] व्याख्यार्थं य० । दृश्यतां पृ० १४६ पं० ११ ॥ [2] कारणा य ॥ [3] अनुवादत्वात् य० ॥ [4] दर्शनभ्रान्ते हा प्रिये इत्यादिप्रलापो य० ॥ [5] अनुवादत्वं य० ॥ [6] चाद्य (चाद्य? चाद्य? चाद्य?) मूल भा० पा० डे० लीं० । चाद्याद्यन्तं मि । नयचक्र टि० टी० ॥ [7] द्वारमिति भा ॥ [8] नपेक्षेतेति य० । अत्र नापेक्षेति इत्यपि पाठः स्यात् ॥ [9] दृश्यतां पृ० १४२ पं० १ ॥ [10] यासिद्धे पा डे० लीं० टि भा० । यासिद्धे टी ॥ [11] प्रसिद्धार्थानुवादत्वाभावादिति भाव ॥ [12] जुहुयात् य० । जुहुया भा ॥ [13] प्रमाणान्तरेण वा प्रागवि य० ॥ [14] नामति भा० ॥ [15] दृश्यतां पं० १ ॥

त्यागाद्यापत्तेरग्निहोत्रोभयकरणार्थतयोरपि जुहोतित्यागाद्यापत्तेः ।

शैलीप्रसिद्धौ छिदिवदहवनात्मकाग्निहोत्रत्वादनग्निहोत्रत्वप्रसङ्गात् प्रधानस्वर्गकामानभिसम्बद्धजुहोत्यर्थानुवादेन किं प्रयोजनम् ?

द्यापत्तेः[1] 'अर्थाभावात्'[2] इत्याद्यभि[3]सम्बध्यते, क्रमोल्लङ्घनेन विकल्पद्वयोपन्यासस्तुल्योत्तरत्वात्, 'हवनं कुर्यात्, अग्निहोत्राख्यमपूर्वं कुर्यात्' इत्येतयोरर्थविकल्पयोः प्रधानस्याग्निहोत्रशब्दस्य तदर्थस्य च त्याग आपद्यते। 'घृतेन जुहुयात्' इत्यादिषु अनुवादसफलीक्रियार्थम् 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यत्र जुहुयाच्छब्दस्य स्वप्रकृत्यर्थस्य सार्थकत्वेऽग्निहोत्रशब्दः पौनरुक्त्यान्निरर्थक आपद्यते। अथ प्रधानत्वादग्निहोत्रस्य मा भूदग्निहोत्रशब्दो [4]*निरर्थक इति जुहुयाच्छब्दो* निरर्थ[5]क इष्यते ततो जुहुयाच्छब्द[6]नैरर्थक्यात् प्रयोगो नोपपद्यते विहितार्थाभावेऽनुवाद[7]त्वाभावात्।

१०८-१ प्रधानत्वं चाग्निहोत्रस्य साक्षात् स्वर्गादिकाम्यपुरुषार्थसाधनत्वेन विधानात्, जुहोतिप्राधान्ये च तदनुपपत्तिः। अत्र च 'न[8] तु घटवदग्निहोत्रशब्दः काञ्चिदपि कर्तव्यतां ब्रवीति' इत्या[9]दिः सर्वो ग्रन्थः पूर्वोत्तरपक्षप्रसङ्गतो योज्यो यावत् 'नापि[10] घटादिकर्तव्यतायामिव काचित् क्रिया प्रसिद्धा यथाग्निहोत्राख्यता हवनस्यातिदिश्येत हवनाख्यता वाग्निहोत्रस्य' इति 'हवनं कुर्यात्' इत्ययमुक्तोत्त[11]रोऽर्थविकल्पः। अपूर्वार्थपक्षेऽपि अग्निहोत्रशब्दस्य जुहुयाच्छब्द[12]स्य चैकार्थत्वात् प्रधानापूर्ववा[13]च्यग्निहोत्रशब्दस्य त्यागस्तथैव। विशेषस्तु अथ 'अग्निहोत्रम्' इत्यपूर्वविशेषाभिधानार्थतैव क[14]ल्प्यते तथा सति अपूर्वाभिधानेन कोऽर्थ इत्यादि यावत् 'त[15]दनुष्ठातव्यम्' इति ग्रन्थश्च योज्यः। आदिग्रहणात् पुरुषप्रमाणकता शब्दप्रा[16]माण्यत्याग इत्यादिदोषः। ततः प्र[17]धानाग्निहोत्रश्रुतित्यागाद्यापत्तेरर्थाभावात् केदमभिहितमित्यादि।

अग्निहोत्रोभयकरणार्थतयोरपि जुहोतित्यागाद्यापत्तेः, 'अग्निहोत्रं कुर्यात्, अ[18]ग्निहोत्रं हवनं कुर्यात्' इत्येतयोरपि विकल्पयोस्तुल्योत्तरत्वात्, उभयार्थविकल्पस्य 'अग्निहोत्रं कुर्यात्, हवनं कुर्यात्' इत्येतयोः पक्षयोरुक्तदोषदुष्टत्वात् समानोत्तरत्वा[19]दिति। अत्रापि 'अ[20]थ पुनरेवमनिर्वहति' इत्यादिग्रन्थो योज्यः सप्रपञ्चो यावत् त्वदभिप्रायव[21]त्तु हवनानुवादविशिष्टाग्निहोत्राभ्युपगमेऽपि चाग्निहोत्रस्यात्मादिवस्तु[22]तत्त्ववदप्रसिद्धस्वरूपत्वात् क[23]रणासिद्धिः।

शैलीप्रसिद्धौ छिदिवदित्यादि, छिदाविव च्छिदिवत्, यथा छिदौ दृष्टलौकिकयूपमात्रफलत्वं नादृष्टालौकिकहवनात्मका[24]ग्निहोत्रत्वं तथा, 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यस्यापि तच्छैल्यैवाग्निहोत्रमहवनात्मकम्,

---

१ °पत्तिः य० ॥ २ द्रश्यता पृ० १५१ पं० २ ॥ ३ इत्ययद्यभि° भा० । इत्ययद्यदभि° य० ॥ ४ * * एतच्चिह्नान्तर्गत पाठो य० प्रतिषु नास्ति ॥ ५ °क उच्यते वि० । °कथ्यते पा० । °क ते डे० ली° र०ही० ॥ ६ °च्छब्दे पा० र० ही० वि० ॥ ७ °वादस्याभावात् भा० । °वादेचाभावात् य० ॥ ८ द्रश्यता पृ० १२२ प० ३ ॥ ९ इत्यादि य० ॥ १० द्रश्यता पृ० १२४ प० ३ ॥ ११ °त्तरार्थो य० ॥ १२ °ब्दस्यैकार्थत्वात् य० ॥ १३ °वाच्याग्नि° प्र० ॥ १४ द्रश्यता पृ० १४० पं० ४ ॥ १५ द्रश्यता पृ० १८१ प० ४ ॥ १६ °प्रामाणत्या° पा० डे० ली० । °प्रामाणकत्या° र० । °प्रमाणकत्या° ही० वि० ॥ १७ द्रश्यता पृ० १११ प० ३, ५ ॥ १८ अग्निहोत्र य० ॥ १९ °त्वात्दिति पा० डे० ली० र० ही० ॥ २० द्रश्यता पृ० १२६ प० १ ॥ २१ द्रश्यता पृ० १२६ पं० ३ ॥ २२ °स्तुस्वतत्व° भा० ॥ २३ कार° प्र० ॥ २४ °ग्निहोत्रत्वं तथाग्निहोत्रत्वं तथा भा० वि० । °ग्निहोत्रत्वं प्रतथाग्निहोत्रत्वं तथा पा० डे० ली० र० ही० ॥

प्राप्तिप्रतिपाद्यप्रसिद्धावग्निहोत्रे जुहोतिप्रयोगो दानादिप्रसिद्ध्युपरोधेन दाहन एव तावद्विधेय इति तथाऽप्रसिद्धेरविधायक एव, कुतस्तदनुवाद ?

तथाभूतार्थाभ्युपगमे च प्राप्तेर्व्युदासो जुहोतिप्रयोगादप्रमत्तप्रयुक्तत्वात्, इषे त्वादिवदक्षरविद्यावत्।

अदहनात्मकाग्निहोत्रत्वाच्चानग्निहोत्रत्व प्रसक्त छिदिनिर्लयूपवत् । अत्र च 'एतदपि न वैषम्यात्' इत्यादिग्रन्थो योज्यो यावत् "शैलीप्रामाण्ये चास्य शल्या यूपक्रियाऽयाथार्थ्यात्' इति । ततश्चानग्निहोत्रत्वप्रसङ्गाद् यदग्नये होत्र तदग्निहोत्रमिति तात्पर्यार्थात् प्रधानस्य स्वर्गसाधनताभिमतस्यानग्निहोत्रत्वाद् 'घृतेन जुहुयात्' इत्यनेनानुवादेन **प्रधानस्वर्गकामानभिसम्बद्धजुहोत्यर्थानुवादेन किं प्रयोजनम् ?** इतिकर्तव्यतार्थ यतया प्रधानेन स्वर्गकामेन विना किं तया ? यथोक्तम्—

कातरर्त्तेण सूर सूरसहस्सेण पढित भरसु ।
अरस जेण व तेण व णवर फतव्व परिहराहि ॥ [　　]

इति प्रधानार्थमप्रधानत्यागदर्शनात् ।

प्राप्तिप्रतिपाद्यप्रसिद्धावग्निहोत्रे, प्राप्त्या प्रतिपाद्या प्रसिद्धिरस्य तस्मिन् प्राप्तिप्रतिपाद्यप्रसिद्धि, तस्मिन् प्राप्तिप्रतिपाद्यप्रसिद्धौ, क्व ? अग्निहोत्रे, 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' इत्यनया प्राप्त्या प्रतिपाद्यप्रसिद्धौ तु तस्मिन् **जुहोतिप्रयोगो दानादिप्रसिद्ध्युपरोधेन दाहन एव तावद् विधेय,** तावच्छब्द क्रमार्थ, 'जुहोति' इत्यय धातुपाठप्रसिद्धदानादनार्थो न भवति, किं तर्हि ? 'दहनेनाग्निना दाहयेद् घृतादि द्रव्यम्' इत्युक्त भवति 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्येतदिति परिभाव्य पश्चात् प्रसिद्धे दाहने 'घृतेन जुहुयात्, घृत दाहयेदग्निम्, अग्निना घृत दाहयेत्, अग्निघृत दहेत्' इति[10] ज्ञातार्थमनूद्य दानकर्तव्यताविधियान्यत्वे लोकप्रसिद्धिविपरीत्येन व्युत्पादनात्, नान्यथा । अन्यथा तु लोके दानादिष्वदृष्टत्वात् कथं दाहनमनूद्य घृतादीनिकर्तव्यता विधीयते ? [इति] **तथाऽप्रसिद्धेरविधायक एव, कुतस्तदनुवाद ?** इतिशब्दो हेत्वर्थे, इत्येतस्मात् कारणात् तथा तेन प्रकारेण दाहनार्थत्वेनाप्रसिद्ध 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यत्र तावज्जुहुयाच्छब्दो दाहनस्याविधायक, कुत एवानुवाद । अत्रैव 'ननु सेनादिवत् कर्तव्यताप्रतिपत्तिरितिकर्तव्यताभाष्य' इत्युपक्रम्य ग्रन्थो योज्यो यावत् 'वैदिकादासाधुता चा तद्वत्' इति । एव तावज्जुहुयाच्छब्दस्य दाहनार्थत्वाभावाद्युक्तिरत्र होत्रशब्दस्य चा ।

तथाभूतार्थाभ्युपगमे "चेति, अभ्युपेत्यापि दाहनात्मकमेव दानमिति दोष ब्रूम, कोऽसौ ? **प्राप्तेर्व्युदास,** येय प्राप्ति 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' इति यया प्रापितमग्नौ प्रक्षेपो दानमिति तस्या प्राप्तेर्व्युदास, कस्मात् ? 'घृतेन जुहुयात्' इत्यत्र **जुहोतिप्रयोगात्,** अन्यथा प्राप्तौ

---

१ चाग्निहो य० ॥ २ दृश्यतां पृ० १३७ प० १ ॥ ३ दृश्यतां पृ० १३८ पं० ८ ॥ ४ त्याप्रधानस्य स्वर्गासाध प्र ॥ ५ इतिकर्तव्यतया भा ॥ ६ सतेन य ॥ ७ दृश्यतां पृ० १४२ टि० ८ ॥ ८ तस्मिन्न प्र० ॥ ९ हु दानादनयो इति पाणिनीयधातुपाठ १०८३ ॥ १० दहने प्र० ॥ ११ °दर्शि । भा० । दर्शि(दर्शौ ?) य ॥ १२ त्यादना यथा य० । त्यादा(त्या न ?) नान्यथा भा० ॥ १३ दह प्र० ॥ १४ हत पचा पा । हत पचा ०० गं० । हत पचा वि ० ही ॥ १५ दृश्यतां पृ० १३९ प १ ॥ १६ दृश्यतां पृ० १४० १० ? ॥ १७ युक्तत्र भा० । युक्त य ॥ १८ चेति द० लं० र ही ॥

एवं तर्हि प्राप्तिवाक्यवृत्तजुहोत्यनुवाद इति चेत्, न, तत्र विधिलिङ्विषयस्यावृत्तेरज्ञातत्वात् ।

व्यत्ययादस्य तद्विषयतेति चेत्, न, अज्ञानत्वादेवाननुवादत्वात् कोश-

---

श्रुतेन जुहोतिनोक्तत्वात् तदर्थस्य गतत्वादप्रयोगार्हत्वात् पौनरुक्त्यमस्य स्यात्, प्रयुक्तस्तु अयम्, अतो ज्ञायते प्राप्तिश्रुतजुहोतिरनर्थक इति । तस्मात् प्राप्तेर्व्युदासो जुहोतिप्रयोगात् । यदा वायं[1] 'घृतेन जुहुयात्' इति प्रयुज्यते तदा ह्ययमगतार्थ इति विज्ञायेत यद्यन्येन शब्देनास्यार्थोऽनभिहितः स्यात् । किं

१०९-२ कारणम् ? **अप्रमत्तप्रयुक्तत्वात्**, अप्रमत्तेन हि वेदेन प्रमत्तात् पुरुषाद्विलक्षणेन रागाविद्यादियोगरहितेन प्रयुक्तोऽयं त्वन्मतेन, लौकिकेनैव वा पुरुषेणाप्रमत्तेन विदुषा प्रयुक्तत्वादस्मन्मतेन, मा भूत् सर्वपुरुषाप्रामाण्ये शब्दानां च पुरुषाधीनोपलब्धित्वादप्रामाण्यमेवेति । अयं हि 'घृतेन जुहुयात्' इत्यत्र जुहोतिशब्दोऽप्रमत्तप्रयुक्तः[2], न येन केनचिद् बालगोपालादिप्रयुक्तकल्पेन तुल्यः काकरुतादिकल्पेन[3] वा तुल्यः । क इव ? **इषे त्वादिवत्**, यथा इषे त्वोर्जे त्वा वायवः स्थोपायवः स्थ[4] देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे [यजुर्वेद० १।१] इत्यादिशब्दा अगतार्था[5] इति विज्ञायन्ते तथायं 'घृतेन जुहुयात्' इति वाक्ये जुहोतिरप्रमत्तप्रयुक्तत्वादगतार्थ[6] इति विज्ञायेत, नान्यथा । अथवा **अक्षरविद्यावत्**, यथा द्वे विद्ये वेदितव्ये-परा चापरा च । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत् तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् । नित्यं विभु सर्वगतं पुरुषं पुराणं विश्वात्मानं तदव्ययं यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः [मुण्डको० १।१][7] इतीयमक्षरविद्या कश्चिदगतार्थेति विज्ञायतेऽप्रमत्तप्रयुक्तत्वात् तथाऽयमपि जुहोतिप्रयोगः, नान्यथा । तद्यदि प्राप्तिप्रापितदानार्थः 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यत्र होत्रशब्दो जुहोतिशब्दो वा ततोऽयं 'घृतेन जुहुयात्' इति पुनर्जुहोतिर्न प्रयुज्येत, प्रयुक्तस्तु, तस्मात् प्राप्तिर्व्युदस्तेति ।

<११०१ **एवं तर्हि प्राप्तिवाक्यवृत्तजुहोत्यनुवाद इति चेत्** । स्यान्मतम्-प्राप्तिवाक्ये 'अग्नये जुहोति' इति श्रुतस्याग्निसम्प्रदानकस्य[8] दानार्थस्य जुहोतेरनुवादोऽयं 'घृतेन जुहुयात्' इति जुहोतिरिति । एतच्च **न, तत्र विधिलिङ्विषयस्यावृत्तेरज्ञातत्वात्** । नैवमप्युपपद्यते, तत्र प्राप्तिवाक्ये 'जुहोति' इत्यस्याव्यापार्य[9]-माणकर्तृसाधनदानार्थजुहोतिधातुप्रयोगस्य विधिलिङो विषये व्यापारणार्थे[10] वृत्त्यभावात् अस्य च जुहुयाच्छब्दस्य विधिलिङ्विषयस्य नियोगार्थस्य नियोगरहिते जुहोतिशब्दार्थे तत्रावृत्तेरयं विधानार्थो न विदित एव, तस्मादज्ञातत्वात् प्राप्तिवाक्यवृत्तजुहोत्यर्थानुवादायोग्यता, प्राप्तमनूद्यतेऽप्राप्तं[11] विधीयते [ ] इति वचनात् । तस्मादनुवादायोग्यत्वादयुक्तमुक्तम्-प्राप्तिवाक्यवृत्तजुहोत्यनुवाद इति ।

व्यत्ययादस्य[12] तद्विषयतेति चेत् । स्यान्मतम्-लक्षणशास्त्रेऽभिहितं व्यत्ययो बहुलम् [पा० ३।१।८५]।

---

१ यदायं भा० ॥ २ °युक्तैन येन भा० । °युक्तेन येन य० ॥ ३ °कल्पेन तुल्यः प्र० ॥ ४ वायवस्थोपायवस्थ प्र० ॥ ५ अवगतार्था प्र० ॥ ६ जुहोतिप्रमत्त° य० ॥ ७ "तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभु सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्" इति मुण्डकोपनिषदि पाठ ॥ ८ °कस्यादानार्थस्याजुहोतिरनु° प्र० ॥ ९ इत्यथ्याव्यापा° प्र० ॥ १० व्यापारेणार्थे भा० । व्यापारेणार्थ य० ॥ ११ दृश्यता पृ० १३१ पं० २ ॥ १२ विद्य(विधिव्य?)त्ययादस्य भा० । विध्यत्ययादस्य य० ॥

पानप्रत्याय्यार्थत्वाच्च, हवनाच्च भावनमेवमनवगमितमेवाभिप्रेतस्य स्यात्।

प्राप्तिविहितस्वरूपसिद्धेरग्निहोत्रस्य स्वर्गकामकर्मत्वाभिधानादवगमितकामानुरूपकर्मोक्तेस्तद्विधक्रियाविशेषगते क्रियाप्राप्यत्वाच्च कामस्य अन्धलकावगमित-

---

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां तदपि च सिध्यति बाहुलकेन॥ [पा० म० भा० ३।१।८५]

इति। तस्माज्जुहोत्यर्थे जुहुयाच्छब्दप्रयोगात् प्राप्तमेवानूद्यते तद्विषयवादे वाक्यापीति। एतदपि **न, अज्ञातत्वादेवाननुवादत्वात्**, सत्यापारणार्थशब्ददर्शनान्न[1] नित्यापारणार्थप्रतिपत्तिर्युक्ता[2] व्यवस्थालोपप्रसङ्गात्। तस्मादज्ञातार्थत्वादननुवादत्वादेव, अननुवादत्वादेवैतदपि युक्तमिति। किञ्चान्यत्, **कोशपानप्रत्याय्यार्थत्वाच्च**[3]। इष्टदेवया सन्निहितदेवताकोशपानेन प्रत्याय्यम्, विशेषलिङ्गाभावात् कुत एवं[4] ज्ञायते जुहोत्यर्थे जुहुयाच्छब्दः प्रयुक्तो न स्वार्थ एव, जुहोतिर्वा जुहुयादर्थे प्रयुक्त इति? तस्मादविदितार्थत्वाद् विधित्वम्, ११० २ विधित्वाच्च नानुवादः, अननुवादत्वाच्चैवमपि न युक्तम्। अभ्युपेत्यापि जुहोत्यर्थे जुहुयाच्छब्दस्य वृत्तिं दोषं ब्रूमः—**हवनाच्च भावनमेवमनवगमितमेवाभिप्रेतस्य स्यात्**। नियोगार्थाभावात् पुरुषो हवनकर्मणि अनियोजित एव, ततो भावनं स्वर्गाख्यस्य विशिष्टसुखलक्षणस्य देशविशेषस्य वा[5] विशिष्टसुखसाधनभूतस्याभिप्रेतस्यार्थस्य नाववोधकं स्याद् यदर्थमभिवृत्तमिदं वाक्यम्, स्वर्गाख्यफलसाधनेऽग्निहोत्रकर्मणि पुरुषं नियोक्ष्यामीति तदर्थं हि वाक्यम् 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्येतत् प्रवृत्तम्, एतेनैव कर्मणा स्वर्गो भाव्यते, तस्मात् 'इदं कुरु' इति तदर्थज्ञापनाभावे किमनेन वाक्येन 'जुहोति जुहोति' इत्युक्तेन?

अत्राह—प्रागभिहिताग्निहोत्रकरणवाक्यार्थविकल्पगतदोषपरिहारार्थमियमर्थव्याख्याश्रीयते **प्राप्तिविहितस्वरूपसिद्धेरग्निहोत्रस्येत्यादि**। इदं तावद् व्यवस्थितं यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति इत्यनया प्राप्त्या विहितमग्निहोत्रस्य स्वरूपं सिद्धम्, अतः प्राप्तिविहितस्वरूपसिद्धेरग्निहोत्रस्य कर्मत्वेन च श्रवणात्, कस्य? कर्तुः **स्वर्गकामस्य कर्मत्वाभिधानात्**। ततः किमिति चेत्, स्वर्गशब्दाभिहितविशिष्टसुखविषयकामाभिधायिशब्दश्रवणात् कर्मापि तदभिप्रायं[6] तदनुरूपं विशिष्टमेवेत्युक्तं भवति, अतः **स्वर्गकामकर्मत्वाभिधानादवगमितकामानुरूपकर्मोक्तेः** स्वर्गकामशब्दावबोधितकामानुरूपस्यैव कर्मण[7] १११ १ उक्तत्वादेव **तद्विधक्रियाविशेषगते**, विशिष्टफलविषयकामः पुरुषः कर्ता, कर्मापि तदनुरूपत्वाद् विशिष्टमेव, तद्विधैव क्रियापि, अप्रसिद्धफलविषयकामसम्बन्धि कर्माप्रसिद्धं यथा तथा तदनुष्ठानव्यापारविशेषोऽपि विशिष्टोऽप्रसिद्ध एवेति गम्यते। किं कारणम्? तत एव शब्दात् तस्य क्रियाविशेषस्य गतेर्योक्त्यन्तराभावात् तद्विशेषगतिः, अतः क्रियाविशेषगते **क्रियाप्राप्यत्वाच्च कामस्य**, न ह्यन्यः कश्चि-

---

१ दर्शनात् प्र०। अत्र दर्शने न इत्यपि पाठः स्यात्॥ २ * * एतच्चिह्नान्तर्गतः थप्रतिपत्त्युक्ता इत्यत आरभ्य प्रत्याख्या इत्यन्तः पाठो य० प्रतिषु नास्ति॥ ३ अत्र एव ज्ञायते इत्यपि पाठः स्यात्॥ ४ वा प्रतिषु नास्ति॥ ५ अत्र सौख्येनदर्थे वि इति पाठः समीचीनो भाति॥ ६ त्वमनेनैव पा०। त्वमतेनैव डे० सं० वि० दे० ही०॥ ७ द्रष्टव्यं पृ० १४२ पं० १२॥ ८ कर्मोक्त प्र०॥ ९ तद्विध्य प्र०॥ १० सम्यद्धि प्र०॥

कामरटनवत् 'जुहुयात्' इत्यर्थापन्नार्थानुवाद इतीयं व्याख्या न्याय्या आदिवाक्ये प्रधानश्रुत्यत्यागगुणकृदपीति चेत्, न, अर्थापन्नस्वशब्दार्थपुनरुक्तत्वादनुवादा-

---

दुपायोऽस्ति कामप्राप्तौ क्रियातः क्रियया शब्देन वा तदर्थावगमनात्, यथा अन्धलकस्य वीथीमध्यपतितस्य हस्तं प्रसार्य कपर्दिका कपर्दिकां देहि देहि भो इति वा रारट्यमानस्य कामोऽवगमितः क्रियया शब्देन वा प्रकरणविशेषसम्बन्धात्, सा च क्रिया नोपदेशमन्तरेण सिध्यति, **अन्धलकावगमितकामरटनवत्** 'अग्निहोत्रं स्वर्गकामः' इत्युक्ते 'कुर्यात्' इत्यर्थादापन्नो विध्यर्थोऽवगमितकामत्वात्, यथा तस्यान्धलकस्य याच्यार्थः । स च विशेषसम्बन्धो वाक्यन्यायेन भवति, यथा सब्रह्मचारिणा सहाधीत इति समानेन ब्रह्मचारिणा सहाधीते, केन सामान्येन समानेन? प्रकृतविशेषणत्वात् प्रकृताध्ययनक्रियेणेति गम्यते एवमिदमपि वाक्यम्, अनेन वाक्यन्यायेन प्रकृतस्वर्गकामाग्निहोत्रकर्मानुरूपविध्यर्थक्रियोपदेशताऽस्येति गम्यते, अतो हेतुहेतुमद्भावप्रतिपादितं **प्राप्तिविहितस्वरूपसिद्धेरग्निहोत्रस्ये**त्यादि यावज्जुहुया-
१११-२ **दित्यर्थापन्नार्थानुवादः** 'अग्निहोत्रं स्वर्गकामः' इत्येतावता कुर्याद्वाक्यशेषेण वाक्येन गतार्थत्वात् ।

तदेवं 'जुहुयात्' इत्यनुवादो न विधिरितीयं **व्याख्या न्याय्या,** व्यक्तार्थोपपत्तित्वात् प्रागभिहितव्याख्याविकल्पसमुत्थदोषाभावाच्च न्याय्येति मन्तव्या, यस्मा**दादिवाक्ये प्रधानश्रुत्यत्यागगुणकृदपीति,** यदभिहितं प्राक् 'अग्निहोत्र जुहुयात्' इत्यस्य वाक्यस्य 'अग्निहोत्रं कुर्यात्' इत्यर्थव्याख्याविकल्पे विध्यर्थवाचित्वाभिमतश्रुतप्रधानजुहोत्यर्थत्यागस्ततः पुरुषप्रमाणकता, तदत्यागे वाक्यभेदापत्तिः पौनरुक्त्यादिदोषजातम्, तदप्यत्र नास्ति जुहुयाच्छब्दस्यानुवादत्वादेव, 'हवनं कुर्यात्' इत्यत्राप्यग्निहोत्रप्रधानत्याग इत्यादिदोषजातं तदपि नास्ति, तस्मादियं व्याख्या आदिवाक्ये प्रधानश्रुत्यत्यागगुणकृदपीति, तस्य जुहोतेरनुवादत्वेन पौनरुक्त्य-त्याग-भेदाद्यभावात् । चेदित्याशङ्कायाम्, एवं चेन्मन्यस इत्येव परं पूर्वाचार्य उत्तरमाह — **तन्न, अर्थापन्ने**त्यादि । एषापि व्याख्या नोपपद्यते, किं कारणम्? **पुनरुक्तत्वात्** प्रयोगायोग्यत्वम्, ततश्चानुवादत्वासम्भवः, तस्मा**दनुवादासम्भवात्** तन्नेत्यभिसम्बन्धः । इदं च पुनरुक्तमर्थापन्नस्वशब्दार्थं पुनर्वचनलक्षणे पुनरुक्ते निग्रहस्थानविकल्पे । द्विविधं पुनरुक्तं निग्रहस्थानम्, तद्यथा —
१११-३ शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तम्, अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनं च [न्या० सू० ५। २।१४-१५] इति । तस्मादिदमर्थादापन्नस्य पुनर्वचनम्, विशेषविधानमन्तरेणार्थापन्नार्थस्य स्वशब्देनोच्चारणात् । 'घृतेन जुहुयात्' इत्यत्र न स्यात् पुनरुक्तम्, घृतविशिष्टहवनविधानात् । इह तु स्वर्गकामानुरूपकर्मानुरूपक्रियाविशेषविध्यर्थताया उपदेशवृत्तेरेव गतार्थतयाभ्युपगतत्वाद् घृतविशिष्टहवनविधानजुहोत्यनुवादतायाश्च मूलवाक्यगतजुहोत्य-

---

१ त्रा प्र० ॥ २ °त्वातस्यान्धलकस्य याचार्थः पा० विना । °त्वात्स्यान्धलकस्य याचार्थः पा० ॥ ३ णा अहाधीते भा० । °णाऽधीते य० ॥ ४ °न्नार्थोनुवादो प्र० ॥ ५ विधे° प्र० ॥ ६ दृश्यता पृ० १३० पं० २ ॥ ७ दृश्यता पृ० १३० प० ३ ॥ ८ दृश्यता पृ० १३१ प० ५ ॥ ९ दृश्यता पृ० १५१ प० १ ॥ १० दृष्ट्वा° प्र० ॥ ११ °न्नस्वशब्दार्थपुन° वि० र० ही० ॥ १२ °चनं चेति प्र० ॥

सम्भवात् साक्षाच्छ्रुतविधिजुहुयात्त्यागेन चार्थापन्नार्थाश्रुतानूदितजुहुयात्कल्पनाद् विधीयमानवाक्यार्थविषयानुवदनाच्च वाक्यभेदपुनरुक्तदोषाङ्गीकरणादनुवादानुवादस्य च प्राप्तविशेषणपरार्थविषयार्थत्वाद्विधिविषयविप्रकृष्टीभूतार्थत्वात्। इति

थासिद्धेरनुवादत्वेन। किञ्चान्यत्, अथवान्यतरा चेयं व्याख्या। कस्मात्? साक्षाच्छ्रुतविधिजुहुयात्त्यागेन चार्थापन्नार्थाश्रुतानूदितजुहुयात्कल्पनात् स एव पुरुषप्रमाणकत्वदोषः शब्दाप्रामाण्यदोषश्च। 'जुहुयात्' इत्यस्य क्रियावाचिनः विध्यर्थस्य साक्षाच्छ्रुतस्य प्रत्यक्षस्य त्यागं कृत्वा अर्थापन्नार्थस्य अर्थादापन्नोऽर्थोऽस्येत्यर्थापन्नार्थः, कोऽसौ? स एव जुहुयाच्छब्दोऽनुवादाभिमतः, तस्य अश्रुतस्यार्थापन्नार्थस्यानूदितविकल्पनाद्नुवादकल्पनात् 'तत्र' इति वर्तते। किञ्चान्यत्, विधीयमानवाक्यार्थविषयानुवदनाच्च, विधीयमानो वाक्यार्थो विधीयमानवाक्यार्थः, स विषयोऽस्येति विधीयमानवाक्यार्थविषयः स एव जुहुयाच्छब्दः, तस्यैवानुवदनं स एवानुवादः, तस्माद् विधीयमानवाक्यार्थविषयानुवदनाच्च किं सवृत्तम्? वाक्यभेदस्य पुनरुक्तस्य चाङ्गीकरणम्, न हीदमेव वाक्यं स्वर्गकामाभिसम्बद्धाग्निहोत्रविधानं तदनुवदनं च कर्तुं शक्नोति स्वर्गकामकर्तृकस्याग्निहोत्रकर्मणो वाक्यान्तरेणाप्रापितत्वात्। यथा 'अयं देवदत्तः' ११२२ इत्यत्र न देवदत्त एवानूद्यते विधीयते च, प्रत्यक्षसिद्धस्तु इदमो विषयोऽनूद्यते, एवमिह प्रसिद्धार्थोऽपेक्ष्यः, स तु नास्ति। तस्मादुभयार्थकल्पनादेकस्य वाक्यस्य तदसम्भवाच्च वाक्यभेददोषः। पौनरुक्त्यं तु विशेषविधानाभावात्, विशेषविध्यर्थो ह्यनुवादो युक्तः, यथा 'अयं देवदत्तः' इति अयंशब्दप्रत्यक्षप्रसिद्धार्थमनूद्य देवदत्तविधानम्, न तु तथात्र कश्चिद् विशेषो विधीयते, तस्मादविशेषाभिधानात् पौनरुक्त्यम्। तस्मात् 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यस्य वाक्यस्य प्रथमत्वादेकवाक्यगतत्वाच्चानयोर्विध्यनुवाद्योरर्थापन्नाग्निहोत्रकर्मविधित्वे जुहोतेरनुवादत्वे [वा] वाक्यभेदपुनरुक्तदोषाङ्गीकरणाद् न इत्येवाभिसम्बध्यते। एवं तावत् 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यत्र जुहुयाच्छब्दो नानुवादो घटते, न च 'अग्निहोत्रं स्वर्गकामः' इति विधिः। किञ्चान्यत्, अनुवादानुवादस्य च प्राप्तविशेषणपरार्थविषयार्थत्वात्। अनुवादत्वं हि प्राप्तविषयार्थम्, यथा 'अयं देवदत्तः' इति 'अयं'शब्दार्थः प्राप्तार्थोऽप्राप्तो देवदत्तार्थोऽधुना प्रापणीयः। एवं प्रसिद्धाप्रसिद्धिभ्यां विशेषणविशेष्यौ, तावेवोपकारकोपकार्यत्वाभ्यां परार्थस्वार्थौ। न तथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यत्र प्राप्तविशेषणपरार्थविषयत्वमग्निहोत्रजुहुयाच्छब्दयोः, अतोऽप्राप्तविशेषणापरार्थत्वात् साम्यादनुवादत्वाभावः। अभ्युपगम्यापि प्राप्तादि दोष उच्यते—यत् पश्चादुच्यते कर्तव्यताप्रसिद्ध्यर्थमिति- ११३१ कर्तव्यतावाक्यं 'घृतेन जुहुयात्' इति तस्य विधिविषयविप्रकृष्टीभूतत्वं जुहुयाच्छब्दस्यानुवादाभिमतस्य।

---

१ विधे प्र० ॥ २ जुहुयाकल्पनात् प्र०। अत्र जुहुयाद्विकल्पनात् इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ३ अत्र स एव वानुवाद इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ४ हीदमेव वा स्वग प्र० ॥ ५ वाक्यस्य य० प्रतिषु नास्ति ॥ ६ अयशब्दः प्रत्यक्ष प्र० ॥ ७ वादयन्ये भ० लीं० वि० दे० डी० ॥ ८ प्राप्त्यर्थप्राप्तो पा० डे० वि०। प्राप्त्यर्थ प्राप्तो लीं०। प्रात्यर्थ प्राप्तो दे० डी०। प्रर्थप्राप्तो भा०। अत्र अर्थशब्दार्थः प्राप्तः देवदत्तार्थोऽधुना प्रापणीयः इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ९ ग्निहोत्रजुहु भा० ॥ १० रार्थत्वासाम्या प्र०। अत्र रार्थत्वसाम्या इत्यपि पाठः स्यात् ॥

घटितविघटितप्रतिसमाधेये तत्प्रतिसमाधानार्थमुद्यतेन त्वया चिकित्सयैव गण्डस्योपरि स्फोट आपादितः ।

लौकिकजुहोत्यर्थानुष्ठानप्रवृत्तोपदेशविषय एव त्वयं परमनुवादः स्यात्, स चानुपपन्ननियमार्थ उपदेशः प्राप्तिविहितेतिकर्तव्यतानतिरिक्तहवनक्रियानाम-

---

किं कारणम्? प्राप्तविशेषणपरार्थविषयत्वादनुवादस्य अप्राप्तविशेष्यस्वार्थविषयत्वाद्विधेरादिवाक्यगत एव तावज्जुहुयाच्छब्दोऽनुवादो[1] न घटते प्राप्तत्वाभावात्, तस्यानुवादस्तु 'घृतेन जुहुयात्' इत्यत्र जुहुयाच्छब्द इष्टः स्यात् तत्प्रतिरूपकस्तस्यार्थः[2] प्रतिशब्दकस्यैवेत्यापन्नोऽप्राप्तविशेषणपरार्थत्वाद् विधिविषयविप्रकृष्टीभूतार्थश्चेति[3]। ततश्च विधिविषयविप्रकृष्टीभूतार्थत्वान्न कर्तव्यताविषयत्वमितिकर्तव्यतायाः, यथा दशदाडिमादिश्लोकावयवानाम[4] । किञ्चान्यत्, इति [घटित]विघटितेत्यादि यावद् गण्डस्योपरि स्फोट आपादितः । इतिशब्दो हेत्वर्थे, यस्मादित्थं 'कर्तव्यविषयविप्रकृष्टत्वमितिकर्तव्यतायाः' इत्यादि दोषजातं विध्यनुवादत्वाभावात् तस्माद् घटितविघटितम्, प्रागीपद् घटितमासीत 'सैवादिघटितेतिकर्तव्यतैव कर्तव्यता' इति, तदप्यनया 'प्राप्तिविहितस्वरूपसिद्धेः' इत्यादिकया कल्पनया विघटितमुक्तविधिनैव । ततश्च प्रतिसमाधेये [5]विरुद्धतरदोषापादन 'विधिविषयविप्रकृष्टीभूतार्थत्वादिति[6] । ततश्च प्रतिसमाधेये तस्मिन्नेव
११३-० वाक्येऽनुवादत्वाभावादवाक्यत्वादिदोषदुष्टे तत्प्रतिसमाधानार्थमुद्यतेन[7] त्वया अहो परमविदुषा चिकित्सकेनानपेक्षितपूर्वापरक्रियाविधिविपाकेन चिकित्सयैव गण्डस्योपरि स्फोट आपादितः । तस्मादप्रसिद्धार्थत्वान्न मौलो जुहोतिर्नोत्तरो वानुवादो घटते ।

यदि भवतो[8] घृतेन जुहुयादित्यस्यानुवादत्वमिष्टं ततोऽहमेव ते बुद्धिसंविभागं करोमि, श्रूयताम्— लौकिकजुहोत्यर्थानुष्ठानप्रवृत्तो[9]पदेशविषय एव त्वयं परमनुवादः स्यात्, लौकिको हि दानादनार्थो जुहोतिः, तदर्थानुष्ठानप्रवृत्तोपदेशो[10] यत्रास्य विषयः स्याद् 'दद्यात्, अद्यात्' इति तदर्थप्रसिद्धेस्तद्विषयोऽनुवादो युज्यते विधिर्वा । यस्मै कस्मैचिद्यदि किञ्चिद्दद्यात्[11] घृतं दद्यात् तेन जुहुयात्, यदि भुञ्जीत घृतेन जुहुयादित्येतस्मिन्नर्थेऽनुवादो घटते । स चानुपपन्ननियमार्थ उपदेशः, समीकृत्य व्याख्यातोऽर्थोऽस्य शब्दस्य ते मया तथापि तु पुनस्त्वदिष्टविरुद्धार्थमेतदापद्यते, लोकेऽनुपपन्ननियमोपदेशार्थत्वदर्शनाद् विचित्रयोर्दानभोजनयोः स्वपरप्रीतिहेतुत्वाद् यथोपपत्ति घृतेन पयसा दध्ना गुडेन च भुञ्जीत तान्येव च बुभुक्षवे दद्यादिति । न तु यथा अक्षिवैद्यके त्रिफलां घृतेनैव भक्षयेत्, न गुडेन, गुडस्य चाक्षुष्यत्वात् । यथोक्तम्—

प्रभूतकृमिमज्जासृङ्मेदोमांसकरो गुडः । [चरकसं० १।२७ २३८]
चक्षुस्तेजोमयं तस्य [12]विशेषाच्छ्लेष्मणो भयम् । [चरकसं० १।५।१६] इति ।

---

१ °वादो घटते य० ॥ २ °स्यार्थप्रति° प्र० ॥ ३ दृश्यतां पृ० १३९ पं० १ ॥ ४ दृश्यतां पृ० १५५ पं० ३ ॥ ५ विरुतर° प्र० ॥ ६ दृश्यतां पृ० १५७ पं० ३ ॥ ७ °मुच्यतेन य० ॥ ८ भवत्ते य० । भवति भा० ॥ ९ °प्रकृत्तो° भा० । °प्रकृतो° य० ॥ १० °पदेश एव य० ॥ ११ °द्द्यात्त भा० । °द्द्यान्न य० ॥ १२ "विशेषाच्छ्लेष्मतो" इति चरकसंहितायाम् ॥

मात्रार्थः । तन्मात्रत्वात्तु तस्याः प्रकरणानुबन्धनाद्धित्वा जुहोतिप्रयोगबाहुल्य कृञ्प्रकृतिलिङ्कर्तृता प्रदर्शयितव्या—यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति तद् घृतादिना स्वर्गकामः कुर्यादिति ।

त्वद्वचनात्त्वप्रमाणनियमागमोऽनुपदेशकश्च विवेक्तुरपीति सम्भाव्येत, अप्रत्यवेक्षितार्थत्वात् पौर्वापर्ययोगाप्रतिसम्बद्धार्थत्वाद् घटितानुमतविध्वंसनादुन्मत्त-

---

निदर्शयति इत्थं चाग्निहोत्रं जुहुयात् [काठकसं० ६।७] यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति [मै० सं० १।८।७] घृतेन जुहुयात् [काठकसं० ६।३।८] सूर्पेण जुहोति तेन ह्यन्नं क्रियते [तै० ब्रा० १।६।५] इत्येवमादिविध्यनुवादार्थवादवाक्यगतो जुहोति श्रूयमाणः उपस्थानादीतिकर्तव्यतानतिरिक्तसेवनक्रियानामधेयमात्रार्थत्वमत् प्राप्तिविहितेतिकर्तव्यतानतिरिक्तहवनक्रियानाममात्रार्थः, विप्रकीर्णाध्ययनकलापा- ११४ कारा क्रियैवास्यार्थोऽसिद्धरूपः, न सिद्धरूपो यथा यूपघटादि । तन्मात्रत्वात् तु तस्याः क्रियायाः प्रकरणानुबन्धनात् प्रकरणेन अनुबध्नन् वक्ता ब्रूते श्रोता च प्रतिपद्यते—क्रियामात्रमवन्ध्यमनेन शब्देन कर्तव्यमित्येतावद्बोध्यत इति । तस्मात् क्रियामात्रत्वात् प्रकरणानुबन्धनाद् हित्वा त्यक्त्वा जुहोतिप्रयोगबाहुल्य सर्वजुहोतिप्रयोगान्, क्रियामात्रे प्रतिपाद्ये नान्तरीयकत्वात् कृञ्प्रकृतिलिङ्कर्तृता प्रदर्शयितव्येति तत्प्रतिपादनार्थम्, अभिमतवाक्यार्थतास्य स्यादेवं कल्प्यमाने । तन्निदर्शयति—यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति तद् घृतादिना स्वर्गकामः कुर्यादिति, एतावता सन्दर्भस्य सुगमत्वाज्जुहोतिप्रयोगबाहुल्यमप्रत्ययघटितमेव पुनरन्यत्रान्यत्र जुहुयात्, जुहोति इत्यादि ।

निदर्शयन्, त्वद्वचनात्तु अप्रमाणनियमागमोऽनुपदेशकश्च विवेक्तुरपीति सम्भाव्येत । योऽन्यप्रयुक्तवाक्यार्थनयनसमर्थो विवेक्ता पुरुषः तस्य वाक्यप्रमाणत्वस्य प्रत्याख्ययं वाक्यप्रयोगोऽप्रमाणनियमागमोऽनुपदेशकश्च । अप्रमाणनियमागमः प्रत्यक्षानुमानगम्यार्थाभावादा । अनुपदेशकस्त्ववगमकत्वात् । तत् पुनः सम्भावयामि 'भवेदेवम्', मा मंस्था निपुणम् 'अप्रमाणनियमागमोऽनुपदेशकश्च' इत्यवधार्येवोच्यत इति । कुतः ? अप्रत्यवेक्षितार्थत्वात् पौर्वापर्ययोगाप्रतिसम्बद्धार्थत्वाद् घटितानुमतविध्वंसनात् । अप्र- ११४ त्यवेक्षितार्थता जुहोतिबाहुल्यप्रयोगनिर्विषयत्वादिभिः । पूर्वापरसम्बन्धरहितता पृथगर्थाभिमतानां विध्यादिभेदाभावात् । घटितविध्वंसनम् 'इतिकर्तव्यतैव कर्तव्यता' इति घटितस्य आदिवाक्यगतस्योत्पत्त्यनुवादाभ्युपगमाद् घटितानुमतविध्वंसनम् । एतेभ्यो हेतुभ्योऽप्रमाणनियमागमोऽनुपदेशकश्च वाक्यप्रयोगः । दृष्टान्तः उन्मत्तप्रलापवत्, यद्वाक्यमुन्मत्तादिप्रलपितं पुरुषोच्चारितशब्दसामान्यात् सद्वाक्यवदाभासमानमप्रमाणनियमागमः च, यथा—

> दारु कदल्या कदली च मेरौ तस्या च मेरौ सुमहद् विमानम् ।
> तच्छृङ्गमेरौ कदलीविमानमुन्मत्तगङ्गाप्रतिमं बभूव ॥ [ ]

---

१ वाक्ति पा० ॥ २ दृश्यतां पृ० १२३ टि ३ ॥ ३ दृश्यतां पृ० १८० टि० ८ ॥ ४ दृश्यतां पृ० १८० टि ९ ॥ ५ सूर्पेण प्र ॥ ६ त्यक्त्वा होति प्र ॥ ७ कर्तृता च दृश्य य ॥ ८ पुनरन्यत्र जुहु भा ॥ ९ मतिरि प्र ॥ १० त्यपक्षिता जुहोति प्र ॥ ११ दृश्यतां पृ० १४ पं० १ ॥

प्रलापवत्, प्रत्यवेक्षाप्रामाण्ययोर्ज्ञानविषयत्वात्, त्वन्मतात्तु वेदो न ज्ञानं ततोऽप्रमाणनियमोऽनुपदेशकश्च, अचेतनत्वात्, आकाशवत्।

यदपि च प्रसह्य कारणेषु फलस्य खपुष्पवदसत्त्वमुच्यते एवंविधेष्वेकान्तेन तदपि चान्याय्यमेव । यदेतदसत्त्वं नाम त्वया कचिन्मन्यते ततोऽन्यत् कार्यम्,

---

इति, तथेदमपि विवेक्तुरप्यर्थप्रतिपादनसमर्थं न भवतीति । एवं विचार्यमाणमिदं वाक्यं दोषेभ्यो न मुच्यते । अथवा नैवायं दोषो न च विचारयोग्योऽयमुद्ग्राहः **प्रत्यवेक्षाप्रामाण्ययोर्ज्ञानविषयत्वात्,**
११५-१ ज्ञानं हि प्रमाणमप्रमाणं वेति विचार्यते प्रत्यवेक्ष्यते च तत्र प्रामाण्यस्य मुख्यत्वात्, न ह्यत्र कुड्यादिप्रामाण्य-
वत् प्रामाण्यमङ्गीक्रियते । तस्मात् प्रत्यवेक्षायाः प्रामाण्यस्य च ज्ञानविषयत्वात् त्वन्मतादेव वेदस्याज्ञाना-
भिमतत्वान्न विचारो न प्रमाणभावो वास्ति अज्ञानत्वाद्वेदस्य । त्वया हि प्रागेवोत्पत्तितोक्तम्—न हि किञ्चि-
ज्ज्ञानं निश्चितं विशुद्धं चास्ति सर्वस्य संशयाद्यज्ञानानुविद्धत्वादिति । तद्दर्शयन्नाह—**त्वन्मतात्तु वेदो न ज्ञानं** न ज्ञानत इति, न यथा ज्ञानकार्यत्वाज्ज्ञानात्मात्मप्रयुक्तशब्दचैतन्यमपि कार्ये कारणोपचारादन्नकार्यप्राणान्नत्ववदिति वा । **ततः** किमिति चेत्, **अप्रमाणनियमोऽनुपदेशकश्च** वेदः, **अचेतनत्वात्, आकाशवत् ।** यथा आकाशमचेतनत्वादप्रमाणं कूटस्थनित्यत्वाच्च न ज्ञानवद्वचनमेवं वेदोऽपीति प्रामाण्योपदेशाभावः ।

यदपि च प्रसह्येत्यादि । प्रसह्य बलात्कारेण परं कञ्चित् पुरुषमगणयता एकवीरंमन्येनाक्रम्य परिभूयास्मन्मतं यदपि च 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यत्र **कारणेषु** घृतादिष्वितिकर्तव्यतात्मसु स्वर्गादि**फलस्य खपुष्पवदसत्त्वमुच्यते एवंविधेष्विति** सर्वेतिकर्तव्यतानामादिमध्यावसानेषु, तत् पुनरसत्त्व**मेकान्तेन** 'कथञ्चित् कार्यादिसत्त्वमपि' इत्येतत्पक्षनिरपेक्षं 'सर्वथा नास्त्येव' इति त्वयेष्टं **तदपि चान्याय्यमेव ।**
यतो **यदेतदसत्त्वं नाम त्वया कचिन्मन्यते, नामेति** मिथ्याकल्पितनाममात्रमेव तद् यत् त्वया क्वचित्
सत्त्वनिरपेक्षमसदिति चिन्त्यते । कथं पुनरन्याय्यं तदसत्त्वमिति चेत्, उच्यते, न्यायेन बाध्यत्वात् । कतमो
११५-२ न्याय इति चेत्, एवं तर्हि ब्रूमः—**ततोऽन्यत् कार्यम्,** असतोऽन्यदित्यर्थः । कुतः ? **तदसमर्थविकल्पत्वात्,**[12] असङ्गतार्थोऽसमर्थोऽसम्बद्धो विकल्पः,[13] तेनासता सहासम्बद्धो विकल्पोऽस्येति तदसमर्थविकल्पं कार्यम्, तस्य कार्यस्यासमर्थविकल्पत्वात् ततोऽन्यत्वम् । किमिव ? **घटपटवत्,** यथा घटविकल्पाः पृथुबुध्नोर्ध्वग्रीवादयो मृदुचतुरस्रादिभिः पटविकल्पैरसङ्गताः पटविकल्पाश्च तैरित्यन्यौ घटपटौ परस्परत एवमसद्विकल्पैरसङ्गतं कार्यं तस्मात् ततोऽन्यदिति ।

---

१ प्रत्यपे° प्र० ॥ २ °योर्निर्विषयत्वात् य० ॥ ३ तुड्डपादि° य० । अत्र 'कुड्यादिवत्' इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ४ वेदस्य ज्ञाना° य० ॥ ५ दृश्यतां पृ० ११२ पं० ६ ॥ ६ त्वन्मतात्तवेदो न ज्ञानन्न ज्ञानव इति नऽव इति भा० । त्वन्मतात्तदो न ज्ञानन्न ज्ञानव इति य० ॥ ७ °त्वाज्ञानात्मप्रयुक्त° य० ॥ ८ °प्राणेन्नत्व° भा० ॥ ९ °मवग° य० ॥ १० °वीरन° प्र० । "आत्ममाने खश्च ।३।२।८३॥ स्वकर्मके वर्तमानान्मन्यते सुपि खश् स्यात्। चाणिनिः । पण्डितमात्मानं मन्यते पण्डितंमन्यः ।"—पा० सिद्धान्तकौ० ॥ ११ °कान्तेन न कथंचित् य० ॥ १२ तसमर्थ° प्र० । दृश्यतां पृ० ४७८-२ ॥ १३ विकल्पतः तेना° य० ॥ १४ °त्यनौ घट° प्र० ॥

तदसमर्थविकल्पत्वात्, घटपटवत् । विकल्पासामर्थ्यं चासत्कार्ययो' सिद्धमेव । चतुर्षु विकल्पेषु कार्यखपुष्पयोरुभयोरसत्त्व कार्यासत्त्वमेव वेत्येतद् विकल्पद्वय स्यात्, उभयसत्त्वकार्यसत्त्वयो प्रतिपक्षाभ्युपगम एवेति वादाभावात् ।

तद्यदि तावदुभयासत्त्व ततोऽसत्त्वाविशेषादेवाविशेषे कार्याविर्भाववत् खपुष्पाविर्भावोऽप्यायत्या स्यादसत्कार्यवत् ।

अथ न कार्यप्रादुर्भाववत् खपुष्पप्रादुर्भावोऽसच्च कार्यमिति निश्चितम्, तद्वैलक्षण्यान्न तर्ह्यसत् खपुष्पम्, सदसद्विलक्षणत्वाद् घटवत्, इतर उदुम्बरपुष्पवत् । ननु घटासत्त्व पटासत्त्वविलक्षणम्, न, सतो वैलक्षण्यात् ।

स्यान्मतम्—असद्विकल्पासङ्गतत्व कार्यस्यासिद्धम्, तन्न, सिद्धमेव, यस्माद् विकल्पासामर्थ्यं चासत्कार्ययोरसत कार्यस्य च सिद्धमेवेति गृहाण, विकल्पचतुष्टये द्वयोरेव सम्भवात् । असत् खपुष्पम्, कार्यमङ्कुरादि, तयोर्विकल्पाश्चत्वार —१ खपुष्पमसत् कार्यमप्यसत्, २ खपुष्प सत् कार्यमसत्, ३ खपुष्पमसत् कार्यं सत, ४ खपुष्प सत् कार्यमपि सत्, एतेषु चतुर्षु विकल्पेषु कार्यखपुष्पयोरुभयोरसत्त्व कार्यासत्त्वमेव वेत्येतद्विकल्पद्वय स्यात् सम्भवत् । किं कारणम् ? उभयसत्त्वकार्यसत्त्वयो प्रतिपक्षाभ्युपगम एव, सत्कार्यवाद प्रतिपक्षोऽसत्कार्यवादस्य, इतिशब्दो हेत्वर्थ, तस्माद्धेतोर्वादाभाव, तस्माद् वादाभावादुभयाभावकार्याभावविकल्पावेव सम्भवेताम्, नेतरौ ।

ततश्च तयोरुभयासत्त्वकार्यासत्त्वविकल्पयोस्तद् यदि तावदुभयासत्त्व ततोऽसत्त्वाविशेषादेवाविशेष खपुष्पकार्ययो, असत्त्वाविशेषादेवाविशेषे कार्याविर्भाववत् खपुष्पाविर्भावोऽप्यायत्या ११६ १
स्यात्, एष्यति कालान्तरेऽस्माद् वर्तमानात् क्षणादन्यस्मिन् क्षणे भवेत् । दृष्टान्त —असत्कार्यवत्, बीजादङ्कुरवत् । न चैतद्दृष्टमिष्ट वा 'खपुष्पप्रादुर्भाव' इति ।

अथैतस्मादनिष्टापत्तिदोषाद् दृष्टेष्टविरोधादपसर्पन् ब्रूयास्त्वम्—न कार्यप्रादुर्भाववत् खपुष्पप्रादुर्भाव इष्यते, असच्च कार्यमिति निश्चितम् । तत्र को दोष इति चेत्, उच्यते—तद्वैलक्षण्यान्न तर्ह्यसत् खपुष्पम्, असत्कार्यवैलक्षण्यादिदानीमसत् खपुष्पम, किन्तु सदिति प्राप्तम् । असत्कार्यवैलक्षण्य खपुष्पस्यायत्यामप्रादुर्भाव, तस्मादसत्कार्यवैलक्षण्यादायत्यामप्रादुर्भावान्न तर्ह्यसत् खपुष्पम्, किं तर्हि ? सत्, को हेतु ? असद्विलक्षणत्वात्, असता कार्येण सह विलक्षणत्वात् । दृष्टान्तो घटवत्, यथा घटोऽसद्विलक्षणत्वात् सन्नेव खरविषाणमप्यायत्या प्रादुर्भवता कार्येण वैलक्षण्यात् सत् प्रसक्तम् । इतर उदुम्बरपुष्पवत्, इतर इति वैधर्म्यदृष्टान्त, यदसत् तदसद्विलक्षण न भवति यथोदुम्बरकुसुममिति परस्यानिष्टापादनायत्यामसद्वैधर्म्यं खपुष्पस्येति । ननु घटासत्त्व पटासत्त्वविलक्षणम् । स्यान्मतम्—घटस्या-

---

१ तत्र य० ॥ २ सत्वमेवेत्येतद्वि य० । दृश्यतां पृ० ३०-२ ॥ ३ कारणाभाववेव सम्भवेता नेतरा य० ॥ ४ एविन्द्वाद भा० ॥ ५ इतरे य ॥ ६ पक्षासत्व भा० । पुष्पसत्व य० ॥

अथैवमपि वैलक्षण्ये खपुष्पासत्त्वनिश्चयो न निवर्ततेऽप्रादुर्भावात्मकं च तत्, न तर्हि प्रादुर्भावात्मकत्वात् कार्यमसद् निर्वृत्तघटवत्। असत्त्व आयत्यां न प्रादुर्भवेत्, असत्त्वात्, खपुष्पवत्। शेषं पूर्ववदेव विपर्ययेण।

सत्त्वं पटात्मना, पटासत्त्वं घटात्मनेति तयोरितरेतराभावलक्षणासत्त्वं वैलक्षण्यं च परस्परतो दृष्टम्, तौ च घटपटौ सन्तौ, तस्मादसद्वैलक्षण्यस्य सत्यपि दर्शनाद[1]नैकान्तिकतेति चेत्, उच्यते — **न, सतो वैलक्षण्यात्।**
११६-२ नानैकान्तिकतास्य[2] हेतोः, सतो वैलक्षण्यात्। सत एव वैलक्षण्यम्, तद्धीतरेतराभावात्मकं वैलक्षण्यं सत एव, नासतः। तस्मादसतो वैलक्षण्यं न भवति, किं तर्हि? सद्वैलक्षण्यमपि तत् सत एवेतरापेक्षया तद्रूपेणासत्त्वात्[3]। अयं तु कार्यस्यायत्यां प्रादुर्भावोऽसता खपुष्पेणात्यन्तविलक्षणोऽप्रादुर्भावश्च खपुष्पस्य कार्येणासतेति[5] नास्ति सतो वैलक्षण्यं सता तद्विशेषधर्मत्वाद् रूपादिविशेषधर्मावैलक्षण्यवत्। अथवा **सतोऽवैलक्षण्यात्**[6], सतः अवैलक्षण्यात्। सतस्तु घटादेः पटादिना सह वैलक्षण्यं नास्त्येव, सत्त्वान्वयाविशेषाद् देशकालाकारादिमात्रविशेषस्याविशेषत्वात्, अङ्गुल्यादिविशिष्टाकाशाविशेषवत्[7]।

अथवा **न तर्ह्यसत् खपुष्पम्।** कस्माद्धेतोः? **सदसद्विलक्षणत्वात्,** सताऽसता च विलक्षणत्वात्। सच्च द्विविधम् — तुल्यजातीयं घटस्य घट एव, अतुल्यजातीयं पटादि। असच्च[8] कार्यमायत्यां भाव्यङ्कुरादि। खपुष्पमत्यन्ताप्रादुर्भावात् कार्येणासता विलक्षणं सता च घटपटादिना त्वन्मतेन इतरेतराभाववैलक्षण्येन तुल्यजातीयेन [अतुल्यजातीयेन[9]] च भावानां परस्परवैलक्षण्यवद्[10], दृष्टान्तो **घटवदिति,** यथा घटस्तुल्यजातीयेभ्यो घटान्तरेभ्योऽतुल्यजातीयेभ्यश्च पटादिभ्यः सद्भ्यो[11] विलक्षणोऽसतश्च खपुष्पादेः सं[श्च]
११७-१ दृष्टस्तथा खपुष्पं घटवत् सदसद्विलक्षणत्वान्नासत्[12], सदेवेत्यर्थः, द्विः प्रतिषेधः प्रकृतिं गमयतीति कृत्वा। **इतर उदुम्बरपुष्पवत्,** यदसत्[13] तत् सदसद्विलक्षणम्, यथोदुम्बरपुष्पम्। त्वन्मत्यैवात्रापि वैधर्म्यदृष्टान्तः, खपुष्पखरविषाणोदुम्बरपुष्पादीनामसत्त्वाविशेषादनिष्टापादनसाम्यात् साध्यान्तःपाती[14]। तस्माद् वैधर्म्यदृष्टान्तेन नार्थः। अस्तु तदा सद्विलक्षणत्वमितरेतराभावापेक्षत्वात्, कथमसद्विलक्षणं खपुष्पमिति चेत्, आयत्यां प्रादुर्भवता कार्येणासता वैलक्षण्यस्य त्वयैवाभ्युपगतत्वात् त्वन्मतनिवारणार्थत्वादस्य[15] प्रयासस्य नास्माकं दोष इति।

अथैवमपीत्यादि। अथ ते प्रादुर्भावाप्रादुर्भाववैलक्षण्ये सत्यपि कार्यखपुष्पयोः 'असदेव खपुष्पम्' इत्ययं **निश्चयः** 'असद्वैलक्षण्याद् घटवत् सद् भवतु' इत्यस्मान्न्यायान्निवर्त्यमानोऽपि **न निवर्तते, 'अप्रादुर्भावात्मकं च तत्** खपुष्पम्' इत्येतच्च वैलक्षण्यमिष्यत एव, प्रादुः प्राकाश्ये जन्मनि च, तथाऽऽवि-

---

१ नादिकैकान्तिकतेति वि०। °नादैकैकान्तिकतेति वि० विना॥ २ नासैकान्ति° वि० विना॥ ३ तत्सत्त्व डे० लीं०। तत्सतं पा०। तद्रक्षं र० ही०। तत्सत्त्वं वि०॥ ४ °त्यन्तं वि° वि० र० ही०॥ ५ कार्येण सतेति प्र०॥ ६ सतोवै° प्र०॥ ७ °ष्टकोशाविशेषवत् वि० विना। °ष्टकांताविशेषवत् वि०॥ ८ असच्चर कार्य° प्र०॥ ९ अतुल्यजातीयेन इति पाठो यद्यपि कुत्रापि प्रतिषु नास्ति तथाप्यावश्यक इति भाति॥ १० °ण्यवद् दृष्टांतो भा० वि०। °ण्यवच्च दृष्टांतो पा० डे० लीं० र० ही०॥ ११ °भ्यश्च सद्भ्यो य०॥ १२ °न्नसत्यदेवेत्यर्थः प्र०॥ १३ यदसत्तत सद्विलक्षणम् प्र०॥ १४ °पाति प्र०। अत्र 'साध्यान्त पातित्वात्' इत्यपि पाठः स्यात्॥ १५ °तद्विचारणार्थ° भा०॥

अत कार्यं सत्, आविर्भावात्मकत्वात्, निर्वृत्तघटवत, वैधर्म्येण आकाशघटवत् । असच्च खपुष्पम्, अनाविर्भावात्मकत्वात्, खघटवत्, वैधर्म्येण निर्वृत्तघटवत्।

तुल्ये वाऽसत्त्वे विशेषो वक्तव्य, अविशेषे वैलक्षण्यानुपपत्तेर्घटघटस्वात्म-

---

[ ], प्रादुर्भवति प्रकाश भवति गृह्यते ज्ञायते उत्पद्यते जायत इति वा तैथाविर्भवतीति, एव चाप्रादुर्भावात्मकस्य खपुष्पस्यासत्त्वेऽर्थादापन्नम्—न तर्हि प्रादुर्भावात्मकत्वात् कार्यमसत्, सदेवेत्यथ । को दृष्टान्त ? निर्वृत्तघटवत्, यथा निर्वृत्तो घट प्रादुर्भावात्मकत्वात् प्रकाशात्मकत्वात् सन्नेव तथा कार्यमपि सत् । अस्याश्चार्थापत्तेरैकान्तिकत्वात्र जात्युत्तरता, यथा गेहे देवदत्तस्याभावे स्थितिर्मतो बहिर्भावानुमानमथापन्नमैकान्तिकत्वान्न जातिवाच । अस्माकं त्वत्राभिप्राय —सदेव कस्याचिदुपलभ्यते जायते ११७-२ वा नात्यन्तासदिति, एतनादर्शने च सद्विषये नात्यन्तासद्विषये त्वेतदुत्तरत्र दर्शयिष्यामो विचारस्यास्य तत्फलत्वात् । अथैवमपि त्वया कार्यस्य सत्त्व नेष्यते ततोऽसत्त्वे कार्यस्यायत्या न प्रादुर्भवेत् कार्यमसत्त्वात् खपुष्पवत्, प्रादुर्भवति तु, तस्मात् सत् । शेष पूर्ववदेव विपर्ययेणेत्यतीतग्रन्थमतिदिशति । विपर्ययेणेत्यथत अन्तरद्वयोर्विपर्ययेण योज्य । तद्यथा—अथ न खपुष्पाप्रादुर्भाववत् कार्याप्रादुर्भावोऽसच्च कार्यमिति निश्चितम्, न तर्ह्यसत् कार्यम्, सदेव तत्, असद्विलक्षणत्वाद् घटवत्, इतर उदुम्बरपुष्पवत् । ननु घटासत्त्व पटासत्त्वविलक्षणम्, न, सतो वैलक्षण्यात् । अथैवमपि वैलक्षण्ये कार्यासत्त्वविनिश्चयो न निवर्तते प्रादुर्भावात्मक च तत्, न तर्हि प्रादुर्भावात्मकत्वादसत् काय निर्वृत्तघटवत, असत्त्वे आयत्या न प्रादुर्भवेदसत्त्वात खपुष्पवदिति ।

तदुपसहारार्थमाह—अत कार्यं सत्, आविर्भावात्मकत्वात्, निर्वृत्तघटवत्, वैधर्म्येण आकाशघटवत्, आकाशमेवाकाशस्याश्रयो वा घट आकाशघट, स ह्यनाविर्भावात्मकत्वान्नास्ति, न तथा कार्यमनाविर्भावात्मकम्, तस्मात् तत् सदिति । असच्च खपुष्पम्, अनाविर्भावात्मकत्वात्, खघटवत्, वैधर्म्येण निर्वृत्तघटवदिति तयो सम्मतो कार्यखपुष्पयोर्वैलक्षण्य दर्शयति ।

यदि भैव मतेन कार्यखपुष्पयोरसत्त्वमेव तुल्य तुल्ये वाऽसत्त्वे विशेषो वक्तव्य —अस्माद् विशेषहेतो कार्यमसत्त्वे सत्यपि प्रादुर्भवति न तु खपुष्पमिति । नोच्यते चेत् विशेषहेतु, अविशेषोऽनयो । ११८-१ अविशेषे च वैलक्षण्यानुपपत्ति खपुष्पखरविषाणयोरिवासतो, दृष्ट च वैलक्षण्यमायत्या प्रादुर्भावाप्रादुर्भावाभ्याम्, तत्तु अविशेषे तयोर्नोपपद्यते । तस्माद्धेतोरविशेषे वैलक्षण्यानुपपत्तेर्घटघटस्वात्मवत्, यथा घट एव घटस्यात्मेति तयोर्न वैलक्षण्यमविशिष्टत्वादेवमविशेष स्यात्, न तु भवति दृष्टत्वादुक्तन्यायेनाविर्भावानाविर्भावयो । तस्मात् तयोरवश्यम्भावि सत्त्वमसत्त्व चावश्यमेषितव्यम् । इतर आह—नैवास्त्यविशेषोऽसतोऽपि,

---

[1] प्रकाशा भा० ॥ २ उद्यते य० ॥ ३ तेथावि पा १० ही । तेष्वावि वि० डे० लीं ॥ ४ कस्य पुष्प भा० ॥ ५ पन्नम् प्र ॥ ६ सतो हिर्भावानु य० ॥ ७ नात्यन्तासद्विषये य प्रतिषु नास्ति ॥ ८ सतत् भा० ॥ ९ तुलना पृ० १ १ ५ ६ ॥ १० त्वात्खघटवत् भा० । त्वात् घटवत् य० ॥ ११ भवन्मते भा० । अत्र 'भवन्मते' इत्यपि पाठ स्यात् ॥ १२ कार्यमन्ते प्र० ॥ १३ प्रादुर्भावात्य तत्तु भा । प्रादुर्भवत्या तत्तु य० ॥ १४ घाविभावयो प्र ॥

वत्। विशेषोन्नयनेऽपि तु विशेषस्य सदाश्रयत्वात् सत्त्वं घटवदिति सामान्यमेव।

अथैतत् साम्यमुभयासत्त्वान्मा भूदित्यन्यतरासत्त्वं कार्यसत्त्वाभ्युपगमपरिहारेण कार्यमेवासदिति, अत्र कार्यसमीप एवकार इत्यन्यत्र प्रतियोगिन्यसत्त्वे नियमः—असत्त्वं कार्ये एव नान्यत्रापीति। ततश्च न खपुष्पमसत्। तथा च सतो-

— — — —

यस्माच्चतुर्विधोऽसन्निष्यते प्राक्प्रध्वंसेतरेतरात्यन्ताभावाख्यो घटस्य मृत्पिण्डादिकपालादिपटादिखरविषाणादिवदिति। अत्रोच्यते—विशेषोन्नयनेऽपि तु विशेषस्य सदाश्रयत्वात् सत्त्वं घटवदिति। अपिशब्दोऽनभ्युपगमं दर्शयति, नैवाभावस्य खरविषाणवन्ध्यासुतादेः परमार्थतो विशेषोऽस्त्यवस्तुत्वात् त्वन्मतेनैव, अस्मन्मतेन तु वस्तुत्वमभावस्यापि कस्यचित् प्रमेयत्वसामान्यविशेषवत्त्वादिहेतुभ्यस्त्वदभ्युपगतेभ्यः प्रमाणवत्। अतस्त्वन्मतेनैवाभावस्य भावाद् विशेषः परमार्थतो नास्ति। अभ्युपेत्यापि ब्रूमः—विशेषोन्नयनेऽपि तु येन केनचित् प्रकारेण सदाश्रयोऽसावभावस्त्वत्परिकल्पितश्चतुर्विधोऽपि विशेषत्वाद् रूपादिवद् घटवत्। ततश्च विशेषस्य सदाश्रयत्वात् सत्त्वं घटवत्, यथा घटः सन्तं पृथिव्याद्यर्थमाश्रित्य वर्तमानः सन्नेव स्वमेव वात्मानमाश्रित्य वृत्तः सन्नेवं विशेषोऽपि सदाश्रयत्वात् सन्निति। इतिशब्दो हेतुदृष्टान्तदार्ष्टान्तिकोपसंहारे, इत्थं

११८ २भावाभावयोः सामान्यमेव, न विशेष इति। एवं तावत् कार्यखपुष्पयोरुभयोरसत्त्वमेव वेति साम्यमापादितम्।

द्वितीयविकल्पो विचार्यते—अथैतत् साम्यमित्यादि। अथैतदापादितं सामान्यमनिच्छता कार्यसत्त्वपरिहारेण उभयासत्त्वाभ्युपगमादायातमिदमन्यतरासत्त्वं कार्यसत्त्वपरिहारेणाभ्युपगम्यते प्रतिपक्षवादादन्यत् पूर्वोक्तद्वयान्यतरविशिष्टम्, किं तत्? कार्यमेवासदिति, अवश्यं द्वयोरन्यतराभ्युपगमेऽवधारणमापद्यते, तच्चावधारणं यत एवकारस्ततोऽन्यत्रावधारणम् [ ] इति परिभाषितत्वाच्छास्त्रेषु लोके च दृष्टत्वादवधारणफलत्वाच्च वाक्यस्यैतदुपपद्यते—कार्यसमीप एवकार इति 'कार्यमेवासत्' इति कार्यशब्दसमीप एवकारप्रयोगात्, इतिशब्दस्य हेत्वर्थत्वात्, अन्यत्र प्रतियोगिनि असत्त्वे नियमः, असच्छब्दवाच्येऽर्थे खपुष्पादौ नियमस्तत्र एवकाराभावात्, न कार्यशब्दार्थे। यथा वृक्षश्चूत इत्यत्र चूतो नियमाद् वृक्षः, वृक्षस्तु चूतोऽन्यो वा स्यादित्यनियमः, तथेहापि कार्यमेवासत्, न खपुष्पाद्यकार्यमसत्, किं तर्हि? सत्, न तु 'असदेव कार्यम्' इति नियम्यते, यदि सदपि कार्यं स्यादस्तु, को दोषः? इति तद्दर्शयति—असत्त्वं कार्य एव, नान्यत्रापीत्यकार्ये खपुष्पादाविति। इतिशब्दो हेत्वर्थे, अस्मादवधारणाद्धेतोरित्यर्थः। एवं सति को दोष इति चेत्, उच्यते—ततश्च न खपुष्पमसदिति प्रसक्तं दृष्टेष्टविरुद्धं सत्त्वं खपुष्पस्येत्यर्थः

---

१ दृश्यतां पृ० १६८ पं० २६ ॥ २ प्राक्प्रध्वंसेतरात्यन्ता° प्र० ॥ ३ विशेषोस्त्यवस्तुत्वात् प्र० ॥ ४ भावाभावाद् भा० ॥ ५ °श्रयाभावस्त्व° य० ॥ ६ स्व(स्वी ?)यमेव प्र० ॥ ७ अथैव तत्साम्य° प्र०। दृश्यतां पृ० १६७ पं०२६, ३०६-२ ॥ ८ °च्छत प्र० ॥ ९ °सत्त्वभ्युप° भा०। अत्र 'अथ कार्यसत्त्वपरिहारेण उभयासत्त्वाभ्युपगमादायातमेतदापादितं सामान्यमनिच्छता' इत्यन्वयविवक्षायाम् 'उभयासत्त्वाभ्युपगमात्' इति य०प्रतिपाठः साधुरेव। 'कार्यसत्त्वपरिहारेण उभयासत्त्वाभ्युपगमादायातमिदमन्यतरासत्त्वं कार्यसत्त्वपरिहारेण' इत्यन्वयविवक्षायां तु 'उभयासत्त्वानभ्युपगमात्' इत्येव पाठोऽत्र कल्पनीयः, स एव च शुद्ध इति ध्येयम् ॥ १० °तर(रा ?)वशिष्टम् भा० ॥ ११ वृक्षश्च इत्यत्र भूतो य० ॥ १२ सत्तच्चसदेव कार्यम् प्र० ॥

ऽसदिति असतश्च सदिति सञ्ज्ञा क्रियते, कार्यासत्त्वं खरविषाणविपरीतघटादीना-ममत्त्वेन तुल्यम्, नाममात्रे विसंवादः । कार्यसत्त्वनिवृत्त्येकान्तत्यागाच्च स्ववचनादि-विरोधापत्तिः । असदेवकारे त्वसदनवधृतेः पूर्वदोष एव ।

अथोच्येत—असत्त्वादेव तयो[1] कारणकाले न कश्चिद् विशेषोऽस्ति, यदेव

११२

तथा चेत्यादि यावद् नाममात्रे विसंवादः । एवं च कृत्वा कार्यमसत् खरविषाणं सदिति सञ्ज्ञया सतोऽसदिति असतश्च सदिति सञ्ज्ञा क्रियते । कार्यासत्त्वमिति तत खरविषाणविपरीता ये निर्वृत्ता घटादयस्तेषां घटादीनामसत्त्वेन तुल्यम्, कार्यस्यासत्त्वं सतामेवासत्त्वेन तुल्यं विपरीतं नाममात्रमपेर्मङ्गल्नामवत्, न चात्र कश्चिदर्थस्य सत्त्वे विसंवादोऽसत् कार्यमिति । किञ्चान्यत्, कार्यसत्त्व-निवृत्त्येकान्तत्यागाच्च स्ववचनादिविरोधापत्तिः । कार्यसत्त्वनिवृत्तिः कार्यासत्त्वम्, तदवधारणमेकान्तः, कार्यमेवासदिति तस्य त्यागोऽनन्तरोक्तविधिना प्राप्तः, ततश्च कार्यसत्त्वनिवृत्त्येकान्तत्यागाच्च स्ववचनादिविरोधा-पत्तिः । स्ववचनविरोधस्तावत् तदेव कार्यमसदित्युक्त्वा तस्यैवकारसामर्थ्यात् सत्त्वापादनात् तदेव सत् तदेवासदिति ब्रुवत । अथवा यदि कार्यं कथमसत्? अथासत् कथं कार्यम्? क्रियते घटो घटतया व्यज्यते दीपेनेव क्रिययेति वक्ष्यति । तथाभ्युपगमाद्भ्युपगमविरोधः । तथा लोके प्रसिद्धत्वाल्लोकविरोधः । तत्त्व एव तथाभूतेरनुमानविरोधः । तथा मृत्पिण्डघटादिकारणकार्यदर्शनात् प्रत्यक्षविरोधः । एवं तावत् 'कार्यमेवासत्, न खपुष्पादि' इत्यवधारणलोपः ।

'कार्यमेवासत्, न कारणम्' इत्यस्यावधारणस्य प्रतिपक्षवादापत्तेरर्थेनावधार्यते 'कार्यमसदेव' इति । तत्रापि यत एवकारस्ततोऽन्यत्रावधारणमित्यसत्समीप एवकारात् कार्यमसत्त्वेनावधार्यते 'कार्यं ११९ नियमादसत्, असत्तु कार्यं वा स्यात् खपुष्पादि वा' इत्येवमसदेवकारे त्वसदनवधृते पूर्वो दोषो योऽसत्त्वाविशेषादित्यादि स एव, कार्यखपुष्पयोरसत्त्व आयत्याभाविर्भावानाविर्भावकृतो विशेषो न स्यादित्यविशेषापत्तिदोषः प्रागुक्तः स एवात्रापि ।

अथोच्येतेत्यादि । अविशेषापत्तिदोषस्य च परिहारार्थमथोच्यते त्वयेति परमतमाशङ्कते, कथम्, असत्त्वादेव तयो कार्यखपुष्पयो कारणकाले विशेषासम्भव, यथा खपुष्पमसत् तथा कारणकाले कार्यमप्यसदेवेति नानयो कश्चिद् विशेषोऽस्ति, न ह्यसतो निरुपाख्यस्य खपुष्पस्य धूतफल्गुसराचनयन-सौरभादिविशेषा खरविषाणकुण्ठतीक्ष्णत्वादिभ्यो भिन्नलक्षणा सन्त्युभयेषामवस्तुत्वान्निरुपाख्यत्वाच्चलक्षणा

१ खगत्या य । द्रष्टव्यं पृ० ५०९-१ ॥ २ चाव य० । ३ कारणसा भा० ॥ ४ प्रथममसत् नि । प्रथमसत् नि० विना ॥ ५ दीपमेव क्रियेति य । द्रष्टव्यं पृ० १२८-१ ॥ ६ घसत् य ॥ ७ अवधारणकृतो दोष इत्यर्थ । तुलना पृ० १०६ पं० ५ ॥ ८ कार्यनयमासदन् भा । कार्यनयमासत् य० ॥ ९ द्रष्टव्यं पृ० १६८ पं० ५, ३०६ २ ५०९ २ ॥ १० द्रष्टव्यं पृ० १६१ प ४ ॥ ११ द्रष्टव्यं पृ० १६३ पं० ७ ॥ १२ अथो च्येतेत्यादि मविशेषा य । अथोच्येत्योदि सविशेषा भा० । द्रष्टव्यं पृ० ३०६ २ ॥ १२ "मथोच्य तेत(तेऽत्र?) त्वयेति भा० । मथोच्यतेतत्त्वयेति य० ॥ १३ परमार्थमाशङ्कते य० ॥

कार्यासत्त्वं तदेव खपुष्पासत्त्वमपीति नावधारणकृतो दोषो नापि पूर्वस्तुल्यत्वापत्तिदोषः, अनेकविषयत्वात्तुल्यत्वस्य ।

एवमप्येकत्वाद्विशेषाभावः । यथैव हि खपुष्पमनुपादानमबुद्धिसिद्धं निःसामान्यं निर्विशेषं च एवं कार्यस्योपादानं बुद्धिसिद्धत्वं सामान्यविशेषवत्त्वं च न स्यात् ।

अथ सामान्यविशेषोपादानबुद्धिसिद्धत्वसद्भावासद्भावौ कार्यखपुष्पयोरिष्येते खपुष्पवदभवदपि तदसदेव, निर्वृत्तमपि तर्ह्यसत् सामान्यविशेषवत्त्वात् कारण-

---

दविशेषात् कारणकाले **यदेव कार्यासत्त्वं तदेव खपुष्पासत्त्वमपीति** । ततः किं परिहृतमिति चेत्, **नावधारणकृतो दोष** इत्यवधारणदोषः परिहृतो भवति । 'कार्यमेवासत्, असदेव कार्यम्' इत्यवधार्यमाणे खपुष्पासत्त्वं कार्यखपुष्पयोरविशेष इत्येतौ दोषौ तयोरविशेषाभ्युपगमात्र स्त इति । **नापि पूर्वस्तुल्यत्वा-**
१००/ **पत्तिदोषः** कार्यस्यायत्यामनाविर्भावः खपुष्पस्याविर्भाव इत्यविशेषः । अस्यापि तुल्यत्वापत्तिदोषस्याभावोऽसतो विशेषाभावाद**नेकविषयत्वात् तुल्यत्वस्य**, 'अयमनेनास्यामेभिरिमाविमे वाऽर्थास्तुल्याः' इति हि तुल्यत्वमनेकविषयं दृष्टम्, न हि तदेव तेन तुल्यमिति ।

अत्रोच्यते—**एवमप्येकत्वाद् विशेषाभाव** इति, त्वयैव कार्यखपुष्पयोरसत्त्वाविशेषोऽभ्युपगत एकरूपत्वादवस्तुन इति तदवस्थ एवाविशेषदोषः । तस्यैवेदानीमविशेषदोषस्यापादनार्थं विकल्प्यतेऽन्यदनिष्टापादनम्—**यथैव हीत्यादि** । यथैव खपुष्पस्योपादानं पूर्वदृष्टश्रुतानुभूतं बुद्धौ सिद्धं वाकारादिविशिष्टत्वं नास्तीत्यनुपादानम**बुद्धिसिद्धं च खपुष्पम्**, ततः किम्? अनुपादानाबुद्धिसिद्धत्वाभ्यां तद् **निःसामान्यं निर्विशेषं** चेति सिद्धमेवं घटादेः **कार्यस्य** मृदाद्यु**पादानं बुद्धिसिद्धत्वं सामान्यंविशेषवत्त्वं च न स्यात्**, तच्च मृद एव येनाकारेण भवनं देशकालनवपुराणकृष्णरक्तत्वादिघटभेदेऽपि तुल्यतया सामान्यं विशेषश्च पटादिभ्यः । तच्च खपुष्पस्योपादानबुद्धिसिद्धत्वसामान्यविशेषवत्त्वं च स्यात्, उभयोर्निरुपाख्यत्वात् । न त्वेतदिष्टम् । तस्मादस्त्यनयोर्विशेष इति सत् कार्यम् ।

अथ सामान्यविशेषोपादानबुद्धिसिद्धत्वसद्भावासद्भावौ कार्यखपुष्पयोरिष्येते त्वया
१००-२ विशेषौ, **खपुष्पवदभवदपि तदसदेव** । खपुष्पवदिति येन प्रकारेण खपुष्पं न भवति नोत्पद्यते तेन प्रकारेणाभवदपि अन्यथा भवदपि उत्पद्यमानं कदाचिद्दृश्यमानमपीत्यर्थः, उपादानबुद्धिसिद्धत्वसामान्यविशेषवत्त्वप्रकारेण भवदपि तत् कार्यमसदेवेष्यते, ततश्चैवं सति अयमपरो दोषः—**निर्वृत्तमपि तर्ह्यसत्** 'कार्यम्' इति वर्तते, सोपादानबुद्धिसिद्धत्वसद्भावेऽपि । कस्मात्? **सामान्यविशेषवत्त्वात् कारणकालकार्यवत्**, यथा कारणकाले कार्यमसत् त्वन्मतेन सामान्यविशेषवदपि सोपादानं बुद्धिसिद्धमपि तथोत्तर-

---

१ दृश्यतां पृ० १६२ पं० २ ॥ २ दृश्यतां पृ० १६१ पं० ५ ॥ ३ तुल्यस्य प्र० ॥ ४ °पादाबुद्धि° प्र० ॥ ५ °विशेषत्वं च प्र० ॥ ६ अत्र तेनाकारेण इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ७ वच्च प्र० । अत्र 'तच्च खपुष्पस्योपादानं बुद्धिसिद्धत्वं सामान्यविशेषवत्त्वं च स्यात्' इत्यपि पाठः स्यात् । ८ °द्धत्वसद्भावौ कार्य प्र० ॥

कालकार्यवत्। कार्यवच्चाभवदपि खपुष्पमसन्न स्याद् निःसामान्यनिर्विशेषत्वात् सामान्यविशेषवत्, कार्यासत्त्ववैलक्षण्याद्वा कारणवत्।

अथ न कार्योपादानादिमत्त्ववत् खपुष्पस्याप्युपादानादिमत्त्वमसच्च कार्यमिति निश्चितमित्यादि पूर्ववच्चक्रकद्वयप्रवर्तनम्। उपादानादिमत्त्वविशेषणकृतो विशेषः।

काले निर्वृत्तमपि तदसदेव स्यात् कारणकालवदिति। **कार्यवच्चाभवदपि खपुष्पमसन्न स्यात्**, कार्यप्रादुर्भावप्रकारेणाभवदपि तस्मिन्नभवनप्रकारविशेषे सत्यपि सत् प्राप्नोति खपुष्पं **निःसामान्यनिर्विशेषत्वात्**, तद्धि खपुष्पं निःसामान्यं निर्विशेषं चेति सिद्धम्, अतस्तस्य निःसामान्यनिर्विशेषत्वात् सत्त्वं स्यात्। को दृष्टान्तः?[1] **सामान्यविशेषवत्।** कार्यवदिति सिद्धे वैशेषिकमतालम्बनेन सामान्यविशेषदृष्टान्तो निःसामान्यनिर्विशेषाणां सामान्यविशेषाणां वस्तुत्वं खपुष्पतुल्यमेवेति यावत् दर्शितं भवति। प्रकृतार्थोपनयस्तु यथा सामान्यविशेषो घटत्वादिर्निःसामान्यो निर्विशेषश्च सश्चेति सिद्धस्तथा खपुष्पमपि सत् स्यात्। किञ्चान्यत्, **कार्यासत्त्ववैलक्षण्याद्वा कारणवत्** 'असन्न स्यात् खपुष्पम्' इति वर्तते। कार्यस्य घटादेरसत्त्वेन खपुष्पस्याप्रादुर्भावानुपादानाबुद्धिसिद्धत्वनिःसामान्यविशेषैर्वैलक्षण्यात् खपुष्पमपि सत् १२१ १ स्यात् कारणवत्। एतैश्च प्रकारैः सिद्धमेव कार्यासत्त्ववैलक्षण्यमिति सिद्धो हेतुः। निर्वृत्तत्वादिप्रकारेण च कारणस्य तद्वैलक्षण्यं सिद्धमिति साधर्म्यं कारणखपुष्पयोः। कारणं वा खपुष्पवत् कार्यासत्त्ववैलक्षण्यादसत् स्यात् कार्यस्यासत्त्वं वा त्याज्यमित्यभिप्रायः।

अथ न कार्योपादानादिमत्त्ववदित्यादि। अथ भवता खपुष्पसत्त्वप्रसङ्गदोषभयाद् युक्तप्रतिपादनमपि कार्योपादानादिमत्त्ववत् **खपुष्पस्याप्युपादानादिमत्त्वं** नेष्यते, आदिग्रहणाद् बुद्धिसिद्धसामान्यविशेषवत्त्वानि नेष्यन्ते, एवं कार्यस्यासाधर्म्यं खपुष्पेण संदृश्यते, **असच्च कार्यमिति निश्चितमित्यादि पूर्ववच्चक्रकद्वयप्रवर्तनमि**ति सर्वमतिदिशति तमेव। कथं पुनरभ्यते? यदि कार्योपादानादिमत्त्ववत् खपुष्पस्योपादानादिमत्त्वं नेष्यते कार्यं चासदिति निश्चितम्, तद्वैलक्षण्यादनुपादानादिवैलक्षण्यात् न तर्ह्यसत् खपुष्पम्, सदसद्विलक्षणत्वाद् घटवत्, इतरवद् उदुम्बरपुष्पवत्। ननु घटासत्त्वं पटासत्त्वविलक्षणम्, न, सतो वैलक्षण्यात्। अथैवमपि वैलक्षण्ये खपुष्पासत्त्वविनिश्चयो न निवर्ततेऽनुपादानादिमत्त्वात्, न तर्ह्युपादानादिमत्त्वात् कार्यमसत् असत्त्वे नोपादानादिमत् स्यात् खपुष्पवत् एतदविपर्ययचक्रकम्। शेषं पूर्ववदेव विपर्ययेण। अतः सत् कार्यमु १२१ २ पादानादिमत्त्वाद् निर्वृत्तघटवत्, वैधर्म्येणाकाशघटवदित्यादिरपि यावत् सदाश्रयत्वात् सत्त्वं घटवदिति, एतद्विपर्ययचक्रकमेवमुभयासत्त्वे। अन्यतरासत्त्वे तु वैधेनत् साम्यमुभयासत्त्वा मा भूदित्यन्यतरासत्त्वे कार्यसत्त्वाभ्युपगमपरिहारेण कार्यमेवासदिति, अत्र कार्यमसदपि इत्यादि यावत् स्ववचनादि

---

1 दृश्यतां पृ० १६८ पं० २॥ 2 ०भवनसामान्य प्र०॥ 3 वैल प्र०॥ 4 अन कार्यो प्र०॥ 5 युक्तप्रति भा०॥ 6 तदसद्विल प्र०। दृश्यतां पृ० १६१ पं० ७॥ 7 सत्कार्यमसत् भा०॥ 8 एतदपिपर्यय प्र०॥ 9 इत्यादिरपि भाव इत्याशय॥ 10 दृश्यतां पृ० १६४ पं० १॥ 11 दृश्यतां पृ० १६४ पं० २॥

तस्मात् कार्यं सत् कारणवत्। ननु सत्त्वेऽपि कारणवत् प्रत्यक्षत्वं प्रसज्यते, न, अव्यक्तत्वाद् वितर्दीखातहस्तीव पूर्वं खननाद् भूगन्धवत्। अत एव च प्रकरणचिन्ता–किं घटादि कार्यं सत्? असत्? अप्रत्यक्षत्वस्य सत्यसति च दर्शनादनेकान्तात्।

विरोधापत्तिः। पुनरपि [1]असदेवकारे त्वसदनवधृतेः पूर्वदोषः। [2]अथोच्यत इत्यादि यावत् [3]कार्यासत्त्ववैल-
क्षण्याद्वा कारणवदिति स एव ग्रन्थः। **उपादानादिमत्त्वविशेषणकृतो विशेष** इति, अतः कार्यं सदु-
१२१-२ पादानादिमत्त्वात् कारणस्वात्मवत्, वैधर्म्येणाकाशघटवत्। असच्च खपुष्पमनुपादानत्वात् खघटवत्, इतरो
निर्वृत्तघटवत्। तथा सत् कार्यं बुद्धिसिद्धत्वाद् निर्वृत्तघटवत्, इतरो नभोघटवत्। असच्च खपुष्पं बुद्ध्य-
सिद्धत्[4]वात् खघटवत्, इतरो निर्वृत्तघटवत्। एवं सामान्यविशेषाभ्यामपि योज्यम्। **तस्मात् कार्यं सत् कारणवत्**, न तु खपुष्पमित्यर्थः।

आह–**ननु सत्त्वेऽपि कारणवत् प्रत्यक्षत्वं प्रसज्यते**। त्वत्परिकल्पितं मृत्पिण्डावस्थायां कार्यं घटाख्यं प्रत्यक्षं स्यात्, सत्त्वात्, कारणवत् मृत्पिण्डवदित्यर्थ इति। अत्रोच्यते–**न, अव्यक्तत्वात्**। नैष दोषः, कस्मात्? अव्यक्तत्वात्, तस्यां हि मृत्पिण्डावस्थायां घटोऽनभिव्यक्तत्वादिन्द्रियैर्नोपलभ्यते **वितर्दी-
खातहस्तीव पूर्वं खननात्**,[5] त एव हि मृदवयवा भित्तिगताः खननात् प्रागपि विद्यमानाः [6]खननोत्तर-
कालं हस्त्याकारव्यपदेशं लभन्ते, न च ते प्रागभिव्यक्तेरनुपलब्धत्वान्न सन्ति। अथवा कार्ये सत्यपि
१२२-१ ह्यव्यक्ते **भूगन्धवदप्रत्यक्षत्वं** कार्यस्य, यथा भुवो गन्धो विद्यमानोऽपि न घ्राणेन्द्रियगोचरमागच्छत्य-
व्यक्तत्वात्, सलिलसिक्तस्तूत्तरकालमभिव्यक्त उपलभ्यते, तथा मृदवस्थायामप्रत्यक्षो घटः कुलालप्रयत्नदण्ड-
चक्रसूत्रादिकारणाभिव्यञ्जितः पश्चादुपलभ्यते, अतस्तस्य प्रत्यक्षत्वं भवतीति को दोषः? **अत एव च प्रकरणचिन्ते**ति प्रकरणसमदोषोऽनेकान्तात्,[7] उक्तमनैकान्तिकत्वमस्य हेतोः। यत एव प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः सन् प्रकरणसमः [न्या०सू० १।२।७], इह हि घटादेः कार्यस्याप्रत्यक्षत्वादेव चिन्ता समुत्पन्ना–**किं घटादि कार्यं सत्? असत्?** इति, **अप्रत्यक्षत्वस्य सति असति**[8] **च दर्शनाद्** मूलो-दकादौ खरविषाणादौ [9]चेत्यतो व्यभिचरत्य[10]प्रत्यक्षत्वं तथा सत्त्वमपि प्रत्यक्षाप्रत्यक्षयोर्दर्शनात् मतोऽप्रत्यक्षस्य मेरूत्तरकुरुद्वीपग्रहगृहीतग्रहादेः खरविषाणादेश्चासत इत्य**नेकान्ता**दिति। एवं तर्हि दर्शनादर्शनयोः प्रादुर्भावा-प्रादुर्भावयोश्च समानः प्रकरणसमदोष इति चेत्, न, जन्मप्रकाशविषयविशेषस्योक्तत्वात्। उपादानादि-मत्त्वाविशेषाच्च स्वपक्षे न समानो दोष इति।

---

१ दृश्यता पृ० १६५ प० ३॥ २ अथोच्यतेत्यादि य०। अत्र 'अथोच्येतेत्यादि' इति पाठः स्यात्। दृश्यता पृ० १६५ प० ४॥ ३ दृश्यता पृ० १६७ प० २॥ ४ °त्वात् घट° प्र०॥ ५ °नात् एव हि भा०। °नात् एवं हि य०॥ ६ खननेनोत्तरकालं भा०॥ ७ °कान्तत्वात् य०। अत्र 'अनैकान्तिकत्वात्' इत्यपि पाठः स्यात्॥ ८ सत्सोदसदिति अप्रत्य° य०। सत्सोदसति अप्रत्य° भा०। ९ वेत्यतो पा० ही० र० भा०॥ १० °त्यप्रत्यक्षणं तथा पा० र० ही० भा०। °त्यप्रत्यक्षाण तथा डे० लीं० वि०॥

एवं तर्हि मयापि शक्यं वक्तुम्—यदेतत् सन्नाम ततोऽन्यत् कार्यं तद्विकल्पासामर्थ्याद् घटपटवत्। चतुर्षु विकल्पेषु द्वयो प्रतिपक्षवादापत्तेस्त्यागादुभयसत्त्वमन्यतरसत्त्वं च स्यात्। तद्यदि तावदुभयसत्त्वं ततः सत्त्वाविशेषादेवाविशेषे सर्वत्वैकत्वभेदो न स्यात्, कार्यैकत्ववत् कारणैकत्वमपि स्यात्। अथ न कार्यैकत्ववत् कारणैकत्वं सच्च कार्यमिति निश्चितं तद्वैलक्षण्यान्न तर्हि सत् कारणम्, असत्, सद्विलक्षणत्वादुदुम्बरपुष्पवत्, इतरो निर्वृत्तघटवत्। ननु घटसत्त्वं पटसत्त्वविलक्षणम्, न असतो वैलक्षण्यादितरेतरासत्त्वात्। अथैवमपि वैलक्षण्ये कारणसत्त्वनिश्चयो न निवर्ततेऽनेकात्मकं च तत्, न तर्ह्येकात्मकत्वात् कार्यं सत्। सत्त्वं एकात्मकं न भवेत्, सत्त्वात्, कारणवत्। शेषं पूर्ववद्विपर्ययेण। तथानुवृत्तिव्यावृत्त्या-

---

एवं तर्हीत्यादि यावत् तथोपसंहारमेव। इतर आह—त्वदुक्तसाधनप्रपञ्चस्य कार्यासत्त्वेऽपि तुल्यत्वाद् मयापि शक्यं वक्तुम्, कार्यसत्त्वस्य कारणे त्वन्मतस्य निवारणे कृते कार्यासत्त्वं भवितुमर्हति। तत्साधनं श्रूयताम्—यदेतत् सन्नाम कारणं ततोऽन्यत् कार्यम्, तद्विकल्पासामर्थ्यात्, घटपटवत्। अत्रापि १ कारणं सत् कार्यं सत्, २ कारणं सत् कार्यमसत्, [३ कारणमसत् कार्यं सत्,] ४ कारणमसत् कार्यमसदिति चतुर्षु विकल्पेषु द्वयो पूर्ववत् प्रतिपक्षवादापत्तेस्त्यागादुभयसत्त्वमन्यतर- १२२ २
सत्त्वं च स्यात्। तत्रोभयसत्त्वं तावत् तद् यदि तावदुभयसत्त्वं ततः सत्त्वाविशेषादेवाविशेषे सर्वत्वैकत्वभेदो न स्यात्। मृदेव सर्वं पिण्डशिवकादिघटपिठरकपालादि, कार्यं त्वेकमेव पिण्ड इति वा शिवक इति वाऽन्यदेकम्। एवं तु कार्यैकत्ववत् कारणैकत्वमपि स्यात्। अथ न कार्यैकत्ववत् कारणैकत्वं सच्च कार्यमिति निश्चितम्, तद्वैलक्षण्यान्न तर्हि सत् कारणम्, असत्, सद्विलक्षणत्वादुदुम्बरपुष्पवत्, इतरो निर्वृत्तघटवत्। ननु घटसत्त्वं पटसत्त्वविलक्षणम्, न, असतो वैलक्षण्यादितरेतरासत्त्वात्। अथैवमपि वैलक्षण्ये कारणसत्त्वनिश्चयो न निवर्ततेऽनेकात्मकं च तत् सर्वात्मकमित्यर्थ, न तर्ह्येकात्मकत्वात् कार्यं सत्। सत्त्वं एकात्मकं न भवेत् सत्त्वात् कारणवत्, एतत् प्रथमचक्रकम्। शेषं पूर्ववद्विपर्ययेणेत्यादि यदुक्तं तदपि, अथ न कारणसत्त्ववत् कार्यसत्त्वं सच्च कारणमिति निश्चितम्, तद्वैलक्षण्यान्न तर्हि सत् कार्यम्, असत्, सद्विलक्षणत्वादुदुम्बरपुष्पवत्, इतरो घटवत्। ननु घटसत्त्वं पटसत्त्वविलक्षणम्, न, असतो वैलक्षण्यादितरेतरासत्त्वात्, एतद् द्वितीयं चक्रकम्। अत सर्वात्मकत्वमतः कारणादन्यत् कार्यमेकात्मकत्वात् कुम्भादिवदेकत्वेन। एकात्मकत्वमतश्च कार्यादन्यत् कारणं सर्वात्मकत्वात् पर्णादिवत् कुम्भ इति।

तथानुवृत्तिव्यावृत्ती, अनुवृत्तिः 'मृद् मृद्' इति पिण्डशिवकादिषु, व्यावृत्तिः 'घटः पिठरः'

---

१ समानकारणं य०। दृश्यतां पृ० १६० पं ४॥ २ असत्सतद्विल० पा० भा०। असतद्विलक्ष डे० लीं० १० डी०। असद्विलक्ष वि०॥ ३ घटस्य प्र०॥ ४ कारणकार्यसत्त्व प्र०॥ ५ कार्यसद्विलक्ष° प्र०॥ ६ घटसत्त्वविलक्षण प्र०॥ ७ तरात् सत्वात् भा०। °तरासत्त्वात् य०॥

दिविचारेण पूर्ववच्चक्रकद्वयप्रवर्तनं तथोपसंहारमेव ।

न, असिद्धत्वात् । यदि हि घटो मृत्पिण्डादन्यः, तद्वदेव पिण्डादेरप्यसर्वत्वं

१२३-१ इति । तद् यदि तावदुभयसत्त्वं सत्त्वाविशेषादेवाविशेषे कार्यव्यावृत्तिवत् कारणव्यावृत्तिरपि स्यात् सत्त्वाद् घटवत् । अथ न कार्यव्यावृत्तिवत्[1] कारणव्यावृत्तिः सच्च कार्यमिति निश्चितम्, तद्वैलक्षण्यान्न तर्हि सन् कारणम्, असत्, सद्विलक्षणत्वादुदुम्बरपुष्पवत्, इतरो निर्वृत्तघटवत्[2] । ननु घटसत्त्वं पटसत्त्वविलक्षणम्, न, असतो वैलक्षण्यात् । अथैवमपि वैलक्षण्ये कारणसत्त्वविनिश्चयो न निवर्ततेऽनुवृत्त्यात्मकं च तत्, न तर्हि व्यावृत्त्यात्मकत्वात् कार्यं सत्, सत्त्वे न व्यावर्तेत सत्त्वात् कारणवत्, द्वितीयं चक्रकमविपर्ययेण[3] । शेषं पूर्ववद् विपर्ययेणेत्यादि, अथ न कारणानुवृत्तिवत् कार्यानुवृत्तिः सच्च कारणमिति[4] निश्चितम्, तद्वैलक्षण्यान्न तर्हि सन् कार्यम्[5], असत्, सद्विलक्षणत्वादुदुम्बरपुष्पवत्, इतरो घटवत् । ननु घटसत्त्वं पटसत्त्वविलक्षणम्, न, असतो वैलक्षण्यात्, प्रथमं विपर्ययचक्रकम् । अथैवमपि वैलक्षण्ये तत्सत्त्वविनिश्चयो न विनिवर्ततेऽनुवृत्त्यात्मकं च तत्, न तर्हि व्यावृत्त्यात्मकत्वात् कार्यं सत्, सत्त्वे न व्यावर्तेत सत्त्वात् कारणवत्, एतद् द्वितीयं चक्रकं[6] विपर्ययेण । अतोऽनुवृत्तिसतः कारणादन्यत् कार्यम्, व्यावृत्तत्वात्, पङ्क्तिरिवैकः । व्यावृत्तिसतश्च कार्यादन्यत् कारणम्, अनुवृत्तत्वात्, एकस्मादिव पङ्क्तिः ।

आदिग्रहणादसदनुक्रान्ताविर्भावानाविर्भावचक्रकद्वयमपि योज्यम्[7] । यदि तावदुभयसत्त्वं ततः सत्त्वाविशेषादेवाविशेषे प्राक् कार्यानाविर्भाववत् कारणानाविर्भावोऽपि स्यात् । अथ न प्राक् कार्यानाविर्भाव-
१२३-२ वत् कारणानाविर्भावः सच्च कार्यमिति निश्चितम्, तद्वैलक्षण्यान्न तर्हि सन् कारणम्[8], असत्, सद्विलक्षणत्वाद् [9]*घटवत्, इतर* उदुम्बरपुष्पवत् । ननु घटसत्त्वं पटसत्त्वविलक्षणम्, न, असतो वैलक्षण्यात् । अथैवमपि वैलक्षण्ये कारणसत्त्वविनिश्चयो न विनिवर्तते नित्याविर्भावात्मकं च तत्, न तर्हि संतताविर्भावात्मकत्वात्[10] कार्यं सत्, सत्त्वे प्रागप्याविर्भवेत् सत्त्वात् कारणवत्, प्रथमम्[11] । शेषं पूर्ववदेव विपर्ययेण—अथ न कारणसतताविर्भाववत्[12] कार्यसतताविर्भावः सच्च कारणमिति निश्चितम्, तद्वैलक्षण्यान्न तर्हि सत् कार्यम्, असत्, सद्विलक्षणत्वादुदुम्बरपुष्पवत्[13], इतरो घटवत् । ननु घटसत्त्वं पटसत्त्वविलक्षणम्, न, असतो वैलक्षण्यात्, द्वितीयं चक्रकम् । इत्येवमाविर्भावानाविर्भावविचारेण द्वे चक्रके मते इति ।

अत्रोच्यते—**न, असिद्धत्वात्** । नैतदुपपद्यतेऽस्मत्पक्षसाधनवत् त्वत्पक्षसाधनम्, किं कारणम्? असर्वत्वादिहेतूनामसिद्धत्वात्, यस्मादस्माकं 'सर्वमेव अनुवृत्तिरेव कारणमेव उपादानमेव बुद्धिसिद्धमेव'

---

१ °वृत्तिस्तत् प्र० ॥ २ इतरो वृत्त° भा० । इतरो वृत्त° य० ॥ ३ चक्रमवि° प्र० ॥ ४ कारमिति प्र० ॥ ५ कार्यमसद्विल° प्र० ॥ ६ चक्रकं पर्ययेण प्र० ॥ ७ योज्यम प्र० ॥ ८ कारणमसद्विल° प्र० ॥ ९ * * एतच्चिह्नान्तर्गतो घटवत्, इतर इति पाठो यद्यपि सर्वास्वपि प्रतिषु दृश्यते तथापि नायं कथञ्चिदपि सङ्गत प्रतीयते तत परित्याज्य एव । वस्तुतस्तु सद्विलक्षणत्वादुदुम्बरपुष्पवत्, इतरो घटवत् इत्येवात्र वक्तुमुचितम्, दृश्यतां पृ० १६९ पं० १८,२३, पृ० १७० पं० ५,९,२१ ॥ १० सतताविर्भावात्मकत्वस्याभावादित्यर्थः ॥ ११ प्रथम चक्रकमित्यर्थ ॥ १२ कारणसतताविर्भावः सच्च कारणमिति प्र० ॥ १३ °वत् इतरो घटसत्वविलक्षणं भा० । °वत् ननु घटसत्वं पटसत्वविलक्षणं य० ॥

सर्वस्मादन्यत्वात् । तस्मात् सर्वस्याप्यसर्वत्वात् सर्वत्वैकत्वभङ्गचतुष्टयाभावः । तथानुवृत्त्याद्यभावश्च तत एव नास्ति ।

स्वोक्तविरोधादि च । यदि कार्यं कथमसत्? अथासत् कथं कार्यम्? मृदेव हि घटः क्रियते घटतया व्यज्यते दीपेनेव क्रियया । तथा च विशेषणविशेष्याप्रसिद्धिरपि ।

त्वौष्ट्र तस्मादसर्वत्वादेरसिद्धत्वात् तद्विकल्पाभावात् तत्समयविकल्पत्वासिद्धिः । ततः कारणात् कार्यमन्यदित्येतन्न सिध्यतीति । तत्रासर्वत्वासिद्धौ प्रतिपादितायां व्यावृत्त्यादीनामप्यसिद्धिरापादितैव भविष्यतीत्यसर्वत्वाभावमेवापादयितुमाह—**यदि हि घटो**ऽसत्कार्यत्वाभिमतो **मृत्पिण्डात्** सत्त्वाभिमतादन्यः प्रतीयते **तद्वदेव** घटवदेव कार्यवदेव **पिण्डादेरप्यसर्वत्वं** विप्रकृष्टस्यापि, किमुत सन्निकृष्टस्य शिवकादेः? **सर्वस्मादन्यत्वाद्** घटवत् । **तस्मादे**कैकस्यासर्वत्ववत् **सर्वस्याप्यसर्वत्वात्** सर्वत्वाभाव इति **सर्वत्वैकत्व भङ्गचतुष्टयाभावः** । तत्समयविकल्पत्वमप्यत एव नास्ति । **तथानुवृत्त्याद्यभावश्च तत एव नास्ति,** १२४ १ यथैकस्य घटस्य मृदनुवृत्त्यभावस्तथा सर्वघटेषु तथा शिवकादिष्वप्यभावः इत्यनुवृत्त्यभावादनुवृत्तिव्यावृत्तिकृतविकल्पाभावश्च । एवं कारणोपादानबुद्धिसिद्धसामान्ये संप्रतिपत्तैर्विकल्पचतुष्टयासिद्धिस्तदसमथविकल्पासिद्धिश्चापादनीया । ततः कारणादन्यत् कार्यमित्येतन्न सिध्यति ।

किञ्चान्यत्, **स्वोक्तविरोधादि च,** स्ववचनाभ्युपगमलोकव्यवहारप्रत्यक्षानुमानविरोधा आदिग्रहणात् । प्रमाणग्रहणात् प्रत्यक्षानुमानग्रहणम् । विशेषस्वरूपविरोधौ च कण्ठोक्तौ वक्ष्यति । तत्र स्ववचनविरोधस्तावद् **यदि कार्यं** घटवत् क्रियते तत् **कथमसत्** खपुष्पवत् कार्यं च? स्वेन वचनेन स्वमेव वचनं विरुध्यते । **अथासत्** खपुष्पवत् **कथं कार्यं** घटवत्? इति सैव स्ववचनविरोधभावना विपर्ययेण तयोरेव शब्दयोर्विरोधदर्शनार्था । यस्माद् **मृदेव हि घटः क्रियते ।** हिशब्दो यस्मादर्थे, यस्मात् सर्पस्फटाटोपकुण्डलीभाववद् मृद एव घटीभवनं तथा प्रकाशेन व्यक्तिर्विमलता क्रियते । यथा 'पृष्ठं कुरु पादौ कुरु' इति । तद्दर्शयन्नाह—**घटः क्रियते घटतया व्यज्यते** विद्यमान एव व्यक्तीभवति । को दृष्टान्तः? स एव घटो **दीपेनेव क्रियया** व्यज्यते तमआद्यावरणापसारणात्मिकया । **तथा च विशेषणविशेष्याप्रसिद्धिरपि,** 'कार्यमसत्' इति व्याघातात् प्रोक्तस्ववचनविरोधभावनात एव खपुष्पनिर्वृत्तघटयोरिव न कार्यमसता विशेष्यं नाप्यसत् कार्येणेति न परस्परतो विशेषणं विशेष्यं चेति विशेषणविशेष्याप्रसिद्धिरस्मादपि कारणात् । १२४-२

---

१ सत्त्वाभि प्र० । अत्र सर्वत्वाभि इति पाठः समीचीनतर इति भाति ॥ २ घदेव दण्डादेरप्य प्र० । अत्र सत्र्वशिवु दण्डादे इति पाठोपलम्भेऽपि पिण्डा इत्येव पाठः समीचीनो भाति ॥ ३ सत्प्रति य० ॥ ४ दृश्यतां पृ १७२ पं ७ ॥ ५ दृश्यतां पृ १६९ पं० १२ ॥ ६ स्वयमेव भा० ॥ ७ कुण्डलीभाव भा० ॥ ८ शाना डे० ही । शाता डे० ही० विना ॥ ९ करोतिर्भूतप्रादुर्भावे दृष्टो निर्मलीकरणे चापि वर्तते । पृष्ठं कुरु । पादौ कुरु । उन्मृदान इति गम्यते । इति पातञ्जलमहाभाष्ये १।३।१। ६।१।५। ६।१।४ ॥ १० घातात्प्रोक्त सि विना । घात प्रोक्त सि ॥ ११ चेति सि० डे ही ॥

अत एव यत्नेन महता प्रतिपादनार्थं न क्रियायां खेदः कर्तव्यो भवति । अज्ञानप्रतिबद्धैकान्तेऽपि च स्ववचनविरोधः । प्रमाणविरोधस्तु प्रस्तुत एव । ज्ञापकत्वाद्विशेषविरोधः । अप्रयोगप्रसङ्गात् स्वरूपविरोधः ।

अतः पूर्वोदितदोषासम्बन्धेनेदं प्रतिपत्तव्यम्—आत्मैव सामान्यं स्वावस्था-

---

अत एवेत्यादि यावत्[1] **खेदः कर्तव्यो भवति ।** यत् त्वया व्याख्यानमनुष्ठितम् '[2]इतिकर्तव्यतैव कर्तव्यता' इति **यत्नेन महता** पूर्वोत्तरचोद्यपरिहारपक्षाव्यवच्छेदवता **प्रतिपादनार्थं न क्रियायां** क्रिया-व्याख्यानार्थः **खेदः कर्तव्यः ।** किं कारणम्? सामान्यादिवस्तुविचारखेदस्याव्यवस्थितपरमार्थत्वात् सर्वस्य [3]क्रियाया एवोपदेशो न्याय्य इत्यस्याभ्युपगमस्योपरोधात् । एवं तावज्ज्ञानपूर्वकक्रियोपदेशपक्षे स्ववचनविरोध उक्तः । यस्मिन्नपि 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादिक्रियोपदेशोपजीवनं नास्ति '[4]अज्ञानप्रतिबद्धमेव सर्वम्' इत्येकान्तस्तस्मिन्न**ज्ञानप्रतिबद्धैकान्तेऽपि च**[5]ाज्ञानप्रतिबद्धत्वे **स्ववचनस्य विरोधः,** 'असत् कार्यम्' इति ज्ञात्वोक्तं चेन्न तर्हि सर्वमज्ञानप्रतिबद्धमेवास्य ज्ञानप्रसिद्धत्वात् । अथाज्ञात्वा कथं प्रतिपादकं साधकं च? इति **स्ववचनविरोधः ।** त्वयापि 'एतदेवम्' इति निश्चित्याभ्युपगम्योक्तत्वादज्ञानप्रतिबद्धाभ्युपगमस्य च तेन विरोधात् 'एवम्' इत्यवगमादभ्युपगमविरोधः कृतः । लोके ज्ञानव्यवहारात् तद्विरोधः, ज्ञानपूर्वको हि लोकव्यवहारः, ततस्तस्याज्ञानप्रतिबन्धाभ्युपगमाप्रतीतेर्लोकरूढिविरोधः । **प्रमाणविरोधस्तु प्रस्तुत एवे**ति, प्रत्यक्षविरोधस्तावत् तथा लोके दृष्टत्वात्, क्रिययाभिव्यज्यमानस्य घटादेः कार्यस्य दीपेनेव सत उपलब्धेरनुमानविरोधः । **ज्ञापकत्वाद् **'[6]**विशेषविरोध** इति, अस्य 'असत् कार्यम्' इति ज्ञापकवाक्यस्य

१२५-१ ज्ञापकत्वविशेषेष्टेः प्रत्यक्षस्ववचनादिविरोधेषु धर्मविशेषविपर्ययसिद्धेर्विशेषविरोधः । तेष्वेवा**प्रयोगप्रसङ्गाद्** धर्मस्वरूपस्य प्रतिपिपादयिषितस्य निराकरणाद् धर्म**स्वरूपविरोधः ।** एवं धर्मिस्वरूपविरोध[7]स्तदुभयस्वरूपविरोधश्च यथायोगमार्पाद्य[8] इत्यलमतिप्रसङ्गिन्या कथया । तस्मादयुक्तोऽसत्कार्यवादः 'अग्निहोत्रं जुहुयात्, [9]इतिकर्तव्यतैव कर्तव्यता, [10]कुर्यात्' इति चाभ्युपगतः परेणेति ।

अत इत्यादि । अत एतेभ्यो दोषेभ्यो निःसृत्य किं प्रतिपत्तव्यम्? उच्यते—**अतः पूर्वोदितदोषासम्बन्धेन,** ये पूर्वमुदिता विधिवादिना सामान्यैकान्तवादे विशेषैकान्तवादे सामान्यविशेषनानात्ववादे दोषा मयापि च ये दोषा उक्ताः सामान्यादिविचारप्रत्याख्यायिनः क्रियोपदेशवादिनोऽज्ञानवादिनश्च तेषामुभयेषामपि दोषाणामसम्बन्धेन **इदं प्रतिपत्तव्यम्—आत्मैव सामान्य**मिति । ननु पूर्वत्र दूषितमेवैतद् मतम् '[11]आत्मैव सामान्यम्' इति '[12]**सुखं सुखं च सुखादिसमुदयश्च**' इत्यादिपूर्वोत्तरपक्षप्रपञ्चेनेति, अत्रोच्यते—न, आत्मशब्दस्य पुरुषपर्यायत्वादवयवानभ्युपगमात् समुदायवादपरिहारेणास्य पुरुषसामान्यस्यावस्थावतोऽवस्थाभ्योऽनन्यस्य तत्स्वरूपावस्थानात् [13]तद्वैधर्म्यात् । 'आत्मा' इति न वस्तुस्वरूपपर्यायवाचिनोऽत्र

---

१ **यावत्खेदः** वि० विना ॥ २ दृश्यता पृ० १४२ पं० १ ॥ ३ दृश्यता पृ० ४५ पं० २ ॥ ४ दृश्यता पृ० ११२ पं० १ ॥ ५ **च ज्ञान**° प्र० ॥ ६ दृश्यता पृ० ४७८–२ ॥ ७ °**धास्तदुभयस्वरूपविरोधाश्च** प्र० ॥ ८ °**पाद्या** भा० ॥ ९ दृश्यता पृ० १४२ पं० १ ॥ १० दृश्यता पृ० १२६ प० २ ॥ ११ दृश्यता पृ० १२ पं० ३ ॥ १२ दृश्यता पृ० १३ प० १ ॥ १३ पूर्वविवक्षितात्मतो वैधर्म्यादित्यर्थ ॥

नाम्, घटग्रीवादिरूपादिनवादिभेदाभेदसमवस्थावत्। एवं च कल्प्यमानं सर्वसर्वात्मकत्वसत्कार्यत्वमूलरहस्यानतिक्रमेण कल्पितम्। अविचारोऽपि च तत्त्वेनैक्यमाश्रित्य न्याय्य, नाज्ञानप्रतिबन्धात्।

अथ तस्य प्रवृत्तिपर्यायस्य विधेर्विधि', एव प्रवृत्तिरित्यर्थ। विधिना भवतीति

ग्रहणम्, किं तर्हि? अतति सततं गच्छति तास्तानवस्थानविशेषान् स्वरूपापरित्यागेनेति आत्मा, स एव सामान्यं चैतन्यलक्षणम्। एवं तर्हि विशेषाभावे कस्य सामान्यम्? इति सामान्याभावप्रसङ्ग, स मा १२५२ भूदिति विशेषा वक्तव्या। उच्यते—सामान्यं पुरि शयनात् पुरुष, विशेषास्तु तस्यैवावस्थावतोऽवस्था जाग्रत्सुप्तसुषुप्ततुरीयाख्या। तासां स्वावस्थानां पुरुष सामान्यमिति। किं निदर्शनमिति चेत्, घटग्रीवादिरूपादिनवादिभेदाभेदसमवस्थावत्, यथा घटस्य स्थूला ग्रीवाबुध्नमध्यावस्था सूक्ष्माश्च रूपादयो देशभेदभिन्ना कालभेदभिन्नाश्च नवपुराणावस्था, तेषामेवावस्थाभेदानामभेदेन समवस्था घट इति तद्वदात्मैव स्वावस्थानां सामान्यम्। एवं च कल्प्यमानं सर्वसर्वात्मकत्वसत्कार्यत्वमूलरहस्यानतिक्रमेण कल्पितमिति गुणश्चात्र विद्यते, एवं हि 'सर्वं सर्वात्मकं सच्च कार्यम्' इति मूलरहस्यमेतन्नातिक्रान्तं भवति पुरुषात्मकत्वात् सर्वस्य तद्विकारमात्रत्वाच्च भेदानां तत्रैवान्तर्लयाविर्भावात् सर्वकार्याणां घटवत्सर्वविशेषाणामिव घटवत्से।

अविचारोऽपि चेत्यादि। यदपि च 'अनर्थको विवेकयत्नः शास्त्रेषु' इत्यविचारे इष्यते सोऽप्यनेनैव युक्तिमार्गेण तत्त्वेनैक्यमाश्रित्य न्याय्य, तस्य भावस्तत्त्वम्, आत्मनो भावेनैक्यमाश्रित्य न्यायादनपेतो न्याय्य, नाज्ञानप्रतिबन्धात्। यद्यज्ञानप्रतिबन्धादविचारस्ततः स्वयमविज्ञाते प्रमाणप्रमेयभावाभावादयुक्तमित्युक्तम्। इह तु ज्ञानात्मकपुरुषस्वरूपैक्यापत्तिमवनिश्चये निश्चितमेवैतत्, किं विचारेण गतार्थत्वात्, न तु ज्ञातुमशक्यत्वादिति। १२६१

अथ तस्य प्रवृत्तिपर्यायस्य विधेर्विधि। विधि स्थितिराचार प्रवृत्तिर्मर्यादा इत्यस्य विधिनयस्यायमेव विधिराचार स्थितिरित्यादि। एव प्रवृत्तिरित्यर्थ, या चैतन्यात्मस्वरूपा प्रवृत्ति सा विधेर्विधिरित्येतमर्थं व्याचष्टे। य पुनर्विधि प्राक्तन स न युज्यते, यस्माद् विधिनेत्यादि। भवतीति भावो भूप्रकृति कर्त्रर्थ, प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूत [पा० म० भा० ३।१।६७] इति वचनात्। भावे घञो विहितत्वाद् भूयत इति भाव, न 'भवति' इति कर्त्रर्थ इति चेत्, तत्रापि येन भूयते समानेन समानो भवतीति भावो णिप्रकरणे भुवश्चोपसङ्ख्यानमिति वा कर्ता सामान्यमित्येव व्यवस्थितेऽर्थे सर्वतन्त्र-

---

१ दृश्यतां पृ० ११ पं० ४॥ २ रयिष्यते य०। रद्धयि(रस्त्वये?)ष्यते भा०॥ ३ सन्निश्रये भा०॥ ४ स्य विधिर्विधिविधि स्थिति य०। स्य विधि स्थिति भा०॥ ५ दृश्यतां पृ० १० पं० १॥ ६ विधेर्विधिरि वि० विना॥ ७ भवती भाव भा० पा०। भवति भाव भा पा विना॥ ८ भूप्रकृति कर्त्रर्थ भा०॥ ९ विभाषा ग्रह [पा० ३।१।१४३] व्यवस्थितविभाषा चेयम्। एतज्जलचर इत्यादिना स्पष्टीकरोति। भवतश्चेति वक्तव्यम्। भवतेश्च विभाषा णो भवतीत्येतदर्थमिदं व्याख्येयम्। व्याख्यानं तु विभाषेति योगविभागात् कर्तव्यम्। इति पाणिनीयव्याकरणस्य जिनेन्द्रबुद्धिविरचितायां काशिकावृत्तौ॥

भावो भेदाभेदनानातासु न भावो भवितुरभाव इति विविच्यते, न च विविच्यते च। तथा न भवत्येव विधित्वं विधेः, लोकवदिति विधानाद्विधिरुत्सर्ग एवं न भवति। यथा तत् तथान्यथा च भवति तथा वक्तव्यमिति विधिर्विहितो भवत्युत्सृष्टः।

सिद्धान्तेन व्याकरणेन तत्र विशेषमात्रवादे देशकालभेदे परस्परविविक्तद्रव्यदेशकालभावभिन्ने भवनेऽभेदे च द्रव्यादितया भवनमात्रे सामान्यवादे नानाभावे च सामान्यविशेषयो**र्भेदाभेदनानातासु** यथासङ्ख्यं बौद्धसाङ्ख्यवैशेषिकमतासु दोषान्न **भावः**, भवितुरभावात् तत्प्रकृत्यर्थकर्तुरभावात्, **इति**शब्दस्य हेत्वर्थत्वात् पञ्चमीमप्रयुज्य **भवितुरभाव** इत्युक्तं प्रागुक्तन्यायेन भवितुरभावात्। भवतीति भावो घटादिरिति व्याकरणदृष्टेन निरुक्त्यर्थेन समर्थितो विधिना [1]**विविच्यते च सादृश्यासादृश्याभ्याम्**। सादृश्यात् समानो भवतीति पृथक् प्रतिज्ञायते, तेषु विकल्पेषु दोषाणामभिहितत्वाद् निर्दोषभवनोक्तेश्च विविच्यते विधिना। किमेवं विविच्यत एव? नेत्युच्यते, **[न च विविच्यते]** चेति, प्रतिज्ञा सा पुनरविविक्तैव कृता

१२६-१ [2]'को ह वैतद्वेद, किं वानेन ज्ञातेन' इति वचनात्। स एष विधेर्विधिर्न भवति विविच्यमानार्थविधानात् स्ववचनविरोधदोषो[3]दंशेन विवेकादविवेकाच्च। यत्राप्यंशेन विवेकस्तत्र विविच्यमानांशेऽपि च यथा भवता विधिनयवादिनाभिहितं तद्वद् विविच्यते न च विविच्य[4]ते चापि परमतदूषणात् स्वमतसाधनाच्च घटादिर्भावो विविच्यते न च विविच्यते **तथा न भवत्येव विधित्वं विधेः**, न विधिर्विहित एवमित्यभिप्रायः। कथं पुनर्विधीयते इति चेत्, लोकवत्, [5]लोक इव लोकवत्, **लोकवदिति विधानाद्** यदि लोकवदेव विधीयते **विधिरुत्सर्ग ए**[6]**वं न भवति**। कथं न भवति? [7]किं न एतेन यदि कारणम्? यदि न च विविच्यते प्रतिज्ञापि त[8]दंशद्वारिका न कार्या इत्याद्यविचार्य विधानान्न भवति। किं तर्हि? यदुक्तसूक्ततया सर्वात्मकत्वेन [9]विधिरुत्सर्गः सिध्यति, तद्यथा **यथा तत् तथान्यथे**त्यादि। अथवा यथा लोके दृष्टं तथा [10]विधेर्विधिर्भवति। कथं पुनर्लोके [11]विधेर्विधिः? उच्यते—**इति विधिरि**त्यादि। **इति** इत्थमनन्तरं वक्ष्यमाणो [12]विधिर्विधिर्भवति लोके, **यथा तत् तथान्यथे**त्यादि, मृत्पिण्डशिवकादिप्रकारेण तथान्यथा **च भवति** यथा तथा वक्तव्यम्, तच्चातच्च यथोपपत्त्या भवति **तथा वक्तव्यम्**, एष [13]विधेर्विधिः। एवं सोऽविवक्षितव्यावृत्तिरनङ्गीकृतभेदस्तिरस्कृतविशेषो निर्व्यावृत्तिरेव **विधिर्विहितो भवत्यु**[14]**त्सृष्ट** इति पर्यायशब्देनोत्सर्गो विधिरिति सर्वत्रा[15]स्य विधिलक्षणस्य दर्शयति।

---

१ **विविद्यते च सादृश्याभ्यां सादृश्या समानो भवतीति** प्र०। अत्र 'विविच्यते च सादृश्यासादृश्याभ्याम्। समानो भवतीति' इत्यपि पाठ स्यात्॥ २ दृश्यता पृ० ३५ पं० ४॥ ३ °**दंशेनविवेकात् २ च यत्राप्यंशेन विवेकस्तत्र** पा० डे० लीं० वि०। °**दंशेन विवेकात् च यत्राप्यंशेन विवेकस्तत्र** २० ही०। °**दंशेनाविकेस्तत्र** भा०। अत्र '°दंशेन विवेकाच्च। यत्राप्यंशेन विवेकस्तत्र' इत्यपि पाठ स्यात्॥ ४ °**च्यते वपि** प्र०॥ ५ **लोके** भा०॥ ६ **एव** य०॥ ७ दृश्यता पृ० ३४ पं० ४॥ ८ **तदर्शद्वारिका** प्र०॥ ९ **विधेरु**° य०॥ १० **विधिर्विधि**° प्र०॥ ११ **विधिर्विधिः** भा०। **विधिः** य०॥ १२ **विधि(धे ?)र्विधि**° भा० वि०। **विधिविधि**° पा० डे० लीं०। **विधि**° २० ही०॥ १३ **विधिर्विधिः** भा०। **विधिविधिः** य०॥ १४ °**त्युत्सृ इति** प्र०॥ १५ **त्रास्या** प्र०॥

तद्यथा–पुरुषो हि ज्ञाता ज्ञानमयत्वात्। तन्मयं चेदं सर्वं तदेकत्वात् सर्वैकत्वाच्च भवतीति भावः। को भवति? यः कर्ता। कः कर्ता? यः स्वतन्त्रः। कः स्वतन्त्रः? यो ज्ञः।

ननु क्षीररसादि दध्यादेः कर्तृ, न च तज्ज्ञम्, न, तत्प्रवृत्तिशेषत्वाद् गोप्रवृत्तिशेषक्षीरदधित्ववत्, ज्ञशेषत्वाद्वा चक्रभ्रान्तिवत्।

ननु चक्रभ्रान्तावपि को भविता? इति प्रत्यपेक्षाया घटभवनव्यवहारवद् मृद्

कोऽसौ? निश्चयनामिति चेत्, उच्यते–**तद्यथा पुरुषो** हीत्यादि। उक्तनिरुक्तः पुरुषशब्दः, १२७-१ हिशब्दो [1]यस्मादर्थे, यस्मादसौ **ज्ञाता** ज्ञानशीलो ज्ञानधर्मा साधुज्ञायी वा पुरुष एव। ज्ञातृत्वं च **ज्ञानमयत्वात्**, ज्ञानात्मको ज्ञानविकारो वा ज्ञानमयः स उपयोगलक्षणत्वात्। ततः किमिति चेत्, **तन्मयं चेदं सर्वं** देवमनुष्यतिर्यङ्नरकपृथिव्यादिघटादिभेदभिन्नं जगत्, **तदेकत्वात्** तस्य पुरुषस्यैकत्वात् वस्तुत्वात् तदेकत्ववत् सर्वैकत्वम्, **सर्वैकत्वाच्च** स च जगच्च सर्वं **भवतीति भावः**, न तु घटपटादिभेदेन भवति ज्ञानमयपुरुषात्मकत्वात्। येन भूयते स एव भवतीति भावः। स आत्मैव सामान्यं समानो भवतीति। तन्निर्णयार्थं प्रश्नोत्तरक्रमेण ग्रन्थः–**को भवती**त्यादिर्गतार्थो यावत् **कः स्वतन्त्रः? यो ज्ञः** इति, अज्ञस्यास्वातन्त्र्यादेव [2][3]कर्तृत्वाभावात्, काष्ठादिविप्रकीर्णपचननिर्वर्तनवत्, यथा [4]काष्ठैः स्थाल्यामोदनं देवदत्तः पचतीत्यत्र देवदत्त एव पचनस्य निवर्तको ज्ञातृत्वात् न काष्ठादीनि तथा पुरुष एव भवतीति भावः।

इतर आह–**ननु क्षीररसादि दध्यादेः कर्तृ**। क्षीराद्दधि भवत्यज्ञात् [5]कर्तृणः, रसाद् गुडः, न च तत् क्षीरं रसो वा ज्ञमिति ज्ञकर्तृत्वमनैकान्तिकमिति। एतच्च **न, तत्प्रवृत्तिशेषत्वात्**, तस्यैव ज्ञस्य प्रवर्तमानस्य प्रवृत्तेरपरिसमाप्ताया शेषत्वात्। कालक्रमभेदकृतस्तु विशेषो न निवार्यते। यथोक्तम्–

> [6]शर्करासमवीर्यस्तु दन्तनिष्पीडितो रसः।
> दन्तनिष्पीडितः श्रेष्ठो यान्त्रिकस्तु विदाहकृत्॥ [ ] इति।

गोप्रवृत्तिशेषक्षीरदधित्ववत्, यथा गोर्धेनोः प्रवृत्तेरपरिसमाप्ताया क्षीरदधिनवनीतघृतनिष्पन्नादि १२७-२ शेषस्तथा पुरुषप्रवृत्तिशेष एव जगदिति। **ज्ञशेषत्वाद्वा चक्रभ्रान्तिवत्**। का वा सा प्रवृत्तिः प्रवर्तमानपुरुषव्यतिरिक्ता, सर्वस्य ज्ञशेषत्वात्? दृष्टान्तश्चक्रभ्रान्तिः, यथा कुलालप्रयत्नभ्रमितस्य चक्रस्य भ्रान्तौ कुलालप्रवृत्तिशेषत्वं ज्ञशेषत्वमेव दध्यादेरपि ज्ञशेषत्वम्, गोर्ज्ञस्य शेषत्वं दध्नः, गोभुक्ततृणाद्याहारस्य रसरुधिरादिपरिणतस्य क्रमान्तरेण क्षीरदध्यादिभावो नास्ति।

नन्वित्यनुज्ञापने, **चक्रभ्रान्तावपि को भविता? इति प्रत्यपेक्षाया** निज्ञामाया मूलभविता

---

१ यस्मादर्थे प्रतिषु नास्ति॥ २ त्यादिग प्र०॥ ३ कर्तृभावात् प्र०॥ ४ काष्ठानीति वि विना॥ ५ गादकर्तृण भा। गाचकर्तृण वि डे० ली। ज्ञानकर्तृण २ ही॥ ६ वक्रनप्रह्लादनो हृद्यो दन्तनिष्पीडितो रसः। गुर्विंदाही विष्टम्भी यान्त्रिकस्तु प्रकीर्तितः॥ १।४५।१५७॥ इति मुद्रितायां सुश्रुतसंहितायां पाठः। जैसलमेरप्रतिलिपिनायां तद्वृत्तौ तु 'शर्करासमवीर्यस्तु दन्तनिष्पीडितो रसः।' इति पाठः॥

येन भूयते तदेव। इतरथासौ नैव स्याद् भवितुरभावात्। ज्ञस्यैव सुप्तावस्थत्वाद् न च चक्रदण्डादि करणनिरीहत्वात्, दधीव पयसः, ज्ञशेषसुप्तावस्थत्वात्।

यथैव हि रूपादयोऽमूर्तत्वेन सूक्ष्मां वृत्तिमत्यजन्त एव स्वप्रवृत्तिप्रभावावबद्धमूर्तत्वप्रक्रमान् परमाणूनध्यास्य नानाप्रभेदपृथिव्यादिभेदस्थूलरूपा जायन्ते

वृत्त्यापेक्ष्यो **घटभवनव्यवहारवद् मृत्,** यथा पिण्डशिवकाद्यवस्थाक्रमेण घटभवनव्यवहारे मृदेवाद्या भवित्री तथेहापि चक्रभ्रान्तौ भवनव्यवहारत्वाद् मूलभवितृ द्रव्यमपेक्ष्यं परतः परतोऽपि **येन भूयते** यद् भवति **तदेव,** मौलं कारणं तदेवेत्यर्थः। तस्माद् घटभवने मृद्वद् भ्रान्तिभवने कुलालोऽपेक्ष्यः, कुलालशेषभ्रान्तिवच्च ज्ञशेषं सर्वम्, **इतरथासौ नैव स्याद् भवितुरभावाद्** वन्ध्यापुत्रवदमूलत्वादित्यर्थः।

स्यान्मतम्—अचेतनानामपि अभ्रादीनां चेष्टादर्शनाज्ज्ञप्रयोगमन्तरेण प्रवृत्तिर्दण्डादीनामिति। एतच्चायुक्तम्, **ज्ञस्यैव सुप्तावस्थ**[1]**त्वात् न च चक्रदण्डादि करणनिरीहत्वात्,** न च चक्रदण्डादि स्वत एव भवति करणनिरीहत्वात्, करणत्वान्निरीहाणि, निरीहत्वान्न स्वत एव ज्ञातुर्यत्नमन्तरेण तद्यत्नशेषं वान्तरेण तस्यैव सुप्तावस्था दण्डचक्रादि निष्पन्दभूता निश्चेतनीभूता भवितुमर्हति। तस्मात् सापि सुप्ता[2]वस्था ज्ञस्य
१२८-१ चेतनस्यैव वृत्तिर्भवितुमर्हति, **दधीव पयसः,** यथा दधि पयसोऽवस्था तथा दण्डचक्रादि ज्ञस्यैव कुलालस्य। एतेन दध्याद्यपि ज्ञभवनमाख्यातमेव, **ज्ञशेषसुप्ताव**[3]**स्थत्वात्** तस्यापि दध्यादेः कुलालयत्नशेषचक्रदण्डादिवज्ज्ञयत्नं ज्ञयत्नशेषं वान्तरेण प्रवृत्त्यभावाज्ज्ञ[4]प्रवृत्तिमात्रत्वमेवेत्यर्थः

एतस्यार्थस्य भावनार्थं दृष्टान्तमाह—**यथैव** **हीत्यादि।** यथैव रूपरसगन्धस्पर्शशब्दा **अमूर्तत्वेन सूक्ष्मां वृत्तिमत्यजन्त एवेत्यादि,** सूक्ष्मपूर्वकत्वात् स्थूलस्य सूक्ष्मतां निरूप्य स्थूलत्वं निरूपयति, न हि ते रूपादयः प्रतिनियतचक्षुरादिविज्ञानप्रभावितस्वरूपा मूर्ताः स्थूला इति वा केनचिदिष्टास्तस्मादमूर्ताः, तद्भावोऽमूर्तत्वम्, तेन अमूर्तत्वेन वृत्तिः, सैव च सूक्ष्मा, तामत्यजन्तोऽजहत एव **स्वप्रवृत्तिप्रभावावबद्धमूर्तत्वप्रक्रमान्** स्वया प्रवृत्त्या प्रभावेन चावबद्धो मूर्तत्वेन प्रक्रमो येषां ते स्वप्रवृत्तिप्रभावावबद्धमूर्तत्वप्रक्रमाः परमाणवः, रूपादीनामात्मीयया प्रवृत्त्यावबद्धो मूर्तत्वेन प्रक्रमः परमाणूनां सभेदानाम्, तान् **परमाणूनध्यास्ये**ति सृष्टेः क्रमं दर्शयति दृष्टान्तरूपेण। तत उत्तरकालं **नानाप्रभेदपृथिव्यादिभेदस्थूलरूपा जायन्ते** रूपादय एव। पृथिव्या अश्म-लोष्ट-सिकता-वज्रादयः प्रभेदाः, हिमकरकादयोऽपाम्, ज्वालाङ्गारमुर्मुरादयस्तेजसः, उत्कलिका-मण्डल-गुञ्जा-झञ्झादयो वायोः, वृक्षगुल्मवल्लीलतावितानवीरुधो वनस्पतेः, कृमि-पिपीलिका-भ्रमरादि-मनुष्य-देव-नारका जङ्गमानाम्। एतत् प्रवृत्तेर्निदर्शनम्।
१२८-२ प्रभावो ह्यचिन्त्यः, प्रभावस्याचिन्त्यत्वादमूर्ते[5]र्मूर्तसम्भवः। रस-वीर्य-विपाक-प्रभावाश्च वस्तुनः प्रवर्तमानस्य विपरिणामाः, तत्र निदर्शनम्—

[6]चित्रकः कटुकः पाके वीर्योष्णः कटुको रसे।
तद्वद् दन्ती, प्रभावात्तु विरेचयति सा नरम्॥ [चरकसं० १।२६।६८] इति।

यथैते पृथिव्यादयः सूक्ष्मा मूर्तरूपादिपूर्वकाः स्थूलत्वात् तन्तुपूर्वपटवदेवं **ततोऽपि** परतोऽपि **परं**

---

१ °वस्थात् भा०॥ २ °वस्थान्यस्य चेतन° य०। °वस्थान्यचेतन भा०॥ ३ °वस्थात्वात् भा०॥
४ °ज्ञवृत्ति° य०॥ ५ °मूर्तेमूर्त° य०॥ ६ "कटुक कटुक पाके वीर्योष्णश्चित्रको मत।" इति चरकसंहितायां पाठ॥

एव ततोऽपि परं कारणं रूपादिभावमापद्यत इति रूपादिप्रविभक्तमप्रविभक्तस्वतत्त्वं यत् तद् भवति तदेव तत्त्वम्।

तत् किम्? ननु ज्ञानस्वतत्त्व आत्मेति रूपादिभिरेव निरूपितं तत्, तद्धि रूपणं रूपं ज्ञानमेव विभक्ताविभक्तं ग्रहणमेव, न तु रूप्यते तत् तेन तस्मिन् वेत्यादि रूपम्, रसादेर्गुणगणाद् द्रव्याद्वा विभक्तस्यानवस्थानाद्रूपस्य पुरुषभिन्नपुत्रत्वादिवत्।

द्विधापि रूपस्याविभक्ततत्त्वात्मकतायामपि रूपादन्येषां रसादीनां प्रत्यक्षतो

रूपादिभ्यः परतोऽप्यपरमन्यत् परं गरिष्ठं प्रधानं कारणं रूपादिभावमापद्यते इति प्रतिपत्तव्यम्। तच्च परं यत्[1] कारणमात्मानममूर्तसूक्ष्मरसादित्वेन स्थूलमूर्तपरमाणुद्विप्रदेशादिस्कन्धपृथिव्यादित्वेन च प्रविभजमानं प्रवर्तते। किञ्च, इति रूपादिप्रविभक्तमप्रविभक्तस्वतत्त्वं परमाणुद्विप्रदेशादिपृथिव्यादिष्वप्रविभक्तस्वरूपादितत्त्वगतं। किं पुनस्तस्य स्वतत्त्वम्? तस्य भावस्तत्त्वम्, स्वार्थिको भावप्रत्ययः, तद्दर्शयति—यत् तद् भवति तदेव तत्त्वम्। स्व च स्वप्रभेदापेक्षया, तत्त्वता अनुसृतत्वात्, परतत्त्वाभावेन विशेष्यते स्वतत्त्वमिति परमतापेक्षया चेति।

इतर आह—तत् किमिति निरूप्यम। आचार्य आह—ननु ज्ञानस्वतत्त्व आत्मेति रूपादिभिरेव निरूपितं तत् परं कारणम्। आत्मा ज्ञानस्वतत्त्वः, स पुना रूपादिभिरेव निरूपितः, रुप रूप क्रियायाम् [पा० धा० १९३४], रूपितं निर्णीतं तु ज्ञातम्, निर्णयो रूपणमित्येकोऽर्थः। तद्धि रूपणं रूपमिति यस्मात् कारणात् रूपणं रूपमित्येकोऽर्थः। आदिग्रहणाद् रसनमास्वादनं रसः, एवं शेषाणामपि रूपणक्रियामात्राभिनिर्वृत्तत्वाद् रूपणता, ज्ञानमेव रूपणपर्यायत्वाज्ज्ञानस्य, विभक्ताविभक्तं ग्रहणमेव, १०९१ विभक्तग्रहणं रूपं रसो गन्धः शब्दः स्पर्श इति ज्ञानम्, रूपमित्यविभक्तं सर्वेषु, तद् द्विविधमपि ग्रहणमेव रूपं भावसाधनत्वाद् रूपणस्य। न तु रूप्यते तत् तेन तस्मिन् वेत्यादि रूपम्, न तु कर्मकर्तृकरणाधिकरणसाधनत्वम्, आदिग्रहणात [नै] तस्मै तस्माद् रूपमिति सम्प्रदानापादानकारकभेदेभ्यो रूपमिति भवितुमर्हति। किं कारणम्? रस्यते गृह्यत इत्यादिष्वपि तथैव दर्शनाद् रूपणोपलक्षितस्य ज्ञानात्मनो वस्तुनो रसादेर्गुणगणाद् द्रव्याद्वा गुणगणव्यतिरिक्ताद्विभक्तस्यानवस्थानाद् रूपस्य पुरुषभिन्नपुत्रत्वादिवत्, अनेकसम्बन्धिनः पुरुषात् पितृपुत्रभ्रातृभागिनेयमातुलत्वादिधर्माः पृथग् नावतिष्ठन्ते तथा रूपणात्मकं रूपं रसादिगुणव्यतिरेकेण तद्व्यतिरिक्तपरमाण्वादिद्रव्यव्यतिरेकेण वा नावतिष्ठते परमार्थतः। तस्मादविभक्तरूपणतत्त्वात्मका रसादिपरमाण्वादिपृथिव्यादिभेदाः।

एवं तर्हि रूपणाविभक्ततत्त्वात्मकानां रूपवदविभक्तग्रहणं चक्षुषैव स्यात्, रसनादिभिश्च ग्रहणदर्शनात् प्रत्यक्षविरुद्धेयं कल्पनेति चेत्, न, तस्य तत्त्वस्यानेकात्मकत्वाभ्युपगमाद् द्विधापि रसादिभेदेन द्रव्यभेदेन वा रूपस्याविभक्ततत्त्वात्मकतायामपीत्यादि यावद्द्रव्या(द्रसा?)दीति शक्यं वक्तुम्,

---

1 यच्च य॥ 2 स्वतत्त्व प्र०॥ 3 अत्र चेति इत्यपि स्यात्॥ 4 स्वपुनरूपा प्र०॥ 5 निर्णीत य० प्रतिषु नास्ति॥ 6 अथवा न तु कर्मकर्तृकरणाधिकरणसाधनत्वमादिग्रहणात्तस्मै तस्माद्रूपमिति इति यथाश्रुतपाठेऽपि न तु इत्यस्य अनुवृत्तिं विवक्ष्य गमनिका॥ 7 रूपणो प्र॥ 8 गुणगणव्य द्र० प्र०॥ 9 स्यापेन प्र०॥ 10 रूपण य०॥ 11 तमगाम्यु य॥ 12 यद्यपि सर्वास्वपि प्रतिषु यावद्द्रव्यादीति इति पाठ उपलभ्यते तथापि यावद्रसादीति इति पाठः स्यात् तर्हि समीचीनमिति भाति। दृश्यतां पृ० १७८ पं० ११। अथवा क्वचित् पाठोऽत्र त्रुटित इति भाति॥

दर्शनाद् 'रूपमेव न रसादि' इति शक्यं वक्तुम्, न रूपादिभ्यो भिन्नमिदमेकं द्रव्यमेवेति, रूपादिव्यतिरिक्तादर्शनात्। आत्मतत्त्वाविभक्तग्रहे तु प्रत्यक्षाविरोधः। चैतन्यमेकमेव रूपादिविभक्तमप्यविभक्तम्, तथा तदनुभवदर्शनात्। स एव तु व्यतिरेकस्यानुपपत्तेर्ज्ञानस्वतत्त्वात्मैव ग्राह्यो ग्राहकश्चेष्टितव्यः, अभिमतात्मप्रतिपत्तिवत्। बुद्ध्यादिरूपादीनां सूक्ष्मस्थूलत्वादि क्षीराद्यत्यन्तापरिदृष्टतत्त्वप्रविभागव्यवस्थावत् तत्त्व एव।

रूपं रस इति प्रत्यक्षं भेदेन दर्शनात् तस्यानेकात्मकस्य स्वप्रवृत्तिप्रभावावबद्धस्य प्रभेदानामुक्तत्वात्। एवं
१२९.२ तावद् रसादिगुणगणसमुदायो नास्त्यन्यः[1] परस्परतस्ते चान्ये रूपादयः, किन्तु रूपणस्वरूपभेदा एवेत्युक्तम्। स्यान्मतम्—रूपादिभ्यो भिन्नमेकं द्रव्यं पृथग्ग्रहणापदेशादिति, एतच्च **न रूपादिभ्यो भिन्नमिदमेकं द्रव्यमेवेति**,[2] शक्यं वक्तुमिति वर्तते। कस्मात्? **रूपादिव्यतिरिक्तादर्शनात्।** पूर्वत्र रूपादन्येषां रसादीनां प्रत्यक्षतो दर्शनाद् रूपमेव न रसादय इति शक्यं वक्तुम्, इह तु रूपादिभ्यो भिन्नं द्रव्यमिति प्रत्यक्षेणादर्शनादशक्यमिति।

कस्यां पुनः कल्पनायां प्रत्यक्षविरोधो नास्ति? उच्यते—**आत्मतत्त्वाविभक्तग्रहे तु प्रत्यक्षाविरोधः**[3]। तत् कथम्? भाव्यते—**चैतन्यमेकमेव रूपादिविभक्तमप्यविभक्तं** चैतन्याव्यवच्छेदान्वयाद् रूपणसामान्येनाविभक्तमेवैकत्वात्, रूपादिरूपेण ग्रहणविभागाद् विभक्तमपि सत् तदेकमेव। अनेकात्मकत्वाद् विभक्तमविभक्तं चेति प्रत्यक्षदर्शनं रसादिभेदरूपं रूपणाभेदरूपं च न विरुध्यते रूपादिरूपत्वाच्चैतन्यस्य। यस्माच्च[4] यथा परैः परिकल्पितं भिन्नमिति तत्र च रूपादि चैतन्येभ्यो भिन्नमत्र दर्शनविरोधकारि सम्भवति बाह्यं रूपरसादिगुणसमुदायात्मकं तदाश्रयद्रव्यात्मकं वा। किन्तु तदेव रूपादि चैतन्यात्मतत्त्वाविभक्तग्रहे तु दर्शनाविरोधकारि,[5] चैतन्यस्यैव विभक्ताविभक्तात्मकत्वात् **तथा तदनुभवदर्शनात्** स्वपरिच्छेदे[6] ततोऽन्यस्य प्रमाणस्यासम्भवात्[7]। किं तर्हि? **स एव तु व्यतिरेकस्यानुपपत्तेर्ज्ञानात्** पृथग्भूतार्थस्यानुपपत्तेर्**ज्ञानस्वतत्त्वात्मैव ग्राह्यो ग्राहकश्चेष्टितव्योऽभिमतात्मप्रतिपत्तिवत्**, यथा त्वदभिमतः[8] प्रतिशरीरं शरीरादि-
१३०.१ व्यतिरिक्तमात्मैव आत्मानं शरीरादींश्च बाह्यानर्थान् प्रतिपद्यमानोऽपि स्वात्माधिगमे प्रमाणान्तराभावाद् ग्राह्यो ग्राहकश्च [तथा] रूपादिभेदेन ज्ञानसुखादिभेदेन च स्वयमेव विपरिवर्तमान इति।

निदर्शनमप्याह—**बुद्ध्यादी**त्यादि, बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषादिकालाकाशदिगात्माद्यमूर्तं सूक्ष्ममुच्यते, रूपादयस्तु स्थूला एव प्रत्यक्षत्वात्। **सूक्ष्मस्थूलत्वादि** च तेषां यथासङ्ख्यं बुद्ध्यादीनां[9] रूपादीनां च तत्त्व एवेत्यभिसम्भन्त्स्यते। **क्षीराद्यत्यन्तापरिदृष्टतत्त्वे**त्यादि, युगपद्भाविनः क्षीरावस्थायामत्यन्तापरिदृष्टा धर्मा-

---

१ नास्त्यन्यो प्र० ॥ २ द्रव्यमेवेति डे० ली० ॥ ३ प्रत्यक्षविरोधः प्र० ॥ ४ यस्माच्च भा० प्रतौ नास्ति ॥ ५ दर्शनाविरो° प्र० ॥ ६ स्व[रू?]पपरिच्छेदे वि० विना ॥ ७ °स्यसम्भ° प्र० ॥ ८ त्वभि° य० ॥ ९ बुद्ध्यादीनां रूपादीनां रसतत्व एवे° भा० । बुद्ध्यादीनां रतत्व एवे° य० ॥

एव च सार्वज्ञ्यमयत्नेन लब्धं पुरुषात्मकत्वात् सर्वस्य । ज्ञत्वमेवोत्कर्षपर्यन्तवृत्तं तारतम्यात् पर्वतोन्नतिवत् क्षेत्रप्रमाणवत् प्रत्ययगमकात्मकत्वात् खद्योतादितारतम्यवृत्तोद्द्योतवत् ।

ननु वक्तृत्वादीनामसार्वज्ञ्याव्यभिचारादसर्वज्ञत्वमेव, न, वक्तृत्वस्यापि तार-

---

सैव एव दृश्यन्ते, तद्यथा—आ द्रवो रस, आ कठिन दधि, मूलमृदु कठिन, मस्तु द्रवमेव । आदि-ग्रहणात् क्षीरमपि धेनावत्यन्तापरिदृष्टम्, धेनुभक्ष्यहततृणगोरसत्वादत्यन्तापरिदृष्टं धेनुगतरसरुधिरादिपरि-णतिविशेषवत् मागनप्रश्रवादयस्तस्य एव प्रविभागेन व्यवस्थिता, तेषां व्यवस्थावत् सर्वस्य चेतनाचेतनस्य चानचेतनात्मनि पुरुषेऽत्यन्तापरिदृष्टस्य व्यवस्था युगपदेव । यथा च तस्यैव क्रमभुवोऽन्ये धर्मा माधुर्या-म्लाद्यन्यथा पर्यायास्तत्र एव ज्ञानात्मके तस्यैव चावस्था । नैता स्वमनीषिका उच्यन्ते, किं तर्हि ? जिनवचनागमसिद्धा एवैता, तद्यथा—से किं भावपरमाणू ? भावपरमाणू वण्णवंते गंधवंते रसवंते फासवंते [भगवतीसू० २०।५।६७०] इति वर्णादीनां तत्र एवानेकात्मके तदात्मना भावात् ।

एव चेत्यादि । अस्मिन् ज्ञानात्मकैककारणविवर्तमात्रभेदवादे युक्त्यन्तरप्रतिपाद्य सार्वज्ञ्यमयत्नेन लब्धं पुरुषात्मकत्वात् सर्वस्य, न हि पुरुषः कश्चिदात्मानं न वेत्ति, यथा तृणादिष्वत्यन्तापरिदृष्टं दधित्वं तत्कारणत्वात् तदात्मकं तथा सर्वज्ञत्वमप्यस्य । का सा सर्वज्ञता ? ज्ञत्वमेवोत्कर्षपर्यन्तवृत्तम्, तदेव १३०२ ज्ञत्वमुत्कर्षपर्यन्तं निरतिशयं क्वचित् प्राप्नोति, तारतम्यात्, तरतमभावस्तारतम्यं ज्ञतरो ज्ञतम इति परस्परत-स्त्वपभेदः, तेन तारतम्येन युक्तत्वात् तत्पर्यन्तेन निरतिशयेन विना न भवितुमर्हति । पर्वतोन्नतिवत्, यथा पर्वतानामुन्नतिस्तारतम्ययुक्तत्वाद् निषधनीलगन्धमादनपारियात्रचन्द्रवदमलयमहेन्द्रहिमवत्कैलासादीना-मन्यतमस्य उत्कर्षपर्यन्तप्राप्तया निरतिशयया उन्नत्या विना न भवत्येव उत्कर्षमपि । योऽपि कैलासो मन्दरो वा नाभ्युच्छ्रितः तस्यापि सुमेरोरधस्तादवलम्बमानस्य पृथिव्यामाश्रयस्य मेरोः महत्त्वात् तस्य च समन्ततोऽ-नन्तत्वाद् महद् महत्तरं महत्तममिति प्रमाणोत्कर्षस्य तत्र निरतिशयस्य दर्शनात् क्षेत्रप्रमाणवदिति दृष्टान्तः । अस्यामेव प्रतिज्ञायां हेत्वन्तरम्—प्रत्ययगमकात्मकत्वात्, प्रत्ययं गमयतीति प्रत्ययगमकः तदेव आत्मा, ततश्च निरतिशयोत्कर्षपर्यन्तता । दृष्टान्तः खद्योतादितारतम्यवृत्तोद्द्योतवदिति, यथा खद्योतमण्यग्निप्रदीपचन्द्रतारकादिषु तारतम्येन वृत्तत्वादुद्द्योतो भास्करे निरतिशयोत्कर्षपर्यन्ततः तथा ज्ञानमपि क्वचिदिति ।

स्वयं आह—ननु वक्तृत्वादीनामित्यादि । ननु वक्तृत्वपाणिपादादिमत्त्वगतिमत्त्वादीनां धर्माणा-मसार्वज्ञ्याव्यभिचारादसर्वज्ञत्वमेव । सिद्धान्तः, अतीन्द्रियप्रत्यक्षानुमानगोचरविषय प्रत्यक्षनिरूपणानामा-

---

१ स्वसत्त्व भा० ॥ २ मूलमृदु भा० वि० ३ विना ॥ ४ प्रतिमा य ॥ ५ नावस्था प्र० ॥ ६ रसवंते इति सम्भि । भावपरमाणू णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते तं जहा वण्णमंते गंधमंते रसमंते फासमंते इति भगवतीसूत्रे पाठः ॥ ७ तदात्मना भा० ॥ ८ स्वयं उक्त प्र० ॥ ९ पर्वतानुन्नति य ॥ १० मध्यति य ॥ ११ इत्यथा य ॥

तम्यादुत्कर्षवृत्तेः सातिशयपरिमाणकं वस्तु सप्रतिपक्षं भावविशेषत्वाद् घटवत्। असर्वातथ्याभिधायिताभ्यां विपर्ययेण भवितव्यम्, असर्वज्ञताया वक्तृत्वासर्वज्ञताया वा अवस्थात्वाद् वस्तुत्वाद् विशेषत्वात्, ज्ञत्वाज्ञत्वावस्थावद् नीलोत्पलरक्तोत्पलत्ववत्।

धूमवत्त्वाग्निमत्त्वावस्थाविपर्ययेणापि तर्हि भवितव्यं तत्त्वतः। को विचारः? निश्चितमेवैतत्, तेनापि तत्त्वतो भवितव्यम्। तेन तु ज्ञानात्मकत्वादात्मनस्तद्विजृम्भितविकल्पत्वाच्च शब्दस्य पुरुषस्वरूपस्यैव तस्य वचनं युज्यते उक्तत्वाद्

सर्वज्ञेनैवेति। एतच्च न, वक्तृत्वस्यापि तारतम्यादुत्कर्षवृत्तेर्विपर्ययेण भवितव्यमित्यभिसम्बध्यते। २२१-वक्तृत्वादेव सार्वज्ञ्यं तावद् ब्रूमः, वक्ता वक्तृतरो वक्तृतम इत्युत्कर्षपरम्पराया निरतिशयनिष्ठत्वात् सर्वस्य वक्ता तथ्यस्य चेत्यवश्यमेषितव्यम्। तच्च सर्वस्य तथ्यस्य च वक्तृत्वात् तज्ज्ञ इति वक्तृत्वादेव सार्वज्ञ्योत्कर्षसिद्धेरयुक्तः सार्वज्ञ्यप्रतिषेधः। यदपि चेन्द्रियविषये तत्पूर्वकानुमानविषये चोत्कर्षतारतम्यमुक्तं तदपि नित्यानुमेयमहापरिमाणाकाशदृष्टान्तसाधर्म्याददोषाय। स्यान्मतम्—आकाशासिद्धेरदृष्टान्ततेति, एतच्चायुक्तमनुमानसद्भावात्, सातिशयपरिमाणकं वस्तु सप्रतिपक्षं भावविशेषत्वाद् घटवदिति विभक्तपदार्थवादिमतापेक्षयैतदनुमानम्। अविभक्तैककारणविवर्तनाद्वयवादे वक्ष्यत्युत्कर्षनिरतिशयत्वम्। तारतम्ययुक्तत्वात् साधित साधयिष्यमाणार्थानुसारेण प्रतिजानानो भावितार्थोपनयनार्थमाह—असर्वातथ्याभिधायिताभ्यां विपर्ययेण भवितव्यमसर्वज्ञताया वक्तृत्वासर्वज्ञताया वा अवस्थात्वात्, वक्तृत्वाव्यभिचारिण्या असर्वज्ञताया वाक्यरूपेणानुमानात्मकतया स्थिताया इतरस्याः पदार्थतत्त्वेष्टाया वा अवस्थात्वात्, सा द्विविधाप्यसर्वज्ञता अवस्थैव, तथा वस्तुत्वाद् विशेषत्वादित्यादि हेतुसौलभ्यं दर्शयति। निदर्शनं ज्ञत्वाज्ञत्वावस्थावत्, ज्ञं चेतनं स्थावरजङ्गमम्, अज्ञमरण्यकाष्ठादि, तद्वत्, विधिविधिविनयदर्शनेन जाग्रत्सुप्तावस्थे ते च, एतत् पदार्थविषयं निदर्शनम्, वाक्यविषयं नीलोत्पलरक्तोत्पलत्ववत्। यथा ज्ञमज्ञेन अज्ञं च ज्ञेन विना न भवति २२१ ० नीलोत्पलमनीलेनानुत्पलेन रक्तोत्पलेन वा विना न भवति तद्विपर्ययेण वाक्यार्थेन तथा सार्वज्ञ्यमसार्वज्ञ्येन विना न भवति असार्वज्ञ्यं वा सार्वज्ञ्येनेति।

इतर आह—धूमवत्त्वाग्निमत्त्वावस्थाविपर्ययेणापि तर्हि भवितव्यं तत्त्वतः, धूमस्यावस्थात्मकार्यस्याग्न्यव्यभिचारिणः क्वचित् कदाचिदप्यनग्निवद्दर्शनादवस्थात्वं संशयहेतुरित्यभिप्रायः। आचार्य आह—को विचारः? निश्चितमेवैतत्, अनग्निरपि भवत्येवेत्यर्थः। तेनापि विपर्ययेणापि तत्त्वतो भवितव्यम्, नन्विदमेव वर्तते ज्ञानात्मकैककारणस्याग्न्यनग्न्यादिस्वावस्थात्मकत्वप्रतिपादनस्य प्रस्तुतत्वात्, एवमपि व्यभिचारयिष्यामः, परमते तावत् प्रतिज्ञार्थं भावयामः—तेन त्वित्यादि, ज्ञानात्मकत्वादात्मनस्तद्विजृम्भितविकल्पत्वाच्च शब्दस्य यदुच्यते यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम् [पा० म० भा० १।१।१] इति

---

१ दृष्टान्तरहितमित्यर्थः ॥ २ सतिपक्षं य० ॥ ३ °यत्वं भावतारतम्य° य० । दृश्यता पृ० १७९ पं० २ ॥ ४ °त्मतया य० ॥ ५ वस्तुतत्वाद् य० ॥ ६ °जङ्गमं [अज्ञमचेतनम् ?] अरण्यकाष्ठादि तद्विधिविधि° प्र० ॥ ७ तथा सार्वज्ञ्येनासार्वज्ञ्यं विना य० । तथा सार्वज्ञेनासर्वज्ञं विना भा० । अत्र 'तथाऽसार्वज्ञ्येन सार्वज्ञ्यं विना न भवति' इत्यपि पाठः कल्पयितुं शक्यते ॥ ८ दृश्यतां पृ० १३० टि० ४ ॥

व्याकरणवत् पौरुषेयं सर्वस्य तदात्मकत्वात् तदवस्थामात्रत्वाद् वस्तुत्वादपि । इतरथा स नैव स्यात् ।

ननु तस्यैवैकस्य वस्तुनोऽग्नित्वमनग्नित्वं च प्रत्यक्षादिविरुद्धम् । ननु प्रत्यक्षत एव व्रीह्यादि एकं वस्तु एकस्मिन्नेव काले भूम्यबादि, सर्वात्मकत्वाद् व्रीहेः ।

तत्काले तथाऽग्रहणादप्रत्यक्षतेति चेत्, सर्वाप्रत्यक्षता तर्हि सदापि । न हि यद् यथा भवति तथेन्द्रियैर्गृह्यते, तुषकणादिरूपादिमात्रग्रहणवृत्तत्वाद् व्रीह्यादिचक्षुरादिप्रत्यक्षस्य यावद्रूपग्रहणवृत्तत्वाद्रूपादिप्रत्यक्षस्य ।

सोऽपि शब्दो न पुरुषप्रवृत्तिमन्तरेण भवितुमर्हतीति पुरुषस्वरूपस्यैव तस्य वचनं युज्यते नान्यथेत्यस्मिन्नर्थे कारणमाह—उक्तत्वाद् वचनत्वाद् व्याकरणवत् पौरुषेयमिति *सर्वस्य पुरुषात्मकत्वं दर्शयति । हेतुसौलभ्यं च यावद् वस्तुत्वादपीत्यनेन दर्शयति* । सर्वस्य तदात्मकत्वात् तदवस्थामात्रत्वादित्यादि सर्वो हेतुरस्मिन्नर्थे भवति । इतरथा स नैव वचनं स्याच्छब्दोऽपौरुषेयत्वात् खरविषाणवत् । किं वा वचनं न वचनमित्यनेन ? नैव वा स्यादपुरुषात्मकत्वाद् वन्ध्यापुत्रवत् ।

आह—नन्वित्यादि । यदुच्यते त्वया एकस्मिन्नेव काले तस्यैवैकस्य वस्तुनोऽग्नित्वमनग्नित्वं चेति [तत्] प्रत्यक्षादिविरुद्धं सामर्थ्येनाभावात् । आदिग्रहणादनुमानागमलोकव्यवहारविरुद्धमिति । आचार्य आह—ननु प्रत्यक्षत इत्यादि, सर्वप्रमाणज्येष्ठमूलप्रत्यक्षत एव व्रीह्यादि, 'आदि'ग्रहणादाम्रजम्बूफलादि एकं वस्त्वेकस्मिन्नेव व्रीह्यवस्थानकाले भूम्यबादि, सर्वात्मकत्वाद् व्रीहेः । कतमोऽसौ व्रीहिः १३१ क्षित्युदकाग्नीनादिगतवर्णगन्धरसस्पर्शादिधर्मपरिणतिमन्तरेण ? इति भूम्यादेः परस्परधर्मापत्तेः सर्वात्मकत्वम् । सर्वात्मकत्वात् तन्मयस्य व्रीहेरप्यबादिवत् सर्वात्मकत्वम् । तस्मादबादिरेव व्रीहिस्तेन विनाऽभावात् तस्य तथा भवनात् व्रीहिस्वात्मवत् । तस्मान्नास्ति प्रत्यक्षादिविरोधः ।

तत्काले तथाऽग्रहणादप्रत्यक्षतेति चेत् । स्यान्मतम्—व्रीहिकाले भूम्यबाद्यात्मकस्य वस्तुनस्तथा भूम्यबादिप्रकारेणाग्रहणान्न तर्हि तद्वस्तु प्रत्यक्षं स्यात्, न हि तद्वस्तु व्रीहिमात्रमेवेति । उच्यते—सर्वाप्रत्यक्षता तर्हि सदापीत्यादि, सर्वस्य वस्तुनः सदापि सर्वेणात्मस्वरूपेण ग्रहणाभावाद् न कस्यचित् प्रत्यक्षत्वं स्यात् । तद्दर्शयति—न हि यद् यथा भवतीत्यादि । व्रीहेरपि प्रत्यक्षत्वं नास्ति यथा विद्यते तथेन्द्रियैर्ग्रहणाभावात्, इन्द्रियेण तु तुषमात्रदर्शनात् तन्मात्रस्याव्रीहित्वात् कणाद्यदर्शनात्, कणमात्रस्याप्यव्रीहित्वात् कुण्डकाद्यदर्शनादित्यादि, रूपरसगन्धस्पर्शानामप्येकस्यैवेन्द्रियविषयत्वात्, अत आह—तुषकणादिरूपादिमात्रग्रहणवृत्तत्वाद् व्रीह्यादिचक्षुरादिप्रत्यक्षस्य । स्यान्मतम्—रूपस्य रूपमात्रत्वात् तर्हि प्रत्यक्षत्वमिति, एतच्चायुक्तम्, यावद्रूपग्रहणवृत्तत्वाद् रूपादिप्रत्यक्षस्य, रूपरसगन्धशब्दस्पर्शा

---

१ * * एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठो भा० प्रतौ नास्ति ॥ २ लभ्यं च यावद्वस्तुत्वा इ० लीं० र० ही० । लभ्य यथोवद्वस्तुत्वा पा० । लभ्य यथावद्वस्तुत्वा वि० ॥ ३ खिचा पा० इ० लीं० वि० ॥ ४ पादि प्र० ॥ ५ °दकगतवण भा० ॥ ६ भूम्याद्याद्या य० । भूम्याद्याद्या भा० ॥ ७ भूम्याद्या(म्यम्बा?)दि प्र० ॥ ८ तथेन्द्रिय य० ॥

तस्य च चतस्रोऽवस्था जाग्रत्सुप्तसुषुप्ततुरीयान्वर्थाख्याः । ताश्च बहुधा व्यवतिष्ठन्ते । सुखदुःखमोहशुद्धयः सत्त्वरजस्तमोविमुक्त्याख्या ऊर्ध्वतिर्यगधोलोकाविभागाः संज्ञ्यसंज्ञ्यचेतनभावा वा । नियता एवैता विमुक्तिक्रमात्, सर्वज्ञता वा तुरीयं निरावरणमोहविघ्नं निद्रावियोग आत्यन्तिको निद्रासम्बन्धिजाग्रदाद्यवस्थाविलक्षणमात्मस्वतत्त्वम् । स एव परमात्मा ।

१३२-२ रूपादयः, ते हि परस्पराविनिर्भागवृत्तयः, तेषु रूपमात्रग्रहणं कथं यथार्थं प्रत्यक्षं स्यात्? इति नास्ति प्रत्यक्षम् । तस्मात् स्थितमेतत्—सर्वं सर्वात्मकं ज्ञानस्वतत्त्वैककारणविजृम्भितमात्रं चेति ।

तस्यैवेदानीं स्वरूपोपदर्शनार्थमुच्यते—[1]तस्य च चतस्रोऽवस्थाः । तस्य अनन्तरप्रतिपादितचैतन्यतत्त्वस्य इमाश्चतस्रोऽवस्था **जाग्रत्सुप्तसुषुप्ततुरीयान्वर्थाख्याः**, जाग्रदवस्था सुप्तावस्था सुषुप्तावस्था तुरीयावस्था, एताश्चान्वर्थाः । **ताश्च बहुधा व्यवतिष्ठन्ते**, चतुर्थीमवस्थां मुक्त्वा तिसृणामेकैकस्याः प्रतिप्रक्रिय संज्ञादिभेदाल्लोकव्यवहारभेदाच्चानेकभेदत्वात् । चतुर्थी पुन[2]रेकस्वरूपैव विशुद्धत्वात्, [3]अथवा सापि स्वरूपसामर्थ्यात् सर्वात्मनैवानेकधा विपरिवर्तते, तद्यथा—

जं जं जे जे भावे परिणमति [4]पयोगवीससादव्वं ।
तं तह जाणाति जिणो अपज्जत्ते जाणणा णत्थि ॥ [आव० नि० ७९४]

कास्ताः? उच्यन्ते—**सुख-दुःख-मोह-शुद्धयः सत्त्व-रजस्-तमो-विमुक्त्याख्याः** । कार्याणि चासां यथासङ्ख्यं तिसृणां तद्यथा—प्रसादलाघवप्रसवाभिष्वङ्गोद्धर्षप्रीतयो दुःखशोपतापभेदापस्तम्भोद्वेगापद्वेषा वरणसदनापध्वंसनवीभत्सदैन्यगौरवाणि । चतुर्थ्यास्तु शुद्धं चैतन्यं सकलस्वपरिवर्तप्रपञ्चसर्वभावावभासनम् । अथवा **ऊर्ध्वतिर्यगधोलो[6]काविभागा** वा, यथासङ्ख्यमेव, ऊर्ध्वलोको जाग्रदवस्था, तिर्यग्लोकः सुप्तावस्था, सुषुप्तावस्था अधोलोकः, अविभागावस्था तुरीयावस्था । [7]**संज्ञ्यसंज्ञ्यचेतनभावा वा,** संज्ञिनः समनस्का देवमनुष्यनारकपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो जाग्रति, सुप्ता असंज्ञिनः पृथिव्यबग्निवायुवनस्पतिद्वित्रि-
१३३-१ चतुरिन्द्रियामनस्कपञ्चेन्द्रियाः, काष्ठकुड्यादयः सुषुप्ताः, भवनमात्रं भावः सर्वत्राविभागा तुरीयावस्थेति ।

[8]अत्राह—अविभागात्मनस्तस्यैवात्मनश्चतुरवस्थत्वात् कालभेदाभावाच्च चतस्रोऽपि प्रथमद्वितीयतृतीयतुरीयाख्याः स्युरिति, एतदयुक्तम्, यस्मान्नियता **एवैता विमुक्तिक्रमात्, सर्वज्ञता वा तुरीय**मिति, सुषुप्तावस्थायाः स्थिरीभूतचैतन्यायाः [9]सुप्तावस्था विमुक्तमल[10]त्वाद् द्वितीया मिथ्यादृष्ट्यादिका, तृतीया सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मिका मुक्तिप्रत्यासत्तेः, [11]सर्वज्ञता चतुर्थी । तत् पुनस्तुरीयं **निरावरणमोहविघ्नम्,** निर्गता ज्ञानदर्शनावरणमोहविघ्ना अस्मिन्निति निरावरणमोहविघ्नम्, मोहस्यैव महास्वापत्वात्, एकेन्द्रियादिषु

---

१ तस्य चतस्रो य० ॥ २ °रेकरूपैव भा० ॥ ३ अथवापि स्वरूप° प्र० ॥ ४ पओग° य० ॥ ५ दृश्यता पृ० १२ पं० १९ ॥ ६ °लोकाअविभागा प्र० ॥ ७ संज्ञिअसंज्ञिअचेतनभावा प्र० ॥ ८ अत्राह विभागा° य० ॥ ९ सुषुप्तावस्था प्र० ॥ १० °त्वाद्द्वितीया २ य० । °त्वाद्द्वितीयाद्द्वितीया भा० । अत्र 'विमुक्तमलत्वाद् द्वितीया, द्वितीया मिथ्यादृष्ट्यादिका' इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ११ सर्वेता य० ॥

महामोहनिद्राक्षयोपशमशक्त्या निर्वृत्त्युपकरणेन्द्रियप्रत्ययचैतन्यप्रत्यक्षादिप्रत्ययेक्षणात्मकत्वाज्जाग्रदवस्था करणात्मा चेतनात्मा द्रव्यपुरुषवत्, अर्थस्य च तथा तथा तत्त्वाज्ज्ञानमेव । तथा सुप्तावस्थापि ज्ञानमेव संशयादि ईषत्सुप्तता वस्तुनस्तथा तथा तत्त्वात् । तथा विपर्ययोऽपि ज्ञानमेव तथा तथा तत्त्वात्,

---

स्त्यानद्ध्युदयमन्दप्राबल्यविशेषेण स्वाप, अविशेषेण तु सर्वप्राणिनां समोहानां मिथ्यादृष्ट्यचारित्राणां स्वापात्, यथोक्तम्—सुत्ता अमुणी सया, मुणिणो सया जागरंति [आचाराङ्गसू० १।३।१] इति । तत्र तुरीयं कैवल्यं विनावरणमोहविघ्नरागद्वेषमोहप्रत्ययघातिभ्यो विविक्तता दर्शनं विशुद्धं प्रतिपूर्णमेकत्वमिति तत्पर्यायाः । किरूपं तदिति चेत्, निद्रावियोग आत्यन्तिकः । तद्व्याख्यानम्—निद्रासम्बन्धिजाग्रदाद्यवस्थाविलक्षणमात्मस्वतत्त्वम्, निद्रासम्बन्धि यस्मिंस्त्रोऽवस्था जाग्रत्सुप्तसुप्ताख्याः, तत्तद्विलक्षणमात्मनः स्वतत्त्वं शुद्धं चैतन्यम् । स एवानन्तव्याख्यानिरूपेण परमात्मा विमुक्तः सर्वज्ञ एव व्याख्यातो वेदितव्यः ।

करणात्मानं कार्यात्मानं च व्याख्यास्यामः, तत्र तावन्महामोहेत्यादि यावत् करणात्मा । दर्शन- १३३ चारित्रमोहोदये यस्मात् सुप्ता मिथ्यादृष्टयोऽचारित्राश्च प्राणिनस्तस्मात् महामोह एव निद्रा, तदुदये स्वापः, तत्क्षये विबोधः । यथोक्तम्—

यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः ।
विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः ॥ [चरकसं० १।२१।३५] इति ।

तस्या निद्राया क्षयोपशमोऽनन्तानां पुद्गलपरिणत्यापन्नानां ज्ञानावरणीयादिघातिकर्मणामुदितानां क्षयादनुदितानामुपशमाल्लब्धिशक्तिरुत्पद्यते तस्मिन्नेव पुरुषे ज्ञानदर्शनवीर्यशक्त्या, तया घातिकर्मक्षयोपशमशक्त्या निर्वर्तितानि शृङ्गमसूरातिमुक्तकक्षुरप्रनानाकारेण चक्षुरादीन्द्रियाणि च यथास्वमाकारैः, तान्येव चोपकृतानि उपकरणेन मसूरक्षुरप्रातिमुक्तकचन्द्रकावनालिकासनेत्रसंस्थानैः, ततस्तत्प्रत्ययः लब्धिजनितनिर्वृत्त्युपकरणेन्द्रियप्रत्ययः चैतन्यस्योपयोगो जायते, लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् [तत्त्वार्थ० २।१८] इति वचनात् । तत्र प्रत्यक्षादिप्रत्ययेक्षणात्मकत्वात्, 'आदि'ग्रहणादनुमानागमात्मकत्वाज्जाग्रदवस्था, सैव करणात्मा । सुप्तजाग्रदवस्थयोरन्तरावस्था सुप्तजागरिता, तत्र स्वप्नदर्शनं भवति । यथोक्तम्—णो सुत्ते सुमिणं पासति, सुत्तजागरियाए वट्टमाणे सुमिणं पासति [भगवतीसू० १६। ६ । ५७७] । सा चापि जाग्र-

---

¹ सदा भा० ॥ ² कस्त्वमिति य ॥ ३ पर्यायेण य० ॥ ४ 'कर्मात्मानः क्लमान्विताः' इति चरकसंहितायां पाठः ॥ ५ लब्ध्यादिविध भा०। लब्धिविध य । 'य इत्थं क्षायोपशमिको भावोऽष्टादशविकल्पस्त्रैद्गलिकाद्यध्याह—ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥५॥ चत्वारि ज्ञानानि मत्यादीनि... दर्शनानि त्रीणि पञ्च लब्धय इति । ... क्षयोपशमाद् ... क्षायोपशमिकं भवति इति तत्त्वार्थाधिगमसूत्रस्य पूज्यपादाचार्यकृतसर्वार्थसिद्धिटीका २।५ ॥ ६ वीर्याद्यविकल्पं य ॥ ७ त्यपद्र य ॥ ८ पासइ सुत्तजागरिआए भ० ॥ ९ सुत्ते णं भंते ! सुविणं पासति जागरे सुविणं पासति सुत्तजागरे सुविणं पासति ? गोयमा ! नो सुत्ते सुविणं पासइ नो जागरे सुविणं पासइ, सुत्तजागरे सुविणं पासइ,' इति भगवतीसूत्रे पाठः ॥

चेतनात्मा सुप्तत्वाद् द्रव्यपुरुषवत् । तथानध्यवसायोऽपि विशिष्टस्वापो ज्ञानमेव चेतनात्मकत्वाज्जागरितवत्, चेतनाचेतनात् संशयादिवत् सुप्तवत् ।

वस्था करणात्माख्या **चेतनात्मा** [1]चेतना एवात्मा, तस्यैवार्थस्य जागरणात्मत्वात् । **द्रव्यपुरुषवत्,** द्रव्यपुरुषो भूतो भावी वा यथाय राजासीद् भविष्यति वेति 'राजेव' इत्युच्यते करचरणगनचक्रध्वजाद्या-[2]कृतिरेखादिलक्षणदर्शनात, तदेव हि हि शरीरमनुभूतराज्यं भविष्यद्राज्यं वा राजा तथा करणात्मा[3]नः
१३८-१ स्वपन्तो जाग्रतो वा [4]चेतनात्मैव । अनुपयुक्तो वा द्रव्यपुरुषः, तस्मिन् ज्ञेयेऽनुपयुक्तत्वात्, यथानुपयु[5]क्त ओदनेऽनात्मत्वेन परिणमित आत्मस्वरूपज्ञानत्वेनापरिणमितो द्रव्यपुरुषो द्रव्यात्मैव तथा करणात्मा ज्ञानो-पयोगरहितोऽपि चेतनात्मैवेति । एवं तर्हि परमात्मनः शुद्धचेतनात्मत्वात् सर्वात्मकत्वाच्च तस्य करणात्मावस्था-नुपपत्तिरिति चेत्, नेत्युच्यते, चैतन्यस्य सर्वात्मकतायामपि सनिद्रग्रहणात् सुप्तोत्थितस्य सावशेषनिद्र[6]स्येव यज्ज्ञान सा जागरावस्था करणात्मा, व्यपगतनिद्र[7]स्येव सर्वज्ञावस्था. इत्यनयोः करणात्मपरमात्मावस्थयो-र्विशेषः । स्यान्मतम्—अर्थस्वरूपाग्रहणात् करणात्मावस्थायाः परमा[8]त्मात्यन्तवैरूप्यमिति, एतदयुक्तम्. कस्मात् ? **अर्थस्य च तथा तथा तत्त्वाज्ज्ञानमेव,** स ह्यर्थः पुरुषमृद्घटानेकरूपतायाः प्रतिपादितत्वा-देकात्मविपरिवर्तो[9]ऽप्यनेकरूप एव तेन तेन प्रकारेण तस्य भवनात् तथा तथा तत्त्वात्, तदपि करणज्ञानं ज्ञानमेव करणमपि ज्ञानमेव वा ज्ञानविपरिवर्तत्वात् । एवं तावज्जाग्रदवस्था करणात्मा ज्ञानमेव ।

यथा चेदं ज्ञानं **तथा** जाग्रदवस्थाशेषः सुप्तावस्थारम्भमात्रं **सुप्तावस्था, सापि ज्ञानमेव संशयादि ईषत्सुप्तता,** अयमपि करणात्मा संशयादि ज्ञानम्. **आदि**ग्रहणाद् विपर्ययानध्यवसायौ । सा च सुप्तावस्थापि सतीषत्सुप्तता ज्ञानमेव, पूर्ववदेव सर्वात्मकतायां **वस्तुनस्तथा तथा तत्त्वात् ।** स्थाणुः
१३४-२ स्यात् पुरुषः स्यात् ? इत्यूर्ध्वतासामान्यस्य वस्तुत्वात्, यदि स्थाणुर्वयोनिलयनादिविशेषात् यदि वल्यायो-पविष्टत्वकरचरणच[10]लनादिविशेषात् पुरुष इत्युभयथापि तस्य वस्तुनस्तथा तथा तत्त्वात् स्थाणुत्वपुरुषत्वा-भ्याम् । **तथा विपर्ययोऽपि ज्ञानमेव तथा तथा तत्त्वा**दर्थस्य स्थाणुपुरुषत्वाभ्यां विपर्ययेण चेति सैव व्याख्यात्रापि, साधनम्—**चेतनात्मा सुप्तत्वाद् द्रव्यपुरुषवत्,** पूर्ववदेव व्याख्या सुप्तत्वं जाग्रत्त्वं वा चेतनस्यैव भवति नाचेतनस्य कस्यचित् । यथा चैतज्ज्ञानं **तथानध्यवसायोऽपि,** न अध्यवसायोऽनध्यव-सायोऽनभिव्यक्तबोधः, सोऽपि संशयविपर्ययाभ्यां **विशि**ष्यमाणः **स्वापः** सुप्तत्वा**ज्ज्ञानमेव, चेतनात्मकत्वाज्जागरितवत्,** यथा जागरितावस्था ज्ञानमेव चेतनात्मकत्वात् तथानध्यवसायोऽपि । **चेतना-चेतनात्,** यस्मात् तदेव चेतनमचेतनं च तस्यैव [11]बह्वचेतनत्वादल्पचेतनत्वाच्चेतनं च तदचेतनं चेति विग्रहाच्चेतनाया एवाचेतनाद्वा, **संशयादिवत्,** 'आदि'ग्रहणा[12]द्विपर्ययनिर्णयौ गृह्येते तद्वच्चेतनाचेतनाज्ज्ञान-

---

१ चेतनाः एवात्मा चेतनैवात्मा भा० ॥ २ यथा राजा य० ॥ ३ °त्मनः य० ॥ ४ चेन्नात्मैव य० ॥ ५ °युक्त उदनो(उन्दनेऽ ?)नात्मत्वेन भा० । °युक्त पुदनोनात्मत्वेन य० ॥ ६ °स्यैव र० ही० ॥ ७ °द्रस्यैव प्र० ॥ ८ °मात्मंतवै° य० ॥ ९ सोपि प्र० । अस्मिंस्तु पाठे स्वारस्ये 'सोऽपि करणात्मा' इत्यर्थो ज्ञेय ॥ १० °वलनादि° भा० डे० लीं० र० ही० ॥ ११ बह्वचेतन° भा० । बहुचेतन° य० ॥ १२ °णात् पर्यय° प्र० ॥

यथा चैतत् तथानध्यवसायमपि द्रव्येन्द्रियपृथिव्यादि कार्यात्मा ज्ञानमेव, सुषुप्तावस्थात्मकत्वात् हालाहलानुविद्धमदिरापानापादितनिद्राप्रसुप्तवदनध्यवसायवत् । योऽसौ पुरुषस्तदेव तत्, तेनात्मत्वेन परिणमितत्वात् तद्द्रव्यत्वाद् भूम्यवादिव्रीहित्ववत्, तत्कार्यत्वात् पटतन्तुवत्, तेन विनाऽभूतत्वात् तद्व्यतिरेकेणा-

---

मेवानध्यवसाय । अथवा **सुप्तवत्**, यथा हि सुप्त उच्छ्वासनिश्वासादिक्रियासु अव्यक्तं चेतयमानोऽपि ज्ञातैवमनध्यवसायोऽपि करणात्मैव व्यक्ततरं स्वाप विशिष्टस्वाप इत्यर्थ । एवं करणात्मा व्याख्यात ।

इदानीं कार्यात्मा व्याख्यायते—**यथा चैतत्** इत्यादि । यथा चैतदनन्तरव्याख्यातमनध्यवसायविपर्ययसंशयावितथप्रत्यक्षादि ज्ञानं चैतन्य **तथानध्यवसायम**पगताध्यवसायमनध्यवसायमचेतनाभिमतं **द्रव्येन्द्रियपृथिव्यादि कार्यात्मा** आत्मा, आत्मनैवात्मत्वेन परिणमितत्वादित्यादयो हेतवो वक्ष्यन्ते । सा १२५।१ च सुप्तावस्था द्रव्येन्द्रियम्, निर्वृत्त्युपकरणद्रव्येन्द्रिये व्याख्याते प्राक्, ते च पुरुषेणात्मत्वेन परिणमिते । भावेन्द्रियं त्वात्मैव लब्धियुक्त उपयुक्तो वा । पृथिव्यादि च विपरिवर्तमानात्मत्वपरिणामापन्नमेव, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वीन्द्रियादि तत् कार्यात्मा सुप्तावस्था, तदपि **ज्ञानात्मकमेव सुषुप्तावस्थात्मकत्वात्, हालाहलानुविद्धमदिरापानापादितनिद्राप्रसुप्तवत्**, यथा हालाहलविषेण सद्योमारकेणानुविद्धा मदिरा पीता तदापादितया निद्रया वशमुपगम्य सुप्तश्चेतन एव सन् किञ्चित् चेतयते पुरुषस्तथा द्रव्येन्द्रियपृथिव्यादि कार्यात्मा । अथवा **अनध्यवसायवत्**, यथा जागरादिपूर्वव्याख्यातावस्थाभ्यो विशिष्टा सुप्तावस्थानध्यवसायाख्या ज्ञानमेव तद्वत् कार्यात्मावस्था द्रव्येन्द्रियपृथिव्यादि ज्ञानमेव । यथा निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिवेदनीयानामुत्तरोत्तरोत्कर्षभेदादावृतज्ञानशक्तेरचैतन्यविशेषस्तदावरणापगमविशेषापादितचैतन्यविशुद्ध्युत्कर्षप्रकर्षप्राप्तसार्वज्ञ्यवद्वा चैतन्यावरणप्रकर्षप्रकर्षप्राप्तं पृथिव्यादि ज्ञानमेव । कर्मणश्चाष्टविधस्य सप्रभेदस्य पुरुषपरिणामैक्यापत्तेश्चानात्मत्वमिति चैतन्यमेव पृथिव्यादे ।

अत आह—**योऽसौ पुरुषस्तदेव तद्** द्रव्येन्द्रियपृथिव्यादि, **तेनात्मत्वेन परिणमितत्वात्** । को वात्र भेद परिणामकपरिणम्ययो ? इत्याह—**तद्द्रव्यत्वात्**, स एव द्रव्यं तद्द्रव्यं सप्रभेदं कर्म, तस्मात् तद्द्रव्यत्वात् । **भूम्यवादिव्रीहित्ववत्**, यथा भूम्यम्ब्वादय एव व्रीहिर्व्रीहित्वेन परिणतत्वात् तद्द्रव्यत्वाद् व्रीहिर्भूम्यादिरेव भूम्यादिभिरेवात्मत्वेन परिणमितत्वाद् व्रीहिर्भूम्यादिरेव तथा पृथिव्यादि पुरुष एव चेतनात्मक । इतश्च योऽसौ पुरुषस्तदेव तत् **तत्कार्यत्वात्**, यद् यस्य कार्यं तदेव तत् **पटतन्तुवत्**, यथा तन्तूनां कार्यत्वात् पटस्तन्तुरेव तथा पुरुष एव पृथिव्यादि, पुरुषपूर्वकत्वप्रतिपादनस्य कृतत्वात् । इतश्च **तेन विनाऽभूतत्वात्**, तदेव तत् तेन विनाऽभूतत्वात्, यद् येन विना न भवति तदेव तत्,

---

१ अत्र निद्राप्रसुप्तवत् इत्यपि पाठ स्यात् ॥ २ सायेपि प्र० ॥ ३ सायचेतना प्र० ॥ ४ दृश्यतां पृ० १८१ पं ३ ॥ ५ विशेषण वि विना । विशेषेण वि ॥ ६ यथा निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धि प्र ॥ ७ भेदावृत प्र० ॥ ८ अत्र प्रकर्षतथावरणा इत्यपि पाठ स्यात् ॥ ९ सार्वज्ञ्यवद्वा प्र० ॥ १० भूम्यपादि प्र० ॥ ११ येव यद्व्रीहित्वेन परि प्र० ॥ १२ यस्य न कार्यं तदेव प्र ॥

भावात् तद्देशत्वाच्च घटस्वतत्त्वप्रत्यग्रादित्ववत् ।

चैतन्यादात्मा पृथिव्यादिसुषुप्तावस्थाया विपर्ययेण वृत्तो रागाद्युपयुक्त उपयोगस्वातन्त्र्येण बद्ध्वात्मनात्मानमस्वतन्त्रीकरोति, कर्मबन्धेन रूपादिमत्त्वमनाद्यनन्तश आपद्यते । अनाद्यनन्तशः सूक्ष्मस्थूलशरीरादिरूपादिमत्त्वं प्रतिपद्यते

यथा रूपादय एव पृथिव्यादयः पृथिव्यादय एव रूपादयः, तेऽन्योन्यैर्विना न भूतत्वादन्योन्यात्मकास्तथा पुरुष एव काष्ठाद्यपि । किञ्चान्यत्, तद्व्यतिरेकेणाभावात्, यद्धि यद्व्यतिरेकेण न भवति तदेव तत्, यथा घटस्वतत्त्वप्रत्यग्रादित्वम् । तद्देशत्वाच्च, तस्य देशस्तद्देशः, तत्पुरुषस्यैव देशोऽवयवः स्वात्मा रथ्यापुरुषपाण्यादिवत्, तद्देशत्वं मृष्टस्तत्पूर्वकत्वादिति हेतुः । यो यद्देशः स तत्स्वतत्त्व एव, किमिव? घटस्वतत्त्वप्रत्यग्रादित्ववत्, यथा घटस्य प्रत्यग्रयुवमध्यमपुराणता च घटस्वतत्त्वमेव तथा पृथिव्याद्यचेतनमपि चेतनपुरुषस्वतत्त्वमेव । यदुक्तमचिन्त्यप्रभावामूर्तसूक्ष्मात्मकारणरूपादिमूर्तस्थूलविपरिवर्तवत् पुरुषविपरिवर्तमात्रं पृथिव्यादीनि युक्त्योपपादितम् ।

तत्रैव पुनः संसारसिद्धये युक्त्योपपादनार्थं प्रस्तूयते—चैतन्यादात्मेत्यादि यावद् विपरिवर्ता-
२३६-१ नन्त्यवत् । चेतनभावश्चैतन्यम्, तस्माच्चैतन्यादात्मा पृथिव्यादिसुषुप्तावस्थाया विपर्ययेण वृत्तस्तत ईषद्विशुद्धावस्थ इत्यर्थः, चैतन्यस्य रागादिविपरिणामाद् रागादेर्बन्धकारणत्वात् तदुपयुक्त उपयोगस्वातन्त्र्येण, उपयोगो हि चेतना, तस्य स्वातन्त्र्यं कर्तृत्वात्, मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः [तत्त्वार्थ० ८।१] इति वचनाद् रागाद्यात्मककषायविकल्पात्मकत्वान्मिथ्यादर्शनादीनां तेन स्वातन्त्र्येण बद्ध्वात्मनात्मानमस्वतन्त्रीकरोति, तेनैव च स्वयं कृतेन बन्धेन अस्वतन्त्रीक्रियते मद्येनेव स्वयं पीतेन मद्यपः, स्वयं पूरितवेगया डोलयेव वा पुरुषो भ्रम्यते कर्मडोलया, कर्मबन्धेन रूपादिमत्त्वमनाद्यनन्तश आपद्यते । एवमेतदुभयं सन्तत्याऽनाद्यनन्तं च द्रव्यार्थतया, यथोक्तम्—पुव्विं भंते ! कुक्कुडी पच्छा अंडए? पुव्विं अंडए पच्छा कुक्कुडी? रोहा ! जा सा कुक्कुडी सा कतो? अंडगातो । जे से अंडए से कतो? कुक्कुडीतो । एवं रोहा ! पुव्विं पि एते पच्छा वि एते, दो वि एते सासता भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहत्ति [भगवतीसू० १।६।५३] । तथा सव्वजीवा णं भंते ! एक्कमेक्कस्स मातत्ताए [10]पितित्ताए भातित्ताए भज्जत्ताए पुत्तत्ताए धीतित्ताए? गोतमा ! [11]असति अदुवा अणंतखुत्तो [भगवतीसू० १२।७।४५८] इत्यादि । तच्च द्विविधं रूपादि—सूक्ष्मं स्थूलं च । कर्मादि सूक्ष्मम्, आदिग्रहणादुच्छ्वासनिःश्वासभाषामनस्त्वादिकार्मणतैजसाहारकशरीरादि च तदात्मत्वगत्या । स्थूलं पृथिव्यादि औदारिकवैक्रिय-

---

१ घटचस्वतत्त्वप्रत्ययादि॰ प्र० ॥ २ मध्यपुरा॰ य० ॥ ३ ॰पुरुषत्त्वमेव प्र० ॥ ४ दृश्यतां पृ० १७६ पं० ३ ॥ ५ ॰सूक्ष्मत॰ प्र० ॥ ६ कुतो प्र० । "पुव्विं भंते ! अंडए पच्छा कुक्कुडी ? पुव्विं कुक्कुडी पच्छा अंडए? रोहा ! से णं अंडए कओ ? भयवं ! कुक्कुडीओ । सा णं कुक्कुडी कओ ? भंते ! अंडयाओ । एवामेव रोहा ! से य अंडए सा य कुक्कुडी पुव्विं पेते, पच्छा पेते, दुवेते सासया भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा" इति भगवतीसूत्रे पाठः ॥ ७ कुतो कुक्कुडीओ य० ॥ ८ सासया य० ॥ ९ दृश्यतां पृ० ४ टि० २ ॥ १० पितत्ताए भा० ॥ ११ असई भा० ॥ १२ "अयं णं भंते ! जीवे सव्वजीवाणं माइत्ताए पितित्ताए भाइत्ताए भगिणित्ताए भज्जत्ताए पुत्तत्ताए धूयत्ताए सुण्हत्ताए उववण्णपुव्वे ? हंता गोयमा ! जाव अणंतखुत्तो" इति भगवतीसूत्रे पाठः ॥

चैतन्यं कार्यात्मत्वात् मृद्घटकपालशकलशर्कराधूलिपांशुत्रुटिपरमाणुरूपादिपरमाण्वादिद्रव्यादित्वविपरिवर्तानन्त्यवत्।

नन्वेवमनाद्यनन्तत्वे सति अविवेके चैतन्यरूपादिमत्त्वयोस्तुल्ये किमर्थं ज्ञानात्मकमित्युच्यते, किं रूपादिमदात्मकमिति नोच्यते सर्वम्? नैव परिग्रहेऽपि कश्चिद्दोषः, अस्यैवार्थस्य सिसाधयिषितत्वात्। तथाहि—ज्ञस्यैव भवनस्योपपत्तेस्तदन्वयाच्च[5] देशकालाभ्यां भवनं सिध्यति। तद्भिन्नपदार्थपरिग्रहे तु घटभवनं न सिध्यति।

शरीरात्मकत्वगत्या तन्मात्रत्वात्। एतत् प्रक्रिययैव प्रतिपादितमपि सुखग्रहणार्थं प्रतिनीयते—अनाद्यनन्तशः १३६-२ सूक्ष्मस्थूलशरीरादिरूपादिमत्त्वं प्रतिपद्यते चैतन्यमिति। कुतः? कार्यात्मत्वात्, कार्यात्मत्वं च तस्य सिद्धं रूपादिपृथिव्यादिभेदरूपेण विपरिवृत्तेः साधितत्वात्, इह त्वनाद्यनन्तशः सेति साध्यते, यो यः कार्यात्मा स सोऽनाद्यनन्तशो विपरिवर्तमानो दृश्यते, तद्यथा मृद्घटेत्यादि, द्रव्यं मृद् भवति, मृद् घटो भवति, घटः कपालानि, ततः क्रमेण शकल-शर्करा-धूलि-पांशु-त्रुटि-परमाणवः, ततो रूपादयः, रूपादिभ्यः पुनरुत्क्रमेण परमाण्वादयो यावद्द्रव्यादित्वविपरिवर्तानन्त्यम्। 'आदि'ग्रहणाद् गुणकर्मसत्तादित्वेन विपरिवर्तनवत्। एवंप्रकारस्य भवनस्य स्वतन्त्रपरिणामरूपस्य देशकालभेदैकान्ताभ्युपगमेऽनन्तरं वक्ष्यमाणोपपत्त्याऽनन्यथैतदिति प्रतिपत्तव्यम्।

अत्राह—नन्वेवमित्यादि। नन्वेवमनादित्वात् कुक्कुटाण्डकयोरिवान्तरत्वात् कुत्सिता कुटिः कुकुटिरिव[1] कुकुटिवन्दस्य[2] शरीरायन्त्याद्यनाद्य मुक्तस्यापि रूपाद्यज्ञानपरिणामादविवेके चैतन्यरूपादिमत्त्वयोस्तुल्ये किमर्थं ज्ञानात्मकमित्युच्यते, किं वा कारणं रूपादिमदात्मकमिति नोच्यते सर्वम्? विशेषहेतुर्वा वाच्य इति तदर्शयन्नाह परः—नन्वेवमनाद्यनन्तत्वे सतीति गतार्थम्। आचार्य आह—नैव परिग्रहेऽपि कश्चिद्दोषः, किं कारणम्? अस्यैवार्थस्य सिसाधयिषितत्वाच्चतुरस्रात्मकत्वात् तस्य, तत एव रूपादिद्रव्यैकत्वपृथिव्यादिरूपः स एवोच्यते, तथा च सृष्टे पूर्वमुक्तत्वात्।

आह—चेतनाचेतनयोरैक्यापादनप्रस्तुते 'ज्ञः पुरुषः, तन्मयं चेदम्, स एव स्वतन्त्रो भवति' इति १३७-१ च विशेष्य ज्ञग्रहणं स्वतन्त्रग्रहणं च किमर्थमिति। आचार्य आह—तथाहीत्यादि, भावयिष्यते। भवतीति भावः इत्युक्तम्, भावस्वरूपप्रदर्शनार्थं तु यो भवति स वाच्य इति ज्ञग्रहणम्, तदपि तथाहीत्यादिना च एव च कृत्वा यद् भोक्तुः 'देशकालभेदे भवनाभावदोषो वक्ष्यमाणः' इति तत्परिहारेण ज्ञस्यैव भवनस्योपपत्तेस्तदन्वयाच्च सर्वस्मिन्नाज्ञत्वेऽमानिष्पादः देशकालाभ्यां भवनं सिध्यति, तथा हि यस्तु भवतीति वक्तव्यं वक्तुम्। तद्भिन्नेत्यादि, देशकालभिन्नपृथिव्यादिभेदभूतपदार्थपरिग्रहे तु अन्यथा तु घटभवनं यदेतत् प्रत्यक्षप्रसिद्धं तदपि न सिध्यति।

---

१ °त्मकत्वा भ° ॥ २ °वन्दा प्र° ॥ ३ त्रुटि भा° ॥ ४ दृश्यतां पृ° १८८ पं° १ ॥ ५ नन्विद(त्व)मनादित्वात् प्र° ॥ ६ (भाव इत्यत,)? ॥ ७ दृश्यतां पं° १८ ॥ ८ °भवनाभावदोषे य ॥ ९ °स्यमभिन्याद् भा° । °स्यर्थसिद्ध्याद् य° ॥

देशभेदप्रत्ययेन तावद् ग्रीवादिभेदभावे घटभवनं न। श्वेतिकाद्येकदेशभावे न मृत्। अश्मादिभेदान्न पृथिवी। पृथिव्यादिभेदान्न द्रव्यं गुणकर्मभेदाद्वा। द्रव्यादिभेदान्नैकं सत्त्वम्। कालभेदप्रत्ययेनापि प्रतिक्षणमव्यपदेश्यभवनात् कतरद् घटभवनम्, मृद्भूतव्रीह्याद्यम्ब्वादिकालभिन्नभावभेदे मृदभावात् परतोऽपि कपालादिपांशुव्रीह्यादिभूतेः। घटादिसर्वात्मकस्यैकस्य सत्त्वस्याभावात् प्रत्येकत्वस्य चेतरेतरासत्त्वात्मकत्वात् कुतो भवनं भवितुर्घटादेः?

यथा तु रूपादिभेदेन सर्वभेदपर्यन्तं भेदं विधाय विज्ञानमात्रमेव व्यवस्थाप्यते

तत् कथम्? **देशभेदप्रत्ययेन तावदि**त्यादि, ग्रीवापृष्ठकुक्षिबुध्नोष्ठादीनां देशभिन्नानां कपालशकलादीनां च यावत् परमाणुशो रूपादिशो निरुपाख्यत्वशश्च **भेदभावे घटभवनं न,** सिध्यतीति वर्तते। एवं **न श्वेति**कापीतिकाद्येक**देशभावे मृत्। अश्मादिभेदान्न पृथिवी। पृथि**व्यप्तेजोवाय्वादि**भेदान्न द्रव्यं गुणकर्मभेदाद्वे**ति, तदेव हि द्रव्यं रूपगमनादिगुणकर्मभेदाद् यावन्निरुपाख्यत्वभेदात् समुदायाभावाच्चा[1]सम्बन्धान्न द्रव्यम्। **द्रव्यादिभेदाद्** द्रव्यगुणकर्मनानात्वाद् **नैकं सत्त्वम्।** एवं तावद् देशभेदे घटभवनं न स्यात्, द्रव्यादीनामनुपपत्तेः।

कालभेदप्रत्ययेनापि प्रतिक्षणमव्यपदेश्यभवनात् कतरद् घटभवनं क्षणे क्षणेऽत्यन्तमसम्बद्धायःशलाकाकल्परूपाद्यात्मकत्वानुपपत्तेः? किं कारणम्? **मृद्भूतव्रीह्याद्यम्ब्वादिकालभिन्नभावभेदे मृद-**
१३७-२ **भावात्,** असन्मतेन मृद्भूतो व्रीह्यादिरम्ब्वादिश्चैक एव कालान्तरावस्थाने सति तत्परिणामोपपत्तेः, त्वन्मतेन तु कालभिन्नभावभेदे क्षणे [क्षणे] नवनवार्थासम्बन्धाद् भावभेदे व्रीहिरेव विनष्टो मृन्न भवति, न [2]चोदकादि विनष्टं मृद् भवतीति निर्वीजत्वान्मृदभावः। मृदभावाच्च को घटः? भवनं वा किं स्यात्? अस्माकं तु सामान्यान्वयाद् व्रीह्यादय उदकादय एव वा मृद् भवति घटो भवतीत्यादि युज्यते, **परतोऽपि कपालादिपांशुव्रीह्यादिभूतेः,** घटभवनात् परतोऽपि घट एव कपालादि भवति, कपालादेरपि परतो यावच्छर्कराभवनात्, [3]पांश्वादेरपि परतो व्रीह्या[4]देर्भवनात्। तस्माद् घटादि सर्वात्मकमेव भवति। न चेदेतदिष्यत एवम्प्रकारकं भवनं तत एवं **घटादिसर्वात्मकस्यैकस्य** देशकालव्यापिनः **सत्त्वस्याभावात्** त्वन्मतेनैव **प्रत्येकत्वस्य** [5]चेष्टस्य त्वया **इतरेतरासत्त्वात्मकत्वात् कुतो भवनं भवितुर्घटादेः?** घटः पटात्मना नास्ति पटोऽपि घटात्मनेति देशतः कालतश्च प्राक् पश्चाद्वा [न] स एवेति न पटोऽस्ति न घट इति प्रत्येकं भिन्नत्वे भावानामभावात् को घटः? किं वा भवनम्?

यथा तु रूपादीत्यादि यावद**स्मदुपवर्णनवदेवाभिहितं भवति।** यैश्च वर्ण्यते विज्ञानमात्रत्वं देशभेदाद् घटो भिद्यमानो **रूपादिभेदेन** भिद्यते यावद् निरुपाख्यशः कालभेदेन च भिद्यमानः परमनिरुद्धक्षणोत्पत्तिविनाशनिरुपाख्यशो भिद्यत इति तैः **सर्वभेदपर्यन्तं भेदं विधायापि विज्ञानमात्रमेव**

---

१ °च्चसंबंधाद्द्रव्यम् प्र० ॥ २ वोदकादि भा० ॥ ३ पांस्वा° भा० ॥ ४ व्रीह्यादिर्भ(भ?)वनात् भा० ॥ ५ चेष्टस्य य० प्रतिपु नास्ति ॥

तथासदुपवर्णनवदेवाभिहितं भवति। ज्ञानस्यापि स्वभावाभ्युपगमे रूपाद्यपलापबीजनिरूपणादिनिर्मूलत्वात् प्रत्यक्षादिविरोधाः।

अत एवोक्तवत् सर्वत्र सन्निपत्याराद्दूरादुपकारित्वेभ्य आत्मबुद्धीन्द्रियप्रकाशरूपघटौपधाहारादिषु ज्ञानवृत्तिर्भवति। अन्वाह च—

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ [शुक्लयजु० म० ३१।२]

नान्यत्किञ्चिदिति व्यवस्थाप्यते। यथा तु तद् व्यवस्थाप्यते तथासदुक्तवदुपवर्णितमभिन्नमेकं विज्ञान- १३८ १
मित्युक्तं भवति, ततश्च रूपरसादिघटपटादिविश्वभेदात्मकत्वात् तस्य, रूपादिपरस्परविनिवृत्त्वे तु तद्विज्ञानान्वयाभावाद् रूपरसादिभेदपरिकल्पनाभावस्तदंशकल्पनाभावो निरुपाख्यत्वकल्पनाभाव इति विज्ञानमात्रता न भवति।

अथ कश्चिद् ब्रूयात्—तदपि 'विज्ञानमसत् सर्वभावशून्यत्वादिति, एतच्चायुक्तम्, **ज्ञानस्यापि स्वभावाभ्युपगमे रूपाद्यपलापबीजनिरूपणादिनिर्मूलत्वात् प्रत्यक्षादिविरोधाः**, रूपादयो न सन्तीति यदपलापबीजं निरूपणं तदपि नास्तीति रूपादिप्रतिषेधो न सिध्यति, प्रत्यक्षतश्च स्वानुभवेन रूपस्य निरूपणमुपलभ्यते प्रतिस्वम्, आदिग्रहणादास्वादनघ्राणस्पर्शनश्रवणानुभवा उपलभ्यन्ते, अतः प्रत्यक्षविरोधः। तदनुस्मरणदर्शनादनुमानविरोधः **आदिग्रहणात्**, अनुस्मरणं हि स्वयमनुभूतस्यार्थस्य नाननुभूतस्य। तस्मादवश्यमात्मा ज्ञानस्वभाव एकः सर्वभावव्यापी विपरिवर्तमानोऽवस्थितः कारणमिति सिद्धम्।

अत एवोक्तवदित्यादि। एतस्मादेव आत्मव्याप्तिविपरिवृत्तिव्यवस्थितत्वाद्धेतोरुक्तेन तुल्यमुक्तवद् रूपादीनां तत्त्वाद् रूपणात्मकत्वाज्ज्ञानस्वभावात्मावस्थाविशेषमात्रत्वात् **सर्वत्र** सर्वभावेषु एष विशेषस्तस्यैव कारणपदार्थस्योपकारविशेषेभ्योऽपरो द्रष्टव्यः—सन्निपत्योपकारिणी बुद्धिरात्मनः साक्षादव्यवहिता भावानां १८२ २
स्वपरिवर्तविशेषाणामुपभोगे, भोक्ता तु स्वयमेव स्वपरयोः। आरादिन्द्रियाणि करणत्वात्, दूरात् प्रकाशादयोऽनुग्राहका इन्द्रियाणां दवीयांसो रूपादयो दविष्ठा घटादय औपधव्यञ्जनादीनि इन्द्रियाणां पाटवजननादुपकार्युपकारित्वेन तदुपोद्बलकराश्चाहाराः सर्वभावगतासु ज्ञानवृत्तिष्वित्यत आह—**सर्वत्र सन्निपत्याराद्दूरादुपकारित्वेभ्यो** हेतुभ्यः **आत्मबुद्धीन्द्रियप्रकाशरूपघटौपधाहारादिषु ज्ञानवृत्तिर्भवती**ति।

अन्वाह चेति ज्ञापकम्, एतस्मिन्नर्थे पूर्वोक्तमेव जैनैर्वक्ष्यमाणज्ञापनार्थम् 'एकोऽप्यहमनेकोऽप्यहम्' [भगवतीसू० १८।१०।६४७] इत्यादिकम्, अतोऽपि लौकिकस्तदनुसारेणाह न स्वमहिम्नेति। **पुरुष एवेद**मित्यादि, एवेत्यवधारणे, भवितुरन्यस्याभावादुक्तवत् तस्यैव च भवनात्। इदमिति दृश्यस्पृश्यादि इन्द्रिय-

---

१ विज्ञानसत् य०॥ २ स्थितत्वा(त्व?)द्धेतो प्र०॥ ३ औपधान्य(ध?)ञ्जनादीनि प्र॥ ४ अत्राह य॥ ५ एगे भवं दुवे भवं अक्खए भवं अव्वए भवं अवट्ठिए भवं अणेगभूयभावभविए भवं? सोमिला! एगे वि अहं जाव अणेगभूयभावभविए वि अहं इति भगवतीसूत्रे पाठः १८।१०।६४७। 'एगे भवं दुवे भवं अणेगे भवं अक्खए भवं अव्वए भवं अवट्ठिए भवं अणेगभूयभावभविए वि भवं? सुया! एगे वि अहं दुवेवि अहं जाव अणेगभूयभावभविए वि अहं' इति ज्ञाताधर्मकथासूत्रे पञ्चमाध्ययने पाठः॥

अत एव तस्य सर्वत्वसम्प्रसिद्ध्या आत्माद्याख्यता, मृदनुत्तीर्णघटपिठरादिवद् भ्वस्त्यर्थादिभ्यः सर्वस्यानुत्तरात् सर्वस्यासावात्मा स्वरूपं तत्त्वमित्यर्थः ।

गोचरं लिङ्गगम्यं वा निर्दिशति । **सर्वमि**त्यशेषं तस्यैव सामान्यविशेषभेदप्रभेदानन्त्येऽपि सङ्गृहीतं बुद्ध्या । इदं च देशतः प्रदर्शनम्—**इदं सर्वमि**ति । कालतस्तु **भूतं भाव्यमि**ति अतीतानागतवर्तमानानां प्रदर्शनम्, भूतशब्दस्य वर्तमानातीतवाचित्वात् । **उत** पश्य प्रेक्षस्वेत्यर्थः । **अमृतत्वस्य** अक्षयत्वस्य **ईशानः** प्रभविता, स ह्यक्षयोऽजरोऽमरः पुरुषो ज्ञानस्याविनाशित्वात् सोऽक्षयत्वमनुभवतीत्यर्थः । यथोक्तम्—अक्खरस्स अणंतभागो णिच्चुग्घाडितओ सव्वजीवाणं [नन्दिसू० ४२] ति[1] । तद्व्याख्याननिदर्शनं च

तं पि जदि आवरिज्जिज्ज तेण जीवो अजीवयं पावे ।
सुट्ठु वि मेहसमुदये होइ पभा चंदसूराणं ॥ [नन्दिसू० ४२] ति[2] ।

यदिति यस्मात् कारणा**दन्नेनातिरोहति**, अद्यते भुज्यतेऽश्यत इत्यन्नं पुद्गलद्रव्यं तेनैवात्मनानाद्यनन्तं[3]-
१३९-१ शोऽपि विपरिवर्तितत्वात्, तेनान्नेनासावतिरोहति वर्धत उपचीयते तत्सारूप्याद् बालक इव नवनीताहारेण तेन ज्ञानक्रिययोरुपष्टम्भोपलम्भात्[4] करणकायविवृद्धेश्च । यथोक्तम्—अन्नं[5] वै प्राणाः, अन्नमयो ह्ययं पुरुषः, पुरि शयनात् पुरुषः [ ], नान्यस्यैतत्[6] सर्वं घटतेऽतिरोहति भृशं रोहतीति ।

किञ्चान्यत्, **अत एवे**त्यादि । एतस्मादेव कारणात् सर्वत्वसिद्धिस्तस्य तत्त्वज्ञानस्वरूपस्य, तया च पुनः **सर्वत्वसम्प्रसिद्ध्या आत्माद्याख्यता**[7] । सततमतति गच्छति जानीते परिणमतीति[8] चात्मा । सतो भावः सत्त्वम्, स एव सन् भवति चेत्यर्थः । भूतस्तथा सदा भवतीति वा । पुरि शयनात् पुरुषः शरीरे जगति वा स्वविजृम्भितविकल्पात्मके । पूरणाद् गलनाच्च पुद्गलः पुमांसं गिलतीति वा पुद्गलः, जीवशरीरतया विभज्य भोक्तृभोग्यभावाद्[9] वृद्धिहानिभ्यामुत्पत्तिविनाशाभ्यां पूरणगलनाभ्यामित्यर्थः । जायते तैस्तैर्भावैरिति जन्तुः । पञ्चेन्द्रियमनोवाक्कायबलायुरुच्छ्वासनिःश्वासाख्यदशप्राणधारणात् प्राणी जीव इति चोच्यते इत्येवमाद्यभिख्याः सर्वत्वे सति घटन्ते तेन तेन धर्मेण व्यपदेशाविरोधात् । **मृदनुत्तीर्णघटपिठरादिवत्**, यथा मृदोऽनुत्तीर्णा घटपिठरादयो भवन्ति सन्ति वर्तन्त इत्यादिभ्यो भ्वस्त्याद्यर्थेभ्यो नोत्तरन्ति भवनानुत्तरात् सर्वधातूनां च भ्वाद्यर्थत्वादेवं ज्ञानस्वरूपः कर्ता भवति अस्ति वर्तते ज्ञानस्वरूपभवनानुत्तरात्[10] ।
१३९-२ अत आह—**भ्वस्त्यर्थादिभ्यः सर्वस्यानुत्तरात्**, अस्तिभवतिविद्यतिपद्यतिवर्ततयः[11] सन्निपातषष्ठाः सत्तार्थाः, भ्वादयश्च सर्वधातवस्तदर्थं नातिवर्तन्त इति यावदेव किञ्चिदुत्पद्यते विनश्यति व्यवस्थितं वा तस्य **सर्वस्यासावात्मा स्वरूपं तत्त्वमित्यर्थ** इति पर्यायैः स्वरूपोपनयः[12] ।

स्यान्मतम्—स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् कथमात्मनात्मानं सृजत्युपसंहरति च बध्यते मुच्यते च ? न ह्यङ्गुल्यग्रमङ्गुल्यग्रं[13] स्पृशति नासिरात्मानं छिनत्तीति, एतच्चायुक्तम्, शक्तिभेदात् कारकभेदोपपत्तेः, **तन्न-**

---

१ दृश्यता पृ० ४ टि० २ ॥ २ °वअ भा० ॥ ३ °शोविपरिवर्त्तत्वात् भा० ॥ ४ °योपष्ट° य० ॥
५ "अन्नं वै चन्द्रमा, अन्नं प्राणा, उभयमेवोपैत्यजामित्वाय" इति तैत्तिरीयब्राह्मणे ३।२।३।१९॥ ६ नान्यस्यै° भा० ॥
७ °द्याख्याता प्र० ॥ ८ °मति चात्मा य० ॥ ९ °भोज्यभावाद् र० ही० विना ॥ १० °त्तारात् प्र० ॥
११ दृश्यता पृ० ३४ पं० २० ॥ १२ °पनय भा० । °पनयं य० । १३ ह्यंगुल्यग्रं स्पृशति पा० भा० र० ही० ॥

तन्त्रनायककोशकारककीटवच्च तदात्मका एवैते संहारविसर्गबन्धमोक्षाः । यथा च सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गा भवन्ति   ।

स एव कलनात् कालः । प्रकरणात् प्रकृतिः । रूपणादिनियमनान्नियतिः । स्वेन रूपेण भवनात् स्वभावः । येन यत्र यथा यस्माद् यदा यदर्थं च प्रवर्तितव्य

र्नायककोशकारककीटवच्च तदात्मका एवैते संहारविसर्गबन्धमोक्षाः, यथा तन्त्रनायकीटः स्वशरीरजयैव लालया तन्त्रं प्रसारयत्युपसंहरति च न चान्यतः कुतश्चित् तथात्मन एव संहारविसर्गौ । उक्तं हि—यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णीते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति । यथा सतः पुरुषात् केशलोमानीति वा, यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गा भवन्ति तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् [मुण्डकोप०] इति । बन्धमोक्षावपि यथा कोशकारकीटक आत्मानं वेष्टयति स्वशरीरविनिर्गतेन कोशेन पुनश्च तत्रैव प्रलीयते कश्चिच्च कोशकं छिद्रीकृत्य निर्गच्छत्येवमात्मनो बन्धमोक्षौ नान्यत इति । किञ्चा-न्यत्, यथा च सुदीप्तादित्यादि, अयमपि दृष्टान्तोऽग्निस्वतत्त्वानतिवृत्त्याग्निरूपसम्भवात् पुरुषस्य तत्सा-धर्म्यप्रदर्शनायम्, यथाऽन्याह—यथा सुदीप्तात् पावकादित्यादि । एवं तावत् पुरुष एव सर्वमित्युक्तम् ।

स एवोच्यते कालोऽपि, स एव ज्ञत्वात् कलनात् कालः, कल सङ्ख्याने [पा० धा० ४९७, १८६६] कलनं ज्ञानं सङ्ख्यानमित्यर्थः । यथा चाहुरेके—कालः पचति भूतानि [   ] इति श्लोकः । प्रकरणात् प्रकृतिः स एवेति वर्तते । सत्त्वरजस्तमःस्वतत्त्वान् प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थान् गुणा-नालम्ब्य स्वविनिर्म्याणैव भोक्ता प्रकुरुते इति प्रकृतिः, यथाहुरेके— १४० १

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ [श्वेताश्व० ४।१।२५]

इति । रूपणादिनियमनान्नियतिः, रूपणाच्चक्षुषो विषयो रूपमेव न रसादयः, रसनाद् रसो रसन-विषयो न रूपादय इत्यादि नियमनान्नियतिः । स्वो भाव आत्मनैव स्वेन रूपेण भवनात् स्वभावः । यथाहुरेके—

"*कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां च ।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ॥ [   ] इति* ।

---

१ नायककोश भा ॥ २ नाम य० ॥ ३ अथा प्र० ॥ ४ यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति । यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥ १।१।७ ॥ तदेतत् सत्यम्—यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥२।१।१॥ इति मुण्डकोपनिषदि पाठः ॥ ५ अत्र यथा च सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गा भवन्ति तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् । इति मूले सम्भाव्यते ॥ ६ नतिवृत्त्याग्निरूप° प्र ॥ ७ नार्थं भा० ॥ ८ यथात्याह प्र० ॥ ९ ज्ञाता कल° प्र० ॥ १० यथा यहुरवे प्र ॥ ११ कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः । कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥ इति सम्पूर्णः श्लोकः ॥ १२ प्रकाशवृत्ति प्र० ॥ १३ तद्कृष्णशुक्ला प्र० ॥ १४ विरूपा प्र० ॥ १५ विविध प्र० ॥ १६ * * एतच्चिह्नान्तर्गतस्य पाठस्य स्थाने कः कण्टकानामित्यादि इत्येव य० प्रतिषु पाठः ॥

तेन तत्र तथा तस्मात्तदा तदर्थं च प्रवृत्तिः। तदन्तरेव तस्य, न ततो व्यतिरिक्तम्, स[1] एव हीदं वृत्तमविवृत्तं च बहुधानकं चेतनाचेतनादिप्रभेदरूपम्। अन्वाह च—

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तदुपान्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ [शुक्लयजु० वा० सं० ४०।५]

अर्हणबोधनेत्यादेर्विशुद्धिप्रकर्षविशेषाद् देवता अपि स एव, यावदर्हन्नपि भवतीति सम्भाव्यते।

सत्यम्। भवनं कर्तुः, भवनस्य क्रियात्वात्, पचिवत्। यत्तु स ज्ञ इति

येन हेतुना **यत्र** क्षेत्रे **यथा** येन प्रकारेण **यस्मादा**श्रयाद् वस्तुनो **यदा** यस्मिन् काले **यदर्थं च** यत् प्रयोजनमुद्दिश्य **प्रवर्तितव्यं तेन तत्र तथा तस्मात्तदा तदर्थं च प्रवृत्तिः**[2], तद्यथा—राज्ञाज्ञप्तः सूपकारः स्थाल्यामोदनं कुशूलात् तण्डुलानाहृत्य[3] मृदुविशदमोदनं 'पेयाल्पपूर्वकं[4] क्षुदुपशमनार्थं च पचतीति। तत् पुनः प्रवर्तनं **तदन्तरेव**[5] **तस्य** पुरुषस्य[6], **न ततो व्यतिरिक्तं** बहिर्भूतम्। **स एव हीदम्,** स एव पुरुषो यस्मादिदं सकलं जगद् **वृत्तं** ततः प्रसृतं नानाभेदेन विवर्तमानम्, **अविवृत्तं च** तत्स्वरूपापरित्यागात्। **बहुधानकं** बहूनामाश्रयः[7]। चेतनाचेतनादिप्रभेदा रूपमस्येति **चेतनाचेतनादिप्रभेदरूपम्,** यच्च[8] चेतनं नरतिर्यगमरनारकादि तत्प्रभेदाश्च रूपमस्य काष्ठकुड्यघटपटाद्यचेतनं च सप्रभेदमस्य रूपम्।

अन्वाह चेति जैनमतानुसारेणैवेत्यर्थः। **तदेजति** चलति स्पन्दते, **नैजति** न चलति न स्पन्दते।
१२० = **तद् दूरे** तिर्यग्लोकेऽधोलोकेऽलोके च। **तदुपान्तिके**[9] तदेवास्मिन्[10] प्रदेशे हृदयपुण्ड्यादि। **तदन्तरस्य** घटपटादेः **सर्वस्य** वस्तुनः साकारानाकारोपयोगलक्षणस्यात्मनस्तत्परिणतेरप्रतिघातात्। **तदु सर्वस्यास्य**[11] **बाह्यतः,** तस्यैवालोकेऽपि सद्भावात्, 'सर्वस्यास्य' इति लोकगतभावनिर्देशात् तस्य बाह्यमलोक इति।

अर्हणबोधनेत्यादेर्विशुद्धिप्रकर्षविशेषाद् देवता अपि स एव, अर्हति सर्वलोकातिशयपूजामित्यर्हन्, बुध्यत इति बुद्धः, वर्धनाद् बृहत्त्वाद् ब्रह्मा वर्धमानो वा, व्याप्नोतीति विष्णुर्ज्ञानात्मनैव सर्वानर्थान्, ईशनादीश्वरः, एतेभ्यश्च ज्ञानविशुद्ध्युत्कर्षभेदेभ्यस्तत्पर्यन्तप्राप्तेर्**यावदर्हन्नपि भवतीति सम्भाव्यते,** दुष्प्रापत्वादार्हन्त्यस्य सम्भावनयोच्यते, शेषपदप्राप्तिस्तु सुलभैवेति, तामपि च दुरापां सर्वज्ञावस्थां परमविशुद्धां परमर्ष्याख्या स एव प्राप्तुमर्हतीति। एवं विधिविधिनयविकल्पः पुरुषवादः।

अधुना नियतिवादो विधिविधिनयदर्शनाश्रयोऽभिधीयते—**सत्यम्, भवनं कर्तुरि**त्यादि। सत्यं युक्तमेतदुच्यते त्वया—तत्र भवतः स्वातन्त्र्यमुपलभ्यमानं पचाविव शक्यमपह्नोतुम्। किं कारणम्?

---

१ "अथापरे विवृत्ताविवृत्तं बहुधानकं चैतन्यमित्याहुः।" इति भर्तृहरिविरचितायां वाक्यपदीयवृत्तौ १।८॥
२ प्रवृत्तिस्तथा प्र०। अत्र 'प्रवृत्तिः, यथा राज्ञाज्ञप्तः' इत्यपि पाठः स्यात्॥ ३ तंदुलाकृत्य मृदुविशद° य०। तंदुविशद° भा०॥ ४ अत्र 'पेयापूर्वकम्' इति पाठः सम्भाव्यते॥ ५ °रेचेतस्य प्र०॥ ६ पुरुषस्य य० प्रतिपु नास्ति॥ ७ बहुधानामां श्रयः भा०। बहुधानाश्रयः य०॥ ८ यच्चेतनं य०॥ ९ अत्र तद्वन्तिके इति यजुर्वेदे पाठः, एवं चात्र नयचक्रवृत्तौ तद्वु चान्तिके इत्यपि पाठः स्यात्॥ १० तदेकस्मिन् प्र०॥ ११ सर्वस्य बा° प्र०॥

सम्प्रधार्यमेतत्। स यदि ज्ञ' स्वतन्त्रश्च, नात्मनोऽनर्थमनिष्टमापादयेद् विद्वद्राजवत्।

न, निद्रावदवस्थावृत्ते पुरुषताया एवास्वातन्त्र्यात्, आहितवेगवितटपातवत्। ननु तज्ज्ञत्वाद्ययुक्तनैवैषा समर्थ्यते, युक्तत्वाभिमतत्वेऽपि चायमेव नियम कर्त्रन्तरत्वापादनाय। भवति कर्ता अचेतनोऽपि भवति । तन्नियमकारिणा

भवनस्य क्रियात्वात्, या क्रिया सा भवितुरेव घटादे परमाण्वादेर्वा, यथा पचिक्रिया पक्तुरेव भवति स्वतन्त्रस्य। भवनमपि च क्रिया, क्रियात्वाद् भवित्रा विना न भवति, पचिवत्। भविता च कर्ता, कर्ता च स्वतन्त्र, कर्तृत्वादेव न केनचिदसौ भाव्यते कार्यते वा स्वातन्त्र्यात् कर्तृत्वात्। यत्तु स ज्ञ इति सम्प्रधार्यमेतत्, यत् पुनरुच्यते 'स्वातन्त्र्यात् कर्ता ज्ञ एव' इत्यवधार्य तत्र त्वया सदेतत् सम्प्रधार्यं विचार्य- २४१ १ मस्ति, 'सर्वज्ञमेव' इत्ययुक्तमित्यभिप्राय । किं कारणमयुक्तम्? सर्वज्ञस्यैव भवनाभ्युपगमे दोषदर्शनात्, कर्तृत्वात् स्वातन्त्र्यमस्तु, को वारयति? स यदि ज्ञ स्वतन्त्रश्चेत्युभयगुणसम्पन्न इष्यते यदि ज्ञ सन् स्वतन्त्रोऽपि स्याद् नात्मनोऽनर्थमनिष्टमापादयेत् ज्ञत्वे सति स्वतन्त्रत्वात्। को दृष्टान्त? विद्वद्राजवत्, यथा हि देशपौरुषगतिज्ञो देशकालसहायसाधनसम्पन्न पराक्रमवान् राजा नात्मनोऽनर्थमनिष्टमरणपराजयादिमापादयत्येवमसावपि नात्मनोऽनर्थमनिष्टमापादयेत्, दृष्टस्त्वयमनर्थोऽनिष्टो जन्मजरामरणरोगशीतोष्णादि शारीरो मानसश्च शोकभयविषादेर्ष्यासूयादि, तस्मादयुक्तमस्य ज्ञत्वमिति।

एतच्च न, निद्रावदवस्थावृत्तेरित्यादि। नैतदुपपद्यते 'अनर्थानिष्टापादनानुपपत्तिर्ज्ञस्यात्मन' इति, कस्मात्? निद्रावदवस्थावृत्ते, निद्रावत्यवस्था निद्रावदवस्था, तया वृत्तिर्निद्रावदवस्थावृत्ति, तस्या वृत्ते पुरुषताया एवास्वातन्त्र्यात्, ज्ञस्यापि स्वकृतनिद्रावदवस्थावृत्तिवशादस्वातन्त्र्यात्। आहितवेगवितटपातवत्, यथा कश्चित् पुरुष स्वयमेव पूरितवेगस्तं वेगं निवर्तयितुमशक्तो वितटे पतति तथा स्वतन्त्रमपि ज्ञमपि तत् पर कारणमात्मनोऽनिष्टमनर्थमापादयेत्, को दोष? इति अत्र दोषकुतूहलं चेद् ब्रूम —ननु तज्ज्ञत्वेत्यादि, ननु वेव त्वया 'निद्रावदवस्थावृत्तिवशादाहितवेगवितटपातवदवस्थाऽस्वातन्त्र्यादनर्थानिष्टानयनम्' इति ब्रुवता तज्ज्ञत्वाद्ययुक्ततैवैषा समर्थ्यते, तेन 'अनया पूरितवेगया शीघ्रगमनक्रियया वितटपातो भविष्यति' इत्यज्ञातत्वात्, ज्ञातत्वे वितटपाते स्वतन्त्रस्य नोपपद्यत इति स एव दोष। तस्मात् तदवस्थमयुक्तत्वम्।

युक्तत्वाभिमतत्वेऽपि चेत्यादि। यद्यपि स्वातन्त्र्यज्ञत्वाविनाभाविभवनवलोपबृंहितमात्मसमयत्वमेवास्य २४१ २ भवनस्य मन्यसे तथापि तु अयमेव नियमः कर्त्रन्तरत्वापादनाय भवतीति वाक्यशेष। कथं कृत्वा तद् भाव्यत इति चेत्, उच्यते—भवति कर्तेति अंशाभिहिताक्षरार्थन्याय तदीयमेवोच्चारयति यावदचेतनोऽपि भवतीति स्वयैव धारणा तदास्तित्वमेव ब्रुवता समर्थितं भवनं किञ्चिदामामवस्थानाम्, पचादिव ब्राह्म्यनन्त्रास्वतन्त्रस्वविषयनियतकर्तृकरणाधिकरणकर्मादिनियतशक्तिदर्शनाद् देवदत्तकाष्ठस्थालीतन्दुलोदकाग्नीना

---

१ कार्यते क्रियामे(क्रियते?) वा भा० ॥ २ मस्त प्र० ॥ ३ यष्य य० । यष्या भा० ॥ ४ °द्राव स्थावृत्ति प्र० ॥ ५ विपतटे प्र ॥ ६ विटपात प्र० ॥ ७ दृश्यतां पृ० १७ पं० २ ॥ ८ अत्र तन्दुलोदनादीना इति पाठ स्यात् ॥

कारणेनावश्यं भवितव्यं तेषां तथाभावान्यथाभावाभावादिति नियतिरेवैका कर्त्री। न हि तस्यां कदाचित् कथञ्चित् तदर्थान्यरूप्यमेकत्वव्याघाति। अन्वाह च–

> प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
> भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः॥ [ ]

न च मूर्तामूर्तादितथातथाप्रविभक्ताप्रविभक्तसर्वार्थयाथातथ्यस्थापनैकरूपत्वान्निय-

---

तन्नियमकारिणा कारणेनावश्यं भवितव्यम्। किं कारणम्? **तेषां तथाभावान्यथाभावाभावात्**, देवदत्तोऽधिश्रयणोदकसेचनतण्डुलावपनैधोऽपकर्षणादिव्यापारस्वातन्त्र्य एव[1] नियतो न ज्वलनसम्भवनधारणविक्लित्त्यादिव्यापारस्वातन्त्र्ये, एवं शेषाणामपि काष्ठादीनां करणादिस्वव्यापारविषयस्वातन्त्र्यनियमस्तथाभावः। तेषामेव कारकाणां स्वव्यापारविपरीतशक्तिः परस्परतोऽन्यथाभावः। तयोस्तथाभावान्यथाभावयोरभावादभावप्रसङ्गादिति यावत्। दृष्टौ चेमौ तथाभावान्यथाभावौ। तस्मान्नियतत्वान्नियमकारि[2]-कारणापेक्षनियमा एव भावाः, तच्च कारणं नान्यदतो भवितुमर्हति नियतेरित्यत आह–**इति नियतिरेवैका कर्त्री**, 'इति'शब्दो हेत्वर्थे, अस्माद्धेतोर्नियमकारिकारणाविनाभावाद् भावनियमस्य 'नियतिरेवैका कर्त्री'
१४२.१ इत्यस्तु निर्दोषा कल्पना। कथम्? यस्माद् **न हि तस्यां कदाचित् कथञ्चित् तदर्थान्यरूप्यमेकत्वव्याघाति**। ज्ञानात्मकैककारणवादे पृथिव्याद्यचेतनमकारणानुरूपमित्यस्ति व्याघातोऽवस्थासु चतसृष्वपि कल्पितासु, कारणपूर्वत्वाभ्युपगमात् कार्याणाम्। न हि नियतेर्नियममात्रस्य कर्त्र्या भावानां सारूप्यवैरूप्यभेदेऽपि व्याघातोऽस्ति। **कदाचिदि**त्यवस्थान्तरेऽपि[3], **कथञ्चिदि**ति प्रकारान्तरेऽपि। तस्मात् कारणैकत्वेऽपि वैरूप्यदोषपरिहारसमर्थत्वान्नियतिकारणकल्पना श्रेयसीति। **अन्वाह चे**ति जिनवचनोपजीवनमे[4]तदपि ज्ञापकं पूर्ववत्। **प्राप्तव्यो नियतिबले**त्यादि, कृतेऽपि यत्ने कार्यविपत्तिदर्शनादकृतेऽपि निध्यादिदर्शनसम्पत्तिदर्शनात् कार्यस्य कारणानुरूपगुणस्त[5]द्वैरूप्यविरोधपरिहारसमर्थोऽस्ति।

किमयमेव गुणः? अन्योऽप्यस्ति? अस्तीत्युच्यते। कतमोऽसौ? अयत्नप्रतिपाद्यतागुणः, स च मूर्तामूर्ताद्ययुक्त[6]विरुद्धधर्मापत्तिपरिहारेणेति तद्दर्शयति–**न च मूर्तामूर्ते**त्यादि यावद् **यत्नप्रतिपाद्य[त्व]मस्तीति**। तत्रोपपत्तिः–उभयथा **तथातथाप्रविभक्ते**[7]त्यादि यावद् **नियतेः**। तेन तेन प्रकारेण तथा तथा मूर्तत्वेन अमूर्तत्वेन चेतनत्वेन अचेतनत्वेन सौक्ष्म्येण स्थौल्येन च ऐश्वर्येण दारिद्र्येण चेत्यादिना प्रविभक्तानामर्थानां 'सर्वं वस्तु ज्ञेयं सदर्थः' इत्यादिना चाप्रविभक्तानां सर्वेषामर्थानां यथातथाभावो याथा-

---

१ "कोऽसौ प्रतिकारकं क्रियाभेदः पचादीनाम्? अधिश्रयणोदकासेचनतण्डुलावपनैधोऽपकर्षणक्रिया प्रधानस्य कर्तुः पाकः। अधिश्रयणोदकासेचनतण्डुलावपनैधोऽपकर्षणादिक्रियाः कुर्वन्नेव देवदत्तः पचतीत्युच्यते। तत्र तदा पचिर्वर्तते। एष प्रधानस्य कर्तुः पाकः। एतत् प्रधानकर्तुः कर्तृत्वम्। द्रोणं पचत्याढकं पचतीति सम्भवनक्रिया धारणक्रिया चाधिकरणस्य पाकः। द्रोणं पचत्याढकं पचतीति सम्भवनक्रियां [=ग्रहणक्रियां] धारणक्रियां च कुर्वती स्थाली 'पचति' इत्युच्यते। तत्र तदा पचिर्वर्तते। एषोऽधिकरणस्य पाकः। एतदधिकरणस्य कर्तृत्वम्। एधाः पक्ष्यन्ति आ विक्लित्तेर्ज्वलिष्यन्तीति ज्वलनक्रिया करणस्य पाकः। एधाः पक्ष्यन्ति आ विक्लित्तेर्ज्वलिष्यन्तीति ज्वलनक्रियां कुर्वन्ति काष्ठानि 'पचन्ति' इत्युच्यन्ते। तत्र तदा पचिर्वर्तते। एतत् करणस्य कर्तृत्वम्।" इति पातञ्जलमहाभाष्ये १।४।२३॥ २ °न्नियतत्वा° भा० प्रतौ नास्ति॥ ३ °चिदिति व्यवस्था° य०॥ ४ °जीविनमे° प्र०॥ ५ अत्र °रूप्यगुण° इति पाठः स्यात्॥ ६ मूर्ताद्ययुक्त° प्र०॥ ७ तथाप्रवि° प्र०॥

तेर्यत्नप्रतिपाद्यत्वमस्ति । प्रयत्नसाध्येष्वर्थेषु कृतकेष्वपि च तद्विषयक्रियाफलस्य तथानियतेर्व्यापिता नियतिकारणत्वस्य ।

परमार्थतोऽभेदासौ कारणं जगतः, भेदवद्बुद्ध्युत्पत्तावपि परमार्थतोऽभेदात्, बालादिभेदपुरुषत्ववत् । कथम्? अभेदबुद्ध्याभासभावेऽप्यभेदाभ्यनुज्ञानाद् भेदबुद्ध्याभासभावेऽप्यभेदाभ्यनुज्ञानादेव व्यवच्छिन्नस्थाणुपुरुषत्ववत् ।

तथ्यम्, तेन याथातथ्येन तस्य तस्यार्थस्य सर्वस्य नियमेन तिष्ठत प्रयोजकस्य [1]हेतुकर्तृत्वेन स्थापनम्, तदेकरूपमेव सर्वत्र तस्या नियतेः, तस्माद्धेतोस्तथातथाप्रविभक्ताप्रविभक्तसर्वार्थयाथातथ्यस्थापनैकरूपत्वान्नियतेरन्यार्थी नियमनमात्रैकव्यापाराया नियतेर्हेतुत्वप्रतिपादनाय यत्न कश्चिदास्थेय । १४२ २

प्रयत्नसाध्येष्वर्थेषु कृतकेष्वपि च तद्विषयक्रियाफलस्य तथानियतेर्व्यापिता नियतिकारणत्वस्य । स्यान्मतम्—नियतिनिबद्धत्वात् सर्वभावानां क्रियाक्रियाफलयोरनियम इति, तन्न भवति, तद्विषयस्य घटादिविषयस्य मृत्पिण्डदण्डचक्रादिसाधनस्य प्रयत्नसाध्यस्य घटात्मनिर्वृत्तिरूपस्य क्रियाफलस्य तेन प्रकारेण नियतेर्नियतिरेवात्र कारणमिति ।

इदानीं तस्या नियतेः स्वरूपं चिन्त्यते—किं तावत् तेषामेव भावानां स्वं स्वं रूपं प्रतिभावं भिन्नं नियतिरुच्यते, उत अभेदा सा? इति । अत्र परमार्थतोऽभेदासौ कारणं जगतः, नास्या भेद इत्यभेदा । कस्मात्? भेदवद्बुद्ध्युत्पत्तावपि परमार्थतोऽभेदात् । अथवा कोऽसौ भेदो नाम नियतेरपि? [2]क्रियासाध्यासाध्याद्यरूपत्वाद् भावानां नियम इति चेतनाचेतनत्वादिबुद्ध्युत्पत्तावपि सत्या परमार्थतो नियतिरित्येकाभिन्नत्वादभेदा, भेदबुद्धिस्तु तद्भिन्नस्वभावभावापेक्षा । किमिव? बालादिभेदपुरुषत्ववत्, यथा बालकौमारयौवनमध्यमावस्थाभेदबुद्ध्युत्पत्तावपि पुरुषत्वमभिन्नमेव नियतिरपि [4]क्रियाक्रियानियतफलभेदबुद्ध्यादिभेदेऽप्यभिन्नेति ।

आह—कथं परमार्थतो नास्ति भेदो भेदबुद्ध्याभासभावेऽस्याः? दृश्यमाने हि भेदबुद्ध्याभासभावे किञ्चित् क्रियया साध्यं किञ्चिन्नेति किञ्चित् स्वत एव किञ्चित् परत इति । अथवा परमार्थतस्तु भेद एवास्तु सत्यप्यभेदबुद्ध्याभासभावे सतीति आचार्यो द्विधापि चोदिते परिहारमाह—कथमित्यादि । यदि भेदोऽभिमतस्तत्र कथं परमार्थतो भेदः? अभेदबुद्ध्याभासभावेऽप्यभेदाभ्यनुज्ञानात् तथैव, १०३ १ अभेदवदभिमते भेद एवेति । अथाभेद इष्टः कथमभेदः? भेदबुद्ध्याभासभावेऽप्यभेदाभ्यनुज्ञानादेव । यद्येकान्तबुद्धिस्त्वन्मतेन परमार्थविषयत्वे तदा तदाभासाद् द्विधापि चाभेदस्याभ्यनुज्ञानादेवा-

---

[1] तत्प्रयोजको हेतुश्च । १ । ४ । ५५ ॥ कर्तुः प्रयोजको हेतुसंज्ञः कर्तृसंज्ञश्च स्यात् । इति पाणिनीयव्याकरणसिद्धान्तकौमुद्याम् ॥ [2] प्रविभक्तस्वार्थ प्र ॥ [3] स्व स्वरूप पा० डे० लीं० । स्वस्वरूप मि० । स्वरूप य० ही० ॥ [4] क्रियासाध्यसाध्याय भा० पा० । क्रियाक्रियासाध्यसाध्याय भा० पा० विना ॥ [5] °त्वायसत्या प्र० ॥ [6] कि य० ही० विनान्यत्र क्रियाक्रियाक्रियानियत पा० डे० लीं० । क्रियानियत भा० ॥ [7] ध्याभास° प्र० ॥ [8] °मते परमार्थविषयत्वे तदा तदाभासा द्विधापि य० । °मतेन परमार्थविषये तदातदाभासा द्विधापि भा० ॥

सा च तदतदासन्नानासन्ना, तस्या एव तदतदासन्नानासन्ननानावस्थद्रव्यदेशादिप्रतिबद्धभेदात्, मेघगर्भवत्। नाभाविभावो न भाविनाशः। न च न कालादयं विचित्रो नियमः, वर्षारात्रादिष्वपि क्वचिदयथर्तुप्रवृत्तेः। न च स्वभावात्, बाल्यकौमारयौवनस्थविरावस्थाः सर्वस्वभावत्वाद् युगपत् स्युः, भेदक्रमनियतावस्थोत्पत्त्यादिदर्शनान्न स्वभावः कारणम्। तथा तु तत् तथानियति वस्तु।

भेदा सेति गृह्यताम्। किमिव? **व्यवच्छिन्नस्थाणुपुरुषत्ववत्**, परमार्थतः स्थाणुरेव वा पुरुष एव[1] वेति व्यवच्छिन्ने वस्तुनि यथोर्ध्वतासामान्यस्याभेदस्य दर्शनादभेद एवं सर्वनियतिषु क्रिया-क्रियाफलरूपास्विति।

सा पुनर्नियतिर्भेदाभेदरूपा[2], कस्मात्? इति सकारणं स्वरूपनिरूपणमस्या उच्यते — **सा च**ेत्यादि। सा च नियतिस्तदेव, सर्वनियतिषु तस्या एवाविशेषात्। **अतच्च**, [3]क्रियाऽक्रियानियत्यादिवैलक्षण्यात्। **आसन्ना**, प्रत्यक्षोपलभ्येष्वर्थेषु प्रत्यासत्त्या नियतत्वात्। **अनासन्ना**, कार्यानुमानागमगम्येषु दूरत्वात्। इह च स्वर्गादिषु च तथानियतेरासन्नानासन्ना च। किं कारणम्? **तस्या एव तदतदासन्नानासन्ननानावस्थद्रव्यदेशादिप्रतिबद्धभेदात्**[4], सा च [5]असा च आसन्नानासन्ना च नानावस्था येषां ते तदतदासन्नानासन्ननानावस्था द्रव्यदेशादयः, तैः प्रतिबद्धायास्तस्या[6] एव नियतेर्भेदाद्द्रव्यादित्वेन। **आदिग्रहणात्** कालभावाभ्यां च। सैव नियतिर्द्रव्यतो घटरूपेण सा भवति, पटरूपेणासा। घटान्तरस्यासन्ना आकारप्रत्यासत्त्या, पटाकारेणाप्रत्यासन्ना। क्षेत्रतो यस्मिंश्चक्रमूर्धनि क्रियते तस्मिन्नेव यत्र वा भूप्रदेशे तिष्ठति ग्रीवादिदेशे वा तत्रैव नान्यत्रेति, कालतो यावत्कालेन[7] निर्वर्तते यावन्तं वा कालं तिष्ठति सा कालनियतिः, भावतो यैर्वर्णा-
१४२-२ कृत्यादिभिर्यथा भवति तथैवेति[8] नियतिः, एवं द्रव्यदेशादिप्रतिबद्धभेदाद् वस्तुविरचना नियत्येकत्वेऽपि। किमिव? **मेघगर्भवत्**, यथा मेघा गर्भं गृह्णन्तो यादृग् यावच्च जलं गृह्णन्ति यथा च तादृक् तावत् तथैव च विसृजन्ति द्रव्यतः, क्षेत्रतो यत्र गृह्णन्ति देशे तत्रैव निसृजन्ति, कालतो मार्गशिरमासे गृहीतं वैशाखे निसृजन्तीत्यादि, भावतो यथा गृहीतं क्षारमधुरादि तथैव विसृजन्ति सत्त्वौषधिवनस्पतिशोषपोषकरादीति। तदुपसंहरति — **नाभाविभावो न भाविनाश** इति प्राक्तनेन वृत्तेन[9] गतार्थम्।

स्यान्मतम् — अयं नियमः कालात्, कालस्य क्रमाख्यत्वात्[10] पूर्वोत्तरादिकालक्रमनियतपरिणामत्वाच्च भावानामिति। एतच्च **न कालादयं विचित्रो नियमः**। कस्मात्? **वर्षारात्रादिष्वपि क्वचिदयथर्तुप्रवृत्तेः**[11]। दृश्यते ह्यङ्कुरकिशलयपत्रपुष्पफलगर्भप्रसवादिव्यभिचारो वनस्पत्यादीनां सत्त्वानां च स्वतः प्रयोगतश्च वर्षाशरद्धेमन्तशिशिरवसन्तनिदाघेषु स्वपरिणामकालेष्वप्रवृत्तिदर्शनादस्वकालेषु च क्वचित् प्रवृत्तिदर्शनात्।

यद्यपि मन्येत स्वभावादिति, तन्न **च स्वाभावा**दित्यादि यावद**भ्युपगमविरोधः**। वनस्पतिसत्त्वादे**र्बाल्यकौमारयौवनस्थविरावस्थाः** [12]सर्वोऽसावस्य स्वो भावः स्वभाव इत्यतो बालादिकाल एव

---

१ एवेति प्र० ॥ २ °तिर्भेदादभेदरूपा वि० विना ॥ ३ क्रियाक्रियानि° प्र० ॥ ४ °बंध° भा० वि०। °बध° भा० वि० विना ॥ ५ असा च प्रतिषु नास्ति ॥ ६ °द्धाया एव य० ॥ ७ यावकालेन भा० पा० र० डे० ॥ ८ तत्रैवेति प्र० ॥ ९ दृश्यतां पृ० १९४ पं० ३ ॥ १० °त्वाच्च पूर्वो° प्र० ॥ ११ °यथतुप्रवृत्तेः प्र० ॥ १२ दृश्यतां पृ० २०६ पं० १४ ॥

तदनभ्युपगमे सर्वाविवेकेऽवस्थास्वभावाद्यभावादभ्युपगमविरोधः ।

यथा लोक इत्येकत्व एव पर्वताद्याकारावग्रहो यथा ज्ञानमेकत्वेऽप्यनेकबोध्याकारं भवति अन्यथा ज्ञानात्मलाभाभावात् तथा नियमात्मकत्वात् सा व्रीहिरित्येकस्मिन् वस्तुन्येका अनेका चाङ्कुरादि भवति ।

उत्पातादिष्वनियमदर्शनादनियतिकारणत्वम्, दृष्टं हि प्रसवादिवैकृतमिति चेत्, न, अत्रापि तथानियतिवशेन प्रसवादिधर्मव्यतिक्रम उपलभ्यते ।

युवताद्यवस्था युगपत् स्युः, न च भवन्ति । तस्माद् बालकाल एव युवादियुगपदभावे भेदक्रमेण नियता यासामामवस्थानामुत्पत्तेः स्थितेश्च्युतेश्च दर्शनान्न स्वभावः कारणम् । किं तर्हि ? नियतिरेव कारणम- १४४ १ भ्युपगन्तव्यम्, तथा तु तेन हेतुना तेन प्रकारेण दृष्टोत्पत्त्याद्यवस्थाभेदक्रमनियमेन तत् तथानियति वस्तु । तदनभ्युपगमे सर्वाविवेके सर्वावस्थानामविवेकेऽभ्युपगम्यमाने स्वभावाद्यभ्युपगमे सति ता अवस्था न स्युः, ते चावस्थारूपाः स्वभावा न स्युर्दधदत्तादेर्बाल्याद्याः सुभावा वा, ततोऽवस्थास्वभावाद्यभावादभ्युपगत एव स्वभावो न स्यात् । ततोऽभ्युपगमविरोधस्ते जायते स्वभाववादिनः । आदिग्रहणात् तत्तदवस्थासहवर्तिनः पाण्याद्यवयवस्वभावस्य रूपादिग्राह्यगुणस्वभावस्य पटुजडताद्या तद्गुणस्वभावस्य वाऽभावादभ्युपगमविरोधः । अथवा आदिग्रहणात् कालस्यापि पूर्वोक्तन्यायेन युगपदभावेन वाऽभावादभ्युपगमविरोधः कालकारणिनोऽपि । तस्मादिदं प्राप्तमभ्युपगन्तुं तद्विनियमो नियतेर्यतो नातिवर्तत इति ।

तस्या एव नियतेरेकत्वानेकत्वविरोधपरिहारार्थं दृष्टान्तमाह—यथा लोक इत्येकत्व एव पर्वताद्याकारावग्रहः । एक एव लोकः सरित्समुद्रमहीमहीध्रग्रामारामादिभिराकारैरवगृह्यमाणो भिद्यते [तथा] १४४ २ भेदाभेदरूपेण नियतिः, एतद् बाह्यं निदर्शनम् । आन्तरं तु यथा ज्ञानमेकत्वेऽप्यनेकबोध्याकारं भवति । किं कारणम् ? अन्यथा घटपटाद्याकारमन्तरेण ज्ञानात्मलाभाभावात् । एतस्योदाहृतस्यार्थस्य भेदाभेदस्वरूपभावनेयमुच्यते—तथा 'नियमात्मकत्वादित्यादि यावदङ्कुरादि भवतीति । सा नियतिर्व्रीहिरित्येकस्मिन् वस्तुन्येका मूलादिभेदे वाङ्कुर इत्येवाभिन्ना । अङ्कुरकिसलयपत्रकाण्डादिद्विनाद्यवस्थाभेदाद् भिन्ना रूपरसादिभेदाद्वा भिन्ना । अनेकस्मिंश्च पृथिव्यम्बुवाय्वादिस्वरूपेऽर्थे पृथिव्यादीनामेव तद्भावापत्तेर्व्रीहिरित्येकत्वादभेदा । एकापि सती भिन्ना, अनेकापि सती न भिन्ना तथातथानियतार्थवशात् ।

द्रव्यदेशकालभावानामुत्पातादिष्वनियमदर्शनादनियतिकारणत्वम्, दृष्टं हि प्रसवादिवैकृतम्, 'आदि'ग्रहणात् प्रसवनिलयाहारक्रियाप्रकृतिवैकृतानि, नरतिरश्चां विपर्ययेण सङ्ख्याकृतिवर्णावयवा-

---

[1] स्युः न चाथ वि० विना । स्युः न वार वि० ॥ २ स्यादौ य । स्यादो भा० ॥ ३ चाभावा भा० वि० ॥ ४ चाभावा भा० डे० लीं ॥ ५ न्यतोऽवतिष्ठत भा० । न्यतावत्तिष्ठन वि० १० हीं० । न्यवतवतिष्ठत पा० ड लीं० ॥ ६ एकत्वस्याविरोधेन शब्दतत्त्वे श्रुतानि सनुचिता विरोधिन्य आत्मभूता शक्तयः । तद्यथा—भिन्नाथप्रत्यवभासमानायानेकत्वानुपपत्तेः पानयाकारकम यवभासमाना पृथिवीलोका इति । न हि ह्येयगतो गृह्याद्याकारावग्रहो ज्ञानमेकत्वेन विरुध्यते नाम्याकारान् तदाकारस्यात्मभेदोऽस्ति तेषामज्ञाननत्वानतिक्रमात् । इति भर्तृहरिविरचितायां वाक्यपदीयवृत्तौ १।२ ॥ ७ अत्र भिद्यते भेदाभेदरूपेण नियतेरेतद् बाह्य निदर्शनम् । इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ८ नियतामवः भा० ॥ ९ रूपर्य भा० । रूपमर्यं य० ॥ १० सती भिन्ना य० ॥ ११ नियतवशात् भा० ॥

वस्तुस्वभावव्यतिक्रमश्च नियतिवशादेव । किञ्चित् सदसाध्यम्, किञ्चिदसदसाध्यम्, किञ्चिदसत् साध्यम्, किञ्चिच्च सत् साध्यम् । सदपि चाकाशं भूगन्धवदनभिभवं सन्तमसस्थघटवत् प्रदीपादिनेव अव्यङ्गम् । इदं तु तद्व्यवस्थाविपरीतनियति वन्ध्यापुत्राद्यसाध्यमेव, क्रिया हि साधनेषु वर्तमाना सन्तमर्थं साध्यमाविशति प्रत्यर्थनियतत्वात् साधनानुषङ्गस्य, साध्यस्याभावाद्वन्ध्यासुतादेः स्त्रीपुंससम्प्रयोगक्रिया किमाविशतु? इदं पुनरसत् साध्यं घटादि प्राक् तथाऽवृत्तम् । इदमस-

द्विजन्मानि [1]अभक्ष्यभक्षित्वं ग्राम्यारण्यकजलस्थलजन्मनां तच्चारिणां च वसत्यादिविपर्ययः । रोपक्षमादिशील-विपर्ययः । पलितस्यैवोत्पत्तिरित्यान्यवस्थाविपर्ययः । [2]*वर्णगन्धादिस्वभावविपर्ययः* । इत्येवमादिवैकृतदर्शनान्न नियतिरेव कारणमिति चेत्, नेत्युच्यते, अत्रापि तथानियतिवशेनेत्यादि यावद्व्यतिक्रम उपलभ्यत इति सापि तादृशी नियतिरेव कारणमिति ।

किञ्चान्यत्, न केवलं प्रसवादिधर्मव्यतिक्रम एव, किं तर्हि? वस्तुस्वभावव्यतिक्रमश्च नियतिवशादेव । किञ्चित् सदसाध्यमित्यादि चतुर्भङ्गी स्फुटार्थत्वान्न विव्रियते, सा चोद्दिष्टा निर्देक्ष्यमाणा च[3] । १४५-१ तथा च पुरुषो नियतेरेव तथा वृत्तत्वात् तत्साध्यासाध्यत्वे प्रतिपद्यते । तत्र सदसाध्यत्वे निदर्शनम्—सदपि चाकाशं भूगन्धवदनभिभवम्, नास्याभिभवोऽस्तीत्यनभिभवं सलिलसेकेनेव[4] न साध्यमित्यर्थः । सन्तमसस्थघटवत् प्रदीपादिनेवाव्यङ्गम्, किं तत्? आकाशादि, सत्त्वात् साध्यं भूगन्धवदिति[5] प्राप्तेऽप्यसाध्यमेव । इदं तु स्त्रीपुंसयोगात् साध्यमवन्ध्यापुत्रवदिति प्राप्ते तद्व्यवस्थाविपरीतनियति वन्ध्यापुत्राद्यसाध्यमेव नियतिवशादेवासत्त्वात् । तत्र नियत्या सत् नियत्यैवासत्[5] साध्यतामर्हति । किं कारणम्? साधनाविष्टक्रियासाध्यत्वात् साध्यानां साधनाविष्टायाः क्रियायास्तत्रावेशाभावः[6], तत्साधनानां साधनशक्तिशून्यत्वात् । तस्माद् वन्ध्यापुत्रादीनामसाध्यत्वं स्त्रीपुंसयोः क्रिययाप्यसाध्यत्वेन नियतत्वात्, साध्यार्थाभावे च साधनानां साधनत्वाभाव इति तद्दर्शयति—क्रिया हीत्यादि, हिशब्दो यस्मादर्थे, यस्मात् क्रिया[7] साधनेषु काष्ठादिषु वर्तमाना सन्तमर्थं साध्यं विक्लृप्ततन्दुलविपरिणामात्मकमोदनादिकमर्थमाविशति[8] प्रत्यर्थनियतत्वाज्ज्वलनाद्युपनिधानार्थेषु[9] प्रत्येकं नियतत्वात् काष्ठादिसाधनानुषङ्गस्य, साध्यस्याभावाद्वन्ध्यासुतादेः[10] सा स्त्रीपुंससम्प्रयोगक्रिया किमाविशतु? तस्मात् तद्व्यवस्थाविपरीतनियति[11] असाध्यं वन्ध्यापुत्रादि ।

इदं पुनरित्यादि, असत् साध्यं घटादि । इतर आह—यद्यसत् कथं साध्यं खपुष्पवदुक्तासद-

१ अत्र 'अभक्ष्यभक्ष्यत्वम्' इति पाठः समीचीनो भाति "अभक्ष्यो ग्रामशूकरः, पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः" इत्यादिप्रसिद्धेः, अथवा 'नरा अभक्ष्या, तिर्यञ्चो भक्ष्याः' इत्यर्थो ज्ञेयः ॥ २ * * एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठो य० प्रतिषु नास्ति ॥ ३ च भा० प्रतौ नास्ति ॥ ३ 'सेनेव प्र० ॥ ४ °न्धवदिति प्र० ॥ नास्य व्यङ्गो व्यक्तिरस्तीत्यव्यङ्गम् । ५ (नियत्याऽसत्) ? ॥ ६ °याया(स्तत्रा° य० ॥ ७ °क्रियाया° प्र० ॥ ८ °दिमर्थे° भा० ॥ ९ अत्र °निधानाद्यर्थेषु इत्यपि पाठः स्यात् ॥ १० °स्यासाध्यस्याभावा° भा० । °स्यासाध्यत्वाभावा° पा० वि० र० ही० । °स्य साध्यत्वाभावा° डे० ली० ॥ ११ तद्विपरीत° य० ॥

न्यत् सततोपलब्धिनियतं यष्टिसाधनवदृजुत्वेन मृद्द्रव्यमूर्ध्वादित्वक्रमापाद्यघटत्वेन भेदेनैव वा सत् साध्यं पुरुषादि स्थाण्वादिपरिग्रहापनयनेन ।

एतच्च साध्यमानमनयैव क्रियया साध्यते, एतस्याश्च एतान्येव कारकाणि, एवं नियतिस्थिते कारकान्तरसमवस्थितितुल्यतायामपि पुरुषस्तथा प्रतिपद्य प्रत्यर्थं

साध्यविकल्पानतिवृत्तेश्चेति । अत्रोच्यते—नैष दोषः, 'सतोऽन्यदसत्' इत्यतोऽन्यत्रविधानप्रतिषेधपक्षाश्रयणाद् द्रव्यार्थविकल्पत्वान्नियतेरसत्त्वाभावादित्यत आह—प्राक् तथा अवृत्तं तेन घटत्वप्रकारेणावृत्तम्, सच्छब्दस्य वृत्त्यर्थत्वात्, अस्तिभवतिविद्यतिपद्यतिवर्ततय सन्निपातषष्ठाः सत्तार्थाः [ ] इति वच- १४५ २ नादसदित्युक्तमित्यर्थः, मृत्पिण्डाद्यवस्थानकाले तत्कालेऽव्यक्त्या नियतं साध्यम् । आदिग्रहणात् पटकटादीति, एतत् कालभेदेन उपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यां नियतम् ।

इदमन्यत् सततोपलब्धिनियतमित्यादि, तद्वदिति च सदाभिव्यक्तिनियति सत् साध्यमित्यभिसम्बन्धः । किंवत्? यष्टिसाधनवदृजुत्वेन, यष्टिर्हि विद्यमानैरेवावयवैः सदा व्यक्ता संस्थानविशेषेण साध्यते सती साध्यते ऋजूक्रियते । एवमन्यत् सततोपलभ्यमेव सत् साध्यं मृद्द्रव्यमूर्ध्वादित्वक्रमापाद्यघटत्वेन, पूर्वस्मिन्नुदाहरणे सतामाकृत्यन्तरभेदेन इह त्ववस्थितभिन्नाकारभेदेनेति विशेषः, तद्दर्शयन्नाह—मृदूर्ध्वादित्वेन भेदेनैव वा सत् साध्यमिति । अथवा भेदेनैव वा सत् साध्यम्, इदं चान्यदिति वर्तते । यद् बुद्ध्यैव साध्यते न क्रियया परिस्पन्दात्मिकया विद्यमानं पुरुषादि स्था[ण्वादि]-परिग्रहापनयनेन तद्विषयसंशयविपर्ययपरिग्रहापनयनेन, नात्र किञ्चिन्निर्वर्तते पुरुषादि, किन्तु विद्यमानमेवानुपलब्धमुपलब्ध्या साध्यते, एषा तु नियतिर्ज्ञानरूपैवेति पूर्वविलक्षणा ।

एतासां क्रियाणां तत्साध्यानां च नियतिदर्शनप्रतिपादनार्थमाह—एतच्च साध्यमानमित्यादि । ओदनविषयेयं पचिक्रिया घटादिविषयक्रियाविलक्षणा, एतच्चौदनादि साध्यमानमप्यन्यविषयगमनादिक्रियाविलक्षणयाऽनयैव पचिक्रियया साध्यते नान्ययेति क्रियानियत्या साध्यते । एतस्याश्च पचिक्रियाया एतान्येव काष्ठादीनि कारकाणि न मृत्पिण्डदण्डादीनीति साध्यसाधनार्थनियतिः । एवमित्यादि । एवं च १४६ १ कृत्वा यथा अवगतप्रतिविशिष्टसाध्यसाधननियमाभिव्यक्त्याकारा नियते स्थितिर्व्यवस्था तया तस्याः स्थितेर्हेतोः कारणगुणपूर्वकतामनुमानप्रसिद्धां कार्यस्य प्रतिपद्य बुद्ध्या कारकान्तरसमवस्थितितुल्यतायामपि दण्डादिकारकान्तराणां साध्यनिर्वर्तनसमवस्थितेस्तुल्यतायामपि सत्यां पचिक्रियासमवस्थित्या सह नियतिप्रसिद्धेरेव बलात् पुरुषस्तथा प्रतिपद्य प्रत्यर्थं कारकाणि प्रयुङ्क्ते, यथास्वसाध्यार्थमित्यर्थः । तानि च कारकाणि नियतानि तस्या एव नियतायाः क्रियायाः । यथाप्रयोगनियमम्, यो यः प्रयोगनियम इति

---

१ दृश्यतां पृ. ३४ पं. १०॥ २ °ले अव्यक्त्या भा ॥ ३ नियमित्यादि य ॥ ४ क्वित् य० ॥ ५ आह मृद्द्रव्यादित्वेन भेदेनैव भा । आह मूर्ध्वादित्व घटत्वेन भेदेनैव पा डे० ला० ४० ही० । आह मूर्ध्वादित्व घटत्वेन भेदेनैव वि० । अत्र मृदूर्ध्वादित्वघटत्वेन भेदेनैव इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ६ किञ्चिन्निर्वर्तते य० ॥ ७ एषा सु नियति° भा० । एषामनियति य० ॥ ८ साध्यार्थे तानि भा० । साध्यार्थीयमित्यर्थ तानि य । अत्र यथास्वसाध्यार्थोपायमित्यर्थः इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ९ पौर्वे प्रयोग य ॥

कारकाणि प्रयुङ्क्ते नियतानि यथाप्रयोगनियममेकविमर्दप्रवृत्तानि परस्परनियतानुग्रहोद्भावनवृत्तानि । न तु तदुपायसिद्धेरन्यथा तत्सिद्धिरस्ति । सिद्धिर्हि नियमेनानुद्भूतानां सम्मूर्छितानां स्वनियतैरेवाभिव्यक्तिः । तच्च स च तानि च नियतैरेव प्रवर्तन्ते न वा । तथा च दृश्यन्ते क्रियाणां विपत्तयोऽप्रवृत्तयश्च । अतस्तत् कृतमपि पूर्वनियतिस्थत्वादकृतं विनष्टमप्यविनष्टं तथानियतिस्थत्वात्, एवं तु विनश्येद् यदि

---

[1]स्वं स्वं विषये देशकालविशिष्टे प्रयुक्तानीत्यर्थः । **एकविमर्दप्रवृत्तानि** [2]एकप्रयोजनेनान्योन्यापेक्षेण व्यापारेण प्रवृत्तानि परस्परापेक्षं नियतं परस्परानुग्रहमुद्भावयन्ति प्रवर्तन्ते, अत उच्यते — **परस्परनियतानुग्रहोद्भा**[3]**वनवृत्तानी**ति स्वविषयक्रियाप्रसाध्यमर्थमभिनिर्वर्तयन्ति । तेषां वृत्तिर्विषयस्तानि तत्फलं च सर्वं नियतमेव, ततो नियतिरेव सर्वस्य कारणम् । **न तु तदुपायसिद्धेरन्यथा तत्सिद्धिरस्ति,** काष्ठज्वलनादिसाधनप[4]चिक्रियानिर्वर्त्यस्यौदनस्य न दण्डचक्रभ्रमणादिसाधनात् तत्सिद्धिर्न वा घटाद्यर्थस्य काष्ठज्वलनादिसाध्यतास्तीति ।

का सिद्धिस्तर्हीति चेत्, उच्यते — **सिद्धिर्ही**त्यादि । **नियमेनो**क्तलक्षणेन [5]**अनुद्भूताना**मनभिव्यक्तव्यापाराणां बीजावस्थायामङ्कुरादित्वेन रूपादीनां **सम्मूर्च्छितानां** साङ्कल्येन समुदेत्य स्थितानां **स्वनियतैरे-**
१४६-२ **वाभिव्यक्ति**र्वर्णाकृत्यादिनियत्या जनिर्या पूर्वमनभिव्यक्तानामभिव्यक्तिः सा सिद्धिरित्युच्यते । [6]तत्रायं मिथ्याभिमानः 'इदं मया कृतम्' इति पुरुषस्य । आह — किं कारणं मिथ्याभिमानो ननु मया कृतो घट इति ? तत्क्रियाविनाभावासिद्धजन्मत्वाद् घटस्य युक्तोऽभिमान इति । अत्रोच्यते — **तच्च स चे**त्यादि, तत्प्रवृत्त्यप्रवृत्त्योः सिद्ध्यसिद्ध्योश्च व्यभिचारदर्शनात् **तच्च** कार्यं घटादि **स च** कर्ता कुलालः **तानि च** कारकाणि दण्डादीनि **नियतैरेव प्रवर्तन्ते न वा,** तस्य चिकीर्षा कदाचिद् भवति कदाचिन्न, चिकीर्षुरप्यालस्यादिभिः प्रवर्तते न वा, प्रवृत्तोऽप्यकृत्वैव घटं विनिवर्ततेऽन्यद्वा करोति विघ्नो वास्य भवति । तथान्यकारकाण्यपि वाच्यानि, तच्च कार्यं कदाचित् सिध्यति कदाचिन्न, अन्यार्थप्रवृत्तावन्यत् सिध्येन्न वा सिध्येत् । **तथा च दृश्यन्ते क्रियाणां विपत्तयोऽप्रवृत्तयश्चे**ति लोकप्रसिद्धं व्यभिचारं दर्शयति ।

अतस्तत् कृतमपि लोकप्रतीत्या **पूर्वनियतिस्थत्वादकृतं** पूर्वमेव नियत्या तथा स्थितत्वात् । **विनष्टमप्यविनष्टं तथा नियत्यो**त्तरकालं कपालादित्वेना**वस्थितत्वात्** कपालादित्वेनैव घटस्य विनाशात् [7]तन्त्वादित्वेनाविनाशात् । **एवं तु विनश्ये**दित्यादि, **यदि प्रविशीर्णो** विशीर्य विशीर्यमाणो विशीर्णो वा **तां नियतिं** कपालादिक्रमापत्तिरूपघटविनाशं **नापद्यते** खरविषाणवदत्यन्ताभावीभवेन्न वा विनश्येद् घटत्वेनैव तिष्ठेत् । ततो विनश्येत्, न त्वेवमस्ति । तस्मान्न विनाशः । लक्षणतो ह्यन्यथाता विनाशः, स च नियतेरलङ्घ्यत्वात् कपालाद्यवस्थानरूपायाः । एवमुत्पत्तिरपि ।

---

१ स्वेस्वविषये य० । स्वविषये भा० ॥ २ एकप्रप्यहेनान्योन्यापेक्षेण भा० । एकप्रप्याहनान्योन्यापेक्षेण य० ॥ ३ °द्भावमवृत्तानीति य० । °द्भावनवृत्तीनीति भा० ॥ ४ °पचिनिर्व° भा० ॥ ५ अनुद्भ° (द्भू?) ताना° प्र० ॥ ६ तत्र यस्मिन् मिथ्या° य० ॥ ७ नंत्वादित्तेविनाशात् भा० । य० प्रतिषु तु अयं पाठो नास्त्येव ॥

प्रविशीर्णास्ता नियतिं नापद्यन्ते। तथा चाम्रबीजाङ्कुरादीनां व्यवस्थावकाशक्रमेण व्यवस्थितपूर्वरूपा एव प्रवृत्तयस्तेषां तेषां मायाकारपताकिकावत्, यावदन्ते नियतिप्रवृत्तफलावस्थामनुभूय पुनर्बीजमेव, तस्मादपि बीजात् पुनरपि तथैव। अन्यथा च तथा तथा प्रादुर्भाववृत्तयो यवतिलमसादीनाम्। ताश्च पुरुषकारेणाप्यलङ्घ्या। पाककालस्यापि नियतिदर्शनात् षष्टिका' षष्टिरात्रेण पच्यन्ते।

एवं च व्यवस्थित एवार्थेऽव्यक्तस्यैवार्थस्य व्यक्तेः सर्वं नियतमेव। तस्य स्वव्यक्ते' सर्वकालं व्यवस्थितादर्थादन्यो मया कृत इति मिथ्याभिमान एष'। न तु नियतौ किञ्चिन्नास्ति।

तथा चाम्रबीजेत्यादि, दृश्यन्त इति वर्तते। स्वया नियत्या लीनानां मूलाङ्कुरपत्रनालकाण्डशाखा- १४७-१
प्रशाखास्कन्धपुष्पादीनां व्यवस्थावकाशक्रमेण व्यवस्थितपूर्वरूपैव प्रवृत्तिः, रक्तश्यामादिवर्णानामाम्रफलस्य तुवराम्लमाधुर्यादीनां च रसानां तेषां तेषामिति अवस्थायामवस्थायां ये ये भवन्त्यन्येऽन्ये तेषां तेषां विद्यमानानामेव नियतानाम्। किमिव? मायाकारपताकिकावत्, यथा मायाकारः पताकिका गुलिकादिरूपीकृत्य पूर्वमसतीः क्रमेण स्वकाम्नान्निष्काशयति नानावर्णनानाकारास्तथेहाप्याम्रबीजे, यावदन्ते नियतिप्रवृत्तफलावस्थामनुभूय पुनर्बीजमेव, तस्मादपि बीजात् पुनरपि तथैवेत्यङ्कुरादिप्रवृत्तिं प्रागभिहितां दर्शयति। सेयं व्यवस्थिता नियतिसन्ततिरनाद्यनन्ता।

स्यान्मतम्—ननु दग्धे बीजेऽङ्कुराद्यनन्ताप्रादुर्भावान्नियतिकृतप्रादुर्भावतिरोभावव्यभिचार इति। अत्रोच्यते—दाहनियत्युदयेऽपि सा प्रतिनियतैव, अन्यथा च तथा दृश्यन्त इति वर्तते, कास्ता? तथा तथा प्रादुर्भाववृत्तयः, केषाम्? यवतिलमसादीनाम्, अन्यादृग् यवमसः अन्यादृक् तिलमसस्तत्रापि प्रादुर्भावतिरोभाववृत्तयो नियता एव। ताश्च पुरुषकारेणाप्यलङ्घ्या, तत्त्वान्तरेण सिद्धाः पुरुषकारवान्तरेण सिद्धाः। किं कारणम्? पाककालस्यापि नियतिदर्शनात् षष्टिका' षष्टिरात्रेण पच्यन्त इत्युदाहरणानि गतार्थानि देशकालस्वरूपकरणादिनियत्यैव पाकादिदर्शनात्।

एवं चेत्युपनयति, अनेनोक्तविधिना व्यवस्थित एवार्थेऽव्यक्तस्यैवार्थस्य तत्र व्यक्तेः सर्वं नियतमेव तत् तत्। तस्य स्वव्यक्तेव्यतिरेकमते पुरुषस्य सर्वकालं व्यवस्थितान्नियतादर्थादन्यो मृद्द्रव्याद् घटो मया कृत इति मिथ्याभिमान एष षष्टिकाख्यो वा केदारादिसंस्कारविधिना पाचिता इति, यस्मान्न तु नियतौ किञ्चिन्नास्ति, सर्वं विद्यमानमेव तिरोभूतं क्रियया विना या क्रिययाभि- १४७-२
व्यज्यते कालादिनियत्यनुगृहीतम्।

---

१ अवलोक्यतां पृ० २०० पं० ४॥ २ शाखक्रमेण य०॥ ३ प्रवृत्ते(त्ते?) भा॥ ४ अन्यथान्यथा च दृश्यन्त भा०॥ ५ अवलोक्यतां पृ० २०० पं० ४॥ ६ ष्युलङ्घ्या य०॥ ७ णासिद्धा पा० डे० लीं०। भा० प्रतौ तु तत्त्वान्तरेण सिद्धा इति पाठो नास्त्येव॥ ८ केव्यतिरेकमति भा० लि० डे० ही०। केव्यतिरिक्तमति पा० डे० लीं०॥ ९ काले पा०॥ १० क्रियया विना या य०प्रतिषु नास्ति॥

कथमस्ति यदा भूम्यम्ब्वादेर्विना न भवति केवलाया एव बीजनियतेराम्रफलपाकादि? कालातपवातादिभ्यः पाकः, भूमिखननादिभ्यः फलादीनामप्राप्तेऽपि काले पाकदर्शनात्, काले चापि न भवति पाको द्रव्यान्तरसंयोगस्तम्भनादिभ्यः। अन्यच्च, तथा तथा ज्ञातुरिच्छानुविधानेन वस्तुनियतिमतीत्य पुष्पादीनां वर्णसंस्थानादिवैपरीत्यम्। योनिप्राभृतादिभ्यश्चान्यथैव सर्वयोन्युत्पत्तय इति नियमाभावः। नियमाभावात् कृतकत्वानित्यत्वाभ्यां नियत्यभाव इति।

न, तथानियतित्वात्। बीजादिनियतिरेव हि उदकादिषु वर्तते, तन्नियमानु-

---

अत्राह—कथमस्तीत्यादि यावन्नियत्यभाव इति। यदुक्तं त्वया 'नियतौ सर्वमस्ति' इति तत् कथमस्ति यदा भूम्यम्ब्वादेर्विना न भवति केवलाया एव बीजनियतेराम्रफलपाकादि? स्पर्शगन्धवर्णसन्न्यासस्थानानि आदिग्रहणात्। भूमिरम्बु वायुरातपः काल इत्येतानि भूम्यम्ब्वादीनि[1], तद् व्याचष्टे—कालातपवातादिभ्यः पाकः, तस्माद् भूम्यम्बुकालवातातपाद्यपेक्षत्वान्न बीजनियत्याऽस्त्यङ्कुरादि तत्फलपाकादि चेति[2]। तथा अकालेऽपि कालनियतेर्व्यभिचारो दृश्यते भूमिखननादिभ्यः फलादीनामप्राप्तेऽपि काले पाकदर्शनात्, आदिग्रहणात् कोद्रवपलालवेष्टनव्रणकरणादिभिः। काले चापीति प्राप्तेऽपि पाककाले न भवति पाको द्रव्यान्तरसंयोगेन स्तम्भितानाम्, यथा शाखायां बद्धायां[3] वृक्षायुर्वेदविधानेन द्रव्यान्तरसंयोगेनैव त्रायणाद्वा सहकारतैलग्रहणार्थं कोमलस्य आम्रगन्धावस्थस्य द्रवीभावात् तैलत्वेन, आदिग्रहणात् पक्षिखर्जूरीटाविमत्कभक्षणात्। अन्यच्चेत्यादि, न केवलमात्मस्वरूपापरित्यागेनैव पाकाभावः, किं तर्हि? अन्यच्च तथा तथा, यथा यथा पुरुषो ज्ञाता स्वयमिच्छति तथा तथा तस्य ज्ञातुरिच्छानुविधानेन वस्तुनियतिमतीत्य पुष्पादीनां वर्णसंस्थानादिवैपरीत्यम्, यथोत्पलस्य[4] पार्श्वे रक्तता पार्श्वे नीलता, मातुलिङ्गफलस्य रक्तादिवर्णता तद्वासितबीजस्य, तथा कूष्माण्डफलस्य घटवर्धितस्य घटाकारता। योनिप्राभृतादिभ्यश्चान्यथैव सर्वयोन्युत्पत्तयः, द्विविधा योनि- १८८-१ र्योनिप्राभृतेऽभिहिता—सचित्ता अचित्ता च। तत्र सचित्तयोनिद्रव्याणि संयोज्य भूमौ निखाते दन्तरहितमनुष्यसर्पादिजात्युत्पत्तिः। अचित्तयोनिद्रव्ययोगे च यथाविधि सुवर्णरजतमुक्ताप्रवालाद्युत्पत्तिरिति। इति नियमाभावः, इत्थं काले चापाकादकाले च पाकादर्थान्तरापेक्षत्वात् पुरुषेच्छायत्नानुविधानाच्च नियमाभावः[5], नियमाभावात् कृतकत्वं पाकादेः, कृतकत्वाच्चानित्यत्वम्, अभूत्वा भावो भूत्वा चाभाव इत्यर्थः। ताभ्यां च नियत्यभावः। इति परिसमाप्त्यर्थः। एष पूर्वपक्षः।

अत्रोच्यते—न तथानियतित्वात्[6] यथोक्तं त्वया सापेक्ष[7]नियतित्वात् कालाप्रवृत्तिनियतित्वादकालप्रवृत्तिनियतित्वाच्च नियत्यभावः[8], तद्दर्शयति—बीजादिनियतिरेव हीत्यादि, हिशब्दो यस्मादर्थे, यस्मात्

---

१ भूम्यंत्वादीनि भा० ॥ २ चेत् प्र० ॥ ३ शाखायां चाद्धायां भा०। शाखायां चाद्वयां पा० डे० लीं० वि०। शाखायां बाभ्रयां र० ही० ॥ ४ यथोलस्य प्र० ॥ ५ नियमाभावः भा० प्रतौ नास्ति ॥ ६ °नियतत्वात् भा० ॥ ७ सापेक्षं प्र० ॥ ८ नियत्याः भावः भा०। नियत्या भावः य० ॥

रोधेन हि तेषा सर्वेषा नियता प्रवृत्ति.। तथा ह्याह—सभावक निर्भावक वोदक पतितमिति। यदा हि बीजनियतिरभि तदा तस्या देश उदकस्य एव अङ्कुरोद्भावने प्रवर्तमान सभावक इत्युच्यते, तद्भागापेक्षयोदकमपि सभावकमित्युच्यते, अन्यदा तु विपर्ययः। एव भूमिवायुकालप्रभृतिष्वपि सभावकाभावकत्वे।

पुरुषो व्यग्रोऽव्यग्र इत्यादि नियतेरेव। करणादीना क्षमत्वाक्षमत्वसान्निध्या-

---

सैव हि बीजादिनियतिरेवैव उदकादिषु वर्तते, काले वायावातपे पुरुषे तदिच्छाप्रयत्नयोश्च वर्तते, आदिग्रहणादुदकादिनियतिश्च बीजादिषु वर्ततेऽन्योन्यव्यतिहारेण, तन्नियमानुरोधेन हि परस्परनियमानुरोधेन, हिशब्दो यस्मादर्थे, यस्मादेवरूपा तेषा सर्वेषा नियतिस्तस्मात् तेषा सर्वेषामितरेतरनियत्या 'नियता प्रवृत्तिरन्योन्याविनाभावात् तथैव प्रवर्तन्त इत्यर्थ ।

तथा ह्याहेति लोकसिद्ध ज्ञापक दर्शयति। सह भावेन वर्तत इति सभावकम्, निर्गतो भावोऽस्मादिति निर्भावकम्, किं तत्? उदक पतितमिति। तद्भावना—यदा हि बीजनियतिरभि अङ्कुराभिव्यक्तेर्यदाभिमुखीभूता बीजनियतिर्भवति तदा तस्या नियतेर्देशोंऽशो भागोऽवयव स उदकस्थ एव सन्नङ्कुरोद्भावने प्रवर्तमान सभावक इत्युच्यते, तद्भागापेक्षया उदकमपि सभावकमित्युच्यते १४८ भेदविवक्षाया बहुव्रीहिसमासाश्रयणात् मतुब्लोपाद्वा अभेदोपचारात् भाव एवोदकमिति। स च भावोऽङ्कुरादिर्वनस्पत्योषध्यादि, मतुप्प्रत्ययनिर्देशोऽपि भेदेनोपपद्यते, तद्यथा—अस्ति अस्मिन्नस्य वा भावोऽङ्कुरस्तस्मिन्नुदके तस्मात् तत् सभावकमिति। अन्यदा तु विपर्यय, क्षाराम्लाद्युदकेऽङ्कुरादयो न सन्तीति नियतत्वाद् विपर्यय, तस्मान्निर्भावकमुच्यते तज्जलमिति।

एव भूमिवायुकालप्रभृतिष्वपि सभावकाभावकत्वे। ऊषरभूमावभाव सस्यादे, पादसौकुमार्यादभाव, सुकृष्टे केदारादौ वा सर्वबीजानामङ्कुरादिभाव। पूर्ववायावभावोऽङ्कुरादे, भावस्तु महिषीवर्धाम्रमूत्रादे, अन्यस्य पुष्पादेरन्यस्य फलादेर्मनुष्याणा च पूर्ववायावभाव, तद्यथोक्तम्—

दिवास्वप्नमवश्याय प्राग्वात चैव वर्जयेत्। [ ]

सस्यानामुत्तरे वायौ न भाव, प्रावृष्युमाना भाव, वैशाखादिष्वभाव। प्रभृतिग्रहणेन आतपेऽतिमृदावति तीक्ष्णे चाभाव, समे भाव, आतपाभावेऽप्यभाव एवेति। एव तावदबुद्धिप्रवृत्तेषु कालाङ्कुरादिष्वचेतनेषु नियतिरुक्ता।

बुद्धिमत्स्वपि नियतिरेव। यदुक्त प्राक् त्वया 'पुरुषस्य ज्ञातुरिच्छानुविधानेन वस्तुनियतिर्वैपरीत्यम्' इति तन्नोपपद्यते, तत्रापि नियतेरेव कारणत्वात्। कुत? पुरुषो व्यग्रोऽव्यग्र इति नियतेरेव यतो भवति, साप्यापत्तिकी तादृशी नियतिरेव। आदिग्रहणात् कुशलोऽकुशल पुरुष इत्याद्यपि नियतेरेवेति। एवमप्रयुक्तेषु स्वात्मन्यादव परनियोगानपेक्षप्रवृत्तिषु नियति। प्रयुक्तेष्वपि नियतिरेव, करणादीना

---

१ नियत्यप्रवृत्ति प्र० ॥ २ वति प्र ॥ ३ दाभिमुखीभूता प्र० ॥ ४ द्भावेन प्र० ॥ ५ भेदेनोप प्र० ॥ ६ यात्र प्र । क्षारं दधि दिवास्वप्नं प्राग्वातं चात्र वर्जयेत्। इति चरकसंहितायाम् १।७।४९ ॥ ७ दृश्यता पृ २०२ पं० ४ ॥

सान्निध्यादेरङ्कुराद्युत्पत्त्यनुत्पत्त्योर्नियतिरेव कारणम् । एतेन पाकादिदोषाः प्रत्युक्ताः ।

सर्वज्ञोऽपि च तामेवाखिलामनादिमध्यान्तां स्वरूपेणाविपरिणामां वस्तुनियतिमेकामनेकरूपां बन्धमोक्षप्रक्रियानियतिसूक्ष्मां पश्यन् नियतेरेव भवतीति ।

२८१-१ करणाधिकरणकर्तृकर्मसम्प्रदानापादानानां क्षमत्वं तत्क्रियासाधनसमर्थत्वमक्षमत्वमसमर्थत्वम्, यथोक्तम्—एतत् परशोः सामर्थ्यं यन्न तृणेन [पा० वा० १।४।२३] इत्यादि । तेषामेव **सान्निध्यं** कर्त्रा प्राप्तिः, असान्निध्यमप्राप्तिः । आदिग्रहणात् प्राप्तानामपि करणादीनामन्तरे विघ्ना इत्येवमादेः कारणादङ्कुराद्युत्पत्त्यनुत्पत्त्योर्नियतिरेव **कारणं** तथानियतत्वादिति । **एतेन पाकादिदोषाः प्रत्युक्ताः** प्रतिषिद्धाः, यदुक्तं त्वया काले न पाकोऽकाले पाक इत्यादयो दोषा इति तदपि 'तथानियतित्वात्' इत्यनेनैव न दोषाय कालाकालयोरपाकेन पाकेन च तेषां तेषां भावानां नियतत्वात् सैव नियतिर्यथा तथा नियतं भवतीति ।

किञ्चान्यत्, **सर्वज्ञोऽपि** चेत्यादि । यदपि च 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपोभिर्ज्ञानावरणाद्यशेषकर्मक्षयात् केवलज्ञानप्राप्तिः सार्वज्ञ्यं पौरुषेण' इति मन्यसे तदपि मा मंस्था नियतिमन्तरेणेति । कथं तर्हि मन्तव्यम्? सार्वज्ञ्यं नियतेरेव भवतीति, **तामेवासौ नियतिमखिलां पश्यन्** सर्वज्ञो भवतीति तयैव च नियत्या नान्यथेति । स हि भव्याभव्यसिद्धादिभेदेषु पुरुषेषु गतिस्थित्यवगाहवर्तनापरस्मादिशरीरवाङ्मनःप्राणादिपरिणतिरूपामसङ्कीर्णा**मनादिमध्यान्तां** कालत्रयेऽपि अनुत्पत्तिमविनाशां स्वेन रूपे**णाविपरिणामां** लोकस्थित्यनतिक्रमेणाप्रच्युतस्वरूपां **वस्तुनियतिं** बीजादिनियताङ्कुरादिवस्त्वात्मिका**मेकां** सर्वभेदेष्वभिन्नामनेकरूपां तेषु तेषु भेदेषु तद्रूपनियतित्वादनेकां **बन्धमोक्षप्रक्रियानियतिसूक्ष्मां** जीवकर्मणोरनाद्येन
१८२-० सम्बन्धेन सम्बद्धयोः कार्यकारणभूतैर्मिथ्यादर्शनादिभिर्नियतिवशात् सन्तत्यानाद्यो बन्धो भव्येषु बन्धोद्वर्तनसमर्थसम्यग्दर्शनादिभावनियतिविवर्ताद् मोक्षहेतोरमूर्तस्वभावस्य ज्ञानदर्शनवीर्यसुखादिस्वात्मनः स्वात्मनि अवस्थानं मोक्ष इत्येतां बन्ध-बन्धक-बन्धनीय-बन्धविधानाद्यनेकभेदप्रभेदां बन्धप्रक्रियां व्रतसमितिगुप्तिधर्मा-

---

१ "उद्यमननिपातनानि कर्तुश्छिदिक्रिया [पा० वा०] । उद्यमननिपातनानि कुर्वन्नेव देवदत्तश्छिनत्तीत्युच्यते । तत्र तदा छिदिर्वर्तते । एष प्रधानकर्तुश्छेदः । एतत् प्रधानकर्तुः कर्तृत्वम् । यन्न **तृणेन तत् परशोश्छेदनम्** [पा० वा०] । यत् तत् समाने उद्यमने निपातने च परशुना छिद्यते, न तृणेन, तत् परशोश्छेदनम् । अवश्यं चैतदेव विज्ञेयम् । 'इतरथा ह्यसितृणयोश्छेदनेऽविशेषः स्यात्' [पा० वा०] । यो हि मन्यते उद्यमननिपातनादेवैतद् भवति छिनत्तीति, असितृणयोश्छेदने न तस्य विशेषः स्यात्, यदसिना छिद्यते तृणेनापि तच्छिद्येत ।" इति **पाणिनीयव्याकरणे** कात्यायनविरचित**वार्तिकोपरि** पातञ्जलमहाभाष्ये १।४।२३ ॥ २ द्रष्टव्यता पृ० २०२ पं० २ ॥ ३ द्रष्टव्यता पृ० २०२ पं० ७ ॥ ४ °**स्तथा नियतं** भा० ॥ ५ °**द्विविभागेषु** भा० ॥ ६ °**गाहे** प्र० ॥ ७ °**मनस.प्रा**° प्र० । "गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः ।१७। आकाशस्यावगाहः ।१८। शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ।१९। सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ।२०। परस्परोपग्रहो जीवानाम् ।२१। वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ।२२। स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ।२३। इति **तत्त्वार्थाधिगमसूत्रे** पञ्चमाध्याये ॥ ८ "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ।७।१। आस्रवनिरोधः संवरः ।९।१। स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ।९।२। तपसा निर्जरा च ।९।३। क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसङ्ख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ।१०।७। कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः ।१०।३।" इति तत्त्वार्थाधिगमसूत्रे ॥

एवं तर्हि त्वदुक्तभावनयैव युगपदयुगपन्नियमनार्थवृत्ते काल एव भवतीति भावितं भवति । इह युगपदवस्थायिनो घटरूपादयो न केचिदपि वस्तुप्रविभक्तिनो युगपद्वृत्तिप्रत्ययानात्मकं कालमन्तरेण । एवं घटो ग्रीवादयस्तथावृत्तेस्तथाभवनात्, मृत्पिण्डादयः, पृथिवी मृदादयः, द्रव्यं पृथिव्यादयः, द्रव्यादयो भावः । अयुगपद्भा

नुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रसंवरा द्वादशविधतपोऽनुष्ठाननिर्जरा क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थप्रत्येकबुद्धबुद्धबोधितज्ञाना-वगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वानुयोगव्याख्येया कृत्स्नकर्मक्षयान्त्याबाधादनन्तशाश्वतसुखाभिवृद्धा च मोक्षप्रक्रिया परमसूक्ष्मा पर्ययाऽनन्तकालमव्याबाधसुखं तिष्ठति । एषा च यथामोक्षप्रक्रिया दिङ्मात्रमुपदर्शिता अति-सूक्ष्मत्वाद् बहुवक्तव्यत्वाच्च नात्र परीक्षाकाले शक्या वक्तुम् । यथोक्तम्—

लोगम्मि जीवचिंता सव्वागमकं(को ?)सिया दुरोगाहा ।
तत्तो वि कोमियतरी चिंता बंधे य [6]मोक्खे य ॥ [ ]

इति परिसमाप्यते, इत्थं नियतिवादः परिसमाप्तः ।

❀

अपरो द्रव्यार्थो विधिविधिनयविकल्प आह—नायमपि नियतिवादः परितोषकरः, एवं तर्हीत्यादि । १५० १

येयमुक्ता 'काल स्वतन्त्रास्वतन्त्रो वा न क्रमेण भवितुमर्हति, किं तर्हि ? नियत्यैव युगपद्युगपदनेकत्वा क्रिया-दिकार्यकारणभावनियतमेव' इति भावनाऽनयैव त्वयोक्तया युगपदयुगपन्नियतरूपादिदीर्घाङ्कुराद्यर्थवृत्तेन नियतिरेव भवति किं तर्हि ? काल एव भवतीति भावितं भवति, अपरस्मिन् परं युगपदयुगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि [वै०सू० २।२।६] इति वचनाद् युगपदयुगपन्नियतताया वृत्तेर्भवनार्थत्वाद् वर्तनस्य कालत्वेनाभ्युपगत्वादिति । तद्भावनार्थमाह—इह युगपदवस्थायिनो घटरूपादयः, ते किं परस्परं प्रविभक्तिनः स्वैरेव भवन्ति उत कालसामर्थ्यात् ? इति । वस्तुस्वरूपेण तावच्चिन्त्यते—तत्र तावन्न केचिदपि वस्तुप्रविभक्तितो भवन्तीति वाक्यशेषः, स्वपरसमानधर्माणामन्देभ्यः प्रविभक्त्या प्रविभागेन तद्रूपेण प्रवि-भक्तिनो वा कारणानि भवन्ति ते, न लक्ष्यमाणमपि तद्व्यतिरेकेणाभावात् । भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वादेव च [7] तेषां[षाम्] ऐक्याभावाद् यौगपद्यं नानात्वं च सिद्धम्, न ह्यभिन्नस्य यौगपद्यम्, युगस्य सत्त्वयोः युगपदयमत्रापि अनेकाश्रयं यौगपद्यम्, अतो रूपादयो युगपद् वर्तन्ते इत्येषा प्रतिज्ञावनिर्दिष्टा अयन । चक्षुरादिभ्योऽपि च वर्तन्ते एकत्र मल्लवत् प्रथा बुद्ध्या चन्दनं वा जिघ्रामीति प्रतीतिः । तस्मात् वर्तन-काले इन्द्रियग्रहणानुमानेन यथा योग्यं, न कालतामन्तरेण युगपद्वृत्तिप्रत्ययानात्मकमन्तरेण न ते केचि-द्रूपादयो युगपद् भवितुमर्हन्ति, तस्माद् रूपादयो युगपदिति वन् भासमानत्वात् । एवं सूक्ष्मा रूपादय-स्तथा । स्थूला अप्येवं घटो ग्रीवादयः, तथावृत्तेर्युगपद्भवनं, कस्मात् ? कालतामन्तरेण । प्रतिज्ञा भवन-मित्यत आह—तथाभवनादिति । मृत्पिण्डादयः, मृदिति लोष्टादयः एव युगपद्वृत्ते । पृथिवी मृदादयः

---

[1] कारिका भ० ॥ [2] युक्त्यैव २० ॥ [3] वृत्तिभ द ॥ [4] स्वगत्या व० ॥ [5] स्वार्थं प्रवि द० ॥ [6] च से परत्र व । [7] व न दृश्यते भा ॥ [8] दृश्यतां पृ० १५८-१ ॥ [9] दर्श भा० १० टी० ॥

विनोऽपि भवितुकामस्य वर्तनादतिरिक्तस्य कस्यचिदप्यनुपपत्त्यापत्तेः कालात्मकता । नियतेस्तु सर्वात्मकत्वात् सर्वाकारता स्यात् सदा सर्वस्य, कालाभावेऽतीतानागतवर्तमानाविशेषात् । अपि च तथापि नैव कालातिक्रमः । इति स्वीक्षितमपि

१५०.७ एवं तथावृत्तेः, एवं मृल्लोष्टवज्राश्मसिकतादयः । एवं **द्रव्यं पृथिव्यादयः**, पृथिव्यम्तेजोवाय्वाकाशादयो [७]युगपद्वृत्तयो द्रव्यम् । **द्रव्यादयो भावः**, द्रव्यगुणकर्मणां सप्रभेदानां भाव इत्याख्या युगपद् भवनात् । एवं तावद् युगपद्वृत्तिः काल एव भवतीति भावितम् ।

क्रमवृत्तिनियतिरपि काल एव भवतीति भाव्यते, तत आह—**अयुगपद्भाविनोऽपी**त्यादि यावदा**पत्तेः** । अयुगपद् भवितुं शीलमस्येत्ययुगपद्भावि, तस्यायुगपद्भाविनो[१] **भवितुकामस्य** भवनाभिमुखस्य बीजाङ्कुरादेर्वस्तुनो यदि वृत्त्यात्मककालभावो नाभ्युपगम्यते ततो **वर्तनादतिरिक्तस्य कस्यचिदप्यनुपपत्तिरापद्यते** वर्तनाभावाद् वन्ध्यासुतवत् । ततश्चा**नुपपत्त्यापत्तेः** सति[२] च वर्तनात्मके काले तदुपपत्तेः **कालात्मकता** । एवं तावन्नियतार्थाभ्युपगमः कालमन्तरेण न भवतीति युगपदयुगपद्वृत्त्यात्मकः[३] काल एव भवतीत्युक्तम् ।

इदानीं नियतिवादिनो दोषोऽभिधीयते—**नियतेस्त्वि**त्यादि यावत् **सदा सर्वस्य** । य[४] उक्तस्त्वया स्वभाववादिनं प्रति 'बाल्यकौमारयौवनमध्यमाद्यवस्था युगपत् स्युः सर्वाकारस्वभावत्वाद्देवदत्तादेः, अङ्कुरपत्रकाण्डाद्यवस्थाश्च युगपत् स्युर्व्रीह्यादेः' इत्युपालम्भः[५] स एव 'नियतेः सर्वात्मकत्वात् कस्मात् सर्वाकारनियतैव न भवति' इति स्वभावोपालम्भवन्नियत्युपालम्भोऽपि त्वामपि प्रति नियतिवादिनं समानः, **सदा** सर्वकालं **सर्वस्य** वस्तुनस्तस्य तस्येति, **कालाभावेऽतीतानागतवर्तमानाविशेषात्**, दृष्टा चातीतानागतानाकारता[६] वर्तमानाकारता च, वृत्त्यात्मककालाभावाद् नियतेश्चाविशेषादतीतानागतानाकारतावद् वर्तमानानाकारता स्यात् वर्तमानाकारतावदतीतानागताकारतापि स्यात्, न च दृष्टा अतीतानागताकारता वर्तमानानाकारता वा ।

१५१-१ स्यान्मतम्—अतीतानागताकारता वर्तमानाकारतावद् नियतौ विद्यमानैव तिरोभूतत्वान्नोपलभ्यते, वर्तमानाकारता त्वाविर्भूतत्वादुपलभ्यत इत्युक्तत्वाद[७]नुत्तरमिति । अत्रोच्यते—**अपि च तथापि नैव कालातिक्रम** इति । एवमपि त्र्याकारताया युगपद्वृत्तायाः क्रमेणाविर्भावतिरोभावावतीतमनागतमिति [८]चैतत् सर्वं कालवाचिशब्दार्थसामर्थ्यप्रतिपादितं कलनं वर्तनं भवनमन्तरेण न स्यात्, अतः कालस्यानतिक्रमणीयता ।

इति स्वीक्षितमपीत्यादि । एतेन प्रकारेण सुष्ठु परीक्षितमपि कालादृते नान्यत् कारणमवस्थानां[९] बाल्यादीनामङ्कुरादीनां च क्रमेणावस्थापकं रूपादीनां वा युगपदवस्थापकमालक्ष्यते । तस्मात्त्वया **नियतान-**

---

१ °**द्भाविनो भाविनो भवितु**° भा० वि० पा० ॥ २ **सति वर्त**° य० ॥ ३ °**पद्यावृत्त्या**° भा० । अत्र °**पद्वा वृत्त्या**° इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ४ **यत उक्त**° प्र० ॥ ५ द्रष्टव्यता पृ० १९६ पं० ४ ॥ ६ °**गताकारता** प्र० ॥ ७ (°**दनन्तरमिति**) ? ॥ ८ **चेत्तत्** डे० लीं० ॥ ९ °**णवस्थानां** प्र० ॥

नियतानन्तरव्यक्त्यैवाभ्युपगतमपि कालं नियतिमात्रग्राहदोषेणानिच्छता त्वया आत्मा गुणवत्कालपक्षपातकृतगुणेभ्योऽपनीयते ।

यदि नियतिकृतैवार्थानां प्रवृत्तिः, इदं पूर्वमिदं पश्चादिदमिदानीमिदं युगपदिति न युज्यते सर्वेषां बीजादौ नियते सन्निहितत्वात् ।

नियतेरेवेति चेत्, न, आनर्थक्यात् । किमिह पूर्वादिभिः ? एवमादिविकल्प-

---

न्तरव्यक्त्यैवाभ्युपगतः कालः, 'सप्ताहं कललं भवति, ततः सप्ताहमर्बुदम्, एवं पेशी घनम्' इत्येवमादिक्रमेण गर्भादिषु पूर्वोक्तावस्थानां पूर्वस्यां अनन्तरावस्था अभिव्यज्यत इत्यनयैव नियताभिव्यक्त्या काल-मभ्युपगतमपि **नियतिमात्रग्राहदोषेण** स्वपक्षरागाच्चानिच्छता **त्वया आत्मा** तेभ्यो **गुणवत्कालपक्ष-पातकृतगुणेभ्योऽपनीयते** । मा भूद् ग्राह इत्युक्तेऽतिनिष्ठुरत्वाच्चित्तपीडेति ग्राहवद् ग्राह इति ग्राहव्या-ख्यातगौणशब्देनोच्यते । अथवा ग्राहोऽभिप्रायः, ग्राहयतीति ग्राहः, तस्याभिप्रायस्य दोषेण स्ववचनाभ्युप-गतमपि कालमपश्यन् कालतत्त्ववादित्वात्प्राप्यमोक्षधर्मादिगुणगणादात्मानमपनयसि ।

यदि नियतिकृतेत्यादि यावद् **न युज्यते** । नैवमभ्युपगन्तुं शक्यं **नियतिकृतैवार्थानां प्रवृत्ति**रिति, अनन्तराभिहितदोषसम्बन्धात् कालकृतत्वस्योक्तत्वाच्च । अभ्युपेत्यापि नियतिकृतत्वे दोषं ब्रूमः — **इदं** १५१ २ **पूर्वमिदं पश्चादिदमिदानीमिदं युगपदिति न युज्यते**, पूर्वादयः कालत्रयवाचिनः, 'युगपत्' इत्यभिन्न-कालवाची शब्दः, तत्तु कालमन्तरेण लोकप्रसिद्धं व्यवहारजातं न युज्यते । कारणान्तरमप्याह — **सर्वेषां** तेषां तेषां **बीजादौ नियते सन्निहितत्वात्**, बीजे मूलाङ्कुरपत्रनालादीनां नियते सन्निहितत्वात् शुक्र-शोणितावस्थायामेव कललार्बुदगर्भार्भकादीनां नियते सन्निहितत्वात् पूर्वादिक्रमवृत्तिता युगपद्वृत्तिता वेति न युज्यते ।

नियतेरेवेति चेत्, न, आनर्थक्यात् । स्यान्मतम् — एतदपि नियतेरेव युगपद्वर्तनं पूर्वादिक्रम-वर्तनं चेत्यादि, एवकारात् कालादिनिराकरणम् । नेति, एतच्चायुक्तम्, **नैरर्थक्यात्**, नियतेः पूर्वादीनां वा नैरर्थक्यात् । यदि नियतिरेव कारणं पूर्वं पश्चादिदानीं युगपदिति कालवाचिशब्दोपादानं तदर्थाश्रयणं चानर्थकम्, तदर्थाभावे सति नियत्यैव कृतप्रयोजनत्वात् । तदुपादाने वा नियत्यानर्थक्यम् । इह तु नियत्या-नर्थक्यमेवेति मन्यस्व, काल प्रत्येकार्थव्यापारार्थानां पूर्वादीनामवश्याभ्युपगम्यत्वात् तैरेव च कृतप्रयोजन-त्वात् किं नियत्या प्रयोजनम् ? **किमिह पूर्वादिभिः ?** इत्याद्यपरैर्भावितार्थत्वाद् यदर्थं नियतिरुपादीयेत तत्राप्नोत्यभिप्रायः, तत्तु पूर्वादिभिः कृतमेव, 'यत् पूर्वं तद् बीजादि यत् पश्चात् तदङ्कुरादि' इत्येतयोः पूर्वापरशब्दयोः क्रमात्मकालवाचित्वादिति । तन्निदर्शयति — **एवमादिविकल्पव्यवहारेषु कालः एव**

---

१ स्याऽनन्तरा प्र ॥ २ च्चनिच्छता प्र ॥ ३ ग्रह प्र० ॥ ४ कालत्वस्योक्तत्वाच्च य० । कालत्वास्योक्तत्वाच्च भा० ॥ ५ तेषां बीजादौ य० ॥ ६ °गर्भार्भकादीनां प्र० ॥ ७ रण रेति य । भा० प्रतौ तु * * एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठो नास्ति । अत्र कालादिनिराकरणं चेति एतच्चायुक्तम्' इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ८ दित्या[दि ?]काल भा० । दित्यकाल रं ही । दित्यत्काल पा वि० डे० ली० ॥ ९ कालप्रत्ये (कालकृत्ये ?)कार्थ प्र० ॥ १० तैरेव कृत य ॥ ११ पूर्वापर प्र० ॥

व्यवहारेषु काल एव भवतीति भावितं सर्वसङ्ग्रहेणैव वा। क्रमव्यवहारसिद्ध्यर्थं पूर्वादय आश्रयणीया एव, नियतेरेवासिद्धेर्व्यवहारासिद्धिरन्यथा, पूर्वादिषु तु समाश्रितेषु नियत्या किं क्रियते?

त्वन्न्यायेन तु विदुषां हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थावाचारोपदेशावनर्थकौ स्यातां चक्षूरूपग्रहणनियतिवत्, अयत्नत एव तथासिद्धेः। यत्नोऽपि नियतित एवेति चेत्, ततः सर्वलोकशास्त्रारम्भप्रयोजनाभिधानानर्थक्याल्लोकागमविरोधौ

भवतीति भावितम्। किञ्चान्यत्, **सर्वसङ्ग्रहेणैव वा**, यत् [कारण तत्] पूर्वम्, यत् कार्यं तत् १५२-१ पश्चात्, क्रमवर्तिनां भावानां कारणकार्यत्वेन सङ्ग्रहात् पूर्वापरयोः कारणकार्यत्वात् कालत्वाच्च[1] काल एव भवतीति। एतस्य **क्रमव्यवहारस्य सिद्ध्यर्थं** त्वयानुक्रमार्थं पुरुषं स्वभावमन्यद्वा कारणं तत्कार्यं चाश्रित्यावश्यं **पूर्वादय आश्रयणीया एव**, नियत्यादिमात्रेण पूर्वाद्यनपेक्षेण व्यवहारासिद्धेः। **नियतेरेवासिद्धेर्व्यवहारासिद्धिरन्यथेति**, पूर्वादिभिर्विना बीजादीनामनियतत्वात् स्वभाववद् नियत्यभावः[3], नियत्यभावाद् व्यवहारासिद्धिरिति[2]। मम पुनः कालवादिनः **पूर्वादिषु तु समाश्रितेषु नियत्या किं क्रियते?** सिध्यत्येव नियत्या विनापि क्रमव्यवहारः पूर्वादिभिरेव कृतत्वादित्यर्थः।

किञ्चान्यत्, नियतिवादे **त्वन्न्यायेन तु** त्वदीयेनैव न्यायेन **विदुषां हिताहिते**त्यादि, हितप्राप्त्यर्थ आचारो लौकिकः कृषिवाणिज्यसेवादि[4]रोदनपचनभोजनादिश्च दृष्टार्थः, तदुपदेशश्च 'एतत् कुरु, इदं ते श्रेयः' इति। लोकोत्तरश्चादृष्टार्थो यमनियमादिः। अहितप्रतिषेधार्थश्च लौकिकः क्षारविषकण्टकाग्निशस्त्रादिपरिहारार्थः, तदुपदेशश्च बालादीनां 'मा कार्षीः' इति। लोकोत्तरश्चादृष्टार्थो हिंसानृतस्तेयाब्रह्मादिभ्यो विरतिः श्रेयसीति। तावेतावाचारोपदेशा**वनर्थकौ स्याताम्**, नियत्यैव यद्यवश्यम्भावी अर्थोऽनर्थो वा किमाचारोपदेशाभ्याम्? किमिव? **चक्षूरूपग्रहणनियतिवत्**, यथा चक्षुषा रूपं पश्यन्तं पुरुषं नियत्या स्वभावतोऽन्येन वा केनचित् कारणेन त्वदभिमतेन सिद्धत्वात् पुरुषकाराहते यो ब्रुयात् 'चक्षुषा रूपं पश्य मा द्राक्षीर्जिह्वया'[5] इति किं तेन कृतं स्यात्? तथा नियत्या सिध्यत्सु असिध्यत्सु वा किं यत्नोपदेशाभ्याम्? १५२-२ किं कारणम्? **अयत्नत एव तथा** [6]सिद्धेरोदनकवलाद्यास्यप्रवेशोऽपि प्रक्षेपयत्नादृते त्वन्मतेन सिध्येत्, अप्रक्षिप्ते कवले क्षुत्प्रतीकारः स्यादित्यादि योज्यम्।

यत्नोऽपि नियतित एवेति चेत्। स्यान्मतम्—योऽप्यसौ यत्नो नियतित एवैषोऽपि आचारोपदेशरूपस्तृप्तिप्रयोजनौदनपचनास्यप्रक्षेपादिरूपश्च तथा तथा नियतित्वादित्येवं चेन्मन्यसे, **ततः सर्वलोकशास्त्रारम्भप्रयोजनाभिधानानर्थक्याल्लोकागमविरोधौ**, यथासङ्ख्यं लोकविरोध आगमविरोधश्च, सर्वलोकस्य सर्वशास्त्राणां चारम्भप्रयोजनयोस्तदभिधानस्य चानर्थक्यम्, बुभुक्षाप्रतीकार[7]प्रयोजन ओदनपाकारम्भः

---

१ °त्वाच्च काल एव य० ॥ २ °रासिद्धिः भा० ॥ ३ °त्याभावः भा० ॥ ४ °ज्यां(ज्या ?)सेवा° भा०। °ज्यं सेवा य० ॥ ५ द्राक्षीजिह्वया प्र० ॥ ६ सिद्धेवोदन° प्र० ॥ ७ प्रतिका° य० ॥

भावस्यान्यथाभावाभावात्, क्रियाया एवौदनतृप्त्यादिफलप्रसूतेः प्रत्यक्षविरोधः ।

एवं नियतेरेवैवमिति चेत्, न, कालानर्थान्तरक्रियाया एवैव क्रियानियतिरिति संज्ञामात्रे विसंवादात्, कालानर्थान्तरत्वात् क्रियायाः ।

नियतिप्रतिपादनपरिक्लेशाभ्युपगमाच्च तेऽवश्यम्भाव्यव्यभिचारदर्शनविपर्य-

---

सह प्रयोजनेन तृप्त्यादिना तदुपदेशवचनारम्भप्रयोजनानि चानर्थकानि लोके, शास्त्रेषु च धर्मार्थकाममोक्षास्त-दर्थाश्च शास्त्रारम्भास्तदुपदेशाश्चानर्थका प्राप्नुवन्ति । किं कारणम्[1] भावस्यान्यथाभावाभावात्, यस्मात् तेनैव भाविनो नाभावः, अभाविनश्च न भावः, तस्माद् भावस्यान्यथाभावाभावात् सर्वलोकशास्त्रारम्भप्रयोजना-भिधानानर्थक्यम्, तस्माच्च लोकागमविरोधौ लोके सर्वागमेषु चारम्भप्रयोजनाभिधानानां प्रसिद्धत्वात् । किञ्चान्यत्, क्रियाया एवौदनतृप्त्यादिफलप्रसूतेः प्रत्यक्षविरोधः । क्रियात एवौदनसिद्धिः, नौदासीन्येन आसितुः कदाचिन्नियतेरेव केवलायाः । सिद्धस्य चौदनस्य फलं तृप्तिः सापि मुखे कवलप्रक्षेपग्रसनादि-क्रियात एव भवन्ती दृष्टा,[2] ओदनजन्यतृप्तिबलवर्णारोग्यादि फलं चानुगतात्मरसरुधिरादिविभागपरिणमन-क्रियातः । तस्याश्च क्रियाप्रसाध्यकृष्यादिहेतुकौदनसिद्धौदनजन्यतृप्तिबलवर्णारोग्यादिफलप्रसूतेः प्रत्यक्षत्वाद् 'नियतित एव' इति वादे प्रत्यक्षविरोधः ।

एवं नियतेरेवैवमिति चेत् । एवंविधैषा नियतिः क्रियानियतिरित्युच्यते, अस्याः क्रियानियतेरो- १५३ १ दनतृप्त्यादिफलप्रसूतिर्नियतिरिति । एतच्चायुक्तम्, कालानर्थान्तरक्रियाया एवैव क्रियानियतिरिति संज्ञामात्रे विसंवादात्, अभ्युपगतं तावत् त्वया 'एवं नियतेरेवैवम्' इति ब्रुवता काष्ठादिसाधन-सन्दर्भया लौकिक्या पचिक्रिययैव ओदनसिद्धितृप्त्यादिफलप्रसूतिर्नियतिरिति, 'एव'शब्दस्य तदर्थत्वात् । सा च क्रियानियतिः कालक्रियापर्यायत्वात् कालनियतिः, नियतिर्नियमयोश्चैकार्थत्वात् । तस्मादावयोः संज्ञामात्रे विप्रतिपत्तिर्नार्थे । अत्राह — एवमपि क्रियासिद्धौ कालासिद्धिरिति, अत्रोच्यते, तन्न, कालानर्थान्तरत्वात् क्रियायाः, क्रिया काल इत्यनर्थान्तरम्, कालेनैव क्रियाख्येन एवं नियतिरिति ब्रुवता स एव काल इत्युक्तो भवति, कालक्रिययोरनर्थान्तरत्वात् कालनियतिः क्रियानियतिरिति संज्ञामात्रे विसंवादात् पूर्ववदिति ।

किञ्चान्यत्, नियतिप्रतिपादनपरिक्लेशाभ्युपगमाच्च तेऽवश्यम्भाव्यव्यभिचारदर्शनविपर्य-यार्थप्रवृत्तेरभ्युपगमविरोधः[3] । पुरुषकालस्वभावादिदर्शनानां नियत्यैवाव्यभिचारिण्या तदविनाभाविनाम-व्यभिचारादेव त्वयाभ्युपगतानां पुरुषादिभिश्च स स एवेत्यभ्युपगतानां त्वया पुनस्तद्विपर्यय 'नियतिरेव कारणं न कालादयः' इति प्रतिपादनार्थं प्रवृत्तिरङ्गीकृता । यदि तानि दर्शनान्यनया त्वदीयया प्रवृत्त्याप-नीयन्ते नावश्यम्भावीनि तानि, अथावश्यम्भावीन्येव नापनीयन्तेऽनयापि प्रवृत्त्या ततो निरर्थं परदर्शन-विपर्ययमापादयामि इत्ययमभ्युपगमो निवर्तते इत्युभयथाप्यभ्युपगमविरोधः । १५३ २

---

[1] यस्मात् तेनैव इ० डी० विना । यस्मान्न तेनैव इ० डी ॥ [2] क्रिया एवौ भा० पा० ॥ [3] एवा भवन्ती य० । एव भवन्ती भा० ॥ [4] णामन प्र० ॥ [5] सिद्धो(द्धौ ?)दन य० ॥ [6] °यायार्थे प्र ॥ [7] च्यतेतेन(च्यते न ?)वाग प्र० ॥ [8] थानेवश्यभावाव्यभि प्र० ॥

यार्थप्रवृत्तेरभ्युपगमविरोधः । स्ववचनपक्षधर्मत्वादीनां च प्रवृत्त्यैव निराकरणम् । एवं दृष्टान्तोऽपि ।

अतो धर्मार्थकाममोक्षाः कालकृता उक्तभावनावत् । तथा ब्राह्मणस्य वसन्तेऽग्न्याधानम्, वणिजां मद्यस्य, ईश्वराणां क्रीडादीनाम्, निष्क्रमणं कृत्वा यावद्विमोक्षं विमोक्षणस्य कालो यतीनाम् ।

स्ववचनपक्षधर्मत्वा[1]दीनां च प्रवृत्त्यैव निराकरणम् । येयं पक्षहेतुदृष्टान्ताद्यवयवोच्चा[2]रणे प्रवृत्तिस्तया स्व[3]वचनं परमतनिराकरणसमर्थमिति मतं प्रवृत्त्युपलभ्यं स्वत एव नावश्यं भव[4]तीति निराक्रियते । अथावश्यं स्वत एव भवति, प्रवृत्तिरनर्थिका प्रतिपादनासमर्थवचनिका प्रवृत्तिवचनयोरनियतार्थत्वात् । हेतुः पक्षधर्मो हे[5]यार्थप्रतिपत्तिनियतोऽवश्यम्भावी प्रवृत्तिमन्तरेण चेत् प्रवृत्तिरनर्थिका, नावश्यम्भावी चेत् [6]नियतभावः । **एवं दृष्टान्तोऽपी**ति व्याख्येयम् । अतः प्रवृत्त्यैवाभ्युपगतया वचनहेतुदृष्टान्तानां निराकरणं प्रमाणान्तरमन्तरेणापीति ।

कथं पुनराचारोपदेशानर्थक्यदोषाभावो लोकागमादिविरोधाभावश्च ? इत्येतत्प्रतिपादनार्थमाह — **अत** इत्यादि । अतः प्रागभिहितकालकार्यत्वा[7]द्धेतोः सर्वलोकशास्त्रारम्भप्रयोजनाभिधानानां [8]सर्वशास्त्रार्थत्वायेयं पुनर्भावनोच्यते — **धर्मार्थकाममोक्षाः कालकृताः**, एवं [9]चतुर्वर्गसाध्यसाधनसम्बन्धार्थाः सर्वशास्त्रारम्भाः कालसामर्थ्यादेव सफला नान्यथेति प्रतिपद्यस्व । कथम् ? **उक्तभावनावत्**, उक्ता भावना रूपादिघटादियुगपद्वृत्त्यात्मककालरूपं वीजाङ्कुरादिपूर्वोत्तरक्रमवृत्त्यात्मककालरूपं च जगदनियतपरिणति चेति । तस्मादुक्तभावनावदनियतेर्धर्माद्यर्थानामाचाराणां पूर्वापरीभूतक्रियात्वात् क्रियार्थत्वाच्चोपदेशानां कालस्य च पूर्वापरीभूतस्य क्रियात्वात् सार्थकाः शास्त्रारम्भाः ।

१५४-१ **तथा ब्राह्मणे**त्यादि । एवं च कृत्वा कालकृतत्वात् क्रिया-क्रियाफलानां धर्मार्थकाममोक्षार्थैः शास्त्रै[11]रे[10]व विहिताः क्रियाः, तद्यथा यथाक्रमं धर्मादिषु, **ब्राह्मणस्य वसन्तेऽग्न्याधानम्**, [12]वसन्ते ब्राह्मणो यजेत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वाजपेयेन वैश्यः [ ] इत्यादिवचनात् । तथा **वणिजां मद्यस्य**, आधानमिति वर्तते । **ईश्वराणां क्रीडादीनाम्**, उद्यानगमनं वासन्तिकवस्त्रालङ्कारमाल्यगन्धभोजनादिसेवनं रमणमित्यादीनाम्, **आदि**ग्रहणात् सन्धिविग्रहासनयानादिगुणानुष्ठानमित्यादि । **निष्क्रमण**मित्यादि यावद् **यतीनाम्**, निष्क्रमणकालादारभ्य **यावद् विमोक्षं विमोक्षणस्य** आत्मकर्मवियोगफलस्य मोक्षस्य **कालो**

---

१ °दीनां वृत्त्यैव य० ॥ २ °च्चारणं प्र० ॥ ३ स्ववंधनं प्र० ॥ ४ °तीति क्रियते य० ॥ ५ दृश्यतां पृ० १३८ टि० ९ ॥ ६ नित्यभावः प्र० ॥ ७ °त्वा(त्व ?)हेतोः प्र० ॥ ८ अत्र सर्वशास्त्रार्थत्वायेयं इत्यस्य स्थाने सार्थकत्वायेयं इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ९ °कृताः एवं चतुर्थवर्ग प्र० । अत्र° कृता एव, चतुर्वर्ग° इत्यपि पाठः स्यात् ॥ १० रेवं भा० वि० विना ॥ ११ दृश्यतां पृ० १२१ पं० २० ॥ १२ दृश्यतां पृ० ८३ टि० ५ ॥

अनियतचेतनाचेतनत्वपृथिव्यादित्वेन अनाद्यनन्तवर्तनात्मस्वतत्त्वाना वृत्ते

यतीना निष्क्रमणादे काल इति, यथोक्तम्—अप्पणो निक्खमणकाल आभोएत्ता चइत्ता रज्जं [कल्पसू० ११२] इत्यादि । तथा दण्डकपाटमन्थानकलोकपूरणक्रियाभिसन्धिकाले कर्मनिरस्यायुषा समीकरणमित्यादि ।

अनियतचेतनाचेतनत्वेत्यादि यावत् कलन काल, स्वरूपतदात्मतत्त्वभावेनैव वर्तते । अनियत चैतन्यमुभयोरूपादित्वेन रूपे चेतनाया उपयुक्तत्वात् । अचेतनत्वमप्यनियत चैतन्योपयोगापरयोपयुक्तत्वात् । अथवा तृणादिगताद्यनन्तरस्य सुरादु स्यादिचैतन्यापत्तेर्द्रव्यस्य प्राणाद्यापत्तेर्द्रव्यप्राणातिपातादिभाव कालक्रमागतपरिणतिवशात् उपशमक्षयक्षयोपशमौदयिकपरिणामभावेश्च जीवपुद्गलयोरनाद्यनन्तयो वर्तनात् ।

---

१ आभोए २ त्ता वि० । अत्र आभोगइ आभोएत्ता इत्यपि पाठ स्यात् । तए ण समणे भगवं महावीरे अप्पणो निक्खमणकाल आभोएइ आभोइत्ता चिच्चा हिरण्ण चिच्चा सुवण्णं चिच्चा धण चिच्चा रज्ज चिच्चा रट्ठं एव बल वाहण कोस कोट्ठागारं चिच्चा पुर चिच्चा अतेउरं चिच्चा जणवय चिच्चा विपुल धणकणगरयणमणिमोत्तियसखसिलप्पवालरत्तरयणमाइअ सतसारसावइज्ज विच्छड्डइत्ता विगोवइत्ता दाण दायारेहि परिभाइत्ता दाण दाइयाण परिभाइत्ता' इति कल्पसूत्रे पाठ । तते ण समणे भगव महावीरे तेण अणुत्तरेण आहोधिएण नाणदसणेण अप्पणो निक्खमणकाल आभोएति । अप्पणो २ त्ता चेच्चा हिरण्ण चेच्चा सुवण्ण चेच्चा धण चेच्चा धण्ण चेच्चा रट्ठ एवं बल वाहण कोस कोट्ठागार चेच्चा पुरं चेच्चा जणवयं चेच्चा विउलधणकणगरतणमणिमोत्तियसखसिलप्पवालरत्तरयणमातीय सतसारसावतेज्ज विच्छड्डइत्ता विगोवेत्ता दाणं दाइयाणं परिभाएत्ता' इति दशाश्रुतस्कन्धसूत्रे पाठ ॥ २ केवलिन समुद्घात केवलिसमुद्घात । तत्करणसमये च भगवान् केवली अन्तर्मुहूर्तमुदीरणावलिकायां कर्मप्रक्षेपव्यापाररूपमावर्जीकरण करोति तत समुद्घात गच्छति तस्य चाय क्रम तद्यथा—प्रथमसमये तावत् स्वदेहविष्कम्भबाहल्यापेतम् आयामतस्तु ऊर्ध्वाधोलोकान्तगामिन जीवप्रदेशसंघातरूप दण्डं केवलज्ञानाभोगत करोति द्वितीयसमये तु तमेव दण्ड पूर्वापरदिग्द्वयप्रसारणात् तिर्यग्लोकान्तगामिन कपाटमिव कपाट विदधाति तृतीयसमये तमेव कपाट दक्षिणोत्तरदिग्द्वयप्रसारणात् तिर्यग्लोकान्तगामिनमेव मन्थानमिव मन्थान करोति एवं च लोकस्य प्रायो [पृ० १८८] बहु पूरितं भवति मन्थान्तराणि च अपूरितानि भवन्ति जीवप्रदेशानामनुश्रेणि गमनादिति । चतुर्थसमये तान्यपि सह लोकनिष्कुटै पूरयति तथा च समस्तोऽपि लोक पूरितो भवति । ननु लोकमध्ये स्थितो यदा केवली समुद्घात करोति तदा तृतीयेऽपि समये लोक पूर्यत एव किं चतुर्थसमयेऽन्तरपूरणमिति ? नैतदेवम् लोकस्य मध्य हि मेरुमध्य एव सम्भवति तत्र च प्राय समुद्घातस्तु केवलिनोऽसम्भव एव अन्यत्र च समुद्घातं कुर्व तस्तस्य तृतीयसमयेऽन्तराणि उद्धरन्त्येवेति परिभावनीयम् । तदनन्तरं च पञ्चमसमये यथोक्तक्रमात् प्रतिलोम मन्थान्तराणि संहरति प्रयत्नात् जीवप्रदेशान् सङ्कोचयतीत्यर्थं । षष्ठे समये मन्थानमुपसंहरति । सप्तमे तु समये कपाटं सङ्कोचयति । अष्टमे तु समये दण्डमपि संहृत्य शरीरस्थ एव भवति । तदेवमष्टसामयिक केवलिसमुद्घात । [पृ० १८९] दंड कवाडे रुयए लोए चउरो य पडिनियत्तते । केवलिय अट्ठसमए भिन्नमुहुत्त भवे सेसा ॥ १५४ ॥ पूर्वोक्तन्यायेन प्रथमे समये दण्ड द्वितीये कपाट तृतीये रुचको मन्थान इत्यर्थ चतुर्थे तु लोक सर्वोऽप्यापूर्यत इत्येवं चत्वार समया । प्रतिनिवर्तमानेऽपि समुद्घाते पूर्वोक्तयुक्त्यैव चत्वार एव समया भवन्तीत्येव केवलिसमुद्घातोऽष्टसामयिक । शेषास्तु समुद्घाता सर्वेऽप्यन्तर्मुहूर्तिका इत्येतत् सर्वं प्राग्व भावितमेवेति गाथार्थ । [पृ० १९०] इति मलधारगच्छीयश्रीहेमचन्द्रसूरिविरचितायां जीवसमासप्रकरणवृत्तौ । केवलिसमुद्घातस्वरूपमभिधीयते—तत्र सम्यग्पुनर्भावेन दण्डाबल्येन कर्मणा हनन घात प्रकर्षो यस्मिन् प्रयत्नविशेषे स समुद्घात । अयं च केवलिसमुद्घातोऽष्टसामयिक । अथ कस्मादसौ केवली किमर्थं समुद्घात करोतीति चेत् उच्यते—वेदनीयनामगोत्राणामायुषा सह समीकरणार्थम् उक्तं च—आयुषि समाप्यमाने शेषाणां कर्मणां यदि समाप्ति । न स्यात् स्थितिवैषम्याद् गच्छति स तत समुद्घातम् ॥ १ ॥ स्थित्या च बन्धनेन च सर्वास्त्याथ हि कर्मणां यथायु । अल्पीभूतेरत सदायुषि समुद्घातं गच्छति स ॥ २ ॥ इति श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचितायां चतुर्थकर्मग्रन्थवृत्तौ ४।२९ ॥ ३ कालस्वरूपतदात्मकत्वा प्र ॥ ४ गादिरूपा लि० क० सं० ए० डी० । गारूपा पा० ॥ ५ तेनाप्य य ॥ ६ कालानभा प्र० ॥

कलनात्मकं रूपं भूयो भूयो विपरिवर्तते ध्रुवादिसर्वनित्यलक्षणम् । तस्माद्विश्वविकल्पविवर्तवर्तनायाः कलनमस्मदाद्यसर्वज्ञं प्रति अनुमानमात्रगम्यमविविक्तममितपूर्णकोष्टागारधान्यवत् सर्वज्ञं च प्रति विविक्ताया वर्तनायाः कलनं कालः ।

स तथाभूतेन कलनार्थेन वर्तनामेव सामान्यमत्यजन् भूतो भवति भविष्यं-

---

न केवलं चेतनाचेतनयोः परस्पररूपापर्यत्तिकृतैव[1] वृत्तिः, किं तर्हि? अचेतनस्यापि पृथिव्यादित्वेनापि तथा, तद्यथा—एकजातित्वात् पुद्गलानां पृथिव्युदकज्वलनपवनवनस्पत्यादित्वेन विपरिवर्तमानपरिणतीनाम-
१५३ नाद्यनन्तत्व एव वृत्तिर्वर्तनम्, तस्यात्मा स्वं तत्त्वं येषां परमाणूनां ते परमाणवः, तेषामनाद्यनन्तवर्तनात्मस्वतत्त्वानां वृत्तेः कलनात्मकं[2] रूपं भूयो भूयो विपरिवर्ततेऽभ्यावर्तते, रूपरसादिभेदपरिवर्तनैवद्गुण[3]भेदेनाप्येकद्वित्रिसङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तगुणभागहीनवृद्धकृष्णशुक्लत्वादिना वाभ्यावृत्तिः, एकांशस्यापि परमसूक्ष्मरूपादिभावपरमाणोरपि अनाद्यनन्तशोऽभ्यावृत्तिः । अतस्तदतीतानागतवर्तमानात्मकमेकं कूटस्थमविचालि अनपायोपजनविकारि अवृद्धि[4] व्ययायोगीत्यादि आदिग्रहणात्, ध्रुवादिसर्वनित्यलक्षणमेतदेव कलनात्मकद्धारण[5]मुपपद्यते, नाणुपुरुषनियत्यादिनित्यत्वम्, पूर्वापरीभावात्मकविपरिवर्तकलनस्य आदिमध्यावसानादर्शनादेवंलक्षणस्य नित्यत्वस्य । तस्माद् विश्वविकल्प[6]विवर्तवर्तनायाः कलनं काल इत्यभिसम्भन्त्स्यते । तच्च कलनं द्विविधम्, अस्मदाद्यसर्वज्ञं प्रति अनुमानमात्रगम्यमविविक्तं सर्ववस्तुसामान्यमात्रग्रहणम्, अमितपूर्णकोष्ठागारधान्यकलनवत्, यथा धान्यममित्वा कोष्ठागारे पूरितं 'कुम्भशतसहस्राद्यन्यतमपरिमाणम्' इत्युद्देशतो गृह्यते तथोद्देशमात्रतोऽतीतानागतवर्तमानवर्तनाकलनमस्मदादिभिः । सर्वज्ञं[7] च प्रति परमनिरुद्धे काले समये समये वृत्तायाः विविक्ताया वर्तनायाः सङ्ख्यान कलनं तत् कालः, कल सङ्ख्याने [पा० धा० ४९७, १८६६] इति प्रतीतेः । यथोक्तम्—

जं जं जे जे भावे परिणमति पयोगवीससादव्वं ।
तं तह जाणाति जिणो अपज्जवे जाणणा णत्थि[8] ॥ [आव० नि० ७९४] इति ।

एतद् वर्तनस्वतत्त्वकालनिरूपणम् ।

स तथेत्यादि । स एव कालस्तथाभूतेन वर्तनारूपेण[9] कलनार्थेन समाधिकरणेन[10] तां वर्तनामेव
१५४ सामान्यमभिन्नामत्यजन् 'भूतो भवति भविष्यंश्च' इति विशेषव्यपदेशं लभते, नान्यः कश्चिदकलनात्मकः[11] पदार्थो नियत्यादिरस्मत्त्वात् । स एव तु कलनलक्षणो भावस्त्रिधा भिद्यते तत्समाधिकरणत्वात् तत्स्वात्मकत्वाद् घटवत्, न व्यधिकरणो भूतो भवति भविष्यंश्चाकाल एव व्यधिकरणोऽतद्रूप एव ।

---

१ °त्तिनृतैव वृत्तेः भा० । °त्तिः वृतैव वृत्तेः पा० डे० लीं० वि० । °त्तिः मृतैव वृत्तेः र० ही० ॥ २ °त्मकरूपं य० ॥ ३ °नतद्गुण° प्र० ॥ ४ अवृद्धिव्ययायोगी° भा० । अत्र 'अवृद्धयव्यययोगीत्यादि' इति पाठ समीचीन इति भाति, दृश्यतां पृ० २१ पं० २२ । "अथवा नेदमेव नित्यलक्षण ध्रुव कूटस्थमविचाल्यनपायोपजनविकार्यनुत्पत्त्यवृद्ध्यव्यययोगि यत् तन्नित्यमिति । तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते । किं पुनस्तत्त्वम्? तद्भावस्तत्त्वम् ।" इति पातञ्जलमहाभाष्ये पस्पशाह्निके ॥ ५ °कयद्धारण° भा० । °कः पद्धारण° पा० डे० लीं० र० ही० । कयद्धारक° वि० ॥ ६ °विकल्प य० प्रतिषु नास्ति ॥ ७ सर्वं च प्रति भा० । सर्वं प्रति य० ॥ ८ नत्थि य० ॥ ९ वर्तमाना° य० ॥ १० °रणेन प्र० ॥ ११ °त्मकप° य० ॥

श्वेति विशेषव्यपदेशं लभते । स एव तु त्रिधा भिद्यते, अन्यथान्यस्याभावात् । स एव तथा कलयन् वर्तनेन कलयति, स एव कल्यते, तेन तस्मै चेत्यादि ।

एवमेव च स वर्तमानातीतयोः कारणावस्थयोरेव कार्याख्याभिमुख्येन गृह्यते एकत्र मेघादिरेकत्र पटादिः । ग्रहणवच्च स एव क्रियते तथा वृत्तेः क्रियया कल्यते ।

किं कारणम् ? अन्यथान्यस्याभावात्, इह ह्यन्यदन्यथा न भवति, यथा कुसुमं खपुष्पं न भवति खपुष्पं वा कुसुमं न भवति, घटो वा पटतया न भवति घटतया[1] पटो वा न भवति । किं तर्हि ? तदेव तद् भवति, कुसुममेव कुसुमम्, तदेव चान्यथापि भवति यथा कुसुममेव मुकुलितार्धविकसितसमस्तविकसितनवताम्लानादित्यादिना । एवं तावत् काल एव भाव इत्यभेदेन भवनं व्याख्यातम् । कारणभेदनापि[2] स एव तथा कलयन् वर्तनेन कलयतीति कलनस्य कर्तृत्वमनुभवतीति कलनं[3] भवतीत्यर्थः । स एव कल्यते क्रियते कर्म भवतीत्यर्थः पूर्वापरतया[4] कार्यकारणभावात् । तेन च तस्मै[5] चेत्यादि तस्यैव कलनस्य शक्तिभेदात्, तेन क्रियत इति करणता[6], तस्मै क्रियत इति सम्प्रदानता । [आदि]ग्रहणात् तस्मात् तस्मिन्निति अपादानाधिकरणभावावपि[7] ।

तस्यैवेदानीं कालस्य त्रिधा भिन्नस्याप्यभेदोपदर्शनार्थं ज्ञानेन क्रियया चैक्यमुच्यते—एवमेव चेत्यादि ज्ञानेन तावदेकत्र दृश्यते यावदेकत्र मेघादिरिति । एवमेवेति यथैव कर्तृकर्मकरणादिशक्तिभेदेऽप्यभिन्नः कालस्तथा स वर्तमानातीतयोः कारणावस्थयोरेव[8] सप्तम्यन्तोऽयं निर्देशः कार्याख्याभि- [१५५] मुख्येन गृह्यते कार्याङ्गीकरणेन तत्प्राधान्येन तादात्म्येनेति[9] यावत्, वर्तमानावस्थाया कार्याख्याभिमुख्येन अतीतावस्थाया चोत्तरावस्थाभिमुख्येन स एव कालो गृह्यते, किमुक्तं भवति ? कल्यते ज्ञायते । यथासङ्ख्यमेकत्र पटादिरेकत्र मेघादिः, वर्तमाने पटादिरतीते मेघादिः । तद्यथा—पुरुषो हि पूर्वाह्णे पटं पश्यन् अपराह्णेऽपि पट एवायं श्वोऽप्यपरेद्युरुत्तरेद्युरपि पट एवेति वर्तमानकालेऽपि पटमेष्यत्कालेऽपि पटमेव मन्यते । मेघे चोन्नतमात्रे वर्षति अथ 'ततः प्रलीनबीजमुत्पद्यते, मूलाङ्कुरादि भवति, ततः प्रलहीपोण्टम्, ततः कर्पासः, ततः सूत्रम्, ततः पटः' इत्यतीतकाल एव एष्यत्काले पटं मन्यते इत्यतः कार्याख्याभिमुख्येन स एव कालोऽतीतो वर्तमानश्चाभेदेन गृह्यमाणो दृष्टस्तस्मादभिन्नः । एवं ज्ञानेनैक्यमापाद्य क्रिययाप्यैक्यमापादयति अतिदेशेन—ग्रहणवच्च स एव क्रियते । किं कारणम् ? तथा वृत्तेः, एवं हि वर्तनम्, सैव हि क्रिया यथा गृह्यते तथा क्रियतेऽप्यभावनाभेदेनेति तत्कारकार्थं दर्शयति—क्रियया कल्यत इति । एवं तावदतीतवर्तमानयोः कारणयोः कार्याख्याभिमुख्येन ग्रहणकरणाभ्यामैक्यम्, आख्याभेदः शब्दमात्रेणैव भेदात् । तयोरप्यनागते, तयोः कारणयोरप्यनागते कार्येऽतीतवर्तमानयोः कारणाख्याभिमुख्येन

---

१ पटतया घटे समभवति पा० दे० टी० । पटतया घटतया न भवति वि० । पटतया घटयोम भवति दे० ही० । भा० प्रतौ तु इदं वाक्यमेव नास्ति ॥ २ कारकभेदनापीत्यर्थः ॥ ३ कलनं य० ॥ ४ पूर्वपर प्र० ॥ ५ तस्य चे प्र० ॥ ६ करणका[क ?]ना य० ॥ ७ भावावपि प्र० ॥ ८ योरेव पा० दे० ही० भा० ॥ ९ तदात्मनेनिति य० ॥

तयोरप्यनागते कारणाख्याभिमुख्येन कल्यमानता दृश्यते संयोगतन्त्वाद्युदकगर्भसर्जनपाचनादिवर्तनपटत्ववत् ।

अत एव च कलनमेव ह्येकं कार्यकारणवृत्तित्वेन विपरिवर्तितुं क्षममपुरुषकारमस्वभावमनियति संसारि अनादि । कालवृत्तेरेव पुरुषवाद्युक्तमुक्तिक्रमार्थतुरीयवचनादेव कालसामर्थ्यात् क्रमात्मलाभो घटते । मिथ्यादर्शनादिभिस्तत्प्रदोषनिह्नवादिभिश्च कर्मबन्धप्रक्रियोपपत्तेः संसारानादिता सन्तानाव्यवच्छेदाद्युज्यते । पुरुषवादिनः पुनः परमात्मनः शुद्धान्न युज्यते संसारो बन्धाभावात् । बन्धाभावः

कार्याख्याभिमुख्यकारणैक्यवद् ग्रहणकरणयोः[1] समाना कल्यमानता दृश्यते, ततोऽप्यैक्यमेव । तद्यथा— संयोगतन्त्वाद्युदकगर्भसर्जनपाचनादिवर्तनपटत्ववत्[2], यथा तन्तूनां सयोगं दृष्ट्वा रुतकर्पासप्रलहीपोण्ड-
१५६-१ प्रलहीमूलाङ्कुरादिजलसर्जनपाचनधारणमेघकलनानि वृत्तानि तथा च क्रियन्त[3] इति तान्येव वर्तनानि पट इत्येष्यत्पटे[4] एव तथा तन्तुवायस्य ग्रहणकरणाभ्यां प्रवृत्तत्वाद् वर्तमानातीतपटता दृष्टा इत्यैक्यमेव ।

अत एव चेत्यादि । एतस्मादेव कारणाद् वर्तनस्याप्रतीघाताद् व्यापित्वाच्च कारणान्तरापेक्षा नास्ति, कलनमेव ह्येकमनन्यसाधनं स्वयमेव कार्यकारणवृत्तित्वेन विपरिवर्तितुं क्षमम्, अपुरुषकारं चेतनाचेतनेषु वृत्तेरभेदात्, अस्वभावं जीवाजीवात्मकपरिणति[5]क्रमविवृत्त्यजस्रत्वात्, अनियति तथान्यथाभावविपरिवर्तवर्तनात्मकत्वादेव[6], संसारि रूपद्व्यणुकत्र्यणुकादिभूम्यम्बुव्रीह्याद्याहाररसरुधिरादिविपरिवर्तनस्वभावा[7]न्तरसङ्क्रमणलक्षणत्वात् संसारस्य, अत एवानादि, अनादित्वेन दूरमपक्षिप्ता नियत्यादिकारणान्तरापेक्षा अनेन कलनेन । तस्मादनादित्वात् कालवृत्तिः, अस्या एव कालवृत्तेरेव केवलायाः कारणान्तरनिरपेक्षाया हेतोः यदप्युच्यते पुरुषवादिना[8] 'पुरुषक्रियात एव सर्वम्' इति तदस्मादेव कालाद् भवति न पुरुषकारात्, अनादीनां यौगपद्याद्[9]आदिमतां पौर्वापर्ययुक्तवृत्तित्वात् तयोश्च कालत्वात् किल तेनैव पुरुषवादिना कालस्य समर्थितत्वादित्यत आह— पुरुषवाद्युक्तमुक्तिक्रमार्थतुरीयवचनादेव, सुपुप्तावस्था विशुध्यन्ती सुप्तावस्था भवति, सुप्तावस्था च जाग्रदवस्था भवति, जाग्रदवस्था विशुद्धा सती तुरीया मुक्त्यवस्था भवतीति कालसामर्थ्यात् क्रमात्मलाभो घटते, तस्मात् सुपुप्तादेरवस्थाविशेषव्यवस्थानस्य अनादिकालप्रवृत्त्यात्मकत्वं
१५६-२ परमात्मनो वर्तनतत्त्वस्य अस्मन्मत एवमेव घटते, न पुरुषवादे, क्रमाक्रमविकल्पाभावात् । अन्यथा अवस्थाचतुष्टयस्य एकसर्वगतनित्याक्रमकारणात्मकस्य कतमावस्था प्रथमा द्वितीया तृतीया तुरीया चेति ? किञ्चान्यत्, वृत्तिक्रमापादितकार्यकारणावस्थयोः कार्यकारणभावोपपत्तेर्मिथ्यादर्शनादिभिः[10] सामान्यहेतुभिः तत्प्रदोषनिह्नवादिभिश्च[11] विशेषहेतुभिः कर्मबन्धप्रक्रियोपपत्तेः संसारानादिता सन्तानाव्यवच्छे-

---

१ ग्रहकरणयोः प्र० ॥ २ °पटवत् य० ॥ ३ कार्यंते य० ॥ ४ सप्तम्यन्तोऽयं निर्देश ॥ ५ कंपरणति° य० ॥ ६ °रिवर्तनात्म° भा० ॥ ७ °वर्तनस्य भावा° प्र० ॥ ८ पुरुष एवादिना प्र० ॥ ९ °पद्या दिमतां प्र० ॥ १० "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव ।८।१।" इति तत्त्वार्थाधिगमसूत्रे ॥ ११ "कायवाङ्मन कर्म योग ।१। स आस्रव ।२। शुभ पुण्यस्य ।३। अशुभ पापस्य ।४। तत्प्रदोपनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयो ।११। दु खशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनानि आत्मपरोभयस्थानि असद्वेद्यस्य ।१२। भूतव्रत्यनुकम्पा दानं

कारणाभावादशरीरत्वादकरणत्वाच्च । प्रदोषाभावात् कर्माभाव[1] संसारानादिता ।

नापि तस्य नियते[2] संसारानादिता, अतत्त्वात् । यद् यदतत् तत् तन्न तन्नियति दृष्टम्, घटपटवत् । एवमेव तस्य स्वभावात् ।

तस्मात्त्वनादिवर्तनात्मकत्वात् कालस्य पृथिव्यादिव्रीह्यादिवृत्तिविवृत्तिप्रबन्धा-

---

दाद् युज्यते । पुरुषवादिनः पुनः परमात्मनः शुद्धात् कूटस्थादिनित्यात् कार्यकारणे द्वे अपि व्यतीतान्न युज्यते संसारो बन्धाभावात्, बन्धाभावः कारणाभावादशरीरत्वादकरणत्वाच्च, 'च'शब्दात् सर्वगतत्वादेकत्वानित्यत्वाभावत्वादयोऽपि हेतवः, प्रदोषादिकारणाभावे प्रदोषाभावात् कर्माभाव इत्यादि गतार्थं यावत् संसारानादिता ।

अत्राह नियतिवादी—तस्य समारम्भैव तथानियतेः संसारो भवति पुरुषपुद्गलयोरिति । अत्र ब्रूमः—नापि तस्य नियतेः संसारानादिता, कस्माद्धेतोः ? अतत्त्वात्, तद्भावस्तत्त्वम्, न तत्त्वमतत्त्वम्, तस्मादतत्त्वात् तन्नियतेन भवति संसारः, अतत्त्वं चास्य संसारस्य क्वचिदुपरमाभ्युपगमात्, स्वहेतोः साध्याविनाभावित्वोपप्रदर्शनार्थमाह—यद् यदतत् तत् तन्न तन्नियति दृष्टम्, यथा घटः पटनियतिर्न भवति पटोऽपि घटनियतिर्न भवति, तस्माद् घटपटवदतत्त्वान्नापि तस्य नियतेरिति साधूक्तम् । स्वभावः, एवमेव तस्य स्वभावात् । यदि ब्रूयात्—तस्य स्वभावात् संसारानादितेति, एतच्च नापि तस्य स्वभावात्, अतत्त्वात् । अतत्त्वमस्य पूर्ववद् मुक्त्यवस्थाभ्युपगमात् सिद्धम् । यद्यदतत् तत् तन्न १५७ तत्स्वभावं घटपटवदिति । एवं तावदनादिसंसारिता नोपपद्यते नियत्यादिवादे कालमन्तरेणेत्युक्तम् ।

इदानीं कालवादे तदुपपत्तिरुपवर्ण्यते—तस्मात् त्वनादिवर्तनात्मकत्वादित्यादि यावन्न न युज्यत इति । तस्मादिति प्रस्तुतात् कालात् संसारानादिता न न युज्यत इति सम्बध्यते । तुशब्दो विशेषणे, कालवाद एवैतदुपपद्यतेऽनादिसंसारित्वम्, यौगपद्यपर्यायत्वादनादित्वस्य यौगपद्यस्य च कालप्रभावाविनाभावित्वात् वर्तनवृत्तिपर्यायत्वाच्च कालस्येति तत्प्रदर्शनार्थं हेतुमाह—अनादिवर्तनात्मकत्वात् कालस्य, कालो हि युगपदनादिवृत्त्यात्मकः । नन्विदं प्रागुक्तेन विरुद्धं पूर्वपरादिवृत्तेरयौगपद्यादिति चेत्, न, वर्तनस्य यौगपद्यात्, तद्यथा—पृथिव्यादिव्रीह्यादिवृत्तीत्यादिदृष्टान्तग्रन्थः । यथा पृथिव्य-

---

सरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ।१३। केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ।१४। कषायोदयात् तीव्रात्मपरिणामश्चारित्रमोहस्य ।१५। बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः ।१६। माया तैर्यग्योनस्य ।१७। अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य ।१८। निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ।१९। सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ।२०। योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ।२१। विपरीतं शुभस्य ।२२। दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी सङ्घसाधुसमाधिवैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकृत्त्वस्य ।२३। परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ।२४। तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ।२५। विघ्नकरणमन्तरायस्य ।२६। इति तत्त्वार्थाधिगमसूत्रे षष्ठोऽध्यायः ॥

१ करणा भा० ॥　२ भावा य ॥　३ यतिर्न प्र० ॥　४ चास्य न भवति संसारस्य प्र० ॥　५ प्रमाविनाभावित्वात् य । प्रमात्रिन्वात् भा० ॥　६ वर्तनात् य० ॥　७ दिविवृत्ते भा० ॥　८ दिदृष्टा भा० वि ॥

स्वात्मविषयक्रियाबन्धसंसरणवज्जीवपुद्गलयोरभिन्नवर्तनस्वतत्त्वयोः स्वत एव बन्धक्रिया संसारक्रिया च वर्तनाभेदेन रूपभेदेन च कालस्यात्मस्वात्मन्येव क्रिया अनात्मस्वात्मनि वा युगपदेव बन्धसंसरणविहिता बन्धसंसारानादिता न न युज्यते ।

इत्यनादिवर्तनाप्रभेदपूर्वापरादिक्रमाद् भावान्तराणि क्रमेण प्राप्तानि भूम्यम्ब्वादियोगो बीजोद्भेदो मूलमङ्कुरः… …कुण्डकतन्दुलौदनः । जीवपुद्गलवृत्तिपरिवृत्तिभेदेन वर्तनैव आरम्भप्रवृत्तिनिष्ठाः । तदेव हि वर्तनं परिवृत्त्यपरिवृत्तिषु ।

स्वभावाख्याकाशपुरुषादयो युगपत् समेता लोकाख्यां लभमाना अनादयः, त एव च व्रीहियवगोधूमचूतपनसादित्वेन स्त्रीपुरुषमहिषाजगवयगवादित्वेन च वर्तन्ते सहैव, भूम्यादिव्रीह्यादित्वेन तादृश्योर्वृत्तिविवृत्त्योरव्यवच्छेदेन **स्व**[1] एवात्मा **विषयो**ऽस्याः **क्रियायाः** सा तेषां व्रीह्यादिभूम्यादीनां **वृत्तिविवृत्तिप्रबन्धेन** आत्मस्वरूपविषया **क्रिया**, सैव च **बन्धः** स्निग्ध[2]रूक्षवृत्त्या तेषां संश्लेषात्, अन्यान्य[3]रूपापत्तिः **संसरणम्**, तच्च अनादि युगपदुभयं बन्धनं संसरणं दृष्टम्, तथा **जीवपुद्गलयोरभिन्नवर्तनस्वतत्त्वयोः** स्वसाध्येभ्य एव साधनात्मभ्यः हेतुकार्यभूतेभ्यः कारणेभ्यः परस्पर[4]संश्लेषवर्तनेभ्य इव भूम्यादिव्रीह्यादीनां
१५७-२ हेतुभ्यः **स्वत एव बन्धक्रिया संसारक्रिया च वर्तनाभेदेन रूपभेदेन** चेति दृष्टान्तप्रसिद्धार्थव्याख्यानम् । दार्ष्टान्तिकव्याख्यानं तु **कालस्यात्मस्वात्मन्येव क्रिया अनात्मस्वात्मनि** वेति, कालस्य अभिन्नवर्तनस्वतत्त्वस्य भूम्यादिव्रीह्यादिबन्धसंसरणवदेव आत्मस्वात्मनि जीवस्वरूपे क्रिया अनात्मस्वात्मनि पुद्गलस्वरूपे वा **युगपदेव बन्धसंसरणविहिता** कालकृतबन्धसंसारविहिता तत्कृता विधातुरन्यस्याभावात्, सैषा संसारिता युगपदभिन्नानादिवृत्त्यात्मिका जीवपुद्गलयोः परस्परं स्वात्मपरात्मवृत्तिकृत**बन्धसंसारानादिता न न युज्यते** विरोधाभावादित्यभिप्रायः । एवं तावद् यौगपद्यलिङ्गकालकृतसंसारानादिता ।

पूर्वपरादिलिङ्गकालकृतसंसारानादिताप्यस्मिन् दर्शने न विरुध्यत एवेत्यत आह—**इत्यनादिवर्तना**[6]**प्रभेदे**त्यादि । इतिशब्दार्थ इत्थमर्थे, इत्थमुप[7]पादितानादिताया एव वर्तनायाः प्रभेदास्ते **पूर्वापरादिक्रमात्**[8], त एव **भावान्तराणि**[9] **क्रमेण प्राप्तानि** । कानि तानीति चेत्, **भूम्यम्ब्वादियोगो बीजोद्भेदो मूलमङ्कुर** इत्यादि गतार्थं यावत् **कुण्डकतन्दुलौदन**[10] इति । ओदनादप्यभ्यवहृताद् रसादि यावत् कडेवरम्, कडेवराद् मृत्, मृदो मृत्पिण्डः, मृत्पिण्डाच्छिवकः, पुनर्यावद् भूम्यादित्वेन परमाणुद्व्यणुकादिसङ्घाताः, **जीवपुद्गलवृत्ति**[11]**परिवृत्तिभेदेन वर्तनैव** आरभते प्रवर्तते नितिष्ठतीत्या**रम्भप्रवृत्तिनिष्ठाः** पुनर्विपरिणामोऽन्यरूपेणाविर्भावः स आरम्भः, प्रवर्तनं स्थितिः, निष्ठा तिरोधानम्, इत्येतदनुपरतं धर्मत्रयचक्रक्रमयुगपद्वृत्तावपि युगपद्वृत्तावपि, पूर्वाभिहितबन्धसंसरणवदुत्पत्तिस्थितिभङ्गा अपि वर्तनस्यात्मैव, **तदेव**
१०८-१ **हि वर्तनं परिवृत्त्यपरिवृत्तिष्वि**त्यविरोधं कालकारणवादस्य दर्शयति । तत्प्रसिद्धिप्रदर्शनार्थमाह—**ननु**

---

१ स्वत एवात्म य० ॥ २ "स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्ध" तत्त्वार्थसू० ५।३२ ॥ ३ अन्योन्ये रूपा° य० । अन्येरूपा° भा० ॥ ४ °स्परं भा० ॥ ५ °द्विवत्वसं° प्र० ॥ ६ इत्यादिनावर्तना° य० ॥ ७ इत्थमुपपादिताया एव भा० । इत्थमुपपादिता अनादिताया एव य० ॥ ८ °क्रमास् त एव पा० डे० लीं० । (°क्रमास्त एव) ? ॥ ९ भवा° प्र० ॥ १० अत्र 'कुण्डकतन्दुलौदना' इत्यपि पाठ स्यात् ॥ ११ °परिवर्त्ति° र० ही० विना । °परिवत्ति° र० ही० ॥

ननु कृषीवलादिभिरपि पर्युपास्यते तथा तथा आविर्भूतश्चूताङ्कुरकालो न तावदाविर्भूत इति।

तस्मादेव चावगमितद्रव्यक्षेत्रभावात्मनः सुषमादिभेदात्मकाद् भावभेदाः सम्भवन्ति कालस्य प्रभुविभुत्वाभ्याम्। एकसमायामपि संवत्सरवर्तनात् सुभिक्ष-दुर्भिक्षादिभावभेदाः एकमुहूर्तेऽपि लग्नवर्तनाद् भावभेदाः। तस्मादेव

कृषीवलादिभिरपि पर्युपास्यत इति, किं पुनर्विद्वद्भिरित्यर्थः, **तथा तथा** यथा यथासौ कालो व्यवतिष्ठते तथा तथा पुरुषः पर्युपास्ते, **आविर्भूतश्चूताङ्कुरकालो न तावदाविर्भूत** इत्याविर्भूता-नाविर्भूतात्मा।

तस्मादेव चेत्यादि। तस्मादेव च वर्तनालक्षणात् कालादवगमितद्रव्यक्षेत्रभावा आत्मानोऽस्य तस्मादवगमितद्रव्यक्षेत्रभावात्मन अवगमितद्रव्यक्षेत्रभावात्मकादित्यर्थः। प्राग्[1] निमित्तं द्रव्यं भूम्यादि-व्रीह्यादि, द्रव्यात्मा काल इति, घटो व्रीह्यादय इति क्षेत्रम्, भावो रूपादयः, न केचिद् युगपदात्मिका वृत्तिप्रख्यातिं कालमन्तरेण इति कालस्यावगमनं वर्तत एव। तस्माद्[3]द्रव्याद्यात्मकात् कालात्[4] सुषमसुषमा-दिभ्य उत्सर्पिण्यवसर्पिण्याख्यकालभेदेभ्यः परमनिरुद्धसमयत्वेनाभिन्नादपि **सुषमादिभेदात्मकाद्[5] भाव-भेदाः सम्भवन्ति,** तद्यथा—सुषमसुषमायां सुषमायां सुषमदुष्षमायां चात्रैव भारते क्षेत्रे देवलोकवद् भवन्ति प्रतनुक्रोधमानमायालोभाल्पद्वयेकगव्यूतोच्छ्रितदेहाः सातत्योपमजीविन्यो मिथुनधर्मिकाः प्रजा मण्यङ्गादिकल्पतरुकल्पितोपभोगविषयः, स्वादुसुरभिजला चतुरङ्गुल[6]हरिततृणा निम्नोन्नतवर्जिता सुरभिस्वादु-रसा सुखस्पर्शादिगुणा भूमिरित्यादि। स एष पुनरनुभावः **कालस्य प्रभुविभुत्वाभ्याम्,** काल एव हि प्रभवति विभवति च सर्वभावभेदानामुत्पत्तिस्थितिप्रलयैकात्मप्रभेदमात्राणाम्। तथा दुष्षमसुषमायां[7] १५८ २
सुखदुःखसमत्वाद्[8] भूयिष्ठसुखत्वाद्[9] धर्माचारभूयिष्ठत्वाच्च मनुष्यलोकवद् भावभेदाः। दुःषमायामाहारभय-मैथुनपरिग्रहसञ्ज्ञाप्राचुर्यादधर्मकर्ममार्गप्रस्थानभूयिष्ठत्वाच्च[10] तिर्यग्लोकवत्। दुःषमदुःषमायां नरकलोकवद् दुःखैकरसत्वात्। तथा कृत-त्रेता-द्वापर-कलियुगसञ्ज्ञाविभागेषु व्याख्याविकल्पमात्रभेदेषु युगेषु। किञ्चान्यत्—**एकसमायामपि** भावभेदास्तत्प्रभुविभुत्वाभ्यामेव, **संवत्सरवर्तनाद् सुभिक्षदुर्भिक्षादिभावभेदाः,** एवमुक्तानार्थाः भावभेदा नेया यावदेकमुहूर्तेऽपि **लग्नवर्तनात्** नालिका-लवादिभेदेन च **भावभेदा** नेया यावत् परमनिरुद्धे[11] समयवर्तनेऽयस्मिन्[12] यस्मिन्निति। एकस्मिन्नपि काल उत्पातादिवर्तनाद् भावभेद-

---

१ प्रागभिहितं द्रव्यं भूम्यादिव्रीह्यादि' इत्यपि पाठोऽत्र स्यादिति भाति॥ २ दृश्यतां पृ० २०५ पं० ७॥ ३ एतस्माद् भा०॥ ४ कालादुषमसुषमसुषमादिभ्यः पा० डे० लीं०॥ ५ अत्र सुषमसुषमादि इत्यपि पाठः स्यात्॥ ६ विप्फुरिदपंचवण्णा सद्दावमउया य मउररसजुत्ता। चउरंगुलपरिमाणा तणाणि जाएदि सुरहिगंधड्ढा॥३११॥" इति तिलोयपण्णत्तिग्रन्थे चतुर्थे महाधिकारे॥ ७ दुःषम य०॥ ८ सुखसमत्वाद् भा०। सुखसमदुःखसम त्वाद् य०॥ ९ भूयिष्ठसु पा० डे० लीं० ले० हा०। भूयिष्ठासु वि०। भूयिष्ठ्यासु भा०॥ १० भूयिष्ठ्य त्वाच्च य०॥ ११ रुद्ध प्र०॥ १२ न्यथास्मिन्निति प्र०॥

मुहूर्तजातानामपि पुरुषाणां तन्मात्रभेदप्रभेदस्वामिभृत्यादि । तस्यैव च व्यापित्वात् तथा तथा युगपदेव पश्यतामर्हतां प्रवचने कालज्ञानमवितथं दृश्यतेऽद्यतनेष्वपि केषुचित् पुरुषेषु । अतिसौक्ष्म्याच्चास्य तज्ज्ञानाभिमुखानां क्वचिद् वचनविसंवदनमपि । अत एव च साशङ्कमन्वाहुरन्ये—

कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्त्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥ [ ]

व्यभिचार इति चेत्, न, कालदोषाभावात्, उत्पातोपघातस्यापि कालकृतत्वात् कस्यचिद् भावस्य व्याध्युप[1]घातात् कालेऽपि शुनो मैथुनाभाववत् तस्य व्याधिकालमरणकालादीनां तथाभावात् ।

तस्मादेवेत्यादि । तस्मादेव आवलिकादिस्वरूपवर्तनभेदादेव **मुहूर्तजातानामपि पुरुषाणां तन्मात्रभेदप्रभेदस्वामिभृत्यादि**[2], कश्चित् स्वामी कश्चिद् भृत्यो भवतीति जन्मकालभेदाद् भावभेदा अनुमातव्या धूमादग्निवत् । आदिग्रहणात् सुरूपदुरूप[3]सुभगदुर्भगप्राज्ञाप्राज्ञादिभावभेदाः । **तस्यैव च व्यापित्वात्**, चशब्दात् प्रभविष्णुत्वाच्च, एवं हि कालकारणस्य प्रभुता व्यापिता च, यत एतद्वर्तनावर्त-
१५९-१ विपरिवर्तभेदप्रभेदास्तथा **तथा युगपदेव पश्यतां** विश्वदृश्वनाम**र्हतां प्रवचने कालज्ञानमवितथं** प्रमाणीभूतं तद्विपर्यं **दृश्यतेऽद्यतनेष्वपि केषुचित् पुरुषेषु** कलिबलमलीमसप्रज्ञेष्वपि । स्यान्मतम्—क्वचिद् विसंवदनदर्शनात् कालज्ञानाप्रामाण्यमिति, एतच्चायुक्तम्, **अतिसौक्ष्म्याच्चास्य**[4] **तज्ज्ञानाभिमुखानां क्वचिद् वचनविसंवदनमपि** प्रणिहितधियामपि पुंसां क्वचिज्ज्ञानविसंवादात्, कालसौक्ष्म्यं दुरुपलक्ष्यत्वात् कारणम्, छद्मस्थानां ज्ञेयानन्त्यादज्ञानबहुत्वाज्ज्ञानपरिमितत्वाच्च सर्वस्य सरागस्य ज्ञानादज्ञानं बहुलमिति । तथा च—

[5]केई णिमित्ता तहिया भवंति केसिं च[6] तं विप्पडिएति णाणं । [सूत्रकृताङ्ग १२।१०]

अत एव[7] च साशङ्कमन्वाहुरन्ये, न विनिश्चितं प्रसह्य, यथा **कालः पचती**त्यादि, भूतानां वर्तनात्मकात् कालादन्यत्वाभ्युपगमादनन्यत्वेन कालवर्तनात्मकत्वेनैव न विनिश्चितम् । तथा प्रजानामन्यत्वे संहरणं सुप्तानां[8] जाग्रतां वा तदन्यत्वेन निर्देशादविनिश्चितत्वात् साशङ्कमेव भेददर्शनानुपातेनोक्तत्वात् ।

---

१ व्यब्युपघा° य० । व्यत्युपघा° भा० ॥ २ °भेदप्रभवात्स्वामि° भा० ॥ ३ °दुरूप° प्र० ॥ ४ °क्ष्म्यात्तस्य य० ॥ ५ **केयं णिमित्ता तयिया** प्र० । "केई निमित्ता तहिया भवंति केसिंचि तं विप्पडिएति णाण । ते विज्जभावं अणहिज्जमाणा आहसु विज्जापरिमोक्खमेव ॥ १२।१० ॥ ननु व्यभिचार्यपि श्रुतमुपलभ्यते, तथा हि—चतुर्दशपूर्वविदामपि पट्स्थानपतितत्वमागम उद्घुष्यते, किं पुनरष्टाङ्गनिमित्तशास्त्रविदाम्? अत्र चाङ्गवर्जितानां निमित्तशास्त्राणामानुष्टुभेन छन्दसा अर्धत्रयोदश शतानि सूत्रम्, तावन्त्येव सहस्राणि वृत्तिः, तावत्प्रमाणलक्षा परिभाषेति । अङ्गस्य त्वर्धत्रयोदश सहस्राणि सूत्रम्, तत्परिमाणलक्षा वृत्ति, अपरिमित वार्तिकमिति । तदेवमष्टाङ्गनिमित्तवेदिनामपि परस्परत पट्स्थानपतितत्वेन व्यभिचारित्वमत इदमाह—**केई**त्यादि, छान्दसत्वात् प्राकृतशैल्या वा लिङ्गव्यत्यय, कानिचि**न्निमित्तानि तथ्यानि** सत्यानि **भवन्ति । केषाञ्चित्तु** निमित्तानां निमित्तवेदिनां वा बुद्धिवैकल्यात् तथाविधक्षयोपशमाभावेन **तद्** निमित्त**ज्ञानं** विपर्यासव्यत्ययमेति ।' इति शीलाङ्काचार्यविरचितायां सूत्रकृताङ्गवृत्तौ ॥ ६ **च ण वि°** य० ॥ ७ **एव सारा°** य० ॥ ८ **सुप्तानां जाता वा** प्र० ॥

ये पुनर्विनिश्चितधियस्त एव वदन्ति—

काल एव हि भूतानि काल संहारसम्भवौ ।
स्वपन्नपि स जागर्ति कालो हि दुरतिक्रम ॥

ननु तै सर्वे 'स्वभाव एव भवति' इति भाव्यते । यत् पुरुषादयो भवन्ति स तेषा भाव, तैर्भूयते यथास्वम् । तथा च स्वभावे सर्वस्वभवनात्मनि भवति

ये पुनर्विनिश्चितधियस्ते भृशमेव वदन्ति, तद्यथा—काल एव हि भूतानि भूतत्वेन कालस्यैव वर्तनात् । काल संहारसम्भवौ, यथोक्त प्राक् 'रूपादयो न केचित् कालमन्तरेण' इति भूम्यादिव्रीह्यादिपदार्थान्यैव सम्भवसंहारक्रिये इति च 'न चैष संसारो' इति वचनाच्च । स्वपन्नपि जागर्ति, स एव स्वपिति जागर्ति च, न तु स्वपद्भ्यो जाग्रद्भ्यो वा व्यतिरिक्त कश्चित् ते वा तत, स्वप्रभेदक्रमसदवृत्तिमात्रत्वाज्जाग्रत्स्वपदवस्थयो, सुषुप्त्यानाविर्भूतात्मनस्तस्यैव कालस्य जाग्रद्दशाभिव्यक्तविक्रमत्वात् क्वचित् क्रमेण भेदवृत्तिविजृम्भितत्वात् सामान्यवर्तनस्य सुप्तविबुद्धादिस्वप्रभेदेषु अव्याघातादिति कालकारणवादो विधिविधिविकल्प एव समाप्त । १७२ २

वद्विकल्प एव स्वभाववादोऽधुना—ननु तै सर्वैरित्यादि । इह स्वतन्त्रश्च पुरुष एव भवतीति स्वातन्त्र्ये सत्यपि ज्ञानरूपारूपक्रियाऽक्रियादिनियमानियतिरेवेति सर्वत्र वर्तनरूप प्रभुविभुत्वाभ्या काल एव भवतीति च एतैर्वादिभिर्ननु स्वभाव एव भवतीति भाव्यते, भवन् भाव्यते तैरेव प्रतिपाद्यते । किं कारणम् ? द्रव्यार्थप्रसवाद् यत् पुरुषादयो भवन्ति स तेषा भाव, येथा सर्वभावा स्वेन भावेन भवन्ति स तेषा भाव [पा० वा० ५।१।११९] इति वचनाद् 'येन भावेन यो भवति स तस्य भावस्वरूपमात्मीयो भाव स्वभाव इत्यनर्थान्तरम्, ततश्च तत्र ते भवन्तीति तदात्मानोऽभिसम्बध्यन्ते पुरुषादीनामात्मानो भवन्ति, तैर्भूयते यथास्वमिति भावेन तेषामभिसम्बन्ध । ते भवनस्य कर्तृत्वमनुभवन्ति ज्ञानस्वातन्त्र्यनियमवर्तनात्मक तत् तदिति वदद्भि स स स्वभाव एव परिगृहीतो भवति ।

एव च स्वभावपरिग्रहे सति कारणान्तरपरिकल्पना व्यर्थेत्यत आह—तथा च स्वभावे सर्वेत्यादि यावत् के ते ? सर्वभावाना पुरुषादीना स्व स्व भवनमात्मा यस्य सोऽयं सर्वस्वभवनात्मा, तस्मिन् स्वभावे भवति भवनस्यानुभवितरि कर्तरि स्वतन्त्रे भवति भवतेर्वा कर्तरि सति सिद्धे स्वभावे

---

१ दृश्यतां पृ० २० पं० २ ॥ २ दृश्यतां पृ० २१६ पं० २ ॥ ३ स्थाया प्र० ॥ ४ भाव्यते रेव प्र य० । भाव्यते रेव प्र भा० ॥ ५ अत्र यद्वा इति पाठ समीचीनो भाति पातञ्जलमहाभाष्यानुसारेण । 'यद्वा सर्वे भावा स्वेन भावेन भवन्ति स तेषां भावस्तदभिधान [पा० वा] । किमभिप्रायो भावग्रहणे क्रियते ? एतेन शब्द प्रतिनिर्दिश्यते द्रष्टव्यार्थ । यद्वा सर्वे शब्दा स्वेनार्थेन भवन्ति स तेषामर्थ इति तदभिधाने त्वतलौ भवत इति वक्तव्यम् । इति पाणिनीयशब्दानुशासनस्य कात्यायनविरचितवार्तिकोपरि पातञ्जलमहाभाष्ये पाठ ॥ ६ येन येन य० ॥ ७ तत्रात्मनो प्र० ॥ ८ पादात्मानो य० ॥ ९ कर्तृमनु प्र० ॥ १० अत्र सर्वभावस्व इत्यपि पाठ स्यात् ॥

सिद्धेऽर्थान्तरनिरपेक्षे के ते? तेषामपि हि स्वत्वं स्वभावापादितमेव, अन्यथा ते त एव न स्युरनात्मत्वाद् घटपटवत्। एवमेव तत्र तत्र पुरुषादिस्वभावानतिक्रमात् सर्वैकत्वमभिन्नं तद्भाववत्त्वादेव वर्ण्यते इति स्वभावः प्रकृतिरशेषस्य।

पुरुषादीनां च स्वत्वे सत्त्वानपोहात् तुल्ये काल एव भवनात्मा न पुरुषादय इति न स्वभावादृते सिध्यति।

सिद्धस्यासाध्यत्वात् सिद्धौदनवद**र्थान्तरनिरपेक्षे** तैरेव वादैः प्रतिपादिते **के ते** पुरुषादयः? न ते भवन्तीत्यर्थः, किं तैर्विना स्वभावस्य न प्रतिप्राप्तं कार्यम्?। स्यान्मतम्—तेषां स्वो भाव आत्मीयः स्वभाव इति तानपेक्षत इति, एतच्चायुक्तम्, यस्मात् **तेषामपि स्वत्वं स्वभावापादितमेव,** ते ह्यात्मानः स्व, तद्भावः स्वत्वम्, तद्धि तेषां स्वत्वं पुरुषादीनां केनापादितम्? स्वात्मभिरेव। यद्येवं स्वः स्वो भावः स्वभावः १६०-१ [1]परस्परविविक्तः स्वभाव एवेत्यापादितं स्वात्मभिरेव तत। **अन्यथा** यदि तदात्मत्वं तेषामात्मभा[2]वापादितमेव न स्यात् ततस्ते **त एव न स्युरनात्मत्वाद् घटपटवत्,** यथा घटः पटानात्मत्वात् पटो न भवति पटोऽपि घटानात्मत्वाद् घटो न भवति एवं पुरुषादयोऽप्यात्मानात्मत्वादात्मानो न स्युः, न स्युरेव वा अनात्मत्वात् खपुष्पवत्। [3]तस्य स्वभावकारणत्वस्य व्याप्तिप्रदर्शनार्थमाह—**एवमेवे**त्यादि, इत्थमेवैतत्, अवश्यमे[4]त्रैव **तत्र तत्र** यथात्र स्वभाववा[5]दे स्वभावानतिक्रमात् स्वभाव एवेत्यभिन्नं स्वभावव्यतिरिक्तार्थाभावात् तस्य चाभिन्नत्वात् तथा तत्र तत्र पुरुषनियतिकालादिवादेपूक्तविधिना **पुरुषादिस्वभावानतिक्रमात् सर्वैकत्वमभिन्नं तद्भाववत्त्वादेव वर्ण्यते,** आत्मभवनस्य नियमात्मभवनस्य वर्तनात्मभवनस्यान्यस्य [6]वा तस्य तस्य स्वभावादेव वर्णनात्। इतिशब्दो हेत्वर्थे, अस्मादुक्तहेतोः **स्वभावः प्रकृतिरशेषस्य** योनिर्बीजं प्रभवः कारणमित्यर्थः।

किञ्चान्यत्, **पुरुषादीनां च स्वत्व** इत्यादि, द्रव्यार्थस्य कञ्चिदपरित्यज्य वृत्तेर्नयानां पूर्वविरोधित्वादुत्तरानुवृत्तेश्च कालस्य पुरुषाद्यपरित्यागेन वृत्तिं तावद् दर्शयति, कालवादे पुरुषादीनां स्वत्वं [7]सत्त्वानपोहात्, कथं सत्त्वमनपोढम्? संसार्यनादित्वाभ्युपगमात् [8]पुरुषत्वम्। तस्मिन्नेव काले नियतेरप्यात्मत्वं सत्त्वानपोहात्, सत्त्वानपोहश्च युगपदयुगपन्नियतार्थाभ्युपगमात्। एवं कालवादे नियतिपुरुषयोः सत्त्वाभ्युपगमः। तथा पुरुषवादे नियतेः कालस्य चात्मत्वं सत्त्वानपोहात्, कथं सत्त्वानपोहः? मुक्तिक्रमाभ्युपगमात् कालसत्त्वान[9]पोहः, अवस्थानियमाभ्युपगमान्नियतिसत्त्वानपोह इत्यादि। एवं नियतिवादे काल- १६०-२ पुरुषयोः स्वत्वमात्मत्वं सत्त्वानपोहात्, कालसत्त्वानपोहः '[10]अनादिमध्यान्तां नियतिम्' इति कालसत्त्वाभ्युपगमात् तां [10]सम्प्रपश्यन् सर्वज्ञ इति पुरुषसत्त्वाभ्युपगमात्। एष द्रव्यार्थस्य सर्वत्र सर्वसत्त्वात् स्वभाव इत्युद्ग्राहः कृतो भवति, तत्र **सत्त्वानपोहात्** [11]सत्त्वे **तुल्ये काल एव भवनात्मा न पुरुषादय इति न**

---

१ परवि° भा० ॥ २ °भावादि° प्र० ॥ ३ पस्य पा० डे० लीं० वि० । पृस्य भा० । परस्य र० ही० ॥ ४ °मत्रैव प्र० ॥ ५ °वादे व स्व° य० ॥ ६ च तस्य य० ॥ ७ सतत्वान प्र० ॥ ८ 'पुरुषस्वत्वम्' इत्यपि पाठोऽत्र स्यात् ॥ ९ °नपोहात् य० ॥ १० दृश्यतां पृ० २०४ पं० २ ॥ ११ अत्र स्वत्वे इत्यपि पाठ स्यात् ॥

न, अतुल्यत्वात् सत्त्वस्य, कालस्यैवैकस्य व्रीहिवत् तथा तथा भवनात् पुरुषादेश्च पृथक् पृथग्भिन्नभावात्मकभवनात्। नन्वेवमपि 'कालस्यैव नान्यस्य' इति स्वभाव एव परिगृहीतो भवति, तथा च पुरुषादीना कारणकार्यनियमात्।

कालस्यैव तत्त्वात् कारणकार्यविभागाभावात् सामान्यविशेषव्यवहाराभाव एवेति चेत्, एवमपि स एव स्वभाव। पूर्वादिव्यवहारलब्धकालाभावश्चैवम्, अपूर्वा-

---

स्वभावादृते सिध्यति तत्स्वतत्त्वस्य सत्त्वाविनाभावात्, कालोदाहरण तु कालवादिदूषितपुरुषादिवादानामपि तद्दूषणेन दूष्यत्वात् तत्प्रतिपादनवत् प्रतिपाद्यत्वाच्च। यथोक्तम्—

समनन्तरानुलोमा पूर्वनिरुद्धा 'निवृत्तनिरनुशया। [ ] इति।

कालवाद्याह—न, अतुल्यत्वात् सत्त्वस्य, कालसत्त्वपुरुषसत्त्वयोरन्योन्येनातुल्यत्वात्। कथमतुल्यता? कालस्यैवैकस्य व्रीहिवत्तथा तथा भवनात् पुरुषादेश्च पृथक् पृथग्भिन्नभावात्मकभवनात्, यथा व्रीहिरेवैको मूलाङ्कुरादिभावेन भवति तथा काल एव तथा तथा वर्तनात्मा भवति व्रीहिवद् मूलाङ्कुरादित्वेन, न तथा पुरुषादयो भिन्नात्मभवनादिति। अत्रोच्यते—नन्वेवमपि कालस्यैव नान्यस्येति 'कालस्यैव भवन न पुरुषादे' इति वचनात् सुतरा कालस्यासौ भवनात्मेति स्वभाव एव परिगृहीतो भवति। यथा च त्वयोच्यते सत्त्वातुल्यता कालस्यैव व्रीह्यादिवदङ्कुरादिवच्च पुरुषादीना भवनमिति तथा च पुरुषादीना कारणकार्यनियमादपि चैवस्वभाव काल कारण व्रीह्यादिवत्, कार्य पुरुषादयोऽङ्कुरादिवत्, नियमात् स स तस्य स्वभाव इति स एव स्वभाव परिगृह्यते परै। पूर्वत्र सत्त्वस्य हेतुत्वेन १६१ १
विवक्षितस्य सत्त्वाविनाभावित्वेन भावना, इह सिद्धस्यैव स्वभेदेष्वभेदेन व्यवस्थितस्य सामान्यविशेषव्यवहारप्रसिद्धिभावनेति विशेष।

कालस्यैव तत्त्वादित्यादि यावदभाव एवेति चेत्। स्यात् मत भवत—त्रैकाल्यैककूटस्थत्वात् कालस्यैव तत्त्वात् कालवादे 'कारण कार्यम्' इति विभागाभावादसौ सामान्यविशेषव्यवहाराभाव एव, मिथ्यात्वाद्वास्य व्यवहारस्यासद्विषयत्वादिति चेत्, एवमपि स एव स्वभाव भवतीति वाक्यशेष, कालस्यैव हि स स्वभावो यदसौ भवतीति स्वभावपरिग्रह। किञ्चान्यत्, व्यवहारप्रत्याख्याने प्रागभिहितकालास्तित्वानुमानप्रत्याख्यानदोष, तद्यथा—पूर्वादिव्यवहारलब्धकालाभावश्चैवमपूर्वादित्वान्नियतिवत्। यथा पूर्वपरादिकारणकार्यव्यवहाराभावाद् नियतिर्नास्तीत्युच्यते तथा कालोऽपि तदभावान्नास्तीति प्राप्तम्। यदपि च कालानुमान युगपदयुगपद्वृत्त्या घटरूपादीना व्रीह्यङ्कुरादीना चोच्यते तदपि स्वभावानुमानमेव सम्पद्यते, यस्माद् युगपदयुगपदित्यादि, 'युगपद्वर्तनात् क्रमवर्तनाद्वातिरिक्तस्य कस्यचिदभावात् काल एव' इत्युद्दिश्य निर्देशाय घटरूपादि व्रीह्यङ्कुरादि चोदाहृत तस्योद्देश्यस्य निर्देश्यस्य च भावस्य तेन तेनात्मना भवतो भवनादेव तु विशेषणेन स्वभावोऽभ्युपगत इति दर्शनायम्।

---

[1] निवृत्तिनिर य०॥ [2] दित्वेन तथा य०॥ [3] मात्म(मात्?) स तस्य प्र०॥ [4] स(स्व?)त्यानि प्र०॥ [5] तुर्विशेषणेव भा०। अत्र तुर्विशेषणे, विशेषणैव' इत्यपि पाठ स्यात्॥ [6] °गम प्र०॥

दित्वात्, नियतिवत्। युगपदयुगपद् घटरूपादीनां व्रीह्यङ्कुरादीनां च तथा तथा भवनादेव तु स्वभावोऽभ्युपगतः।

तथा च दृश्यते तेष्वेव तुल्येषु भूम्यम्ब्वादिषु भिन्नात्मभावं प्रत्यक्षत एव कण्टकादि। तदेव तीक्ष्णादिभूतम्, न पुष्पादि तादृग्गुणम्। तच्च वृक्षादीनामेव। तथा मयूराण्डक········ मयूरादिवर्हाण्येव विचित्राणि। अन्वाह च—

कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां च।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः॥
केनाञ्जितानि नयनानि मृगाङ्गनानां को वा करोति रुचिराङ्गरुहान् मयूरान्।
कश्चोत्पलेषु दलसन्निचयं करोति को वा करोति विनयं कुलजेषु पुंसु॥ [ ]

यदि स्वभाव एव कारणं किं न स्वभावमात्रादेव भूम्यादिद्रव्यविनिर्वृत्तिनिरपेक्षा कण्टकाद्युत्पत्तिर्भवेत्? किमन्यथापि न स्यात्? कण्टकः किमर्थं विध्यति?

अथवा नैतद् युक्तिगम्यं स्वभावकारण्यम्, तथा च दृश्यते तेष्वेव तुल्येषु भूम्यम्ब्वादिषु
१६१-२ हेतुषु भिन्नात्मभावं प्रत्यक्षत एव कण्टकादि, कण्टकस्य मूलतः क्रमहीनतनुरायता, आदिग्रहणात् पत्राङ्कुरादि संस्थानवर्णादि भिन्नात्मभावम्। पुनस्तदेव कण्टकादि तीक्ष्णादिभूतम् तीक्ष्णं तीक्ष्णतरं कुण्ठं कुण्ठतरं सविषं निर्विषमित्यादि, न पुष्पादि तादृग्गुणं सुकुमारादिस्वभावं सुरभिदुर्गन्धादिस्वभावं च। तच्च वृक्षादीनामेव, तच्च कण्टकादि वृक्ष[2]-वल्ली-क्षुपादीनामेव, तत्रापि वर्वलादीनामेव न न्यग्रोधादीनाम्[3]*। न चैषा मयूरचन्द्रका[4]दिता वृक्षादीनाम्, न च वर्हिणपारापतादीनां कण्टकादि। तथा मयूराण्डके[5]त्यादि यावद् [6]विचित्राणि, वर्हादी*नामेव पञ्चवर्णता नोदकादीनाम्, ता[7]न्यपि च मयूरादिवर्हाण्येव विचित्राणि न शुकादिवर्हाणीति। अन्वाह चेति पूर्ववज्जिनवचनानुसारेणैव। कः कण्टकानामित्यादि केनाञ्जितानीत्यादि च गतार्थे वृत्ते।

इतर आह—यदि स्वभाव एव कारणमित्यादि यावत् किञ्चिच्च नेति। अर्थान्तरव्यपेक्षोत्पत्तिदर्शनान्न स्वभाव एव कारणम्, आस्ये कवलप्रक्षेपवत्। दृष्टा च कण्टकादेरुत्पत्तिर्भूम्यादिद्रव्यविनिर्वृत्तिव्यपेक्षैवानपह्नवनीया। सा च न स्याद् भूम्यादिद्रव्यनिर्वृत्तिव्यपेक्षोत्पत्तिः स्वभावादेव, स्वभावस्यार्थान्तरनिरपेक्षकारणत्वात्। यदि च स्वभाव एव कारणं किं कारणं न स्वभावमात्रादेव भूम्यादिद्रव्यविनिर्वृत्तिनिरपेक्षा कण्टकाद्युत्पत्तिर्भवेत्? किं च कारणमन्यथापि न स्यात्? भूम्याद्यन्तरेण निर्वृत्तिः कण्टकस्य किं न स्यात्? किं वा कण्टकस्य सौकुमार्यं कुसुमस्य वा तैक्ष्ण्यं न स्यात्? सोऽपि कण्टकः किमर्थं

---

१ दृश्यता पृ० १९१ पं० २२॥ २ "वृक्षो महीरुह शाखी ।४।५। ह्रस्वशाखाशिफ क्षुप ।४।८। वल्ली तु व्रततिर्लता· ।४।९।" इति अमरकोशे॥ ३ **एतच्चिह्नान्तर्गतो °नाम् इत्यत आरभ्य वर्हादी° इत्यन्त· पाठो भा० प्रतौ नास्ति॥ ४ °कादीना वृ° वि० विना। °कादीनां वृ° वि०॥ ५ मयूरांगके° प्र०। 'तथा मयूराण्डकरसादुत्पन्नत्वे समानेऽपि वर्हादीनामेव पञ्चवर्णता, मयूरादिवर्हाण्येव च विचित्राणि' इत्यर्थकं मूलमत्र सम्भाव्यते॥ ६ वैचित्र्याणि वि० र० ही०॥ ७ नान्यदपि च प्र०॥

किमर्थं च कदाचिद् विध्यति? किमर्थं किञ्चिदेव विध्यति किञ्चिच्च न? ननूत्पातादिस्वभावनियमवशादनपेक्षितद्रव्यकालादिरपि दृष्टैव कण्टकाद्युत्पत्तिः। अपि च भूम्यादिद्रव्यविनिर्वृत्त्यपेक्षैव कण्टकनिर्वृत्तिरिति ब्रुवता स्वभावसिद्धिस्त्वयैव वर्ण्यते, भूम्यादिभ्य एव कण्टको भवतीति तत्स्वभाववर्णनात्।

यथा पृथिव्यादिस्वभावो विश्वथा कण्टकादिरेव निमित्तानामपि निमित्तता

विध्यति? कुसुमं किं न विध्यति? किमर्थं च कदाचिद् विध्यतीति, तीक्ष्णोऽपि [1]वेधस्वभावोऽपि सर्वकालं किं न विध्यति कण्टकः? किमर्थं किञ्चिदेव विध्यति, न सर्वम्? तदपि किं[3] क्वचिदेव प्रदेशे विध्यति न सर्वत्र? इत्यत्र विशेषहेतुर्वाच्यः। दृष्टश्चायं नियमोऽर्थान्तरापेक्षः, स तु स्वभावस्यार्थान्तरनिरपेक्षत्वान्नोपपद्यते इति। १६२१

अत्रोच्यते—ननूत्पातादिस्वभावेत्यादि यावद् दृष्टैव। यदुच्यते 'भूम्यादिद्रव्यविनिर्वृत्त्यपेक्षैवो[4]त्पत्तिर्दृष्टा' इत्येतत्तदुपेक्षोत्पत्तिदर्शनात् [5]स्वभावाव्यभिचाराच्च स्वभाव एवेति मन्तव्यम्। तद्यथा—उत्पातादिषु अकण्टकानां वृक्षादीनां कण्टकाः कण्टकिनां चाकण्टका निध्यादिलिङ्गत्वेन दृष्टाः। यथोक्तम्—

> अकण्टकाः कण्टकिनः कण्टकाश्चाप्यकण्टकाः।
> विपर्ययेण दृश्यन्ते वदन्ति निधिलक्षणम्॥ [ ] इति।

अत्र सत्यामपि भूम्यादिद्रव्यनिर्वृत्तौ कण्टकाभावादसत्यामपि एतद्द्रव्यकालादिनिर्वृत्तौ कण्टकदर्शनाच्च नापेक्षास्ति स्वभावस्य। किन्तु **उत्पातादिस्वभावनियमवशादनपेक्षितद्रव्यकालादिरपि दृष्टैव कण्टकाद्युत्पत्तिः**, न पुनस्तं स्वभावमन्तरेण सा उत्पत्तिरस्तीति स्वभाव एवाव्यभिचाराद् व्यापित्वाच्च कारणमेषितव्यम्। किञ्चान्यत्, **अपि चे**त्यादि। अपि च त्वया **भूम्यादिद्रव्यविनिर्वृत्त्यपेक्षैव** भूम्यादीन्येव [6]वृक्षत्वेन कण्टकद्रव्यत्वेन तैक्ष्ण्यादित्वेन च निवर्तन्ते, तत्समायोगनिर्वृत्त्यपेक्षा **कण्टकनिर्वृत्तिरिति** ब्रुवता ननु सैव **स्वभावसिद्धिस्त्वयैव वर्ण्यते**। किं कारणम्? **भूम्यादिभ्य एव** भूम्यम्बुक्षेत्रबीजाङ्कुरादिद्रव्यनिर्वृत्तिभ्य एव **कण्टको भवतीति तत्स्वभाववर्णनात्**, अन्यथा स्वभावात् किमन्यदत्र वाच्यं वस्तु कारणम्? भूम्यम्बुक्षेत्रबीजाङ्कुरादिभ्य एव कण्टको भवति न मृत्पिण्डादिभ्य इत्येव तेषां स्वभाव इति स्वभावस्यैव समर्थनं तदपि तेषां तत्तत्स्वाभाव्यात्।

किञ्चान्यत्, **यथा पृथिव्यादी**त्यादि यावन्**निमित्तानामपि निमित्तता स्वाभाविकी**ति। यथैवायं १६२२ **विश्वथा** सर्वथानेकप्रकारं बीजाङ्कुरादिक्रमनिवृत्तं [7]कण्टकादि पृथिव्यादिस्वभावः पुरुषप्रयत्ननिरपेक्षोऽप्रयत्नत एव भवति, अथवा पृथिव्यादीनामेव प्रागभिहितन्यायेन वृक्षघटादिस्वभावाभ्युपगमाद् [8]यथा स्वभाव एव **एव निमित्तानामपि** घटपटाद्युत्पत्तौ पुरुषकारसाध्याभिमताया मृत्पिण्डदण्डचक्रसूत्रोदककुलालादिनिमित्तानां **निमित्तता सापि स्वाभाविकी,** ततो न स्वभावव्यतिरिक्तं किञ्चित्। एवं च सर्वस्य स्वाभा

---

१ व्यवस्थ य०। व्यवहृत्य भा०॥ २ तमपि य्र॥ ३ किञ्चित्क्वचित्येव य०॥ ४ पक्षोत्पत्ति भा० लि० विना। पक्षोच्चोत्प भा॥ ५ स्वभावस्य य्र॥ ६ वृक्षत्वे कण्ट य०॥ ७ ति कण्टकादि य॥ ८ भा० विना यत्र दिश्वभाव पा०। दिश्वभाव डे० लीं० लि० हे० ही॥ ९ तद एव य०॥

स्वाभाविकी, तत्र कुत उत्पत्तिरपि? प्रतिवस्तु स्वभाव एवायं वयःक्षीरादिवत्। यदि चासौ न स्यात् तत उत्तरत्रापि न भवेदेव अभूतत्वाद् वन्ध्यापुत्रवत्। एवं मृदादिषु वि[1]द्यमानानां घटादीनां निमित्तापेक्षस्वभावैवोत्पत्तिः, नाकाशादिषु।

दृष्टा घटादीनां क्रियाया उत्पत्तिरिति चेत्, न, प्रागनभिव्यक्तेः। सा सति अग्रहणनिमित्ताभावे किमिति चेत्, स्वभावादेव अतिसन्निकृष्टमतिविप्रकृष्टं वा

विक[2]त्वेन **तत्र कुत उत्पत्तिरपि?** या प्रागुक्ता त्वया भूम्यादिद्रव्यविनिर्वृत्त्यपेक्षैवोत्पत्तिरिति सा कुतः? नास्त्येव कारणम्, त[3]स्मान्नास्ति सा, प्रागेवाभिव्यक्तये विरचितलीनावस्थत्वात्। तस्मान्न सोत्पत्तिः **प्रतिवस्तु स्वभाव एवायम्**, वस्तु वस्तु प्रतिवस्तु स्वो हि भावः स्वभाव इति निरुक्त्या प्रतिवस्तु आत्मीयं भावमाचष्टे। **वयःक्षीरादिव**दिति दृष्टान्तः, यथा बाल्यकौमारादिवयोऽवस्थाः पूर्वविरचिता एव आविर्भवन्ति यथा क्षीरदध्युदस्विन्नवनीतघृताद्यवस्थास्तथा घटादयो निमित्तस्वभावा[4]पेक्षाभिव्यङ्ग्यविरचितस्वभावा आविर्भवन्ति। **यदि चा[5]सा**वित्यादि यावद् **वन्ध्यापुत्रवत्**। **यदि चा**सावुत्पत्तिस्वभावोऽस्मदभिहितो न स्यादित्थं पूर्वावस्थायामेव **तत उत्तरत्रापि न भवेदेव अभूतत्वाद् वन्ध्यासुतवत्**। अस्यैवार्थस्य भावनार्थमाह—**एवं मृदादिष्वि**त्यादि गतार्थं यावन्नाकाशादिषु।

दृष्टा घटादीनां क्रियाया उत्पत्तिरिति चेत्। स्यान्मतम्—दृष्टविरुद्धमुक्तं त्वया विद्यमानानां घटादीनां निमित्तापेक्षस्वभावैवोत्पत्तिरिति, क्रियाया एव कुलालस्य घटादेरर्थस्योत्पत्तेर्दर्शनादिति। एतच्च
१६३-१ **न, प्रागनभिव्यक्तेः**, क्रियायाः प्राक् सोत्पत्तिरनभिव्यक्ता अपवरकघटवत् प्रदीपेनेव क्रिययाभिव्यज्यते नोत्पाद्यत इत्यदोषः। **सा सति अग्रहणनिमित्ताभावे किमिति चेत्**, सा सति अर्थेऽनभिव्यक्तिरग्रहणनिमित्ताना[6]मत्यासन्नविप्रकृष्टव्यवहितसमानाभिहाराभिभवसौक्ष्म्येन्द्रियदौर्बल्यमनोवैयग्र्यपित्तोपघातादीनामभावे सति किमर्थं भवतीति चेन्मन्यसे, वयमत्र ब्रूमः—**स्वभावादेवे**त्यादि यावच्**चक्षुरादिना न गृह्यते**।

---

१ दृश्यता प० १४ ॥ २ °कत्वे तत्र भा० ॥ ३ तस्यास्मान्नास्ति भा०। अत्र 'नास्त्येव कारणं तस्या, तस्मान्नास्ति' इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ४ °पेक्ष्यभिव्यंग° भा०। °पेक्ष्याभिव्यंग्य° पा० डे० लीं० र० ही० ॥ ५ चास। ° प्र० ॥ ६ "अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघाताद् मनोऽनवस्थानात्। सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥ ७ ॥ इह सतोऽर्थस्यातिदूरादनुपलब्धिर्दृष्टा यथा विप्रकृष्टेऽध्वनि वर्तमानः शकुनिर्नोपलभ्यते। न च यस्मान्नोपलभ्यते किमसौ नास्तीति? अतिदूरान्नोपलभ्यते। अत्राह—यन्नातिदूरे तत् कस्मान्नोपलभ्यते? अत्रोच्यते—सामीप्यात्, यदा देवदत्त आत्मचक्षुःस्थमञ्जनं नोपलभते किं तन्नास्ति? अत्राह—यन्नातिदूरे नातिसामीप्ये तत् कथं नोपलभ्यते? अत्रोच्यते—इन्द्रियघातात्, यथा बधिरः शब्दं न शृणोति अन्धो रूपं न पश्यति, किं ते शब्दरूपे न स्तः? अत्राह—यस्य अनुपहतमिन्द्रियं स कस्मान्नोपलभत इति? अत्राह—मनोऽनवस्थानात्, अनवस्थितमना हस्तिनं परिक्रामन्तं न पश्यति, अस्ति चासौ, वक्तारो भवन्ति—व्यग्रमनसा नावधारितमिति। यस्याव्यग्रं मनः स कस्मान्नोपलभते? अत्रोच्यते—सौक्ष्म्यात्, धूमोष्णनीहारा आकाशगता नोपलभ्यन्ते, किं ते न सन्तीति? अत्राह—ये नातिसूक्ष्मास्ते कस्मान्नोपलभ्यन्ते? अत्रोच्यते—व्यवधानात्, कुड्येन घटादयो व्यवहिताः। ये चाव्यवहितास्ते कस्मान्नोपलभ्यन्ते? अभिभवात्, यथा आदित्यप्रकाशेन ग्रहनक्षत्रचन्द्रताराणां प्रकाशा अभिभूतत्वाद् नोपलभ्यन्ते, किं ते न सन्तीति? अत्राह—ये नाभिभूतास्ते कस्मान्नोपलभ्यन्त इति? अत्राह—समानाभिहाराच्च, समाना सदृशा इत्यर्थः, तेषां समभिहारो राशिः, तस्मात्। एवं सतामर्थानां अष्टविधानुपलब्धिः।" जे० साङ्ख्यका० A। "अत्राह—ये नाभिभूतास्ते कस्मान्नोपलभ्यन्ते? अत्रोच्यते—समानाभिहाराच्च, समाना सदृशा इत्यर्थः, यथा माषराशौ माषाः प्रक्षिप्ता मुद्गराशौ मुद्गाः कपोतगणमध्यगो वा कपोतः। किं ते माषादयो न सन्ति? समानाभिहारान्नोपलभ्यते। तदेवं सतामप्यर्थानामष्टविधा ह्यनुपलब्धिः।" जे० साङ्ख्यका० B ७ ॥

अञ्जनमन्दरादि चक्षुरादिना न गृह्यते, यथा स स्वभावस्तथायमपि। तथा किञ्चिदत्यन्तानुपलब्धिस्वभावमेव भवति आत्मादि। तत्र पुरुषकामचारप्रयत्नादिभ्य किञ्चिदपि निर्वर्तते। तत्र कुत कस्यचिदर्थिनोऽप्येव वा विपर्यय एव वारम्भक्रियानिर्वृत्तय[1]? तथा चाहु —

कटुक कटुक पाके वीर्योष्णश्चित्रको मत ।
तद्वद् दन्ती, प्रभावात्तु विरेचयति सा नरम् ॥ [चरकसं० १।२६।६८]

ने त्वस्माभिरेव तद् वक्तव्यम्—स्वभावादेव, अग्रहणहेतुषु असत्स्वपि सतोऽर्थस्यानभिव्यक्तौ स्वभाव एव कारणमिति। कस्मात्? त्वयैवाभ्युपगतत्वात्, 'अतिसन्निकृष्टमतिविप्रकृष्टं व्यवहितं वा चक्षुरिन्द्रियं रूपमञ्जनमन्दरादि न गृह्णात्यत्यन्तम्' इत्यत्र केन त्वया एतत् कारणेन प्रतिपन्नम्? इति पृष्टेनावश्यं स्वभावादिति वक्तव्यम्, अयं हि चक्षुष स्वभावो यदतिसन्निकृष्टमञ्जनादि न पश्यति अतिविप्रकृष्टं वा मेर्वादीति शेषेन्द्रियाणामपि स्वभावान्नातिविप्रकृष्टाद्यग्रहणं स्वविषयनियमश्चेति। किञ्चान्यत्, यथा स स्वभावस्तथायमपि, यथा चक्षुरादीन्द्रियाणामात्मनोऽत्यन्तमतिसन्निकृष्टाद्यग्रहणं स्वभावस्तथानभिव्यक्ताग्रहणं स्वभाव इति किं न गृह्यते? १६३ २

किञ्चान्यत्, यदेतत् तथा किञ्चिदत्यन्तानुपलब्धिस्वभावमेव भवति आत्मादि, आत्माकाशकालदिगादय शाश्वत एव नित्यमनुमेया पदार्था सौक्ष्म्याद् बाह्येन्द्रियाविषयास्तत्स्वभावा। तत्र नास्त्यात्मा नास्ति काल धर्माधर्माकाशादिगादयो वार्था न सन्तीति वृथैव विवदन्ते शाक्यादय स्वभावभेदमविद्वांस। तस्माद् यदुच्यते त्वया क्रियातो घटादि निवर्तत इति तन्न पुरुष काम-चार प्रयत्नादिभ्य किञ्चिदपि निवर्तते, पुरुषात् तदिच्छातस्तत्प्रवृत्तेस्तत्प्रयत्नाद् वीर्यादित्यर्थ। आदिग्रहणात्तु तद्बुद्धे न स्वामिनियोगादिभ्य सर्वत्र व्यभिचारदर्शनात्। किं तर्हि? भूम्यम्ब्वग्निव्रीह्यङ्कुरादिमृद्घटाद्यभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिस्वभावो घटोऽपि पृथिव्यादिस्वभाव एव वस्तुत्वात् तदात्मत्वात्, यथा—आपो द्रवा, स्थिरा पृथिवी, चलोऽनिल, मूर्तिहीनमाकाशम्, उष्णोऽग्निरित्यादिषु स्वभाव एव, तत्र कुत कस्यचिदर्थिनोऽप्येव वा विपर्यय एव वारम्भ क्रिया निर्वृत्तयः, 'आपो द्रवा भवन्तु, स्थिरा पृथिवी, चलोऽनिल, अग्निरुष्ण, वियदमूर्तं भवतु' इत्येवमर्थिनोऽपि पुरुषस्य नारम्भो न चेष्टा न च निर्वृत्तिर्वा तथा विपर्ययेऽपि 'मा भूद् द्रवं जलम्, स्थिरा भू, चलोऽनिल, अग्निरुष्ण, अमूर्तमाकाशम्' इत्यारम्भ क्रिया निर्वृत्तिर्वा स्वभावस्यान्यथाकर्तुमशक्यत्वात्। एवं घटादिष्वपि योज्यं स्वाभाविकत्वम्।

तथा चाहुरिति स्वाभाविकत्वे ज्ञापकमाह। कटुकरस कटुविपाक उष्णवीर्यश्चित्रक, तद्वद् दन्ती कटुरसा कटुविपाका उष्णवीर्या, विशेषस्त्वस्याश्चित्रकात् प्रभावेन विरेचयति, प्रभाव इति स्वभावपर्यायत्वाद् रसादयपि स्वभावत्वात् स एव सामान्यविशेषाभ्यां तथा तथा वर्ण्यत इति तस्माद् यत् त्वयोक्तं 'क्रियातो घटाद्युत्पत्ति' इति तत्र पृथिवीमृत्पिण्डशिवकादिक्रमापत्तव्यपगतात्म स्थैर्यात्मकश्च स्व उत्पत्ति- १६४ १

---

[1] भा० ग्रन्था न चत्या पा० ६० डी। न च्याला वि० ८० नी० ॥ २ तमयोत्यन्त प्र० ॥ ३ णात्तबुद्धे प्र० ॥ ४ भूम्यादयादि भा० ॥ ५ दृश्यतां पृ० २५६-१ पृ० १७६ टि ६ ॥ ६ दृश्यतां पृ० २२४ पं ४ ॥

इति कथं घटोत्पत्त्यादि सम्भाव्यते? प्रवृत्तिमृदां स स्वभाव एव। फलस्वभावानुरूपाः प्रवृत्तयोऽत एव व्यवस्थिता इति प्रयासोऽनर्थकः। स्वभावादेव प्रवर्तितव्यमित्येव प्रवर्तन्तेऽप्रतर्कतो वस्तूनि, अक्षिनिमेषधातुकण्टकादिवत्।

विनाशाद्युक्तहेतुत्वात्। इतिशब्दो हेत्वर्थे, अस्माद्धेतोः **कथं घटोत्पत्त्यादि सम्भाव्यते? आदि**ग्रहणाद् वक्ष्यमाणौ विनाशविपरिणामावपि कथं सम्भाव्येते? नैव सम्भावनीयं तत्त्रयमित्यर्थः।

स्यान्मतम्—कुलालप्रयत्नप्रवृत्तिदण्डचक्रसूत्रोदकमृदादीनां पुरुषाभिसंबन्ध्यनुरूपघटाद्युत्पत्तिविनाशविपरिणामफलैः सम्बन्धदर्शनान्न स्वभाव एवेति। एतच्चायुक्तम्, यस्मात् **प्रवृत्तिमृदां स स्वभाव एव,** यथोक्तं प्राक् 'निमित्तानां निमित्तता स्वाभाविकी' इति, तस्मात् स्वभाव एव। किञ्चान्यत्, **फलस्वभावानुरूपाः प्रवृत्तयोऽत एव व्यवस्थिताः,** स्वभावबलादेव मृत्पिण्डदण्डादिभिरेव घटो भवतीति ज्ञात्वा चक्रमूर्ध्नि मृत्पिण्डं संस्थाप्य दण्डग्रहणचक्रभ्रमणादिव्यापारा घटफलयोग्याः क्रियास्तदनुरूपा व्यवस्थिताः। तथा तुरीवेमशलाकादिसाधनाः सूत्रोपादान-तन्तुसन्तान-पायन-वयनक्रियाः पटफलस्वभावानुरूपा व्यवस्थिताः। एवं कृषिसेवावणिज्यापरिव्रज्यादिप्रवृत्तयः स्वभावमेव हेतुं समर्थयन्त्यो दृश्यन्ते लोके व्यवस्थिताः, आसां नाप्युत्कर्षो नाप्यपकर्षः कश्चित्। फलानुरूपाः प्रवृत्तयः प्रवृत्त्यनुरूपं फलं तत्र तत्रेति व्यवस्थितफलप्रवृत्तिता स्वभावादेवेति।

स्यान्मतम्—व्यवस्थितप्रवृत्तिफलस्वभावे भावे पुरुषप्रयासस्तर्ह्यनर्थक इति चेत्, सत्यमेतत्, **इति**
१६४-२ **प्रयासोऽनर्थकः,** यथा त्वं ब्रूषे तथैव स्वभावसामर्थ्यादेव प्रवृत्तेर्निवृत्तेश्च फलसिद्ध्यसिद्ध्योरनर्थक एव प्रयास इति त्वया सदोषाभिमतोऽप्ययं पक्षो मया तत्त्ववादभ्रंशभयान्न त्यज्यते। इत्थमनर्थकोऽप्यसौ प्रयासः पुरुषस्यास्त्येव, सन्नेव स्वभावादेव। यथोक्तम्—

स्वभावतः प्रवृत्तानां निवृत्तानां स्वभावतः।
नाहं कर्तेति भावानां यः पश्यति स पश्यति॥ [ ]

इति प्रवृत्तिनिवृत्त्योर्भावाना स्वभावस्वातन्त्र्यमेव, स हि स्वो भाव आत्मा वस्तूनां निवृत्तानामित्युक्तत्वात्। प्रवृत्तिनिवृत्त्योरानर्थक्ये किङ्कृता किम्फला वा प्रवृत्तिः? अतः स्वभावानुरूपप्रवृत्तिप्रतिज्ञाव्याघात इति चेत्, न व्याघातः, तत्स्वाभाव्यादेव यस्मात् **प्रवर्तितव्यमित्येव प्रवर्तन्तेऽप्रतर्कतो वस्तूनि,** प्रकृष्टस्तर्कः प्रतर्कः, 'अनेनोपायेनार्थस्य सिद्धिः' इति य ऊहः स तर्कः, न प्रतर्कोऽप्रतर्कः, अप्रतर्कत एव वस्तूनि प्रवर्तितव्यमित्येव प्रवर्तन्ते स्वभावादेव, तद्यथा—**अक्षिनिमेषधातुकण्टकादिवत्,** यथा अक्षिनिमेषोन्मेषा-

---

१ उत्पत्तिविनाशाभावे हेतुः पूर्वमुक्त, दृश्यता पृ० २२४ प० १॥ २ °**संबध्य**° भा०। °**संबंध्य**° य०॥ ३ पृ० २२३ प० ५॥ ४ **सन्ता(न्त?)ननपा**° य०। "इह यत् तन्तुवायैरुभयपार्श्वयो कीलकयुगल निखाय तानकरूपतया तन्तवस्तन्यन्ते तत् तननम्, यत् पुनरवस्तनोपरितनयोस्तानकतन्तुसन्तानयोरन्तराले नलकप्रयोगेण तन्तव उभयतो वितन्यन्ते व्यूयन्ते तद् विततनम्, यद् वस्त्रं कूर्चिकेण खलिका पाय्यते तत् पायनम्।" इति बृहत्कल्पसूत्रस्य भाभा० प्रतौ, गा० ६२५॥ ५ °**वृत्तेश्च** भा० वि०॥ ६ **वस्तुनां निवृत्तानामित्युक्त**° य०। **वस्तूनामित्युक्त**° भा०। अत्र 'वस्तूना प्रवृत्तनिवृत्तानामित्युक्तत्वात्' इत्यपि पाठ स्यात्॥ ७ **प्रवर्तन्ते स्वभावप्रतर्कतो** पा० वि० रे० ही०। 'प्रवर्तन्ते स्वभावादेवाप्रतर्कत' इत्यपि पाठोऽत्र स्यात्॥ ८ °**ऽप्रतर्कत एव** भा० डे० ली०। °**ऽप्रतर्क एत एव** पा० वि० र० ही०॥ ९ °**दे तद्यथा** प्र०॥

एवं च यदि हेतुतो यदहेतुतो घटकण्टकादि उभयथापि स्वभावानतिवृत्तिः । आत्मभवनमनादिप्रवृत्तं कारणं जगतः ।

एवं च तत्रानादिप्रवृत्तस्वभावविपर्ययेण यत्पुत्पत्तिर्विनाशो विपरिणामो वा ततोऽनादिप्रवृत्तकारणस्वभावव्यत्यासे हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थशास्त्रव्यर्थता पुरुषस्य क्रियायाः फलस्य च तथाऽस्वभावत्वात् । अन्यथोत्पादविनाशविपरिणामेभ्यो घटार्थं प्रवृत्तेषु तत्पट उत्पद्यते तद्विनाशार्थं प्रवृत्तेष्वविनाशो विपरिणामार्थं प्रवृत्तेष्वविपरिणामश्च । अतः शास्त्रार्थवत्त्वाय वरमिदमेव कारणं स्व एव भावः

वनस्थानबुद्धिपूर्वौ च पुरुषस्याहृताहाररसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रादित्वेन विभवन कण्टकतीक्ष्णभवनं चेत्येवमादिप्रवृत्तयस्तथा घटादिफलस्वभावानुरूपाः प्रवृत्तयोऽप्यतस्त एवेति ।

एवं चेत्यादि । एवं च कृत्वा लोकप्रसिद्धिवशाद् यदि हेतुतो यदहेतुतो यथासङ्ख्यं घटकण्टकादि बुद्ध्यबुद्धिपूर्वनिर्वृत्ताभिमतं यदस्तु तदस्तु उभयथापि स्वभावानतिवृत्तिः । एवमेतदात्मभवनमनादिप्रवृत्तं कारणं जगतः, पृथिव्यम्बीजाङ्कुरादिषु स्थिरत्वादिस्वभावाविर्भावतिरोभावादिरूपेण एकं नित्यं १६४ च नोत्पद्यते न विनश्यति न चान्यथा भवतीति प्रतिपत्तव्यम्, उत्पादविनाशविपरिणामानामनादिप्रवृत्तस्वभावकारणविरोधित्वात् ।

एवं च तत्रानादिप्रवृत्तस्वभावेत्यादि यावद् विपरिणामो वेति पूर्वपक्ष उत्तानार्थः । उत्तरपक्षस्तु ततोऽनादिप्रवृत्तकारणस्वभावव्यत्यासे इति प्रत्युच्चारणम्, आत्मभवनविपर्यये दोषः, हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थशास्त्रव्यर्थता, धर्मार्थकाममोक्षफलप्राप्त्युपायविधानार्थानि तदपायपरिहारार्थानि च शास्त्राणि व्यर्थानि स्युः । किं कारणम्? पुरुषस्य क्रियायाः फलस्य च तथाऽस्वभावत्वात्, कर्तृकरणकर्मादिसाधनानां तदङ्गसम्पन्नायाः क्रियायाः धर्मार्थकाममोक्षाणामन्यतमस्य तत्फलस्य चान्योन्यानुरूपेण अनात्मत्वादित्यर्थः । परस्परानुरूपानभ्युपगमेऽन्यथोत्पादोऽन्यथा विनाशोऽन्यथा विपरिणामश्चाननुरूपेणेति यावत् । ततोऽन्यथोत्पादविनाशविपरिणामेभ्य इति पुरुषादिसाधनक्रियाफलानां तथाऽनात्मत्वं समर्थयति, घटार्थं प्रवृत्तेषु घटोत्पत्त्यर्थं प्रवृत्तेषु तत्पट उत्पद्यते तद्विनाशार्थं प्रवृत्तेष्वविनाशो विपरिणामार्थं प्रवृत्तेष्वविपरिणामश्चेति, स्वभावानियमादुत्पादविनाशविपरिणामाः सन्ति, यदि स्युरयथाभिप्रेताः स्युः स्वभावानियमादिति स्वभावापरिग्रहे शास्त्राणामर्थवत्ता न युज्यते । अतस्तस्मात् सिद्धशास्त्रागमनतिलङ्घनत्वादनिष्टत्वाच्चानर्थकत्वस्य शास्त्रार्थवत्त्वसिद्ध्यर्थं च घटादेः कारणमन्वेषणीयम्, तच्च कारणमन्विष्यमाणं शास्त्रार्थवत्त्वाय वरमिदमेव कारणं स्वभावः, नातोऽन्यद् विमर्शनीयतरमस्ति । कुतोऽन्यन्नास्ति? यत्तत्कारणं स्व एव आत्मीय एव आत्मैव वा भावः, कतमोऽसौ? सङ्क्षेपेण १६५ २

---

१ च प्रतिषु नास्ति ॥ २ तत्पट वि० । अत्र च पट उत्पद्येत' इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ३ भिप्रेतास्तु भा वि० विना ॥

द्विधा प्रतिवस्तु जीवाजीववदवस्थितः, योऽस्ति स भावः य आत्मा स भावः स्वभावः।

स चैकोऽपि कारकभेदं स्वशक्तिभेदादेव लभते, स एवानुभवति सोऽनुभूयते। स्वद्रव्यसंयोगविभागस्वाभाव्येन स एव भवतीति संसारमोक्षौ स्वभावतः।

द्विधा प्रतिवस्तु जीवाजीववदवस्थितः, योऽस्ति स भावः य आत्मा स भावः स्वभाव इति च परभावनिराकरणार्थमुच्यते । यथोक्तम्—किमिदं भंते! अत्थित्ति वुच्चति? गोयमा! जीवा चेव अजीवा चेव [स्थानाङ्गसू०][1], तथा किमिदं भंते! समयत्ति वुच्चति? गोतमा! जीवा चेव अजीवा चेव [स्थानाङ्गसू०][2], एवमावलिकोच्छ्वासनिःश्वासप्राणस्तोकलवमुहूर्ताहोरात्रकालविभागा रत्नप्रभादिभूमयो द्वीपाः समुद्राः पर्वताद्याश्च नेयाः ।

स चैकः स्वभावः पूर्ववदशेषनित्यत्वलक्षणयुक्तोऽपि कर्तृकर्मकरणादि**कारकभेदं स्वशक्तिभेदादेव लभते**, तद्यथा—स्वसाधनविशेषस्वभावादेव विशेषो भवति, **स एवानुभवति सोऽनुभूयते**[3], एतद्व्याख्यार्थोदाहरणत्वेन कारकद्वयं कर्तृकर्मकारकभेदा एव शेषकारकाणीति दर्शनार्थम् । **सोऽनुभवति** कृत्वा[4] फलमनुभवति कर्मफलं भुङ्क्ते । **सोऽनुभूयते** स्वभावभेदेनात्मनैव[5] भुज्यतेऽपि । स एव कथमनुभवति अनुभूयते च? इति तदर्थप्रदर्शनार्थमाह—**स्वद्रव्येत्यादि** । स्वयमेव द्रव्याणि आत्मैव कर्मकर्मित्वस्वभावानि द्रव्याणि संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते च, तेषामेव स्वभावभेदानां द्रव्याणां **संयोगविभागौ** बन्धमोक्षौ देशसर्वविकल्पौ, तद्विकल्पविचित्रसुखदुःखजन्ममरणवैषम्ये, तयोः **स्वाभाव्येन स एव भवतीति संसारमोक्षौ स्वभावतः**, यथा व्रीहिरेव अङ्कुराद्यनुभवनात्मानुभवति अनुभूयते च । अन्योन्यसंयोगवियोगविपरिवर्तेन कर्मकर्मिस्वाभा-

२६३-१ व्येन विपरिवर्तमानोऽपि स्वभावात्मा जीवः[6] साध्यासाध्यद्वैतरूपवत् स्वजात्यपरित्यागादद्वैतत्वाद् व्यवस्थित एव सर्वत्र भव्याभव्यजीवराश्योः । को दृष्टान्तः? यथा कनकाश्मनि सुवर्णं द्विधाविर्भवत् क्रिया-ऽक्रियाभ्यां तत्स्वभावः, कश्चिन्नास्त्येव कनकमिति सोऽपि स्वभावः, तथा केषाञ्चित् स्वयमेवापगमादात्मविशुद्ध्याविर्भावः[7]

---

१ "जदत्थि णं लोगे तं सव्वं दुपओआर, तं जहा—जीव चेव अजीव चेव, तसे चेव थावरे चेव, सजोणिय चेव अजोणिय चेव, साउय चेव अणाउय चेव, सइंदिय चेव अणिंदिए चेव, सवेयगा चेव अवेयगा चेव, सरूवि चेव अरूवि चेव, सपोग्गला चेव अपोग्गला चेव, संसारसमावन्नगा चेव असंसारसमावन्नगा चेव, सासया चेव असासया चेव, आगासे चेव नो आगासे चेव, धम्मे चेव अधम्मे चेव, बंधे चेव मोक्खे चेव, पुण्णे चेव पावे चेव, आसवे चेव संवरे चेव, वेयणा चेव णिज्जरा चेव।" इति **स्थानाङ्गसूत्रे** २।१।५७-५९ ॥ २ "समयाति वा आवलियाति वा जीवाति या अजीवाति या पवुच्चइ, आणापाणूति वा थोवाति वा जीवाति या अजीवाति या पवुच्चइ, खणाति वा लवाति वा जीवाति या अजीवाति या पवुच्चइ, एवं मुहुत्ताति वा अहोरत्ताति वा पक्खाति वा मासाति वा उऊति वा अयणाति वा संवच्छराति वा ·· उसप्पिणीति वा ओसप्पिणीति वा जीवाति या अजीवाति या पवुच्चइ । गामाति वा णगराति वा · पुढवीति वा उदहीति वा दीवाति वा समुद्दाति वा ·वासाति वा वासहरपव्वयाति वा कूडाति वा कूडागाराति वा विजयाति वा रायहाणीति वा जीवाति या अजीवाति या पवुच्चइ ।" इति **स्थानाङ्गसूत्रे** २।४।९५। "किमियं भंते! पाईणत्ति पवुच्चइ? गोयमा! जीवा चेव अजीवा चेव।" भगवतीसू० १०।१।३९४। ३ **एवानुभूयते** एत° य० ॥ ४ **कृत्वा फलमनुभवति** य० प्रतिषु नास्ति ॥ ५ **आत्मैव** य० । **आत्मव** भा० ॥ ६ **व्याधः साध्यद्वैत°** भा० । **व्याधः साध्यासाध्याद्वैत°** य० ॥ ७ **गमात्म(°गमात्?) विशु°** य० ॥

अन्तरेणापि धातुवादं कनकाविर्भावस्तथा कर्मविवेकस्वाभाव्यादेव भव्यजीवानामात्माविर्भावः, सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्विकया तु क्रियया प्राचुर्येण कैवल्यप्राप्तिर्धातुवादक्रिययेव कनकोत्पत्तिः, केषाञ्चिदनाविर्भाव एव कर्माविवेकस्वाभाव्यात्।

एवं च तदुभयस्वभाववर्णनादभव्यजीवकर्मणो　　　　। भव्यस्य तु विशुद्धि　　　　। यदि हेतुरन्यो मृग्येत तेनानन्त्यमस्यापि स्यात्, अनादित्वात्, आकाशवत्। तदन्तवत्त्वे वाकाशमपि सान्तं स्यात्, अनादित्वात्, भव्यकर्मवत्। अथाप्यस्यानादित्वेऽहेतुरन्तो भवति तथा आदि सिद्धकर्मसन्तानस्य कस्मान्न भवति? इति स्वभाव एव शरणं तदुपायस्वभावो मोक्ष इति। एवं सर्वचोद्येषु।

कैवल्यं यथा भरतमरुदेव्यादीनामित्यत आह तद्दृष्टान्तत्वेन — अन्तरेणापि धातुवादं कनकाविर्भावस्तथा कर्मविवेकस्वाभाव्यादेव भव्यजीवानामात्माविर्भावः, सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्विकया तु क्रियया प्राचुर्येण कैवल्यप्राप्तिर्धातुवादक्रिययेव कनकोत्पत्तिरिति स्वभाववैचित्र्यादेव, तथा केषाञ्चिदनाविर्भाव एव कर्माविवेकस्वाभाव्यात्।

एवं च तदित्यादि। एवं च कृत्वा स्वभावनयदर्शनेन आम्नाता जीवा द्विविधाः — भवसिद्धिकाश्च अभवसिद्धिकाश्चेति तदुभयस्वभाववर्णनात् [1]अभव्यजीवकर्मणोरित्यादि भव्यस्य तु विशुद्धीत्यादि च गतार्थं वाक्यद्वयम्। अनादेर्जीवकर्मसन्तानस्य व्यवच्छेदाव्यवच्छेदौ स्वभावादेवेति नात्र कश्चिद् भव्यकर्मसन्तानसान्ततायामभव्यकर्मसन्तानानन्ततायां [2] वा हेतुः शक्यो वक्तुमन्यः स्वभावात्। यदि हेतुरन्यो मृग्येत तेन आनन्त्यमस्यापि स्यात्, कस्य? भव्यकर्मसन्तानस्याप्यनन्तत्वं स्यात्। कस्मात्? अनादित्वादाकाशवत्, स्वभावमनिच्छद्भिरनादित्वहेतुरभ्युपगन्तव्यो जायते सोऽनिष्टानन्तत्वसाधनाय भवति। [3]अधुनाऽनादित्वहेतुसद्भावेऽपि तत्सान्ततेष्टावाकाशसान्ततेत्यत आह — तदन्तवत्त्वे वाकाशमपि सान्तं स्यादनादित्वाद् भव्यकर्मवदिति स्वभाव एवान्तवत्त्वे कारणम्, न हेतुरन्योऽस्ति हेतुवादेन विमृश्यमानः। अथाप्यस्य भव्यसंसारस्यानादित्वे सति अहेतुरन्तो भवति निर्हेतुकोऽहेतुकोऽन्तो दृश्यते　२६६
ततो यथा चास्यानादित्वे संसारस्याहेतुरन्तो भवति तथा कस्मात् तस्य विरोधी पुनर्निर्हेतुकहेतुकान्तवत्त्ववद् भव्यकर्मसन्तानस्य [5]निर्हेतुकहेतुकादि सिद्धकर्मसन्तानस्य कस्मान्न भवति? इति वाक्यमत्र विशेषकारणमस्वभावहेतुवादिना, [7]मम तु पुनः स्वभाववादिनः स्वभाव एव सर्वत्र कारणं व्यापित्वात्। इति [6]गम्यो हेत्वर्थः, त्यज कारणादित्थं स्वभाव एव शरणं कारणवादिनाम्। [4]कथं कृत्वा? तदुपायस्वभावो मोक्ष इति सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयोपायसम्पन्नभव्यकर्मसन्तानात्यन्तोच्छेदस्वभावो मोक्ष इति। एवं तावद् भव्यसंसारोच्छित्तावभव्यसंसारानुच्छित्तौ च हेतुवादे चोदिते स्वभावाश्रयेण परिहार उक्तः। एवं

---

[1] अभव्यजीवकर्मणोरनादिसन्तानस्याव्यवच्छेदः स्वभावादेव। भव्यस्य तु विशुद्धिस्वभावादेव अनादिकर्मसन्तानस्य व्यवच्छेद इत्यादिकमत्र किमपि मूले स्यादिति सम्भाव्यते॥　२ स्ततान्ततायां प्र॥　३ अधुनादित्व प्र०। अत्र भवति। अनादित्वहेतुसद्भावेऽपि इत्यपि पाठः स्यात्॥　४ कथहे प्र॥　५ निर्हेतुकादि भा॥　६ गम्य य॥　७ मेम प्र०॥

स्वभावानभ्युपगमे तु न साधनं न दूषणं च स्वभावापेतावयवार्थवादित्वादिति वादहानं ते ।

अयं सर्वोऽपि यत्नः सोऽन्यभिन्नस्वरूपोपादानेनैव स्वाभिमतिनिराकरणाय भवति । पुरुषवादे तावज्ज्ञानमयो न रूपादिमयः, रूपादीनां तन्मयत्वात् । कार्या-

---

सर्वचोद्येष्वित्यतिदेशः, यथा 'भव्याभव्यममरो[1]च्छित्त्यनुच्छित्त्योर्विशेषहेतुर्वाच्यः' इति चोदिते स्वभावादेवेति व्यवस्थोक्ता तथा 'जीवाजीवरूपारूपिस[2]क्रियाक्रियत्वादिविशेषाः कुतः' इति चोदिते स्वभावादेव व्यवस्था[3]वश्यमाश्रयणीया ।

स्वभावानभ्युपगमे त्वित्यादि यावद् **वादहानं ते** इति । यदि स्वभावो नाभ्युपगम्यते ततः साधनदूषणाभावस्ततो वादत्यागः, तद्यथा—पक्षहेतुदृष्टान्तादयः स्वेन भावेन सन्तन्नाः साधनम्, पक्षः साध्यत्वेनेप्सितो यदि विरुद्धार्थानिराकृतः, हेतुः पक्षधर्मः सपक्षे सन् विपक्षाद् व्यावृत्तः, दृष्टान्तः साध्यानुगतहेतु[4]प्रदर्शनमसति साध्ये हेत्वसत्त्वप्रदर्शनं च । तद्विपर्यये तदाभासा[5] इति साभासं साधनं स्वेन भावेन
१६७।१ भवति । तत्साधनदोषोद्भावनं दूषणं तदन्यथोक्तिर्दूषणाभास इति च स्वेन भावेन व्यवस्थितमभ्युपगम्य साधनं दूषणं च साभासं विवदिषुरसि सवृत्तः, अन्यथा न साधनं न दूषणं च स्वभावापेतावयवार्थवादित्वादिति वादत्यागस्ते प्राप्तः । तस्मात् स्वभाव एव प्रभुविभुत्वाभ्यां कारणं जगत इति । एवं तावत् स्वभाववादः ।

अनया च दिशा शब्दब्रह्मतत्त्वभेदसंसर्गरूपविवर्तमात्रमिदं जगदिति । यथोक्तम्—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ [वाक्यप० १।१]

इत्यादिकारणवादा भिद्यन्ते सत्त्वादिभेदात् । ते पुनः सर्वेऽपि परमार्थद्रव्यार्थस्य विधिविधिनयस्य स्वरूपमस्पृशन्त एव प्रवर्तन्ते, यस्मात् सङ्क्षेपेणायं **सर्वोऽपि यत्नः सोऽन्यभिन्नस्वरूपोपादानेनैव स्वाभिमतिनिराकरणाय भवति,** तद्यथा—पुरुषवादिनः पुरुषादन्यदवस्तु अपुरुषत्वाद् वन्ध्यापुत्रवत् तथा नियतेरन्यदनियतित्वाद् वर्तनादन्यदवर्तनत्वात्[6] स्वभावादन्यदस्वभावत्वाद् वन्ध्यासुतवदवस्तु इति ब्रुवता पुरुषनियतिकालस्वभाववादिनामात्मात्मवस्तुनो द्रव्यार्थवृत्तस्य तत्परमार्थस्य तत्त्वानां सर्वैकत्वनित्यत्वकारणमात्रत्वसर्वगतत्वानां धर्माणां प्रतिपादनार्थमुद्यतानां वादिनाम् 'अन्यदवस्तु' इति स्वतो भिन्नान्यार्थाभ्युपगमेनैव[7] तत्प्रतिपादनं नान्यथेति तत्प्रतिपादनार्थो यत्नः सोऽयमन्यभिन्नरूपोपादानमन्तरेण नास्तीति स यत्नः स्वाभिमतपुरुषाद्यर्थनिराकरणायैव भवत्यन्यभिन्नार्थाभ्युपगमात् ।

१६७-२ कथम्? इति तद्दर्शयति—**पुरुषवादे तावज्ज्ञानमयो न रूपादिमय** इति, **रूपादीनां** तत्सुप्तावस्थामात्रत्वाभिमतानां **तन्मयत्वात्** ज्ञानात्मकपुरुषमयत्वात् । तानि च रूपादीनि कार्यात्मानः, **कार्या-**

---

१ °रोच्छिछत्योर्वि° प्र० ॥ २ °सक्रियाक्रियत्वाद्विशेषः भा० । °सक्रियत्वाद्विशेषाः य० ॥ ३ °वस्यमा° डे० ली० ॥ ४ °तुदर्शन° प्र० ॥ ५ °भासा प्र० ॥ ६ °वर्तनात्वात् भा० पा० ॥ ७ °मेनैव प्र० ॥

त्मना तन्मयत्वे कार्यत्वानेकत्वानित्यत्वासर्वत्वानि पुरुषस्यैव प्राप्तानि । अवस्था
पूर्वादिनियत्यादिष्वपि ।

स्वभाववादे तु अतिशयश्चायम्, आदावेव भेदोपादानात् सम्भवव्यभिच
वृत्त्यनुमत्या भावविशेषणस्वशब्दोपादानात् तथैव चार्थस्य निरूपणात् । य
भवति भूयतेऽनेनेति वा भाव । स्वशब्दोऽस्वव्यावर्तनार्थ इतरेतराभावमात्रवि

त्मना तन्मयत्वे चैवानेककारणात्मत्वे कार्यत्वानेकत्वानित्यत्वासर्वत्वानि पुरुषस्यैव प्राप्तानि न
त्वात् प्रत्येकपरिसमाप्तत्वाच्च तेषां प्रत्यक्षत उपलभ्यत्वाच्च । तस्मात् पुरुषस्यैवानित्यकारणसर्वत्वानि निरा
न्तेऽवस्थानां कार्यकारणात्मना पुरुषमयत्वादित्युक्तं पुरुषात्मकत्वप्रतिपादनपरस्य द्रव्यार्थवृत्तमेवैकत्वाद्य
मतिनिराकरणोपायोऽवस्थाश्रयणात् । अवस्थावच्च पूर्वादिनियत्यादिष्वपीत्यतिदेशेन नियतिकालस्वभावे
स्वाभिमतिनिराकरणं तेषामपि दर्शयति । अवस्थावच्चेति यथा सुमसुप्तनामप्रबुद्धमुक्त्यवस्थाभेदेन भिन्ना
रूपोपादानेनैव स्वाभिमतिनिराकृतिः पुरुषवादेऽभिहिता तथा बाल्यादिपूर्वोत्तरावस्थासु तथानियतिवर्त
स्वभावादिभेदाभ्युपगमादेव स्वाभिमतनियत्यादिनिराकरणम् ।

स्वभाववादे तु, 'तु'शब्दो विशेषणे, [1]विशेषोऽस्य स्वमतनिराकरणदोषादतिशयश्चायम् ।
कारणम् ? आदावेव भेदोपादानात्, इतरे सृष्टिप्रस्थानद्वारेण दूरं गत्वा पश्चाद् भेदमुपाददते, स्वभ
वादी पुनरुत्थान एव भेदमुपादत्त इत्ययमतिशयः । कुतो भेदोपादानमिति चेत्, सम्भवव्यभिच
वृत्त्यनुमत्या भावविशेषणस्वशब्दोपादानात् । सति सम्भवे व्यभिचारे च विशेषणम्, यथा नील
त्पलमिति नीलत्वं चेदुत्पले सम्भवति व्यभिचरति च कदाचित्, रक्तमपि तद् दृष्टमुत्पलं भ्रमरादिषु
नीलत्वम्, अतो विशेषणं भवति नीलं च तदुत्पलं च तदिति एवं भेदवृत्त्यनुमत्या विना विशेषणोपादा
भावात्, तथेहापि भावशब्दवाच्यस्यार्थस्य स्वशब्दाभिधेयविशेषणार्थं स्वशब्दोपादानं भेदाधारसम्भवव्य
भिचारवृत्त्यनुमत्यैव सहितम्, यथा सम्भवानुमत्या विना न विशेषणं तथा नान्तरेण व्यभिचारमपि वि
षणं भवति । तत्र व्यभिचारो विरुध्यते द्रव्यार्थवादस्यैक्यादित्यभिप्रायार्थः । तथैव चार्थस्य निरूप
दिति, न केवलं स्वशब्दोपादानमात्रादेव भेदोऽङ्गीकृतः, किं तर्हि ? अर्थोऽपि भूम्यादिकण्टकादित्वेन
निरूप्यते उत्तरेण ग्रन्थेन भेदप्राधान्येनैव भावीकृतानामपि भिन्नो विशेषणत्वेनोपादातुं योग्यः, तद्यथा
यदय भवतीत्यादि, तत्र स्वशब्दभावशब्दयोरर्थव्युत्पत्त्योर्भावशब्दार्थव्युत्पत्तिमात्रवद् भाववादिनः स्वभ
वादिनश्चाविशेषे शब्दार्थव्युत्पत्तिर्भावशब्दस्य भवतीति भावो भूयतेऽनेनेति वा भाव इति तुल्या, त
च तुल्यतायां न कश्चिद् विसंवादः । स्वशब्दोऽर्थो वा विशेषणत्वेन प्रवर्तमानश्चिन्त्यः, [10]सोऽस्वव्या

---

[1] नियत्या भा० ॥ [2] विशेषास्य प्र ॥ [3] भवतीति य ॥ [4] सम्भवव्यभि प्र० ॥ [5] भे
प्रा य ॥ [6] वाभावीरनेना य । वाभावीकृतेनां भा० ॥ [7] णत्वेन नोपा य० ॥ [8] त्पत्त्यो
भा । पत्तोभा य ॥ [9] स्वशब्दार्थो य० ॥ [10] अत्र स्वाऽस्वव्यावर्तनार्थ इत्यपि पाठः स्यात् ॥

योऽर्थाभावार्थत्वादस्वाभवने वर्तेत, स तत्रोपक्षीणशक्तित्वात् स्वभवनस्य न प्रयोजकः। एतदपि चास्वभवनव्यावर्तनं स्वशब्दस्य नैवास्ति, अस्वस्याभूतत्वात्। न चाभूतो व्यावर्तनाय। अथ स तथाभूत एव ततः स भाव एव, किं व्यावृत्त्या अनर्थिकया? तद्भावत्वप्रसङ्गात्, अब्राह्मणवचने ब्राह्मणत्ववत्। यदपि व्यावर्त्यते तदपि च भवेदेव, असतोऽप्रसक्तत्वादप्रसक्तस्य चाव्यावर्त्यत्वात् खपुष्पवत्,

---

नार्थः, स्वो भावोऽस्वो भावो न भवतीत्यस्वव्यावर्तनं तस्यार्थः, स्वशब्दश्च भावस्यैवात्मपर्यायस्य वाचकः, तस्माद् विशेषणत्वादस्वव्यावर्तनार्थः सम्पद्यते। तदर्थत्वाच्च इतरेतराभावमात्रविषयः, स्वः परो न भवति परोऽपि स्वो न भवतीति स्वपराभावादितरेतराभावोऽर्थाभावो भावाभाव इति यावत। ततश्चार्थो-
१६८-१ भावार्थत्वादस्वाभवने वर्तेत 'अस्वो न भवति' इत्यपोऽस्य मुख्योऽर्थो जायते न तु भावस्वरूपप्रतिपादनमिति भावार्थासम्पर्शान्न किञ्चिदनेन।

स्यान्मतम्—भावमपि ब्रूत इति, एतच्चायुक्तम्, यस्मात स तत्रोपक्षीणशक्तित्वात् स्वभवनस्य न प्रयोजकः, अतिभार एप हि शब्दस्य यदेकः स्वशब्दः परभवनव्यावृत्तिं स्वभवनप्रतिपादनं च युगपत् सकृदुच्चरितः कुर्यात्, अतो न प्रयोजको न वाचक इत्यर्थः। अर्थो वास्य स्वशब्दस्य स्वशब्दं न प्रयोजयति शब्दवृत्तिविरोधात्। तस्मादस्वभवनव्यावर्तनमेवार्थः। एतदपि चास्वभवनव्यावर्तनं स्वशब्दस्य नैवास्ति। किन्त्वर्थाद्गतेरभ्युपेत्य एतद् विचारितम्। किमर्थं नास्तीति चेत्, उच्यते—अस्वस्याभूतत्वात् स्वस्यैव भूतत्वाद् भावस्यैव भूतत्वादित्यर्थः। स्वशब्दार्थाभावान्न स्वशब्दं प्रयोजयति वन्ध्यापुत्रवत्। तदभावाद् भावशब्दव्यतिरिक्तार्थविपयाभिमतः स्वशब्दोऽपि नास्तीत्यत आह—न चाभूतो व्यावर्तनाय प्रभवतीति वाक्यशेषः, अभूतत्वाद् वन्ध्यासुतवत्।

अथ सोऽर्थोऽस्वस्तथाभूत एव ततः स भाव एव, भावादेव तस्य स्वशब्दवाच्यार्थस्य भावशब्दवाच्यार्थवत् किं व्यावृत्त्यानर्थिकया? इति स्वशब्दस्य व्यावर्त्याभावाद् व्यावृत्तिरनर्थिका, व्यावर्त्यार्थाभावश्च तस्य भावत्वाद् भावववदित्युक्तः। स्यान्मतम्—तस्य व्यावर्त्यस्याभावाद् व्यावर्त्यता विशेषणार्थवत्ता चेति, एतच्चायुक्तम्, तद्भावत्वप्रसङ्गात्, न ह्यसतः प्रसङ्गोऽस्ति, अप्रसक्तस्य च व्यावर्त्यता नास्ति अब्राह्मणवचने ब्राह्मणत्ववत्, न ह्यब्राह्मणवचने ब्राह्मणोऽप्रसक्तो व्यावर्त्यते, यथोक्तं नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थ[गतिः] [पा० वा० ३।१।१२] इति। भावशब्दार्थव्युत्पत्त्यर्थं कर्त्रर्थोपादानाद् 'यदयं भवति' इति भावशब्दस्य अयंशब्दविशिष्टस्य स्वरूपोक्तः स्वशब्दोऽप्यनर्थकः। तस्माद् यदपि

---

१ °भावार्थाभावो प्र० ॥ २ वाभ्य य० । वाच्य भा० ॥ ३ °वृत्तवि° प्र० ॥ ४ भूतत्वाद् भावस्यैव य० प्रतिपु नास्ति ॥ ५ सोऽस्वस्तथा° य० ॥ ६ भाववादित्युक्त प्र० ॥ ७ "नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगति [पा० वा०]। नञ्युक्तमिवयुक्तं वा यत् किञ्चिदिह दृश्यते तत्रान्यस्मिन्सदृशे कार्यं विज्ञायते, तथा ह्यर्थो गम्यते, 'अब्राह्मणमानय' इत्युक्ते ब्राह्मणसदृश एवानीयते, नासौ लोष्टमानीय कृती भवति।" इति पातञ्जलमहाभाष्ये पाठ ३।१।१२ ॥

किञ्चित्त्वाद् वस्तुत्वादर्थत्वादिभ्य स्ववत्।

अथ च स्वभाव किं व्यापी प्रतिवस्तु परिसमाप्तो वा? व्यापित्वे त्यक्तस्वपरविशेषण स्यात्। प्रतिवस्तुत्वे किं तेन कल्पितेनाभिन्नफलेन लोकवादात्। प्रत्येकमात्रवृत्ति च वस्तु घटाद्येव घटादीतीतरेतराभावात् परस्परमस्वभवनपरिग्रहात् कुत क्व चासौ स्वभाव स्यात्? भावविपर्ययैकार्थे स्वत्वे न किञ्चिदन्यत् स्व नामेति किमत्र भेदेन क्रियते घटादिना पटादिभावविशिष्टेन? सोऽपि यदि भाव एव कोऽय

व्यावर्त्यते तदपि च भवेदेव व्यावर्त्यत्वाद्ब्राह्मणवत्, वैधर्म्येण नामत् तत्, कुत ? असतोऽप्रसक्त- १६९ १
त्वादप्रसक्तस्य चाव्यावर्त्यत्वात् खपुष्पवत्। व्यावर्त्यस्य सत्त्वेऽनुमानान्तरमप्याह – किञ्चित्त्वाद् वस्तुत्वादर्थत्वात्, आदिग्रहणात् प्रमेय ज्ञेय-सत्त्वादिभ्योऽपि। दृष्टान्त स्ववदिति, यथा स्व व्यावर्त्याद् विभक्तत्वात् किञ्चिद् वस्तु अर्थ प्रमेय ज्ञेय सच्च तथा व्यावर्त्यमपि सज्ज्ञेय प्रमेयमर्थो वस्तु किञ्चिद्वा प्रसक्तत्वादेव, तस्माद् भवेदेव।

किञ्चान्यत्, अथ च स्वभाव इत्यादि। अथ च त्वदिष्ट स्वशब्दविशिष्टो भाव स्वभाव किं व्यापी प्रतिवस्तु परिसमाप्तो वा? यदि व्यापी सर्वगत एक एव तस्मिन् व्यापित्वे त्यक्तस्वपरविशेषण स्यात् एकरूपत्वात् तस्य पररूपाभावात् स्वग्रहणोपादान परशब्दोपादान च निरर्थकमेव। अथ वस्तुनि वस्तुनि परिसमाप्त प्रतिवस्तु तत प्रतिवस्तुत्वे किं तेन कल्पितेनाभिन्नफलेन लोकवादात्? लोकवादो हि 'घटस्य घटत्वमेव स्वभावो नान्य, पटस्य पट एव' इति श्रूयते, घटादिपृथग्भूतो न कश्चिदेव इति। स यदि तथा प्रतिवस्तु कल्प्यते नैं कश्चित् तेन लोकवादाभिन्नफलेनार्थ कल्पितेन। तस्मान्नैव कश्चित् स्वभावो यथा पूर्वं स्वभाववादुपवर्णित सिध्यति। किं तर्हि? लौकिक एव सिध्यति। किञ्चान्यत्, स्वभावाभाव एव प्रसक्त, तद्यथा – प्रत्येकमात्रवृत्ति च वस्तु घटाद्येव घटादीति, घट एव घट पट एव पट पटे घटो नास्ति न घटे पट इतीतरेतराभावात् परस्परमस्वभवनपरिग्रह
इष्टो भवति, तत परस्परमस्वभवनपरिग्रहात् कुत क्व चासौ स्वभाव स्यात्? यत्नुपपत्ति-
द्वारेणार्थं तत इत्युपपत्तिसुगमस्य, भावविपर्ययैकार्थे स्वत्वे स्वत्वादन्यो भाव, य एव भाव १६९ २
स एव स्व इत्यनयोरनर्थान्तरत्वमेवेति मत्य न किञ्चिदन्यत् स्व नामेति, 'इति'शब्दो हेत्वर्थे, तत किमत्र भेदेन क्रियते घटादिना पटादिभावविशिष्टेन? द्रव्याद्यस्वरूपस्याभिन्नत्वात्। भेदेन यदुच्यते घट इति पटादिना भावव्यावर्तनार्थं भेदेन 'घटस्य भावो न पटस्य' इति 'स्वो भावो न परभाव' इति च पुष्पादिवदपद् भेदाधार तेन किं कल्पितेन द्रव्याद्यस्वरूपविरोधिना भेदाधारेणेति। सोऽपि यदीति सोऽपि च घटादिर्भेदो भावो वा यदि भाव भवतीति भाव एव भावस्वरूपादभिन्न

---

[1] व्यावर्त्यत तदपि य०। व्यावर्त्यत तदपि भा० ॥ [2] अत्र व्यावर्त्यत्वाद् ब्राह्मणवत् इत्यपि पाठ स्यात्॥ [3] न किञ्चित्तेन प्र ॥ [4] पूर्वस्वभाव प्र० ॥ [5] वस्तु य० प्रतिषु नास्ति ॥ [6] दीति प्र० ॥
[7] भेदाधार तेन किं कल्पितेन प्र० ॥ [8] दिर्भेदो य० ॥ [9] भावो वाप्यर्द भावो वा यदि प्र ॥

भेदो नाम घटादिर्भावव्यतिरिक्तः ? अथ न भवति तदस्तित्वमेव न । ननु घटस्य भाव इति पटादिव्यतिरेकेण घट एव, न, भावस्यैव तथा तथा भवनात् । न हि हस्तादौ भवति कुर्वंति वा देवदत्तो न भवति न करोति वा । अतो भावत्वेऽभावत्वे वा नास्त्येव भेदो घटादिः । यं तं भुवोऽर्थमभिदधति सर्वधातवः ।

तच्च प्रत्यस्तमितनिरवशेषविशेषणं भवनं सर्ववस्तुगर्भः सर्वविम्बसामान्यमभिन्नं बीजम् । तदेव हि भवनं व्रीह्यादि मृदादि च साध्यं साधनमेकमद्वयमप्रच्युतं

एव अतः कोऽयं भेदो नाम घटादिर्भावव्यतिरिक्त इति स्वयमेवोक्तो भेदाभावः । अथ न भवति भेदः भावो न भवति नानुभवति भवनं न वा भाव एवाभ्युपगम्यते तदस्तित्वमेव नाभ्युपेमः, अभवनात् खरविषाणात्मवत् तत् ।

इतर आह—ननु 'घटस्य भाव.' इत्यव्यतिरेकषष्ठ्या व्यपदिश्यमानत्वात् पटादिव्यतिरेकेण घट एवेति स्वतोऽपृथग्भूतेन भवनेन, ततः पटादिभेदेन भवनस्य कर्ता घट एवेति । अत्रोच्यते—न, भावस्यैव तथा तथा भवनात्, न ब्रूमो घटस्य भवनं न पटस्येति भेदव्यपदेशो नास्तीति, स पुनरुपचरितो घटादिभिरभिन्नस्यैकस्य भावस्यैव तथा तथा तेन [तेन] प्रकारेण घटपटादिना भवनात्, अन्यथा पटादयो न भवन्त्येव भवनव्यतिरिक्तत्वादित्युक्तम् । स एव हि भावो घटपटादिर्भवति हस्तादिभवनकरणयोः पुरुषभवनकरणवत् घटादीनां भावाव्यतिरेकात् पुरुषाव्यतिरिक्तहस्तादिभवनवदिति । तद्दर्शयति—न हि
७०-१ हस्तादौ भवति कुर्वंति वा देवदत्तो न भवति न करोति वा, हस्तादौ भवनकरणयोः कर्तृत्वं प्रतिपद्यमाने तत्समुदायस्यावश्यं तत्प्रतिपत्तेः समुदयसमुदयिनोश्चानन्यत्वात् । तदुपसंहरति—अतो भावत्वेऽभावत्वे वा नास्त्येव भेदो घटादिरिति । भवने प्रस्तुते 'करोति'ग्रहणं किमर्थम् ? सर्वधातूनां भवनार्थत्वप्रदर्शनार्थम्, तत आह—यं तं भुवोऽर्थमभिदधति सर्वधातव इति । एतस्माद् भावात्र घटादिर्भिन्न इति ।

तच्च प्रत्यस्तमितनिरवशेषविशेषणं भवनम्, निमग्नानि निलीनानि प्रत्यस्तमितानि तत्रैव भावे निरवशेषाणि विशेषणानि स्व इति पर इति वा घटः पट इत्यादि वा । तच्च सर्ववस्तुगर्भः, तदेव भवनं सर्ववस्तूनां मूलदलिकम् । सर्वविम्बसामान्यम्, मुद्राप्रतिमुद्रान्यायेन भिद्यमानानामात्मरूपाणां स्फटिकवदनेकधा दृश्यमानानां विम्बभूतानां प्रतिविम्बभूतानां च सामान्यम्, अभिन्नं बीजमित्यादितत्स्वरूपवर्णनानि एवम्प्रकाराणि निर्विशेषणस्यांश्यंशपरिकल्पनयेति । तत् कथं भाव्यते इति चेत्, उच्यते—तदेव हि भवनं व्रीह्यादीत्यादि यावत् साधनमेकम् । भवनमेव व्रीहिबीजम्, आदिग्रहणादम्बुक्षेत्रकालादि अङ्कुरादि वा । तदेव च मृदादि मृत्पिण्डश्याश्मसिकतादि च 'भवनमेव' इति वर्तते, साध्यं साधनं च भवति, पुरुषवादिव्याख्यानन्यायेन स्वयमेव विश्रमादि वर्तते, यथा तदभिन्नकर्तृकरणादि साधनं साध्यं च

---

१ तत् य० प्रतिषु नास्ति ॥ २ इति व्यति° पा० डे० लीं० वि० ॥ ३ घटपट प्र० ॥ ४ तत्र सर्ववस्तुदाभा तदेव प्र० ॥ ५ मूलकंदली सर्व° य० ॥ ६ °कवाधा(°कधा वा ?) दृश्य° य० । °कवा दृश्य° भा० ॥ ७ °स्यांशग° प्र० ॥ ८ °मेव भवन° य० ॥ ९ °दि च पा० डे० लीं० वि० ॥

सदा, हस्त्यादिप्रपञ्चेन पुरुषस्यैव हस्त्यादिमृदादिभवनवत्। घटादेरभवनस्य भेदस्या सत्त्वमेव, भावाद् भिन्नत्वात् खरविषाणवत्, अघटत्वादात्मनाऽभावात् पटवत्।

विकल्पो हि भेदसंसर्गपरिणामैर्भवेत्। न चास्य भेदो न संसर्गो न विपरिणामः, एकतत्त्वात्मकत्वात्, प्रतिस्वत्ववत्। विकल्पेन च भाव एव, नाभावः

तथा भवनमेव आत्माव्यतिरिक्तं साधनं साध्यं चैकमेव तथा तथा, अहेयमपरित्याज्यं भवनमेव व्रीह्यादि-
विकल्पानन्त्येऽपि तद्भवत्वमेव, अप्रच्युतमात्मस्वरूपाद् भवनात् सदा सर्वकालम्। को दृष्टान्तः? हस्त्यादि
यावद् भवनवत्, यथा नटादिरभिनयपुरुषो हस्त्यश्वपर्वतसरित्समुद्रादिप्रपञ्चानभिनयति स्वतः मृत्स्युप- १००
संहरति च तथा तथा भवनात्, ते च न हस्त्यादयोऽन्ये ततः केचिद् भेदेन भवन्ति, हस्त्यादिप्रपञ्चेन तु
पुरुष एव हस्त्यादिर्मृदादिश्च भवति, 'आदि'ग्रहणाच्चित्रलेप्यकाष्ठपुस्तादिर्भवति, तथा भवनमेव पृथिव्यम्बु-
मृदादि भवति, न भेदः कश्चिद् भवनाद् घटादेः, किं कारणम्? एकत्वेनोपयुक्तार्थत्वात्। **घटादेरभवनस्य
भेदस्यासत्त्वमेव भावाद् भिन्नत्वात् खरविषाणवत्।** भावाद् भिन्नोऽपि घटो भवत्येव चेत्, तस्य
भवने वन्ध्यापुत्रोऽपि भवेत्। एतस्य दिदर्शयिषयाऽऽह **अघटत्वादात्मनाऽभावात् पटवत्**, घटभवनं हि घटः,
तदभावो भावाभावश्चाघटः, तस्मादघटत्वाद् घटात्मनाऽभावात्। एतमेवार्थं व्याचष्टे—**आत्मनाऽभावा-
दिति**, साधनान्तरमेव वा अन्यात्मना भावादिति यावत्। **पटवत्**, यथा पटो घटात्मनाऽभवन् घटो न
भवत्येव घटोऽपि घटात्मना अभवनाद् घटो मा भूत्, घटात्मना अभवन् च भावाद् भिन्नत्वाभ्युपगमात्
सिद्धम्। न चेदेवम्, वन्ध्यापुत्रोऽपि [11]भवेद् घटात्मनाऽभवनात् पटवत्। घटवदेव वा तद्भावाद् [12]भेदा-
भावः, घटादिभेदाभावाच्च भाव एवाविकल्पोऽत्र सत्यः।

इदानीं भेदकारणत्रिकमुद्ग्राह्य दूषयिष्यन्नाह—**विकल्पो** हीत्यादि। विकल्पो [13]न सत्यः, स तु
भवनेभिस्त्रिभिः कारणैर्भवेद् **भेद-संसर्ग-परिणामैः**। तत्र भेदेन घटाद् भिद्यमानात् कपालानि परस्प-
रतो भिन्नानीति गृह्यन्ते। संसर्गेण तन्तूनां सङ्घातेन पटस्तन्तुभ्योऽन्य उत्पन्न इति। परिणामेन क्षीरं दधि-
त्वेन परिणतम्, दधि क्षीरादन्यत्, एतेषां चान्यता उक्तिप्रयोजनादिनानात्वाल्लोके प्रसिद्धेति, एता भेदाद्यु-
पपत्तयो भवन्त्यो भवेयुः। तत्र **न चास्य भेदो न संसर्गो न विपरिणामः** इत्येतास्तिस्रः प्रतिज्ञा एक- १०१
हेतुसाध्याः। कोऽसौ हेतुः? उच्यते—**एकतत्त्वात्मकत्वात्**, तस्य भावस्तत्त्वम्, एकं तत्त्वमनन्यत्, स
[14]एवात्माऽस्य भाव इत्येकतत्त्वात्मा, तद्भावादेकतत्त्वात्मकत्वात्, **प्रतिस्वत्ववत्**, यथा स्वं स्वं प्रति प्रतिस्व-
त्वमतेन भिन्नानामसाधारणं स्वात्मा यः स तु भावः [15]इत्येवैकतत्त्वात्मकत्वात्र भेदसंसर्गपरिणामात्मक-

---

१ तथा अहेय ६० ही० ॥ २ हस्तादि यावद् भा०। हस्ता यावद् य० ॥ ३ नघटादि भा०। घटादि य० ॥ ४ चेतन हस्त्या° प्र० ॥ ५ हस्त्याप्रप प्र० ॥ ६ दिमृदा प्र० ॥ ७ दिर्भवति भा० ॥ ८ ना घटादे प्र० ॥ ९ घटादिरभवनस्य भेवनस्य भेदस्या भा०। घटादिरभवनस्तस्याभवनस्य भेदस्या य० ॥ १० एवमेवार्थं प्र० ॥ ११ भवति भा० ॥ १२ भेदभाव घटादिभेदभावाच्च य०। भेदभावाच्च भा० ॥ १३ नसत्य य०। नासत्य भा० ॥ १४ स्मा भाव य० ॥ १५ इत्येवैक भा० पा० ले० ली०। इत्येतवैक ६० ही०। इत्यन्यक वि०। अत्र इत्येवैक इत्यपि पाठः स्यात् ॥

खपुष्पादिरसत्त्वात् । इति तत्त्वादेव कुतोऽत्र विकल्पः ?

ननु भेदः प्रत्यक्षत एव गृह्यते पूर्वोत्तरादिदिक्कालोत्पत्तिविनाशवस्तुप्रविभक्तत्वात्, अभेदश्च न गृह्यते ।

अस्ति किञ्चिदिति भावव्यतिरेकेण पूर्वोत्तरादिदिक्कालोत्पत्तिविनाशवस्तुप्रविभागाभावात् स एव ह्युत्पाताद्युदकाग्नित्ववदन्यथा वर्तमानोऽन्यथापि वर्तत एव, न

स्तथा भावोऽपीति नास्ति विकल्पो भावस्य । अथापि स्याद्विकल्पः सोऽस्मन्मतेनैव न भेदाभ्युपगमेनेत्यत आह—**विकल्पेन च[1] भाव एव, नाभावः खपुष्पादिरसत्त्वादिति** भाववदेवास्मो भाव एकनित्यसर्वगतत्वादिधर्मा, तस्यैव घटपटादिना भवनम्, नास्य भेदः कश्चित, भेदश्चाभावो भावानात्मकत्वादित्युक्तम् । तस्मादसत्त्वादसौ न विकल्प्येत भेदः खपुष्पवत् । अतः सम्भाव्यमानश्च स्वभाव[2] एव विकल्पितः त्वन्मतेऽपि तस्यापि भावस्य **इति तत्त्वादेव** प्रागुक्तहेतुप्रकारेण तत्त्वादेकत्वादेव **कुतोऽत्र** भावे **विकल्पः** ।

इतर आह—**ननु भेदः प्रत्यक्षत** इत्यादि याव**दभेदश्च न गृह्यते** । पूर्वोऽयमुत्तरो घट इति दिग्भेदेन, आदिग्रहणादूर्ध्वाधोदक्षिणापरभेदेन च गृह्यते घटादिः, तथा उत्पन्नो विनष्ट इत्युत्पत्तिविनाशाभ्याम्, वस्तुतोऽपि घटपटादिरूपरसादिस्वरूपभेदेन कृष्णो रक्तः खण्डः शकल इत्यादि, एभिः कारणैः प्रविभक्तत्वादर्थानां भेदेन गृह्यमाणानां कथं भेदाभावः ? **पूर्वोत्तर**शब्दाभ्यां देशकालपरिणामक्रमा अपि गृहीताः । एवं प्रत्यक्षतो ग्रहणं भेदानाम्, **अभेदश्च न गृह्यते** 'प्रत्यक्षत एव' इति वर्तते ।

१७१-२ अत्रोच्यते—**अस्ति किञ्चि**दित्यादि । पूर्वोत्तरादिभेदाभावं प्रतिपाद्य प्रत्यक्षत्वाभावं च प्रतिपादयिष्यन् भेदाभावप्रतिपादनार्थं तावदाह—**अस्ति किञ्चिदिति भावव्यतिरेकेण** पूर्वमुत्तरं वा नास्त्येव प्रागुक्तकारणत्वात्, ततः किं तदपूर्वं यदुत्पद्यते पूर्वं वा विनश्यति ? इति पूर्वोत्तरयोरभावादेवोत्पत्तिविनाशौ न स्तः, तत एव वस्तुप्रविभागो[3]ऽपि नास्ति । तस्मात् **पूर्वोत्तरादिदिक्कालोत्पत्तिविनाशवस्तुप्रविभागाभावात्** किं तत् प्रविभक्तं प्रविभज्यते प्रविभक्ष्यते वा ? यत् तदेवंधर्म तदेव नास्तीति नापूर्वं भावादन्यत् पूर्वोत्तराद्यस्ति, अतो नाभावो भेदो भवति । कथं तर्हि भेदप्रत्यक्षतेति चेत्, उच्यते—**स एव ह्युत्पाताद्युदकाग्नित्वव**दित्यादि याव**दन्यथापि वर्तत एव** । यथोत्पाते ज्वलनमुदकस्य शीतद्रवादिगुणस्य, स तोये तद्विरोध्यग्नित्वधर्मापत्त्या दृष्टो भेदोऽन्यथा वर्तमानस्यान्यथा वर्तनम् । आदिग्रहणाद् निध्युपलिङ्गत्वेन भूम्यवादिवर्तनं भेदेन । तद्यथोक्तम्—महाकालगत ऊष्मा सहस्रसङ्ख्ये धूमो लक्षे ज्वलनं कोटौ [ ] इति । तथा चित्रकर्मादिहसनरोदनस्थानसङ्क्रान्त्यादिभेदरूपेण स एव भावो भवतीति तस्मान्नास्ति भेदः । भिद्यमानं हि वस्तु एवं भिद्यते स्वरूपाद् विपर्ययगत्या यद्यभावो[6] भवेद् भावः, स तु न

---

१ च नाभाव एव नाभावः भा० ॥ २ स्वस्वभाव भा० । 'सम्भाव्यमानश्च स भाव एव' इत्यपि पाठोऽत्र स्यात् ॥ ३ °प्रतिभागोऽपि नापि तस्मात् य० । °प्रतिभागोऽपि तस्मात् भा० ॥ ४ °पादि° प्र० ॥ ५ महाकालगतो ऊष्मा वि० र० ही० । महाकालमतो ऊष्मा भा० पा० डे० लीं० ॥ ६ यद्यभावो भावो भवेद्भावः य० । यद्यभावो भवो भावो भवेद्भावः भा० ॥

भिद्यते कथञ्चिदुपचितापचितभवनो वेति न काचिदवस्था दधिघटादिरादिनिधनविभागवती। यदि स्यात्, खपुष्पावस्थापि तत्त्रयधर्मा स्यात् सर्वतो व्यावृत्तत्वाद् दधिघटवत्। घटो वा आदिनिधनविभागरहितः स्यात्, अत एव, खपुष्पवत्। महापृथिवीवियदवस्थे सादिनिधनविभागे स्याताम्, इतरेतरासत्त्वात्, घटवत्। घटोऽपि वा अनाद्यादिः, अत एव, आकाशमहापृथिवीवत्।

ग्रहणमपि नैव भेदस्य, भेदस्याभावादेव, खपुष्पग्रहणवत् कल्पनात्मकत्वात्। देशकालभेदग्रहणमसदध्यारोपात्मकं देशकालभेदाभावात् खपुष्पवत्।

---

[1]भिद्येऽहमिति कथञ्चिद्भावोऽपि भवति, भावादभावो हि भिन्न उपचितापचितभवनो वेति स एव भावो न भिद्यत इति कथञ्चिदुपचितापचितभवनो वेति सम्बन्धः, यावद् भवितव्यं तावदेव न न्यूनो नाधिको वा भवति स भावः। इतिशब्दो हेत्वर्थे, उपचितापचितभवनाभावे दधिघटाद्यवस्थानामादिनिधनविभागाभावदर्शनादिति हेतुः, तं दर्शयितुमाह—इति न काचिदवस्था दधिघटादिरादिनिधनविभागवती, आदिः प्रागविद्यमानस्योत्पत्तिः, निधनं विद्यमानस्य विनाशः, विभागोऽन्यत्वम्, एते चादिनिधनविभागा दधिघटाद्यवस्थानां न सन्ति पूर्वोत्तरोत्पत्तिविनाशवस्तुप्रविभागाभावस्य प्रतिपादितत्वात्। ततस्तदभावान्नोपचीयते नापचीयते चासौ भावः क्षीरदध्याद्यवस्थास्वेकरूपत्वाद् भवनस्य मृत्पिण्डघटाद्यवस्थासु चेति। एतस्य हेतोरसिद्धिं परिहरन् परपक्षेऽनिष्टापादनेन साधयति—यदि स्यादित्यादि, आदिनिधनविभागवती यदि स्यात् सा दधिघटाद्यवस्था खपुष्पावस्थापि तत्र तत्त्रयधर्मा स्यात् सर्वतो व्यावृत्तत्वाद् दधिघटवत्, सर्वतो व्यावृत्तत्वं च सिद्धं घटस्य दधिघटाद्यवस्थानां च भेदाभ्युपगमात्, तथानिच्छतस्तद्विपर्ययेण खपुष्पधर्मापादनं घटस्य गतार्थं साधनद्वयम्। महापृथिवीवियदवस्थे सादिनिधनविभागे स्याताम्, इतरेतरासत्त्वाद् घटवत्। घटोऽपि वाऽनाद्यादिः अनादिरनिधनो निर्विभागश्च स्यादत एव इतरेतरासत्त्वादेव आकाशमहापृथिवीवदिति घटभेदाभ्युपगमेनैवैतत् साधनमनिष्टापादनमिति। एवं तावदुपचितापचितभेदाभावः।

यदप्युक्तं प्रत्यक्षत एव भेदो गृह्यत इति तद् ग्रहणमपि नैव भेदस्य, भेदस्याभावादेव, खपुष्पग्रहणवत्। अभावः कल्पनात्मकत्वात् तस्य, भावैक्यस्य साधितत्वाद् भेदः कल्पनात्मकः, कल्पनात्मकं चासद् वस्तुनोऽन्यथात्वात्। सा च कल्पना देशतः कालतो वा स्वरूपत एव वा भिन्नेष्वर्थेष्वभेदकल्पनाद्वा स्यात्, देशाकाशभेदे वा भेदकल्पनात् स्यात्, उभयथाप्यसद्रूपत्वात् कल्पनायाः, इष्टं तु त्वन्मतेन देशकालाभ्यामभेदो नास्ति, भेद एव, घटादेः कपालादित्वेन भिद्यमानस्य वस्तुनो यावत् परमाणुशो रूपादिशोऽनभिलाप्यत्वाच्च भेदादभेदाभावः कालतश्च क्षणे क्षणेऽन्यत्वात्। तस्मादनभिलाप्यपरमार्थस्य च वस्तुनो घट इति रूपादि इति वा ग्रहणमसदध्यारोपात्मकं देशकालभेदाभावात् खपुष्पवत्, १७२-१ १७२-२

---

[1] भिद्यहमिति य० ॥ [2] प्रागभिद्य प्र ॥ [3] स्याद्येकरू प्र० ॥ [4] तत्र तत् त्रय पा० इ० टीं० । तत्र यत् त्रय भा० भि० ६० डी० । अत्र खपुष्पावस्थापि तत्त्रयधर्मा स्यात् इत्यपि पाठः स्यात् ॥ [5] दृश्यतां पृ० २१६ पं २ ॥ [6] ल्पना स्यात् प्र० ॥ [7] रूपादिरिति भा० ॥

अभेद एव तु गृह्यते प्रत्यक्षतः, भावस्याभिन्नत्वाद् गृह्यमाणस्य च भावत्वात्।

अथ समस्त एव कस्माद् भावो न गृह्यते? अथ भेदपक्षे किं समस्त एव घटो न गृह्यते? समानदोषत्वादचोद्यमेतत्। स्वपक्षे विशेषं पश्यत एतद्युज्येत वक्तुम्, न तु सर्वत्रैवादर्शनभाक्पक्षस्य।

नन्तु अदर्शनमत्रैव निवर्तते, नान्यत्र। इहाभेदे भावे य एकदेशस्तस्य ग्रहणे तस्यैव ग्रहणम्, ततोऽभिन्नत्वात् तद्भावत्वात्, देशस्वात्मवत्। तस्य ह्येकोऽपि प्रथनं

खपुष्प इव खपुष्पवत् तत् प्रत्यक्षाभासमेवेत्यर्थः। यदप्युच्यते 'अभेदश्च न गृह्यते प्रत्यक्षतः' इति तदपि न, यस्मादभेद **एव तु गृह्यते प्रत्यक्षतः**। किं कारणम्? **भावस्याभिन्नत्वाद् गृह्यमाणस्य च भावत्वात्**, नाभावो गृह्यते यतः खपुष्पादिः।

ब्रूयास्त्वम्—**अथ समस्त एव कस्माद् भावो न गृह्यत** इति। अत्र तु समस्तग्रहणं वक्ष्यामः सकारणम्, त्वद्ग्राहविनिवृत्त्यर्थं तावत् त्वां किञ्चित् पृच्छामो नाऽनाहतमुखो मूर्खस्तिष्ठतीति[2]—**अथ भेदपक्षे** पश्यता त्वया घटं **किं समस्त एव घटो न गृह्यत** इति, पौरान्तादिभागाः किं न प्रत्यक्षाः? आराद्भागा एव किं प्रत्यक्षाः? इत्यत्र विशेषकारणं कथयेति[4]। किञ्चान्यत्, **समानदोषत्वादचोद्यमेतत्**, उभयोः समानो दोषो नासावेकतश्चोद्यते—भावस्य सर्वगतस्याप्रत्यक्षत्वदोषो मम नास्तीति। **स्वपक्षे** भेदस्य प्रत्यक्षत्वादिविशेषं[5] **पश्यत एतद् युज्येत वक्तुम्** 'इत्थं भवति तथा न भवति' इति। एतदपि सम्भावनयो-

[१७३-१] च्यते, **न तु सर्वत्रैव** अदर्शनभाक् पक्षो यस्य तव तस्य न तु युज्यत एवेत्यर्थः, सर्वत्रैव न घटे न रूपादौ वा न कचित् प्रत्यक्षता युज्यत इत्यर्थः। अथवा स्वपरपक्षयोः सर्वत्रैव। एतदुक्तं भवति—एवं हि स्वपक्षरागाविष्टो भवान् परमत्सरेण स्वदोषं नैव पश्यति स्वचरणलग्नपाशादर्शी प्रयोजनावस्थितामिषदर्शी इव शकुनिः, त्वत्पक्षेऽत्यन्तदर्शनासम्भवादेव घटादेः प्रत्यक्षत्वाभावः।

इदानीमभेदपक्ष एव दर्शनं सम्भवति नान्यत्र इति वक्ष्याम इति यदुक्तं तद्दर्शयिष्यन्नाह—**तत्तु अदर्शनमिति**[6]। तत् पुनरदर्शनम्, **तु** विशेषे, विशेषेणात्रैव अभेदपक्ष एव **निवर्तते, नान्यत्रेति** न भेदपक्षे यावन्निरभिलाप्यत्वशो भेदादित्युक्तम्। दर्शनं तर्हि कथम्? इति तत् समर्थयति—**इहाभेदे भावे** यदेतत् सर्वं तद् भाव एवाभिन्नत्वात्, **तस्याभिन्नस्य भावस्य यं एकदेशो घटस्तस्य ग्रहणे**[7] घटस्य ग्रहणे **तस्यैव ग्रहणम्** भावस्यैव ग्रहणं समस्तस्य। किं कारणम्? **ततोऽभिन्नत्वात्**, ततो भावाद् घटस्याभिन्नत्वात् घटाद्वा भावस्याभिन्नत्वात्। तद् व्याचष्टे—**तद्भावत्वात्**, तस्यापि भावत्वात् तद्भावत्वात् पर्यायान्तरेण हेत्वन्तरं वा, घटोऽपि भाव एव चाभिन्नत्वात्, यो यो भावः स स तद्ग्रहणे गृह्यते। दृष्टान्तो **देश-**

---

१ दृश्यतां पृ० २३६ पं० ३॥ २ °मुखोमूर्स्तिष्ठन इति य०। °मुखोमूर्(मुखो मूक?)स्तिष्ठति भा०॥ ३ दृश्यतां पृ० ९० पं० १८॥ ४ कथयति प्र०॥ ५ °त्वादि विशेषं डे० लीं०। °त्वादिति विशेषं भा० पा० जि० रं० ही०॥ ६ तद(तद?)र्शनं भा०॥ ७ स एकदेशो प्र०। दृश्यतां पृ० २४० पं० ६॥

प्रति देशः सर्वाविभक्तभवनवृत्त्यात्मकत्वात् सार्वरूप्यमनतिक्रान्तः, न चास्योर्ध्वाधस्तिर्यग्दिक्षु मूर्तिविवर्तप्रत्यङ्गानामेकत्वाभिमतभेदवत् क्वचिदवच्छेदो विद्यते। इति स ध्रुवः कूटस्थोऽविचाल्यनपायोपजनोऽविकार्यनुत्पत्तिरवृद्धिरव्यय उक्तवत्।

स्वात्मवत्, देशस्य स्वात्मा देशस्य भाव एव तत्त्व भावाभिन्नत्वात् तद्भावाद् गृह्यते भाववत् तथा देशग्रहणे समस्तो भावस्तद्भावत्वाद् गृह्यते।

एतद्भावनार्थमाह—**तस्य ह्येकोऽपि प्रथन प्रति देश**, हिशब्दो यस्मादर्थे, यस्मात् तस्यैकोऽपि देश प्रख्यान **सर्वाविभक्तभवनवृत्त्यात्मकत्वात्** सर्वेण समस्तेन भावेनाविभक्त 'भवनम्' इत्येवैका वृत्तिमनुभवत्यात्मरूपामिति सोऽपि देश स्वभावात्मा प्रागुक्तप्राण्याद्यवयवपुरुषात्मवत्, अत आह—**तस्य ह्येकोऽपि प्रथन प्रति देश सर्वाविभक्तभवनवृत्त्यात्मकत्वात् सार्वरूप्यमनतिक्रान्त**। ततोऽनेन १७२ २
न्यायेन देशग्रहणे समस्तग्रहणमित्यभेदपक्ष एव दर्शन न्याय्यमिति। नन्वेकदेशश्च स एव चेति विप्रतिपिद्धमिति चेत, तन्न, ज्ञायमानत्वापेक्षयोक्तत्वात्, त्वन्मत्या सावयव इव निरवयवोऽपि प्रख्यातीति मया तथोक्तम्, परमार्थतस्तु निर्विभाग एवासावुक्तो वक्ष्यते च। अथवा प्रथन विस्तार, विस्तीर्णत्वात् तस्य भावस्य प्रथन देश प्रति इत्यन्ये। तस्मात् सर्वाविभक्त इत्युक्तम्। अत आह—**न चास्योर्ध्वाधस्तिर्यग्दिक्षु मूर्तिविवर्तप्रत्यङ्गानामेकत्वाभिमतभेदवत् क्वचिदवच्छेदो विद्यते** दक्षिणोत्तरमथुरयोरपि, किमु घटपटयोर्भवनैकमूर्तिविवर्तानवच्छेदादिति। यथैकत्वाभिमतस्य भेदस्य घटादेर्मूर्ते शरीरस्य विवर्ताना विभागानामूर्ध्वाधस्तिर्यग्दिक्त्वाद्भावयवतया नापर किन्तु प्रत्यङ्गतया च पुरुषपाण्यादिवत् कपालादित्वेन आभासमानानामेकोऽन्याभेदश्चक्षुरादिग्राह्याभिमत एकत्वाद् निर्विभागस्तथा भावविवर्तप्रत्यङ्गाना तदेकत्वाद् निर्विभाग। तस्माद् भावस्य न क्वचिन् स्वदभिमतभेदवदेकत्वादवच्छेदो विद्यत इति यदि घटादित्वेन यदि रूपादित्वेन त्वदिष्टभेदवदेव। इतिशब्दो हेत्वर्थे, यस्माद् विभागावच्छेदाभावाद्धेतो स भावो ध्रुवस्त्रिष्वपि कालेषु, **कूटस्थो** माषराशिस्थमाषवत् सर्वेणैकीभूत एव, **अविचाली** न स्थानात् स्थानान्तर सङ्क्रामति, **अनपायोपजन** कोष्ठागारधान्यवद् निर्गमप्रवेशापायोपजनौ भावस्य न स्त, **अविकार्य**पि स्वस्थानस्थस्यापि नर्तकीभ्रूक्षेपादिवद् विकाराभावात्, **अनुत्पत्ति** प्रागभूत्वा घटादिवदुत्पत्त्यभावात्, **अवृद्धि**रङ्कुरपत्रवदुपचया- १७३ १
भावात्, **अव्ययो** कृशादिपत्रावयवखण्डादिवद् व्ययाभावात। एतानि हि नित्यविशेषणानि भावस्यैव घटन्ते न पुरुषादीनाम्, अत्र भावे ध्रुवादिनित्यलक्षणयोग परपरिकल्पितभेदासम्भविधर्मत्वेन व्यतिरेकाल स्वरूपतो निदर्शनाभावात्। **उक्तवदि**ति च पूर्वोत्तरोत्पत्तिविनाशवस्तुप्रविभागाभावाद् युक्तो नित्यैकभवनात्मकत्वातिदेश।

---

[1] तस्य देशास्य पा दे ला० ऱे ही ॥ [2] दथा भा०। [3] अपि गतु ग्रन्थविद आह—प्रदेशोऽपि प्रधान सार्वरूप्यमनतिक्रान्तधातिकल्पश्च इति। इति भर्तृहरिविरचितायां वाक्यपदीयवृत्तौ ३।९ ॥ [4] ततोन्येन प्र ॥ [5] चेत्तत्र प्रा भा०। चेतत्र प्रा य० ॥ [6] ह्यापि नि भा ॥ [7] न चास्योर्ध्वमधस्तिर्यग्वा मूर्तिपरिवर्तप्रत्यङ्गाना क्वचिदवच्छेदोऽभ्युपगम्यते। इति भर्तृहरिविरचितायां वाक्यपदीयवृत्तौ १।१ ॥ [8] त्तरयोरपि य० ॥ [9] मेकोत्या (मेकोऽन्यो?) मेद भा। मेकोत्यामेद पा० दे लीं० ऱे० ही। मेकोत्यमेद्र त्रि ॥ [10] तदभि प्र० ॥ [11] दृश्यतां पृ० ११ पं० २२ पृ० २१२ टि० ४ ॥ [12] रधावद् प्र० ॥ [13] व्याख्यानो स्व प्र० ॥

अस्य प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धिरिहैव, अन्यत्रानुमानतैव सम्बन्धैकदेशप्रत्यक्षत्वप्रत्ययशेषसिद्ध्यात्मकत्वात् । कुतोऽनुमानतापि? सम्बद्धयोः कदाचिदग्रहणात् प्रत्यक्षपूर्वकत्वे तत्सम्भवात् तदभावे तदसिद्धेः । कुतोऽज्ञानमपि? प्रत्यक्षपूर्वका-

---

किञ्चान्यत्, **अस्य प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धिरिहैव**, अभिन्नभावपक्षे प्रत्यक्षत्वाद् भावस्य प्रत्यक्षं प्रमाणं सिध्यति, 'उक्तवत्' इति वर्तते[1] । यथोक्तं तस्य ह्येकोऽपि प्रथनं प्रतिदेशः सर्वाविभक्तभवनवृत्त्यात्मकत्वात् सार्वरूप्यमनतिक्रान्तः, ततस्तद्भावत्वात् ततोऽभिन्नत्वात् तस्य य एकदेशस्तस्य ग्रहणे तस्यैव ग्रहणं देशस्यात्मवदित्युक्त[2] भावप्रत्यक्षत्वम् । ततः सर्वप्रमाणज्येष्ठ[3]प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धिरिहैव यथार्थवस्तु[4]विषयत्वात् । **अन्यत्रानुमानतैव**, भावैकवस्तुपक्षादन्यत्र भेदपक्षेऽनुमानतैव प्रत्यक्षाभिमतस्यापि । किं कारणम्? **सम्बन्धैकदेशप्रत्यक्षत्वप्रत्ययशेषसिद्ध्यात्मकत्वात्**, द्वयोः सम्बद्धयोः सम्बन्धे तदेकदेशप्रत्यक्षत्वे तत्प्रत्ययाच्छेषसिद्धिरात्मा अनुमानस्येति तदात्मकं तत्, **सम्बद्धैकदेश** इति वा पाठः, यथोक्तम्—

सम्बद्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम् । [ ]

सम्बद्धानां भावानां स्वस्वामिभावेन[5] वेत्यादिना सप्तविधेन कश्चिदर्थः कस्यचिदिन्द्रियस्य प्रत्यक्षो भवति । तस्मादिदानीमिन्द्रियप्रत्यक्षाच्छेषस्य अप्रत्यक्षस्यार्थस्य या सिद्धिरनुमानं तत्, यथा धूमदर्शनात्

१७४-२ 'अग्निः' इति ज्ञानम् । तथा आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षजपूर्वकं त्रिविधं पूर्ववदित्यादिलक्षणमेव[6] तत्र सम्भवति । देशग्रहणस्य आराद्भागविषयस्याशेषतद्वस्त्वसंस्पर्शादेकदेशग्रहणेन शेषग्रहणमनुमानमेव । तस्यानुमानत्वेऽपि मा स्थिरां बुद्धिं कार्षीरित्यत आह—**कुतोऽनुमानताऽपि** प्रोक्तन्यायेन प्रत्यक्षत्वासिद्धेः । कथमिति चेत्, **सम्बद्धयोः कदाचिदप्यग्रहणात्**, प्रत्यक्षकाले हि सम्बद्धयोर्युगपद् ग्रहणादुत्तरकालमेकदेशग्रहणाद् विषाणादिव[7] गवि अनुमानं स्यात्, तदेव तु प्रत्यक्षदर्शनं नास्तीत्युक्तम् । **प्रत्यक्षपूर्वकत्वे तत्सम्भवात्** प्रत्यक्षसिद्धौ तद्बलेन अनुमानसिद्धिः सम्भाव्येत[8]. **तदभावे तदसिद्धेः** प्रत्यक्षत्वासिद्धेरनन्तरोक्तत्वादेव[9] कुतोऽनुमानतापि? ।

इतरो निराशीभूत आह—तत् किमज्ञानमेवापद्यते? आचार्य आह—**कुतोऽज्ञानमपीति**, अज्ञानमपि तन्न भवति त्वदभिमत प्रत्यक्षम् । कुतः? **प्रत्यक्षपूर्वकाज्ञानत्रयेऽन्तर्भावाभावात्**, संशयविपर्ययानध्यवसाया अज्ञानविकल्पाः, ते च प्रत्यक्षज्ञानपूर्वकाः, संशयस्तावत् सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद्

---

१ **वर्तते** य० प्रतिषु नास्ति ॥ २ दृश्यता पृ० २३८ प० ६ ॥ ३ °**प्रमाज्येष्ठ**° प्र० ॥ ४ **यथावस्तु**° य० ॥ ५ "स्वस्वामिभावेन वा प्रकृतिविकारभावेन वा कार्यकारणभावेन वा निमित्तनैमित्तिकभावेन वा मात्रामात्रिकभावेन वा वध्यघातकभावेन वा कश्चिदर्थः कस्यचिदिन्द्रियस्य प्रत्यक्षो भवति" इति वक्ष्यतेऽत्र **नयचक्रवृत्तौ** पृ० ४४९-२ । "एतेनैव 'मात्रानिमित्तसंयोगिविरोधिसहचारिभिः । स्वस्वामिवध्यघाताद्यैः साङ्ख्यानां सप्तधानुमा ॥ १ ॥' इत्यपि पराकृतं वेदितव्यम् ।" इति **न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायाम्** १।१।५ ॥ ६ "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् । अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टं च ।" **न्यायसू०** १।१।४,५ ॥ ७ °**णादिव** वि० विना । °**णादेव** वि० ॥ ८ **सम्भाव्यते** य० ॥ ९ **तदसिद्धेरनन्तरो**° भा० । **तदसिद्धेः प्रत्यक्षत्वात्सिद्धेरनन्तरो**° वि० ॥

ज्ञानत्रयेऽन्तर्भावाभावात् संशयनीयविपर्येतव्यविषयप्रत्यक्षात्यन्ताभावादाधिक्याध्यवसायासम्भवाच्चानध्यवसायासम्भवात् ।

अन्वाह च—

'यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः ।
सङ्कीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते ॥
तथेदममृतं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया ।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रकाशते ॥
तस्यैकमपि चैतन्यं बहुधा प्रविभज्यते ।
अङ्गारकिरणोत्पाते वारिराशेरिवोदकम् ॥
प्रकृतित्वमनापन्नान् विकारानाकरोति सः ।
ऋतुधामेव ग्रीष्मान्ते महतो मेघसम्भवान् ॥ [　　]

विशेषस्मृतेश्च संशयः [वै० सू० २।२।१७], तथा समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः [न्यायसू० १।१।२३] इति सामान्यविशेषयोः प्रत्यक्षपूर्वकत्वे समानानेकधर्मत्वादीनि विशेषणानि स्युरन्यथा स्थाणुपुरुषावितीति संशयनीयार्थाभावान्न संशयः । तत एव विपर्येतव्याभावान्न विपर्ययस्य मतेर्नैवेत्यत आह—संशयनीयविपर्येतव्यविषयप्रत्यक्षात्यन्ताभावात् । अनध्यवसायोऽध्यवसायपूर्वः, स चाधिकोऽवसायोऽध्यवसायः प्रत्यक्षज्ञानम्, एतद्भावस्योक्तत्वाद् नाध्यवसायोऽनध्यवसायः इत्याधिक्याध्यवसायासम्भवाच्च तद्द्वयवृत्तिविषयानध्यवसायासम्भवाद् कुतोऽनध्यव- १०७-१
सायः ? तस्माद् यदुक्तं पुढविकायिकाणं जीवा अन्धा मूढतमपविट्ठा [भगवतीसू० ७।७।२९२] इत्यादि तत् सत्यम् ।

अन्वाह चेति तस्मिन् जिनप्रवचनप्रसिद्धाभिरूपभावनिर्विकल्पविधिविधिनयदर्शने भेदाभावप्रत्यक्षानुमानसंशयविपर्ययानध्यवसायासम्भवमनुवर्तमानोऽन्योऽप्याह । यथा विशुद्धमाकाशमिति दृष्टान्तमर्थनम्, तिमिरोपप्लुतदृष्टेर्विशुद्धे नभसि केशोन्दुकमशकमक्षिकामयूरचन्द्रिकादिमात्राभिरवयवैर्चितमिति निरवयवेऽप्यसङ्कीर्णे सङ्कीर्णदर्शनं भवति । तथेदमिति दार्ष्टान्तिको मौनपरमार्थः, अमरणादमृतमविनाशाद् बृहत्त्वाद्

---

१ तथा श्रुतम्—न गतयो विद्यानामासामागमेऽप्यनवस्थितः । तर्कागमानुमानेन बहुधा पारिकल्पितः ॥ १ ॥ व्यतीता भेदसंसर्गौ भावाभावौ क्रमाक्रमौ । सत्यानृते च विश्वात्मा प्रविवेकात् प्रकाशते ॥ २ ॥ प्रकृतित्वमपि प्राप्तान् विकाराना करोति सः । ऋतुधामेव ग्रीष्मान्ते महतो मेघसम्भवान् ॥ ४ ॥ तस्यैकमपि चैतन्यं बहुधा प्रविभज्यते । अङ्गारकिरणोत्पाते वारिराशेरिवोदकम् । ५ ॥ 　यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः । सङ्कीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते ॥ १० ॥ तथेदममृतं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया । कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं विवर्तते ॥ ११ ॥ इत्युद्धृतमिदं कारिकाचतुष्टयं भर्तृहरिणा वाक्यपदीयस्य १।१ ॥ 　२ विपर्ययेण(विपर्ययेति ?)न व्यासाभावान्न विपर्ययस्य मतेर्नैवेत्यत आह संशयनीयविपर्यये(वि ?)तव्य प्र० । विपरिवृत्तेऽप्यतुघेट्कानिर्वर्त्या विपर्ययितव्य इति पाठः स्यात् ॥ 　३ पुढवी य० ॥ 　४ इत ऊर्ध्वं भगवतीपाठः स चाय—पुढविकाइया जाव वणस्सइकाइया छट्ठा य एगइया तसा एए णं अंधा मूढा तमपविट्ठा तमपडलमोहजालपडिच्छन्ना अकामनिकरणं वेयणं वेदेंतीति वत्तव्वं सिया ? हंता गोयमा ! जे इमे असन्निणो पाणा पुढविकाइया जाव वणस्सइकाइया छट्ठा य जाव वेयणं वेदेंतीति वत्तव्वं सिया । इति भगवतीसूत्रे पाठः ७।७।२९२ ॥ 　५ मानोनोऽप्याह य० दी० विना । मानोऽप्याह य० प्र० ॥

एषु विधिविधिषु अविकल्पः शब्दार्थः, न त्वज्ञातः सर्वस्यैकत्वाद् यस्य कस्यचिज्ज्ञाने सर्वस्य ज्ञातत्वात् । अन्वाह—

शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते ॥
अनागमविकल्पा तु स्वयं विद्योपवर्तते ॥ [वाक्यप० २।२३५]

ब्रह्म निर्विकारं [1]स्तिमितं [2]व्योमवदेव स्थितम्, नपुंसक[3]निर्देशः सर्वभेदाभिमतासद्विकारसाधारणत्वाद[4]व्यक्ते गुणसन्देहे नपुंसकलिङ्गप्रयोगवचनात्, भवनापेक्षया वा नपुंसकम् । अकलुषमपि सदविद्यया ज्ञानाभासेन कलुषत्वमिवापन्नमनापन्नमपि अभेदरूपं सद् भेदरूपमाभाति । एवं तावदमलं मलरूपेणाभातीत्युक्तम् । इदानीमेकं सदनेकधा प्रविभज्यत इति ब्रूमः—**तस्यैकमपीत्यादि** । यथा उदन्यतां तोयमुत्पातेऽङ्गारराशिवत् प्रज्वलदुपलक्ष्यते तथास्यानेकरूपता मिथ्यैव । **प्रकृतित्वमिति,** प्रकर्षेण कृतिः **प्रकृति**र्घटपटादि[5]प्रकारो भेदः, तद्भावमनापन्नानेव विकारांस्तानेव घटपटादीनात्मभावादप्रच्युतानेव [6]नर्तकहस्तभ्रूक्षेपादिकल्पानाकरोति स स्वतः स्वात्मानं भाव एवाकाररूपेण सृजति उपसंहरति च, को दृष्टान्तः? **ऋतुधामेव,** ऋतूनां धाम इन्द्रः, इन्द्र इव । १७५-० निर्मलमाकाशं दृष्ट्वा वक्तारो भवन्ति—महावर्षस्य गर्भ इति, कुतो निर्मले नभसि वर्षसम्भवः? तथापि तन्नैर्मल्याविनाशेनैव शक्रः शक्रकार्मुक-शतह्रदा-महाघन-स्तनित-वर्षित-करका-धारा-वर्षादीन् सृजत्युपसंहरति चेत्युच्यते क्षणेनैव पुनस्तादृग्नैर्मल्यदर्शनान्नभसः । यथेयं ऋतुधाम्नः सृष्टिः शुद्धगगनापृथग्भूतजलप्रकृतित्वाभिमतमेघादिरूपा तथा सर्वघटादिशरावादिरूपा [8]सृष्टिर्भावादेवोपसंहारश्चेति भाव-विधिविधिनयः समाप्तः ॥

❀

एवं तावद् वस्त्वर्थतो विधिविधिनयविकल्पाः पुरुष-नियति-काल-स्वभाव-भावा व्याख्याताः । अनया दिशा शब्दब्रह्म[9]विधिविधिनयग्रहाद्येककारणवादा उन्नयनीयाः । इदानीं तेषु शब्दार्थो वक्तव्यः, स च सामान्येनोच्यते सर्वेषां तुल्यत्वात् । स च द्विविधः—पदार्थो वाक्यार्थश्च । तत्र पदार्थस्तावत्—**एषु विधिविधिष्वविकल्पः शब्दार्थः,** उक्तेषु पुरुषा[10]दिवादेष्ववस्थाद्युपचरितप्रक्रियाभेदकल्पितविकल्पासत्त्वात् तद्वस्तुनिर्विकल्पत्वात् । **न त्वित्यादि,** नाज्ञातः, सर्वस्यैकत्वाद् यस्य कस्यचिज्ज्ञाने सर्वस्य ज्ञातत्वात् । एतेन [11]वैकल्प्याचसमन्वयो व्याख्यातो दृष्टान्ताभावात् सर्वस्य सर्वज्ञत्वा[12]द् भेदाभावात् । एतमर्थमन्योऽप्य**न्वाह—शास्त्रेषु प्रक्रिया** । साङ्ख्ययोगवैशेषिकवेदशिरःप्रभृतिषु[13] नृप्रकृतिपुरुषद्रव्यगुणादिनित्यानित्याद्वैतद्वैतत्रैतादिपदार्थप्रक्रियाभेदैर्विकल्पात्मकपदार्थप्रणयने यथाप्रक्रियमविद्यैवोपवर्ण्यते विकल्पस्यावस्तुत्वात् । विद्या तु १७६-१ तत्त्वज्ञानं सा आगमविकल्परूपा न भवितुमर्हति, वाग्गोचरातिक्रान्तत्वात् तत्त्वज्ञानविषयानन्तात्मकैकपर-

---

१ स्तिमिर प्र० ॥ २ व्योमदेव भा० । व्योमादवि य० ॥ ३ °निर्देश सर्वं भेदा° य० । °निर्देशा सर्वं भेदा° भा० ॥ ४ "एवं हि दृश्यते लोके—अनिर्ज्ञातेऽर्थे गुणसन्देहे च नपुंसकलिङ्गं प्रयुज्यते । 'किं जातम्' इत्युच्यते, द्वय चैव हि जायते—स्त्री वा पुमान् वा । तथा विदूरेऽव्यक्तं रूपं दृष्ट्वा वक्तारो भवन्ति—'महिषीरूपमिव' 'ब्राह्मणीरूपमिव' ।" इति पातञ्जलमहाभाष्ये १।२।६९ ॥ ५ °दिप्ररो भेदः भा० । °दिपरो भेदः य० ॥ ६ र्तनकहस्त° प्र० ॥ ७ विद्युत् ॥ ८ सृष्टिर्भावा° प्र० ॥ ९ °ह्मविधिन° प्र० ॥ १० °दिवाण्वेवस्याभ्युप° भा० । °दिण्वेवस्याभ्युप° य० । अत्र °दिवादेष्वेवावस्थाद्युप° इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ११ दृश्यतां पृ० १०९ प० ४ ॥ १२ °त्वात् भेदा° भा० । °त्वात् सदा° य० ॥ १३ °पुतप्रकृति° र० ही० विना । र० ही० प्रत्योस्तु °पु प्रकृति° इति पाठः, स च समीचीन एवेति भाति ॥

ये त्वेते घटादिशब्दा मेघस्तनितवदेते शब्दा एव केवला नार्थस्वरूपस्य वाचका मयूरविरुतवत् सङ्केताद् व्यवहारानुपातिनस्तस्यैव चैकस्य ब्रह्मणो लक्षणार्था तदेकदेशत्वात् प्रागभिहितप्रत्यक्षसिद्धिवत् । एवं च कृत्वाहु –सर्वधातवो भुवोऽर्थमभिदधति [ ] इति ।

मायस्य । यथोक्तम्– पैण्णवणिज्जा भावा [आव० नि ४८८] इत्यादि । आगमाभ्यासात्तु सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र-तपोविशेषैर्विशेषितावियस्य सर्वभावविषया विद्या स्वयमेव स्वात्मन्येव उपवर्तते, नाविद्यमाना श्रुतश्चिदानीयते, सा चानागमविकल्पैवेत्यत आह –अनागमविकल्पा तु स्वयं विद्योपवर्तते । तथा चान्य –

विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः ।
तेषामत्यन्तसम्बन्धो नार्थाञ्छब्दाः स्पृशन्त्यपि ॥

शब्दा इति शब्दगेंडुमात्रप्रतिपत्तिहेतव इत्यत आह –ये त्वेते घटादिशब्दा मेघस्तनितवदेते शब्दा एव केवलाः, नार्थस्वरूपस्य वाचकाः, घटादिप्रतिपादनसमर्थाभिमता न प्रतिपादका इत्यर्थः । नन्विदं प्रसिद्धप्रस्तुतव्यवहारविरुद्धं त्वयोक्तम्–अर्थस्याप्रतिपादका घटादिशब्दा मेघस्तनितवच्छ्रोत्रग्राह्यत्वादिति, घटादिशब्दाः सन्ति च त्वद्वचनादेव तेषां घटाद्यर्थप्रतिपादनदर्शनादिति । अत्रोच्यते–न ब्रूमः 'अप्रतिपादकाः' इति । किं तर्हि? अवाचका इति ब्रूमः, प्रतिपत्तृसङ्केतवशात् तदुपलक्षणत्वेन प्रतिपादकत्वं विकल्पात्मार्थविषयं न विरुध्यते, यस्माद् मयूरविरुतवत् सङ्केताद् व्यवहारानुपातिनः, यथा मयूरविरुतं श्रासमर्न्दपस्थानमनाद्यन्यतमावस्थाविशेषसहचरं श्रुतवत् तथोत्तरकाले कृतसङ्गीते पुरुषस्य तादृग् विज्ञानमादधाति एवं पुरुषोऽपि घटपटादिशब्दोच्चारणेन पूर्वसङ्केतवशात् पुरुषान्तराय स्वाभिप्रायमर्पयतीति न प्रसिद्धिव्यवहारविरोधो, तथैव अचेतनादेष्वपि कालाकालमेघस्तनितादिषु सङ्केतादेव शुभाशुभादिपरिज्ञानं १७६ २
दृश्यते । अथवा किमनेन प्रसिद्धिव्यवहारविरोधपरिहारपरिक्लेशेन? नन्वयमेव सुश्लिष्टः परिहारो व्यापी च, तद्यथा–ते सर्व एव शब्दास्तस्यैव चैकस्य ब्रह्मणः पुरुषाद्यन्यतमविधिविधिनयविकल्पस्य यथोपपादितं त्वया रचितस्यान्यतमस्य लक्षणार्था तदेकदेशत्वात् प्रागभिहितप्रत्यक्षसिद्धिवत् । यथा 'गौर्विषाणी ककुद्मान् प्रान्तेवालधिः सास्नावान्' इति यत्ते विषाणादिशब्दा गोरेकदेशवाचित्वात् तदुपलक्षणार्थाः प्रसिद्धसङ्केतवशाद् गोरेव वाचकास्तदवयवाना तस्मादभिन्नत्वादेव सर्वशब्दास्तदवयवाना ततोऽपृथक्त्वात् तस्यैव सदसतो वाचका इति वाचकत्वेऽप्युपपन्नः प्रसिद्धिव्यवहाराविरोधः । अभिन्नैकभवनब्रह्मोपलम्भसाधने सर्वशब्दानां शब्दलक्षणविमतिमवादि ज्ञापयन्नाह– एवं च कृत्वाहुः शब्दलक्षणविद इति वाक्यशेषः । सर्वधातवो भुवोऽर्थमभिदधतीति तेषामप्यस्मिन्नेव दर्शने करोत्यादिधातूना सत्तार्थानति-

---

१ दृश्यतां पृ० ९ पं० ११ ॥ २ विशेषितावियस्य विशेषितावियस्य विशेषितावियस्य विशेषितावियस्येत्यादय ॥ ३ नार्थाशब्दा य० । दृश्यतां पृ० ४९८-१ ॥ ४ गतुमात्र प्र० ॥ ५ किं तर्हि अवाचका इति य० प्रतिषु नास्ति ॥ ६ दृश्यता य० । दृश्यता भा० ॥ ७ पाल भा० ॥ ८ क्लिष्टेनेत्यमेव प्र० ॥ ९ वादे भा० ॥

स एकोऽनवयवः शब्दो वाक्यार्थः, न तु सर्वाणि । सङ्ग्रहदेशत्वाच्चास्य द्रव्यार्थता । भवति भवनं भावो द्रवतीति द्रव्यम्, न विकारावयवौ ।

क्रमे [1]स्वर्थवचनमुपपद्यते, [2]'भुवं वदन्ति' इति [3]भूवादयः, वादिशब्दस्य [4]औणादिकेञन्तत्वात् तथा भूवादिशब्दव्याख्यानात्, नान्यथा । इत्युक्तः पदार्थः ।

इदानीं वाक्यार्थ उच्यते—**स एकोऽनवयवः शब्दो वाक्यार्थः,** वाक्यं च वाक्यार्थश्च वाक्यार्थः, वाक्येन युक्तोऽर्थो वाक्यार्थः, वाक्य[5]सम्बन्धी वाक्याद् [6]वाक्यस्यैवार्थः । यथाहुः—

आख्यातशब्दः सङ्घातो जातिः सङ्घातवर्तिनी ।
एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसंहृतिः ॥
१७७-१ पदमाद्यं पृथक् सर्वं पदं साकाङ्क्षमित्यपि ।
वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायदर्शिनाम् ॥ [वाक्यप० २।१,२] इति ।

तत्र यैः 'एकोऽनवयवः शब्दः' इत्युक्तं तै[7]र्विनिश्चित्योक्तं भवनस्यानवयवत्वात् तथैव पदवाक्यशब्दतदर्थाद्यात्मत्वादिति । [8]न तु सर्वाणि एकस्यैव सर्वत्वादिति [9]चरितार्थ एष द्रव्यार्थो विधिविधिनयः, हेतोर्वास्मात् **सङ्ग्रहदेशत्वाच्चास्य द्रव्यार्थतेति,** सङ्ग्रहो द्रव्यार्थः, स पुनर्द्विविधः—[10]सर्वसङ्ग्रहो देशसङ्ग्रहश्च, इत्येवमादिशतप्रस्तारोऽसावार्षे शतभेदश्रुतेर्नयानाम् । यथोक्तम्—एक्केक्को य स[11]तविधो सत्त णयसता [12]हवंत्येवं [आव० नि० ७५९] इति । सङ्ग्रहस्यापि द्रव्यार्थता

तित्थकरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवाकरणी ।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणयो य सेसा विकप्पा सिं ॥ [सन्मति० १।३] [13]तिवचनात् ।

द्रव्यार्थसमासश्च [14]आदिनये व्याख्यातः । तस्मात् सङ्ग्रहदेशत्वात् तदवयवत्वादस्य द्रव्यार्थतेति ।

द्रव्यशब्दस्य कोऽर्थः ? -द्रवतीति द्रव्यम्, **गुणसन्द्रावो द्रव्यम्** [पा० म० भा० ५।१।११९], द्रव्यं भव्यं योग्यं भू प्राप्तौ [पा० धा० १८४५] इति प्राप्तियोग्यमिष्टार्थप्राप्तियोग्यं दारु, [15]क्रियावदादिलक्षणं द्रव्यम्, इत्येवमादि यथासम्भवं लक्षणं वाच्यम् । इह तु **भवति भवनं भावः** । **'भवति'** प्रात्ययचतुष्टये पुरुषादिस्वभावान्ते, **भवनं भावो**ऽन्त्ये पूर्वोक्तवत्, पूर्वविरुद्धत्वान्नयानां द्रवति [16]भवति गच्छति सततमिति **द्रव्यं** गत्यात्मकत्वात् द्रव्यं च भव्ये [पा० ५।३।१०४] इति वचनात्, **न विकारावय**[17]**वावि**ति विधिनयायुक्तत्वाद् गतार्थम् ।

---

१ स्वर्थ° य० । स्वार्थ° भा० ॥ २ °पद्य भुवं प्र० ॥ ३ "भूवादयो धातव इति । कथम् ? नेदमादिग्रहणम् । वदेरयमौणादिक इञ् कर्तृसाधन –भुव वदन्तीति भूवादय इति ।" इति पातञ्जलमहाभाष्ये ॥ ४ "वसिवपियजिराजिव्रजिसदिहनिवाशिवादिवारिभ्य इञ् ।५८४ ॥" इति पाणिनीयव्याकरणे उणादिषु चतुर्थपादे ॥ ५ °संबंधा प्र० ॥ ६ 'वाक्याद् वाक्यस्यैव वार्थ' इत्यपि पाठोऽत्र स्यात् ॥ ७ °ब्दः तद° य० ॥ ८ न तु सर्वाणि पदानि वाक्यार्थ इत्याशय ॥ ९ चरितार्थ भा० ॥ १० सर्वं° प्रतिषु नास्ति ॥ ११ °विहो सत्त नय° य० ॥ १२ हवंत्येवमिति प्र० ॥ १३ दृश्यता पृ० ४ टि० २ ॥ १४ दृश्यता पृ० ७ पं० ८ ॥ १५ "क्रियावद् गुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ।" वै० सू० १।१।१५ ॥ १६ भवति भा० प्रतौ नास्ति ॥ १७ °वाविधिविधिनया° य० ॥

निबन्धनमस्य–किं भव एके भव, दुवे भव, अक्खुए भव, अव्वए भव, अवट्ठिए भव अणेगभूतभव्वभविए भव? सोमिला! एके वि अहं दुवे वि अहं अक्खुए वि अहं अव्वए वि अहं अवट्ठिते वि अहं अणेगभूतभव्वभविए वि अहं [भगवतीसू० १८ । १० । ६४७]।

किमेतत् सामर्थ्यवादिना स्वमनीषिकयोच्यते त्वया, आहोस्विदार्षेऽपि निबन्धनमस्य दर्शनस्यास्ति यत एतद् निर्गतमिति? अत्र 'अस्ति' इत्युच्यते, **निबन्धनमस्य सोमिलब्राह्मणप्रश्ने किं भव एके भव**- 5 मित्यादिके व्याकरणे **सोमिला**[1] **एके वि अहं, दुवे वि अहं, अक्खुए वि अहं, अव्वए वि अहं, अवट्ठिते वि अहं, अणेगभूतभव्वभविए वि अहं**मित्यादि निबन्धनमिति ।

एवं द्वितीयो विधिविध्यरः सविकल्पो नयचक्रस्य समाप्तः ॥

---

१ दृश्यतां पृ० १८९ टि० ५ ॥ २ एगो प्र० ॥ ३ ए पि अहं प्र० ॥

ॐ अर्हम्

अथ तृतीयो विध्युभयारः ।

अथ किं भवता पुरुषादिवादेषु प्रतिस्वं तथा तथा या एता अवस्था उक्ताः पुरुषादि तत्त्वं तल्लक्षणम्, उत पुरुषादिलक्षणास्ताः ?

यद्यवस्थास्वात्मैव पुरुषादि, न पुरुषाद्यात्मा अवस्थाः, ततः पुरुषो नाम न कश्चिच्चतुरवस्थाव्यतिरिक्तः, समुदयिमात्रसमुदायाभ्युपगमाद् रूपादिसमुदायवत्

कमलदलविपुलनयना कमलमुखी कमलगर्भसमगौरी ।
कमले स्थिता भगवती ददातु श्रुतदेवता सिद्धिम् ॥

इदानीं विध्युभयारावसरः । यद्ययं विधिविधिनयारोक्तो भावो निर्दोषः स्यादरान्तरारम्भोऽनर्थकः स्यात्, स तु सदोष एवेति प्राप्तावसरं तद्दोषमुक्त्वोत्तरत्र विध्युभयारं निर्दिदिक्षुः प्राच्यदोषाभिधानार्थमेव तावदाह—**अथ किं भवता**[1] इत्यादि । अथेत्यधिकारोपन्यासे, अनन्तरोक्तपुरुषादिवाददूषणाधिकारोपन्यासार्थोऽथशब्दः[2] । किंशब्दः प्रश्ने, सामान्येन पुरुष-नियति-काल-स्वभाव-भावेषु अनन्तरोक्तेषु **प्रतिस्वमा**त्मनो ग्राहं **तथा तथा** तेन तेन प्रकारेण पुरुषः सुप्तादिचतुरवस्थः, नियतिरेव पूर्वपरादिक्रियाऽक्रियादिनियतावस्थारूपा, काल एव क्रमयौगपद्यभूतभवद्भावि[3]व्यवस्थातत्त्वः, स्वभाव एवात्मप्रविभागमात्रप्रतिविवित्त[4]भवनभेदतत्त्वः, भाव एव सत्वासत्वाद्यविद्याविकल्पविनिर्मुक्तसत्तामात्रव्याप्यनन्तशब्दार्थज्ञानाद्यवस्थाविशेषजगत्तत्त्व इति **या एताः** प्रतिस्वमशेषा[5] व्रीह्यङ्कुरादिघटपटादिवस्तुव्याप्तिवृत्तयो**ऽवस्था**स्तस्य तस्य पुरुषादि-
१७८, दर्शनस्य व्यापित्वप्रदर्शनार्थ**मुक्ता**स्तासु **किं पुरुषादि तत्त्व**मवस्थालक्षणं **[6]तल्लक्षणम्** ? तानि च लक्षणं* तस्याः, न सोऽस्ति तद्व्यतिरिक्तः, यथा रूपादय एव घट इति । **उत पुरुषादिलक्षणास्ताः** ? पुरुषाद्येव सत्यम्, न ताः काश्चिदवस्थाः, यथा घट एव रूपादयः न रूपादयो नाम केचिद् घटव्यतिरेकेण, इति द्वयोर्विकल्पयोरन्यतरोऽवधार्यः ।

[7]किञ्चातः ? **यद्यवस्थास्वात्मे**त्यादि यावत् **समुदयमात्रवाद एवायमन्यः** । यदि पुरुषादि न किञ्चिदस्ति, अवस्थास्वात्मैव तल्लक्षणम्, ता एव सत्याः, **न पुरुषाद्यात्मावस्थाः** पुरुषादिस्वरूपास्ता अवस्था न भवन्ति इत्येवमभ्युपगतं भवति **ततः पुरुषो नाम न कश्चिच्चतुरवस्थाव्यतिरिक्त** इत्येतदा-

---

१ भवत र० ही० ॥ २ °न्यासोर्थं° भा० । °न्यासोर्थो° य० ॥ ३ °द्भाविविवस्थात्ततः य० । °द्भाविद्भुवस्थात्ततः भा० ॥ ४ °प्रतिविवक्त° य० ॥ ५ °स्वतशेषः प्र० ॥ ६ * * एतच्चिह्नान्तर्गत पाठो य० प्रतिषु नास्ति ॥ ७ किं चातः प्र० ॥

समुदायमात्रवाद एवायमन्यः, तुरीयत्वप्रतिपादनार्थाभ्युपगतमुक्तिक्रमवत्तु अयुगपदवस्थावृत्तेः क्षणिकवादः वासोवत्, चतुर्ज्ञानमात्रत्वात् कल्पनाज्ञानमात्रसत्य न किञ्चित् तदाभासज्ञानबहिर्भूतं स्वप्नवदिति विज्ञानव्यतिरिक्तार्थशून्यवादः।

अचिन्त्यमेवेदं चिन्त्यते। ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् क्वचित् तत्त्वैक एव व्यवस्थितः पुरुषः, अनतिरिक्तपरापराणीयोज्यायोरूपात्मकत्वात्, वृक्षवत्।

पन्नम्। पुरुषादि इति सामान्येनोपक्रम्य **पुरुषो नाम** इति पुरुषस्यैवाभाववचनं विधिविधिनयविकल्पानां पुरुषस्य प्रथमत्वात् तद्दूषणेनातिदेक्ष्यमाणत्वात्। पुरुषवादे प्रस्तुते कथं पुरुष एवामन्त्रित्यापाद्यत इति चेत्, उच्यते—यस्मात् **समुदयिमात्रसमुदायाभ्युपगमाद् रूपादिसमुदायवत् समुदायमात्रवाद एवायमन्यः**, स एवायं बौद्धपरिकल्पितरूप-वेदना-विज्ञान-संस्कार-संज्ञास्कन्धसमुदाय पुरुषोऽङ्गुलिमुष्टिवत् वल्मीकपङ्क्तिवत् अक्षोद्धिचक्रपञ्जरश्रोणीपार्श्वयुगलमिलादिरथवदिति समुदयवादः ईषमपीश्वरक्षितकुक्कुटवत् पुरुषप्रत्याख्यानफलोऽन्यवदाभाति सुप्तसुषुप्तनामत्तुरीयावस्थासंज्ञाभेदात्। युगपद्भाविरूपादिगुणसमुदायवादतुल्यो युगपदनेकचतुरवस्थासमुदयवाद इति एष देशभिन्नरूपादिसमुदयवादतुल्यः। नायं देशभिन्नरूपादि- १७०
समुदयवादतुल्य एव, किं तर्हि? कालभेदभिन्नायुगपद्भाविमततसवृत्तवननिधननामरूपवादतुल्यः क्षणिकवादोऽपि, यस्मात् **तुरीयत्वप्रतिपादनार्थाभ्युपगतमुक्तिक्रमवत्त्वयुगपदवस्थावृत्तेः क्षणिकवाद** इति, सुप्तसुप्तनामत्परमविनिद्रावस्थाविशुद्धिक्रमान्यथावृत्त्यभ्युपगमादवस्थाश्रयोऽयथात्वम्, अन्ते च क्षयदर्शनादादौ क्षयोऽनुमेयोऽवस्थानामिति क्षणिकवादः। को दृष्टान्तः? **वासोवत्**, यथा वस्त्रं क्षणे क्षणे जीर्यज्जीर्यदन्ते विशीर्यते तथावस्था अपि। न केवलं समुदयक्षणिकवादावेव, किं तर्हि? शून्यवादोऽपि, तद्यथा—**चतुर्णा(ज्ञा?)नेत्यादि**, यथा पुरुषवादिना चतस्रोऽवस्थाः पृथक् परिगृह्य तास्वपि ज्ञानमेव सुप्तत्वात् सुप्तपुरुषवत् सुषुप्तत्वाद् मदिरामत्तवदित्यादिना प्रतिपादितम्, तथा तथा रूपाद्यमूर्तमूर्त्यापत्त्या त्वयैव 'रूपणाद् रूपम्' इति च ज्ञानात्मना चैतन्यसम्पादनपेता रूपरसादिघटादिसृष्टिश्चानेकधोपपादिता, सा च कल्पनाज्ञानम्, तन्मात्रमेव सत्यम्, न रूपादि किञ्चित् तदाभासज्ञानबहिर्भूतं स्वप्नवत्, यथा स्वप्ने सिंहाद्याभासज्ञानमात्रम् न सिंहादि किञ्चित् तद्बहिर्भूतमस्ति जाग्रद्विज्ञानमपि ज्ञानमात्रमेव ग्रामारामस्त्रीपुरुषादिरूपाद्याकारज्ञानमात्रं तद्व्यतिरिक्तार्थशून्यस्वप्नविज्ञानवदित्येतदापन्नम्। अतः कल्पनाज्ञानमात्रमन्यमिति विज्ञानव्यतिरिक्तार्थशून्यवादः, विज्ञानमात्रस्यास्यापि ग्राह्यग्राहकविकल्पातीतनिर्विकल्पत्वाश्रयस्य शून्यत्वापत्तेः।

पुरुषवाद्याह—**अचिन्त्यमेवेदं चिन्त्यत** इत्यादि। मद्वचनापरिज्ञानादसम्बद्धं दूषणम्, मया हि 'पुरुष एवेदम्' इत्यवधारितम्, नोक्तम् 'इदमेव पुरुष' इति प्रत्यक्षा सुप्ताद्यवस्था नदिष्येति। अत्र १७१

---

१ समुदायवत् य० प्रतिषु नास्ति॥ २ एव पयायमन्य प्र०॥ ३ दाय पु प्र०॥ ४ पीयाक्ष भा। पीयोज्य° य०। दृश्यतां पृ० ७६ टि १॥ ५ घम्यदि(सम्यादि?)चतु भा॥ ६ तुल्य क्ष° प्र०॥ ७ अन्ते क्षय य०॥ ८ क्षयोनुमयावस्था प्र०॥ ९ तथा तथा तथा भा०॥ १० कश्चित्तद्बहि भा०। कश्चिद्बहि य॥ ११ (रूपा?)॥ १२ याम्यापि प्र०॥

नन्वयमेकावस्थामात्रस्वतत्त्व एव व्यवस्थापितः, चैतन्यानतिवृत्तिवर्णनात् । तच्च विनिद्रावस्थातोऽनन्यदिति 'विनिद्रावस्थालक्षण एव पुरुष आत्यन्तिकनिद्राविगमरूपनिरूप्यत्वाद् विनिद्रावस्थास्वात्मवत् । न ह्यसावितरात्मिका, स्ववृत्तित्यागापत्तेः । तन्मात्रत्वे तु पुरुषस्यापि तद्वज्जाग्रदाद्यवस्थानात्मकत्वादसर्वगतत्वम् ।

प्रयोगः – ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् क्वचित् तत्त्वैक एव व्यवस्थितः पुरुष इति प्रतिज्ञा, अनतिरिक्तपरापराणीयोज्यायोरूपात्मकत्वाद् वृक्षवदिति, यथोक्तम् —

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥ [श्वेताश्व० ३।९] इति ।

यस्मादन्यत् परं नास्त्यनन्यदद्वैतमेवेत्यर्थः । अथवा यस्मात् परं प्रधानं प्रकृष्टम् अपरमप्रकृष्टमन्यद्वा नास्ति ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्परापरविभागाभावादविभागात्मना तस्यैव व्यवस्थानात् । नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चिदिति सूक्ष्मस्थूलविभागाभावात् तद्रूपेणाविभक्तस्यापि तस्यैवावस्थानादिति । शेषं गतार्थम् ।

अत्रोच्यते – नन्वयमित्यादि । ननु त्वयायं पुरुषोऽवस्थात्मकत्वमनतिक्रामन्नेकावस्थामात्रस्वतत्त्व एव व्यवस्थापितश्चतुरवस्थास्वरूपोपवर्णनद्वारेणैव तन्निरूपणादवस्थास्वात्मक एवासाविति, तत्रापि च विशेषेण एकावस्थामात्रस्वतत्त्वस्तुरीयावस्थातत्त्व इत्यर्थः । ननु कुत इति चेत्, चैतन्यानतिवृत्तिवर्णनात्, 'सर्वत्र ज्ञानमयोऽसौ पुरुषः, इति प्रतिज्ञाय तद्व्याप्तिप्रदर्शनार्थं 'चैतन्यमेव वृक्षतृणकुड्यपुरुषादि, सुप्तत्वात् सुषुप्तत्वाज्जागरितत्वात्, सुप्तादिपुरुषवत्' इति वर्णितं चैतन्यमेव । तच्च विनिद्रावस्थातोऽनन्यत्, तच्च चैतन्यं विनिद्रावस्थैव, यथोक्तम् —

पुरुषस्य न केवलोदयः परमवस्थाप्यनिवृत्तकेवला: ।
१७१-२ न च सत्यपि केवले प्रभुस्तव चिन्त्येयमचिन्त्यवद् गतिः ॥ [सिद्ध० द्वा० ४।२२] इति ।

इतिशब्दो हेत्वर्थे, अस्माद्धेतोर्विनिद्रावस्थालक्षण एव पुरुषः, एतदेवास्य लक्षणम्, उपयोगो लक्षणम् [तत्त्वार्थ० २।८] इति वचनात् । एतत् प्रतिज्ञामात्रम् । अत्र हेतुरुच्यते – आत्यन्तिकनिद्राविगमरूपनिरूप्यत्वात्, सर्वत्र सर्वदा यान्तमतीतोऽत्यन्तः, तत्र भव आत्यन्तिको निद्राविगमः, स एव रूपं तत्त्वम्, तेन तत्त्वेन निरूप्यत्वात्, यथा निरूपितं पुरुषवादिनैव सर्वं सर्वत्र सदा सर्वथा चेतनात्मकमेवेति सिद्धो हेतुः । को दृष्टान्तः ? विनिद्रावस्थास्वात्मवत्, यथा विनिद्रावस्थां चतुर्थीं शुद्धचैतन्यात्मानं नातिवर्तते प्रोक्तरूपेण निरूप्यत्वात् पुरुषस्तथा शेषावस्थास्वपि तद्धर्मतानतिवृत्त्यैवेति एवमेषा विनिद्रावस्थैव सर्वत्रापादिता । न ह्यसावितरात्मिका, यथा सुप्ताद्यवस्थास्तुरीयावस्थैव न तथा सा तदात्मिका । कस्मात् ? स्ववृत्तित्यागापत्तेः, यदि सा विनिद्रावस्था सुप्ताद्यवस्थापि स्यात् ततस्तया विशुद्धावस्था स्ववृत्तिस्त्यक्ता स्यात्, न त्वस्ति स्ववृत्तित्यागोऽवस्थासङ्करस्वरूपनिर्णयाभावादिदोषात् । अतः सा तन्मात्रैव, तस्माच्च तन्मात्रत्वे तु पुरुषस्यापि तदवस्थामात्रत्वमतो विनिद्रावस्थामात्रत्वम्, तद्वज्जाग्रदाद्यवस्थानात्मक-

---

१ तत्त्वैक एव भा० । तत्त्वैक एक एव य० ॥ २ नास्त्यनन्यद्वैत° भा० । °नास्त्यन्यत् वैत° य० ॥ ३ °परविभागाभावादिग्विभागात्मना य० । °परविभागात्मना भा० ॥ ४ ताद्रूपेणा° भा० ॥ ५ °वर्तनात् प्र० ॥ ६ वृक्षान्तराकुड्य° प्र० ॥ ७ दृश्यतां पृ० १८३,१८४ ॥ ८ दृश्यतां पृ० २०१-१ ॥ ९ चतुर्थं प्र० ॥ १० तद्धर्मतामनिवृत्त्यैवेति य० । तद्धर्मस्यैवेति भा० ॥ ११ विशुद्धा स्ववृत्ति° य० ॥

अथ विनिद्रावस्थालक्षणोऽपि पुरुषः सर्वत्वान्न विनिद्रावस्थामात्र एव, विनिद्रावस्थापि विनिद्रावस्थात्मिका सती सर्वत्वान्न विनिद्रावस्थामात्रैव स्याद् विनिद्रावस्थालक्षणत्वात् पुरुषस्वात्मवत् । ततश्च प्रत्यवस्थं तस्या एव सर्वात्मकत्वात् तृणाद्यपि सर्वगतमिति किं पुरुषैकत्वप्रकल्पनया? अतल्लक्षणत्वाद्वा विनिद्रावस्थाया अभावः, ततश्च तत्तत्त्वचतुरवस्थसर्वात्मकपुरुषाभावः ।

अथ विनिद्रालक्षणविपरीतोऽपि पुरुषः पुरुष एवावधारणभेदात्, विनिद्रावस्था-

---

त्वम्, तस्माज्जाग्रदाद्यवस्थानात्मकत्वाद् विनिद्रावस्थामात्रत्वात् सुप्तादिहैष्टशेषावस्थासु अवृत्तेरसर्वगतत्वमिति चाव्यापित्वदोषः पुरुषकारणवादस्य ।

अथ विनिद्रेत्यादि । मा भूत् पुरुषासर्वगतत्वदोष इति विनिद्रावस्थालक्षणोऽपि सन् पुरुषः सर्वत्वान्न विनिद्रावस्थामात्र एव किं तर्हि? सुप्तादिवृत्तिरपीतीष्यते, ततो विनिद्रावस्थापि विनिद्रावस्थात्मिका सती सर्वत्वादेव न विनिद्रावस्थामात्रैव स्यात्, सुप्ताद्यवस्थापि स्यादित्यर्थः । हेतुः १८०१ विनिद्रावस्थालक्षणत्वात् पुरुषस्वात्मवत्, यथा पुरुषो विनिद्रावस्थालक्षणत्वात् सर्वगत इष्यते तथा विनिद्रावस्थाऽऽत्मस्थैव स्यात् सर्वगता स्यात्, विनिद्रावस्थालक्षणा हि सापीति । ततश्चेत्यादि, एवं च सत्यन्योऽपि दोषः, अवस्थामवस्था प्रति प्रत्यवस्थं विनिद्रावस्थावृत्तेः सुप्तसुषुप्तजाग्रदवस्थास्वपि तस्या एव विनिद्रावस्थाया एवाविशेषेण सर्वगतत्वात् सुषुप्तावस्थापि तृणादि सर्वगतं स्यात् सर्वात्मकत्वाद् विनिद्रावस्थावत्, सर्वात्मकत्वं विनिद्रावस्थालक्षणत्वात् पुरुषवदित्युक्तम् । तस्मात् तृणाद्यपि सर्वगतमिति किं पुरुषैकत्वप्रकल्पनया? कः पुरुषवादविशेषाभिमानः? 'तृणमेवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्, यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्' इत्यादि 'तेनेदं पूर्णं तृणेन सर्वम्' इति च कस्मान्न पठ्यते? इति ।

किञ्चान्यत्, अतल्लक्षणत्वाद्वेत्यादि । लक्षणं विशेष्य अर्थान्तराद् व्यवच्छिद्य स्वरूपेऽवस्थापकं नीलोत्पलवत्, तत् पुनः स्वात्मन्यवस्थितत्वान्नास्ति लक्षणं प्रत्यवस्थं सर्वात्मसु वृत्तत्वात् । ततोऽतल्लक्षणत्वाद्वा विनिद्रावस्थाया अभावः स्यात् स्वात्मन्यस्थितत्वात् खपुष्पवत् । ततश्च तत्तत्त्वे, तासां तत्त्वं चतसृणामवस्थानां सैव, तत्तत्त्वे चतुरवस्थाऽभावः, ता एव च सर्वम्, तदभावात् सर्वाभावः, सर्वाभावात् तदात्मकस्य सर्वात्मकस्य पुरुषस्याप्यभाव इत्यत आह—ततश्च तत्तत्त्वचतुरवस्थसर्वात्मकपुरुषाभावः, चैतन्यमेव हि पुरुषस्यावस्थानां च लक्षणम्, तदभावे पुरुषस्यावस्थानां चाभावे किमवशिष्यते? १८०२

अथ विनिद्रालक्षणेत्यादि । अथ मतं भवतः—विनिद्रावस्थापुरुषाभावदोषयोः परिहारे सर्वदोषपरिहारः, स चावधारणवैपरीत्येनेति, तद्यथा—पुरुषस्तु पुरुष एव *विनिद्रावस्थालक्षणविपरीतोऽपि, किं कारणम्? अवधारणे भेदात् । कथमवधारणभेदः? उच्यते—विनिद्रावस्थास्वात्मनि अवधार्यमाणे*

---

१ दृश्यतां पृ० २०१-१ ॥ २ दृश्यतां पृ० २०८-१ ॥ ३ दृष्टशेषावस्थास्ववृत्तेरसर्वगतत्वमिति प्र० ॥ ४ ष द्यास्य वि विना । पश्चासय वि० ॥ ५ रपीष्यते भा० ॥ ६ न्यवस्थि प्र० । अत्र स्वात्मन्येवास्थितत्वा इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ७ स्वात्मन्यवस्थितत्वात् भा० । दृश्यतां टि० ६ ॥ ८ स्यासवा भा० ॥ ९ * * एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठो य० प्रतिषु नास्ति ॥ १० (अवधारणभेदात्?) ॥ ११ अवधार्यमाण भा० ॥

स्वात्मनि विनिद्रावस्थैव लक्षणम्, पुरुषे तु लक्षणमेव अन्यासामप्यत्यागात्, स ह्यनेकरूपो मेचकवत्। न, उक्तवदवधारणभेदस्यान्याय्यत्वात् प्रतिज्ञातव्याघाताद् घटरूपादित्ववत्, पुरुषत्वं प्रागुक्तमवस्थानाम्, अधुना तु पृथक्स्वात्मानस्ता उच्यन्त इति तत्त्वं पुरुषस्य रूपादिघटत्ववत्। यदा च तासामेव तत्त्वं ततस्तासां

विनिद्रावस्थैव लक्षणं नान्या काचिदवस्थेति स्वात्मनो लक्षणस्यावस्थाया नियमः, सा त्वन्यावस्थात्मनोऽपि लक्षणत्वान्न नियतेति न विनिद्रावस्थायामन्यावस्थाभावोऽस्ति। पुरुषस्याप्यभावो नास्ति, पुरुषे तु लक्षणमेवेत्यवधारणाद् विनिद्रावस्था लक्षणमेव पुरुषस्य नालक्षणमिति पुरुषो लक्ष्यत्वेनानियतोऽन्याभिरप्यवस्थाभिर्लक्ष्यत्वादन्यासामप्यत्यागाल्लक्षणत्वेन पुरुषस्येति भेदेनावधारणम्। यस्मात् स ह्यनेकरूपो मेचकवत् पुरुषः, वर्णसङ्करो हि मेचकः, न नीलोऽपि पीतोऽपि लोहितोऽपि तथा पुरुषो विनिद्रावस्थालक्षणोऽपि सुप्ताद्यन्यतमावस्थालक्षणोऽपीति।

अत्रोच्यते—न, उक्तवदित्यादि। नैतदुपपन्नम्, उक्तवदवधारणभेदस्यान्याय्यत्वात्, उक्तेन तुल्यमुक्तवत् तेनैव प्रागुक्तप्रकारेण तेनैव न्यायेनावधारणभेदस्यावसर एव नास्ति, न्यायादनपेतं न्याय्यम्, न न्याय्यमन्याय्यम्। कुतः? प्रतिज्ञातव्याघातात्, यदवधारणं भिन्नार्थविषयमाश्रीयते 'चैतन्यात्मैक-

१८१.१ पुरुषमयमिदं सर्वम्' इति प्रतिज्ञा हीयते, अथैकपुरुषमयत्वप्रतिज्ञा परिपाल्यते भिन्नार्थविषयावधारणोत्पत्तिर्विशीर्यते, कथम्?[1] घटरूपादित्ववत्, यथा 'घट एव रूपादयः' इत्येतस्मिन् पक्षे न रूपादयो नाम केचित् सन्ति घटादर्थान्तरभूताः, तत्र 'रूपस्यात्मनो रूपावस्थैव लक्षणं न रसाद्यवस्थापि, घटात्मनस्तु रूपावस्था लक्षणमेव इतरासामत्यागात्' इति कोऽर्थः स्याद् रूपाद्यभावात्? तथेहापि विनिद्रिकावस्थालक्षणपुरुषव्यतिरिक्तार्थाभावादितरासां सुप्ताद्यवस्थानामभावादेव कोऽवधारणार्थविशेषः? इत्यवधारणाभावः प्रतिज्ञाव्याघातो[2] वेत्येतदुभयं प्रदर्शयति—पुरुषत्वं प्रागुक्तमवस्थानाम् अधुना तु पृथक्स्वात्मानस्ता उच्यन्तेऽवस्था इति प्रागुक्तवदवधारणभेदस्यान्याय्यत्वं प्रतिज्ञाव्याघातश्चेति। इति तत्त्वमिति अस्माद्धेतोः प्रतिज्ञाव्याघातादवधारणभेदान्याय्यत्वाद्वोभयथापीष्टविपरीतं तत्त्वमवस्थात्वं पुरुषस्य 'अवस्था एव पुरुषः, न पुरुष एवावस्थाः' इत्येतत् प्राप्तं रूपादिघटत्ववत्, यथा 'रूपादय एव घटः' इत्येतस्मिन् पक्षे 'न घटो नाम कश्चित्' इत्ययमर्थः, तत्र 'रूपमेव, न रसः' इत्याद्यवधारणमुपपद्यते भिन्नार्थविषयत्वात् तथा यद्यवस्था एव पुरुष इत्युच्येत युज्येतावधारणं पुरुषाभावेऽवस्थानामेव भिन्नानामितरावस्थानिवृत्त्यर्थमेकावस्थावधारणम्, तत् तु न युज्यते चैतन्यात्मैकपुरुषमयत्वप्रतिज्ञाव्याघातादिति[3]।

किञ्चान्यत्, यदा च तासामेव तत्त्वमित्यादि यावल्लोकवदेव तत्त्वापत्तिरिति। यदा च तासां

१८१-२ भावस्तत्त्वम्, [4]भाव एव ताः, ताभिरेव भूयते, भेदेनावधार्यमाणत्वाद् विनिद्रावस्थैव विनिद्रावस्थायाः स्वात्मनि लक्षणम्, पुरुषे तु सा लक्षणमेव, न तु सैव लक्षणं पुरुषस्यान्यासामप्यवस्थानां तल्लक्षणत्वात्यागात्। तथा

१ °त्तिर्विशीर्यं कथम् प्र० ॥ २ प्रतिव्याघातो प्र० ॥ ३ °घातादि प्र० ॥ ४ ताव एव प्र० ॥ ५ °नवधा° प्र० ॥ ६ °स्वात्मेति प्र० ॥

तथा तथेतरेतरात्मसु अभावादवधारणभेदाद् भिन्नभिन्नार्थत्वान्ननु तदेव सर्वासर्वगतत्वमिति लोकवदेव तत्त्वापत्तिः ।

अथाविकल्पशब्दार्थत्वादलक्षण एव न त्वज्ञाततत्त्वत्वात्, कथं तर्हि चतुरवस्थावर्णनमनेकात्मकसर्वगतत्वभावनं च? यद्यस्यैकैका प्रत्येकमवस्था न भवति ततोऽसत्त्वात् कुतोऽस्य तदेकत्वापत्त्यात्मिका अविकल्परूपता? न हि पृथगवृत्ते

तथा तासामितरेतरात्मसु अभाव, अवधारणभेदात्। 'तथा तथा' इति वचनादुत्तरोत्तरभेदानामपीतरेतरात्मसु नास्ति भाव, तद्यथा – रूपावस्थास्वात्मनि रूपावस्थैव लक्षणम्, घटस्वात्मनि तु रूपावस्था लक्षणमेव रसाद्यवस्थानामपि तल्लक्षणत्वात्यागात्, तथा पृथिवीलोष्टादीनामितरेतरात्मसु अभावाल्लोष्टावस्थास्वात्मावधारणे लोष्टावस्थैव लोष्टावस्थात्मा, पृथ्वीस्वात्मावधारणे तु सा लक्षणमेव, न तु सैव वेश्मादीनामप्यत्यागादिति सर्वत्रान्यवधारणभेद । ततोऽवधारणभेदात् त्वदुक्तादेव तथा तथेतरेतरात्मसु अभावादवधारणभेदादलन्त भिन्नार्थत्वम्, अतो भिन्नभिन्नार्थत्वात् सामान्याभाव, सामान्याभावाद् विविक्तानेकभेदावस्थामात्रत्वात् सर्वमसर्वगतम् 'घटो घट एव, रूपं रूपमेव, रसो रस एव, पटः पट एव' इत्यादि प्राप्तम्। ततो ननु तदेव दर्शनमेतदप्यापन्नं यदुक्तं 'यथालोकग्राह्यमेव वस्तु शास्त्रेष्वनर्थको निवेश्यत्न' इत्यादि स्ववरविषयसामान्यविशेषनिराकरणेन लौकिकमेव यथाद्रव्यक्षेत्रकालभावभवनमेव च वस्त्विति तदेव तत्त्वम् इति लोकवदेव तत्त्वापत्तिरिति ।

अथाविकल्पशब्दार्थत्वा[द]लक्षण एव, न त्वज्ञाततत्त्वत्वात्। तस्य निर्विकल्पस्याविभागस्य समग्रभेदपरिणामशून्यस्य मेघस्तनितादिस्वशब्दगोचरातीतस्य मयूरविरुतवत् सङ्केताद् व्यवहारानुपातिभिर्वा शब्दैरनुपलक्ष्यस्य 'गोर्विषाणादिवत् स्वाकल्पनामात्रमितशब्दार्थाभिमानविरूपस्य – न तु लौकिकवदज्ञात १८३ सामान्यविशेषव्यवस्थाविचाररूपस्य – तत्त्वस्य कुतो वा लक्षणम्? कुतोऽवस्था? इति। एतद्वायुक्तं चतुरवस्थावर्णनात्, यदि ताश्चतस्रोऽप्यवस्था असत्या एव तद्वर्णनं खपुष्पसौरभवर्णनवत् कथमुपपद्यते? इति। विभावयन्, सर्वगतत्वभावनाऽभावप्रसङ्गात्, तद्दर्शयन्नाह – अनेकात्मकसर्वगतत्वभावनं च 'कथम्' इति वर्तते। सर्वं गतं सर्वगतम्, 'गृ गतौ [पा० धा० ९३९, १९५] 'सरम्' इत्ययमेव सर्वशब्दो गमनार्थदेशान्तरप्राप्तिलक्षणक्रिया भिन्नविकल्पार्थविषयाभाव 'यद्यत्र अन्यत्र तदशेषं सरम्' इति, ततश्च सत् तदशेषं गतं सर्वगतम्, तद्भावः सर्वगतत्वमथानेकात्मकत्वाविनाभावि, अनेकात्मकं हि सरम्, भिन्नानेकविकल्पशक्त्यात्मकत्वात् सर्वगतमित्येषा भावना निर्विकल्पैकात्मकत्वे न युज्यत इति ।

विभावयन्, निर्विकल्पैकत्वाभावप्रसङ्गात्, यद्यस्यैकैकेत्यादि यावद् मेचकात्मके भवतः। यदि अस्य पुरुषस्य एकैका पृथक् पृथगेकैका प्रति प्रत्येकं समाप्ता सुषाद्यवस्था न भवति ततश्च एकैकस्या अभावात् ता न सन्त्येवेति पृथग् तासामसत्त्वात् कुतोऽस्य पुरुषवस्तुनः तासामेव भिन्नानामेकत्वाप-

१ दृश्यतां पृ० २०१–२ ॥ २ न भानाभी य० ॥ ३ आत्मावधारण प्र० ॥ ४ दृश्यतां पृ० ११ पं० २ ॥ ५ त त्वज्ञाततत्त्व भा० । तन्वज्ञानत्व य० ॥ ६ दृश्यतां पृ० २४३ पं० ११–२४ ॥ ७ °भावत्र य० । भावत्र भा ॥ ८ यद्यत्र यत्र य० ॥ ९ दृश्यता य० ॥

रूपे मेचकात्मके भवतः । असन्नेव त्वसावेवम्, अनवस्थात्वेऽचतुरात्मकत्वात्, खपुष्पवत् । त्वदुक्तेरेव च न स लक्ष्यो नार्थो न वस्तु, अलक्षणत्वात्, खपुष्पवत् ।

[1]अथात इतश्चान्यतरोपादानपरित्यागायुक्तत्वादस्यावाच्यतैव । तथा स नैव

स्यात्मिका 'तत् पुरुपतत्त्वमेकमविकल्पम्' इत्यविकल्पता स्यात्? भिन्नविकल्पैकापत्त्यात्[2]मकत्वादविकल्परूपतायाः सा वाऽविकल्परूपता कुतः? नास्त्येवेत्यर्थः । को दृष्टान्तः? पृथक् पृथग्वृत्तसितासितादिवर्णै-
१८२-२ क्यापत्त्यात्मकमेचकवर्णाभाववत्, पृथक्सिद्धवर्णाभावे मेचकवर्णाभावात् । तद्दर्शयति—**न हि पृथग्वृत्ते रूपे** द्वे अपि सितासिते स्वेन रूपेण **मेचके भवतः**, भेदात्मलाभाविनाभा[3]व्येकापत्त्यभावात् । एवमवस्था अपि पृथक् स्वरूपेणासिद्धा निर्विकल्पैकरूपा न भवितु[4]मर्हन्तीति । एवं तावदवस्थानामभावे चतुरवस्थावर्णनानेकात्मकसर्वगतत्वभावननिर्विकल्परूपत्वाभावदोपाः ।

किं वा पार्श्वशरक्षेपेण भयजननानुवृत्त्या? तमेव पुरुषं निराकुर्महे, तद्यथा—**असन्नेव त्वसौ एवम**वस्थानामसत्त्वे, कुतः? अनवस्थात्वादवस्थातोऽन्यत्वादनवस्थात्मकत्वादवस्थात्वाभावात् पुरुपो वन्ध्यापुत्रवत् । स्यान्मतम्—रूपाद्यवस्थाऽनात्मकस्य घटस्य अवस्थावतोऽस्तित्ववत् सुप्ताद्यवस्थाऽनात्मकस्य सुप्तादिचतुरवस्थावतः पुरुपस्यास्तित्वमिति, एतच्चायुक्तम्, अनवस्थात्वे सति अचतुरात्मकत्वात् । अवस्थाचतुष्टयाभावादेवानवस्थात्मनस्तच्चातुरात्म्याभावः सिद्धः । तस्मादनैकान्तिकाशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—**अनवस्थात्वेऽचतुरात्मकत्वा**दिति । **खपुष्पव**दिति दृष्टान्तो गतार्थः । अथवा किमनेन प्रयासेन उपपत्त्यन्तरैस्तदसत्त्वप्रतिपादनेन? ननु **त्वदुक्तेरेव च न स लक्ष्य**[5]स्त्वत्परिकल्पितः पुरुपो नासौ लक्ष्यः, अलक्षणत्वात् । अलक्ष्यत्वमिष्टत्वादसाध्यमिति चेत्, लक्ष्यत्वनिराकृतेरर्थनिराकरणार्थत्वाद् **नार्थ** इति ब्रूमः, अर्थोऽपि [6]अर्यते इत्यलक्षणत्वाच्छब्दाभिधेयो ज्ञानज्ञेयो वा[7] नेति विनिद्रावस्थाऽविनिद्रावस्था वा स्याद् न स पुरुप-
१८२-१ स्तल्लक्षणस्तदुभयाभावात् । निर्विकल्पत्वादेवार्थोऽपि नैवेति चेत्, 'निर्विकल्पज्ञानवद् वस्तुत्वमपि न भवति' इत्येतत्प्रतिपादनार्थत्वादिदमेव गृहाण—**अवस्त्वेव** तत् त्वदिष्टं तत्त्व[8]**मलक्षणत्वात् खपुष्पवत्** ।

अथात इत्यादि याव**दस्यावाच्यतैवे**ति । अथाचक्षीथाः—**अत** इति पु[9]रुपत **इतश्चे**त्य[10]वस्थातः **अन्यतरस्य** पुरुपस्यावस्थानां वा परित्यागैकान्तो न युक्तः, अवस्थात्यागे लक्षणाभावात् पुरुपाभावप्रसङ्गात्, अवस्थावतः पुरुपस्य वा त्यागेऽवस्थानामभावप्रसङ्गात् । न चैकतरस्योपादानं युक्तम्, उपादीयमानस्येतराभावेऽभावप्रसङ्गादेव [11]अवस्थावस्थावद्वर्णननिर्विकल्पत्वसर्वगतत्वाभावप्रसङ्गात् प्रतिज्ञाव्याघाताच्च । तस्मा**दन्यतरोपादानपरित्यागायुक्तत्वादस्य** पुरुपस्यावस्थालक्षणत्वम[12]वस्थाऽसत्त्वं वा न शक्यं वक्तुम् । किं तर्हि? [13]तल्लक्षणत्वातल्लक्षणत्वाभ्यामवाच्यः स पुरुप इति । एतच्चायुक्तम्, यस्मात् [14]**तथा स नैव स्यात्**, एत-

---

१ दृश्यता पृ० २०१–२ ॥ २ °त्मिकत्वा° प्र० ॥ ३ °भाव्यैका(क्या?)पत्त्य° प्र० ॥ ४ °मर्हतीति प्र० ॥ ५ °स्तत्परि° प्र० ॥ ६ अर्थत इत्वरलक्षण° य० । अर्थत इतारलक्षण° भा० ॥ ७ वा निति विनिद्रा° य० । वा विनिद्रा° भा० ॥ ८ °मक्षण° प्र० ॥ ९ पुरुप इतश्चे° प्र० ॥ १० °वस्थात्यः भा० ॥ ११ अवस्थावद्वर्ण° य० ॥ १२ °स्थासत्वं भा० ॥ १३ तल्लक्षणत्वाभ्याम° प्र० ॥ १४ तत्वा प्र० ॥

स्यात्, विनिद्रावस्थया सहैकत्वान्यत्वे प्रत्यवचनीयत्वात्, खपुष्पवत् । न तदेकं नान्यद्वा वाच्यं निरुपाख्यत्वात् । यत्तु सत् तद् विनिद्रावस्थया सहैकत्वान्यत्वे प्रति वचनीयम्, यथा विनिद्रावस्थास्वात्मा जाग्रदाद्यवस्थास्वात्मानो वा । अत एव अन्यतरत्यागोपादानायुक्तत्वादपि च ननूभययुक्तत्ववाच्यत्वाभ्युपगम एव पितृपुत्रवत् ।

यद्यपि च पुरुषस्वात्मैव अवस्था न तर्हि ना, अनवस्थत्वात्, खपुष्पवत् । अभ्यु-

---

स्तामपि कल्पनाया न पुरुषोऽस्त्येव, कस्मात्? विनिद्रावस्थया सहैकत्वान्यत्वे प्रत्यवचनीयत्वात् खपुष्पवत्, 'विनिद्रालक्षण पुरुषो न विनिद्रालक्षणो वा' इत्येते द्वे अन्यत्वानन्यत्वे प्रति अवचनीयत्वाद-सन् पुरुष । न तदेकं नान्यद् वा वाच्यं खपुष्पं विनिद्रावस्थया सह, किं कारणम्? 'एकम्' इति तावदवाच्यमसत्त्वात्, 'अन्यत्' इत्यप्यवाच्यमविनिद्रावस्थात्वे सत्यप्यसत्त्वे निरुपाख्यत्वाद् वाग्बुद्धि-गोचरातिक्रान्तत्वादिति खपुष्पे दृष्टान्ते हेतो साध्येनाविनाभावित्वप्रदर्शनम् । यत्तु सत् तद् विनिद्रा-वस्थयेत्यादि वैधर्म्यदृष्टान्त साध्याभावे हेत्वभावोपप्रदर्शनम्, मा मंस्था 'अस्मदिष्टममुष्यवस्थास्वात्मनि सति अवचनीयताया दर्शनादनैकान्तिकता' इति विनिद्रावस्थास्वात्मान जाग्रदाद्यवस्थास्वात्मनश्च निदर्शयति अन्यानन्यत्वे प्रति वचनीयत्वात्—यथा विनिद्रावस्था स्वात्मनो विनिद्रावस्थातोऽनन्या जाग्रदवस्था-दिस्वात्मभ्योऽन्या, तथा ता अपि तस्या अन्या स्वात्मभ्योऽनन्या सत्यश्च, न तथा पुरुष, तस्मादसन्निति । १८३ २

किञ्चान्यत्, अत एव त्वदभिहितात् कारणादन्यतरत्यागोपादानायुक्तत्वादपि च ननूभय-युक्तत्ववाच्यत्वाभ्युपगम एव [1]पितृपुत्रवत्, यथैक पिता पुत्रश्चा[3]देश्य नामौ स्वपितु पुत्रत्वमन्तरेण स्वपुत्रं प्रति पितृत्वमनुभवतीति न पुत्रत्वं त्यजति नापि पुत्रत्वमेवोपादत्ते नापि पितृत्वमेव, ततोऽसौ पिता च पुत्रश्चेति वक्तव्यस्तद्द्वयधर्मयुक्तश्च दृष्टस्तथा स पुरुषो विनिद्रालक्षणालक्षणान्यतरत्यागोपादानायुक्तत्वादेव तल्लक्षणातल्लक्षणधर्मद्वययुक्तस्तद्धर्मद्वयवाच्यश्चावश्य भवितुमर्हति तदन्यतरत्यागोपादानायुक्तत्वस्य तदविना-भावात् । एवं तावत् 'पुरुष एव अवस्था' इत्येतदयुक्तम्, अवस्थानामभावेऽनेकदोषप्रसङ्गात् ।

अभ्युपेत्यापि पुरुषस्वात्मत्वमवस्थानां चतसृणां पुरुषासत्त्वदोषं ब्रूम —यद्यपि चेत्यादि । यद्यपि च पुरुषस्वात्मैव चतस्रोऽप्यवस्थास्तथापि न तर्हि ना, नेदानीं पुरुषोऽस्ति, अनवस्थत्वात्, नास्या-वस्था सन्तीत्यनवस्थ, तद्भावोऽनवस्थत्वम्, तस्मादनवस्थत्वादवस्थास्वरूपव्यतिरिक्तत्वात् तच्छून्यत्वात् खपुष्पवत् । अथवा नावस्थाऽनवस्था, पुरुषोऽवस्था न भवति, योऽवस्था न भवति स नास्ति यथा खपुष्पम्, अवस्थाश्च त्वयाभ्युपगताश्चतुरवस्थावर्णनानेकात्मकसर्वगतत्वभावनैकैकावस्थाभेदाभेदापरपर्यायात्मका-[5] १८४ १ निकल्परूपाभ्युपगमात् ततोऽन्यस्य खपुष्पस्थानीयत्वात् । [6]प्रागवस्थानामेव सत्त्वमभ्युपगम्य अनवस्थात्वे-ऽचतुरात्मकत्वात् इत्युक्तम्, अधुना तु पुरुषमेवाभ्युपगम्यानवस्थात्मकं परपरिकल्पितमेष दोष उक्त

---

१ दृश्यतां पृ० २०१-२ ॥ २ पितृवपुत्र भा । पितृप्रपुत्र पा० वि ॰ ही० ॥ ३ वक्ष्यमाणौ प्र० ॥ ४ स्य भा० ॥ ५ एकैकावस्थाभेदानामभेदापरपर्यायात्मकस्य अविकल्परूपस्याभ्युपगमादित्यर्थ ॥ ६ दृश्यतां पृ० २५२ पं० १ ॥

पगमेऽपि नुः अवस्थानां चतसृणामप्यैक्यं स्यात् पुरुषस्वात्मत्वात् पुरुषवदिति। सर्वत्वसम्भाव्याभावात् सर्वाव्यापिता पुरुषस्य। विनिद्रावस्थैव हि जाग्रदवस्था विनिद्रावस्थास्वात्मत्वाद् विनिद्रावस्थावत्, एवमितरे अपि। जाग्रदवस्थैव विनिद्रावस्था जाग्रदवस्थास्वात्मत्वाज्जाग्रदवस्थावत्, एवमितरे अपि। सुप्तावस्थैव विनिद्रावस्था सुप्तावस्थास्वात्मत्वात् सुप्तावस्थावत्, एवमितरे अपि। सुषुप्तावस्थैव विनिद्रावस्था सुषुप्तावस्थास्वात्मत्वात् सुषुप्तावस्थावत्, एवमितरे अपि। यैवान्यावस्था सैवान्यापि

इति व्याख्ययोर्भेद इत्यसन् [1]पुरुषोऽनवस्थत्वात् खपुष्पवत्। अनवस्थस्य तस्य **अभ्युपगमेऽपि नुः** पुरुषस्य **अवस्थानां चतसृणामप्यैक्यं स्यात्**। कुतः? **पुरुषस्वात्मत्वात्**, त्वया ह्युक्तं 'पुरुषस्वात्मैवावस्था नान्याः' इत्यतस्तासामैक्यं तत्स्वात्मत्वात् **पुरुषवत्**, यथा हि पुरुषस्वात्मत्वात् पुरुष एक एव तथा ता अप्यवस्थास्तत्स्वात्मत्वादेकमिति [3]चतुष्ट्वाभावात् 'चतस्रोऽवस्थाः' इति बहुवचनानुपपत्तिः। ततश्चैकत्वात् **सर्वत्वेन** [4]सर्वथा **सम्भाव्यो न भवति** पुरुषः, सृ गतौ [पा० धा० ९३५, १०९५] इति सर्वत्वस्यानेकाश्रयत्वात् 'पुरुष एव सर्वम्' इति यदाश्रयादुच्यते तत् सर्वं किमाश्रयं यदुक्त्वा सर्वं पुरुषस्य सर्वव्यापिता वर्ण्यते? तत आह– [5]**सर्वत्वसम्भाव्याभावात् सर्वाव्यापिता पुरुषस्य** प्राप्ता व्याचिख्यासितसर्वव्यापित्वविरोधिनी।

तत् पुनरेकत्वं विनिद्रावस्थास्वात्मत्वात् तासाम्, पुरुषस्वात्मत्वात् परस्परात्मकत्वं च सिद्धम्। तदिदानीं भाव्यते– **विनिद्रावस्थैव हि जाग्रदवस्था, विनिद्रावस्थास्वात्मत्वात्, विनिद्रावस्थावत्**। यथा विनिद्रावस्था विनिद्रावस्थास्वात्मत्वाद् विनिद्रावस्थैव तथा जाग्रदवस्थापि विनिद्रावस्था-
१८४-१ स्वात्मत्वाद् विनिद्रावस्थैवेतीत्थं विनिद्रावस्थया सहैक्यं जाग्रदवस्थायाः। विनिद्रावस्थास्वात्मत्वं च सर्वावस्थानां पुरुषस्वात्मत्वात् त्वयैवाभ्युपगतम्। **एवमितरे अपी**ति, विनिद्रावस्थैव सुप्तावस्था विनिद्रावस्थास्वात्मत्वाद् विनिद्रावस्थावत्, विनिद्रावस्थैव सुषुप्तावस्था विनिद्रावस्थास्वात्मत्वाद् विनिद्रावस्थावत्। तथा **जाग्रदवस्थैव विनिद्रावस्था जाग्रदवस्थास्वात्मत्वाज्जाग्रदवस्थावत्**, अस्यापि पूर्ववद् व्याख्या। एवं जाग्रदवस्थया सहैक्यं विनिद्रावस्थाया व्याख्येयम्। **एवमितरे अपी**त्यतिदेशः, जाग्रदवस्थैव सुप्तावस्था जाग्रदवस्थास्वात्मत्वाज्जाग्रदवस्थावत्, जाग्रदवस्थैव सुषुप्तावस्था जाग्रदवस्थास्वात्मत्वाज्जाग्रदवस्थावत्। तथा **सुप्तावस्थैव विनिद्रावस्था, सुप्तावस्थास्वात्मत्वात्, सुप्तावस्थावत्**। **एवमितरे अपी**त्यतिदेशः, [6]सुप्तावस्थैव जाग्रत्सुषुप्तावस्थे सुप्तावस्थास्वात्मत्वात् सुप्तावस्थावत्। तथा **सुषुप्तावस्थैव विनिद्रावस्था, सुषुप्तावस्थास्वात्मत्वात्, सुषुप्तावस्थावत्**। **एवमितरे अपी**त्यतिदे[6]शः, सुषुप्तावस्थैव जाग्रत्सुप्तावस्थे सुषुप्तावस्थास्वात्मत्वात् सुषुप्तावस्थावत्। [7]एवमवस्थानां प्रत्येकं विशेष्य परस्परत ऐक्यं भावितम्, सामान्येनापि सर्वोपसंहारेणोच्यते– '[8]**यैवान्यावस्था सैवान्यापि एकस्वात्मत्वात् सेवेति**।

---

१ पुरुषोवस्थात्वात् प्र० ॥ २ तुः प्र० ॥ ३ चतुष्काभा° य० ॥ ४ सर्वेवा प्र० ॥ ५ सर्वत्रस° य० ॥ ६ * *एतच्चिह्नान्तर्गत पाठो य० प्रतिषु नास्ति ॥ ७ एवमेवमव° य० ॥ ८ ये चान्या भा० र० ही० विना ॥

एकस्वात्मत्वात् सा इवेति 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यतिदेशाभावो भेदाभावात्।

उपवर्णनभिन्नरूपव्यतिकरसङ्कराभ्यां त्वेवमतथात्वमासामस्य च तत्तत्स्वात्मत्वादिति पुरुषावस्थाव्यवस्थाऽभावः। उक्तवद्वा व्यवस्थानुमतौ पुरुषातिदेश-

---

अथवावस्थानामपि प्रत्येकं भेदेषु परस्परात्मत्वापादनेन मनुष्यतिर्यगमरादिषु घटपटतृणादिषु चैक्यमुन्नेयम् 'इतरात्मकमितरत्, इतरात्मत्वात्, तत्स्वात्मवत्' इति। इति पुरुष एवेत्यादि यावद् भेदाभावादिति। इत्यस्मात् कारणादेकत्वाद् यत् प्रोक्तं सर्वैत्वमभाव्याभावात् सर्वव्यापिता पुरुषस्येति तदुपनयति– 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यतिदेशाभावो भेदाभावादिति। अतिदेशोऽतिसननं पुरुषात्मकत्वव्याख्यया १८५१ तद्भावनेत्यर्थः। पुरुषेण वास्याप्रत्यक्षेण इदमःदवान्यस्य प्रत्यक्षस्यातिदेशः, अनेन वा तस्याप्रत्यक्षस्यातिदेशः 'सर्वमेव तन्मयम्' इति।

विश्लेषयन्, उपवर्णनेत्यादि यावद् व्यवस्थाभाव एवेति। उप सामीप्ये, सामीप्येन वर्णनमुपवर्णनं विशेषधर्मेण न सामान्यधर्मेण, सामान्यधर्मस्य दूरत्वात्। यथा–पुरुषोऽयम्, समुदायोपविष्टत्वात् पाण्यादिसञ्चलनाच्छिरःकण्डूयनादिति नोच्छलादिति। उपवर्णनेन भिन्नानि रूपाण्यासां विनिद्रावाग्रत्सुप्तसुषुप्तत्वादिविशेषवर्णनेन, तैश्च रूपैर्भिन्नैर्व्यतिकरः सङ्करश्च तासां प्राप्तावित्यमुक्तैकत्वात्। व्यतिकरो विनिद्रावस्थास्वात्मत्वं जाग्रदवस्थास्वात्मनः, जाग्रदवस्थास्वात्मत्वं विनिद्रावस्थास्वात्मनः, एवमितरयोरवस्थयोर्व्यतीतरेतरस्वात्मत्वप्राप्तिरेतयोश्च तैस्स्वात्मत्वप्राप्तिरेतयोरेतत्स्वात्मत्वप्राप्तिः। ततश्च दानशीलतपोविशेषैर्नरकावाप्तिः, हिंसादिभिः स्वर्गावाप्तिः, स्वर्गे दुःखानुभवनम्, नरके सुखानुभवनम्, पुरुषतत्त्वाज्ञानाद् मुक्तिरिति। सङ्करस्तु क्षीरोदकसंयोगवदविवेचनीयविनिद्रावस्थास्वात्मत्वम्। इत्येतौ व्यतिकरसङ्करौ प्राप्तौ, ताभ्यां च व्यतिकरसङ्कराभ्यां हेतुभ्यामतथात्वं विनिद्रावस्थाया अविनिद्रावस्थात्वम्, एवं शेषाणामप्ययथास्वरूपत्वमासामवस्थानाम्, तत्स्वात्मत्वात् पुरुषस्वात्मत्वात् पुरुषस्वात्माभिन्नविनिद्राद्यवस्थास्वात्मत्वादिति यावत्, तदेकत्र कारणमाह–तत्तत्स्वात्मत्वादिति, तासामतथात्वमित्युक्तम्। अस्य चेति पुरुषस्याप्यतथात्वमेव अपुरुषत्वमेव तत्स्वात्मत्वात् तत्स्वात्मवदिति। १८५२

एवमयमुपसंहरति–इति पुरुषावस्थाव्यवस्था[ऽभाव], इत्थं पुरुषस्यावस्थानां च व्यवस्था विशेष्य असाधारणेन लक्षणेनावधृत्य व्याख्या व्यवस्था, तस्या अभावः स्वरूपसिद्ध्यभावात्। मा भूदेष दोषः 'पुरुषस्यावस्थानां च व्यवस्थाया अभावः' इति यदि पूर्वोक्तवद् व्यवस्थां पृथक् पृथग् मन्यसे पुरुषस्यापि सर्वावस्थाव्यापिनोऽवस्थानां च चैतन्यसमवस्थानाविर्भावतिरोभावोत्कर्षापकर्षभेदभिन्नानां प्राग्व्याख्यातवच्चेष्यते, ततश्च उक्तवद् वा व्यवस्थानुमतौ सत्यां पुरुषातिदेशस्त्याज्यः, 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्येकपुरुषमयत्वातिदेशगम्यैकत्वभ्रंशो जायते पृथक् पृथक् पुरुषस्यावस्थानां च स्वरूपव्यवस्थाभ्युपगमे पुरुषैककारण-

---

१ १ पत्रे पृ० २०२-१ ॥ २ दृश्यतां पृ० २ ४ पं ७ ॥ ३ प्राप्तमित्य प्र० ॥ ४ तत्स्वात्मप्राप्तिस्तयोरेतत्स्वात्मप्राप्तिः प्र ॥ ५ तत्स्वात्मवदिति भा० ॥ ६ पुरुषावस्थाऽव्यवस्था, इत्यं इत्यपि पाठोऽत्र स्यात्॥ ७ दृश्यतां पृ १८ पं० ५ ॥

स्त्याज्यः । तदत्यागे यदर्थमयमतिदेशोऽद्वैतैकान्तार्थस्तस्यैवासिद्धिः । योऽसावेक एव पुरुषः सम्भाव्यते तस्याप्यनेकत्वमापद्यते, यत्स्वरूपाव्यतिरिक्तलक्षणा अवस्था विना भेदेनोच्यन्ते स पुरुषोऽपि पुरुषेणाभिव्याप्तत्वादनवस्थितैकत्वतत्त्वप्रतिष्ठः 'पुरुषः' इत्यतिदेश्यः स्यात् पुरुषस्वात्मत्वादवस्थावत् । प्रत्यक्षार्थेदंविषयतायां वा

मयत्वविरोधादिति । एष दोषो मा भूदिति **तदत्यागे यदर्थमयमतिदेशो**ऽतिसर्गः प्राग् व्याख्यातः 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इति, किमर्थमसावतिदेश इति चेत्, **अद्वैतैकान्तार्थः** 'अद्वैतमेकपुरुषमयम्' इत्येतत्प्रतिपादनार्थः, **तस्यैवासिद्धि**रद्वैतैकान्तस्य । किं कारणम्? यस्मादेकपुरुषाभ्युपगमोऽयमेकपुरुषासिद्धिमेव ते करोति ।

तत् कथमिति चेत्, **योऽसावेक एव** त्वया **पुरुषः सम्भाव्यते तस्याप्यनेकत्वमापद्यते** । **एव**मिति त्वदभिहितेनैव पुरुषस्वात्मातिदेशाद्वैतेन, का पुनर्भावना? उच्यते — **यत्स्वरूपे**त्यादि यावद**वस्थावदि**ति । यस्य स्वरूपं यत्स्वरूपम्, कस्य स्वरूपम्? पुरुषस्य, किं स्वरूपम्? नित्यसर्वगतसर्वात्मकत्व- १८६-१ कारणत्वादि, तदव्यतिरिक्तं लक्षणमासां ता **अवस्था**स्तदव्यतिरिक्तलक्षणास्तत्स्वरूपपुरुषाव्यतिरिक्तलक्षणास्त्वया **विना भेदेनोच्यन्ते** तस्मात् पुरुषादभिन्ना एवोच्यन्ते इत्यर्थः, तद्यथा — 'पुरुष एवावस्थाः, नावस्था एव पुरुषः' इत्यवधारणभेदादेव भेदोपदर्शनेन च भेदोऽभ्युपगम्यते, तत एव तस्य ताभ्यो नानात्वं तासां च त्वद्वचनादेव सिध्यति, यथा 'ऊर्ध्वग्रीवादिलक्षणो घटः, घट एव ऊर्ध्वग्रीवादयः, न पटो न पटचातुरश्र्यादयः' इति तस्य तासु तासां च तस्मिन्नवधारणानवधारणाभ्यां भेद एव सिध्यति । न त्वभेदेऽवधारणभेदोऽस्ति, यथा 'घटस्यात्मैव घटः, न घट एव घटस्यात्मा' इति । तस्मादवस्थानां विनिद्रादीनामवस्थावतश्च पुरुषस्य भेदस्त्वद्वचनादेवेति । किञ्च, **स पुरुषोऽपी**त्यादि, एवं च सति एकपुरुषमयत्वातिदेशात्यागे सोऽपि पुरुषः पुरुषान्तरेणाभिव्याप्तः पुरुषस्वात्मत्वादवस्थावदिति प्राप्तः । यथा विनिद्राद्यवस्थाः पुरुषस्यात्मैव नावस्थान्तरात्मिका इति कृत्वा पुरुषेणाभिव्याप्तास्तथा पुरुषोऽपि पुरुषस्वात्मत्वात् तदविनाभावात् पुरुषान्तरेणाभिव्याप्तः स्यात्, तथा तदपि पुरुषान्तरं पुरुषस्वात्मत्वात् तद्वदेवेति पुरुषानेकत्वं स्यात्, तस्यापि तथैवेत्यनवस्था च, ततश्च **पुरुषेणाभिव्याप्तत्वादनवस्थितैकत्वप्रतिष्ठः पुरुष** इति प्राप्तम्, अनवस्थिता एकत्वेन एकत्वे वा प्रतिष्ठाऽस्य सोऽयमनवस्थितैकत्वप्रतिष्ठः पुरुषः स्यात् **पुरुषस्वा-** १८६-२ **त्मत्वादवस्थावत्**, यथावस्थाः पुरुषस्वात्मत्वादनवस्थितैकत्वप्रतिष्ठास्तथा पुरुषोऽपि स्यादिति । तथा **अनवस्थिततत्त्वप्रतिष्ठः**, तस्य भावस्तत्त्वमात्मस्वरूपम्, अनवस्थिता तत्त्वेन तत्त्वे वा प्रतिष्ठाऽस्य सोऽयमनवस्थिततत्त्वप्रतिष्ठः, न स्वरूपे प्रतिष्ठितः स्यात् पुरुषः, पुरुषस्वात्मत्वादवस्थावत् । यथावस्थाः पुरुषस्वात्मानोऽनवस्थितात्मस्वरूपव्यवस्थाप्रतिष्ठाः पुरुषस्वरूपव्यवस्था एवेष्यन्ते, तत्रैव तासां प्रतिष्ठा, न स्वात्मसु, तथा पुरुषोऽपि स्यात् । पुरुषान्तरातिदेश्यश्च पुरुषः स्यात्, पुरुषस्वात्मत्वात्, अवस्थावत् । यथेमाः सुप्ताद्यवस्थाः पुरुषस्वात्मत्वात् 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यतिदिश्यन्ते तथा पुरुषः पुरुषस्वात्मत्वात् **'पुरुषान्तरमेवायम्'** इत्यतिदेश्यः स्यात् ।

---

१ यमर्थ° प्र० ॥ २ यस्य प्र० ॥ ३ °दिति तद° प्र० ॥ ४ °स्मनो° प्र० ॥

अचेतनव्यक्तमूर्तानित्यादिरूपार्थपुरुषपरमार्थता ।

अवस्थास्त्वन्यत्वानेकत्व एव पुरुषः । अवश्यमन्यास्तास्तस्मात्, तद्रूपापत्त्यनिष्टत्वात्, अवस्थान्तरवत्, यतोऽवस्थास्वात्मत्वमस्य नेष्यते । पुरुषातिदेशात्तु पुनः स्वपरविषयकृतभेदद्वारान्यत्वासम्भवात् कस्यचित् कथञ्चिदप्यन्यस्यानुपपत्तौ ता अपि अन्यत्वापत्तिवत् पृथक् पृथक् पुरुष ।

स्यान्मतम् — एतद्दोषभयादिन्द्रियग्राह्यप्रत्यक्षार्थान्य पुरुषमभ्युपगम्य 'एता एवावस्था पुरुष' इति प्रत्यक्षार्थैकविषयतया 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इति दृश्यस्पृश्यादि अतिदिश्यात्, यथा 'अयं देवदत्त एव' इति अयमन्यान्यो हि देवदत्त प्रत्यक्षाप्रत्यक्षत्वयो स एव तथा 'पुरुष एवेदम्' इति । एतच्चायुक्तम्, यस्मात्स्या प्रत्यक्षार्थैकविषयताया सत्यामचेतनव्यक्तमूर्तानित्यादिरूपार्थपुरुषपरमार्थता प्राप्नोति, आदिग्रहणादसर्वात्मककार्यानेकत्वादिरूपार्थपुरुषपरमार्थतापि, न चेतनाव्यक्तामूर्तनित्यसर्वात्मकसर्वगतकारणैकरूपार्थपुरुषपरमार्थतापि स्यादिति प्रसङ्गतोऽयं दोष आपादित । एवं तावदन्यानेकत्वे पुरुष इति पुरुषस्यात्मापरित्यागेन अवस्थाभेद तद्द्वारेणोक्त्वा उक्त ।

इदानीमवस्थान्यत्वद्वारेणैव पुरुषानेकत्वं त्वदुक्तवद् ब्रूम — अवस्थास्तु अन्यत्वानेकत्व एव १८७१
पुरुष इत्येतत् प्रैस्या(स?)भेनोपन्यासवाक्यम्, तद्वचनस्मारणेन विचारार्थोपन्यास इत्यर्थ । अवस्थास्तु पुरुषोऽन्यत्वानेकत्वे सति एव, यतोऽवस्थास्वात्मत्वं पुरुषस्येष्यते ततस्तासामन्यत्वेनानेक अयोऽनेकश्चेति या । तत् कथमिति चेत्, त्वदुक्तेरेवावश्यमन्यास्ता पुरुषाद् या विनिद्रावस्था ताभ्यश्च सोऽन्य इति परस्परानधिकमन्यत्व साध्यते । तद्रूपापत्त्यनिष्टत्वादिति हेतु, तयोश्चावस्थानस्थावतोस्तद्रूपापत्त्यनिष्टत्व सिद्धम्, अन्यथावस्थाना विशेषितानामन्यत्वे साध्ये पुरुषपृथक्त्वेन तन्सिद्धेराश्रयासिद्धिस्तद्रूपापत्त्यनिष्टत्व वाऽसिद्धमाशङ्क्येत । अथवा पुरुषोऽवस्था इति चाविशेष्य पराभिमत तन्नूभयमपि परस्परतोऽन्यदिति सामान्येन साध्यते इतरस्येतररूपापत्त्या अनिष्टत्वादित्यर्थ, अवधारणेनान्यतररूपापत्त्यनिष्टत्वमापादितम् । किमिव? अवस्थान्तरवत्, यथा विनिद्रावस्था सुप्तावस्थारूपापत्त्या नेष्टा तथा स्वतोऽन्याश्चेति । 'तद्रूपापत्त्यनिष्टत्वासिद्धि' इति मा मस्था इत्यत आह — यतोऽवस्थास्वात्मत्वमस्य नेष्यते पुरुषस्य, एतदवस्थारूपापत्त्या पुरुषानिष्टत्वादवस्थाद्वारेण पुरुषस्य अवस्थाना चान्यत्वानेकत्व त्वदुक्त्यैवमुपपादितम् ।

पुरुषातिदेशात् तु पुनरित्यादि । 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इति पुरुषत्वेनावस्थानामतिदेशेऽन्यत्व न सम्भवत्येव, कस्मात्? स्वपरविषयकृतभेदद्वारान्यत्वासम्भवात्, स्वविषयकृतो घटस्य रूपादीना प्रधानस्य सत्त्वादीना पैङ्ग्यगुणानामिव धर्माणा भेद, परविषयकृतस्तु तयोरेव वस्त्वन्तरात् पटादे पुरुषाच्च भेद, तदुभयभेदद्वारमन्यत्व सम्भाव्येत । तत्तु अनभ्युपगमादन्यत्वद्वारद्वय भेदद्वयासम्भवात् । ततोऽन्यत्वानुपपत्ति १८७२
कस्यचिदिति वस्तुन कथञ्चिदिति रूपादिसत्त्वादिप्रकारेण तद्द्वारानभ्युपगमादय । तत पुरुषादन्यस्यानु-

---

१ द्रष्टव्यं पृ० २०१-२ ॥ २ द्रष्टव्यं पृ० १८९ पं० ६ ॥ ३ (प्रकृत्या भेदा? तदुक्त्या भेदा?) ॥
४ मन्यस्या प्र० ॥ ५ द्वारेण भा० । द्वारन य ॥ ६ नामेव घ य ॥ ७ परमान्यत्व प्र० ॥

अथ पुरुषलक्षणापि विनिद्रावस्था न पुरुषः, पुरुषोऽपि न तर्हि पुरुषः पुरुषलक्षणत्वाद् विनिद्रावस्थावत्। एवं शेषा अपि। इति पुरुषाभाव एव, कुतोऽस्य सर्वगतता? तदभाव एव त्वदभिप्राय एव एवं प्रतिपाद्यते, तदात्मत्वाभिमतनिरसनात्, उष्णत्वनिरसनेन अग्न्यभावप्रतिपादनवत्।

यत्तु यत्नेन अलक्षणत्वमुक्तमतो ननूक्तवत् त्वयैव स्फुटीकृतमसत्त्वं सर्व-

---

पपत्तौ[1] सत्यां ता अपि चतस्रोऽवस्था अन्यत्वापत्तिवत्[2] पृथक् पृथक् पुरुषाः, चत्वारः प्रभेदाः[3] स्युः पुरुषाः। इदमपि त्वदुक्तिवदेव, तत् कथम्? इति तदुच्यते[4] — यथा केनचिदुपपत्तिप्रकारेणासम्भाव्यमप्यन्यत्वमुच्यते तथा ता अप्यवस्थाः सम्भावनापादितान्यत्वाः पृथक् पृथक् स्युः। ततश्च ताः पुरुषस्वात्मत्वात् परस्परतोऽन्यत्वाच्च पुरुषाः पृथक् पृथक्, विनिद्रावस्था प्रत्येकं पुरुषः, एवं शेषा अपि प्रत्येकं पुरुषाः। केन पुनरुपपत्तिप्रकारेणान्यत्वम्? अवधारणभेदादेव। एवं पुरुषातिदेशात् पुरुषबहुत्वं विनिद्राद्यवस्थानां पुरुषस्वात्मत्वादिति।

अथेत्यादि। **अथ पुरुषलक्षणापि विनिद्रावस्था न पुरुषः** यदि प्रत्येकं पुरुषत्वं तद्बहुत्वं च दोषौ दृष्ट्वा पुरुषलक्षणापि विनिद्रावस्था पुरुषो नेष्यते ततः **पुरुषोऽपि न तर्हि पुरुषो**ऽस्तु **पुरुषलक्षणत्वाद् विनिद्रावस्थावत्। एवं शेषा अपी**ति, यथा विनिद्रावस्था पृथक् पुरुष इत्यापाद्य तत्परिहारार्थं पुरुषलक्षणत्वे सति अपुरुषत्वमाशङ्क्य 'पुरुषस्यापुरुषत्वं तद्वत्' इत्यापादितं तथा प्रत्येकं सुप्ताद्यवस्था अपि पुरुष इत्यापाद्य तत्परिहारार्थं पुरुषलक्षणत्वे सति अपुरुषत्वमाशङ्क्य सुप्ताद्यवस्थानां तद्वत् पुरुषस्यापि पुरुषात्मनोऽपुरुषत्वमित्यापादनीयम्। **इति पुरुषाभाव एव**, इत्थं पुरुषस्याभाव एव प्रसक्तः। **कुतोऽस्य सर्वगतता?** विद्यमानस्य हि सर्वत्वमसर्वत्वं सर्वगतत्वमसर्वगतत्वं वेति विचार्यं स्यात्। अथवा त्वदभिप्रेतमेवैतत् तदभावप्रतिपादनम्, नास्मदभिप्रायः, एवमित्येतेन विधिना। कुतः? **तदात्मत्वाभिमतनिर-**
१८८-१ **सनात्**, यो यदात्मत्वेनाभिमतोऽर्थस्तं निरस्यन् वादी तमेवार्थं निरस्यन् दृष्टः, यथा 'उष्णो न भवत्यग्निः' इति ब्रुवन्नौष्ण्येनाविनाभाविनमौष्ण्यात्मानमग्निमेव[7] निरस्यति तथेहापि[5] विनिद्राद्यवस्थालक्षणं पुरुषमुक्त्वा 'पुरुषस्यात्मनः[6] पुरुषान्न भिन्नाः सन्ति' इति ता निराकुर्वंस्तदात्मानं पुरुषमेव त्वं निराकरोषीति **त्वदभिप्राय एवायं पुरुषाभावः**। एवं तावत् प्रवृत्त्योपलक्षितस्त्वदीयोऽभिप्रायो व्याख्यातः।

नाभिप्रायमात्रादेवाभावः, किं तर्हि? स्फुटमेव त्वयोक्तं 'नास्ति पुरुषः' इति, तद्यथा — **यत्तु यत्नेने**त्यादि। सामान्येनाथ न्यायोऽवतार्यते, भावना त्वस्य विशेष्य वक्तव्या — यथा अवस्थालक्षणः पुरुषः पुरुषलक्षणा अवस्था इति व्यतिदिश्यमानानां परस्परमेकत्वमन्यत्वमवक्तव्यत्वमसत्त्वं चेति विकल्पाः स्युः सविकल्पत्वे, न पुनरेते सन्ति कल्पनाऽविषयत्वाद् विकल्पातीतनिर्विकल्पपरमार्थत्वाच्चालक्षणत्वं त्वयोक्तं प्राक्, **अतो ननूक्तवत् त्वयैव स्फुटीकृतमसत्त्वं** प्रतिपादयितुमिष्टं वचनेनैव **सर्वस्यापि**, न केवलं पुरुषस्यैव,

---

१ दृश्यतां पृ० २०२-१ ॥ २ °न्यथापत्ति° प्र० ॥ ३ सप्रभेदाः भा० ॥ ४ 'चेदुच्यते' इत्यपि पाठोऽत्र स्यात् ॥ ५ °स्य तथेहापि प्र० ॥ ६ (°स्यात्मवत्ता ?) ॥ ७ °नावि° प्र० ॥

स्यापि, वयमपि च ब्रूम'—कुतोऽस्यापत्तिभवनम्, भेदत्वेनाभूतत्वात् परिणामित्वेनाभूतत्वाद् वन्ध्यापुत्रवत् । अव्यभिचरितानेकत्वैकगतिर्हि भेदभाव

अवस्थानामवस्थावत पुरुषस्य चेति । **वयमपि च ब्रूम**, न केवल त्वद्वचनादेवासत्त्व पुरुषस्य, त्वद्वचन[1]-
समर्थनाय वयमप्यसदेव सर्व[2] त्वदिष्टमिति ब्रूम । कुत ? त्व मते सर्वस्याभावात्, भवन हि द्विविध मया
वक्ष्यमाणम्—इतरेतरापेक्षद्वैतवृत्ति सन्निधिभवनमापत्तिभवन च । सन्निधिभवनमापत्तिभवनाभावे न भवितु-
मर्हति । तिष्ठतु सन्निधिभवनम्, इदमपि **कुतोऽस्यापत्तिभवन पुरुषस्य** ? कथ नास्ति? **भेदत्वेनाभूतत्वात्**
परिणामित्वेनाभूतत्वाद् वन्ध्यापुत्रवत्, यथा वन्ध्यापुत्रो भेदत्वेन परिणामित्वेन वा अभूतत्वान्नास्ति
तथा त्वदिष्ट सर्वमापत्ति नानुभवतीत्यसत् । किमर्थमित्थ विशेष्यते 'भेदेन परिणामित्वेन वाभूतत्वात्'
इति, न पुन 'अभेदत्वादपरिणामित्वात्' इत्युच्यते ? उच्यते—भेदो न भवतीत्यभेदो भेदादन्यो वा १८८२
स्यादेवमपरिणामीत्यभेदत्वादपरिणामित्वादिति, नास्य भेदोऽस्तीत्यभेद नास्य परिणामित्वमित्यपरिणामित्वा-
दभेदत्वादिति बहुव्रीहिसमासो वा स्यात् । बहुव्रीहिस्तावन्न घटते एव अन्यपदार्थत्वादन्यस्यार्थस्याभावात्,
अत समन्वयाभाव, समन्वयाभावात् तदभाव । तत्पुरुषोऽपि प्रसज्यप्रतिषेधपक्षे न घटते नञ क्रिया-
पदसम्बन्धिनोऽसमर्थत्वात्, तस्माद् भेदादन्य इति पर्युदास स्यात, स च बहुव्रीहितुल्य एवार्थत इति
'भेदत्वेनाभूतत्वात् परिणामित्वेनाभूतत्वात्' इति सुखग्रहणार्थं शङ्कापोहार्थं चेत्युक्तम् । भिन्नाना हि भावाना-
मव्यभिचरितैकत्वापत्तीना सर्वत्व भवति, न त्वदिष्टस्यैकस्याभिन्नस्येति, तद् व्याचष्टे—**अव्यभिचरिते**-
त्यादि यावद् **भेदभाव सर्वत्वम्** । अव्यभिचरितमनेकत्व यस्य तदिदमव्यभिचरितानेकत्वमेकम्, तस्य
गति[4] परिणामस्तदापत्ति[5], सैकत्वापत्तिरनेकेन विना न भवतीति, यथा शुक्रशोणितादेरनेकस्यैकत्वापन्नस्या-
ध्यात्मिकस्य । यथोक्तम्—

[6]मातुओय पितुसुक्क त तदुभयससिट्ठ कलुस किब्बिस तप्पढम आहारमाहारेत्ता जीवो गब्भत्ताए वक्कमति ।
सत्ताह कलल होति सत्ताह होति अब्बुद ।
अब्बुदा जायते पेसी पेसीतो जायते घण ॥ [तन्दुलवै० १७] इत्यादि ।

भिन्नाना वैषम्येण परिणताना शुक्रशोणितससृष्टाहारादीनामैक्यापत्त्या हि सर्वत्व शरीरेन्द्रियादे । तथा १८९१
बाह्यमपि[7] सर्वत्व, भूम्यम्ब्वादिव्रीहितोयदेशकालादिभिन्नार्थाना[8] वैषम्येण विपरिणाममापन्नानामैक्यापत्त्या
सर्वत्व दृश्यते, नान्यथेति । हिशब्दो यस्मादर्थे, यस्मादित्थ भिन्नार्थाव्यभिचरितैकगति सर्वत्वम्, स हि
भेदभाव सर्वत्वम्, तस्मान्नाभिन्नस्यैकस्य सर्वत्व कस्यचित् । तस्मात् सर्वत्वाभावान्युक्तमुच्यते 'पुरुष०,
एवेद सर्वम्' इति ।

---

१ त्वद्वचनमनर्थनयना वयम प्र० ॥ २ भेदत्वेन इत्यपि पाठोऽत्र स्यात् ॥ ३ भवत्यमे प्र ॥ ४ गतिपरि प्र ॥ ५ स्तत्तदापत्ति भा० ॥ ६ मातु तेय पितु प्र । 'इमो खलु जीवो अम्मापिउसयोगे माऊओय पिउसुक्क त तदुभयससट्ठ कलुस किब्बिस तप्पढमयाए आहार आहारिता गब्भत्ताए वक्कमइ । सत्ताह कलल होइ सत्ताह होइ अब्बुय । अब्बुया जायए पेसी पेसीओ वि घण भवे ॥ १७ ॥ इति तन्दुलवैचारिकप्रकीर्णके पाठ । जीवे ण भते गब्भ वक्कममाणे तप्पढमयाए किमाहारमाहारेइ ? गोयमा ! माउओय पिउसुक्क त तदुभयससिट्ठ कलुस किब्बिस तप्पढमयाए आहारमाहारेइ । इति भगवतीसूत्रे पाठ १।७।६१ ॥ ७ वान्यमपि प्र० ॥ ८ (सवत्र भूम्यम्ब्वादे, व्रीहि ?) ॥

सर्वत्वम् । त्वदुक्तैकसर्वतायां तु प्रत्यक्षानुमानस्ववचनाभ्युपगमलोकविरोधाः, अविकल्पशब्दार्थादभ्युपगतधर्मधर्मिस्वरूपविशेषोभयविरोधाः, असिद्धादिहेतुना च, साध्यसाधनोभयधर्मधर्म्यसिद्ध्यादयो दृष्टान्तदोषाः ।

यथा च पुरुषे तथेतरद्रव्यार्थेष्वपि प्रतिस्वं योज्यं विनिद्रावस्थास्थानेऽभेदैकत्वं सामान्यलक्षणं क्रमयौगपद्यादयो निद्रादिवद् विशेषलक्षणमिति व्याख्याय ।

किञ्चान्यत्, **त्वदुक्तैकसर्वतायां** त्वित्यादि । 'एक एव सर्वम्' इत्येतस्यामेकसर्वतायाम्, 'सर्वैकता-यामिति[1] वा पाठात् सर्वैकपुरुषमयतायां प्रत्यक्षत एव भिन्नानेकैकसर्वताया दर्शनात् **प्रत्यक्षविरोधः** । ग्रहणभेदादनुमानविरोधः, ग्रहणभेदे हि न्याय्यो ग्राह्यभेद इति, भेदत्वपरिणामित्वादिभावाभावे सर्वत्वा-पत्तिभवनाभावाद्वानुमानविरोधः । त्वदुक्तास्मदुक्तैकार्थ्याभावे भेदाभ्युपगमात् **स्ववचनाभ्युपगमविरोधः**, लोके घटपटादिभेदप्रतीतेर्लोकविरोधः[2] । **अविकल्पशब्दार्थादि**त्यादि, 'अविकल्पः शब्दार्थः' इत्यभ्युपगम्य विकल्पव्यवहाराङ्गीकरणाच्चाभ्युपगमविरोधः, 'सर्वमेकम्' इति विकल्पधर्मत्वेन धर्मित्वेन च तदुभयविशेष-त्वाभ्यां चेष्टस्य तेनैवाभ्युपगमेन निराकरणादविकल्पशब्दार्थस्याभ्युपगत**धर्मधर्मिस्वरूपविशेषोभय-**
१८९-२ **विरोधाः । असिद्धादिहेतुता च**, हेतोः '[3]अनतिरिक्तपरापराणीयोज्यायोरूपात्मकत्वात्' इत्यादेः प्रतिज्ञातैकपुरुषाभेदात् त्वया अस्माभिश्चोक्तेन न्यायेन पुरुषाभावाद् धर्म्यसिद्धेराश्रयासिद्धिः, त्वन्मतेना-र्थान्तराभावेऽसाधारणता, अस्मन्मतेन विपक्ष एव भावाद् विरुद्धता साधारणानैकान्तिकता वा[4], सपक्षमभ्यु-पगच्छतो वा[5] ते घटाद्यवस्थाभेदाद्[6] वृक्षादिदृष्टान्तं 'वृक्षः' इति पुरुषव्यतिरिक्तवृक्षाद्यवस्थाभेदाभावे साध्य[7]-साधनोभयधर्मधर्म्यसिद्ध्यो दृष्टान्तदोषाः, **आदिग्रहणाद्** यथासम्भवं कल्पनां कृत्वा वैधर्म्य-दृष्टान्तदोषा योज्याः ।

एवं तावत् पुरुषमयत्वं सर्वस्यायुक्तमित्युक्तम् । अधुनातिदेशेन नियत्यादिवादेष्वपि[8] दोषांस्तानेवाह— **यथा च पुरुषे तथेतरद्रव्यार्थेष्वपी**ति नियति-काल-स्वभाव-भावेष्वपि स्वं स्वं प्रति **प्रतिस्वं** प्रत्येकं **योज्यम्** । तमतिदेशोपायमाचष्टे, तद्यथा—**विनिद्रावस्थास्थानेऽभेदैकम्[9]**, विनिद्रावस्था सामान्यलक्षणं पुरुषस्य पुरुषवादे सुप्ताद्यवस्थाव्यापित्वात्, सुप्ताद्यवस्था अपि विशेषास्तस्य तदात्मत्वादिति यथा व्याख्यातं तथा नियत्यादावभेदैकत्वं नियत्यादेः सामान्यलक्षणमतीतानागतवर्तमानबाल्यकौमारयौवनक्रमयौगपद्यादयो निद्रादिवद् विशेषलक्षणमिति व्याख्याय विकल्पद्वयप्रतिषेधस्तथैव कर्तव्यः—[10]अथ किं या एता अवस्थास्ता एव नियत्यादिः ? उत नियत्यादिरेवावस्थाः ? यदि ता एव नियत्यादिः, समुदयवादः क्षणिकवादो विज्ञानमात्रता-
१९०-१ वादः [11]शून्यतावाद इत्यादि । अथ नियत्यादय एवावस्थाः, तथाऽभेदैकत्वावस्थालक्षणत्वादिः स एव प्रपञ्चो

---

१ सत्वैक° प्र० ॥ २ °विरोधा लोके प्र० ॥ ३ दृश्यता पृ० २४७ पं० ५ ॥ ४ °कान्तिका वा प्र० ॥ ५ वा न घटा° य० ॥ ६ (वटाद्य° ?) ॥ ७ "दृष्टान्ताभासो द्विविध —साधर्म्येण वैधर्म्येण च । तत्र साधर्म्येण तावद् दृष्टान्ताभास पञ्चप्रकार । तद्यथा—साधनधर्मासिद्ध १, साध्यधर्मासिद्ध २, उभयधर्मासिद्ध ३, अनन्वय ४, विपरीतान्वयश्चेति ५ । वैधर्म्येणापि दृष्टान्ताभास पञ्चप्रकार, तद्यथा—साध्याव्यावृत्त १, साधनाव्यावृत्त २, उभया-व्यावृत्त ३, अव्यतिरेक ४, विपरीतव्यतिरेकश्चेति ।" इति **न्यायप्रवेशे** ॥ ८ °त्यादिदेष्वपि प्र० ॥ ९ अत्र °ऽभेदैकत्वम् इत्यपि पाठ स्यात् ॥ १० तुलना पृ० २४६ प० ३–पृ० २४७ प० ४ ॥ ११ शून्यवाद य० ॥

इत्यतस्तत्त्वं तावत् संवदति यदयं भवति सोऽस्य भाव इति, सर्वगतत्वनित्यत्वदेशकालाभेदात् ।

यस्तु भवति स कर्तैवेति सम्प्रधार्यम्, भवतेः सन्निध्यापत्तिभवनद्वयार्थत्वादस्तिभवतिविद्यतिपद्यतिवर्ततीनां सन्निपातषष्ठानां सत्तार्थत्वात् । अस्त्यादिभवनं सन्निधिमात्रवृत्त्येव आपत्तिभवनपृथग्भूतम्, यदुपादानमेतदभिधीयते—अस्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषेऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति गम्यते, वृक्ष इत्यस्तीति गम्यते [पा० म० भा० २।३।१] ।

योऽन्यः । इत्यतोऽस्मात् तत्त्वं तावत् संवदति, शेषं न संवदति सर्वं त्वदुक्तम् । कतमत् संवदतीति चेत्, यदयं भवति सोऽस्य भाव इत्येतत् संवदति, तस्य भावस्तत्त्वं येन भूयते यो भवति स एव भावः, कर्तृलक्षणां षष्ठीं कृत्वा तस्य भावः स भावः, इतीदमस्मद्दर्शनेन सह संवदति । किं कारणम्? सर्वगतत्व-नित्यत्वदेशकालाभेदात्, सर्वगतत्वेन नित्यत्वेन च यथासङ्ख्यं देशकालाभ्यामभेदात्, तद्धि भवनं देशे क्वचित्र न भवतीति सर्वगतत्वादभिन्नम्, कालतः सततं भवति न कदाचिन्न भवतीति नित्यत्वादभिन्नम् । तस्मादभेदादिष्यत एतत् ।

इदं पुनरन्तावदिष्टाम सम्प्रधार्यत्वात्, यस्तु भवति स कर्तैवेति सम्प्रधार्यम्, न हि कर्तरि-विहितविप्रत्ययान्तभवतिगम्यश्रवणादेव कर्तृत्वम्, अकर्तुरपि [illegible]देरपि भवनादभवनव्यावृत्तिमात्रसत्तार्थत्वाद् भवनस्य, कारणपर्यायत्वात् करोतेः कारणार्थमपि भवत्येव भवते सन्निध्यापत्तिभवनद्वयार्थत्वादस्ति भवति विद्यति-पद्यति-वर्ततीनां सन्निपातषष्ठानां सत्तार्थत्वादित्यतदन्यतरस्याव्यापृतस्यापि भवने कारणमाह । भवतेः सन्निध्यापत्तिभवनार्थत्वम्, अस्ति-विद्यति सन्निपातानां सन्निधिमात्रभवनार्थत्वम्, पद्यति-वर्तत्योरापत्तिभवनार्थत्वमिति भाग सन्व्यापारत्वाद् निर्व्यापारत्वाच्च त्रयाणां भवते सामान्यभवनवाचित्वादिति अपरिणामिन्योत्त परिणामिनोश्च कर्तृत्वात् कर्तृत्वाच्च विशेषः । असतो भवनाभावादस्त्यादिभवनं सन्निधि-मात्रवृत्त्येव, सन्निधिमात्रा वृत्तिरस्येति सन्निधिमात्रवृत्ति तदस्तिभवनमापत्तिभवनपृथग्भूतं ततोऽन्य-दीपवद्भिन्नमव्यापृतमित्यर्थः । स्यान्मतम्—सर्वतन्त्रसिद्धान्तेन व्याकरणेन विरुद्धमस्यनस्त्रभवनम्, भवते कर्तृविहितविप्रत्ययान्तत्वादिति । एतदयुक्तम्, तत्रैवानुज्ञातत्वात्, यदुपादानमेतदभिधीयत इत्यादि, इदं तु सन्निधिमात्रवृत्तिभवनमेवोपात्ताभिहितं यत्राप्यन्यत् क्रियापदं न श्रूयते तत्राप्यस्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषेऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति गम्यते । 'भवन्ती' वर्तमाना विभक्तिः पूर्वाचार्यसंज्ञयोक्ता लडित्यर्थः, तत्परोऽस्ति असि, अस भुवि [पा० धा० १०६५] इति धातुः, इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे [पा० वा ३।३।१०८] प्रथमपुरुषे न मध्यमोत्तमयोः, अप्रयुज्यमानोऽपि गम्यतेऽर्थसद्भावादविनाभावादर्थेन । तदु-दाहरति—वृक्ष इत्यस्तीति गम्यते, किमुक्तं भवति? अस्ति भवति सन्निहितमित्यर्थः । निर्दिष्टं सन्निधि-भवनमुभयोः समानलक्षणत्वादादौ ।

---

१ द्रष्टव्यं पृ० ३४९ पं० २० ॥ २ अस्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति गम्यते । [illegible] अस्ति गम्यते । इति पातञ्जलमहाभाष्ये पाठः ॥ ३ ततेः प्र० ॥ ४ क्वचित्र भवतीति प्र० ॥ ५ स्यान्मतं वृत्त्यापि प्र० ॥ ६ दृश्यतां पृ० २३३-१ ॥ ७ [illegible] इतो [illegible] इत्यपि पाठोऽत्र गन्तव्यः ॥ ८ स्यादृवर्तं प्र० ॥ ९ [illegible] विशेषः भा० १० टी० ॥ १० सन्व्यापृत प्र० ॥ ११ अस्त प्र० ॥

आपत्तिभवनं तु अस्तिभवनं सन्निहिततथावृत्ति कारणे कार्यस्य सत्त्वात्, यथा घटो भवति निर्वर्तते आपद्यते।

सा च भोक्तृभोग्यद्वैतभूततायां सन्निधिसिद्धिः, न ततो न्यूनतायामधिकतायां वा व्यतिरेकाभावात्। न ज्ञेयमन्तरेण ज्ञातृत्वम्, ज्ञेयासत्त्वात्, खपुष्पज्ञत्ववत् वैधर्म्येण इतरकुसुमज्ञत्ववत्। एवं हि ज्ञातुर्ज्ञातृत्वम्। न ज्ञातारमुप-

---

आपत्तिभवनं तु अस्तिभवनमित्यादि यावदापद्यत इति। इदमपि चैपङ्क्तिं सन्निधिभवनमेव तथावृत्ति सन्निहितस्य तथा वृत्तिरापत्तिभवनम्[1]। अथवा तथा वृत्तिरस्य तथावृत्ति, सन्निहितं च तथावृत्ति च तदिति **सन्निहिततथावृत्ति**, किं तत्? आपत्तिभवनम्, कुतः सन्निहितमेव तथा वर्तत इत्युच्यते? उच्यते—**कारणे कार्यस्य सत्त्वात्**, कार्यं ह्यङ्कुरादि बीजादौ सन्निहितमेव तथा तथा देशकालाकारनिमित्तवशाद् व्यक्त्यव्यक्तिरूपेण वर्तते इति। तन्निदर्शयति—**यथा घटो भवतीति**, पूर्वमघटत्वेन मृत्त्वेन दृष्टं सन्निहितमेव मृदि घटभवनं व्यक्तमित्यर्थः। तत्पर्यायकथनम्—**निर्वर्तत आपद्यत** इत्यर्थः, सन्निधिभवनेनापत्तीभवति। उक्तमापत्तिभवनमपि।

३१-२ [2]अनयोर्न्यूनाधिकत्वतया सिद्धिरुच्यते—**सा चेत्यादि**। सामान्यत्वात् सन्निधिभवनसिद्धिस्तावत् **सा च [3]भोक्तृभोग्यद्वैतभूततायां सन्निधिसिद्धिः** सन्निधिभवनसिद्धिः, तद्धि सन्निधिभवनं द्वैतभूततायां सिध्यति नाद्वैततायां दर्शितकभोक्तृभोग्यत्वायुक्तत्वा[4]दिदोषाद् **न ततो न्यूनतायां सिद्धिरधिकतायां** वा द्वैतात, तृतीयस्याभावात्। न्यूनाधिकानुपपत्तौ कारणमाह—**व्यतिरेकाभावादिति.** व्यतिरेकः [5]पृथक्त्वेन एकस्यैव वृत्तिः, विनापि भावः। तदभावाद् न्यूनतायामसिद्धिः, यथा स्वामिना विना भृत्यस्य भृत्येन विना वा स्वामिनः। [6]आधिक्येऽपि व्यतिरेकः, यथा भावव्यतिरिक्तं नास्तीति तथेह भोक्तृभोग्यव्यतिरेकाभावात्। अतो न्यूनाधिकाभावात्त[7]द्द्वैते सन्निधिभवनं सिध्यति, नाद्वैतत्रैतादितायामिति।

तत्प्रतिपादनार्थमुपपत्तिरुच्यते—**न ज्ञेयमन्तरेण ज्ञातृत्वम्**, भोग्यस्य ज्ञेयत्वाच्छब्दादिगुणपुरुषोपलब्धिद्वयपुरुषोरभोगार्थत्वात्त[8]ज्ज्ञेयमापत्तिभवनम्, तदन्तरेण न ज्ञातुर्ज्ञातृत्वम्। कुतः? **ज्ञेयासत्त्वात्।** ज्ञेयस्यासत्त्वा[9]दिति वैयधिकरण्यात् ज्ञस्याधर्मत्वादसिद्धो हेतुरिति चेत्, न, ज्ञातृज्ञेययोः [10]संम्बन्धित्वेन साध्ययोस्तदसत्त्वस्य धर्मत्वात्। अथवानुपपन्नं ज्ञातृत्वमसज्ज्ञेयत्वा[11]दिति प्रयोगकालेऽर्थव्याख्या, तच्च ज्ञेयस्यासत्त्वादगृहीतज्ञेयत्वादिति। दृष्टान्तः **खपुष्पज्ञत्ववत्**, यथा खपुष्पविषयं ज्ञातृत्वमसज्ज्ञेयत्वादनुपपन्नमेवमसज्ज्ञेयं ज्ञातृत्वम्। **वैधर्म्येण इतरकुसुमज्ञत्ववत्**, यथा चूतादिखपुष्पेतरकुसुमज्ञत्वं सज्ज्ञेयत्वादु-
१३१-० पपद्यते तथा [12]त्वदभिमताद्वैतज्ञत्वं द्वैते सत्युप[13]पद्येत, [14]तत्रैतस्य ज्ञातृज्ञेयव्यतिरेकाभावात् तदन्तःपातित्वाद-

---

१ वृत्तिरा° इत्यपि पाठोऽत्र स्यात्॥ २ अनयोरेव(वा?)न्यूना° य०॥ ३ भोक्तृ° प्रतिषु नास्ति॥ ४ °कित्वा° प्र०॥ ५ पृथक्त्वेनैकस्यैव पा० डे० लीं० र० हीं०॥ ६ अधिके° य०॥ ७ °वात्त द्वैते प्र०। अत्र °वात् द्वैते इत्यपि पाठः स्यात्॥ ८ तज्ज्ञेय° भा०। तद् ज्ञेय° य०॥ ९ °त्वात्त(°त्वात्?) ज्ञेय° भा०। त्वात्तद् ज्ञेय° य०॥ १० संभिन्नत्वेन य०॥ ११ °त्वादिप्रयोग° प्र०॥ १२ तदभिम° प्र०॥ १३ °पद्यते र० हीं०॥ १४ तत्रैतस्य प्र०॥

द्रष्टारमन्तरेण ज्ञेयत्वम् ज्ञातुरसत्त्वात्, वन्ध्यासुतज्ञेयघटत्ववत्, वैधर्म्येण इतरसुतज्ञेयघटत्ववत्। एवमेव हि ज्ञेयस्य ज्ञेयता। न भोग्यमन्तरेण भोक्तृत्वम्, भोक्तुरसत्त्वात्, खपुष्पमकरन्दभ्रमरवत्, वैधर्म्येण इतरकुसुममकरन्दभ्रमरवत्। एवमेव हि भोक्तुर्भोक्तृत्वम्। न भोक्तारमन्तरेण भोग्यम्, भोक्तुरसत्त्वात्, वन्ध्यासुतायौवनवर्धितकवत्, वैधर्म्येण इतरसुतायौवनवर्धितकवत्। एवमेव हि भोग्यस्य भोग्यत्वम्, तत्सम्बन्धित्वात्।

यदपि च तथा तथा वर्तन भवन रूपादौ तदपि नैकैकस्मादपरिणामिनो वा

सत्त्वमिति। अथवा पृथक् साधनम्–ज्ञातृत्वमुपपद्यते सज्ज्ञेयत्वादितरकुसुमज्ञत्ववत्। वैधर्म्येणानुपपन्नमसज्ज्ञेयत्वात् खपुष्पे[1]ज्ञत्ववदिति। **एव हि ज्ञातुर्ज्ञातृत्वम्**[2], यो हि सज्ज्ञेय जानीते स तु मुख्यो ज्ञाता, यथा सलिल 'सलिलम्' इति विद्वान्। य पुनरसज्ज्ञेय विजानीते स तु न ज्ञाता, यथा मृगतृष्णिका 'सलिलम्' इति विद्वान्। एव तावत् 'ज्ञातैव, न ज्ञेयम्' इत्येतद् दर्शन निरस्तमद्वैतम, अधुना 'ज्ञेयमेव, न ज्ञाता' इत्येतन्निरस्यते–**न ज्ञातारमित्यादि, ज्ञातारमन्तरेण,** तत्पर्याय दर्शयति–**उपद्रष्टार**मिति, ज्ञात्रा विना न **ज्ञेयत्व ज्ञातुरसत्त्वात्,** अत्रापि पूर्ववत 'असज्ज्ञातृत्वात्' इति वा हेतु। साधर्म्यदृष्टान्तो **वन्ध्यासुतज्ञेयघटत्वम्, वैधर्म्येण इतरसुतज्ञेयघटत्वम्।** विपर्ययेण वा पूर्ववत् साधनद्वयम्, परस्परापेक्षज्ञातृज्ञेयत्वसाध्यतया वा वैयधिकरण्यपरिहारेण हेतुर्गम्य। **एवमेव हि ज्ञेयस्य ज्ञेयता** भवितुमर्हति यदि केनचिदनुपहतेन्द्रियज्ञानेन ज्ञायते, यथा अनुपहतेन्द्रियबुद्धिपुरुषज्ञेयघटवत् मध्यस्थेन सर्वागमकुशलेन विपश्चिता प्रमात्रा वा ज्ञेय साधत यथेति। तथा **न भोग्यमन्तरेण भोक्तृत्वम्,** असद्भोग्यत्वात् खपुष्पमकरन्दभ्रमरवत्, वैधर्म्येण इतरकुसुममकरन्दभ्रमरवत् सद्भोग्यत्वाद् भोक्तृत्वमिति तत्साधर्म्येण वा, वैधर्म्येण खपुष्पभ्रमरवत्, परस्परापेक्षिक वा पूर्ववद् भोक्तृभोग्यत्वसाधनम। अत्रापि च **एवमेव हि भोक्तुर्भोक्तृत्वमिति** सम्बन्धो द्रष्टव्य। तथा **न भोक्तारमन्तरेण भोग्यम**सद्भोक्तृत्वाद् वन्ध्या[3]सुतायौवनवर्धितकवत्, सद्भोक्तृक भोग्यत्वादितरसुतायौवनवर्धितकवत, पूर्ववदेवात्रापि व्याख्या १९२ १ यावदेवमेव हि **भोग्यस्य भोग्यत्वमिति।** युगपद्वा परस्परसम्बद्धसत्ताकौ भोक्तृभोग्यौ, **तत्सम्बन्धित्वात्** तयो सम्बन्धित्वादिति अयमर्थप्रदर्शनहेतु, प्रयोगहेतुस्तु 'सम्बन्धित्वात्' इत्येव। यथा सम्बन्धी भ्राता सम्बन्धिना इतरेण भ्रात्रा विना न भवति कनीयान् ज्यायसा ज्यायान् वा कनीयसा तथा भोक्तृभोग्यौ, यथा [स]दलङ्कारौ दम्पतीत्येवमादिदृष्टान्तैर्भोक्तृभोग्यसम्बन्धित्वसिद्धिरन्योन्याविनाभाविनीति प्रागुक्तसन्निधिभवन द्वैते सति सिध्यतीति।

अधुनेदं[4]तत्–**यदपि च तथा तथा वर्तन भवन रूपादौ** तेन तेन प्रकारेण अन्यथान्यथा चोपपत्ति[5]भवन रूपे रसे गन्धे स्पर्शे पृथिव्यादौ गवादौ घटादौ च सकलजगद्वर्तविवर्तरूप **तदपि नैकैकस्मात्,** एकस्मैव एकमेकैक पुरुषादि, तस्मादेकस्मादेकस्मान्न भवति। किं तर्हि? यदनेकमेव तस्मादनेकस्मादेकस्माद्

---

१ °ष्पमयदिति भा०। ष्पवदिति य॥ २ ज्ञातुसत्वम् भा०॥ ३ °सुन य०॥ ४ तद्यपि च भा०। तद्यदि च य०॥ ५ व्यापत्ति प्र०॥

सन्निधिमात्रभवनात्, आपत्तित्वात्, व्रीहिवत्। नाप्यद्वैते, अनर्थकापत्त्यभावात्। किन्तु सङ्घातात्मकत्वात् गृहघटपृथिव्यादिवत् परार्थत्वम्। तथा चक्षुरादयोऽप्याध्यात्मिका इति आ चक्षुरादेः परार्था यावच्च रूपादिद्व्यणुकादयः।

भेदात्मकेन चानेन भवितव्यं कारणत्वात् तन्त्वादिवत्, परार्थार्थेन च शब्दाद्युपलब्ध्यर्थत्वात्। किं हि कारणं रूपादि दृष्टमेकं स्वार्थं च?

भवति। **अपरिणामिनो वा सन्निधिमात्रभवनात्** 'न' इति वर्तते। किं तर्हि? परिणामिन एवापत्तिभवनयोग्याद् भवति। कुतः? **आपत्तित्वात्** आपत्तिभवनत्वाद् **व्रीहिवत्**, यथा व्रीहेरनेकैकस्य रूपरसादिपरमाणुद्व्यणुकादिसङ्घाताद्यङ्कुराद्यापत्तिरङ्कुरादेर्वा भूम्यम्ब्वादिदेशकालादिसङ्घातत्वाद् व्रीह्यापत्तिस्तथैतदनेकात्मकैकमापत्तिभवनम्। **नाप्यद्वैते**, इत्थं तावत् स्वविपर्ययद्वैते सति आपत्तिभवनम्, परविपर्ययद्वैते
१९२-२ सत्येवापत्तिभवनमिदमुच्यते—**नाप्यद्वैते** परविपर्ययद्वैताभावे भवत्यापत्तिभवनम्, **अनर्थकापत्त्यभावाद्**एकस्याद्वितीयस्य कस्मैचिदर्थमकुर्वतः। **किन्तु सङ्घातात्मकत्वात् परार्थत्व**मिति सम्बन्धः, सङ्घातात्मकभवनात् पारार्थ्यम्, सहत्यकारिणां हि पारार्थ्यं नानर्थक्यं न स्वार्थत्वं नान्योन्यार्थत्वं च केवलम्। दृष्टान्तो **गृहघटपृथिव्यादिवत्**, यथा गृहघटपृथिव्यादयः सङ्घातात्मकाः स्वतः पृथग्भूतपुरुषार्थाः नानर्थका न स्वार्था नान्योन्यार्थाः पुरुषार्थमेव चान्योन्यार्थाः स्त्रीशोभनार्थालङ्कारवत्। **तथा चक्षुरादयोऽप्याध्यात्मिका इति** दृष्टान्तबाहुल्यात् परार्थव्यापितां दर्शयति, **इत्या[2] चक्षुरादे**रिति चक्षुरादयोऽपि सूक्ष्मा[3]ध्यात्मिका विवेच्या यावत् **परार्था यावच्च रूपादिद्व्यणुकादयः**, किमङ्ग पुनर्गृहघटपृथिव्यादयः स्थूला ग्रामारामादयश्चेति?

यत् पुनरिष्यत 'एकं कारणं पुरुषादि' इति तन्न वयमभ्युपेमः। त्वन्मतेनाप्येकं चेत् किञ्चित् पारार्थ्यकारणमिष्यते तदभ्युपगम्य **भेदात्मकेन चानेन भवितव्य**मिति प्रतिजानीमहे, **कारणत्वात् तन्त्वादिवत्**, तन्तुकपालादयो हि कारणत्वात् पटघटादीनां कार्याणां रूपादितु[4]ल्यंश्वादिसङ्घातरूपा अनेकात्मका एव कारणभावं बिभ्रतो दृष्टा नान्यथा त[5]था तेनापि त्वदिष्टेन कारणेन भवितव्यमनेकात्मकेन। **परार्थार्थेन च** 'भवितव्यम्' इति वर्तते, परस्मै परार्थः, परार्थोऽर्थः कार्यं य[6]स्य कारणस्य तेन कारणेन परार्थकार्येण भवितव्यं कारणत्वात् तन्त्वादिवदेव, यथा देवदत्तशीतत्राणाद्यर्थे पटकार्यास्तन्तवस्तथा तेन
१९३-१ कारणेन त्वदिष्टेन भवितव्यम्। स कतमोऽर्थ इति चेत्, उच्यते—**शब्दाद्युपलब्ध्यर्थत्वात्**, आदिग्रहणाच्छ[7]ब्दाद्युपलब्धिरादिर्गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरन्त इत्याद्यन्तोपभोगद्वयं पुरुषस्यार्थः, सोऽस्यापत्तिभवनस्य परार्थार्थः। तस्माच्छब्दाद्युपलब्ध्यर्थत्वात् परार्थार्थेन तेन कारणेन भवितव्यम्। **किं हि कारणं रूपादि दृष्टमेकं स्वार्थं च?** इति कारणस्यानेकैकत्वाविनाभाव पारार्थ्याविनाभावं च स्वार्थैक्याभावं च दर्शयति, विपक्ष एव नास्तीत्यभिप्रायः। **रूपादिग्रहणं तु पक्षत्वाद्** रूपादीनां सङ्घातपारार्थ्यपरिणामित्वैः सन्निधिभवनवैलक्षण्य दर्शयति।

---

१ °सङ्घाताद् भा० ॥ २ चक्षुरादेरिति भा० प्रतौ नास्ति ॥ ३ सूक्ष्मा ऽ(आ?)ध्यात्मिका भा० ॥ ४ "उणादौ नाम्युपान्त्येति [उ० ६०९] किदि तुटि ।" इति हैमधातुपारायणे ६।१२४ ॥ ५ (तथानेनापि?) ॥ ६ तस्य प्र० ॥ ७ दृश्यता पृ० १४ टि० ८ ॥

तदित्थं द्वैते त्वनेकात्मिकाया प्रकृतेरात्मभिः[1] सुखदुःखमोहैः[2] परिणामानुक्रमेणारब्धाः शब्दादयोऽपि तदात्मका एव, तदात्मकत्वाभिव्यक्तकार्यत्वात्, मृत्पिण्डकार्यशिवकादिमृत्त्ववत् । सुखात्मकानां च शब्दादीनां प्रसादलाघवाभिष्वङ्गोद्धर्षप्रीतयः कार्यम्, दुःखात्मकानां शोषतापभेदोपष्टम्भोद्वेगापद्वेषाः, मोहात्मकानां वरणसदनापध्वंसनबैभत्स्यदैन्यगौरवाणि, तस्मात् सुखादीनामात्मत्वेनाभिव्यक्तं कार्यमेषां शब्दादीनाम् । यानि तैरारब्धानि शरीरादीन्याध्यात्मिकानि

तदित्थं द्वैते त्वित्यादि । द्विविधपुरुषोपभोगार्थमनेकात्मिकाया प्रकृतेरित्यादिना ग्रन्थेन तदापत्तिभवनस्वरूपवर्णनम् । प्रक्रियन्ते विकारास्तत इति प्रकृतिः, प्रधीयन्तेऽस्मिन् महदादय इति प्रधानम्, बहूनां धानं बहुधानकम्, अमरणादविनाशादमृतम्, इत्याद्यनेकनामिकाया प्रकृतेरनेकात्मिकाया आत्मभिः सुखदुःखमोहैः प्रकाशप्रवृत्तिनियमात्मकैः[3] प्रागभिहिताचार्यपरम्परापाण्डवत् स्वपरेषां नर्तिकापणनाराभारमनन्त्व प्रतिपत्तिचलनबैरणकरणैरिवेति । ते हि [4]वैकारिकतैजसभूतादिविकाररूपाः सुखदुःखमोहाः प्रकाश[प्र]वृत्तिनियमात्मकाः सत्त्वरजस्तमोलक्षणा गुणाः साम्यावस्थायां 'प्रकृतिः' इत्युच्यन्ते, वैषम्येण तु परिणामानुक्रममापन्नाः परस्पराविनिभागवृत्तयोऽङ्गाङ्गिभावेन परिणामाद् विकारीभवन्तः शब्दादीनारभन्ते, तैर्महदा- ११३ २ दिना परिणामानुक्रमेणारब्धाः शब्दादयोऽपि तदात्मका एव, [5]शब्दादिपरिणामानुक्रमं साधनानुपदेन स्वयमेव वक्ष्यति, तदात्मकत्वं तावत् साध्यते, तदात्मका एव* सुखाद्यात्मका एव शब्दादयः, तदात्मकत्वाभिव्यक्तकार्यत्वात्, ते सुखादय आत्मा तदात्मा, तद्भावस्तदात्मकत्वं सुखाद्यात्मकत्वम्, तदात्मकत्वेनाभिव्यक्तं कार्यं येषां [ते] तदात्मत्वाभिव्यक्तकार्याः शब्दादयः, तद्भावात् तदात्मत्वाभिव्यक्तकार्यत्वात्, मृत्पिण्डकार्यशिवकादिमृत्त्ववत्, यद् यदात्मकत्वेनाभिव्यक्तकार्यं वस्तु तत् तदात्मकमेव दृष्टम्, यथा मृदः कार्यं पिण्डः, तस्य कार्यं शिवकः, एवं क्रमेण स्तूपककुशूलकादि यावद् घटः कपालानि वा मृदात्मकान्वयेन कार्याणि, मौलस्य कारणस्यात्मना विना उत्तरोत्तरेषां कार्याणामभावादादौ मध्येऽवसाने च मृदात्मकत्वं दृष्टमेव शब्दादयः सुखादीनां कार्यम्, शब्दादिकार्यं खाकाशादि, तत्कार्यं च गवादि घटादि, सर्वं सुखाद्यात्मकत्वेनाभिव्यक्तं तदात्मकमिति ग्राह्यम् । कथं सुखाद्यात्मकत्वेन शब्दादि कार्यमभिव्यक्तमिति चेत्, सुखाद्युपलब्धेः । सुखात्मकानां चेत्यादिना तद् दर्शयति यावदात्मत्वेनाभिव्यक्तं कार्यमेषां शब्दादीनामिति गतार्थम् । एवं तावद् भूतादिनाहङ्कारेणारब्धाः शब्दादयः ।

यानि तैरारब्धानीत्यादि यावत् सुखादिमया एव, परिणामानुक्रमेण भूतानामाकाशादीनां शब्दादिभिः सुखादिमयैरारम्भं दर्शयति । तत्र शरीरादीन्याध्यात्मिकानीति शरीरीभूतानि शब्दाद्यारब्धानि

---

१ द्रष्टव्यं पृ० १२ पं० १९ ॥ २ द्रष्टव्यं पृ० १३ पं० २० ॥ ३ अत्र धारणकारणैः इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ४ सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् । भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥ २५ ॥–साङ्ख्यका० ॥ ५ * * एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठो य० प्रतौ नास्ति ॥ ६ साधुना भा ॥ ७ त्मत्वेना य० ॥ ८ त्मकत्वेनाभि प्र० ॥ ९ स्त्वपकुश् य० ॥ १० सुखाना प्र० ॥ ११ सर्वं च सुखा भा० ॥

भूतादीनि वैकारिकारब्धानि चेन्द्रियाणि त्रयाणां सुखदुःखमोहानां सन्निवेशविशेषाः सुखादिमया एव, तथा पृथिव्यादयस्तन्मयकारणारब्धत्वात् । यद् यन्मयैः कारणैरारब्धं तन्मयं तत्, कार्पासिकपटवत् । भूतैरारब्धानि पुनः शरीरादीनि पटकुटिवत् परम्परारब्धत्वात् । अनेकात्मकैककपूर्वकं शरीरमन्वितविकारत्वाच्चन्दनशकलवत्, नैककपूर्वकं नापूर्वकमन्वितत्वात् । अन्वाह च—

> अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
> अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ [श्वेताश्व० ४।५]

भूतादीनि भूतादिमयानि त्रिगुणानि वैकारिकारब्धानि च श्रोत्रादीन्येकादशेन्द्रियाणि सर्वाण्येव त्रयाणां सुखदुःखमोहानां सन्निवेशविशेषाः, ततस्तन्मयता । बाह्यानि घटादीनि रूपादिमूर्तत्वात् तेषां च सुखाद्यात्मकत्वात् तन्मयानि तदात्मकान्येव । तथा पृथिव्यादयस्तन्मयकारणारब्धत्वादिति
१३४-१ महदादेः सकलस्य विकारस्य ब्रह्मादिस्तम्बान्तस्य च जगतः सुखादिमयकारणारब्धत्वात् । यद् यन्मयैरित्युपनयः, तन्मयं तदिति निगमनम् । दृष्टान्तः कार्पासिकपटवदिति, कार्पासविकारैस्तन्तुभिरारब्धः पटोऽपि कार्पासिक इति यथोच्यते तथा भूतानि सुखाद्यारब्धशब्दाद्यारब्धानि सुखाद्यात्मकानि । भूतैरारब्धानि पुनः शरीरादीनि, घटादीनि आदिग्रहणात्, पटकुटिवत् परम्परारब्धत्वात्, यथा कार्पासिकतन्त्वारब्धपटमयी कुटिरपि 'कार्पासिकी' इत्युच्यते तथा सुखाद्यारब्धशब्दाद्यारब्धभूताद्यारब्धपृथिव्यादिशवादिघटादिसरित्समुद्रमन्दरादीन्यपि तदात्मकानि ।

अनेकात्मकैककपूर्वकं शरीरमिति प्रतिज्ञा । किं पुनः कारणमेवं प्रतिज्ञायते? प्रोक्तपुरुषाद्येककारणपूर्वकत्वनिराकरणार्थं वक्ष्यमाणेश्वरादिकारणपूर्वकत्वनिराकरणार्थं च । को हेतुः? अन्वितविकारत्वात्, अन्विता विकारा यस्य तदन्वितविकारम्, हस्ताकुञ्चनप्रसारणाङ्गुल्युत्क्षेपणापक्षेपणपादप्रक्षेपाङ्गविवर्तनादिविकाराः शरीरावयवाश्च सुखादिभिः शब्दादिभिश्चान्विता विकारैः, तस्मादन्वितविकारत्वाच्चन्दनशकलवत्, यथा मृदुसुरभिशीतहरितरक्तश्वेतादिभेदस्पर्शरसरूपगन्धादिविकाराणि चन्दनशकलानि सुखाद्यन्वितानि परमाणुद्व्यणुकाद्यनेकात्मकैकचन्दनतरुपूर्वकाणि तथेदं शरीरमपि सुखाद्यनेकात्मकैककारणपूर्वकमिति नैककपूर्वकम् यथा पुरुष एव इत्यादि, नापूर्वकम् न निर्हेतुकं नासत्पूर्वकं वैनाशिकाद्यभिमतवदित्येतस्य साधनस्य व्यावर्त्यार्थोद्देशार्थम्, अन्वितत्वादिति सामान्येनास्यैवोक्तस्य निगमनार्थम्, अथवा
१३४-२ एकैककपूर्वकत्वादिनिराकरणसाधनं वा पृथगेव ।

अन्वाह चेति पूर्ववत् । अजामिति न जायत इत्यजा नित्या, अथवा पुनः अज गतिक्षेपणयोः [पा० धा० २३०] इति क्षिप्रगमनादजा, इयं प्रकृतिः क्षिप्रपरिणतिगतिसाधर्म्याद् वहुप्रसवसाधर्म्याद्वा अजेवाजा । एकामद्वितीयां सर्वगताम् । मा भूदेकैकेति अनेकात्मैकैकां लोहितशुक्लकृष्णां दुःखसुखमोहात्मकरजःसत्त्वतमोमयीम् । वह्वीः प्रजा अनन्ताः, प्रजायन्त इति प्रजाः, महदहङ्कारतन्मात्रादि-

---

१ दृश्यता पृ० २५७ टि० ४ ॥ २ ब्रह्मास्त° प्र० ॥ ३ °श्वप्रसा° प्र० ॥ ४ °निवर्तना° वि० र० ही० ॥ ५ दृश्यतां पृ० १८९ प० ५ ॥ ६ ईयंप्रकृतिः य० । ऽयंप्रकृतिः भा० ॥ ७ °त्मकैकी प्र० ॥

सुखं च दुःखं चानुशय च धारेणाय सेवते तत्र तत्र ।
विशन्ति योनिं व्यतिरेकिणस्त्रय अजस्तु जायामतिमत्यशुद्ध ॥ [ ]
उभा सखायौ सयुजा सपर्णौ समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरेक पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ [मुण्डको० ३।१।१]

क्रमेण ब्रह्मान्तिस्तम्बान्ता सृजमानामुत्पादयन्तीं सरूपा सुखाद्यात्मिका आत्मरूपा आत्मसमरूपा, यतो ह्यसौ बहुगुणिकात्मस्वरूपप्रधानमर्तिनी प्रधानीति गण्यते । तामजो ह्येको जुषमाण सेवमान प्रीयमाण, स हि न जायत इत्यजो नित्यत्वात्, एक सन्निधिमात्रस्याभिन्नस्यैकरूपत्वात् सर्वगतत्वाच्च, तामेव जुषमाणोऽनुशेते अनुशयमनुबन्ध च तस्या न मुञ्चति अनुधावतीत्यर्थ, यथा वत्सोऽनामनुधावति तथा तां प्रकृतिं पुरुष । जहात्येना भुक्तभोगामजोऽन्य, असावेव पुरुषोऽन्य एव तस्या उपरत सवृत्तो भुक्तभोगा दृष्टदृश्या विदितात्मानात्मविशेष प्रकृतिपुरुषान्तरज्ञो नर्तक्या इव विकारान् बाह्यान् भ्रूक्षेपकम्पस्तनादीननुरागहेतूनन्त करणशरीरादिसमुद्भूताननात्मभूतानुपलभ्य भिक्षुरिव स्वभावावचिन्तनाद् विरक्तोऽहमनया वृथा क्लेशितो बहिरन्तरशुद्धयेति विरमति, सापि दर्शितविकारा 'दृष्टाहमनेन' १९५१ इति व्रीडितेव विनिवर्तत इति । तथैतदर्थसम्बन्धिनी व्याख्यातैव द्वितीया गाथा—

सुखं च दुःखं चानुशय च धारेणाय सेवते तत्र तत्र ।
विशन्ति योनिं व्यतिरेकिणस्त्रय अजस्तु जायामतिमत्यशुद्ध ॥ इति ।

उभा उभौ, सुपा डादेशादुभा । सखायौ अन्योन्यसहितावेव विभुत्वनित्यत्वाभ्याम् । सयुजा पूर्ववद् डादेशात् समानयुजौ समानस्य सकारादेशात् । सह पर्णाभ्या सपर्णौ सपक्षौ शुद्ध्यशुद्धिपक्षौ । सुयुजौ सुपर्णाविति वा पाठ, सुष्ठु अतीव युक्तौ सर्वगतत्वादविभागेन सदा युक्तौ शोभनपर्णौ च परस्परवैलक्ष्यापत्तिवर्तिनविचित्रगुणसुखासुखपक्षौ । एकं वृक्षं लोकाख्यमश्वत्थम्, स्थैर्यादचलत्वाद् वृक्षोऽश्वत्थसाधर्म्यात्, परिषस्वजाते परिष्वक्तवन्तौ । तयोरेक तयो शकुन्योरेकवृक्षपरिष्वङ्गिणोरेक एव शकुनिर्भागसमर्थस्य पिप्पलस्य पिप्पलं फलं स्वादु भोग्यविकारविशेष विचित्ररसमत्ति खादति भुङ्क्ते पुरुष एव भोक्तृत्वाच्चेतनत्वात् । अनश्नन्नन्य प्रकृतिसत्त्व शकुनिरभुञ्जान अभिचाकशीति आभिमुख्येन तस्यार्थं काशते, शकुनिप्रस्तुते पुंल्लिङ्गम् ।

---

१ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया इति मुण्डकोपनिषदि पाठ ॥ २ प्रत्या य० । पत्या भा । अत्र प्रहत्या इत्यपि पाठ स्यात् ॥ ३ प्रधानेति भा० ॥ ४ दृष्टदृश्या य० । दृश्या भा० ॥ ५ धारणो भा० । °धारणो य ॥ ६ सुखदुःखस्य तद्धर्मत्वात् यावन्ति लिङ्गं न निवर्तते तावदवश्यं दुःखेन भवितव्यम् पर्यायेण संस्कारस्य सामर्थ्यानेकान्तरोपगते । तथा चाह—सुखं च दुःखं च हि सशय च धारेणाय सेवते तत्र तत्र ।" इत्येवमन्या गाथया पूर्वार्धमात्रमुद्धृतं युक्तिदीपिकाख्यायां साङ्ख्यकारिकावृत्तौ ५२ ॥ ७ योनिम्यति भा० टि० टी० ॥ ८ सत्य पा ग० टीं ॥ ९ ऽशुद्ध इ टीं १ टी० ॥ १० सुपो डा प्र० । सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजाल ।७।१।३९। इति पाणिनीयसूत्रबलेन ॥ ११ स्तनाद भा० । स्तन्यनाद य ॥ १२ पुंलिंगम् प्र ॥

अथ कथमेककारणत्वप्रतिषेधानन्तरं शब्दैकगुणप्रवृत्ति वियदभ्युपगम्यते? न प्रवर्तेतैवम्, असन्द्रुतेः, पुरुषवद् वन्ध्यापुत्रवद्वा।

शब्दे त्रैगुण्यमस्त्येवेति चेत्, अत्रिगुणं सुखादि एकस्यात्मत्वाव्यतिरिक्ततत्त्वं

एतदधुना परीक्ष्यते—**अथ कथमित्यादि** यावद् **वियदभ्युपगम्यत** इति। यद्यनेकात्मकैककारणत्वमिष्यते एवमेककारणत्वप्रतिषेधानन्तरं पुरुषाद्येककारणत्वप्रतिषेधाहितसंस्कारातिरोधानकालमप्य-
१९० ◦ प्रतीक्ष्य त्वया कथं **शब्दैकगुणप्रवृत्ति वियदभ्युपगम्यते?** अभ्युपगम्यतां तावद् रूपादिसृष्टौ व्यवहारानुपातिनामेषां लोके दृष्टानां 'द्वित्र्याद्यनेकस्पर्शरसगन्धगुणानामनेकैकत्वात् तदात्मकवाय्वादिसृष्टिरस्तु नाम, त्वन्मतेन सह घटमानमिदं तु न युज्यते शब्देनैकगुणा प्रवृत्तिरित्थम्भूतेनास्य तच्छब्दैकगुणप्रवृत्ति वियत् 'गण गुण सङ्ख्याने' [ ] शब्दैकसङ्ख्यानप्रवृत्ति एकस्मात् कारणाद् भवत् त्वन्मतविरोधात्, नानेकात्मकैकस्माच्छब्दस्पर्शादिद्वित्रिचतुःपञ्चगुणाद् भवद् वाय्वादिवत् त्वन्मताविरोधात्। प्रयोगश्चात्र—**न प्रवर्तेतैवम्**, शब्दैकगुणाकाशं तत्र भवेदित्यर्थः, **असन्द्रुतेः**, गुणसन्द्रावो द्रव्यम् [पा० म० भा० ५।१।११९] इति लक्षणाभावात्, बहूनां हि गुणानामेकीभवनमैक्यगमनं सन्द्रुतिः, तदभावोऽसन्द्रुतिः, ततोऽसन्द्रुतेर्न प्रवर्तेत, **पुरुषवद् वन्ध्यापुत्रवद्वे**त्येतदनिष्टापादनमिति।

अत्राह—**शब्दे त्रैगुण्यमस्त्येवेति चेत्।** सर्वस्योक्तसुखदुःखमोहमयत्वाच्छब्दोऽपि तदात्मा त्रिगुण

---

१ "**तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।** तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशम्, स्पर्शतन्मात्राद् वायुः, रूपतन्मात्रात् तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी। 'तेभ्यो भूतानि' इति वक्तव्ये 'पञ्च पञ्चभ्यः' इति ग्रहणं समसङ्ख्याकत्वज्ञापनार्थम्, तेन एकैकस्मात् तन्मात्रादेकैकस्य विशेषस्योत्पत्तिः सिद्धा। ततश्च यदन्येषामाचार्याणामभिप्रेतम्—एकलक्षणेभ्यस्तन्मात्रेभ्यः परस्परानुप्रवेशादेकोत्तरा विशेषाः सृज्यन्ते इति, तत् प्रतिषिद्धं भवति। किं तर्हि? अन्तरेणापि तन्मात्रानुप्रवेशमेकोत्तरेभ्यो भूतेभ्य एकोत्तराणां भूतविशेषाणामुत्पत्तिः। तत्र शब्दगुणाच्छब्दतन्मात्रादाकाशमेकगुणम्। शब्दस्पर्शगुणात् स्पर्शतन्मात्राद् द्विगुणो वायुः। शब्दस्पर्शरूपगुणाद् रूपतन्मात्रात् त्रिगुणं तेजः। शब्दस्पर्शरूपरसगुणाद् रसतन्मात्राच्चतुर्गुणा आपः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणाद् गन्धतन्मात्रात् पञ्चगुणा पृथिवी।"—**साङ्ख्यका० युक्तिदीपिका**, का० ३८। "शब्दतन्मात्रादाकाशम्, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, रूपतन्मात्रात् तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी। एवं पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतान्युत्पद्यन्ते।" **जे० साङ्ख्यका० वृ०** A, का० २२। एवं **गौडपादभाष्ये**ऽपि, का० २२। "**पञ्चभ्यः पञ्च** महाभूतानि शब्दतन्मात्रादाकाशम्, तदेकलक्षणम्। स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, स द्विगुणलक्षणः। रूपतन्मात्रात् तेजः, तत् त्रिगुणलक्षणम्। रसतन्मात्रादापः, ताश्चतुर्गुणाः। गन्धतन्मात्रात् पृथिवी, सा पञ्चगुणा। एवं पञ्चभ्यः पञ्च महाभूतान्युत्पद्यन्ते।" **जे० साङ्ख्यका० वृ०** B, का० २२। "शब्दतन्मात्रादाकाशम्, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, रूपतन्मात्रात् तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी, इत्यादिक्रमेण पूर्वपूर्वानुप्रवेशेन एकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणानि आकाशादिपृथ्वीपर्यन्तानि महाभूतानीति सृष्टिक्रमः।" **साङ्ख्यका० माठरवृ०**, का० २२। "शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणम्, शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद्वायुः शब्दस्पर्शगुणः, शब्दस्पर्शसहिताद्रूपतन्मात्रात् तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणम्, शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद्रसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणाः, शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद् गन्धतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी जायते।" **साङ्ख्यतत्त्वकौ०**, का० २२॥ २ "इत्थम्भूतलक्षणे" [पा० २।३।२१] इति सूत्रेण तृतीया॥ ३ "१८५४ गण सङ्ख्याने, ... १८९३ ग्राम १८९४ कुण १८९५ गुण चामन्त्रणे।" इति **पाणिनीयधातुपाठे**। "गणण् सङ्ख्याने, कुण गुण केतण् चामन्त्रणे" इति **हैमधातुपाठे** १०।३०६–३०९॥ ४ **नानेका°** य०। **नानैका°** भा०॥ ५ (त्वन्मतविरोधात्?)॥ ६ °**गुण**[मा?]**काशं** प्र०॥

प्रकाशाद्यात्मना मा प्रवर्तिष्ट निर्गुणत्वादेकत्वाद् वैषम्यानुपपत्तेरपरिणामित्वाद-नापत्त्यात्मकत्वात् पुरुषवत्। शब्दादि वाप्येकात्मकमेव, आपद्यमानत्वात्, सुखादिवत्। अनेकात्मकं वा सुखादि, तत एव, शब्दादिवत्।

नैव प्रवर्तते सुखादि, अप्रवृत्तिलक्षणत्वात्, पुरुषवत्। त्रयमपि न न प्रवर्तते, अविभक्तस्वतत्त्वस्य तथा प्रविभक्तत्वेन व्यवस्थानात्, मयूराण्डकरसगतग्रीवादिभाववत्, यत इह भाव एव यत।

एवेति चेदित्याशङ्कायाम्, एवं चेन्मन्यसे, साधूक्तम्, एतदेव त्वां ग्राहयितुमेवोचम्—शब्दैकगुणवियद्प्रवृत्तिप्रसङ्ग इति। ततश्च यत् पुनरत्रिगुणं **सुखादि** सुखमेव पृथक् प्रधानावस्थायां सत्त्वं तदत्रिगुणम्, एवं सुखस्यात्मत्वादव्यतिरिक्तं तस्य भावस्तत्त्वं यस्य तत् सुखमेकस्वात्मत्वाव्यतिरिक्ततत्त्वम्, प्रकाशादिश्च तस्य तत्त्वस्यात्मा सर्वत्राभेदभावात्, तेन **प्रकाशाद्यात्मना मा प्रवर्तिष्ट** मा आपत्तिभवनमनुभूत्, **निर्गुणत्वात्** गुणसङ्घातानात्मकत्वात्, **एकत्वात्** अनेकात्मकैकत्वात्, **वैषम्यानुपपत्तेरपरिणामित्वात्**, १९६ १ वैषम्यापत्तितो हि परिणामित्वं स्यात्, साम्यावस्थायां तु गुणानां तदभावाद् वैषम्यानुपपत्तिः, अतोऽपरिणामित्वम्। **अनापत्त्यात्मकत्वात्** रूपान्तरप्राप्त्यनात्मकत्वात्, तस्यां ह्यवस्थायामेवंस्वरूपं सत्त्वम्। दृष्टान्तः **पुरुषवत्**, यथा पुरुषोऽपि निर्गुणत्वादिधर्मत्वान्न प्रवर्तते तथा सुखाद्यपि मा प्रवर्तिष्ट। निर्गुणत्वादिधर्मत्वे सत्यपि सुखादि प्रवर्तत एव चेत् तथा तद्धर्मत्वात् पुरुषोऽपि प्रवर्ततामेभ्य एव सुखादिवत्, गुणस्यान्यतमस्यैव वा भवच्छब्दकस्मात् कुत एतत्? । किञ्चान्यत्, **शब्दादि वाप्येकात्मकमेव** निर्गुणमेकमसमपरिणामि चैवमादि, **आपद्यमानत्वात्** प्रधानावस्थायां प्रवर्तमानत्वात्, **सुखादिवत्**। **अनेका**त्मकमित्यादि विपर्ययधर्मापादनं गतार्थं तत एवेति।

आह—**नैवे**त्यादि। सिद्धसाधनमिदं 'मा प्रवर्तिष्ट' इति, न प्रवर्तत एव सुखादि, **अप्रवृत्तिलक्षणत्वात्**, न हि सुखं मोहो वा प्रवृत्तिलक्षणम्, किं तर्हि? रज एव प्रवृत्तिलक्षणम्, प्रत्येकं हि सत्त्वादयः प्रकाशप्रवृत्तिनियमलक्षणास्त्रयोऽपि, ततोऽप्रवृत्तिलक्षणत्वान्न प्रवर्तते सुखं पुरुषवत्। वैषम्यावस्थायां तु रजः प्रवर्तते प्रवर्तयति च सुखं मोहं च अप्रवृत्तिलक्षणत्वात् तयोरिति। अत्रोच्यते—**त्रयमपि न न प्रवर्तते**, प्रवर्तत एव, **अविभक्तस्वतत्त्वस्य तथा प्रविभक्तत्वेन व्यवस्थानात्**, यदविभक्तस्वतत्त्वं तेन तेन प्रकारेण प्रविभक्तत्वेन व्यवतिष्ठते तत् प्रवर्तत एव, यथा **मयूराण्डकरसगतग्रीवादिभावा**, मयूराण्डकरसावस्थायां ग्रीवाबर्हादयोऽविभक्तस्वतत्त्वा ग्रीवादित्वेन प्रविभक्तरूपा व्यवतिष्ठमाना १९६ २ प्रवर्तमाना एव, नाप्रवर्तमाना। यन्न प्रवर्तते तदविभक्तस्वतत्त्वं सत् कदाचिन् प्रविभक्तत्वेन न व्यवतिष्ठते यथा पुरुषो यथा वा मयूराण्डकरसे हमादिग्रीवादय इति। किं कारणम्? द्रव्यार्थनयविवक्षाना सत्कारण-

---

१ त्वाम्॥ २ मनोर शब्दै भा। मयोचत शब्दं य०॥ ३ त्वात् व्यति प्र। अत्र स्याद्व्यति इत्यपि पाठः स्यात्॥ ४ स दृष्टान्त भा०॥ ५ काद्येव भा०॥ ६ समनपरिणामि चैवमापद्यमानत्वात्प्रधानावस्थाना प्र०॥ ७ त एवेति प्र०॥ ८ चित्तप्रवि भा०॥

नन्वविभक्तरसग्रीवाद्यापत्तिवत् प्रधानस्यैव च सापत्तिः। कस्य वा न मनोरथः·····कल्पना। अविभक्तानेकार्थकारणमेवेदं विभक्तवृत्ति पृथिव्यादि मयूरग्रीवादि दध्यादि व्रीह्यादि, उक्तवक्ष्यमाणवत्।

भिन्नात्मकतायां तु सत्त्वं न प्रकाशेत, अप्रवृत्तत्वात्, पुरुषवत् पूर्ववदनग्निप्रकाशवद्वा।

- --- --- -

वादिनामसदा[3]वृत्तिप्रवृत्तेर्यतो यस्मादिह एतेषु वादेषु **भाव एव यतः** नियतः 'नि'शब्दलोपात्। तस्मादप्रवृत्तिलक्षणं चेत्, न स्यात् सुखादि इति।

आह—**न[5]न्वविभक्तरसग्रीवाद्यापत्तिवत् प्रधानस्यैव च सापत्तिः।** त्वदुक्तमयूराण्डकरसगताविभक्तग्रीवादिप्रविभागापत्तिभावदृष्टान्तसामर्थ्यादेव त्रिगुणसाम्यावस्थैकप्रधानापत्तिरेव सा [सि]ध्यति, न सुखाद्यापत्तिरिति। अत्रोच्यते—**कस्य वा न मनोरथः** कथं भवान् 'एकमेव कारणमनेककार्यतया विपरिवर्तमानम्' इत्येतद् दर्शनं प्रतिपाद्येतेति। तस्य च कारणस्य 'प्रधानं पुरुषो नियतिः शब्दब्रह्म' इत्यादिसंज्ञा त्वयेष्टा यास्तु सास्तु, किं नो विवादेन? तदर्थ एव मे प्रयास एककारणमयत्वं त्वं प्रतिपादयितव्य इति, एष प्रति[6]पादितोऽसि, त्वमेव तु न वेत्थेति गतार्थं यावत् **कल्पनेति**।

तदुपपाद्यसे—**अविभक्तानेकार्थकारणमेवेदं पृथिव्यादि,** अविभक्तोऽनेकार्थो यस्मिंस्तदविभक्तानेकार्थम्, किं तत्? कारणमस्य पृथिव्यादेः तदविभक्तानेकार्थकारणं पृथिव्यादि, न विभक्तसुखाद्यनेकार्थात्मकैककारणपूर्वकम्। विभक्ता वृत्तिरस्य[7] पृथिव्यादेस्तद् **विभक्तवृत्ति** पृथिव्यादि, सा वृत्तिः पृथिव्युदकघटादित्वापत्तिः। **मयूरग्रीवादीति,** ग्रीवाब[8]र्हशिखण्डादिवृत्तिर्विभक्ता तदात्मानेकार्थाविभक्ताण्डकरसगतकारणैव। **दध्यादिवृत्तिः** क्षीरपूर्वा, **आदिग्रहणात्** पुं[9]नः शुक्ररसरुधिराङ्गोपाङ्गादि। **व्रीह्यादि** पूर्वोक्तम्, **आदिग्रहणा**दाम्रपनसमातुलुङ्गादिपत्रपुष्पफलादिवृत्तिस्तदात्माविभक्तपूर्वा। दृष्टान्तबाहुल्यं व्यापित्वप्रदर्शनार्थम्। **उक्तवक्ष्यमाणवत्,** वत्करणं प्रत्येकमभिसम्बध्यते उक्तवद् वक्ष्यमा[10]णवत्। पुरुषनियत्याद्यभिन्नैककारणवदित्युक्तवत्, 'घट एव सर्वम्' इति विधिनियम [11]एवं वक्ष्यमाणवत्। एव तावत् कारणमयवादो यथास्माभिरिष्टस्तथा घटते, न यथा त्वयेष्ट इत्युक्तम्।

इदानीं त्वत्पक्षे दोषा वक्ष्यन्ते—प्रकाशप्रवृत्तिनियमानां तु **भिन्नात्मकै[12]तायां सत्त्वं न प्रकाशेत** इति प्रतिज्ञा दिङ्मात्रत्वेन, **अप्रवृत्तत्वात्, पुरुषवत्।** त्वयैव हि प्रधानावस्थायामप्रवृत्ता[13]ः समा इतीष्यन्ते गुणाः सत्त्वादयः, तस्मात् सिद्धमप्रवृत्तत्वम्। **पूर्ववद्वेति** प्रधानावस्थायामिवेत्यर्थः, यथा प्रधानावस्थायामप्रवृत्तत्वान्न प्रकाशते सत्त्वमेवमुत्तरकालमपि। तथा रजस्तमसोः प्रवृत्तिनियमनिषेधः कार्यः। **अनग्निप्रकाशवद्वा,** यथाग्निरप्रवृत्तोऽप्रवृत्तिलब्धात्मा अनग्निः, अनग्निश्[14]च न प्रकाशते, तथा सत्त्वमलब्धप्रवृत्ति

१ 'कस्य वा न मनोरथ कथं भवानेकमेव कारणमनेककार्यतया विपरिवर्तमानमित्येतत् प्रतिपाद्येतेति ? तस्य च यथेष्टमस्तु सञ्ज्ञाकल्पना' इत्याशयको मूलपाठोऽत्र सम्भाव्यते॥ २ द्रश्यता पृ० २७८ प० ८, पृ० २०५-२, २२३-१, २॥ ३ °पत्तिप्र(त्ते, प्र?)वृत्ते° भा० पा० विना। अत्र °पत्तिप्रसक्ते° इत्यपि पाठ स्यात्॥ ४ °दिरिति प्र०॥ ५ ननु विभ° प्र०॥ ६ °पादिपासि त्वामेव न तु वे° भा०॥ ७ °स्य देस्तद् प्र०॥ ८ °ण्डकादि° भा०॥ ९ पुरा प्र०॥ १० °णत्वात् प्र०॥ ११ एव य०॥ १२ °कतया प्र०॥ १३ °त्तः प्र०॥ १४ °श्च प्रकाशते तथा य०। °श्च प्रकाशते। त। तथा भा०। अत्र °श्च 'प्रकाशते न, तथा' इत्यपि पाठ स्यात्॥

ननु प्रकाशात्मकत्वादेव सत्त्वस्य रजसा प्रवर्त्यत्वम्, अग्नेरिव सन्धुक्षणेन। यद्यप्रवृत्तोऽसावसत्तर्हि अप्रवृत्तत्वात्मत्वाद् वान्ध्येयवत्। एव हि कार्यं कारणे सद् यदि तद् वर्तते प्रवर्तते, अनारम्भात्, वर्ततेरस्त्यर्थत्वात्।

न, प्रकर्षेणावृत्तत्वात्। रजोनुग्रहात् तद्रूपव्यक्ति प्रकर्षेण वृत्तिः। न, रजसोऽपि सत्त्ववदपरिसमाप्तरूपत्वात्। रजसोऽपि हि तथा काशन व्यक्तिरिति प्रकाशात्मकसत्त्वानुग्रहाद् भवति, अप्रवृत्त च कथमन्यप्रवर्तने प्रवर्तेत?

अप्रवृत्तत्वान्न प्रकाशेत। आह—**ननु प्रकाशात्मकत्वादेवे**त्यादि, अप्रवृत्तत्वमसिद्धं **सत्त्वस्य रजसा प्रवर्त्यत्वात् अग्नेरिव सन्धुक्षणेन**, यथाग्निर्भस्मच्छन्नः सन्नपि न प्रकाशते, तुषचीवरेन्धनादिभिस्तु सन्धुक्षितः प्रकाशते, न चाप्रकाशमानोऽग्निर्न भवतीति। अत्रोच्यते—**यद्यप्रवृत्तो**ऽग्निस्तस्यामवस्थायाम- १९७ सन्नेवाग्नौ, अतोऽस्मदिष्टमप्रकाशत्वमेव गमयति, अग्नेर्हि एषा काचित् प्रकाशनस्य मात्रा सैवात्मा, प्रकाशनात्मप्रवृत्त्यभावात् तदासौ तर्ह्यसन् वन्ध्यापुत्रवत्, तथा गुणमप्यप्रवृत्तत्वादिति। **एव** हीत्यादि, कारणे कार्यस्य सत्त्वमेव हि स्याद् यदि तत् सत्त्वं प्रकाशात्मना प्रवर्तते, अनारम्भात्। इतरथा अर्थान्तरसम्बन्धारम्भत्वादसत्कार्यवाद एवायमपि स्यात्, यथाहुरसत्कार्यवादिनः “क्रियागुणव्यपदेशाभावादसत्, समवाय्य समवायिकारणसम्बन्धे सति द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते, येषां चाधिकृतमारम्भसामर्थ्यं तैरारब्धे कार्यद्रव्ये तत्समवेता नियमत एव गुणाश्च गुणान्तरमारभन्ते’ इत्यारम्भवाद प्रसज्यते, स चानिष्टः। तस्मादनारम्भाद् वर्तते सत्त्वं प्रकाशनात्मना, यस्मादे**व हि कार्यं कारणे सद् यदि** सत्त्वं **वर्तते प्रवर्तते**। किं कारणम्? **अनारम्भात्** आरम्भवादपरित्यागात्। कुतो वर्तते प्रवर्तत इति पर्यायकथनमिति चेत्, उच्यते—**वर्ततेरस्त्यर्थत्वात्**, वर्ततेऽस्ति भवति प्रवर्तत इति पर्याया। इतर आह—**न, प्रकर्षेणावृत्तत्वात्**। न हि वर्तति प्रवर्ततिपर्याय प्रकर्षार्थेन ‘प्र’शब्देन विशिष्टाया वृत्तेरन्यार्थत्वात् वर्तनमात्रस्याविवक्षितत्वात् प्रकृष्टवृत्तिविवक्षितत्वात्। सा च **रजोऽनुग्रहात् तद्रूपव्यक्ति प्रकर्षेण वृत्ति**, रजसानुगृहीतस्य सत्त्वस्य बीजस्येवाम्बाद्यनुगृहीतस्योच्छूनाङ्कुरत्वादिवृत्ति सृष्ट्यभिमुखी सृष्टिरेव वा सात्र विवक्षितेति। अत्रोच्यते—**न, रजसोऽपि सत्त्ववदपरिसमाप्तरूपत्वात्**। तस्यां ह्यवस्थायां रजः प्रवृत्तिलभ्यप्रकाशात्मरूपव्यक्तिसत्त्ववद् **रजसोऽपि हि** स्वरूपव्यक्तिरसमाप्तरूपैव सत्त्वात् प्रतिलभ्यत्वात्। लब्धात्मवृत्ति हि १९८ स्वयं सद् रजः सत्त्वे प्रकाशनप्रवर्तनाय समर्थं स्यात्, अप्रकाशितस्य सत्त्वेन तस्य स्वरूपव्यक्तिरेव नास्ति, कुतः सत्त्वप्रकाशात्मप्रवर्तना रजसः? **तथा काशन** प्रवर्तकत्वेनाभिव्यक्ति, काशनमेव हि स्वरूपव्यक्ति**रिति प्रकाशात्मके**त्यादि यावत् **प्रवर्तेते**ति गतार्थम्, अप्रतिलब्धात्मनोऽननुग्रहात्।

---

१ दृश्यतां पृ० २७२ पं० १९ पृ० २०६-२ ॥ २ दृश्यतां पृ० २०६-१ ॥ ३ ग्निर्भव य० ॥ ४ इतरथान्तर° प्र० ॥ ५ ‘क्रियागुणव्यपदेशाभावादसत्कार्यम् ।९।१।१। द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरमारभन्ते ।१।१।१०।— इति वैशेषिकसूत्रे ॥ ६ तत्त्व य । तत्व (तत्र?) भा० ॥ ७ प्रवर्तति प्रवर्ततिपर्याय भा० । प्रवर्तति प्रवर्त्तत्तिपर्याय य० ॥ ८ प्रवृ य० ॥ ९ वर्तमानमात्र प्र० ॥ १० °स्यैवाद्यनुगृ प्र० ॥

एवं तु नानयोरितरेतरानुग्राहिता उत्थाप्यसाहायकशक्तित्वाद् वाताहतनौद्वयवद् ग्लानशिविकावाहकवत् । असम्पूर्णशक्तिना वाऽप्रकर्ष इति कारणत्वेव न स्यात् तस्य असम्पूर्णशक्तित्वादुपहतबीजवत् । असदकरणादितश्चान्यतो न तत्स्वरूपव्यक्तिः । यदा च सुदूरमपि गत्वा प्रागवृत्तेरसत्कार्यत्वं मा भूदिति प्रकर्षः परिणामादेव तदा युवत्ववदात्ममात्रवृत्तित्वमेव परिणामस्यान्यत्र वृत्तस्यान्यत्रापरिणामकत्वात्, नान्यत्र वृत्तोऽन्यदन्यथा करोति ।

एवं त्वित्यादि । नानयोः सत्त्वरजसोरितरेतरानुग्राहिता उत्थाप्यसाहायकशक्तित्वात्, सहायभावः साहायकम्, तस्मिन्नेव तदेव वा शक्तिः, सा उत्थाप्या ययोस्तदानीमेव ते वस्तुनी उत्थाप्यसाहायकशक्तिनी, तद्भावादुत्थाप्यसाहायकशक्तित्वाद् वाताहतनौद्वयवत्, यथा जलेऽन्योन्यबद्धे द्वे नावौ नेतरेतरत्राणाय तथा सत्त्वरजसी । शिविकावाहकवदितरेतरानुग्राहिता किं न भवेदिति चेत्, न, 'उत्थाप्य'विशेषणात्, अयमेव हि दृष्टान्तो ग्लानशिविकावाहकवत्, यथा ग्लानोऽनुत्थापितो न शक्नोति वोढुमुत्थाप्यसाहायकशक्तित्वात् तथानुत्थापिते सत्त्वरजसी न शक्नुतः परस्परं प्रवर्तयितुं स्वयमलब्धात्मके इति प्रकर्षवृत्तेरभावः, प्रकर्षवृत्त्यभावादसम्पूर्णशक्तित्वात आह – असम्पूर्णशक्तिता वाऽप्रकर्ष इति इत्थं कारणत्वेव न स्यात् तस्य सत्त्वस्य असम्पूर्णशक्तित्वादुपहतबीजवत्, यथोपहतं बीजमसम्पूर्णाङ्कुरोत्पादनशक्तित्वान्न कारणमेवं सत्त्वमपि स्यात् । अभ्युपेत्यापि कारणत्वं साम्यावस्थायां सत्त्वस्य असदकरणादितश्चान्यतो न तत्स्वरूपव्यक्तिः, तस्य सत्त्वस्य प्रकाशनस्वरूपप्रकर्षोऽन्यतो रजस्तमसोः पुरुषतोऽन्यतोऽन्यतो वा कुतश्चिन्न भवति असदकरणादिभ्यो हेतुभ्यः, तद्यथा – असदकरणाद् यथा मृदि सदेव कार्यं घटादि क्रियते न खपुष्पादि, स च मृदः स्वात्मनियतो घटात्मस्वरूपव्यक्तिप्रकर्षो नान्यतः पुरुषादेस्तन्त्वादेर्वापत्तिकारणाद् भवति, किं तर्हि ? स्वत एव भवति, तथा सत्त्वस्वरूपव्यक्तिप्रकर्षो नान्यतो भवति, किं तर्हि ? स्वत एव । एवम् उपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम् [साङ्ख्यका० ९] इत्येतेभ्यो हेतुभ्यः सत्त्वगुणोऽन्यनिरपेक्षस्वरूपव्यक्तिप्रकर्ष इति ग्राह्यम् । एवं सत्त्वस्य प्रकाशनं तमसा सह योज्यं रजसश्च प्रवर्तनमिति ।

१३८-२

'किञ्चान्यत्, यदा च सुदूरमपीत्यादि यावत् परिणामकत्वात् । सुदूरमपि विचाराध्वना गत्वा न प्रागवृत्तेरसत्कार्यपरिहारेण प्रकर्षः परिणामवादादृते, अतः परिणामः प्रकर्षेण वृत्तः कारणमेपितव्यम् । यदा चैवं तदा परिणामाभ्युपगमेन पुनरप्येतदेवापन्नम् – परिणामादात्मन्येव वर्तते युवत्ववत्, अन्यत्र वृत्तस्य परिणामस्यान्यत्रापरिणामकत्वात्, जिनदत्ते वृत्तः परिणामो न साधुदत्ते कौमारयौवनादि प्रवर्तयति कौमारं वा यौवनं वा, किं तर्हि ? जिनदत्त एव करोति, ना[न्यत्र वृत्तोऽ]न्यदन्यथा करोति यथा, तथा न सत्त्वे प्रवृत्तिं कश्चिदन्यः कुर्यात्, स्वत एव प्रवर्तेतेति ।

---

१ दृश्यतां पृ० २०७-१ ॥ २ अन्योन्यमाबद्धे इत्यर्थः । दृश्यतां पृ० ३४ टि० ५ ॥ ३ °त्यादि कारणत्वं साम्यावस्थायां प्र० ॥ ४ "असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम् ॥ ९ ॥"—साङ्ख्यका० ॥ ५ स्वरूप° प्र० ॥ ६ चान्यत् किं य० ॥ ७ °मपीति य० ॥ ८ °रात्मना प्र० ॥ ९ °दाहृतेनः परि° भा० । °दादृतेन परि° य० ॥ १० दृश्यतां पृ० २०७-१ ॥

पूर्ववदुदाहरणादेवाप्रवृत्त्यात्मकत्वं सुखस्य, को हि विशेषो रज प्रवर्तनादृते क्षीरदधिपरिणामकालवत् पश्चात् प्रवृत्तं पूर्वं च न प्रवृत्तमिति ? न, परिणामस्य तत्रैवोक्तत्वात् प्रकाशात्मैव वृत्तिः, इतरथा स प्रकाशो न स तथाऽप्रवृत्तत्वात् तथाऽभूतत्वाद् घटपटवत् । यैव च प्रवृत्तिः स एव प्रकाशः, तथावृत्तत्वात्, घटघटस्वात्मवत् ।

प्रवर्त्यप्रवर्तकत्वात् पल्लवपवनवन्नेति चेत्, न, तदात्मन एव प्रवृत्तत्वात् सन्निधिमात्रात् पूर्ववदप्रवर्तनात् । य एवासौ सत्त्वस्यात्मा प्रकाशः स प्रवर्तकस्तथा-

---

एवं तावदप्रवृत्तप्रवृत्तिप्रतिषेधार्थेनाग्निप्रकाशदृष्टान्तप्रसङ्गागतवादर्मनतार्थं पूर्ववदुदाहरणे प्रसङ्गमुत्थापयिष्यन्नाह—पूर्ववदुदाहरणादेवेत्यादि यावन्न प्रवृत्तमिति । नन्वेतत् त्वयाभ्युपगतं पूर्वावस्थोदाहरणादेव 'पाश्चात्त्यावस्था विशिष्टा' इति । अन्यथा हि को विशेषः पूर्वापरावस्थयो रज प्रवर्तनादृते ? १९९
तस्मात् स विशेषो रज प्रवर्तनादेव । को दृष्टान्तः ? क्षीरदधिपरिणामकालवत्, यथा क्षीरावस्थातो दधित्वपरिणामावस्था विशिष्टा पूर्वं क्षीरकाले न दध्यासीत् पश्चाद् भूतमिति दृष्टम्, प्रकम्पवृत्त्या च विना न भवत्ययं विशेषस्तथा सोऽपीति । एतच्च, परिणामस्य तत्रैवोक्तत्वात्, नायं विशेषः परस्य सिध्यति, कुतः ? परिणामस्य तत्रैव सुखेऽभ्युपगम्यास्माभिरुक्तत्वात् । यस्मात् प्रकाशात्मैव वृत्तिः, प्रकाशस्य य स्वात्मा स एव वृत्तिः, प्रकाशस्यैव च वृत्तिः काल, स च ततोऽनन्यः, क्षीरदधिपरिणामावस्थयोः कालान्यत्वात् क्षीरदधित्वापत्तिः कालभेदात्, स च परिणामः सुखस्यात्मेति नान्यत् कारणं मृग्यं स्वात्मन एव परिणामात् । इतरथा स प्रकाशो न स, स प्रकाश एव यदि प्रवृत्तिविशेषो न स्यादन्यात्मा स्यात् स एव प्रकाशात्मा न स्यात्, तथाऽप्रवृत्तत्वात् तेन प्रकाशात्मप्रकारेणाप्रवृत्तत्वात्, पर्यायेण तमर्थं स्फुटीकुर्वन्नाह—तथाऽभूतत्वादित्यय । दृष्टान्तो घटपटवत्, यथा घटः पटो न भवति तेन प्रकारेणाभूतत्वात् पटोऽपि घटो न भवति तथा स प्रकाशोऽप्रकाश एव स्यादिति । विपर्ययेण तत्स्वरूपसाधनमुच्यते—यैव च प्रवृत्तिः स एव प्रकाशो नान्यः कश्चिदयं इति प्रतिज्ञा, तथावृत्तत्वात् तथाप्रवृत्तत्वादित्यर्थः घटघटस्वात्मवत्, यथा घटप्रकारेण घटात्मनैव वृत्तत्वाद् घट एव घटस्वात्मा नान्यत् किञ्चित् तथा प्रवृत्तिरेव प्रकाश इति ।

प्रवर्त्यप्रवर्तकत्वात् पल्लवपवनवन्नेति चेत् । स्यान्मतम्—'यैव प्रवृत्तिः स एव प्रकाश' इत्य- १९९
युक्तं प्रवर्त्यप्रवर्तकयोर्भेदात्, प्रवर्त्यं हि सत्त्वं प्रवर्तकं रज, तस्मात् प्रवर्त्यप्रवर्तकत्वात् तयोर्भेदः पल्लवपवनवत्, यथा पल्लवपवनौ प्रवर्त्यप्रवर्तकौ परस्परतो भिन्नौ तथा सत्त्वरजसी इति । एतच्च न, तदात्मन एव प्रवृत्तत्वात्, तस्यात्मा तदात्मा, तदात्मनः प्रकाशात्मन एव प्रवृत्तत्वात्, सत्त्वरजसोर्भेदासिद्धेः पल्लवपवनवद् भेदसाधर्म्याभावान्युक्तोऽयं दृष्टान्त इति वक्ष्यति । तद्व्याख्यानार्थमाह—सन्निधिमात्रात् पूर्ववद-

---

१ दृश्यतां पृ० २०७-१ ॥ २ दृश्यतां पृ० २०७-२ ॥ ३ दृष्टिप्र प्र० । दृश्यतां पृ० २७० पं० ५ ॥ ४ °सय(प्र?)स्याय प्र० ॥ ५ दृश्यतां पृ० २७० पं० ४ ॥ ६ पूर्वस्त्री प्र० ॥ ७ घटपट प्र० ॥ ८ दृश्यतां पृ० २७४ पं० ४ ॥

प्रवर्त्यव्यक्तिस्वरूपः, तथाव्यापारणाद् रजःप्रवृत्त्यात्मरूपापादनादितरतथात्मरूपापादनाद् रजोवत्। रजोऽपि हि इतरतथास्वरूपापादनादृते किमन्यत् करोति ?

एवं च पल्लववद् रज एवापद्यते तथा प्रकाशस्य प्रवर्त्यत्वात् । तथाप्रकाशानतिरिक्ततत्त्वरूपत्वाद्वा प्रवृत्तेः कुतोऽपल्लवपवनभेदसाधर्म्यम् ? युज्यते हि पल्लव-

---

प्रवर्तनात्, इह रजः सन्निहितमपि प्राक् सन्निधिमात्रादेवाप्रवर्तकं स्वयमप्रवृत्तं सत्त्वाधीनप्रवृत्तित्वात्, किन्तु प्रवर्त्यमप्रवर्तनात्। कस्तर्हि प्रवर्तकः ? उच्यते — य एवासौ सत्त्वस्यात्मा प्रकाशः । कथमिति चेत्, उच्यते — तथाप्रवर्त्यव्यक्तिस्वरूपः, तेन तेन प्रकारेण शब्दादिनिर्वर्त्यप्रकारेण प्रवर्त्यव्यक्तिस्वरूपः प्रकाशो नर्तकाचार्य इव भ्रूक्षेपणादिप्रवर्तनाभिव्यञ्जनात्मना नर्तक्याः प्रवर्तमानः प्रवर्तकः । किं कारणम् ? तथाव्यापारणात्, तेन व्यक्तिरूपेण प्रवर्तमानस्य रजसो व्यापारणात्, सत्त्वेनैव हि प्रकाशनरूपेण प्रवर्तमानेन रजः प्रवर्त्यते, तस्मात् सत्त्वस्यात्मा प्रकाशस्तथाव्यापारणाद् रजसः प्रवर्तक इति त्वदभिमतप्रवर्तकत्वविपर्ययापत्तिरेव रजसः प्रवर्त्यत्वात् सत्त्वेन सत्त्वाधीनप्रवृत्तित्वात् सत्त्वस्यैव प्रवर्तकत्वात् पक्षधर्मविपरीतता चेति । तच्च सत्त्वस्य प्रवर्तकत्वं रजःप्रवृत्त्यात्मरूपापादनात्, रजसो हि प्रवृत्तिरात्मा, तदेव रूपं रजःप्रवृत्त्यात्मरूपम्, तदापाद्यते सत्त्वेन सत्त्वाप्रकाशिते प्रवृत्त्यभावात्, सत्त्वापादितं प्रवृत्त्यात्मकरूपं रजः,
२००-१ तस्माद् रजःप्रवृत्त्यात्मरूपापादनात् सत्त्वं प्रवर्तकम् इतरतथात्मरूपापादनाद् रजोवत् । रजोऽपि हि इत्यादि, रजसोऽपि हि प्रवर्तकत्वमित्थमेव युज्यते, रजोऽपि हि यस्मात् त्वन्मतेन प्रवर्तमानमितरयोः सत्त्वतमसोस्तथास्वरूपापादनादृते किमन्यत् करोति ? प्रवृत्तिरूपमेवापादयत् प्रवर्तकमितीष्यते, नान्यथा । यथा तत् पूर्वं प्रकाशनियमात्मभ्यामप्रवृत्तयोस्तयोः प्रवर्तनादेव प्रवर्तकमेवं सत्त्वमितरतथास्वरूपापादनात् प्रवर्तकमस्तु, को दोषः ?

एवं च पल्लववद् रज एवापद्यते, एवं च कृत्वोक्तविधिना पल्लवस्थानीयं प्रवर्त्यं रज एव न प्रवर्तकम्, सत्त्वमेव च प्रवर्तकं पवनस्थानीयं न प्रवर्त्यमित्यापन्नम् । किं कारणम् ? तथा प्रकाशस्य प्रवर्त्यत्वात्, यस्मात् तेन प्रकारेण प्रवर्त्यत्वं रजसः प्रकाशेन तस्माद् रजसः प्रकाशेन प्रवर्त्यत्वादित्यर्थः, उक्तं हि — रजसः प्रवृत्तिरात्मरूपम्, तदापादयति प्रकाशः प्रकाशाप्रकाशिते रजसोऽप्रवृत्तेः [ ] इति । तस्मात् प्रकाशेन तथा प्रवर्त्यत्वाद् रजसः साधूक्तम् — तदात्मन एव प्रवृत्तत्वादिति । एवं तावत् सत्त्वरजसोर्भेदमुपगम्य हेतोरसिद्धिर्विपर्ययश्च उक्ता, नैव वा सत्त्वव्यतिरिक्तं रजोऽभ्युपेम इत्यत आह — तथाप्रकाशानतिरिक्ततत्त्वरूपत्वाद् वा प्रवृत्तेः, व्याख्यातप्रकारस्य प्रकाशस्य तत्त्वमतिरिच्य नास्ति प्रवृत्तेः स्वरूपम्, तत एव हेतोः कुतोऽपल्लवपवनभेदसाधर्म्यं सत्त्वरजसोरभिन्नत्वात् पल्लवपवनयोर्भिन्नत्वात् ?

---

१ दृश्यतां पृ० २०८-२ ॥ २ °क्याः प्रवर्तमानप्रवर्तकः डे० लीं० र० ही० । °क्याः प्रवर्तकः भा० ॥ ३ सतस्यात्मा प्र० ॥ ४ °त्वात्मत्वेन भा० ॥ ५ सर्वं प्र० ॥ ६ इतरथात्म° प्र० ॥ ७ °कमि° य० ॥ ८ °रथा° य० ॥ ९ "कृत्यानां कर्तरि वा" [पा० २।३।७१] इति सूत्रेण उभयोरपि षष्ठीतृतीयाविभक्त्योर्न्याय्यत्वाद् वृत्तिकृता अस्य पदस्य 'प्रकाशेन' इति व्याख्यानेऽपि न दोषः । दृश्यतां पृ० २०८-२ ॥ १० °शितरजसो° र० ही० ॥ ११ दृश्यतां पृ० २७३ प० ६ ॥ १२ रजोऽभ्यपेम प्र० ॥

व्यतिरिक्ततत्त्वरूपः पवनः प्रवर्तयति पल्लवं न तु तथाप्रकाशातिरिक्ततत्त्वरूपा प्रवृत्तिरस्ति।

न तद्रूपत्वमतद्वृत्तित्वादिति चेत्, न, रजःस्वप्रवृत्तिवत् तदात्मन एव प्रवृत्तत्वात्, अन्यथा हि न प्रकाशेतेत्युक्तत्वादन्यथा तु प्रवृत्त्यभावात्।

स्यान्मतम्—प्रकर्षेण काशनं प्रकाशनं प्रवृत्तिवत्। न, सत्त्वस्यापि रजोवदपरिसमाप्तरूपत्वात् प्रवर्तकाभावस्य चापर्याप्तत्वेनोक्तत्वात्।

एवं चैकैव विनिद्रावस्थापुरुषत्ववत् प्रवृत्तिः प्रधानमिति तन्मात्रमेव तत् प्रवृत्त्यापत्तिरूपनिरूप्यत्वात् प्रवृत्तिस्वात्मवदित्यादि भङ्गचक्रावर्तनम्,

---

न्तिदृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यं दर्शयति—यथेहापल्लवलक्षणः पवनो लोके भिन्न इति दृष्टः अपवनलक्षणश्च २०० २ पल्लवः, युज्यते हि पल्लवव्यतिरिक्ततत्त्वरूपः पवनः पल्लवमात्मनः प्रवर्तयति पल्लवं पल्लवश्च तेनाहतः प्रवर्त्यते तद्व्यतिरिक्ततत्त्व इति न तु तथाप्रकाशातिरिक्ततत्त्वरूपा प्रवृत्तिरस्ति उभयोः शब्दाद्याविर्भावमात्रफलत्वात्, अतो वैषम्यमिति।

न तद्रूपत्वमतद्वृत्तित्वादिति चेत्। स्यान्मतम्—प्रकाशनमात्रं सत्त्वस्य प्रवृत्तिर्निर्वर्तनं तु रजसः, तस्मात् सत्त्वस्याप्रवर्तकत्वादतद्वृत्तित्वान्न प्रवृत्तिरूपत्वमिति। एतच्च न, रजःस्वप्रवृत्तिवत् तदात्मन एव प्रवृत्तत्वात्, यथा रजसः स्वा प्रवृत्तिः प्रागवृत्तापि पश्चात् स्वत एव रजःस्वात्मना प्रवर्तमाना रजसोऽनिनाभूतत्वात् तदत्यागेन वृत्तेस्तदधीनत्वात् तद्रूपैव तदात्मन एव प्रवृत्तत्वात्, तथा सत्त्वप्रकाशप्रवृत्त्यनतिरिक्ततत्त्वरूपा रजःप्रवृत्तिर्नान्या प्रकाशाधीनत्वात् तदविनाभावात् तदपरित्यागेन वृत्तेस्तदात्मन एव प्रवृत्तत्वादिति। किञ्चान्यत्, अन्यथा हि न प्रकाशेतेत्युक्तत्वात्, एवं प्राक् सत्त्वं न प्रकाशेत अप्रवृत्तत्वात् पूर्ववत् पुरुषवदनग्निप्रकाशवत् अप्रवृत्तस्वात्मत्वाद् वाच्येयवत् इति तथैव, अन्यथा तु प्रवृत्त्यभावात् प्रकाशाप्रकाशिते रजसोऽप्रवृत्तेः, तस्माद् रजसोऽप्यन्यथा वृत्त्यभावात् प्रकाश एव प्रवृत्तिरिति। स्यान्मतम् प्रकर्षेण काशनं प्रकाशनमित्यादि तत्रैव यावत् प्रवृत्तिवदिति प्रासङ्गिकम्। तत्रापि च सत्त्वस्यापि रजोवदपरिसमाप्त[रूप]त्वादित्यादि अक्षरपरिवर्तनं यथायोगं यावदुद्ग्राह्यग्राहायकशक्तिवाद् वाताहतवीणावद् ग्यानशिविकावाहकवद् यानवद्वा उपहतवीनवदिति वाच्यम्। तस्मादिति व्याख्यातार्थं प्रवर्तकाभावस्य चापर्याप्तत्वेनोक्तत्वादिति।

एवं चैकैव विनिद्रावस्थापुरुषत्ववत् प्रवृत्तिः प्रधानमिति तन्मात्रमेव तत्। एवं च कृत्वा विनिद्रावस्थायाः पुरुषत्ववत् प्रवृत्तेरेव प्रधानत्वमिति तन्मात्रमेव तत् प्रधानं प्रवृत्तिमात्रमेव। किं कारणम्? प्रवृत्त्यापत्तिरूपनिरूप्यत्वात् प्रवृत्तिस्वात्मवदित्यादि भङ्गचक्रावर्तनमिति विनिद्रावस्थापुरुषत्वापादनं प्रथमसमादृष्टयादनिर्दिशति। तद्यथा—यथा विनिद्रावस्थैकलक्षण एव पुरुष आत्यन्तिकनिद्रानिगमन

---

१ दृश्यतां पृ० २०९-१॥ २ दृश्यतां पृ० २०९-२॥ ३ रूप पवन पल्लव पल्लवमा भा० ल० लीं०। रूप पल्लव पवन पल्लवमा पा० वि० डे० ही०॥ ४ त्तिनिर्वर्तन भा०। त्तिनिवनन य०॥ ५ त्वादि प्र०॥ ६ यदग्नि प्र०। दृश्यतां पृ० २०० पं० ५॥ ७ दृश्यतां पृ० २७१ पं० २॥ ८ दृश्यतां पृ० २७१ पं० ५, पृ० २०९-१॥ ९ चैवमपि य०। दृश्यतां पृ० २०९-२॥ १० दृश्यतां पृ० २४८ पं० २॥

प्रवृत्तिस्वात्मैव वा त्रीणीति पुरुषावस्थावत् ।

रूपनिरूप्यत्वाद् विनिद्रावस्थास्वात्मवदिति तथा प्रवृत्त्येकलक्षणमेव प्रधानं प्रवृत्त्यापत्तिरूपनिरूप्यत्वात् प्रवृत्तिस्वात्मवत्, [1]*न ह्यसावितरात्मिका स्ववृत्तित्यागापत्तेः । तन्मात्रत्वे तु प्रधानस्यापि तद्वत् प्रकाशाद्यनात्मकत्वादसर्वगतत्वम् ।

अथ[2] प्रवृत्तिलक्षणमपि न प्रवृत्तिमात्रमेव प्रधानं सर्वत्वात्, न[3] तु सर्वाणि एकस्यैव सर्वत्वात्, प्रवृत्तिरपि सर्वत्वात् प्रवृत्त्यात्मिका सती न प्रवृत्तिमात्रैव प्रवृत्तिलक्षणत्वात् प्रधानस्वात्मवत्* । ततश्च प्रतिगुणं तस्याः सर्वात्मकत्वात् तृणाद्यपि सर्वगतमिति किं 'प्रधानैकत्वम्' इति कल्पनया ? अतल्लक्षणत्वा[4][द्वा] प्रवृत्तिगुणाभावः, ततश्च तत्तत्त्वत्रिगुणसर्वात्मकप्रधानाभावः ।

अथ[5] प्रवृत्तिलक्षणविपरीतमपि प्रधानं प्रधानमेव अवधारणभेदात्, गुणस्वात्मनि 'गुण एव लक्षणम्' इत्यवधारणम्, प्रधाने तु 'प्रवृत्तिर्लक्षणमेव' इतरयोरप्यत्यागात्, तद्ध्यनेकरूपं मेचकवत् । न,
२०१० उक्तवदवधारणस्यान्याय्यत्वात् प्रतिज्ञातव्याघाताद् घटरूपादित्ववत्, प्रधानत्वं प्रागुक्तं गुणानाम् 'अजामेकां[6] लोहितशुक्लकृष्णाम्' इत्यादि, इदानीं पृथक्स्वात्मानस्त उच्यन्ते इति तत्त्वं प्रधानस्य, न प्रधानत्वं तेषाम्, रूपादिघटत्वपक्षवत् । यदा च तेषामेव तत्त्वं ततस्तेषां [तथा] तथेतरेतरात्मसु अभावादवधारणभिन्नभिन्नार्थत्वाद् ननु तदेव सर्वासर्वगतत्वमिति लोकवदेव तत्त्वापत्तिः ।

अथ सर्वसर्वात्मकत्वादविकल्पशब्दार्थत्वा[7][द]लक्षणमेव कथं तर्हि त्रिगुणवर्णनमनेकात्मकसर्वगतत्वभा[8]वनं च ? यदि अस्यैकैकः प्रत्येकं गुणो न भवति ततोऽस्य कुतोऽसत्त्वात् तदेकत्वापत्त्यात्मिका अविकल्परूपता ? न हि पृथगवृत्ते रूपे मेचकात्मके भवतः । असदेव तु तदेवम्, अगुणत्वेऽन्यात्मकत्वात्, खपुष्पवत् । त्वदुक्तेरेव च [न] तल्लक्ष्यं नार्थो न वस्तु, अलक्षणत्वात्, खपुष्पवत् ।

अथात इतश्चान्यतरोपादानपरित्यागायुक्तत्वात् तल्लक्षणाभावादस्यां[9]वाच्यतैव, तथा तत्रैव स्यात् प्रवृत्त्या सहैकत्वान्यत्वे प्रत्यवचनीयत्वात्, न तदेकं नान्यद् वाच्यम्, निरुपाख्यत्वात् । यत्तु सत् तत् प्रवृत्त्या सहैकत्वान्यत्वे प्रति वचनीयम्, यथा प्रवृत्तिस्वात्मा प्रकाशनियमात्मानो वा अन्यतरोपग्राहपरित्यागायुक्तत्वादपि च न[10]नूभययुक्तत्ववाच्यत्वाभ्युपगम एव पितृपु[11]त्रवत् ।

प्रवृत्तिस्वात्मैव वा त्रीणीति पुरुषावस्थावदिति । यथैव हि यदि पुरुषस्वात्मा अवस्थाः न त[12]र्हि ना अनवस्थ[13]त्वात् खपुष्पवदिति तथैव यदि प्रधानस्वात्मा गुणा न तर्हि प्रधानम्, अ[14]गुणत्वात्,
२०२-१ खपुष्पवत् । अभ्युपगमेऽपि तु प्रधानस्य गुणानां त्रयाणामप्यैक्यं प्रधानस्वात्मत्वात् प्रधानवदिति स[15]र्वत्वसम्भाव्याभावादेव सर्वाव्यापिता । प्रवृत्तिगुण एव हि प्रकाशगुणः प्रवृत्तिस्वात्मत्वात् प्रवृत्तिवत्, एवमितरोऽपि । प्रकाश एव प्रवृत्तिः प्रकाशस्वात्मत्वात् प्रकाशवत्, एवमितरोऽपि । नियम एव च प्रवृत्तिः नियमस्वात्मत्वाद् नियमवत्, एवमितरोऽपि । य एव चान्यो गुणः स एवेतरोऽपि एकस्वात्मत्वात् स इव [इति] 'प्रकृतिरेवेदं सर्वम्' इत्यतिदेशाभावो भेदाभावात् ।

उपवर्णनभिन्नरूपव्यतिकरसङ्कराभ्यां त्वेवमतथात्वमेषामस्य च तत्त[16]स्वात्मत्वादिति प्रधानगुण-

---

१ * * एतच्चिह्नान्तर्गत पाठो य० प्रतिषु नास्ति ॥ २ दृश्यता पृ० २४९ प० १ ॥ ३ वाक्यमिदं पृ० २४४ पं० १२ इत्यत्रापि दृश्यते ॥ ४ °त्वाप्र(त्वात्प्र?)वृत्ति° प्र० ॥ ५ दृश्यता पृ० २४९ पं० ६ ॥ ६ दृश्यता पृ० २६६ पं० ६ । ७ °त्वालक्ष° भा० । °त्वाल्लक्ष° य० । दृश्यता पृ० २५१ प० ३,१६ ॥ ८ °भावगं च प्र० ॥ ९ °स्यादतैव भा० । °स्यदतैव य० । दृश्यता पृ० २५२ पं० ३ ॥ १० ननुरूपयु° य० ॥ ११ °पुत्रत्ववत् य० ॥ १२ तर्हि ता ना अन° प्र० । दृश्यता पृ० २५३ पं० ६ ॥ १३ °स्थात्वात् भा० ॥ १४ अ° प्रतिषु नास्ति ॥ १५ सर्वत्रस° प्र० ॥ १६ ततस्वात्म° प्र० । दृश्यता पृ० २५५ प० २ ॥

एवं चैकैकपूर्वकवादापत्तेरेव किमनेकात्मकैककल्पनया? सङ्घातपारार्थ्यादिभिस्तस्य चेतनादन्यत्वे स्थिताचेतनत्वैकत्वपरिणामित्ववृत्ति उक्तवत् स्थापितात्म-

---

व्यवस्थाऽभाव एव। उक्तवद्वा व्यवस्थानुमतौ प्रधानातिदेशस्त्याज्य । तत्त्यागे यदर्थमयमतिदेशोऽद्वैतैकान्तार्थस्तस्यैवासिद्धि यत् तदेकमेव सम्भाव्यते प्रधानं तस्याप्यनेकत्वेनैवमापद्यते, यत्स्वरूपाव्यतिरिक्तलक्षणा गुणा विना भेदेनोच्यन्ते तत् प्रधानमपि प्रधानेनाभिन्यासत्वादनवस्थितैकत्वतत्त्वप्रतिष्ठं 'प्रधानम्' इत्यतिन्द्रिय स्यात् प्रधानस्वात्मवाद् गुणवत् । प्रत्यक्षार्थेन्द्रियविषयताया वा व्यक्तभूतानित्यादिरूपार्थप्रधानपरमार्थता।

गुणास्त्वन्यत्वानेकत्व एव प्रधानम्। अनद्वयमन्ये ते तस्मात्, तद्रूपापरत्वनिवृत्त्वात्, गुणान्तरवत्। यतो गुणस्वात्मतत्त्वमस्य नेष्यते। प्रधानातिदेशात् तु पुन स्वपरविषयकृतभेदद्वारानभ्युपगमे कस्यचित् कथञ्चिदप्यन्यत्वानुपपत्तौ तेऽन्यान्यत्वापत्तिवत् पृथक् पृथक् प्रधानम्। अथ प्रधानलक्षणापि प्रवृत्तिर्न प्रधानं प्रधानमपि तर्हि न प्रधानं प्रधानलक्षणत्वात् प्रवृत्तिवत्। एवं दोषावपीति प्रधानाभाव एव, कुतोऽस्य सर्वगतता? तदभाव एव त्वयाभिप्राय एव प्रतिपाद्यते तन्मात्राभिमतनिरसनादुष्णत्वनिरसनेनाग्न्यभावप्रतिपादनवत्। २०१२

कृत भङ्गचक्रावर्तनम्, आपादितं चैकैकपूर्वकमिदं 'नानेकैकपूर्वकम्' इत्येतदापन्नमित्याह — एवं चैकैकपूर्वकवादापत्तेरेवेति अवधारणार्थत्वादेवकारस्य, ततश्च त्रिगुणप्रधानकारणकल्पनानर्थक्यमित्यत आह — किमनेकात्मकैककल्पनया? यदि प्रवृत्तिलक्षणं प्रधानमेवैकं प्रकाशनियमप्रवृत्तिरूपेण प्रवर्तते प्रवृत्तिरेव चैका त्रिगुणरूपा ततश्चोभयथाप्येकैककारणवाद एवेति पृथगात्मकत्रिगुणकारणकल्पनाव्याख्यायामम्मानम्। तस्मादेकात्मकैकमेव व्यक्त्यन्तरमहदहङ्कारेणाद्यनेकाकार भवति, यथा प्राग्वर्णितपुरुषादिकारणपूर्वानन्तप्रभेदजगत्सृष्टिसमर्थं यत् तदेवास्तु अनेकाकारम्, किं 'त्रिगुणम्' इत्येतावता? इति।

निश्चान्यत्, यद्यपि त्वदुक्तहेतुभि सङ्घातपारार्थ्यादिभि प्रकृतेरन्य पुरुष सिध्यति

सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थप्रवृत्तेश्च ॥ [साङ्ख्यका० १७] इति,

तथापि च तस्य कारणस्य चेतनादन्यत्वे सत्यैतानि स्वरूपाणि स्थितानि, चेतनस्य परस्यार्थं प्रवृत्तेरचेतनस्य भोक्तृत्वाद् रूपादिपरिणामिनोऽनन्तत्वेन तेनैवाचेतनत्वेनैकत्वं स्थितम्, न ह्यचेतनस्य भेदोऽस्ति, परिणामित्वं चास्य तत एव स्थितम्, आपत्तिभवनस्य रूपादिरूपस्य परिणामाख्यत्वात् तस्य च सन्निधिभवनाक्रियत्वात्, यथोक्त'' तेणं ते पोग्गला सुब्भिगंधत्ताए परिणमति ते चेव ते पोग्गला दुब्भिगंध

---

¹ दृश्यतां पृ० २०९-२ ॥ २ °कत्वेचमा प्र० ॥ ३ गुणस्य प्र०। दृश्यतां पृ० २५७ पं० २ ॥ ४ नवद्य प्र० ॥ ५ स्वविषयकृत प्र० ॥ ६ भाव एव त्वया(त्वदभि?)प्राय एव य०। °भाव एव भा०। दृश्यतां पृ० २५८ पं० ३ ॥ ७ पत्ति° भा ॥ ८ °स्यायाममात्र प्र० ॥ ९ °कार प्र० ॥ १० त्वार्थत्र ' जै० साङ्ख्यका० A B। त्वथ प्र मु° साङ्ख्यका० ॥ ११ चत्वो ह्यचेतनस्य भावेति चेतनऽचेतनस्य भोक्तृत्व निर्भमेव ॥ १२ त्वार्थं तेनै य०। त्वा तेनै भा० ॥ १३ °त्त तथैव ते पोग्गल परिणमति ते भा०। °तं मथेव ते प्पोग्गल परिणमंति ते य०। दृश्यतां पृ० २५७-१, २५८-२ ॥

स्वतत्त्वप्रवृत्तित्वात् किमिति न गम्यते मया वा किमिति नोच्यते सुखादनन्यदेव दुःखम्, अनात्मत्वेऽवरणाद्यात्मकत्वात्, अवधारणेन च वक्ष्यमाणसाधनान्तरापक्षिप्तान्यत्वो विपक्षाभावः सूच्यते, सुखस्यात्मवत्, अन्यस्याभावात्।

मोहेऽन्यत्वमिति चेत्, तन्निवर्तयिष्यते। अवरणाद्यात्मकत्वात् कुतोऽन्यत्व-

---

त्ताए परिणमंति [ज्ञाताधर्म०] 'त्ति। ततस्तस्य सङ्घातपारार्थ्यादिभिश्चेतनादन्यत्वे स्थिताचैतन्यैकत्व-
२०२ १ परिणामित्वानि वृत्तयोऽस्य तदिदं कारणं **स्थिताचैतन्यैकत्वपरिणामित्ववृत्ति**, न तु सुखमिति वा दुःखमिति वा मोह इति वा परमाणव इति वा कारणमित्येव वा। **उक्तवत्**, उक्तेन तुल्यमुक्तवत्, यथोक्तं भिन्नात्मकतायां तु सत्त्वं न प्रकाशेत अप्रवृत्तत्वादित्यतः प्रभृति यावदेषोऽवधिः. तद्वदुक्तवदेव **स्थापितात्मस्वतत्त्वप्रवृत्तित्वात्**, आत्मस्वतत्त्वेन स्थापिताऽस्य प्रवृत्तिरित्यतः **किमिति न गम्यते** त्वया वक्ष्यमाणसाधनवत् 'अनन्ये सुखदुःखे' इति, किं स्वपक्षरागाद् मोहाद्वा ? मया वा **किमिति नोच्यते ?** तत्त्वकथायां प्रस्तुतायां किमनुवृत्त्या आयतिलोपायशोभयादिनो वा ? इति। किं पुनस्तत् साधनमिति चेत्, **सुखादनन्यदेव दुःखम्, अनात्मत्वेऽवरणाद्यात्मकत्वात्,** वरण-मदना-ऽपध्वंसन-बीभत्स-दैन्य-गौरवाणि वरणादीनि, वरणादीन्यस्यात्मा कार्यं तद् वरणाद्यात्मकं तमः, न वरणाद्यात्मकमवरणाद्यात्मकम्, किं तत् ? दुःखम्, तस्यानात्मत्वे सति अवरणाद्यात्मकत्वात् सुखादनन्यत्वमेव। किमर्थं पुनः 'अनन्य-देव' इत्यवधार्यते ? उच्यते—**अवधारणेन च** 'सुखादनन्यदेव' इत्यनेन **वक्ष्यमाणसाधनान्तरापक्षिप्तान्यत्वो विपक्षाभावः सूच्यते**, वक्ष्यमाणं साधनं सुखादनन्य एव मोह इति. तेनापक्षिप्तमन्यत्वं तमसो-
२०३ २ ऽपीति विपक्षाभावः सोऽनेनावधारणेन सूच्यते। पुरुषस्तु स्यात् सुखादन्यत्वाद् विपक्षः, ततो व्यावर्तनार्थम् 'अनात्मत्वे सति' इति विशेषणम्। **सुखस्यात्मवदिति** दृष्टान्तः। यथाऽवरणाद्यात्मकत्वात् सुखस्यात्मा सुखादनन्य एवं दुःखमप्यवरणाद्यात्मकत्वात् सुखादनन्यदिति। **अन्यस्याभावादिति** हेतोरव्यभिचारव्याख्यानम्, सुखादनन्यत्वेन दुःखे साध्येऽनात्मत्वविशेषणेन आत्मनि निरस्ते साधनान्तरनिरस्ते तमसोऽन्यत्वे न किञ्चित् सुखादन्यदस्ति, तस्मादन्यस्य कस्यचिदभावाद् विपक्ष एव नास्ति। विपक्षाभावादेवावृत्तिरसपक्षेऽस्य हेतोरित्यव्यभिचारी हेतुः।

मोहेऽन्यत्वमिति चेत्, तन्निवर्तयिष्यते, व्याख्यातार्थस्फुटीक्रियार्थे चोद्योत्तरपक्षौ गतार्थौ न विव्रियेते। **अवरणाद्यात्मकत्वात् कुतोऽन्यत्वनिवृत्तिरिति चेत्,** स्यान्मतम्—वरणाद्यात्मकमोह-

---

१ "एवं खलु सामी! सुब्भिसद्दा वि पोग्गला दुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति, दुब्भिसद्दा वि पोग्गला सुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति। सुरूवा वि पोग्गला दुरूवत्ताए परिणमंति, दुरूवा वि पोग्गला सुरूवत्ताए परिणमंति। सुब्भिगंधा वि पोग्गला दुब्भिगंधत्ताए परिणमंति, दुब्भिगंधा वि पोग्गला सुब्भिगंधत्ताए परिणमंति। सुरसा वि पोग्गला दुरसत्ताए परिणमंति, दुरसा वि पोग्गला सुरसत्ताए परिणमंति। सुहफासा वि पोग्गला दुहफासत्ताए परिणमंति, दुहफासा वि पोग्गला सुहफासत्ताए परिणमंति। पओगवीससा वि य णं परिणया वि य णं सामी पोग्गला पण्णत्ता।" इति ज्ञाताधर्मकथासूत्रे पाठ १।१२।९६॥ २ दृश्यतां पृ० ४ टि० २॥ ३ °ना इत्यत्वे य०। °नारू इत्यत्वे भा०॥ ४ °तनैकत्वप° य०॥ ५ °त्तित्वा° प्र०। दृश्यतां पृ० २७० पं० ४॥ ६ °स्यायति° प्र०॥ ७ दृश्यतां पृ० २०९-२॥ ८ अन्यस्यादिति प्र०॥ ९ °चिद् वि° य०॥ १० °यादौ प्र०॥

निवृत्तिरिति चेत्, न, अवरणाद्यात्मकशब्दस्य विधिप्रधानपर्युदासात्मकत्वात् अनपुंसकवचनादप्रतिषेधेऽनपुंसकसुटि सर्वनामस्थानत्ववत् तटस्तटतटीस्त्रीपुंनपुंसकास्त्रीपुंनपुंसकत्ववदेतत् स्यादेकस्मिन्नेव लिङ्गत्रयदर्शनात्, अवरणाद्यात्मकत्वेऽप्यन

प्रतिषेधादेव अवरणाद्यात्मकाभ्यां सत्त्वरजोभ्यां मोहस्य प्रतिषेध्यस्यान्यत्वं सिद्धम्, तस्मान्न तदन्यत्वनिवृत्तिरिति। एतच्च न, 'अवरणाद्यात्मकत्वात्' इति **अवरणाद्यात्मकशब्दस्य विधिप्रधानपर्युदासात्मकत्वात्**। नञो हि द्वयी गतिः—प्रसज्यप्रतिषेधः पर्युदासश्च, यथा ब्राह्मणो न भवत्यब्राह्मण इति ब्राह्मणस्य निवृत्तिप्रधानः प्रसज्यप्रतिषेधः, ब्राह्मणादन्योऽब्राह्मणः क्षत्रियादिरिति क्षत्रियादिविधानप्रधानः पर्युदासः, तथेहापि 'अवरणाद्यात्मकत्वात्' इति वरणाद्यात्मकाद् मोहादन्यदवरणाद्यात्मकं शोषादिप्रसादाद्यात्मकं विधीयते, वरणाद्यात्मकत्वस्य तु न विधिर्न प्रतिषेधः पर्युदासात्मकत्वात्, न तु प्रसज्यप्रतिषेध इति। तदर्थसमर्थनार्थं दृष्टान्तमाह—**अनपुंसकवचनादप्रतिषेधेऽनपुंसकसुटि सर्वनामस्थानत्ववत्**, यथा नपुंसकाद् यत्र सुट् सर्वनामस्थानसंज्ञं भवतीति स्त्रीपुंसयोः सुटः सर्वनामस्थानसंज्ञा विधीयते, नपुंसके तु 'शि सर्वनामस्थानम्' [पा० १।१।४१] इति विध्यन्तरविहिता सुटः सर्वनामस्थानता न विहिता न निषिद्धा, तथेहापि वरणाद्यात्मकत्वस्य न विधिर्न प्रतिषेधः शोषप्रसादाद्यात्मकत्वविधानादिति। २०४ १

स्यान्मतम्—वैषम्याद् दृष्टान्तोऽयम्, सर्वविधिनः सुटः सर्वनामस्थानविधाने नपुंसकानपुंसकविषयत्वाविरोधाद् युज्येत सर्वनामस्थानसंज्ञा, विषयस्य तु नपुंसकानपुंसकत्वविरोधवद् वरणावरणाद्यात्मकत्वानुपपत्तिरिति। एतदपि च न वैषम्याय, अत्रापि तत्तुल्यत्वात्, **तटस्तटतटीस्त्रीपुंनपुंसकास्त्रीपुंनपुंसकत्ववदेतत् स्यात् एकस्मिन्नेव लिङ्गत्रयदर्शनात्**, दृष्टं हि तटे लिङ्गत्रयं 'तटः तटम् तटी' इत्येकस्मिन्नेव, यदा च नपुंसकलिङ्गं तदा न स्त्रैणं न पौंस्नम्, पुंस्त्वे न स्त्रीता न नपुंसकता, स्त्रीत्वे नेतरद्वयता, स्त्र्यस्त्रीपुंनपुंसकत्वं च तथा वरणावरणाद्यात्मकत्वमस्तु, को दोषः? सरूपैकशेषाकरणमनुकरणत्वाद् लिङ्गत्रयस्यास्येत्यलमपि।

एवं तर्हि सुखदुःखयोरपि वरणाद्यात्मकत्वादवरणाद्यात्मकत्वासिद्धिरेवं अवरणाद्यात्मकत्वसिद्धौ वाऽनन्यत्वासिद्धिरिति चेत्, नेत्युच्यते, **अवरणाद्यात्मकत्वेऽप्यनन्यत्वाद् वरणाद्यात्मकत्वस्य**, अवरणाद्यात्मके अपि सुखदुःखे वरणाद्यात्मकत्वतोऽनन्ये, तस्मादभिन्ने वरणाद्यात्मके एव प्रमादशोषादिकार्यभेदेऽपि वारणत्वानात्मकत्वपरिणामित्वादिभ्यः। किमिव? **अवरणसदनादिमोहात्मकत्ववत्**, यथा

---

१ णात्मकं भा०। णात्मकं य०॥ २ तु नि प्र०॥ ३ वचनाप्रति नि विना य०। भा प्रतौ तु * * एतच्चिह्नान्तर्गत पाठो नास्त्येव॥ ४ शि सर्वनामस्थानम् ।१।१।४१। सुडनपुंसकस्य ।१।१।४२। शि सर्वनामस्थानं सुडनपुंसकस्येति चकारात् शेः प्रतिषेधः प्राप्नोति कुण्डानि तिष्ठन्ति वनानि तिष्ठन्ति। यत्तावदुच्यते शि सर्वनामस्थानं सुडनपुंसकस्येति चकारात् शिप्रतिषेधः इति न अप्रतिषेधात्। नायं प्रसज्यप्रतिषेधो नपुंसकस्य नेति किं तर्हि? पर्युदासोऽयं यदन्यन्नपुंसकादिति नपुंसके न व्यापारः यदि केनचित् प्राप्नोति तेन भविष्यति पूर्वेण च प्राप्नोति।' इति पातञ्जलमहाभाष्ये। जसशसोः शिः। पा० ७।१।२०॥ ५ चिना भा०॥ ६ त तुल्य भा० डे० ही०। न तुल्य पा० डे० लीं० लि०॥ ७ स्त्रीनपुंसकास्त्रीनपुंसकत्व य०॥ ८ वरणाद्यात्मकत्व प्र०॥ ९ एव वरणाद्या य०। रेणाद्या भा०॥ १० त्मकत्वे अपि सुखदुःखयोः य पा० डे० लीं० डे० ही०। त्मकत्वे अपि सुखदुःखयोः च लि०॥

न्यत्वाद् वरणाद्यात्मकत्वस्य अवरणसदनादिमोहात्मकत्ववत्, वक्ष्यमाणवच्च वरणाद्यात्मकत्वेऽप्यनन्यत्वादवरणाद्यात्मकत्वस्य प्रापितत्वात्।

असाधनमिदं सर्वतुल्यत्वात् प्रसिद्धिविरुद्धसिद्ध्यतिप्रसंगात्। शक्यते हि वक्तुं घटः कटादनन्यः, तन्त्वनात्मकत्वात्, कटस्वात्मवत्, वैधर्म्येण पटवत्।

मोहात्मकानि वरणादन्यानि सदनादीनि वरणात्मकमोहात्मकान्यपि अवरणात्मकानि, यथा वा मोहो वरण- २०४-२ विलक्षणसदनापध्वंसनवैभत्स्यदैन्यगौरवधर्मोऽपि वरणात्मक एव कार्यकारणयोरभेदाद् भेदाच्च, अन्यथा पौनरुक्त्यानर्थक्ये अन्यदोषौ व्यपदेश्यव्यपदेशाभावदोषै[1]श्च स्युः, नेष्यन्ते च तथा। तस्माद् वरणावरणाद्यात्मकत्वं मोहस्य मदनादीनां चैपितव्यम। यथा चैतत् तथा सुखदुःखे प्रसादशोषादयश्च [2]वरणावरणाद्यात्मकाः स्युः। तस्मात् सुखदुःखयोरनन्यत्वहेतुव्यभिचारप्रदर्शनाय नासपक्षोऽस्तीति। किञ्चान्यत्, **वक्ष्यमाणवच्च वरणाद्यात्मकत्वेऽप्यनन्यत्वादवरणाद्यात्मकत्वस्य प्रापितत्वात्**, [3]वक्ष्यति हि सुखादनन्यत् तमः प्रकाशादनन्यो नियम इति च, तत्र तमसो वरणाद्यात्मकत्वे प्रसादशोषादिकार्यादिकस्मादेव सुखादनन्यत्वं साधयिष्यते, तमसोऽप्यतस्तस्मादनन्यत्वाद् वरणाद्यात्मकमप्यवरणाद्यात्मकं तमः सत्त्वरजोवत्। [4]किञ्चान्यत्, अवरणाद्यात्मकत्वस्य वरणात्मके सत्येवानन्तरं प्रापितत्वात् तथा वक्ष्यमाणत्वादिति।

इतर आह – **असाधनमिदं सर्वतुल्यत्वात् प्रसिद्धिविरुद्धसिद्ध्यतिप्रसङ्गात्**, प्रसिद्धिविरुद्धानामप्यर्थानां सिद्धिरेवं सति प्रसज्यते, अर्थान्तरधर्मनिवृत्त्या तदात्मत्वापादनात्, तद्यथा – **शक्यते हि वक्तुं घटः कटादनन्यः, तन्त्वनात्मकत्वात्**, यस्तन्त्वनात्मकः स कटादनन्यः, यथा **[5]कटस्वात्मा**, २०५-१ यः कटादन्यः स तन्त्वनात्मको न भवति यथा पट इति **वैधर्म्येण पटव**दित्युक्तम्। आचार्य आह – **अथ सर्वतुल्यता कथं दोषः, स्वमतेन परमतेन?** इति प्रश्नः 'उभयथाप्यदोषः' इति मन्यमानस्य। यदि ते स्वस्मिन्नेव मते दोषस्ततस्तव प्रसिद्धिविरोधदोषासक्तिर्ममाभिमतैव त्वत्प्रतिवादिनो मम तु सर्वानन्यत्वापादनमभिमतमेव **भावपक्षवत्**, यथा भावविधिविधिनियमतेऽनन्तरातीते सर्वानन्यत्वमिष्टम्, एतस्योदाहरणमात्रत्वादुत्क्रमेण स्वभावकालनियतिपुरुषपक्षवच्च वक्ष्यमाणविधिनियमवच्च यथास्वमभिमता[6] एव। एवं तावत् परवाद्यभिप्रायवशात् त्वन्मते दोषासक्तिरिष्टा। न केवलं पराभिमतेरेव, किं तर्हि? अपि च **स्वमतेऽपि** सर्वानन्यत्वम्, **सुखाद्यन्वयमात्रत्वात् सर्वस्य ननु घटः कटादनन्यः**, सुखदुःखमोहान्वितमेतद् बाह्याध्यात्मिकभेदरूपं जगदिच्छतस्ते त्रैगुण्यजात्यनुच्छेदेन सर्वं[7] सर्वात्मकमेव त्रैगुण्यान्वयानतिरेकात् **को हि सत्त्वाद्यतिरिक्तः?** यदि सत्त्वरजस्तमोतिरिक्तं किञ्चित् स्यात् सर्वसर्वात्मकवादे दोषः स्यात्, न त्वस्ति, तस्मात् तवैवादोषः।

---

१ °पाश्च य० ॥　२ वरणाद्यात्मकाः प्र० ॥　३ दृश्यता पृ० २०५–२ ॥　४ किंचान्यत् भा० ॥　५ घटःस्वात्मा प्र० ॥　६ °ता च लीं० विना ॥　७ सर्वसर्वा° प्र० ॥

अथ सर्वतुल्यता कोऽत्र दोषः, स्वमतेन परमतेन? तत्र दोषासक्तिरभिमतैव त्वत्प्रतिवादिनः, भावपक्षवत्। स्वमतेऽपि सुखाद्यन्वयमात्रत्वात् सर्वस्य ननु घटः कटादनन्यः, को हि सत्त्वाद्यतिरिक्तः? सत्कार्यवादत्यागो वा तत्राभावात् समुदयक्षणिकशून्यवादापत्तेः। रूपादीनां चाप्यनेन न्यायेन अनन्यत्वात् प्रत्युदाहरणाभाव एव ते।

तथा नियमोऽप्यभिन्नः प्रकाशात्। प्रकाशस्यात्मत्वप्रतिलम्भ एव हि तन्नियमः प्रकाशानन्यता। 'भिन्नात्मकतायां सत्त्वं सत्त्वमेव न स्यात् प्रकाशो वा प्रकाश एव, तथाऽनियतत्वात् अन्यथा प्रकाशनाभावात्, रजोवत् प्रवृत्तिवत्। मूर्त्त एव

स्वागमनम्—घटः कटे त्रिगुणोऽपि नास्तीति। ततश्च सत्कार्यवादत्यागो वा तत्राभावात्, यदि सत्त्वादित्रिगुणे मृदादौ कटादिर्न स्यात् त्रिगुणोऽपि तदा घटोऽपि मा भूत्, अतोऽसन् घटः पश्चादुत्पन्नत्वात् प्रागभूत इति असत्कार्यवादः सत्कार्यवादत्यागश्च प्राप्तः। किञ्चान्यत्, प्रकाशादिविविक्तस्वरूपगुणसमुदायाभ्युपगमात् रूपादिस्कन्धसमुदयवाद [illegible] दशभिन्नयुगपद्भाव्यनिर्देश्यगुणसमुदयमात्रत्वात्। क्षणिकवादश्च, अयुगपद्भाविपिण्डक्षणिकनिर्देश्यनिरन्वयमात्रत्वात्। अत एव च शून्यवादापत्तिः, अनिर्देश्यस्वभावत्वात्, खपुष्पवत्।

रूपरसगन्धस्पर्शसङ्ख्यासंस्थानादीनां घटादिषु दृष्टानामन्यत्वाद् नियमोऽस्ति इत्याशङ्क्य, तत्रापि रूपादीनां चाप्यनेनेत्यादि यावत् प्रत्युदाहरणाभाव एव ते। रूपं रसान्न भवत्‌ [illegible] त्वाद् १०५ २ रूपस्य रूपवदित्यादि प्रसिद्धिविरुद्धसिद्ध्यतिप्रसङ्गोऽपि, ते त्वत्प्रतिवादिनो दोषासक्तिरभिमतैवेति तदत्र यावद् भावपक्षवदिति, पुनश्च स्वमतेऽपि सुखाद्यन्वयमात्रत्वादित्यादि यावत् समुदयक्षणिकशून्यवादापत्तेरिति समानश्चर्च।

एवं सुखादान्यद् दुःखमित्येतद् भावितम्, 'तमोऽनन्यत्' इति भाव्यम्, तदपि यथा च प्रकाशादभिन्ना प्रवृत्तिस्तथा नियमोऽप्यभिन्नः प्रकाशात्। प्रकाशानतिरिक्तत्वात् [illegible] नियमलक्षणमाह—प्रकाशस्यात्मत्वप्रतिलम्भ एव हि तन्नियमः, प्रकाशस्य स्वात्मा प्रकाशनमेव, तद्भावः प्रकाशस्यात्मत्वम्, तत्प्रतिलम्भ एव हि तदात्मलाभ एव हि तन्नियमः, रूपस्य रसस्य वा प्रकाश्यस्यास्पष्टत्वाद्धिनियमः, न हि [illegible] निराश्रय [illegible] नियमोऽस्ति? तस्माद् रूपवत् नियमः प्रकाशानन्यता प्रकाशस्वरूपमात्रम्, एतन्नियमलक्षणं निर्दिश्यते, नाय प्रकाशाद् भिन्नो नियम इति, तत्र दोषदर्शनात्। को दोष इति चेत्, उच्यते—भिन्नात्मकतायां प्रकाशाद् नियमस्य सत्त्वात् तमसश्च सत्त्वं सत्त्वमेव न स्यात् प्रकाशो वा प्रकाश एव न स्यादिति वर्तते, तथाऽनियतत्वात्, गुणान्तरस्पर्शनिरपेक्षस्य सत्त्वस्य प्रकाशस्य [illegible] [illegible] इत्यर्थः। सत्त्वं हि [illegible] प्रकाशमानो स्वात्मस्वाकृतनियमरूपेण नियत एव प्रकाशते, अन्यथा प्रकाशनाभावात् [illegible] इत्यर्थः। दृष्टान्तो यथाक्रमं रजोवत्

---

१ दृश्यतां पृ० [illegible] पं० ४। पृ० २८९ पं० १ ॥ २ दृश्यतां पृ० २८ [illegible] पृ० २८१ पं० १२। ६ ॥ ३ [illegible] य ॥ ४ प्रकाशस्यात्मक भा०। प्रकाशस्यात्मक य ॥ ५ [illegible] नियम य ॥ ६ निरात्म भा०। निरा [illegible] य० ॥

तद्वा प्रकाश इति न स्यात्, अनियतत्वात्, वन्ध्यापुत्रवत् पुरुषवत् ।

[1]ननु प्रकाशात्मकत्वादेव सत्त्वस्य अग्नेरिव कुड्यादिना तमसा नियम्यत्वमनन्यथावृत्तता । यद्यनियतोऽसावसंस्तर्हि अनियतत्वाद् वान्ध्येयवत् । एवं हि कार्यं कारणे सद् यदि तत् तत्र नियतमनन्यथावृत्ति, तत्र सन्निधिवर्ततेः सत्तार्थत्वात् ।

न, आधिक्येन अयतत्वात् । अधिको यमस्तमोनुग्रहादनन्यथाव्यक्तिरूपता ।

२०६-१ **प्रवृत्तिवत्**, यथा प्रकाशात्मना अनियतत्वाद् रजः सत्त्वं न भवति प्रवृत्तिश्च प्रकाशो न भवति तथा सत्त्वं सत्त्वं न स्यात् प्रकाशः प्रकाशो न स्यादिति । न केवल गुणान्तररूपापत्तिरहितस्य स्वात्माप्रतिलम्भ एव, किं तर्हि ? **मूलत एव** सत्त्वमेव **तद्वा प्रकाश इति न स्या**दित्यस्तित्वमेव निराक्रियते, **अनियतत्वात्**. यदि तत स्वत एवानियतं ततो नास्ति तत् सत्त्वं **वन्ध्यापुत्रवत्** न च तत् प्रकाशात्मकं **पुरुषव**दिति पूर्ववद् यथासङ्ख्यं दृष्टान्तौ ।

इतर आह — **नन्वित्यादि यावदनन्यथावृत्तता । नन्वि**त्यनुज्ञापने, प्रकाशात्मकत्वादेव प्रदीपवत् सत्त्वस्य सर्वतोदिग्[3]गतानियतप्रकाशस्य महदहङ्कारादिस्पर्शरूपादिपिण्डशिवकादिपूर्वोत्तरव्यक्त्यभिमुखतायां सत्या प्रकाशनस्य सति नियामके कुड्यादौ अग्नेरिव कुड्यादिना आवरणेन नियम्यत्वम्, नाप इव वा सर्वदिग्गमनरोधिना लम्बनपाषाणेन गुरुणेव द्विधापि प्रदेशान्तरप्राप्तिरोधिना तमसा प्रकाशस्य दृष्टनियम्यत्ववद् नियम्यत्वम्, तच्च अनन्यथाप्रवृत्तता, एवमेव ते प्रवर्तितव्यं नातोऽन्यथेति । दृष्टत्वाच्चानपह्नवनीयो भेदो नियम्यनियामकयोः । तस्मादन्यो नियमः प्रकाशादिति ।

अत्रोच्यते — **यद्यनियतोऽसावसंस्तर्हि** यदि स्वयमेवानियतः प्रकाशोऽसंस्तर्ह्यसौ **अनियतत्वाद् वान्ध्येयवत् । एवं ही**त्यादि एतस्यैव व्याख्यानमनिष्टापादनद्वारेण । **'कार्यं कारणेऽस्ति'** इत्येतद् दर्शनमेवमेव घटते **यदि तत् तत्र नियत**मिति, किमुक्तं भवति ? **अनन्यथावृत्ती**त्युक्तं भवति, यथा वर्तितव्यं तथैव वर्तते नान्यथा, स्वात्मनैव च वर्तते नान्येन केनचिद् वर्त्यते । तच्च अनन्यथा वृत्तिरस्य
२०६-२ तदिदमनन्यथावृत्ति कार्यं कारणे सदिति शक्यमभ्युपगन्तुम् । किं कारणम ? **तत्र सन्निधिवर्ततेः सत्तार्थत्वात्**, तत्र कारणे सन्निध्यर्थो वर्ततिः सत्तार्थः 'संनिहितो वर्तते' इति, अस्ति-भवति पद्यति विद्यति-वर्ततय सन्निपातपठाः सत्तार्था. [ ] इत्यत्र वर्ततेः सन्निधिभवनार्थवाचित्वाद् वर्तते नियतः सन्निहितोऽस्तीत्यर्थः ।

इतर आह — **न, आधिक्येन अयतत्वात्** । 'नि'शब्दस्याधिकार्थत्वादधिको यमो नियमः सोऽत्र विवक्षितः, न सन्निधिमात्रवृत्तिः । कोऽसावधिको **यमः ? तमोऽनुग्रहाद्** यः, स [11]**चानन्यथाव्यक्तिरूपता**, तमसानुगृहीतस्य सत्त्वस्य शब्दादिरूपेण रूपान्तरनिवृत्त्यानन्यथावृत्तिरूपता 'शब्दोऽयं न रसो न

---

१ दृश्यता पृ० २७१ प० १,२ ॥ २ दृश्यता पृ० २७० प० ४ ॥ ३ °दियतानि° प्र० ॥ ४ °कापू° प्र० ॥ ५ कुड्या° प्र० ॥ ६ °णेच भा० ॥ ७ दृष्टि° य० ॥ ८ °मेते य० । (°मेव तेन ?) ॥ ९ सन्नियतो प्र० ॥ १० दृश्यता पृ० ३८ प० २० ॥ ११ चनन्यथाव्यक्तिरूपता प्र० ॥

नं, तमसोऽपि सत्त्ववत् पृथगपरिसमाप्तरूपत्वात्, तमसोऽपि हि तथा प्रकाशन व्यक्तिरिति प्रकाशात्मकसत्त्वानुग्रहाद् भवति, अनियत च कथमन्यनियमने प्रवर्तेत ? इत्यादि' पूर्ववद् ग्रन्थो यावद् 'नं, परिणामस्य तत्रैवोक्तत्वात्'।

प्रकाशात्मैव तु नियम । इतरथा स प्रकाशो न स', तथाऽनियतत्वात् तथाऽभूतत्वात्, घटपुरुषवद् घटपटवद्वा । य एव नियम स एव प्रकाश, तथानियतत्वात् तथाप्रवृत्तत्वात्, घटघटस्वात्मवत्।

रुप नोऽनाकाशादिर्वा' इति । तस्मात् सत्त्व तमोनुगृहीत तथा प्रकाशते न स्वत एव तस्मादय प्रकाशानियम इति । एतदसत्, तमसोऽपि सत्त्ववत् पृथगपरिसमाप्तरूपत्वात्, सत्त्वप्रकाशननियमने स्वय सत्त्वप्रकाशनाकाङ्क्षित्वात् तमसस्त्वन्मतेनापरिसमाप्तमेव तमोनियमनापेक्षप्रकाशात्मकसत्त्ववत् । तद्व्याख्यान तमसोऽपि हीत्यादि, तेन सत्त्वप्रकाशरूपव्यक्तिं सत्त्वप्रकाशनप्रतिलब्धतथानियति कुर्याद् नाप्रकाशिततथानियतिव्यक्ति । कि कारणम् ? तस्य तथा व्यक्ते सत्त्वप्रकाशनप्रतिलभ्यत्वात् । यस्मात् तथा प्रकाशन व्यक्तिरिति 'इति'शब्दस्य हेत्वर्थत्वाद् नियमनयोग्यतया हि तमस प्रकाशन सत्त्वस्य व्यक्ति, सा च प्रकाशात्मकसत्त्वानुग्रहाद् भवति नान्यथेति सत्त्वाप्रकाशिततमोनियमनापरिसमाप्तरूपत्वम्, प्रकाशानुग्रहे सत्यनियतत्वात् । न च स्वयमनियत नियमयितुमन्य समर्थं वन्ध्यापुत्रवदित्यत आह— अनियत च कथमन्यनियमने प्रवर्तेत ? इत्यादिरत उत्तर प्रागतीतग्रन्थातिदेश एवं तु नानयोरित्यादिपूर्वोत्तरपक्षप्रपञ्चात्मको यावन्न परिणामस्य तत्रैवोक्तत्वादिति । तद्यथा—एवं तु नानयोरितरेतरानुग्राहिता, उत्थाप्यसाहायकशक्तित्वात्, वाताहतनौद्वयवद् ग्लानशिबिकावाहकवत् । असम्पूर्णशक्तिता चाऽप्रकृष अनियम इत्यय, इति कारणतेन न स्यात्सम्पूर्णशक्तित्वादुपहतबीजवत् । असदकरणादिस्वथ्यान्यतो न तत्स्वरूपप्रकृप । यदा च सुदूरमपि गत्वा प्रागवृत्तेरसत्कार्यत्व मा भूदिति प्रकर्षं परिणामादेव तदा परिणामस्यान्यत्र वृत्तस्या[न्यत्रा]परिणामकत्वात् युवत्व[ात्म]मात्रवृत्तित्वमेव, नान्यत्र वृत्तोऽन्यदन्यथा करोति परिणामित्वात् । एव तर्हि पूर्ववदुदाहरणादेवाप्रवृत्त्यात्मकत्वं सुगमर्थं नियतस्पैर्णाप्रवृत्त्यात्मकत्वमित्यर्थं, को हि विशेषस्तम प्रवर्तनादेव क्षीरदधिपरिणामकान्यत् पूर्वं न प्रवृत्त पश्चाद् प्रवृत्तमिति ? न, परिणामस्य तत्रैवोक्तत्वादित्येष ग्रन्थ समानोऽत्रापि ।

अत उत्तरस्तु ग्रन्थोऽर्थत समानासनिरोऽपि विशेष्य लिख्यते भावार्थ विशेषणातुल्यत्वात्, तद्यथा— प्रकाशात्मैव तु नियम इतरथा स प्रकाशो न स, तथाऽनियतत्वात्, तथाऽभूतत्वादित्येवमर्थस्य प्रागन्यायवत् । रूपादिस्वरूपनियतार्थप्रकाशनात् प्रकाश [प्रकाश] स्याद् नान्यथेति, स्वमतेन घटपुरुषवत्, यत् यथा अनियत तत्र प्रकाश, यथा घट पुरुषे न नियतो घटे च पुरुष, २००२
यो य प्रकाश स तथानियत एव यथा रूपादि । लोकप्रतीतोदाहरणमेव घटपटवद्वेति । एव तावत्, प्रका-

---

१ द्रष्टव्यं पृ ०१ पं० १-६ ०७१ पं० ॥ २ नावादा ना । शब्दस्य आधारानुसारं ना...
...शि ३ प० पाठ ...नोऽत्र सन्ति ॥ ३ तमासत्व भा० । तमसोमत्व प० ॥ ४ ति मत्वा प० ॥ ५ प्रवननेत्यादि प्र० ॥ ६ दृश्यतां पृ० ७०७ पं० १ ॥ ७ स्यानिय प्र० ॥ ८ पात्मत्र प० ॥

[1]नियम्यनियामकत्वाद् नौलम्बनपाषाणवन्नेति चेत्, न, तदात्मन एव तथानियतत्वात् सन्निधिमात्रात् पूर्ववदनियमनात्। य एवासौ सत्त्वस्यात्मा प्रकाशः स नियामकः, तथानियमविधेः, इतरकर्तृवत्, तमोनियमात्मरूपापादनादितरतथा-

---

शस्य रूपान्तरनिवृत्तिरूपं नियममन्तरेण प्रकाशनाभावप्रदर्शनाद् नियमात्मकत्वमुक्तम्, इदानीं **य एव नियमः स एव प्रकाश** इति तयोरनन्यत्वापादनम्, **तथानियतत्वात्** तेन प्रकारेण नियतत्वात् [2]रूपप्रकाशनरूपेण रसाद्यात्मनिवृत्त्या प्रकाशस्य नियतत्वात्, **तथाप्रवृत्तत्वादि**त्यस्यैवार्थकथनं वृत्तिनियतिव्यक्तीनामैकार्थ्यात्, **घटघटस्वात्मवत्**, यत् तथानियतं यत् तथावृत्तं यत् तथाव्यक्तं तदेव तत्, यथा घट एव घटस्वात्मा। यत् पुनस्तदेव न भवति न तत् तथानियतं तथावृत्तं तथाव्यक्तं वा, यथा पुरुषः।

नियम्यनियामकत्वाद् [3]*नौलम्बनपाषाणवन्नेति चेत् । स्यान्मतम्—नियम्यं प्रकाशतत्त्वं सत्त्वम्, तमो नियामकम्। तस्माद् नियम्यनियामकत्वभेदाद् नैकत्वं सत्त्वतमसोः* नौलम्बनपाषाणवत्, यथा नौः प्रवर्तमाना नियम्यते लम्बनपाषाणेन नियामकेन, तयोश्चान्यत्वमेव सत्त्वतमसोरिति। एतच्च **न, तदात्मन एव तथानियतत्वात्**, तस्यैवात्मा स एव वात्मा तदात्मा, तस्यैव प्रकाशात्मनो नियतत्वात्, तस्मादेव तेनैव वात्मना प्रकाशात्मन एव नियतत्वात्, सत्त्वतमसोर्भेदाभावाद् नौलम्बनपाषाणवद् भेदसाधर्म्याभावादयुक्तो दृष्टान्त इति वक्ष्यते। तद्व्याख्यानार्थमाह—**सन्निधिमात्रात् पूर्ववदनियमनात्**,
२०८-१ इह तमः सन्निहितमपि प्राक् सन्निधिमात्रादेवानियामकं स्वयमनियतत्वात् सत्त्वाधीननियतित्वात्, किन्तु नियम्यमनियमात्, कस्तर्हि नियामकः? उच्यते—**य एवासौ सत्त्वस्यात्मा प्रकाशः स नियामकः**। कथमिति चेत्, उच्यते—यस्मात् **तथानियम्यव्यक्तिस्वरूपः**, तेन प्रकारेण शब्दादिनि[5]र्यतिनियम्यव्यञ्जनस्वरूपः स एव प्रकाश एव। कुतः? **तथानियमविधेः**, तेन हि प्रकारेण नियमस्य विधिः शब्दस्वरूपेण प्रकाशमानस्य शब्दस्य रूपाद्यनात्[6]मना नियता प्रकाशमानता नियमविधिः, तस्माद्धेतोः प्रकाश एव नियमः। दृष्टान्त **इतरकर्तृवत्** कुम्भकारादिवत्, यथा मृद्द्रव्यं पिण्डशिवकादिभावेनाभिव्यज्यमानं तथा तथा प्रकाशयता कर्त्रा कुम्भकारेण नियमकारिणा निर्वर्त्यते नियम्यते नियते रूपेऽवस्थाप्यते नाप्रकाशमानमप्रवर्तमानं च सत्कार्यवादाभ्युपगमादसदकरणादिहेतुसामर्थ्याच्च, तस्मात् स कर्ता प्रकाशस्थानीयो नियामकः पिण्डशिवकादेर्नि[7]यम्यस्य तथा प्रकाशस्तमसः। कुतः? **तमोनियमात्मरूपापादनात्**, सत्त्वेनैव हि तथा तथा प्रकाशमानेन तमसो नियमरूपमापाद्यते मृद इव तथा प्रकाशयता कर्त्रा कुम्भकारेण तदात्मलाभहेतुत्वात्। ततस्त्वदभिमतनियामकत्वविपर्ययापत्तिः, तमसो नियम्यत्वात् सत्त्वाधीननियतित्वात् सत्त्वस्यैव नियामकत्वात् पक्षधर्मविपरीतता सत्त्वापाद्यनियमात्मरूपता प्रसक्ता, सत्त्वाप्रकाशिते नियमाभावात्। सत्त्वापादितं हि तमसो नियमात्मरूपम्, तस्मात् तमोनियमात्मरूपापादनात् सत्त्वं नियामकम्, **इतरतथारूपापादनात् तमोवत्**।

---

१ दृश्यतां पृ० २७३ पं० ६–पृ० २७४ पं० १॥ २ रूपरसप्र° य०॥ ३ ** एतच्चिह्नान्तर्गत पाठो य०प्रतिषु नास्ति॥ ४ °त्वात्मकत्वतमसो° प्र०॥ ५ °नियतितंनियम्य° य०। °नियतियम्य° भा०॥ ६ °त्माना प्र०। (°त्मनो ?)॥ ७ °यमस्य प्र०॥

रूपापादनात् तमोवत् । तमोऽपि हि इतर[तथा]स्वरूपापादनादृते किमन्यत् करोति ?

एव च नौवत् तम एवापद्यते तथा प्रकाशस्य नियम्यत्वात् तथाप्रकाशानतिरिक्ततत्त्वरूपत्वाद्वा नियमस्य कुतोऽनौलम्बनपाषाणभेदसाधर्म्यम् ? भेदे लम्बनपाषाणो नावं निरुणद्धीति युज्यते, न तु तथाप्रकाशातिरिक्ततत्त्वरूपो मोहो नियामकोऽस्ति ।

न तद्रूपत्वमतद्वृत्तित्वादिति चेत्, न, तम स्वनियमवत् तदात्मन एव नियतत्वात् । अन्यथा सत्त्वं सत्त्वमेव न स्यादित्युक्तत्वादन्यथा तु नियत्यभावात् ।

तमोऽपि हि इत्यादि, तमसोऽपि हि नियामकत्वमेवमेव युज्यते त्वन्मते यदीतरयो सत्त्वरजसोरात्मरूपापादनं कुर्यात्, अन्यथा इतर[तथा]स्वरूपापादनादृते तम किमन्यत् करोति ? तयोर्हि सत्त्वरजसो- २०/२
रात्मरूपापादनमेवं, आत्मरूपमापाद्यैव नियामकमित्युच्यते । यथा तम पूर्व प्रकाशप्रवृत्त्यात्मभ्यामनियतयो सत्त्वरजसोस्तथानियमनाद् नियामकमेव सत्त्वमपीतरतथानियमात्मरूपापादनाद् नियामकमस्तु, को दोष ?

एव च नौवत् तम एवापद्यते । एव च सत्त्वस्यैवोक्तविधिना नियामकत्वाद् नौस्थानीय नियम्य तम एव स्यात्, न नियामकम् । लम्बनपाषाणस्थानीय सत्त्वमेव नियामकम्, न नियम्य स्यात् । कि कारणम् ? तथा प्रकाशस्य नियम्यत्वात्, यस्मात् तेनोक्तप्रकारेण प्रकाशेन नियम्यत्व मोहस्य तस्मात् तमस सत्त्वेन नियम्यत्वादित्यर्थ । तस्मात् प्रकाशाप्रकाशिते तमसो नियत्यभावात् तमस प्रकाशेन तथा नियम्यत्वात् तदात्मन एव तथानियतत्वादिति साधूक्तम् । एव तावत् सत्त्वतमसोर्भेदमभ्युपेत्य विपर्ययापत्त्या नियम्यनियामकत्वादित्यस्य हेतोरसिद्धिरुक्ता । नैव वा सत्त्वव्यतिरिक्त तमोऽभ्युपेम इत्यत आह—तथाप्रकाशानतिरिक्ततत्त्वरूपत्वाद् वा नियमस्य शब्दप्रकारेणाऽरूपादिप्रकारेण च य प्रकाशस्तदनतिरिक्ततत्त्वरूपत्वान्नियमस्याभिव्यक्ते कुतोऽनौलम्बनपाषाणभेदसाधर्म्यम् ? न नौरनौ, क ? लम्बनपाषाण, तस्य नावो भेद, तत्साधर्म्यमनौलम्बनपाषाणभेदसाधर्म्यम्, तत्तु कुत सत्त्वतमसोर्भेदसाधर्म्यम् ? भेदाभावादित्यर्थ । ततो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो साधर्म्याभावादयुक्तमिति वैधर्म्य दर्शयति—भेदे सति लम्बनपाषाणो नौविलक्षणो नावं प्रवर्तमाना निरुणद्धीति युज्यते । न तु तथाप्रकाशातिरिक्ततत्त्वरूपो २०० १
मोहो नियामकोऽस्ति एनयो शब्दाद्यविभावमात्रत्वात्, अतो न युज्यते ।

न तद्रूपत्वमतद्वृत्तित्वादिति चेत् । स्यान्मतम्—प्रकाशनमात्र सत्त्वस्य वृत्तिर्नियमन तु तमस, तस्मात् सत्त्वस्यातद्वृत्तित्वाद् वृत्तिभेदाच्च न नियम सत्त्वस्य तमसश्च न प्रकाशनमित्यस्ति भेद इति । एतच्च न, तम स्वनियमवत् तदात्मन एव नियतत्वात्, यथा तमस स्वो नियम प्रागवृत्त पश्चात् स्यात् एव तम स्वात्मन प्रवर्तमानस्तमसा विना अभूतत्वात् तदत्यागेन वृत्तेस्तदधीनत्वात् तद्रूप एव स्वात्मन एव प्रवृत्तत्वात् तथा सत्त्वस्यापि प्रवृत्तत्वनिमित्तरूपस्तमोनियम सत्त्वाव्यतिरिक्त प्रकाश-

---

१ द्रष्टव्यं पृ० २७४ पं० १–पृ० २० पं० ४ ॥ २ वर्तते इति पाठभेदः ॥ ३ वृत्तिपा° प्र० ॥ ४ द्रष्टव्यं पृ० २७८ टि० ८ ॥ ५ द्रष्टव्यं पृ० २८४ पं० १ ॥ ६ °दागृत्य° भा० ॥

स्यान्मतम्–प्रकर्षेण काशनं प्रकाशनं ········ प्रवृत्तिवत्। न, सत्त्वस्यापि तमोवदपरिसमाप्तरूपत्वाद् ····· नियामकाभावस्य चापर्याप्तत्वेनोक्तत्वात्।

एवं चैक एव विनिद्रावस्थापुरुपत्ववद् नियमः प्रधानमिति तन्मात्रमेव तत्, नियमापत्तिरूपनिरूप्यत्वात्, नियमस्वात्मवदित्यादि भङ्गचक्रावर्तनं [1]नियमस्वात्मैव वा त्रीण्यपीति पुरुषावस्थावद् यावत् [2]सुखादनन्यद् दुःखमिति। अत्र तु सु[3]खादनन्य एव मोहः, अनात्मत्वेऽशोषाद्यात्मकत्वात्, सुखस्वात्मवदित्यादि साक्षेपपरिहारं पूर्ववत् प्रवृत्तिस्थाने नियमं कृत्वा।

न चापीदमेकत एव तत्त्वम्। सामान्यविशेषभावात् स्यादेकत एव तत्त्वम्।

धीनत्वात् तदविनाभावात् तदपरित्यागेन प्रवृत्तेस्तदात्मन एव प्रवृत्तत्वादिति। किञ्चान्यत्, **अन्यथा सत्त्वमित्यादि**, यदि स्वत एव नियमो न स्यात् ततोऽन्यथा सत्त्वं सत्त्वमेव प्रकाशो वा प्रकाश एव न स्यात् तथाऽनियतत्वाद् रजोवत् प्रवृत्तिवत्। मूलत एव तद्वा प्रकाश इति न स्यादनियतत्वाद् वन्ध्यापुत्रवत् पुरुषवदित्युक्तत्वादिति तथा। **अन्यथा तु नियत्यभावात्**, प्रकाशाप्रकाशिते तमसो नियत्यभावादनियतस्य चाभावात् प्रकाश एव नियम इति।

स्यान्मतम्–प्रकर्षेण काशनं प्रकाशनमित्यादि यावत् **प्रवृत्तिव**दिति प्रासङ्गिकं तदेव चोद्यम्, तत्रोत्तरमपि **सत्त्वस्यापि तमोवदपरिसमाप्तरूपत्वा**दित्यादि अक्षरविपर्यासेन यथायोगाक्षरोपन्यासं यावत्

२०१-२ उत्थाप्यसाहायकशक्तित्वाद् वाताहतनौद्वयवद् ग्लानशिविकावाहकवद् यावच्च उपहतबीजवदिति वाच्यम्, तस्मादिदं व्याख्यातार्थम्–**नियामकाभावस्य चापर्याप्तत्वेनोक्तत्वात्।**

एवं चैक एव विनिद्रावस्थापुरुपत्ववदित्यादि यावद् **भङ्गचक्रावर्तन**मिति प्रागुक्तं भङ्गचक्रमावर्त्य व्याख्येयमिति तदेवातिदिशति समानत्वात्। तत्र तु प्रवृत्तिरेव प्रधानं प्रवृत्त्यापत्तिरूपनिरूप्यत्वात् प्रवृत्तिस्वात्मवदिति प्रवृत्तिमात्रत्वे प्रधानभङ्गचक्रमावर्तितम्, इह तु प्रवृत्तिस्थाने नियमं कृत्वा प्रधानस्थाने प्रधानमेव च कृत्वा भङ्गचक्रावर्तनं तद्वदेव कार्यम्। पुनश्च **नियमस्वात्मैव वा त्रीण्यपीति पुरुषावस्थावद्** भङ्गचक्रावर्तनं द्वितीयं लिखितं यथा तथात्र प्रवृत्तित्रैगुण्यवद् नियमत्रैगुण्यं लिखितं द्रष्टव्यमिति। भङ्गग्रन्थपरिवृत्तिपरिमाणमप्याह–**यावत् सुखादनन्यद् दुःखमि**तीयद्दूरम्। **अत्र तु** विशेषः **सुखादनन्यो मोह** इति प्रतिज्ञा, हेतुः–**अनात्मत्वेऽशोषाद्यात्मकत्वा**दिति, दृष्टान्तः **सुखस्वात्म**वदिति। **इत्यादि साक्षेपपरिहारं पूर्ववदि**ति अवधारणेन **चोक्तसाधनान्तरापक्षिप्तान्यत्वो विपक्षाभावः सूच्यत** इत्यादि-सर्वातीतव्याख्यानप्रपञ्चातिदेशः। तद्व्याख्यानोपायदिङ्मात्रप्रदर्शनं चैतत्–**प्रवृत्तिस्थाने नियमं कृत्वे**ति।

न चापीदमेकत एव तत्त्वमित्यादीत्युत्तरस्य विकल्पोत्थापनग्रन्थस्य सम्बन्धः। सुखतो दुःख-मोहयो[11]रनन्यत्वं तत्त्वमुक्तम्, तत्त्वनेकतः। **सामान्यविशेषभावात्** सामान्यविशेषभेदभावात्, यथा वृक्ष इति सामान्यं कदम्ब इति विशेषः, यथात्र कदम्बो नियमाद् वृक्षः, वृक्षस्तु स्यात् कदम्बोऽन्यो [12]वेत्येकतस्तत्त्वं

---

१ दृश्यता पृ० २७५ पं० ५–२७६ पं० १॥ २ दृश्यता पृ० २७८ पं० १॥ ३ दृश्यता पृ० २७८ पं० १६॥ ४ पृ० २८१ पं० ७॥ ५ वा° प्र०॥ ६ °चंद्रक्रमा° य०॥ ७ दृश्यता पृ० २७५ पं० ७॥ ८ दृश्यता पृ० २७६ पं० १॥ ९ दृश्यता पृ० २७८ पं० २॥ १० वापी° प्र०॥ ११ °रन्यत्वं प्र०॥ १२ वेत्यनेकत° प्र०॥

किन्तूभयतोऽनन्यत्वादभिन्नत्वादेकत्वात सन्निहितापत्तिभवनसत्तार्थत्वमयथार्थं स्यात् ।

एव त्वनभ्युपगमे इद निरूप्यम्—'अस्ति प्रधान भेदाना कार्यकारणभावात् । एतत् कथ निरूप्यते ? इति अनेकात्मकत्वकारणकल्पना असद्वाद एव, सम्भाव्यविकल्पानुपपन्नार्थत्वात्, तदुक्तसत्यत्वानुपपन्नार्थसर्वोक्तानृतत्वपक्षवत् ।

तथा यदि सामान्यविशेषभाव स्यात स्यादेकत एव तत्त्वम्, न तु तथेह सुखदु खमोहाना सामान्य- २१०१ विशेषभावोऽस्तीति । किन्तूभयतोऽनन्यत्वादभिन्नत्वादेकत्वादित्यादिना सत्त्वरजस्तमसामेकत्वापादनार्थं पूर्ववत् सव एव प्रक्रमभेदे स एव तथैव ग्रन्थ प्रवृत्त्या प्रकाशनविशेषितया मोहविशेषितया [च] नेय, तथा च भाष्य एव मुलिखितत्वान्न विवियते । सन्निहितापत्तिभवनसत्तार्थत्वमयथार्थं स्यादित्यत्र तु विशेष, आपत्तिभवन सन्निधिभवनाविनाभावे युज्यते, नान्यथा, यदि तद्वशादि बीजे न सन्निहित ततोऽङ्कुरस्यासत्त्वादापत्ति स्यात्, सत् कार्य कारणे चेति द्वैविध्य च भवनस्यैवमेव युज्येत आपत्त्यनापत्तिभेदादिति, शेष पूर्ववत् । सत्त्वेन तमसा च सह भावनाया कृताया पुनश्च तथैव तमसोऽपि सत्त्वेन रजसा वद्भावना भावनाग्रन्थो निरवशेषो लिखित आचार्येणेति न विवृणुमहे, स एवानुमतव्य । सर्वत्र च भेदत्रयेषु प्रवर्त्यप्रवर्तकत्वात् पल्लवपवनवन्नेति चेत्, न, तदात्मन एवेत्यादि तत्त्वेव सत्त्वरज सयोगेऽपि, प्रकाश्यार्थिप्रकाशभेदाद् नर्तकीनर्तकाचार्यवन्नेति चेत्, न, तदात्मन एवेत्यादि सत्त्वरज सयोगे सत्त्व-तम सयोगे च, [नियम्यनियामकत्वात्] नौलम्बनपाषाणवन्नेति चेत्, न, तदात्मन एवेत्यादि सत्त्वतम सयोगे* रजस्तम सयोगे च तत्र प्रकाशनप्रवर्तननियमनवचनानि च यथोपपत्ति योज्यानि । कुतोऽपल्लवपवन भेदसाधर्म्यम्, कुतोऽनर्तकीनर्तकाचार्यभेदसाधर्म्यम्, कुतोऽनौलम्बनपाषाणभेदसाधर्म्यम् ? २१०२ इति चोदनेषु द्वय द्वय द्वयोर्द्वयोर्गुणयो सम्भवित्वाचोदयित्वा परिहार्यमिति । एव तावत् सुखदु खमोहाना प्रकाशप्रवृत्तिनियमात्मकानामात्मनयत्वात् 'एकात्मकत्वकारणपूर्वकत्वम्' इति साध्यमयमेति ।

एव त्वनभ्युपगम इद निरूप्यमित्यादि । एवमेकात्मकत्वकारणानभ्युपगमे साङ्ख्येन निरूप्यम्, कतमत् ? यत् तद् भिन्नात्मकत्व परिगृह्य प्रयुक्ते कार्यकारणभीतेऽभिहितम्—अस्ति प्रधान भेदाना कार्यकारणभावात्, आध्यात्मिकाना बाह्याना च भेदाना कार्यकारणभावो दृष्ट, आध्यात्मिकाना कार्यात्मकाना वेद्यास सत्त्वरजस्तमासि त्रीणि शब्दाद्यात्मभिव्यवतिष्ठमानानि परस्परार्थं कुर्वन्तीत्येवमादि, एतत् कथ निरूप्यते ? वक्ष्यमाणेषु विचारनिरूपेषु यथा यथोच्यते तथा तथानुपपत्तिरेवेति 'इति'-शब्दहेत्वर्थत्वाद् निरूपणाभाव एवेत्यभिप्राय । तद्विचारोद्देशार्थं साधनमाह—अनेकात्मकत्वकारणकल्पना असद्वाद एव सम्भाव्यविकल्पानुपपन्नार्थत्वात्, अनुपपन्नसम्भाव्यविकल्पार्थत्वादित्यर्थ, येऽत्र सम्भाव्यन्ते विकल्पास्तेऽनुपपन्नाश्च इति वक्ष्यति, तस्मादयमसद्वाद एव । दृष्टान्त —तदुक्तसत्यत्वानुपपन्नार्थसर्वोक्तानृतत्वपक्षवत्, तेनैवोक्तमदुक्त 'सर्वमनृतम्' इति पक्ष, स एवोक्तमदुक्तो वा । असौ सत्यश्चेद्

[1] नाथ पूर्ववत् स्वयमेव प० ॥ [2] कारण वि० ॥ [3] दृश्यता पृ ७३ प० ६ ॥ [4] * * एतच्चिह्नान्त पाठो य० प्रतिषु नास्ति ॥ [5] दृश्यता पृ० २८४ १ ॥ [6] दृश्यता पृ ७७ पं० १ ॥ [7] पदार्थ रजस्तम प० । पद वचन मा० ॥ [8] सैकत्वाम य० ॥ [9] दृश्यता पृ० २८८ प० १ ॥

यदुच्यते सत्त्वरजस्तमांसि त्रीणि शब्दाद्यात्मभिर्व्यवतिष्ठमानानि परस्परार्थं कुर्वन्ति, सत्त्वं शब्दकार्यं प्रख्याय शब्दात्मना व्यवतिष्ठमानं रजस्तमसोः शब्दात्मभावाय प्रवृत्तिं ख्यापयति । अत्र प्रकाशात्मकेन सत्त्वेन प्रकाशात्मकयोरेव रजस्तमसोः शब्दात्मना व्यवतिष्ठमानेन शब्दात्मभावाय प्रवृत्तिर्व्यक्तिः प्रख्याप्यते, उताप्रकाशात्मकयोः? यद्यप्रकाशात्मके रजस्तमसी शब्दात्मभावाय प्रख्याप्येते ततः सत्त्वं पुरुषस्यापि तर्हि शब्दात्मभावाय प्रवृत्तिं प्रख्यापयिष्यति शब्दत्वायैनं प्रवर्तयिष्यति, अप्रकाशात्मकेन तेनापि शब्दभावाय प्रवर्तितव्यं प्रकाशकारकोपपत्तेः रजस्तमोभ्यामिव ।

न तर्हि सर्वमुक्तमनृतम्, अस्य सत्यत्वात् सर्वोक्तान्तःपातित्वाच्च[3], अथासत्यमिदं न तर्हि सर्वस्योक्तस्यानृतत्वमनेनानृतेन प्रतिपाद्यतेऽस्यानृतस्याप्रमाणत्वादित्युभयथाप्यसद्वादस्तृतीयविकल्पाभावाच्च तथेयमपि 'त्रिगुण-
२११-१ मेकं कारणम्' इत्यनेकात्मकैककारणकल्पना असद्वाद इति ।

तत् पुनः कतमद् वचनम्? इति तत् प्रदर्शयन्नाह—यदुच्यते सत्त्वरजस्तमांसीत्युद्देशवाक्यं यावत् परस्परार्थं कुर्वन्तीति, निर्देशवाक्यं च सत्त्वं शब्दकार्यमित्यादि यावत् प्रवृत्तिं प्रख्यापयतीति एतदसद्वादधर्मेण पक्षीकृतं वाक्यम् । अत्र च द्वयं सम्भाव्यते तृतीयाभावात्, तद्दर्शयति—प्रकाशात्मकेनेत्यादि यावत् प्रख्याप्यत इत्ययमेको विकल्पः । सत्त्वं प्रकाशात्मकं सत् तदात्मकयोरेव रजस्तमसोः शब्दात्मना व्यवस्थाऽनेनेति स्वयं शब्दात्मना व्यवतिष्ठमानं तेनात्मनोपकुर्वत् तयोः शब्दात्मभावाय [प्रवृत्तिं प्रख्यापयति,] प्रवृत्तिः प्रख्याप्यते । का सा प्रवृत्तिः? व्यक्तिरित्यर्थकथनम् । 'प्रवृत्तिं प्रख्यापयति' इत्येतदेव स्फुटीकर्तुकामः प्रवृत्तिः प्रख्याप्यते इति विभक्तिविपर्यासेन विवृणोति आख्यातेनाभिहितकर्मकत्वात् प्रथमया । एष प्रथमः प्रश्नविकल्पः । द्वितीयस्तु उताप्रकाशात्मकयोरिति रजस्तमसोरप्रकाशात्मकयोर्वा तत् सत्त्वं शब्दकार्यं प्रख्याय शब्दात्मना व्यवतिष्ठमानं शब्दात्मभावाय प्रवृत्तिं ख्यापयति? इति प्रश्नः । प्रकाशात्मकयोरित्येष विकल्पो न घटत एव, सत्त्वरजस्तमसां जात्यन्तरत्वाभ्युपगमात् प्रकाशप्रवृत्तिनियमकार्यत्वभेदात् सुखदुःखमोहात्मकभेदाच्च रजस्तमसी न प्रकाशात्मके इति ।

२११-२ अत्रोच्यते—यद्यप्रकाशेत्यादि यावद् रजस्तमसी इवेति । यद्यप्रकाशात्मके रजस्तमसी शब्दात्मभावाय प्रख्याप्येते ततस्तद्वत् सत्त्वं पुरुषस्यापि तर्हि शब्दात्मभावाय प्रवृत्तिं प्रख्यापयिष्यति, तदर्थविवरणम्—शब्दत्वायैनं प्रवर्तयिष्यति, शब्दत्वपरिणामेनैनं परिणमयिष्यतीत्यर्थः । सत्त्वेन शब्दकार्यप्रख्यातिना शब्दात्मना व्यवतिष्ठमानेन पुरुषः शब्दात्मभावाय प्रवर्त्यतेऽभिव्यज्यते व्यवस्थाप्यते च, अप्रकाशात्मकत्वात्, यद् यदप्रकाशात्मकं तत् तत् सत्त्वेन शब्दकार्यप्रख्यातिना शब्दात्मना व्यवतिष्ठमानेन शब्दात्मभावाय प्रवर्त्यं व्यङ्ग्यं[5] व्यवस्थाप्यं च दृष्टं यथा रजस्तमसी, विपक्षाभावाद् व्यावृत्तिर्वाच्या[6] । तत्साधनव्याख्यानद्वारेण साधनान्तरोपन्यासद्वारेण वा ग्रन्थः अप्रकाशात्मकेनेत्यादिः[7] यावद्

---

१ दृश्यता पृ० २८७ पं० २४ ॥ २ दृश्यता प० २०, पृ० २९० प० २१, पृ० २९१ प० ६ ॥ ३ पूर्वोक्ता° प्र० ॥
४ °त्मकत्वभेदाच्च इत्यपि पाठोऽत्र स्यात् ॥ ५ व्यंज्यं य० । ज्यं भा० ॥ ६ °वाच्यौ प्र० ॥ ७ °त्यादि य० ॥

अथोच्येत—अप्रकाशत्वान्नैकान्तं शक्यते कर्तुम्। पुरुषः सत्त्वान्न प्रकाशते, अप्रकाशकत्वे सन्निहितप्रकाशकारकत्वात् प्रदीपेनेव वियत्। रजस्तमसी च प्रकाश्येते, अप्रकाशकत्वात्, प्रदीपेनेव पृथिवी। पुरुषोऽप्रकाशः, रजस्तमसी च प्रकाशे।

एवं तावद् विकल्पसमजातित्वादनुत्तरमेव। अपि च नैव वियतोऽप्रकाशकत्वम्, यस्माद् रूपादिपृथग्भूतपृथग्विपरिणतिषु पृथिव्यादिषु नाप्रकाशनं घटते नोभ्य

रजस्तमोभ्यामिवेति। **अपि**शब्दाद् रजस्तमोभ्यामपि **तेनापि च** पुरुषेणाप्रकाशात्मकेन **शब्दभावाय प्रवर्तितव्यं** प्रकाशितव्यं व्यवस्थातव्यमित्येते प्रवृत्तिप्रकाशनियमाः पुरुषकार्याः स्युः, स प्रवर्तते प्रकाशते व्यवतिष्ठते परिणमतीत्यर्थः। कुतः? **प्रकाशकारकोपपत्तेः**, तस्याप्रकाशकत्वे सति उपपन्नप्रकाशकारकत्वादित्यर्थः। यद् यदप्रकाशकत्वे सत्युपपन्नप्रकाशकारकं तेन तेन शब्दभावाय प्रकाशितव्यं प्रवर्तितव्यं व्यवस्थातव्यं यथा रजसा तमसा च। अथवा रजस्तमोवद् यथा प्रवर्तेत इत्यादि यथाभिव्यक्तार्थानुरूपं व्याख्यातव्यमिति।

एतस्य साधनस्यानैकान्तिकत्वोद्भावनार्थं साधनद्वारेण परमतमाशङ्कते, **अथोच्येत—अप्रकाशत्वाद् नैकान्तं** इत्यादि सोपसंहारहेतुकप्रकाशाप्रकाशत्वसाधने यावत् **प्रकाशे** इति। **अप्रकाशत्वाद्** २१ १ **नैकान्तं शक्यते कर्तुमि**ति, अयं हेतुर्न शक्य ऐकान्तिकं कर्तुम्, यस्माच्छक्यते वक्तुमित्थमपि—**पुरुषः सत्त्वाद् न प्रकाशते** न व्यज्यत इति। कस्मात्? **अप्रकाशकत्वे सन्निहितप्रकाशकारकत्वात्,** यदप्रकाशकत्वे सन्निहितप्रकाशकारकं तदप्रकाशमानं दृष्टम्, यथा **प्रदीपेनेव वियत्। रजस्तमसी च प्रकाश्येते अप्रकाशकत्वात् प्रदीपेनेव पृथिवी**त्येतत् पूर्वेण साधनेन व्याख्यातार्थं सत् सन्निहितप्रकाशकारकत्वादिति न विशेष्यते। यथा च वियत्पृथिव्योरप्रकाशत्वसामान्ये सत्येव कारकसान्निध्येऽपि प्रकाशाप्रकाशौ दृष्टावेवं पुरुषस्याप्रकाशात्मकत्वेऽप्यप्रकाशनैव रजस्तमसोः सत्त्वस्य प्रकाशतैवेति विशेषोऽस्त्विति।

अत्रोच्यते—**एवं तावद्** [१]**विकल्पसमजातित्वादनुत्तरमेव**, 'प्रयत्नानन्तरीयकत्वे सत्येव मूर्तामूर्तत्वादिविशेषवद् घटशब्दयोरनित्यो नित्यश्चेति विशेषः स्यात्' इति वचनवत्। किञ्चान्यत्, **एतदपि च नैव वियतोऽप्रकाशकत्वं** त्वन्मतेनैव शब्दात्मना प्रकाशमानत्वादस्ति। यदपि च रूपविषयाप्रकाशनं पृथिव्यादिष्वेतदपि च नैवाप्रकाशनं घटते **यस्माद् रूपादी**त्यादि यावन्नाप्रकाशत्वे प्रकाशनमिति। **यस्मा**दिति हेतुवक्ष्यमाणार्थं, **नाप्रकाशनं घटत** इति साध्यम्, **रूपादि**रिति रूपरसगन्धास्तेजोम्भोभूमिषु, तेभ्यः पृथग्भूतावाकाशानिलौ शब्दस्पर्शात्मकौ, रूपादिपृथग्भूताभ्यां स्वव्याताभ्यां पृथग्भूता विपरिणतिरेषां तेषु **रूपादिपृथग्भूतपृथग्विपरिणतिषु पृथिव्यादिषु** पृथिव्यप्तेजस्सु तेजोरहितेषु विद्यमानः प्रकाशकस्तत्प्रकाश्यगतो विपरि- २१२ २ णतस्तिरोभूतः, किन्तु प्रकाश्यप्रकाशोऽस्याविर्भूतत्वात्, अतस्तेषां प्रकाश्यतैव। कश्चित्तु तमतिरोभूतत्वाद्

---

१ °च्येत। प्रका° भा०। °च्यते[ऽ?]प्रका° य०॥ २ °शकत्वाद् भा° नि०॥ ३ °शास्यमेवा° प्र०॥ ४ °श्यतेऽप्रका° प्र०॥ ५ साधनधर्मयुक्ते दृष्टान्ते धर्मान्तरविकल्पात् साध्यधर्मविकल्पं प्रसजतो विकल्पसमः। क्रियाहेतुगुणयुक्तं किञ्चिद् गुरु यथा लोष्टः, किञ्चिल्लघु यथा वायुः। एवं क्रियाहेतुगुणयुक्तं किञ्चित् क्रियावत् स्यात् यथा लोष्टः, किञ्चिदक्रियम् यथा आत्मा विशेषो वा वाच्यः। इति न्यायभाष्ये ५।१।४॥ ६ °स्यगतोतो नि° प्र०॥

बोधकमनुष्यप्रकाश्यप्रकाशकत्ववत्। हेतुहेतुमत्त्वेऽपि तयोर्नाप्रकाशत्वे प्रकाशनम्।

वियत्पृथिवीविशेषोपपत्तिवच्च ते एव प्रवर्तेते न पुरुष इत्यस्तु नाम, प्रकाशात्मके तर्हि रजस्तमसी शब्दभावाय प्रवृत्तेः सत्त्ववत्, वैधर्म्येण पुरुषवत्।

असत्कार्यवादिता चातिस्फुटैव, सत्त्वे प्रवृत्तिनियमयोरभूतयोः शब्दात्मव्यवस्थानवचनादभ्युपगमात्, रजस्तमसोः प्रागसतो जात्यन्तरकार्यभूतस्य प्रकाशनस्या-

---

वज्रादिषु [1]प्रकाशता च दृश्यत एव, तस्मात् खरपृथिव्यादिषु प्रकाशता स्वगतप्रकाशविपरिणामाद् विद्यमानप्रकाशकतैव **बोध्यबोधकमनुष्यप्रकाश्यप्रकाशकत्ववत्**, ज्ञानस्वभाव एव हि मनुष्यः प्रकाशात्मा प्रकाश्यो बोध्यो बोधकश्च दृष्टः, न कुड्यादिरचेतनः, तथा पृथिव्यादयः। **मनुष्य**ग्रहणमस्यैव रथ्यापुरुषस्योदाहार्यत्वात्। स्यान्मतम् – बोधकबोध्ययोर्हेतुहेतुमद्भावान्नोभयोरुभयधर्मतेति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकवैषम्यमिति। एतच्चायुक्तम्, यस्माद्धेतुहेतुमत्त्वेऽपि तयोः सूरिशिष्ययोर्द्वयोरपि प्रत्येकं **नाप्रकाशत्वे प्रकाशन**मिति। [3]तस्माद् वियत्पृथिव्योरपि प्रकाशकत्वसाम्याद् दृष्टान्ताभावे पुरुषस्य रजस्तमसोश्च विशेषापादनासिद्धिः। अथापि त्वदनुवृत्त्या वियत्पृथिवीविशेषोपपत्तिमभ्युपेमः पुरुषस्याप्रकाशकत्वे सति अप्रवर्तनादि रजस्तमसोश्च प्रवर्तनादि तथापि ते **वियत्पृथिवीविशेषोपपत्तिर्वच्च ते एव प्रवर्तेते** रजस्तमसी **न पुरुष इत्यस्तु नाम,** नैवास्तीत्यभिप्रायः। किन्त्वयमन्यस्ते दोषोऽनिष्ट आपद्यते – **प्रकाशात्मके तर्हि रजस्तमसी,** सत्त्वविलक्षणे न भवत इत्यर्थः, कुतः? **शब्दभावाय प्रवृत्तेः, सत्त्ववत्,** यच्छब्दभावाय प्रवर्तते तत् प्रकाशात्मकं
२१३ १ दृष्टम्, यथा सत्त्वम्, **वैधर्म्येण पुरुषव**दिति, यत् प्रकाशात्मकं न भवति न तच्छब्दात्मभावाय प्रवर्तते यथा तव पुरुष इति।

किञ्चान्यत्, – **असत्कार्यवादिता**ऽत्यन्तानिष्टा प्रसक्ता 'एवमनभ्युपगमे' इति वर्तते, सा चासत्कार्यवादिताऽ**तिस्फुटैव,** कथम्? **सत्त्वे प्रवृत्तिनियमयोरभूतयोः शब्दात्मव्यवस्थानवचनादभ्युपगमात्,** सत्त्वस्य कार्यं प्रकाश एवेष्टो न प्रवृत्तिनियमौ जात्यन्तरभूतरजस्तमस्कार्यत्वात्, तौ तत्रा सन्तौ पुनस्तस्य कार्यावभ्युपगतौ, कुतः? **व्यवस्थानवचनात्** सत्त्वं शब्दकार्यं प्रख्याय शब्दात्मना व्यवतिष्ठमानमिति ब्रुवताभ्युपगमादितीति। तदा यदि तत् सत्त्वमप्रवृत्तमनियतं वा पूर्ववदप्रवृत्तत्वादनियतत्वाच्च तयोस्तथारूपां शब्दात्मिकां प्रवृत्तिं न प्रख्यापयेद् नैव वा स्याद् वन्ध्यापुत्रवदित्युक्तत्वात् व्यवस्थानस्य च प्रकाशप्रवृत्तिनियमात्मकस्य प्रागसतः सत्त्वविषयस्यारम्भावस्थायां साम्यावस्थाविलक्षणायामभ्युपगतत्वादसतोः प्रवृत्तिनियमयोः सत्त्वाभ्युपगमादतिस्फुटा। किञ्चान्यत्, **रजस्तमसो**रित्यादि यावत् **प्रकाशनस्याभ्युपगमा**दिति, असत्कार्यवादिताऽतिस्फुटैवेति वर्तते। तस्मिन्नेव सत्त्वप्रकाशात्मव्यवस्थानोपकार-

---

१ प्रकाशकाशता भा०। ** एतच्चिह्नान्तर्गत पाठो य० प्रतिषु नास्ति ॥ २ °द्धेतुमत्त्वेऽपि प्र० ॥ ३ तस्मान्न विय° प्र० ॥ ४ °वच्च त एव प्रवर्तते य०। °वच्च एव प्रवर्तते भा० ॥ ५ °ब्दाभा° य० ॥ ६ °दिनोत्यन्ता° प्र० ॥ ७ प्रवर्तते प्र०। दृश्यता पृ० २८७ पं० ३ ॥ ८ दृश्यतां पृ० २८८ पं० २, २० ॥ ९ अत्र °दिति इत्यपि पाठ स्यात् ॥ १० दृश्यता पृ० २७० पं० ४, पृ० २८१ पं० ८ ॥ ११ °स्फुटः प्र० ॥

भ्युपगमात्, पृथग्भूततत्त्वकारणाश्रयाभिव्यक्तेः वैशेषिकाभिमततन्त्वाश्रयपटवत्। तैर्यथास्वमकारणसद्भिः प्रकाशादिभिरारब्धं कार्यमपि भ्रान्तिमात्रम्, त्वदुक्तहेतुसामर्थ्यादेव तन्मयारब्धत्वादसदात्मकं हि तत् कार्पासिकतन्त्वारब्धपटकार्पासिकत्ववत्। तन्मयतन्मयं च असदात्मकं तन्मयतन्मयारब्धत्वात् कार्पासिकपटकुटेरपि कार्पासिकत्ववद् रूपादिसुखादिमयत्ववत्।

वाक्ये रजस्तमसो शब्दभावाय प्रवृत्तिं प्रख्यापयतीति वचनात् तयो रजसि तमसि च प्रागसत्त्वं प्रकाशस्य आत्मान्तरकार्यभूतस्य तदानीं प्रख्यापनात्, अतोऽभिव्यक्तिरुत्पत्तिरभ्युपगता, यदि ते रजस्तमसी तथा प्रतिपद्येते स्वयंविशिष्टे प्रवर्तेते वा ततः सत्त्वेन प्रकाशितं स्यात् आचार्येणेव नर्तक्या प्रागप्रतिपन्नायाः अप्रवृत्तायाः अव्यवतिष्ठमानायाः। तस्मात् प्रकाशोऽपि तयोः प्रागसन् पश्चाज्जात इत्यसत्कार्यवादिता। सेदानीं वैशेषिका- २१३ २
सत्कार्यवादितया तुल्येति भाव्यते—पृथग्भूततत्त्वेत्यादि, पृथग्भूतं तत्त्वमात्मा कायः तद्भावो यस्य स पृथग्भूततत्त्वो गुणः, स एवाश्रयः कारणं च, तस्मिंस्तस्मिन् गुणे सत्त्वे रजसि तमसि च वैशेषिककल्पितपटादिकार्यस्य च तन्त्वादिषु परस्परसंयोगापेक्षेष्वसतो भवनवत् प्रकाशप्रवृत्तिनियमानां कार्याणां सत्त्वे प्रवृत्तिनियमयोरसतो प्रकाशनियमयोश्च रजसि प्रवृत्तिप्रकाशयोश्च तमस्यसतां परस्परापेक्षप्रवृत्तिषु सत्त्वादिषूत्पत्तिभवनमुक्तं भवति। प्रागसन्तः प्रकाशप्रवृत्तिनियमाः शब्दादारम्भकाले उत्पन्ना इति प्रतिज्ञायाः पृथग्भूततत्त्वकारणाश्रयाभिव्यक्तेः वैशेषिकाभिततन्त्वाश्रयपटवत्।

किञ्चान्यत्, तैर्यथास्वमित्यादि। वैशेषिकाभिमतकार्यादप्येता पापीयो भ्रान्तिमात्रत्वात्। उक्तन्यायेन ते सत्त्वादिषु प्रकाशादयः कारणेष्वसन्तः, यथास्वम् यो यः स्वो यथास्वम्, प्रकाशः सत्त्वे नास्ति इतरापेक्षः उत्पन्नः, एवमितरावपीति तैरकारणसद्भिः प्रकाशादिभिरारब्धं परस्पराश्रयणेन व्यक्तं प्रवृत्तं नियतं च यत् कार्यं त्रिगुणं शब्दादि तत्सर्वमसत्त्वाद् भ्रान्तिमात्रं न परमार्थतोऽस्तीत्यापन्नम्, त्वदुक्तहेतुसामर्थ्यादेव तन्मयारब्धत्वादसदात्मकं हि तत्, त्वयैवोक्तमिति यच्च यन्मयैरारब्धं तदात्मकं तदिति शब्दादीनां सुखाद्यात्मकत्वं शब्दाद्यारब्धानां भूतानां भूतारब्धानां च शरीरादिघटादीनाम्, तस्माद् इदमपि तथैव ब्रूमः—शब्दादि असदात्मकं तन्मयैरारब्धत्वात् कार्पासिकतन्त्वारब्धपटकार्पासिकत्ववत्, यथा कार्पासिकैस्तन्तुभिरारब्धः पटः कार्पासिक इत्युच्यते तथा शब्दादयस्तन्मय- २१४ १
तन्मयत्वादसदारब्धत्वादिति। तन्मयतन्मयं चेति यदपि च भूतादि शरीरादि घटादि तत्तदसदात्मकं तन्मयतन्मयारब्धत्वात् कार्पासिकपटकुटेरपि कार्पासिकत्ववदिति। तदेतत्प्रसिद्धमेव योदाहरणं रूपादिसुखादिमयत्ववदिति। तदस्माकमसत्त्व साध्ये रूपादिसुखादिमयत्वमुदाहरणम्, रूपादीनामपि तथैवासत्त्वात् शब्दादिसुखादिमयत्वदृष्टान्तेनापादितमिति।

---

[1] द्रष्टव्यं पृ० १८८ पं० २ ॥ [2] तिष्ठते य० ॥ [3] प्रवर्तेते भा० । प्रवर्तन य० ॥ [4] तस्मात् य० । अत्र तत् स्यात् इत्यपि पाठो भवेत् 'तत्' इति शब्देन च रजस्तमसी वा ग्राह्ये ॥ [5] या ऽप्र य० डे० । याऽप्र ले० लीं० । या प्र° भा० पा० लि० ॥ [6] रजसि प्रकाशयोश्च य० ॥ [7] तमस्या य० ॥ [8] परस्पा य० ॥ [9] °र्प° भा० ॥ [10] द्रष्टव्यं पृ० २६६ पं० २ ॥ [11] °दि च य० ॥

अथोच्येत – एवमेव तत्कारणत्वं तत्र च शब्दादिकार्यसत्त्वम्, शुक्लरक्तकृष्णतन्त्वात्मिकाया रज्जोः कार्यायास्तन्तुकारणत्ववत्। नन्वेवं यथास्मदुक्तवद्वैकत्वं रजस्तमसी अपि सत्त्वमेव, प्रकाशकारणत्वात्, सत्त्वस्वात्मवत्। अथ त्वन्मतेन, सर्वव्यक्तव्यापि चासत्कार्यत्वं प्रतिगुणं प्रकाशाद्योर्द्वयोः कार्यात्मनोः प्रागभूतत्वात्। बौद्धवद्वा असत्कार्यत्वम्, तथाभूतवस्तुनिर्मूलोत्पत्तित्वात्, द्वितीयक्षणघटवत्।

अथोच्येत – एवमेव तत्कारणत्वम्, तेषां सत्त्वादीनां कारणत्वमेवमेव युज्यते। **तत्र च** तेषु सत्त्वादिषु कारणेषु **शब्दादिकार्यसत्त्व**[1]मेवमेव युज्यते प्रतिस्व प्रकाशादिकार्याणां **शुक्लरक्तकृष्णतन्त्वात्मिकाया रज्जोः कार्यायास्तन्तुकारणत्ववत्**, यथा प्रत्येकं शुक्लादिगुणास्तन्तवस्त्रयोऽपि त्रिगुणामेकां रज्जुमारभमाणाः कारणत्वं नातिवर्तन्ते[2] ततस्तेषु सत एव त्रैगुण्यस्याविर्भावाद् रज्जोः सत्कार्यत्वं तथा सत्त्वादिकारणत्वं शब्दादिसत्कार्यता चेति।

अत्रोच्यते – **नन्वेव**मित्यादि यावत् **सत्त्वस्वात्मव**दिति। 'एवमेव' इति यदेतद् वचनं तस्य द्वयी गतिः, [3]यथास्मदुक्तवदेकात्मकं कारणमनेकाकारविपरिवृत्ति पुरुषवदित्यभ्युपगमादिति तद्दर्शयति सकारणम् – **यथास्मदुक्तवद्वैकत्वं रजस्तमसी अपि सत्त्वमेव, प्रकाशकारणत्वं** च तयोर्यथाप्राग्व्याख्यातं सिद्धम्, अत एव तस्यां गतौ दोषः स एव पुरुषाद्यन्यतमैककारणवादाभ्युपगम इति। **अथ त्वन्मतेन** जात्यन्तर-

२१४ a सुखादित्रयकारणतदात्मककार्याभ्युपगमेन 'एवमेव' इत्येषा गतिरिति। इतर आह – एषा गतिरस्तु, को दोषः? इति, अत्र दोषकुतूहलं चेद् ब्रूमः – **सर्वव्यक्तव्यापि** [4]चेत्यादि, तदेव ह्यसत्कार्यत्वमित्यं भावनान्तरेण[5]आपाद्यते, सर्वव्यक्तं शब्दादि तन्तुपटादि च व्यापितुं शीलमस्य तदसत्कार्यत्वं सर्वव्यक्तव्यापि, कस्माद्धेतोः? **प्रतिगुणं प्रकाशाद्योर्द्वयोः कार्यात्मनोः प्रागभूतत्वात्**, गुणं गुणं प्रति प्रतिगुणं सत्त्वे द्वयोः [प्रवृत्तिनियमयोः] प्रागभूतत्वादेव कार्यात्मनोः तथा रजसि प्रकाशनियमयोः तमसि प्रकाशप्रवृत्त्योः कार्यात्मनोरभूतत्वात् अन्यगुणकारणकार्यात्मनामन्यत्र[6] व्यक्तिप्रवृत्तिनियतिकार्याणामसतामुत्पत्तेर्व्यवस्थानवचनात् प्रख्यापनवचनाच्च अभ्युपगतत्वात्। तस्माद् वैशेषिककार्यवदसत्कार्यत्वम्।

न केवलं वैशेषिकवदेव, किं तर्हि? **बौद्धवद्वा असत्कार्यत्वम्**, वरं हि वैशेषिकासत्कार्यतुल्यत्वं त[7]दसत्कार्यत्वस्य कारणैः सह कञ्चित् कालं तिष्ठत इति तैरिष्टत्वात्। इदं बौद्धासत्कार्यतुल्यमेव ते प्राप्तम्, कुतः? **तथाभूतवस्तुनिर्मूलोत्पत्तित्वात्**, तेन प्रकारेण भूतं वस्तु 'शब्दो रूपम्' इत्यादिना, तथाभूतवस्तु[8]नो निर्मूला उत्पत्तिः, तद्भावात् तथाभूतवस्तुनिर्मूलोत्पत्तित्वात्। किमर्थं पुन**र्निर्मूलोत्पत्तित्वा**दिति सिद्धे **तथाभूतवस्तु**ग्रहणम्? दृष्टान्तद्वयेनार्थद्वयप्रदर्शनार्थम्, तद्यथा – **द्वितीयक्षणघटवत्**, यथा क्षणः क्षणान्तरेऽनुत्पन्न[9] एवोत्तरस्मिन् पूर्वो निरुध्यते उत्तरश्च तदनन्तरमुत्पद्यते निर्मूलः नामोन्नामौ तुलान्तयोरिव

---

१ °त्वमेव युज्यते प्र० ॥ २ °र्तन्ते [ऽ?]तस्तेषु भा० ॥ ३ यद्वास° प्र० ॥ ४ वेत्यादि य० ॥ ५ °णपाद्यते प्र० ॥ ६ °न्यत्रा प्र० ॥ ७ (तदसत्कार्यस्य ?) ॥ ८ °स्तुना प्र० ॥ ९ सप्तम्यन्तोऽयं निर्देश ॥

अमत्कार्या शब्दादय', कारणत्वात्, अन्यगुणात्मकसुखप्रवृत्त्यादिवत् इतरा-
नुपकृताविद्यमानप्रकाशादित्रयसुखादिकारणवत् । प्रत्येकमितरानुपकृतविद्यमान-
प्रकाशादित्रयस्वकार्या वा सुखादय , कारणत्वात्, शब्दादिवत् तन्त्वादिवद्वा।
अर्थ प्रकाशात्मकयोरेव रजस्तमसो शब्दभावाय व्यवतिष्ठते सत्त्व तत
एकात्मकैककारणत्वम्, तच्च नेष्यते ।
ततो यथैव कारणे कार्यस्य सत्त्वाद् घटेनैव घट क्रियते तदात्मव्यक्तिप्रति- २१५१

[   ] इत्युक्तत्वात् । तत्सहचरितं च घटादि वस्तु पूर्वस्मिन् निरुद्धे पाश्चात्यस्य पाश्चात्यस्योत्पादा-
भ्युपगमाद् निर्मूलोत्पत्त्यैवेति उभय दृष्टान्त साध्य चोभयम्, तत्साधर्म्यादिदमपि सत्त्वादिप्रकाशादिकार्यं
शब्दादि साङ्ख्यमतमिति योज्यम् । तस्माद् निर्मूलोत्पत्तिमार्गाद् बौद्धासत्कार्यवादतुल्यतेति ।
एव प्रकाशाद्यसत्कार्यत्वे सिद्धे मव्यक्तासत्कार्यत्वसाधनम् – **असत्कार्या शब्दादय कारणत्वात्**,
यद् यत् कारण तत् तदसत्कार्य दृष्टम्, **अन्यगुणात्मकसुखप्रवृत्त्यादिवत्**, अन्यो गुण सत्त्वाद्
रज , तस्यात्मा सुखम्, तच्च स्वय साम्यावस्थायामेकप्रकाशात्मैकार्यमपि सद् जात्यन्तररजस्कार्यप्रवृत्त्यात्मक-
मारम्भावस्थायामिष्ट स्यात्मकशब्दाद्यात्मव्यवस्थानवचनात्, तथा नियमात्मकमपि **आदिग्रहणात्** । अत
सुख सत्त्वगुण प्रागसत्प्रवृत्तिनियमकार्यं पश्चात् तत्कार्य दृष्ट कारण च तद्वच्छब्दादयोऽसत्कार्या कारणता च
बिभ्रतीति, एवमन्यगुणदु खप्रकाशनियमवत् अन्यगुणमोहप्रकाशप्रवृत्तिवदित्येवैकैकमेव दृष्टान्त कृत्वा योज्यम् ।
एतस्यार्थस्य स्फुटीकरणार्थमाह – **इतरानुपकृताविद्यमानप्रकाशादित्रयसुखादिकारणवदिति**, इतरेण
रजसा तमसा चानुपकृतौ प्रागसन्तौ प्रवृत्तिनियमौ पश्चात् तदुपकारजनितौ सुखे कारणे दृष्टौ, आदिग्रह-
णादेव दु खे प्रकाशनियमावितरानुपकृतौ प्रागसन्तौ* पश्चात् तदुपकारजौ तथा मोहेऽपीति । यद्येव नेष्यते
तत **प्रत्येकमितरानुपकृतविद्यमानप्रकाशादित्रयस्वकार्या वा सुखादय , कारणत्वात्, शब्दादि-** २१५२
वत् तन्त्वादिवद्वेति, 'स्व'शब्दादेकस्यैव सत्त्वगुणस्य त्रयोऽपि प्रकाशादय आत्मीया एव कार्यास्तथे
तरयोश्चेति पुरुषादिवान्यत्रैव सत्तामात्रविप्रतिपत्तेरिति । एव तावदप्रकाशात्मकयो रजस्तमसो शब्दात्मना
व्यवतिष्ठमानेन तत्प्रख्यातिना सत्त्वेन तदात्मप्रत्यापने दोषा उक्ता ।
यदि चैव सत्कार्यवादस्योत्खातमूलत्वप्रसङ्गभयादसत्कार्यवादस्य प्रतिष्ठितमूलत्वप्रसङ्गभयाच्च नेष्यते-
ऽय विकल्प 'अप्रकाशात्मकयो' इति तत 'प्रकाशात्मकयो' इत्यस्तु, तत्रापि च दोष वक्तुकाम
इदमाह – **अथ प्रकाशात्मकयोरित्यादि** यावन्नेष्यत इति गतार्थम् ।
ततो यथैवेत्यादि दृष्टान्तमेव तावत् प्रक्रियाप्रसिद्धमुपवर्णयति । **कारणे कार्यस्य सत्त्वाद्
घटेनैव घट क्रियते** इति, मृत्पिण्डघटेनोर्ध्वग्रीवकुण्डलौष्ठपृथुकुक्षिबुध्नादिघट क्रियते प्रकाश्यते, करोते
प्रकाशार्थत्वात्, यथा पृष्ठ कुरु पादौ कुरु, तत्र करण विमलीकरण प्रकाशनमित्यर्थ , कारणे कार्यस्य सत
एव प्रकाशनात् सर्पस्फटाटोपमुकुलत्ववद् दीर्घकुण्डलीभावच्च, तत्र यथा सर्पेणैव सर्प क्रियते तथेहापि

१ °द्यसना पृ० २८८ पं० ३ पृ० २९१ प ९ ॥ २ °त्येवेत् पुरुषदृष्टान्त य ॥ ३ °त्मका(त्मकता?) यमपि भा० ॥ ४ ** एतच्चिह्नान्तर्गत पाठो य० प्रतिषु नास्ति ॥ ५ चैव प्र ॥ ६ त्मयो प्र । दृश्यतां पृ० २९१ टि० ३ ॥ ७ त्रिकुक्षि भा ॥ ८ दृश्यतां पृ० १७१ टि० ९ ॥ ९ भावच भा० । भावत्व य० ॥

नियतस्वसाधनक्रमसमावेशात् कारणघटेन कार्यघटोऽभिव्यज्यते तथाभूतव्यक्तिशक्तिस्थूलतापत्त्या मृद एव घटत्वात् तथैव सत्त्वेन सत्त्वमेव प्रकाश्यते शब्दादिप्रकाशेन अपृथग्भूतप्रकाशादितत्त्वमाकाशादि प्रकाश्यते शब्दादिप्रवृत्त्या शब्दादिनियमेन प्रवर्त्यते नियम्यते च। अपृथग्भूततत्त्वेनैव सत्त्वेन प्रकाशेन प्रवृत्तिसत्त्वेन अनपेक्षया

घटेनैव मृदा घटः पृथुकुक्ष्याद्याकाराः क्रियन्तेऽत्यन्तभिन्नेनान्येनान्यस्याकरणात् । किञ्चान्यत्, **तदात्मव्यक्तिप्रतिनियतस्वसाधनक्रमसमावेशात्**, घटात्मतस्य व्यक्तिः प्रागनुपलब्धस्य पश्चादुपलब्धिः, सा प्रतिनियतानामात्मीयानां कुलालदण्डादीनां तत्क्रमस्य च कालादेःसाधनत्वात् पिण्डशिवकादिभावेषु यथावस्थं व्याप्रियमाणानां क्रमेण व्यापारादित्यर्थः । तद्दर्शयति – **कारणघटेन कार्यघटोऽभिव्यज्यत** इति । कथं व्यज्यते इति चेत्, उच्यते – **तथाभूतव्यक्तिशक्तिस्थूलतापत्त्या**, पृथुकुक्ष्यादिप्रकारेण व्यक्तिशक्तिरस्यां मृदि शक्तिमत्यां सूक्ष्मावस्थानादुत्तरकाले देशकालाद्यावरणापगमात् स्थूलतापत्त्या इन्द्रियग्राह्यतया [2]निर्माज्यदर्पणस्वरूपोपलब्धिवत् कर्मैव मृद् वस्तु कर्तृ भवति, **मृद एव घटत्वात्**, मृदेव हि घटो भवति, घटमात्मानमात्मना[3] अवस्थान्तरमात्रविशिष्टमवस्थान्तरमात्रविशिष्टेन करोति, कर्तुरेव कर्मत्वाभ्युपगमात्[4] । कुलाल- २१६-१ दण्डादीनां तर्हि साधनत्वाभावः स्वयमेव मृदः कर्तृकर्मत्वाभ्युपगमाद् घटस्यैवेति चेत्, न, अत एव तत्साधनत्वाद् वीरणादितोऽकरणादसदकरणादिहेतुभ्यो मृदेव सन्तं घटं कुलालचक्रदण्डादयोऽभिव्यञ्जयन्तः कर्तृकरणसम्प्रदानापादानाधिकरणादिभावं प्रतिलभन्ते तद्विषयमेव न वीरणादिविषयं न तन्त्वादिविषयम्, तदात्मगतव्यक्तिशक्तिप्रतिनियतस्वसाधनक्रमसमावेशादेव तानि च कारणानि परस्परोपजनितकार्यसाधनशक्तीनि एकप्रबन्धेन प्रवर्तमानानि 'कारकाणि' इत्युच्यन्ते, नान्यविषयाणि । तस्मात् कुलालादीनामपि तथैव कर्तृत्वादिभावोपपत्तेः 'घटेनैव घटः क्रियते' इति साधूक्तम् ।

एवं दृष्टान्तमात्मनैवात्मानं प्रकाशयति करोतीति प्रतिपाद्य दार्ष्टान्तिकं प्रतिपादयति – **तथैव सत्त्वेने**त्यादि । यथा कारणे कार्यस्य सत्त्वाद् घटेनैव घटः क्रियत इत्युक्तं तथा कारणे कार्यस्य सत्त्वात् सत्त्वेन सुखप्रकाशादिकारणात्मना तदात्मकं **सत्त्वमेव प्रकाश्यते** मृद्घटावस्थावत्, तद्दर्शयति – **शब्दादिप्रकाशेनापृथग्भूतप्रकाशादितत्त्वम्**, किं तत्? **आकाशादि**, रूपाद्यपृथग्भूततत्त्वाया मृदो घटे तदपृथग्भूततत्त्वघटादिप्रकाशवत् प्रकाशापृथग्भूतेन प्रकाशापृथग्भूततत्त्वं **प्रकाश्यत** इत्यर्थः, प्रकाशापृथग्भूतावेव प्रवृत्तिनियमावपीति तद्दर्शयति – **शब्दादिप्रवृत्त्या शब्दादिनियमेन**, तदप्याकाशादि यथा प्रकाशापृथग्भावात् प्रकाश्यते तथा **प्रवर्त्यते नियम्यते** चेति । तद् विस्तरेण पर्यायशब्दान्याख्यानेन भावयति – **अपृथग्भूततत्त्वेने**त्यादि, अपृथग्भूततत्त्वत्वादेव तेन **सत्त्वेन प्रकाशेन प्रवृत्तिसत्त्वेने**ति प्रकाशप्रवृत्त्यो- २८६-७ रैक्यं दर्शयति, एवकारेणावधारणार्थेन ततः पृथग्भूतार्थाभावं च दर्शयति । अत एव चाह – **अनपेक्षया**

---

१ मृद्शक्ति॰ प्र० ॥ २ निर्म्यज्य॰ य० । निर्मज्य॰ भा० ॥ ३ ॰त्मानावस्था॰ भा० । ॰त्मनामवस्था॰ य० ॥ ४ कर्तृत्वाभ्यु॰ प्र ॥ ५ ॰वद्धेन॰ प्र० ॥ ६ कारणानि य० ॥ ७ दृश्यतां पृ० २९२ पं० ६ ॥ ८ ॰ग्भूतत्वघटा॰ प्र० ॥ ९ ॰प्रेक्ष्यया॰ प्र० ॥

स्वशक्त्या व्यक्तिराविर्भावः। आविर्भावेन प्रवृत्त्या प्रवृत्तिसत्त्वेन प्रवृत्तिसत्त्वमेवानपेक्षा स्वव्यक्तिराविर्भाव प्रवृत्तिः। तथा नियमसत्त्वेनानपेक्षेण स्वशक्त्या आविर्भावेन स्वनियत्या नियमसत्त्वमेवानपेक्षा स्वव्यक्तिः। प्रकाश एव प्रवृत्तिर्नियमश्च, प्रवृत्तिरेवेतरद्वयम्, नियम एवेतरद्वयम्। अत एषामेकपुरुषवृत्तश्यामायताक्षप्रलम्बबाहुत्ववदेकवस्तुस्वतत्त्वभूतानामव्यतिरेकैकवृत्तिता।

सत्त्वसत्त्वेनैव सत्त्वसत्त्वं प्रकाश्यते व्यक्तिपरिणामेन व्यक्तीभवतीत्युक्त

स्वशक्त्या, यदुक्तं भवति 'प्रकाशोऽपृथग्भूततत्त्वेन सत्त्वेन' स्वादिपर्यायैस्तदुक्तं भवति प्रवृत्तिसत्त्वेन प्रवृत्त्या स्वशक्त्या **व्यक्तिराविर्भावः**, जनी प्रादुर्भावे [पा० धा० ११४९], प्रादुः प्राकाश्ये, प्रकाशो जन्म अभिव्यक्तिरित्यनर्थान्तरम् 'प्रकाशात्मकयोरेव रजस्तमसो' इति वचनादपृथग्भूततत्त्व प्रकाशादीनामर्थान्तरनिरपेक्षमिति। यथा प्रकाश एव प्रवृत्तिरिति दर्शितं तथा प्रवृत्तिरेव प्रकाश इति दर्शयति—**आविर्भावेन प्रवृत्त्या प्रवृत्तिसत्त्वेन प्रवृत्तिसत्त्वमेवानपेक्षा स्वव्यक्तिः,** स्वतः पृथग्भूतप्रकाशनियमानपेक्षा स्वात्माभिव्यक्तिरित्यर्थः। तत्पर्यायवचनम्—**आविर्भावः प्रवृत्तिरिति। तथा नियमसत्त्वेन अनपेक्षेणे**त्यादिना प्रकारेण प्रकाशप्रवृत्त्यनर्थान्तरभूतो नियम एव सत्त्व इत्येतत्र आह—**स्वशक्त्याविर्भावेन स्वनियत्या,** का च सा? **नियमसत्त्वमेवानपेक्षा स्वव्यक्तिः** पूर्ववत् स्वप्रवृत्तिः स्वनियम इत्येकोऽर्थ इति प्रागुपपादितत्वात् **प्रकाश एव प्रवृत्तिर्नियमश्च,** यस्मात् प्रकाशमानः प्रवर्तते नियतश्चार्थ इति। एवं **प्रवृत्तिरेवेतरद्वयम्,** यस्मात् प्रवर्तमानः प्रकाशते नियतश्च, **नियम एवेतरद्वयम्,** नियतो ह्यर्थः प्रकाशते प्रवर्तते [च], तस्मादिहापि तदेव भावितमैक्यमिति।

कथं तर्ह्यनेनैव प्रकाशप्रवृत्तिनियमभेदप्रत्ययव्यपदेशभाग् भवति? इत्यत्रोच्यते—**अत एषामेकपुरुषवृत्तश्यामायताक्षप्रलम्बबाहुत्ववत्,** यथैकस्मिन् पुरुषे प्रवृत्तानि तदव्यतिरिक्तानि श्यामत्वमायताक्षत्वं प्रलम्बबाहुत्वमित्येतानि भिन्नानीव तद्भेदप्रत्ययव्यपदेशभाञ्जि भवन्ति तथैकवस्त्वित्यादिनोपसंहरति, **एकस्य** १०७-१
वस्तुनः स्वतत्त्वभूतानां तदभिधानप्रयोजनानां सत्त्वरजस्तमसां तत्कार्याणां च प्रकाशनप्रवृत्तिनियमाना- २१
मव्यतिरेकैकवृत्तिता। इति परिसमाप्त्यर्थः, एवं तावदेतया भावनयापादितैक्यानां सत्त्वादीनां सत्त्वस्वात्मत्वेनैव पर्यायवृत्तिरुक्ता धर्मस्वरूपापादनेन भेदमभ्युपगम्य।

इदानीं फलाभेदादेव भेद इति प्रतिपादयिष्यन्नाह—**सत्त्वसत्त्वेनैव सत्त्वसत्त्वं प्रकाश्यते,** त्रयाणामपि सत्त्वरूपत्वस्यापादितत्वात् सत्त्वसत्त्वं रजःसत्त्वं तमःसत्त्वमिति भिद्यते, तस्याभेदः फलाभेदादापाद्यतेऽधुना। यत् तत् सत्त्वं सत्त्वमेव भवति नान्यद् भवति रजस्तमो वा तत् सत्त्वसत्त्वं तेन सत्त्वसत्त्वेनैव प्रकाश्यते व्यज्यते तदेव सत्त्वसत्त्वस्यैव भवनं व्यज्यत इत्युच्यते, पूर्ववत् कर्तृकर्मभावोऽस्यापादनात्। तद् दर्शयति—**'व्यक्तिपरिणामेन,'** मृत्सत्त्वे यद् विद्यमानं सत्त्वसत्त्वं घटप्रकाशसत्त्वं तेनैव तद् व्यज्यते

---

१ स्भूततत्त्वेनास्तित्वेन प्र०॥ २ पर्यायास्त प्र०॥ ३ रमयोरेव प्र०। दृश्यतां पृ० २८८ पं० ३ पृ० २०३ पं० ४॥ ४ ४ ० एतचिह्नान्तर्गतं पाठो य प्रतिषु नास्ति॥ ५ इतीति पक्षस्य भा। इति न पक्षस्य य०॥ ६ परस्परूपा भा॥ ७ सत्त्वस्य सत्त्वस्यैव य०। सत्त्वस्यैव भा०॥ ८ व्यक्ति य प्रतिषु नास्ति॥

भवति, सतो हि भावः सत्त्वम् । रजःसत्त्वेन सत्त्वसत्त्वम्, व्यक्तिर्व्यक्तिप्रवृत्तिपरिणत्या व्यक्त्यैवेत्युक्तं भवति । तमःसत्त्वेन सत्त्वसत्त्वम्, व्यक्तिर्व्यक्तिनियमपरिणामेन व्यक्त्यैवेत्युक्तं भवति । एवमेव च रजःसत्त्वं तमःसत्त्वं च । एवमेव च सत्त्वप्रकाशेन सत्त्वप्रकाशः प्रकाश्यते रजःप्रकाशस्तमःप्रकाशश्च रजःप्रकाशेन

स्वपरिणामेन, सदेव हि सत्त्वेन परिणमति नासत्, यथोक्तम्—अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमति [¹भगवतीसू० १।३।३२] इति । यदुक्तं भवति '**व्यक्तीभवति**' इति तदुक्तं भवति 'सत्त्वसत्त्वेन सत्त्वसत्त्वं² प्रकाश्यते' इति । 'सत्त्वसत्त्वम्' इति च विशेषणं रजःसत्त्वतमःसत्त्वाभ्याम्, तयोरपि त्वन्मतप्रसिद्ध्या सत्यपि भेदेऽस्मदुक्तवदभेद एवेत्यभि³न्नफलत्वादैक्यमापाद्यम् । किं कारणम्? यस्मात् **सतो हि भावः सत्त्वम्**, यस्मात्⁴ सदेव
२१७-२ सद् भवति तस्मात् तदेव⁵ सत्त्वसत्त्वं तत्त्वं तद्भावः परिणाम इत्यनर्थान्तरम्, तद्भावः परिणामः [तत्त्वार्थ० ५।४१] इति वचनात् । तद्धि प्रवर्तमानं न किञ्चिदपेक्षत इति **प्रवृत्तिनियमानपेक्षेण सत्त्वसत्त्वेनेति** । **एवं रजःसत्त्वेन सत्त्वसत्त्वं** प्रकाश्यते⁶ इति वर्तते । पूर्ववद् **व्यक्तिरिति** प्रकाशैकार्थ्यम्, किमुक्तं भवति? **व्यक्तिप्रवृत्तिपरिणत्या** प्रकाशनप्रवर्तनपरिणामेन⁷ तयैव प्रवृत्त्यात्मिकया **व्यक्त्यैवेत्युक्तं भवतीत्यैक्यं** दर्शयति । **एवं तमःसत्त्वेनेत्यादि** '**व्यक्तिर्नियमपरिणामेन**' इत्यक्षरविपर्यासमात्रेण भेदादैक्यापादनं⁸ गतार्थं यावद् **व्यक्त्यैवेत्युक्तं भवतीति**, सत्त्वेनैव व्यक्त्यात्मना प्रवृत्तेन ⁹नियतेनावश्यं भवितव्यम्, अन्यथा तत्स्वरूपा¹⁰भावादित्युक्तत्वात् । एवमेव च रजःसत्त्वेन सत्त्वसत्त्वं प्रकाश्यते, व्यक्तिर्व्यक्तिप्रवृत्तिपरिणत्या प्रवृत्त्यैवेत्युक्तं भवति, सतो हि भावः सत्त्वम् । तथा रजःसत्त्वेन रजःसत्त्वं प्रकाश्यते, व्यक्तिप्रवृत्तिपरिणतिर्व्यक्तिप्रवृत्तिपरिणत्या प्रवृत्त्यैवेत्युक्तं भवतीति तथैव गमनीयम् । तथा रजःसत्त्वेन तमःसत्त्वं प्रकाश्यते, व्यक्तिनियतिपरिणतिर्व्यक्तिप्रवृत्तिपरिणत्या प्रवृत्त्यैवेत्युक्तं भवतीति । तथा तमःसत्त्वेन ¹¹सत्त्वसत्त्वं प्रकाश्यते व्यक्तिनियतिपरिणत्या नियमेनैवेति, नियतो हि भावो व्यज्यते प्रवर्तते । तथा तमःसत्त्वेन रजःसत्त्वं प्रकाश्यते, व्यक्तिप्रवृत्तिनियतिर्नियतिप्रवृत्तिपरिणत्या नियत्यैवेत्युक्तं भवति । तथा [तमःसत्त्वेन] तमःसत्त्वं प्रकाश्यते व्यक्तिनियतिपरिणत्या नियत्यैवेत्युक्तं भवतीति तदेव भावितम् । **एवमेव**
२१८-१ **चेत्यादि**, यथा सत्त्वरजस्तमसां नवधा विकल्पा उक्तास्तथा सत्त्वप्रकाशेन सत्त्वप्रकाशः प्रकाश्यत इति सत्त्वप्रकाशेन रजःप्रकाशस्तमःप्रकाशश्चेति त्रयः रजःप्रकाशेन सत्त्वप्रकाशो रजःप्रकाशस्तमःप्रकाशश्चेति त्रयः तमःप्रकाशेन सत्त्वप्रकाशो रजःप्रकाशस्तमःप्रकाश" इति त्रयो विकल्पाः, 'प्रकाश्यते प्रवर्त्यते नियम्यते' इत्यनेनैव

---

१ "से नूणं भंते ! अत्थित्त अत्थित्ते परिणमइ नत्थित्त नत्थित्ते परिणमइ? हता गोयमा! जाव परिणमइ। जं ण भंते अत्थित्त अत्थित्ते परिणमइ नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ त कि पयोगसा वीससा? गोयमा पयोगसा वि त वीससा वि तं । जहा ते भंते? अत्थित्त अत्थित्ते परिणमइ तहा ते नत्थित्त नत्थित्ते परिणमइ? जहा ते नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ तहा ते अत्थित्त अत्थित्ते परिणमइ? हता गोयमा! जहा मे अत्थित्त अत्थित्ते परिणमइ तहा मे नत्थित्त नत्थित्ते परिणमइ, जहा मे नत्थित्त नत्थित्ते परिणमइ तहा मे अत्थित्त अत्थित्ते परिणमइ ।" इति भगवतीसूत्रे पाठ ॥ २ सत्त्वं सत्त्वं य० । सत्त्वं भा० ॥ ३ एवेत्वभि° य० । एवेतत्त्वभि° भा० ॥ ४ यस्मात्तदेव य० ॥ ५ °व सत्वंसत्वं पा० वि० । °व सत्वं भा० र० ही० ॥ ६ °त एव इति य० ॥ ७ °मेनातयैव भा० ॥ ८ °नियपरि° भा० ॥ ९ नियते चावश्यं य० । अत्र 'नियतेन चावश्य' इत्यपि पाठ स्यात् ॥ १० °पादि(व?)भावा° प्र० ॥ ११ सत्वं सत्त्वं भा० । सत्त्वं य० ॥

सत्त्वप्रकाशो रज प्रकाशस्तम प्रकाशश्च तम'प्रकाशेन सत्त्वप्रकाशो रज.प्रकाशस्तम'प्रकाशश्च प्रकाश्यते प्रवर्त्यते नियम्यते इति त्रयोऽप्यर्था ऐक्यमापादनीयाः। सर्वाप्येषा मृद्घटव्यक्तिस्थूलतेव सत्त्वप्रकाशादिप्रपञ्चा व्यक्तिरेकैव एकार्थविषयेति।

तथा यदुच्यते–रज' शब्दकार्यम् प्रकाशस्थाने प्रवृत्तिं कृत्वा वायुम्। तथा तम. शब्दकार्यम् लम्बनपापाणम्।

अतस्त्रीण्यप्येकम्, अपृथग्भूतसमवस्थानस्वरूपभेदात्मकत्वात्, वरणादितमस्त्ववत्।

सर्थेन त्रयोऽप्यर्था ऐक्यमापादनीया, प्रत्येकं त्रयस्वपि योज्या इत्यर्थ। एष दार्ष्टान्तिकोऽर्थो व्याख्यात, स इदानीं दृष्टान्तेन साधर्म्येणोपसंह्रियते–सर्वाप्येषा मृद्घटव्यक्तिशक्तिस्थूलतेव[3] यथा प्रागुपवर्णिता कारणे कार्यस्य सत्त्वाद् मृदनभिव्यक्तया घटव्यक्तिशक्ते स्थूलता ऊर्ध्वग्रीवादिव्यक्तेन्द्रियग्राह्यता सा एकैव तथा सत्त्वप्रकाशादिप्रपञ्चा व्यक्तिरेकैव, एकार्थविषया सत्त्वमिति वा रज इति वा तम इति वा प्रधानमिति वा यदिच्छसि तथास्तु सर्वथाप्येकस्य कारणाख्यस्य वस्तुन सूक्ष्मस्य स्थूलैव व्यक्तिरिति तद्विषया व्याख्यायते। इति विचारपरिसमाप्त्यर्थं, यत् प्रतिज्ञात सत्त्व प्रकाशात्मकयोश्चेद् रजस्तमसो शब्दभावाय व्यवतिष्ठेते तत एकात्मकैककारणत्वमिति तत् साधयिष्यामेति।

तथा[1] यदुच्यते रज शब्दकार्यमित्यादिग्रन्थस्यापि समानदोषत्वापादनार्थोऽतिदेश भाष्ये एव सुलिखितातिदेशोपायत्वात् न विव्रियते। विशेषणविन्यासोपायश्च सुलिखित एव प्रकाशस्थाने प्रवृत्तिं कृत्वेत्यादि सर्वमनुगन्तव्य यावद् वायुमिति। तथा तम शब्दकार्यमित्यादि तथैवानुगन्तव्य यावद् लम्बनपाषाणमिति। एव[11] समापितप्रसङ्ग इदानीं साधनमाह–अतस्त्रीण्यप्येकमित्यादि [यावद् वरणादि]तमस्त्ववदिति। सत्त्वरजस्तमांसि त्रीण्यपि प्रकाशप्रवृत्तिनियमात्मकानि शास्त्रान्तराभिमतान्येक वस्तुन[12] विरुद्धस्यात्मत्वाद् भिन्नमप्यभिन्नमिति पक्षार्थ। परमतापेक्षया त्रयाणामैक्यासिद्धे साध्यम्। २१८ २

त्रीण्यपि च परैस्य[13] सिद्धानि धर्मित्वेन अस्माकं च वस्तुशक्तित्वभेदेनेतीदं साध्यते, अन्यथा 'त्रीणि चैकं च' इति विरुद्धं स्यात्। अपृथग्भूतसमवस्थानस्वरूपभेदात्मकत्वात्, भूत भवन भावो भूतिरिति[14] भावे निष्ठाविधानादपृथग्भवनमस्य सङ्गत्या एकीभावेनावस्थानस्य तदिदमपृथग्भूतसमवस्थानम्, तदेव स्वरूपभेदाश्चात्मा येषां तानि सत्त्वादीनि अपृथग्भूतसमवस्थानस्वरूपभेदात्मकानि, तद्भावात्। क्षीरोदकवद्

---

१ तथा यदुच्यते—रज शब्दकार्यं प्रवर्त्य शब्दात्मना व्यवतिष्ठमान तद्भावाय इतरयो प्रवृत्तिं करोति प्रवर्तयति। अत्रापि तथैव अनुगन्तव्यं प्रकाशस्थाने प्रवृत्तिं कृत्वा सत्त्वस्थान रज प्रत्यापनस्थाने प्रवर्तन नभकाचायस्थान च वायुम्। तथा तम शब्दकार्यं नियम्य शब्दात्मना व्यवतिष्ठमान तद्भावायेतरयो प्रवृत्तिं व्यवस्थापयति नियमयति। अत्रापि तथैव दोषापादनमनुगन्तव्य प्रकाशस्थाने नियमं कृत्वा सत्त्वस्थानं तम प्रत्यापनस्थान नियमन भतकाचायस्थाने च लम्बनपाषाणम्।' इत्याशयकोऽत्र मूलपाठ स्यादिति सम्भाव्यते ॥ २ व्याख्यात भा० ॥ ३ स्थूलतेव प्र० ॥ ४ तथा प्र० ॥ ५ ति च रज प्र ॥ ६ न इति प्र० ॥ ७ स्य त स्थूल प्र०। अत्र स्य सत स्थूल इत्यपि पाठ स्यात्॥ ८ द्रष्टव्यं पृ० २९३ पं ६॥ ९ °कारत्वमिति प्र० ॥ १० तथा यदु प० ॥ ११ एवमसापितप्रसङ्ग प्र० ॥ १२ (वस्तुन ?)॥ १३ परस्परसिद्धानि प्र० ॥ १४ भूतिनिति प्र० ॥

देशकालभेदेन सहभवनेऽपि सङ्घत्यैक्यावस्थानस्वरूपत्वविशेषणात् क्वचित् कदाचित् पृथग्भवनाभावादित्युक्तं भवति । तत्स्वरूपभेदात्मकत्वं च वादिप्रतिवादिप्रसिद्धम् । दृष्टान्तः—**वरणादितमस्त्ववत्**, यथा वरणसदनापध्वंसनवैभत्स्य[1]दैन्यगौरवाणां परस्परतो भिन्नानां छादनस्तम्भनविशरणारोचनविषादाधोगमनधर्माणां भेदात्मकत्वे सत्यपि मोहात्मकतमःस्वारूप्यानतिक्रमेणैक्यमपृथग्भवनसमवस्थानस्वरूपभेदात्मकत्वात् तथास्मादेव हेतोः सत्त्वादीन्येकमिति ।

अत्राह—**अपृथग्भवनसमवस्थाने**त्यादि जात्यन्तरत्वसाधनानि यावद् **गुरुरित्युभाभ्यामन्य** इति, ननूक्तमन्वयवीत एव, अत्राह—कथं पुनरेतदुपलभ्यते सुखःदुखमोहा जात्यन्तराणि इति, अत्रोच्यते—सुखं[2] लघुप्रवृत्तिशीलं प्रकाशकं दृष्टम्, सुखाश्च करणप्रकाशाः, तस्मात् प्रवृत्तिनियमाभ्यामन्ये । तथा दुःखं चलमप्रकाशकं प्रवृत्तिशीलं दृष्टम्, दुःखाश्च करणप्रवृत्तयः, तस्मात् प्रकाशनियमाभ्यामन्याः । तथा मोहो गुरुरप्रकाशको दृष्टः, मूढाश्च करणनियमाः, तस्मात् प्रकाशप्रवृत्तिभ्यामन्य इति । **एतेनाध्यात्मिकानां**
२१९-१ **कार्य[3]कारणात्मकाना**मित्यादिनोत्तरेण ग्रन्थेन तैर्यग्योनादिसंसारगताध्यात्मिककार्यकारणात्मकभेदानां सुख-

---

१ °स्यादिगौर° प्र० ॥ २ "सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रज । गुरु वरणकमेव तम ·· ·· ॥ १३ ॥" **साङ्ख्य**का० ॥ ३ अत्र **न**यचकवृत्तौ **साङ्ख्य**कारिकावृत्ति**यु**क्तिदीपिकादिप्राचीनग्रन्थेषु च **साङ्ख्य**मतनिरूपणप्रसङ्गे **'कार्यकारणात्मक'**शब्दप्रयोगो वहुषु स्थानेषु दृश्यते । किन्तु पूर्वापरसम्बन्धविचारणया तद्व्याख्यावलोकनेन च तत्र **'कार्यकरणात्मक'** इति पाठ समीचीन इति भाति, दृश्यता पृ० १२ प० १७, पृ० **२२८** २ । **साङ्ख्य**मते हि प्रकृतेर्विकारभूता पदार्था कार्यकरणभेदेन द्विधा विभक्ता । तथा च तद्ग्रन्थ—"आह—करणं प्रत्याचार्यविप्रतिपत्ते, एकादशविधमिति **वा**र्षगणा, दशविधमिति तान्त्रिका **प**ञ्चाधिकरणप्रभृतय, द्वादशविधमिति **प**तञ्जलि, तस्माद् भवत कतिविधं करणमभिप्रेतमिति वक्तव्यमेतत् । उच्यते—**करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम्** । पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि मनोऽहङ्कारो बुद्धिश्चेत्येतत् सर्वं पुरुषार्थोपयोगि करणम् । आह—करणमिति क्रियाकारकसम्बन्धगर्भोऽयं निर्देश । कथम् ? येन [क्रियते] तत् करणमिति । तत्र वक्तव्यम् का क्रिया किं च तत् क्रियते यदपेक्ष्य बुद्ध्यादीना करणत्वमिति ? उच्यते, यदुक्तं 'का क्रिया' इत्यत्र ब्रूम—न तन्निर्वर्त्यमिहाभिप्रेतम् दण्डादिवत् । किं तर्हि ? तदाहरणधारणप्रकाशकरम् । तत्राहरण कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति, विषयार्जनसमर्थत्वात् । धारण बुद्धीन्द्रियाणि कुर्वन्ति, विषयसन्निधाने सति श्रोत्रादिवृत्तेस्तद्रूपापत्ते । प्रकाशमन्त करणं करोति निश्चयसामर्थ्यात् । अपर आह—आहरण कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति, धारणं मनोऽहङ्कारश्च, प्रकाशनं बुद्धीन्द्रियाणि बुद्धिश्चेति । एतदभिसन्धाय बुद्ध्यादीनां करणत्वमुच्यते इति । यत्तूक्तं किं कार्यमिति, उच्यते—**कार्यं च तस्य दशधा,** दशेति पञ्च विशेषा पञ्च अविशेषा । तदप्यत एव कार्यशब्दं लभते—**आहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च,** तद्धि आहर्तव्य धारणीयं प्रकाशयितव्य च अत कार्यमित्युच्यते, न निर्वर्त्यत्वात् । [का० ३२, पृ० १३२–१३३] । · · व्याख्यातं करणपर्व, कार्यपर्व इदानीं वक्तव्यम्, तस्य च पुरस्तादुद्देश कृत—कार्यं च तस्य दशधा पञ्च विशेषा पञ्च अविशेषा इति । साम्प्रतं तु निर्देशं करिष्याम । आह—यद्येवं तस्मादिदमेव तावदुच्यता के विशेषा केऽविशेषा इति । उच्यते—**तन्मात्राण्यविशेषाः** । यानि तन्मात्राणि पञ्च अहङ्कारादुत्पद्यन्ते इति प्रागपदिष्टं ते खलु अविशेषा । ·आह—अथ के पुनर्विशेषा इति । उच्यते—यानि खलु **तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः** उत्पद्यन्ते **एते स्मृता विशेषाः** [का० ३८, पृ० १४०] ।" इति **साङ्ख्य**कारिकाया **युक्तिदीपिका**या वृत्तौ । **माठरा**दिपरम्परासु तु "करण त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम् । कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्य च ॥ ३२ ॥" इति **साङ्ख्य**कारिका अन्यथा व्याख्याता दृश्यते, तद्यथा—"त्रयोदशविध करणं किं करोतीत्यत्रोच्यते—आहारकं धारकं प्रकाशक च । अत्राहारकमिन्द्रियलक्षणम्, धारकमभिमानलक्षणम्, प्रकाशक बुद्धिलक्षणम् । अत्राह—किं तदस्ति यस्याहरणं धारणं प्रकाशनं च क्रियते ? अत्रोच्यते—कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा पञ्च वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दास्तु पञ्च, एते दश विषया कार्यमित्युच्यते । तं दशविधं विषय बुद्धीन्द्रियै प्रकाशितमर्थं कर्मेन्द्रियाणि आहरन्ति धारयन्ति च । तद्यथा-तम स्थितं घटं दीपेन प्रकाशित हस्त आदत्ते

अपृथग्भवनसमवस्थान एतेनाध्यात्मिकानां कार्यकारणात्मकानां भेदानाम् मोहो गुरुरित्युभाभ्यामन्य[1] । **ननु लक्षणभेदाहेतुत्वम्, अपृथग्भूतसमवस्थानस्वरूपलक्षणभेदात्मकत्वात्, वरणादिभिन्नलक्षणतमस्त्ववत्।**

दुःखमोहमयत्वातिदेशः कार्यकारणात्मकत्वात् तेषामपीति । अस्य ग्रन्थस्यार्थव्याख्यानं साधनैरेव क्रियते— सत्त्वरजस्तमांसि जात्यन्तराणि, लक्षणभेदात्, चेतनशरीरवत् । लक्षणभेदः **सत्त्वं लघुप्रवृत्तिशीलं दृष्ट**मित्यादि तत्साधनैर्भाष्ये सुलिखितमिति न विवृणमहे । तथा रजस्तमसोरन्यत्वापादनसाधनान्यनुगन्तव्यानि यावद् **गुरुरित्युभाभ्यामन्य** इति ।

आचार्य उत्तरमाह—**ननु लक्षणभेदाहेतुत्व**मित्यादि यावत् **तमस्त्ववत्** । लक्षणभेदहेतूनां लघुत्वादीनामप्यहेतुत्वम्, एतेनैव प्रत्युक्तत्वात् । कथम् ? लघुत्वप्रकाशप्रवृत्तिशीलत्वान्यप्येकम्, **अपृथग्भूतसमवस्थानस्वरूपलक्षणभेदात्मकत्वाद् वरणादिभिन्नलक्षणतमस्त्ववत्**, तथैव व्याख्येयं लक्षणशब्दाधिक्येन, विग्रहस्तु तत्स्वरूपमेव लक्षणम्, स एव भेदो यस्येति । तस्मात् तादृक्स्वरूपलक्षणभेदात्मकत्वमप्यहेतुः । अतो नान्यत्वं सत्त्वादीनामिति ।

धारयति । तदेव यथा घटः तथा शेषाण्यपि । —जे० साङ्ख्यका० वृ० B माठरवृत्तावपि एतदर्थक एव पाठः । 'त्रयोदशविधं करणं किं करोतीत्यत्रोच्यते—(?) धारणं कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति प्रकाशं बुद्धीन्द्रियाणि कुर्वन्ति । तदाहरणधारणप्रकाशकरं किं तदस्ति यस्याहरणं धारणं प्रकाशं करणं करोतीत्यत्रोच्यते—कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च । कार्यमिति शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्च वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दास्तु पञ्च एते दश विषयाः कार्यमित्युच्यते । तं दशविधं विषयं बुद्धीन्द्रियैः प्रकाशितं कर्मेन्द्रियाणि आहरन्ति धारयन्ति चेति । जे० साङ्ख्यका० वृ० A । तत्राहरणं धारणं च कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति प्रकाशं बुद्धीन्द्रियाणि । कतिविधं कार्यं तस्येति तदुच्यते—कार्यं च तस्य दशधा । तस्य करणस्य कार्यं कर्तव्यमिति दशधा दशप्रकारं शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यं वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाख्यमेतद् दशविधं कार्यम् । बुद्धीन्द्रियैः प्रकाशितं कर्मेन्द्रियाणि आहरन्ति धारयन्ति चेति । इति गौडपादभाष्ये । शब्दादयः पञ्च विषया वचनादयः पञ्च वृत्तयः एतानि दश तत्कार्याणि । [किञ्च] तत्कार्यं त्रिविधम्–आहार्यं प्रकाश्यं धार्यमिति । तत्र त्रिभिराहृतं पञ्चभिर्बुद्धीन्द्रियैः प्रकाशितं पञ्च कर्मेन्द्रियाणि धारयन्ति । इति सुवर्णसप्ततिशास्त्रव्याख्याभिधानायां साङ्ख्यकारिकावृत्तौ [चीनभाषानुवादानुसारेण] । तत्र कर्मेन्द्रियाणि वागादीनि आहरन्ति यथास्वमुपाददते स्वव्यापारेण व्याप्नुवन्तीति यावत् । बुद्ध्यहङ्कारमनांसि तु स्ववृत्त्या प्राणादिलक्षणया धारयन्ति । बुद्धीन्द्रियाणि च प्रकाशयन्ति । कार्यं च तस्य त्रयोदशविधस्य करणस्य दशधा—आहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च । आहार्यं व्याप्यम् । कर्मेन्द्रियाणां वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दा यथायथं व्याप्याः ते च यथायथं दिव्यादिव्यतया दशेति आहार्यं दशधा । एवं धार्यमप्यन्तःकरणत्रयस्य प्राणादिलक्षणया वृत्त्या शरीरम्, तच्च पार्थिवादिपाञ्चभौतिकम् शब्दादीनां पञ्चानां समूहः पृथिवी ते च पञ्च दिव्यादिव्यतया दशेति धार्यमपि दशधा । एवं बुद्धीन्द्रियाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा यथायथं व्याप्याः ते च यथायथं दिव्यादिव्यतया दशेति प्रकाश्यमपि दशधेति ।' इति साङ्ख्यकारिकाया वाचस्पतिमिश्ररचितायां साङ्ख्यतत्त्वकौमुद्यां वृत्तौ । कलाविकरणाय नमः [पाशुपतसू० २८] । अत्र कला नाम कार्यकरणाख्याः कलाः । तत्र कार्याख्याः पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशः । आकाशः शब्दगुणः । शब्दस्पर्शगुणो वायुस्तौ च रूपं च तपसि । ते रसश्च जले ज्ञेयास्ते च गन्धः क्षिताविति ॥ शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः । तथा करणाख्याः श्रोत्रं त्वक् चक्षुः जिह्वा घ्राणं पादः पायुः उपस्थः हस्तः वाक् मनः अहङ्कारः बुद्धिरिति । इति पाशुपतसूत्रस्य पञ्चार्थभाष्ये Trivandrum Sanskrit Series No 143 ॥

[1] अपृथग्भवनसमवस्थानस्वरूपभेदात्मकत्वेऽपि सुखदुःखमोहा जात्यन्तराणि लक्षणभेदात् । एतेन आध्यात्मिकानां कार्यकारणात्मकानां भेदानां सुखदुःखमोहमयत्वं बोध्यं समन्वयदर्शनात् । सुखं लघु अप्रवृत्तिशीलं दृष्टमित्युभाभ्यामन्यत् । दुःखं चलमित्युभाभ्यामन्यत् । मोहो गुरुरित्युभाभ्यामन्य । इत्याशयको मूलपाठोऽत्र स्यादिति सम्भाव्यते ॥ २ लक्षणभेदहेतुत्व प्र० । अत्र लक्षणभेदहेतूनामप्यहेतुत्व' इत्यपि पाठः स्यात् ॥

नापृथग्भूतता । [1]सुखं मोहाद् गुरोरन्यत्, लघुत्वात्, लोहपिण्डादिव अर्कतूलः ... ...। पुनश्च सुखत्वदुःखत्वमोहत्वादयोऽप्यन्यत्वहेतवः स्युः । शरीरेन्द्रियगत आत्मैकदेशस्तदेकदेशभूताभ्यां रजस्तमोभ्यामन्यः, सुखत्वात्, लोष्टवत् । एवं दुःखमोहौ ।

सर्वेऽप्येते हेतवोऽप्रसिद्धसाध्यधर्मसमन्वयव्यावृत्तयः स्वत एवानुमाननिरा-

---

इतर आह–**नापृथग्भूतते**[2]त्यादि हेत्वसिद्धिप्रतिपादनसाधनानि लोकप्रसिद्धदृष्टान्तानि यावत् **प्रदी-**
२१९-२ **पादिव घट** इति । **लोष्टदृष्टान्तो** वक्ष्यते सुखदुःखमोहैः पुरुषभोग्यैरन्योन्यतोऽन्यैरुपेत इत्यतिदेशसाधनोक्तिकाल उत्तरत्र । अपृथग्भूतसमवस्थानस्वरूपमसिद्धम्, तत् कथमिति चेत्, साधनैरेवोच्यते–**सुखं मोहाद् गुरोरन्यदि**त्यादि सुबोधत्वान्न व्याख्येयं परस्परान्यत्वसाधनकदम्बकं यथाभाष्यलिखितमनुगन्तव्यम् । [3]**पुनश्चे**त्यादि, एतस्मादन्ये[4] साधनप्रपञ्चात् सुखत्वात् दुःखत्वाद् मोहत्वादित्यादयोऽप्य**न्यत्वहेतवः स्युः**, आदिग्रहणात् प्रसादादयोऽपीति । तत्प्रयोगदिगु[5]पप्रदर्शनार्थमाह–**शरीरेन्द्रियगत आत्मैकदेशस्तदेकदेशभूताभ्यां रजस्तमोभ्यामन्यः**, कार्यभूतस्य शरीरस्य कारणभूतानां चेन्द्रियाणामाध्यात्मिकानामेकदेशस्तदात्मभूतस्तं गतस्तदात्मभूताभ्यां रजस्तमोभ्यामन्यः, **सुखत्वात्, लोष्टवत्**, यथा लोष्टो भोग्यो हि पुरुषस्य भोक्तुरुपयोगार्थप्रवृत्तेः [6]कपोतोन्नयनार्थक्षेपणादानादिषु सुखं दृष्टं चलनपीडनादिषु दुःखं 'लोष्टो नु कपोतो नु' इत्यादिसंशयविपर्ययादिषु मोहः । तस्मात् सुखं दुःखमोहाभ्यामन्यद् [7]लोष्टवत्, लोष्ट इव लोष्टवत् । **एवं दुःखमोहा**वित्यतिदेशः, दुःखं शरीरेन्द्रियगतं तदात्मैकदेशभूताभ्यां सत्त्वतमोभ्यामन्यद् दुःखत्वाल्लोष्टवत्, मोहः सत्त्वरजोभ्यामन्यो मोहत्वाल्लोष्टवदिति ।

अत्र ब्रूमः–**सर्वेऽप्येत** इत्यादि । **सर्व**ग्रहणाद् लघुत्वादयो मोहत्वपर्यन्तास्त्वयोक्ता अन्यत्व**हेतवोऽप्रसिद्धसाध्यधर्मसमन्वयव्यावृत्तयः** । 'एते हेतवोऽसिद्धा एवावधारणे' इति [8]वक्ष्यति, सिद्धत्वेऽपि अप्रसिद्धसाध्यधर्मसमन्वयाः पृथग्भूतसुखाद्यात्मकसत्त्वादिलघ्वादितू[9]ललोष्टादिवस्त्वभावात्, सर्वस्य त्रैगुण्याव्यतिरेकाच्च । न चैषां विपक्षाद् व्यावृत्तिरस्ति, तूललोष्टादेरेव विपक्षत्वेन व्यवस्थानात् । विविक्तैकसुखात्म-
२२०-१ काद्धि वस्तुनोऽन्यद् विविक्तदुःखाद्यात्मकं स्याद् [10]विपक्षः, तत्तु नास्ति सर्वस्य त्रिगुणैकात्मकत्वात्, न पुरुषोऽसत्त्वात् तस्यापि सुखादन्यत्वादिति । ततश्च तूललोष्टादेरपि विपक्षत्वात् ततश्च लघुत्वादिहेतूना[11]म-व्यावृत्तेरप्रसिद्धसाध्यधर्मव्यावृत्तयस्ते हेतव इति विरुद्धत्वं हेतुदोषः । साध्यसाधनोभयानन्वयो धर्म्यसिद्धिश्च साधर्म्यदृष्टान्तः, साध्याव्या[12]वृत्तादिदोषश्च वैधर्म्यदृष्टान्त इति दर्शयति ।

---

१ 'सुखं मोहाद् गुरोरन्यत्, लघुत्वात्, लोहपिण्डादिवार्कतूलः, दुःखादन्यत् प्रवृत्तिशीलात्, अप्रवृत्तिशीलत्वात्, आकाशादिव वायुः । दुःखं मोहादन्यदचलात्, चलत्वात्, पर्वतादिव घटः । मोहः सुखदुःखाभ्यामगुरुभ्यामन्यः, गुरुत्वात्, पृथिव्या इव अग्निः । दुःखमोहौ सुखात् प्रकाशकादन्यौ, अप्रकाशकत्वात्, प्रदीपादिव घटः ।' इत्याशयको मूलपाठोऽत्र स्यादिति सम्भाव्यते ॥ २ °ग्भूतेत्यादि° य० ॥ ३ पुनरश्चे° य० । पुनरश्वे° भा० ॥ ४ °दन्य सा° प्र० ॥ ५ °गुपद° भा० ॥ ६ कपोतोनयना° प्र० ॥ ७ लोष्ट इव लोष्टवत् य० प्रतिषु नास्ति ॥ ८ दृश्यता पृ० ३०१ पं० २ ॥ ९ °कुल° प्र० ॥ १० विपक्षतस्तु नास्ति सर्वस्य त्रिगुणैकत्वात्मक° य० ॥ ११ °मव्यावृत्ते° प्र० ॥ १२ °वृत्यादि° य० । दृश्यता पृ० २६० टि० ७ ॥

कृतस्वपक्षप्रत्यक्षीकरणार्थाश्च । अनवधृतलघ्वादिधर्मतायामितरात्मकमपीति अतथा-त्वेन । असजातीयलक्षणव्यावृत्तार्थविषयतायामसिद्धं पक्षधर्मत्वमस्मान् प्रति भवन्ति च । तद्यथा—

[1]'णिच्छयतो सव्वलहुं सव्वगुरुं वा ण विज्जए दव्वं ।
ववहारतो तु जुज्जति बायरखंधेसु ण इतरेसु ॥ [बृहत्क० भा० ६५]

किञ्चान्यत्, स्वत एवानुमाननिराकृतस्वपक्षप्रत्यक्षीकरणार्थाश्च 'एते हेतवः' इति वर्तते, 'अस्ति प्रधानं भेदानामन्वयदर्शनात्' इति प्रकृत्य सुखदुःखमोहान्विता आध्यात्मिका बाह्याश्च शब्दादयः कार्यात्मकास्त्रयाणामेककार्यभावात्, तदारब्धाश्चाकाशवाय्वनलाम्भोभूमयो भूतान्येवास्तैर्यग्योनमानुषदैवानि शरीराणीन्द्रियाणि च तदात्मकानि त्रयाणामेककार्यभावात् सुखाद्यन्वितायेव चन्दनशकटादिवत् [ ] इत्येवमाद्यनुमानसिद्धं त्रैगुण्यम् 'अन्यत् सुखदुःखमोहाभ्यां लघ्वेव च' इत्येवमादिपक्षं निराकरोति तस्य स्वपक्षस्यानुमाननिराकृतस्यान्यानिरूपितस्य सकललोकाप्रत्यक्षस्य मतः प्रत्यक्षीकरणार्था एते हेतवः समुक्ता इतीदमनुमाननिरुद्धप्रतिज्ञाभ्युपगमोद्भावनवक्रोक्तिरेषा ।

किञ्चान्यत्, अनवधृतेत्यादि यावदतथात्वेन । 'लघुत्वात्' इत्यादयो हेतवः किमवधारितार्था उतानवधारितार्थाः ? इति सम्प्रधार्यमेतत्, लघ्वेव सुखं न गुरु न चलं वा, तथान्येषामपि चलत्वादीनां चलमेव गुर्वेव प्रवृत्तिशीलमेवेति । तत्रानवधारितलघ्वादिधर्मतायां सत्यामितरात्मकमपीति लघुचल-गुर्वादित्वात्मकत्वेनैव पक्षधर्मता स्यादेवं तथा सति इत्यतथात्वेन अनवधृतत्वेनेत्यर्थः, इतिशब्दो हेत्वर्थत्वात् ३३०, २
त्वात्मकत्वादित्यर्थः । असजातीयेत्यादि यावदस्मान् प्रति भवन्ति चेति । अथावधारितार्था एते लघ्वादि-हेतवो गुणाद्यसजातीयलक्षणव्यावृत्तार्थविषयास्तन्नेषामसजातीयलक्षणव्यावृत्तार्थविषयतायां विशेष-तोऽपक्षधर्मत्वेन, मूलतस्त्वस्मान् प्रति तावदपक्षधर्मत्वम् । तद्यथा—णिच्छयतो सव्वलहुंति गाथा,

---

१ पुनरपि शिष्यः प्राह—कथमेतदवसीयते यदेक आकाशप्रदेशोऽनन्तैर्गुरुलघुपर्यायैरुपेतः ? उच्यते—इह द्विविधं वस्तु रूपिद्रव्यमरूपिद्रव्यं च । तत्र रूपिद्रव्यं चतुर्धा तद्यथा—गुरु लघु गुरुलघु अगुरुलघु च । एतदप्युच्यते व्यवहारतः निश्चयतः पुनर्द्विविधमेव गुरुलघु अगुरुलघु च । तथा चाह—णिच्छयतो सव्वगुरुं सव्वलहुं वा ण विज्जए दव्वं । ववहारतो तु जुज्जति बायरखंधेसु णऽण्णेसु ॥ ६५ ॥ निश्चयतः निश्चयनयमतेन न किञ्चिद् द्रव्यं सर्वगुरु एकान्तगुरु, यदि स्यादेकान्तगुरु ततः एकान्तेनैव पतनधर्मि स्यात् न च पतति तस्मान्न विद्यते सर्वगुरु नापि सर्वलघु एकान्तलघु यदि स्यादेकान्तलघु ततो न कदाचित् पतति अथ कदाचित् पतति तस्मान्न सर्वलघ्वपि । व्यवहारतः व्यवहारनयमतेन पुनर्युज्यते सर्वगुरु सर्वलघु च । क्व ? इत्याह—बादरस्कन्धेषु बादरत्वपरिणामपरिणतेषु अनन्तप्रादेशिकेषु स्कन्धेषु नान्येषु सूक्ष्मपरिणामपरिणतेषु । तत्र गुरु द्रव्यं यथा—अयोपिण्डः लघु यथा—अर्कतूलम् गुरुलघु यथा—वायुः अगुरुलघु परमाण्वादि । निश्चयतः पुनरेवं द्विविधद्रव्यभावना—परमाणोरारभ्य यावदसंख्यातप्रदेशात्मको यश्चानन्तप्रदेशात्मकः सूक्ष्मस्कन्धः कार्मणप्रभृतिक एते अगुरुलघवः बादराः स्कन्धाः औदारिकवैक्रियाहारकतैजसरूपा गुरुलघवः । इति श्रीमलयगिरिसूरिविरचितायां बृहत्कल्पपीठिकानिर्युक्तिवृत्तौ । ओरालियवेउव्वियआहारगतेय गुरुलहू दव्वा । कम्मगमणभासाइ एयाइं अगुरुलहुयाइं ॥ ६५८ ॥ गुरुयं लहुयं उभयं नोभयमिति वावहारियनयस्स । दव्वं लेट्ठु दीवो वाऊ वोमं जहासंखं ॥ ६५९ ॥ निच्छयओ सव्वगुरुं सव्वलहुं वा न विज्जए दव्वं । बायरमिह गुरुलहुयं अगुरुलहु सेसयं सव्वं ॥ ६६० ॥ इति श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणविरचिते विशेषावश्यकभाष्ये ॥

२ तद्यथान्यर्था प्र० ॥ ३ तदारब्धानि य० । तदानि भा० ॥ ४ क्वयन प्र० ॥ ५ उतानवधारि प्र० ॥ ६ तस्मानन प्र० ॥ ७ कस्यैव प्र० ॥ ८ भवन्तसि अथा भा० । भव तसि अथा य० । दृश्यतां पृ० ३०२ पं० १२ १३ ॥ ९ दहेतवो प्र० ॥ १० ताया विशेषतो पक्ष भा० । ताया विशेषहेतो पक्ष य० ॥

अत्यन्तगुरुतायामेतदेव पतेत्, संयोगभावेऽपि पतनप्रतिबन्ध्यविषह्यगुरुत्वात्, तन्तुप्रतिबन्धानिवार्यपातोपलवत्। योगिनोऽपि च सुतरां पतनमेव स्यात्, शिलाबद्धशिलावत्। अत्यन्तलघुतायां न कदाचिदपि पतनं स्यात्। कन्यानुदरवत्तु व्यवहारोऽयमपेक्षाकृतो बादरस्कन्धविषयः। एवमेवापेक्षिकलोहपिण्डकार्कतूलगुरुत्वलघुत्वेऽनवस्थितैकत्वे।

निष्कृष्य अवधार्य नयतः ज्ञानतः परमार्थनयतो वा सर्वथा लघु सर्वं वा लघु **न विद्यते** तथा **सर्वगुरु द्रव्यम्**, परमाणुद्विप्रदेशाद्यसङ्ख्येयान्तानां केषाञ्चिदनन्तप्रदेशानां च स्कन्धानां शेषद्रव्याणां[1] चागुरुलघुत्वात्, ततः परमनन्तानन्तप्रदेशानां बादराणामापेक्षिकलघुगुरुपरिणामित्वात्, **व्यवहारनयेन तु युज्यते** लघुत्वं गुरुत्वं वा अन्योन्यस्मात् लघुर्गुरुर्वेति[2]। वातं[3] रातीति वातरा बदरप्रमाणा[4] बादरा वा स्कन्धाः स्थूला इत्यर्थः। **ण इतरेसु**, नेतरेषु[5], प्रागुक्तपरमाण्वादिषु सूक्ष्मेष्वगुरुलघुत्वमेवेत्यर्थः।

अत्यन्तगुरुतायामित्यादि निरपेक्षैकान्तगुरुतायां**मेतदेव पतेत्**[6] पतनक्रियमेव स्यात् न तिष्ठेद् नोर्ध्वं गच्छेद् गुरुत्वात्, दृष्टान्तो वक्ष्यमाणः। स्यान्मतम्—पतेदेव गुरु यदि प्रतिबन्धी न स्यात्, अस्ति तु संयोगः प्रतिबन्धी पतनस्य फलस्येव वृन्तमिति, अतो विशेषयामः—**संयोगभावेऽपि पतनप्रतिबन्ध्यविषह्यगुरुत्वा**दिति, प्रतिबन्धिना यद् विषह्यं न भवति गुरु तत् पतेदेव, स चास्य नास्ति प्रतिबन्धी त्वयैकान्तगुरुत्वाभ्युपगमात्। **तन्तुप्रतिबन्धानिवार्यपातोपलवत्**, एकेन तन्तुना प्रतिबन्धिना सत्यपि
२२१-१ संयोगभावे तदविषह्यगुरुत्वात् पतत्येव यथोपलस्तथैतत् पतेदेव सुखं लघुत्वशून्यगुरुत्वादिति। **योगिनोऽपि** चेत्यादि, योऽपि चास्य योगी प्रतिबन्धकस्तस्यापि च योगिनः प्रतिबन्धिनो गुरुत्वात् तत्पतनोपचयहेतुत्वात् **सुतरां पतनमेव स्यात्** पतेदेव तेनापि हि सह **शिलाबद्धशिलाव**[7]दिति पातहेतुत्वं द्रढयति। एवं तावदत्यन्तगुरुत्वे पतनमेव प्रसक्तम्। अथवा[8] मा भूदेष दोष इत्यत्यन्तलघुत्वमिष्यते[9] ततो**ऽत्यन्तलघुतायां न कदाचिदपि पतनं स्यात्**, पाताख्यो भाव एव न स्यात् तस्योत्पत्तिकारणाभावात्, तच्च कारणं गुरुत्वं पतनस्य, तदभावात् खपुष्पवत् न स्यात्। स्यान्मतम्—दृष्टविरुद्धमुच्यते गुरुलघुत्वदर्शनात् 'अर्कतूलो लघुर्गुरुर्लोहपिण्डः' इति दृष्टत्वादिति। एष न दोषः, यस्मात् **वंवहारतो[10] तु जुंज्जति**[11] इत्युक्तत्वादित्यत आह—**कन्यानुदरवत्तु व्यवहारोऽयमपेक्षाकृतो बादरस्कन्धविषय** इति, यथा 'अनुदरा कन्या' इत्यन्यासामुदरवतीनामुदरेण सदृशमुदरमस्या नास्तीत्युदरवत्येव 'अनुदरा' इत्युच्यते व्यवहारतस्तथा बादरस्कन्धेषु लघुगुरुत्वे। यदपि च लोहपिण्डार्कतूलोदाहरणं तदपि तत्तुल्यापेक्षिकलघुगुरुत्वे एव साधयतीत्यत आह—**एवमेवापेक्षिके**त्यादि यावद**नवस्थितैकत्वे**। अल्पवाचिनि[12] कनि **लोहपिण्डकः** पलमात्रप्रमाणोऽर्कतूल-

---

१ शेषद्रव्याणां धर्मास्तिकायादीनामित्यर्थः ॥ २ **लघुगुरु**° प्र०। अयमपि **लघुगुरु**° इति पाठः कथञ्चित् सङ्गच्छत एव, दृश्यतां पृ० ३०१ टि० १ ॥ ३ **वातं वातं रातीति** भा० ॥ ४ °**माण** प्र० ॥ ५ **नतरेषु** प्र० ॥ ६ °**मेतेदेव पतेत्** भा०। अत्र °**मेतत् पतेदेव** इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ७ **शिलाबद्धशिलाबद्ध**° य० ॥ ८ अत्र **अथ मा** इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ९ **इत्यन्तल**° प्र० ॥ १० **व्यव**° य० ॥ ११ **युज्यतीत्युक्त**° प्र०। दृश्यतां पृ० ३०१ पं० ५ ॥ १२ **अल्पवाधिनि कनि** प्र०। 'लोहपिण्डक' इत्ययं शब्दः '**कन्**'प्रत्ययान्तः, स च 'कन्'प्रत्ययः 'अल्प'वाची "अल्पे" [पा० ५।३।८५] इति सूत्रेण विधीयमानत्वादित्याशयः ॥

अत्र ममात्र किम्? द्रव्य चैतदेव लघुगुरुत्वापेक्षया तदेव दृष्टम्, न गुणा'। सत्त्वादयो गुणास्त्विमे लघुत्वादिलक्षणा मयोच्यन्ते, द्रव्यता तेषा सद्भावे एकत्वापत्तौ भवति।

आ अत्रापि यदि गुणसद्भावो द्रव्यमिष्यते ततस्तवाप्येतद्द्रव्यमेव, कुतोऽस्यासद्भाव? सत्त्वादयो गुणा लघुत्वादिलक्षणास्तत्सन्द्रुतिलक्षण द्रव्यमेव, शब्दादिभावेन व्यवस्थानात्, शब्दादिस्वात्मवत्।

अनापन्नतद्रूपस्य असन्द्रुतस्य शब्दादिभावापत्तिकाले व्यवस्थानशब्देनोच्यत

भाराद्वर्षीयान् 'पलशतिका तुला, विंशतिस्तुला भार' [ ] इति परिभाषितत्वात्। अयस्पिण्डो गुरुरपि लघुस्तूलो लघुरपि गुरुरेव इत्यनवस्थितगुरुत्वलघुत्वतत्त्वे गुरुलघुत्वे, आपेक्षिकत्वादस्मान् प्रति न गुरुत्वलघुत्वे परस्परतोऽन्ये, ततो नायस्पिण्डात्तूलमदृष्टान्तोऽस्ति। २२१

इतर आह–अथ ममात्र किमित्यादि यावदेकत्वापत्तौ भवतीति। यदि युष्मत्सिद्धान्तेनानवस्थितत्त्वे लघुगुरुत्वे युज्येते ततो युक्तमुक्तम्–अस्मान् प्रत्यसिद्ध 'लघुत्वं' इति। ततो ममात्र किम्? यत् पुनरेतदुक्त 'भवन्त च प्रत्यसिद्धम्' इति तदयुक्तमुक्तम्। यदपि च भवत्सिद्धान्तेनोक्त तदपि नोपपद्यते, यस्माद् द्रव्य चैतदेव लघुगुरुत्वापेक्षया तदेव दृष्टमिति न गुरुत्वादयो गुणा, सत्त्वरजस्तमांसि च, लघ्वादिप्रकाशाद्यात्मका गुणास्त्विमे तल्लक्षणा मयोच्यन्ते, तेषा गुणाना सद्भावे सङ्गमे, तदथव्यक्ति एकत्वापत्ताविति, तत्रैतस्मिन् गुणैकगमने द्रव्यता भवति गुणसद्भावो द्रव्यम् [पा० म भा० ५।१।११९] इति लक्षणात्, ते च गुणा परस्परतोऽन्ये, तस्मान्नासिद्धमित्यभिप्राय।

आचार्य आह–आ अत्रापीत्यादि यावच्छब्दादिस्वात्मवदिति। नन्वेतदनिपादनमेव वर्तते 'अनवस्थ गुणानाम्, तस्मादैक्यकारणम्'। यदि भवता गुणसद्भावो द्रव्यमिष्यते ततस्तवाप्येतद् द्रव्यमेव, न गुणा पृथक्, सन्द्रुतानामेवावस्थानात् कुतोऽस्यासद्भाव? न प्रधानावस्थाया नापि व्यक्तावस्थायामसद्भाव, यतोऽस्यासद्भावाद्द्रव्यत्व स्यात्। तस्माद् द्रव्यमेव, न पृथग् लघ्वाद्यो गुणा इति। तत्रापि च प्रतिज्ञायते–सत्त्वादयो गुणा लघुत्वादिलक्षणा तत्सन्द्रुतिलक्षण द्रव्यमेव, शब्दादिभावेन व्यवस्थानात्, यो य शब्दादिभावेन व्यवतिष्ठते स सोऽर्थो लघ्वादिलक्षणगुणसन्द्रुति द्रव्यमेव, शब्दादिस्वात्मवत्, यथा शब्दादिस्वात्मान सत्त्वादिगुणसन्द्रुतिलक्षण द्रव्यमेव शब्दादिभावेन व्यवस्थानात् तथा लघुगुरुत्वादिलक्षणा सत्त्वादय इति। २२२

अनापन्नतद्रूपेत्यादि यावदुच्यत इति चेदिति। शब्दादिरूपमनापन्नस्य सत्त्वस्यासन्द्रुतस्य गुणत्रयसङ्गतस्य तदनात्मकस्य स्वेनैव रूपेण स्थितस्य प्रागारम्भादारभमाणस्य च य शब्दादिभावापत्तिकालो यावन्निष्पन्नशब्दादिरूपकाल स्थाय सा व्यवस्था 'सत्त्व शब्दार्थं प्रख्याय शब्दात्मना व्यव

---

१ तुला स्त्रियां पलशतम्, भार स्याद् विंशतिस्तुला। इति अमरकोश २।९।८७। 'पलसयमइया तुला दस तुलाओ अद्धभारो वीस तुलाओ भारो। इति अनुयोगद्वारसूत्र सू० १३२॥ २ यस्त्विक्गु य०। यस्त्यक्गु भा०॥ ३ दलोनत्वे प्र०॥ ४ दृश्यतां पृ० ३०१ पं० २॥ ५ प्रसिद्धम् प्र०॥ ६ सभूतानां प्र०॥ ७ युताभ्यां भा०। युतम्या य०॥ ८ मत्तस्यासन्द्रस्या' प्र०॥ ९ दृश्यतां पृ० २८८ पं० ॥

इति चेत्, न, पूर्वतुल्यत्वात् नान्तरेण प्रवृत्त्याद्येकत्वगतिं व्यवस्थापत्तेः।

अतो यथाहेत्वैकान्तिकत्वत्प्रयुक्तलक्षणवैलक्षण्यविशेषणपक्षविरचनया त एवान्यत्वहेतवो विपर्यसनीयाः – सुखं मोहाद् गुरोरनन्यत्, लघुत्वात्, लोहपिण्डवदर्कतूलवत् शब्दभावव्यवतिष्ठमानसुखादिवद्वा। तथा दुःखात् प्रवृत्तिशीलादनन्यत्, प्रवृत्तिशीलत्वात्, वायुवदाकाशवदित्यादि। मुक्त्वापि वा लक्षणभेदवैल-

---

तिष्ठमानम्' इति व्यवस्थानशब्देनोच्यते, अन्यथा व्यवस्थितमेव शब्दादिभावेन स्यात् सत्त्वमिति। एतच्च न, पूर्वतुल्यत्वात्, यथा प्रागुक्तं[1] लघ्वादिलक्षणसत्त्वाद्यैक्यापत्तिर्द्रव्यम्, तच्च कदाचिन सत्त्वादि[2]पृथगवस्थानाभावात् तत्सन्द्धुतिलक्षणमेवोक्तम्[3], तथेहापि न स कश्चिन् कालोऽस्ति यः प्रवृत्तिनियमविरहितप्रकाशमात्रावस्थानोपलक्षितो यदि[2] प्रधानावस्थायां यदि व्यक्तावस्थायामिति. अत आह – नान्तरेण प्रवृत्त्याद्येकत्वगतिं व्यवस्थापत्तेरिति। आदिग्रहणान्नियमो गृह्यते, प्रवृत्तिनियमावन्तरेण न व्यवस्थापत्तिरस्ति, अतो हेतोर्नान्तरेण प्रवृत्त्याद्येकत्वगतिं व्यवस्थापत्तेः पूर्वेण तुल्यत्वम्, इति नास्ति सत्त्वादिपृथक्त्वं तवापीति।

अतो यथाहेत्वैकान्तिकेत्यादि यावद् विपर्यसनीयाः। एतस्मादेव सत्त्वाद्येकत्वाद् यो यो हेतुर्यथाहेतु 'सुखं मोहाद् गुरोरन्यद् लघुत्वात्' इत्यादि त्वत्प्रयुक्तः स स हेतुर्विशेषेणास्मत्पक्षं साधयन्नैकान्तिको भवति। तं प्रति यथैकान्तिको भवति तथोच्यते – सुखं[5] मोहाद् गुरोरनन्यल्लघुत्वात्, यद् यल्लघु तत् तद् गुरोर[6]नन्यत्, लोहपिण्डवदर्कतूलवत्, यथा प्राग्[7]वर्णितमापेक्षिकमर्कतूलगुरुत्व लोहपिण्डलघुत्वं चेति तद्[8] द्वयं सहितं दृष्टान्तः। शब्दभावव्यवतिष्ठमानसुखादिवद्वेति लौकिकार्था-

२२२ २ तिक्रमेऽपि त्वन्मतेनैव दृष्टान्तान्तरमिति। तथा दुःखात् प्रवृत्तिशीलादनन्यत्, सुखमिति वर्तते। कुतः? अप्रवृत्तिशीलत्वाद् वायुवदाकाशवदिति पृथक्त्वाभावाद् दर्शयति, यथा वायुराकाशं वा सुखात्मकं दुःखात् प्रवृत्तिशीलादनन्यत् तथेहा[9]पीत्यादिग्रहणाद् दुःखं सुखादनन्यद्[10]प्रवृत्तिशीला[11]त्, प्रवृत्तिशीलत्वात्, यद्यत् प्रवृत्तिशील तत् तद्[10]प्रवृत्तिशीलादनन्यद् वाय्वाकाशवत्। तथा सुखं दुःखमोहाभ्यामप्रकाशकाभ्यामनन्यत्, प्रकाशकत्वात्, घटप्रदीपादिसुखवत्। तथा दुःखं मोहादनन्यदचलात्, चलत्वात्, [घट]पर्वतादिदुःखवत्, तथा सुखात् प्रकाशकादनन्यत्, अप्रकाशकत्वात्, प्रदीपघटादिदुःखवत्। तथा मोहः सुखदुःखाभ्यामगुरुभ्यामनन्यः, गुरुत्वात्, पृथिव्यग्न्यादिगुरुत्ववत्। एव च सुखत्वाद् दुःखत्वाद् मोहत्वात् प्रसादादिकार्यत्वादित्यादयोऽप्यनन्यत्वहेतव एव। प्रत्येकमितरगुणस्वरूपानन्यत्वं प्रतिज्ञाय त[12]त्तद्रूपविनिवृत्तिहेतुतो यत् किञ्चिद् वस्तूदाहृत्य साध्यम्, सर्वस्य लोष्टादेर्लघुप्रकाशेतरादिपरस्पराप्रथग्भूतगुणात्मकत्वात्। तद्यथा – शरीरेन्द्रियगत आत्मैकदेशस्तदेकदेशभूताभ्यां रजस्तमोभ्यामनन्यः सुखत्वा-

---

१ द्रश्यता पृ० ३०३ पं० २ ॥ २ ✓ ✓ एतच्चिह्नान्तर्गत पाठो य० प्रतिपु नास्ति ॥ ३ द्रश्यतां पृ० ३०३ पं० ५ ॥ ४ द्रश्यता पृ० ३०० पं० १ ॥ ५ सुखं नोद्गुरो° प्र० ॥ ६ °रन्यत् प्र० ॥ ७ प्रागुवर्णि° भा० ॥ ८ तद्वयं प्र० ॥ ९ °पीति आदि° प्र० ॥ १० ✓ एतच्चिह्नान्तर्गत पाठो भा० प्रतौ नास्ति ॥ ११ °लाद-प्रवृत्तिशीलत्वात् यद्यप्रवृत्ति° य० ॥ १२ ततद्रूप° प्र० ॥

क्षण्यविशेषणपक्षविरचना भेदलक्षणाभिमतेभ्य एव हेतुभ्योऽभेदसिद्धिः शक्या आपादयितुं स्फुटेनैव न्यायाध्वना–सुखं मोहादनन्यत्, अपुरुषत्वेऽचलत्वात्, मोहस्वात्मवत् । दुःखादनन्यत्, अनियमशीलत्वात्, दुःखस्वात्मवत् । दुःखं सुखात् दुःखस्वात्मवत् ।

नन्वेवं विरुद्धाव्यभिचारिवदुभयानिश्चयः, न, उक्तत्वात्, भावितत्वाच्च सदा-

लोष्टवत्, सत्त्वरजोभ्यामनन्यो मोहत्वाल्लोष्टवत् । तथा शरीरेन्द्रियगत आत्मैकदेशस्तदेकदेशभूताभ्यां[2] रजस्तमोभ्यामनन्यः प्रसादकार्यत्वाल्लोष्टवत्, एवं लाघवप्रसन्नादिभ्यः । तथा सत्त्वतमोभ्यामनन्यः शोषत्वा-ल्लोष्टवत् । एवं तापादिभ्यः । तथा सत्त्वरजोभ्यामनन्यो वरणत्वात्, एवं सदनादिभ्य इति । एवं तावद् यथाहेत्वनैकान्तिकत्वं प्रति त एवान्यत्वहेतवः 'अनन्यत्वहेतवः' इत्युक्तास्त्वत्प्रयुक्तलक्षणवैलक्षण्यविशेषणपक्ष- २२३ १ विरचनया लघ्वादय एव ।

अथवा **मुक्त्वापि**[4] वा । लक्षणभेदहेतुना 'सुखं मोहाद् गुरोरन्यल्लघुत्वाद् महालोष्ठपिण्डार्कतूलवत्' इत्यादिविशेषणमन्तरेण भेदो न शक्यः साधयितुमिति तद्रचनाकुसृतिर्यथा त्वया क्रियते तथैव मया कृता, किन्तु तां **मुक्त्वापि लक्षणभेदवैलक्षण्यविशेषणपक्षविरचना** सत्त्वादिभेदलक्षणाभिमतेभ्य एव त्वदु-क्तेभ्यो लघ्वादिहेतुभ्योऽभेदसिद्धिः शक्या आपादयितुं **स्फुटेनैव न्यायाध्वना** भ्रान्तिजननेन विनेत्यर्थः । तद्यथा–**सुखं मोहादनन्यत्, अपुरुषत्वेऽचलत्वात्, मोहस्वात्मवत्,**[7] ↑ अपुरुषत्वविशेषित 'अचलत्वात्' इति हेतुः पुरुषादचलाद् व्यावर्त्यते मा भूदनैकान्तिक इति । **दुःखादनन्यत्** सुखमिति वर्तते, **अनियमशीलत्वात्,** अत्रापि ↑ अपुरुषत्वविशेषणं द्रष्टव्यमधिकारात्, **दुःखस्वात्मवदिति** । तथा **दुःखं सुखादित्यादि**[9] साधनचतुष्टयं सुखादनन्यत्वसाधनद्वयवदपुरुष[त्व]विशिष्टं दुःखमोहयोः संयोग-निष्पन्नमिति साधनषट्कं गतार्थं यावद् **दुःखस्वात्मवदिति*** ।

इतर आह–**नन्वेवं विरुद्धाव्यभिचारिवदुभयानिश्चयः** । यथोक्तम्–यैर्योक्तलक्षणयो-र्द्वयोर्विरुद्धयोर्नित्यानित्यसाधकयोरेकत्र संनिपतितयोर्हेत्वोरेकस्मिन् धर्मिणि शब्दे परस्परनिवारित-व्याप्त्योः श्रावणकृतकत्वयोः शब्दत्वघटादिदृष्टान्तयोरुभयत्र संशयो भवति [ ] इति, तथे-[11] आवाभ्यामुक्तैरन्यत्वानन्यत्वहेतुभिरुभयानिश्चयोऽस्तु, मा भूत् त्वत्प्रोक्तानामेवैकान्तिकत्वमिति ।

अत्रोच्यते–**न, उक्तत्वात्,** नैष उभयानिश्चयो युज्यते, अस्माभिः[12] "[13]भिन्नात्मकतायां तु इत्यादि २२३ २ ग्रन्थस्य सुखं दुःखादनन्यत् अनात्मत्वे सत्यावरणाद्यात्मकत्वात् दुःखस्वात्मवदित्यादिभिरैकान्तिकैर्हेतुभिर-नन्यत्वस्य लिङ्गित्वात् । अथवा **नोक्तत्वादिति** त्वत्प्रयुक्तानामन्यत्वहेतूनां लघुत्वादीनामुक्तन्यायेनोपत्वात् 'सर्वे ऽ-

१ दुःखं सुखादनन्यदनियमशीलत्वात् सुखस्वात्मवत्, मोहादनन्यदप्रकाशात्मकत्वात् मोहस्वात्मवत् । मोहः सुखादनन्य अचलत्वात् सुखस्वात्मवत् दुःखादनन्यः अप्रकाशत्वात् दुःखस्वात्मवत् । इति मूलं सम्भाव्यते ॥ २ एकदेशभूताभ्यां प्र ॥ ३ सत्त्वतमोभ्यां प्र० ॥ ४ चना ल य० ॥ ५ पि चापलत्वेण य० ॥ ६ सदादिभेद प्र० ॥ ७ ↑ ↑ एतचिह्नान्तर्गत पाठो य० प्रतिषु नास्ति ॥ ८ दुःखमित्यादि य ॥ ९ * * एतचिह्नान्तर्गत साधन इत्यत आरभ्य वदिति इत्यन्त पाठो य० प्रतिषु नास्ति ॥ १० (सुखानन्यत्व)? ॥ ११ एकस्मिंश्च द्वयोर्हेत्वोर्यथोक्तलक्षणयोर्विरुद्धयोः संनिपाते सति संशयदर्शनादयमन्यः सन्दिग्ध इति केचित् ।' इति प्रशस्तपादभाष्ये बुद्धिनिरूपणे ॥ १२ तस्माभि प्र ॥ १३ दृश्यतां पृ० २६० पं० ४ ॥ १४ दृश्यतां पृ० २७८ पं० १ ॥ १५ दृश्यतां पृ० ३०० पं० ५ ॥

गुणेषु सन्द्रावस्य । विरुद्धाव्यभिचारिणि चोक्तम्–प्रत्यक्षागमबलीयस्त्वात् तत एव निश्चयोऽन्विष्यते [प्र० समु० वृ०] इति । बलीयस्त्वं चास्मद्वतृनामाप्तहेतुभावनात् ।

एवंतेऽप्रसिद्धसाध्यधर्मसमन्वयव्यावृत्तयः, अनुमाननिराकृतपक्षाः, अनवधारणे विपर्ययहेतवः, अवधारणे चापक्षधर्मा एवेति । तस्मादनैकान्तिकाः । तेषां चैकान्तिका अस्मदुक्ता निवर्तका एवेति न तुल्यभावयोः ।

इतश्चातुल्यभावयोः–भावितत्वाच्च गुणेषु सदा सन्द्रावस्य. बहुधा भावितं हि सदा सत्त्वादयो गुणाः सन्तुता एव प्रधानमहदहङ्कारादिसर्वावस्थासु न जातु पृथग्भूतमवस्थान्तीति । किञ्चान्यत्. विरुद्धाव्यभिचारिणि चोक्तम्, विरुद्धाव्यभिचारिण्यपि न परस्परनिवारितव्याप्तिस्वमात्रात् संशय एव, किं तर्हि ? प्रत्यक्षागमबलीयस्त्वात् तत एव निश्चयोऽन्विष्यते इति ह्युक्तम्. तयोर्विरुद्धाव्यभिचारिणोः पक्षधर्मयोर्यः प्रत्यक्षीकृतार्थेनागमेन बलीयान् प्रत्यक्षसमवादिना प्रत्यक्षेणागमेन च जनितबलाद्वा प्रत्यक्षेणैवागमेनैव वा यथाप्रसिद्धि यो बलीयांस्तत एव निश्चयोऽन्विष्यत इत्यादिव्याख्याविकल्पेषु प्रत्यक्षागमेन घटादिषु प्रसिद्धसाध्यानित्यत्वान्वयस्य कृतकत्वहेतोर्बलीयस्त्वात् ततोऽनित्य इति निश्चयः स्यात्, न तु श्रावणत्वस्य शब्दत्वे प्रत्यक्षीकर्तुं शक्योऽन्वयः शब्दत्वस्याप्रसिद्धत्वादिति, तद्धन किमिह साधर्म्यमिति चेत्, उच्यते–बलीयस्त्वं

---

१ बौद्धाचार्यदिङ्नागविरचितायाः प्रमाणसमुच्चयग्रन्थस्य भोटभाषानुवादे परार्थानुमानपरिच्छेदेऽयं निर्दिष्टः पाठ उपलभ्यते—"गट् गिन्हे स्ग्र-ञिद् तॅग् पर् ग्सल् ञॅन पर् ब्येद् प दॅडि-ह्रे ऽदि ग्तन त्शिग्स ञिद् दु ऽग्युर् गे झेन । गन्ग्ने ऽदि ल यङ म नॅस् प ञिद् क्यि गतन छिग्स ब्सम् प ञिद् ल मोग्स प ऽगऽ ञिग् ब्स्तन पर् मि ब्येद् न नि ऽग्युर् न । गञिग् द्मिग्स्-प न ऽगल् ब दङ दॅन गञिग् ल नि ञिद् पऽि फ्यिर् थॅ-छोम् गिग् र्ग्यु ञिद् नो । ऽदि ल यङ मुङोन् सुम् दङ् लुङ स्तोब्स् ढङ् ल्दन-पऽि फ्यिर् दे गोन लस् ङॅस् प ब्चल् पर् ब्यऽो ।" [Tanjur, Mdo, Narthang Edition, No. 95. p 134 B] अस्य चायमर्थः—"यदा शब्दत्वं नित्यमभ्युपगम्यते तदा अयं [=शब्दो नित्यः श्रावणत्वात् शब्दत्ववत्] हेतुरेव स्यादिति चेत्, स्याद् यदि अत्रापि अनित्यत्वस्य हेतुः कृतकत्वादिः कश्चिन्न प्रदर्श्येत । उभयोरप्यर्थयोर्विरुद्धयोरेकस्मिन्नर्थेऽसम्भवात् संशयहेतुः । अत्र च प्रत्यक्षागमबलीयस्त्वात् तत एव निश्चयोऽन्विष्यते ।" दिङ्नागविरचिते न्यायमुखेऽपि एतदर्थक एव पाठ उपलभ्यते । यद्यपि न्यायमुखग्रन्थः संस्कृतभाषायां नोपलभ्यते सम्प्रति तथापि Yuen-Chwang इत्यनेन १३०० वर्षेभ्यः पूर्वं विहितं चीनभाषानुवादमवलम्ब्य Giuseppe Tucci इत्यनेन विहिते English भाषानुवादे निम्नलिखितः पाठ उपलभ्यते—Some object "the reason because it is audible" is not असाधारण, as you assume, but it must be a valid reason when we discuss against a [वैशेषिक who] thinks that soundness is eternal" [My reply is] that this argument can be valid until the opponent has not indicated that the reason of non-eternity is the fact of being product etc But if validity can be reached in either way, since contradiction regarding one and the same object is inadmissible, this kind of reason proves to be a doubtful reason Moreover in this world the force of direct perception and of authority of the scripture [AGAMA] is stronger than any argument and therfore we must search after truth on the basis of these [two means of knowledge], p 34, 35 ॥ २ न्वेष्यते प्र० । ह्युक्तम् भा० । ह्युक्तम् डे० लीं० । त्युक्तम् वि० । युक्तम् पा० र० हीं० ॥ ४ °मेंथर्यन्पत्यक्षी° भा० । °मयोर्यत्यक्षी° य० ॥ ५ तद्धक्किमिद य० । तद्धक्किमित्याह भा० ॥

मा मंस्थास्त्वदीया हेतवो बलीयांसः, अस्मत्पक्षसाधनत्वायैतो विपरिवर्तयितुं शक्यत्वात्। तद्यथा—सुखादन्यद् दुःखम्, प्रसादाद्यनात्मकत्वात्, पुरुषवत्। मोहश्च दुःखादन्यः, तत एव, तद्वत्। मोहादन्ये सुखदुःखे, वरणाद्यनात्मकत्वात्, पुरुषवत्।

किं त्वान्मात्रादेव विपरिवर्तनम्? त्रैलक्षण्यात्? त्रैलक्षण्याच्चेत्, आदिलक्षणं

चास्मद्धेतूनामाद्यहेतुभावनात्, भिन्नात्मकताया तु इत्यादि प्रक्रम्य अनात्मत्वे सति अवरणाद्यात्मकत्वान्नित्यादिभिराद्यहेतुभिः प्रत्यक्षागमबलीयस्त्वमापादितम्। तस्मान्न समं नौविति।

इतर आह—मा मंस्थास्त्वदीया हेतवो बलीयांसः 'अवरणाद्यात्मकत्वादयः' इति। तदबलत्व २२४ १ च अस्मत्पक्षसाधनत्वायैतो विपरिवर्तयितुं शक्यत्वात्। तद्यथा—पूर्वहेतवस्तावदबलाः, यतः शक्यन्ते त इतोऽपि सुतरां पुरुषनिवृत्त्यर्थमनात्मत्वविशेषणादृतेऽपि विपरिवर्तयितुम्। तद्यथा—सुखादन्यद् दुःखं प्रसादाद्यनात्मकत्वात् पुरुषवत्, असमर्थसमासेनागमकेनाप्यर्थं गृहीत्वा नैभिर्योक्त्यनुसारेणोक्तम्। मोहश्च दुःखादन्यः, तत एव, तद्वदिति। चशब्दाद् दुःखादन्यौ सुखमोहौ शोषाद्यनात्मकत्वात् पुरुषवत्, तथैव व्याख्या, द्वे साधने समस्योक्ते मोहादन्ये सुखदुःखे वरणाद्यनात्मकत्वात् पुरुषवदिति तथैवेति। अत्रोच्यते—किं त्वान्मात्रादेव विपरिवर्तनम्? त्रैलक्षण्यात्? इति प्रश्नः। प्रतारणार्थभावनाच्चिप्रत्ययसहितपञ्चम्यन्तशब्दप्रयोगमात्रात् पक्षधर्मसादृश्यात् त्रैलक्षण्यशून्यात् परिवर्तनमित्यभिप्रायः। स्यान्मतम्—न त्वान्मात्रात्, किं तर्हि? त्रैलक्षण्याच्चेदेव चेन्मन्यसे, तदयुक्तम्, यस्मादादिलक्षणमेव नास्ति, इदं पक्षधर्मत्वमेव तावन्नास्ति यदाधारेण शेषद्वयम्। कथं पक्षधर्मो नास्तीति चेत्, यस्माद् न

---

१ तायास्तु प्र०। दृश्यतां पृ० २७ पं ४॥ २ दृश्यतां पृ० २७८ पं २॥ ३ नौ आवयोरित्यर्थः॥ ४ अस्तित्वह कस्मान्न भवति? अगमकत्वात्। इह समानार्थेन वाक्येन भवितव्यं समासेन च। यथेहार्थो वाक्येन गम्यते महत्कष्टं श्रितः इति नासौ जातुचित् समासेन गम्यते महत्कष्टश्रित' इति। एतस्माद्धेतोर्ब्रूम—अगमकत्वादिति। न ब्रूम असामर्थ्यादिति। यत्र च गमकत्वं भवति भवति तत्र वृत्तिः तद्यथा—देवदत्तस्य गुरुकुलम् देवदत्तस्य गुरुपुत्रः देवदत्तस्य दासभार्या' इति। यद्यगमकत्वं हेतुः, नार्थः समर्थग्रहणेन इहापि भार्या राजपुरुषो देवदत्तस्य इति योऽर्थो वाक्येन गम्यते नासौ जातुचित् समासेन गम्यते भार्या राजपुरुषो देवदत्तस्य इति तस्मान्नार्थः समर्थग्रहणेन। इदं तर्हि प्रयोजनम्—अयमस्त्यसमर्थसमासो नञ्समासो गमकः तस्य साधुत्वं मा भूत् अकिञ्चित्कुर्वाणम् अमाषं हरमाणम् अगाधाद् उत्सृष्टम् इति। एतदपि नास्ति प्रयोजनम् अवश्यं कस्यचिद् नञ्समासस्यासमर्थसमासस्य गमकस्य साधुत्वं वक्तव्यम्—असूर्यंपश्यानि मुखानि अपुनर्गेयाः श्लोकाः अश्राद्धभोजी ब्राह्मणः अलवणभोजी ब्राह्मण इति। सुप्सुपमस्येयेतान्विय मार्थं भविष्यति—एतस्य वा असमर्थसमासस्य नञ्समासस्य गमकस्य साधुत्वं भवति नान्यस्येति। इति पातञ्जलमहाभाष्ये २।१।१। अश्राद्धभोजी। किं योऽश्राद्धं भुङ्क्ते सोऽश्राद्धभोजी? किं चातः? यदासौ श्राद्धं न भुङ्क्ते तदास्य प्रत्ययो न स्यात् तद्यथा—स्थायी यदा न तिष्ठति तदास्य प्रत्ययो भवति। एवं तर्हि णिन्यन्तेन समासो भविष्यति न श्राद्धभोजी अश्राद्धभोजीति। नैवं शक्यम् स्वरे हि दोषः स्यात् अश्राद्धभोजी [६।२।२] इत्येव स्वरः प्रसज्येत अश्राद्धभोजी' [६।२।१३९] इति चेष्यते। एवं तर्हि नञ् एवायं भुजिप्रतिषेधवाचिना श्राद्धशब्देनासमर्थसमासः न भोजी श्राद्धस्येति। स तर्हि असमर्थसमासो वक्तव्यः। यद्यपि वक्तव्य अथवैतर्हि बहूनि प्रयोजनानि। कानि? असूर्यंपश्यानि मुखानि, अपुनर्गेयाः श्लोकाः अश्राद्धभोजी ब्राह्मणः सुप्सुपकस्य [१।१।४३] इति। इति पातञ्जलमहाभाष्ये ३।२।८०॥ ५ तद्दीकोक्त्य भा०। तद्दीकोक्त्य य०। दृश्यतां पृ० २१२ टि० १॥ ६ सुखाद्यात्म य०॥ ७ ण्याच्चेदेव भा०। ण्यच्चेदेव य०॥ ८ धारणमपि प्र०॥

स्मैव नास्ति, न ह्यनात्मनां नाम धर्मः कश्चिदस्ति, न दुःखं न सुखं नान्यत् ।

नन्वन्यपदार्थविषयत्वाद् बहुव्रीहेः नास्ति प्रसादाद्यात्मा वरणाद्यात्मा वा स कोऽप्यन्यः स्यात् सद्धर्मवान् । एवमपि यथा 'स्थूलशिरा राहुः' इत्यत्र असत आख्या राहोः शिरोव्यतिरिक्तस्य । असदाख्यया व्यपदेशिवद्भावं कृत्वा व्यवहारो दृष्टस्तथेदमपि स्यात् । तदनभ्युपगमे धर्मधर्मिस्वरूपविरोधौ । धर्मिस्वरूपविरोधस्तावत्–आत्मनोऽनन्यदेव दुःखम्, प्रसादाद्यनात्मकत्वात्, आत्मस्वतत्त्ववत्, अन्यथा सुखान्यत्वप्रसादाद्यनात्मकत्वानुपपत्तेः । धर्मस्वरूपविरोधोऽपि चैवमेव । ततश्च प्रकृति-

---

ह्यनात्म[1]नां नाम धर्मः कश्चिदस्ति, यदि प्रसादाद्यात्मा न भवतीत्यनात्मकं दुःखमुच्यते, अथ आत्मैव नास्तीत्यनात्मकमित्युच्यते, द्विधाप्यसिद्धं दुःखस्यानात्मकत्वं धर्म्य[2]सिद्ध्यापत्तेः । कथमिति चेत्, उच्यते–न दुःखं न सुखं नान्यद् मोहः पुरुषो वा, त्वत्परिकल्पितं दुःखं प्रसादाद्यनात्मकत्वात् खपुष्पवत् स्यादिति धर्म्यभावादपक्षधर्मत्वम् ।

२२४ २ इतर आह–नन्वन्यपदार्थेत्यादि यावत् सद्धर्मवान् । ननु बहुव्रीहेरन्यपदार्थविषयत्वात् तत्सू[3]चनसमासान्तकप्प्रत्ययान्तत्वादनात्मकश्रु[4]तेः ना[5]स्ति प्रसादाद्यात्मा [वरणाद्यात्मा] वा चित्रगुदेवदत्तवत् स कोऽपि वरणादिभ्यः प्रसादादिभ्यश्चान्य[6]ः सन्नेव, नामद्धर्मवान् धर्मी पक्षो भवितुमर्हतीति ।

अत्रोच्यते–नैतदुपपद्यते, बहुव्रीहेरप्य[7]न्यपदार्थविषयत्वानैकान्त्यात्, एवमपीत्यादि यावद्धर्मधर्मिस्वरूपविरोधा[8]विति । स्थूलं शिरोऽस्य स्थूलशिरा राहुः, कपोऽतन्त्रत्वाद् बहुव्रीहेरेव तन्त्रत्वात्, तस्य चान्यपदार्थत्वव्यभिचारं दर्शयति तद्गुणसविज्ञानपक्षाश्रयणेन, भवति बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि[9] [पा० म० भा० २।१।६६, २।२।२४] इति वचनात्, न हि स्थूलशिरोलक्षितस्तद्व्यतिरिक्तो राहुरस्ति चित्रगवविशिष्टदेवदत्तवत्, तदेव हि स्थूलं शिरो राहुः, तद्व[10]दसत आख्या राहोः शिरोव्यतिरिक्तस्य । आख्या व्यपदेशः स्थूलेन शिरसा व्यपदेशेन "[11]चित्राभिरिव व्यपदेशिनो देवदत्तस्य व्यतिरिक्तस्य, तद्वदव्यतिरिक्तस्यापि राहोस्तयाख्यया व्यपदेशिवद्भावं कृत्वा व्यवहारो दृष्टोऽसतोऽपि तथेदमपि स्यात् । तस्य व्यपदेशिवद्भावव्यवहारस्यानभ्युपगमे उक्तोपपत्त्या दृष्टमिमसदाख्यया व्यपदेशिवद्भावव्यवहारमनभ्युपगच्छतस्ते धर्मधर्मिस्वरूपविरोधौ दोषौ भवतः । धर्मिस्वरूपविरोधस्तावदात्मनोऽनन्यदेव दुःखं पुरुषादित्यर्थः । प्रसादाद्यनात्मकत्वात्, बहुव्रीहिसामर्थ्यात् प्रसादाद्यात्मनोऽन्यत्वादित्यर्थः । आत्मस्वतत्त्ववत्, पुरुषस्वात्मवदित्यर्थः । पुरुषत्वापत्तिश्च[12] दुःखस्य धर्मिस्वरूपवैपरीत्यम्, अतो धर्मिस्वरूपविरोधः । किं कारणम् ? अन्यथा
२२५ १ सुखान्यत्वप्रसादाद्यनात्मकत्वानुपपत्तेः, पुरुषत्वापत्तिमन्तरेण सु[13]खस्य दुःखादन्यत्वं वरणाद्यनात्मकत्वं

---

१ °त्मनं प्र० ॥ २ °द्धापत्तेः प्र० ॥ ३ (तत्सूचक° ?) ॥ ४ °श्रुते प्र० ॥ ५ 'नास्य [वरणाद्यात्मा] प्रसादाद्यात्मा वा' इत्यपि पाठोऽत्र स्यात् ॥ ६ °न्यः सद्धर्मवान् भा० । '°न्य सन्नेव, नासन, धर्मवान्' इत्यपि पाठोऽत्र स्यात् ॥ ७ °प्यन्यर्थविष° य० । °प्यनर्थविष° भा० ॥ ८ °धादिति य० ॥ ९ "भवति बहुव्रीहौ तद्गुणसविज्ञानमपि । तद्यथा–'शुक्लवाससमानय' 'लोहितोष्णीषा प्रचरन्ति' इति तद्गुण आनीयते तद्गुणाश्च प्रचरन्ति ।" पा० म० भा० २।१।६६, २।२।२४। "भवति हि बहुव्रीहौ तद्गुणसविज्ञानमपि । तद्यथा–'चित्रवाससमानय' 'लोहितोष्णीषा ऋत्विज प्रचरन्ति' इति तद्गुण आनीयते तद्गुणाश्च प्रचरन्ति ।" पा० म० भा० १।१।२६ ॥ १० °द्स आख्या प्र० । ११ अत्र चित्राभिर्गोभिरिव इत्यपि पाठ स्यात् ॥ १२ °श्च सुखस्य धर्मि° प्र० ॥ १३ सुखदुःखाद° प्र० ॥

पुरुषयोरप्येकत्वं। एवं दुःखमोहयोरपि।

अथ मा भूदेष दोष इत्यनात्मविशेषणत्वात् तद्वत्, तथा सति यथा किम्? दृष्टान्त 'इदं तत्' इति निदर्शयितु न शक्यते। न हि सुखादन्यदस्ति किञ्चिदुक्तवदपुरुषम्। यच्च सुखादनन्यत् तदनात्मत्वे न प्रमादाद्यनात्मकं न लघ्वाद्यनात्मकं चेति निदर्शयितु न शक्यते।

दुःखस्य वा सुखादन्यत्व प्रमादाद्यनात्मकत्व मोहस्य ताभ्यामन्यत्व प्रमादादिगोपाद्यनात्मकत्व च नोपपद्यते भाविनन्यायत्वात् सुखदुःखमोहानामैक्यवृत्तित्वस्य। तस्मात् पुरुषस्वरूपापत्ते प्रमादादिगोपादि[विरूपाणि]कार्याणा सुखदुःखमोहाना धर्मिस्वरूपविपरीततेति। किञ्चान्यत्, योऽपि धर्मस्वरूपविरोध सोऽपीत्युच्यते, तद्यथा — धर्मस्वरूपविरोधोऽपि चैवमेव, यथा पुरुषत्वापत्तौ सुखादीना सुखाद्यात्मपरित्यागेन धर्मिस्वरूपविरोध तथा पौरुषापत्तौ त्रयाणामैक्यापत्तौ चान्यधर्मस्वरूपविरोधश्च। ततश्च प्रकृतिपुरुषयोरप्येकत्वं, तस्माद्धेतो पुरुषत्वापत्तेरनन्यत्वापत्तेश्च प्रकृति पुरुषादन्या पुमान् वा प्रकृतेरन्य इति नोपपद्यते। ततोऽस्मदभीष्टम् 'एकमेव कारणम्' इत्येतद् दर्शन साधीय। एवं दुःखमोहयोरपि, यथा 'सुखं दुःखादन्यत्' इत्येतत् 'किं त्वात्मत्वात्? वैलक्षण्यात्?' इत्यत प्रभृति यावत् प्रकृतिपुरुषयोरप्येकत्वं इत्युक्त तथा 'दुःख सुखमोहाभ्यामन्यत्, मोह सुखदुःखाभ्यामन्य' इत्येतेष्वपि चतुर्षु 'सुख मोहादन्यत्' इति च साधने स एव ग्रन्थो योज्य इति।

अथ मा भूदेष दोष इत्यनात्मविशेषणत्वात् त्वद्वत्। एतद्दोषपरिहारार्थं यथा त्वया 'अनात्मत्वे सति अवरणाद्यात्मकत्वात् सुख दुःखादन्यद् मोहवत्' इत्याद्यभिहित तथाहमपि 'अनात्मत्वे सति लघुत्वात् सुख दुःखादन्यद् मोहवत्' इत्याब्रवीमीति, अतो धर्मधर्मिस्वरूपविरोधौ प्रकृतिपुरुषयोश्च नेति। अत्रोच्यते — तथा सति यथा किम्? इति। एव सति 'यथा' कि सुखादन्यत् २२५२ आत्मान मुक्त्वाऽपि। दृष्टान्त 'इदं तत्' इति निदर्शयितु न शक्यते इति तत्र सुखात् पुरुषाच्चान्यद् नास्तीति मम तस्याभाव, यन्नात्मत्वे सति लघुत्वादिधर्म तत् सुखात् पुरुषाच्चान्यदिति वस्तु तदभावात्। तद्दर्शयन्नाह — न हि सुखादन्यदस्ति किञ्चिदुक्तवदपुरुषम्? पुरुषव्यतिरिक्त हि सर्व परस्पराविविक्तसुखाद्यात्मकमेवेत्युक्तम्। तस्माद् यत् सुखमेव सर्वमिति मम तदभाव। अत एव चान्यत्वेन परीक्ष्यते सुखादौ पुरुषव्यतिरिक्तमपक्षाभावात् सुखादेरपि सुखादन्यस्य विपक्षत्वाद् विपक्षाद्धेतोर्व्यावृत्त्यर्थं यदुच्यते यच्च सुखादनन्यत् तदनात्मत्वे न प्रमादाद्यनात्मकं न लघ्वाद्यनात्मकं चेति निदर्शयितु न शक्यते, न च मोहादि सुखादन्यत्र भवतीत्यशक्य दर्शयितुमिति विपक्षाद्व्यावृत्तिरपि। अतो विपक्ष एव सत्त्वात् विरुद्धाश्च ते हेतव इत्यभिप्राय।

---

१ त्वाभ्या य०। (ताभ्या ?)॥ २ धर्मिस्व प्र०॥ ३ दृश्यतां पृ० ३०७ पं० ५॥ ४ एव प्र०॥ ५ अनात्मकत्वे सवरणा प्र०। दृश्यतां पृ० २७८ पं० २॥ ६ (इत्या° ब्रवीमि ?)॥ ७ यथा नात्मत्व भा०। (यथनात्मत्व ?)। * * एतचिह्नान्तर्गत पाठो य० प्रतौ नास्ति॥ ८ दिश्यत° य भा०॥ ९ सुखादिपुरुष य०॥ १० त्मत्व न भा०॥ ११ त्मकत्व प्र०॥

अथ तु यद् विभक्तस्वतत्त्वं दुःखमोहाभ्यां सुखादन्यन्न भवति तत् प्रसादाद्यनात्मकमपि न भवति यथा सुखम् । तथा सति तथानियमवत् तथाप्रवर्तनात् तथाव्यक्तेश्च नियमप्रवृत्तिप्रकाशात्मकं सुखमेवेति ऐक्यं मोहादीनामभ्युपगतं त्वयैवेति को वादार्थ उभयोरपि? तत्रैव त्ववरणाद्यात्मकत्वादिवद् विदोषा लघ्वादिहेतवोऽपि सुखादावपि च विपरिहारपक्षीकृतेऽपि च ।

परधर्मेणापि सुखं दुःखादनन्यत्, चलप्रकाशकत्वात्, अविभक्ताशेषगुणात्मकलोष्टवत् । एवं च स्थिते सुखं दुःखादनन्यत्, लघुत्वादप्रवृत्तिशीलत्वात् प्रका-

---

अथ त्वित्यादि यावत् सुखमिति । अथ मतं तव यद् विभक्तस्वतत्त्वं दुःखमोहाभ्यां तत सुखं सुखादन्यन्न भवति तत् प्रसादाद्यनात्मकमपि न भवतीति विविक्तस्वरूपस्य सुखस्य दुःखादन्यत्वात् प्रसादाद्यात्मकत्वाच्च तदेव शक्यते वैधर्म्येण निदर्शयितुम् । अत एव च तमः सुखादन्यद् विविक्तस्वरूपमप्रसादात्मकमपुरुषं[1] चेति साधर्म्यदृष्टान्तश्च स्यादिति । एवमितरसाधनेष्वपि उभयदोषपरिहार इति । अत्रोच्यते— तथा सतीत्यादि यावत् को वादार्थ उभयोरपि? इति । एवं सति तेन प्रकारेण नियमोऽयं यत् सुखादन्यन्न भवति तत् प्रसादाद्यनात्मकमपि न भवत्येवेति एतेन प्रकारेण नियमवत् सुखमेवानन्यत् प्रसादाद्या-
२२६ १ त्मकं भवति चेति तथा तस्य वस्तुनः प्रवर्तनात् तथाव्यक्तेश्च नियमप्रवृत्तिप्रकाशात्मकं सुखमेवेति तदभ्युपगमेनैवैक्यं मोहादीनामापन्नमस्मिन् साधने, एतदभ्युपगमवच्च शेषसाधनेष्वपि 'दुःखादन्यत् सुखं मोहश्च' इत्येवमादिषु 'यद् यदनात्मत्वे[2] दुःखादन्यन्न भवति तच्छोपादिवरणाद्यनात्मकमपि न भवति' इत्येवं नियमाद् व्यक्तेः प्रवृत्तेश्चैक्यं मोहादीनामभ्युपगतं त्वयैवेतीतरेतरैकत्वाभ्युपगमः । इतिशब्दो हेत्वर्थे, इत्यतः को वादार्थः वादप्रयोजनमुभयोरावयोः? त्वयैवैक्याभ्युपगमान्न वादार्थस्तव ममापि प्रतिपन्नार्थप्रतिपादनवैफल्यादिति । एवं तावदवरणाद्यात्मकत्वादिहेतवः प्रथमोक्तानन्यत्वपक्षस्यैव साधका अनात्मत्वविशेषणा अपि नान्यत्वपक्षस्येति प्रतिपादिताः ।

तत्रैवानन्यत्वपक्ष एव त्ववरणाद्यात्मकत्वादिवद् विदोषा लघ्वादिहेतवोऽपि, नान्यत्वपक्षे, तत्र सदोषा एवेत्यभिप्रायः । ननु लघ्वादयोऽनन्यत्वहेतव उक्ता एव, किं पुनरनुशयेन? इति, अत्रोच्यते— सुखादावपि च न सत्त्वादिष्वेव, तत्रापि च विपरिहारपक्षीकृतेऽपि च, न यथा त्वया 'सुखं मोहाद् गुरोरन्यत्' इति परिहारपक्षीकृते चैव[4] ।

परधर्मेणापि 'दुःखं सुखादनन्यत् लघुत्वात्' इत्येतेनापि, न केवलम् अनात्मत्वे चलत्वादेवेतीत्थं विशिष्टेन प्रतिपादनविधिना अनन्यत्वहेतव इति । अपिशब्दात् स्वधर्मेण 'सुखं दुःखादनन्यल्लघुत्वात्' इत्यादिभिः सुकरप्रतिपादनमेवेत्यर्थः । परधर्मेण तावत् सुखं दुःखादनन्यत् चलप्रकाशकत्वात्[5], चलमप्रकाशकं प्रवृत्तिशीलं दुःखम् [ ] इति वचनाद् दुःखधर्मेण सुखं
२२६-२ ततोऽनन्यदिति साध्यते । अविभक्ताशेषगुणात्मकलोष्टवदिति दृष्टान्तः प्रागुपवर्णितः, अविभक्ताः[6] सुखदुःखमोहात्मकसत्त्वरजस्तमोगुणात्मको लोष्ट इति त्रित्वैक्यानतिक्रमाच्च त एवाशेषगुणाः, तदात्मको लोष्टः

---

१ °त्मकपुरुषं प्र० ॥ २ °त्मकत्वे य० ॥ ३ दृश्यता पृ० २०४ प० ३ ॥ ४ °कृताच्चेव भा० । °कृतात्वेव य० । अत्र 'कृतेष्वेव' इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ५ °शत्वात् प्र० ॥ ६ °क्त• सुख° भा० । °क्ता सुख° य० ॥

शकत्वात् । तत्संयोगाच्च, एवं मोहादपि । परधर्मेण चलत्वादप्रकाशकत्वात् प्रवृत्तिशीलत्वात् तत्संयोगाच्च, एवं मोहादपि । एवं गुरुत्वादप्रकाशकत्वात् तत्संयोगाच्च, एवं मोहादपि । द्वाभ्यामप्यनन्यत् सहिताभ्याम् । एत एव सर्वं इत्यनया दिशा अभ्यूह्याः स्वपरधर्माः प्रसादादयश्च । इतरेतरसंयोगेन च भङ्गविकल्पाः सङ्कलनीयाः । एवमेव चैत एव दुःखमोहयोरपि । अन्येऽप्यचेतनत्व शरीराद्यापत्तित्वादिप्रकृतिधर्मैः । इत्यतः कुतः सङ्कलना प्रत्येकद्वित्रिचतुरादिसंयोगधर्मानन्त्यात् ।

त्वाप्रकाशात्मकत्वाद् दुःखान्नार्थं इति स एव लोष्टो लघ्वात्मनो भावितसुखाद्येकात्मकत्वात् । एवं तावत् परधर्मेण । एवं च स्थितेऽस्वधर्मेणापि लोष्टाद्यर्थानां सुखाद्येकात्मकत्वे स्थितेऽनन्यत्वे लघुत्वादिहेतवोऽपि साधका इति तद्दर्शयति—सुखं दुःखादनन्यल्लघुत्वात् 'लोष्टवदिति वर्तते । एवमप्रवृत्तिशीलत्वात् प्रकाशकत्वात् । एतानि च चत्वारि साधनानि, प्रत्येकं त्रीणि तान्येव समुदितान्येकमिति । अत्र द्विक-संयोगेनापि त्रीणि—लघ्वप्रवृत्तिशीलत्वात्, लघुप्रकाशात्मकत्वात्, अप्रवृत्तिप्रकाशात्मकत्वादिति । एवं मोहादपीति, 'मोहात् सुखमनन्यत्' इत्यत्रापि त एव हेतवस्तावन्तः । परधर्मेण सुखस्य दुःखधर्माभ्यामन्यत्र द्वे समुदायेनैकमिति त्रीणि—चलत्वात्प्रकाशकत्वाच्चलाप्रकाशकत्वादिति । प्रवृत्तिशीलत्वादित्यपि, तत्संयोगेनेतराभ्यामपि सप्त साधनानि । एवं मोहादपीति मोहादनन्यच्चलत्वादित्यादिभ्यस्तेभ्य [एव] । एवं सुखं दुःखादनन्यद् गुरुत्वादप्रकाशकत्वात् तत्संयोगाच्चेति मोहधर्मेभ्यस्त्रिभ्य । एवं मोहादपीति तेभ्य एव मोहधर्मेभ्यस्त्रिभ्यो मोहादप्यनन्यत् सुखमिति । द्वाभ्यामप्यनन्यत् सहिताभ्यामिति दुःखमोहाभ्यामनन्यत् सुखं लघुत्वादित्यादिभ्यस्तेभ्य एव हेतुभ्यो द्वित्रिचतुरादिसंयोगेन [१]तत् प्रत्येकं चानुगन्तव्यमित्यत आह—एत एव सर्वं इत्यनया दिशाभ्यूह्याः, न केवलमेत एव लघुत्वादयश्चलत्वादयो गुरुत्वादयो वा स्वपरधर्मा हेतवः, किं तर्हि ? स्वपरधर्माः प्रसादादयश्च, प्रसादलाघवादयः शोषतापभेदादयो वरण-सदनापध्वंसनादयश्च । इतरेतरेत्यादि, द्वित्रिचतुरादिसंयोगेन च[२] भङ्गविकल्पाः सङ्कलनीयाः । एवमेव चैत एव दुःखमोहयोरपीति सुखात् परस्परतश्चानन्यत्व योज्य प्रतिज्ञानां च प्रत्येकं द्वित्रि-संयोगेन[३] चेति सुखस्य दुःखाद् मोहाद् द्वाभ्यां चानन्यतया तिस्र, एवं दुःखस्य तिस्र, मोहस्य तिस्र, त्रयाणां परस्परतोऽनन्यतयैवैकेति दश प्रतिज्ञाः । एतासु सुखधर्मा लघ्वादय, दुःखधर्माश्चलादय, मोहधर्मा गुर्वप्रकाशौ, प्रत्येकं द्वयादिसंयोगेन सप्तत्यधिकं शतं साधनानाम् । लाघवगौरवे त्वपनीय प्रसादादि-शोषादिवरणादीनां च हेत्वम पञ्चषष्टिसहस्राणि पञ्च शतानि च षट्त्रिंशानि । किञ्चान्यत्, न केवलमेत एव हेतवः, अन्येऽप्यचेतनत्वेत्यादि समासदण्डकमध्ये यावच्छरीराद्यापत्तित्वादिप्रकृतिधर्मैः सामान्यभूतै-

---

१ स्यन्निति प ॥ २ स्थिते स्वध य० ॥ ३ लोष्टादिवदिति य ॥ ४ तत् य प्रतिषु नास्ति ॥ ५ * * एतच्चिह्नान्तर्गत पाठो य प्रतिषु नास्ति ॥ ६ लघुत्वात् अप्रवृत्तिशीलत्वात् प्रकाशकत्वात् लघ्वप्रवृत्तिशीलत्वात् लघुप्रकाशकत्वात् अप्रवृत्तिप्रकाशात्मकत्वात् लघ्वप्रवृत्तिप्रकाशात्मकत्वात् इति सप्तानां सुखधर्माणां चलत्वात् अप्रकाशकत्वात् प्रवृत्तिशीलत्वात् चलाप्रकाशकत्वात् चलप्रवृत्तिशीलत्वात् अप्रकाशप्रवृत्तिशीलत्वात् चलाप्रकाशकप्रवृत्तिशीलत्वात् इति सप्तानां दुःखधर्माणां गुरुत्वात् अप्रकाशकत्वात् गुर्वप्रकाशकत्वात् इति मोहधर्माणां च त्रयाणां सद्भावेन सप्तदशानां हेतूनां 'सुखं दुःखादनन्यत्' इत्यादिभिर्दशभिः प्रतिज्ञाभिर्गुणने सप्तत्यधिकं शतं साधनानां लभ्यते ॥ ७ सुखानां शब्दादीनामर्थानां प्रसादलाघवप्रसवाभिष्वङ्गोद्धर्षप्रीतयः कार्यम्, दुःखानां शोषतापभेदोपष्टम्भोद्वेगापद्वेषाः, मूढानां वरणसदनापध्वंसनबीभत्सदैन्यगौरवाणि । इति पूर्वं [पृ० १२५ १८-२०] व्याख्यातेभ्योऽष्टादशभ्यो धर्मेभ्यो लाघवगौरवशोषणयने कृतेऽवशिष्टानां षोडशानां धर्माणां प्रत्येकं द्विकादिसंयोगेन च इयं हेतुसंख्या बोध्या ॥

नन्वेवं स्ववचनविरोधादि, न, नवात्मन एवोपालम्भात्, प्रधान……… अभ्युपगमात् । हेतुविरुद्धतोक्तावप्येवमेव । इति स्फुटमेव सुखं सदा व्यक्तशब्दस्पर्शरूपरसगन्धमेवत्यभ्युपगम्यतां तेभ्य एव लघ्वादिहेतुभ्यो वियदादिवत् । स्वमतेन तु व्यक्तशब्दस्पर्शरूपरसगन्धवत्प्रतिज्ञायां वियद्‌व्रजान्युदाहरणानि ।

रविशेषिणश्च अनुरूपत्वे सति सत्त्वात् प्रमेयत्वात् सर्वगतत्वादकृतकत्वादित्यादि या यावत् किञ्चिदिहास्ति ७०-२ सर्वं तदनन्यत्वे त्रिलक्षणतां प्रतिपद्यते धर्मजातमित्यतः कुतः सङ्कलना ? न शक्यमेव सङ्कलयितुं प्रत्येकद्वित्रिचतुरादिसंयोगधर्मानन्त्यादिति स्वपक्षसाधनहेतुमालम्ब्य दर्शयति भावितत्रैगुण्यैकात्मकलोष्टादिवत्तुल्यायव्यापित्वादिति ।

इतर आह—**नन्वेवं स्ववचनविरोधादीनि** 'सुखं दुःखादनन्यत्' इति प्रत्यक्षं सुखदुःखयोः प्रतिपुरुषं स्वानुभवेन पृथक्त्वसिद्धेः शरीरविकारादिभिरनुमेयत्वाच्च लोकप्रसिद्धेरभ्युपगतत्वाच्च त्वयापि स्ववचनेन च 'सुखं दुःखम्' इति पृथगुच्चारणात् स्ववचनाभ्युपगमलोकप्रसिद्धिप्रत्यक्षानुमानविरोधदोषा अनन्यत्वप्रतिज्ञाया इति । एतच्चायुक्तम्, **नवात्मन एवोपालम्भात्**, यस्मादेव पुनः स्वसिद्धान्त एव स्ववचनादिविरोध उद्भाव्यते त्वया आत्मन एव, न मम, मामुद्दिश्यात्मनोऽपरिहारेण वचनप्रकनयोच्यते । कुत इति चेत्, उच्यते—**प्रधानेत्यादि यावदभ्युपगमात्** । प्रधानमेकं सुखदुःखमोहात्मकत्वादभिन्नगुणात्मकं साम्येन चावस्थितमिति कस्यायं स्ववचनविरोधः ? तथा परस्परमुपकुर्वन्ति सत्त्वादयः शब्दादिभावेन च व्यवतिष्ठन्ते प्रत्येकं सुखाद्यात्मनेति सुखादित्र्यात्मकत्वं न घटादावेकस्मिन्नेव चेति त्वयैवाभ्युपगतत्वादेकत्वं नान्यत्वं चोक्तं चेति कस्य स्ववचनादिविरोधदोषाः ? इति स्वस्थेन चेतसा चिन्त्यताम्, मम तु त्वद्दोषोद्भावनपरत्वात्ममत्वाददोषः, एवमस्मद्दोषोत्कीर्तनद्वारेण स्वदोषोत्कीर्तनमेवैतद् भवत इति ।

२२८-२ किञ्चान्यत्, **हेतुविरुद्धतोक्तावप्येवमेव**, यथोक्तमेते हेतवः सप्रपञ्चाः सविशेषणनिर्विशेषणाः प्रतिज्ञादोषोद्भावनद्वारेण विरुद्धाव्यभिचार्युद्भावनद्वारेण चैतेऽस्मत्पक्षस्यानन्यत्वस्य साधका इति तथा हेतुविरुद्धताप्यन्यत्वपक्षे शास्त्राख्यातसमन्वयव्यावृत्त्यभावविधिना अनन्यत्वपक्ष एव दर्शनादिति ।

तदुपसंहारार्थमाह—**इति स्फुटमेवेत्यादि यावद् वियदादिवदिति**, इतिशब्दोपसंहारार्थत्वात् । यदसिकल्प्यते त्वया प्रधानं नाम गुणसाम्यावस्थानं किञ्चिदस्तीति तन्नाभिलपणीयम् । **सुखं सदा व्यक्तशब्दस्पर्शरूपरसगन्धमेवेत्यभ्युपगम्यतां** स्फुटमेव, किमन्यापदेशेन परदोषाभिधानेन वा ? तत्त्ववादिनैव भवितव्यमृजुना । **तेभ्य एव लघ्वादिभ्यो हेतुभ्यो वियदादिवत्**, यथा आकाशवाय्वग्न्यम्बुभुवः पञ्च महाभूतानि व्यक्तशब्दादिभावानि तथा सुखमिति लघ्वादिभ्य एव हेतुभ्यः पृथिव्यामिव शब्दादयः पञ्चापि शेषेष्वपि चतुर्षु भूतेषु व्यक्ता इत्यभ्युपगम्यताम् । परिणतिविशेषात्तु हिङ्गुगन्धवत् सूपे लवणरसवच्चाप्सु कस्यचिदेव प्रत्यक्षता शब्दादेर्न शेषस्याभिभवादिभिरिति । परमतेनैवैतदुक्तम् । **स्वमतेन तु व्यक्तशब्दस्पर्शरूपरसगन्धवत्प्रतिज्ञायां वियद्‌व्रजान्युदाहरणानीति**, स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः

---

१ नवात्मन भा० वि० ॥ २ °पक्ष° प्र० ॥ ३ °दितिविरोध प्र० ॥ ४ न मम मामुद्दिश्य प्र० ॥ ५ °त्मनोपरि° पा० २० ही० । °त्मने परि° वि० । °त्मनपरि° डे० लीं० । °त्मपरि° भा० ॥ ६ °त्वादिभिन्न° भा० ॥ ७ यद्यसि° प्र० ॥ ८ °गन्धं वे भा० । °गन्धवे° य० ॥ ९ °न्यापादनेन य० ॥

त्रयविषयसमन्वय वीताना व्यवहारसम्प्रसिद्ध हेतुत्वाव-धारणार्थाना चावीतानामतथार्थत्वात् समस्ततन्त्रार्थविघटनमेव ।

[तत्त्वार्थ० ५।२३] इति सामान्येन अणव स्कन्धाश्च [तत्त्वार्थ० ५।२५] मूर्तत्वात् पृथिवीवद् वाय्वाद-योऽपि । शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यादयस्तु स्कन्धेष्वेव पुद्गलेष्विति । आकाशस्यावगाहोपकारस्य नैते धर्मा सन्तीति वादपरमेश्वरमतम्, अतो वियद्वर्ज्यान्युदाहरणानि इत्युक्तम् ।

इत्य सुखदु खमोहाना जात्यन्तरत्वासिद्धिरापादिता । तस्मादेव च वीतावीताना सुखादित्रैगुण्यकारण पूर्वकत्वानुमानस्यानुमानाभासतेत्यत आह—**त्रयविषयसमन्वयेत्यादि** यावद् **वीतानाम्, व्यवहारसम्प्र-सिद्धेत्यादि** यावच्च **हेतुत्वावधारणार्थाना चावीतानामतथार्थत्वादिति** । तेषा वीतावीताना लक्षण तद्यथा—प्रागनुमान सप्रभेद व्याख्याय तेषा यदेतत् सामान्यतो दृष्ट शेषवदप हेतुरतीन्द्रियाणा भावाना समधिगमे, तस्य प्रयोगोपचारविशेषाद् द्वैविध्यम्, वीत इति सामान्येन, विशेषेण तु स्वरूपाद् वीतसिद्धि, यदा हेतु

---

१ शब्दसम्बद्ध प्र० । स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त पुद्गला । ५।२३ । शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपो-द्योतवन्तश्च । ५।२४ । अणव स्कन्धाश्च । ५।२५ । इति तत्त्वार्थसूत्रे ॥ २ यवस्तु प्र० ॥ ३ गतिस्थि-त्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकार ।५।१७। आकाशस्यावगाह ।५।१८। इति तत्त्वार्थसूत्रे ॥ ४ देव च वीता प्र ॥ ५ दृश्यता पृ २३२-१ ॥ ६ प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्ट त्रिविधमनुमानमाख्यातम् । तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्त श्रुतिराप्तवचन तु ॥ ५ ॥ सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणा प्रसिद्धिरनुमानात् ॥ ६ ॥ साङ्ख्यका० ॥ ७ तस्मात् सिद्ध सामान्यतो दृष्टादतीन्द्रियाणामर्थाना समधिगम । तस्य प्रयोगमात्रभेदाद् द्वैविध्यम्—वीत अवीत इति । तयोर्लक्षणमामनन्ति—यदा हेतु स्वरूपेण साध्यसिद्धौ प्रयुज्यते । स वीतोऽर्थान्तराक्षेपादितर परिशेषित ॥ १ ॥ स्वरूप हि साधनस्य द्विविधम्—साधारणमसाधारण च । तत्र साधारण साध्यसहभावि । असाधारण पुन परिमाणमन्वय सङ्घात परार्थत्वमित्यादि । तत्र यदा हेतु परपक्ष[न]पेक्ष्य यथार्थेन स्वरूपेण साध्यसिद्धावपदिश्यते तदा वीताख्यो भवति । यदा तु स्वसाध्याद्धर्मान्तरभूताना प्रासङ्गिकाणा क्षेपमपोह्य कृत्वा परिशेषत साध्यसिद्धावपदिश्यते तदाऽवीताख्यो भवति । तद्यथा—न चेत् परमाणुपुरुषेश्वरकर्मदैवकालस्वभावयदृच्छाभ्यो जगदुत्पत्ति सम्भवति परिशेषत प्रधानादिति तदा पुनर वीताख्यो भवति । तत्र यदा वीतो हेतु वाक्यभावमुपनीयते तदा अवयविवाक्य परिकल्प्यते । तस्य पुनरवयवा —

साध्यावधारण प्रतिज्ञा । साधनसमासवचन हेतु । साध्यतेऽनेनेति साधन लिङ्गम् समास सक्षेप साधनस्य समासवचन साधनसमासवचनम् । साधनग्रहण तदाभासप्रतिषेधार्थम् न हि तानि साधन सशयविपर्ययहेतुत्वात् । समास ग्रहणमवयवान्तरावकाशप्रदानार्थम् । लिङ्गनिर्देशमात्र हेतु । यस्तु तस्य साध्यसहभावित्वलक्षण प्रपञ्च सोऽवयवान्तराणीत्युक्त भवति । उदाहरण स्वन्न नि(नचि ?)दर्शन दृष्टान्त तस्य साधनस्य साध्येन सहभावित्वनिदर्शन दृष्टान्त तद्यथा—सहत्यकारिणा परार्थत्व दृष्ट यथा शयनासनरथचरणानाम् । साधर्म्यदृष्टान्तयोरेकक्रिया उपसहार उपनय साधर्म्य चक्षुरादि परार्थत्वलक्षणस्य दृष्टान्तस्य च शयनादेरेकक्रिया उपसहार । तत्रार्थान्तरभूतत्वात् साधर्म्यदृष्टान्तयोरुपमा नैकक्रिया उपपद्यते तेनैव तस्यानिदर्शनादित्यतो धर्मसामान्याद् यथेद तथेदमित्येकक्रिया उपपद्यते । यथा शयनादय सहतत्वात् परार्था एव चक्षुरादिभिरपि परार्थैर्भवितव्यम् । योऽसौ पर स पुरुष । तद्वशात् प्रतिज्ञाभ्यासो निगमनम् । हेतुदृष्टान्तोपसहारापेक्षया पुनरभ्यासान्निगमनम् तद्यथा—तस्मादस्ति पुरुष । इत्येषामवयवाना विशिष्टार्थसमुदायो वाक्यमित्याचक्षते ।

वीत तस्य पुरस्तात् प्रयोग न्याय्यमाचार्या मन्यन्ते । किं कारणम् ? अवीतलक्षणाविरोधात् अवीतस्य हि लक्षण परिशेषत साध्यानुग्रह । तत्रान्वयादिना स्वरूपेणानधिगते प्रधानलक्षणे धर्मिणि परपक्षप्रतिषेधमात्रेण उपसहार क्रियमाणे परिशेषलक्षण बाध्यते । कस्मात् ? इह प्रतिपद्यमानमवादुच्यते तत्र यथा हेत्वविरोधात् परमाण्वादिभ्यो न व्यक्तमुत्पद्यते तथा हेत्वभावात् प्रधानादपि नोत्पद्यत इति शक्य कल्पयितुम् अतस्तद्भाववदवीतोऽपि चावीताद् गम्यते तथा सति क परिशेष स्यात् ? स्वरूपेण तु परिच्छिन्ने धर्मिणि उपसहारो यथावदवकल्पते—न चेत् परमाण्वादिभ्य उत्पद्यते परिशेषत प्रधानादेव व्यक्त मुत्पद्यते । परिशेष इति यथार्थेभ्योऽन्वयादिभ्य इत्युक्त भवति । तस्मात् प्राग् वीतप्रयोग । इति सिद्ध सामान्यतो दृष्टाद नुमानादतीन्द्रियाणामर्थाना समधिगम इति । इति साङ्ख्यकारिकाया युक्तिदीपिकायाम् का० ६ ॥

२२८ परपक्षमव्यपेक्ष्य[1] स्वेनैव रूपेण कार्यसिद्धावपदिश्यते तदा वीताख्यो भवति । परिशेषादवीतसिद्धिः,[2] यदा नेदमतोऽन्यथा सम्भवति अस्ति चेदम् तस्मात् परिशेषतो 'हेतुरेवायम्' इत्यवधार्य कार्यसिद्धावपदिश्यते तदा आवीताख्यो भवतीति प्रयोगलक्षणम्, स्वलक्षणं त्वस्य परपक्षप्रतिषेधेन स्वपक्षपरिग्रहक्रिया आवीत इति । वीतस्य [आवीतस्य] वा भावः पञ्चप्रदेशः – प्रतिज्ञा हेतुः दृष्टान्त उपसंहारो निगमनमिति । तत्र साध्यावधारणं प्रतिज्ञा, साधनसमासवचनं हेतुः, तन्निदर्शनं दृष्टान्तः, साध्यदृष्टान्तयोरेकक्रियोपसंहारः, प्रतिज्ञाभ्यासो निगमनमिति । पुरस्ताद् वीतस्य प्रयोगं न्याय्यं मन्यन्ते पश्चादावीतस्येति ।

प्रयोगश्च – अस्ति प्रधानं भेदानामन्वयदर्शनात्, आध्यात्मिकानां[3] भेदानां कार्यकारणात्मकानामेकजातिसमन्वयो दृष्ट इति चन्दनशकलादिदृष्टान्तं वक्ष्यति । सामान्यपूर्वकाणां च **भेदाना**मित्यादि एकजातिसमन्वयप्रदर्शनार्थसुखादित्रिगुणैकजातिसमन्वयं कार्यात्मकानां तत्सन्निवेशविशेषत्वं पक्षीकृत्य **'एककार्यत्वात्'**[4] इति हेतुमाह तथोत्तरत्रोपसंहारात् । **पञ्चानां पञ्चाना**मित्यादिर्वीप्सया व्याप्तिं दर्शयति । तथा करणात्मकानां नेयम् । प्रसादादिशोषादिवरणादिकार्यात्मकं दृष्टं गुणत्रयैकजातिसमन्वितम् । तैरारब्धान्याकाशादीनि भूतानि एकोत्तरगुणवृद्ध्या तत्कार्यत्वात् तत्समन्वयाच्च तत्पूर्वकाणि । तथा बाह्यानामपि तैर्यग्योनमानुषदैवानां तत्पूर्वकतेति । तस्मात् त्रैगुण्यसमन्वितत्वाद् भेदास्त्रिगुणपूर्वकाश्चन्दनशकलादिवत् । **शकल-**
२२९-८ **कपालसत्रभूषणप्रभृतीना**मिति व्याप्तिदर्शनार्थं साधनस्य दृष्टान्तबाहुल्यम् ।

इतश्च अस्ति प्रधानं भेदानां परिमाणात्[5] । आध्यात्मिकानां कार्यकारणात्मकानां परिमाणं दृष्टम् । सामान्यतस्त्रयः सुखदुःखमोहाः, कार्यकरणविशेषतः[6] षोडश भावाः पञ्च भूतानि एकादशेन्द्रियाणि चेत्यादि

---

१ °व्यपेक्षश्चेन्नैव रूपेण प्र० ॥ २ यद्यपि प्राय सर्वत्र **साङ्ख्यादिदर्शनग्रन्थेषु अवीत**शब्दस्यैव प्रयोगो दृश्यते नयचक्रवृत्तौ तु सर्वत्रापि **आवीत**शब्दप्रयोग एवोपलभ्यते तथापि **आवीत**शब्दप्रयोग शुद्ध एव प्रतीयते **कुमारिलभट्ट**विरचिते **मीमांसाश्लोकवार्तिके**ऽपि **आवीत**शब्दस्यैव प्रयोगात्, तद्यथा—"ततोऽप्यावीतहेतुभिरनैकान्तिक इति अक्षरचतुष्टयाधिकेनार्धश्लोकेनाह – **पक्षीकुर्याद् यदा सर्वांस्तदाप्यावीतहेतुभिः । अनैकान्तः** इति । ये हि विपक्षव्यतिरेकेणैवार्थं प्रतिपादयन्ति तेऽत्रावीतहेतवोऽभिधीयन्ते, यथा प्राणादयो निरात्मकेभ्यो घटादिभ्यो निवृत्ता जीवच्छरीरे दृश्यमाना व्यवच्छेदेनैव सात्मकत्वमवगमयन्तीत्यर्थ ।" इति **मीमांसाश्लोकवार्तिकस्य जयमिश्रभट्टविरचिताया शर्करिकावृत्तौ** अपोहवादे, का० १६६ ॥ ३ "आध्यात्मिकाना भेदाना कार्यकारणात्मकाना चैकजातिसमन्वयो दृष्ट इत्येवमादि साधनप्रपञ्च ।" इति **साङ्ख्यकारिकाया युक्तिदीपिकावृत्तौ**, का० ६, पृ० ४९ पं० ११ ॥ ४ दृश्यता पृ० १२ पं० १७ ॥ ५ "भेदाना परिमाणात् समन्वयाच्छक्तित प्रवृत्तेश्च । कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य ॥ १५ ॥ किञ्चान्यत्, समन्वयात् । इह येन भेदाना समनुगतिस्तस्य सत्त्व दृष्टम् । तद्यथा–मृदा घटादीनाम् । अस्ति चेय सुखदुःखमोहै शब्दादीनां समनुगति । तस्मात् तेऽपि सन्ति । ये च सुखादयोऽस्तमितविशेषास्तदव्यक्तम् । तस्मादस्त्यव्यक्तम् । "इह शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाना सन्निधाने स्वसंस्कारविशेषयोगात् सुखदुःखमोहाकारा प्राणिना बुद्धय उत्पद्यन्ते । यच्च यादृशीं बुद्धिमुत्पादयति तत् तेनान्वितम् । तद्यथा–चन्दनादिभि शकलादय ।" **साङ्ख्यका० युक्तिदीपिका** । "इतश्चास्ति समन्वयदर्शनात् । कस्य समन्वयात् ? भेदानामेव समन्वयात् । अस्मादेव कारणात् पूर्वकारणात् शकलकपालसत्रसुवर्णसमन्वय । भूषणादीन् दृष्ट्वा तत्त्वेन दर्शयति । सामान्यप्रकरणाल्लोके भेदानामेकजातिसमन्वयो दृष्ट । तेषा धर्मा(र्मोऽ ?)न्वय, तस्मात् समन्वयदर्शनात् पश्यामोऽस्ति प्रधानम् ।" **जै० साङ्ख्यका०** वृ० B, का० १५, **माठरवृत्ता**वपि किञ्चित्पाठभेदेन एवमेव ॥ ६ °**कारणं विशेषतः** प्र० । दृश्यता पृ० २९८ टि० ३ ॥

रूपपरिमाणम्[1] । प्रवृत्तिपरिमाणं द्विधा हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थत्वात्, धर्मादिप्रयोजनत्वाच्चतुर्धा, धृति[2]-सदाचार-कामसुख-कुतूहल विनिवृत्तिप्रयोजनेन पञ्चधा प्राणादिलक्षणा[3] चेति प्रवृत्तिपरिमाणम् । फलपरिमाणं द्विविधम्—दृष्टमदृष्टं च । अदृष्टं कार्यकरण[4]सामर्थ्यं प्रभुशक्तिः साधनसान्निध्यं विभुशक्तिश्चेति द्विधा । एवमशक्तिस्तद्विपरीता द्विधैव । शक्तिर्दैव[5]-गान्धर्व-यक्ष-रक्षः-पितृ-पिशाचाः, अशक्तिर्मानुष-पशु-मृग-पक्षि-सरीसृप-स्थावराणि । शक्तेः प्रकृतिः शरीरनिमित्तम्, अशक्तेर्जराय्वण्डोद्भिज्जसंशोकाः । मातापितृभ्यां[6] जराय्वण्डं च, तत् षाट्कौशिकम्[7], पृथिव्या उद्भिज्जम्[8], पृथिव्युदकसंशोकात् संशोकजमित्यदृष्टफलपरिमाणम् । दृष्टफलपरिमाणं करणानि प्रवर्तमानानि क्रियन्ते सामान्यतश्चतुर्णां शक्त्यादीनामन्यतमं[9] प्रत्ययं कुर्वन्ति । शक्ति-

---

१ तत्र रूपप्रवृत्तिफललक्षणं व्यक्तम् । रूपं पुनर्महानहङ्कारः पञ्च तन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानि । सामान्यतः प्रवृत्तिर्द्विविधा—हितकामप्रयोजना च अहितप्रतिषेधप्रयोजना च । विशेषतः पञ्च कर्मयोनयो धृत्याद्याः प्राणाद्याश्च पञ्च वायवः । फलं द्विविधं दृष्टमदृष्टं च । तत्र दृष्टं सिद्धितुष्ट्यशक्तिविपर्ययलक्षणम् । अदृष्टं ब्रह्मादौ स्तम्बपर्यन्ते संसारे कर्मप्रतिलम्भ इत्येतद् व्यक्तम् । इति साङ्ख्यकारिकाया वृत्तौ युक्तिदीपिकायाम् का० २ ॥ २ साङ्ख्यग्रन्थेषु प्राणादिवृत्तेर्हेतोर्निरूपणप्रसङ्गे धृत्यादीनां स्थितिनामभेदेन इत्थं निरूपणमुपलभ्यते— प्राणाद्या वायवः पञ्च । प्राणाद्याः प्राणापानसमानोदानव्यानाः पञ्च । कुतः पुनरियं प्राणादिवृत्तिः प्रवर्तत इति ? उच्यते—सा कर्मयोनिभ्यः । महतः प्रच्युतं हि रजो विकृतमण्डस्थानीयाः पञ्च कर्मयोनयो भवन्ति—धृतिः श्रद्धा सुखा विविदिषा अविविदिषेति । तासां लक्षणविषयसतत्त्वगुणसमन्वया भवन्ति । तत्र लक्षणं तावत्—व्यवसायादप्रच्यवनं धृतिः । फलमनभिसन्धाय शास्त्रोक्तेषु कार्येषु अवश्यकर्तव्यताबीजभावः श्रद्धा । दृष्टानुश्रविकफलाभिलाषद्वारको हि बुद्धेराभोगः सुखा । वेत्तुमिच्छा विविदिषा । तन्निवृत्तिरविविदिषा । एतत् तावल्लक्षणसतत्त्वम् । आह च— वाचि कर्मणि सङ्कल्पे प्रतिज्ञां यो न(नु?) रक्षति । तन्निष्ठस्तत्प्रतिज्ञश्च धृतेरेतद्धि लक्षणम् ॥ १ ॥ अनसूया ब्रह्मचर्यं यजनं याजनं तपः । दानं प्रतिग्रहः शौचं श्रद्धाया लक्षणं स्मृतम् ॥ २ ॥ सुखार्थी यस्तु सेवेत विद्यां कर्म तपांसि वा । प्रायश्चित्तपरो नित्यं सुखायां स तु वर्तते ॥ ३ ॥ द्वित्वैकत्वपृथक्त्वं नित्यं चेतनमचेतनं सूक्ष्मम् । सत्कार्यमसत्कार्यं विविदिषि(षि)त(पित)व्यं विविदिषायाः ॥ ४ ॥ विषयीत्युन्मत्तवदविविदिषा ध्यानिना सदा योनिः । कार्यकरणक्षयकरी प्राकृतिका गतिः समाख्याता ॥ ५ ॥ विषयसतत्त्वं पुनः सत्त्वविषयिणी धृतिः आश्रमविषयिणी श्रद्धा दृष्टानुश्रविकविषयिणी सुखा व्यक्तविषयिणी विविदिषा अव्यक्तविषयिणी अविविदिषा । गुणसमन्वयस्तु रजस्तमोबहुला धृतिः सत्त्वरजोबहुला श्रद्धा सत्त्वतमोबहुला सुखा रजोबहुला विविदिषा तमोबहुला अविविदिषेति । इति साङ्ख्यकारिकाया वृत्तौ युक्तिदीपिकायाम् का० २९ ॥ ३ णाचेति प्र० ॥ ४ कारण प्र० ॥ ५ अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति । मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥ ५३ ॥

अष्टविकल्पोऽष्टप्रकारोऽष्टभेद इत्यर्थः । तद्यथा—ब्रह्म प्रजापतीन्द्र पितृ गान्धर्व नाग रक्षः पिशाचाः । तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति पशु-मृग पक्षि सरीसृप स्थावराः । मानुष्यश्चैकविधः जात्यन्तरानुपपत्तेः । इति साङ्ख्यकारिकाया युक्तिदीपिकावृत्तौ ॥ ६ सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः । ॥ ३९ ॥ तत्र सूक्ष्मा नाम चेष्टान्वितं प्राणाष्टकं समरति । मातापितृजास्तु द्विविधा—जरायुजा अण्डजाश्च । तेषां कोशोपचिता कोशाः लोम रुधिर मांसा ऽस्थि-स्नायु शुक्रलक्षणाः । तत्र लोम रुधिर-मांसानां मातृतः सम्भवः । अस्थि स्नायु शुक्राणां पितृतः । तत्रैव अशितपीताभ्यां सह अष्टौ कोशानपरे व्याचक्षते । कथं पुनरेषां कोशत्वम् ? आवेष्टनसामर्थ्यात् । यथा कोशकारः कोशेनावेष्टितोऽस्वतन्त्रः एवं सूक्ष्मशरीरं सप्राणमेतैरावेष्टितमस्वतन्त्रं तत् तत् कर्मोपचिनाति । प्रभूतास्तु उद्भिज्जाः स्वेदजाश्च । मनुष्याणां तु जरायुजम् । तिर्यग्योनीनामपि चतुर्विधम्—जरायुजं गवादीनामण्डजं चैव पक्षिणाम् । तृणादेश्चोद्भिज्जं क्षुद्रजन्तूनां स्वेदजं स्मृतम् ॥ १ ॥ एवं त्रिविधा विशेषा व्याख्याताः ।'—साङ्ख्यका० युक्तिदीपिका ॥ ७ 'अपि च शिष्टा वदन्ति—बहि शरीरं षाट्कौशिकमिति । जे० साङ्ख्यका० चू० B का ३९ । ग्रन्थान्तरेषु तु षाट्कौशिकपाठ उपलभ्यते ॥ ८ उद्भिद्य प्र० ॥ ९ एतच्च व्यक्तस्य रूपं प्रवृत्तिश्च परिकल्प्यते । फलमिदानीं वक्ष्यामः । आह—किं पुनस्तत् फलमिति । उच्यते—य एष एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः । तत् फलमिति वाक्यशेषः । एष इति वक्ष्यमाणस्य सम्मुखीकरणार्थमुच्यते । प्रत्ययसर्ग इति, प्रत्ययः पदार्थो लक्षणमिति पर्यायाः । प्रत्ययानां सर्ग

कृता । सिद्धिरूहेन साधनं तारकम्, शब्देन सुतारम्, अध्ययनेन तारयन्तम्, यानादीन्याध्यात्मिकान्य- ध्यनीत्य क्रियया तारक-सुतार-तारयन्तानामन्यतमेन प्रमोदम्, मानुषाद्याधिभौतिकात्ययेन तत्रयान्यतमेनैव ३०२ = प्रमुदितम्, शीताद्याधिदैविकात्ययेन तत्रयान्यतमेनैव मोदमानम्, यदा कुशलसंसृष्टव्याश्रयात् सन्देहनि- रूमात् तदन्यतमेन रम्यकम्, दौर्भाग्यनिरूमेण सदाप्रमुदितमित्यष्टौ सिद्धयः । संनिहितविषयसन्तोषार्चि- (अ)र्जितादर्थाद्वृत्तस्य निवृत्तिरेकैव तुष्टिरायतनवत्त्वाद् नवविधा तुष्टिः । प्रकृत्युपादानकालभाग्यकारणपूर्वक-

---

प्रत्ययसर्गः प्रत्ययेभ्यो ... इत्यर्थः । अथवा प्रत्ययो बुद्धिः निश्चयोऽध्यवसाय इति पर्यायाः, तस्य सर्गोऽध्यवसाय- प्रत्ययसर्गः, प्रत्ययसर्गः प्रत्ययव्यापार इत्यर्थः । अथवा प्रत्ययपूर्वकः सर्गः प्रत्ययसर्गः बुद्धिपूर्वक इत्युक्तः । ··· । स विपर्ययाख्यः, अशक्त्याख्यः, तुष्ट्याख्यः, सिद्ध्याख्यश्चेति । तत्रैतस्य श्रेयस्यैवाभिमतं विपर्ययः । वैकल्या- दशक्तिः । विपर्ययतादूरेन निवृत्तिस्तुष्टिः । यथेष्टस्य साधनं सिद्धिः ।"—साङ्ख्य० युक्तिदीपिका, का० ४६ ॥

१ "आह—व्याख्यातं लक्षणतः सिद्धिरिति, तदिदानीमभिधीयतामिति । उच्यते—ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रय सुहृत्प्राप्तिः दानं च सिद्धयोऽष्टौ । तत्रोहो नाम यदा प्रवक्तारमनागमय्य विवेकाभिप्रेतमर्थं विचारादेवैव प्रतिपद्यते, सा आद्या सिद्धिः तारकमित्युपदिश्यते—तारयति संसारार्णवादिति तारकम् । यदा तु स्वयं ऊहितं प्रतिहन्यमानो गुरूपदेशात् प्रतिपद्यते सा द्वितीया सिद्धिः सुतारमित्युपदिश्यते । कथम् ? सुतत्त्वेनात्रापि सत्प्रकृत्यात् तारयतीति । यदा तन्त्रोऽध्यायादध्ययनं प्रतिपत्तुरध्ययनेन साधयति सा तृतीया सिद्धिः तारयन्त- मित्युपदिश्यते । तदिदं तारयन्त्याधा अध्ययनेऽपि अध्याहृतत्वाद् महाविषयत्वात् तारयन्तमित्युपदिश्यते । न एवं त्रयः साधनोपायाश्च ये सिद्धेरभिप्रेतमर्थं प्रभवन्ति । ··· । एवा तु साधनोपायता प्रत्येकमतिरेकात् तु त्रिविधात- त्वम् । दुःखानि त्रीणि आध्यात्मिकादीनि । तत्र आध्यात्मिकानां वातादीनां सिद्धिप्रत्यनीकानामायुर्वेदाभ्यासतेन विघातं कृत्वा पूर्वेषां त्रयाणामन्यतमेन साधयति सा चतुर्थी सिद्धिः प्रमोदमित्यभिधीयते । कथम् ? निरुपरोगा हि प्राणिनः प्रमोदन्त इति कृत्वा । यदा त्वाधिभौतिकानां मानुषादिनिमित्तानां सिद्धिप्रत्यनीकानां सामादिना यतिधर्मानुगुणेन योगेन पूर्वेषां त्रयाणामन्यतमेन साधयति सा पञ्चमी सिद्धिः प्रमुदितमित्यभिधीयते । कथम् ? अद्विष्टो हि प्रमुदित इति कृत्वा । यदा तु शीतादीनि आधिदैविकानि द्वन्द्वानि सिद्धिप्रत्यनीकानि स्वधर्मानुरोधेन प्रतिहत्य पूर्वेषां त्रयाणामन्यतमेन साधयति सा षष्ठी सिद्धिर्मोदमानमित्यभिधीयते । कथम् ? द्वन्द्वानुपहता हि प्राणिनो मोदन्त इति कृत्वा । सुहृत्प्राप्तिः, यदा तु कुशलं सुस्पृष्टं सन्निकृष्याश्रित्य सन्देहनिवृत्तिं लभते सा रम्यकमिति सप्तमी सिद्धिरुपदिश्यते । रम्यो हि लोके सन्निकर्षकः, तस्य सहाया रम्यमेव रम्यकम् । दानम्—यदा तु दौर्भाग्यं दानेन अतीत्य पूर्वेषां त्रयाणामन्यतमेन साधयति सा अष्टमी सिद्धिः सदाप्रमु- दितमित्यभिधीयते । सुभगो हि सदा प्रमुदितो भवति, तस्माद् दौर्भाग्यनिवृत्तिः सदाप्रमुदितम् । इत्येवमेता सिद्धयोऽष्टौ व्याख्याताः । एतास्तु उपेत्याभिप्रेतमर्थं यत संप्रापयन्तीति पूर्वाचार्याणां मार्गमासन्नतरत्वात् स्यादिति ।" साङ्ख्यका० युक्तिदीपिका, का० ५१ ॥ २ "धाधिभौतिकात्ययेन प्र० । "दुःखम्···, आध्यात्मिकं द्विविधं शारीरं मानसं च । शारीरं तावद् वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम् । तथा मानसं कामक्रोधलोभमोहविषादभयेर्ष्याऽसूयाविषयविदर्शननिमित्तम् । आधिभौतिकं मनुष्यपशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम् । आधिदैविकं शीतोष्णवातवर्षाशन्यवश्यायवेगनिमित्तम् ।" साङ्ख्यका० युक्तिदीपिका, का० १ ॥ ३ यादाकुश° प्र० ॥ ४ "तुष्टिस्तु संनिहितविषयसन्तोषार्चिर्जितादर्थाद्वृत्तेन निवृत्तिः सामान्येन एकैव, प्रत्यर्थमनन्ता—अनेन तुष्टः सहस्रेणेति । शास्त्रे तु बाह्याध्यात्मिकानां तृष्णाक्षीणत्वात् नाशिष्यगतेर् वा व्यवस्थालक्षणा उपायवत्त्वात् नव तुष्टयो भवन्ति । तासाम्—आध्यात्मिकाश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः । आध्यात्मिका इति शरीरशरीरिणोर्विवेकमुपलिप्समानेन योगिना यदनात्मनि आत्मबुद्धिरवस्थाप्यते सा खलु आध्यात्मिका सिद्धिः तुष्टिः सन्तोष इत्येव इत्यर्थः ।" साङ्ख्यका० युक्तिदीपिका, का० ५० । "आध्यात्मिकाश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः । बाह्य(ह्याः?) विषयोपरमाश्च(च?) पञ्च नव तुष्टयोऽभिमताः ॥ ५० ॥ अध्यात्मानं तारयन्ति इत्याध्यात्मिकाः, प्रकृत्याख्या उपादानाख्या कालाख्या भाग्याख्या चेति चतस्रस्तुष्टय आध्यात्मिकाः । यत्र कश्चित् प्रकृतिमात्रं वेत्ति, न जानाति नित्या वा अनित्या वा चेतना वा अचेतना वा सगुणा वा अगुणा वा सर्वगता

पुरुषान्यत्वापरिज्ञानाद् माध्यस्थ्यलाभोऽम्भःसलिलौघवृष्टयाख्याः शरीरशरीरिविशेषणोपायाश्चतस्र आध्यात्मिकास्तुष्टयः । बाह्याश्च विषयनिर्वेदजाः पञ्च विषयेष्वर्जनरक्षणक्षय[3]सङ्गहिंसादोषदर्शनात् सुतार[4]सुपार-सुनेत्र[सु]मारीचोत्तमाम्भसिकाख्या इति नव तुष्टयः । एकादशेन्द्रियवधा बधिरान्धत्वमूकत्वजडत्वोन्मादकुणिकुष्ठि-क्लैब्योदावर्तपङ्गुताः । पूर्वोक्तेभ्यः सिद्ध्युपायेभ्यो विपरीतनामानोऽष्टावसिद्धयः । तथा तुष्टिविपरीतनामानोऽ-

---

वा अमयगता वेति । एतान् धर्मांश्च वेत्ति केवलमस्तित्वमात्रेण तुष्टः प्रव्रजितः तस्य नास्ति मोक्ष एषा प्रकृत्याख्या तुष्टिः । उपादानाख्या यथा कश्चित् त्रिदण्डकुण्डकमण्डलुकृष्णाजिनापसूत्रादीनामुपादानं कृत्वा प्रव्रजीति मम मोक्षो भविष्यतीति एवं तुष्टो ज्ञानागमं न करोति तस्य नास्ति मोक्ष इत्येषा उपादानाख्या द्वितीया तुष्टिः । कालाख्या यथा—कश्चिदनभिगततत्त्वज्ञो ब्रवीति कालेन मोक्षो भविष्यतीति ज्ञानागमं न करोति किं ज्ञानेन ? इति एवं सन्तुष्टस्य नास्ति मोक्ष इत्येषा कालाख्या तृतीया तुष्टिः । भाग्याख्या यथा—कश्चिदनभिगततत्त्वज्ञो ब्रवीति भाग्येन मोक्षो भविष्यतीति ज्ञानागमं न करोति, किं ज्ञानेन ? इति सन्तुष्टस्य मोक्षो नास्तीति एषा भाग्याख्या चतुर्थी तुष्टिः । एवमेता आध्यात्मिकाश्चतस्रस्तुष्टयो भवन्ति । —जे० साङ्ख्यका० वृ० B । साङ्ख्यका० युक्तिदीपिकायां तु आध्यात्मिकतुष्टयोऽन्यथा व्याख्याताः ॥

१ आद्या तुष्टिरम्भ इत्यभिधीयते । कस्मात् ? अमितं हि प्रधानतत्त्वं भाति जगद्बीजभूतत्वात् । द्वितीया तुष्टिः सलिलमित्यभिधीयते । कथं पुनरेतत् सलिलम् ? सति उपादाने विकारो लीयत इति । तृतीया तुष्टिः 'ओघ' इत्यभिधीयते । कथं पुनरयं काल ओघ इत्युच्यते ? सलिलौघवत् सर्वाभ्यावहनात् । चतुर्थी तुष्टिर्वृष्टिरित्यभिधीयते । कथं पुनर्वृष्टिरित्युच्यते ? सर्वसत्त्वाप्यायनात् । यथा हि शीर्णानामपि तृणलतादीनां वृष्टिं प्राप्य पुनराप्यायनं भवति एवमेव सर्वेषां प्राणिनां भाग्यविपरिणामात् पुनराप्यायनं भवति । तस्माद् वृष्टिसाम्याद् भाग्याख्या तुष्टिर्वृष्टिरित्यभिधीयते । —साङ्ख्यका० युक्तिदीपिका का० ५० ॥ २ बाह्या[स्तु पञ्च] तुष्टयो भवन्ति । ताश्च व्याख्यास्यन्ते । बाह्यविषयोपरमाश्च पञ्च । ताश्चेमा —अर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषाः । तत्रार्जनं नाम शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् विषयान् निमित्तं कृत्वा कृषिपशुपालनवाणिज्यादिषु प्रवर्तते तत्र विषयार्जने क्लेशप्रयासादि दुःखं मत्वा विषयेभ्य उपरमति उपरतश्च तुष्टिं लभते एषा पञ्चमी तुष्टिः । रक्षणदुःखं यथा अर्जितानां धनधान्यानां राजचौरादिभ्यो यद् रक्षणं तदपि दुःखं कर्तुमित्युपरतश्च तुष्टिं लभते एषा षष्ठी तुष्टिः । क्षयदुःखं यथा अर्जितानां रक्षणे कृतेऽप्युपभुज्यमानाः क्षीयन्त इति मत्वा उपरतश्च तुष्टिं लभत इत्येषा सप्तमी तुष्टिः । यथार्जितरक्षणक्षयादीनां प्रतीकारेऽपि कृते इन्द्रियाणां वैतृष्ण्यं नास्तीति मत्वा विषयेभ्यो विरमति उपरतश्च तुष्टिं लभते एषा अष्टमी तुष्टिः । अर्जनरक्षणक्षयानुवृत्तीनां प्रतीकारेऽपि कृते अत्यन्तादिकृतेन हिंसामन्तरेण भूतोपरोधं विना न शक्यन्ते विषया उपार्जयितुमतो विषयेभ्य उपरतश्च तुष्टिं लभते एषा नवमी तुष्टिः । एवमेताभिस्तुष्टिभिरज्ञानाद् मोक्षो नास्तीति केवलेन वैराग्येण तुष्टिः । एवमेता आध्यात्मिकाश्चतस्रो बाह्याः पञ्च नव तुष्टयो व्याख्याताः । आसां तुष्टीनां नवानामिह संज्ञा भवन्ति—अम्भः सलिलम् ओघो वृष्टिः सुतारं सुपारं सुनेत्रं मारीचिकम् उत्तमाम्भसिकमिति । जे० साङ्ख्यका० वृ० B का० ५० ॥ ३ क्षयासङ्ग प्र० । 'शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेभ्य उपरतोऽर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादर्शनात् । विषयोपभोगसङ्गे कृते नास्तीन्द्रियाणामुपशम इति सङ्गदोषः । इति साङ्ख्यका० गौडपादभाष्ये का० ५० ॥ ४ सुतार सुपार सुनेत्र मारीचोत्तमाम्भसिकाख्या प्र० । प्रव्राय च प्रव्रजस्य भूयिष्ठं दुःखमेवेत्यनेनास्माद् दर्शनाद् माध्यस्थ्यं लभते सा पञ्चमी तुष्टिः सुतारमित्यभिधीयते । कथं पुनः सुतारमित्युच्यते ? सुखमनेन उपायेन तरन्ति विषयसङ्गमिति सुतारम् । षष्ठी तुष्टिः सुपारमित्यभिधीयते । कथं पुनः सुपारमित्युच्यते ? सुखमनेन पारं विषयार्णवस्य प्रयान्तीति । सप्तमी तुष्टिः सुनेत्रमित्युच्यते । कथं पुनः सुनेत्रमित्युच्यते ? सुखमनेन आत्मानं कैवल्यावस्थां नयन्तीति सुनेत्रम् । अष्टमी तुष्टिः सुमारीचमित्युच्यते । कथं सुमारीचमित्युच्यते ? अर्चिरे पूजार्थस्य शोभनमर्चितं विषयसङ्गनिवृत्तस्य योगिनोऽवस्थानं भवति । नवमी तुष्टिरुत्तमाम्भसिकमित्यभिधीयते । कथम् ? उत्तमं हि प्राणिनां सर्वेभ्यो भयेभ्यो हिंसाभयमिति तदपगमाद् उत्तमाम्भसिकमिति । साङ्ख्यका० युक्तिदीपिका का० ०॥ ५ एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा । सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम् ॥ ४९ ॥ इन्द्रियाणां स्वविषयग्रहणासामर्थ्यं वध इव वधः । —साङ्ख्यका० माठरवृ० । इह लोके कश्चिद् देवदत्तो वैराग्येण युक्तो यज्ञदत्तमाहूय प्रब्रवीति भो यज्ञदत्त दुःखितोऽस्मि किं करोमि ? इति । स तेनोक्तः—साङ्ख्यज्ञानस्याधिगमं कुरु ततो दुःखान्तं यास्यसीति । एवं यज्ञदत्तेनोक्तो देवदत्तोऽब्रवीत्—नाहं शक्नोमि साङ्ख्यज्ञानस्याधिगमं कर्तुं यस्माद् बधि

नाम्भसिक्यादयो नव अतुष्टय इत्यशक्तिरष्टाविंशतिविधा । अश्रेयःप्रवृत्त्यहङ्कारममकारक्रोधमरणविषादा-स्तमोमोहमहामोहतामिस्र[3]ान्धतामिस्राः पञ्च विपर्यया इत्येतद् दृष्टफलपरिमाणम् । इत्थं रूप-प्रवृत्ति-फलपरिमाणमाध्यात्मिकानां कार्यकारणात्मकानां भेदानां निर्दिष्टम्, अनेन तैर्यग्योनमानुषदैवेष्वपि समग्रपञ्चेषु ज्ञेयम् । तस्मात् परिमितत्वात् [4]संसर्गपूर्वका भेदाः, व्रीहाविव संसृष्टा मूलाङ्कुरपर्णनालकाण्डप्रसवतुषशूक-पुष्पक्षीरतण्डुलकणभावाः यथा वा शुक्रशोणितसंसृष्टाः कललार्बुदमांसपेशिशरीरव्यूहबाल्यकौमारयौवन-स्थाविरा भावा इति ।

इतश्च अस्ति प्रधानं भेदानां कार्यकारणभावात् । शब्दाद्यात्मना व्यवतिष्ठमानानि सत्त्वरजस्तमांसि
२३० प्रकाशप्रवृत्तिनियमैः परस्परार्थं कुर्वन्ति । [8]सत्त्वं शब्दाद्यात्मना व्यवतिष्ठमानं तद्भावाद्येतरयोः प्रवृत्तिं ख्यापयति, एवं रजः प्रवर्तयति, तमो नियमयति । शब्दाद्यारब्धानि पृथिव्यादीनि [9]आरम्भोत्क्रमेण

रोऽस्मि गुरोर्वचनं न शृणोमि, शुश्रूषायामसमर्थं कुतो ज्ञानस्याधिगमं करिष्यामीति ? एवमेतान्ध्यमूकत्वोन्मादादय इन्द्रियो-पघाता विषया(य ?)ग्रहणे असमर्था बोध्या । एवमेते एकादशेन्द्रियवधा अशक्तिरित्युच्यते । सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा । बुद्धेर्वधा बुद्धिवधा, तैर्बुद्धिवधै सहाशक्तिरुद्दिष्टा । अत्राह—के ते बुद्धिवधा कियन्तश्चेति ? सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम् । ते च सप्तदश वधा तुष्टिसिद्धिषु व्याख्यायमानासु व्याख्यास्यन्ते ।" जे० साङ्ख्यका० वृ० B, का० ४९ । "बाधिर्यमान्ध्यमघ्रत्वं मूकता जडता च या । उन्मादकौष्ठ्यकौण्यानि क्लैब्योदावर्तपङ्गुता ॥ १ ॥ तत्र बाधिर्यं श्रोत्रस्य, आन्ध्यं चक्षुष, अघ्रत्वं नासिकाया, मूकता वाच, जडता रसनस्य, उन्मादो मनस, कौष्ठ्यं त्वच, कौण्यं पाणे, क्लैब्यमुपस्थस्य, उदावर्त पायो, पङ्गुता पादयो, इत्येवमिन्द्रियवधा एकादश ।" साङ्ख्यका० युक्तिदीपिका, का० ४९ ॥

१ "अशक्तिश्च करणवैकल्यादष्टाविंशतिभेदा 'भवति' इत्यनुवर्तते । तत्र बाह्यकरणवैकल्य सह मनसा एकादशप्रकारम्, सप्तदशविधं बुद्धिवैकल्यम्, एतेऽशक्तिभेदा ।" साङ्ख्यका० युक्तिदीपिका, का० ४७ ॥ २ "पञ्च विपर्ययभेदा भवन्ति तमोमोहमहामोहतामिस्रान्धतामिस्रा इति । तत्र अश्रेयसि प्रवृत्तस्य प्रलयावरे श्रेयोभिमान आद्यो विपर्ययस्तम इत्यभिधीयते भौतिकेषु आकारेषु शिर पाण्यादिषु आत्मग्रहो योऽय व्यूढोरस्क सितदशनस्ताम्राक्ष-प्रलम्बबाहु सोऽहमिति । तथा श्रवणस्पर्शनरसनघ्राणवचनादानविहरणोत्सर्गानन्दसङ्कल्पाभिमानाध्यवसायलक्षणासु करण-वृत्तिषु अह श्रोता द्रष्टा चेत्येवमादिराद्यकालप्रवृत्तो ग्रह पूर्वस्मादवरो मोह इत्युच्यते ।…बाह्ये तु विषये ममेदमित्यभि-निवेश पूर्वस्मादवर [महामोह] इत्युच्यते ।… क्रोधश्चतुर्थो विपर्यय पूर्वस्मादवर तामिस्र इत्यभिधीयते । …मरणविषादः पञ्चमो विपर्यय पूर्वस्मादवर अन्धतामिस्र इत्यभिधीयते ।" साङ्ख्यका० युक्तिदीपिका, का० ४७ ॥ ३ °**तामिश्रान्धतामिश्राः** प्र० ॥ ४ "ससर्गपूर्वकत्वे हि ससर्गस्य एकस्मिन्नद्वयेऽसम्भवात् नानात्वे कार्थसमवेतस्य नानाकारणानि कल्पनीयानि । तानि च सत्त्वरजस्तमासेवेति भाव ।"—ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य**भामती** २।२।१। "तथा परिमितानां भेदानां मूलाङ्कुरादीनां ससर्गपूर्वकत्वं दृष्ट्वा बाह्याध्यात्मिकाना भेदाना परिमितत्वात् ससर्गपूर्वकत्वमनुमिमानस्य सत्त्वरजस्तमसामपि ससर्गपूर्वकत्व-प्रसङ्ग, अनुमितत्वाविशेषात् ।"–इति ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये २।२।१ ॥ ५ "भेदाना परिमाणात् । यत् परिमित तस्य सत उत्पत्तिर्दृष्टा तद्यथा–मूलाङ्कुरपर्णनालदण्डतुषतुषशूकपुष्पक्षीरतण्डुलकणानाम् । परिमिता महदहङ्कारेन्द्रियतन्मात्रमहाभूतलक्षण भेदा, तस्मात् कारणपूर्वका । यदेषा कारण तदव्यक्तम् ।" **साङ्ख्यका० युक्तिदीपिका**, का० १५ ॥ ६ "किञ्चान्यत्, कार्या-श्रयिणश्च कललाद्या । यदा सूक्ष्मशरीरमुत्पत्तिकाले मातुरुदर प्रविशति मातु रुधिर पितु शुक्रं तस्य सूक्ष्मशरीरस्य उपचय कुरुते, मातु कललार्बुदघनमांसपेशीगर्भकौमारयौवनस्थाविरादयोऽन्नपानरसनिमित्ता निष्पाद्यन्ते, तेन उच्यते–कार्या-श्रयिणश्च कललाद्या इति ।" **जे० साङ्ख्यका० वृ० B**, का० ४३ ॥ ७ °**पेसि**° प्र० ॥ ८ **सत्त्वं सत्वाना व्यव**° प्र० ॥ ९ **आरंत्क्रमेण** य० । पृ० २६० टि० १ मध्ये वर्णितं सृष्ट्यारम्भकमं परित्यज्य अत्र तु **पृथिव्या** आदौ उपादानात् **आरम्भोत्क्रमेण** इति पाठ सङ्गत प्रतीयते । अत्र अस्वारस्ये तु 'आरम्भात् क्रमेण' इति पाठः कल्पनीय, 'क्रमेण वृतिसङ्ग्रहपक्तिव्यूहावकाशदानै.' इति च योज्यम् ॥

धृतिसङ्ग्रहपक्तिव्यूहावकाशदाने परस्परार्थं कुर्वन्ति । इन्द्रियाण्यप्यन्योन्यविषयग्रहणसाहायकेनोपकुर्वन्ति । यच्च यस्य विषयं प्रख्यापयति आनयति पाति संस्करोति उपधत्ते वा तत् कारणमितरत् कार्यम् । स्थानसाधनात्म-प्रख्यात्युपभोगे करणार्थं करोति कार्यम्, करणं वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणसंशोकपरिपालने कार्यार्थं करोति । एवं बाह्याध्यात्मिकानां दैवमानुषतैर्यग्योनानां सप्रपञ्चानामन्योन्योपकारः रक्षा-सङ्ग्रह-सेचन-पूजन-पोषण-स्थिति शुश्रूषादिविकल्पा वर्णाश्रमादीनां योज्या । एककर्तृका भेदाः, परस्परोपकारकोपकार्यत्वात्, शयनादिवत् । तस्मादस्ति प्रधानमिति ।

इतश्च अस्ति शक्तिमदवस्थामात्रत्वाच्छक्तीनाम् । कार्यकारणानामधिष्ठितानामनधिष्ठितानां च स्वकार्यसमर्थास्त्रिषु कालेषु शक्तयोऽवतिष्ठन्ते । तद्यथा—प्राक् प्रवृत्तेः शक्त्यवस्थानमनुमीयते प्रवृत्त्युपलब्धेः, प्रवृत्तिकालेऽवस्थानमपवर्गदर्शनात्, प्रवृत्त्युत्तरकालावस्थानं प्रवृत्तिव्यतिरेकेणावस्थानदर्शनात् । एवमाद्यन्तवद् व्यक्तमुपलभ्य व्यक्तस्यावस्थास्ति, अनवस्थितशक्तेराद्यवसानाभावात् खपुष्पवत्, अवस्थितशक्तेरेव तद्भावाद् मृदः पिण्डादिभाववत् । तस्माद् व्यक्तशक्तिप्रवृत्त्युपलब्धेरस्ति प्रधानमिति ।

---

१ वृत्तिस प्र० । सहभावे तु तेषामुपकारो न प्रतिषिध्यते तद्यथा पृथिव्यादीनां धृतिसङ्ग्रहपक्तिव्यूहावकाश दाने । -साङ्ख्यका० युक्तिदीपिका का० १५, पृ० ८० पं० २६ । पृथिव्येव पृथिवीधातुः धृत्यादिधर्मधारणात् । — नयचक्रवृ० पृ० २६७-१ । पञ्च महाभूतानि कृतानि—आकाशमवकाशने भूमिर्विहरणे आपः पिण्डीकरणे शुद्धा च अग्निराहारपचने वायुर्व्यूहने । जे० साङ्ख्यका० वृ० B का ३९ ॥ २ आह—कः पुनर्व्यक्तस्य परस्पर-कार्यकारणभाव इति । उच्यते—गुणानां तावत् सत्त्वरजस्तमसां प्रकाशप्रवृत्तिनियमलक्षणैर्धर्मैरितरेतरोपकारेण यथा प्रवृत्तिर्भवति तथा प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः [साङ्ख्यका १२] इत्येतस्मिन् सूत्रे व्याख्यातम् । तथा शब्दादीनां पृथिव्यादिषु परस्परार्थमेकाधारत्वम् । श्रोत्रादीनामितरेतरार्जनरक्षणसंस्काराः । करणस्य कार्यात् स्थानसाधनप्रख्यापनादिकार्यस्य करणाद् वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणधारणपरिपालनानि पृथिव्यादीनां धृतिसङ्ग्रहपक्तिव्यूहावकाशदानैर्गवादिभावो देवमानुषतिरश्चां यथर्तु विधानेज्यापोषणाभ्यवहारैः सव्यवहारेतरेतराध्ययनं वर्णानां स्वधर्मप्रवृत्तिविषयभावः । अन्यच्च लोकाद् यथासम्भवं द्रष्टव्यम् ।' साङ्ख्यका युक्तिदीपिका का० १५ ॥ ३ कार य० । दृश्यतां पृ० २९८ टि० ३ ॥ ४ देहस्य वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणादि निमित्तत्वात् [प्रशस्त० भा०] देहस्येति । वृद्धिरवयवोपचयः भग्नक्षतयोर्विघटितविश्लिष्टयोरस्थिचर्ममांससमागयोः संरोहणं पुनः सङ्घट्टनम् । इति प्रशस्तपादभाष्यकिरणावल्याम् आत्मनिरूपणे । दृश्यतां टि० २ ॥ ५ तैर्यग्योनमानुषदैवतानि च परस्परार्थत्वात् । [व्यासभा०] । परस्परार्थत्वादिति । मनुष्यशरीरं हि पशुपक्षिमृगसरीसृपस्थावरोपयोगेन ध्रियते एवं व्याघ्रादिशरीरमपि मनुष्यपशुमृगादिशरीरोपयोगेन एवं पशुपक्षिमृगादिशरीरमपि स्थावराद्युपयोगेन एवं देवशरीरमपि मनुष्योपहृतचरुपशुपिष्टकपिञ्जलमांसाज्यपुरोडाशसहस्रशाखाप्रस्तरादिभिराज्यमानं तदुपयोगेन एवं देवतापि वरदानवृष्ट्यादिभिर्मनुष्यादीनि धारयतीत्यस्ति परस्परार्थत्वमित्यर्थः । इति पातञ्जलयोगदर्शनव्यासभाष्यस्य वाचस्पतिमिश्रप्रणीतायां तत्त्ववैशारद्यां वृत्तौ ३।२८ ॥ ६ (कार्य ?) ॥ ७ सेचनपूजनपोषण भा० ॥ ८ पादैर्विकल्पा य० ॥ ९ श्रया (श्रम्या ?) दीनां प्र । ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां वर्णानां ब्रह्मचारि गृहस्थ-वानप्रस्थ-यतीनामाश्रमिणां च कार्याणि वर्णितानि वैशेषिक-दर्शनप्रशस्तपादभाष्ये द्रष्टव्यानि धर्मनिरूपणे । स्मृत्यादिष्वपि धर्मशास्त्रेषु तद्वर्णनमस्ति ॥ १० चा भा० । अत्र चा इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ११ कियावन् शक्तित प्रवृत्तेश्च । इह यावती काचिल्लोके प्रवृत्तिरुपलभ्यते सा सर्वा शक्तितः । तद्यथा—कुम्भकारस्य दण्डादिसाधनविन्यासलक्षणायाश्च शक्तेः सन्निधानाद् घटकरणे प्रवृत्तिः अस्ति व्यक्तस्य च यः कार्यत्वात् तद्भावेन प्रवृत्तिरिति । अतस्तस्यापि शक्त्या भवितव्यम् । यासौ शक्तिस्तदव्यक्तमिति । आह—प्राक् प्रवृत्तेः शक्त्यभावः प्रवृत्त्यनुपलब्धेः । अत्र ब्रूमः—न अप्रसिद्धत्वात् । तस्मात् प्राक् प्रवृत्तेः शक्तिः । यत् पुनरेतदुक्तं तावदेव प्रध्वंस इति अत्र ब्रूमः—न कार्यनिष्ठादर्शनात् । यदि प्रवृत्तिसमकालमेव प्रध्वंसः स्यात् कार्यनिष्ठत्वं न स्यात् तन्निमित्तत्वात् कार्यस्य । तस्मान्नास्ति शक्तीनां प्रवृत्तिकाले विनाशः । प्रवृत्त्युत्तरकालमपि नास्ति । कस्मात् ? पुनः प्रवृत्तिदर्शनात् । तस्मात् त्रिषु कालेषु शक्तयोऽवतिष्ठन्ते ।' —साङ्ख्यका युक्तिदीपिका का० १५ ॥

२३०१ इतश्च अस्ति[1] प्रधानम्, वैश्वरूप्यस्याविभागप्राप्तेर्देशकालप्रमाणबलरूपप्रत्यासत्तेरवश्यम्भाव्युच्छेदा[2]नुच्छेदाभ्यां च निवृत्तेः । जलभूम्योः[3] पारिणामिकं रसादिवैश्वरूप्यं स्थावरेषु दृष्टम्, तथा स्थावराणां जङ्गमेषु, जङ्गमानां स्थावरेषु, स्थावराणां स्थावरेषु, जङ्गमानां जङ्गमेषु । जात्यनुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकम्, देशकालाकारनिमित्तावबन्धात् तु न समानकालमात्माभिव्यक्तिः, ते[4] मन्यामहे जलभूम्योरप्येतत् पारिणामिकं रसादिवैश्वरूप्यम्, अन्येषां च भूतानामन्यपरिणाम इति, एवं तदप्यन्यस्येत्यवश्यंभावी अविभागः । यत्र चाविभागस्तत्र प्रधानम्, वैश्वरूप्यस्याविभागकारणपूर्वकत्वात्, मयूरबर्हवैचित्र्यस्येव तदण्डकरसपूर्वकत्वम् । तस्मादस्ति प्रधानमिति एभिः पञ्चभिर्वीतैः[5] समन्वयपरिमाणोपकारशक्तिप्रवृत्तिवैश्वरूप्यगत्याख्यैः सामान्यसंसर्गैककर्तृशक्तिमच्छक्त्यविभागसञ्ज्ञं प्रधानं सिद्धम् । अत एवैकत्वम्[6] अर्थवत्त्वम्, परार्थत्वं संहत्य-

---

१ "किञ्चान्यत्, अविभागाद् वैश्वरूप्यस्य । इह यद् विश्वरूपं तस्याविभागो दृष्ट, तद्यथा—सलिलादीना जलभूमी, विश्वरूपाश्च महदादय, तस्मादेषामप्यविभागेन भवितव्यम् । योऽसावविभागस्तदव्यक्तम् । तस्मादस्त्यव्यक्तम् । आह–किं पुनस्तद् वैश्वरूप्य को वा विश्वरूप इति ? उच्यते–वैश्वरूप्यमिति विशिष्टमवस्थानमाचक्ष्महे अस्तमितविशेषत्वमविभाग इति । विशेषस्य सामान्यपूर्वकत्वादिति योऽर्थस्तदुक्त भवति अविभागाद् वैश्वरूप्यस्येति ।" **साङ्ख्यका० युक्तिदीपिका, का० १५ ॥**
२ °**व्युच्छेदाभ्यां** प्र० ॥ ३ दृश्यता पृ० ११ पं० २७ । "यथा जलभूम्योरप्येतद् रसादिवैश्वरूप्यं स्थावराणा जङ्गमेषु जङ्गमानां स्थावरेष्विति । एवं जात्यनुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकमिति । तेन मन्यामहे–अस्ति प्रधानं यत्र महदादि लिङ्गमविभागं गच्छति, इत्येवमवश्यम्भावी अविभाग । यत्राविभागस्तत् प्रधानम् । तस्मादस्ति प्रधानम् ।" इति **जे० साङ्ख्यका० वृत्तौ** B, किञ्चिच्छब्दभेदेन **माठरवृत्तौ** च, का० १५ ॥ "सर्वं सर्वात्मकमिति । यत्रो(थो?)क्तम्—'जलभूम्यो पारिणामिक रसादिवैश्वरूप्य स्थावरेषु दृष्टम्, तथा स्थावराणा जङ्गमेषु जङ्गमानां स्थावरेषु इति । एवं जात्यनुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकमिति । देशकालाकारनिमित्तापबन्धान्न खलु समानकालमात्मनामभिव्यक्ति ' इति [व्यासभा०] । सर्वं सर्वात्मकमिति । यत्रोक्तमिति तदेवोपपादयति । जलभूम्योरिति । जलस्य हि रसरूपस्पर्शशब्दवत भूमेश्च गन्धरसरूपस्पर्शशब्दवत्या पारिणामिकं वनस्पतिलतागुल्मादिषु मूलफलप्रसव रसवादिगतरसादिवैश्वरूप्यं दृष्टम् । सोऽयमनेवमात्मिकाया भूमेरनीदृशस्य वा जलस्य न परिणामो भवितुमर्हति, उपपादित हि नासदुत्पद्यते इति । तथा स्थावराणा जङ्गमेषु मनुष्यपशुमृगादिषु रसादिवैचित्र्यं दृष्टम् । उपभुञ्जाना हि ते फलादीनि रूपादिभेदसम्पदमासादयन्ति । एवं जङ्गमाना पारिणामिकं स्थावरेषु दृष्टम्, रुधिरावसेकात् किल दाडिमीफलानि तालफलमात्राणि भवन्ति । उपसहरति–एवमिति । एवं सर्वं जलभूम्यादिकं सर्वरसाद्यात्मकम् । तत्र हेतुमाह—जात्यनुच्छेदेनेति । जलत्वभूमित्वादिजाते सर्वत्र प्रत्यभिज्ञायमानत्वेन अनुच्छेदात् । ननु सर्वं चेत् सर्वात्मकं हन्त भो सर्वस्य सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सन्निधानात् समानकालीना भावाना व्यक्ति प्रसज्येत, न खलु सन्निहिताविकलकारणं कार्यं विलम्बितुमर्हतीत्यत आह—देशकालेति । यद्यपि कारणं सर्वं सर्वात्मकं तथापि यो यस्य कार्यस्य देश यथा कुङ्कुमस्य कश्मीर तेषां सत्त्वेऽपि पञ्चालादिषु न समुदाचार इति न कुङ्कुमस्य पञ्चालादिषु अभिव्यक्ति., एव निदाघे न प्रावृष' समुदाचार इति न तदा शालीनाम्, एव न मृगी मनुष्यं प्रसूते, न तस्या मनुष्याकारसमुदाचार इति । एवं नापुण्यवान् सुखरूपं भुङ्क्ते, न तस्मिन् पुण्यनिमित्तस्य समुदाचार इति । तस्माद् देशकालाकारनिमित्तानामपबन्धादपगमान्न समानकालमात्मना भावानामभिव्यक्तिरिति ।" इति **पातञ्जलयोगदर्शनस्य व्यास**प्रणीतभाष्योपरि **वाचस्पतिमिश्र**विरचितायां **तत्त्ववैशारद्यां** वृत्तौ ३।१४ ॥
४ **ते** इत्यव्ययं **ततः** इत्यर्थे वर्तत इति भाति, दृश्यता पृ० ११ प० २७ । **ते** इत्यव्ययस्य **ततः** इत्यर्थे दृश्यते बहुश प्रयोग **पातञ्जलमहाभाष्ये**ऽपि, तद्यथा—"अब्रह्मदत्त ब्रह्मदत्त इत्याह । ते मन्यामहे ब्रह्मदत्तवदयं भवतीति ।" **पा० म० भा०** १।१।२२, १।२।१, ७।१।९० ॥ ५ यथाक्रमं-समन्वयात् सामान्य परिमाणात् ससर्ग उपकारात् एककर्ता शक्तिप्रवृत्ते शक्तिमच्छक्ति वैश्वरूप्यगत्या च अविभाग सिध्यति ॥ ६ '[दश मूलिकार्था , तथाहि—] अस्तित्वमेकत्वमथार्थवत्त्वं पारार्थ्यमन्यत्वमथो निवृत्ति । योगो वियोगो बहव पुमांस स्थिति शरीरस्य च शेषवृत्ति ॥ १ ॥ तत्र 'भेदानां परिमाणात्' [का० १५] इत्येभि पञ्चभिर्वीतैर्हेतुभि प्रधानस्यास्तित्वमेकत्वमथार्थवत्त्व च सिद्धम् । 'सङ्घातपरार्थत्वात्' [का० १७] इति परार्थता सिद्धा । 'तद्विपरीतस्तथा च पुमान्' [का० ११] इति प्रधानपुरुषयोरन्यत्वं सिद्धम् । 'रङ्गस्य दर्शयित्वा' [का० ५९] इति निवृत्ति सिद्धा । 'पुरुषस्य दर्शनार्थम्' [का० २१] इति सयोग सिद्ध । 'प्राप्ते

कारिणः पारार्थ्याच्छयनादिवत् । अतः पुरुषास्तित्वमन्यत्वं तद्बहुत्वं च पुरुषाणाम् । प्रधानस्य आद्यन्त पुरुषार्थोपलब्ध्यनन्तरं निवृत्तिः व्रीह्युदकगत्या रङ्गनर्तकीवद्वेति प्रधानपुरुषसंयोगविभागावित्थम् । इयत्तैरि- ज्ञानफलं च शास्त्रम् ।

तथा सव्यवहारप्रसिद्धेरित्यादि यावदावीतानामिति व्याख्यातं द्रष्टव्यम् । एतेषामेव पञ्चानां वीतानां परिशुद्ध्यर्थं पञ्चैव आवीताः । एवमेभिः पञ्चभिर्वीतैः प्रधानस्य परिग्रहं कृत्वा पुनरावीतं करिष्यामः । 'परपक्षप्रतिषेधेन स्वपक्षपरिग्रहक्रिया आवीतः' इत्युपदिष्टं पुरस्तात् । तस्यास्य प्रतिपक्षाः सर्वे- कान्तिनः पुरुषेश्वराणुप्रवादाः विकारपुरुषाः वैनाशिकाश्च । तेषां वैनाशिकप्रतिषेधमग्रे वक्ष्यामः, कस्मात्? २३१ १ किञ्चिद् वैनाशिका हीतरं त्वसत् प्रभृत्युपक्रम्य अनुपलब्धेर्नास्तीति द्वितीयस्य शिरसो[ऽन]भ्युपगत- स्यासत्त्वस्याभावाद् व्यभिचारप्रसङ्गे गते यावदनागतेऽपि काले न भविष्यतीति ।

किञ्चान्यत्, यदि व्यक्तस्यासत उत्पत्तिर्भवति अर्थार्थिभिस्तृणपांसुवालुका मुक्तामणिरजत सुवर्णानि क्रियेरन्, कस्मात्? अभावक्रिया गुरुकार्या भावक्रिया लघ्वीति । न त्वेव क्रियते, तस्मादयुक्त मित्यादि यावदुक्तोत्तरत्वादसम्यग्विधि । किञ्चान्यत्, यदि व्यक्तस्यासत उत्पत्तिर्योन्यभावादेकत्व- प्रसङ्गः, प्रधानाभावात् सामान्यमात्रमिदं व्यक्तं निर्विशेषमित्येतत् प्रसज्येत । कस्मात्? सामान्यपूर्वकत्वाद् विशेषाणाम्, सामान्यपूर्वका हि लोके विशेषा दृष्टाः, तद्यथा—क्षीरपूर्वका दधिमस्तुद्रप्सनवनीत- घृतारिष्टकिलाटकूर्चिकाभावाः । न त्वसति भावे कश्चिदस्ति यत्पूर्वका व्यक्तविशेषाः स्युः । तस्मात् सामान्यमात्रमिदं व्यक्तं निर्विशेषमित्येतत्, न त्विदं तादृक् । तस्माद् नेदं व्यक्तमसत उत्पद्यते । न चेद- मन उत्पद्यते । पारिशेष्यात् प्रधानादेवेदं व्यक्तमुत्पद्यत इत्येतद् युक्तम् । तस्मादस्ति प्रधानमिति । एषोऽ- न्ययवीतस्यावीतः ।

शरीरभेदे' [का० ६८] इति वियोगः सिद्धः । जन्ममरणकरणानाम्' [का० १८] इति पुरुषबहुत्वं सिद्धम् । चक्रभ्रमवत् [का० ६७] इति शेषवृत्तिः सिद्धा । जै० साङ्ख्यका० वृ० B, तथा माठरवृत्तौ का० ७२ । प्रधानास्तित्वमेकत्वमथ वत्त्वमथान्यता । पारार्थ्यं च तथाऽनैक्यं वियोगो योग एव च ॥ शेषवृत्तिरकर्तृत्वं मौलिकार्था स्मृता दश । [पृ० २] ।

तथास्तित्वमेकत्वं पञ्चभिर्वीतैः सिद्धम् । अर्थवत्त्वं कार्यकारणभावः । पारार्थ्यं संहत्यकारित्वात् परार्थत्वात् । अत एवान्यत्वं चेतनाशक्तेर्गुणत्रयत्वम् । जन्ममरणकरणानाम्' [का० १८] इत्येवमादिभिः पुरुषबहुत्वम् । पुरुषस्य दर्शनार्थम् [का० २१] इति संयोगः । प्राप्ते शरीरभेदे' [का० ६८] इति वियोगः । सम्यग्ज्ञानाधिगमात् [का० ६७] इति शेषवृत्तिः । तस्माच्च विपर्यासात् [का० १९] इति पुरुषस्याकर्तृत्वमित्येवं दश मौलिकार्थाः । साङ्ख्यका० युक्तिदीपिका पृ० ५ । एकत्वमर्थवत्त्वं पारार्थ्यं च प्रधानमधिकृत्योक्तम् । अन्यत्वमकर्तृत्वं बहुत्वं चेति पुरुषमधिकृत्य । अस्तित्वं वियोगो योगश्चेत्युभयमधिकृत्य । वृत्तिः स्थितिरिति स्थूलसूक्ष्ममधिकृत्य । इति साङ्ख्यतत्त्वकौमुद्याम् का० ७२ ॥

१ पार्थयोपल य । प्रधानस्य पुरुषार्था प्रवृत्तिः स चार्थो द्विविधः—शब्दाद्युपलब्धिरूपो गुणपुरुषान्तरोपल- ब्धिरूपः । जै० साङ्ख्यका० वृ० A, B, माठरवृ० का० ६६ ॥ २ रङ्गमनत य । रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् । पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥ ५९ ॥ —साङ्ख्यका० ॥ ३ त्यरिमाण फल य० ॥ ४ दृश्यतां पृ० ३१४ पं ३ ॥ ५ पुरस्तात् भा० ॥ ६ प्रतिपक्षाः पुनरस्य पुरुषेश्वराणुवादिनः । वैनाशिकाः प्राकृतिकाः विकारपुरुषास्तथा ॥ तेषामिहाविघातार्थमाचार्यैः सूक्ष्मबुद्धिभिः । रचिता येषु तन्त्रेषु विस्ताराल्लक्षणक्रमाः ॥ इति साङ्ख्य युक्तिदीपिकायां प्रारम्भश्लोकेषु ॥ ७ हीतकर पा० १० ही० ॥ ८ लब्ध्येति प्र० ॥ ९ क्षीरं रूपेण दधिमस्तुनवनीत घृताऽरिष्टकिलाटकूर्चिकाभावेन परिणमति । जै० साङ्ख्यका० वृ० A माठरवृ०, का० १६ ॥ १० मित्येतत न त्विदं य० । मित्येत(त?) न त्विद भा० ॥ ११ त्पद्य इ प्र० ॥ १२ त्यक्त य० ॥

किञ्चान्यदित्यादि तदेव **योन्यभावादनवस्थाप्रसङ्गः**, परिमाणस्य संसर्गपूर्वकत्वाविनाभावादित्यर्थः । प्रधानाभावाद् [1]निष्परिमाणमिदं व्यक्तमव्यवस्थितमित्येतत् प्रसज्येत । कस्मात् ? सतां ह्यर्थानां लोके परिमाणं दृष्टं तुलामान-हस्त-[2]व्याम-रज्ज्वात्मोपचयैः, न त्वसति भावः कश्चिदस्ति यः प्रतिपद्यमानः परिमाणेऽवतिष्ठेत । तस्माद् [1]निष्परिमाणमिदमव्यवस्थितमित्येतत् प्रसज्येत, न त्विदं तादृक्, तस्माद् नेदं व्यक्तमसत उत्पद्यते । न चेदं सत उत्पद्यते । परिशेषतः प्रधानादेवेदम् । तस्मादस्ति तत् ।

२३१-२ किञ्चान्यत्, **एकजातिसमन्वयाभाव[3]प्रसङ्गादिति** तदेव । **स्थालीघटे**त्यादि दृष्टान्तविशेषः सामान्यविशेषोत्थापनार्थमुच्यते । अत्र परो ब्रूयात्–विशेषमात्रस्य दर्शनादसत उत्पत्तिः, तद्यथा–**[5]आकारो गौरवमित्यादिधर्मभेदादिति** । तत्रोत्तरम्–**ताद्रूप्येणोपकाराददोष** इति धर्मभेदपरिणत्या लोकवृत्तान्तनयनादित्युपकारभेदप्रदर्शनात् कार्यकारणभाववीतस्यावीतत्वलेशं च स्पृशतीति तस्मादेव ग्रन्थादवगन्तव्यं यावत् पुरस्ताद् व्याख्यातम्, यथा–**तैर्यग्योनमानुषदैवानि परस्परार्थं न कुर्वीरन्निति** । तत्र यदुक्तं 'भूतानां तत्समूहानां च व्यावृत्तेर्विशेषमात्रमिदं व्यक्तम्, तस्मादसत उत्पद्यते' इति, **एतदयुक्तमिति**

---

१ **निःपरि°** प्र० ॥ २ "व्यामो वाह्वो सकरयोस्ततयोस्तिर्यगन्तरम् ।" इति अमरकोशे २।६।८७ ॥ ३ °**वाप्र**° प्र० ॥ ४ भा० विनान्यत्र-°**स्थाप**° पा० । °**स्वाप**° डे० लीं० । °**त्वाप**° वि० र० ही० ॥ ५ "आकारो गौरवं रौक्ष्यं वरण स्थैर्यमेव च । स्थितिर्भेद क्षमा कृष्णच्छाया सर्वोपभोग्यता ॥ १ ॥ इति ते पार्थिवा धर्मास्तद्विशिष्टास्तथाऽपरे । जलाग्निपवनाकाशव्यापकास्तान् निबोधत ॥ २ ॥ स्नेहः सौक्ष्म्यं प्रभा शौक्ल्य मार्दव गौरव च यत् । शैत्यं रक्षा पवित्रत्वं सन्ता(न्धा)न चौदका गुणा ॥ ३ ॥ ऊर्ध्वग पावकं दग्धृ पाचकं लघु भास्वरम् । प्रध्वंस्योजस्वि च ज्योति पूर्वाभ्या स(च?) विलक्षणम् ॥ ४ ॥ तिर्यग्गति पवित्रत्वमाक्षेपो नोदनं बलम् । रौक्ष्यमच्छायता शैत्यं वायोर्धर्मा पृथग्विधा ॥ ५ ॥ सर्वतोगतिरव्यूहो विष्कम्भश्चेति ते त्रय । आकाशधर्मा विज्ञेया पूर्वधर्मविरोधिन ॥ ६ ॥ सहताना तु यत् कार्यं सामान्यं ते गवादय । इतरेतरधर्मेभ्यो विशेषान्नात्र सशय ॥ ७ ॥ तत्राकारादिभिर्धर्मै पृथिव्या लोकस्य चोपक्रियते भूतान्तराणा च । तत्र आकारात् तावद् गवादीना घटादीना चाकारनिर्वृत्ति, गौरवादेषामवस्थानम् । रौक्ष्यादपा सङ्ग्रहो वैशद्यं च भूतानाम् । वरणादनभिप्रेताना छादनम् । स्थैर्याद् वृत्तिः(धृति ?) प्रजाना भूतान्तराणा च । स्थितेर्मात्रादिसन्निधानाद्यनुग्रह, भेदाद् घटादिनिष्पत्ति व्यूहश्चावयवानाम् । क्षान्तेरुपभोगयोग्यता । कृष्णच्छायत्वाद् रात्रिसम्पच्छायाकार्यप्रसिद्धिश्च । सर्वोपभोग्यत्वात् सर्वभूतानुग्रह । एवं स्नेहादिभिर्लोकस्योपकार क्रियते भूतान्तराणा च । स्नेहाद् रूपसम्पद् वायुप्रतीकारोऽग्निशमन सङ्ग्रहश्च पृथिव्या । सौक्ष्म्यादनुप्रवेश । शौक्ल्याच्चन्द्रादिनिर्वृत्ति । मार्दवात् स्नानावगाहनमेकक्रिया कठिनाना चावनमनम् । गौरवात् सन्तानाच्च भूतानुग्रहार्थं स्रोतस्त्वम् । शैत्यादुष्णप्रतीकार । रक्षात प्रजासु घोरशमनम् । पवित्रत्वाद् धर्मोपचय, शौचविधिरलक्ष्येऽपि घातश्च । सन्ता(न्धा)नाद् द्रव्यसङ्घात । तथा ऊर्ध्वगत्यादिभिर्धर्ममात्रेऽपि तेजसा लोकस्य चोपक्रियते भूतान्तराणा च । ऊर्ध्वगते पाकप्रकाशसिद्धि, पावकत्वाद् द्रव्यशौचं च । दाहकत्वात् क्षारोत्पत्ति शीतप्रतीकारो नभसश्चोष्मत्वं शब्दनिष्पत्त्यर्थम् । पाचकत्वात् स्वेद्यस्वेदनमन्नपक्ति । पृथिव्यवयवानां क्रियायोग्यता तथा बाह्यान्तरपरिणामो रसलोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणाम् । लाघवाद् दाह्यातिक्रम । भास्वरत्वाद् द्रव्यान्तरप्रकाशनम् । प्रध्वंसित्वाद् दग्धपक्वानामुपभोग । ओजस प्रजापालनम् । तथा तिर्यक्पातादिभिर्धर्मै वायुना लोकस्य चोपकार क्रियते भूतान्तराणा च । तिर्यक्पाताद् दृष्टिविक्षेपो गन्धसवहनं च । पवित्रत्वात् पूतिद्रव्यपावनम् । आक्षेपनोदनाभ्यामुत्कर्ष, प्रथन धर्माम्भस, व्यूहश्च शरीरे रसादीना धातूना च, अग्नेश्चोपध्मानमभिघातश्चाकाशस्य । बलात् समीरणं सर्वेषाम् । रौक्ष्याद् विशोषणम् । अच्छायत्वादहोरात्रप्रसिद्धि । शैत्यादुष्णप्रतीकार । तथा सर्वतोगत्यादिभिर्धर्मै नभसा लोकस्योपकार क्रियते भूतान्तराणा च । सर्वत्र गते समन्तात् तुल्यदेशश्रवणानामेकश्रुतित्वम् । अव्यूहविष्कम्भाभ्या सर्वेषामवकाशदानमित्युक्ता पृथिव्यादय ।"–**साङ्ख्यका० युक्तिदीपिका**, का० ३८ । एत एव "आकारो गौरवं रौक्ष्यम्" इत्यादय प्रथमतृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठश्लोका किञ्चित्पाठभेदेन **पातञ्जलयोगदर्शनवैयासिकभाष्योपरि वाचस्पतिमिश्रविरचिताया तत्त्ववैशारद्या** वृत्तौ विज्ञानभिक्षुविरचिते **योगवार्तिके** च समुपलभ्यन्ते ॥

पुनरसत्समन्वयाशङ्का निरस्य प्रपञ्चेन यावत् तस्माद् युक्तमेतत्- योन्यभावाद् भेदप्रसङ्ग इति । एषोऽन्यवीतस्यावीत प्रसङ्गो व्याख्यात । आचार्येणापि तथैव व्यवस्था-तुल्यजातिसमन्वयादीत्युक्तेनैव क्रमेण आदिग्रहणात् त्रय शेषा अप्यावीता सूचिता ।

तत्र कार्यकारणवीतस्य आवीतस्यावत्-किञ्चान्यत्, कार्यकारणयोश्च व्यक्तमिद द्विधा कृत्वा कार्यराशिं कारणराशिं च 'कृत्वा न असत उत्पत्ति 'सम्भवति' इति वाक्यशेष, क्रमयौगपद्य-प्रवृत्त्यसम्भवात् । परस्परार्थारम्भकत्वात् कार्यकारणयोरन्योन्यानुरूपात्मलाभाभाव । अत क्रमेण प्रवृत्त्यभावेऽश्वशशवत् असत्त्वादसद्वादिन । तथा युगपदप्यभूतविनष्टयोरनपेक्षत्वात् खरविषाणवत् क्रियादिमध्यावसानेषु असत्त्वादेव प्रवृत्त्यसम्भव । यदारभ्यते तत् क्रियते निष्ठां च गच्छतीति लोके दृष्टम्, तत् परस्परापेक्षामन्तरेण न सम्भवति चक्राश्मवदित्युक्तम् । तस्मात् क्रमयौगपद्यप्रवृत्त्यसम्भवा-२२२ दकार्यकारणत्वप्रसङ्ग । कार्यकारणभूत चैतद् व्यक्तम् । तस्मान्नेदमसत उत्पद्यते । परिशेषत प्रधानादेवेदमिति कार्यकारणवीतस्यावीत । किञ्चान्यत्, निर्बीजमकस्मादुत्पद्यमान व्यक्तमनेकदेशत्वाद् भेदानामसम्बद्धमुत्पद्येत, सम्बद्ध चोत्पद्यते, तस्मान्नेदमसत इति शक्तिवीतस्य आवीत । [3]शेषस्तु प्रसक्तानुप्रसक्तविचारेण [4]'संस्थानमादिमद्धर्ममात्र शब्दादीना विनाश्यविनाशिनाम्, एव लिङ्गमादिमद्धर्ममात्र सत्त्वादीना विनाश्यविनाशिनाम्, तस्मिन् विकारसञ्ज्ञा [ ] तत्र यदुक्त 'विकारस्य विनाशित्वात् प्रधानस्य विनाशित्वम्' इति एतदयुक्तम्, गुणव्यतिरिक्तगुणप्रवृत्तिकारणाभावादाकस्मिक्या प्रवृत्तेरभावाच्चेत्यादिभि प्रत्यभिज्ञानार्थक्रियाहेतुकार्यनियमादिभिश्च हेतुभिरत्यन्तासदुत्पत्तिविनाशप्रतिषेधाय सर्वो ग्रन्थो वैश्वरूप्याविभागगतिवीतस्यावीतो द्रष्टव्य इति । एवमेषा प्रधानास्तित्वैश्वर्यादिसाधनार्थं वीताना तत्सद्भावस्य अन्यथा व्यक्तासम्भवस्य वा दर्शनेन त्र्यात्मकयोनिहेतुत्वमवश्यमित्येतदवधारणार्थाना चावी-

१ किंचाऽनसत य० । किंचानसत भा० ॥ २ वाक्य प्र० ॥ ३ शेषस्तु सर्वो ग्रन्थो वैश्वरूप्याविभागगतिवीतस्यावीतो द्रष्टव्य इति वक्ष्यमाणेन अन्वय ॥ ४ यथा — संस्थानमादिमद्धर्ममात्र शब्दादीनां विनाश्यविनाशिनाम् एव लिङ्गमादिमद्धर्ममात्र सत्त्वादीनां गुणानां विनाश्यविनाशिनाम् । तस्मिन् विकारसञ्ज्ञेति । इति पातञ्जलयोगदर्शनस्य व्यासप्रणीत भाष्ये ३।१३ । इद च वाक्य व्यासभाष्येऽपि कुतश्चिद् ग्रन्थादुद्धृतमिव प्रतिभाति । अस्य वाचस्पतिमिश्रप्रणीता व्याख्या — विमर्दवैचित्र्यमेव विकारवैचित्र्ये हेतु प्रकृतौ विकृतौ च दर्शयति — यथेति । यथा संस्थानं पृथिव्यादिपरिणामलक्षणं आदिमद् धर्ममात्रं विनाशि तिरोभावि शब्दादीनां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणां स्वकार्यमपेक्ष्य अविनाशिनाम् अतिरोभाविनाम् । प्रकृतौ दर्शयति — एव लिङ्गमिति । तस्मिन् विकारसञ्ज्ञा । न त्वेव विकारवती विनिशक्तिरिति भाव ।'-तत्त्ववै० । विज्ञानभिक्षुविरचितायां योगवार्तिकाख्यायां व्याख्यायां त्वित्थम् — गुणिनित्यत्वेऽपि गुणानां विमर्दमुदाहरति — यथेति । यथेति न दृष्टान्ते किन्तूदाहरणे संस्थानमिति अर्थविनाशेना विनाशिनां शब्दादितन्मात्राणां पञ्चभूतरूपं संस्थानं धर्ममात्रमादिमत् उत्पत्तौ विनाशीत्यर्थ । एवमित्यादप्येव व्याख्येयम् । लिङ्ग महत्तत्त्वम् । एवमहङ्कारादयो घटादयश्च स्वविनाशेनाविनाशिनां कारणानां धर्ममात्राणि विनाशिन इति बोध्यम् । तस्मिन् धर्मे विकारसञ्ज्ञा परिणामसञ्ज्ञेत्यर्थ । इति योगवार्तिके ॥ ५ पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम् । संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥ ४० ॥' इति साङ्ख्यकारिकायां माठरवृत्तौ साङ्ख्यतत्त्वकौमुद्यादिषु च पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च तन्मात्राणि मनो बुद्धिरहङ्कार इत्येवमष्टादशविधं महदादि सूक्ष्मपर्यन्तं लिङ्गं वर्णितमस्ति, युक्तिदीपिकादिव्याख्यासु तु इयं कारिका अन्यथा व्याख्यातास्ति ॥ ६ त्यादि प्रत्य प्र० ॥ ७ दृश्यतां पृ० ३२० टि० ६ ॥ ८ नार्यो भा० । (नार्थाना ?) ॥

अन्यः पुनराह – न सर्वसर्वात्मकत्वपरिग्रहो न्याय्यः, अन्यथा भवनद्वैतपरिग्रहाद् विध्युभयनयैकान्तोपपत्तेः। सन्निधिर्न हि सन्निधिमात्रवृत्तिरस्ति अनापन्नत्वादनाविर्भूतत्वादप्रवृत्तत्वादनियतत्वात् । अनापन्नत्वादिभ्यो नास्ति वन्ध्यापुत्रवत् सन्निधिः, पद्यतिवर्तत्यर्थप्रवृत्तत्वादेव सत्तायाः । न हि द्रव्यादिसद्भेदवत् पद्यतिवर्तत्योः सत्ताविशेषत्वेन उपादानम्, 'सत्तार्थाः' [ ] इत्यविशेषेण वचनात् ।

तानामतथार्थत्वमुक्तविधिना प्रतिपादितम्, एकत्वं पुरुषवदपरिणामित्वं [1]च सुखादीनाम् । तत एकत्वात् पुरुषवदपरिणामित्वादतथार्थत्वं चेति । तस्मादतथार्थत्वादनुमानाभासत्वादेतेऽर्था नोपपन्नाः, तद्यथा— भिन्नगुणत्वं* वैषम्यात्मकत्व विपरिणामः पुनः साम्यापत्तिश्चेति । तदनुपपत्तेर्जगत्सर्गसंहारकल्पना निर्मूला प्रधानाभावात् । तन्निर्मूलत्वात् [2]पुरुषार्थेन हेतुना प्रयुक्ता प्रवृत्तिरित्येतदपि वितथम्, तद्वितथत्वात् तद्विषयः ०२२-० प्रत्ययोऽप्यज्ञानमेव, तदज्ञानत्वात् ज्ञानप्राप्यपुरुषार्थाभावोऽपीति **समस्ततन्त्रार्थविघटनमेवेति** किमवशिष्यते वार्षगणे तन्त्रे ? सुभाषिताभिमतस्त्वाज्योऽयमनुपपन्नपरोक्षार्थवादः । यद्युपपद्येत परोक्षार्थमपि तं गृह्णीयाम, न तूपपन्नः । तस्मात् सर्वसर्वात्मकत्वपरिग्रह एव न्याय्यः ।

अन्यः पुनरित्यादि । **न [3]सर्वसर्वात्मकत्वपरिग्रहो न्याय्यः, अन्यथा भवनद्वैतपरिग्रहाद् विध्युभयनयैकान्तोपपत्तेः** । तत्र 'भवति भावद्वैतम्, भवतो भावस्य [4]भव्यभवितृत्वाभ्यां भेदाभ्यां भावोपपत्तिः' इत्येतत् प्रतिपादयिष्यते । न [5]त्वेवं यथानन्तरदूषितं सन्निध्यापत्तिभवनद्वैतम् । तत्र तावद् यः **सन्निधिर्न हि स सन्निधिमात्रवृत्तिरस्ति**, कुतः ? **अनापन्नत्वात्**, आपत्तिरनाविर्भूतस्याविर्भावः, तत आह – **अनाविर्भूतत्वात्**, अनाविर्भवनमप्रवर्तनम्, अप्रवर्तनं चानियमः । अथवा आपत्तिर्विपरिणामो भावान्तरेणोपलब्धिः, आविर्भावो व्यक्तिः, प्रवृत्तिः सन्ततः परिणामप्रबन्धः, नियतस्वरूपत्वमविगतद्रव्यार्थभावस्थितिः, एभ्यो विपर्ययोऽनापन्नत्वादिः, तेभ्यो **हेतुभ्योऽनापन्नत्वादिस्वरूपेभ्यो नास्ति वन्ध्यापुत्रवत् सन्निधिः । आदिग्रहणादप्रवृत्तेरव्यक्तेरनियतेरित्यादिभ्यः** । अतः सन्निधेरसत्पर्यायत्वात् सन्निधिभवनाभावः । ननूक्तम्— [6]अस्तिभवत्यादिषु अस्ति वर्तती सन्निधिवाचिनौ, भवति-विद्यती सामान्यभवनवाचिनौ, पद्यतिरापत्तिभवनवाची [ ] इति, सत्यमुक्तम्, अयुक्तं तूक्तम्, अस्त्यादीनां सन्निपातषष्ठानां सत्तार्थवाचित्वात् सर्वेऽप्यमी सत्तार्थमेवाविशेषेण ब्रुवते । सा च सत्ता पद्यति-वर्तत्ये[7]कार्थैवेत्यत आह – **पद्यति-वर्तत्यर्थप्रवृत्तत्वादेव सत्तायाः** । स्यान्मतम्— सद्विशेषद्रव्य-गुण-कर्मवद् वर्ततिपद्यत्योरुपादानं सत्ताविशेषत्वेनेति । एतच्चायुक्तम्, यस्माद् **न हि द्रव्यादिसद्भेदे**त्यादि यावदुपा**दान**मिति गतार्थम् । किं तर्ह्युपादानम् ? उच्यते — अस्त्यादितुल्यार्थत्वेन । कुतो ज्ञायते इति चेत्, **सत्तार्था [ ] इत्यविशेषेण वचनात्**, अस्ति-भवति-विद्यति-पद्यति वर्ततयः सन्निपातषष्ठाः [8]सत्तार्थाः [ ] इत्यविशेषेणोक्तत्वात् सिद्धसेनसूरिणा ।

---

१ < > एतच्चिह्नान्तर्गत पाठो य० प्रतिषु नास्ति ॥ २ "पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम् [साङ्ख्यका० ३१] ॥ पुरुषार्थः कर्तव्य इति गुणानां प्रवृत्तिः ।"—जे० साङ्ख्यका० वृ० B ॥ ३ सर्वासर्वात्म° प्र० ॥ ४ भव्यभवत्° भा० ॥ ५ त्वैवं प्र० ॥ ६ दृश्यतां पृ० २६१ पं० १८ । पूर्ववर्णनादत्र भेदो दृश्यते इत्यपि ध्येयम् ॥ ७ °कार्थे चेत्यत प्र० ॥ ८ दृश्यतां पृ० ३४ पं० २१ ॥

यद्यपि चापत्तिभवननिरूपण 'प्रधानमेव भवति महदादिविकारापत्त्या, तेन किल भूयत इति' तदपि न, तस्यापि भाव्यमानत्वाद् भावयितारमन्तरेणानुपपत्तेः अनापन्नस्य च असत्त्वात्, अस्वतन्त्रत्वात्, शब्दादिवत्।

भवति कर्ता य स्वतन्त्र', प्रवर्तनवृत्तत्वात्, तथाभवनवृत्तत्वात् तन्तुपटवत्।

एव तावत् सन्निधिभवन नास्त्येव निरूपणानुपपत्ते । आपत्तिभवनमपि नास्ति, कथमिति चेत्, **यदपि चापत्तिभवननिरूपण** साङ्ख्यै क्रियत इति वाक्यशेष । **प्रधानमेव भवति** महदादिविकारापत्त्या, यस्मात् **तेन किल भूयत इति**, 'इति'शब्दहेत्वर्थत्वाद् महदादिभावमापद्यत इत्यस्मात् कारणात् प्रधानमेव भवति, तेनैव भूयते सत्त्वादिमयत्वाद् विश्वस्येति । किलशब्द क्षेपे, एव किल तेषा मतमिति, स च क्षेपोऽनुपपद्यमानत्वात् । कथमिति चेत्, उच्यते—**तदपि न, तस्यापि भाव्यमानत्वाद् भावयितारमन्तरेण भाव्यत्वानुपपत्ते**', स्वत एव न भवतीत्यर्थ । भाव्यमानत्व च वक्ष्यमाणोपपत्तिकत्वात् सिद्धम्। तच्चेद् व्यापृत द्वितीयेन व्यापृततरेण विना न प्रवर्तितुमर्हति, अनापन्नत्वात्, **अनापन्नस्य च** सन्निधिमात्रस्योपादितासत्त्वात् । तस्मादनापन्नस्य च स्वत एवापत्त्यभावात्तदुक्तापत्तिभवन नोपपद्यत इति । किं कारणमनुपपन्नमिति चेत्, **अस्वतन्त्रत्वात्**, अन्यतन्त्र हि तत् प्रधानाख्यमचेतनत्वात्। को दृष्टान्त ? **शब्दादिवत्**, यथा शब्दादय सत्त्वरजस्तमोमयत्वादस्वतन्त्रास्तदात्मकेन प्रधानेन भाव्यन्तेऽन्येन व्यापृता अपि व्यापारयित्रा तथा प्रधानमपि ।

तस्मात् ततोऽन्यो भवति मुख्य । कोऽसौ ? य **कर्ता**। क कर्ता ? अत आह—**य स्वतन्त्र** ।२३३ २ कस्मात् ? **प्रवर्तनवृत्तत्वात्**, प्रवर्तयन क्रिया प्रवर्तनम्, तेन प्रवर्तनेन वृत्तत्वात् प्रवर्तयितृत्वेन वृत्तत्वादित्यर्थ । प्रवर्तयद्धि कारण तद्भावमापद्यते, शब्दादि यथा प्रवर्तयत् सत्त्वरजस्तमोलक्षण कारण शब्दादिभावमापद्यते त्वन्मतेन । **तथाभवनवृत्तत्वात्**, तेन प्रवर्त्यमानरूपेण भवनम्, तेन वृत्तत्वात् प्रवर्तयितारमन्तरेणाभवनादवृत्तत्वात्, **तन्तुपटवत्**, यथा तन्तव पट प्रवर्तयन्त पटस्य कारणमित्युच्यन्ते पटश्च तन्तुकार्यं तै प्रवर्त्यत्वात् । ननु चैते प्रधानशब्दादिपटादिदृष्टान्ता अद्वैतवाद समर्थयन्तीति, उच्यते—प्रवर्तयितृत्वमात्रसामर्थ्यात् तदभ्युपगम्य भेदेन निदश्यते, अन्यथा पुरुषादिवदद्वैताभ्युपगमे विष्णुमयैकान्तोपवाना भावात् । भाव्यभावकभेदप्रसिद्धेश्च अभावितसामर्थ्याद् वन्ध्यापुत्रवदणुधर्मादयोऽपि भाव्यमाना एव स्युरित्येतत्साधर्म्याद् दृष्टान्ता शब्दादय ।

यथैव प्रस्तुत धर्माधर्माणवो वा कारणमस्त्येवेति सिद्धत्वात् किमनुमितेन कारणेन इति चेत्, नेत्यु-

---

१ भावनापद्यत भा० । भावना इत्यादि भावनापद्यत य० ॥ २ एव भव प्र० ॥ ३ व्यावृत्त प्र० ॥ ४ व्यापृत भा० । व्यावृत्त य० ॥ ५ स्यपादि प्र० ॥ ६ यास्त्वदुक्ता इत्यपि पाठोऽत्र स्यात् ॥ ७ अभ्य(अस ?)तन्त्र प्र० ॥ ८ तथा प्र० ॥ ९ त्वास्वत प्र० ॥ १० व्यावृता प्र० ॥ ११ दृश्यतां पृ० २४३-१ ॥ १२ प्रवृत्तत्वात् य० ॥ १३ स्यादृष्टान्ता भा । °र्म्यदृष्टान्ता य ॥

धर्माधर्माण्वादीनामपि च तन्त्वंश्वादिवत् पूर्वपूर्वशक्ततारतम्येन सन्निहिततद्वि शक्तिः प्रतिविशिष्टबुद्धिः स्वतन्त्रोऽभिप्रायप्रवृत्त्यापत्तेः प्रवर्तयितृत्वात् कारणम् शक्तिमत्प्रवृत्तिनिवृत्तिविनियोगेषु स्वातन्त्र्यात्, अधिकृतपक्तृवत् । सम्भव धारणज्वलनविक्लेदनव्यापारेषु स्थालीकाष्ठतण्डुलादीनां प्रवृत्तिनिवृत्तिविनियोगे स्वातन्त्र्यादुच्यते – ‘देवदत्त एव पचति, तेन पच्यते, स पचति, तेन पचनं क्रियते प्रयोजनमात्रार्थत्वात् क्रियायाः । साक्षाद्वा भवितृवत्, यथा च सम्भवनधारण

च्यते – ‘[1]धर्माधर्मा[2]ण्वादीनामपि च तन्त्वंश्वादिवदित्यादि यावत् प्रतिविशिष्टबुद्धिः । यथा पटस्तन्तु पूर्वकः, तन्तवोंऽशुपूर्वकाः, अंशवस्त्रुटिपूर्वकाः, त्रुटीनामपि प्रवर्तने शक्तास्ततः पूर्वे पूर्वे यावच्छताणुक ततोऽपि पूर्वे पूर्वे यावद् द्व्यणुकः परमाणुरित्यनुमी[3]यन्ते शब्दादितो यावत् प्रधानम्, तथा अण्वादीनामप्यचेत नानां प्रवर्तकौ धर्माधर्मौ । आदिग्रहणात् काल-स्वभाव-नियत्यादिवाद्यन्तरपरिकल्पिताः । [4]एवं पूर्वपूर्वशक्त तारतम्येन ईश्वरः सन्निहितत[5]द्विधशक्तिः धर्माधर्माण्वादिप्रधानशब्दादेस्तथा तथा विनिवेशने सन्निहित यस्य शक्तिः सोऽस्ति । [6]कात्र तद्विधविनिवेशनशक्तिर्मुख्या तस्येति चेत्, उच्यते – प्रतिविशिष्टा बुद्धिः अतोऽसौ प्रतिविशिष्टबुद्धिर्विशिष्टबुद्धिभ्योऽपि स्थपतिकुलालादिभ्यः, प्रतिकर्तृ विनिवेशनप्रवृत्तिनिवृत्ति विनियोजनेषु ज्ञत्वात् स्वातन्त्र्याच्च तेषां भावानामीष्टे, न ते तस्येशते नाप्यात्मनः न च परस्परम्, अज्ञास्वतन्त्र त्वाभ्याम् । स तु प्रतिविशिष्टबुद्धित्वात् स्वतन्त्रः, तस्याभिप्रायेणैव प्रवृत्तिमापद्यन्ते धर्माधर्माण्वादयः । सोऽपि चाभिप्रायप्रवृत्त्यापत्तेर्न सन्निधिमात्रवृत्तिः, अतस्तेषां प्रवर्तयिता, प्रवर्तयितृत्वात् [7]कारणं शक्तिर्मत्[8] स एव, तेषां शक्तिमतामपि भाव्यत्वेनास्वातन्त्र्यात् तस्यैव तत्प्रवृत्तिनिवृत्तिविनियोगेषु स्वातन्त्र्यात् जगत्सर्गस्थित्यन्तरालप्रलयमहाप्रलयेषु, प्रवर्तनं प्रागौदासीन्येन स्थितानां धर्मादीनां सृष्टेः प्रवर्तनम्, प्रवृत्तान् पुनरुपसंहाराद् निवर्तनम्, विनियोगो दैव-मानुष-तैर्यग्योनि[9]-सरित्-समुद्रादि-तनु-करणाद्यवयवविभागविन्यासः विष्णुमन्वादीनामधिकृतपुरुषाणामपि इहत्यपरमेश्वराभिप्रायानुरोधेन प्रवर्तमानाधिकृतराजस्थानीयादिपुरुषा णामिव तस्यैव प्रवर्तयितृत्वात् । [10]अतस्तत्साधर्म्यप्रदर्शनार्थमाह – अधिकृतपक्तृवत् । तद्व्याख्यानार्थम्– सम्भवनधारणेत्यादि यावत् प्रयोजन[11]मात्रार्थत्वात् क्रियाया इति । यथा हि राज्ञा नियुक्तः सूपकार स्थालीकाष्ठतण्डुलादीनां सम्भवनधारण[12]ज्वलनविक्लेदनव्यापारेषु [13]प्रवृत्तिनिवृत्तिविनियोगेषु स्वातन्त्र्यात् तत्तदात्मा भवति तथेश्वर इति । अथवा कर्तृकर्मकरणाधिकरणसम्प्रदानापादानानि प्रतिकारकं पचादीन्
२२४-? क्रियाभेदाद् यथास्वशक्ति स्वातन्त्र्यात् कर्तॄणि, यथा अधिकरणं स्थाली निदर्शनमात्रं [14]सम्भवनधारणे कुर्वती ‘पचति’ इत्युच्यते, ज्वलनं कुर्वन्ति काष्ठानि ‘पचन्ति’ इत्युच्यते, अधिश्रयणोदकासेचनतण्डुलावपनैधोऽप-

---

१ दृश्यता पृ० २४३-१ ॥ २ धर्माण्वा° प्र० ॥ ३ °यन्त्रे(यन्ते?)भा० ॥ ४ पूर्वपूर्वपूर्व° भा० दृश्यता पृ० ३२९ टि० ५ ॥ ५ °तद्विविध° भा० । दृश्यता पृ० २४३-१ ॥ ६ कात्र तद्विध° प्र० ॥ ७ कारण प्र० ॥ ८ °मत्। भा० । अत्र ‘कारण शक्तिमता स एव’ इत्यपि पाठ स्यात् ॥ ९ °नात्सरित्° प्र० ॥ १० इत° प्र० । अत्र इत्यत° इत्यपि पाठ स्यात् ॥ ११ °मात्रत्वात् प्र० । दृश्यता पृ० ३२७ पं० ९ ॥ १२ °ज्वा° प्र० ॥ १३ प्रवृत्तिविनियो° प्र० ॥ १४ दृश्यता पृ० १९४ टि० १ ॥

रोहणादिसमर्थं तथा भवत् पृथिव्युदकादि व्रीहिर्जायते भवति च भवति । सत्त्वतम-प्रकाशनियमप्रवृत्तिमत्त्वेऽपि प्रवर्तयितृत्वाद् रजोभवनवद्वा । दृष्टान्तबाहुल्यप्रदर्शनं प्रतिसिद्धान्तपरिदृष्टादृष्टादे प्रवर्तयितृत्वख्यापनार्थम् ।

वपणादिक्रिया कुर्वन् देवदत्तः पचति इत्युच्यते, इत्यादि प्रतिकारक स्वातन्त्र्ये सत्यपि उपक्रमप्रभृत्यपवर्ग पर्यवसानासु क्रियासु तस्यैव स्वातन्त्र्यात् सम्भवनादिप्रत्यक्षतायामपि पचनशक्तिमतामप्यधिकरणादीनां देवदत्तस्य प्रवर्तयितृत्वादेवोच्यते 'देवदत्त एव पचति' इति, नान्यानि अनीश्वरत्वात् । तां मुख्यां कर्तृशक्तिं दर्शयति–**तेन पच्यते** तृतीयया कर्तरि विहितया **स पचतीति** वा प्रथमया तत्र विहिततिप्प्रत्ययसमानाधिकरणतया । पुनरपि स्फुटीकरणाथमाह–[1]* **तेन पचनं क्रियत** इति यावदुक्तं भवति [तावदुक्तं भवति] 'तेन पच्यते स पचति' इति । कुतः ? **प्रयोजनमात्रार्थत्वात् क्रियायाः** प्रयोजनं परव्यापारणम्, विक्लेदव्यापारणाया सम्भवनज्वलनादिक्रिया, तासां च सर्वासां देवदत्तायत्तत्वात् स पचति तेन पच्यत इत्युक्तम् ।

दृष्टान्तान्तरमाह स्फुटीकरणाय* व्यापित्वप्रदर्शनार्थं च–**साक्षाद्वा भवितृवत्** । तद्वर्णनम्–**यथा च सम्भवनेत्यादि यावद् भवति च भवति,** न केवलं पचत्यादिबाह्यक्रियाविषयमेव प्रयोज्यत्वम्, किं तर्हि ? व्रीह्यादिभवनेनान्तः क्रियाविषयमपि प्रयोजनम् । **तथा भवत् पृथिव्युदकादि** बाह्यं **व्रीहिर्जायते भवतीत्य**तभवनम् । सम्भवनधारणसमर्था पृथिवी, **रोहणसमर्थमुदकम्, आदिग्रहणाद्** वर्द्धनसमर्था वायुस्तालादयः, ते कारितस्य व्रीहिभवनस्य प्रत्यक्षतायामपि सत्यां व्रीहिर्जायते भवति अन्तः सन्निविष्टस्वातन्त्र्यात् तस्यैवेश्वरस्य प्रयोजकत्वादुच्यते–**भवति च भवतीति**, भवनमपि भवदेव भवतीति स्वरूपमात्र-२३५-लाभोऽपि तद्वशादित्यर्थः ।

अथवा प्रस्तुतप्रधानकारणवादिसिद्धमेवेदं निदर्शनम्–**सत्त्वतमप्रकाशेत्यादि** यावद् **रजोभवनवद्वा** । यथासङ्ख्यं सत्त्वस्य प्रकाशप्रवृत्तिस्तमसो नियमप्रवृत्तिर्भावस्येत्येवेत्युक्तं सैव शान्तमना प्रवर्तमानमित्यादिपरस्परोपकारवीते, प्रकाशादिलक्षणस्य सत्त्वस्य प्रवृत्तिर्गुरुवरणलक्षणस्य तमसश्च प्रवृत्तिर्यथासङ्ख्यम् 'इतरौ स्थापयति व्यवस्थापयति' इति वचनात् । रजस्तु प्रवृत्तिलक्षणमेव प्रवर्तकमिष्टं विशेषतः, सत्यपि प्रवृत्तिसामान्ये 'करोति प्रवर्तयति' इति वचनात् । तथा अदृष्टाणवादिभूतकालादिप्रवर्तमानसामान्येऽपीश्वरः एव प्रवर्तयितृत्वात् कारणमिति । **दृष्टान्तबाहुल्यप्रदर्शनं प्रतिसिद्धान्तपरिदृष्टादृष्टादे प्रवर्तयितृत्वख्यापनार्थम्**, सिद्धान्तः सिद्धान्तः प्रति प्रतिसिद्धान्तः तेषु तेषु वैशेषिकादिसिद्धान्तेषु कल्पितानां परितोऽनुमानैर्दृष्टानामप्यदृष्टाणुप्रधानविष्ण्वादीनां प्रवर्तयिता ईश्वर इति दार्ष्टान्तिकोपनयनात् ।

---

१ नान्यनीश्वर° भा० । नान्यर्माश्वर य० ॥ २ पचतीया भा० । पचतीत्र य ॥ ३ * * एतच्चिह्नान्तर्गत पाठो य० प्रतौ नास्ति ॥ ४ स्वा भा० । स्यात् य ॥ ५ चननाय इ लीं० विना ॥ ६ यतन य० ॥ ७ नद्दा भा० । नाद्वा य ॥ ८ श्चास्येयुक्त य० । श्चरेवेत्युक्त भा० ॥ ९ दृश्यतां पृ ३१८ पं ८ ॥ १० °ल्यमप्रद भा० । °ल्यमथद य० ॥

इति स एव भवति, सर्वव्यक्तिप्रवृत्त्यात्मकत्वात् । एवमेव चास्याष्टमूर्तितोच्यते ।

इतरथा अदृष्टाणुप्रधानादेः प्रवृत्तिफलप्रकर्षापकर्षौ न स्याताम् । दृष्टौ च तौ । तयोरन्तो न विमर्दक्षमं कारणमस्तीश्वरकामचारेरणादृते ।

[1]तनुकरणभुवनसाधनाय प्रवृत्तानि अदृष्टाणुप्रधानादीनि विशिष्टचेतनाधिष्ठिता-

---

इति स एव भवति, इत्थमीश्वर एव भवति परमार्थतः । **सर्वव्यक्तिप्रवृत्त्यात्मकत्वात्**, सर्वासां व्यक्तीनां प्रवृत्तय आत्माऽस्य सर्वव्यक्तिप्रवृत्त्यात्मकः तद्विशिष्टबुद्धिशक्त्यावासरूपत्वात् तासाम्, [2]**एवमेव चास्याष्टमूर्तितोच्यते** क्षिति-जल-पवन-हुताशन-यजमाना-ऽऽकाश-सोम-सूर्याख्याष्टमूर्तितास्य [3]स्वशक्त्यावासरूपत्वात् तासु स एव भवति सा सा च ।

किञ्चान्यत्, प्रवृत्तिफलप्रकर्षापकर्षाभावप्रसङ्गादीश्वर एव कारणं नादृष्टादि न प्रधानादीत्यत आह— **इतरथेत्यादि यावद् दृष्टौ च तौ ।** यद्यदृष्टाण्वादेः प्रधानादेर्वा प्रवृत्तयः फलानि वा स्युः क्रियाणां पूर्वकृत-
१३५.२ कर्मफलप्रेरितानां तदनुरूपत्वात् फलानां च फलप्रेरितकर्मानुरूपत्वाद् मनुष्यनिर्वर्तनीया एव स्वभावमार्दवा-

---

१ क पुनरीश्वरस्य कारणत्वे न्यायः ? अयं न्यायोऽभिधीयते—प्रधानपरमाणुकर्माणि प्राक् प्रवृत्तेर्बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानि प्रवर्तन्ते, अचेतनत्वात्, वास्यादिवदिति । यथा वास्यादि बुद्धिमता तक्ष्णा अधिष्ठितमचेतनत्वात् प्रवर्तते तथा प्रधानपरमाणुकर्माणि अचेतनानि प्रवर्तन्ते । तस्मात् तान्यपि बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानीति । तत्र प्रधानकारणिकास्तावत् पुरुषार्थमधिष्ठायकं प्रधानस्य वर्णयन्ति पुरुषार्थेन प्रयुक्तं प्रधानं प्रवर्तते, पुरुषार्थश्च द्वेधा भवति शब्दाद्युपलब्धिः गुणपुरुषान्तरदर्शनं चेति, तदुभयं प्रधानप्रवृत्तेर्विना न भवतीति । न, प्राक् प्रवृत्तेस्तदभावात् । यावत् प्रधानं महदादिभावेन न परिणमते तावन्न शब्दाद्युपलब्धिरस्ति न गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरिति हेत्वभावात् प्रधानप्रवृत्तिरयुक्ता । अथास्ति, नामदात्मानं लभते न सन्निरुध्यत इति ? एवं च सति विद्यमानः पुरुषार्थः प्रधानं प्रवर्तयतीति न पुरुषार्थाय प्रधानस्य प्रवृत्तिः । न हि लोके यद् यस्य भवति स तदर्थं पुनर्यतत इति । सततं च प्रवृत्तिं प्राप्नोति कारणस्य सन्निहितत्वादिति, पुरुषार्थः प्रवृत्तेः कारणमिति पुरुषार्थस्य नित्यत्वात् सततं प्रवृत्त्या भवितव्यमिति । अथ विद्यमानोऽपि न प्रवर्तयति न तर्हि पुरुषार्थः कारणमिति । यस्याभावात् प्रधानं न प्रवर्तते यस्य च भावात् प्रवर्तते तत् कारणमिति । "यदा भवन्तः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थां प्रकृतिं वर्णयन्ति सा कुतो निवर्तेत इति वक्तव्यम् । न चानिवृत्ताया साम्यावस्थाया वैषम्येण शक्यं भवितुम् । अथाङ्गाङ्गिभावस्यानियमाद् वैषम्यं भवति इति ? अत्रापि भवन्तं पर्यनुयुञ्ज्महे—कथं साम्येनावस्थितमधिकं हीनं च भवति, नापूर्वोपचयो विद्यते न पूर्वहानमस्तीति । सोऽयं प्रधानवादो यावद् यावद् विचार्यते तावत् तावन् प्रमाणवृत्तं बाधते इति । ये परमाणून् पुरुषकर्माधिष्ठितान् जगतः कारणत्वेन वर्णयन्ति तान् प्रतीदमुच्यते—परमाणवः प्रवर्तन्त इति सततं प्रवृत्त्या भवितव्यम् । अथ कालविशेषापेक्षाः प्रवर्तन्ते, परमाणुभिः कालो व्याख्यातः । यथा अचेतनत्वात् परमाणवो बुद्धिमन्तमधिष्ठातारमपेक्षन्ते तथा कालोऽपीति, न हि तत्राचेतनत्वं निवर्तत इति । क्षीरादिवदचेतनस्यापि प्रवृत्तिरिति चेत्, तन्न युक्तम्, साध्यसमत्वात् । यथैव परमाणवः स्वतन्त्राः प्रवर्तन्त इति साध्यं तथा क्षीराद्यचेतनं स्वतन्त्रं प्रवर्तत इति । यदि क्षीरादि स्वतन्त्रं प्रवर्तेत मृतेष्वपि प्रवर्तेत, न तु प्रवर्तते, अतोऽवगम्यते बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितं तदपि । न चायं हेतुस्तस्मात् निवर्तते । एवं यावद् यावदचेतनं प्रवर्तते सर्वं तत् चेतनाधिष्ठितमिति । अयमपरो हेतुः—बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितं महाभूतादि व्यक्तं सुखदुःखादिनिमित्तं भवति रूपादिमत्त्वात् तुर्यादिवदिति ।" इति उद्द्योतकरविरचिते **न्यायवार्तिके** ४।१।२१ । "उद्द्योतकरस्तु प्रमाणयति—भुवनहेतवः प्रधानपरमाण्वदृष्टाः स्वकार्योत्पत्तावतिशयबुद्धिमन्तमधिष्ठातारमपेक्षन्ते स्थित्वा प्रवृत्तेस्तन्तुतुर्यादिवत् ।" इति बौद्धाचार्यकमलशीलविरचितायां तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिकायाम्, का० ५० ॥ २ **एव चास्या**° प्र० । दृश्यतां पृ० २४३-२ ॥ ३ **स्वशक्त्याव्यास**° प्र० । अत्र 'सर्वशक्त्यावासरूपत्वात्' इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ४ दृश्यतां पृ० २१४ टि० ११ ॥

न्येव प्रवर्तन्ते, सम्भूयैककार्यकारित्वात्, तक्षाधिष्ठितरथदारुगणवत् । तथा अचेतनत्वात् स्थित्वा प्रवृत्तेः तुर्यादिवत् ।

चेतनानधिष्ठितक्षीरदधिमेघादिवदनेकान्त इति चेत्, न, अदृष्टकर्तृकविषयप्रतिज्ञार्थाव्यतिरेकात् शब्दानित्यत्वसाधने प्रतिज्ञान्तर्नीतजलधिध्वन्यनित्यत्ववत् ।

दिक्रिया कृत्वा मनुष्य एव पुनरपि स्यात्, मा भूत् सरागसंयमादिदेवगतिनिर्वर्तनीयक्रियामम्बन्धी तदनुरूपवैक्रियशरीरादिलब्ध्युत्कर्षभाक्, तथा बह्वारम्भपरिग्रहादिनिरयायुःसंवर्तनीयकर्मभाक् तदनुरूपदुःखैकरसनारकत्वनिकृष्टफलानुभावी वा मा भूत्, परस्परानुरूपशालिनीनाङ्कुरादिहेतुकार्यभावप्रवन्धवद् विशिष्टविशिष्टबुद्धिमत्तत्रकारणप्रेरणाभावात् स्वानुरूपकार्यकारणानुरूपसामर्थ्याभ्युपगमाच्च नादृष्टाद् न प्रधानादेर्वैषम्यं स्यात्, दृष्टं च वैषम्यमध्ययनविद्यागमानधिगमादि, उत्कर्षापकर्षयोरन्यदतो न विमर्दक्षमं कारणमस्तीश्वरकामचारेरणादृते, तदभिप्रायस्याप्रतिघातस्य प्रवृत्तिः कामचारः, तेन प्रेरणं भावाना प्रवर्तनं स्वाचाराणामप्यनिष्टफलसम्बन्धो दुराचाराणामिष्टफलसम्बन्धश्च, तस्मात् सर्वमीश्वरप्रवर्तितं प्रवर्तते, नान्यथा ।

प्रयोगश्च—तनु करण भुवनसाधनायेत्यादि यावत् तक्षाधिष्ठितरथदारुगणवदिति । यथाप्रक्रियं शरीराणीन्द्रियाणि भुवनं च साधयितुमधिनिष्ठद्भिरदृष्टैः प्रेरिता परमाणवो वैशेषिकाणां प्रवृत्तानि सत्त्वादीनि प्रधानेन साङ्ख्यानामन्येषां वा भूतानि काल-स्वभाव-नियत्याद्यधिष्ठितानीत्यभिमतानि प्रवर्त्यानि सप्रवर्तकानि विशिष्टचेतनाधिष्ठितान्येव प्रवर्तन्त इति प्रतिज्ञा । सम्भूयैककार्यकारित्वादिति हेतुः, सम्भूयकारित्वं पूर्वपूर्वशक्तितारतम्यकारणानुमानोक्तं, परमाणुसत्त्वादयः सम्भूय तन्त्वादित्वेनावस्थिताः परस्परेण सम्भूय ^{२३६ १} गमनाभ्यवहरणसुखदुःखानुभवरूपाद्युपलब्धिमत्त्वगुणाधारतादि कार्यं कुर्वन्तो दृश्यन्ते, तत् सिद्धमेषां सम्भूयैककार्यकारित्वम् । तक्षाधिष्ठितरथदारुगणवत्, रथार्थो दारुसङ्घातो रथदारुगणः, स तक्ष्णा विशिष्टचेतनेनाधिष्ठितस्तथैतानि । तथाऽचेतनत्वात्, तथेति तस्यामेव प्रतिज्ञायाम् अचेतनत्वात् इत्युपचयहेतुः, स एव रथदारुगणो दृष्टान्तः, वक्ष्यमाणो वा तुर्यादिवदिति । तनु-करण-भुवनानामचेतनत्वं च सिद्धम् । अथवा स्थित्वा प्रवृत्तेस्तुर्यादिवत्, यथा तुरिवेमशलाकानलिकाकञ्चकसूत्रादीनि प्रागप्रवृत्तानि कञ्चित् कालं स्थित्वा प्रवर्तमानानि विशिष्टकुविन्दबुद्ध्यधिष्ठितानि पटनिष्पत्त्यै प्रवर्तन्ते तनुकरणभुवनानि तथेति ।

चेतनानधिष्ठितक्षीरदधिमेघादिवदनेकान्त इति चेत् । स्यान्मतम्—प्रतिविशिष्टबुद्धिना केनचिदनधिष्ठितेषु क्षीरदधिमेघादिषु सम्भूयैककार्यकारित्वाचेतनत्वस्थित्वाप्रवृत्तिधर्माणां दर्शनादनैकान्तिकता साध्यहेतुतेति । एतच्च न, अदृष्टकर्तृकविषयप्रतिज्ञार्थाव्यतिरेकात्, अदृष्टोऽस्याः कर्ता विषयः सेयमदृष्टकर्तृकविषया प्रतिज्ञा, तस्यां प्रतिज्ञायां तनुकरणभुवनधर्मिकायां प्रतिविशिष्टबुद्ध्यधिष्ठितत्वसाध्यधर्मकं क्षीरदधिमेघादिधर्मिणामपृथक्त्वात् प्रतिज्ञान्तःपातित्वाद् विपक्षाभावे हेतुव्यभिचाराभावाद्

---

१ दृश्यतां पृ० २१४ टि० ११ ॥ २ मायु क्षया प्र० ॥ ३ दतो यिमद प्र० ॥ ४ तीय प्र० ॥ ५ पूर्वपूर्वपूर्व भा० । दृश्यतां पृ० ३२६ टि० ४ ॥ ६ तज्जच(ज?)निका प्र० ॥ ७ किञ्चित् भा० ॥ ८ स्थित्वा पर्ते प्र० ॥

स्थित्वाप्रवृत्तचेतनानधिष्ठितेश्वरवदनेकान्त इति चेत् ईश्वरस्य वा चेतनाधिष्ठितता तस्यापि चान्याधिष्ठितत्वेत्यनवस्था । न, चेतनाधिष्ठितप्रवृत्तित्वसाध्यधर्मत्वात् ।

देवदत्तादयस्तर्हि चेतनेश्वरानधिष्ठिताः प्रवर्तन्ते सोऽपि वेश्वरस्तद्वच्चेतनान्तराधिष्ठितः । उच्यते च त्वया चेतनानामपीश्वराधिष्ठानं पुरुषवादनिरसनाय—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥ [महाभा० वन० ३०।२८]

नानेकान्तः, शब्दानित्यत्वसाधने प्रतिज्ञान्तर्नीतजल[1]धिध्वन्यनित्यत्ववत्, यथा 'अनित्यः शब्दः' इति प्रतिज्ञाते कृतकत्वं देशकालाभ्यामनवरते जलधिध्वनौ पुरुषादिभेदेन चानवरते सामादिशब्दे च
२३६-७ दृष्टत्वादनेकान्त इति वचनं तदाभासचोदनम्, उदन्वत्सा[2]मादिशब्दानामप्युपादानभेदभिन्नानाम् 'शब्दः' इति श्रोत्रग्राह्यत्वाभेदेन प्रतिज्ञातानां शब्दत्वानतिक्रमात् पक्षान्तर्नीतत्वात्, तदनित्यत्वं कृतकत्वाविनाभावि शब्दादन्यस्य नित्यस्य कृतकस्यादर्शनाच्च जायते, देशकालोपादानभेदभिन्नस्याभेदेऽपि सत्युपलभ्यधर्मणोऽनुपलभ्यत्वाच्छब्दव्यक्तिधर्मित्वाच्च जात्युत्तरं च, तस्मादनुत्तरमिति ।

स्थित्वाप्रवृ[3]त्तचेतनानधिष्ठितेश्वरवदनेकान्त इति चेत् । स्यान्मतम्—यथेश्वरः स्वयं प्रागप्रवृत्तान् स्थित्वा प्रवर्तयन्नपि चेतनान्तरेणानधिष्ठितः प्रवृत्तश्च तथा तन्वादीनि स्थित्वा प्रवृत्तानि स्युरित्यनेकान्तः । ईश्वरस्य वा चेतना[4]धिष्ठिततेत्यादि, एवमनैकान्तिकत्वानिच्छायां वा चेतनाधिष्ठितोऽसावीश्वरः प्राप्तः स्थित्वा प्रवृत्तेरदृष्टाणुप्रधानादिवत्, अतोऽन्येश्वरता ग्रहाधिष्ठितस्त्रीपुरुषादिवत् । तस्यापि चाधिष्ठातुरन्याधिष्ठिततेत्यनवस्था स्यादिति । एतच्च न, चेतनाधिष्ठितप्रवृत्तित्वसाध्यधर्मत्वात्, नैष दोषः, चेतनाधिष्ठितप्रवृत्तित्वं हि साध्यते धर्मः, स चाचे[5]तनानामेव तद्धर्मिविषयत्वात्, चेतनानां सिद्धत्वात् प्रयोजनाभावाच्च । तनुकरणभुवनसाधनप्रवृत्तादृष्टाणुप्रधानादीनि ह्यचेतनानि धर्मीणि चेतनाधिष्ठितत्वधर्मेण विशिष्टानि साध्यन्त इति प्रतिज्ञाविषयाज्ञानाददोष इति ।

देवदत्ता[6]दयस्तर्हि चेतनेश्वरा[7]नधिष्ठिताः प्रवर्तन्ते, सामर्थ्यादचेतनधर्मिविषयं चेतनाधिष्ठानं साध्यत इति प्रतिज्ञाविषयव्यवस्थायां चेतनानां देवदत्तादीनां चेतनेश्वरेणा[8]धिष्ठानं न प्राप्नोति, ततो देवदत्तादिचेतनानधिष्ठितानां [9]तन्वादिसाधनार्थादृष्टाणुप्रधानादीनामनेकान्तः । सोऽपि [10]वेश्वरस्तद्वच्चेतनान्तराधिष्ठित इति प्राप्तम् । उच्यते च त्वया इष्यते एव त्वया चेतनानामपीश्वराधिष्ठानम्, यथा—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥ [महाभा० वनप० ३०।२८]

२३७-१ पुरुषवादनिरसनायेति श्लोकवचनप्रयोजनमाह, मा भूत् पुरुषकारणवादप्रसङ्गः 'तदवस्थमात्रं तन्वदृष्टप्रधानाण्वादि' इति, अत उक्तं भवता अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमिति ।

---

१ °जलावि(°जलादि ?)ध्वन्य° प्र० ॥ २ °त्साादिश° प्र० ॥ ३ °वृत्ति° य० ॥ ४ °धिष्ठितेत्यादि प्र० ॥ ५ °तनमेव प्र० ॥ ६ °त्तायस्तर्हि प्र० ॥ ७ ⁎ ⁎ एतच्चिह्नान्तर्गत पाठो य० प्रतिषु नास्ति ॥ ८ °तानि य० । °त भा० ॥ ९ ⁎ ⁎ एतच्चिह्नान्तर्गत पाठो भा० प्रतौ नास्ति ॥ १० चेश्व° य० ॥

न, प्राग् विशिष्टबुद्धिचेतनप्रतिज्ञानात्, विशिष्टबुद्धित्वमपि चास्यार्थानामर्थक्रियायोग्यत्वेन सन्निवेशकत्वात्।

तन्त्वादीनि न विशिष्टबुद्धिना कृतानि पद्मनालकण्टकमयूरचन्द्रकादिवत्। न, दधिमेघादिवदुक्तोत्तरत्वात्। लघुप्रकाशगुरुवरणप्रवृत्तिनियमाना विशिष्टबुद्धिपूर्वकृता, मिथः प्रत्यनीकसम्भूयैककार्यकारित्वात्, पाचकाधिष्ठितानलोदकौदनसाधनवत्। अन्योन्याभिभवनमिथुनवृत्तित्वविपरिणामादिति चेत्, न, परिणामस्यापि कार्यत्वात्। [1]धर्मान्तरैक्य　　　।

अत्रोच्यते—न, प्राग् विशिष्टबुद्धिचेतनप्रतिज्ञानात्, प्रागस्माभिर्विशेषितम्—'विशिष्टबुद्ध्यधिष्ठितानि तन्त्वादीनि'। विशिष्टबुद्धित्वं चापराधीनं स्वातन्त्र्यम्। तत् कुतः सिद्धमिति चेत्, उच्यते—विशिष्टबुद्धित्वमपि चास्यार्थानामर्थक्रियायोग्यत्वेन सन्निवेशकत्वात्, तन्त्वादीनि विशिष्टबुद्धिपूर्वकाणि अर्थक्रियायोग्यत्वेन सन्निविशिष्टावयवत्वात्, स्थानगमनशयनासनाहारादिप्रयोजनानि हि तन्त्वादिषु क्रियन्ते तत्क्रियायोग्यावयवसन्निवेशात् स्थपतिबुद्धिपूर्वकप्रासादवत्। तस्मादर्थक्रियायोग्यत्वेनार्थानां सन्निवेशकः स स्थपतिवत्। [2]तस्माच्च विशिष्टबुद्धिरिति।

अनैकान्तिकतोद्भावनार्थमाह—तन्त्वादीनीत्यादि [5]यावत् पद्मनालकण्टकमयूर[6]चन्द्रकादिवदिति। नहि प्रशस्तशुभवर्णगन्धरसस्पर्शस्य लक्ष्मीनिलयस्य जलाशयालङ्करणस्य कमलस्य ग्रहणधारणोपभोगादिसाधनभूते नाले केनचिदसूयया 'मा ग्रहीत् कश्चित्' इति कण्टका कृता, नीलोत्पलनालादिष्वप्यतिप्रसङ्गात्। न च मयूरचन्द्रकाणामिन्द्रचापवर्णप्रतिस्पर्धिविचित्रवर्णता कृता कुड्यादिषु चित्रकरेणेव केनचिद् विशिष्टबुद्धिना, चित्रकरचेतनदानाद्यभावप्रसङ्गादिति। अत्रोच्यते—न, दधिमेघादिवदुक्तोत्तरत्वात्, क्षीरदधिमेघादिवत् पद्मनालकण्टकमयूरचन्द्रकादीनां तन्त्वादिवददृष्टकर्तृकविषयप्रतिज्ञार्थाव्यतिरेकादनैकान्तिकत्वाभाव इत्युक्तोत्तरमेतत्। २३७ २

एवं तावत् सामान्येन विशिष्टबुद्धिपूर्वकतोक्ता, प्रस्तुतकापिलमतापेक्षया चैव प्रतिज्ञायते—लघुप्रकाशेत्यादि यावत् पाचकाधिष्ठितानलोदकौदनसाधनवदिति। यथा परस्परप्रत्यनीकयोरग्न्युदकयोरप्रत्यनीकत्वविधायिना विशिष्टबुद्धिना पाचकेनाधिष्ठितयोः सत्यपि मिथः प्रत्यनीकत्वे तद्बुद्धिवशवर्तिनोः सहत्वकारित्वादोदनसाधनं दृष्टं तथा लघुगुरुणोः प्रकाशवरणयोः प्रवृत्तिनियमयोश्च मिथो विरुद्धयोरपि सहत्वं महदादिभावेनैककारित्वाद् विशिष्टबुद्धिपूर्वकतेति। अन्योन्याभिभवनमिथुनवृत्तित्वविपरिणामादिति चेत्। स्यान्मतम्—सत्त्वरजस्तमसामेकाङ्गाङ्गिभावं पुरुषार्थमुद्दिश्य प्रवृत्तानां वैषम्यविपरिणामाद् महदादि-

---

[1] द्रष्टव्यं पृ० २५२-१ ॥ [2] धर्मान्तरैक्यापत्तिर्हि परिणामः कार्यत्वाद् रथादिवद् विशिष्टबुद्धिमद्धितम्' इत्याशयको मूलपाठः स्यादिति सम्भाव्यते ॥ [3] 'शुभ शोभनं नेतरेषाम्' इति श्वेताश्वतरोपनिषदि पाठः ॥ [4] तस्माच्च प्र० ॥ [5] यावत्पनाल भा० । यावत् नीलोत्पलनाल य० ॥ [6] °चन्द्रिका य० ॥ [7] चन्द्रकावरणानि भा० ॥ [8] °रचेतन य० । रचेतन भा० ॥ [9] °कयोप्रत्य प्र० ॥

अन्वाह च—

एको वशी निष्क्रियाणां वहूनामेकं वीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ [श्वेताश्व० ६।१२]

साधनम्, नान्यः[3] प्रयोक्तेति । एतच्च **न, परिणामस्यापि कार्यत्वात्** । तद्व्याचष्टे—[4]**धर्मान्तरैक्यादि**, परिणामो हि धर्मान्तर[5]निषेधो धर्मान्तराविर्भवनं च, तद्द्वयभूतं कार्यम्, स तु परिणामः कार्यत्वात् पूर्ववत् प्रतिज्ञार्थाव्यतिरेकाद् रथादिवत् सोऽपि विशिष्टबुद्धिमद्विहितः । तस्मादयुक्तम्—स्वत एव परिणमन्ते सत्त्वादय इति ।

अन्वाह चेति जिनमतानुसारेण । **एको**ऽद्वितीयः प्रधानो वा **वशी** ज्ञत्वस्वातन्त्र्याभ्याम् **निष्क्रियाणा**मज्ञास्वतन्त्राणाम्, परतन्त्रा ज्ञा अपि हि निष्क्रिया एव । **वहूना**मनन्तानां प्रधानाण्वादीनां कर्मकरणसम्प्रदानापादानाधिकरणप्रधानशक्तीनामनन्तानामपि प्रवर्तयितृत्वात् स्ववशीकर्तुं शक्तत्वा[6]द् वशीति ।
२३८-१ **एकं वीजं** प्रधानं महदादिविपरिणत्या **वहुधा** ब्रह्मादिस्तम्बान्तानन्तभेदभिन्नजगत्तया **यः करोति** सृजति अधितिष्ठति आत्माभिप्रायानुरूप्येण तथा तथा व्यवस्थापयति । तमीश्वरं स्वतो भिन्नस्य भाव्यभवनस्य प्रधानादिसञ्ज्ञस्य भावयितार**मात्मस्थ**मात्मनि स्थितं क्षित्याद्यष्टमूर्तिसर्वगतं सर्वत्र तासां सद्भावाद् **येऽनुपश्यन्ति** तत्प्रसादादेव तज्ज्ञानानुसारेण योगाभ्यासप्रसादक्रमेण । केऽनुपश्यन्ति ? **धीरा** अविचलितयोगसमाधयः । को योगः ?

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा ।
तर्कः समाधिरित्येष षडङ्गो योग उच्यते ॥ [अमृ[7]तनादोप० ६]

तत्रेन्द्रियाणां विषयेभ्यो मनसश्च प्रत्याहरणं प्रत्याहारः । प्राणायामस्त्रिविधः—रेचकः कुम्भकः[8] पूरक इति । तत्र रेचक आन्तरं वायुं वहिर्निष्काशयति नासिकाद्वारेण । पूरकः वाह्यमन्तः प्रवेश्य पूरयति । कुम्भकः पूर्णकुम्भवदस्पन्दं वायुं सामीप्येनावस्थापयति । ध्यानमिष्टदेवताचिन्तनं वा[9] । धारणा यथाभ्यास हृदयादिषु प्रदेशेषु मनसोऽवस्थापनम्, यथा पूर्वं नाभौ ततो हृदये कण्ठे नासिकाग्रे भ्रुवोर्मध्ये [10]ललाटे मूर्द्धनीति । तर्कः शून्यागारगिरिकन्दराद्येकान्ते शुचौ देशे शरीरमृजु आयस्य दन्ताग्राणि जिह्वाग्रेण सन्धाय पल्यङ्क-स्वस्तिक-वीरासनाद्यासनं समपादादिस्थानं वा आस्थाय ध्यायतो मे समाधिर्भवतीति तर्कयेत् 'अनेनेत्थं कृतेन क्रियाविशेषेण आहार-विहार-स्वाध्यायादिना ध्यानसमाधिर्भवति' इति तदुपायविचार ऊहस्तर्कः । ध्यानयोगाभिरतिः समाधिरित्येष षडङ्गो योगः । अनेन योगेन सर्वत्र क्षित्यादिमूर्तिमीश्वरं दृष्ट्वा पश्चाद् भावितात्मा तमात्मस्थमेव पश्यति—यदत्र मम शरीरे कठिनं सा पृथिवी परमेश्वरमूर्तिः, यद् द्रवं तज्जलम्, ऊष्मा तेजः, चलं वायुः, शुषिरमाकाशम्, यच्चैतन्यं स यजमानः, चक्षुः सूर्यः, जिह्वा सोमो

---

१ °त्वपरि° य० ॥ २ °मादि चेत् प्र० ॥ ३ ताभ्यः प्र० ॥ ४ अत्र **धर्मान्तरेत्यादि** इत्यपि पाठ स्यात् ॥ ५ °**निषेधान्न धर्मा**° प्र० । अत्र °**निरोधो धर्मा**° इत्यपि पाठ स्यात् ॥ ६ °**त्वाशीति** प्र० ॥ ७ **तर्कश्चैव समाधिश्च** इति अमृतनादोपनिषदि अत्रिस्मृतौ च तृतीयचरण । श्लोकोऽयम् अत्रिस्मृतावपि विद्यते ॥ ८ **कुंभकधारक इति** प्र० ॥ ९ अत्र वाशब्दस्य किं प्रयोजनमिति न ज्ञायते । तस्य सार्थकत्वे कश्चन पाठोऽत्र त्रुटित इति सम्भाव्यते । "अथ ध्यानम् । तद् द्विविध सगुणं निर्गुणं चेति । सगुण मूर्तिध्यानम्, निर्गुणमात्मयाथात्म्यम् ।" इति शाण्डिल्योपनिषदि ॥ **१० ललाट** प्र० । "नाभिकन्दे च हृन्मध्ये कण्ठमूले च तालुके । भ्रुवोर्मध्ये ललाटे च तथा मूर्धनि धारयेत् ॥" इति जावालदर्शनोपनिषदि ७।१२ ॥

अथ विधेरुभयभाक् । विधिर्व्याख्यातो लोकवदनपवादप्रवृत्तिः, तस्य उत्सर्गात् स विधीयते, सर्वसर्वात्मकत्वाद् निरपवाद प्रवर्तत एव । नियम सन्निधिप्रयोज्यसतोरप्रवृत्ते' तयोरसत्सत्त्वात् ।

सादृश्यसामान्य च शब्दार्थ, सर्वसर्वात्मकत्वेऽपि च सृष्ट्यर्थवत्त्वाद् नाविकल्प । वाक्यमपि च पृथक् सर्वपदम्, तस्मात् सर्वसर्वात्मकत्वादेव । द्रव्यार्थभेदोऽर्थ ।

मनो वेलन्येष्वपि अवयवेषु यथामम्भव येऽनुपश्यन्ति ते धीरा शाश्वतीं शान्तिमाप्नुवन्ति तेनैवेश्वरेण सायोज्य निर्वाण मोक्षमित्यर्थ । नेतरे प्रधान पुरुष-नियत्यादिकारणिन इति ।

नयस्वरूपाख्यानायमाह— अथ विधेरुभयभाक्, उभय विधिं नियम च भजत इत्युभयभाक् । विधिर्व्याख्यातो लोकवदिति पूर्वमिति स्मारयति । पुन सङ्क्षेपेण व्याचष्टे — अनपवादप्रवृत्ति, न कश्चिदथमथमपहरति 'किं न एतेन यदि सामान्य यदि विशेष ?' इत्यादि, तस्य विधेरुत्सर्गाद् विधानात् स विधिर्विधीयते, कस्मात्? सर्वसर्वात्मकत्वाद् निरपवाद प्रवर्तत एव, प्रवर्तते, न क्वचिद् व्याहन्यते, अथ हि नय 'मम सर्वात्मकम्' इतीच्छति यत् प्राक् सूचित सन्निध्यापत्तिव्याख्याने तदेवात्रापि वक्ष्यते, नियम सन्निधिप्रयोज्यसतोरप्रवृत्ते, यावेतावनन्तरोक्तौ सन्निधिर्भवनेति आपत्तिभवनसहाय ईश्वरप्रवर्त्यो या प्रयोज्य प्रधानादृष्टाण्वादिर्भाव तयोर्द्वयोरप्यप्रवृत्तेरसत्त्वम् । किं कारणम्? तयोरसत्सत्त्वात्, तदुभय ह्यसदेव सदित्युच्यते स्वतन्त्रस्य कर्तुर्नैर्मैव भवनात् तद्विलक्षणस्याभवनापन्नस्याप्रवृत्तस्यासत्त्वात् खपुष्पवत् । तस्माद् नियमश्चेति विधिर्विधीयते नियम्यते चेति । ततोऽय विधेरुभयभागिति ।

शब्दार्थोऽधुना—सादृश्यसामान्य च शब्दार्थ, वाक्यार्थस्य वक्ष्यमाणत्वात् पदार्थ इति गम्यते । ३३०
सदृशसन्निवेशमानैर्मीयत इति समानम्, समान दृक्त्व यत्र द्रष्टृणा तत् सदृशम्, सदृश समानम्, समानभाव सामान्य जाति-लिङ्ग-प्रत्यया अभिधानिदिरति, नान्यापोहो न समानवस्त्वतिरिक्ततत्त्वादि वा तदनुपपत्ते । एतत् सामान्य शब्दार्थ । ननु सामान्यमविकल्पात्मक पुरुषनियत्यादि सर्वसर्वात्मकत्वादिति पूर्ववादप्रसङ्ग इति चेत्, नेत्युच्यते, सर्वसर्वात्मकत्वेऽपि च सृष्ट्यर्थवत्त्वात्, जगत्सृष्टिलक्षणोत्सर्गव्यापित्वात् तदर्थवत्त्वादस्य नयस्य 'नाविकल्प.' इति सम्भन्त्स्यते प्रकृतशब्दार्थ, अभिहितन्यायेन सत्त्वादिशब्दादिर्व्यादिविकल्पप्रत्ययस्य सत्यार्थत्वादद्वैतप्रत्ययस्यासत्यार्थत्वादिति पदार्थ उक्त । वाक्यार्थोऽधुना — वाक्यमपि च पृथक् सर्वपदमिति, वाक्येऽवधारिते तदर्थावधारणसौकर्यात् । आख्यातशब्द सङ्घातो जाति सङ्घातवर्तिनी [वाक्यप० २।१] इत्यादिषु वाक्यलक्षणविकल्पेषु अस्य नयस्य मतेन पृथक् सर्व पद वाक्यम्, वाक्यार्थ पृथक् पृथक् सर्वपदार्थ इति, यथा 'देवदत्त ! गामभ्याज शुक्लाम्' इत्यत्रैकैक पद

---

१ विधि प्र० ॥ २ दृश्यतां पृ० ३४ प० ४ ॥ ३ 'नात्म निधि' प्र० ॥ ४ यथाक्त सूचित य० । यथाक्त सूचित भा ॥ ५ वत्यापत्तिभवनसहायमीश्वर प्र० ॥ ६ विधिद प्र० । दृश्यतां प ५ ॥ ७ धाप्विति य० ॥ ८ तत्वादि प्र ॥ ९ दृश्यतां पृ० ११४ पं १८ ॥ १० यसा मा० ॥

सङ्ग्रहदेशत्वाद् द्रव्यार्थः। द्रव्यमपि गुणसन्द्रावः, गुणानामेकीभावेन द्रवणं तेनापि तद्वशित्वात्।

उपनिबन्धनमस्य दुविहा पण्णवणा पण्णत्ता — जीवपण्णवणा अजीवपण्णवणा च [प्रज्ञापनासू० १।१]। किमिदं भंते! लोएत्ति पवुच्चति? गोयमा। जीवा चेव अजीवा चेव, एवं रयणप्पभा जाव ईसीपब्भारा समयावलियादि [ ]।

वाक्यम्, किं कारणम्? **तस्मात् सर्वसर्वात्मकत्वादेव,** यस्माद्देवदत्तोऽपि गवात्मकोऽभ्याजात्मकश्च तथा प्रवर्तनात् तत्तदापत्तेः, तान्यपि तथेति तस्मात् सर्वसर्वात्मकत्वात् पृथक् पृथक् सर्वं पदं वाक्यमिति। एतस्य विध्युभयनयस्य **द्रव्यार्थभेदोऽर्थः** पूर्वविरुद्धत्वान्नयानामविकल्पार्थाद् विधिविधिनयाद् विकल्पार्थ-द्रव्यार्थतया भिद्यते।

१३९-२ आ[2]र्योक्तानां नयानां कस्मिन्नन्तर्भावः? इत्यत आह — **सङ्ग्रहदेशत्वाद् द्रव्यार्थः,** सङ्ग्रहनयस्यापि शतधा भेदात् तद्देशस्तदेकदेशो द्रव्यशब्दार्थः। कतमस्मिन् विग्रहे इति चेत्, उच्यते — **द्रव्यमपि गुणसन्द्रावः।** तद्व्याख्या — सम् एकीभावे, द्रु गतौ [पा० धा० ९४५], तस्माद् **गुणानामेकीभावेन द्रवणम्,** कारणे कार्यस्य सत्त्वात् सतामेव सुखादीनां रूपादीनां पृथक् पृथक् सन्निहितानामैक्यगमना-जीवपुद्गलपरिणामः सङ्गमनम्। आह — विध्युभयनयत्वात् सन्निहिततद्विधशक्तीश्वरपृथक्त्वादण्वादीनां [3]तदेकैकसर्वात्मकत्वाच्च तेषां भवतु एकीभावः, मा भूदीश्वरस्येति। नेत्युच्यते, **तेनापि तद्वशित्वात्** सन्निहिततच्छक्तिनापि सहेश्वरेणैकीभावे तच्छक्तिर्व्यक्तेर्नान्यथेति[4]। अत [5]एव चास्य नयस्याद्वैतवादाद् भेदः।

आह — किं स्वमनीषिकयैतदुच्यते? आहोस्विदस्त्यस्य किञ्चिदुपनिबन्धनमार्षमपि? इति। 'अस्ति' इत्युच्यते, **उपनिबन्धनमस्य — [6]दुविहा पण्णवणा [7]पण्णत्ता जीवपण्णवणा अजीवपण्णवणा** चेति। अथवा '[8]**किमिदं भंते! लोएत्ति पवुच्चति? गोयमा! जीवा चेव अजीवा चेव, एवं रयणप्पभा जाव [9]ईसीपब्भारा समयावलियादि।**

इति विध्युभयारस्तृतीयो नयचक्रस्य॥

---

१ "से किं तं पन्नवणा? पन्नवणा दुविहा पन्नत्ता, तं जहा — जीवपन्नवणा य अजीवपन्नवणा य।" इति प्रज्ञापनासूत्रे पाठः॥ २ अर्थोक्तानां भा०। अथोक्तानां य०॥ ३ तदै° प्र०॥ ४ (°व्यक्ति°?)॥ ५ एवास्य भा०॥ ६ दुविध भा०॥ ७ भा० वि० विना पन्नत्ता॥ ८ किमिदं लोएत्ति पवुच्चइ गोअमा य०॥ ९ ईसि° भा०॥

ॐ अर्हम्

अथ चतुर्थो विधिनियमारः ।

नन्वेव त्वदुक्ता एवोपपत्तय सर्वप्राणीश्वरत्व साधयन्ति, सुखाद्यात्मसवेद्य-लक्षणत्वात् कर्मण सुखाद्यदृष्टाणूनामपि च कर्मत्वात् कर्मप्रवर्तनाभ्युपगमात्

नन्वेवमित्यादि । पूर्ववदस्मिन् दर्शने न परितुष्यंत उत्थानमित्यभिसम्बन्ध । ननु इत्यनुज्ञापने, **ननु त्वदुक्ता एवोपपत्तय** प्रत्येक **सर्वप्राणीश्वरत्व साधयन्ति,** बाह्याध्यात्मिकसुखदु खमोहमात्रत्वा जगत सदसद्वेद्यमोहान्तरायभेदाना **सुखादिनयविपाकफलत्वानतिवृत्तेस्तदात्मसवेद्यलक्षणत्वात् कर्मण ,** सुखादिसवेदनेनैव हि तत्कारणभूत कर्म स्वकार्येण फलेन लक्ष्यतेऽनुमीयते सामान्यतोदृष्टानुमानेन देशान्तर-२४० १ प्राप्त्या इव आदित्यगति । अत कारणे कार्यस्य सत्त्वात् कार्ये कारणोपचारात् सुखादय कर्म, अन्नप्राण त्ववत् । अदृष्ट धर्माधर्मान्य परैरिष्टमेव कर्मेति, आत्मापि कर्म, कथम्? तद्धादृष्टमात्मनो रागादिकर्मविपाक परिणत्यवस्थस्य प्रयोगपरिणामात् कर्मतामापन्नम् । पुनरपि सुखाद् रागादि[3], तत पुन कर्म, तत सुखादि फलम् । तच्च जीवपरिणामात्मसात्कृतकार्मणयोग्यपरिमाणपरमाणुममूर्त एवात्मस्थमेकीभूत चात्मना, यथोक्तम्—

> योगै सवृत स्वयोगाद् मूर्त सन् बाह्यमथमादत्ते ।
> आत्मस्य चानुभवत बन्ध प्रति स च ततोऽनन्य ॥ [ ]

तच्च सवेद्यम्, कर्तु सवेदनात् । तत सवेद्यलक्षणत्वात कर्मण **सर्वेश्वरतेति** सम्भवत्यते । कर्म हि प्रतिप्राणि नियतकर्तृक स्वविपाकसुखादित्वेन सवर्द्यम, तेनाणूनामेव कर्मत्वपरिणामापन्नानामात्मैकीभावेन वेदन सवेदनम्, तेन च पुरुषेण तेषा तथा प्रयोजनात् कर्तृत्वम्, अत **सुखाद्यदृष्टाणूनामपि च** कर्मत्वादित्याह । प्राक् प्रतिपादित हि द्व्यणुकत्र्यणुकादिसयोगे पृथिव्युदकव्रीह्यङ्कुरादिपरिवृत्तिरूपेणात्मन स्तेषा चैकत्व सजमर्गोत्मकत्व च । तस्मात् कर्मकारणा जगत्प्रवृत्ति साधयन्ति त्वदुक्ता एवोपपत्तय । इतश्च कर्मपूर्वक जगत्, **कर्मप्रवर्तनाभ्युपगमात् सर्वप्राणिनाम्,** कर्मवशादेव हि प्राणिन शुभाशुभ जातिकुलरूपायुरुत्कर्षापकर्षौ । यथोक्तम्—

---

१ प्यता प्र० ॥ २ नव त्व प्र० ॥ ३ रागादि फल फलादि तत पुन कर्म य० ॥ ४ चात्मना प्र० ॥ ५ सत्याहारमथ भा० । सत्यायमथ य ॥ ६ च तेनाणू प्र० ॥

सर्वप्राणिनां कर्तृत्वात् कर्तुरेव भवितृत्वाभ्युपगमात् तस्यैव भवितुश्च प्रयोजनात् सर्वेश्वरता ।

ईश्वरात्तु कर्मणः प्रवर्तनं किं सतः, असतः? तद्यद्यभूतस्य ततोऽद्वैतं तस्यापि तदात्मकत्वात् । भूतस्य चेत् प्रागपि तदस्ति, तच्च ईश्वरात्मैव तथाभूतेस्तथाप्रवृत्तेस्तदापत्तेः, तथापि सुतरामद्वैतम् तदात्मकत्वादेव । अथ यस्मै प्रवर्त्यते यथा तस्मात् तर्हि तत् तथाभूतं तद्वशात् तथेश्वरप्रवृत्तेः, ततस्तस्य प्रवर्तने स एवेश्वरः ।

स्वकर्मयुक्त एवायं सर्वोऽप्युत्पद्यते नरः ।
स तथा क्रियते तेन न यथा स्वयमिच्छति ॥ [ ]
यथाहारः काले परिणतिविशेषक्रमवशात्
सुखं पथ्योऽपथ्योऽसुखमिह विधत्ते तनुभृताम् ।
७४०-२ तथा धर्माधर्माविति विगतशङ्कामपि कथां
कथं श्रोतुं [1]नेया विषयविषवेगक्षतधियः? ॥ [ ]

किञ्चान्यत्, **कर्तृत्वात्** 'प्राणिनाम्' इति वर्तते । मा भूवन्नकृताभ्यागमकृतप्रणाशकर्त्रन्तरफलसङ्क्रान्त्यादयो दोषा इति सदसदाचाराः प्राणिन एव कर्तारो भोक्तारश्चाभ्युपगन्तव्याः, अन्यथा हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थानां शास्त्राणामानर्थक्यप्रसङ्गात् । ततः **कर्तुरेव भवितृत्वाभ्युपगमात्** । कः कर्ता? यः स्वतन्त्रः । [2]यः स्वतन्त्रो भविताऽपि स एव । स्यान्मतम्—नन्वीश्वरः प्रयोक्तृत्वात् कर्तेत्युक्तम्, नेत्युच्यते, **तस्यैव भवितुश्च प्रयोजनात्**, सर्वः प्राणी प्रत्येकं भविता प्रयोजयति आत्मना आत्मानं स्वकृतकर्मविपाकात्मकरागद्वेषभयगौरवादिधर्मचोदितः । यथोक्तम्—

प्रयत्न एवापरजन्मजोऽयं सूर्योदय' श्राद्धजनप्रवादाः ।
उत्पश्यतामेव हि दैवसिद्धिमुत्साहिनं श्रीर्भजते मनुष्यम् ॥ [ ] इति ।

तस्मात् तन्त्र्यादिप्रधानाण्वादिषु सत्स्वपि प्रवर्त्येषु तेषामेव कर्मसाद्भूतानां प्राणिनां भवितृत्वात् तत्तदापत्तेः सर्वप्राणिनां स्वातन्त्र्यात् कर्मवशप्रेरितकार्यकारणभावेन सततभवनात् तथाप्रवर्तकस्यैकैकस्य सर्वात्मकत्वात् **सर्वेश्वरता** इति साधूक्तम् ।

इदानीं त्वदिष्टेश्वरकारणत्वे तु दोषा उच्यन्ते—**ईश्वरात्** त्वित्यादि । इदं चिन्त्यम्—ईश्वरात् **कर्मणः प्रवर्तनं किं सतः, असतः?** किं चातः? **तद्यद्यभूतस्य** कर्मण ईश्वरः प्रवर्तकः **ततश्चाद्वैतं** पुरुषादिवादवत् प्राप्तं **तस्यापि तदात्मकत्वात्** कर्मणोऽपीश्वरात्मकत्वादीश्वरस्यैव [3]कर्मत्वेनोत्पत्तेः । **भूतस्य चेत्**, अथ भूतस्य कर्मण ईश्वरात् प्रवृत्तिस्तत एतत् प्राप्तम्—**प्रागपि तत्** कर्मास्ति, कारणे कार्यस्य सत्त्वात् ।
७४१ १ **तच्चेश्वरात्मैव**, तनुकरणादिभाव्यवत् **तथाभूतेस्तथाप्रवृत्तेस्तत्तदापत्ते**रित्या[4]दिभिर्युक्तिभिः, **तथापि सुतरामद्वैतं** तदात्मकत्वादेव पुरुषावस्थावदीश्वरभाव्यतदात्मकाण्वादिभवनवद् वा । **अथ यस्मै प्रवर्त्यते यथा** । अथाचक्षीथाः—न तत् कर्मेश्वरात्मकम्, किं तर्हि? यस्मै प्राणिने शुभमशुभं वा [5]नैरनारकतिर्यगमरविचित्रभेदरूपेण येन येन प्रकारेण प्रवर्त्यते तेनेश्वरेण तत्तत्प्राण्यात्मकं तदिति । अत्रोच्यते—**तस्मात् तर्हि तत् तथाभूतम्**, प्रत्येक प्राणिनः कारणात् तस्मात् तस्मात् तथा तथा भूतमित्यर्थः,

---

१ नेमा प्र० ॥ २ कः स्व° प्र० ॥ ३ कर्मत्वेनोपपत्तेः य० ॥ ४ °दियुक्तिभिः भा० ॥ ५ नरकतिर्य° प्र० ॥

अथ तत्कृतमपि पुरुषकारराजप्रसादवदीश्वरापेक्षं प्रवर्तते, कृतता प्रति तावत् स्वातन्त्र्यं सिद्धं तस्यैव, तत्कृतं हि कर्मैव ईश्वरप्रसादमुत्पादयति। द्रव्यादिपञ्चकापेक्षसेवादिक्रियाफलप्रत्यक्षवत्।

त्वदभिमतेश्वरस्तु यदि स्वतन्त्रः कर्मानपेक्षश्च प्रवर्तयति ततः प्रतिपुरुषनियामककर्माभावेऽनुपपन्नस्थानविग्रहेन्द्रियोपभोगाभ्युदयप्रत्यवायापवर्गादिविशेषमिदं जगत् स्यात्, तुल्यकारणत्वात्, पटतान्तवत्ववत्।

तद्वशात् तथेश्वरप्रवृत्तेः, ततस्तस्य प्रवर्तने स एवेश्वरः, कृतं त्वदिष्टमीश्वराख्यमात्मवशेन तथा प्रवर्तयतस्तस्य तस्य प्राणिन ईश्वरत्वम्, नेश्वरस्य तथा प्रवर्तत्वात् कर्मकरवत्।

अथ तत्कृतमपि पुरुषकारराजप्रसादवदीश्वरापेक्षं प्रवर्तते। अथ मतम्—प्राणिभिः कृतमपि कर्म ईश्वरकृतमेव, ईश्वरवशात् प्रवर्तमानत्वात्। तद्यथा—द्वयोः पुरुषयोस्तुल्यपुरुषकारयोरपि राजा एकस्यैव प्रसीदति नेतरस्येति फलं राजवशेन दृष्टं न पुरुषकर्मवशेन तथेश्वरवशात् तत्कर्मप्रवृत्तिरिति। अत्रोच्यते—कृतता प्रति तावत् स्वातन्त्र्यं सिद्धं तस्यैव प्राणिनोऽपि तेश्वरेण प्राण्यनुष्ठेयकर्मप्रत्ययप्रसादोत्पत्तेः, तत्र च राज्ञो निमित्तमात्रत्वात्। पुरुषकृतकर्मनयप्रसादराजवदेव ईश्वरस्याप्यन्यतरपुरुषकृतकर्मप्रत्ययप्रसादोत्पादनात् कर्मस्वातन्त्र्यम्, तत्कृतं हि कर्मैवेश्वरप्रसादमुत्पादयति अन्यतरेण कृतं नेतरेणेत्यर्थः, ४१२ अन्यतरपुरुषकृतकर्मप्रत्ययस्यैवेश्वरप्रसादस्य तेनोत्पाद्यत्वात् तस्मात् पुरुषकर्मापेक्षत्वादीश्वरप्रवृत्तेः कर्मप्राधान्यं प्रवृत्तौ फले चेति। स्यान्मतम्—राजवदेव कर्मणः प्रवृत्तौ तत्फलदाने चेश्वरोऽपेक्ष्यत्वात् प्रधानं कारणमिति। एतच्च न, यस्माद् द्रव्यादिपञ्चकेत्यादि यावत् प्रत्यक्षवत्। द्रव्य क्षेत्र काल भाव भव चापेक्ष्य हि कर्मणां प्रवृत्तिः कृतानां च फलं प्रत्यक्षत उपलभ्यते। स एव पुरुषः कर्ता द्रव्यं दाता देयं वा द्रव्यं वस्त्रसुवर्णादि। क्षेत्रं ग्रामनगरारण्यरङ्गभूम्यादि यत्र तत् प्राप्यते फलम्। कालः कस्मिंश्चित् काले दिवा रात्रौ पूर्वाह्णेऽपराह्णे सद्यश्चिराद्वेति। भावः 'प्रसन्नः कुपितः' इत्यादि। भवो हस्तिमहामात्रयोः शरीरानुरूपाहाराभरणादिदानमिति। अत्र प्रयोगः—परत्रापि प्राणिकृतफलं प्रतिनियतद्रव्याद्यपेक्षम्, सुखादिनियाया फलत्वात्, द्रव्यादिपञ्चकापेक्षसेवादिफलवत्। तस्माद् द्रव्यादिपञ्चकापेक्षमपि कर्म फलदाने स्वतन्त्रप्राणिनियतं प्रधानम्। नेश्वरं च कर्मापेक्षते, परतन्त्रत्वात् तस्येति।

त्वदभिमतेश्वरस्त्वित्यादि। अस्तु तावदीश्वरस्य स्वातन्त्र्यं कर्मानपेक्षा च तस्य जगदुत्पादनार्थं प्रधानादि प्रेरयतः, प्राणिनां कर्माकारणत्वे तदनपेक्षाया च दोष उच्यते—तद्यथा ततः प्रतिपुरुषेत्यादि, पुरुषं पुरुषं प्रति द्रव्यादिपञ्चकत्वेन नियामकं नियतं यदि कर्म न स्यात् ईश्वर एवाविशिष्टो हेतुः स्यात् ईश्वराख्यस्य कारणस्याविशिष्टत्वादविशेषः स्यात्। कस्य? देव-मानुष-तैर्यग्योनाख्यप्राणिगणस्य। कीदृग् विशेष इति चेत्, उच्यते—स्थानविग्रहेन्द्रियोपभोगलक्षणो विशेषो न स्यात्। कस्मात्? तद्विशेषहेतो

---

१ कृत य०। स्कृत भा०॥ २ कृतेश्व भा०। दानेश्व य०॥ ३ प्राणिनोपिते वरण प्र। अत्र प्राणिनो विनश्वरेण इति पाठः स्यात्॥ ४ चेश्व प्र॥ ५ (इत्यादि ?)॥ ६ स्वतन्त्र। प्राणि भा०। (स्वतन्त्रं प्राणि ?)॥ ७ प्र प्रतिपु नास्ति॥ ८ कर्मकारणत्वे य०। कारणत्वे भा०॥

अनपेक्षा च किं कर्मणः सतः, असतः? यद्यसत एव, किम्? क्रियाविलोपः। उक्तं च वः शास्त्रे–योगं साधयिष्यन् निद्रातन्द्राप्रमादालस्यरहितश्च स्यात् [ ] इत्यादि। कर्माभावे च प्राणिनां सदा मुक्तत्वात् तन्त्र्यादिसृष्टिरीश्वरस्यानर्थिका। ततश्च भाव्यभावकभेदाभावाद् द्वैतकल्पनानिर्मूलता। अथ तु विद्यमानावेव धर्माधर्मौ नापेक्षते स ततोऽकृताभ्यागमकृतप्रणाशौ दोषौ स्याताम्, आक्षीणोदितकर्माशयबन्धमोक्षाभ्याम्।

रीश्वरस्य समानत्वात्। स तु विशेषो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-भवापेक्षनियतेः प्रतिपुरुषं च नियामके कर्मणि
२४२ १ तदपेक्षकापेक्षविपाके सति विशिष्टे स्यात्। दृष्टश्च सोऽस्मदभीष्टप्रतिनियतद्रव्यादिविपाककर्मप्राणिगणेश्वरत्वे सति युज्यते–केषाञ्चिदभ्युदयः केषाञ्चित् प्रत्यवायः केषाञ्चिदपवर्ग इति। अत्र प्रयोगः–**अनुपपन्नस्थानविग्रहेन्द्रियोपभोगाभ्युदयप्रत्यवायापवर्गादिविशेषमिदं जगत् स्यात्, तुल्यकारणत्वात्, पटतान्तवत्ववत्**, यथा पटस्तन्तुकारणताविशेषात् तान्तवः न मार्त्तिकः सौवर्णो वेति जात्याकृतिवर्णाद्यविशिष्टस्तथेदं जगत् स्यात्, न तु भवति। तस्मादयुक्तम्। अथवा प्रतिनियतद्रव्याद्यपेक्षविपाकानेकेश्वरकारणपूर्वकमेवेद जगत्, प्रतिविशिष्टजात्याकृतिवर्णादिमत्त्वात्, घटपटरथादिवत्। तस्मात् कर्मापेक्षमीश्वरत्वं सर्वप्राणिनामिति।

अभ्युपेत्यापि कर्मानपेक्षां तत्र दोषं ब्रूमः–**अनपेक्षा** चेत्यादि। किमियमीश्वरस्य धर्माधर्मलक्षणस्य **कर्मणो**ऽनपेक्षा **सतः? असतः?**। किञ्चातः? **यद्यसत एव** धर्माधर्मयोरसतोरेवानपेक्षा, **किमिति** प्रश्नः, ततः किमिति चेत्, उच्यते–**क्रियाविलोपः**, असतोर्हि तयोः खपुष्पखरविषाणयोरिव कापेक्षा? ततश्च हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थाः सर्वाः क्रिया विलुप्येरन्, इष्यन्ते च ताः, यस्मादुक्तं **च वः शास्त्रे–योगं साधयिष्यन्नि**त्यादि गतार्थं यावद् **निद्रातन्द्राप्रमादालस्यरहितश्च स्यादित्यादि** इत्याचारविधायिग्रन्थस्मारणम्। किञ्चान्यत्, **कर्माभावे** चेत्यादि यावद् **निर्मूलता**, अकर्मत्वात् प्राणिनः सदा मुक्ताः स्युः। ततश्च तन्त्विन्द्रियविषयसम्बन्धिनो न भवन्ति। ततश्च तन्त्र्यादिसृष्टिरीश्वरस्यानर्थिका। ततश्च
२४२ २ भाव्यभावकभेदाभावः। तस्माद् **भाव्यभावकभेदाभावा**दीश्वरकर्मप्रधानाण्वादि**द्वैतकल्पनानिर्मूलता**। एवं तावदसतः कर्मणोऽनपेक्षा न युक्ता। **अथ तु विद्यमानावेव धर्माधर्मौ**वभ्युदयप्रत्यवायनिःश्रेयसक्रियायां **नापेक्षते स** ईश्वरः स्वतन्त्रत्वात् प्रयोजनाभावाच्च तयोः विद्वद्व्याख्यानादिक्रियासु बलीवर्दानपेक्षणवदिति मन्यसे **ततोऽकृताभ्यागमकृतप्रणाशौ दोषौ स्याताम्**। कथम्? यथासङ्ख्यम**ाक्षीणोदितकर्माशयबन्धमोक्षाभ्याम्**। यावत्क्षीणकर्मणोऽपि बन्धाभ्युदयप्रत्यवायसम्बन्धी अकृताभ्यागमः स्यात्, कुतः? धर्माधर्मनिरपेक्षत्वात् स्वभावपुरुषादिवादिमतवत्। उदितात्यन्ताशुभकर्माशयस्य नारकादेरपि मुक्त्यभ्युदयसम्बन्धी कृतप्रणाशः स्यात् धर्माधर्मनिरपेक्षत्वात् पुरुषस्वभावादिवादिमतवदेव, अनिष्टं चैतत्। एवं तावदीश्वरस्य कर्मानपेक्षा अनिष्टापत्तेरयुक्ता।

---

१ "उदयखयखओवसमोवसमा ज च कम्मुणो भणिया। दव्व खित्त कालं भव च भाव च सपप्प ॥ ५७५ ॥" इति विशेषावश्यकभाष्ये ॥ २ जाति पटत्वम्, आकृति सस्थानम्, वर्णो नीलादि ॥ ३ °केनेके° य० ॥ ४ °दिरित्याचार° प्र० ॥ ५ "यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि. स धर्म ।१।१।२।"–वै० सू०। "अधर्मोऽप्यात्मगुण कर्तुरहितप्रत्यवायहेतु ।"–इति प्रशस्तपादभाष्ये ॥

अथ कर्मापेक्षः प्रवर्तते ततस्तान्येव कर्माणि ईश्वराणि, तेषां तस्यापि तथा भावयितृत्वात्। न स तानि तथा भावयति, तथा भाव्यमानत्वात्, अनापन्नस्वामित्वात् खरविषाणवत्, अस्वतन्त्रत्वाच्छब्दादिवत्। भवति कर्ता स्वतन्त्रः, तथा प्रवर्तनवृत्तत्वात्, तन्तुपटवत्।

ईश्वरस्यापि च कर्मणि वृत्ते सर्व एव पुरुषः सन्निहिततद्विधशक्तिः प्रतिविशिष्टबुद्धिप्रमाणीकृतक्रियः स्वतन्त्रः तथाप्रवृत्त्यापत्तेः आ ईश्वरात् प्रवर्तयितृत्वात्

अथैतद्विधानिष्टापत्तिव्यावृत्त्यर्थं कर्मापेक्षः प्रवर्तते इति मन्यसे ततस्तान्येव कर्माणि कर्तॄणि स्वतन्त्राणि भवितॄणि ईश्वराणि। कस्माद्धेतोः? तेषां तस्यापि तथा भावयितृत्वात्, यस्मात् तमपीश्वरं तेन तेन प्रकारेण भवन्तं भावयन्ति तान्येव कर्माणि, न स तानि कर्माणि तथा भावयति, कुतः? तथा भाव्यमानत्वात् प्रधानेन शब्दादिवदिति वक्ष्यमाणदृष्टान्तत्वात्। यथा च पृथिव्युदकादीन् व्रीहिरेव तथा भावयति पृथिव्याद्यपेक्षोऽपि तथापत्तेः, न पृथिव्यादयस्तथानापत्तेः, एवं कर्माण्येवेश्वराणि तथा भावयितृत्वात्, न त्वदिष्टेश्वरस्तथा भाव्यमानत्वादिति। स्यान्मतम्—पृथिव्युदकादीन्यपि भावयन्ति एव व्रीहिं व्रीहित्वेनानापन्नान्यपीति। एतदयुक्तम्, तेषामसत्त्वात्, असत्त्वं च अनापन्नस्वामित्वात् खर- २७२ १
विषाणवदिति मतिविभवनदूषणे प्रक्रान्तमेव न्यायं दर्शयति। अस्वतन्त्रत्वाच्छब्दादिवदिति एष दृष्टान्तः सर्वत्र प्रधानकारणत्वसाधर्म्येणोपात्तः कापिलान् प्रति, यथा प्रधानस्वातन्त्र्यात् तत्कारणत्वं गमयति शब्दादि आरातीयकारणत्वाभावं चास्वातन्त्र्यात् तेषामिति नाव्यक्तमिति व्यक्तमित्येव वा प्रधानता भवतीति यथा त्वयैवोक्तं तथैवेश्वरोऽस्वतन्त्रत्वात् कर्मापेक्षत्वादकारणं तान्येव कारणानीति गमयति ताभिरेव त्वदुक्ताभिरुपपत्तिभिः। अतो यदुक्तं त्वयैतास्त्वेवोपपत्तयः सर्वप्राणीश्वरतां साधयन्तीति तत् साधु। तद्भावयन्नाह—भवति कर्तेत्यादि प्राग्व्याख्याताथान्येव भवन्त्यवयवपदानि यावत् तन्तुपटवदिति। यथा तन्तव एव पटनिष्पादनेन भवन्तस्तथाप्रवर्तनवृत्तत्वात् पटकारणानि तथा पुरुषा एव कर्तार इति।

ईश्वरस्यापि चेत्यादि तासामेवोपपत्तीनामितोऽप्युरुतां भावयति अनेनापि ग्रन्थेन। यथा त्वया प्रागुपपादितं क्रमशः पूर्वपूर्वशक्तितारतम्येन सन्निहिततद्विधशक्तिर्विशिष्टबुद्धिरिति तथेहापि ताभिरेवोपपत्तिभिर्नरैरेव च वस्त्रादिभिर्दृष्टान्तैः कर्मणि वृत्ते कर्मनिष्ठत्वात् सृष्ट्यतिशयप्रकर्षस्य कर्मणा पुरुषत्वात् सर्व एव पुरुषः सन्निहिततद्विधशक्तिः प्रतिविशिष्टबुद्धिप्रमाणीकृतक्रियः, प्रतिविशिष्टबुद्धिना तेनेश्वरेण येषां शास्त्रकारैर्निश्चयदक्षैरपि प्रमाणीकृतास्तत्क्रियास्तत्क्रियाफलपरिज्ञानार्थं वाल्मीकिव्यासप्रभृतीनां सिद्धान्तागमनतिलङ्घ्यत्वाच्च। स च स्वतन्त्रः, तथाप्रवृत्त्यापत्तेः तेन प्रकारेण कर्मिप्राणिप्रवृत्ति- २७३ २
वदीश्वरस्यापि प्रवृत्त्यापत्तेः, एश्वरात् प्रवर्तयितृत्वादिति, आ ईश्वरात् यावदीश्वरस्तावत् प्रवर्तयितृत्वा-

---

१ द्रष्टव्यं पृ० ३२ पं० ३॥ २ तथा चात्र ॥ ३ व्रीहिव्रीहित्वेनमनाप प्र०॥ ४ नाव्यक्तमित्यव्यक्तमेव वा भा०। नाव्यक्तमित्यव्यक्तमेव वा य०। अत्र न व्यक्तमित्यव्यक्तमित्येव वा इत्यपि पाठः स्यात्। अथवा नाव्यक्तमित्येव व्यक्तमित्येव वा इत्यपि पाठः स्यात्॥ ५ द्रष्टव्यं पृ० ३३५ पं० २॥ ६ त्वयैवोक्तार्थ भा०। त्वेवपिकार्थ य०॥ ७ तद्विविध भा०। द्रष्टव्यं पृ० ३२६ पं० १ टि० ९॥ ८ यापत्तेः य०॥

कारणम्, शक्तिमत्प्रवृत्त्यप्रवृत्तिदर्शनात्……पक्त्रादिवत्, यावदे[वमे]वास्य सर्वत्वात् सर्वमूर्तिता । अपि च उत्कर्षापकर्षदर्शनात् प्रवृत्त्यनुभवफल……पुरुषादृतेऽप्रवृत्तेरेव उत्कर्षापकर्षौ न निर्बीजेश्वरकामचारेरणात् ।

कर्मापेक्षत्वेऽपि नेश्वरवैयर्थ्यम्, तदभावे प्रवृत्त्यभावात्, दार्वाद्यपेक्षरथकारवदिति चेत्, न, इतरत्रापि तुल्यत्वात् । तद्यथा—ईश्वरापेक्षत्वेऽपि न कर्मवैयर्थ्यम्, तत एव, रथकारापेक्षरथदारुवत् । प्रवर्तयितृत्वाच्चेश्वरस्य तथा प्रवर्तकं कर्म, कर्मणः पुरुषः, इति पुरुष एवेश्वरः । एवं प्रतिघातप्रसङ्गोऽपीश्वरस्य, सापेक्षप्रवृत्तित्वात्, रथकारवत् । यथा रथकारे उपादानोपकरणासामर्थ्यवैकल्ययोः

दीश्वरस्य प्रवर्त्यत्वात् कारणानि सर्वपुरुषाः । शक्तिमत्प्रवृत्तीत्यादि, ईश्वरस्यापि तेषामेव शक्तिमतां पुरुषाणां शक्तिसाकल्यसन्निध्यसन्निध्योः प्रवृत्त्यप्रवृत्तिदर्शनादिति तदेवोपपत्तिजातं स्मारयति यावत् पक्त्रादिवदिति, आदिग्रहणाद् रजोवत् प्रवृत्तिवदित्यादि, पूर्ववदेव ग्रन्थं चानिदिशति—यावदेवमेवास्य सर्वत्वात् सर्वमूर्तिता, 'एवमेव चास्य क्षित्याद्यष्टमूर्तितोच्यते' इत्येतस्मादवधेरारातीयो ग्रन्थः सर्वो द्रष्टव्यस्ताभिरेवोपपत्तिभिः सर्वप्राणीश्वरत्वे तद्वदेवेति । पुनरपि चोत्कर्षापकर्षदर्शनादित्यादिरीश्वरसर्गसाधनार्थो ग्रन्थः प्रवृत्त्यनुभवफलेत्यादिस्तद्वदेव यावत् पुरुषादृतेऽप्रवृत्तेरेव उत्कर्षापकर्षौ न निर्बीजेश्वरकामचारेरणादिति कर्मकारणत्वार्थो गतार्थः । तस्मात् कर्मापेक्षत्वात् सर्वसर्वात्मकत्वात् सर्वेश्वरतेति ।

कर्मापेक्षत्वे इत्यादि यावद् रथकारवदिति चेत् । स्यान्मतम्—कर्मापेक्षत्वेऽपि न व्यर्थमीश्वरकारणत्वम्, तदभावे प्रवृत्त्यभावात् । यत्र यदभावे प्रवृत्त्यभावः प्रवर्तकस्य तत्रेश्वरस्याप्यवैयर्थ्यं दृष्टम्, यथा रथकारप्रवृत्तौ रथार्थं दार्वाद्यपेक्षणमिति चेन्मन्यसे, तन्न, इतरत्रापि तुल्यत्वात् । तत् कथमिति चेत्, प्रयोगत एव दर्श्यते विपर्ययसिद्धिः, तद्यथा—ईश्वरापेक्षत्वेऽपि न कर्मवैयर्थ्यम्, तत एव हेतोः, रथकारापेक्षरथदारुवदिति विरुद्धैकान्तिकः ।

तदुपसंहृत्याह—प्रवर्तयितृत्वाच्चेश्वरस्येत्यादि यावत् पुरुष एवेश्वर इति । प्रवर्तयिता हीश्वरः.
२४४-१ दासस्य स्वामिवत् । तच्च प्रवर्तयितृत्वं कर्मणः सिद्धमुक्तविधिना प्रवर्त्यत्वं चेश्वरस्य, तथा प्रवर्तकं कर्म, कर्मणः पुरुषः प्रवर्तत इति प्रकृतत्वाद् गम्यते, इतिशब्दो हेत्वर्थे, तस्मात् पुरुष एवेश्वरः सर्व इति । एवं कर्मेश्वरतापि तु यथैवं तथोत्तरत्र भावयिष्यते । पुरुषस्य तावत् सर्वस्येश्वरत्वमुक्तमिति । एवं प्रतिघातप्रसङ्गोऽपीत्यादि । किञ्चान्यत्, प्रतिहन्यते च त्वदभिमतेश्वरः सापेक्षप्रवृत्तित्वाद् रथकारवत् । अस्य साधनस्य व्याख्या—यथा रथकार इत्यादि, उपादानं दारु, उपकरणानि वास्यादीनि, तेषामसामर्थ्यं वैगुण्यं सतामेव वैकल्यं त्वन्यतमाभाव एव, तत्र प्रतिघातो 'दृष्टः' इति वाक्यशेषः । तथेत्यादि दार्ष्टा-

---

१ दृश्यतां पृ० ३२८ पं० १ ॥ २ दृश्यतां पृ० ३२८ पं० ३ ॥ ३ °सन्निध्यो. प्र° प्र० ॥ ४ दृश्यतां पृ० ३२७ पं० २ ॥ ५ चादिशति प्र० ॥ ६ °सादवेरारा° प्र० ॥ ७ °दृप्रवृ° प्र० ॥ ८ °कारत्ववदिति य० ॥ ९ °व्यवैयर्थ्यं प्र० ॥ १० रथार्थदार्वा° पा० र० ही० ॥ ११ (प्रवर्तेत इति ?) ॥

प्रतिघातस्तथा अपचितकुशलमनुजिघृक्षत उपचितकुशलं चोपजिघांसतस्तस्य यद्यप्रतिघातः स्यात् स्यात् स्वातन्त्र्यम्, न तु भवति, पुरुषकृतकर्मप्रत्ययेन ईश्वरप्रवृत्तिप्रतिघातदर्शनात् ।

यत्तूच्यते–सर्गादौ अप्रतिहतस्वशक्तिवशादेव शरीरादीन्युत्पाद्य प्रतिबुद्धानां प्राणिनां धर्माधर्ममर्यादामुपदिशति, मध्यकाले च तेषां स्वमर्यादानुष्ठानानुरूपेण फलेन इष्टेनानिष्टेन वा अनुग्रहं करोति, अयमनुग्रह एव तेषां तद्दणमोक्षणवत्, मोक्षमार्गोपसेविनश्च मायोज्य गमयति, अन्तकाले च शरीरेन्द्रियभूतवत् कुशलाकुशले संहृत्य प्रलयक्षपायां स्वापयति, यदपि चाकाङ्क्ष्यते तस्य सर्वज्ञत्वं सर्वकारि-

---

त्वम्, सापेक्षप्रवृत्तित्वसाधर्म्यानुगमेनोपनयन् रथकारे कायम्, वैधर्म्येण तु दर्शयति–अपचितकुशलमनुजिघृक्षत इत्यादिना । पुरुषमपचितशुभकर्माणमनुग्रहीतुमिच्छतस्तद्विपरीतं चोपहन्तुमिच्छतस्तस्येश्वरस्य यद्यप्रतिघातः स्यात् स्यात् स्वातन्त्र्यम्, न तु भवति, अपेक्ष्यस्य कर्मणः स्वकृतकर्मवशाख्यप्रत्ययेन तद्वशेन ईश्वरस्य प्रवृत्तिप्रतिघातदर्शनात् । न चेदेवमिष्यते, शुभकर्माणं दु[ःखे]नेतरं च सुखेन योजयेत् । तथा च 'अकृताभ्यागमकृतप्रणाशौ स्याताम्' इत्युक्तम्, तच्च नेष्टम् । तस्मात् पुरुषकर्मप्रत्ययेन ईश्वरप्रवृत्तिप्रतिघातोऽस्ति, प्रवृत्तिप्रतिघाताच्च नैश्वर्यं तस्य प्रतिघात्यत्वात् पृथग्जनवदित्यनीश्वरः स इति ।

यत्तूच्यत इत्यादि यावत् प्रलयक्षपायां स्वापयतीति । कालभेदेन सापेक्षनिरपेक्षप्रवृत्तिपक्षयोरभ्युपगमादुभयथापि सिद्धे प्रवृत्तिप्रतिघातासम्भवाददोषः । तद्यथा–सर्गादौ धर्माधर्मविकलानां शरीरेन्द्रियविषयोत्पादने निरपेक्षोऽप्रतिहतस्वशक्तिवशादेव शरीरादीन्युत्पादयति, तांश्चोत्पाद्य बुद्धानां सुप्तोत्थि- २४४ तानां धर्माधर्ममर्यादामुपदिशति 'तपोदानयज्ञादि कुरुत, मा कार्ष्ट हिंसानृतस्तेया[गम्या]गमनादीनि' इति, तयोश्च धर्माधर्मयोः सीमाच्छेदेन व्यवस्थां मर्यादामुपदेशेन व्यवस्थापयति । मध्यकाले च तेषां प्राणिनां यथास्वं धर्माधर्ममर्यादामनुतिष्ठतामनुष्ठानानुरूपेण फलेनेष्टेन अनिष्टेन वा विषयोपभोगलक्षणेनानुग्रहं करोति यदा तदा सापेक्षोऽप्रतिहतस्वशक्तिवशादेव । स्यान्मतम्–धर्मानुष्ठानफलोपभोगेन इष्टेनानुग्रहो युज्यते, कथमधर्मानुष्ठानफलोपभोगेनानिष्टेन युक्तः ? इत्यत्रोच्यते–अयमनुग्रह एव तेषां तद्दणमोक्षणादिति । ये पुनस्तदुपदिष्टमोक्षमार्गप्रस्थितास्तांश्च मोक्षमार्गोपसेविनः मायोज्य गमयति । कोऽसौ मोक्षमार्गः ? माहेश्वरो योगविधिः । तानात्मना सह युङ्क्ते इति मयुक्, तद्भाव मायोज्य तेषामीश्वरसाद्भाव, तं गमयति नयति । एतद् मध्ये सापेक्षमैश्वर्यम् । पुनरप्यन्तकाले च शरीरेन्द्रियभूतवत्, यथा शरीरेन्द्रियाणि भूतानि चाश्च विषयानुपसंहरति तथा कुशलाकुशले तेषां धर्माधर्मावपि संहृत्य तान् पुरुषान् सर्गाहितसप्तनवत्स्वन धर्माधर्मफलेनष्टानिष्टोपभोगात्मकेन दिवसव्यायामपरिश्रमाभिभूतान् बालकान् पुत्रानिव पिता सर्वपुरुषान् संसारहेतुभूतधर्माधर्मानुपसंहृत्य प्रलयक्षपायां स्वापयतीत्यन्तेऽपि निरपेक्षोऽप्रति

---

१ दृश्यतां पृ० ३४५ पं० ४ ॥ २ दृश्यतां पृ० ३४३ पं० १७ ॥ ३ प्रवृत्तिघात प्र० ॥ ४ दृश्यतां पृ० ३३८ पं० ५ ॥ ५ मापयती भा० । मायपती य० । दृश्यतां पृ० ३४४ पं० १४ ॥ ६ इत प्र० ॥ ७ (दीनुपा ?) ॥ ८ हिंसां मा कार्ष्ट य० ॥ ९ (धर्माधर्मानुग्रह[र] ?) ॥ १० मापयती प्र० । दृश्यतां पृ० ३४४ पं० १४ ॥

त्वात् तदपि नैव, अस्यानर्थकार्थप्रवृत्तबालादिप्रवृत्तिवदज्ञक्रियासाधर्म्याद् धर्माधर्मोपदेशप्रवृत्तेरनर्थकार्थविषयत्वात् । यस्याभावे यस्याभावो यस्य च भावे यस्य ध्रुवो भावस्तत् कारणम्, इतरत् कार्यम् । न च धर्माद्यभावे शरीरादेरभावः, सर्गादौ शरीरादिनिर्वृत्त्यभ्युपगमात् । न च धर्मादिभावे ध्रुवः शरीरादेर्भावः, अदत्तफलकुशलाकुशलसंहारादन्तकाले ।

यथा चोपदेशेऽनभिज्ञत्वं तस्य तथा प्राणिनामप्यनुग्रहक्रियाया अपि यदा

त्स्वातन्त्र्यः स एवेष्टः । तस्मादुभयथापि अपेक्ष्यानपेक्ष्य च तदैश्वर्यसिद्धेरदोष एव दोषाभिमतो त्वयोद्भावित इति परपक्षः ।

अत्र वयं ब्रूमः—तत्कारित्वात् तज्ज्ञत्वमिति यत् सर्वज्ञत्वमाकाङ्क्ष्यते तदपि नैव । कर्मणामेव तन्निरपेक्षप्रवृत्तौ तस्य प्रतिघातादनैश्वर्यं सृष्टप्राणिसंसारकाले सर्गाद्यन्तयोश्च अकृताभ्यागमकृतप्रणाशादिदोषा[3]स्तदवस्था एवेत्यपरिहृतदोषत्वाद् न किञ्चिदेतत् । अन्योऽपि च दोषः—यदपि चाकाङ्क्ष्यते तस्य सर्वज्ञत्वं
२८५ २ सर्वकारित्वात् करणस्य ज्ञाना[4]विनाभावात् सर्वं चेत् करोत्यवश्यं[5] सर्वमसौ वेत्तीति सर्वकारित्वात् सर्वज्ञ इति, तदपि नैवोपपद्यते, अस्यानर्थकार्थप्रवृत्तबालादिप्रवृत्तिवदज्ञक्रियासाधर्म्याद्यज्ञोऽसौ बालवदसमीक्षितप्रवृत्तित्वादित्येतदनया कल्पनयास्माकं त्वया प्रत्यक्षीक्रियते, किं कारणम्? धर्माधर्मोपदेशप्रवृत्तेरनर्थकार्थविषयत्वात्, अनर्थकौ धर्माधर्मावर्थौ ह्यस्य धर्माधर्ममर्यादोपदेशस्य । न च तयोर्धर्माधर्मयोः शरीरादिकारणत्वम्, विनापि धर्माधर्ममर्यादया सर्गादौ प्रसुसृक्षेः शरीरादिनिर्वृत्त्यभ्युपगमात्, धर्माधर्ममर्यादायां सत्यामेव च प्रलयकाले शरीराद्यभावाभ्युपगमाच्चेश्वरसामर्थ्यादेव । तस्मात् तयोर्नास्ति कारणता, कारणलक्षणायोगात् । किं तत् कारणलक्षणमिति चेत्, उच्यते—यस्याभावे इत्यादि गतार्थं यावदितरत् कार्यमिति । कथं तदयोग इति चेत्, उच्यते—न च धर्माद्यभाव इत्यादिना ग्रन्थेन तयोः कारणाभिमतयोरभावेऽपि शरीरादेः कार्यस्य भावं भावेऽपि चाभावमुपदेशसाफल्यानभिज्ञत्वं च दर्शयति यावददत्तफलकुशलाकुशलसंहारादन्तकाले इति गतार्थत्वाद् न विव्रियन्तेऽक्षराणि ।

किञ्चान्यत्, यथा चोपदेश इत्यादि यावत् क्रियाया अपि अनभिज्ञत्वमिति वर्तते । न केवलमुपदेशानभिज्ञत्वमेव तस्य, किं तर्हि? प्राणिनामनुग्रहक्रियानभिज्ञतापि इति तदतिदिशति । तत् कथं

---

१ "सर्वकर्तृत्वसिद्धौ च सर्वज्ञत्वमयत्नतः । सिद्धमस्य यतः कर्ता कार्योपादिवेदकः ॥ ५४ ॥ अथ सर्वज्ञत्वं कथं तस्य सिद्धं येनासौ निःश्रेयसाभ्युदयकामानां भक्तिविषयतां यायादित्याह—सर्वकर्तृत्वसिद्धौ चेत्यादि । तथा चाहुः प्रशस्तमतिप्रभृतयः—'सकलभुवनहेतुत्वादेवास्य सर्वज्ञत्वं सिद्धम्, कर्तुः कार्योपादानोपकरणप्रयोजनसम्प्रदानपरिज्ञानात् । इह हि यो यस्य कर्ता भवति स तस्योपादानादीनि जानीते, यथा कुलालः कुम्भादीनां कर्ता तदुपादानं मृत्पिण्डमुपकरणानि च चक्रादीनि प्रयोजनमुदकाहरणादि कुटुम्बिनं च सम्प्रदानं जानीत इत्येतत् प्रसिद्धम्, तथेश्वरः सकलभुवनानां कर्ता स तदुपादानानि परमाण्वादिलक्षणानि तदुपकरणानि धर्माधर्मदिक्कालादीनि व्यवहारोपकरणानि सामान्यविशेषसमवायलक्षणानि सम्प्रदानसंज्ञकांश्च पुरुषान् जानीते' इति । अतः सिद्धमस्य सर्वज्ञत्वमिति ।" इति कमलशीलरचितायां तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिकायाम्, पृ० ४३-४४ ॥ २ दृश्यतां पृ० ३४५ पं० १९ ॥ ३ °षः तद° प्र० ॥ ४ ज्ञानाभावात् प्र० ॥ ५ °त्येवश्यं प्र० ॥

तदेदं व्यामूढेव किम् उपभोगविभाजनानुग्रहक्रियया अतिगरीयस्या ? इति अत्यन्तपरवशत्वमैश्वर्यमुच्यते । अनुग्रहोऽपि विपर्ययेणोच्यते, दुःखहेतु-दुःखात्मकत्वाभ्याम्, विषकृतभोजनक्लेशनवत् । तत्सायोज्यगमनेऽप्येवम् ।

एवं च नतु साध्वेव यत्त्वाशङ्क्यते त्वया 'आद्यन्तवद् मध्येऽपि ईश्वरप्राधान्यादीश्वरवशादेव प्रवृत्तौ फलसङ्करप्रसङ्गः, तत्प्रसक्तौ क्रियाविलोपः, ततश्च सर्वनिर्मोक्षः सर्वानिर्मोक्षो वा [ ] इति ।

भाव्यते इति चेत्, उच्यते—यदा तदेदं व्यामूढैवेत्यादिर्भावनाग्रन्थः यावदुपभोगविभाजनानुग्रह- २४१२ क्रिययाऽतिगरीयस्या किमिति वर्तते ? तस्मिन् हि काले प्राणिनामधर्मवत् प्रवृत्तेरीश्वरस्यैव 'तेषां शरीराण्युत्पादयामि, धर्माधर्ममर्यादां प्रणयामि, तत्र प्रवर्तयामि, तत्फलैरनुबध्नामि, तान् प्राणिनः फलानुरूपमिष्टमनिष्टं चोपभोगं विभज्यानुगृह्णामि' इत्येवमादिका यानुग्रहक्रिया तयानुग्रहक्रियया क्लिश्यमानस्यानेकपुरुषस्त्रीनपुंसकजनसाधारणस्येव भृतकस्यातिक्लेशः । इति हेत्वर्थे, तस्मादतिक्लेशभावादत्यन्तपरवशत्वमेवैश्वर्यं शीतलिकापर्यायशब्दाभिधेयंलक्षणमुच्यते इति ।

किञ्चान्यत्, अनुग्रहोऽपि विपर्ययेणोच्यते अननुग्रह एव सन् 'अनुग्रह' इति । किं कारणम् ? दुःखहेतुदुःखात्मकत्वाभ्याम्, दुःखहेतुत्वादिष्टोपभोगस्य हिंसात्मनोऽर्जन-रक्षण-क्षय-सङ्गलोपैः दुःखात्मकत्वाच्च अनिष्टोपभोगस्य, दुःखात्मकत्वाच्चाननुग्रह एवासौ । दृष्टान्तः—विषकृतभोजनक्लेशनवत्, यथा कश्चित् क्रूरमूढनृपतिः स्वजनान् भृत्यान् विषमिश्रमाहारं भोजयन् 'अनुगृह्णामि च' इति ब्रूयात् तथा त्वदभिमतेश्वरोऽपीति । यथोक्तं 'दुःखमपि तद्वणमोक्षणवदनुग्रह एव' इति, एतदप्ययुक्तम्, संसारमोचकव्याधचण्डालादिमारितसत्त्वानुग्रहप्रसङ्गात् सत्त्वनिकायकल्मिषकलुषकृतारम्भोपनिपातनेन अज्ञानोघे सत्त्वानुग्रहवदज्ञानप्रसङ्गाच्च । तत्सायोज्यगमनेऽप्येवम्, ईश्वरेण किल सायोज्यं मोक्षः, स्वात्मना सायोज्यं गमयन्नप्यसौ प्राणिगणमतिक्लेशभाजनमेव करोति स्वेष्टसमारब्धेष्टेश्वरत्वस्योक्तलक्षणस्यामोक्षशब्दाभिधेयत्वादत्यैश्वर्येण मोक्षेण च तादृशा सदा सत्पुरुषव्यापारोद्वहनायामात्मना । तस्माद् परमात्माधीनयथेष्टचेष्ट- २४६१ दौःस्थ्यमपीति ।

एवं च तद् यत्त्वाशङ्क्यते त्वया आद्यन्तवदित्यादिना ग्रन्थेन 'विनेश्वरेण किं ते दोषाः' इत्याशङ्क्य सत्यपीश्वरेण तथैव भवन्तीति तद्दर्शयन्नाह—साध्वेवेत्यादि गतार्थं हेतुहेतुमद्भावप्रतिपादनक्रमेण यावत् तत्प्रसक्तौ क्रियाविलोपः । कुतः ? ईश्वरप्राधान्यादुक्तान्तरदोषवत्त्वेनेति धर्माधर्मक्रिया प्राणिनां न स्युः फलाभावादीश्वरवशादेव आद्यन्तमध्येषु फलसङ्करात् । ततश्च सर्वप्राणिनां निर्मोक्षः निर्दोषमोक्षस्य दर्शनात् सर्वानिर्मोक्षो वा 'मोक्ष' इति ।

---

1 तदेव व्यामु य । तदेद व्यामू भा ॥ २ 'क्रिया यानुग्रह भा० । क्रिया याऽनुग्रह' य० ॥ ३ स्यापितेरा य० ॥ ४ 'यहता य० । तथा तु शीते पिपीलिकोर्णनामयो ' इति हेमचन्द्रसूरयः ॥ ५ भृत्यान्न य ॥ ६ दृश्यतां पृ० २४१ पं० ६ ॥ ७ चाण्डाला य० ॥ ८ तनेनागाधे य० ॥ ९ दृश्यम य० । दृश्यतां पृ० २४२ पं० ११ । (टिप्पणं १) ॥ १० 'स्व मोक्ष' इत्यपि पाठोऽत्र स्यात् ॥ ११ साधवे य० ॥ १२ दृश्यतां पृ० २३८ पं० १ ॥ १३ अत्र प्रसक्त इत्यपि पाठः स्यात् ॥

यत्तु सर्वशास्त्रक्रियाविलोपपरिहारार्थं कर्माद्युपसर्जनतया ईश्वरप्राधान्यकारण्ये प्रोक्ते 'आदौ स एव स्वशक्तित एव साक्षाद् व्याप्रियते शरीराद्युत्पादने धर्माधर्ममर्यादां चोपदिशति, तदनु ध्यानात् पुण्यमुत्पाद्य धर्माधर्ममर्यादायाः परिपालकान् ब्रह्मादीनाधिकारिकान् विनियुङ्क्ते, अन्ते च धर्माधर्मौ संहृत्य शरीरादिवत् कुशलाकुशलाशयकलङ्कशुद्धं स्वापयति' । इदमन्यथैवोद्ग्राह्यते ईश्वरकर्मणोः प्रधानोपसर्जनभावाभ्युपगमाद् द्वैतम्, भाव्यते त्वन्यथा 'स एव स्वशक्तित एव' इत्यवधारणादद्वैतार्थभावनात् साक्षादेवाप्रयोजनेन कस्यचित् । एवंनियमनायेयमपि भावना – तदनु ध्यानात् पुण्यमुत्पाद्य इति । प्रत्युपसंह्रियते तु द्वैताद्वैते द्वे अपि त्यक्त्वा । अद्वैतस्य त्यागस्तावद् धर्माधर्ममर्यादास्थापनवचनेन । मर्यादा नाम अनतिक्रमस्थानम्, सुखदुःखप्रवृत्तिसीमा । ततश्च सर्गादौ स्थानाद्यात्मके सुखदुःखेऽपि न स्याताम्, अनियतविषयत्वात्, प्रलयवत् । अन्ते च स्याताम्, अनियत-

यत्तु सर्वशास्त्रेत्यादि । एतद्दोषपरिहारार्थं कर्माद्युपसर्जनतया ईश्वरप्राधान्यकारण्ये प्रोक्ते । कथम् ? इति तद् भावयत्युत्तरेण ग्रन्थेन – आदौ स एव स्वशक्तित एवेत्यादिना यावच्छरीरादिवत् कुशलाकुशलाशयकलङ्कशुद्धं स्वापयतीति गतार्थः पूर्वपक्षः । धर्माधर्ममर्यादायाः परिपालकान् ब्रह्मादीनाधिकारिकान् विनियुङ्क्ते इति विशेषः । अत्रोत्तरमाहाचार्यः – इदमन्यथैवोद्ग्राह्यते इत्यादि । अन्यथा तावत् प्रतिज्ञायते ईश्वरकर्मणोः प्रधानोपसर्जनभावाभ्युपगमाद् द्वैतम्, भाव्यते तु साध्यहेतुव्याख्यानं क्रियते अन्यथा । कथमिति चेत्, स एव स्वशक्तित एवान्यनिरपेक्ष इत्यवधारणादद्वैतार्थभावनात्, अदृष्टादीनां तच्छक्तीनां च स्वतो व्यतिरिक्तानां निरासेन साक्षादेवाप्रयोजनेन कस्यचित् कञ्चिदप्यन्यमप्रयोजयन् साक्षात् स्वशक्तित एव इत्यवधारयता चाद्वैतमेव भाव्यते भवता । पुनरप्याह – एवंनियमनायेति, अद्वैतनियमनायेयमपि भावना । कतमा सा भावना इति चेत्, तदनु ध्यानात् पुण्यमुत्पाद्य इत्येषाप्यद्वैतभावनैवेति । एवं तावत् प्रतिज्ञातं द्वैतम्, अद्वैतं भावितमित्युक्तम् ।

२८६ ० प्रत्युपसंह्रियते तु द्वैताद्वैते द्वे अपि त्यक्त्वेति प्रतिज्ञातभाविते द्वैताद्वैते अपि त्यक्त्वा । तत्राद्वैतस्य त्यागस्तावद् धर्माधर्ममर्यादास्थापनवचनेन कृत इति वाक्यशेषः । का मर्यादा ? उच्यते – मर्यादा नाम अनतिक्रमस्थानमिति मर्यादालक्षणमाह । विषयतस्तु सुखदुःखप्रवृत्तिसीमा, इयति विषये सुखमियति दुःखमिति धर्माधर्मयोः सीमनि स्वके स्वके व्यवस्थापनम्, धर्मस्य सुखप्रवृत्तिच्छेदेन अधर्मस्य दुःखप्रवृत्तिच्छेदेन 'अयमस्मादन्यः, अयमितरस्मादन्यः' इति सीमाविभागः । ततः किमिति चेत्, ततश्च सर्गादौ स्थानादीत्यादीति, स्थानविग्रहेन्द्रियविषयाः स्थानादयः, तदात्मके सुखदुःखेऽपि न स्याताम् । कस्मात् ? अनियतविषयत्वात्, अनियतौ हि विषयौ तदा सुखदुःखयोः अविद्यमानस्थानादित्वादविद्यमानधर्माधर्मत्वाच्च । दृष्टान्तः – प्रलयवत्, यथा प्रलये धर्माधर्माभावादेवानियतविषये सुखदुःखे, ततश्चासती, तद्वत् सर्गादावपि स्यातामिति । किञ्चान्यत्, अन्ते च स्याताम् 'सुखदुःखे' इति वर्तते । कुतः ?

१ दृश्यता प० ८ ॥ २ स्थाप° प्र० ॥ ३ इति शेषः य० ॥ ४ °दिवा° प्र० ॥ ५ किञ्चिद्° प्र० ॥ ६ धर्माभावा° प्र० ॥

विषयत्वाद् नियतविषयत्वाद्वा, मध्यवत्। मध्ये वा न स्याताम्, अन्तवत्।

अथोच्येत–अत एव न सुखादिप्रवर्तनात्मिका धर्माधर्ममर्यादा, किं तर्हि? धर्मोऽयमधर्मोऽयमिति। एतदपि तुल्यं पूर्वेण, असत्त्वात्। धारणाद्धानाद्वा धर्म इत्यर्थस्याभावे कथमसौ धर्मः, तद्विपर्ययो वा कथमधर्मः?

अथ तु तस्य रुचेरेव सुखं दुःखं वा ततो धर्माधर्ममर्यादावचनमनर्थकम्, सदैव ईश्वरशक्तिमात्रवशादेव यथा तथा यस्य कस्यचित् सिद्धेः, आद्यन्तवत्।

अनियतविषयत्वात्, विषयानियमोऽपि च रूपादिपञ्चकस्याभावादुपसंहरणकाले, मध्यकालवत्। अथवा नियतविपर्ययत्वात्, व्यवस्थापितधर्माधर्ममर्यादत्वात् सुखदुःखे तदा नियतविषये, तस्मात् तदापि २४७ १ स्याताम् मध्यमकालवत् सृष्ट्युत्तरकालवदित्यर्थः। तद्विपर्ययेण वा साधनम्–मध्ये वा न स्याताम् सुखदुःखे नियतविषयत्वादिति वर्तते, अन्तवदिति।

अथोच्येतेत्यादि यावद्धर्मोऽय[मधर्मोऽय]मिति। स्यान्मतम्–अत एवेश्वरस्यैव कारणत्वाद् न सुखादिप्रवर्तनात्मिका धर्माधर्ममर्यादा तत्समर्थनासमर्थेत्यर्थः, ईश्वरस्यैव सुखदुःखयोः प्रवर्तकत्वात्। यदि सा न प्रवर्तयति सुखदुःखे धर्माधर्ममर्यादा किमर्थमसौ तां व्यवस्थापयतीति चेत्, उच्यते, स्वरूपसंज्ञाव्यवस्थापनमसौ तयोर्लोकव्यवहारार्थं करोतीत्यत आह–किं तर्हि? अयं धर्मोऽयमधर्म इत्येतावदुपदेशेनेति। अत्राचार्य उत्तरमाह–एतदपि तुल्यं पूर्वेण, असत्त्वात्, सर्गादावन्तवच्च स्याताम् नियतविषयत्वात्, अन्ते च स्याताम् नियतविषयत्वाद्वा मध्यवत्, मध्ये वा न स्यातामन्तवदितीदमेव दोषजालं प्राप्तम्। किं कारणम्? धारणाद्धानाद्वा धर्म इति निरुक्तेर्यदि मर्यादा धारयति प्राणिनां सुखे चैतान् धत्ते ततो धर्म इत्येतस्यार्थस्याभावे कथमसौ धर्म उच्यते? तद्विपर्ययो वा कथमधर्म इति तद्विपरीतार्थाभावे? तस्मात् सुखस्थानादिधारणाद्धर्मः, सुखकारणं ह्यव्यभिचारि तदिष्यते, यस्याभावे यस्याभावो यस्य च भावे यस्य ध्रुवो भावस्तत् कारणमितरत् कार्यमिति कारणस्य धर्मस्य कार्यस्य च सुखस्याव्यभिचारात्। एवमधर्मेऽपि व्याख्या विपरीतार्था कार्या। तस्मादयुक्तम्–संज्ञाकरणमात्रेण मर्यादेति।

अथ त्वित्यादि। स्यान्मतम्–तस्येश्वरस्य रुचेरेवेच्छातः सुखं दुःखं वा न धारणधान- २४७ २ प्रवृत्त्यात्मकत्वाद्धर्मस्यान्यस्य वा कस्यचिदिति। अत्रोच्यते–धर्माधर्ममर्यादावचनमनर्थकम्, यदुक्तं प्रतिबुद्धानां प्राणिनां धर्माधर्ममर्यादामुपदिश्योत्तरकालं स्वमर्यादानुष्ठानानुरूप्येण इत्यादि तत् सर्वमनर्थकं संवृत्तम्। तत्साधनार्थं हेतुमाह सदृष्टान्तम्–सदैवेत्यादि यावद् यस्य कस्यचित् सिद्धेराद्यन्तवदिति। सर्गस्यादौ मध्येऽवसाने च सदैव सर्वकालमीश्वरशक्तिमात्रवशादेवान्यस्य कारणस्याभावेऽपि यथा तथा येन वा तेन वा प्रकारेण सुखस्य दुःखस्य वेष्टानिष्टशरीरादेरनियमेन यस्य कस्यचित् मारकस्याहिंसकस्य वा सिद्धेर्धर्माधर्माकारणत्वम्। तदकारणत्वादाद्यन्तवत् प्रथमावसानकालयोरिव तन्मर्यादावचनमनर्थकमिति। एवं तावदद्वैतत्यागः।

---

१ °वत्वात् य०। अत्र 'नियतविषयत्वात्' इत्यपि पाठः स्यात्, दृश्यतां प० १६॥ २ दृश्यतां पृ० ३४८ प १॥ ३ तस्यैव (वे?) श्वरस्य य०॥ ४ द्धमा° य०॥ ५ स्यातम्य वाक्यस्यवदिति प्र ॥ ६ दृश्यतां पृ० ३४१ प ४॥ ७ °नानुप्येण भा०। नानुप्येण य। अत्र नानुरूपेण इत्यपि पाठः स्यात्। दृश्यतां पृ ३४१ प० ५॥ ८ स्य हिंस य॥

तथा द्वैतमपि त्यक्तं साक्षाद्व्यापारवचनात्। साक्षाद्व्यापारो ह्यैश्वर्यम्, तस्मात् तदव्याहतवृत्तेः किं धर्मादिना, किमाधिकारिकैः ? अथ तैर्विना शक्तिर्व्याहन्यते तस्य तर्हि व्याहतशक्तित्वात्त्वेवमनीश्वरता इतरवत्।

ननु प्रधानोपसर्जनद्वैतप्रतिज्ञानात् तत्संवादेन भावनार्थं सर्गादौ साक्षाद्व्यापार उच्यते उपसर्जनेन विनापि प्रधानस्य प्रवृत्तिसद्भावात् चित्राचार्यस्येव शिष्येण विनापि तथाऽदृष्टाद्यभावेऽपीश्वरस्य। न, आदिकरस्य कर्तृत्वात्। अव्यज्यमानप्रकारव्यक्तिरादिः, आदानात्, आदित्योदयादित्ववत्। प्रयोजनपरमार्थत्वाद् भवितृत्वस्य।

न केवलमद्वैतत्याग एव, किं तर्हि ? **तथा द्वैतमपि त्यक्तम्।** कुतः ? **साक्षाद्व्यापारवचनादि**त्यादि यावत् **किमाधिकारिकै**रिति। **साक्षाद्व्यापारो ह्यैश्वर्यम्,** तद् व्याचष्टे—**तस्मात् तदव्याहतवृत्तेः** तस्य सर्वैः प्रकारैः सर्वकालं सर्वदेशे वाऽव्याहता वृत्तिरस्य, अतस्तदव्याहतवृत्तित्वात् **किं धर्मादिना ?** आदिग्रहणादधर्मेण किम् ? स्थानविग्रहेन्द्रियविषयैर्वा प्राणिनां सुखदुःखाश्रयैः प्राणिभिर्वा किं क्रियते ? न किञ्चिदित्यभिप्रायः। **किमाधिकारिकैः** ब्रह्ममनुविष्ण्वादिभिर्धर्माधर्ममर्यादापालनार्थं विनियुज्यमानैर्वेति। **अथ** मन्यसे **तैर्विना शक्तिर्व्याहन्यते तस्ये**श्वरस्य ततस्तर्ह्यस्य **व्याहतशक्तित्वात् त्वेवमनीश्वरता** कार्यान्तराशक्तेः श्रमाद्वा **इतरव**दिति पृथग्जनवदित्यर्थः।

२४८ १ **ननु प्रधानोपसर्जने**त्यादि यावत् **तथाऽदृष्टाद्यभावेऽपीश्वरस्ये**ति। आह—द्वैतमेवोद्ग्राहितं भाविनं प्रत्युपसंहृतं च, नान्यथोद्ग्राहभावनोपसंहाराः। कथम् ? प्रधानमुपसर्जनं च द्वैतं प्रतिज्ञातम्, तस्यैवार्थस्य **संवादेने**श्वरः प्रधानं न कर्मेत्येतद्भावनार्थं सर्गस्यादौ स्वशक्तितः स एव साक्षाद् व्याप्रियते इत्युच्यते। कस्मात् ? **उपसर्जनेन विनापि प्रधानस्य प्रवृत्तिसद्भावात् चित्राचार्यस्येव शिष्येण विनापी**ति। यथा शिष्यमप्रधानं ग्राहयित्वा चित्रकर्माग्राहयित्वा वा प्रायेण तेन विना सह वा चित्रकर्मणि चित्रकराचार्यः प्रवर्तत एव स्वप्राधान्यात् सन्निध्यसन्निध्योरपि शिष्यस्य प्रवर्तकत्वादेवमीश्वरोऽप्यदृष्टादिसन्निध्यसन्निध्योः प्रवर्तते प्रधानत्वादिति भाव्यत्वादुद्ग्राहितद्वैतानुरूपभावनोपसंहारात्मकत्वाद् न कश्चिद्दोष इति।

एतच्च **न, आदिकरस्य कर्तृत्वात्।** आदिं करोत्यादिकरः, स एव च कर्ता, तस्यैव कर्तृत्वात्। कोऽसावादिरिति चेत्, उच्यते—**अव्यज्यमानप्रकारव्यक्तिरादिः,** सत एवार्थस्याव्यक्तस्य केनचित् प्रकारेण व्यक्तिरादिः। **कुतः ? आदाना**दिति 'आदानमादिः' इत्यक्षरार्थनिरुक्तिमाह हेतुं दृष्टान्तं च **आदित्योदयादित्ववदि**ति, यथा आदित्यस्योदयमध्याह्नास्तमयत्वप्रकारेण दिवसविभागानां विद्यमानानां व्यक्तिरेवं तत्र। **प्रयोजनपरमार्थत्वाद् भवितृत्वस्य,** यः प्रयोजयति परमार्थतः स कर्ता भविता

---

१ तद्व्यावृत्ते प्र० ॥ २ °णाधर्मेण प्र० ॥ ३ प्रत्युसंहृतं प्र० ॥ ४ °न उप° प्र० ॥ ५ दृश्यता पृ० ३४४ प० २ ॥ ६ °र्म ग्राहयित्वा वा प्राणेयं तेन प्र० ॥ ७ °दिति भाव्यत्वादिति भाव्यत्वा° प्र० ॥ ८ (करोतीत्या°?) ॥

आदिकरत्वं च यथा व्रीहौ सम्भाव्यते, अव्रीहेर्मृदादेर्व्रीहित्वेन आदिकरत्वात्। तथा प्राक् पृथिव्यादीनामप्यादिकरत्वं पश्चादपि तथा, तदादित्वाद् व्रीहेः तथाभिव्यक्तेः तत्प्रयुक्तत्वात्। कस्मात् पृथिव्येव न भूतो व्रीहिः ? को वा ब्रवीति पृथिवी न भूत उदकादिश्च व्रीहिरिति व्रीह्यादि वा पृथिव्यादि न भूतमिति, तत्प्रयुक्तत्वात् ? इतश्चेतश्च तदात्मकत्वात् तदव्यतिरिक्तत्वात् तत् तदेव।

भूकृत्वो सर्वधात्वर्थत्वात्, न प्रयोज्य, इत्यस्मात् कारणाद् य आदिकरः स कर्ता, यश्च कर्ता स भवति, भूकृत्वो सर्वधात्वर्थव्यापित्वात्। एतदुक्तं भवति–यतः प्रकारान्तरेणाभिव्यञ्जयन्[1] भावान्तरस्यादिकरत्वाद् ३४८ २ भवति वस्तु तत एकैकस्य सर्वत्वम्, न सर्वस्यैकत्वं परस्परापेक्षाभिव्यञ्जनेनादिकरत्वादिति।

अस्मिंश्चार्थे व्यापकं दृष्टान्तमाह स्फुटीकरणार्थम्–**आदिकरत्वं च यथा व्रीहौ सम्भाव्यत** इति। तद्व्याख्या–**अव्रीहेर्मृदादेर्व्रीहित्वेनादिकरत्वादिति**, मृत्सलिलवाताकाशानामव्रीहीणां व्रीहिप्रकारेणाभिव्यक्तिं कुर्वन् व्रीहिरादिकरः, एतमर्थं हेतुत्वेन व्यापारयति सिद्धं कृत्वा पञ्चम्या **व्रीहित्वेनादिकरत्वादिति**[2]। **तथा प्रागित्यादि**, एवं च कृत्वा व्रीहित्वात् **प्रागपि पृथिव्युदकवाय्वाकाशानामप्यादिकरत्वं पश्चादपि** तेन प्रकारेण **तथा** व्रीहिनिर्देश, **तदादित्वाद् व्रीहेः**, ते आदिः पृथिव्यादयो व्रीहेः प्राक् पश्चाच्चेति तेषामादिकरत्वम् तेन प्रकारेणा**भिव्यक्तेः**। किञ्चान्यत्, **तत्प्रयुक्तत्वाद् व्रीहेः**, ते ह्यस्य प्रयोक्तारः, यो यस्य प्रयोक्ता स तस्य कर्ता यथा आदित्योदयाग्निन्यैर्मि[3]त्यत आह–तत्प्रयुक्तो व्रीहिः।

कस्मात् पृथिव्येव न भूतो व्रीहिः, पृथिव्येव उदकमेव वायुरेव वा आकाशमेव वा, तत्प्रयुक्तत्वात् आग्निकरत्वादादित्योदयाग्निवत् ? इति। अत्रोच्यते–**को वा ब्रवीति–पृथिवी न भूत उदकादिश्च व्रीहिरिति** तत्प्रयुक्तत्वात् **व्रीह्यादि वा पृथिव्यादि न भूतमिति तत्प्रयुक्तत्वात् ?** व्रीहिरपि पृथिव्युदकवाय्वाकाशादि भवति, पृथिव्युदकवाय्वाकाशाद्यपि च व्रीहिमाषाम्रनम्बादि भवति, तत्कृताहारोऽपि पृथिव्यादि व्रीह्यादि, पृथिव्याद्यपि तत्कृताहारः, तत्कृताहारशरीरेन्द्रियबुद्ध्यादि तत्कृतमनुष्यतिर्यङ्नारकदेवादि च, तत्कृताहारव्रीहिपृथिव्यादि च तत्कृताहारशरीरेन्द्रियबुद्धिमनुष्यादि सर्वं परस्परतः सर्वात्मकं भवति, ३४९ १ तत्प्रयुक्तत्वात् तथाभिव्यक्तेस्तदादिकरत्वा[4]दित्यादिहेतुभिः। कियद्वोदाह्रियते ? न्यायस्यास्य व्यापित्वात् सर्वं तदुदाहरणमेव। दिग्मात्रप्रदर्शनार्थं [तद्व्यापित्वप्रदर्शनार्थं] चाह–**इतश्चेतश्चेति**, यदि व्रीहितो व्रीहेरादिकरत्वम् अथ पृथिव्यादित्वं[5] पृथिव्यादेरादिकरत्वमिति तान्येवोदाहरणानि। एवं तत्कृताहारशरीरेन्द्रियादिष्वपि द्रष्टव्यम्, सर्वस्यैकैकस्य सर्वात्मकत्वात्। तत आह–**तदात्मकत्वात् तदव्यतिरिक्तत्वात् तत्**[6][7] **तदेवेति** तस्य तस्य प्रकारस्य हेतुत्वं दृष्टान्तत्वं चेति।

---

१ °ञ्जयन् भवान्त भा। °ञ्जयन्भवान्त य०। २ नान्तिति तथा प्र०॥ ३ मित्यत्त आह प्र०॥ ४ (पृथिव्यादेः ?)॥ ५ °मेवा तत्प्र° य। °मेव तत्प्र भा॥ ६ ततत्प्र भा०॥ ७ °रत्यादिहेतुभि प्र॥ ८ [ ] एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठो य प्रतिषु नास्ति॥

पुरुषकर्मस्वप्येवमेव । पुरुषः कर्मयोग्यानां पुद्गलानां कर्मत्वेन आदिकरः, तथाविशेषोपयोगगतेः प्रयोजनपरमार्थत्वाद् भवितृत्वस्य । तदपि च कर्म आदिकरम्, बाह्यमपि घटादि आदिकरम् ।

एवं दृष्टान्तभूतं प्रस्तुतन्यायप्रसाधितं सर्वसर्वात्मकवादं प्रथयित्वा दार्ष्टान्तिकं पुरुषकर्मवादमीश्वरकारणनिराकरणायाह — **पुरुषकर्मस्वप्येवमेवे**त्यादि । **पुरुषः** कर्ता **कर्मयोग्यानां पुद्गलानां कर्मत्वेन आदिकरः** । [1]के कर्मयोग्याः पुद्गलाः ? उच्यते — परमाणुवर्गणा अग्रहणवर्गणा, अग्रहणवर्गणा द्विप्रदेशवर्गणा, एवं दशप्रदेशादिसङ्ख्येयप्रदेशवर्गणाः । समानजातीयानामेकशो बुद्ध्यावस्थापितानां पिण्डो वर्गणा, [2]कुचिकर्णकासीरसवर्णगोपिण्डवत् । अनन्तप्रदेशवर्गणा अपि काश्चिद् ग्रहणयोग्याः काश्चिदग्रहणयोग्याः । ग्रहणयोग्यायोग्यत्वं चातिस्थूलसूक्ष्मायोग्यत्वात् [3]खेदेनेव परमाणुशर्कराणां, योग्यत्वाच्च मध्यमपरिमाणानाम् । तत्र या ग्रहणयोग्याः पुद्गलतो वर्गणाः [4]ताश्च मानेन सिद्धानामनन्ततमभागः अभव्यसिद्धीनामनन्तगुणाः । एष तावदौदारिकयोग्यस्य जघन्यस्य विधिः । तदुपर्येकपरमाणौ प्रक्षिप्ते द्वितीयाप्यौदारिकयोग्या एवमेकैक-
२४९-२ वृद्धान्यनन्तानन्तानि स्थानानि [5]औदारिककारणत्वेन ग्रहणयोग्यानि । जघन्यादुत्कर्षस्थानमसङ्ख्येयगुणम्, अस्मात् परस्परोपनिधया प्रथमस्थानादारभ्यानन्त[6]र्स्थानेषु तेषु तेषु द्विगुणता भवति तस्मादसङ्ख्यगुणं सङ्ख्येयगुणं वा, अनन्तरोपनिधया तु रूपाधिकमेव । तस्मिन्नुत्कृष्टौदारिकयोग्यद्रव्ये रूपे प्रक्षिप्ते जघन्यं वैक्रियशरीरस्याग्रहणयोग्यम् । एवं रूपाधिकवृद्ध्या तान्यप्यनन्तानन्तानि स्थानानि पूर्ववत्, जघन्यादुत्कृष्टमसङ्ख्येयगुणम, को गुणकारः ? श्रेण्यसङ्ख्यतमभागः । तेषामग्रहणानामुपरि वैक्रियस्य जघन्यं ग्रहणयोग्यम् । तान्यपि

---

१ **के कर्मयोग्याः पुद्गलाः उच्यते** भा० । **कर्मयोग्याः पुद्गला उच्यन्ते** य० ॥ २ "कुड्यण्णगोविसेसोवलक्खणोवम्मओ विणेयाणं । दव्वाइवग्गणाहि पोग्गलकायं पर्यसेंति ॥ ६३२ ॥ आह — किमर्थं पुनरेता वर्गणा प्ररूप्यन्ते ? उच्यते — कुचिकर्णस्य गोमण्डलाधिपतेर्गोवस्तारां परस्पर विशेषस्य यदुपलक्षण परिज्ञान तदौपम्यात् तद्दृष्टान्ताद् विनेयानामसमोहार्थं द्रव्यादिवर्गणाभि, आदिशब्दात् क्षेत्रवर्गणाभि कालवर्गणाभि भाववर्गणाभिश्च समस्तमपि पुद्गलास्तिकायं विभज्य तीर्थङ्करगणधरादय प्रदर्शयन्ति इति गाथाक्षरार्थ । अथ भावार्थ उच्यते — इह भरतक्षेत्रे मगधजनपदे प्रभूतगोमण्डलस्वामी कुचिकर्णो नाम गृहपतिरासीत् । स च तासां गवामतिबहुत्वात् सहस्रादिसङ्ख्यापरिमिताना पृथक् पृथगनुपालनार्थं प्रभूतान् गोपालाश्चक्रे । ते च तासु परस्पर मीलितासु गोषु आत्मीया आत्मीयाः सम्यगजानन्त सन्तो नित्यं कलहमकार्षु । ताश्च तथान्योन्यं विवदमानानुपलभ्यासौ तेषामव्यामोहार्थं कलहव्यवच्छित्तये शुक्लकृष्णरक्तकर्बुरादिभेदभिन्नाना गवा प्रतिगोपालं सजातीयगोसमुदायरूपा भिन्ना वर्गणा व्यवस्थापितवानिति एष दृष्टान्त । अथोपनय उच्यते — इह गोमण्डलप्रभुकल्पस्तीर्थकरो गोपतुल्येभ्य स्वशिष्येभ्यो गोसमूहसमान पुद्गलास्तिकाय तदसमोहार्थं परमाण्वादिवर्गणादिविभागेन निरूपितवानिति ।" इति श्रीमलधारिहेमचन्द्रसूरिविरचिताया **विशेषावश्यकभाष्यटीकायाम्**, पृ० ३२८ । "ग्रामः सुघोषो नामाभून्मध्ये मगधनीवृत । कुचिकर्णाभिधानश्च ग्रामणीस्तत्र विश्रुत ॥ १ ॥ गवा शतसहस्राणि तस्य सजज्ञिरे क्रमात् । बिन्दुना बिन्दुना हन्त भ्रियते हि सरोवरम् ॥ २ ॥ गोपालाना पालनाय सोऽर्पयामास गास्तत । भव्या मम न ते भव्या इत्ययुध्यन्त ते बहि ॥ ३ ॥ कुचिकर्णो विभज्यैता आर्पयत् कस्यचित् सिता । कृष्णा कस्यापि कस्यापि रक्ता पीताश्च कस्यचित् ॥ ४ ॥ पृथक् पृथगरण्येषु गोकुलानि न्यवेशयत् । भुञ्जानो दधिपयसी सोऽवसत् तेषु च क्रमात् ॥ ५ ॥ अन्वह वर्धयामास गोष्ठे गोष्ठे स गोधनम् । अतृप्तो दधिपयसो सुराया इव दुर्मद ॥ ६ ॥ तस्याभवद्यथाजीर्णमवऊर्ध्वसरद्रसम् । प्रदीपनान्त पतितस्येव दाहो महानभूत् ॥ ७ ॥ हा धेनवो हा नवतर्णकाश्च हा शाक्करा. व क कदा च लप्स्ये । स गोधनैरेवमतृप्त एव मृत्वाय तिर्यग्गतिमाससाद ॥ ८ ॥" इति कलिकालसर्वज्ञहेमचन्द्रसूरिविरचिताया स्वोपज्ञयोगशास्त्रवृत्तौ २।११२ ॥ ३ **खेदोरेव** प्र० ॥ ४ **तश्च** प्र० ॥ ५ **औदारिककारत्वेन** प्र० । अत्र **औदारिकशरीरत्वेन** इत्यपि पाठ स्यात् ॥ ६ **°स्थानेषु तेषु द्वि°** य० ॥

स्थानानि पूर्ववदनन्तानन्तानि । पुनराहारकाग्रहणानि, तथा तदुपरि तद्ग्रहणयोग्यानि तथैव । औदारिकशरीरयोग्येभ्यो वैक्रियशरीरयोग्यान्यनन्तगुणानि, ततोऽप्यनन्तगुणान्याहारकयोग्यानि, तावदग्रहणेयगुणानि अग्रहणाग्रहणानि पूर्वस्मात् पूर्वस्मात् । तदुपर्याहारकोत्कृष्टे रूपे प्रक्षिप्ते जघन्यमग्रहणं तैजसस्य, जघन्यादुत्कृष्टमनन्तगुणम्, को गुणकार ? अभव्येभ्योऽनन्तगुणः सिद्धानामनन्ततमभागः । तदुपरि रूपाधिके तैजसशरीरयोग्य [जघन्यम्] । जघन्यादुत्कृष्टमनन्तगुणम् को गुणकार ? सिद्धानामनन्ततमभागोऽभव्येभ्योऽनन्तगुणः । अनेन विधिनोत्तरेषां भाषाप्राणापानमनःकर्मयोग्यानामग्रहणान्तरितानां भाषाणामुत्तरोत्तरानन्तगुणत्वमेव । अन्तरं तु भाषाणां जघन्यादुत्कृष्टो विशेषाधिकः सर्वत्र, को विशेष ? तस्यैवानन्तभागः । अग्रहणानां तु जघन्यादुत्कृष्टोऽनन्तगुणः, को गुणकार ? सिद्धानामनन्ततमभागः अभव्येभ्योऽनन्तगुणः । एव- २५०-१
विधे पुद्गले सर्वत्र लोकेऽवगाढावगाढनिचिते कर्मतया परिणमय्य तद्योग्यान् कायवाङ्मनःकर्मलक्षणानां प्रयोगाणां योग्यानां काययोगेन गृह्णाति तेनैव कर्मशरीरतया परिणमयति पुरुषः स्ववीर्येण योगाख्येन, वाङ्मनःप्राणापानतया परिणमय्य काययोगेनैव योऽवलम्ब्य प्राणापानतयालम्ब्य विसृजति । यथोक्तम्—

> 'जोगेहिं तदणुरूवं परिणमयति गेण्हिऊण पञ्चतणू ।
> पाउग्गे चालंबति भासाणमणत्तणे खंधे' ॥ [कम्म० गा० १०]

त्य

> मनसा वाचा कायेन वापि युक्तस्य वीर्यपरिणामः ।
> जीवस्यात्मनि यस्तु स योगसंज्ञो जिनैर्दिष्टः ॥ [ ]
> तैजोयोगाद् यद्वद् रक्ताद्यादिघटस्य परिणामः ।
> जीवकरणप्रयोगे वीर्यमपि तथात्मपरिणामः ॥ [ ] इति ।

किं कारणम् ? तथाविधोपयोगगतेः, कायवाङ्मनोयोग्यपरिणामापन्नपुद्गलद्रव्यग्रहणपरिणतकर्मयोगपरिणामापत्तेः पुद्गलवत् । यथोक्तम्—

> ऊष्मगुणः सन् दीपः स्नेहं वर्त्या यथा समादत्ते ।
> आदाय शरीरतया परिणमयति चापि तं स्नेहम् ॥ [ ]

---

१ °वगाढनिचिते स० ... टी० । वगाढ(?) गाढनिचिते ... ॥ २ कर्मणाद्य ... ॥ ३ पाठ्नसप्राणा ... ॥ ४ जोगेहिं य० ॥ ५ ... [illegible]

यथा चात्मनि अकर्मणां कर्मत्वेन आदिकरत्वं तथा कर्मणामपि आत्मन आदिकरत्वं तथाविधयोगे: तत्प्रयुक्तत्वात्। कस्मात् आत्मैव न कर्मभूतः? को वा ब्रवीति न कर्मभूतोऽसौ कर्माणि चात्मभूतानि नेति तथाविधोपयोगगतेस्तत्प्रयुक्तत्वात्........। अन्योन्यकारितादिकरत्वात् कर्मकर्मिणोः सर्वसर्वात्मकता अचेतनज्ञानावरण........पालनपूरणपुरुपत्वात्।

तद्वद् रागादिगुणः स[1] योगवर्त्याऽऽत्मदीप आदत्ते।
स्कन्धानादाय तथा परिणमयति तांश्च कर्मतया॥ [ ]
[2]स्नेहाभ्यक्तस्याङ्गे लगत्येव रजो मलीभवत्यपि वा।
रागद्वेषस्नेहाभ्यक्तस्य तथा भवति कर्म॥ [ ]
रूक्षयति रुष्यतो ननु वक्रं स्निह्यति च रज्यतः पुंसः।
[3]औदारिकोऽपि ननु भाववशात् परिणमति देहोऽयम्॥ [ ]

२५०-२ तस्मादात्मा कर्ता करणयुक्तः कर्मत्वेन आदिकरः, पूर्ववत् प्रयोजनपरमार्थत्वाद् भवितृत्वस्य। किमात्मैवादिकरः? नेत्युच्यते. तदपि च कर्म आदिकरम्, तदपि च ज्ञानावरणादिकर्म ग्रहणयोग्यमौदारिकादिशरीरभेदादिविपाक पुद्गलः, किं भवति? नरनरकदेवतिर्यग्गतिसद्म्हभवनवास्यादिनेकप्रभेदसर्वात्मशरीराणां तत्तत्स्वरूपात्मनां चादिकर भवति। यथोक्तम्—

[7]जीवपरिणामहेतू कम्मतया पोग्गला परिणमंति।
पोग्गलकम्मणिमित्तं जीवो वि तहेव परिणमंति॥ [ ] इति।

न केवलमाध्यात्मिककर्मैवादिकरम्, किं तर्हि? बाह्यमपि घंटादि [आदि]करं सर्वादिकरम्।

विपर्ययेणापि भावयितुकाम आह—यथा चात्मनि अकर्मणामित्यादि पूर्ववत् सचोद्यपरिहारं गतार्थं यावत् को वा ब्रवीति न कर्मभूतोऽसौ कर्माणि चात्मभूतानि नेति तथाविधोपयोगगतेस्तत्प्रयुक्तत्वादित्यादिभिर्हेतुभिः। तस्मात् सर्वसर्वात्मकत्वात् कोऽन्य ईश्वरः? का वान्या प्रकृतिः? इति।

इतश्च अन्योन्यकारितादिकरत्वात् कर्मकर्मिणोः सर्वसर्वात्मकतेति। कारणमाह—अचेतनज्ञानावरणेत्यादि, अचेतनानि ज्ञानदर्शनावरणवेद्यमोहायुर्नामगोत्रान्तरायाख्यानि सप्रभेदानि कर्माणि उत्कृष्टात्मकान्यत्युदीर्णान्यप्यात्मनोऽक्षरानन्ततमभागमुपयोगस्वाभाव्याद् नावृण्वन्ति, शेषं केषाञ्चिदावृण्वन्ति एकेन्द्रियनिगोदसूक्ष्मापर्याप्तकादीनाम्, कर्मणां क्षयोपशमवैचित्र्यात्।

---

१ "स्वयोगवर्ती" इति सिद्धसेनसूरिभिस्तत्त्वार्थसूत्रटीकायामुद्धृतायामस्या कारिकाया पाठ, अ० ५, पृ० ३४३॥ २ "स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम्। रागद्वेषक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवम्॥ ५५॥" इति प्रशमरतौ॥ ३ "औदारिकोऽपि देहो भाववशात् परिणमत्येवम्।" इति मलयगिरिसूरिभिरुद्धृतायामस्या कारिकाया पाठः प्रज्ञापनासूत्रवृत्तौ, पृ० ४५५॥ ४ दृश्यता पृ० ३४६ प० ७॥ ५ पुद्गल प्र०॥ ६ °स्यादिनैक° प्र०॥ ७ "जीवपरिणामहेउं कम्मत्ता पोग्गला परिणमति।" इति मलयगिरिसूरिभि प्रज्ञापनासूत्रवृत्तावुद्धृतायामस्या कारिकाया पाठ, पृ० ४५५॥ ८ °मंतीति य०। °मन्तीति भा०॥ ९ 'घटादिक सर्वादिकरम्' इत्यपि पाठोऽत्र स्यात्॥ १० (चात्म°?)॥ ११ °पभोग° प्र०॥ १२ °तादिकरतादिकरत्वात् य०॥

अथैव नेष्यते ततो नैवात्मा बध्येत कर्मणा तत्फलभूतैश्च तन्वादिभिर्न युज्येत विकर्मत्वाद् मुक्तवत्। प्रकृतीश्वरादिसृष्टिवशादेव न बध्येत न युज्येत च तन्वादिभिः, अमूर्तत्वात्, आकाशवत्।

सव्वजीवाण पि य ण अक्खरस्स अणंततमो भागो णिच्चुग्घाडितओ। २५१
तं पि जदि आवरिज्जेज्ज तेण जीवो अजीवत्तं पावे।
सुट्ठु वि मेहसमुदए होइ पभा चंदसूराणं ॥ [नन्दीसू० ४२]

तथा स्वल्पं रजो हि कलुषं च नभः करोति राहुर्गृणोति शशिनं बलवांश्च सोमः।
पङ्को विनाशयति वारिगुणप्रहर्षिं दोषा मुहूर्तरभसा बलवान् स्वभावः ॥ [ ]

तस्मात् कर्मकर्मिणोरन्योन्यादिकरत्वम्। केवलिनस्तु विगतसर्वावरणविघ्नमोहत्वाद् यद्यप्युपयोगावरणाभावात् तथाविधोपयोगगतिरसिद्धा तथापि वेद्यायुर्नामगोत्रकर्मचतुष्कतत्प्रयुक्तत्वादिहेतुसद्भावादन्योन्यादिकरत्वं सिद्धम्। सिद्धानां तु कर्मनिर्मुक्ताव्याबाधपारिणामिकपरमसुखक्षायिकसम्यक्त्वज्ञानदर्शनवीर्यलब्ध्यादीनां चादिकरत्वम्। नन्वात्मपुद्गलैक्यापत्तिवचनादेव वा भेदप्रतीतेः स्ववचनविरोध इति। एतन्न, कस्मात्, **पालनपूरणपुरुषत्वात्**, पृ पालनपूरणयोः [पा० धा० १०८६], पालयति सुखदुःखादिविपाकांस्तांस्तान् पुद्गलानात्मभावेनेति पाल्यते तैस्तथाविधोपयोगात्मेति वा पुरुषः, पूरयति तांस्तैः पूर्यत इति वा पुरुषः। पुमांसं गिलति पुमान् वा गिल्यत इति पुद्गलः, पूरणाद् गलनाद् वा पुद्गल इति निरुक्तिभेदेऽप्यर्थैक्यात् पुरुषपुद्गलशब्दयोरिन्द्रशक्रशब्दवदेकार्थत्वाददोषः।

अथैव नेष्यते यथा मयोक्तं कर्मकर्मिणोरन्योन्यादिकरत्वं यदि न स्यात् ईश्वरवशात्, स्वभावादेः प्रकृत्यादेर्वा कुतश्चित् संसारवैचित्र्यं स्यादितीष्यते **ततो नैवात्मा बध्येत कर्मणा** संसारबीजभूतेन शुभाशुभेन, ततश्च **तत्फलभूतैः** शरीरेन्द्रियस्थानविषयैः शुभाशुभैर्न **युज्येत विकर्मत्वाद् मुक्तवत्।**

---

१ 'णाणं तु अक्खरं जेण खरति ण कयाइ तं तु जीवातो। तस्स उ अणंतभागो न वरिज्जति सव्वजीवाणं ॥ ७२ ॥ येन कारणेन न कदाचिदपि तद् ज्ञानं जीवात् क्षरति अपगमुपयाति तेन कारणेन ज्ञानमक्षरमुच्यते। कथमेतदवसीयते 'न कदाचिदपि ज्ञानं जीवात् क्षरति' इति? अत आह—तस्य अक्षरस्य अनन्तभागोऽतिप्रबलेनापि ज्ञानावरणोदयेन संसारस्थानां सर्वजीवानां नाव्रियते। उक्तञ्च— सव्वजीवाण पि य अक्खरस्स अणंतो भागो णिच्चुग्घाडिओ' [नन्दीसू० ४२] इति। नित्योद्घाटो नाम नित्यापावृत ॥ ७२ ॥ केन पुनराच्छाद्यते येन ज्ञानस्यानन्तभागो नित्यापावृत? इत्याह—एक्केक्को जियदसो नाणावरणस्स हुंतऽणंतेहिं। अविभागेहाऽऽवरिओ सव्वजियाणं जिणे मोत्तुं ॥ ७३ ॥ जिनान् केवलज्ञानिनो मुक्त्वा शेषाणां सर्वजीवानामेकैको जीवप्रदेशो ज्ञानावरणीयस्य कर्मणोऽनन्तैः 'अविभागैः' अविभागपरिच्छेदैः यतः ततोऽप्यधो विभागं कर्तुं न शक्यते तेऽविभागपरिच्छेदाः तैरावृत ॥ ७३ ॥ यद्येवं कथमनन्तभागो ज्ञानस्य नित्यापावृत? इत्याह—जति पुण सो वि वरिज्जेज्ज तेण जीवो अजीवयं गच्छे। सुट्ठु वि मेहसमुदए होति पभा चंदसूराणं ॥ ७४ ॥ यथा सुष्ठु अतिशयेनापि मेघसमुदये जाते तथास्वभावत्वात् चन्द्रसूर्याणां प्रभा भवति तथा प्रत्यक्षत उपलब्धेः, एवमेकैकस्य जीवप्रदेशस्य अनन्तैर्ज्ञानावरणाविभागपरिच्छेदैरावरणेऽपि तथास्वभावत्वाद् ज्ञानस्यानन्तभागो नित्योद्घाटित एव। यदि पुनः सोऽप्याव्रियेत ततः एकान्तेनो निश्चितं स्याज्जीव अजीवतां गच्छेत् अजीवो भूयात् पटवत् ॥ ७४ ॥' इति मलयगिरिसूरिविरचितायां बृहत्कल्पभाष्यवृत्तौ ॥
२ जवि आय भा० । जति याय य० ॥ ३ ॥ ४ वि० विना वारिगुणावरर्हिं । वारिगुणाप्रहर्षि वि० । (वारि, गुणप्रहृष्टि?) ॥ य० ॥ ६ यादि प्र० ॥
प्र० ॥ ८ पुद्गला भ० ॥ ९ पुद्गला प्र० ॥ १० प्र० ॥

यदि त्वदृष्टाभावेऽप्यसार्वीश्वरस्ततस्ते मुक्तानामपि तन्वादीनि असौ कुर्यात्, ईश्वरत्वात्, सर्गादिवत्।

अत एव च सम्भूयकारित्वाचेतनत्वस्थित्वाप्रवृत्तीनामपक्षधर्मता।

एवं च कृत्वा तदपि सर्वमसम्बद्धं यत् कर्मकारणैकान्तिन आहुः। त इत्थमाहुः–यदि प्रवर्तयितृत्वात् पुरुषकारः कारणं स्यात् ततः प्रधानमध्यमा-

---

२५१-२ मुक्तो वा बध्येत, तत एव, तद्वत्। स्यान्मतं [२]मुक्तामुक्तविकल्पसम्भव एव परमार्थतः सृष्टिवशव्यवस्थानादिति। तदपि नोपपद्यते, प्रकृतीश्वरादिसृष्टिवशादेव न बध्येत तनुकरणादिभिः, न युज्येत भुवनेन च, अमूर्तत्वादाकाशवत्। आकाशं वा बध्येत युज्येत च तन्वादिभिः, तत एव, त्वदभिमतपुरुष इव। अनिष्टं चैवमादि भवत इति।

किञ्चान्यत्, यदि त्वदृष्टाभावेऽपीत्यादि। मया तावदित्थमदृष्टाख्यकर्मत्वापन्नसर्वपुरुषेश्वरत्वमुक्तं तस्य तस्य तन्वाद्यादिकरत्वात्। [३]तन्न चेदित्थमादिकरत्वमिच्छसि ततोऽपि त्वदनुवृत्त्याभ्युपगतेऽप्यदृष्टाख्यकर्माभावेऽपि मया दोष उच्यते–असार्वीश्वरस्ततस्ते मुक्तानामपि अभूततथाविधहे[४]तूनामकर्मणां तनुकरणानि भुवनानि चासौ कुर्यात्, ईश्वरत्वात्, सर्गादिवत्। तथा प्रलयकालेऽपि सर्वेषां कुर्यात्, तत [५]एव, तद्वत्। मध्ये वा न कुर्यात्, ईश्वरत्वात्, प्रलयकालवत्। अनिष्टं चैतत्। अस्माभिरिष्टात् कर्मात्मैक्यात् सर्वसर्वात्मकत्वात् सर्वेश्वरता।

अत एव चेत्यादि। कर्मात्मैक्यसर्वेश्वरत्वाभ्याम्, अणव एव कर्म, [६]त एव सुखादयः। तस्माददृष्टात् सृष्टिः, प्रधानात् सृष्टिः पृथगणुभ्योऽदृष्टचोदितेभ्यो वा सृष्टिः इति वादान्तरपरिकल्पं त्यक्त्वा अस्मदुक्तकर्मात्मैक्यसर्वसर्वात्मकसर्वेश्वरत्वाभ्युपगमोऽवश्यम्भावी। तस्मात् त्वयोक्तसम्भूयकारित्वाचेतनत्वस्थित्वा-
२५२-१ प्रवृत्तीनामपक्षधर्मता। एकत्वात् कस्य द्वितीयस्य केन सह सम्भूयैककार्थकारिता? किं तदचेतनं चेतनात् पृथग्भूतम्? सततसम्प्रवृत्तपूरण-पालन-गलन-पुंगरणादिधर्मत्वाच्च का स्थित्वा प्रवृत्तिः? इत्यसिद्धार्थत्वाद् विशिष्टचेतनाधिष्ठितत्वं तन्वादीनां न साधयितुमलमिति। यदपि विशेष्योक्तं [७]मिथः प्रत्यनीकसम्भूयैककार्यकारित्वादिति तदसत्त्वं तु पूर्वोक्तमेव णिर्च्छयतो सव्वलहुमित्यादिगाथया। तस्मान्नेश्वरपूर्विका सृष्टिः, किन्तु [९]अनेकेश्वरपूर्विकेति विज्ञेया।

एवं च कृत्वेत्यादि। अनेनैकान्तेश्वरपूर्वकवाददोषप्रकाशनेन कर्मैकान्तवाददोषप्रकाशनमपि कृतं वेदितव्यमसम्बद्धत्वात् तस्य कर्मैकान्तवादस्य। कथं पुनस्ते कर्मैकान्तवादिन आहुः? कथं वा तदसम्बन्धः? इत्यतस्तत्प्रदर्शनार्थं तावत् पुरुषकारं निराकुर्वन्तः कर्म समर्थयन्तः त इत्थमाहुरिति तदुपपत्तीर्दर्शयति, यथा–यदि प्रवर्तयितृत्वात् पुरुष[कारः] कारणं स्यादिति पुरुषकार एव कारणं न कर्मापीति चेन्मन्यसे इत्येकान्तं सूचयति तत इदमनिष्टं पुरुषकारकारणैकान्तिनस्ते प्राप्तम्। कतमदनिष्टम्? उच्यते–प्रधान-

---

१ दृश्यतां पृ० २५६-२॥ २ मुक्तमुक्तवि° य०। मुक्तवि° भा०॥ ३ तन्निवेदित्थ° प्र०॥ ४ °तूनां कर्मणां प्र०। अत्र °तुकर्मणां इत्यपि पाठः स्यात्॥ ५ एतद्वत् प्र०॥ ६ दृश्यतां पृ० ३३५ पं० ८॥ ७ दृश्यतां पृ० ३३१ पं० ५॥ ८ दृश्यतां पृ० ३०१ पं० ४॥ ९ अनेकैकेश्वर° प्र०। दृश्यतां पृ० ३३८ पं० १२॥

धमभिन्ना' सिद्ध्योऽसिद्ध्यो वा नाना न स्यु', उत्कर्षार्थिकारणैकत्वात्। उत्कर्षार्थिपुरुषकारैकत्वात् प्रधानमध्यमाधमभेदभिन्ना पुरुषकारा न सिध्यन्ति। सप्रभेदास्ता' सिद्ध्योऽसिद्ध्यश्च नानाजातीया न स्यु', अव्यतिरिक्तकारणत्वात्, तुल्यतन्तुपटवत्।

कार्यातिरेकात्तु कारणातिरेक इति कर्मैव प्रवर्तयितृ। [1]द्विविधा च इतरस्य। तत्र त्वदिष्टपुरुषकारव्यापारस्यावतार एव नास्ति स्वशक्त्याधानासमर्थत्वात्। चेतनामात्रसारो हि पुरुषकार. शक्ति', न च स पशुत्वे वर्तमानो मनु-

---

मध्यमाधमभिन्ना सिद्ध्योऽसिद्ध्यो वा नाना न स्यु, ताश्च दृष्टा, न हि दृष्टाद् गरिष्ठमन्यत् प्रमाणमस्ति। कस्मान्नाना न स्युरिति चेत् उच्यते—उत्कर्षार्थिकारणैकत्वात्, आत्मोत्कर्षार्थी पुरुष एव[3] कारणं न कमपि कारणमिति पुरुषकारकारणैकान्तवादमाशङ्कते, पुरुषकारस्यैकत्वमुत्कर्षार्थिपुरुषकारैकत्वम्, उत्कर्षार्थिन पुरुषस्य क्रिया कार, तस्यैकत्वात् प्रधानमध्यमाधमभेदभिन्ना स्वाचारदुराचारविकल्पद्वयप्रभेदकृता लोकप्रसिद्धा पुरुषकारा न सिध्यन्ति, एक एवोत्कृष्ट प्राप्नोति। ततश्च तत्साध्यानामपि फलभूताना प्रधानमध्यमाधमाना शुभाशुभाना भेदा न प्राप्नुवन्ति, एकैवोत्कृष्टा सिद्धि प्राप्नोति, २५२ २ न मध्यमाधमे सभेदे सिद्धी स्याताम्। नापि च पुरुषकाराणामसिद्धय स्यु, ताश्च दृष्टा इति तदुपसंहृत्य साधनमाह—सप्रभेदास्ता सिद्ध्योऽसिद्ध्यश्च नानाजातीया न स्युरव्यतिरिक्तकारणत्वात् तुल्यतन्तुपटवदिति पुरुषकारस्यैव कारणत्वात् तद्व्यतिरिक्तकारणाभावाद् भवत पुरुषकारैकान्तवादिन कर्मानपेक्षत्वादिति।

इत्थं परपक्षे दोषमुक्त्वा स्वपक्षसाधनमाह—कार्यातिरेकात्तु कारणातिरेक इति कर्मैव प्रवर्तयितृ। इति[4] ...हेत्वर्थ, कार्याणामनेकभेदाना सिद्धीनामसिद्धीना च परस्परतोऽतिरिक्तत्वात् कारणातिरेकेणापद्य भवितव्यम्, तच्च कारणं कर्मैव पुरुषस्य त्वदभिमतस्य प्रवर्तयितृ[5] प्रवर्तकमनेकभेदमिति प्रतीतव्यम्। तस्य कार्यनानात्वानुमितस्य कारणसामान्यस्य 'कर्म' इति संज्ञा क्रियते, पुरुषकारस्य पुरुषादीना च कारणाना निराकृतत्वात्। तस्य सिद्ध्यसिद्धिभेदकार्यलिङ्गादनुमानं देशान्तरप्राप्त्यनुमेयादित्यगतेरिव, द्विविधा चेत्यादिना तल्लिङ्गासिद्धिपरिहारार्थं यावदितरस्येति गतार्थम्, प्रसिद्धं लिङ्गमित्यर्थ। तत्रेत्यादि, तत्र एतस्मिन् कारणवैचित्र्यानुमानलिङ्गे कार्ये त्वदिष्टपुरुषव्यापारस्यावतार एव नास्तीत्यनयोर्लोरस्थेव प्रसिद्धे कार्यलिङ्गे त्वदभिमतकारणासम्भवोऽस्मन्मतकारणसम्भव एवेति च दर्शयति। यस्मात्[7] स्वशक्त्याधानासमर्थत्वात्। कस्य स्वशक्तिरिति चेत्, चेतनस्य पुरुषस्य। चेतनामात्रसारो हि पुरुषकार शक्ति, हिशब्दो यस्मादर्थे, यतोऽस्यैषा [6]↑शक्ति ...ना चाधातुम↑शक्तोऽस्माविष्टे मनुष्यत्वे पशुत्वे वर्तमान इति २५३ १ स्वशक्त्याधानासामर्थ्यं दर्शयति—न च स इत्यादि, सत्यपि चैतन्ये ता स्वा चैतन्यशक्ति यमनलाकृष्टनिकृष्ट-

---

1 द्विविधा च प्रकृति एकस्य पुरुषकारस्य साध्या असाध्या च इतरस्य।' इत्याशयको मूलपाठोऽत्र सम्भाव्यते। तुलना-पृ० ३६६ पं० १४॥ 2 धमभिन्ना य०। दृश्यतां पृ० ३६५ पं० १७॥ 3 एवकारण य०। अत्र एव एव कारणम्' इत्यपि पाठ स्यात्॥ 4 °रतोरिक्त प्र०॥ 5 प्रवर्तयितु प्रवर्तमने भा०। प्रवतयितु प्रवत्यमने° य०॥ 6 ↑ ↑ एतच्चिह्नान्तर्गत पाठो य० प्रतिषु नास्ति॥ 7 एषा य०॥

स्थातुं स्वेनेतरवशक्तिसाधनं समर्थः, मनुष्यः सन् तज्ज्ञानं पशौ, तस्यापि कर्मलभ्यत्वात्। अपि तर्हि गङ्गायाः स्रोतस्य··· ।

य(यो)ऽपि च पुरुषः सोऽस्वतन्त्रः, कर्मपरवशत्वात्, वेतालाविष्टशवशरीरवत्, उपक्रमप्रभृति ·· ·····प्राणांश्च जह्यात्।

अतो यथाहारविशेषाभ्यवहरणखलरसादिविभजनाव्यक्तचेतितक्रियासु अस्वतन्त्र एव ताः कर्मकृताः पुरुषो मत्कृता इत्यभिमन्यते, तत्कार्यतायां हि तासां कदाचिदकरणाभावादिहैव अमृतत्वप्रसङ्गः तथा कार्येन्द्रियनिर्वर्तनेऽप्यनिष्टशरीरेन्द्रियादि न स्यात्, इष्टस्यैव करणं स्वातन्त्र्यात् स्यात्। तस्मात् सर्वमेव तत् कर्मण एव। तद्व्यतिरेकेण क्व आत्मनि प्रतिपद्येत ?

स्वबुद्ध्यानुगतो वर्तमानो न विशिष्टमनुष्यचैतन्ये स्थापयितुं शक्त इति, विपर्ययेण मनुष्यः सन् तज्ज्ञानं पशौ 'आधातुं समर्थः' इति वर्तते। तस्यात्मनो यत् 'स्वतत्त्वम्' इति त्वया प्रतर्कितं तन्न शक्नोति कर्मवशोऽत्तो योनिजात्यन्तरस्थो योनिजात्यन्तरेऽन्यत्राधातुम्. कुतः ? तस्यापि कर्मलभ्यत्वात्, पशोर्मनुष्यस्य वा चैतन्यस्य कर्मवशादेव तथाभावात्, मनुष्यः पशुर्वा स्वजातिनामकर्मोदयादेव भवतीत्यर्थः, तदुदयस्य कारणान्तरदुर्निवारत्वात्। तत्र दृष्टान्तमाह—अपि तर्हि गङ्गाया इत्यादि, सम्भावनयैतदुच्यते, अपि चेतत् सम्भाव्यम्—[1]दैवविक्रियोत्पातादिना गङ्गास्रोतस्यन्यथा प्रवृत्तस्य कर्मणोऽन्यथा प्रवर्तनमिति। एवं तावदभ्युपगम्य स्वतन्त्रं चेतनं पुरुषकारं च तस्योक्तम्।

नेह वाभ्युपगच्छाम एतत् सर्वं किञ्चित् कर्मव्यतिरिक्तम्, कुतः ? तत्त्वचिन्तायां कर्मव्यतिरिक्तकारणानवस्थानादित्येतद् दर्शयति—य(यो)ऽपि चेत्यादि यावद् वेतालाविष्टशवशरीरवदिति। कर्मवेतालाविष्टो हि पुरुषोऽस्वतन्त्र इष्टानिष्टतुल्यप्रवृत्तिः परवशत्वात् पुरुषस्य, उपक्रमप्रभृति इत्यादि यावज्जह्यादिति तत्स्वातन्त्र्याभावप्रतिपादनार्थो निषेकोपक्रमादारभ्य मरणापवर्गावसान इति गतार्थः।

२७३-२ पुनरपि—अतो यथाहारविशेषेत्यादि यावदिहैवामृतत्वप्रसङ्गः। मातुरोजः पितुः शुक्रञ्च प्रथमाहारः, ततः सप्ताहं कललं भवति [तन्दुलवै० १०] इत्यादिना क्रमेण शरीरेन्द्रियादिकारणाहारः प्राणनादियात्रासमर्थः, तस्य च खलरसादिभावेन विभजनम्, इत्याद्यसञ्चेतिताव्यक्तक्रियासु अस्वतन्त्र एव [3]गर्भादिषु सुप्तश्च। तास्तु क्रियाः कर्मकृताः पुरुषो मत्कृता इत्यभिमन्यते, तथा भासमानत्वात्। तत्कार्यतायां हि पुरुषकारकार्यतायां हि तासां क्रियाणां कदाचिदकरणाभावात् प्राणस्थितिहेत्वनुपरमणाद् मरणाभावः, तस्मादिहैवामृतत्वाय [4]कल्पेतेति दृष्टविरोधदोषप्रसङ्गः। तथा [5]कार्येन्द्रियनिर्वर्तनेऽप्यनिष्टशरीरेन्द्रि[6]यादि न स्यात् काणकुण्टबधिरादिः, सम्पन्नेन्द्रियजातिसंस्थानसंहननादियुक्त एव स्यात्। पुरुषकारकार्यनिर्वर्तने च धर्माद्यनुष्ठानविषयोपभोगादौ इष्टस्यैव करणं स्वातन्त्र्यात् स्यात्।

---

१ दैवक्रियो॰ प्र०॥ २ द्रष्टव्या पृ० २५० टि० ६॥ ३ गर्त्तादिषु प्र०। गतार्थादिषु भा०। द्रष्टव्या पृ० ११३ प० १२॥ ४ कल्पतेति प्र०॥ ५ कार्येन्द्रि॰ प्र०॥ ६ ॰यादि न प्र०॥

अकारणमपि कर्म, सहायापेक्षत्वात्, भारोत्पादवत्। एतदपि च न मन्तव्यम् 'अकारणमपि कर्म सहायापेक्षत्वात्, फलोपहाराय स्वामिनयोद्योगावपेक्ष्यौ अमात्यादिप्रकृतिश्च' इति, यतस्तान्यपि हि स्वामिधर्माधर्मरज्जुयतिनिबद्धानि, तदायत्तत्वात् तद्भोग्यत्वात् तन्तुपटवत्। यदि तानि स्वामिधर्माधर्मरज्जुयतिनिबद्धानि न स्युस्तत सर्वाविशेषप्रसङ्ग'।

योऽपि स्वामिपुरुषकार' सोऽप्यधर्मफलत्वात् कर्मेव, क्लेशत्वात्, ज्वरवत्।

तस्मात् सर्वमेव तत् कर्मण एव हेतो, नात्मन, 'कर्मण' इति पञ्चम्या हेत्वर्थे विहितत्वात्। तदतिरेकेण क आत्मनि प्रतिपद्येत ? तस्मादेव विद्वान् क आत्मनि एतदनुपपद्यमान कर्मव्यतिरेकेण अभ्युपगच्छेत् ? नाभ्युपगच्छेत्येव विद्वानित्यभिप्राय। तस्मादहेतु पुरुषस्तत्कारश्च।

स्यान्मतम्—अकारणमपि कर्म, सहायापेक्षत्वात्। पुरुषकारमकारणमपि कर्म सहायमपेक्षते कवलास्यप्रक्षेपादिवत्। यथोक्तम्—

आलस्याद् यो निरुत्साह स किञ्चिन्नाश्नुते फलम्।
स्तनक्षीरादिपान च पौरुषान्न विशिष्यते॥ [ ]

अतो भारोत्पादवत्, यथा भार समुद्वहन् पुरुष सहायमुत्क्षेप्तार निक्षेप्तार चान्तरेण स्वयमेव न शक्नोति वोढुमिति कारणमकारण च दृष्टस्तथा कर्म पुरुषकारमन्तरेणेति कारणमकारण चेति।

एतदपि च न मन्तव्यमकारणमपीत्यादिना स्वमेव पूर्वपक्ष व्याचष्टे। भारोत्पादापेक्षभारो ३५४ १ द्वाहवदत्र किं सहाय कर्मणोऽपेक्ष्यमिति चेत्, उच्यते—फलोपहारायेत्यादि, फलमुपहरिष्यत कर्मणस्तत्स्वामिन कर्तुर्नयोद्योगावन्तरावपेक्ष्यौ, बाह्या स्वामात्यादिप्रकृति। किं पुन कारणम् 'एव न मन्तव्यम्' ? उच्यते—यतस्तान्यपि हि स्वामिधर्माधर्मरज्जुयतिनिबद्धानीत्यादि यावत् तन्तुपटवत् सहेतुदृष्टान्तेनैन पदवाक्येन अमात्यादीना धर्माधर्मकार्यत्वमापाद्य कर्मकारणावधारणात् पुरुषकार निराकरोति तदायत्तत्वात् तद्भोग्यत्वादित्यादिना हेतुसौलभ्य च दर्शयति। तन्तुपटवदिति तन्त्वायत्तपटवत् पटत्वेन तन्तूनामेव भोग्यत्ववत्। यदि तानीत्यादि एवमनभ्युपगमे सर्वाविशेषप्रसङ्ग इत्यनिष्टापादनम्।

योऽपीत्यादि। यदपि चोक्त 'स्वामिनयोद्योगावपेक्ष्यौ' इति स्वामिपुरुषकार सोऽप्यधर्मफलत्वात् कर्मेव, न पुरुषकारो नाम कर्मातिरिक्तोऽस्तीत्यवधारणार्थं प्राक्प्रतिज्ञात समर्थयति, क्लेशत्वात्, क्लेशो हि चिन्ताव्यायामरूप, मन शरीरायासकत्वात्, ज्वरवत्।

---

१ तस्मात्तत् सयमेव तत्कमण एव य० ॥ २ (त्येव विद्वान् ?) ॥ ३ भारोत्पाद प्र० । दृश्यतां पृ० ३६३ प २० ॥ ४ कारणकारण प्र ॥ ५ व्यकार° प्र ॥ ६ स्वाम्यमात्यसुहृत्कोषराष्ट्रदुर्गबलानि च। राज्याङ्गानि प्रकृतय पौराणां श्रेणयोऽपि च ॥ इति अमरकोषे २।८।१७ ॥ ७ (°रज्जुप्रतिनि ?) ॥ ८ सहेतुक दृष्टान्तेन य० ॥ ९ पटवाक्येन प्र ॥ १० सर्वादोष य० । सर्वाशेष भा० ॥ ११ दृश्यतां पृ० २ ॥ १२ णार्थं भा० ॥

अथैतमधर्मफलं नेच्छसि न तर्हि दुःखमधर्मफलमिति प्राप्तम्, तत्कर्मणः प्राणातिपातादेर्धर्मफलप्राप्तिरिष्टप्राप्तिरिति प्राप्तम्, धर्माधर्मफलविपर्ययात् । पुरुषकारनैरर्थक्यं च ।

स च यद्यहेतुको मुक्तानामपि स्यात् । सहेतुश्चेत् कर्मण एवाचेतनात्, युक्तिक्षमहेत्वन्तराभावात् ।

यदा च पुरुषस्य प्रवृत्तौ नास्ति कर्तृत्वं तदा द्रवतीति द्रव्यं कर्तृसाधनं न भवति । कर्मपरिग्रहविशेषस्तु द्रव्यं द्रूयते गम्यते''इति । भोग्येन कर्मपुरुषेण

अथेत्यादि । अथैतं पुरुषकारसङ्क्ले[1]शमधर्मफलं नेच्छसि प्रत्नोत्साहयुक्तस्य प्रशस्तत्वेनेष्टत्वाल्लोके ततो न तर्हि दुःखमधर्मफलमिति प्राप्तं शिरोरोगादि, क्लेशत्वात्, नयोद्योगपुरुषकारवत् । यथोक्तम्—

> अनर्थपाण्डित्यमधीत्य यन्त्रितः सुतेषु दारेषु च नित्यशङ्कितः ।
>
> २५४-२ निशासु जागर्ति हिनस्ति बान्धवान् नमोऽस्तु राज्याय वरं दरिद्रता ॥ [ ] इति ।

अथ प्रसिद्धिविरोधदोषभयाद् दुःखमधर्मफलमिति त्वयानुज्ञायते तत्साचि[2]व्यक्रियायाश्च हिंसादेर्दुःखसाधन[3]तां गतत्वात् तत्कर्मणो हेतोः प्राणातिपातादेर्धर्मफलप्राप्तिः, कासौ ? इष्टशरीरेन्द्रियविषयसुखसम्यग्ज्ञानारोग्यादिप्राप्तिः इत्येतत् प्राप्तम्, शुभाशुभ[4]योरिष्टानिष्टविपर्ययफलाभ्युपगमात् 'धर्माद् नयोद्योगौ दुःखं वा' इत्युक्तत्वादत एव प्राप्तम्, अधर्मफलाद् दुःखात् सुखं धर्मफलमिति प्राप्तम् । किं तत् ? इति तद्विभात्रं प्रदर्शयति—इष्टप्राप्तिरिति इष्टशरीरेन्द्रियादिप्राप्तिरित्येतत् प्राप्तम् । किं कारणम् ? धर्माधर्मफलविपर्ययात् इत्यतः पुरुषकारनैरर्थक्यं च यादृच्छिकत्वाविशेषात् । अतो यदुक्तं 'कर्मैव कारणं पुरुषकारस्यापि कर्मफलत्वात्' इति श्रेयान् पक्षः । यथोक्तम्—

> यथा यथा पूर्वकृतस्य कर्मणः फलं निधानस्थमिवोपतिष्ठते ।
>
> तथा तथा पूर्वविधानुसारिणी प्रदीपहस्तेव मतिः प्रवर्तते ॥ [ ]

अभ्युपगम्यापि पुरुषकार दोषं ब्रूमः—स निर्हेतुकः सहेतुको वा स्यात् ? किञ्चातः ? स च पुरुषकारो यद्यहेतुको मुक्तानामपि स्याद् नयोद्योगलक्षणः न चेष्टस्तेषाम् । अथ मा भूदेष दोष इति सहेतुरिति ब्रूयात् ततः सहेतुश्चेत् कर्मण [5]एवाचेतनात्, शुभादपि पुरुषकारात् सेवादिकादनर्थावाप्तेरशुभादपि प्राणातिपातादेरर्थावाप्तेर्धर्माधर्मफलसङ्क[6]रोक्तेरनुमातुं शक्यत एतत् अबुद्धिपूर्वकादचेतनकर्मवशादेवैतच्छुभाशुभवैचित्र्यम् । किं कारणम् ? युक्तिक्षमहेत्वन्तराभावात्, विचारितनिषिद्धत्वात् पुरुष-नियति-काल-

२५५-१ स्वभावादिहेत्वन्तराणां नात्रान्यद् विमर्दक्षमं कारणमस्त्यन्यदतो दैवाख्यात् कर्मणः ।

यदा चेत्यादि । यस्मिन् काले एवं च कृत्वा पुरुषस्य प्रवृत्तौ साध्यायां नास्ति कर्तृत्वमिति [7]सिद्धे कर्मण एवेति च सिद्धे तदा तस्मिन् काले द्रवतीति द्रव्यं कर्तृसाधनं न भवति स्वतन्त्रस्य कर्तुरनुपपत्तेः । कर्मपरिग्र[8]हविशेषस्तु, तुशब्दो विशेषावधारणार्थः, कर्मसाधनमुपपन्नार्थं द्रव्यं द्रूयत

---

१ °शधर्म प्र० ॥ २ °व्यक्ति(व्याक्ति ?)यायाश्च भा० ॥ ३ °नतांगतत्वात्तत्वात्तत्कर्मणो य० । °नतांगतत्वात्तत्वात्तत्वात्तत्कर्मणो भा० ॥ ४ °भयोरिष्टविपर्यय° प्र० ॥ ५ एवचे° प्र० ॥ ६ संकारोक्ते° भा० । संस्कारोक्ते° य० ॥ ७ सिद्धेः प्र० ॥ ८ °हावि° प्र० ॥

द्रव्य क्रियते, कर्मपुरुषेणैव कर्मपुरुष' क्रियते, यथा व्रीहिणैव व्रीहिः क्रियते, कार्येणैव बीजव्रीहिणाङ्कुरव्रीहि' ।

येचापि पुरुषकारकारणैकान्तिन आहुस्तदपि सर्वमसम्बद्धम्। न इत्थमाहु'-एववादिनस्ते पुन' कार्यलक्षणत्वात् कर्मणोऽक्षरार्थाच्च कर्मव्यतिरिक्त' कर्ता अस्ति, घटस्येव कुलाल' ।

ननु कर्मणैव करिष्यते। ननु सुदूरमपि गत्वा व्रीहेरप्यावर्तकत्वात् स्वरूपभेदादक्षरार्थाच्च निर्विवादकृतकत्वात् कर्मण कर्तुरेव भाव तच्छक्ते.।

इत्यय विशेषोऽवधार्यते । तद्विग्रह दर्शयति-द्रूयते गम्यत इत्यादि । तदिदानी निरूप्यते-भोग्येन कमपुरुषेण तेन द्रव्य क्रियते । किमुक्त भवति ? कर्मपुरुषेणैव कर्मपुरुष क्रियत इत्युक्त भवति। तत्र दृष्टान्त -यथा व्रीहिणैव व्रीहि क्रियत इति । कार्येणैव बीजव्रीहिणाङ्कुरव्रीहिरिति तद्व्याख्या, एव तावदवधारणेन कर्त्रर्थो निराकृत , कर्मैकान्तवाद उपपादित , चेतनाचेतनैक्यात् सर्वसर्वात्मकत्वाच्चा-युक्त ईश्वरोऽन्यो हेतुरिति चेति ।

यच्चापीत्यादि। न केवल कर्तृसाधन एव दोष , किं तर्हि? कर्मैकान्तवादोऽप्ययुक्त । तत्प्रदर्शनार्थ-माह-एववादिनस्ते पुन कार्यलक्षणत्वात् कर्मण , कार्य कर्म, यत् क्रियते तत् कर्म, कर्तुरी-प्सिततम कर्म [पा० १।४।४९] इति लक्षणादक्षरार्थाच्चानुमेय कर्ता । तस्मात् कर्मणोऽन्य कर्तार कर्मव्यतिरिक्तमन्तरेण कर्माभावाद् घटस्येव कुलालोऽवश्यंप्य कर्ता । प्रयोगश्च-स्वतोव्यतिरिक्तचेतन-कर्तृक त्वदिष्ट कर्म, कार्यत्वात् क्रियमाणत्वात्, घटवदिति ।

अत्रोत्तर पर ननु कर्मणैव करिष्यत इति स्वत एव कर्मणा कर्म क्रियते न तद्व्यतिरिक्तेन कर्त्रेत्युक्त प्राग् दृष्टान्ते व्रीहिणैव व्रीहि कार्येण बीजव्रीहिणा कार्योऽङ्कुरव्रीहि क्रियत इत्युक्त मयेति २५१ स्मारयति । इतर आह-ननु सुदूरमपि गत्वेत्यादि, विचाय विचार्याप्यात्मव्यतिरिक्तपुरुषाविनाभावित्वात् कर्मणस्त्वयाप्येतदभ्युपगन्तव्य कर्मवादिना-कर्मव्यतिरिक्त कर्ता पुरुषोऽस्तीति । कस्मात् ? व्रीहेरप्या-वर्तकत्वात्, अस्यापि व्रीहिदृष्टान्तस्य क्षित्युदकाकाशादाताङ्कुराद्यावृत्तिरूपत्वात् तेषा च स्वरूपभेदात् स्वत पृथग्भूतकर्त्रविनाभूत कर्म सिध्यति अतो विपर्ययसाधनत्वमिति । निश्चायत्, अक्षरार्थाच्च, 'क्रियत इति कर्म कर्तुरीप्सिततम कर्म [पा० १।४।४९] इति कर्मशब्दाक्षरार्थ । ततस्तस्य कृतकत्व निर्विवादम्, तस्माच्च निर्विवादकृतकत्वात् कर्मण कर्तुरेव भाव स्वतन्त्रस्य, पुरुष एव भवति, कर्तुरेव भाव सर्वस्येति पञ्चमीनिर्देशाद् वा पुरुषादेव सर्व भवति कारणात्। एव च त्वदुक्तहेतोरेव कर्मव्यतिरिक्त पुरुषसिद्धे कर्मणश्च तद्व्यतिरिक्तस्य सिद्धेरावर्तकत्वैधर्म्येण कर्मण कृतकत्व केवलथान्तरभूतस्यावधारण च युक्तम्। कुत ? तच्छक्ते, तस्मादेव हि कर्तु पुरुषात् कर्मण फलवत्त्वशक्ति, कर्तुर्वा पुरुषस्य करणशक्ति, न व्रीहिणैव व्रीहिर्वेत्यावर्तकत्वेनेति ।

---

१ दृश्यतां प ११ पृ० २६५ प० १२ ॥ २ दृश्यतां पृ० ३ ५ प० १७ ॥ ३ दृश्यतां पृ ३५८ प० २४ ४ व्यथाव्यथात्म° भा० ॥ ५ लोयाम्येष्य प्र० ॥ ६ दृश्यतां प० १ ॥ ७ °क्लनि° य० ॥ ८ दयन्यात् प्र ॥ ९ कर्मान्यथान्तर भा०। कमव्यायान्तर य०। (त्वनुवार्यान्तर ?)॥ १० यद्वर्ते प्र० ॥

न हि स क्रियमाणः, कर्मणोऽस्वतन्त्रत्वे सति अलब्धात्मवृत्तित्वादभवनमाभूतदेवदत्तवत् ।

शास्त्रनिराकरणमेवं त्वदुपदेशादिक्रियानिराकरणं च, कर्मप्रवृत्तिमात्रत्वात् तत्प्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योः ।

कर्मप्रवृत्तिमात्रत्वात् तथा शास्त्रार्थस्य अस्मदुपदेशादिक्रियाणां च प्रति-

---

न हि स क्रियमाण इत्यादि यावदाभूतदेवदत्तवदिति तदेव भावयति । तस्याः कर्मशक्तेरस्वतन्त्रत्वादलब्धात्मवृत्तित्वात् । अस्वातन्त्र्याच्च कुतो भवनम् ? दृष्टान्तः—आभूतदेवदत्तो गर्भोपक्रमावस्थायां कार्या-
२५६.१ वस्थायामलब्धात्मवृत्तित्वादस्वतन्त्रः अस्वतन्त्रत्वादकर्ता, अकर्तृत्वाच्च न भवति कार्यान्तरस्याव्यतिरेकेण यथा देवदत्तः तथा कार्यावस्थायां कर्मापि क्रियमाणं न भवेत्, अनिष्टं चैतत् त्वयापि । तस्मात् कर्माभवति, तच्च पूर्वप्रवृत्तपुरुषभवनादृते न भवतीत्यस्ति पुरुषः ।

किञ्चान्यत्, पुरुषकारप्रत्याख्याने सर्वशास्त्रवैयर्थ्यप्रसङ्गः । कथम् ? यथाक्रमं हितप्राप्त्यहितपरिहारार्थौ सर्वशास्त्राणाम्, ताभ्यां च हिताहितप्राप्तिपरिहाराभ्यां निश्चयीकृतसत्यत्वानि प्रमाणान्तरसंवादेन चिकित्सितादीनि शास्त्राणि, यथा—

कटुकः कटुकः पाके वीर्योष्णश्चित्रको मतः ।
तद्वद् दन्ती, प्रभावात् तु विरेचयति सा नरम् ॥ [चरकसं० १।२६।६८]
नागरातिविषामुस्ताक्वाथः स्यादामपाचनः ॥ [चरकसं० ६।१५।९८]

इत्यादीनि पुरुषतत्क्रिययोरभावे कर्मकारणैकान्ते निराकृतानि स्युरित्यर्थः । न चेष्यते तन्निराकरणं कस्यचित् प्रमाणान्तरसंवादिनः शास्त्रस्य प्रामाण्यदर्शनात् । त्वदुपदेशादिक्रियाणां च दृष्टार्थानां निराकरणम् एवमिति वर्तते, कर्मकारणैकान्ते पुनः पुरुषस्य स्वतन्त्रस्य तत्क्रियायाश्चाभावे परप्रतिपादनार्थं तच्छिक्षयिषूक्तशब्दोच्चारणक्रिया न स्यात् कर्मत एव प्रवृत्तेः । आदिग्रहणादोदनस्य मुखसंयोजनादिक्रियाश्च न स्युः, कर्मप्रवृत्तिमात्रत्वात् तत्प्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योः, त्वदुपदेशार्थप्रतिपत्तिः कर्मत एव परस्य, स प्रतिपद्यते विनाप्युपदेशेन, न प्रतिपद्यते वा सत्यप्युपदेशे ।

कर्मप्रवृत्तिमात्रत्वादित्यादि यावत् कर्मण एवेति चेत् । स्यान्मतम्—यदुच्यते शास्त्रनिराकरणमेवं त्वदुपदेशादिनिराकरणं च कर्मणोऽस्वतन्त्रत्वे सत्यलब्धात्मवृत्तित्वादाभूतदेवदत्तवदभवनम्, निर्विवादकृतकत्वात् कर्तुरेव भावस्तच्छक्तेः, व्रीहेरप्यावर्तकत्वात् स्वरूपभेदात् पुरुष एव भवति, इत्यादि सर्वं नोपपद्यते, 'कर्मत एव भवति' इत्युपपद्यते कर्मप्रवृत्तिमात्रत्वात् तथा शास्त्रार्थस्या-
२५६.२ स्मदुपदेशादिक्रियाणां च प्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योः कर्मप्रवृत्तिमात्रत्वात् प्राज्ञपुरुषप्रतिपत्तिवद् बलीवर्दाद्यप्रतिपत्तिवच्च । तस्मात् सर्वाण्येतानि कर्मण एव हेतोर्भवन्ति पूर्वोक्तन्यायवच्चिन्ताव्यायामादिशारीर-

---

१ दृश्यतां पं० २४ ॥ २ दृश्यतां पं० २३ ॥ ३ °शक्त्येस्व° भा० । °शक्तेः स्व° य० ॥ ४ °त्मकर्तृ° प्र० ॥ ५ °र्तृकत्वाच्च प्र० ॥ ६ दृश्यतां पृ० २२५ टि० ५ ॥ ७ तत्प्रतिपत्त्योः प्र० ॥ ८ °श्यार्थ° भा० ॥ ९ °पद्य विना° प्र० ॥ १० दृश्यतां पं० ३ ॥ ११ °र्तकात् प्र० ॥

पत्त्यप्रतिपत्त्यो' सर्वाण्येतानि कर्मण एवेति चेत्, अथ तदादिकर्म कुत ? ब्रूयास्त्वम्– ओ पुरुषादेवेति। कर्मत एव न, व्रीहिवैधर्म्येणाकर्तृकत्वात, आत्मादिवत्, नोत्क्षेपणवत्।

कथमसम्बद्धम् ? यस्मान्न शुभमशुभ वा रूपादि इष्टकारणमनिष्टकारण वा एकान्तेन किञ्चिदस्ति। तदेव शुभमशुभमिष्टकारणमनिष्टकारण च । एक एव ०

मानसक्लेशफलत्वात् तस्य, इति चेदाशङ्कायाम्, एव चेन्मन्यसे । ततस्त्वमिदमसि तावत् प्रष्टव्य –अथ तदादिकर्म कुत ? इति। मम तावदभिप्राय –कृतकत्वात् कर्मण पुरुषादेव तदिति। तन्नेच्छता त्वया वक्तव्यम्–कुतस्तदादिकर्म यत एतत् सर्वं प्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिक्लेशादि ? इति मदभिप्रायाकर्षणार्थ प्रश्न, कि तदपि कर्मण एव उत पुरुषात् ? इति । ब्रूयास्त्वम्–ओ पुरुषादेवेति, एव नामास्तु, को दोष गत्यन्तराभावात्, 'कर्मत एव' इत्यभिप्राय स्यादित्यत्र ब्रूम –न, व्रीहिवैधर्म्येणाकर्तृकत्वात्, व्रीहेर्व्यावर्तकत्वात् कर्तृत्वमुपयाति, नासावतो व्रीहिरकृतक, अकर्तृकत्वात्, ततश्चाक्रियमाणत्वान्नोपपद्यते कर्मण कर्मत्व तस्यादिकर्मण । किमिव ? आत्मादिवत्, यथा आत्माकाशकालदिगादीनि न केनचित् क्रियन्त इत्यकर्माणि तथा आदिकर्मापि स्यात्। नोत्क्षेपणवदिति वैधर्म्यदर्शनम्, यथा उत्क्षेपण कर्म तद्व्यतिरिक्तेनोत्क्षेप्त्रा विना न भवति तथेदमिति।

एव पुरुषकारवादिना कर्मवादी दूषित, कर्मवादिना च प्राक् पुरुषकारवादी । तस्माद् यदुक्तम् 'यैश्च च दृत्वा तदपि सर्वमसम्बद्ध यत् कर्मकारणैकान्तिन आहु, यैश्च पुरुषकारकारणैकान्तिन आहु स्तदपि सर्वमसम्बद्ध परस्परदूषितत्वात्' इति तदुभयमिदानीं नैकद्वयेनाप्यसम्बद्धमिति प्रतिपादयितुकाम प्रश्नयति–कथमसम्बद्धमिति परवचनेन स्ववचनेन चैकत्वात् तयो पृथक् कर्मपुरुषकाराभावादेवासम्बद्धमिति तत्प्रतिपादयिष्यन्नाह–यस्माद् न शुभमशुभ वेत्यादि यावत् काय इति। अय तावद् दृश्यमान काय पुरुषो वास्तु यत्तेऽभिरुचितम्, न मे कश्चिदत्र पक्षपात । तच्च यस्माद् न किञ्चिदत्र शुभमेवा शुभमेव वा बाह्यमपि कायाद् भिन्नमभिमत रूपादि इष्टस्य सुखस्य कारण चित्र मयूर स्रक् चन्दन- २५१ भ्रमररुतादि अनिष्टस्य वा दु खस्यातिविवर्णहुण्डमस्थानीमारकण्टकशिवारुतादि। सर्वमप्येतदिष्टकारणमप्यनिष्टकारणमपि शुभमप्यशुभमपि इति गृहाण द्रव्यक्षेत्रकालभावपुरुषान्तरसयोगविशेषाश्रयपरिणामविशेषापत्ते सुरभि मधुर-सुखस्पर्श-सुरूप-सुशब्देतरभावमुपलभ्यते अभक्षितभक्षितमोदकवत् पक्वापक्वाम्रफलवत् पद्मकेसरनाडवत् जाताजातविपन्नाविपन्नसुरादिवत् स्वस्थास्वस्थस्त्रीपुरुषगीतरुतादिवत। यथोक्तमार्षे–नेश्चेव पोग्गला सुब्भिगधत्ताए परिणमति ते चेव ते पोग्गला दुब्भिगधत्ताए परिणमति [ज्ञाताधर्म०] इत्यादि । तस्माद् न शुभमशुभ वैकान्तेन किञ्चिदस्ति मिथ्यावाति । किं तर्हि ? [तदेव शुभम्] तदेवाशुभम्, तत एव च इष्टकारणमनिष्टकारण च, यथा त्रिशेषममोदकादि प्रमाणा-

---

१ स्यात् प्र । दृश्यतां पृ० ३५३ प० ६ ॥ २ तमोगातो प्र० ॥ ३ दृश्यतां पृ० ३५२ प ४ ॥ ४ दृश्यतां पृ० ३५३ प० ३ ॥ ५ परस्य दूषि य० । परदूषि भा० ६ पादितु° प्र० ॥ ७ °रतनादि प्र० ॥ ८ °नकार प्र० ॥ ९ दृश्यतां पृ २७८ टि० १ ॥

ह्ययं पुद्गलकायः । भोक्तृभोग्यात्मकविपरिणामवृत्तित्वात्, अत आहारवच्छुभाशुभादिधर्मतास्य भोक्तृत्वाद् भोग्यत्वात् ।

नन्वन्नोदकशुभाशुभते प्रतिविशिष्टापशदयोगकृते, न, एकैकस्य सर्वरूपद्रव्यभवनपरमार्थत्वात् तदेव तत्, तत्परमार्थत्वात्, तद्वत् । अन्यथात्वेऽपि तदनतिरेकात्मकत्वात्, तन्तुयज्ञोपवीतवत् ।

प्रमाणकाला[1]कालाहारितमिति स्वस्थमर्पदश्चाहारितविषवद्वा तथैक **एव ह्ययं पुद्गलकायः**, पुद्गल उक्तनिरुक्तिकः, कायः शरीर चितत्वाद् रोगादिदुःखनिवासत्वाद्वा सर्वोऽपि बाह्याभ्यन्तरो मूर्तद्रव्यसङ्घातः कायः रूपादिसङ्घातत्वात् परमाणोरपि । पुद्गलस्य पुद्गलस्यैव वा काय इति विग्रह-समासौ । अथवा पृथक् परिकल्पनयानया [2]किम् ? इन्द्रियप्रत्य[3]क्षाभिमतः शरीराख्यः पुद्गलकायः स्वसंवेद्यज्ञानात्मकः क्रियादिलिङ्गानुमित आत्मकायो वा सोऽयमेक एव, न ह्यत्र काचिद् भेदबुद्धिः कार्या वन्धपरिणामैक्यापत्तेरेतन्नयदर्शनात् । २५७-२ 'एक एव शुभाशुभा[4]दिधर्मा' इति साध्यस्य कायस्य वक्ष्यमाणाहारदृष्टान्तसान्यमापाद्य हेतुत्वेन तत्साधर्म्यमाह–**भोक्तृभोग्यात्मकविपरिणामवृत्तित्वा**दिति । यदि पुरुषकारवादिमतेन भोक्ता, अथापि कर्मवादिमतेन भोग्यः, तस्मात् कायो भोक्तृभोग्यात्मकः, तस्य विपरिणामो वृत्तिरस्येति कायः सम्बध्यते भोग्यस्य भोक्तुर्वा विपरिणाम इति, शुक्रशोणित जनन्याहृतान्नरसादि चाद्युत्तरकारणमस्य शरीरस्य तदुभयं भोक्तृ भोग्यं च अन्योन्यभावापत्तेः, तथा चतुर्विधोऽप्याहारोऽशनादिराहर्त्राहार्यभावाद् भोक्तृ भोग्यं च, तच्च शुभाशुभेष्टानिष्टकारणमेवेति, कायचैतन्ययोर्वैक्यपरिणामापन्नस्यैव भोक्तृभोग्य[5]परिणामवृत्तित्वं सिद्धम्, **अत आहारवच्छुभाशुभादिधर्मतास्ये**ति, यथा आहारः शुभश्चाशुभश्च दृश्यते संस्कृतासंस्कृतः, सन्स्कृतोऽप्यशुभ एव संक्रियमाणान्नाद्यशुभत्वात्, संस्कार[6]काभिमतकर्पूरादेरपि कालान्तरे दौर्गन्ध्यादिदर्शनात्, सर्वपुद्गलानां प्रागुक्तविधिना शुभाशुभत्ववत् पुद्गलत्वादाहारः शुभोऽशुभश्चेति तथा काय इति । अथवा चेतनाचेतनयोरात्मशरीरयोरैक्यपरिणामात् तदेव भोक्तृ भोग्यं चेत्यनेनैवाहारदृष्टान्तेन सम्बद्धं प्रत्येकमपि साधयत्येतद् धर्मद्वयमित्यत आह–**भोक्तृत्वाद् भोग्यत्वा**दिति । एवं कर्तृत्वात् कर्मत्वादाहारवच्छुभोऽशुभश्च काय २५८-९ इति । अथवा सुखोऽपि दुःखोऽपि स एव कायः, सुखस्तावद् दुःखत्वादाहारवत्, दुःखः सुखत्वादाहारवत्, यत् परं प्रत्यसिद्धं तदितरेण सिद्धेन धर्मान्तरेण साध्यम् । एवमिष्टोऽप्यनिष्टत्वात्, अनिष्टोऽपीष्टत्वात् आहारवदेव ।

इतर आह–**नन्वन्नोदकशुभाशुभते प्रतिविशिष्टाप[7]शदयोगकृते** । प्रतिविशिष्टकर्पूराद्येकान्तशुभद्रव्ययोगे सति जलादि अशुभगन्धमपि सत् सुरभीक्रियते अधिकगुणाभिभवभावनया, एवमशुच्यपशदद्रव्ययोगे सति तदुत्कृष्टगन्धाभिभवात् तद्भावनया कर्पूराद्यपि तद्गन्धीभवदुपलभ्यते । अथवा तदेव विनष्ट शुभतडाकादिगतमल्पं शुष्यच्छुष्यत् कर्पूरगन्धं भवदुपलभ्यते, नालिकेरफलानि सुरभीणि सन्ति पूतीभवन्ति दृश्यन्ते । तस्मादुभयधर्मता सर्वद्रव्याणाम्, तथा कायोऽपीति । एतच्च **न, एकैकस्य सर्वरूपद्रव्यभवनपरमार्थत्वात्** । [8]वीप्सया व्याप्ति सर्वरूपद्रव्यभवनस्य भावकस्य भाव्यस्य च दर्शयति

---

१ °कालहा° प्र० ॥ २ कि द्रिय° प्र० ॥ ३ °क्षमत. मा० । °क्षमभिमनः य० ॥ ४ °भातिधर्मा प्र० ॥ ५ (°विपरि° ?) ॥ ६ °रमाभि° प्र० । (°राभि° ?) ॥ ७ °पसद° य० ॥ ८ वीप्साया प्र० ॥

यथा चात्र परिणाम्यपरिणामकभावादेकत्वं तथात्मकर्मणोरपि । आत्मा परिणमयति तथाभवनसामर्थ्याद् गतिजात्यादिना पुद्गलान् पुद्गलाश्चात्मानं मिथ्यादर्शनादित्वेन, अन्योन्यपरिणामकत्वादनादित्वमेकत्वम् ।

ऐक्यस्येति । सर्वशुभाशुभेष्टानिष्टकारणत्वादिरूपो हि द्रव्यभवनपरमार्थः, एवं हि भवदेव भेदद्रव्यं परमार्थतो भवति, नान्यथा । यथोक्तम्—एगमेगस्स णं भंते जीवस्स एगमेगे जीवे मातित्ताए इत्यादिप्रश्नः यावत्, आनातपुत्ते । व्याकरणम्—गोतम ! असइं अदुवा अणंतखुत्तो, एवं सव्वजीवाण वि एगजीवो, एग जीवस्स वि सव्वजीवा, तथा सव्वपोग्गला एगजीवस्स सव्वजीवाण च आहारत्ताए उस्सासत्ताए भासत्ताए सरीरत्ताए इंदियत्ताए मणत्ताए आणापाणत्ताए [　　　] इत्याद्यार्षे ऐक्यापत्तौ ज्ञापकं सर्वज्ञोक्तत्वात् ।

अत्रानुमानम्—तदेव सदिति प्रतिज्ञा मातृत्वादिभावेन यद् भवति शरीरादिभावेन वा तदेवैक स्वरूपमित्यर्थः, तत्परमार्थत्वात् तद्वत्, एतदुक्तं भवति—तत् तत्स्वरूपापत्तिभवनपरमार्थत्वात् तत् २५८-२ तत्स्वरूपवत् । एवमितरमपि पक्षीकृत्य साध्यम् । यत्स्वरूपमिदं भवति कर्पूरं शरीरमन्नादि वा तत् तदेवैकम्, यच्च यदेव न भवति [न तत्] तत्परमार्थं, यथा खपुष्पं खरविषाणं वा, भवनमसत्यत्वं तत् तदन्यस्वरूपापत्तेः, स्याद्धेयस्यान्तरङ्गस्य तत्त्वं स्याद् बहिरङ्गस्य चान्यत्वमिति तदेव ह्यन्यत्वाभिमतमस्याभिन्नस्यैव तद्रूप[त्व]मिति साध्यते । तस्मान्नास्त्यन्यत्वं न चासिद्धं तत्परमार्थत्वमिति । अभ्युपेत्यापि **अन्यथात्वेऽपि तदनतिरेकात्मकत्वात्** 'तदेव तत्' इति वर्तते । तस्मात् तस्य चानतिरेकः, स आत्मास्येति तदनतिरेकात्मकम्, यद् यदनतिरेकात्मकमन्यथात्वेऽपि तदेव तद् दृश्यते । किमिव ? **तन्तुयज्ञोपवीतवत्**, तन्त्वनतिरेकात्मकत्वाद् यज्ञोपवीतस्य वलितस्यान्यथात्वेऽपि तन्त्वात्मकत्वमेव तथा सुखादिषु भावनीयम्, तदनतिरेकात्मकत्वं च भावितार्थमेव ते चेव ते पोग्गला सुब्भिगंधत्ताए [पावाधम] इत्यादिना ।

यथा चात्रेत्यादि । एवं च तदेव तदिति सर्वं सर्वस्य बाह्यस्य परिणाम्यस्य परिणमयितुश्च तत्त्वम् । योऽधिकगुणस्य तादुण्यं प्रतिपद्यते स परिणामी "योऽधिकगुणो न्यूनगुणत्वमापादयति स परिणामक इत्युच्यते व्यवहारतः । निश्चयतस्तु परिणामिपरिणामकत्वाविर्भावतिरोभावमात्रभेदौ स्वत एव इत्यस्य नयस्य दर्शनम्, परिणामश्च द्रव्यमात्रम्, द्रव्यं च भव्ये [पा० ५।३।१०४], यद् यद् भवति स परमार्थोऽस्येति, तदप्येवं भाविनं क्षीरादिपर्यायवच्च घटादेस्तावद् बोद्धव्यम् । तथाविकृतस्याध्यात्मिकस्य कर्मपर्भिसंज्ञस्य नरनारीरिरिसनस्य वा भावनार्थमुपनयति—**तथात्मकर्मणोरपीति** । तद् व्याचष्टे—**आत्मा** ३३१

---

१ भवद्रव्यं प्र । (तत्र द्रव्य ?) ॥ २ दृश्यतां पृ० १८६ टि० ११ ॥ ३ असास य० । अस भा० । (उस्सासत्ताए ?) ॥ ४ चा तदे भा० । च तदे य० ॥ ५ रूपापापाचम भा० । रूपात्तम य० । (रूपापत्तेर्म ?) ॥ ६ तत्तत्तदेवे भा० ॥ ‡ ‡ एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठो भा० प्रतौ नास्ति ॥ ७ मार्थतत्वमिति प्र० ॥ ८ ०मन्यावनति य० ॥ ९ दृश्यतां पृ० २७८ टि० १ । पृ० ३६९ पं० २६ ॥ १० णाम्यस्य भा० ॥ ११ धिगुणस्य य० ॥ १२ योधिगुणो प्र० ॥ १३ तश्च य० ॥ १४ तथेदं भावित भा० ॥

यदपि च रूपादि तदप्यात्मन एव तत्त्वम्, उपयोगात्मकत्वात् तदव्यतिरेकलभ्यरूपत्वात्, मत्यादिवत् । रूपादीनां देशकालादिभेदेन अगृह्यमाणत्वाद-

---

परिणयमतीत्यादिना यावदनादित्वमेकत्वमिति परिणाम्यपरिणामकयोरनियतदेशकालभावादिरूपतां दर्शयति तथाभवनसामर्थ्याद् गतिजात्यादिना पुद्गलानिति, उपयोगलक्षण आत्मा गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गाद्यनुभवनोपयोगात्मतया तान् पुद्गलान परिणमयतीति आत्मनः परिणामकत्वं तेषां परिणाम्यत्वम् । पुद्गलाश्चात्मानं मिथ्यादर्शनादित्वेनेति मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगसुखदुःखोदयक्षयोपशमादिभावेन परिणमयन्ति, तद्भावेनात्मा परिणम्यते । स च मिथ्यादर्शनोदयादिभावो भवभ्रान्तिहेतुः, तद्वशस्य समरणात् । एतस्य कर्मकर्मिद्वयस्यान्योन्यपरिणामकत्वादनादित्वमेकत्वमेव, एकत्वशब्देन पर्यायभूतेन तत्त्वं व्याचष्टे संसारस्य कर्मकर्मिसम्बन्धजत्वात् तस्य च सम्बन्धस्यानादित्वात् । यथोक्तम् – पुव्विं भंते ! अंडए पच्छा कुक्कुडी ? इत्यादि प्रश्नः । व्याकरणम् – रोहा ! पुव्विं पि एते पच्छा वि एते, दो वि एते सासता भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा ! [भगवतीसू० १।६।५३] इत्यादि । मिथ्यादर्शनग्रहणं सर्वकर्मबन्धाधारभूतत्वाच्छेषस्यापि सर्वस्य सूचनम् ।

आह – यदुक्तं त्वया कर्पूरोदकाद्यचेतनानां परिणाम्यपरिणामकभावादेकत्वं चेतनाचेतनयोश्च जीवकर्मणोरिति तद्युक्तम् । किन्तु 'रूपादि उपयोगीभवदात्मा भवति आत्मापि रूपादीभवति तत्परिणामात्' इत्येतन्नोपपद्यते स्वभावाविनाशादिति । अत्रोच्यते – यदपि चेत्यादि यावद् मत्यादिवदिति । यदपि च
१० बहिर्भिन्नं विषयजातमुपयोगनिमित्तभूतं रूपादि तदप्यात्मन एव तत्त्वम् । रूपादितत्त्वमात्मानं च वक्ष्यामः । कुतो रूपाद्यपि आत्मन एव तत्त्वमिति चेत्, उच्यते – उपयोगात्मकत्वात्, मत्यादिचक्षुर्दर्शनादिभेदप्रभेद उपयोग आत्माऽस्य रूपादेर्विषयस्य सोऽयं तदात्मकः । कथं रूपादेर्विषयस्योपयोगात्मकत्वमिति चेत्, उच्यते – तदव्यतिरेकलभ्यरूपत्वात्, रूपं रसो गन्ध इत्यादिविषयस्वरूपाकारेणोपयोगेन अव्यतिरिक्त एकीभूत एवोपलभ्यते रूपादिर्विषयो नान्यथा, अन्यथा विषयस्वरूपानवधारणात् । तस्मात् तदनतिरेकलभ्यरूपत्वात् रूपादिर्विषय उपयोगात्मकः । यद् यदुपयोगात्मकं तत् तदात्मन एव तत्त्वम्, यथा मत्यादिचक्षुर्दर्शनादिभेद उपयोग इति ।

स्यान्मतम् – रूपादीनां देशभेदेन युगपदवस्थायिनां रूपं रसो गन्ध इत्यादयः परस्परतो देशभिन्ना इति गृह्यन्ते । [11]तस्य देशस्य परमाणुशो भेदे न रूपं रसो [12]गन्धो वोपलभ्यते, देशसम्बन्धेन [13]तूपलभ्यमाना भवन्ति । देशतोऽ[14]त्यन्तं भेदग्रहे तेषामभवनम् । तथा क्षणभेदे प्रथमक्षणेऽन्यद् रूपं द्वितीयक्षणेऽन्यदिति गृह्यते चेद् न रूपं नाम किञ्चित् स्यात् [15]तन्निष्ठस्य कालस्य रूपग्रहणाश्रयसम्बन्धाभावादित्यभवनात्मका

---

१ °णाम्य° प्र० ॥ २ °णामक° प्र० ॥ ३ पुव्विं एते य० । पुपि एते भा० । दृश्यतां पृ० १८६ पं० २१, टि० ६ ॥ ४ कर्पूरादेकाद्य° प्र० ॥ ५ (°त्मीभवति ?) ॥ ६ °त्मतं च भा० । (°त्मनश्च ?) ॥ ७ °र्विकस्य भा० । °र्विकल्प य० ॥ ८ °त्मकेणवि चेत् प्र० ॥ ९ °दिवि° य० ॥ १० अन्यथा भा० प्रतौ नास्ति ॥ ११ इत पूर्वं कश्चन पाठोऽत्र त्रुटित इति भाति ॥ १२ गन्धश्चो° य० ॥ १३ रूपल° प्र० ॥ १४ °त्यन्तभेद° भा० ॥ १५ तन्निष्ठस्य प्र० ॥

भवनात्मकत्वाद् निर्वस्तुत्वापत्तेः द्रव्यमेव तथातथाभवनलक्षणं सत्यं चक्षुरादिप्रत्ययोपयोगापदेशेन भवति भागिनेयाद्यपदेशविशिष्टैकत्वसत्यपुरुषवत्।

यच्चोपयोगस्वतत्त्वं मत्यादि तदपि पुद्गलात्मतत्त्वम्, रूपाद्यात्मकत्वात्, अण्वादिवत्। उपयोगलक्षण आत्मा रूपाद्यात्मकेषु पुद्गलेषु उपयुक्तः रूपाद्यात्मक एव, सर्वात्मना ग्राह्ये उपयोगमयात् मृत्पिण्ड शिवकादितायामिव सोऽचेतन एव स्यात् पटेऽनुपयुज्यमानघटादिवत्। आत्मा पुद्गलस्वतत्त्व एव आत्मस्वतत्त्वज्ञानावरणाद्युदयप्रवृत्त्यव्यतिरिक्तभावाव्यतिरिक्तरूपत्वाच्च।

रूपादयः स्युः। आदिग्रहणाद् भावभेदेन एकगुणद्विगुणत्रिगुणकृष्णादिभेदेन अगृह्यमाणत्वाद् विशिष्टस्य सामान्यस्यैव ग्रहणात्। ततः किम्? अभवनात्मकत्वाद् निर्वस्तुत्वापत्तिर्वन्ध्यापुत्रवत्। ततश्च निर्वस्तुत्वापत्तेरेतत् प्रतिपत्तव्यम्–द्रव्यमेव तथातथाभवनलक्षणं सत्यं न रूपादयो नाम केचिदिति। तथा तथेति रूपरसादिप्रकारेण भवति श्यामरक्तत्वादितद्भेदप्रकारेण चेति सत्यम्, द्रव्य च भव्ये [पा० ५।३।१०४] द्रवति भवतीति। कथं पुनस्तद् द्रव्यमभिन्नं सद् रूपादिभेदेन भवतीति चेत्, चक्षुरादिप्रत्ययोपयोगापदेशेन भवति। चक्षुरादिप्रत्ययाः इत्यधिपत्यालम्बनहेतुसमनन्तरप्रत्ययाः, ते निमित्तमस्योपयोगस्य ज्ञानदर्शनाख्यस्य स चक्षुरादिप्रत्ययोपयोगः, तदपदेशेन रूपादि भवति ज्ञानापदेशेन चक्षूरूपादिप्रत्ययेनेत्यर्थः। यथोक्तम्–

रूपालोकमनस्कारचक्षुर्भ्यः सम्प्रवर्तते।
विज्ञानं मणिसूर्यांशुगोशकृद्भ्य इवानलः ॥ [ ] इति।

दृष्टान्तः–भागिनेयाद्यपदेशविशिष्टैकत्वसत्यपुरुषवत्, यथैक एव पुरुषोऽनेकसम्बन्धिधर्मीपुरुषापेक्षापदेशविशिष्टो भागिनेयो मातुलो भ्राता पतिः पिता देवरः श्वशुरः पुत्रो भ्रात्रीय इत्यादिर्भवति देवदत्त एव इत्येव च सत्यम्, तथा द्रव्यमेकमेव रूपादि भवति चक्षुराद्यपदेशादिति साधूक्तमेकमेव सर्वात्मकमिति।

एवमुपयोगात्मकस्य पुद्गलस्य रूपादिप्रभेदस्योक्तम्। इदानीमुपयोगस्यापि पौद्गलत्वमुच्यते–यच्चोपयोगस्वतत्त्वं मत्यादि तदपि पुद्गलात्मतत्त्वमिति पक्षः। कस्मात्? रूपाद्यात्मकत्वात्, अण्वादिवत्। स ह्युपयोगलक्षण आत्मा परमाणुद्व्यणुकत्र्यणुकादिषु रूपाद्यात्मकेषु पुद्गलेषु उपयुज्यते कृत्स्नो व्याप्रियते सात्म्येन व्याप्त उपयुक्तः समाप्तः स्यात, रूपाद्यात्मक एव, असर्वात्मकज्ञेयासक्तज्ञानवत् ...पुद्गलवत् तदुपयोगात् तत्परिणामात् तैः तद्वदिति पूर्वोक्तन्यायाच्च। यदेव रूपाद्यात्मकत्वमात्मनो नाभ्युपगम्यतेऽसङ्ख्यातप्रदेशस्यापि, रूपादिमद्द्रव्योपयोगे तादात्म्यं प्राप्नोति यातीति मनोऽसङ्ख्यातप्रदेशोऽपि २६० २

---

१ सत्यम् य० प्रतिषु नास्ति ॥ २ द्रवति भवतीति भा०। भवति द्रवतीति य० ॥ ३ सम्बन्धी प्र० ॥ ४ अण्वादि भा०। अद्यादि य० ॥ ५ उपा प्र० ॥ ६ अतः परं रूपाद्यात्मकत्वमात्मनो नाभ्युपगम्यतेऽसङ्ख्यातप्रदेशस्यापि इत्यधिकः पाठो य० प्रतिषु अत्र दृश्यते किन्तु भा० प्रतौ अयं पाठः पं० १ मध्ये यदेव इतः परं दृश्यते तत्रैव च स्थापितः ॥ ७ दृश्यतां पृ० ३६० पं० ४ ॥ ८ ↑ ↑ एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः य० प्रतिषु अत्र नास्ति। दृश्यतां टि० ६ ॥ ९ मनेक भा० ॥ १० तस्य ग्राह्यो प्र० ॥

नन्वेवं पुद्गल एव आत्मा प्राप्तः, तस्योपयोगात्मनः पुद्गलत्वात्, कुतोऽस्य रूपाद्यात्मकता? न, उपयोगात्मकत्वादेव रूपादीनामप्युक्तवत्।

अनेन सर्वमपि कर्मकारणैकान्तवादिमतं पुरुषकारकारणैकान्तवादिमतं च असम्बद्धं बोद्धव्यम्, इतरेतरात्मकत्वात्।

सर्वात्मना सार्वात्म्येन सर्वैः प्रदेशैर्ग्राह्ये[1] द्रव्ये **उपयोगमयान्** उपयोगमगच्छन् अनुपयुज्यमानोऽचेतन एव पटानुपयुज्यमानघटादिवत् स्यादिति सम्भन्त्स्यते। कथं पुनरुपयोगं यान् यायात्? **मृत्पिण्डः शिवकादितायामिव,** यथा मृत्पिण्डः कृत्स्नः शिवकादिभावे सार्वात्म्येन व्यापारं गच्छति तथा यदि न गच्छेदात्मा ग्राह्ये ततस्तादात्म्यमप्रतिपद्यमानः **सोऽचेतन एव स्यात् पटेऽनुपयुज्यमानघटादिव**दिति यथाक्रमं वैधर्म्येण साधर्म्येण च दृष्टान्तौ। चेतनो ह्युपयोगलक्षणस्तदभावादचेतनः स्यादिति एष दोषो रूपाद्यात्मकत्वाभावे स्यादात्मन उपयोगलक्षणस्य। तस्मात् सिद्धं रूपाद्यात्मकत्वमात्मन उपयोगात्मकत्वात्। अतः **पुद्गलस्वतत्त्वमेव मत्यादि** इति साधूक्तम्। इतश्च **आत्मा पुद्गलस्वतत्त्व एव, आत्मस्वतत्त्वे-**त्यादि यावद् **भावाव्यतिरिक्तरूपत्वाच्च**। आत्मनः स्वतत्त्वमौदयिको भावः, उदये[2] भव औदयिकः, कस्य? कर्मणो ज्ञानावरणीयादेरष्टविधस्यापि, स च तदुदयप्रवृत्तितोऽपृथग्भूतोऽव्यतिरिक्तो भावः स्वं[3] तत्त्वमात्मनः, तदव्यतिरिक्तरूपश्चात्मा, तस्मादात्मस्वतत्त्वज्ञानावरणाद्युदयप्रवृत्त्यव्यतिरिक्तरूपत्वाच्चात्मा[4] पुद्गलात्मतत्त्व एव तादात्म्य[5]प्रतिपत्तेः रूपाद्यात्मकपरमाण्वादिवदित्यर्थः[6]।

अत्राह—**नन्वेवमित्यादि** यावत् **कुतोऽस्य रूपाद्यात्मकता?** इति। ननु भोः! त्वदुक्तेन
२६१-७ विधिना एतेनैव **पुद्गल[7] एवात्मा प्राप्तः तस्योपयोगात्मनः पुद्गलत्वात्,** योऽयं पुद्गलोपयोगः 'रूपं रसः' इत्यादिज्ञानात्मनः स चात्मोपयोग एव उपयोगव्यतिरिक्तस्य रूपादेरभावादुपयोगस्य रूपाद्यात्मकत्वादुपयोगरूपत्वाच्च रूपादीनाम्। तस्मात् **कुतोऽस्य आत्मनो रूपाद्यात्मकता?** इति प्रस्तुतस्योपयोगस्य मत्यादेः पुद्गलात्मत्वमुपरुणद्धि एष विचार इति। अत्रोच्यते—एतन्न, **उपयोगात्मकत्वादेव रूपादीनामप्युक्तवत्।** नैष दोषः, रूपाद्यात्मकता आत्मनः, रूपादीनां चोपयोगात्मकता। यस्मादुपयोगात्मकत्वं रूपादीनामप्यनन्तरमेवोक्तम्। तस्माद् रूपादीनामप्युपयोगात्मकत्वादुक्तवत् पुद्गलोऽप्यात्मा आत्मापि पुद्गल एवेति रूपाद्यात्मकत्वमात्मनो न दोषाय।

अनेन सर्वमपीत्यादि यावदितरेतरात्मकत्वात्। एवं च कृत्वा पुरुषस्य रूपादिमत्पुद्गलात्मकत्वात् पुद्गलस्यापि उपयोगात्मकपुरुषात्मकत्वात् तदुच्यते[8] 'कर्मैव कारणम्, पुरुषकार एव कारणम्' इत्यवधारितमुभयमप्येकान्तगतमसम्बद्धं बोद्धव्यमिति। उभयोरपि पक्षयोः सह दोषोक्तिरेषा[9]।

---

१ यान्यात् मृ° प्र०॥ २ उदयेन य०॥ ३ स्वतत्त्व य०॥ ४ (°क्तभावाव्यतिरिक्तरूप° ?)॥ ५ तावदात्म्य° य०। त्तावदात्म्य° भा०॥ ६ °ण्वादित्यर्थः प्र०। दृश्यतां पृ० ३६३ पं० ७३। (°ण्वात्मकत्वादित्यर्थ ?)॥ ७ पुद्गला प्र०॥ ८ (यदुच्यते ?)॥ ९ दृश्यतां पृ० ३५२ पं० ४। पृ० ३५७ पं० ३॥

प्रत्येकप्रत्युक्तिभावनादिकं तु प्रवर्तयितृत्वात् पुरुषश्च कारणमुत्कर्षार्थी, तस्यैवोक्तवत् सर्वत्वात् कर्मापि । तस्यैव कर्मतापि । पुरुषकाराणां च तत्साध्यानां च सिद्धयोऽसिद्धयश्च नाना स्युरेव, पुरुषस्यैवाव्यतिरिक्तभिन्नकारणत्वात्, अहिभोगविस्तरणकुञ्चनवत् ।

तथानतिरेकातिरेकात् कर्मापि प्रवर्तयितृ । स एव हि पुरुषश्चेतनोऽचेतनश्च इष्टानिष्टविधिव्याप्रियमाणत्वात् । अत्रैव नेष्यते ततोऽसौ भवेत् पशुवद् मनुष्यत्वेनापि ।

इदानीं प्रत्येकप्रत्युक्तिभावनादिक् तु, [तु]शब्दो विशेषणार्थः, युगपत्प्रत्युक्तिदिक्तः प्रत्येकप्रत्युक्तिदिग् विशिष्यते । कर्मैकान्तवादप्रत्युक्तिदिक् तावत् प्रवर्तयितृत्वात् पुरुषश्च कारणमुत्कर्षार्थी, चशब्दात् कर्म चेति, एकान्तप्रतिषेधस्य वक्ष्यमाणत्वात् । उत्कर्षमर्थयतीत्युत्कर्षार्थी, उत्कर्ष एवार्थो मोऽस्यास्तीति वा, अथाचामनिहिते [पा० वा० ५।२।१३५] इति इनिः, स चोत्कर्षो बाह्यो धनधान्यमित्रभूम्यादिसम्पत्, आन्तरस्त्वारोग्यज्ञानादिसम्पत्, ऊनार्थस्य तदथारम्भोपरमादसन्निहितार्थोऽर्थीति । कस्मात् पुरुषश्च कारणमिति चेत्, उच्यते—तस्यैवोक्तवत् सर्वत्वात् 'ब्रीहिणेव ब्रीहिं क्रियते' इत्यादिन्यायो- २६१ २
क्तवदसावेव पुरुषः प्राणादिमांश्चेतनः कर्मापि, अपिशब्दाद् नोकर्मापि प्राणापानभाषामनोद्रव्यादिपुद्गल आध्यात्मिको बाह्योऽपि रूपादिपुद्गलश्चेतनो यस्मात् तस्मात् स एव प्रवर्तयिता । तस्यैवास्मिन् पक्षे कर्मादिसर्वसर्वत्वात् किं तदन्यत् कर्म ? इति तस्यैव कर्मतापि, 'अपि'शब्दात् पुरुषतापि पुद्गलतापि ।

तस्मादेव यदुक्तं 'प्रधानमध्यमाधमाः पुरुषकारास्तेषां च सिद्धयोऽसिद्धयश्च प्रधानमध्यमाधमा नाना न स्युः' इति तदयुक्तमुक्तम् । पुरुषकाराणां च तत्साध्यानां च सिद्धयोऽसिद्धयश्च नाना स्युरेव, न न स्युः । किं कारणम् ? उत्कर्षपरम्पराया बहुप्रभेदाया अपि आ मुक्तेः पुरुषस्यैवाव्यतिरिक्तभिन्नकारणत्वात् । स एवाव्यतिरिक्तो भिन्नश्च कारणम्, तस्यैव सर्वप्रभेदात्मकत्वाद् भिन्नत्वम्, तेषां च कर्मनोकर्मबाह्यरूपादिभेदपुद्गलानां पुरुषोपयोगात्मकत्वादव्यतिरिक्तत्वम् । तस्मात् पुरुषकारनानात्वतत्साध्यसिद्ध्यसिद्धिनानात्वानि च स्युरेव, स चैक एव कारणं स्यादेव । को दृष्टान्तः ? अहिभोगविस्तरणकुञ्चनवत्, यथा अहिः स्फटाटोपकुण्डलीकरणाद्ययुगपदवस्थायिधर्मैः रूपादिभिर्युगपदवस्थायिभिश्च भिन्नोऽप्यव्यतिरिक्तोऽभिन्नाहित्वसत्यस्तदव्यतिरिक्तभिन्नकारणत्वात् प्रवर्तयिता तथा पाण्यादिसङ्घातसन्वर्ती पुरुष उपयोगात्मा गत्याद्युत्कर्षार्थी तेषु युगपदयुगपद्भाविषु पुरुष एव सत्य इति ।

तथानतिरेकातिरेकात् कर्मापि प्रवर्तयितृ, यथा पुरुषः पुद्गलात्मकर्मधर्मप्रभेदभिन्नोऽप्यव्यतिरिक्तः प्रवर्तयिता तथा कर्मापि तदनतिरिक्तातिरिक्तकारणत्वात् प्रवर्तयितृ । किञ्च, चेतनाचेतन- २६२ १
परमात्मत्वाच्च पुरुषस्यैवेष्टानिष्टविधिं प्रति व्यापारः, स एव हि पुरुषश्चेतनोऽचेतनश्च, कुतः ? इष्टा-

---

१ दृश्यतां पृ० ३६८ पं० ७ ॥ २ दृश्यतां पृ० ३५८ पं० १ ॥ ३ दृश्यतां पृ० ३५२ पं० ५ ॥ ४ इति च तद् भा० ॥ ५ कर्मनोवाह्य प्र० । दृश्यतां पं० १४ ॥ ६ लीकरणा य० ॥ ७ (तभिन्ना ?) ॥ ८ युगपद्भावेषु य० । अत्र युगपदयुगपद्भाविभावेषु इत्यपि पाठः स्यात् ॥ ९ एव निमित्त भा० ॥ १० चो प्रव प्र० ॥

एवं च अविभक्तद्वयात्मकतायां द्विविधः कर्माख्यपुरुषकारस्य प्रवृत्तिप्रबन्धः साध्योऽसाध्यश्च तीव्रमन्दादिहेतूपसेवनसञ्चितत्वात् साध्यासाध्यव्याधिवत्, चलनीयोऽविचाल्यश्च बद्धाबद्धमूलत्वाद् वृक्ष-हटवत्, निकाचितानिकाचितावयवत्वादयःशलाकाकलापवत्।

निष्टविधिव्याप्रियमाणत्वात्। उत्कर्षापकर्षाविष्टानिष्टौ, तयोर्विधिः तत्प्राप्त्युपायः प्रमादाप्रमादौ, तौ च दृश्येते। तस्मादयं पुरुषश्चेतनोऽचेतनश्च प्रमादाप्रमादयोरिष्टानिष्टविध्योर्व्याप्रियमाणत्वात्। अतोऽचेतनकर्मानुभावोपलम्भाच्चेतनपुरुषानुभावोपलम्भाच्चासौ तद्द्वयपरमार्थः। तस्मात् कर्मापि प्रवर्तयितृ। अथैवं नेष्यते त्वया, यदि च पुरुषश्चेतनशक्तिरेवेष्यते ततोऽसौ भवेत् पशुवद् मनुष्यत्वेनापि गम्यागम्यभक्ष्याभक्ष्याद्यविशेषज्ञो यथा पशुर्भवत्यरपचेतनस्तथा मनुष्यत्वेऽपि भवेत्। व्यक्तवर्णपदवाक्यार्थप्रत्यायनसमर्थशब्दोच्चारणादिशक्तिश्च मनुष्यस्तद्वत् पशुरपि भवेत। कृम्यादिवद् मनुष्योऽपि जडः स्यात्, मनुष्यवत् कृमिरपि पण्डितः स्यादित्यादि। तस्मात् कर्मापि चेतनं पुरुषोऽप्यचेतनः, तदुभयमविभक्तमिति ग्राह्यम्।

एवं च कृत्वा तस्यैव तु उदितवदविभक्तद्व्यात्मकतायां चेतनाचेतनैकात्मतायां सत्यां द्विविधः प्रवृत्तिप्रबन्धः फलपरिणामप्रबन्धः प्राग्भवीयकर्माख्यपुरुषकारस्य साध्योऽसाध्यश्च, तल्लक्षयहेतुभूतोपादानकालपरिणामद्वैविध्यात्। तद्दर्शयति – तीव्रमन्दादिहेतूपसेवनसञ्चितत्वादिति. तीव्रेण योगपरिणामेन सञ्चितं कर्म तीव्रानुभावस्थितिप्रदेशं बद्धपुष्टनिकाचितं[6] सुखदुःखफलमुपक्रमितुमशक्यत्वादसाध्यमवश्यं विपच्यते। मन्देन तु सञ्चितं मन्दानुभावादि शक्यत्वादुपक्रम्यम्। साध्यासाध्यव्याधि-
२६० २ वत्, यथा व्याधिर्ज्वरा[7]तिसारादिर्निदानमन्दतीव्रत्वाभ्यां साध्योऽसाध्यश्च भवति तथा कर्माख्यपुरुषकारप्रवृत्तिप्रबन्धः। साध्यासाध्यस्वभावव्याख्यानं च – चलनीयोऽविचाल्यश्च बद्धाबद्धमूलत्वाद् वृक्षहट[9]वत्। यथासङ्ख्य साध्यश्चलयितव्यः, इतरोऽविचाल्यो[10] न कम्पयितव्यः। प्रथमो बद्धमूलो वृक्षवत्, द्वितीयो हट[11]वदबद्धमूलः, दुःखविश्लेष्यः सुखविश्लेष्यश्चेत्यर्थः, निकाचितानिकाचितावयवत्वात्,

---

१ °च्चेति त° य० ॥ २ °शक्तिरेव प्रोच्यते य० ॥ ३ प्योऽतिजडः भा० डे० लीं० वि०। °प्योमिजडः पा० र० ही० ॥ ४ तस्यैव वतृदित° प्र० ॥ ५ °त्मकायां भा० ॥ ६ "अट्टमे कम्मप्पवाए पुव्वे कम्मं पण्णविज्जति, जीवस्स य कम्मस्स य कह बधो? तत्थ ते भणति बद्धं पुट्ठ णिकाइय। बद्धं जहा सुइकलावो, पुट्ठ जहा घणणिरतरातो कयाओ, णिकाइयं जहा तावेऊण पिट्टिया, एव कम्मं रागदोसेहि जीवो पढमं बधइ, पच्छा त परिणामं अमुचंतो पुट्ठं करेति, तेणेव सकिलिट्ठपरिणामेण तं अमुंचतो किंचि णिकाएति। णिकाइय णिरुवक्कम, उदएण णवरि वेइज्जइ, अन्नहा त ण वेइज्जति।" इति उत्तराध्ययनसूत्रस्य शान्तिसूरिविरचिताया टीकाया तृतीयाध्ययने गोष्ठामाहिलनिह्नववादे, एतादृश एव पाठो नेमिचन्द्रसूरिरचितायामुत्तराध्ययनसूत्रवृत्तावपि, किन्तु तत्र "बद्धं जहा सुइकलावो ततुबद्धो, पुट्ठं जहा किट्टेण घणनिरतराओ कयाओ" इति विशिष्ट पाठ ॥ ७ °रातीसा° भा० ॥ ८ °चल्यश्च प्र० ॥ ९ हट्ट° पा०। "जइ तं काहिसि भावं जा जा दिच्छसि नारिओ। वायाविद्धुव्व हडो अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥ [उत्तराध्य० २२।४४]। यदि त्वं करिष्यसि भावं प्रक्रमाद् भोगाभिलापरूप या या द्रक्ष्यसि नारीस्तासु तासु इति गम्यते, तत किम्? इत्याह – वाताविद्धो हठः वनस्पतिविशेष, स इव अस्थितात्मा भविष्यसि।" इति उत्तराध्ययनसूत्रस्य नेमिचन्द्राचार्यरचिताया वृत्तौ ॥ १० °चल्यो य० ॥ ११ हट्ट° य० ॥

परिणमनमपि च कर्मणः पुरुषकारस्य विषयो न च विषयः क्वचित्, अप्राप्तप्राप्तविपरिणामावस्थत्वात्, पुष्पतुङ्गदृढफलवत्।

एवं च कृत्वा क्रियासहायश्च स फलं प्रयच्छति एकश्च, सापेक्षानपेक्षशक्तित्वात्, भारोत्पाटवत्। सोपक्रमस्य कर्मात्मात्मनः पुरुषात्मना　　तृणदाहवद्वा।

निकाचिता कर्मप्रदेशा तीव्रक्रोधाद्यशुभपरिणामेन, अनिकाचिता मन्दपरिणामेन । किमिव ? अयःशलाकाकलापवत्, यथा सूत्रमात्रोपनिबद्धा अयःशलाका एकगाढाकर्षणमात्रप्रयासेन मया प्रच्याव्यन्ते, प्रतप्तसम्पृक्तप्रहता सद्घट्टनादृते न शक्या पृथक् कर्तुम्, तथा कर्मनिधिः ।

परिणमनमपि चेत्यादि यावत् पुष्पतुङ्ग-दृढफलवत् । तस्यापि पूर्वकर्मणः तीव्रमन्दादिहेतूपसेवनसञ्चितस्य फलदानमिति पुरुषकारस्य कृष्यध्ययनसेवावाणिज्याद्यनुष्ठानस्य विषयो न च विषयः क्वचिदिति, अप्राप्तप्राप्तविपरिणामावस्थत्वात्, यथासङ्ख्यं स्वयमप्राप्तविपरिणामावस्थं पुरुषकारविपरिणमय्य पुरुषकारेण विपाच्यते विपाकसमानीयते उदीरणाकरणेनोदीर्यते, प्राप्तविपरिणामावस्थं तु वैयर्थ्यान्न विपरीतिक्रियते पुरुषकारेण न विपाच्यते नोदीर्यते स्वयमेव विपक्वत्वात् । किमिव ? पुष्पतुङ्गदृढफलवत्, पुष्पतोर दृढफलं च यथासङ्ख्यं दृष्टान्तौ । यथा दृढफलं स्वयमेव विपच्यमानं न पाच्यते पुरुषकारेण, पुष्पतोर तु वृक्षायुर्वेदविधिना विपाच्यते । अथवा पुष्पतोरस्यैवोत्सवस्य दृढं फलमस्य १६३।
भावाति दृढफलं नादृढफलस्यैवोत्पन्नमिति तस्यैव भवति तच्छक्तिविरहितस्य न भवतीति तद्यथाप्राप्तपाककाले फलराग्रादिफलं कोद्रवपलालादिवेष्टितं निर्वातं वा पावकधूमादिभिर्विपाच्यते, नेतरदनङ्कुरं विनाशीति । अथवा अप्राप्तविपरिणामावस्थं पुष्पतोरमतिमृदुत्वादुपक्रमेणापि न पाच्यते पाचनायोग्यत्वात् कुथ्यति विशीर्यते वा, दृढफलं तु पाचनयोग्यं प्राप्तकालत्वात् पाच्यते ।

एवं च कृत्वा क्रियासहायश्च स फलं प्रयच्छति एकश्च सहायीभूताया क्रियाया अपि तच्छक्तिमात्रत्वात्, क्रियासहायस्य पुरुषकारस्य फलप्रदानं सापेक्षानपेक्षशक्तित्वात्, भारोत्पाटवत्, यथा भारमुत्पाटयन् कश्चित् पुरुषः स्वयमेवोत्पाटयति, कश्चित् पुनः सहायापेक्षः, एवं पुरुषकारोऽपि फलप्रदानं सहाया क्रियामपेक्षते कश्चित् कश्चिदिति सोपक्रमस्य क्रियापेक्षा न निरुपक्रमस्य । तत्र सोप-

---

१ '…सम् दुर्गति न तो… फलिति च' इति हेमधातुपारायणे । नीयन्ते…… सद्गदापार प्रकार…… ॥ २१ ॥ एवम् …… भवति । …… तोकमयम् ॥　॥ १ ॥ दो हिः ॥ ८६९ ॥ दुर् …… भवति …… उपपत्यर्थे तुदू …… ॥ ८९ ॥ …… । एवं च पुष्पदुर्गतिः …… पुष्पसत्त्वं वा …… ॥
२ दृढफ प्र० ॥ ३ यति भा० ॥ ४ पाच्य प्र० ॥ ५ वैपरीत्यान प्र० । अत्र विपर्ययास इत्यपि पाठः स्यात् ॥
६ दृढ प्र० । …… ॥ ७ विपाच्य प्र० ॥ ८ पच्यते प्र० ॥ ९ कुथ्यति विशीर्यते प्र० । कुथ्यति शीर्यते भा० ॥ १० यथान्य पु भा० । यथ पु प्र० । (…… पुरुषकारस्य फलप्रदान ?) ॥

एवमनयैव दिशा पुरुषकारैकान्तवादः प्रतिषेध्यः । यत्रैकस्य स्वातन्त्र्यं तत्र तत्प्रदर्शिततत्त्वस्य इतरस्यापीति भावनीयम् । तथावगाहादिलक्षणैरस्तिकायैः

क्रमस्य कर्मा[1]त्मात्मन इत्यादि यावत् **तृणदाहवद्भेति** तस्यैव सहैकीभूतस्य आत्मनश्चेतनाचेतनत्वेन पुरुषात्मनेत्यादिना सापेक्षान् उदयोपशमक्षयोपशमक्षयान् अवस्थाविशेषान् दर्शयति सोदाहरणान् ।

एवमनयेत्यादि याव[2]द्भावनीयमिति । एवं तावद् द्व्यात्मकतया आत्मकर्मैकान्तवादप्रत्युक्तिदिगियं प्रदर्शिता । **अनयैव दिशा** अनयैव पुरुषकार इत्याद्याद्योक्तन्यायेन तदेव वस्तु कर्मसंज्ञामात्रेण भावयित्वा **पुरुषकारैकान्तवादः प्रतिषेध्यः** । तद्यथा – कर्म[3] च कारणं प्रवर्तयितृत्वात् सुखदुःखोत्कर्षापकर्षविकल्पानुभवावश्यम्भावि, तस्य चैकस्य उक्तवत् सर्वत्वा[4]दुपयोगत्वात् पुरुषतापि इत्यादि सर्वमशेषं योजनीयम्, यत् परेणानभ्युपगतमन्यतरदि[5]तरत् नदितरस्मिन्नापाद्यमिति, तत आह – **यत्रैकस्य स्वातन्त्र्यं**
२६३-२ [6]**तत्र तत्प्रदर्शिततत्त्वस्य इतरस्यापीति भावनीयमिति** भावनोपायं प्रदर्शयति सामान्येन । तथा विशेष्य भावितमेवास्माभिरिति ।

---

१ "अत्राह — चतुर्गतावपि संसारे किं व्यवस्थिता स्थितिरायुष उताकालमृत्युरप्यस्तीति । अत्रोच्यते — द्विविधानि आयूंषि अपवर्तनीयानि अनपवर्तनीयानि च । अनपवर्तनीयानि पुनर्द्विविधानि – सोपक्रमाणि निरुपक्रमाणि च, अपवर्तनीयानि तु नियतं सोपक्रमाणीति । तत्र 'औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासङ्ख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ।' [तत्त्वार्थ० २।५२]। औपपातिकाश्चरमदेहा उत्तमपुरुषा असङ्ख्येयवर्षायुष इत्येतेऽनपवर्त्यायुषो भवन्ति । …शेषा मनुष्यास्तिर्यग्योनिजाः सोपक्रमा निरुपक्रमाश्चापवर्त्यायुषोऽनपवर्त्यायुषश्च भवन्ति । तत्र येऽपवर्त्यायुषस्तेषां विषशस्त्रकण्टकाम्बुदकाग्न्यशिनाजीर्णाशनिप्रपातोद्बन्धनश्वापदवज्रनिर्घातादिभिः क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिभिश्च द्वन्द्वोपक्रमैरायुरपवर्त्यते, अपवर्तनं शीघ्रमन्तर्मुहूर्तात् कर्मफलोपभोगः, उपक्रमोऽपवर्तननिमित्तम् । अत्राह — यद्यपवर्तते कर्म, तस्मात् कृतनाशः प्रसज्यते यस्मान्न वेद्यते । अथास्त्यायुष्कं कर्म म्रियते च तस्मादकृताभ्यागमः प्रसज्यते, येन सति आयुष्के म्रियते ततश्चायुष्कस्य कर्मण आफल्यं प्रसज्यते, अनिष्टं चैतत् । एकभवस्थिति आयुष्कं कर्म, न जात्यन्तरानुबन्धि । तस्मान्नापवर्तनमायुषोऽस्तीति । अत्रोच्यते — कृतनाशाकृताभ्यागमाफल्यानि कर्मणो न विद्यन्ते, नाप्यायुष्कस्य जात्यन्तरानुबन्धः । किन्तु यथोक्तैरुपक्रमैरभिहतस्य सर्वसन्दोहेन उदयप्राप्तमायुष्कं कर्म शीघ्रं पच्यते तदपवर्तनमित्युच्यते, संहतशुष्कतृणराशिदहनवत् । यथा हि संहतस्य शुष्कस्यापि तृणराशेरवयवशः क्रमेण दह्यमानस्य चिरेण दाहो भवति, तस्यैव शिथिलप्रकीर्णोपचितस्य सर्वतो युगपदादीपितस्य पवनोपक्रमाभिहतस्य आशु दाहो भवति, तद्वत् । यथा वा सङ्ख्यानाचार्यः करणलाघवार्थं गुणकारभागहाराभ्यां राशिं छेदादेवापवर्तयति न च सङ्ख्येयस्यार्थस्याभावो भवति, तद्वदुपक्रमाभिहतो मरणसमुद्घातदुःखार्तः कर्मप्रत्ययमनाभोगयोगपूर्वकं करणविशेषमुत्पाद्य फलोपभोगलाघवार्थं कर्मापवर्तयति, न चास्य फलाभाव इति । किञ्चान्यत्, यथा वा धौतपटो जलार्द्र एव संहतश्चिरेण शोषमुपयाति स एव च वितानितः सूर्यरश्मिवाय्वभिहतः क्षिप्रं शोषमुपयाति, न च संहते तस्मिन् प्रभूतस्नेहागमो नापि वितानितेऽकृत्स्नशोषः, तद्वद् यथोक्तनिमित्तापवर्तनैः कर्मणः क्षिप्रं फलोपभोगो भवति न च कृतप्रणाशाकृताभ्यागमाफल्यानि ।" इति वाचकवर्यश्रीउमास्वातिप्रणीते **तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्ये** २।५२ । "सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म, तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा' [३।२२]। आयुर्विपाकं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च । तत्र यथा आर्द्रवस्त्रं वितानितं लघीयसा कालेन शुष्येत् तथा सोपक्रमम् । यथा च तदेव सम्पिण्डितं चिरेण संशुष्येद् एवं निरुपक्रमम् । यथा चाग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत् तथा सोपक्रमम् । यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ क्रमतोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत् तथा निरुपक्रमम् । तदैकभविकमायुष्करं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च ।" इति **पा**तञ्जलयोगदर्शनस्य **व्यास**प्रणीते भाष्ये ३।२२ ॥ **२ यावद्दानीय°** य० । **यावद्वानीय°** भा० ॥ ३ दृश्यतां पृ० ३६५ पं० १ ॥ **४ सर्वाद्दुप°** प्र० । दृश्यतां पृ० ३६५ पं० २ ॥ ५ **°रदितरस्मिन्नापाद्यमिति** भा० ॥ ६ **तत्तत्प्रदर्शि°** भा० । **तत्तत्प्रतिदर्शि°** य० । (यत्रैकस्य स्वातन्त्र्यं तत् तत्प्रदर्शिततत्त्वस्य ?) ॥

ऐक्यं प्रवर्तकप्रवर्त्यन्यायात्, तद्द्रव्यत्वात्, पृथिव्यादिवत्। अवगाहादिद्रव्यं यथा वियदादि एवमात्माद्यपि, तस्यैव तथाभूतेः, उदकादिव्रीहित्वशिवकादिघटत्ववत्।

अविभक्तावगाहावगाह्यावगाहकमेकमेवेदं भवनं मिथ्याग्राहोत्थापितद्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायप्रभेदं सर्वगतेतराभिमतद्रव्य[मात्र]मुत्क्षेपणादि तद-

---

न केवलं कर्मात्मनोरेवाभिन्नैक्यम्, किं तर्हि? यथा चात्र तत्त्वं कर्मात्मनो सर्वप्रभेदेषु वृत्तं भावितमस्माभिस्तथा **अवगाहादिलक्षणैरस्तिकायैः** अवगाहगतिस्थितिलक्षणैराकाशधर्माधर्माख्यैः सह कर्मात्मविचारोक्तात् **प्रवर्तकप्रवर्त्यन्यायाद्** भावनीयमिति वर्तते। यथा प्रवर्तक एव प्रवर्त्य इत्युक्तं तथा अवगाहादि प्रवर्तकं प्रवर्त्यं चोभयमेकमेव कर्मात्मवदिति। पुनरपि तद्भावनार्थमाह—**तद्द्रव्यत्वात्,** यद् यद् यद्द्रव्यं तत् तत् तत्त्वम्, यथा प्राग् भावितं पृथिव्यादि व्रीह्यादि। पृथिव्यादिवत् तद्द्रव्यत्वमसिद्धमिति चेत्, नेत्युच्यते, **अवगाहादिद्रव्यं यथा वियदादि एवमात्माद्यपि,** यथावगाहोपकारगुणमाकाशं गतिस्थित्युपकारगुणौ धर्माधर्मावेवमात्मपरमाण्वादिद्रव्यमपि। कुतो हेतोः? **तस्यैव तथाभूतेः,** तदेव ह्यात्मपुद्गलद्रव्यं तथा तथावगाहगतिस्थितिरूपेण भवति। किमिव? **उदकादिव्रीहित्वशिवकादिघटत्ववत्,** यथोदकपृथिव्याकाशातनीवाङ्कुरादय एव व्रीहीभवन्ति युगपद्भाविनो भावा यथा च क्रमभाविनः शिवकस्थासककुशूलकादय एव घटीभवन्ति तथा आत्माद्यप्यवगाहादि, अवगाहादि वियदादि, वियदाद्यवगाहादि, अवगाहाद्यात्मादि च भवतीति तस्य तस्य तद्द्रव्यत्वम्, तद्द्रव्यत्वात् प्रवर्तकप्रवर्त्यैक्यन्यायोऽवस्थितः। तस्मादात्मपुद्गलाकाशधर्माधर्मास्तिकाया एव तत्त्वं सर्वप्रभेदवृत्तमिति। २६७ १

किञ्चान्यत्, **अविभक्तेत्यादि यावदेकमेवेदं भवनम्।** अवगाहोऽवगाहमानादात्माण्वादेरविभक्तः अवगाह्यमप्याकाशमवगाहधर्मस्य स्वलिङ्गस्य पृथगसिद्धेरवगाहकादविभक्तं द्रव्यार्थविवक्षाया पर्यायस्याभावात्। तस्मादेकमेवेदं भवनमिति साधूक्तम्। तत् पुनरन्यत्र प्रतिवादिमते **मिथ्याग्राहोत्थापितेत्यादि** यावत् **सर्वगतेतराभिमतद्रव्यमिति।** कार्यद्रव्यं पटादि कारणद्रव्यात् तन्त्वादेरन्यत् तन्त्वादि च कार्याद्न्यत्, एवं गुणाः पटरूपश्यामत्वादयः पटात् कारणकार्ययोरन्या परस्परतश्च, कर्माण्युत्क्षेपणादि क्रियावद्द्रव्यसमवेतं सर्वगतासर्वगतद्रव्याद् गुणेभ्यः परस्परतश्च, द्रव्यगुणकर्मभ्यः परस्परतश्चान्ये सामान्यविशेषसमवाया इतीत्थंप्रभेदं तदेवास्मदुक्तं भवनं मिथ्याग्राहोत्थापितं कैश्चित्। यैश्चेत्थं विकल्पितं तान् प्रति **सर्वगतेतराभिमतद्रव्यस्वरूपमुत्क्षेपणादि,** **आदिग्रहणाद्** रूपरसादिगुणगणः सामान्यविशेषसमवायाश्च, तच्च सर्वगतासर्वगतद्रव्यं परस्परतोऽन्योन्यान्यतरस्वरूपमात्रमिति प्रतिज्ञार्थः। **तदव्यतिरिक्तत्वा**दिति हेतुः, अनन्तरोक्तविधिना च तदव्यतिरिक्तत्वं सिद्धम्। 'तत्स्वरूपमात्रं तदव्यतिरिक्तम्' अनयोः शब्दयोः कोऽर्थभेदः इति चेत्, न कश्चिदेतन्नयदर्शनेन, अपरस्तु शब्दबुद्ध्यादिभेदमिच्छतीति तन्मता-

---

१ गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः ।५।१७। आकाशस्यावगाहः ।५।१८।"—तत्त्वार्थसू० ॥ २ तत् तत्तत्त्वम् य ॥ ३ ह्यादे द्रव्यं भा० । ह्यादेव द्रव्यं य० ॥ ४ ह्यादिरवगाहादि य । ह्यादिरवगाहादिर् घगाहादि भा ॥ ५ °वर्त्यैकाया प्र० ॥ ६ प्रवादि भा० ॥ ७ पटरूपश्यामत्वादय पत्रात् प्र० ॥ ८ कर्मायुत्क्षे प्र० ॥ ९ वेत प्र० ॥ १० द्रष्टव्यं पृ० ३७० पं० ८ पृ० ३७६ पं० २२ ॥

व्यतिरिक्तत्वात् घटघटभवनवत्। एवं पचिक्रियापि पृथिव्यादिकाष्ठादिस्वतत्त्व-प्रतिनियता क्वचिदप्यनतिक्रान्तद्रव्यस्वरूपा पृथिव्यादिकाष्ठादिद्रव्यमात्रं भवनमेव।

तच्च यदसौ भवति स तस्य भावः पुरुषादिनियमचेतनाचेतनविकल्पद्वैतविशेषणविनिर्मुक्तः। तदेव हि भवनं यत् सर्वात्मकमसङ्ख्यावृत्तार्थम्। अनेन हि प्रवर्तयितृत्वात् सर्वप्रभेदेन भूयते, न न भूयतेऽपि अभावेन प्रागभावादिना, तदात्मान-

---

पेक्ष्यैतदुक्तम्। दृष्टान्तः **घटघटभवनवत्**, यथा घट एव घटभवनं न ततोऽन्यत् ततस्तदव्यतिरिक्तम्। यद्यन्यत् स्याद् घटो न भवेद् भवनादन्यत्वाद् भवनव्यतिरिक्तत्वात् खपुष्पवत्, भवनं वा तस्य न स्यात् ततोऽन्यत्वात् पटभवनवदिति। अतो घटमात्रं घटभवनं तदव्यतिरिक्तं च एवं सर्वगतेतरद्रव्यमात्रमुत्क्षेपणादीति।

एवं पचिक्रियापीत्यादि। काष्ठादिपृथिव्यादिस्वतत्त्वे प्रतिनियता पचिक्रियाया वृत्तिः पूर्वोक्तसर्व-
२६४-२ परिणत्यावृत्तिरूपत्वादन्योन्यस्वरूपापत्तेश्च तेषामैक्यापत्तिश्चेति अनतिक्रान्तं द्रव्यस्य स्वरूपं देशे काले वा यया पचिक्रियया सा **क्वचिदप्यनतिक्रान्तद्रव्यस्वरूपा**। सा चोत्क्षेपणादिवदेव **पृथिव्यादिकाष्ठादिद्रव्यमात्रं भवनमेव**।

'भवनं भावोऽस्तिता' इति पर्यायशब्दाः। **तच्च** भवनं **यदसौ भवति स तस्य भावः**, न ततोऽन्यः, स्वभावसम्बन्धार्थस्तु षष्ठ्यपदेशः कशयस्यचेतसः [ ] इति वचनात् स्वार्थाभिधायिन्येवाभेदे कर्तृलक्षणा षष्ठी—द्रव्यस्य भवनं द्रव्यमेव भवतीति। स च भावः **पुरुषादिनियमचेतनाचेतनविकल्पद्वैतविशेषणविनिर्मुक्तः**, 'पुरुष एवेदम्, नियतिरेव, काल एव' इत्यादि चेतनमचेतनं च भवतीत्यनेन विकल्पेन द्वैतमिदं मनुष्यादि घटादि चेति 'विशेष्यते यत् पुरुषादिवादे जाग्रत्सुप्ताद्यवस्थाभेदेन क्रमयौगपद्यादिभेदेन वा तेन विशेषणेन विनिर्मुक्तः स भावो निर्विशेषण एव सर्वात्मकः, घटादि पटो भवति व्रीहिरुदकम् मनुष्यो नभो धर्माधर्मादि, पटोऽपि घटो व्रीह्युदकादि, इत्यविशेषेण सर्वं भवत्येवैकैकमिति **तदेव हि भवनं यत् सर्वात्मकमसङ्ख्यावृत्तार्थम्**, न ह्यसन्नाम किञ्चिदस्ति। किं कारणम्? यस्मादनेन **प्रवर्तयितृत्वात् सर्वप्रभेदेन** व्रीह्युदकाकाशाङ्कुरादिना **भूयते, न न भूयतेऽपीति** द्विः प्रतिषेधाद् भवनमेवाभावव्यावृत्त्या नियम्यते 'भवत्येव, न न भवति' इति। केन पुनर्न भवति? **अभावेन प्रागभावादिना**, अस्मिन् हि नये न केनचित् प्रकारेण किञ्चिन्न भवतीति प्राक्प्रध्वंसान्या-
२६५-१ त्यन्ताभावा न सन्त्येव। कुतः? **तदात्मानतिरिक्तत्वात्**, स स आत्मा तदात्मा तस्यात्मा [वा] तदात्मा, ततोऽनतिरिक्तत्वात्। यद् यद् यदात्मानतिरिक्तं तस्य तस्य प्रागभावाद्यभावः, तेनाप्यात्मना भवत्येवेत्यर्थः।

---

१ °वत्। अतो भा० ॥ २ °तत्त्वो य०। °तत्त्वेतत्त्वो भा० ॥ ३ 'पचिक्रियावृत्तिः पूर्वोक्तसर्वपरिणत्यावृत्तिरूपत्वादन्योन्यस्वरूपापत्तेश्च तेषामैक्यापत्तिश्चेति अनतिक्रान्तं द्रव्यस्य स्वरूपं यया पचिक्रियाया वृत्तिः पूर्वोक्तसर्वपरिणत्यावृत्तिरूपत्वादन्योन्यस्वरूपापत्तेश्च तेषामैक्यापत्तिश्चेति अनतिक्रान्त द्रव्यस्य स्वरूपं यया पचिक्रियया' इति द्विर्भूतो भा० प्रतौ पाठ ॥ ४ °त्याव्यतिरू° य० ॥ ५ स चस्य भावः भा०। स च स्वभावः य०। दृश्यता पृ० १८ प० २२। पृ० २१९ प० १६, टि० ५ ॥ ६ विशिष्यते य० ॥ ७ नसोध° य०। नसौध° भा० ॥ ८ °त्यर्थम् प्र० ॥ ९ °भावस्तेनाप्यात्मना य० ॥

तिरिक्तत्वात् बालकुमारादिवत्। भूत्वा न भवति अभूत्वा च भवति, अन्यथाऽभावत्वापत्तेः।

अचेतन इति च चेतनादन्य आत्मैवोक्तः पर्युदासवाचित्वान्नञः, नोच्यते चेतनो न भवत्यचेतन इति चेतना न भवत्यचेतना इति ज्ञानादि न भवत्यज्ञानादिर्वा इति।

किमिव? बालकुमारादिवत्, यथा 'बालः कुमारो युवा मध्यमः स्थविरो वा' इति देवदत्त एव तेन तेन प्रकारेण भवति बालकाले कौमाराभावेन कौमारे[ऽ]बालभावेन यद्वान्त्याद्यन्याभावेन खरविषाणाद्यत्यन्ताभावेन च सैव सर्वदा सर्वत्र सर्वथा च भवति स एव देवदत्तस्तत्तदात्मकस्तथा सर्वद्रव्यभवनमिति। भूत्वा न भवत्यभूत्वा च भवतीति, मृत्पिण्डकाले न न भवति घट[स्तद]व्यतिरिक्तात्मकत्वाद् देवदत्तबालकुमारादिवत्, कपालकाले न [न] भवति घटः तदव्यतिरिक्तात्मकत्वाद् देवदत्तबालकुमारादिवत्। कस्मात्? अन्यथाऽभावत्वापत्तेरसत्त्वापत्तेः। यच्चेदं नेष्यते त्वया 'प्रागभावादिनापि भवत्येव' इति, ततस्तस्य देवदत्तादेर्वस्तुनो बालकुमारादिसर्वावस्थात्मपरित्यागे किं तद् देवदत्ताख्यं वस्तु? कास्ताश्च तद्व्यतिरिक्ता बालाद्यवस्थाः? खस्वभाव आपद्यते। न सन्त्यवस्थाः परस्परसम्बन्धाभावाद् वन्ध्यापुत्रवत्। नोऽस्त्यवस्थावत्, अवस्थाव्यतिरेकेणानवधारणात्, वन्ध्यापुत्रवत्।

अत्राह—'न चेतनोऽचेतनः' इति नञा प्रतिषेधवाचिना सम्बन्धादचेतनरूपेण चेतनस्य भावाभाव इति। अत्र ब्रूमः—अचेतन इति च चेतनादन्य आत्मैवोक्तः पर्युदासवाचित्वाद् नञः, नात्यन्ताभाववाचित्वात्। स कोऽयमचेतनादन्य आत्मैव इति चेत्, उच्यते—स्पर्शरसादिधर्मेणान्यस्योपयोगाद्यरूपादन्येन रूपेण स एव स्पर्शादिमान् ज्ञानावरणादिकर्मरूप आत्मा, तेन चेतनादन्येनाचेतन इति चेतन एवोक्तः, न तु भवत्सत्तात्यन्तचेतनाभावरूपेण, प्रसज्यप्रतिषेधाख्यस्य विकल्पान्तरस्याभावाद् २६५ नोच्यते 'चेतनो न भवत्यचेतनः' इति। तथा 'चेतना न भवत्यचेतना' इति नोच्यते[ऽ]ज्ञानादि ज्ञानदर्शनवीर्याणि न भवन्तीति, किं तर्हि? चेतनाया अन्याऽचेतना, का सा? स्पर्शादीनि। तथा ज्ञानादि न भवतीत्यज्ञानादि नोच्यते, किं तर्हि? ज्ञानादेरन्यदज्ञानादि स्पर्शादि एव। अचेतना[ऽ]ज्ञानयोर्भूय उदाहरणं चेतनात्मनो द्रव्यस्य निर्देशेनापरिलुप्तस्य परस्य तदभिप्रेतपर्यायनिर्देशेन प्रतिपादनार्थम्, अज्ञानादिर्वेति, कियती योदाहरणमाला क्रियते? योऽप्यज्ञान-संशय-विपर्ययज्ञानादिज्ञानाद् भिन्न इत्यभिमतो धर्मस्तथापि सोऽपि ज्ञानाज्ञानात्मात्मस्वरूपादेर्भिन्न एवेति तत्रापि न तु ज्ञानादिर्न भवत्यज्ञानादिरित्युच्यते, किं तर्हि? ज्ञानादेरन्य एवाज्ञानादिरित्यात्मैव अज्ञानादिरूपेणोच्यते इति।

---

१ अत्र बालकाऽकुमारभावेन इत्यादि पाठः स्यात्॥ २ सर्वस्मर्वदा प्र॰॥ ३ सर्व सि॰॥ ४ राम प्र॰॥ ५ नाम्यय भा॰। नाम्याय य॰॥ ६ भावाभावाभाव य॰॥ ७ धमाण प्र॰॥ ८ चेयाचेतनाचानयो प्र॰॥ ९ ज्ञानाज्ञानात्मरू ना॰॥

यद्येष न्यायो नेष्यते ततः तथा सर्वतो व्यावृत्तेरयुक्तः प्रसज्यप्रतिषेधः स्वतोऽपि व्यावृत्तेः खपुष्पवदसत्त्वात्। अन्यत्वाच्च तत्त्व एव प्रागभावादिव्यावृत्तेर्बालकुमारादिवत् तत्त्व एव चेतना।

सा पुनर्ज्ञानदर्शनादिसंवेदना निर्वृत्त्युपकरणलब्धितत्त्व उपयोगात्मा। अतो रूपादिमदप्यात्मा, चेतनत्वात्, अभिमतात्मवत्, तस्यैव तथाभूतत्वादा मुक्तेः एवं च कृत्वा ज्ञानं न ज्ञानं पुद्गलात्मकत्वाद् रूपादिवत्, अज्ञानमपि च ज्ञानं त एव तद्वत्, चेतनोऽचेतनः, अचेतनश्चेतन इत्यादि।

यद्येष[1] न्यायो नेष्यतेऽन्यः स प्रसज्यप्रतिषेध इष्यते चेतनो[2] न भवत्यचेतन इत्यादिरिष्यते तत्र तत एवं सति तथा तेन प्रकारेण सर्वतो व्यावृत्तिः, घटः पटो न भवतीति पटोऽपि घटो न भवतीति परस्परव्यावृत्तिवत् सर्वभावव्यावृत्तेश्चेतनाचेतनयोर्व्यावृत्तिः। ततश्च सर्वतो व्यावृत्तेरयुक्तः प्रसज्यप्रतिषेधो निर्विशेषव्यावृत्त्यर्थत्वाद् नञ इति। स्यान्मतम्—स्वतस्त्वव्यावृत्तिर्भविष्यति घटवदिति[3] चेत उच्यते—स्वतोऽपि व्यावृत्तेः, स्वतोऽपि तर्हि व्यावृत्तं तत् परपरिकल्पितं वस्तु प्राप्नोति सर्वतो व्यावृत्तत्वात् खपुष्पवत्। तस्माच्चावस्तुत्वं स्वपरतो व्यावृत्तत्वात् खपुष्पवदेवेति। तत आह—असत्त्वादिति। तस्मात् स्थितमेतत्—असत्त्वप्रसङ्गात् प्रसज्यप्रतिषेधाभावाच्च प्रागभावादिव्यावृत्तेरन्यत्वमर्थः 'बाल
२६६-१ कुमारो न भवति' इत्यादिषु। तत उपसंह्रियते सैव एव अन्यत्वाच्च तत्त्व एव प्रागभावादिव्यावृत्तेर्बालकुमारादिवत्[4] तत्त्वमेव चेतनेति।

सा पुनरिदानीं चेतना किंस्वरूपा? इति वाच्या, उच्यते—ज्ञानदर्शनादिसंवेदना, साकारानाकारोपयोगौ सप्रभेदौ ज्ञानदर्शनग्रहणेन गृहीतौ, आदिग्रहणेन सुखदुःखरागद्वेषभयादिसंवेदना गृहीता सापि च निर्वृत्त्युपकरणलब्धितत्त्व उपयोगात्मा, इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां निर्वृत्तिः पक्ष्मपुटकृष्णसारादित्वेन निष्पत्तिः, उपकरणं तु मसूरकातिमुक्तककदम्बक्षुरप्रानेकाकारतया प्रदेशानां निष्पत्तिः, एतत्र दर्शनेन वाञ्जनपादाभ्यङ्गप्रदीपाद्यप्युपकारकमुपलब्धेः सर्वमुपकरणम्। लब्धिः पुनर्निर्वृत्तेः प्राक् पश्चाच्चात्मनः पूर्वोपात्तं तद्योग्यनामकर्मोदयजं द्रव्यं ज्ञानदर्शनावरणयोर्वीर्यान्तरायस्य च क्षयक्षयोपशमौ, तत्तत्त्व उपयोगो ज्ञानदर्शनस्वतत्त्वव्यक्तिः, स एव चात्मा। ततः किमिति चेत्, अतो रूपादिमदप्यात्मा, यदेतत् रूपरसादिधर्मं मूर्तपुद्गलमाध्यात्मिकमिन्द्रियपाण्याद्यवयवात्मकं शरीरं तदपि आत्मैव। कुतः? चेतनत्वात्, चेतनत्वं[5] चास्यानन्तरं प्रतिपादितम्। किमिव? अभिमतात्मवत्[6], यथा शुद्धोपयोगलक्षणः केवल आत्मा चेतनत्वात् तथेन्द्रियाद्यपि रूपादिमदिति। तत समर्थयति—तस्यैव तथाभूतत्वादा मुक्तेः, स एव हि द्रव्यकेवली संसारावस्थ उपयोगात्मा तथाभूतो[7] निरावरणज्ञानदर्शनः सवृत्तोऽभिमतात्मा, तस्मान्मुक्तेस्तस्यैव तथाभूतत्वादिहापि संसारे स एवेति रूपादिमतः पुरुषस्य मुक्तस्य चोपयोगात्मकत्वादविशेष
२६६-२ एव। एवं च कृत्वा ज्ञानं न ज्ञानं पुद्गलात्मकत्वाद् रूपादिवत्, पुद्गलात्मकत्वं च ज्ञानस्यानन्त

१ यद्येव कन्यायो प्र० ॥ २ °धार्यते चेतनो य० ॥ ३ °वच्चेत् य० ॥ ४ °कुमारादिरूपादिव य० ॥ ५ °प्रागनेका° प्र०। दृश्यतां पृ० १८३ प० २० ॥ ६ चेतनस्यां चास्या° भा०। चेतनस्य चास्य य० ॥ ७ अभिहिता° भा० ॥ ८ तथातथा° भा० ॥ ९ °दर्शनसंवृ° प्र० ॥

एव चाय सङ्ग्रहेषु द्रव्यप्रकृतिनय । स च सङ्ग्रहैकदेशत्वाद् द्रव्यार्थः ।

द्रव्यशब्दोऽपि कर्तृसाधनः । द्रव्यमपि द्रवति याति न विच्छिद्यते भिन्नरूपव्याप्त्या । ननु कर्मणि कर्मसाधनत्वमुदितम् । ननु कर्मसाधनव्याख्यानेन तेनैव कर्तृसाधनत्वमेव व्यवस्थापितम्, 'द्रव्येणैव द्रव्य क्रियते व्रीहिवत्' इति कर्तरि तृतीयया कर्तृसाधनत्वाभ्युपगमात् ।

एतस्मिंश्च नये द्रव्यमेव शब्दार्थो नित्य सर्वात्मक । अन्वाह च — पृथिवीधातो किं सत्यम् ? विकल्प । विकल्पे किं सत्यम् ? ज्ञानम् । ज्ञाने किं सत्यम् ? ओम् । तद् ब्रह्म । [ ]

प्रतिपादितम् । अज्ञानमपि च ज्ञान तत एव तद्वत् चेतनोऽचेतन , अचेतनश्चेतन इत्यनेकधा सर्वसर्वात्मकता भावयति । इत्यादिग्रहणान्निदर्शनमात्रमेतद् भावितम्, अनया दिशा सर्वत्र भावनीयमिति ।

आह – आर्षोक्तेषु नयेषु कतमोऽयम् ? इति, अत्रोच्यते – एव चाय सङ्ग्रहेषु । सङ्ग्रह' शतविकल्प , एक्केक्को य सतविधो सत्त णयसता हवंति ते चेव [आवनि० ७५९] इति वचनात् । तेषु सङ्ग्रहेषु अय विधिनियमनयो द्रष्टव्यो य एव वर्णित । तेऽपि च सङ्ग्रहा सङ्ग्रहण त्रिविधा भवन्ति द्रव्य स्थितनयप्रकृतय । द्रव्यप्रकृतय कर्म पुरुषकाराद्येकान्तवादा , स्थितप्रकृतय पुरुष-काल नियत्यादिवादा , नयप्रकृतय प्रकृतीश्वरादिकारणवादा । तेषु चाय नय स्थितप्रकृतीना पुरुष-काल नियति-स्वभावनयाना विरोधिनोरीश्वरनयस्य प्रधाननयस्य चाधिष्ठातृप्रधानाख्ययोर्निपक्षो द्रव्यप्रकृतिनयो विधिनियमभङ्गो द्रष्टव्य । स च सङ्ग्रहैकदेशत्वाद् द्रव्यार्थ , नियमात्मकत्वात् पर्यायास्तिकेऽपि सङ्ग्रहैकदेशत्वाद् द्रव्यार्थ एवायमिति ।

द्रव्यशब्दोऽपि कर्तृसाधन , द्रव्यमपि द्रवतीत्यादिपर्यायशब्दैस्तदर्थ व्याचष्टे, द्रवति याति न विच्छिद्यते भिन्नरूपैर्व्याप्त्या भिन्नानि रूपाणि चेतनाचेतनानि व्रीहिपृथिव्यादीनि देवमनुष्यादीनि च सामस्त्येन व्याप्नोत्येव न किञ्चिदपि त्यजतीति । चोदक आह – ननु कर्मणि कर्मसाधनत्वमुदितम्, कर्मकारणव्याख्यानेऽयं द्रव्यशब्द कर्मसाधन एवोक्त 'द्रूयत इति द्रव्यम्' इति, कर्मवादश्च विधिनियमभङ्ग इत्युक्तम्, तत् कथमधुनाऽन्यथायं व्रवीति द्रव्य कर्तृसाधनमुच्यत इति । अत्र विधिनियमनयो ब्रूते पूर्वक्रमेव स्मारयन् – ननु कर्मसाधनव्याख्यानेन तेनैव कर्तृसाधनत्वमेव व्यवस्थापितमिति । तत् कथमिति चेत्, उच्यते – द्रव्येणैव द्रव्य क्रियते व्रीहिवदिति कर्तरि तृतीया 'द्रव्येण' इति, तया कर्तृसाधनत्वाभ्युपगमात् प्रागस्माभि पुरुषकर्मपृथिवीव्रीह्यादीनामात्मनैवात्मन कर्तु कर्मत्वस्य च विस्तरेण वर्णितत्वात् मत्या कर्मतायामपि कर्तृत्व द्रूयत्वादिति सामान्याधस्याविच्छेदात् स्वातन्त्र्यात् ।

एतस्मिंश्च नये द्रव्यमेव शब्दार्थ , न पर्यायार्थ पर्याय इत्यर्थ । स च नित्यो विच्छेदा-

---

१ णान निद भा० । णाम निदं य० ॥ २ नय य० ॥ ३ द्रवतेवमिति य० । दृश्यतां पृ० २९५-१ ॥ ४ ↑ ↑ एतदन्तर्गत पाठो य० प्रतिषु नास्ति ॥ ५ नयस्थित प्र० ॥ ६ पर्यायाणादास्य भा० । पर्यायायासेस्य य० ॥ ७ मिति द्र य० ॥ ८ निच्छद्यते प्र० ॥ ९ पमुप्या य० ॥ १० चेतनानि प्र ॥ ११ दृश्यतां पृ० ३५६ पं० ७ ॥ १२ दृश्यतां पृ ३५७ पं० १ ॥ १३ (द्रव्यत्वादिसामान्या ?) ॥

इति । स एष परमार्थः । एतदुक्तं भवति — अतः परं शब्दार्थव्यवहारो निवर्तते निर्विकल्पत्वात्, व्यवहारातीतोऽयमर्थः। अत्रानुवृत्तिव्यावृत्ती अनन्तरोक्तपृथिव्यादिधातुविकल्पज्ञानसत्यत्वानुप्रबन्धसामर्थ्योपहितरूपे यथाभागं प्रसिद्धिं गच्छतः। अत्र उत्पादविनाशशब्दावपि तत्स्थितरूपावेव, ऊर्ध्वपदनम्........। अनित्यघटादिशब्दा अपि स्वतत्त्वबीजं द्रव्यमेवाविच्छिन्नमाहुः ।

भावादवस्थितत्वाद्वा सर्वात्मक एकैकस्य सर्वार्थरूपानुस्यूतत्वात। अन्याह चेति ग्रापक्रमात्, एतमेव नयमनुवर्तमानोऽन्योऽप्याह । पृथिवीधातावित्यादि यावत तद् ब्रह्मेति । पृथिव्येव पृथिवीधातुः, धृत्यादिधर्मधारणात । तत्र किं सत्यम्? विकल्प इति स्वयमेव पृष्ट्वा व्याचष्टे । न कदाचिदप्यत्र पृथिवी नामास्ति अश्मसिकतामृल्लोष्टवज्रादीन् विमुच्य, त एव हि विकल्पाः पृथिवी, न पृथिव्येव ते । विकल्पे किं सत्यम्? ज्ञानम्, तेऽपि च विकल्पा ज्ञानादन्ये न सन्ति ज्ञानमेव आत्मकर्मलक्षणं चैतन्यं तथा तथा विजृम्भते, चैतन्यस्यैव व्यवहारमार्गपातित्वात । ज्ञाने किं सत्यम्? ओम्, अवति रक्षति पाति प्रीयते तृप्यति चेतनाचेतनभेदे सत्यप्येवमादिधात्वर्थान्मतः विपरिणममानं कर्मात्मनैवैकं भवति येन तथा परिकल्प्यते तत् तथानुवर्तत इत्योम् । तदेतद् ब्रह्म । स एष परमार्थः, तदेतत् तत्त्वं परमं ब्रह्म बृहदिति । तस्यार्थं कथयति एतदुक्तं भवति — अतः परं शब्दार्थव्यवहारो निवर्तते निर्विकल्पत्वादिति, इयं शब्दार्थव्यवहारगतिर्यावन्निर्विकल्पं ज्ञानमेवैतदिति, अतः परं 'ब्रह्म' इति यत् परं तत्त्वं तत्र ज्ञानमपि निर्विकल्पं सद् न क्रमते, तद्दर्शयति — व्यवहारातीतोऽयमर्थः । अयमिति व्याख्यातमधिगमोपायक्रममात्रं
२६७ २ दर्शयति ।

कथम् 'ओम्' इत्येषोऽन्वयव्यतिरेकरहितः शब्दार्थो भवितुमर्हतीति चेत्, को ब्रूतेऽन्वयव्यतिरेकरहित इति? यस्मादत्रानुवृत्तिव्यावृत्ती अनन्तरोक्तपृथिव्यादिधातुविकल्पज्ञानसत्यत्वानुप्रबन्धसामर्थ्योपहितरूपे, पृथिव्यादिधातूनामचेतनाभिमतानां विकल्पसत्यानां चेतनकर्मात्मनोकर्माभिमतानां च ज्ञानसत्यस्वरूपपुरुषत्वेन चान्वितव्यतिरिक्तानाम् 'ओम्' इति कर्मात्मैक्यापत्त्या तत्सत्यत्वानुप्रबन्धेन शक्त्युपधानं नित्यमेवेत्यन्वयव्यतिरेकवानेवायं शब्दार्थ इति । ते चानुवृत्तिव्यावृत्ती यो यो भागो यथाभागं प्रसिद्धिमभिधानाभिधेयव्यवहारात्मिकां 'कर्म' इति 'पुरुषः' इति 'कर्मपुरुषकार इति एक एव' इति वा प्रसिद्धिं गच्छत इति ।

स च शब्दार्थोऽनाद्य[नु]प्रबन्धसामर्थ्योपहितानुप्रवृत्तित्वाद् नित्यः । अत्रोत्पादविनाशशब्दावपि तत्स्थितरूपावेव नासदुद्भवात्यन्तविनाशरूपाविति, तद्व्याचष्टे — ऊर्ध्वपदनमित्यादि गतार्थम्, यथासङ्ख्यमाविर्भावतिरोभावस्वरूपयोरपि भावाभिधायित्वादवस्थित एवार्थ उत्पद्यते विनश्यतीति चोच्यते तथा

---

१ 'ऊर्ध्वपदनमुत्पाद आविर्भाव इत्यर्थः, विनशनं विनाशस्तिरोभाव इत्यर्थः ।' इत्याशयको मूलपाठः सम्भाव्यतेऽत्र। "ऊर्द्धपत्तिरुत्पत्तिरात्मलाभः प्रत्यक्षोपलब्धिः, विविधमदर्शनं विनाशोऽनुपलब्धिरभावः ।" इति वक्ष्यते नयचक्रवृत्तौ, पृ० २९७-१ ॥ २ °तुर्वैवृत्यादि° प्र० ॥ ३ सत्येवमादि° य० ॥ ४ तद्तद् य० । तदथतद् भा० ॥ ५ तत्वज्ञान° प्र० ॥ ६ °कर्मात्मनेकर्मा य० । °कर्त्तात्मनेकर्मा° भा० ॥ ७ (चान्वित° ?) ॥ ८ ऊर्ध्ववदन° प्र० ॥

वाक्यार्थोऽपि च पृथक् सर्वं पदम्, सर्वसर्वात्मकत्वात् ।
निदर्शनमप्यस्य आर्षम्—जे एकणामे से बहुणामे [आचाराङ्गसू० १।३।४] इति ।

तथा परिणममान । अनित्यघटादिशब्दा अपीति, 'अनित्य प्रध्वस्त' इत्यादयो 'घट पट' इत्यादयश्च शब्दा पृथिव्यादिलक्षणा अपि नात्यन्तमुत्पन्नमभूत वार्थं ब्रुवते, किं तर्हि? **स्वतत्त्वबीज द्रव्यमेवावि च्छिन्नमाहु,** स्वतत्त्व यदभूत्वा भवति भूत्वा च न भवति तदनित्यम्, समानकर्तृकयो पूर्वकाले क्त्वा-प्रत्ययविधानात् । स एव तु दृश्यादृश्यपरिणामाभ्या भवति न भवतीति स्वतत्त्वस्य अनित्यत्वस्य बीज २६८ १ द्रव्यमेवार्थ । घटादि तावत्तदनित्यत्वम्, तस्य बीजमवस्थित द्रव्य सामान्यमेव अङ्कुरादेर्व्रीहिवत् । तदेवा-विच्छिन्न महापृथिवीवदनुत्पादव्ययोगि अवृद्धम् अविचालि कूटस्थ ध्रुव नान्यदिति पदार्थ ।

वाक्यार्थोऽपि च पृथक् सर्वं पदम्, प्रत्येक पद वाक्यम् 'देवदत्त गामभ्याज शुक्लाम्' इत्यत्र देवदत्त एवेतरपदार्थपरिसमाप्ते क्रमविभक्त्यन्ते गोशब्दे च तथापरिसमाप्तेरितरपदार्थानाम् । तच्च सर्वसर्वा-त्मकत्वादुक्तन्यायादुपपन्नम् ।

न चैता स्वमनीषिका उच्यन्ते, किं तु निदर्शनमप्यस्य दर्शनस्य आर्षमस्ति यतोऽस्य दर्शनस्य विनिगम वनि तदर्शयति—जे **एकणामे से बहुणामे,** यदेकस्य भवन तत् सर्वस्यापि यत् सर्वस्य तदेकस्यापि ।

इति चतुर्थोऽरो नयचक्रस्य समाप्त प्रथमश्च मार्गो नेमिरित्यर्थ ।
अर्धमेकपुस्तक समाप्तम् ॥ ७ ॥

---

१ चार्थं भा वि० ॥ २ समानकर्तृकयो पूर्वकाले इति पाणिनीयव्याकरणे ३।४।२१ ॥ ३ दृश्यपरि प्र० ॥ ४ तावनद भा० ॥ ५ वच्छिन्न प्र ॥ ६ भाना प्र० । (भवेत्?) । अत्र यदेकस्य नाम तत् सर्वस्यापि इत्यपि पाठ स्यात् ॥ ७ अर्धमेयमेकपु पा १ टी० । अर्धमेकमेक पु वि० । अर्धमेक एकपु भा० ॥

ॐ अर्हम्

॥ णमो त्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

॥ नमः श्रीअन्तरिक्षपार्श्वनाथाय ॥

न्यायागमानुसारिणीवृत्त्यलङ्कृतस्य

नयचक्रस्य

टिप्पणानि

सिद्धचक्रं नमस्कृत्य हृदये प्रणिधाय च ।
नयचक्रमहाशास्त्रे टिप्पणं क्रियते मया ॥

पृ० १ पं० १२ भगवन्तः श्रीमल्लवादिक्षमाश्रमणपूज्यपादाः 'विधिनियमभङ्गवृत्ती'त्यादि [पृ० ९ पं० ६] वक्ष्यमाणैर्द्वादशारकामात्रं गाथासूत्रं व्याचिख्यासवो यं ग्रन्थं विरचयामासुः स सर्वोऽपि मल्लवादिप्रणीतो ग्रन्थो विधिनियमभङ्गवृत्त्यादिकारिकया सहितो नयचक्रनाम्ना प्रसिद्धः। 'अर'समकद्वादशप्रकरणविभक्तत्वात् प्राचीनसप्तशतारनयचक्रग्रन्थानुरूपत्वाच्चायं मल्लवादिप्रणीतो ग्रन्थो 'द्वादशारनयचक्र'नाम्नापि क्वचिद् व्यपदिश्यते, तथापि प्रामुख्येन प्राचुर्येण च नयचक्रनाम्नैवास्य शास्त्रेषु प्रसिद्धिः। मल्लवादिनापि 'नयचक्राख्यम्' [पृ० ९ पं० ४] इत्यभिहितत्वात् स्वयं ग्रन्थकृतोऽपि 'नयचक्रम्' इत्येव नामाभिमतं प्रतीयते। नयचक्रवृत्तिकृतापि प्रायः सर्वत्र 'नयचक्रम्' इत्येव नाम निर्दिष्टम्। अतोऽस्माभिरपि तदेव स्वीकृतम्।

---

१ पूज्यपादाचार्यमहाराजश्रीमद्विजयसिद्धिसूरीश्वरपट्टशिष्याचार्यमहाराजश्रीमद्विजयमेघसूरीश्वरशिष्यमुनिराजश्रीभुवनविजयान्तेवासिना मुनिजम्बूविजयेन।

इदं पुनर्ध्येयम्—न्यायागमानुसारिणीवृत्त्यलङ्कृते नयचक्रे वृत्तेरधस्तनभागेऽपि बहूनि टिप्पणानि बहुषु स्थलेषु तत्र तत्र योजितानि मया। इमानि तु टिप्पणानि सप्तमार[पृ० ५५०]पर्यन्तस्य नयचक्रस्य मुद्रणानन्तरं मया समारब्धानि पृथग् मुद्रयित्वा च नयचक्रग्रन्थेनैव सह संयोजितानि। अतो यत्र कस्यचिदपि ग्रन्थस्य नामनिर्देशं विना 'पृ० पं० टि०' इत्यभिहितं भवेत् तत्र नयचक्रग्रन्थस्यैव यथाक्रमं पृष्ठं पङ्क्तिः टिप्पणं वा वेदितव्यम्। यत्र तु 'टिपृ० पं० टि०' इत्यभिहितं भवेत् तत्र पृथग् मुद्रयित्वा नयचक्रग्रन्थेन सह संयोजितानामेतेषां टिप्पणानां पृष्ठं पङ्क्तिः टिप्पणं वा यथायोगं वेदितव्यम्। यत्र तु 'पृ' इत्यस्य पुरस्तात् स्थूलाक्षरैः पृष्ठाङ्को निर्दिष्टः तत्र मुद्रितनयचक्रग्रन्थपार्श्वभागे [In the margin] निर्दिष्टो हस्तलिखिताया भा० प्रतेः पृष्ठाङ्को ज्ञेयः।

२ तथाहि पूर्वविद्भिः सकलनयसङ्ग्राहीणि सप्त नयशतानि विहितानि यत्प्रतिबद्धं सप्तशतारं नयचक्राध्ययनमासीत्। तत्संग्राहिणः पुनर्द्वादश विध्यादयो यत्प्रतिपादकमिदानीमपि नयचक्रमास्ते। —इति वादिवेतालश्रीशान्तिसूरिकृतायाम् उत्तराध्ययनसूत्रबृहद्वृत्तौ पृ० ६८। तथाहि—पूर्वविद्भिः सकलनयसङ्ग्राहीणि सप्त नयशतान्युक्तानि यत्प्रतिपादकं सप्तशतारं नयचक्रा

इद त्ववधेयम्–मल्लवादिविरचितमिदं नयचक्रशास्त्रं बहुतरमस्माभिः प्रयतितेऽपि न कुत्रचिदप्युपलब्धम्। न केवलं सम्प्रत्येव, अपि तु अतीतेषु सप्तसु वर्षशतेष्वपि ग्रन्थोऽयं लुप्तप्राय आसीदिति प्रतीयते। तथा चाभिहितं प्रभाचन्द्राचार्यैः वैक्रमे १३३४ तमे[1] वर्षे विरचिते प्रभावकचरिते मल्लवादिप्रबन्धे—

"गुरुणा गच्छभारश्च योग्ये शिष्ये निवेशितः। मल्लवादिप्रभो को हि स्वौचित्यं प्रविलङ्घयेत ॥ ६८ ॥
नयचक्रमहाग्रन्थः शिष्याणां पुरतस्तदा। व्याख्यातः परवादीभकुम्भभेदनकेसरी ॥ ६९ ॥
श्रीपद्मचरितं नाम रामायणमुदाहरत्। चतुर्विंशतिरेतस्य सहस्रा ग्रन्थमानतः ॥ ७० ॥
तीर्थं प्रभाव्य वादीन्द्रान् शिष्यान् निष्पाद्य चामलान्। गुरुशिष्यौ गुरुप्रेमबन्धेनेवेयतुर्दिवम् ॥ ७१ ॥
बुद्धानन्दस्तदा[2] मृत्वा विपक्षव्यन्तरोऽजनि। जिनशासनविद्वेषिप्रान्तकालमतेरसौ ॥ ७२ ॥
तेन प्राग्वैरतस्तस्य ग्रन्थद्वयमधिष्ठितम्। विद्यते पुस्तकस्थं तद् वाचितुं स न यच्छति" ॥ ७३ ॥ प्रभावकच०।

एतदुल्लेखदर्शनात् प्रभाचन्द्राचार्यकालेऽपि अस्य नयचक्रग्रन्थस्य लुप्तप्रायत्वमनुमीयते। तथापि सिंहसूरिगणिवादिक्षमाश्रमणैर्विरचिता न्यायागमानुसारिणी वृत्तिरस्य उपलभ्यते। अस्यां च वृत्तौ मूलनयचक्रग्रन्थस्य कानिचित् प्रतीकानि तत्र तत्र उपलभ्यन्ते, कियांश्चिदंशश्च अतिदेशादिप्रसङ्गेषु निदर्शितोऽस्ति वृत्तौ। एतत् सर्वं यथायोगं सन्धाय किञ्चिच्च पूरयित्वा अन्यांश्च नानाविषयसम्बन्धिनो बहुतरान् ग्रन्थानवलोक्य इदं मूलं नयचक्रं स्वमत्यनुसारेण अस्माभिः संकलितमस्ति। अस्मत्कल्पनासहायकं प्रमाणमपि बहुषु स्थानेषु तत्र तत्रोपदर्शितमस्माभिरुपदर्शयिष्यते च।

अतो 'व्याप्येकस्थम्' इत्याद्यस्मत्कल्पितमूलसंवादार्थं पृ० ६ पं० १८-१९ इत्यत्र द्रष्टव्यम्।

पृ० १ पं० १६ **न्यायागमानुसारिणी नयचक्रवालवृत्तिः**। पूज्याः श्रीसिंहसूरिगणिवादिक्षमाश्रमणा वृत्तिमिमां विरचयामासुः। यद्यप्येभिः स्वविरचिताया अस्या वृत्तेः [[4]टीकायाः] विशेषतः किमपि नाम नाभिहितं तथापि नवमारपरिसमाप्तौ "इति नियमभङ्गो नवमोऽरः श्रीमल्लवादिप्रणीतनयचक्रटीकायां न्यायागमानुसारिण्यां सिंहसूरिगणिवादिक्षमाश्रमणदृब्धायां समाप्तः।" इत्युल्लेखदर्शनादस्माभिरत्र 'न्यायागमानुसारिणी'[5] इत्यभिहितमिति ध्येयम्। 'नयचक्रवालवृत्तिः' इति शब्दस्तु नयचक्रटीकायां न क्वापि प्रयुक्तः सिंहसूरिगणिवादिक्षमाश्रमणैः, किन्तु अस्माभिः संशोधनार्थं संगृहीतासु नयचक्रवृत्तेर्हस्तलिखितासु सर्वासु प्रतिषु पत्राणां पार्श्वभागे [In the margin] 'नयचक्रवालवृत्ति'[6] इति लेखो दृश्यते। अत उभयमपीदमनुसन्धाय 'न्यायागमानुसारिणी नयचक्रवालवृत्तिः' इत्यभिहितमत्रास्माभिरिति ध्येयम्।

ध्ययनमासीत्। उक्तं च–'एक्केको य सयविहो सत्त नयसया हवंति एमेव' [आव० नि० गा० ७५९]। सप्ताना च नयशतानां संग्राहकाः पुनरपि विध्यादयो द्वादश नयाः यत्प्ररूपकमिदानीमपि द्वादशारं नयचक्रमस्ति।" इति मलधारिहेमचन्द्रसूरिविरचितायाम् अनुयोगद्वारसूत्रवृत्तौ पृ० २६७। "अधुना तु शास्त्रप्रयोजनमुच्यते – सत्स्वपि पूर्वाचार्यविरचितेषु सन्मति-नयावतारादिषु नयशास्त्रेषु अर्हत्प्रणीतनैगमादिप्रत्येकशतसंख्यप्रभेदात्मकसप्तशतारनयचक्राध्ययनानुसारिषु तस्मिंश्च आर्षे सप्तशतारनयचक्राध्ययने च सत्यपि द्वादशारनयचक्रोद्धरणं विस्तरग्रन्थभीरून् संक्षेपाभिवाञ्छिनः शिक्षकजनाननुग्रहीतुं 'कथं नामाल्पीयसा कालेन नयचक्रमधीयेरन् इमे सम्यग्दृष्टयः' इत्यनयानुकम्पया संक्षिप्तग्रन्थं बह्वर्थमिदं नयचक्रशास्त्रं श्रीमच्छ्वेतपटमल्लवादिक्षमाश्रमणेन विहितं स्वनीतिपराक्रमविजिताशेषप्रतिवादिविजिगीषुचक्रविजयिना।" इति वक्ष्यते नयचक्रवृत्तौ ग्रन्थान्ते।

१ "वेदानलशिखिशशधरवर्षे चैत्रस्य धवलसप्तम्याम्। शुक्रे पुनर्वसुदिने सम्पूर्णं पूर्वऋषिचरितम् ॥ २२ ॥"—प्रभावकच० ॥ २ बुद्धानन्दो नाम बौद्धवादी, स च वादे पराजितो मल्लवादिना। "श्रीवीरवत्सरादथ शताष्टके चतुरशीतिसंयुक्ते। जिग्ये स मल्लवादी बौद्धास्तद्व्यन्तरांश्चापि ॥ ८३ ॥" इति प्रभावकचरिते विजयसिंहसूरिप्रबन्धे। ३ दृश्यतां पृ० २७ पं० ७–१०, पृ० ३२ पं० ९–१६ इत्यादि। ४ वृत्तिः टीका चेत्येकोऽर्थ इति ध्येयम्। ५ बौद्धाचार्यमैत्रेयप्रणीतस्य असङ्गव्याख्यातस्य वसुबन्धुविरचितभाष्यसहितस्य मध्यान्तविभागस्य स्थिरमतिविरचिता टीका 'आगमानुसारिणी' इति नाम्ना प्रसिद्धा इति ध्येयम्। ६ "३६० नयचक्रवालवृत्तिर्मल्लवादीयद्वादशारनयचक्रतुम्बसूत्रव्याख्यारूपा ससूत्रा १८००० ।" इति बृहट्टिप्पनिकायां पृ० १०। इदं तु ध्येयम्–यदा मल्लवादिप्रणीतो नयचक्रग्रन्थो लुप्तप्रायः केवलं सिंहसूरिगणिविरचिता वृत्तिरेवोपलभ्यमाना आसीत् तदा सञ्जातैर्गुणरत्नसूरिप्रभृतिभिः 'नयचक्रवाल'शब्दः प्रयुक्तोऽस्ति, तथाहि—"श्वेताम्बराणां सम्मतिः नयचक्रवालः स्याद्वादरत्नाकरः रत्नाकरावतारिका तत्त्वार्थः प्रमाणवार्तिकम्.... इत्येवमादयः।" इति षड्दर्शनसमुच्चयस्य बृहद्वृत्तौ गुणरत्नसूरयः। "वन्दे

पृ० २ प० ५ द्रव्यार्थादेशात्। द्रव्यार्थो द्रव्यास्तिकनयः, दृश्यतां पृ० ७ प० ८-११। द्रव्यार्थादेशाद् द्रव्यास्तिकनयव्यपदेशाद् द्रव्यास्तिकनयविवक्षयेति भावः। "इह ओघतः सप्त नया भवन्ति नैगमादयः। उक्तं च-'नैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः' [तत्त्वार्थ० १।३४]। एते च द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकलक्षणे नयद्वयेऽन्तर्भाव्यन्ते। द्रव्यमेव परमार्थतोऽस्ति न पर्याया इत्यभ्युपगमपरो द्रव्यास्तिकः। पर्याया एव वस्तुतः सन्ति न द्रव्यमित्यभ्युपगमपरः पर्यायास्तिकः। तत्राद्यास्त्रयो द्रव्यास्तिकाः, शेषास्तु पर्यायास्तिकाः।" इति अनुयोगद्वारसूत्रस्य मलधारिहेमचन्द्रसूरिरचितायां वृत्तौ सू० ७२। विस्तरार्थिभिर्दृश्यतां तत्त्वार्थराजवा० १।३३।

पृ० २ प० ५ एकपरमाणु　　। "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।५।२३। 'स्पर्शः रसः गन्धः वर्णः' इत्येवंलक्षणाः पुद्गला भवन्ति। तत्र स्पर्शोऽष्टविधः-कठिनो मृदुर्गुरुर्लघुः शीतः उष्णः स्निग्धः रूक्ष इति। रसः पञ्चविधः-तिक्तः कटुः कषायः अम्लः मधुर इति। गन्धो द्विविधः-सुरभिरसुरभिश्च। वर्णः पञ्चविधः-कृष्णो नीलो लोहितः पीतः शुक्ल इति। 　सत्र एवैते स्पर्शादयः पुद्गलेष्वेव भवन्ति। अतः पुद्गलास्तद्वन्तः। 　ते एते पुद्गलाः समासतो द्विविधा भवन्ति, तद्यथा—अणवः स्कन्धाश्च।५।२५। तत्र अणवोऽबद्धाः, स्कन्धास्तु बद्धा एव।-तत्त्वार्थभा०।

पृ० २ प० ६ स्वाभाविके। "कथं पुनरेकस्य वस्तुनो युगपदनन्तधर्मात्मकत्वम्? अत्रोच्यते-सर्वमेव वस्तु तावत् सपर्यायम्। ते च पर्याया द्विविधाः रूपरसादयो युगपद्भाविनः, नवपुराणादयस्तु क्रमभाविनः। पुनः शब्दार्थपर्यायभेदात् सर्वेऽपि द्विविधाः। तत्र इन्द्रः शक्रः पुरन्दरो हरिः इत्यादिशब्दैर्येऽभिलप्यन्ते ते सर्वेऽपि शब्दपर्यायाः। ये त्वभिलपितुं न शक्यन्ते श्रुतज्ञानविषयत्वातिक्रान्ताः केवलज्ञानविषयास्तेऽर्थपर्यायाः। पुनरेते द्विविधाः स्वपर्यायाः परपर्यायाश्च। पुनस्तेऽपि कचित् स्वाभाविकाः, केचित्तु पूर्वापरादिशब्दवत् आपेक्षिकाः। पुनरेतेऽपि अतीतानागतवर्तमानकालभेदात् त्रिविधाः इत्यादिना प्रकारेण समयानुसारतः सुधिया वस्तुनो युगपदनन्तधर्मात्मकत्वं भावनीयम्।'-विशेषाव० भा० मलधारिवृ० पृ० ८९४-५, का० २१८०।

पृ० २ प० ६ पुरस्कृतैः पश्चात्कृतैश्च। 'पुरस्कृतैः' अनागतकालभाविभिः 'पश्चात्कृतैः' अतीतैरित्यर्थः। तुलना-"एगमेगस्स णं भंते! नेरइयस्स केवइया वेदणासमुग्घाया अतीता? गोयमा! अणंता। केवइया पुरेक्खडा? गोयमा! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि।'-प्रज्ञापनासू० ३६।३३२ अत्र "पुरस्कृता अनागतकालभाविन इति तात्पर्यार्थः" इति व्याख्यातं मलयगिरिसूरिभिः। "जता णं उत्तरद्धे वासाणं पढमे समए पडिवज्जति तता णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चत्थिमेणं अणंतरपुरक्खडकालसमयंसि वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ, जया णं पच्चत्थिमेणं वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ तता णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं अणंतरपच्छाकडकालसमयंसि वासाणं पढमे समए पडिवण्णे भवति।"-सूर्यप्रज्ञप्ति सू० २९।

पृ० २ पं० ६ द्व्यणुकादिभिः सायोगिकैः 　वैस्रसिकैः। अत्र सायोगिकैः संयोगजन्यैः संघातजन्यैरित्यर्थः। 'स्कन्धास्तावत् संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते।।२६। संघाताद् भेदात् संघातभेदादिति एभ्यस्त्रिभ्यः कारणेभ्यः स्कन्धा उत्पद्यन्ते द्विप्रदेशादयः। तद्यथा-द्वयोः परमाण्वोः संघाताद् द्विप्रदेशः, द्विप्रदेशस्याणोश्च संघातात् त्रिप्रदेशः, एवं संख्येयानामसंख्येयानामनन्तानामनन्तानन्तानां च प्रदेशानां संघातात् तावत्प्रदेशाः। एषामेव भेदाद् द्विप्रदेशपर्यन्ताः। एत एव संघातभेदाभ्यामेकसामयिकाभ्यां द्विप्रदेशादयः स्कन्धा उत्पद्यन्ते अन्यस्य संघातेन अन्यतो भेदेनेति।'-तत्त्वार्थभा०।

महास्कन्धपर्यन्तैर्वैस्रसिकैः। "खंधो वि वीससाए ॥३९४॥ स्कन्धः अचित्तमहास्कन्धः, सोऽपि 'विस्रसया' स्वभावेन विस्रसापरिणामेन भवति, न तु जीवप्रयोगेण।'-विशेषाव०भा०मलधारि० । "बन्धस्त्रिविधः प्रयोग-

---

त्रिलेखणवर्ती सम्मति-नयचक्रवाल-तत्त्वार्थत्। ज्योतिष्करण्ड-सिद्धप्राभृत-वसुदेवहिण्ड्यश्च ॥ ४२ ॥ इति जिनागमस्तवे जिनप्रभसूरयः। एतेषां ग्रन्थकाराणां समये मल्लवादिप्रणीतनयचक्रस्य अनुपलभ्यमानत्वात् केवलं सिंहसूरिगणिक्षमाश्रमणविरचितनयचक्रवृत्तेरेव उपलभ्यमानत्वाच्च 'एतैर्ग्रन्थकृद्भिः नयचक्रं मनसिकृत्य नयचक्रवालं इत्यभिहितमाहोस्वित् नयचक्रवृत्तिं मनसि निधाय इति तु सुधीभिः स्वयमेव विचारणीयम्। यदा तु मल्लवादिकृतं नयचक्रमुपलभ्यमानमासीत्, तदानीन्तनेषु केषुचिदपि ग्रन्थेषु 'नयचक्रवाल' शब्दात्मको नामाभिः क्वचिदपि दृष्ट इत्यपि ध्येयम्।

१ 'बन्धनं बन्धः परस्पराश्लेषलक्षणः। प्रयोगो जीवव्यापारः तेन घटितो बन्धः प्रायोगिकः औदारिकादिशरीरजतुकाष्ठादिविषयः। विस्रसा स्वभावः। प्रयोगनिरपेक्षो विस्रसाबन्धः... विद्युदुल्काजलधराभ्रेन्द्रधनुःप्रभृतिः विषमगुणविशेषपरिणतपरमाणुप्रभवः स्कन्धपरिणामः। —तत्त्वार्थ०सिद्धसेनवृ० ५।२४।

वन्धो विस्रसावन्धो मिश्र इति। ''स्थौल्यमपि द्विविधम्—अन्त्यमापेक्षिकं च संघातपरिणामापेक्षमेव भवति। तत्रान्त्यं सर्वलोकव्यापिनि महास्कन्धे भवति। आपेक्षिकं वदरादिभ्य आमलकादिष्विति।''—तत्त्वार्थभा० ५।२४। ''उप्पाओ दुवियप्पो पओगजणिओ अ वीससा चेव। '॥३।३२॥ द्विभेद उत्पादः पुरुषेतरकारकव्यापारजन्यतया।''—सन्मतिटी० पृ० ६४१।

पृ० २ पं० ६–७. **प्रायोगिकैश्च कार्मणशरीरादिभिः**। ''औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि।२।३७। औदारिकं वैक्रियम् आहारक तैजस कार्मणमित्येतानि पञ्च शरीराणि संसारिणां जीवानां भवन्ति''—तत्त्वार्थभा० २।३७।

पृ० २ पं० ८. **एक्कदवियम्मि**··· ··। ''यत् तदन्यतो विभक्तेन स्वरूपेण एकमनेकं च वस्तूक्तं तदनन्तप्रमाणमित्या-ख्यातुमाह—**एगदवियम्मि जे अत्थपज्जया वयणपज्जया वा वि। तीयाणागयभूया तावइयं तं हवइ दव्वं** ॥१।३१॥ एकस्मिन् जीवादिद्रव्ये **अर्थपर्याया** अर्थग्राहका. सङ्ग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्राख्या· तद्ग्राह्या वा अर्थभेदा, **वचनपर्यायाः** शब्दनया. शब्द-समभिरूढ-एवम्भूता तत्परिच्छेद्या वस्त्वंशा वा, ते च अतीतानागतवर्तमानरूपतया सर्वदा विवर्तन्ते विवृत्ता. विवर्तिष्यन्त इति तेषामानन्त्याद् वस्त्वपि तावत्प्रमाणं भवति। तथाहि—अनन्तकालेन सर्वेण वस्तुना सर्वावस्थानां परस्परानु-गमेन आसादितत्वात् अवस्थातुश्चावस्थाना कथञ्चिदनन्यत्वात् घटादिवस्तु पटपुरुषादिरूपेणापि कथञ्चिद् विवृत्तमिति सर्वं सर्वात्मकं कथञ्चिदिति स्थितम्। दृश्यते चैकं पुद्गलद्रव्यमतीतानागतवर्तमानद्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषपरिणामात्मकं युगपत क्रमेणापि तत् तथाभूतमेव, एकान्तासत उत्पादायोगात् सतश्च निरन्वयविनाशासम्भवादिति प्रतिपादितत्वात्।''—सन्मतिटी० पृ० ४३०।

पृ० २ पं० १०–११. **गतिस्थित्यवगाह**·· ··**आपेक्षिकैः** · **शरीरादिभिः**। एतत्स्वरूपमित्थं ज्ञेयम्—''**जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्**।१।४। जीवा अजीवा आस्रवा बन्ध. संवरो निर्जरा मोक्ष इत्येष सप्त-विधोऽर्थस्तत्त्वम्। एते वा सप्त पदार्थास्तत्त्वानि।··· ··**उपयोगो लक्षणम्**।२।८। उपयोगो लक्षणं जीवस्य भवति।· · ··उक्ता जीवा', अजीवान् वक्ष्याम.—**अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः**।५।१। धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकायः पुद्गलास्तिकाय इत्यजीवकायाः। तान् लक्षणत' परस्ताद् वक्ष्याम.। 'काय'ग्रहण प्रदेशावयवबहुत्वार्थमद्धासमयप्रतिषेधार्थं च। **द्रव्याणि जीवाश्च**।५।२। एते धर्मादयश्चत्वार. प्राणिनश्च पञ्च द्रव्याणि च भवन्ति।······। अत्राह—उक्त भवता 'धर्मा-दीनस्तिकायान् परस्ताल्लक्षणतो वक्ष्याम.' इति, तत् किमेषां लक्षणमिति। अत्रोच्यते—**गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयो-रुपकारः**।५।१७। गतिमता गते. स्थितिमतां च स्थितेरुपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारो यथासङ्ख्यम्। उपग्रहो निमित्तमपेक्षाकारणं हेतुरित्यनर्थान्तरम्। उपकारः प्रयोजनं गुणोऽर्थ इत्यनर्थान्तरम्। **आकाशस्यावगाहः**।५।१८। अवगाहिनां धर्माधर्मपुद्गल-जीवानामवगाह आकाशस्योपकार. धर्माधर्मयोरन्त.प्रवेशसम्भवेन पुद्गलजीवानां संयोगविभागैश्चेति। **शरीरवाङ्मनःप्राणा-पानाः पुद्गलानाम्**।५।१९। पञ्चविधानि शरीराणि औदारिकादीनि वाग् मन. प्राणापानाविति पुद्गलानामुपकार। तत्र शरीराणि यथोक्तानि [२।३७], प्राणापानौ च नामकर्मणि व्याख्यातौ [८।१२]। ·······अत्राह—अथ कालस्योपकार' क इति।

---

१ ''प्रयोगगति जीवपरिणामसम्प्रयुक्ता शरीराहारवर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानविषया''—तत्त्वार्थ० सिद्धसेनटी० ५।२२। २ दृश्यता टिप्पृ० ३ प० १६। ३ अस्य व्याख्या—''जीवपुद्गला क्रियावन्त, यत्र च गति तत्रावश्यतया स्थित्यापि भवित-व्यम्। अथवा धर्मद्रव्यस्य सन्निहितत्वात् किमित्यव्याहता गतिरेव सततं न भवति ? अविकलकारणकलापसन्निधाववश्यंभाविनी कार्यो-त्पत्ति। एवं स्थितिरपि वाच्या। इत्याक्षिप्ते गतिमतामित्याह। स्वत एव गतिपरिणतिर्येषा द्रव्याणा स्थितिपरिणतिश्च तेषामुपग्राहकौ धर्माधर्मावपेक्षाकारणमाकाशकालादिवत्, न निर्वर्तकं कारणम्। निर्वर्तक हि तदेव जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यं वा गतिस्थितिक्रियाविष्टम्, धर्माधर्मौ पुनरुपग्राहकौ अनुपघातकौ अनुग्राहकावित्यर्थ। स्वभावत एव हि गतिस्थितिपरिणतानि द्रव्याणि तावुपगृह्णीत। यथा च सरित्तडागह्रदसमुद्रेष्ववगाहित्वे सति मत्स्यस्य स्वयमेव सञ्जातजिगमिषस्योपग्राहक जलं निमित्ततयोपकरोति दण्डादिवद् मृद परिणामिन्या, नभोवद् वा अपेक्षाकारणम्, हेतुरिति कारणसामान्यप्रतिपत्तिकारि··· · ···न पुनस्तज्जलद्रव्यं गते कारणभाव विभ्राणमगच्छन्तमपि झष वलात् प्रेर्य गमयति। क्षितिर्वा स्वयमेव तिष्ठतो द्रव्यस्य स्थानभूयमापनीपद्यते, न पुनरतिष्ठद् द्रव्यं वलादवनिरवस्थापयति। व्योम वाऽवगाहमानस्य स्वत एव द्रव्यस्य हेतुतामुपैत्यवगाह प्रति, न पुनरनवगाहमानमवगाहयति स्वावष्टम्भात्। स्वयमेव च कृषीवलाना कृष्यारम्भमनुतिष्ठता वर्षमपेक्षाकारणं दृष्टम्, न च नूनकुर्वतस्तांस्तदर्थमारम्भयद् वर्षवारि प्रमितम्। ····यदि तर्हि निमित्तकारणं धर्माधर्मौ दण्डादिवदेवं सत्यपेक्षाकारणतैव हीयते, यतो निर्व्यापारमपेक्षा-कारणमुच्यते, नैतदेवम्, अपेतयुक्तित्वात्, न हि निर्व्यापार कारणम्, किं तर्हि ? कुर्वत् कारणम्। अपेक्षाकारणं चैता-वतोच्यते धर्मादि द्रव्यगतक्रियापरिणाममपेक्षमाणं जीवादिगत्यादिक्रियापरिणतिं पुष्णाति। एवं तर्हि निमित्तापेक्षाकारणयोर्न कश्चिद् विशेष, अस्ति विशेष, दण्डादिषु प्रायोगिकी वैस्रसिकी च क्रिया, धर्मादिषु वैस्रसिक्येवेति।''—तत्त्वार्थ० सिद्धसेनवृ०।

अन्योन्यत्रे—वर्तना परिणाम क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ।५।२२। तद्यथा-सर्वभावानां वर्तना कालाश्रया वृत्तिः । वर्तना उत्पत्तिः स्थितिः प्रथमसमयाश्रया इत्यर्थः । परिणामो द्विविधः—अनादिरादिमांश्च । त परस्ताद् वक्ष्यामः । क्रिया गतिः, सा त्रिविधा—प्रयोगगतिः विस्रसागतिः मिश्रिकेति । परत्वापरत्वे त्रिविधे—प्रशंसाकृते क्षेत्रकृते कालकृते इति । तत्र प्रशंसाकृते 'परो धर्मः, परं ज्ञानम्, अपरोऽधर्मः, अपरमज्ञानम्' इति । क्षेत्रकृते एकदिक्कालावस्थितयोर्विप्रकृष्टः परो भवति सन्निकृष्टोऽपरः । कालकृते द्विरष्टवर्षाद् वर्षशतिकः परो भवति, वर्षशतिकाद् द्विरष्टवर्षोऽपरो भवति । तदेवं प्रशंसाक्षेत्रकृते परत्वापरत्वे वर्जयित्वा वर्तनादीनि कालकृतानि कालस्योपकार इति ।"—तत्त्वार्थभा० । विस्तरतस्त्वस्याः सिद्धसेनगण्यादिविरचितवृत्तिभ्योऽवगन्तव्यम् ।

पृ० २ प० ११ द्रव्यार्थादिष्टस्य । द्रव्यार्थिकनयापेक्षया विवक्षितस्येति भावः । दृश्यतां पृ० ३ प० १ ।

पृ० २ प० १२ द्रव्यपर्यायात्मा । 'प्रमाणस्य विषयो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु ।१।१।३०।　प्रमाणानां प्रत्यक्षादीनां विषयो गोचरो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु । द्रवति तांस्तान् पर्यायान् गच्छति इति द्रव्यं ध्रौव्यलक्षणम् । पूर्वोत्तरविवर्तवर्त्यन्वयप्रत्ययसमधिगम्यमूर्ध्वतासामान्यमिति यावत् । पर्यायास्तु उत्पादविनाशधर्माणो भवनानि पर्याया विवर्ताः । ततस्ते आत्मा स्वरूपं यस्य तद् द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु परमार्थसदित्यर्थः । यद् वाचकमुख्यः—'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' [तत्त्वार्थ० ५।२९] ।

'द्रव्यपर्याय' ग्रहणेन द्रव्यैकान्त-पर्यायैकान्त-तदुभयपरस्परविनिर्विषयपरिग्रहः । 'आत्म' ग्रहणेन चात्यन्तव्यतिरिक्तद्रव्यपर्यायवादिकाणादयौगाभ्युपगतविषयनिरासः । यच्छ्रीसिद्धसेनः—'दोहिं वि नएहिं नीयं सत्थमुलूएण तहवि मिच्छत्तं । जं सविसयप्पहाणत्तणेण अन्नोन्ननिरवेक्खा ॥' [सन्मति० ३।४९] इति ।' इति हेमचन्द्रसूरिविरचितायां प्रमाणमीमांसायाम् । अत्र 'गुणपर्यायवद्द्रव्यम्' [पृ० १७ प० २२] इत्यस्य वक्ष्यमाणं टिप्पणमपि द्रष्टव्यम् ।

पृ० २ प० १२ सदविशेषात् । "सर्वमेकं सदविशेषात्" इति तत्त्वार्थभाष्ये संग्रहनयाभिप्रायनिरूपणे १।३५। अस्य सिद्धसेनगणिकृता व्याख्या—'सकलं जगदनेकावयवात्मकमपि सत्तामात्रव्यापारविशेषात्तदेकमुच्यते ।' इति ।

पृ० ३ प० १ अभिधान　। अभिधानस्य फलं व्यवहारः, प्रत्ययस्य फलं विनिश्चयः ।

पृ० ३ प० ३ एकमेकमेव । (एकमेव ?) ।

पृ० ३ प० ४ अर्पणात् । अर्पणा व्यपदेशः आदेशो विवक्षा अपेक्षा इत्यनर्थान्तराणि ।

पृ० ३ प० ६ द्रव्य　। द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षाभिरित्यर्थः । जैनदर्शनानुसारेण वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वादनेकाभिरपेक्षाभिर्वस्तुतत्त्वं विचार्यते इति ध्येयम् । द्रव्यक्षेत्रकालभावस्वरूपं पृ० १५-१७ इत्यत्रावलोकनीयम् ।

पृ० ३ प० ७-११ एवं दुवालसंग　　सपज्जवसितमेव । "से किं तं साइअं सपज्जवसिअं अणाइअं अपज्जवसिअं च ? इच्चेयं दुवालसंगं गणिपिडगं वुच्छित्तिनयट्ठयाए साइअं सपज्जवसिअं । अवुच्छित्तिनयट्ठयाए अणाइअं अपज्जवसिअं । तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ । तत्थ दव्वओ णं सम्मसुअं एगं पुरिसं पडुच्च साइअं सपज्जवसिअं, बहवे पुरिसे य पडुच्च अणाइयं अपज्जवसियं । खेत्तओ णं पंच भरहाइं पंचेरवयाइं पडुच्च साइअं सपज्जवसिअं, पंच महाविदेहाइं पडुच्च अणाइयं अपज्जवसिअं । कालओ णं उस्सप्पिणिं ओसप्पिणिं च पडुच्च साइअं सपज्जवसिअं नोउस्सप्पिणिं नोओसप्पिणिं च पडुच्च अणाइयं अपज्जवसिअं । भावओ णं जे जया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति[2] ते तया पडुच्च साइअं सपज्जवसिअं, खाओवसमियं पुण भावं पडुच्च अणाइअं अपज्जवसिअं । अहवा भवसिद्धियस्स सुयं साइयं सपज्जवसिअं च, अभवसिद्धियस्स सुयं अणाइयं अपज्जवसियं च । [सू० ४२] इति नन्दिसूत्रपाठः । अस्य मलयगिरिसूरिविरचिता व्याख्या—'अथ किं तत् सादि सपर्यवसितम्, अनादि अपर्यवसितं च ? तत्र सह आदिना वर्तत इति सादि । तथा पर्यवसानं पर्यवसितम्, भावे क्तप्रत्ययः, सह पर्यवसितेन वर्तत

[1] 'द्वाभ्यामपि द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयाभ्यां प्रणीतं शास्त्रम् उलूकेन वैशेषिकशास्त्रप्रणेत्रा तथापि मिथ्यात्वम्, स्वविषयप्राधान्यतः परस्परनिरपेक्षतया ... [पृ० ६५६] । पदार्थषट्कं द्रव्यादि गुणादयः कथञ्चिद्भिन्ना एव कथञ्चिदभिन्ना एव ... सामान्यविशेषसमवायास्तु भिन्ना एवेति पदार्थव्यवस्था । तदसमञ्जसम् । तथापि मिथ्यात्वम् स्वविषयप्राधान्यतः परस्परनिरपेक्षतया ... [पृ० ६५७] ।　जं सविसय' इत्यादिगाथापश्चार्धेन हेतुमाह—यस्मात् स्वविषयप्राधान्यतः परस्परनिरपेक्षतया ... अन्योन्यनिरपेक्षतयाश्रितत्वम् मिथ्यात्वाविनाभूतत्वात् । [पृ० ७०४] इति अभयदेवसूरिविरचितायां सन्मतिटीकायाम् ।　२ 'ते तदा पडुच्च' —नन्दीचूर्णि० पृ० ८१ ।

इति सपर्यवसितम् । आदिरहितमनादि, न पर्यवसितमपर्यवसितम् । आचार्य आह—इत्येतद् द्वादशाङ्गं गणिपिटकं 'वोच्छित्तिनयट्ठयाए' इत्यादि, व्यवच्छित्तिप्रतिपादनपरो नयो व्यवच्छित्तिनयः पर्यायास्तिकनय इत्यर्थः, तस्यार्थो व्यवच्छित्तिनयार्थः पर्याय इत्यर्थ, तस्य भावो व्यवच्छित्तिनयार्थता, तया, पर्यायापेक्षयेत्यर्थः । किम्? इत्याह—सादिसपर्यवसितम्, नारकादिभवपरिणत्यपेक्षया जीव इव । अवुच्छित्तिनयट्ठयाएत्ति, अव्यवच्छित्तिप्रतिपादनपरो नयोऽव्यवच्छित्तिनयः, तस्यार्थोऽव्यवच्छित्तिनयार्थो द्रव्यमित्यर्थः, तद्भावस्तत्ता, तया, द्रव्यापेक्षयेत्यर्थः । किम्? इत्याह—अनादि अपर्यवसितम्, त्रिकालावस्थायित्वाज्जीववत् । अधिकृतमेवार्थं द्रव्यक्षेत्रादिचतुष्टयमधिकृत्य प्रतिपादयति—'तत्' श्रुतज्ञानं 'समासतः' संक्षेपेण चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतो, णमिति वाक्यालङ्कारे, सम्यक्श्रुतमेकं पुरुषं प्रतीत्य सादि सपर्यवसितम् । कथमिति चेत्, उच्यते—सम्यक्त्वावाप्तौ ततः प्रथमपाठतो वा सादि । पुनर्मिथ्यात्वावाप्तौ, सति वा सम्यक्त्वे प्रमादभावतो महाग्लानत्वभावतो वा सुरलोकगमनसम्भवतो वा विस्मृतिमुपागते, केवलज्ञानोत्पत्तिभावतो वा सर्वथा विप्रनष्टे सपर्यवसितम् । बहून् पुरुषान् कालत्रयवर्तिनः पुनः प्रतीत्य अनादि अपर्यवसितम्, सन्तानेन प्रवृत्तत्वात्, कालवत् । तथा क्षेत्रतो, णमिति वाक्यालङ्कारे, पञ्च भरतानि पञ्चैरवतानि प्रतीत्य सादि सपर्यवसानम् । कथम्? उच्यते—तेषु क्षेत्रेषु अवसर्पिण्यां सुषमदुष्षमापर्यवसाने उत्सर्पिण्यां तु दुष्षमसुषमाप्रारम्भे तीर्थंकरधर्मसङ्घानां प्रथमतयोत्पत्तेः सादि, एकान्तदुष्षमादौ च काले तदभावात् सपर्यवसितम् । तथा महाविदेहान् प्रतीत्य अनादि अपर्यवसितम्, तत्र प्रवाहापेक्षया तीर्थकरादीनामव्यवच्छेदात् । तथा कालतो, णमिति वाक्यालङ्कारे, अवसर्पिणीमुत्सर्पिणीं च प्रतीत्य सादि सपर्यवसितम्, तथाहि अवसर्पिण्यां तिसृष्वेव समासु सुषमदुष्षमा–दुष्षमसुषमा–दुष्षमारूपासु उत्सर्पिण्यां तु द्वयोः समयोः दुष्षमसुषमा–सुषमदुष्षमारूपयोर्भवति, न परतः, ततः सादिसपर्यवसितम् । ·· · ·· 'नोउस्सप्पिणी'त्यादि, [2]नोउत्सर्पिणीमवसर्पिणीं प्रतीत्य अनाद्यपर्यवसितम्, महाविदेहेषु हि नोत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूपः कालः, तत्र च सदैवावस्थितं सम्यक्श्रुतमित्यनाद्यपर्यवसितम् । तथा भावतो, णमिति वाक्यालङ्कारे, 'ये' इत्यनिर्दिष्टनिर्देशे, ये केचन यदा पूर्वोक्तैर्जिनैः प्रज्ञप्ता जिनप्रज्ञप्ता भावाः पदार्थाः 'आघविज्जंति'त्ति······आख्यायन्ते, सामान्यरूपतया विशेषरूपतया वा कथ्यन्ते इत्यर्थः । 'प्रज्ञाप्यन्ते' नामादिभेदप्रदर्शनेन आख्यायन्ते ··। 'प्ररूप्यन्ते' नामादिभेदस्वरूपकथनेन प्रख्याप्यन्ते· · · । तथा 'दर्श्यन्ते' उपमानमात्रोपदर्शनेन प्रकटीक्रियन्ते, यथा गौरिव गवय इत्यादि । तथा 'निदर्श्यन्ते' हेतुदृष्टान्तोपदर्शनेन स्पष्टतरीक्रियन्ते । 'उपदर्श्यन्ते' उपनयनिगमनाभ्यां निःशङ्कं शिष्यबुद्धौ स्थाप्यन्ते, अथवा 'उपदर्श्यन्ते' सकलनयाभिप्रायावतारणतः पटुप्रज्ञशिष्यबुद्धिषु व्यवस्थाप्यन्ते । 'तान्' भावान् 'तदा' तस्मिन् काले तथा आख्यायमानान् प्रतीत्य सादिसपर्यवसितम् । एतदुक्तं भवति—तस्मिन् काले तं तं प्रज्ञापकोपयोगं स्वरविशेषं प्रयत्नविशेषमासनविशेषमङ्गविन्यासादिकं च प्रतीत्य सादिसपर्यवसितम् उपयोगादेः प्रतिकालमन्यथाऽन्यथाभवनात् ।··· · क्षायोपशमिकं भावं पुनः प्रतीत्य अनाद्यपर्यवसितम्, प्रवाहरूपेण क्षायोपशमिकभावस्य अनाद्यपर्यवसितत्वात् । ··अथवेत्यादि, ·· ··भवसिद्धिको भव्यः, तस्य [श्रुतं] सम्यक्श्रुतं सादिसपर्यवसितम्, सम्यक्त्वलाभे प्रथमतया भावात् भूयो मिथ्यात्वप्राप्तौ केवलोत्पत्तौ वा विनाशात् । · अभवेत्यादि, अभवसिद्धिकोऽभव्यः, तस्य श्रुतं मिथ्याश्रुतमनाद्यपर्यवसितम्, तस्य सदैव सम्यक्त्वादिगुणहीनत्वात् ।" इति मलयगिरिविरचितायां नन्दिसूत्रवृत्तौ पृ० १९५–१९८ । दृश्यतां नन्दि० हारिभद्री० पृ० ८४–८६ ।

पृ० ३ प० १४–१६. **इमा णं · असासता** । दृश्यतां पृ० ४५१ टि० १ ।

पृ० ३ पं० १९ **आभिनिवोधिकभेदानाम्** । 'आभिनिबोधिकं' मतिज्ञानमित्यर्थः । मत्यादिज्ञानपञ्चकस्वरूपं चेत्थमवगन्तव्यम्—"**णाणं पंचविहं पन्नत्तं, तं जहा–आभिणिबोहियनाणं सुअनाणं ओहिनाणं मणपज्जवनाणं केवलनाणं** [नन्दिसू० १] । ज्ञातिर्ज्ञानम्, भावे 'अनट्'प्रत्ययः । अथवा ज्ञायते वस्तु परिच्छिद्यतेऽनेनेति ज्ञानम्, करणे 'अनट्' । · 'पञ्च' इति सङ्ख्यावाचकम्, विधानं विधा, पञ्च विधाः प्रकारा यस्य तत् पञ्चविधं पञ्चप्रकारं प्रज्ञप्तं प्ररूपितं तीर्थकरगणधरैः ·· ·· । 'तद्यथा' इत्युदाहरणोपदर्शनार्थः, आभिनिबोधिकज्ञानं श्रुतज्ञानम् अवधिज्ञानं मनःपर्यायज्ञानं केवलज्ञानम् । तत्र अर्थाभिमुखो नियतः प्रतिनियतस्वरूपो बोधो बोधविशेषोऽभिनिबोधः, [अभिनिबोधः] एवाभिनिबोधिकम् ·· स्वार्थे 'इकण्' प्रत्ययः, · आभिनिबोधिकं च तद् ज्ञानं च आभिनिबोधिकज्ञानम्, इन्द्रियमनोनिमित्तो योग्यदेशावस्थितवस्तुविषयः स्फुटप्रतिभासो बोधविशेष इत्यर्थः १ । तथा श्रवणं श्रुतम्, वाच्यवाचकभावपुरस्सरीकारेण शब्दसंसृ(स्पृ)ष्टार्थग्रहणहेतुरुपलब्धिविशेषः, 'एवमाकारं वस्तु जलधारणाद्यर्थक्रियासमर्थं घटशब्दवाच्यम्' इत्यादिरूपतया प्रधानीकृतत्रिकालसाधारण-

---

१ भरतैरवतमहाविदेहादिक्षेत्रस्वरूपम् उत्सर्पिण्यवसर्पिणीसुषमसुषमादिकालस्वरूपं च बृहत्संग्रहणी-क्षेत्रसमास-तत्त्वार्थसूत्रप्रभृतिग्रन्थेभ्योऽवसेयम् । २ "नोउत्सर्पिणीं नोअवसर्पिणीं च प्रतीत्य अनाद्यपर्यवसितम् ।"—नन्दि० हारिभद्री० ।

समानपरिणामः शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेष इत्यर्थः । श्रुतं च तद् ज्ञानं च श्रुतज्ञानम् २ । तथा अवशब्दोऽधःशब्दार्थः, अव अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः, अथवा अवधिर्मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा, तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधि । अवधिश्चासौ ज्ञानं चावधिज्ञानम् ३ । तथा परि सर्वतोभावे, अयनम् अयः, अयनं गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परि अव पर्ययः, मनसि मनसो वा पर्ययः मनःपर्ययः, सर्वतो मनोद्रव्यपरिच्छेद इत्यर्थः । अथवा मनःपर्यय इति पाठः, सर्वतः तत्परिच्छेद इत्यर्थः, स चासौ ज्ञानं च मनःपर्ययज्ञानम् । अथवा मनःपर्यायज्ञानमिति पाठः, तत्र मनांसि मनोद्रव्याणि पर्येति सर्वात्मना परिच्छिनत्ति मनःपर्यायम्, मनःपर्यायं च तद् ज्ञानं च मनःपर्यायज्ञानम् । यद्वा मनसः पर्यायाः मनःपर्यायाः, पर्याया भेदा धर्मा बाह्यवस्त्वालोचनप्रकारा इत्यर्थः, तेषु तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम् ४ । तथा केवलमेकमसहायं मत्यादिज्ञाननिरपेक्षत्वात् । अथवा शुद्धं केवलम्, तदावरणमलकलङ्कस्य निःशेषतोऽपगमात् । सकलं वा केवलम्, प्रथमत एवाशेषतदावरणापगमतः सम्पूर्णोत्पत्तेः । असाधारणं वा केवलम्, अनन्यसदृशत्वात् । अनन्तं वा केवलम्, ज्ञेयानन्तत्वात् । केवलं च तद् ज्ञानं च केवलज्ञानम् ५ ।' इति मलयगिरिविरचितायां नन्दिसूत्रवृत्तौ पृ० ६५–६६ । दृश्यताम् अनुयोगद्वारसू० १ ।

"ज्ञानं वक्ष्यामः—मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम् ।१।९। मतिज्ञानं श्रुतज्ञानम् अवधिज्ञानं मनःपर्यायज्ञानं केवलज्ञानमित्येतद् मूलविधानतः पञ्चविधं ज्ञानम् । प्रभेदास्त्वस्य पुरस्ताद् वक्ष्यन्ते । मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।१।१३। मतिज्ञानं स्मृतिज्ञानं संज्ञाज्ञानं चिन्ताज्ञानं तथा आभिनिबोधिकज्ञानमित्यनर्थान्तरम् । तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ।१।१४। तदेतद् मतिज्ञानं द्विविधं भवति—इन्द्रियनिमित्तमनिन्द्रियनिमित्तं च । तत्रेन्द्रियनिमित्तं स्पर्शनादीनां पञ्चानां स्पर्शादिषु पञ्चस्वेव स्वविषयेषु । अनिन्द्रियनिमित्तं मनोवृत्तिरोघज्ञानं च । —तत्त्वार्थभा० ।

पृ० ४ पं० १ तत्थाभिनिबोहिअनाणंति । "इनः स्वरात् तश्च द्विः ।८।१।४२। पदात् परस्य इतेरादेर्लुग् भवति स्वरात् परश्च तकारो द्विर्भवति । किं ति । ज ति । दिट्ठं ति । न जुत्तं ति । स्वरात् तह त्ति । झ त्ति । पिओ त्ति । पुरिसो त्ति ।' इति आचार्यहेमचन्द्रकृतप्राकृतव्याकरणानुसारेण अत्र इतेरिकारस्य लुग् ज्ञातव्यः ।

पृ० ४ पं० १ श्रुतज्ञान । श्रुतज्ञानस्य विस्तरेण स्वरूपं 'पृ० ९ पं० ३ पूर्वमहोदधिसमुत्पन्ननयप्राभृत' इत्यस्य टिप्पणादवगन्तव्यम् । तथा दृश्यतां टिपृ० ६ पं० ३१ ।

पृ० ४ पं० २ घटादेः । यदि हि एकान्तेन नित्यो घटस्तदा तस्य सर्वदावस्थितत्वात् कुम्भकारप्रयत्नजन्यत्वाभावात् कुम्भकाराय घटार्थं वेतनप्रदानं निरर्थकमिति भावः । "एवंविधस्यैवानित्यत्वेनैव च वर्णाश्रमप्रतिनियतरूपा यमनियमगम्यागम्यभक्ष्याभक्ष्यादिव्यवस्था कुम्भकारादेश्च मृदानयनावमर्दनचक्रारोपणादिकरणप्रवृत्तौ वेतनकादिदानस्य साफल्यम् । —तत्त्वार्थ० सिद्धसेनवृ० १।३५।

पृ० ४ पं० ५ विशीर्यरन् । "एकान्तनाशिनि च कृतनाशाकृताभ्यागमौ स्याताम्, स्मृतिप्रत्यभिज्ञाननिहितप्रत्युन्मार्गणप्रभृतयश्च प्रतिप्राणिप्रसिद्धा व्यवहारा विशीर्येरन् । —प्रमाणमी० १।१।४२। "एकान्तस्थैर्यपक्षे ... 'पूर्वदृष्टस्य स्मरणम्, स्मृतस्य कस्यचित् प्रत्यभिज्ञानम्, प्रत्यभिज्ञातस्य गृहादेरर्थस्य समापनम्' इत्यादयश्च व्यवहारा विलुप्येरन् । इति न्यायमञ्जर्यां क्षणभङ्गनिरासप्रसङ्गे । 'तथा भद्रं हि यद् मुक्तपर्वा ... पर्यायो यद्वा अन्यश्च मुच्यते इति यस्यैव मोक्षाय प्रवृत्तिर्न स्यात् । सन्तानापेक्षया बद्धस्यैव मोक्ष इत्यपि अनवद्यमोविलसितम्, सन्तानस्यैकत्वप्रकारेणासम्भवात् । तथा निहितप्रत्यभिज्ञाधीनस्मृति ... दर्शनप्रभृतिश्च एकत्वमन्तरेण दुर्घट इति ।'—न्यायकुमु० पृ० २ ।

पृ० ४ पं० ३–४ स्वरूपानवधारणे ... नावतरन्त्यः । 'अवतरत्येकान्तो हि असद्वादः स्वजनविरोधात्, पदार्थानवधिकरत् । —तत्त्वार्थवा० १।६।

पृ० ४ पं० ९,१५. कारः । "ॐ महर्षिणा वर्द्धमानेन ... कारः महा ... न ज्ञाता जीवान कर ... । अपि ... मुगतेषु ... महाविदे ... ॥ १ ॥ कारः स्वमतो ... भूतानि ... पुरा इति ... । ... ॥ २ ॥ इति श्वेताश्वतरोपनिषदि । "कालो सहाव नियई पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता । मिच्छत्तं ते चेव समासओ होंति सम्मत्तं ॥" —सन्मति० ३।५३। अस्य व्याख्या– 'काल-स्वभाव-नियति-पूर्वकृत-पुरुषकारणरूपा एकान्ताः सर्वेऽपि एकका मिथ्यात्वम् । त एव समुदिताः परस्पराजहद्वृत्तयः सम्यक्त्वरूपतां प्रतिपद्यन्ते इति तात्पर्यार्थः । इत्यादिविस्तरेण अभयदेवसूरिविरचितायां सन्मतिवृत्तौ अवलो

कर्त्तारः। कालादीनां स्वरूपं तृतीयचतुर्थारयोर्विस्तरेण वक्ष्यतेऽत्रैव। सांख्यकारिकामाठरवृत्ति[का० ६१]-शास्त्रवार्तासमुच्चय-[का० २।५२-८१]प्रभृतिग्रन्थेष्वपि कालादिस्वरूपं तदेकान्तनिराकरणं च प्रकारान्तरेण वर्णितमस्ति।

पृ० ४ पं० १० एकपुरुषपितृपुत्रत्वादिवत्। "एकोऽपि सन् देवदत्तो लोके स्वरूप सम्बन्धिरूपं चापेक्ष्य अनेकशब्दप्रत्ययभाग् भवति 'मनुष्यो ब्राह्मणः श्रोत्रियो वदान्यो बालो युवा स्थविरः पिता पुत्रः पौत्रो भ्राता जामाता' इति। एकापि सती स्त्रा स्थानान्यत्वेन निविशमाना एक-दश-शत-सहस्रादिशब्दप्रत्ययभेदमनुभवति।' -ब्रह्मसूत्रशाङ्करभा० २।२।१७। "अर्पणाभेदादविरोधः पितापुत्रादिसम्बन्धवत् ॥३१॥ उक्तादर्पणाभेदाद् एकत्र अविरोधेन अवरोधो धर्माणां पितापुत्रादिसम्बन्धवत्। तद्यथा एकस्य देवदत्तस्य जातिकुलरूपसंज्ञाव्यपदेशविशिष्टस्य 'पिता पुत्रो भ्राता भागिनेयः' इत्येवंप्रकाराः सम्बन्धाः जन्यजनकत्वादिशक्त्यर्पणाभेदान्न विरुध्यन्ते। न ह्येकापेक्षया पितेति शेषापेक्षयापि पिता भवति, शेषापेक्षया वा पुत्रादिव्यपदेशार्ह इति उक्तापेक्षयापि पुत्रादिव्यपदेशभाक्। न च पितापुत्रादिकृतं संबन्धबहुत्वं देवदत्तस्यैकत्वेन विरुध्यते। तद्वदस्तित्वाद्योऽपि न यान्ति विरोधमेकत्र।"-तत्त्वार्थराजवा० ५।३१।

पृ० ५ पं० १. अननुविषयप्रजत्वात्। अत्र 'अनन्तविषयप्रजत्वात्' इति शुद्धः पाठः।

पृ० ५ पं० ६ स्थूलमतये। तुलना-"सविसयमसद्दहंता नयाण तम्मत्तयं च गिण्हंता। मण्णंता य विरोहं अपरिणामातिपरिणामा ॥ २२९२ ॥ गच्छेज्ज हु मा मिच्छं परिणामा य सुहुमाइबहुभेए। होज्जाऽसत्ते घेत्तुं न कालिए तो नयविभागो ॥ २२९३ ॥"-विशेषाव० भा०।

पृ० ५ पं० ८. बौद्धे। बुद्धदर्शने इत्यर्थः। एवमग्रेऽपि।

पृ० ५ पं० ९. स्मृत्य... सन्तानकल्पना। "यत्र सन्ताने पटीयसा अनुभवेन उत्तरोत्तरविशिष्टतरतमक्षणोत्पादात् स्मृत्यादिबीजमाहितं तत्रैव स्मरणादयः समुत्पद्यन्ते, नान्यत्र, प्रतिनियतत्वात् कार्यकारणभावस्य। .... स्मरणादिपूर्वकाश्च प्रत्यभिज्ञानादयः प्रसूयन्ते इत्यविरुद्धम् [पृ० १८४] ..... सन्ततिशब्देन क्षणा एव वस्तुभूताः सन्तानिनो व्यवहारलाघवाय सामान्येन युगपत् प्रकाश्यन्ते 'वन'शब्देनेव धवादयः।"-तत्त्वसं०प० पृ० ५०३-४। "सन्तानो नाम न कश्चिदेकः परमार्थसन् सम्भवति। किं तर्हि? कार्यकारणभावप्रवृत्तक्षणपरम्पराप्रवाहरूप एवायम्, ततो व्यतिरिक्तस्य अनुपलम्भात्। तस्मादेतेषामेव क्षणानामेकपदेन प्रतिपादनाय संकेतः कृतो बुद्धैः व्यवहारार्थं 'सन्तानः' इति।"-बोधिचर्याव० पृ० ३३४। टिपृ० ७ पं० २६।

पृ० ५ पं० १० क्रियावत्। पुण्यनामधेयमुनिराजश्रीपुण्यविजयमहोदयसत्के बहु पुरातने हस्तलिखिते सवृत्तिके वैशेषिकसूत्रग्रन्थे इदं सूत्रम् अत्रैव वर्तते, दृश्यतां पृ० ४४० टि० ५। अस्य ग्रन्थस्य श्रीपुण्यविजयमुनिराजसत्कत्वाद् व्यवहारलाघवार्थमस्माभिः P इति संज्ञा कृतास्ति। इदं पुनरत्रावधेयम्-वाराणसी-कलिकातादिनगरमुद्रितेषु शंकरमिश्रादिव्याख्यानेषु सम्प्रति प्रसिद्धेषु सर्वेष्वपि वैशेषिकसूत्रपाठेषु अस्मात् Pपुस्तकाद् भूयान् पाठभेदो वर्तते। प्राचीनग्रन्थेषु उद्धृतानि बहूनि वैशेषिकसूत्राणि वाराणस्यादिमुद्रिते सूत्रपाठे न सन्ति अतीव अन्यथारूपेण वा उपलभ्यन्ते, अस्मिंस्तु Pपुस्तके प्रायः सर्वाण्यपि सूत्राणि यथावत् सन्ति स्वल्पभेदेन वा पाठभेदेन उपलभ्यन्ते। इदं तु Pपुस्तकं पञ्चमारपर्यन्तमस्य ग्रन्थस्य मुद्रणानन्तरं मम दृष्टिपथमायातम्, अतो बहूनि बहूनि सूत्राणि सवृत्तिकानि Pपुस्तकादुद्धृत्य तत्र तत्र टिप्पणेषु मया उपन्यस्तानि। तद्दर्शनाद् वाराणस्यादिमुद्रितसूत्रपाठस्य तद्व्याख्यानां च बहुषु स्थानेषु भ्रष्टत्वमसम्बद्धत्वं च Pपुस्तकसूत्रपाठस्य तु अतीवोपयोगित्वं समीचीनतमत्वं च सम्यगेव विज्ञास्यते विद्वद्भिः।

पुस्तकस्वरूपं त्वित्थम्-अत्र ३४ पत्राणि सन्ति, प्रतिपत्रं पृष्ठद्वयम्, प्रतिपृष्ठं १२ पङ्क्तयः। तत्र आद्येषु सार्धेषु पञ्चसु पत्रेषु केवलं वैशेषिकसूत्रपाठः, ततः परं सार्धेषु अष्टाविंशतौ पत्रेषु 'सूत्रं तद्व्याख्या, सूत्रं तद्व्याख्या' इत्येवंक्रमेण सर्वेषामपि सूत्राणां चन्द्रानन्दविरचिता वैशेषिकसूत्रवृत्तिः। एवं च 'एकः केवलः सूत्रपाठः, अपरश्च वृत्त्यन्तर्गतः सूत्रपाठः' इति द्वौ सूत्रपाठावत्र। उभयत्रापि प्रायः साम्यमेव, तथापि क्वचित् किञ्चिद्वैषम्यमपि वर्तते, तदपि च यथायोगं तत्र तत्र प्रदर्शितं मया। 'सू०'शब्देन Tशब्देन वा केवलः सूत्रपाठो ज्ञेयः, 'वृसू०'शब्देन तु वृत्त्यन्तर्गतः सूत्रपाठो ज्ञेयः। वृत्तावपि बह्वशुद्धिर्वर्तते,

---

१ अर्पणानां विवक्षाणां भेदात्। २ सग्रहः। ३ एतच्च भ्रष्टत्वमसम्बद्धत्वं च विद्वद्भिरपि स्वीक्रियत एव, दृश्यतां न्यायकन्दल्याः प्रस्तावना [विज्ञापनम्] पृ० ११, तथा चन्द्रकान्ततर्कालङ्कारलिखिता वैशेषिकदर्शनस्य भूमिका पृ० ३। ४ प्रतिपत्रं मानं ९३/४"×३१/२" इञ्च[Inch]प्रमितं ज्ञेयम्। ५ प्रथमपत्रस्य उपरितनं पृष्ठं तु लेखरहितमिति ध्येयम्। ६ T=Text मूलमित्यर्थः।

सापि मया प्रमाणिता, वृत्तिस्थः पाठश्च 'वृ०'शब्देन प्रदर्शितः। वृत्तिकारः चन्द्रानन्दः कदा जात इति निश्चितं वयं न जानीमः, किन्तु शङ्करमिश्रात् प्राचीन एवेति प्रत्ययोऽस्माकम्। Pपुस्तकमपि बहु प्राचीनमिति ध्येयम्।

पृ० ५ प० ११ तद्व्यासि । आकाशादिषु क्रियावत्त्वाभावान्न व्याप्तिरिति भावः।

पृ० ५ प० १२-१३ अद्रव्यम । अद्रव्यानेकद्रव्ययोः स्वरूपं पृ० २२ प० ८ इत्यत्र द्रष्टव्यम्। द्रव्यपर्यायनयस्वरूपं टिपृ० ३ प० २-५ इत्यत्र द्रष्टव्यम्। काणभुजे कणभुजा कणादेन प्रणीते वैशेषिकदर्शने इति भावः।

पृ० ६ प० १ 'शेषसामान्यभावेन वा जेष्यत्येव तद् यदेवमिदम्' इति मूलपाठोऽत्र शोभन एव य०प्रतिपाठानुसारी च। दृश्यतां टिपृ० १० प० ३४।

पृ० ६ प० ३ सदिति । दृश्यतां टिपृ० ८ प० २२—टिपृ० ९ प० २। "एवं विशेषा व्याख्याताः। सत्ता तु सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु [वै० सू० १।२।७] भिन्नेषु द्रव्यादिषु त्रिषु यतो जायते 'सत् सत्' इति बुद्धिः सा सत्ता। आश्रयविनाशादस्या विनाश इति चेत्, न, यतः द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता [वै० सू० १।२।८] यस्माद् द्रव्यादिभ्यो व्यतिरिक्ता सत्ता तस्मान्न द्रव्यादिविनाशे सत्ता विनश्यतीति। द्रव्यादिव्यतिरेके युक्तिः—एकद्रव्यवत्त्वान्न द्रव्यम् [वै० सू० १।२।९] परमाण्वाकाशादि द्रव्यमद्रव्यं कारणद्रव्याभावात्, अनेकद्रव्यं वा घटादि समवायिकारणद्रव्ययुक्तत्वात्; सत्ता पुनः प्रत्यक्षपरिग्राह्या वर्तमाना एकद्रव्यवत्त्वान्न द्रव्यम्। गुणकर्मसु च भावान्न कर्म न गुणः [वै० सू० १।२।१०], गुणानां गुणेष्ववृत्तेः कर्मसु कर्मणाम्, गुणेषु कर्मसु च सत्ताया वर्तमानत्वान्न गुणकर्मणी सत्ता। सामान्यविशेषाभावाच्च [वै० सू० १।२।११] यदि सत्ता द्रव्यादीनामन्यतमा स्यात् एवं द्रव्यादिष्विव सत्तायामपि सत्तात्वादयः सामान्यविशेषा वर्तेरन्। न चैवम्। तस्मान्न सत्ता द्रव्यगुणकर्माणि। एकद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यत्वमुक्तम् [वै० सू० १।२।१२] यथा प्रतिद्रव्यं साकल्येन वर्तमानत्वान्न द्रव्यं सत्ता तथैकद्रव्यत्वान्न द्रव्यं द्रव्यत्वम्। सामान्यविशेषाभावेन च [वै० सू० १।२।१३] द्रव्यादिष्विव द्रव्यत्वादीनां मध्यात् कश्चित् सामान्यविशेषो द्रव्यत्वे वर्तेत यदि द्रव्यं गुणः कर्म वा स्यात्। तस्मान्न द्रव्यादीनि द्रव्यत्वम्। गुणे भावाद् गुणत्वमुक्तम् [वै० सू० १।२।१४] गुणेषु गुणानामवृत्तेः, गुणत्वं च गुणेषु वर्तते, तस्मान्न गुणः। सामान्यविशेषाभावेन च [वै० सू० १।२।१५] यदि गुणत्वं द्रव्यं कर्म वा स्यात् तस्मिन् द्रव्यत्वकर्मत्वे वा सामान्यविशेषौ स्याताम्। न चैवम्। तस्मान्न द्रव्यं कर्म वा गुणत्वम्। कर्मणि भावात् कर्मत्वमुक्तम् [वै० सू० १।२।१६] कर्मणि कर्मत्वस्य वृत्तेः कर्मणः कर्मणि चावृत्तेः [कर्म न] कर्मत्वम्। सामान्यविशेषाभावेन च [वै० सू० १।२।१७] द्रव्यत्वं गुणत्वं वा कर्मत्वे स्यातां यदि द्रव्यं गुणो वा स्यात्। तस्मान्न द्रव्यगुणौ कर्मत्वम्।' इति चन्द्रानन्दविरचितायां वैशेषिकसूत्रवृत्तौ P पृ० १०।

पृ० ६ प० ९-१४ जं चोद्दस पण्णवणिज्जा अक्खरलंभेण । इदमत्रावधेयम्—'पण्णवणिज्जा ॥१४१॥ जं चोद्दस ॥१४२॥ अक्खरलंभेण ॥१४३॥ इत्येवंक्रमेण इदं गाथात्रयं जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणविरचिते विशेषावश्यकभाष्ये उपलभ्यते, किन्तु तदीयमेवेदं गाथात्रयमन्यतो वा कुतश्चिद् ग्रन्थात् तैः संगृह्य स्वग्रन्थे ग्रथितमिति विचारणीयम्। यतः अकलङ्कविरचिते तत्त्वार्थराजवार्तिके १।२६ सूत्रे 'पण्णवणिज्जा ॥ अणंतभागो सुदणिबद्धो ॥' इति गाथा 'उक्तं च' इत्युल्लिख्य उद्धृता दृश्यते। किञ्च, बृहत्कल्पभाष्येऽपि 'पण्णवणिज्जा भावा ॥९६४॥ जं चउद्दसपुव्वधरा ॥९६५॥' इत्येवंक्रमेण अत्रत्यं गाथाद्वयं दृश्यते, व्याख्यातं च तद् बृहत्कल्पभाष्यवृत्तिकृद्भिः क्षेमकीर्तिसूरिभिः। मलयगिरिसूरिवचनानुसारेण बृहत्कल्पसूत्रनिर्युक्तिः भाष्यं चैको ग्रन्थो जातः, अतोऽनयोर्गाथयोः निर्युक्तिकारश्रीभद्रबाहुस्वामिविरचितत्वमाहोस्विद् भाष्यकारश्रीसंघदासगणिक्षमाश्रमणविरचितत्वमिति न ज्ञातुं पार्यते। तथापि संघदासगणिविरचितस्य बृहत्कल्पभाष्यस्य जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणविरचितविशेषावश्यकभाष्यात् प्राचीनत्वात् 'जं चोद्दस ॥ पण्णवणिज्जा ॥' इति अत्रत्यं गाथाद्वयं न

---

१ न द्रव्यमेकद्रव्यवत्त्वात्—सू०। २ कर्मसु कर्मणामवृत्तेरिति सम्बन्धः। ३ सत्यत्वादयः—वृ०। ४ द्रव्यादिद्रव्यादिष्विव—वृ०। ५ गुणाभावाद्—सू० वृसू०। ६ दृश्यतां बृहत्कल्पवृ० पृ० ३ ४। ७ दृश्यतां बृहत्कल्पवृ० पृ० २ प० १२। ८ बृहत्कल्पभाष्यस्य 'सामन्न विसेसेण य ॥४५॥' इत्यत आरभ्य ओगमसेग ॥ अणुसरण ॥५४॥ इत्येतत्पर्यन्तासु गाथासु वर्णितं मतं विशेषावश्यकभाष्यस्य 'अण्णे सारिक्खाइ पमासंति ॥४६९॥' इत आरभ्य जीवत्तमिविंदियाण ॥४७१॥ इत्येतत्पर्यन्तासु गाथासु जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणैः निराकृतम्। अतो संघदासगणिविरचितस्य बृहत्कल्पभाष्यस्य विशेषावश्यकभाष्यात् प्राचीनत्वं प्रतीयते।

जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणरचितमिति विज्ञायते। 'अक्खरलंभेण समा······॥' इत्यस्या गाथाया व्याख्यायां 'सुयनाणब्भंतरे जाण' इत्यस्य विवरणशैलीं दृष्ट्वा 'इयमपि गाथा जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणै कुतश्चिदन्यग्रन्थात् संगृहीता स्यात्' इत्यपि सम्भाव्यते। अतो नयचक्रवृत्तिकृद्भिः सिंहसूरिगणिवादिक्षमाश्रमणैः कुतो ग्रन्थात् क्रमभेदेन गाथात्रयमिदमुद्धृतमिति निश्चितं वक्तुं न पार्यते।

आसां गाथानां जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणादिविरचिता व्याख्या—"कत्तो एत्तियमेत्ता भावसुयमईण पज्जया जेसिं। भासइ अणंतभागं भण्णइ जम्हा सुएऽभिहियं ॥१४०॥ कत्तो० गाहा। आह—कुत इयन्तो भावश्रुतस्य मत्याश्च पर्याया येषामनन्तभागमात्र भाषत इति। उच्यते—यस्मादभिहितं पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं। पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुयनिबद्धो ॥१४१॥ पण्णवणिज्जा० गाहा। अनभिलाप्यानामनन्तभागा (ग) प्रज्ञापनीया, तदनन्तभागश्च श्रुतोपनिबद्धः। कथं पुनः? जं चोद्दसपुव्वधरा छट्ठाणगया परोप्परं होंति। तेण उ अणंतभागो पण्णवणिज्जाण जं सुत्तं ॥१४२॥ जं चोद्दसपुव्वधरा०[गाहा]। यस्माच्चतुर्दशपूर्वेवि(पूर्व्यपि) चतुर्दशपूर्वविदोऽनन्तभागहीनोऽनन्तगुणहीनोऽभ्यधिको वा, इत्यत प्रज्ञापनीयानामनन्तभागः श्रुतोपनिबद्ध इति। आह—यदि चतुर्दशपूर्वविद, कथमनन्तगुणभागहीनाधिक्यं च? इति, उच्यते—अक्खरलंभेण समा ऊणहिया होंति मइविसेसेहिं। ते वि य मईविसेसे सुयनाणब्भंतरे जाण ॥१४३॥ अक्खर० गाहा। अक्षरलाभसामान्यमात्रतश्चतुर्दशपूर्वविदः, तन्मतिविशेषाद्न्यूनाधिकत्वं तेषाम्। मतिविशेषग्रहणात् 'मतिज्ञानविशेषा एव' इति मा भूवन्, अतो विशेष्यते—तेऽपि हि श्रुतज्ञानान्तर्भाविन एवेति। आह—यद्येवं श्रुतज्ञानमेवेति किं नोच्यते त(कु?)तोऽभ्यन्तर इति, न, विशेषाद[ङ्गा]भ्यन्तरादिव्यपदेशवत्। अथवा श्रुतज्ञानमिति चतुर्दशपूर्वाक्षरलाभमधिकुरुते, चतुर्दशपूर्वाक्षरलाभाभ्यन्तरान् जानीहीत्युक्तं भवति।"—विशेषाव०भा० स्वोपज्ञवृ०। "कत्तो० इत्यादि। कुत एतावन्तो भावश्रुतमत्योः पर्यायाः उपलब्धार्थविशेषाः येषां सर्वेणाप्यायुषाऽनन्तभागमात्रं भाषते? इति। भवति, यस्मात् श्रुते भणितमिति गाथार्थः ॥१४०॥ पन्नवणिज्जा० इत्यादि। प्रज्ञाप्यन्त इति प्रज्ञापनीयाः, वचनपर्यायत्वेन श्रुतज्ञानगोचरा इत्यर्थः। के? 'भावाः' ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकनिविष्टभू-भवन-ग्रह-नक्षत्र-तारकार्केन्द्रादयः। किम्? अत आह—अनन्तभाग एव वर्त्तन्ते, न संख्येयभागे नाप्यसंख्येयभाग इति। केषाम्? इत्याह—अनभिलाप्यानाम्, अर्थपर्यायत्वेन मत्यवधिमनःपर्यायगोचराणामित्यर्थः, अनभिलाप्यवस्तुराशेरभिलाप्यवस्तुराशिरनन्तभागे वर्तत इति भावः। पुनश्च प्रज्ञापनीयानां द्रव्याणामप्यनन्तभागोऽनन्तभागमात्रं श्रुतनिबद्धः चतुर्दशसु पूर्वेषु साक्षाद् ग्रथितो भगवद्भिर्गणधरैरिति गाथार्थः ॥१४१॥ कुतः प्रत्ययः? इति, अत आह—जमित्यादि। 'यद्' यस्मात् चतुर्दशपूर्वधराः षट्स्थानपतिताः परस्पर भवन्ति, न्यूनाधिक्येनेति शेषः। तथाहि—सकलाभिलाप्यवस्तुवेदितयोत्कृष्टचतुर्दशपूर्वविदः प्रतियोगी उक्तः 'अणंतभागहीणे वा असंखेज्जभागहीणे वा संखेज्जभागहीणे वा संखेज्जगुणहीणे वा असंखेज्जगुणहीणे वा अणंतगुणहीणे वा, एवं अब्भहिए वि'। अतो येन कारणेनैव तेन यत् सूत्रं चतुर्दशपूर्वलक्षणं तत् प्रज्ञापनीयानामनन्तभाग एवेति स्थितमिति गाथार्थः ॥१४२॥ आह—केवलिनामिवामीषामयं तारतम्यकृतो विशेषो न युक्त, युक्तश्चेद् उच्यतां कारणमित्यत आह—अक्खरेत्यादि। 'अक्षरलाभेन' चतुर्दशपूर्वसूत्रलक्षणेन 'समा' तुल्याः, चतुर्दशपूर्वधरत्वात्। कैस्तु न समाः? इत्याह—न्यूनाधिका भवन्ति उक्तवत् 'मतिविशेषैः' अक्षरलाभगतबुद्धिविकल्पैः, तैस्तैर्व्याख्यानकरणैरित्यर्थः, क्षयोपशमवैचित्र्यात्, केवलिनां त्वविशेषः क्षायिकत्वात्। इह च मतिविशेषग्रहणादाभिनिबोधिकविशेषास्ते मा भूवन् इत्यतो विशेष्यते—तानपि च मतिविशेषान् तन्न्यूनाधिक्यनिबन्धनान् गम्यान् श्रुतज्ञानान्तर्भाविन एव 'जानीहि' विद्धि। यद्येवं 'ते वि य मतीविसेसे सुयणाणं चेव' इत्येवमेव प्रगुणमस्तु, तन्न, अस्यापि न्यायस्य दृष्टत्वात्, अङ्गादिव्यपदेशवत्, यथा ह्यङ्गमेवाङ्गाभ्यन्तरम्, एवं श्रुतमेव श्रुताभ्यन्तरमेवेत्युक्तं भवतीति भावः। छन्दोभङ्गभयाद्वा अभ्यन्तरग्रहणमिति। अथवा 'सुतनाण' इत्यनेन चतुर्दशपूर्वाक्षरलाभमधिकुरुते। 'ते वि य मतीविसेसे सुतनाणब्भंतरे जाण'त्ति तानपि गम्यान् पर्यायानेतदधिकरणेनैव विद्धि, श्रुतग्रन्थानुसारित्वादिति गाथार्थः ॥१४३॥"—विशेषाव०भा० कोट्याचार्यवृ०।

पृ० ६ पं० १५. शेष···। अत्र 'शेषगासंनन्यंभावेन वा' इति य०प्रतिपाठः साधुरेव। दृश्यतां टिपृ० ९ पं० ६।

पृ० ६ पं० १८–१९ गम्यम्······ 'स्पदं'। दृश्यतां पृ० १ पं० १२–१४।

पृ० ७ पं० १. अवबोध । अत्र भा०प्रतिपाठानुसारि 'अवबोधसमुद्रावयविभूतम्' इति साधु। टिपृ० ११ पं० ११।

पृ० ७ पं० १२. छित्वं न, तदा । अत्र 'छित्वम्, तदादयोऽनन्तान्ता विकल्पाः' इत्येवं पाठः साधुः प्रतीयते। 'अनन्तान्त'विषये दृश्यतां पृ० ५०५ टि० ६।

पृ० ७ पं० १४. जावइया। "अपरिशुद्धश्च नयवादः परसमयः, स कियद्भेदो भवतीत्याह—जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया। जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया ॥३१४७॥ अनेकान्तात्मकस्य

वस्तुन एकदेशस्य यद् अन्यनिरपेक्षस्यावधारणम् अपरिशुद्धो नयः, तावन्मात्रार्थस्य वाचकानां शब्दानां यावन्तो मार्गा हेतवो नया तावन्त एव भवन्ति नयवादाः तत्प्रतिपादकाः शब्दाः। यावन्तो नयवादास्तावन्त एव परसमया भवन्ति स्वेच्छाप्रकल्पितविकल्पनिबन्धनत्वात् परसमयानां परिमितिर्न विद्यते। ननु यद्यपरिमिताः परसमयाः कथं तन्निबन्धनभूतानां नयानां सङ्ख्यानियमः 'नैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः' [तत्त्वार्थ० १।३३] इति श्रूयते? न, स्थूलतमभेदेनैव तत्प्रतिपादनात्। मतान्तरभेदेन तु तेषामपरिमितत्वमेव स्वकल्पनाशिल्पिघटितविकल्पानामनियतत्वात् तदुत्थमतानामपि तत्सङ्ख्यापरिमाणत्वात्। —सन्मतिटी० पृ० ६५६। "अथवा किमनेन स्तोकभेददर्शनेन। उत्कृष्टतोऽसङ्ख्याता अपि नया भवन्ति। तेऽपि च 'अपि'-शब्दाद् द्रष्टव्या इति दर्शयन्नाह—जावन्तो वयणपहा तावन्तो वा नया विसद्दाओ। ते चेव य परसमया सम्मत्तं समुदिया सव्वे ॥२२६५॥ 'वा' अथवा यावन्तो वचनपथा वचनमार्गा वचनप्रकारास्तेऽपि इह 'अपि'शब्दात् सङ्गृहीताः। त एव च नयाः एव च सावधारणाः सर्वेऽपि परसमयाः तीर्थिकसिद्धान्ताः। समुदितास्तु निरवधारणाः स्याच्छब्दलाञ्छिताः सर्वेऽपि नयाः सम्यक्त्वं जिनशासनमेव प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः।"—विशेषाव० मा०मलधारिवृ० पृ० ९७२।

पृ० ७ पं० १७ **अवयवीभूतो** । अत्र 'अवयवी भूतो यस्मिन्सद्वचोधमसमुदायत्वभूत' इति भा०प्रतिपाठः समीचीनतरो भाति। द्रष्टव्यं टिपृ० १० पं० २६।

पृ० ७ पं० १९ **सङ्क्षेपप्रस्तार** । सङ्क्षेपप्रस्तारयोर्विशेषतः स्वरूपज्ञानार्थमत्र टिप्पणेषु वक्ष्यमाण 'दव्वट्ठियणय पगती' [पृ० ११५ पं० ७] इत्यस्य टिप्पणं द्रष्टव्यम्।

पृ० ७ पं० २० **अनभिभवनीयम्** । "यथार्थवचनपटुभिः प्रयतवद्भिरपि वादिभिर्निपुणैः। अनभिभवनीयमन्यैर्भास्कर इव सर्वतेजोभिः॥"—तत्त्वार्थभा० सम्बन्धका० २०।

पृ० ८ पं० १-२ **दोषवासनि** । "अथवा एकान्तवादिनां सर्व एव हेतुस्त्रयीं दोषजातिं नातिक्रामतीत्याह—असिद्धः सिद्धसेनस्य विरुद्धो मल्लवादिनः। द्वेधा समन्तभद्रस्य हेतुरेकान्तसाधने ॥५३॥ असिद्ध सिद्धसेनस्येत्यादि। सिद्धसेनस्य सूरेः सकलस्यैवासिद्धत्वात् सकल एव हेतुरसिद्ध इति। तथाहि सामान्यं वा हेतुः स्याद् विशेषो वा? [पृ० १०७] नैकान्तसामान्यरूपो हेतुः साकल्येन सिद्धः। नापि विशेषरूपः। मल्लवादिनस्तु नयचक्रविधायिमतेन सकल एवैकान्तसाधनो हेतुर्विरुद्ध इति, अनेकान्तात्मकवस्तुविपर्ययसाधनादिति। अनैकान्तिकासिद्धावपि साध्यनिश्चयविपर्यय साधनाद् विरुद्धाविति। तथाहि—निश्चयेन सह अप्रतिपत्तिसन्देहावपि विरुद्धावेव। तदविनाभूतौ चानिश्चितानैकान्तिकाविति सकल एव हेतुर्विरुद्ध इति। द्वेधा समन्तभद्रस्येति, स हि प्रतिबन्धविकलानां सर्वेषामेव हेतूनां व्यभिचारित्वं मन्यते, न चैकान्तसामान्यविशेषयोः प्रतिबन्ध उपपद्यते।" इति शान्तिसूरिविरचितायां न्यायावतारवार्तिकवृत्तौ पृ० १०७-१०८।

पृ० ८ पं० ५ **कपिल** । कपिलः साङ्ख्यदर्शनस्य प्रणेता। व्यासः ब्रह्मसूत्राणां रचयिता, अयं च बादरायण इत्यपि प्रसिद्धः। कणादः वैशेषिकदर्शनसूत्राणां प्रणेता। शौद्धोदनिः बौद्धदर्शनप्रवर्तकः सिद्धार्थो गौतमबुद्धः। मस्करी परिव्राजकसम्प्रदायप्रवर्तकः।

पृ० ८ पं० ६ **प्रत्यक्षानुमान** । "द्विविधं सम्यग्ज्ञानं प्रत्यक्षमनुमानं च। तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्। अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना तया रहितम्। तिमिराऽऽशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्यनाहितविभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। तच्चतुर्विधम्—इन्द्रियज्ञानं १ स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणा इन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तद् मनोविज्ञानं २ सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं ३ भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं ४ चेति। तस्य विषयः स्वलक्षणम्। यस्यार्थस्य संनिधानासंनिधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदः तत् स्वलक्षणम्। तदेव परमार्थसत्, अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद् वस्तुनः। अन्यत् सामान्यलक्षणम्, सोऽनुमानस्य विषयः। अनुमानं द्विधा स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्। त्रैरूप्यं पुनर्लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव, सपक्ष एव सत्त्वम्, असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम्। अनुमेयोऽत्र जिज्ञासितविशेषो धर्मी। साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थः सपक्षः। न सपक्षोऽसपक्षः ततोऽन्यस्तद्विरुद्धस्तदभावश्चेति। त्रिरूपाणि च त्रीण्येव लिङ्गानि—अनुपलब्धिः १ स्वभावः २ कार्यं ३ चेति। तत्रानुपलब्धिर्यथा—न प्रदेशविशेषे क्वचिद् घटः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति। उपलब्धिलक्षणप्राप्तिरुपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यं स्वभावविशेषश्च। यः स्वभावः सत्सु अन्येषु

१ अस्य सत्तावाचकं प्रत्ययान्तरेषु 'विद्य' इति संज्ञा।

लम्भप्रत्ययेषु सन् प्रत्यक्ष एव भवति स स्वभावः १। स्वभावः स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः, यथा वृक्षोऽयं शिंशपात्वादिति २। कार्यं यथाग्निरत्र धूमादिति ३।" इति बौद्धाचार्यधर्मकीर्तिरचिते न्यायबिन्दौ।

पृ० ८ पं० ११-१२ **एतेन ···कार्यानुमानविनिश्चयेऽपि।** धूमस्य अग्निकार्यत्वात् धूमेन कार्येण कारणस्य अग्नेर्यदनुमानं तत् कार्यानुमानमुच्यते, कार्यलिङ्गजत्वात्। दृश्यतां टिप्पृ० १२ पं० २।

पृ० ८ पं० १२ **न विशेषा एव ·**। "निर्विशेष न सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्। विशेषोऽपि च नैवास्ति सामान्येन विना कृत.॥" इति **न्यायावतारवार्तिकवृत्तौ** पृ० ९०। "निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्। सामान्यरहितत्वाच्च विशेषास्तद्वदेव हि ॥१०॥" इति कुमारिलविरचिते **श्लोकवार्तिके** आकृतिवादे।

पृ० ८ पं० १४ 'रूपादय एव घटः' इति बौद्धमतं, 'घट एव रूपादय.' इति सांख्यादिमतं, 'रूपादयश्च घटश्च' इति वैशेषिकमतं रूपादिगुणवतोऽवयविन. स्वीकारात्, 'न रूपादयो न घट.' इति च अन्यवाद्यादिमतं भाति। अन्यतरोभयानुभयपक्षभेदेन उदाहरणचतुष्टयमत्र दर्शितमिति ध्येयम्।

पृ० ८ पं० १९. **परात्म···**। परमतविशेषप्रतिपत्तिनिराकरणं स्वमतविशेषतत्त्वप्रतिपादनं च कर्तव्यमित्याशयः।

पृ० ९ पं० १. **प्रमाणद्वय ··**। दृश्यतां टिप्पृ० ११ पं० २८॥

पृ० ९ पं० ३. **पूर्वमहोदधिसमुत्पतितनयप्राभृततरङ्गागमप्रभ्रष्टश्लिष्टार्थकणिकमात्रम्···**। "पूर्वर्षिभिस्तथा ज्ञानप्रवादाभिधपञ्चमात्। **नयचक्रमहाग्रन्थः** पूर्वाचक्रे तमोहर.॥१४॥"–प्रभावकच० मल्लवादिप्र०। द्वादशस्य दृष्टिवादाख्यस्य अङ्गस्य विभागविशेष. 'पूर्व'नाम्ना व्यपदिश्यते, **नयप्राभृतं** च नयस्वरूपनिरूपणपरो ग्रन्थविशेष.। तथाहि—

"**श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्।** १।२०। श्रुतज्ञानं मतिज्ञानपूर्वकं भवति। श्रुतमाप्तवचनमागमः उपदेश ऐतिह्यमाम्नाय. प्रवचनं जिनवचनमित्यनर्थान्तरम्। तद् द्विविधमङ्गबाह्यमङ्गप्रविष्टं च। तत् पुनरनेकविधं द्वादशविधं च यथासङ्ख्यम्। अङ्गबाह्यमनेकविधम्, तद्यथा–**सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वन्दनं प्रतिक्रमणं कायव्युत्सर्ग. प्रत्याख्यानम् दशवैकालिकम् उत्तराध्याया· दशा· कल्पव्यवहारौ निशीथम् ऋषिभाषितानि** एवमादि। अङ्गप्रविष्टं द्वादशविधम्, तद्यथा–**आचार· सूत्रकृतं स्थानं समवायः** व्याख्याप्रज्ञप्तिः ज्ञातधर्मकथा उपासकाध्ययनदशा· अन्तकृद्दशाः अनुत्तरौपपातिकदशा· प्रश्नव्याकरणं विपाकसूत्रं दृष्टिपात इति। अत्राह–मतिज्ञानश्रुतज्ञानयो. क· प्रतिविशेष इति। उच्यते–उत्पन्नाविनष्टार्थग्राहकं साम्प्रतकालविषयं मतिज्ञानम्, श्रुतज्ञानं तु त्रिकालविषयम् उत्पन्नविनष्टानुत्पन्नार्थग्राहकम्। अत्राह—गृह्णीमो मतिश्रुतयोर्नानात्वम्। अथ श्रुतज्ञानस्य द्विविधमनेकद्वादशविधमिति किंकृत. प्रतिविशेष इति? अत्रोच्यते—वक्तृविशेषाद् द्वैविध्यम्। यद् भगवद्भि· सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभि· परमर्षिभिरर्हद्भिः तत्स्वाभाव्यात् परमशुभस्य च प्रवचनप्रतिष्ठापनफलस्य तीर्थकरनामकर्मणोऽनुभावादुक्तं भगवच्छिष्यैरतिशयवद्भिरुत्तमातिशयवाग्बुद्धिसम्पन्नैर्गणधरैर्दृब्धं तदङ्गप्रविष्टम्। गणधरानन्तर्यादिभिस्त्वत्यन्तविशुद्धागमैः परमप्रकृष्टवाङ्मतिशक्तिभिराचार्यैः कालसंहननायुर्दोषादल्पशक्तीनां शिष्याणामनुग्रहाय यत् प्रोक्तं तदङ्गबाह्यमिति सर्वज्ञप्रणीतत्वादानन्त्याच्च ज्ञेयस्य श्रुतज्ञानं मतिज्ञानाद् महाविषयम्। तस्य च महाविषयत्वात् तांस्तानर्थानधिकृत्य प्रकरणसमाप्त्यपेक्षमङ्गोपाङ्गनानात्वम्। सुखग्रहणधारणविज्ञानापोहप्रयोगार्थं च। अन्यथा ह्यनिबद्धमङ्गोपाङ्गशः समुद्रप्रतरणवद् दुरध्यवसेयं स्यात्। एतेन **पूर्वाणि** वस्तूनि **प्राभृतानि** प्राभृतप्राभृतानि अध्ययनानि उद्देशाश्च व्याख्याताः।"–तत्त्वार्थभा०।

---

१ दृष्टिपातस्यैव 'दृष्टिवाद' इत्यपरमभिधानम्। अयं च दृष्टिवाद पञ्चविध—परिकर्म १, सूत्रम् २, अनुयोग ३, पूर्वगतम् ४, चूलिका ५ चेति। तत्र पूर्वगतं चतुर्दशप्रकारम्—उत्पादपूर्वम् १ अग्रायणीयपूर्वं २ वीर्यप्रवादपूर्वम् ३ अस्तिनास्तिप्रवादपूर्वं ४ ज्ञानप्रवादपूर्वं ५ सत्यप्रवादपूर्वम् ६ आत्मप्रवादपूर्वं ७ कर्मप्रवादपूर्वं ८ प्रत्याख्यानप्रवादपूर्वं ९ विद्यानुप्रवादपूर्वं १० कल्याणपूर्वं ११ प्राणावायपूर्वं १२ क्रियाविशालपूर्वं १३ लोकबिन्दुसारपूर्वं १४ चेति। एतेषा विस्तरेण स्वरूपं तु **नन्दिसूत्र**[सू० ५६]तत्त्वार्थराजवार्तिक[१।२०]प्रभृतिग्रन्थेभ्योऽवसेयम्। 'पूर्व'शब्दस्य 'आदि' इत्यर्थ, तथा च आदौ तीर्थकृद्भिरर्थतोऽभिधानाद् गणधरैर्वा आदौ सूत्रतो विरचनादेतेषा पूर्वसञ्ज्ञा, तदुक्तम्—"इह **तीर्थकरस्तीर्थप्रवर्तनकाले गण**धरान् सकलश्रुतार्थावगाहनसमर्थानधिकृत्य पूर्वं पूर्वगतं सूत्रार्थं भाषते ततस्तानि "पूर्वाण्युच्यन्ते, गणधरा पुन सूत्ररचना विदधत आचारादिक्रमेण विदधति स्थापयन्ति वा। अन्ये तु व्याचक्षते— पूर्वं पूर्वगतसूत्रार्थमर्हन् भाषते, गणधरा अपि पूर्वं पूर्वगतसूत्र विरचयन्ति पश्चाद् आचारादिकम्।" इति **नन्दिसूत्रस्य मलयगिरीयवृत्तौ** सू० ५६। २ "एतेनेत्यादि। **एतेना**ङ्गोपाङ्गभेदप्रयोजनेन सुखग्रहणादिना। **पूर्वाणि** दृष्टिपातान्त·पातीनि, पूर्वं प्रणयनात्। **वस्तूनि** पूर्वस्यैवांशोऽल्पः।

पृ० ९ प० ५ गाथासूत्रम् । 'गाथा'छन्दसि निबद्धत्वादस्य सूत्रस्य 'गाथासूत्रम्' इत्युक्तम् ।

पृ० ९ प० ६ विधिनियम । "तदेव गुणत्रयवैकल्याद्यागमान्तराणां प्रामाण्यम् । तथा प्रमाण सवाधुत्पाद्व्ययध्रौव्यात्मकवस्त्वनभिधानात्प्रामाण्यमित्याह मल्लवादी—विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत् । जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम् ॥४५॥ इति [पृ० ११२]। वैधर्म्यमिति वैधर्म्यप्रयोगः । तथाहि—उत्पादव्ययध्रौव्याभिधायकत्वेन सत्यत्वं व्याप्तम् । तद्व्यापकाभावाद् व्याप्याभावप्रतिपादनं वैधर्म्यप्रयोगः । विधिश्च नियमश्च भङ्गश्च ते तथोक्ताः । तेषु वृत्तिस्तदभिधानम् । तद्व्यतिरिक्तत्वात् तद्रहितत्वात् । जैनादन्यच्छासनमिति, शास्यन्ते जीवादयोऽनेनेति शासनमागमो जिनप्रणीतः, तस्मादन्यद् वेदादि अनृतम् असत्यार्थं भवति, अनर्थकवचोवत्, अनर्थका उन्मत्तकादिवचनमिव । यद्वा अनर्थकं च तद्वचश्च दशदाडिमादिवाक्यवत् । विधिरुत्पादः, भङ्गो व्ययः, नियमो ध्रौव्यमिति, तदात्मकं सकलमेव वस्तु, तस्य साकल्येनाप्रतिपादनाद् आगमान्तराणां न प्रामाण्यमिति । [पृ० ११३] ।

एवं सप्तनयात्मकं जैनमतवाद् वाह्यागमा येऽभवन्, स्थित्युत्पादविनाशवस्तुविरहात् तान् सत्यतायाः क्षिपन् । यो बौद्धाद्यविशुद्धतार्किकमतप्रादुर्भवद्विभ्रमं, मल्लो मल्लमिवान्यवादमजयच्छ्रीमल्लवादी विभुः ॥" [पृ० १२२] इति शान्त्याचार्यसूरिविरचितायां न्यायावतारवार्तिकवृत्तौ । 'अत एव तदागमादपरागमानामनृतत्वम् । उक्तं च मल्लवादिना—'विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत् । जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम् ॥१॥' एतत्कारिकाविशेषभावार्थः सम्मत्यादवसेयः ।" इति चन्द्रसेनसूरिविरचितायां उत्पादादिसिद्धेः स्वोपज्ञवृत्तौ पृ० २२२ ।

पृ० ९ प० ९-१० परपक्ष आवीतेनेति । दृश्यतां पृ० ३१४ प० ३ टि० २ ।

पृ० ९ प० ११ स्थितास्थित । दृश्यतां पृ० १० प० २५ ।

पृ० ९ पं० १३ मेरूत्तरकुरु । जैनमतानुसारि मेर्वादिस्वरूपं बृहत्संग्रहणी क्षेत्रसमास तत्त्वार्थसूत्र[अ० ३-४]-प्रभृतिग्रन्थेभ्योऽवसेयम् ।

पृ० ९ पं० १५ प्रत्यक्षग्राहे । दृश्यतां पृ० ५१ प० ११ ।

पृ० ९ प० २२ 'भवति'शुद्धपदोच्चारणवत् । "जीवो त्ति सत्थयमिणं सुद्धत्तणओ घडाभिहाणं व । जेणत्थेण सदत्थं सो जीवो ॥ २०५४ ॥ जीवो इत्यादि । जीव इत्येतत् पदं सार्थकं सगर्भम्, शुद्धपदत्वात् असमासपदत्वात्, घटाभिधानवत् । तत्रैतत् स्यात्—अनैकान्तिको हेतुः, शून्यमित्यस्य शुद्धपदत्वेऽप्यनर्थकत्वात्, तत्र, व्युत्पत्तिमत्त्वे सत्येव हेतुविशेषणस्येच्छया व्याख्यानात्, 'अन्यथा चेति को नैतत् न्यायमार्गविचक्षणः ।' व्यतिरेकेण खरविषाणडित्थादिवचनवत् ।"-विशेषाव० भा० कोट्याचार्यवृ० पृ० ४९१ । "जीव इत्येतदभिधानमर्थवद्, व्युत्पत्तिमत्त्वे सति शुद्धपदत्वात् । इह यद् व्युत्पत्तिमत् शुद्धपदं च तदर्थवद् दृष्टम् । यदनर्थकं न तद् व्युत्पत्तिमत् शुद्धपदं च, यथा डित्थं खरविषाणं च । येनार्थेनार्थवच्च जीवाभिधानं स जीवः, तस्मादस्तीति ।'—विशेषाव० भा० स्वोपज्ञवृ० ।

पृ० १० प० १ विधिराचार । "विधेरेकार्थिकान्याह—अणुपुव्वी परिवाडी कमो य नाओ ठिई य मज्जाया । होइ विहाणं च तहा विहीए एगट्ठिया हुंति ॥ २०८ ॥ आनुपूर्वी परिपाटी क्रमो न्यायः स्थितिः मर्यादा विधानमित्येतानि विधेरेकार्थिकानि भवन्ति ।"—बृहत्कल्प० मलयगिरिवृ० पृ० ६७।

पृ० १० प ५ स्वविषय । दृश्यतां पृ० ११७ प० ५-७।

वस्तुनः प्राभृतमल्पतरम् । प्राभृतात् प्राभृतप्राभृतमल्पतरम् । ततोऽध्ययनम् अध्ययनोऽल्पतरम् । ततः उद्देशकोऽल्पतर इति । व्याख्यातानीति सुखग्रहणादि यदर्थाङ्गोपाङ्गादिकरणे फलं तन्व्याख्यापीति । -तत्त्वार्थ सिद्धसेनवृ० १।२० ।

१ 'आर्या'छन्दस एव गाथा' इति नामान्तरम् । चूर्णौ षष्ठो जो न्लौ वा पूर्वेऽर्धे परे षष्ठो ल आर्या गाथा । नाम्ने ज इति वर्तते । चूर्णौ चगणसप्तकं गुर्वर्धे यस्याः सा आर्या । अत्रापवादः—पूर्वेऽर्धे षष्ठो जगणो न्लौ वा । परेऽर्धं षष्ठो गणो लघुः स्यात् । अर्थग्रहणादार्यादिषु पादव्यवस्था नास्ति । । आर्यत्र संस्कृतेतरभाषासु गाथाख्येति गाथाग्रहणम् । अत्र पूर्वार्धे प्रथमे च विकल्पाश्चत्वारः यथा ऽऽ, ।।ऽ, ऽ।।, ।।।।, द्वितीये पञ्च ऽऽ, ।।ऽ, ।ऽ।, ।।, ।।।।, तृतीये चत्वारः ऽऽ, ।।ऽ, ऽ।।, ।।।।, चतुर्थे पञ्च ऽऽ, ।।ऽ, ।ऽ।, ऽ।।, ।।।।, पञ्चमे चत्वारः ऽऽ, ।।ऽ, ऽ।।, ।।।।, षष्ठे द्वौ ।ऽ।, ।।।।, सप्तमे चत्वारः ऽऽ, ।।ऽ, ऽ।।, ।।।।, अष्टमे गुरुरेक एव । एवमपरार्धेऽपि । नवरं षष्ठे लघुरूपसमेक एव विकल्पः । —छन्दोनुशासनवृ० पृ० २६।

"यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या ॥ इत्यपरमपि आर्यालक्षणम् ।

पृ० १० पं० २४. द्रव्यस्था' । "नय इति किमुच्यते कतिभेदश्चायमित्याह—एगेण वत्थुणोऽणेगधम्मुणो जमव धारणेणेव । नयणं धम्मेण तओ होइ नओ सत्तहा सो य ॥ २१८० ॥ अनेकधर्मणोऽनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनो यदेकेन धर्मेण नित्यत्वादिना अनित्यत्वादिना वा धर्मेणावधारणेनैव नावधारणं नयनं प्रत्यय तकोऽसौ नयो भवति । ···· स च नयः सप्तविधः सप्तप्रकार' ।"—विशेषाव० भा० मलधारिवृ० । "स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः । [पृ० ११८] ·· नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि सः ।"—तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० २६८ । दृश्यतां तत्त्वार्थसू० सिद्धसेनवृ० हारिभद्रीवृ० ११६ ।

पृ० १० पं० २६ पूर्ववत् स्थिता' । दृश्यतां पृ० ९ पं० ११ ।

पृ० ११ पं० ३. यथालोक । "व्यवहारस्त्वेवमाह—यथालोकग्राहमेव वस्तु अस्तु, किमनया अदृष्टाव्यवह्रियमाण-वस्तुपरिकल्पनाकष्टपिष्टिकया? यदेव च लोकव्यवहारपथमवतरति तस्यैवानुग्राहकं प्रमाणमुपलभ्यते, नेतरस्य । न हि सामान्यमनादिनिधनमेकं संग्रहाभिमतं प्रमाणभूमिः, तथानुभवाभावात् सर्वस्य सर्वदर्शित्वप्रसंगाच्च । नापि विशेषाः परमाणु-लक्षणाः क्षणक्षयिणः प्रमाणगोचराः, तथाप्रवृत्तेरभावात् । तस्मादिदमेव निखिललोकाबाधितं प्रमाणप्रसिद्धं कियत्कालभावि स्थूलतामाबिभ्राणमुदकाद्याहरणाद्यर्थक्रियानिर्वर्तनक्षमं वस्तुरूपं पारमार्थिकम् ।"—स्याद्वादमं० का० २८ ।

पृ० ११ पं० ४, १७. विवेकयत्नः शास्त्रेषु । दृश्यतां पृ० ११७ पं० १२, पृ० ११८ पं० ७ ।

पृ० ११ पं० ५, २१. सामान्यविशेषौ हि । दृश्यतां पृ० ११८ पं० १७ ।

पृ० ११ पं० ६. यदि स्वविषयम् इत्यत आरभ्य एवं शेषावपि [पृ० १२ पं० २] इत्येतत्पर्यन्तस्य मूलस्य संवादः 'पृ० १९ पं० २३-२४, पृ० २३ पं० ११, पृ० ३२ पं० ९' इत्यादिषु अवलोकनीयः ।

पृ० ११ पं० ९. तत्त्वान्वाख्यानवत् । 'अन्वाख्यान'शब्दप्रयोगः पातञ्जलमहाभाष्य[१।२।३२, २।१।१, ४।१।१६]वाक्यपदीय[२।२३३]प्रभृतिषु बहुषु ग्रन्थेषु दृश्यत इति ध्येयम् ।

पृ० ११ पं० २६-३०. सर्वं सर्वात्मकम्··· । दृश्यतां पृ० ३२० टि० ३-४ ।

पृ० १२ पं० १५. व्यपदेशिवद्भावात् । "ननु चोक्तं 'सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः' इति । नैष दोषः, व्यपदेशिवद्भावेन भविष्यति । [पा० म० भा० १।१।१ पस्पशा०] । व्यपदेशिवद्भावेनेति, यथा राहोः शिर इत्येकस्मिन्नपि वस्तुनि शब्दार्थभेदव्यवहार एवमिहापि ·· · भेदव्यवहार उपपद्यते ।" इति पातञ्जलमहाभाष्यप्रदीपे कैयटविरचिते । "तत्र व्यपदेशिवद्भावो वक्तव्यः । व्यपदेशिवदेकस्मिन् कार्यं भवतीति वक्तव्यम् [पा० म० भा०] ।······निमित्तसद्भावान्मुख्यो व्यपदेशो यस्यास्ति स व्यपदेशी । यस्तु व्यपदेशहेत्वभावादविद्यमानव्यपदेशः स तेन तुल्यं वर्तते कार्यं प्रतीति 'व्यप-देशिवद् भवति' इत्युच्यते ।" इति पातञ्जलमहाभाष्यप्रदीपे १।१।२० । "व्यपदेशिवद्भावेनेति । विशिष्टोऽपदेशो व्यपदेशो मुख्यव्यवहारः, सोऽस्यास्तीति व्यपदेशी, तेन तुल्यं व्यपदेशिवत्; धातावेव धात्ववयवत्वव्यवहारो गौणः 'राहोः शिरः' इत्या-दिवदिति भावः ।"—पा० बालमनोरमा ८।२।२३ ।

पृ० १२ पं० १७. आध्यात्मिकाः कार्यात्मका । दृश्यतां पृ० २९८ टि० ३, पृ० ३१४ पं० ७ ।

पृ० १२ पं० १९. प्रसादलाघवाभिष्वङ्गो । अत्र प्रसादलाघवप्रसवाभिष्वङ्गो" इत्येवं पठनीयम् । प्रतिष्वपि तथैव पाठः ।

पृ० १२ पं० १९. 'भेदोपष्टम्भो । अत्र 'भेदापष्टम्भो' इति यथाश्रुतः पाठः समीचीन एव भाति ।

पृ० १२ पं० २२. कार्यं समन्वयदर्शनात् । अत्र कार्यसमन्वयदर्शनात् इति य० प्रतिपाठः शोभनो भाति । दृश्यतां पृ० ३१४ पं० ९ । पृ० १२ टि० ५ इत्यत्र च य० प्रतिपाठानुसारी अन्वयोऽवलोकनीयः ।

पृ० १३ पं० १४. प्रकृतेर्महद् । "एवं कारणान्तरप्रतिषेधात् प्रकृतेः पुरुषार्थोऽयं व्यक्तभावेन विपरिणाम इति स्थितम् । तत्रेदानीं विप्रतिपत्तिराचार्याणाम् । केचिदाहुः—प्रधानादनिर्देश्यस्वरूपं तत्त्वान्तरमुत्पद्यते ततो महानिति । पतञ्जलि-पञ्चाधिकरण-वार्षगणानां 'प्रधानान् महानुत्पद्यते' इति । तदन्येषां पुराणेतिहासप्रणेतॄणां 'महतोऽहङ्कारो [न?] विद्यते' इति पक्षः, महतोऽस्मिप्रत्ययकर्तृत्वाभ्युपगमात् । 'अहङ्कारान् पञ्च तन्मात्राणि' इति सर्वे । 'महतः षडविशेषाः सृज्यन्ते—पञ्च तन्मात्राणि अहङ्कारश्च' इति विन्ध्यवासिमतम् । तथा 'अहङ्कारादिन्द्रियाणि' इति सर्वे । 'भौतिकानीन्द्रियाणि' इति पञ्चाधि-करणमतम् । 'एकरूपाणि तन्मात्राणि' इत्यन्ये । 'एकोत्तराणि' इति वार्षगण्यः । 'इन्द्रियाणि संस्कारविशेषयोगात् परिगृहीत-रूपाणि' इति केचित्, 'परिच्छिन्नपरिमाणानि' इत्यपरे, 'विभूनि' इति विन्ध्यवासिमतम् । अधिकरणमपि केचित् त्रयोदश-

विषमाहु। एकादशकमिति विन्ध्यवासी। तथा येषां महति सर्वार्थोपलब्धिः, मनसि विन्ध्यवासिनः। सङ्कल्पाभिमानाध्यवसायनानात्वमन्येषाम्, एकत्वं विन्ध्यवासिनः। तथा करणं निरिङ्गितस्वरूपं शून्यग्रामनदीकल्पम्, प्राकृतवैकृतिकानि तु स्थानानि अकाङ्क्षसगृहीतानि प्रधानाद्गच्छन्ति चेति पञ्चाधिकरणः, न तु तथेत्यन्ये। करणानां महती स्वभावातिवृत्तिः प्रधानात् स्वल्पा च स्वत इति वार्षगण्यः, सर्वा स्वत इति पतञ्जलिः, सर्वा परत इति पञ्चाधिकरणः, बुद्धिः क्षणिकेति च, कालान्तरावस्थायिनी इत्यपरे। एवमनेकनिश्चयेषु आचार्येषु ये तावत् प्रधानमहतोरन्तराले तत्त्वान्तरमिच्छन्ति तत्प्रतिक्षेपायाय स्वमतमुपन्यस्यति—प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥२२॥ 'प्रकृतेर्महान्'। प्रकृतेर्महानुत्पद्यते। महान् बुद्धिरसतिर्ब्रह्मा पूर्तिः ख्यातिरीश्वरो शिखर इति पर्यायाः। स तु देशमहत्त्वात् कालमहत्त्वाच्च महान्। सर्वान्पायेभ्यो महापरिणामयुक्तत्वाद् महान्। अन्यस्य तु पक्षे नैवाहङ्कारो विद्यत इति तत्प्रतिषेधविवक्षयेदमाह–'ततोऽहङ्कारः'। तस्माद् महतोऽहङ्कार उत्पद्यते। ये पुनराहुः–महतः षडविशेषाः सृज्यन्ते 'पञ्च तन्मात्राणि अहङ्कारश्च' इति, तद्विरासार्थमाह–तस्माद् गणश्च षोडशकः। तस्मादहङ्कारात् षोडशको गण उत्पद्यते–पञ्च तन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि चेति। अनेनैव च भौतिकेन्द्रियवादी प्रतिक्षिप्तो बोद्धव्यः। 'तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि'। तस्मादपि षोडशकाद् गणाद् यः पञ्चको गणः ततः पञ्च महाभूतान्युत्पद्यन्ते। पूर्वपदलोपेनात्र महाभूतानीति वक्तव्ये भूतानीत्युच्यते। भूतसंज्ञा हि तन्मात्राणाम्, न पृथिव्यादीनाम्, अत्र तु साङ्ख्याचार्याणामविप्रतिपत्तिः। भूतकौत्स्थ्यगान्निस्तु मीमांसका आहुर्वाश्च, तत्प्रतिक्षेपणेऽभ्युच्यते इति।" इति साङ्ख्यकारिकाया वृत्तौ युक्तिदीपिकायाम्।

पृ० १३ पं० १९-२२ आचार्यपवनपाषाणवत् चमासि। द्रष्टव्यता पृ० २७३-५, २८४।

पृ० १४ पं० ४-५ सामान्य नियमपक्षापत्तिरपि। द्रष्टव्यता पृ० २० पं० ५।

पृ० १४ पं० ६-७ पर अनवधृतेकतरकारणत्वाद्। द्रष्टव्यता पृ० १९ पं० १५, पृ० २७ पं० ६-७।

पृ० १४ पं० ११ शब्दतन्मात्रादिषु। 'तन्मात्राण्यविशेषाः। यानि तन्मात्राणि पञ्च अहङ्कारादुत्पद्यन्ते इति प्रागपदिष्टं ते खल्वविशेषाः। कानि पुनस्तन्मात्राणीति उच्यते–शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमिति। कथं पुनस्तन्मात्राणीत्युच्यते—तुल्यजातीयविशेषानुपपत्तेः। अन्ये शब्दात्मकत्वेऽपि सति विशेषा उदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकादयः तत्र न सन्ति, तस्माच्छब्दतन्मात्रम्। एवं स्पर्शतन्मात्रे मृदुकठिनतादयः। एवं रूपतन्मात्रे शुक्लकृष्णादयः। एवं रसतन्मात्रे मधुराम्लादयः। एवं गन्धतन्मात्रे सुरभ्यादयः। तस्मात् तस्य तस्य गुणस्य सामान्यमेवात्र, न विशेषः।" –साङ्ख्यका० युक्तिदीपिका [का० १८]। भूतेषु परगुणादिवृद्धेषु। द्रष्टव्यता पृ० २६८ टि० १।

पृ० १४ पं० १२ श्रोत्रादिष्वेकादशस्विन्द्रियेषु। द्रष्टव्यता पृ० १२ पं० २०। बुद्धीन्द्रियाणि कर्ण-त्वक्-चक्षु-रसन-नासिकाख्यानि। एतानि बुद्धीन्द्रियाणि प्रत्ययगन्तव्यानि। बुद्धेरिन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि। किं पुनरेतानि बुद्धेरिति? उच्यते–शब्दादिविषयप्रतिपत्तौ द्वारम्। कस्मात्? अबहिर्वृत्तित्वादन्तःकरणस्य नास्ति बहिर्वृत्तिरित्यतो नालमेतत् साक्षाच्छब्दादीनर्थान् प्रतिपत्तुम्। तस्मात् श्रोत्रादिलक्षणं साक्षाद् बाह्यविषयप्रकाशनसमर्थं कारणान्तरमपेक्षते। तत्प्रणालिकया तस्य विषयग्रहणम्। तस्माद् युक्तमुक्तं बुद्धेर्बाह्यविषयद्वारभूतत्वाद् बुद्धीन्द्रियाणीति। आह कर्मेन्द्रियाणि पुनः कानीति? वाक्पाणिपादपायूपस्था कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥ २६ ॥ वाक् च पाणी च पादौ च पायुश्चोपस्थश्च वाक्पाणिपादपायूपस्थाः। एतानि कर्मेन्द्रियाण्याहुराचक्षते। अधिष्ठानानीन्द्रियपृथक्त्वं शक्तिविशेषोपलम्भात्। आह–एकादशेन्द्रियाणि अहङ्कारादुत्पद्यन्त इति प्रागपदिष्टम्। इदानीं बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियाणि दशापदिश्यन्ते, तदिदं पदार्थन्यूनमिति। उच्यते—स्यादेतदेवं यद्येतावदिन्द्रियपदं स्यात्। किं तर्हि? सङ्कल्पकमत्र मनः, अत्र इन्द्रियपर्वणि मनो भवति प्रत्ययगन्तव्यम्, तत्र सङ्कल्पकमिति लक्षणमाचक्ष्महे। सङ्कल्पोऽभिलाषः इच्छा इत्याद्यनर्थान्तरम्। सङ्कल्पयतीति सङ्कल्पकम्, एतद् मनसो लक्षणम्। तथेन्द्रियमुभयथा समाख्यातम्। तद्धि इन्द्रियमुभयथेत्यर्थः। मनो न केवलं बुद्धीन्द्रियम्, अपि तु कर्मेन्द्रियमपि। –साङ्ख्यका० युक्तिदीपिका का० २६-२७।

पृ० १४ पं० १६ शब्दाद्युपलब्धिः। "शब्दाद्युपलब्धिरादि गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरन्त्य। यावदस्याभिमानप्रत्ययः श्रोत्रादीन्द्रियवृत्तिषु श्रवणादिषु 'अहं श्रोता' इत्येवमादिः पाञ्चभौतिके च शिरःपाण्यादिसमूहे शरीरे 'अहं पुरुषः' इति प्रत्ययो भवति तावदप्रतिबुद्धत्वात् संसारः। गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरन्त्यः, यदा पुरुषस्य सर्वं प्रकृतिकृतं त्रिगुणमचेतनं

भोग्यमिति जानाति भोक्तारमकर्तारं चेतनं च पुरुषमन्यं प्रधानादवैति अचेतनांश्च गुणान् तदा तस्य गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरन्तः संसारस्य इति ज्ञानाद् मोक्षः, विपर्ययाद्बन्धः।"-तत्त्वार्थराजवा० १।१।

पृ० १४ पं० १८. प्रधान-पुरुष-संयोगनित्य' । "तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् । गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥ २० ॥ पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थंस्तथा प्रधानस्य । पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥-साङ्ख्यका० । अनयो' कारिकयोर्विस्तरेण स्वर्थो युक्तिदीपिका-माठरवृत्तिप्रभृतिव्याख्याभ्योऽवसेयः ।

पृ० १५ पं० ८ अन्यकियत्तदो निर्धारणे ····· । इदमत्रावधेयम्-अस्मिन् ग्रन्थे नयचक्रवृत्तिकृता सर्वत्र पाणिनीयव्याकरणसूत्राण्येवोल्लिखितानि, सम्प्रति तु 'कियत्तदो निर्धारणे' इति 'अन्य'शब्दरहितमेव पाणिनीयसूत्रमुपलभ्यते। अतो नयचक्रवृत्तिकर्ता सिंहसूरिगणिवादिक्षमाश्रमणानां समये 'अन्यकियत्तदो निर्धारणे' इत्यपि अस्य सूत्रस्य पाठान्तरमासीदित्यनुमीयते । चान्द्रव्याकरणे "यत्तदेकाद् द्वाभ्यां निर्धारणे डतरच् ।४।३।७५। जातौ डतमज्बहुभ्यः ।४।३।७६। तौ किम । ४।३।७७" इति सूत्राणि। शाकटायने "यत्तत्किमन्याद् द्वयोर्निर्धार्ये डतर ।३।४।१०५। वैकात् ।३।४।१०६। बहूना प्रश्ने डतमश्च । ३।४।१०७" इति सूत्राणि। सिद्धहेमशब्दानुशासने "वैकाद् द्वयोर्निर्धार्ये डतर । ७।३।५२। यत्तत्किमन्यात् ।७।३।५३। बहूनां प्रश्ने डतमश्च वा ।७।३।५४।" इति सूत्राणि । भोजविरचिते सरस्वतीकण्ठाभरणे "कियत्तदेकान्येभ्यो द्वयोरेकस्य निर्धारणे डतरच् । वा बहूना जातौ डतमच् । किमो उतरच् । ५।३।१२५-१२७।" इति सूत्राणि । कातन्त्रे "आख्यातात्र तमादय । २।६।४०।" इति सूत्रम् । "द्वयोर्बहूनां चैकस्य निर्धारणे किमादिभ्योऽतरऽतमौ वक्तव्यौ । किमादिभ्य इति किम्? यत्तद्भ्यो डितौ अतर-अतमौ प्रत्ययौ भवत । 'च'कारात् 'एक'शब्दात् 'अन्य'शब्दादपि डतरडतमौ वक्तव्यौ । एकतर । एकतम । अन्यतर । अन्यतम ।"इति सारस्वतव्याकरणे । अत्र 'सर्वादीनि सर्वनामानि' [पा० ७।१।५२] इति सूत्रस्य सिद्धान्तकौमुदी व्याख्या विलोकनीया । 'सर्वादे स्मै स्मातौ' [सिद्धहेम० १।४।७] इति सूत्रस्य बृहद्वृत्तिरपि अवलोकनीया ।

- पृ० १५ पं० १०-११. आतिशयिकः····· । अत्र आतिशायिकः इति भा० प्रतिपाठ एव शुद्धः । अत्र च 'अतिशायने तमबिष्ठनौ ।५।३।५५। द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ ।५।३।५७।' इति पाणिनीयसूत्रद्वयस्य पातञ्जलमहाभाष्यमपि विलोकनीयम् ।

पृ० १४ पं० १६. द्रव्यमपि। "तच्च द्रव्यं भवनलक्षणम्···भवनमात्रमेवेदं कृत्स्नम्।" -तत्त्वार्थ० सिद्धसेनवृ० ५।२९।

पृ० १५ पं० १७. सर्वतन्त्रसिद्धान्ते । "सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थ. सर्वतन्त्रसिद्धान्त. ।१।१।२८। यथा घ्राणादीनीन्द्रियाणि, गन्धादय इन्द्रियार्था', पृथिव्यादीनि भूतानि, प्रमाणैरर्थस्य ग्रहणमिति ।"-न्यायभा० ।

पृ० १५ पं० १७. द्रव्यं च भव्ये । "द्रोर्भव्ये ।७।१।११५। द्रुशब्दात् तस्य तुल्ये भव्येऽभिधेये यः प्रत्ययो भवति । विशिष्टेष्टपरिणामेन भवति इति भव्यम्, अभिप्रेतानामर्थानां पात्रम् । द्रुतुल्यः द्रव्यमय माणवक. । द्रव्यं कार्षापणम् । यथा द्रु अग्रन्थि अजिह्मं दारु उपकल्प्यमान विशिष्टेष्टरूपं भवति तथा माणवकोऽपि विनीयमानो विद्या-लक्ष्म्यादिभाजनं भवतीति द्रव्यमुच्यते। कार्षापणमपि विनियुज्यमानं विशिष्टेष्टमाल्याद्युपभोगफलं भवतीति द्रव्यमुच्यते । द्रुरिव द्रव्यं राजपुत्र' । यथा द्रुम पुष्पफलादिभिरर्थिन. कृतार्थयति एवमन्योऽपि य. सोऽपि द्रव्यमुच्यते । भव्य इति किम्? द्रुतुल्योऽयं न चेतयते ।"-सिद्धहेम० बृहद्वृ० ।

पृ० १५ पं० १८-२०. द्रवति ···· । "दवए दुयए दोरवयवो विगारो गुणसदावो । दव्वं भव्व भावस्स भूअभावं च जं जोग्गं ॥ २८ ॥ 'द्रु द्रु गतौ' [पा० धा० ९४४-९४५], द्रवतीति द्रव्यम्, स्वपर्यायान् प्राप्नोति क्षरति चेत्यर्थः । तथा द्रूयते गम्यते तैरिति द्रव्यम् । तथा द्रुः सत्ता, तस्या विकारोऽवयवो वेति द्रव्यम् । तथा गुणानां सन्द्रावो द्रव्यम् । गुणा रूपादय , सन्द्रवणं सन्द्रावः, समुदाय इत्यर्थः । तथा 'द्रव्यं च भव्ये' [पा० ५।३।१०४] इति द्रव्यं भव्यं भावस्य योग्यमित्यर्थ. । यद् भाविभूतभाव चेति ।"-विशेषाव० भा० स्वोपज्ञवृ० ।

पृ० १५पं० २०. गुणसन्द्रावो द्रव्यम्। एतच्च साङ्ख्यादीनां मतमिति ज्ञेयम्, दृश्यतां पृ० ३०३, पं० २ । "सिद्धं तु यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलौ। सिद्धमेतत्। कथम्? यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने तस्मिन् गुणे वक्तव्ये प्रत्ययेन भवितव्यम्, न चाभिप्रायादीनां भावाद् द्रव्ये देवदत्तशब्दो वर्तते । किं पुनर्द्रव्यं के पुनर्गुणाः? शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा गुणा , ततोऽन्यद् द्रव्यम् । किं पुनरन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यमाहोस्विदनन्यत्? गुणस्यायं भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशं कुर्वन् ख्यापयति अन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यमिति । अनन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यम्, न ह्यन्यदुपलभ्यते। पशो' खल्वपि विशसितस्य पर्णशते न्यस्तस्य नान्यच्छब्दादिभ्य उपलभ्यते । अन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यम्, तत्त्वमनुमानगम्यम्

तद्यथा—ओषधिवनस्पतीनां वृद्धिह्रासौ, ज्योतिषां गतिरिति। कोऽसौ अनुमानः? इह समाने वर्ष्मणि परिणाहे चान्यत् तुलाग्रं भवति लोहस्य, अन्यत् काष्ठानाम्, यत्कृतो विशेषस्तद् द्रव्यम्। तथा कश्चित् स्पृष्ट एव छिनत्ति कश्चिद्घ्न्य मानोऽपि न च्छिनत्ति यत्कृतो विशेषस्तद् द्रव्यम्। तथा कश्चिदेकेनैव प्रहारेण व्यपवर्गं करोति कश्चिद् द्वाभ्यामपि न करोति यत्कृतो विशेषस्तद् द्रव्यम्। अथवा यस्य गुणान्तरेषु प्रादुर्भवत्स्वपि तत्त्वं न विहन्यते तद् द्रव्यम्। किं पुनस्तत्त्वम्? तद्भावस्तत्त्वम्। तद्यथा—आमलकादीनां फलानां रक्तादयः पीतादयश्च गुणाः प्रादुर्भवन्ति आमलकं बदरमित्येव भवति। अन्वर्थं खल्वपि निर्वचनम्—गुणसन्द्रावो द्रव्यमिति।" इति पातञ्जलमहाभाष्ये ५।१।११९। पातञ्जलमहाभाष्यस्य साम्यमवलम्ब्याह 'स्त्रियाम्' [पा० ४।१।३।] इति सूत्रे पातञ्जलमहाभाष्यस्य उद्द्योतात् प्रदीपाच्चावगन्तव्यम्।

पृ० १५ पं० २० क्रियावद् । द्रष्टव्यता पृ० ४४० टि० ५। द्रष्टव्यता टिपृ० ८ पं० २२।

पृ० १५ पं० २२ भवितु शीला । "आ क्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु"—पा० ३।२।१३४।

पृ० १६ पं० ८ क्षेत्रमपि । "खेत्तं मयमागासं सव्वदव्वावगाहणालिंगं। तं दव्वं चेव निवासमेत्तपज्जायओ खेत्तं ॥ २०८८ ॥ इह दव्वं चेव निवासमेत्तपज्जायमावओ खेत्तं। ॥ ३३४३ ॥"—विशेषाव० भा०। अर्थस्त्वासां गाथानां कोट्याचार्यविरचितवृत्तिभ्याऽवसेयः।

पृ० १६ पं० १३ रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी। वैशेषिकदर्शनसूत्रमिदम्। द्रष्टव्यता टिपृ० ८ पं० २२।

---

१ एवं द्रव्यादीनां नानात्वे सिद्धे पृथिव्यादीनां द्रव्यलक्षणाविशेषादेकत्वे प्राप्ते लक्षणभेदेन वैधर्म्यमाह—रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी [वै० सू० २।१।१] एतेऽस्या रूपरसगन्धस्पर्शा विशेषगुणाः अन्ये तु सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वा-ऽपरत्व-गुरुत्व-नैमित्तिकद्रवत्व-संस्काराः। रूपं शुक्लादि रसो मधुरादि गन्धः सुरभिरसुरभिश्च स्पर्शोऽस्या अनुष्णाशीतत्वे सति पाकजः कार्यं बाह्यमाध्यात्मिकं च। रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाश्च [वै० सू० २।१।२] शुक्ल-मधुर-शीता एव रूप-रस-स्पर्शाः। द्रवा इति सांसिद्धिकं द्रवत्वम्। स्निग्धा इति आसामेव स्नेहः। सङ्ख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग-परत्वा-ऽपरत्व-गुरुत्व संस्काराश्च। कार्यं पूर्ववत्। तेजो रूपस्पर्शवत् [वै० सू० २।१।३] रूपं भास्वरं शुक्लं च, स्पर्श उष्ण एव। सङ्ख्या परिमाण पृथक्त्व-संयोग विभाग परत्वा-ऽपरत्व-नैमित्तिकद्रवत्व-संस्काराश्च। कार्यं पूर्ववत्। वायुः स्पर्शवान् [वै० सू० २।१।४] अनुष्णाशीतोऽपाकजः स्पर्शः। सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग विभाग परत्वा-ऽपरत्व-संस्काराश्च। कार्यं पूर्ववत्। भौमादिदेहा भूम्यादिलोकेषु। त आकाशे न विद्यन्ते [वै० सू० २।१।५] ते रूपरसगन्धस्पर्शा न सन्त्याकाशे। तस्य गुणाः शब्द-सङ्ख्या-परिमाण पृथक्त्व-संयोग विभागाः। सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानां पार्थिवानामग्निसंयोगाद् द्रवताऽद्भिः [P पृ० ११ A] सामान्यम् [वै० सू० २।१।६] [मधूच्छिष्टं] सिक्थकम्। सर्पिषो जतुनो मधूच्छिष्टस्य चाग्निसंयोगाद् द्रवता या सम्पद्यते तदद्भिः समानत्वं पृथिव्याः। त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानां तैजसानामग्निसंयोगाद् द्रवताऽद्भिः सामान्यम् [वै० सू० २।१।७] एषां च तैजसानां यदग्निसंयोगाद् द्रवत्वमुपजायते तदद्भिः सामान्यं तेजसः। विषाणी ककुद्मान् प्रान्तेवालधिः सास्नावानिति गोत्वे दृष्टं लिङ्गम् [वै० सू० २।१।८] दृष्टान्तार्थं सूत्रम्। गोत्वे इति [2]गोत्वावच्छिन्ना व्यक्तिः विषाणं ककुदं सास्ना च अस्यास्तीति विषाणी ककुद्मान् सास्नावान्। प्रान्तशब्देन कटिभागः उच्यते। अस्मिन् धीयन्त इति वालधिशब्देन पुच्छः प्रान्ते वालधिरस्येति प्रान्तेवालधिः। विषाण्यादिभिः शब्दैर्मत्वर्थप्रतिपादकैरपि अर्थव्यापाराद् धर्मा एव व्यपदिश्यन्ते। यथा अन्तरभाये गोत्वस्य कचिद् गृह्यमाणा विषाणादयो लिङ्गं दृष्टमनुमापकास्तथा स्पर्शश्च [वै० सू० २।१।९] स्पर्श उपलभ्यमानो निराश्रयस्यानुपपत्तेर्वायुमनुमापयति। न च दृष्टानां स्पर्श इत्यदृष्टलिङ्गो वायुः [वै० सू० २।१।१०] यदि खल्वयं पृथिव्यादिस्पर्शोऽभविष्यद् गन्धरसरूपैः सहोपलभेमहि न चैवम्, तस्मात् पृथिव्यादिव्यतिरिक्तस्य वायोर्लिङ्गम्। अद्रव्यवत्त्वाद् द्रव्यम् [वै० सू० २।१।११] यः परमाणुस्वभावो वायुः स खलु अद्रव्यवत्त्वात् समवायिकारणरहितत्वाद् द्रव्यम्। द्रव्यं ह्यद्रव्यमनेकद्रव्यं च। क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च [वै० सू० २।१।१२] 'क्रियावद् गुणवत्' [१।१।१५] इति द्रव्यलक्षणाद् यत्र क्रिया गुणाश्च समवेताः सोऽपि महान् वायुर्द्रव्यम्। अद्रव्यवत्त्वेन नित्यत्वमुक्तम् [वै० सू० २।१।१३] परमाणुलक्षणस्य वायोरद्रव्यवत्त्वेन समवायिकारणरहितत्वेन नित्यत्वमुक्तम्। वायोर्वायुसम्मूर्च्छनं नानात्वे लिङ्गम् [वै० सू० २।१।१४] तिर्यग्गामिनो वायोर्वायु

1 ईषिदर्क—मू०। 'मधूच्छिष्टशब्देन सिक्थकाभिधानम्'—न्यायकन्दली पृ० २९। 2 गोत्वाविच्छिन्ना—मू०।

सम्मूर्च्छनेन वाय्वन्तरसंश्लेषेण ऊर्ध्वगमनं प्रवर्तते, ततः [P पृ० ११ B] ऊर्ध्वगमनात् संश्लेषः, संश्लेषाद् वायोरनेकत्वमनुमीयते। ननु च **वायुरिति** [1]**सन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते**[1] [वै० सू० २।१।१५], [चक्षुषा गो] सन्निकर्षे सति प्रत्यक्षेण विषाणादीनि तद्योगितया दृष्टानि कदाचिल्लिङ्गम्, नैवं त्वचा वायोः सन्निकर्षे सति अयं वायुरिति प्रत्यक्षेण तद्गुणतया स्पर्श उपलब्धो येनानुपलभ्यमानं कदाचिद् वायुमनुमापयेत्। क्षित्यादिस्पर्शविधर्मत्वादस्य स्पर्शस्य निराश्रयस्य चाभावाद् वायुराश्रय इति चेत्, **सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः** [वै० सू० २।१।१६], आकाशादीनामपि परोक्षत्वात् प्रतिषेधेन वायोरेवायं स्पर्श इत्ययं विशेष एतस्मात् सामान्यतो दृष्टान्नावगम्यते। विभूनां स्पर्शवत्त्वे भावप्रतिघात इति चेत्, एवं तर्हि वायोरेवायं भवत्प्रसिद्धस्य स्पर्शो न दशमस्य द्रव्यस्येति कथं ज्ञायते? **तस्मादागमिकम्** [वै० सू० २।१।१७], तस्माद् वायुरस्तीति वाक्यमागमिकं प्रवादमात्रमित्यर्थः। नैतत्, **संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्** [वै० सू० २।१।१८], अस्मदादीनां सकाशाद् यो भगवान् विज्ञानादिभिर्विशिष्टो महेश्वरस्तदीयं संज्ञाप्रणयनं नवानामेव द्रव्याणां भावे लिङ्गम्, दशमस्य संज्ञानभिधानात्। तस्मान्नवैव द्रव्याणि। अतो वायोरेव स्पर्शः। 'अस्मद्विशिष्टानाम्' इति पूजाया बहुवचनम्। ननु कथं ज्ञायत इत्युच्यते—**प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् संज्ञाकर्मणः** [वै० सू० २।१।१९], प्रत्यक्षेण हि पदार्थमालोचयन्तः संज्ञाः प्रणयन्ति, दृष्टं च दारकस्य नामकरणे, प्रणीताश्चेमाः खलु संज्ञाः, तस्मान्मन्यामहे—अस्ति भगवानस्मद्विशिष्टो योऽस्मदादिपरोक्षाणामपि भावानां प्रत्यक्षदर्शी येनेदं संज्ञादि प्रणीतमिति। **निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम्** [वै० सू० २।१।२०], यदेतद् निष्क्रमणं प्रवेशनं च पुरुषस्य द्वारादिना भवति न भित्त्यादौ तदाकाशकृतम्, [P. पृ० १२ A] अतो निष्क्रमणप्रवेशने आकाशस्य लिङ्गमिति। मूर्ताभावो ह्याकाशम्। तत्र **तदलिङ्गमेकद्रव्यवत्त्वात् कर्मणः** [वै० सू० २।१।२१], निष्क्रमणादि कर्म पुरुषे वर्तमानम् 'एकद्रव्यं कर्म' इत्युक्तत्वान्निष्क्रियत्वाच्चाकाशस्य आकाशावृत्ति कथं तद् गमयेदसम्बन्धात्। यथा लोष्टवृत्ति पतनं गुरुत्वस्य लिङ्गमेवं पुरुषवृत्ति निष्क्रमणमाकाशस्य लिङ्गमिति चेत्, न, **कारणान्तरानुक्लृप्तिवैधर्म्याच्च** [वै० सू० २।१।२२], गुरुत्वं कर्मणोऽसमवायिकारणमुक्तम्, तदनुमीयताम्, न त्वाकाशस्यासमवायिकारणत्वं युज्यते नित्यत्वद्रव्यत्वानाश्रितत्वैराकाशस्य गुरुत्वादिना असमवायिकारणेन वैधर्म्यात्। यदुक्तं 'निष्क्रमणं चाकाशकृतं द्वारादिना' इति, एतन्न, **संयोगादभावः कर्मणः** [वै० सू० २।१।२३], भित्त्यादिना स्पर्शवद्द्रव्येण शरीरादेः कर्माधारस्य संयोगाद् निष्क्रमणं निवर्तते, न त्वाकाशाभावात्, तस्य सर्वगतत्वात् तत्रापि भावः, तस्माच्छब्दलिङ्गमेवाकाशम्। भेर्यादीनामेव निमित्तानां शब्दो गुण इति चेत्, न, [4]**कारणगुणपूर्वः कार्यगुणो दृष्टः, कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः** [वै० सू० २।१।२४], इह ये स्पर्शवतां विशेषगुणा एकैकेन्द्रियग्राह्यास्ते कारणगुणैः कार्ये निष्पाद्यन्ते। न च भेर्यवयवेषु रूपादय इव कश्चिच्छब्दभागः समवेत उपलभ्यते। तस्मात् कारण[गुण]पूर्वत्वान्न भेर्यादेः स्पर्शवतो विशेषगुणः शब्दः। यश्च स्पर्शवतो विशेषगुणः स कार्ये यावत्कार्यमुपलभ्यमानो दृष्टः। न चैवं शब्दः, ततो न स्पर्शवद्विशेषगुणः। किञ्च, स्पर्शवद्विशेषगुणः आरब्धे कार्ये कारणगुणैरारभ्यते, न च यदा शब्देन शब्द आरभ्यते तदा किञ्चित् कार्यमुत्पन्नं पश्यामः। तस्मात् कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्च [P. पृ० १२ B] न शब्दः स्पर्शवतो विशेषगुण इति। [5]**परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुणः** [वै० सू० २।१।२५], परत्र बहिरित्यर्थः। ये खल्वात्मगुणास्ते सुखादय इवान्तः शरीरमुपलभ्यन्ते। न चैवं शब्दः, बहिर्बहुभिरुपलभ्यमानत्वात्। न चात्मगुणो बाह्येन्द्रियग्राह्यः, अयं तु श्रोत्रप्रत्यक्षः, तस्मान्नात्मगुणः। अत एव बहिरुपलभ्यमानत्वाद् बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वाच्च न मनोगुणः। श्रोत्रप्रत्यक्षत्वाच्च न दिक्कालयोः। तस्माद् गुणः सन् **लिङ्गमाकाशस्य** [वै० सू० २।१।२६], तस्मादुपलभ्यमानः शब्द आकाशं गमयति। **द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते** [वै० सू० २।१।२७], यथा अद्रव्यवत्त्वात् परमाणुभूतो वायुर्द्रव्यं नित्यश्च एवमाकाशं कारणद्रव्याभावाद् द्रव्यं नित्यं च। [6]**तत्त्वं भावेन** [वै० सू० २।१।२८], यथा सल्लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्चैको भावः एवं शब्दलिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्चैकमाकाशमिति द्वितीयस्याद्यमाह्निकम्।

यदुक्तं 'स्पर्शवद्विशेषगुणा आरब्धे कार्यद्रव्ये गुणानारभन्ते, शब्दस्त्वनारब्धे द्रव्ये शब्दमारभते' इति, तदयुक्तम्, अनारब्धकृतेऽपि पुष्पवस्त्राभ्यां द्रव्यान्तरे पुष्पगन्धस्य वस्त्रे गन्धारम्भात् तथा अप्सु उष्णतायाः। उच्यते—**पुष्पवस्त्रयोः सति सन्निकर्षे गन्धान्तराप्रादुर्भावो वस्त्रे गन्धाभावलिङ्गम्** [वै० सू० २।२।१], [7]पुष्पेण खलु संयुक्ते वस्त्रे न पुष्पगन्धेन गन्ध आरभ्यते, वस्त्रगन्धस्यापि सम्भवात् पुष्पवस्त्रगन्धाभ्यां द्वाभ्यां विलक्षणं गन्धान्तरमुपजनितमुपलभेमहि, न चैवम्, अपि तु

1 * * एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठो नास्ति वृसू०। 2 इति च सामान्यतो—वृ०। 3 °कृतत्वाद्द्वारादिना—वृ०। 4 कारणे गुणपूर्वं कार्ये गुणो—वृसू०। 5 परत्र प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुणः—वृसू०। 6 तत्त्वं भावेन। द्वितीयस्य प्रथममाह्निकम्।—सू०। 7 अत्र 'पुष्पेण खलु संयुक्ते वस्त्रे चेत् पुष्पगन्धेन गन्ध आरभ्यते, वस्त्रगन्धस्यापि सम्भवात्'• • •••इति पाठः 'पुष्पेण खलु संयुक्ते वस्त्रे न पुष्पगन्धेन गन्ध आरभ्यते, यदि पुष्पगन्धेन गन्ध आरभ्येत वस्त्रगन्धस्यापि सम्भवात् • • •' इत्येतादृशो वा पाठोऽपि सम्भवेत्।

पुष्पगन्धमेवोपलभामहे । तस्मात् अनारब्धे कार्ये पुष्पगन्धेन गन्ध आरभ्यते इत्ययुक्तम्, गन्धान्तरप्रसङ्गात् । **एतेनाप्सूष्णता व्याख्याता** [वै० सू० २।२।२] अपां तेजसा संयोगे सति विलक्षणस्पर्शानुपपत्तिरौष्ण्याभावस्य लिङ्गम् [P पृ० १३ A] अयावद्द्रव्यभावित्वं च सलिले औष्ण्यस्य । सूक्ष्माणां पुष्पावयवानां वस्त्रे तेजोवयवानां चाप्सु संक्रान्ते संयुक्तसमवायाद् गन्धस्पर्शोपलब्धिः । न यावद्द्रव्यभाविनो रूपादयः, वस्त्रोदकयोः पुष्पगन्धोष्णस्पर्शोपलम्भकाले स्वगन्धशीतस्पर्शानुपलब्धेः **व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः** [वै सू० २।२।३] पार्थिवे वाससि व्यवस्थितोऽपि स्वगन्धः पुष्पगन्धाभिभवान्नोपलभ्यते । किञ्च **तेजस्युष्णता** [वै० सू० २।२।४] तेजस्येवोष्णता व्यवस्थिता नाप्सु संक्रामति । तथा औष्ण्योपलब्धिकाले **अप्सु शीतता** [वै सू० २।२।५] तेजोऽवयवानुप्रवेशात् संयुक्तसमवायात् उष्णोपलब्धावपि अनुपलभ्यमानापि सलिलशीतता व्यवस्थितैव अभिभवान्नोपलभ्यते । कालं इदानीं कथयति-**अपरस्मिन् परं युगपदयुगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि** [वै० सू० २।२।६] । किञ्च **द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते** [वै० सू० २।२।७] अद्रव्यवत्त्वात् परमाणुवायोरिव द्रव्यत्वनित्यत्वे कालस्य । **तत्त्वं भावेन** [वै सू० २।२।८] यथा सल्लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्चैको भावस्तथा [P पृ० १३ B] काललिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्चैकः कालः । कालस्यैकत्वे कथमारम्भकादिव्यपदेश इत्याह-**कार्यविशेषेण नानात्वम्** [वै० सू० २।२।९] कार्यं क्रिया क्रियाविशेषेण आविर्भूतस्य वस्तुन आरम्भस्थितिविनाशक्रिया दृष्ट्वा एकस्यापि कालस्य नानात्वोपचारादारम्भकालादिव्यपदेशः । ननु क्रियामात्रं कालः कुतः ? काललिङ्गानां **नित्येष्वभावादनित्येषु भावात्** [वै० सू० २।२।१०] यदि क्रियाव्यतिरिक्तः स्यात्तर्हि कालः एव नित्येष्वपि आकाशादिषु काललिङ्गानि प्रतिभासेरन् । अनित्येष्वेव तु भवन्ति । तस्मादभिनिर्वर्त्यमानेष्वेवावधिः कालः । तस्मात् क्रियैव काल इति । नैतत्, वैस्तुनिवृत्तपुत्रकालभावित्वात् काललिङ्गानि अनित्येषु भवन्ति न तु क्रियायाः कालत्वात् । तेषां तु **कारणे कालाख्या** [वै० सू० २।२।११] एषां काललिङ्गानां निर्निमित्तानामसम्भवात् । क्रियानिमित्तत्वे कृतम् इति स्यात् न युगपत् इति । तस्मादेषां यत् कारणं तस्मिन् कालाख्या । **इत इदमिति यतस्तद्दिशो लिङ्गम्** [वै० सू० २।२।१२] मूर्तद्रव्यमवधिं कृत्वा यत एतद् भवति इदमस्मात् पूर्वेण इत्यादिप्रत्ययस्तद् दिशो लिङ्गम् । गुणाः सङ्ख्या परिमाण पृथक्त्व-संयोग विभागाः । किञ्च **द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते** [वै० सू० २।२।१३] अद्रव्यवत्त्वाद् वायुवद् द्रव्यत्वनित्यत्वे दिशः । **तत्त्वं भावेन** [वै० सू० २।२।१४] दिग्लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्चैका दिगित्यर्थः । तस्यैकत्वे **कार्यविशेषेण नानात्वम्** [वै० सू० २।२।१५], पूर्वेण देवयजनं दक्षिणेन पितृयजनमित्यादिना क्रियाविशेषेण नानात्वस्य दिशः पूर्वदक्षिणादेरुपचारः । इतरेतराश्रयमिति चेत्, एवं तर्हि **आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची** [वै० सू० २।२।१६] सवितुरहरादौ यत्र कल्पितदिक्प्रदेशेन संयोगोऽभूद् भवति भविष्यति वा [P पृ० १४ A] तस्मादादित्यसंयोगात् प्राची इति व्यपदेशः प्राञ्चत्यत्र आदित्यमिति । **तथा दक्षिणा प्रतीची उदीची च** [वै० सू० २।२।१७] अस्मादेवादित्यसम्प्रयोगाद् दक्षिणादिव्यपदेशः । **एतेन दिगन्तराणि व्याख्यातानि** [वै० सू० २।२।१८] अनेनैव प्रकारेण ऐन्द्र्यादीनि दिगन्तराणि व्याख्यातानि । तदेवानीमात्मा करणैरधिगन्तव्यः करणानि शब्दादिभ्यो गुणेभ्यः । ननु [गुण]त्वमसिद्धं शब्दादीनां सिद्धं कृत्वोच्यते । ननु गुणत्वे कुतः संशयः ? आह-किं संशयोऽपि हेतुमान् ? एवमेतत् । को हेतुः ? तत्राह-**सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयः** [वै० सू० २।२।१९] स्थाणुपुरुषयोरूर्ध्वतां सामान्यं पश्यन् विशेषहेतून् पाण्यादिकोटरादीनपश्यन् स्मरति च विशेषान् अतः संशयः किमयं स्थाणुः पुरुषो नु वा इति । स द्विविधः —बाह्योऽभ्यन्तरश्च । बाह्योऽपि द्विविधः —प्रत्यक्षेऽप्रत्यक्षे च । अप्रत्यक्षे तावत् **दृष्टमदृष्टम्** [वै सू० २।२।२०], आप्तो मनुष्य इत्युक्ते किमिमं दृष्टं पश्येयमदृष्टमिति श्रवणमात्रादेव संशयः । प्रत्यक्षे तु **दृष्टं च दृष्टवत्** [वै० सू० २।२।२१] सम्प्रति दृष्ट्वा पुरुषं तमेव दृष्टमालोचयतः किमयं मया दृष्टपूर्वः कदाचिदुतान्य इति संशयः । **दृष्टं यथादृष्टमयथादृष्टमुभयथा दृष्टत्वात्** [वै सू० २।२।२२] आदौ कुन्तली देवदत्तो दृष्टो मध्ये मुण्डः तृतीयस्यामवस्थायां कुन्तली चतुर्थ्यामालापानिरावरणः आलोकमानेन च सन्ध्यादौ 'किमयं कुन्तली स्याद् मुण्डो वा' इति संशयः । पूर्वमत्रेऽनवस्थायानुस्मृते संशयः अनन्त्येकार्थे विशेषानुस्मरणात् । अभ्यन्तरस्तु **विद्याविद्यातश्च संशयः** [वै० सू० २।२।२३] विद्या सम्यग्ज्ञानम्, अविद्या मिथ्याज्ञानम् । दैवज्ञेन शुभमादिष्टं सत्यमभूत् द्वितीयमसत्यम् तृतीयस्यामवस्थायां संशयः —[P पृ० १४ B] किमाद्यावस्थावत् सत्यमुत द्वितीयावस्थावदसत्यमिति । एष कथितः संशयः । तत्र शब्द एव तावत् कथ्यताम्-**श्रोत्रग्रहणो**

---

1 (ननु न यावद्द्रव्यभाविना ?)। 2 अस्य सूत्रस्य चन्द्रानन्दविरचिता वृत्तिः पृ० ४५३ टि० २ इत्यत्र अवलोकनीया । 3 पूर्वेत्यादि-मू० । 4 पूर्वाग्नेर्-मू० । (दक्षिणपूर्वाग्नेः ?)। 5 पुरुषो न वा-मू० । 6 वनगो आलुसमावेन च-मू० ।

पृ० १६ पं० १४-१५ शब्दस्पर्श०। सांख्यमतमिदम्। कक्खटलक्षणा वेति बौद्धमते। एवं घटोऽपीत्यादि मतत्रय यथाक्रम वैशेषिक-सांख्य-बौद्धानामिति ज्ञेयम्।

पृ० १७ पं० १. अनेकप्रभेदो०। दृश्यता पृ० २७ पं० १४।

पृ० १७ पं० ५-६. परिणामवती०। "कलणं पज्जायाणं कलिज्जए तेण वा जओ वत्थु। कलयंति तयं तम्मि व समयाइकलासमूहो वा ॥ २०२८ ॥ .. सुरकिरियाविसिट्ठो गोदोहाइकिरियासु निरवेक्खो। अद्धाकालो भण्णइ समयक्खित्तम्मि समयाइ ॥ २०३५ ॥ सो वत्तणाइरूवो कालो दव्वस्स चेव पज्जाओ। किंचिम्मेत्तविसेसेण दव्वकालाइववएसो ॥ २०३६ ॥"—विशेषाव० भा०। व्याख्यानं त्वस्य कोट्टार्यादिविरचितटीकाभ्योऽवगन्तव्यम्। दृश्यतां तत्त्वार्थराजवा० ४।१४, ५।२२। दृश्यतां टिपृ० १९ पं० १२।

योऽर्थः स शब्दः [वै० सू० २।२।२४], श्रोत्रेण यो गृह्यतेऽर्थः स शब्दः। श्रोत्रेण यो गृह्यते सामान्यादीनामर्थशब्दस्यासद्वैतित्वाच्छब्दत्व शब्दो मा भूदित्यर्थग्रहणम्। तस्मिन् द्रव्यं कर्म गुण इति संशयः [वै० सू० २।२।२५], साधारणत्वाद् द्रव्यादित्वेन शब्दे संशय। तदाह–तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्योभयथादृष्टत्वात् [वै० सू० २।२।२६], पृथिवीत्व सजातीयात् सलिलादे पृथिव्या विशेषो दृष्ट असजातीयाभ्या [च गुणकर्मभ्याम्], तत शब्देऽपि किमय श्रोत्रग्राह्यत्वं विशेषो गुणैस्तुल्यस्यार्थान्तरभूतस्य वेति संशय, नैतत्, एकद्रव्यवत्त्वान्न द्रव्यम् [वै० सू० २।२।२६], एकस्मिन द्रव्ये आकाशे वर्तमानत्वात् द्रव्यमयं शब्द, द्रव्यं ह्यद्रव्यं परमाण्वादि अनेकद्रव्यं वा घटादि। अचाक्षुषत्वाच्च[1] न कर्म [वै० सू० २।२।२७], द्रव्यं कर्म वा यदिन्द्रियान्तरप्रत्यक्षं तच्चाक्षुषमपि दृष्टम्, अयं तु शब्द श्रोत्रप्रत्यक्षोऽपि सन्न चाक्षुष। एव स्थितो गुण। किन्तु गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम् [वै० सू० २।२।२८], कर्मभिरस्य पुनर्गुणभूतस्यापि साधर्म्यमपवर्गो विनाश, उत्पत्त्यनन्तरमग्रहणाद् विनाशोऽनुमीयते। सतोऽपि निमित्तादग्रहणमिति चेत्, न, सतो लिङ्गाभावात् [वै० सू० २।२।२९], यत् सदपि निमित्तान्न गृह्यते तस्य लिङ्ग सद्भावग्राहक भवति, शब्दस्य तूच्चारणादूर्ध्वं सयोग्यादेर्लिङ्गस्याभावादनित्यत्व। किञ्च, नित्यवैधर्म्यात् [वै० सू० २।२।३०], उच्चरितप्रध्वंसो नित्यैर्वैधर्म्यम्, तस्मादनित्य। किञ्च, कार्यत्वात् [वै० सू० २।२।३१], कार्यश्च शब्द सयोगादिभ्य उत्पत्ते। तस्मादनित्य। किञ्च, अभावात् [वै० सू० २।२।३२], प्रागभावादित्यर्थ। प्रागभाववतो विनाशात्। प्रागभावश्चास्य कारणेभ्य उत्पत्ते। न च [P पृ० १५ A] तानि व्यञ्जकानि, कुत ? कारणतो विकारात् [वै० सू० २।२।३३], यस्माद् भेर्यादिकारणेभ्य शब्दस्य विकारोऽवगम्यते, महति भेर्यादौ महान अल्पेऽल्प। अभिव्यक्तौ तु दोषात् [वै० सू० २।२।३४], नित्यत्वेनाभिव्यक्तौ शब्दोऽन्येन यज्ञे प्रयुक्तो नान्येन प्रयुज्येत दर्भादिवद् यातयामत्वादिदोषात्। तस्मादनित्य। कुत. कार्यत्वम् ? इत्याह– संयोगाद् विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्तेः[2] [वै० सू० २।२।३५], भेरीदण्डसयोगाद् वस्त्रदलविभागाच्छब्दाच्च शब्दस्य वीचिसन्तानवन्निष्पत्तेर्मन्यामहे–कार्य शब्द इति। लिङ्गाच्चानित्यः [वै० सू० २।२।३६], 'तेभ्यस्त्रयं(यो ?) वेदा अजायन्त' इति वचनाद् वैदिकाल्लिङ्गादनित्य। ननु नित्य शब्द, द्वयोस्तु प्रवृत्त्योरभावात् [वै० सू० २।२।३७], कार्याणा हि भावाना द्वे प्रवृत्ती–एका[3] निर्वृत्ति, अन्या कार्यविनियोगरूपा। शब्दस्य पुनरर्थप्रतिपत्त्यर्थैव प्रवृत्तिरुच्चारणाख्या, नात्मार्था, तस्मान्नित्य। संख्याभावात् [वै० सू० २।२।३८], उच्चरितप्रध्वंसित्वे शब्दस्य 'द्विरयमान्नात.' इति विनष्टत्वात् [4]संख्याभ्यावृत्तिर्न भवेत्, अस्ति च, तस्मान्नित्य। प्रथमाशब्दात् [वै० सू० २।२।३९], प्रथमाशब्दादिति 'त्रि प्रथमामन्वाह' इति वाक्यम्, उच्चरितविनाशित्वे शब्द[स्य] प्रथमाया ऋचोऽभ्यावृत्तिगणनं[5] न स्यात्, अस्ति च, तस्मान्नित्य। सम्प्रतिपत्तिभावाच्च[6] [वै० सू० २।२।४०], विनाशित्वे शब्दस्य '[स] एवायं गोशब्द.' इति सम्प्रतिपत्ति प्रत्यभिज्ञा न स्यात्, तस्मान्नित्य। नैतत् सारम्, सन्दिग्धाः सति बहुत्वे [वै० सू० २।२।४१], प्रदीपादावद्विप्रवृत्तत्व दृष्टम्, द्विर्विद्युन्नि सृतेति संख्याभाव, सम्प्रतिपत्तिर्ज्वालादौ। तस्मादनित्येष्वपि भावाद् बहवोऽप्यमी हेतव. संशयिता। तस्मादनित्य। [7]संख्याभावः सामान्यतः [वै० सू० २।२।४२], प्रथमाशब्द सम्प्रतिपत्तिभावश्चेति सादृश्यादेते द्रष्टव्या। इति द्वितीयोऽध्याय।"— वै० सू० चन्द्रा० P पृ० १०–१५। दृश्यता टिपृ० ८ पं० २२।

---

1 अत्र सू० पाठानुसारेण 'अचाक्षुषत्वान्न ।२।२।२७। प्रत्यक्षस्य गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभि साधर्म्यम् २।२।२८।' इति सूत्रद्वयमभिमतम्। वृसू०पाठानुसारेण तु अचाक्षुषत्वाच्च न कर्म २।२।२७। गुणस्य सतोऽपवर्ग कर्मभिः साधर्म्यम् ।२।२।२८।' इति पाठोऽभिप्रेत। नयचक्रवृत्तौ तु [पृ० ८७ पं० १४ पृ० ५५ पं० ११ इत्यत्र] 'अचाक्षुषप्रत्यक्षस्य गुणस्य सतोऽपवर्ग कर्मभि साधर्म्यम्' इति पाठ दृष्ट इति ध्येयम्। 2 °च्छब्दाच्च निष्पत्ते –वृसू०। 3 एका निवृत्ति –वृ०। (एका आत्मनि वृत्ति ?)। 4 संख्याभ्यावृत्तिर्न–वृ०। 5 (°वृत्तिर्गणन ?)। 6 सम्प्रतिपत्तिभावाच्च। द्वितीयोऽध्याय।–सू०। 7 सूत्रमिदं नास्ति सू०।

पृ० १७ पं० ८ पृथिवीव्रीहिकणोदना । अत्र सर्वासु हस्तलिखितप्रतिषु 'पृथिवीव्रीहिनरौदनादिवत्' इति पाठ उपलभ्यते। (व्रीहिनालौदना ? °व्रीहितुषौदना ? व्रीहाङ्कुरौदना ? व्रीहितण्डुलौदना ?) इत्यादयः सम्भवन्तः पाठा अपि अत्र चिन्त्याः।

पृ० १७ पं० ९ धर्माधर्मा । दृश्यतां टिपृ० ४ पं० १७।

पृ० १७ पं० १२ आदानीयास्त्रयो । "गर्भाधानादि ये मासास्त्र च मासा अवधारिणः। विपाचनत्रयश्चापि त्रयः कालाभिवर्षणा ॥ १२।७ ॥'—भद्रबाहुसं०।

पृ० १७ पं० १४ इदान्या पूर्व उत्तर । अत्र 'आदानीया पूर्व उत्तर' इति पाठश्चेत् सम्भवेत् तदा समीचीनम्। "आदानाच्चैव पाताच्च पत(च)नाच्च निमन्त्रनात्। मारुत मरुगमाणा वश्यासायकः स्मृत ॥ ७३ ॥ पूर्वो वातः स्मृत श्रेष्ठ तथा चाप्युत्तरो भवत्। उत्तमस्तु तथैशानो मध्यमस्त्वपरोत्तर ॥ ७२८ ॥ पूर्वामुदीचीमैशानीं ये गर्भा स्नामाश्रिता। त सस्यवन्तश्चोपान्याते गर्भास्तु सुपूजिताः ॥ १२।१९ ॥ मारुतप्रभवा गर्भा धूर्वेन्ते मारुतेन च। वातो वर्षं तु गर्भाश्च करोत्यपकरोति च ॥ १२।२२ ॥"—भद्रबाहुसं ।

पृ० १७ पं० १५ धूमज्योति । तुलना—"धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपात क्व मेघः ॥ ५ ॥" इति मेघदूते।

पृ० १७ पं० १६ देववैक्रियादेरपि। (देवविक्रियादेरपि ?)।

पृ० १७ पं० २२ गुण । गुणपर्यायवद् द्रव्यम्। ।३७। गुणान् लक्षणतो वक्ष्यामः। भावान्तरं संज्ञान्तरं च पर्यायः। तदुभयं यत्र विद्यते तद् द्रव्यम्। गुणपर्याया अस्य सन्ति अस्मिन् वा सन्तीति गुणपर्यायवत्। —तत्त्वार्थभा० ५।३७।

पृ० १७ पं० २३ क्षेत्रकालौ । दृश्यतां टिपृ० २० पं० ४।

पृ० १८ पं० ३ अत एतानि । दृश्यतां पृ० २७ पं० ८–१०।

पृ० १८ पं० ८ आर्गीतेनाह। दृश्यतां पृ० ३१४ पं० १ टि० २, पृ० ३१३ टि० ७।

पृ० १८ पं० १६ साङ्ख्यादिषु सादृश्या । अत्र साङ्ख्यानामिष्टसादृश्या इति मा० मतानुसारी शोभनः पाठः। सादृश्यं साङ्ख्यानाम्, अन्यापोहो बौद्धानाम्, तत्त्वं वैशेषिकाणां मतं इति ध्येयम्।

पृ० १८ पं० २२ यद् भवन्ति। "सिद्धं तु, यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलौ। यद्वा सर्वे भावाः स्वेन भावेन भवन्ति स तेषां भावः, तदभिधाने।' इति पाणिनीयव्याकरणवार्तिके ५।१।११९।

पृ० १९ पं० ७, ९, ११ विदिष्यते। अत्र सर्वत्र 'विशेष्यते' इति शुद्धः पाठः।

पृ० २१ पं० २२ सामयिक । वैशेषिकसूत्रे सप्तमाध्याये द्वितीयाह्निके २४ तमं[1] सूत्रमिदम्। दृश्यतां टिपृ० ८ पं० २२। तुलना—"शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः ।२।१।५४। शब्दादर्थे सम्प्रत्ययस्य व्यवस्थादर्शनादनुमीयते शब्दार्थ

१ मुद्रितभद्रबाहुसंहितायां अतीवाशुद्धत्वाद् गर्भाधानाख्यया मासाख्यया मासाश्च धारिण । विपाचनाख्ययश्चापि त्रय कालाभिवर्षणा ॥ इत्यपि पाठः स्यादिति सम्भाव्यते। २ (धानाच्च ?)। ३ 'भ्रियते' इति पाठान्तरम्। (भ्रियन्ते ?)। ४ व्यवहारनयसमाश्रयणेन तु गुणाः पर्याया इति वा भेदेन व्यवहारः प्रवचने युगपदवस्थायिनो गुणाः रूपादयः अयुगपदवस्थायिनः पर्यायाः। वस्तुतः पर्याया गुणा इत्यैकात्म्यम्। —तत्त्वार्थभाष्यसिद्धसेनवृ० ५।३७। दृश्यतां तत्त्वार्थराजवा० ५।३७। सन्मति० ३।८–१५। ५ "परिमाणमिदानीं वक्ष्याम —अणोर्महतश्चोपलब्ध्यनुपलब्धी नित्ये व्याख्याते [वै० सू० ७।१।१५[2]] नित्ये इत्यध्यायनाम यदुपलभ्यते तत्रावश्यं महत्त्वम् अणुत्वं तु परमाणुद्व्यणुकमनसा[म]नुपलब्धिः' एव नित्याख्येऽध्याये उपलब्ध्यनुपलब्ध्योः कारणं महत्त्वाणुत्वे कथिते भवतः, उपलब्धौ महत्त्वस्य नियमात्। त्र्यणुकस्य महत्त्वेऽप्यनुपलब्धिः, कारणबहुत्वात् कारणमहत्त्वात् प्रचयविशेषाच्च महत् [वै० सू० ७।१।१६] त्र्यणुके तत्कारणद्व्यणुकगता बहुत्वसंख्या महत्त्वं जनयति कारणानाममहत्त्वात्। द्व्यणुके कारणागतमहत्त्वं महत्त्वं करोति। प्रशिथिलः संयोगः प्रचयः। द्वितूलके तूलपिण्डयोर्वर्तमानः प्रचयः स्वाधारावयवप्रशिथिलसंयोगापेक्षो महत्त्वमारभते। तद्विपरीतमणु [वै० सू० ७।१।१७]

1 इत पूर्व चन्द्रानन्दविरचितवृत्तिसहिते मुद्रिते सूत्राणि पृ० ४५२ टि० ८ इत्यत्र निर्दिष्टानि। 2 अणुत्वेन तत्कारण°—पृ०।

सम्बन्धो व्यवस्थाकारणम् । असम्बन्धे हि शब्दमात्रादर्थमात्रे प्रत्ययप्रसङ्ग. । तस्मादप्रतिषेध सम्बन्धस्येति । अत्र समाधि'—न, **सामयिकत्वाच्छब्दादर्थे प्रत्ययस्य** ।२।१।५५। न सम्बन्धकारितं शब्दार्थव्यवस्थानम् । किं तर्हि ? समयकारितम् । यत् तदवोचाम 'अस्येदम्' इति षष्ठीविशिष्टस्य वाक्यस्यार्थविशेषोऽनुज्ञात शब्दार्थसम्बन्ध इति समय तमवोचाम इति । कः पुनरयं समय ? अस्य शब्दस्येदमर्थजातमभिधेयमिति अभिधानाभिधेयनियमनियोग । तस्मिन्नुपयुक्ते शब्दादर्थे प्रत्ययो भवतीति । विपर्यये हि शब्दश्रवणेऽपि प्रत्ययाभाव. । सम्बन्धवादिनोऽपि चायमवर्जनीय इति—न्यायभा० ।

एतस्मात् त्रिकारणाद् महतो यद विपरीत द्व्यणुकपरिमाण तदणु प्रत्येतव्यम् । **अणु महदिति तस्मिन्** [1]**विशेषभावाद् विशेषाभावाच्च** [वै० सू० ७।१।१८], तस्मिन् महति वस्तुनि कुवलादावामलकापेक्षया अणुव्यवहार , आमलके तु विल्वापेक्षया। एव प्रकर्षस्य भावाभावाभ्या[2]मेकस्मिन्नेव अणुमहद्व्यवहारो भाक्त । कुत ? **एककालत्वात्** [वै० सू० ७।१।१९], यत एकस्मिन्नेव वस्तुनि अन्यापेक्षया द्वौ पुरुषावणुमहद्व्यवहार विरुद्ध कुर्वाते अतो जानीमहे 'भाक्तोऽयम्' इति । तत्रापेक्षिकाणुवस्तुनि **दृष्टान्ताच्च** [वै० सू० ७।१।२०], यथा शुक्लतन्तुजनिते कार्ये शुक्लैव, न कृष्णता, एवमतो दृष्टान्ताद् महद्भिरारब्धे महत्त्वमेव, नाणुत्वम् । [P पृ० २६B] **अणुत्वमहत्त्वयोरणुत्वमहत्त्वाभावः कर्मगुणैर्व्याख्यातः** [वै० सू० ७।१।२१], यथा गुणकर्माणि निर्गुणानि कार्यस्य रूपादेरवयवगुणैरेकार्थसमवायाभावात् एवं कारणवहुत्वादिभिरेकार्थसमवायाभावादणुत्वमहत्त्वयोस्तदभाव । **अणुत्वमहत्त्वाभ्यां कर्मगुणा अगुणाः** [वै० सू० ७।१।२२], कारणवहुत्वादिभिरेकार्थसमवायाभावादणुत्वमहत्त्वे यथा अणुत्वमहत्त्वशून्ये एवं कर्मगुणा अणुत्वमहत्त्वशून्या । **एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते** [वै० सू० ७।१।२३], उपलब्ध्यनुपलब्धी महत्त्वाणुत्ववत्, कारणमहत्त्वादिभ्यश्च जायते दीर्घत्वम्, विपरीत ह्रस्वत्वम् । त[3]स्मिन् विशेषभावादित्वौ(त्यौ ?)पचारिकत्वम् । तथैव तयोर्दीर्घत्वह्रस्वत्वाभाव इत्या[त्य?]तिदेश । **कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणाः** [वै० सू० ७।१।२४], यथा कारणवहुत्वाद्येकार्थसमवायाभावादणुत्वमहत्त्वशून्या एव दीर्घत्वह्रस्वत्वशून्या एते कर्मगुणा । [ए?]-**तद**[4]**नित्येऽनित्यम्** [वै० सू० ७।१।२५] एतच्चतुर्विधं परि[5]माणमनित्ये वर्तमानत्वादनित्यम् ।[6] **तदभावादणु मनः** [वै० सू० ७।१।३०], विभवस्याभावाद् मनसोऽणुत्व ज्ञानायौगपद्याच्च । **गुणै**[7]**र्दिग् व्याख्याता** [वै० सू० ७।१।३१], यत्र यत्रावधिं करोति तत्र तत्र 'इदमस्मात् पूर्वेण' इत्यादिव्यवहारो मूर्तेषु प्रवर्तते, अतो मूर्तसयोगाख्यैर्गुणैर्दिग् व्याख्याता महत्त्ववती । तथा [P पृ०२७A] **कारणेन**[8] **कालः** [वै० सू० ७।१।३२] इति, येन[9] कारणेन परापरव्यतिकरादिना कालोऽनुमीयते तस्य सर्वत्र भावात् तेनैव कारणेन कालो विभुर्व्याख्यात । सप्तमस्याद्यमाह्निकम् ।

[10]**रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकादर्थान्तरमेकत्वम् । तयोर्नित्यत्वानित्यत्वे तेजसो रूपस्पर्शाभ्यां व्याख्याते । निष्प**[11]**त्तिश्च । ए**[12]**कत्वपृथक्त्वयोरेकत्वपृथक्त्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः** [वै० सू० ७।२।१–४], एकत्वैकपृथक्त्वयोरवयवगुणैकार्थसमवायाभावाद् नैकत्वपृथक्त्वे स्त इत्यर्थ । **कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणाः** [वै० सू० ७।२।५], तथैवावयवगुणैकार्थसमवायाभावात् कर्मगुणा नैकत्वपृथक्त्ववन्त । ननु सर्वेषामेव पदार्थानामेकत्वं सदविशेषात्, **निःसंख्यत्वात् कर्मगुणानां सर्वैकत्वं न विद्यते** [वै० सू० ७।२।६], कर्मणा गुणाना च [P पृ०२७B] सख्यारहितत्वात् सर्वैकत्वं नास्ति । भाक्तमेकत्वं गुणादिष्विति चेत्, **ए**[13]**कत्वस्याभावाद् भाक्तं न विद्यते** [वै० सू० ७।२।७], मुख्यस्य एकत्वस्याभावाद् गुणादिषु भाक्तमित्यत एतीप्रसगात् (भाक्तमिति न, अतिप्रसङ्गात् ?) । ननु कार्यकारणयोरेकत्वं प्राप्त द्र[14]व्ये सख्यानिर्विशेषात् एकत्वभावादेव पृथग्भाव स्यात्, नैतत्, **कार्यकारणैक**[15]**त्वपृथक्त्वाभावादेकत्वपृथक्त्वे न विद्येते** [वै० सू० ७।२।८], द्वित्वात् कार्यकारणयोर्नैकत्व कार्यस्य कारणव्यतिरिक्ताश्रयाभावाद् नापि पृथक्त्वम् । [16]**एतदनित्ययोर्व्याख्यातम्** [वै० सू० ७।२।९], एतत् पूर्वसूत्रमनित्यविषयमपि [17]नित्येष्वप्याकाशादिषु यथासभव व्याख्यात बोद्धव्यम् । तथाहि—शब्दाकाशयो कार्यकारणयोरेकत्व [न], नापि पृथक्त्वम् । **अ**[18]**न्यतरकर्मज उभयकर्मजः संयोगजश्च संयोगः । एतेन विभागो व्याख्यातः । संयोगविभागयोः संयोगविभागाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां**

---

1 विशेषाभावाच्च–सू० । विशेषाभावाद् विशेषाभावाच्च–सू० । 2 °भ्यामेतस्मिन्नेव–वृ० । 3 वै० सू०७।१।१८। 4 तदनित्येऽनित्यम्- सू० । अनित्ये–वृसू० । 5 परिमाण नित्ये निवर्तमानत्वादनित्यम्–वृ० । 6 इत पर चन्द्रानन्दीयवृत्तिसहितानि चत्वारि सूत्राणि पृ० ४४६ टि० १ इत्यत्र द्रष्टव्यानि । 7 गुणैर्व्याख्याता –सू० । 8 कारणेन काल ॥ सप्तमस्य प्रथममाह्निकम्–सू० । 9 येन कालेन परापर°–वृ० । 10 एतत्सूत्रत्रयस्य चन्द्रानन्दविरचिता वृत्ति पृ० ४५३ टि० ४ इत्यत्रावलोकनीया । 11 निवृत्तिश्च–वृ०। 12 सूत्रमिद नास्ति वृसू० । (एकत्वैकपृथक्त्वयो° ?)। 13 एकस्याभावाद्–सू० । 14 द्रव्ये–वृ० । 15 °कत्वापृथ°–वृसू० । 16 तदनि° –वृसू० । 17 नित्येष्वत्याकाशादिषु–वृ० । 18 एतत्सूत्रपञ्चकस्य चन्द्रानन्दकृता वृत्ति पृ० ५१६ टि० ४ इत्यत्र द्रष्टव्या ।

पृ० २१ प० १३ वृद्धव्यवहार । अत्र वृद्धव्यवहारो न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका[२।१।५५]प्रभृतिभ्योऽवसेयः।

पृ० २१ प० १६ सङ्केतस्य । दृश्यतां टिपृ० ८ प० २२। दृश्यतां टिपृ० १८ प० ८।

पृ० २१ प० २२–२४ न हि तदेव नित्य । 'किं पुनराकृतिः पदार्थ आहोस्विद् द्रव्यम्? उभयमित्याह। किं पुनर्नित्यः शब्द आहोस्वित् कार्य? सङ्ग्रहे एतत् प्राधान्येन परीक्षितं नित्यो वा स्यात् कार्यो वेति। तत्रोक्ता दोषाः प्रयोजनान्यपि उक्तानि। तत्र त्वेष निर्णयो यद्येव नित्योऽथापि कार्य उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यमिति। कथं पुनरिह भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्? सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे। सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति। अथ सिद्धशब्दस्य कः पदार्थः? नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः। माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते। मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि च भवन्ति आयुष्मत्पुरुषकाणि चाध्येतारश्च सिद्धार्था यथा स्युरिति। अथ कं पुनः पदार्थं मत्वैष विग्रहः क्रियते सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति? आकृतिमित्याह। कुत एतत्? आकृतिर्हि नित्या द्रव्यमनित्यम्। ननु चोक्तमाकृतिरनित्येति। नैतदस्ति। नित्या आकृतिः। कथम्? न क्वचिदुपरतेति कृत्वा सर्वत्रोपरता भवति द्रव्यान्तरस्था तूपलभ्यते। अथवा नेदमेव नित्यलक्षणम्–ध्रुवं कूटस्थमविचाल्यनपायोपजनविकार्यनुत्पत्त्यवृद्ध्यव्यययोगि यत् तद् नित्यमिति। तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते। किं पुनस्तत्त्वम्? तद्भावस्तत्त्वम्। आकृतावपि तत्त्वं न विहन्यते।' इति पातञ्जले महाभाष्ये पाठः।

पृ० २१ प० २४ प्रतिपादनप्रत्याख्याना° । दृश्यतां पृ० २४३ प० ११।

पृ० २२ प० ६ तथा विशेषोऽपि दनात्मत्व [पृ० २३ प० ७]। दृश्यतां पृ० ३२ प० १२–१६।

व्याख्यातः। कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणाः। युतसिद्ध्यभावात् कार्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते [वै० सू० ७।२।१०–१४]। [P पृ० २८ A] शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध इति चेत्, न गुणत्वात् [वै० सू० ७।२।१५], आकाशस्य गुणत्वाच्छब्दो नार्थेन सम्बध्यते। गुणे च भाष्यते [वै० सू० ७।२।१६] गुणे च रूपं रस इत्यादिषु प्रयुज्यते क्रियायां च न च गुणकर्मणां गुणैः सम्बन्धः। निष्क्रियत्वात् [वै० सू० ७।२।१७] अर्थसंयोगे सति शब्दोऽर्थं प्राप्नुयात्, निष्क्रियत्वाच्च गुणस्य गमनाभावः। असति नास्तीति च प्रयोगात् [वै० सू० ७।२।१८] अर्थसंयोगे सति शब्दः असति अभावे नास्तीति न प्रयुज्येत। न ह्यसता संयोगः। तस्मात् संयोगस्याभावात् शब्दार्थावसम्बद्धौ [वै० सू० ७।२।१९]। ननु च संयोगिनो दण्डात् समवायिनो विषाणाच्च [वै० सू० ७।२।२०] संयोगिसमवायिभ्यां दण्डविषाणाभ्यां दण्डिविषाणिनोः प्रत्ययो दृष्टः। अस्ति च शब्दा[द]र्थप्रत्ययः तस्मादस्यापि सम्बन्धोऽस्तीति। नैतत्, दृष्टत्वाद् हेतुः प्रत्ययः [वै० सू० ७।२।२१] दण्डिविषाणिनोर्दृष्टत्वाददोषः इह तु शब्दार्थयोः सम्बन्धस्याक्षेन न्यायेनादृष्टत्वाद् हेतुरर्थप्रत्ययः सम्बन्धे तथा प्रत्ययाभावः [वै० सू० ७।२।२२] यदि शब्दोऽर्थेन सम्बद्धः स्यात् अगृहीतसङ्केतोऽपि ततोऽर्थं प्रतिपद्येत। तस्मादसम्बद्धौ। सम्बन्धसम्बन्धादिति चेत् सन्देहः [वै० सू० ७।२।२३] ननु शब्देनाकाशं सम्बद्धम् आकाशेन चार्थः एवं सम्बन्धसम्बन्धादर्थेन सम्बन्ध इति। नैतत्, सर्वार्थानामाकाशेन सम्बन्धात् कस्मिन्नर्थे शब्दः प्रयुक्त इति सन्देहादप्रतिपत्तिः स्यात्। अतो न सम्बन्धः। तस्मात् [P पृ० २८ B] सामयिकः शब्दादर्थप्रत्ययः [वै० सू० ७।२।२४] तस्मात् सङ्केतनिमित्त[ः] शब्दा[द]र्थप्रत्ययो न सम्बन्धात्। एकदिक्कालाभ्यां सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां परमपरम्। कारणपरत्वात् कारणापरत्वाच्च [वै० सू० ७।२।२५–२६]। परत्वापरत्वयोः परत्वापरत्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः [वै० सू० ७।२।२७] परापरदिक्कालप्रदेशसंयोगाः परत्वापरत्वयोः कारणम्। अनयोश्च युतसिद्ध्यभावेन संयोगाभावात् परत्वापरत्वाभावः। कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणाः [वै० सू० ७।२।२८] यथा कर्मगुणा अणुत्वमहत्त्वशून्या एवं कर्मगुणाः युतसिद्ध्यभावेन दिक्कालप्रदेशसंयोगाभावात् परत्वापरत्वशून्याः। इहेति यतः कार्यकारणयोः स समवायः [वै० सू० ७।२।२९]। द्रव्यत्वगुणत्वप्रतिषेधो भावेन व्याख्यातः। तत्त्वं च [वै० सू० ७।२।३० –३१] इति चन्द्रानन्दविरचितायां वैशेषिकसूत्रवृत्तौ P पृ० २५–२९।

---

1 असति नास्ति प्रयोग —वृसू०। 2 एकदिक्काभ्यां सन्नि —वृसू०। अस्य सूत्रद्वयस्य चन्द्रानन्दविरचिता वृत्तिः पृ० ५८२ टि० १ इत्यत्र द्रष्टव्या। 3 अस्य सूत्रस्य चन्द्रानन्दीया वृत्तिः पृ० ४४५ टि० १४ इत्यत्र द्रष्टव्या। 4 एतत्सूत्रद्वयस्य चन्द्रानन्दीया वृत्तिः पृ० ५२६ टि० १ इत्यत्र द्रष्टव्या। 5 तत्त्वं च। सप्तमेऽध्याये —सू०।

पृ० २२ पं० १४. सद्भावासद्भाव……। सद्भावासद्भावस्थापनास्वरूपज्ञानार्थं दृश्यताम् अनुयोगद्वारसू० १० । "सब्भावमसब्भावे ठवणा पुण इदक्केउमाईया । इत्तरमणित्तरा वा ठवणा नामं तु आवकहं ॥ १३ ॥"—बृहत्कल्पभा० । "जं पुण तयत्थसुन्नं तयभिप्पाएण तारिसागारं । कीरइ व निरागारं इत्तरमियरं व सा ठवणा ॥ २६ ॥"—विशेषाव० भा० । "तत्थ आगारवंतए वत्थुम्मि सब्भावट्ठवणा, तव्विवरीया असब्भावट्ठवणा"—धवलाटी० पृ० २० । "वस्तुन कृतसंज्ञस्य प्रतिष्ठा स्थापना मता । सद्भावेतरभेदेन द्विधा तत्त्वाधिरोपत ॥ स्थाप्यत इति स्थापना प्रतिकृति. । सा चाहितनामकस्य इन्द्रादेर्वास्तवस्य तत्त्वाध्यारोपात् प्रतिष्ठा 'सोऽयम्' इत्यभिसम्बन्धेनान्यस्य व्यवस्थापना स्थापनामात्रं स्थापनेति वचनात् । तत्राध्यारोप्यमाणेन भावेन्द्रादिना समाना प्रतिमा सद्भावस्थापना, मुख्यदर्शिन स्वय तस्यास्तद्बुद्धिसम्भवात् कथञ्चित् सादृश्यसद्भावात् । मुख्याकारशून्या वस्तुमात्रा पुनरसद्भावस्थापना परोपदेशादेव तत्र सोऽयमिति सम्प्रत्ययात् ।"—तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० १११ । दृश्यतां न्यायकुमु० पृ० ७९९, ८०५ ।

पृ० २२ पं० १६ °मात्रोक्ति° । अत्र °मात्रे उक्ति° इति शोभनः पाठ ।

पृ० २३ पं० ५. अत्र मूले 'रूपादिरूपेण' इति परिहर्तुं शक्यम् ।

पृ० २३ पं० ७. आत्मा न, अन्यत्वाद् । अत्र आत्मनोऽन्यत्वाद् इति य० प्रत्यनुसारिपाठस्वीकारे तु 'आत्मनः' इति पञ्चम्यन्तं पदं बोध्यम् । 'आत्मनोऽन्यत्वाद् विशेषस्य ·· ··कस्तदात्मा ?' इत्यन्वयो ज्ञेय ।

पृ० २३ पं० १२. सविशेषः । अत्र 'स विशेष.' इति पृथगपि भवेत् । तथा तु 'स आत्मा विशेष.' इत्यर्थो ज्ञेय. ।

पृ० २४ पं० १, ७. परा । दृश्यता पृ० २६ पं० २१ ।

पृ० २४ पं० २, १६. अथ वा…… । अत्र 'अथ पार्थिवत्वादपेक्षा' इति साधु प्रतीयते ।

पृ० २४ पं० २५. अपेक्षाभावात् । अपेक्षाया अभावादित्यर्थः ।

पृ० २४ पं० २६. क्रियागुण···। दृश्यतां पृ० ४८९ टि० ६ ।

पृ० २५ प० १६, १९. द्रव्यत्वं···। अन्यत्रा · । दृश्यता पृ० ४४६ टि० २ । दृश्यतां टिपृ० ८ प० २२ ।

पृ० २५ पं० १८. एकाकाशदेशातीतप्राप्तेषु । "तुल्लागइगुणकिरिएगदेसतीयागएऽणुदव्वम्मि । अन्नत्तबुद्धिकारणमंतविसेसोत्ति से बुद्धी ॥ २१९२ ॥"—विशेषाव० भा० । अस्या व्याख्यानं कोट्याचार्यादिरचितवृत्तिभ्योऽवसेयम् ।

पृ० २५ पं० २०. सदिति यतो·· । दृश्यतां टिपृ० ९ पं० ८–१० ।

पृ० २६ पं० १०–११ क्षेत्रतो ··। 'क्षेत्रतोऽप्यूर्ध्वभागस्थितमेकमपरमधोभागस्थितम्' इति भा०प्रत्यनुसारी पाठः समञ्जस. ।

पृ० २६ पं० १७ त्याज्या । अन्त्यविशेषखण्डनं तत्त्वसंग्रह-सन्मतिवृत्ति-प्रमेयकमलमार्तण्ड-न्यायकुमुदचन्द्र-स्याद्वादरत्नाकरादिषु विस्तरेणावलोकनीयम् ।

पृ० २८ प० १. उपात्तत्यागो·· । दृश्यतां पृ० २९ पं० १२ ।

पृ० २९ पं० ५-६. द्रव्यगुण · । दृश्यतां पृ० ३१ पं० १२ ।

पृ० २९ पं० १४. प्रागुक्त···। दृश्यतां पृ० २७ पं० २ ।

पृ० ३० पं० १० सदनित्यं···। दृश्यतां पृ० ४५८ टि० ८, टिपृ० ८ पं० २२ ।

पृ० ३० पं० १२. द्रव्याणि……। कर्म··· · । वैशेषिकसूत्रे प्रथमाध्याये प्रथमाह्निके यथाक्रमं नैवमं दशमं चेदं सूत्रद्वयम् । दृश्यतां टिपृ० ८ पं० २२ ।

---

१ अस्य चन्द्रानन्दकृता वृत्ति पृ० ४३७ टि० ५ इत्यत्र द्रष्टव्या । २ "कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते [वै० सू० १।१।१०], न कर्मणा कर्म जन्यते कर्मणामुपरमदर्शनात्, कर्मारम्भे हि कर्मणा निष्कर्मणो द्रव्यस्यानुपलम्भात् । एवं कानिचिद् द्रव्याण्यारम्भकानि, कानिचिन्नैव । गुणा केचित् कारणम्, केचिन्नैव । कर्माणि नैव कर्मकारणमित्येतद् वैधर्म्यम् ।" इति चन्द्रानन्दविरचिताया वैशेषिकसूत्रवृत्तौ P पृ० ७ B ।

पृ० ३० पं० १३–१५ क्रियावद् । दृश्यतां पृ० ४४० टि० ५, टिपृ० ८ पं० २२।

पृ० ३० पं० १६ कार्याविरोधि द्रव्यं कारणाविरोधि च कर्म। इमानि त्रीण्यपि वैशेषिकदर्शनसूत्राणि, दृश्यतां पृ० ४४० टि० ६, टिपृ० ८ पं० २२।

पृ० ३० पं० २० सदिति । दृश्यतां टिपृ० ९ पं० ८–१०।

पृ० ३१ पं० १५. अण्वोरेव। दृश्यतां० पृ० ३१ पं० १३।

पृ० ३१ पं० ८–९ पार्थिव । 'पार्थिव' शब्देन तुल्यजातित्वं द्योतयति 'शुक्ल' शब्देन तुल्यगुणत्वं 'गति समवायिनोः' इत्यनेन तुल्यक्रियात्वं चेति ध्येयम्।

पृ० ३१ पं० १७ अथ इति । दृश्यतां पृ० ४८० टि० १, टिपृ० ८ पं० २२।

पृ० ३१ पं० १८ क्रियावत्। दृश्यतां पृ० ४४० टि० ५, टिपृ० ८ पं० २२।

पृ० ३१ पं० १८–२० रूपरस । दृश्यतां टिपृ० १७ पं० १३।

पृ० ३१ पं० २१ द्रव्याश्रय्यादि । दृश्यतां पृ० ४४० टि० ५, टिपृ० ८ पं० २२। श्रोत्रग्रहणो । दृश्यतां टिपृ० १९ पं० ३८।

पृ० ३२ पं० २, २२ अन्तरङ्ग । दृश्यतां पृ० ३४ पं० ४, पृ० ३५ पं० ६–७।

पृ० ३२ पं० २ न हि तस्य इतरेतराश्रयदोषापादनात् [पृ० ३४ पं० १]। दृश्यतां पृ० ३४ पं० १२–१४।

पृ० ३२ पं० ४ गुणसमुदायद्रव्यवादिभिश्च। साङ्ख्यैरित्यर्थः। दृश्यतां टिपृ० १६ पं० ३५।

पृ० ३२ पं० ६ प्रक्लपते। अत्र प्रक्लृप्येते इति पठितव्यम्।

पृ० ३३ पं० १३ तदेव वस्तु। दृश्यतां पृ० ३४ पं० ४।

पृ० ३४ पं० २ एवम् । 'एवम् इत्यादि प्रथमान्तम् अन्तरङ्गम्' [पृ० ३२ पं० २] इत्यादिना सम्बन्धनीयम्।

पृ० ३४ पं० ४ यदि कार्यम्। अत्र 'यदि कार्यम् यदि सामान्यम् यदि विशेष।' इति पाठोऽवगन्तव्यः, दृश्यतां पृ० ३३३ पं० ११।

पृ० ३४ पं० ६ व्यावृत्तेश्च पटादे । अत्र 'पटादे' इति पञ्चम्यन्तं पदं ज्ञातव्यम्।

पृ० ३४ पं० ९,२८ न प्रक्लृप्यन्ते। "न प्रक्लृप्यन्ते न सिध्यन्तीत्यर्थः। कर्णधाररहितं नौकाद्वयं मिथः सम्बद्धं परस्परं परतीरप्रापणे समर्थं न भवतीत्यर्थः।"–पा० म० भा० राजलक्ष्मी पृ० १७४।

पृ० ३४ पं० २० अस्तिभवति । वचनमिदम् आचार्यसिद्धसेनस्य, दृश्यतां पृ० ३२४ पं० २८।

पृ० ३५ पं० २,२३ णियययवयणिज्जसच्चा । "उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वे वस्तुनः स्थिते तद् वस्तु तत्तदपेक्षया कार्यमकार्यं च कारणमकारणं च, कारणे कार्यं सच्चासच्च, कारणं कार्यकाले विनाशवदविनाशवच्च, तथैव प्रतीतेरन्यथा चाप्रतीतेः। अत एकान्तरूपस्य वस्तुनोऽभावात् सर्वेऽपि नयाः स्वविषयपरिच्छेदसमर्था अपि इतरनयविषयव्यवच्छेदेन स्वविषये वर्तमाना मिथ्यात्वं प्रतिपद्यन्त इत्युपसंहरन्नाह–णियययवयणिज्जसच्चा सव्वनया परवियालणे मोहा। ते उण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा ॥ १। २८ ॥ निजकवचनीये स्वादौ परिच्छेद्ये सत्याः सम्यग्ज्ञानरूपाः सर्वे एव नयाः सङ्ग्रहादयः परविचालने परविषयोन्मूलने मोहाः मुह्यन्तीति मोहाः मिथ्याप्रत्ययाः परविषयस्यापि सत्त्वेनोन्मूलयितुमशक्यत्वात् तदभावे स्वविषयस्याप्यव्यवस्थितेः। ततश्च परविषयस्याभावे स्वविषयस्याप्यसत्त्वात् तत्प्रत्ययस्य मिथ्यात्वमेव तद्व्यतिरिक्तग्राह्यग्राहकस्य चाभावात्। तस्मात् तानेव नयान् 'पुन' शब्दस्यावधारणार्थत्वात्, न इति प्रतिषेधो विभजनक्रियायाः, दृष्टसमयः सिद्धान्तवाच्यमनेकान्तात्मकं वस्तुतत्त्वं येन पुंसा स तथा स न विभजते सत्येतरतया। स्वनयविषयमवधारयमाणोऽपि नयाः तान् न विभजते अपि त्वितरनयमप्यपेक्षमाणः स्वनयाभिप्रेतं विषयं सत्यमवधारयतीति यावत्। ग्राह्यसत्त्वासत्त्वाभ्यां ग्राहकस्यापि सत्त्वे इत्ययमभिधानम्। तच्च दृष्टानेकान्ततत्त्वस्य विभजनं 'स्यादस्त्येव द्रव्यार्थत' इत्येवंरूपम्।"–सन्मतिटी०।

पृ० ३५ पं० ११ सङ्घातभेदाभ्याम्। दृश्यतां टिपृ० ३ पं० २७–३०।

पृ० ३५ पं० १४ असिद्धेरसिद्ध्यादिशून्यतानुमयनात्। अत्र नयचक्रे द्वादशेऽरे विस्तरेण वक्ष्यमाणः शून्यवादोऽवलोकनीयः। दृश्यतां पृ० ४८८ टि० ९।

पृ० ३५ पं० १७ असदकरणा···· । अस्या सांख्यकारिकाया व्याख्या—"इह लोके सदेव सद् भवति, असतः करणं नास्ति । यदि स्यात् तदा सिकताभ्यस्तैलं कूर्मरोमभ्यः पटप्रावरणं वन्ध्यादुहितृभ्रूविलासः शशविषाणं खपुष्पं च स्यात् । न चास्ति । तस्मादनुमीयते प्रधाने प्रागुत्पत्तेर्महदादिकमस्त्येव । उपादानग्रहणात्, इह लोके यो येनार्थी स तदुपादानग्रहणं करोति तन्निमित्तमुपादत्ते, तद्यथा दध्यर्थी क्षीरस्योपादानं कुरुते, यदि चासत् कार्यं स्यात् तदा दध्यर्थी उदकस्याप्युपादानं कुर्यात्, न च कुरुते, तस्मात् प्रधाने महदादि कार्यमस्तीति । किञ्च, सर्वसम्भवाभावात् । इह लोके यद् यस्मिन् विद्यते तस्मादेव तदुत्पद्यते, यथा तिलेभ्यस्तैलं दध्नो घृतम् । यदि चासत् कार्यं कुर्यात् तदा सर्वं सर्वत्र सम्भवेत्, ततश्च तृणपांसुवालुकादिभ्यो रजतसुवर्णमणिमुक्ताप्रवालादयो जायेरन् । न च जायन्ते । तस्मात् पश्यामः सर्वसम्भवाभावादपि महदादि कार्यं प्रधाने सदेव सत्(सम्)वर्तते इति । अतश्चास्ति, शक्तस्य शक्यकरणात् । इह लोके शक्तः शिल्पी करणादिकारणोपादानकालोपायसम्पन्नः शक्यादेव शक्यं कर्म आरभते, नाशक्यमशक्यात् । तद्यथा—शक्तः कुम्भकारः शक्यादेव मृत्पिण्डात् दण्डचक्रसूत्रोदकचीवरादिभिः सम्पन्नो घटशरावोदञ्चनादीनि आरभमाणो दृष्टः, न मणिकादि, अशक्यत्वात् तावता पिण्डेन तस्य । यदि पुनः करणनियमो न स्यात् अशक्यादप्यशक्यमारभ्येत । तस्मात् सत् कार्यं स्यात्, नासत् । किञ्च, 'कारणभावाच्च कार्यं सदेव स्यात् । इह लोके यल्लक्षणं कारणं तल्लक्षणं कार्यं स्यात्, यथा कोद्रवेभ्यः कोद्रवा व्रीहिभ्यो व्रीहयः स्युः । यदि चासत् कार्यं स्यात् तदा कोद्रवेभ्यः शालीनामपि निष्पत्तिः स्यात् । न च भवति । तस्मात् कारणभावादपि पश्यामः प्रधाने महदादि कार्यमस्तीति । साधितमेवमेतैः पञ्चभिर्हेतुभिः सत् कार्यम् ।"–सांख्यका० माठरवृ० का० ९ । अत्र युक्तिदीपिका-तत्त्ववैशारद्यादयोऽन्या अपि व्याख्या अवलोकनीयाः ।

पृ० ३५ पं० १९ क्रियागुण ··। दृश्यतां पृ० ४८९ टि० ६, टिप्पृ० ८ पं० २२–२५ ।

पृ० ३५ पं० २० अभियुक्त · निष्ठत्वात् । "अन्येन अन्यथा प्रतिपादितोऽर्थे पुनरभियुक्ततरेण अन्यथा प्रतिपाद्यत इत्यनिष्ठा ।"–तत्त्वस० प० पृ० ८२५ ।

पृ० ३६ पं० १२ उक्तविधिना । दृश्यतां पृ० ३५ पं० ९–१४ ।

पृ० ३६ पं० १७. नियमाभाव · । (नियमाभावे उक्तेऽन्यतरो ?)

पृ० ३७ पं० २, १६. कार्यकारणा । अत्र 'कार्यकरणाव्यभिचाराभावात्' इति भा०प्रतिपाठोऽपि 'कार्यकरणनियमाभावात्' इत्यर्थविवक्षाया समीचीन एव भाति ।

पृ० ३७ पं० ३ कार्यसदसत्त्वानियमात्तु ··। दृश्यतां पृ० ३८ पं० १५ ।

पृ० ३७ पं० १४ बीजानां विवर्ते । "अह भंते ! सालीणं वीहीणं गोधूमाणं जवाणं जवजवाणं एएसिं णं धन्नाणं कोट्ठाउत्ताणं पल्लाउत्ताणं मंचाउत्ताणं मालाउत्ताणं ओलित्ताणं लित्ताणं लंछियाणं मुद्दियाणं पिहियाणं केवइयं कालं जोणी संचिट्ठइ? गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि संवच्छराइं । तेण परं जोणी पमिलायइ पविद्धंसइ विद्धंसइ, तेण परं बीए अबीए भवइ, तेण परं जोणीवोच्छेदे पन्नत्ते ।"–स्थानाङ्गसू० ३।१।१९५ ।

पृ० ३८ पं० २०. सर्वसर्वात्मक · । दृश्यतां पृ० ११ पं० २६ ।

पृ० ३८ पं० २२ प्रकल्प्यत । (प्रकल्प्यते?) ।

पृ० ३८ पं० २७. सेवा वा सन्निहिता, सा । अत्र 'सेवा वा सन्निहिता सा · ' इति योजनीयम् ।

पृ० ३९ पं० १, ९ देशकाला । दृश्यतां पृ० ३२० टि० ३ ।

पृ० ३९ पं० १०–११. प्रसाददानाभिमुख्या · । (प्रसाददानाभिमुख्याकारावबन्धवत्?) । द्वितीयकर्मण्यता कार्यान्तरव्यापृततेत्याशयः ।

पृ० ३९ पं० २७ प्रकरणात् । दृश्यतां पृ० १९१ पं० ३ ।

पृ० ४० पं० ३. अनभिव्यक्ति·· । दृश्यतां पृ० ४३ पं० १४ ।

पृ० ४० पं० २४. द्विविधपुरुषार्थ · । दृश्यतां टिप्पृ० १५ पं० ३६ ।

पृ० ४० पं० २७. प्रकृतिकारणत्यागेन । अत्र भा० प्रतौ 'प्रकृतिकारणित्वत्यागेन' इति पाठः । सोऽपि समीचीनो

---

१ "कारणभावाच्च सत् कार्यम् । इहासति कार्ये कारणभावो नास्ति यथा वन्ध्यायाः ।"–सांख्यका० युक्तिदीपिका ।

मानि। प्रकृतिं कारणमभिमतमस्यास्तीति प्रकृतिकारणो प्रकृतिकारणवादीत्यर्थः, तद्भावः प्रकृतिकारणित्वम्, तथा च प्रकृतिकारणवादित्वाभ्युपगमादित्यर्थः। एतस्मिंश्च पाठेऽभिरुचा मूलं [पृ० ४० प० ४] 'क्रियासामान्यरूपं। कारणान्तरस्य वा ' इत्यर्थं रमणीयम्।

पृ० ४१ प० १, ६, १० आमातर ज्ञानार्थस्य। द्रष्टव्यं टिप्पृ० १५ प० ३६।

पृ० ४१ प० २ नित्यप्रवृत्तेनैव। द्रष्टव्यं पृ० ४२ प० २०।

पृ० ४१ प० १० धर्मेणान। "अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्। सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद् विपर्यस्तम्॥ २३॥"-सांख्यका०। अस्याः सांख्यकारिकाया युक्तिदीपिका माठरवृत्ति तत्त्वकौमुद्यादिव्याख्याभ्यो धर्मादीनामष्टानां बुद्धिधर्माणां स्वरूपं विस्तरेणावगन्तव्यम्।

पृ० ४१ प० १३-१४ स्वतन्त्रत्वात् सावयवत्वात्। 'हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्। सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥१०॥ -सांख्यका०। अस्या व्याख्यानं युक्तिदीपिकादिवृत्तिभ्योऽवसेयम्।

पृ० ४१ प० १६ निर्गुणस्वभाव। "त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि। व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥११॥ -सांख्यका०। अस्य अर्थो माठरवृत्त्यादितोऽवसेयः।

पृ० ४१ प० १८ चैतन्यस्वरूपमध्यस्थ। 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्'-योगभा० १।९। "तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य। कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च॥ १९॥-सांख्यका०। अस्याः कारिकाया व्याख्यानं युक्तिदीपिकादिवृत्तिभ्योऽवसेयम्।

पृ० ४२ प० ८ दहनतपनयो। "तप १८१९ दाहे। तापयति, तपति। -सा० सिद्धान्तकौ०।

पृ० ४२ प० ९ चैतन्य। "तरूणामपि सात्मकत्वम्, आहारोपादानेन वृद्धयादिविकारोपलम्भात्, पुरुषाङ्गवत्"—स्याद्वादम० का० २९।

पृ० ४२ प० १४-१५ अश्मपुलिका। अत्र टिप्पनुसारेण अश्मपुलिका इति [अश्मचुल्लिका इति वा?] पाठः शुद्धः सम्भाव्यते, अस्याश्रयभूतं किमपि पात्रं स्यात् वा अत्राभिप्रेत भाति, कोषेषु अश्मन्तकस्य 'चुल्ली'वाचकत्वमुपलभ्यते। "अश्मन्तमुद्धानमधिश्रयणी चुल्लिरन्तिका। —अमरको० २।९।२८। 'अधान्तिका चुल्लश्मन्तकमुद्धानं स्यादधिश्रयणी च सा। —अभिधानचि० ४।८४।

पृ० ४३ प० ८-९ स्वरूपमेव। द्रष्टव्यं टिप्पृ० १५ प० ३६। श्रोत्र। द्रष्टव्यं टिप्पृ० १४ प० २४। शब्दादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः। वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम्॥ २८॥'—सांख्यका०। अस्याः कारिकाया विस्तरार्थो युक्तिदीपिकातत्त्वकौमुद्यादिवृत्तिभ्योऽवसेयः।

पृ० ४४ पं० १२ पांसुमृत्पिण्ड। 'मृत्पिण्ड शिवकस्थासक-कोश-कुसूल घट-कपाल-शकल-शर्करा-पांसु-अणु-परमाणवः क्रमशः।'—तत्त्वार्थभाष्यसिद्धसेन० ५।३१।

पृ० ४५ प० २ अर्थो हि क्रियाया। "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्। —मीमांसाद० १।२।१।

पृ० ४५ पं० ३, १६ नैव नेति। अत्र नैव चेति इति समीचीनः पाठः। द्रष्टव्यं पृ० १४० प० ११।

पृ० ४ पं० ७ पुत्रकामो यजेत। इदं सत्याषाढश्रौतसूत्रे [१०।३।४१ ८८] ताण्ड्यब्राह्मणे चोपलभ्यते। पशुकामो यजेत। एतत् सत्याषाढश्रौतसूत्र [१७।३।१] ताण्ड्यब्राह्मणे च दृश्यते। अन्नाद्यकामो यजेत। "अथ सर्वार्थत्वात् प्रकृष्टाद्[न]स्य अन्नादस्य भागोऽभ्यासम्, तत्कामस्य यजमानस्य। इति शबरभाष्यमीमांसान्यायाख्यायाम् पृ० ११४।

पृ० ४५ पं० ११ चित्रपुस्तकाष्ठ। 'कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चित्तकम्मे वा लेप्पकम्मे वा। —अनुयोगद्वारसू० १०। अस्य मलधारिहेमचन्द्रसूरिकृता व्याख्या—' क्रियत इति कर्म काष्ठे कर्म काष्ठकर्म, काष्ठनिष्टङ्कितं रूपकमित्यर्थः। चित्रकर्म चित्रलिखितं रूपकम्। पोत्थकर्म अत्र पोत्थं वस्त्रमित्यर्थः, तत्र कर्म तत्पल्लवनिष्पन्नं पोत्तलिकारूपकमित्यर्थः। अथवा पोत्थं पुस्तकम्, तच्च संपुटकरूपं गृह्यते, तत्र कर्म तन्मध्ये वर्तिकालिखितं रूपकमित्यर्थः। अथवा पोत्थं ताडपत्रादि, तत्र कर्म तच्छेदनिष्पन्नं रूपकम्। लेप्पकम्म लेप्यरूपकम्। —अनुयोगद्वा० ७। "यः काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु स्थाप्यते जीव

१ चुल्लि इति पाठान्तरम्।

इति स स्थापनाजीव.।"—तत्त्वार्थभा० १।५। अस्य सिद्धसेनगणिकृता व्याख्या—"काष्ठं दारु। पुस्तं दुहितृकादि सूत्रवीरणादिविरचितम्। चित्रं चित्रकराद्यालिखितम्। कर्मशब्दः क्रियावचन. प्रत्येकमभिसम्बध्यते 'काष्ठक्रिया' इत्यादि"—पृ० ४६। "काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना।"—तत्त्वार्थसूत्रसर्वार्थसि० १।५।

पृ० ४५ पं० १९ न चैवम्। अत्र 'न चैवम्' इति ज्याय.। दृश्यतां टिपृ० २७ पं० २९।

पृ० ४६ पं० ४–५, २७ अलोमा ·· । दृश्यतां पृ० १४० पं० १२। "सलोमा मण्डूक, चतुष्पात्त्वे सति उत्प्लुत्य गमनात्, मृगवत्। अलोमा वा हरिण·, चतुष्पात्त्वे सति उत्प्लुत्य गमनात्, मण्डूकवत्। इत्यादिवद् निर्मूलयुक्तेन साध्यसाधकत्वम्।–" उत्तराध्ययनसूत्रबृहद्वृ० २।१३।

पृ० ४६ पं० १०. नैवं चेति। अत्र नैवं चेति इति ज्यायः।

पृ० ४६ पं० १३–१४ सिद्धे · 'व्याकरणादिशास्त्रमपि। 'सिद्धे सति आरम्भो नियमार्थ·' इत्यर्थसूचकानि भूयांसि वाक्यानि पातञ्जलमहाभाष्ये उपलभ्यन्ते, यथा–"सुवर्नं पदमित्येव सिद्धम्। नियमार्थोऽयमारम्भ.।"—पा०म०भा० १।४।१५।

पृ० ४६ पं० १८–१९. सर्वं ··। साङ्ख्यमतम्। गुणकर्म ··। वैशेषिकमतम्। रथाङ्ग · । बौद्धमतम्।

पृ० ४६ पं० २२. प्रमाणानि प्रवर्तन्ते विषये ··। पृ० १२० पं० १७ इत्यत्र तु 'प्रमाणानि प्रवर्तन्ते विषयैः' इति पाठो दृश्यते। 'प्रमाणान्यनुवर्तन्ते विषये'—सिद्ध० द्वा०।

पृ० ४७ पं० ३. शास्त्रनिरूपण ··। दृश्यतां पृ० ५३ पं० १३, पृ० ५० पं० १४। न ·····। दृश्यतां पृ० ५० पं० १६।

पृ० ४७ पं० ५ आकार-गौरव ···। दृश्यतां पृ० ३२२ पं० ५।

पृ० ४७ पं० १७. मोह एव। अत्र यदि मोघ एव इति पाठ कल्प्येत तर्हि शोभन। तथा च "मोघं निरर्थकम्" इति अमरकोष[३।१।८१]वचनात्, 'तत्र शास्त्रेण निरर्थको व्यापार' इत्याशयो भाति।

पृ० ४८ पं० १३ स्थावरस्य। दृश्यतां पृ० ११ पं० २६–३१।

पृ० ४८ पं० १७ अर्थ। वैशेषिकमते द्रव्यगुणकर्मणामेव अर्थसंज्ञा। दृश्यतां पृ० ४८० टि० १।

पृ० ४८ पं० १८ रूपरस ··। दृश्यतां टिपृ० १७ पं० १३।

पृ० ४८ पं० २० °रितरत्र। अत्र °रित्यत्र इति भा० प्रतिपाठोऽपि सगच्छते।

पृ० ४९ पं० २. द्रव्यादीना ··। दृश्यतां पृ० ५६ पं० ६।

पृ० ४९ पं० ३. खपुष्पवत् ·। दृश्यतां पृ० ५१ पं० १६।

पृ० ४९ पं० ११. अगुणकर्मत्वात् खपुष्पवत्। अत्र अगुणकर्मत्वात् खपुष्पवत् इति पठितव्यम्।

पृ० ४९ पं० १९ क्रियागुण ··। दृश्यतां पृ० ४८९ टि० ६, टिपृ० ८ पं० २२।

पृ० ४९ पं० २८ अगुणकर्मत्वात् खपुष्पवत्। अत्र खपुष्पवत् इति परित्याज्यम्।

पृ० ५० पं० २० न शक्यते ····। अत्र 'वक्तुम्' इति वाक्यशेष।

पृ० ५० पं० २१. हेतुदोष ··। "हेतुस्त्रिरूप। किं पुनस्त्रैरूप्यम्? पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षे चासत्त्वमिति। कः पुन सपक्ष को वा विपक्ष इति? साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थ. सपक्ष, तद्यथा अनित्ये शब्दे साध्ये घटादिरनित्यः सपक्षः। विपक्षो यत्र साध्यं नास्ति, यद् नित्य तदकृतकं दृष्टं यथाकाशमिति। तत्र कृतकत्वं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं वा सपक्ष एवास्ति विपक्षे नास्त्येव इत्यनित्यादौ हेतु।"—न्यायप्रवे० पृ० १। विस्तरार्थिभिरस्य वृत्ति पञ्जिका न्यायबिन्द्वादयश्च ग्रन्था अवलोकनीया·।

पृ० ५१ पं० ३. धर्मपरिकल्प। "तदात्मत्वे साध्यसाधनभेदाभाव इति चेत्, न, धर्मभेदपरिकल्पनादिति वक्ष्याम।"—प्रमाणवा० स्ववृ० १। २२। अत्र च "साध्यसाधनभूतानां धर्मभेदानां परिकल्पनादारोपात्।···आरोपितो धर्मभेद। एतच्च वक्ष्यामोऽन्यापोहप्रस्तावे।" इति व्याख्यातं कर्णकगोमिना प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीकायां पृ० २३।

पृ० ५१ पं० ११ प्रत्यक्षग्राहे च। दृश्यतां पृ० ९ पं० १५।

पृ० ५२ पं० ९ आविर्भाव ··। सांख्यमते वस्तुन आविर्भावतिरोभावौ स्वीक्रियेते, न त्वत्यन्तोत्पत्तिविनाशौ। तथापि

'अभूत्वा भाव' इति आविर्भावलक्षणम्, तदेव च कृतकत्वम्। 'भूत्वा अभाव' इति तिरोभावलक्षणम्, तदेव चानित्यत्वम्। तथा च 'नित्य शब्द, कृतकत्वात्, आकाशवत्' इत्यत्र अन्यपक्षाणि सत्त्वाद्यविशेषैकान्ते न दोष इत्याशङ्कितुरभिप्राय।

पृ० ५२ प० १८ सपक्ष । दृश्यतां टिपृ० २८ प० २९।

पृ० ५३ प० १ लोकत्वापत्ते । दृश्यतां पृ० ५४ प० ८।

पृ० ५३ प० ४ अनुकम्पित । "प्रागिवात् क। अज्ञातमर्वनामाममस्य प्राक् टे। कस्य च द। अज्ञाते। कुत्सिते। मनाया कन्। अनुकम्पायाम्।" इति पाणिनीयव्याकरणे ५।३।७ –७९। एतदर्थ सिद्धान्तकौमुद्यादिव्याख्यात्यामवसेय।

पृ० ५३ प० ९. दृष्टान्तस्य । "साधनीयस्य अर्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धि परिसमाप्यते तस्य पञ्च भागा प्रति चान्य समूहमपेक्ष्यावयवा उच्यन्ते। तपु प्रमाणसमवाय। आगम प्रतिज्ञा हेतुरनुमानम् उदाहरण प्रत्यक्षम् उपमान मुपनय सर्वेषामेकार्थसमवाये सामर्थ्यप्रदर्शन निगमनमिति। सोऽय परमो न्याय।"—न्यायभा० J १।१।१।

पृ० ५३ प० १० साधम्र्य । तस्माच्च लोकत्वम्, इ। अत्र साधम्र्य तस्माच्च लोकत्व इ इति योजनीयम्।

पृ० ५३ प० ११ लौकिक । "लोकसामान्यमनतीता लौकिका, नैसर्गिकं वैनयिक बुद्ध्यतिशयमप्राप्ता। तद्विपरीता परीक्षका, तर्केण प्रमाणैरर्थं परीक्षितुमर्हन्तीति। यथा यमर्थं लौकिका बुध्यन्ते तथा परीक्षका अपि सोऽर्थो दृष्टान्त। दृष्टान्त विरोधेन हि प्रतिपक्षा प्रतिषेद्धव्या भवन्तीति, दृष्टान्तसमाधिना च स्वपक्षा स्थापनीया भवन्तीति, अवयवेषु चोदाहरणाय कल्पत इति।'—न्यायभा १।१।२५।

पृ० ५४ प० ६ पृथुकुद्या । अत्र त्रिकुद्या इत्येव शुद्ध पाठ प्र०पाठानुसारी च। केवलनाणित्ति अह० गाहा॥ ८।२७॥ ७१०॥ इयाणिं उवणगेत्ति दार। त च चोद्दसविह। नामस्थापने पूर्ववत्। दव्वलक्खणं जहा कविस्स उण्हता णिबस्स तित्तता, खण्डस्स मधुरता एवमादि। अहवा आपो द्रवा, स्थैर्यवती च पृथिवी। सारिस्सलक्खणं यथा अस्मिन् देशे घटा ऊर्ध्वग्रीवा अधस्तात् परिमण्डला विकुक्षिण तथान्येष्वपि देशेषु।'—आवश्यकचू० C J पृ० ३७४।

पृ० ५४ प० ३० अत्रापि । दृश्यता टिपृ० २९ प० १५।

पृ० ५४ पं० ११ ऊषरभू । 'ग्रीष्मे मरीचयो भौमेनोष्मणा संसृष्टा स्पन्दमाना दूरस्थस्य चक्षुषा संनिकृष्यन्ते। तत्रेन्द्रियार्थसंनिकर्षात् उदकम् इति ज्ञानमुत्पद्यते किं तत् प्रत्यक्षम्? इत्यत आह–अव्यभिचारीति।"—न्यायभा J १।१।४।

पृ० ५५ प० १० प्रागभिहित । दृश्यतां पृ० ४९ प० ९।

पृ० ५५ प० ११–१३ अचाक्षुष कार्यत्वात् कारणतो विकारात्। एतानि सर्वाण्यपि P वैशेषिकसूत्राणि। दृश्यतां टिपृ० २० प० १२–१९, पृ० ८७ प० १४–१५, टिपृ० ८ पं० २२।

पृ० ५५ पं० २२ सदसतो । 'मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च। १।३१। सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्त वत्। १।३२।'—तत्त्वार्थसू०।

पृ० ५६ प० १५ स्वार्थ । कुत्सिते। ५।३।७४। इह कुत्सितक अनुकम्पितक इति स्वार्थोक्तत्वात् तस्यार्थस्य प्रत्ययो न प्राप्नोति। नैष दोष। कुत्सितस्यानुकम्पायामनुकम्पितस्य कुत्सायाम्। अथवा–स्वार्थमभिधाय।"—पा० म० भा। शब्दस्य हि शब्दत्वजातिद्वारेण शब्द प्रकाशयन्त ततो लिङ्ग सख्यां चेति शब्दी प्रतीति क्रमत एव। तदुक्तम्—स्वार्थमभिधाय। समवेतस्य तु वचन लिङ्ग सख्या विभक्तीश्च॥—अष्टसह० का १६।

---

१ अस्य श्लोकद्वयस्य व्याख्या— स्वशब्दोऽत्र आत्मीयवचन अर्थशब्दोऽभिधेयवचन। स्वोऽर्थ स्वार्थ। स चानेकप्रकारा जातिगुणक्रियाद्रव्यलक्षणपरम्परया गौ शुक्ल पाचको राजपुरुषो चित्र इति। त स्वार्थमभिधाय तेन स्वार्थेन समवेत सम्बद्ध द्रव्यमाह शब्दो निरपेक्ष इत्यनेन चैतद् दर्शयति यथा द्रव्येऽभिधातव्ये स्वार्थोऽपेक्ष्यते न तथा स्वार्थेऽभिधातव्येऽर्थान्तर निमित्ता तरमपेक्ष्यत। द्रव्यमादेन च दृष्ट तत इति परामृश्यमेव वस्त्वभिधीयते। समवेतस्य द्रव्यस्याभिधान लिङ्ग यथा विभक्ति चाहेति सम्बन्ध। तान् विशेषयति लिङ्गसंख्यादि वचनं सत्या विभक्ति कारक कर्मादि। एतान् विशेषानभिधाय स्वार्थाभिधाय द्रव्यमात्रमपेक्षमाण शब्द प्रियमयनादिषु विभक्तान् पुन प्रवर्तते। पुन शब्द तुल्यदर्शार्थे वर्तते, विभक्त्यन्तमित्यर्थ। कुत्सिते यदा कुत्स्यते 'नाम शब्दकुत्सितत्वम्' इति तदा प्रत्यय।—पा० म० भा० प्रदीप ५।३।७४। अस्य पा० म० भा० प्रदीपस्य व्याख्या उद्योत विलोकनीया।

पृ० ५६ पं० १९. जातिराकारो' ।द्रष्टव्यतां टिपृ० २९ पं० २९, पृ० ४४६ टि० ११। "आकृत्यभिधानाद्वैकं विभक्तौ वाजप्यायन [पा० वा०]। यत् तर्हि भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं सामान्यभूतं स शब्दः। नेत्याह। आकृतिर्नाम सा।"—पा० म० भा० १।२।६४। "व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः।"—न्यायसू० २।२।६७। अर्थमेषां व्याख्याभ्योऽवगन्तव्यः।

पृ० ५७ पं० १, ९. 'तस्याः' इति पञ्चम्यन्तं पदम्। पञ्चमी हेतौ।

पृ० ५७ पं० ६–८ न हि पद ··शब्दार्थः। "द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि वा। अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत्॥ ३।१।१॥ वाक्यस्यैव निरंशस्य वाचकत्वादन्तरा पदप्रतिपत्तिर्विभ्रम इति किमन्यपदव्युत्पादनेन? इत्याशङ्क्य 'अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः' इत्याह। अपोद्धृत्य कल्पनाबुद्ध्या पृथक् पदं निष्कृष्य अखण्डवाक्यव्युत्पत्त्युपायः पदव्युत्पत्तिर्वाक्यवादिनाम्, अखण्डपदव्युत्पत्ताविव परिकल्पितरूपप्रकृतिप्रत्ययागमविकारादिव्युत्पत्तिः पदवादिनाम्। आनन्त्याद्धि वाक्यानां स्वालक्ष्ये(क्षण्ये?)न शक्यया व्युत्पत्तिं कर्तुमिति सञ्जपदद्वारा तदुपपत्तिरित्यर्थः। उभयोरपि चापोद्धृत[त?]-स्यासत्यत्वं समानम्। · तत्र चाभ्यासिकल्पनया अपोद्धारे कारकात्मा क्रियात्मा च प्रविभागार्ह इति सिद्धमाख्यलक्षणाद्-द्वयविषय पदापोद्धारो द्विविधो नामाख्यातरूपः। · तद्गतभेदान्तरविवक्षाया तु निपातोपसर्गयोरपि कैश्चिन् पृथक्करणम्। कर्मप्रवचनीयास्तु 'क्रियाविशेषप्रकाशना उपसर्गेष्वेव अन्तर्भवन्तीति चतुर्धैव कैश्चिन पदं भिन्नम्। साक्षात् क्रियाविशेषप्रकाशनाभावात् तदपि पञ्चमं पदमिति कैश्चित्।"—वाक्यपदीयहेलाराजवृ० ३।१।१।

पृ० ५७ प २२. लोकेन तुल्यं। "तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः तत्र तस्येव।"—पा० ५।१।११५–११६।

पृ० ५८ प० २२. तत्पूर्वकत्वा'। "अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टं च।"—न्यायसू० १।१।५।

पृ० ५८ प० २३. लोकनाद्धि'। "लोकृ दर्शने"—धा० भा० ७६।

पृ० ५९ प० २, १५, २६. घटादिकल्पनापोढं। "प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्" इति बौद्धाचार्यदिङ्नागमतं महता विस्तरेण अत्र परीक्षितं मल्लवादिना। दिङ्नागविरचिताश्च प्रमाणसमुच्चयादयो ग्रन्था सम्प्रति यद्यपि संस्कृतभाषायां नोपलभ्यन्ते तथापि भोट[Tibet]देशवासिभि भोटभाषायां विरचिताः तेषां प्राचीना अनुवादा उपलभ्यन्ते। अत एतत्सम्बन्धिनो विचारा अस्माभिर्भोटपरिशिष्टे सगृहीता इति तत्रैव द्रष्टव्यम्।

"अपरे तु मन्यन्ते 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' [प्र० समु० १।३] इति। अथ केयं कल्पना? नामजातियोजना इति। यत् किल न नाम्ना अभिधीयते न जात्यादिभिर्व्यपदिश्यते विषयस्वरूपानुविधायि[1] परिच्छेदकमात्मसंवेद्यं तत् प्रत्यक्षमिति।"—न्यायवा० १।१।४। अस्य व्याख्या—"सम्प्रति दिङ्नागस्य लक्षणमुपन्यस्यति अपर इति। दूषयितुं कल्पनास्वरूपं पृच्छति—अथ केयमिति। लक्षणवादिन उत्तरं नामेति। यदृच्छाशब्देषु हि नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते 'डित्थ' इति। जातिशब्देषु जात्या 'गौः' इति। गुणशब्देषु गुणेन 'शुक्ल' इति। क्रियाशब्देषु क्रियया 'पाचक' इति। द्रव्यशब्देषु द्रव्येण 'दण्डी, विषाणी' इति। सेयं कल्पना यत्र ज्ञाने नास्ति[3] अर्थतः स्वरूपतो वा तत् कल्पनाया अपोढं प्रत्यक्षम्। तदिदमाह—यत किल न नाम्ना अभिधीयतेऽर्थतः स्वरूपतश्च न च जात्यादिभिर्व्यपदिश्यते। अव्यभिचाराय विषयकारणत्वमाह—विषयस्वरूपानुविधायीति। प्रमाणत्वमाह—परिच्छेदकम्, व्यवस्थापकम्,। ज्ञानतामस्य दर्शयति—आत्मसंवेद्यम्, स्वसंवेदनादेव तस्य कल्पनारहितत्वमपि। यथाह—'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति' [प्रमाणवा० ३।१] इति। तत् प्रत्यक्षमिति।"—न्यायवा० तात्प० J १।१।४।

"तत्रायं न्यायमुखग्रन्थः—'यद् ज्ञानमर्थे रूपादौ विशेषणाभिधायकाभेदोपचारेण अविकल्पकं तदक्षमक्षं प्रति वर्तते इति प्रत्यक्षम्' [न्यायमु०]। विशेषणं जात्यादि, अभिधायकं नाम, तयोरभेदोपचारो जात्यादिमद्भिः सज्ञिना च।· · तथा चायमर्थो भवति—यद् ज्ञानं नामाद्यभेदोपचारेण अविकल्पकं तत् प्रत्यक्षम्। यत्तु ज्ञानं तथा विकल्पकं तत् कल्पनात्मकत्वान्न प्रत्यक्षमिति।"—तत्त्वसं० प० पृ० ३७२-३।[2]

"As regards one's understanding there are two pramānas, I mean inference and direct preception [प्रत्यक्ष and अनुमान], since the other pramānas [admitted by different schools] such as tradition [शब्द] analogy [उपमान] etc are included in these two Thus there are only two pramānas, by which we can apprehend the

---

१ °रूपभेदानुविधायि—न्यायवा० J। २ द्रष्टव्या तत्त्वसं० पं० पृ० ३६९। ३ न यत्र ज्ञानेऽस्ति—न्यायवा० ता० J.।

thing in itself [स्वलक्षण] and its generality [सामान्यलक्षण] There is no other knowable besides these two, which can be apprehended by a pramana different from those [already referred to] A karikā says

Direct preception must be devoid of every construction of thought [कल्पनापोढ] The other [knowledge] is derived from the reason already explained

The expression used here direct preception must be devoid etc means this direct preception is called that knowledge of the object itself रूप etc, which is devoid of every [determination] of class and name and which presupposes that all Vikalpas are not differentiated [from the thing itself] Moreover [each direct preception] depends upon some conditions strictly peculiar to it, as its sphere is limited to each seperate sense Therefore it is called प्रत्यक्ष Therefore a KĀRIKA says

All the DHARMAS which are existent do not possess one and a single characteristic Each sense does not function of all [the others also] The inner consciousness [संवेदन] only is inexprimible and it corresponds to the sphere of the material senses" इति दिङ्नागविरचितन्यायमुखस्य चीनभाषानुवादमवलम्ब्य Giuseppe Tucci इत्यनेन विहिते English भाषानुवादे पृ० ५०।

"आत्मप्रत्यायनार्थं तु प्रत्यक्षमनुमानं च द्वे एव प्रमाणे। तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढं यद् ज्ञानमर्थे रूपादौ नामजात्यादिकल्पनारहितं तदक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षम्।'—न्यायप्रवे० पृ० ७। अस्य न्यायप्रवेशस्य विस्तरेण व्याख्या हरिभद्रसूरिविरचितवृत्तौ पार्श्वदेवगणिविरचितपञ्जिकातश्चावगन्तव्या। "यद् ज्ञानमर्थे रूपादौ विशेषणाभिधायकाभेदोपचारद्वारेण अविकल्पकं तदसाधारणकारणत्वादक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षम्। अक्षाणि चेन्द्रियाणि केनचिद्रूपेण शक्तिरूपेण धर्मेण स्वविषयं परिच्छिन्दन्ति, न सर्वधर्मैः सर्वद्रव्यवर्तिभिर्विद्यमानैरपि। रूपान्तरकथनेन कञ्चिदेकं धर्ममव्यपदेश्यमसाधारणं कथञ्चित् कल्पनापोढत्वादविकल्पकं स्वरूपविकल्पनं स्वसंवेदनं विकल्पकं परिच्छिन्दन्ति न सर्वधर्मैः सत्त्वद्रव्यत्वादिभिः, यत उक्तम्—नैकधर्मणोऽर्थस्य नेन्द्रियात् सर्वथा गतिः। स्वसंवेद्यमनिर्देश्यं रूपमिन्द्रियगोचरः॥ [न्यायमु पृ० ३० प्रमाणसमु० १।५]। तस्माद् धर्मान्तरेण नास्त्यात्मना रूपादेरसाधारणधर्ममात्रस्य ग्राहकाणि इन्द्रियाणि।"—विशेषावभा० कोट्यार्य० पृ० ८५।

पृ० ५९ पं० ३ प्रमाणज्येष्ठ। "प्रत्यक्षं पूर्वं प्राधान्यात् सर्वप्रमाणानां प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्"—न्यायवा० १।१।३। "सम्प्रति प्रमाणविशेषलक्षणावसरे प्रत्यक्षस्य सर्वप्रमाणज्येष्ठत्वात् तदधीनत्वाच्चानुमानादीनां सर्ववादिनामविप्रतिपत्तेश्च तदेव तावल्लक्षयति"—सांख्यतत्त्वकौ० का० ।

पृ० ५९ पं० ९ व्यञ्जनकाय। दृश्यतां पृ० ४२ पं० ३।

पृ० ५९ पं० १३ एकशेष स्वरूपत्वात्। "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ"—पा० १।२।६४।

पृ० ५९ पं० १५-१६ घटसत्त्वो। अत्र घटादिशब्दैर्यथाक्रममवयविद्रव्यगुणकर्मसामान्यादीनां परिग्रहः। "एतेन समयाभोगाद्यन्तरङ्गानुरोधतः। घटोत्क्षेपणसामान्यसंख्यादिषु धियो गताः॥ २१६॥ रूपरसगन्धस्पर्शानामधिष्ठानं घटोऽवयविद्रव्यम्। उत्क्षेपणं क्रिया। संख्या गुणः।'प्रमाणवार्तिकाल० पृ० १८७। प्रमाणवा० मनो० पृ० ११४।

---

१ JAHRBUCH des Instituts für Buddhismus-kunde [Year book of the Institute for Buddhism s lore] Vol I Herausgegeben Von Max Walleser 1930 Heidelbërg इत्यत्र प्रकाशितोऽयमनुवादः। २ दृश्यतां टिप्प० ३१ पं० १३। ३ धर्मिणोऽनेकरूपस्य नेन्द्रियात् सर्वथा गतिः। स्वसंवेद्यमनिर्देश्यं रूपमिन्द्रियगोचरः॥ इति प्रमाणसमुच्चय पाठ० १।५।

पृ० ५९ पं० १६. 'तस्याः' इति पञ्चम्यन्तं पदम्। दृश्यतां पृ० ६० पं० १२।

पृ० ५९ पं० २१ **श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्** [षष्टित०]। अत्र 'षष्टित०' इति सन्दिग्धम्। वार्षगण्यस्य हि मतमेतम्। वार्षगण्यस्य च ग्रन्थः 'षष्टितन्त्र'नाम्ना प्रसिद्धो वार्षगणतन्त्रनाम्ना चेति निश्चितं वक्तुं न प्रभवाम। दृश्यतां 'गुणानां परमं रूपम् ··' [पृ० ६२ पं० २५] इत्यस्य टिप्पणम्। पृ० ३२४ पं० १२ इत्यत्र वार्षगणतन्त्रस्योल्लेखोऽपि नयचक्रवृत्तौ दृश्यते। "श्रोत्रादिवृत्तिरिति वार्षगणा"–सांख्यका० युक्तिदीपिका पृ० ३९। "वार्षगण्यस्यापि लक्षणमयुक्तमित्याह—श्रोत्रादिवृत्तिरिति। पञ्चानां खल्विन्द्रियाणामर्थाकारेण परिणतानामालोचनमात्रं वृत्तिरिष्यते। सा च संशयादिव्यापकत्वाद्लक्षणमिति।"—न्यायवा० तात्प० १।१।४। "श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका इति विन्ध्यवासिप्रत्यक्षलक्षणम्।"–सन्मतिवृ० पृ० ५३३। "श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका प्रत्यक्षमिति वृद्धसांख्याः।"–प्रमाणमी० १।१।२९। 'श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका' इति लक्षणं न्यायमञ्जर्यां तत्त्वोपप्लवसिंहेऽपि च उद्धृतं सांख्यमतनिर्देशावसरे।

पृ० ५९ पं० २२. **आत्मेन्द्रिय··**। वैशेषिकसूत्रे तृतीयेऽध्याये प्रथमाह्निके त्रयोदशं सूत्रमिदम्। दृश्यतां टिपृ० ८ पं० २२।

---

१ "एवं दिगन्तानां वैधर्म्यमुक्त्वा आत्मानमुपक्रमते–[P पृ० १५ B] **प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः** [वै० सू० ३।१।१], शब्दादयो यस्माद् गुणादिस्वभावाः सिद्धाः, तेभ्यश्चेन्द्रियाणि, अत इदानीम् **इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरत्वे हेतुः** [वै० सू० ३।१।२], ग्राह्याणामर्थानां शब्दादीनां येयं प्रसिद्धिः तया च श्रोत्रादीनां करणानाम् अनया इन्द्रियार्थप्रसिद्ध्या एभ्यो ग्राह्यग्रहणेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यः परो ग्रहीता आत्मा अनुमीयते। **सोऽनपदेशः** [वै० सू० ३।१।३], ग्राह्यग्रहणप्रसिद्ध्याख्यो ग्रहीतृसद्भावे यो हेतुरुक्तः सोऽनपदेशः, अकारणमित्यर्थः। किमात्मकल्पनया ? कथमिन्द्रियाणि ग्रहीतॄण्येव न भवन्ति ? नैतत्, **कारणाज्ञानात्** [वै० सू० ३।१।४], भूतानामिन्द्रियकारणानामज्ञत्वात् तत्कार्याणीन्द्रियाण्यपि अज्ञानि। भूताज्ञानं **कार्याज्ञानात्** [वै० सू० ३।१।५], अन्यस्य भूतकार्यस्य घटादेरज्ञत्वाद् भूतान्यप्यज्ञानि। **अज्ञानाच्च** [वै० सू० ३।१।६], भूतानामज्ञानादिन्द्रियाण्यपि अज्ञानि इत्युपसंहारार्थमिदं सूत्रम्। **अन्य एव हेतुरित्यनपदेशः** [वै० सू० ३।१।७], अन्यो हेतुलक्षणबाह्य इत्यर्थः, तथाहि–इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थधर्मत्वादात्मना असम्बन्धान्न तमनुमापयेत्, अतोऽनपदेशः। नैतत्, **संयोगि समवायि एकार्थसमवायि विरोधि च कार्यं कार्यान्तरस्य कारणं कारणान्तरस्य विरोधि अभूतं भूतस्य भूतमभूतस्य अभूतमभूतस्य भूतं भूतस्य** [वै० सू० ३।१।८], धूमोऽग्नेः संयोगि, विषाणं गोः समवायि, एकार्थसमवायि द्विधा–कार्यं कार्यान्तरस्य, यथा रूपं स्पर्शस्य, कारणं कारणान्तरस्य, यथा पाणिः पादस्य। चतुर्धा विरोधि–अभूतं वर्षकर्म वाय्वभ्रसंयोगस्य भूतस्य लिङ्गम्, भूतं वर्षकर्म वाय्वभ्रसंयोगस्याभूतस्य लिङ्गम्, अभूता श्यामता अभूतस्याग्निसंयोगस्य लिङ्गम्, भूतं कार्यं भूतस्य कारणसंयोगस्य [P पृ० १६ A] लिङ्गम्। तस्मादिह प्रसिद्धानामिन्द्रियार्थानां करणता कर्मता च समवायिनी आत्मलिङ्गम्। न ते आत्मनि समवायिन्यौ इति चेत्, एवमेतत्, अन्यथा तु प्रयोगः—इन्द्रियाणि कर्तृप्रयोज्यानि करणत्वाद् वास्यादिवदिति। संयोग्यादीन्येव कथं लिङ्गमित्याह—**प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य**[1] [वै० सू० ३।१।९], प्रसिद्धो यः संयोग्यादिर्नासम्बद्धो येन सह ज्ञातः स तस्यार्थान्तरस्यापि लिङ्गं सम्बद्धत्वात् नासम्बद्धम्। तथाहि–**अप्रसिद्धोऽनपदेशः** [वै० सू० ३।१।१०], अप्रसिद्धो[2] विरुद्धः यस्य साध्यधर्मेण सह नैवास्ति सम्बन्धः, अपि तु विपर्ययेण, असावनपदेशः अहेतुः। **असन् सन्दिग्धश्चानपदेशः** [वै० सू० ३।१।११], असन्[3], यः पक्षे नास्ति, तेनार्थादसन् असिद्ध इत्यर्थः, सन्दिग्धश्चानपदेशः सन्दिग्धोऽनैकान्तिक इत्यर्थः। उदाहरणमाह—**विषाणी तस्मादश्वो विषाणी तस्माद् गौरिति च** [वै० सू० ३।१।१२], 'अयं पदार्थोऽश्वः' इति साध्ये विषाणित्वं विरुद्धम्, अश्वविपर्ययेण विषाणित्वस्य व्याप्तेः। 'अयं पदार्थो गौः' इति साध्ये विषाणित्वमनैकान्तिकम्, साध्यविपर्ययाभ्यां व्याप्तत्वात्। चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, 'अगो विषाणी' इति साध्येऽसिद्धं विषाणित्वम्, पक्षेऽवर्तमानत्वात्। प्रपञ्चार्थमनदुक्तम्। किञ्च, **आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षाद् यन्निष्पद्यते तदन्यत्** [वै० सू० ३।१।१३], चतुष्टयसन्निकर्षाद् यदुत्पद्यते ज्ञानाख्यं कार्यं तदन्यद् हेत्वन्तरमात्मज्ञापकमस्तीति। ज्ञानस्य समवायिकारणापेक्षित्वं कार्यत्वाद् घटवत्। **प्रवृत्तिनिवृत्ती च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र लिङ्गम्** [वै० सू० ३।१।१४] इति।[4] प्रत्यगात्मेति[5] शरीरम्। शरीरे प्रवृत्तिनिवृत्ती दृष्टे आत्मानमनुमापयतः। शरीरं प्रयत्नवता अधिष्ठितं हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्तिमत्त्वाद् घटवत्। तृतीयस्याद्यमाह्निकम्। [P पृ० १६ B]

---

1 प्रसिद्धपूर्व°–वृसू०। 2 अप्रसिद्धो न विरुद्ध–वृ०। 3 असन् परो नास्ति–वृ०। 4 लिङ्गम्। तृतीयस्य प्रथममाह्निकम्।–सू०। 5 अन्यथात्मेति शरीरशरीरप्रवृत्ति°–वृ०।

उक्त आत्मेन्द्रियमनोर्थसन्निकर्षो ज्ञानहेतुः तत्सिद्ध्यर्थं मनः कथयति—**आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्याभावो भावश्च मनसो लिङ्गम्** [वै० सू० ३।२।१] आत्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे यदभावाज्ज्ञानं न भवति यद्भावे च भवति तद् मनः। एवं नानाप्रत्ययानुत्पत्ता मनसो लिङ्गम्। गुणाः सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्काराः। **द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते** [वै० सू० ३।२।२] यथा अद्रव्यवत्त्वात् परमाणुवायोर्द्रव्यत्वं नित्यत्वं च एवं मनसः। **प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकं मनः** [वै० सू० ३।२।३] बहुषु कार्येषु ज्ञेयेषु च युगपत् प्रयत्ना ज्ञानानि वा न प्रादुर्भवन्तीत्यतः प्रयत्नज्ञानायौगपद्यादेकं मनः प्रतिशरीरं मूर्तमस्पर्शं निरवयवं नित्यमणु आशुचारीति। **प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्चेत्यात्मलिङ्गानि** [वै० सू० ३।२।४] प्राणापाननिमेषोन्मेषा मनोगतिश्च प्रयत्नकार्यत्वादात्मनो लिङ्गम्, जीवनमदृष्टकार्यत्वात्, इन्द्रियान्तरविकाराः स्मृतिप्रभवत्वात्, सुखादयो गुणत्वात्। तिर्यक्पवनस्य वायोर्देहस्थितस्य यत् प्राणापानकर्म तत् प्रयत्नकार्यम्, शरीरपरिगृहीतवायुविषयत्वे गति विकृतत्वात्, भस्त्रापरिगृहीतवायुकर्मवत्। निमेषोन्मेषक्रियापि प्रयत्नकार्या निमेषोन्मेषक्रियाश्रयद्रव्यत्वात्, दारुयन्त्रनिमेषोन्मेषक्रियावत्। मनसा संयोग आत्मनोऽदृष्टापेक्षो जीवनम्, शरीरवृद्ध्यादि तत्कार्यमपि जीवनम्, शरीरं प्रयत्नवताधिष्ठितम्, वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणनिमित्तत्वात्, जीर्णगृहवत्। इन्द्रियान्तरं प्रति मनसो गमनं मनोगतिः प्रयत्नकार्या अभिमतप्रदेशसम्बन्धनिमित्तत्वात्, पेलकक्रियावत् [P पृ० १७ A] सा हि दारकप्रयत्नकृता। रूपालोचन-संस्कारस्मृति-रसस्मरण प्रयत्न-मनःक्रिया-रसनमनःसम्बन्ध-रसनविकाराणां पूर्वस्य पूर्वस्य कारणत्वादुत्पत्तिः, नष्टिस्तु वैपरीत्येन उत्तरोत्तरस्मात् पूर्वस्य पूर्वस्य स्मरणेन आत्मा अनुमीयते। न स्मृतिरिन्द्रियाणामन्येन दृष्टेऽर्थेऽन्यस्य। न शरीरावयवस्य अवस्थाभेदेन भिद्यमानत्वात्। देवदत्तस्य रूपरसगन्धस्पर्शप्रत्यया एकानेकनिमित्ता मया इति प्रत्ययेन प्रतिसन्धानात्, कृतसङ्केतानां बहूनामेकस्मिन् नर्तकीभ्रूक्षेपे युगपदनेकप्रत्ययवत्, इति उद्द्योतकरः। सुखादयश्च गुणिसापेक्षाः गुणत्वात् रूपवत्। **द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते** [वै० सू० ३।२।५] अद्रव्यवत्त्वात् परमाणुवायोरिव द्रव्यत्वनित्यत्वे। ननु च **यज्ञदत्त इति सति सन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते** [वै० सू० ३।२।६] यथा चक्षुरर्थसन्निकर्षे सति यज्ञदत्तोऽयमिति प्रत्यक्षं भवति न तथा प्राणादिसुखादिसम्बद्धोऽयमात्मेति ज्ञानं जायते। अथ कथमदृष्टसम्बन्धं प्राणादि आत्मनो लिङ्गम्?[1] तदाह—न प्राणादि दृष्टं लिङ्गम्। **सामान्यतो दृष्टाच्चाविशेषः** [वै० सू० ३।२।७] प्राणादीनां निर्निमित्तानां सुखादीनां चानाश्रितानामनुपपत्तिः अत एषां केनापि निमित्ताश्रयेण भाव्यम् इत्यतोऽपि सामान्यतो दृष्टादाकाशादीनामनिरासादविशेषः तेषामपि हेतुत्वसम्भवात्। **तस्मादागमिकम्** [वै० सू० ३।२।८] आत्मास्ति इति प्रवादमात्रमित्यर्थः। नन्वत्र **अहमिति शब्दव्यतिरेकान्नागमिकम्** [वै० सू० ३।२।९] अहमिति शब्देन क्षित्यादिभिन्नात्मद्रव्यविषयेण ऐकाधिकरण्यात् अहं प्राणादिमान् अहं सुखवान् इति। तस्मात् प्राणादि लिङ्गं नागमिकम्। ननु च **यदि दृष्टमन्वक्षमहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त इति** [वै० सू० ३।२।१०] [P पृ० १७ B] यदि खल्वहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त इत्यात्मनि दृष्टप्रत्यक्षमिदं भवेत् एवं युज्येत अहंशब्दस्यात्मवाचकत्वम्, यावता शरीराभिधायकदेवदत्तशब्देनैकार्थाधिकरणत्वादहंशब्दोऽपि शरीरवाचकः। तस्मान्न प्राणादिसुखादीन्यात्मनिर्णयहेतुः। देवदत्तशब्दः कथं शरीरवाचक इत्याह—**देवदत्तो गच्छति विष्णुमित्रो गच्छतीति चोपचाराच्छरीरप्रत्यक्षः** [वै० सू० ३।२।११] गमनवाचिना 'गच्छति' इति शब्देन सहप्रयोगात् देवदत्तशब्दः शरीरवचनोऽवसीयते आत्मनो गत्यसम्भवात्। तस्मादहंशब्दोऽपि शरीर एव देवदत्तशब्देन सह दृष्टत्वात्। नैतत्, **सन्दिग्धस्तूपचारः** [वै० सू० ३।२।१२] देवदत्तशब्देन एकार्थाधिकरणत्वाद् योऽयमुपचारोऽहंशब्दस्य शरीरे स सन्दिग्धः किं शरीरस्य आत्मोपकारकत्वादहंशब्दः आत्माभिधायक उपचरित उत मुख्यतया शरीरस्याभिधायक?[2] इति न शरीरात्मनोरहंशब्दस्य निश्चयः। स्वपक्षे निश्चयमाह—**अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तरप्रत्यक्षः** [वै० सू० ३।२।१३] प्रत्यगात्मनीति आत्मनि परत्रेति शरीरे। यदि अहंशब्दः शरीरवचनः स्यात् एवं सति तस्मिन् पिण्डे देवदत्तशब्द इव सर्वे प्रयुञ्जीरन्। न त्वेवम्, अत आत्मनि अर्थान्तरे अहंशब्दः प्रत्यक्षः। शरीर इव आत्मन्यपि परैरप्रयोगान्न स्यादिति चेत्, अत आह—**न तु शरीरविशेषाद् यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोर्ज्ञानविशेषः** [वै० सू० ३।२।१४] यज्ञदत्तविष्णुमित्रसम्बन्धेन शरीरविशेषाद् यथा दृष्टाद् न तद्वत् सुखादावस्मदादीनां जायते ज्ञानं तथैव न तदीयाहङ्कारेऽस्माभिः संवेद्यते यतोऽहंशब्दं प्रयुञ्जीरन्। शरीरवाचकत्वे तु यथा शरीरं दृष्ट्वा स्वं देवदत्तं प्रयुञ्जते तद्वदिममपि प्रयुञ्जीरन् [P पृ० १८ A] न चैवम्। तस्मान्न शरीरे। आत्मवृत्तित्वे तु परैरप्रयोगः। एवमहंशब्देन एकाधि

---

1 इत्यस्मा न्यायवा० १।१।१० । नयचक्रवृ० पृ० ५४० पं० १६ । 2 'चक्षुषा अथसन्निकर्षे' इति पाठोऽत्र शोभनो भाति। 3 वाच्यम्-पृ० । 4 पादृष्ट-सू० । 5 सुखादीनां निष्पदेत-पृ० । 6 ननु शरीर-सू० वृसू० ।

करणत्वात् सुखादय आत्मविषया प्राणादयश्च तन्निमित्ता । ननु **सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषा[1]दैकात्म्यम्** [वै० सू० ३।२।१५], यथा सल्लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्चैको भाव तथैव सुखदु खज्ञानाना निष्पत्त्यविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्चैकात्म्यम् । नैतत्, **नाना व्यवस्थातः** [वै० सू० ३।२।१६], अन्यस्य सुखादियोगेऽन्यस्य तदभावादनया व्यवस्थया नाना आत्मान । **[2]शास्त्रसामर्थ्याच्च** [वै० सू० ३।२।१७] इति, 'ग्रामकामो यजेत, [3]स्वर्गकामो यजेत' इत्यतोऽपि शास्त्रसामर्थ्याद नाना आत्मान । तस्य गुणा बुद्धिसुखदु खेच्छाद्वेषप्रयत्नादृष्टसंस्कारा वैशेषिका । अन्ये तु सख्यापरिमाणपृथक्त्वसयोगविभागा । तृतीयोऽध्याय ।

एवं द्रव्याण्युक्त्वा नित्यत्वमुपलब्ध्यनुपलब्धी च तेषु कथयति प्रसङ्गादन्यत्–**सदकारणवत् तन्नित्यम्** [वै० सू० ४।१।१], अद्रव्यवत्त्वादित्यनेन यत् सत् कारणरहितं तद् नित्यमुक्तं परमाण्वादि । उपलब्धौ तु **तस्य कार्यं लिङ्गम्** [वै० सू० ४।१।२], तस्य परमाण्वादेरिन्द्रियैरगृह्यमाणस्यापि शरीरमहाभूतादि कार्य लिङ्गम् । यत **कारणभावाद्धि कार्यभावः** [वै० सू० ४।१।३], यस्मात् कारणेभ्यस्तन्त्वादिभ्य पटादि कार्यमुत्पद्यते त[स्मा]त् कार्यस्य कारणपूर्वकत्वात् कारणस्य कार्यं लिङ्गम् । **अनित्य[4]मिति च विशेषप्रतिषेधभावः** [वै० सू० ४।१।४], यदा खलु 'सर्वं कार्यमनित्यम्' इत्युच्यते तदानेन नित्यत्वस्य विशेषप्रतिषेधेन कार्यविप[5]र्ययेण किञ्चित् कारणं नित्यमिति ज्ञायते । **अविद्या च** [वै० सू० ४।१।५], अविद्या अग्रहणमतीन्द्रियत्वेन परमाणूनाम्, तदपि [अ]नित्यत्व निवारयति । अदृश्यमाने ह्यर्थे तद्गतमनित्यत्वं केन गृह्येत ? तस्मान्नानित्यता वक्तुं शक्या । उपलब्धि कथमिति चेत्, **महत्यनेकद्रव्यवत्त्वाद्रूपाच्चोपलब्धिः** [वै० सू० ४।१।६], महत्त्वपरिमाणसमवायिनि [P पृ० १८ B] द्रव्ये समवायिकारणद्रव्यबहुत्वाद् रूपाच्च शुक्लादेर्ज्ञानं भवति । कुत एतत् ? यत **अद्रव्यवत्त्वात् परमाणावनुपलब्धिः** [वै० सू० ४।१।७], सत्यपि रूपे परमाणौ समवायिकारणद्रव्याभावान्नोपलब्धि । **रूपसंस्काराभावाद् वायावनुपलब्धिः** [वै० सू० ४।१।८], सत्यपि अनेकद्रव्यवत्त्वे महत्त्वे च रूपाख्यस्य संस्कारस्याभावाद् वायावनुपलब्धि । अनेकद्रव्यताया विशिष्टाया [6]अग्रहणात् द्व्यणुकेऽपि अनुपलब्धि सिद्धा । रूपे कथम् ? **[7]अनेकद्रव्येण द्रव्येण समवायाद् रूपविशेषाच्चोपलब्धिः** [वै० सू० ४।१।९], महता अनेकद्रव्यसमवायिद्रव्येण पटादिना रूपगुणस्य समवायाद् रूपविशेषाच्च रूपत्वाख्यात् सामान्यविशेषादुपलब्धि । **एतेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम्** [वै० सू० ४।१।१०], एतेन अनन्तरोक्तेन न्यायेन अनेकद्रव्येण द्रव्येण समवायाद् रसत्वादिसामान्यविशेषेभ्यश्च रसादीनामुपलब्धि । **तदभावादव्यभिचारः** [वै० सू० ४।१।११], परमाणुरूपस्यानेकद्रव्येण द्रव्येण समवायाभावान्नोपलब्धि, ततोऽनेकद्रव्येण [द्रव्येण] समवायस्य रूपोपलब्धेश्चाव्यभिचार । **संख्याः परिमाणानि** [8]⌐**पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपिद्रव्यसमवायाच्चाक्षुषाणि**⌐ [वै० सू० ४।१।१२], [रूपेण] विशिष्ट रूपि, तेन उपलब्धियोग्येन रूपिणा समवायादेतानि चाक्षुषाणि स्वसामान्यविशेषेभ्यश्च । कुत ? **अरूपिष्वचाक्षुषत्वात्** [वै० सू० ४।१।१३], यस्माद् रूपरहितेषु [9]महत्सु द्रव्यान्तरेषु स्थितानि न ज्ञायन्ते । **एतेन गुणत्वे भावे च [10]सर्वेन्द्रियं ज्ञानं [11]व्याख्यातम्** [वै० सू० ४।१।१४], यथैव महत्यनेकद्रव्येण समवायाद् रूपादीना समवेतानामुपलब्धिरेवं महति समवेतेषु गुणेषु समवेतयोर्गुणत्वभावयो तैस्तैर्गुणै रूपादिभि समवायाद् यथास्वं चक्षुरादीन्द्रियैरुपलब्धि, [12]न तु सामान्यविशेषेपूपलम्भकास्तदभावात् । एव [13]तत्त्वादीना स्वैरिन्द्रियै, द्रव्ये तु भावस्य समवायात् । [P पृ० १९ A] कर्मणि समवेतसमवायाद् गुणवत् । चतुर्थस्याद्यमाह्निकम् ।

इदानीमाध्यात्मिकमेषा कार्यमुच्यते, तत्र **[14]प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणामप्रत्यक्षत्वात् संयोगस्य पञ्चात्मकं न विद्यते** [वै० सू० ४।२।१], क्षित्यादिपञ्चकेन शरीरारम्भे त्रयाणा प्रत्यक्षत्वाद् वायोरप्रत्यक्षत्वाद् यथा तद्वर्ती सयोगोऽप्यप्रत्यक्ष एवं शरीरमप्रत्यक्ष स्यात् प्रत्यक्षाप्रत्यक्षैरारब्धत्वात् । प्रत्यक्षत्वात्तु मन्यामहे – न पञ्चभिरारब्धमिति । ननु त्रिभि प्रत्यक्षैरारभ्येत,

1 °पादैक्यम्–वृसू० । 2 शास्त्रसामर्थ्याच्च । तृतीयोऽध्यायः–सू० । 3 सर्वकामो–वृ० । 4 °मिति न विशेषे प्रति°–वृसू० । अनित्यमिति च विशेषत. प्रतिषेधभाव –ब्रह्मसूत्रशाङ्करभा० २।२।१५। 5 °यर्येन–वृ० । 6 अग्रहणातुण्डकेऽपि–वृ० । (अग्रहणात् त्र्यणुकेऽपि ? ग्रहणात् त्र्यणुकेऽपि ?) । 7 अनेकद्रव्येण समवायाद्–सू० । 8 ⌐ * एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठो नास्ति वृसू०मध्ये । 9 महत्सु वाद्यन्तरेषु–वृ० । 10 सार्वेन्द्रियज्ञान–वृसू० । 11 व्याख्यातम् । चतुर्थस्य प्रथममाह्निकम् ।–सू० । 12 (न तु सामान्यविशेषा सामान्यविशेषेषूपलम्भकास्तदभावात् ? न तु सामान्यविशेषा उपलम्भकास्तदभावात् ? न तु सामान्यविशेषेभ्यस्तदभावात् ?) । 13 तत्वादीना–वृ० । 14 प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाभ्यामप्रत्यक्षत्वात्पतचात्मक न विद्यते–वृ० ।

गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च त्र्यात्मकमपि न [वै० सू० ४।२।३] क्षितिसलिलानलैरारम्भे विलक्षणेभ्यो रूपादिभ्यः कार्यं विलक्षणानि रूपाणि गुणान्तराणि जायेरन्। न त्वेवम्। अपि तु पार्थिवानेव रूपादीनुपलभामहे। तस्मान्न त्र्यात्मकम्। **आत्मसंयोगस्त्वविप्रतिषिद्धो मिथः पञ्चानाम्** [वै० सू० ४।२।३] आत्मशब्देन स्वरूपम्, स्वरूपेण पञ्चानामपि भूतानां परस्परसंयोगो न प्रतिषिध्यते शरीरे नारम्भकत्वेन। पार्थिवशरीरे जलादीनि संयोगीनि न समवायीनि। जलादिभिरयोनिजमेव शरीरमारभ्यते वरुणलोकादौ। कुतः ? **अनेकदेशपूर्वकत्वात्** [वै० सू० ४।२।४] अनेकदेशाः परमाणवः तैरेवारभ्यते जलादिशरीरम्, न शुक्रशोणिताभ्याम्। तच्च **धर्मविशेषात्** [वै० सू० ४।२।५] धर्मविशेषापेक्षाः परमाणव एव शरीरमारभन्ते न शुक्रादि। कथं हि पुण्यवतां शुक्रादिमयं शरीरं स्यात्। इतश्च **कार्यविशेषात्** [वै० सू० ४।२।६] शलभादिशरीराख्यात् कार्यविशेषात् मन्यामहे–सन्त्ययोनिजानि। इतश्च **समाख्याभावात्** [वै० सू० ४।२।७] अङ्गारेभ्यो जातोऽङ्गिराः' इत्येवमादिसमाख्याभावाद् मन्यामहे–सन्त्ययोनिजानि। कुतः ? **संज्ञादिमत्त्वात्** [वै० सू० ४।२।८], यतः प्रत्यक्षेण अङ्गारजन्मादिकमर्थं दृष्ट्वा [P पृ० १९ B] पुरुषैः प्रणीयन्ते संज्ञाः अङ्गिरा इत्यादयः। अतः संज्ञानामादिमत्त्वात् समाख्या यथार्था। अतः **सन्त्ययोनिजा वेदलिङ्गाच्च** [वै० सू० ४।२।९] इति 'चन्द्रमा मनसो जातः' इत्यादिकाच्च वेदलिङ्गात् सन्त्ययोनिजाः शरीरविशेषाः। एवं जलादिशरीरमयोनिजमेव। पार्थिवं तु योनिजमयोनिजं च। चतुर्थोऽध्यायः। समाप्तो द्रव्याधिकारः।

[2] [P पृ० २० B] **दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्भ्यो वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि** [वै० सू० ५।२।२३] आकाश-काल-दिशोऽमूर्ताः क्रियावतः पृथिव्यादेरमूर्ततया वैधर्म्यान्निष्क्रियाः, च'शब्दादात्मापि निष्क्रियः। **एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः** [वै० सू० ५।२।२४] एतेनामूर्तत्वेन[3] गुणाः कर्माणि च निष्क्रियाणि, च'शब्दात् सामान्यादयः। **निष्क्रियाणां समवायः कर्मभ्यः प्रतिषिद्धः** [वै० सू० ५।२।२५] निष्क्रियाणामभिघातादीनां कर्मसमवेतेन भवति स्वाश्रये कर्मजननात्। **कारणं त्वसमवायिनो गुणाः** [वै० सू० ५।२।२६] यस्य गुणाः कारणमुक्ताः तस्यासमवायिन एव कारणम्। **गुणैर्दिग् व्याख्याता** [वै० सू० ५।२।२७] 'पूर्वेण निष्क्रमणम्' इत्यादेः प्रत्ययभेदस्य दिग् निमित्तकारणं व्याख्याता कारणत्वेनाविशेषेणो नासमवायित्वेन। **कारणेन कालः**[4] [वै० सू० ५।२।२८] इति येनैव कारणेन प्रत्ययभेदहेतुत्वेन दिग् व्याख्याता तेनैव 'युगपत् कृतम्' इत्यादिप्रत्ययभेदस्य कालो निमित्तकारणं व्याख्यातः। पञ्चमोऽध्यायः। समाप्तः कर्माधिकारः।

कर्माणि व्याख्याय गुणा व्याख्यायन्ते। तत्र धर्म आदौ व्याख्यायते, शास्त्रादौ तस्यादिष्टत्वात्। तस्य वैदिको विधिः साधनम्। वेदस्य सत्यता कुत इति चेत् [P पृ० २३ A] यतः **बुद्धिपूर्वा[5] वाक्यकृतिर्वेदे** [वै० सू० ६।१।१] 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्येवंभूता रचना भगवतो महेश्वरस्य बुद्धिपूर्वा या अतः प्रमाणम्, आप्तप्रणीतत्वस्य सत्यताव्याप्तेः। अतीन्द्रियमशक्यं ज्ञातुमिति चेत्, **न चास्मद्बुद्धिभ्यो लिङ्गमृषेः** [वै० सू० ६।१।२] लिङ्ग्यतेऽनेनार्थ इति लिङ्गं विज्ञानम्। न हि यादृशमस्मद्विज्ञानं वर्तमानाव्यवहितसम्बद्धार्थविषयं तादृशमेव भगवतो विज्ञानम्। अतः सम्भवति भगवतोऽतीन्द्रियार्थविषयं विज्ञानम्। स कथं ज्ञायते ? **तथा ब्राह्मणे संज्ञाकर्मसिद्धिर्लिङ्गम्** [वै० सू० ६।१।३] पितोपदेशेन ब्राह्मणादिजन्मयमस्माकमालोचयतां प्रत्यक्षेण न 'ब्राह्मणोऽयम्' इति ज्ञानमुत्पद्यते। प्रत्यक्षेण चार्थमागम्य संज्ञाप्रणयनं दृष्टं पुत्रादिषु। सन्ति चैता ब्राह्मणादिसंज्ञास्ता यतः प्रत्यक्षमर्थमालोच्य प्रणीता इति सूत्रार्थं वर्णयन्ति। अतः **बुद्धिपूर्वो ददाति** [वै० सू० ६।१।४] यत एव परमेश्वरस्य कृतिर्वेदादौ वाक्यपदरचनाऽतोऽयं स्मार्तोऽपि दानादिविधिस्तदीयमाम्नायमनन्तशाखाभिरभ्यागम्य सर्वेष्वनुसन्दधानानां भृगुप्रभृतीनां बुद्धिपूर्वः। एवं दानादिविधयो धर्महेतवः। **तथा प्रतिग्रहः** [वै० सू० ६।१।५] तथैव प्रतिग्रहोऽपि प्रक्षीणवृत्तेरवदान्यस्य प्रतिग्रहानुरूपगुणयुक्तस्य धर्मायैव भवति। **तयोः क्रमो यथाऽनितरेतराङ्गभूतानाम्** [वै० सू० ६।१।६] यथा भूतानि अनितरेतराङ्गाणि न परस्परेण कार्यकारणभूतानि न स्मरणी अस्य कारणम्, अपि तु स्वावयवा एव, अयं च अरण्यारम्भः क्रमः। एवमनयोः पूर्वं दानधर्मः पश्चात् प्रतिग्रहधर्मः न तु कार्यकारणभावः। कुतः ? **आत्मगुणेषु आत्मान्तरगुणानामकारणत्वात्** [वै० सू० ६।१।७] [P

1 शरीरारम्भकत्वेन–मू०। 2 पञ्चमाध्यायस्य प्रथमाह्निक द्वितीयाह्निकस्य चाद्यानि १३ सूत्राणि चन्द्रानन्दकृतवृत्त्या सह 'पृ० ४८१ टि० १२' इत्यत्र निर्दिष्टानि। १४ त २२ पर्यन्तानि सूत्राणि तु 'पृ० ४३८ टि० ९' इत्यत्र निर्दिष्टानि। 3 एतेन मूर्तत्वेन–मू०। 4 कारणेन कालः। पञ्चमोऽध्यायः।–मू०। 5 बुद्धिपूर्वा वाक्य–मू०। अत्र 'बुद्धिपूर्वा अतः' इत्यपि भवेत् पाठः। 6 °नाशेऽपि स्मार्तोऽपि–मू०।

पृ० २३ B] न ह्यन्यदीया आत्मगुणा अन्यदीयात्मगुणानां कारणं भवन्ति । तत्र **अदुष्टभोजनात् समभिव्याहारतोऽभ्युदयः** [वै० सू० ६।१।८], अदुष्टं ब्राह्मणं भोजयित्वा तदीयादाशीर्वादादिसमभिव्याहारात् पुरुषाभ्युदयः । तत्कारणं धर्मो भवतीत्यर्थः । **तद् दुष्टभोजने न विद्यते** [वै० सू० ६।१।९], सत्यप्याशीर्वादादिवचने दुष्टं ब्राह्मणं भोजयित्वा अभ्युदयो न प्राप्यते । अथ को दुष्टः ? **दुष्टं हिंसायाम्** [वै० सू० ६।१।१०], परस्य हिंसायां शारीरमानसदुःखरूपायां प्रवृत्तं दुष्टं जानीष्व । हिंसाशब्द उपलक्षणम्, यतः **समभिव्याहारतो दोषः** [वै० सू० ६।१।११], कृतमहापातकस्य सम्भाषणमात्रादेव दोषेण युज्येत, किमुत भोजनादिना ? [1]इह समभिव्याहारः सम्भाषणम्, पूर्वत्राशीर्वादः । **तददुष्टे न विद्यते** [वै० सू० ६।१।१२], तत् समभिव्याहारदूषणं हिंसादिरहिते ब्राह्मणे न विद्यते । अदुष्टेऽपि **विशिष्टे प्रवृत्तिः** [वै० सू० ६।१।१३], न हिंसादिमात्ररहिते, अपि तु देशकालविज्ञानाचारैर्विशिष्टे ब्राह्मणेऽभ्युदयार्थिनः प्रवृत्तिः । ततः **समे हीने चाप्रवृत्तिः** [वै० सू० ६।१।१४], अदुष्टो ब्राह्मणो देशादियुक्तो विशिष्ट उच्यते । एषामेकेन गुणेन युक्तः समः । तौ त्यक्त्वा अन्यो दुष्टो वा क्षत्रियादिर्वा प्राणिमात्रं वा हीन उच्यते । तत्राभ्युदयेप्सोर्मन्त्रपूर्वके सुवर्णादिदाने वैशाख्यादिनिमित्ते समहीनयोरप्रवृत्तिः, अपि तु विशिष्टे । **एतेन हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्यः परादानं व्याख्यातम्** [वै० सू० ६।१।१५], एतेन विपरीतेन क्रमेणापदि परस्मादानं व्याख्यातम् । उक्तं च —

'हीनादादेयमादौ तु तदभावे समादपि । असम्भवे त्वाददीत विशिष्टादपि धार्मिकात् ॥'

तथा विरुद्धानां त्यागः [वै० सू० ६।१।१६], अनेनैव विपरीतक्रमेण ब्राह्मणः [P पृ० २४ A] आत्मनो हीनै रिपुभिर्मारणायाक्षिप्तस्तानेव शत्रूनभिहन्यात् । **समे आत्मत्यागः परत्यागो वा** [वै० सू० ६।१।१७], आत्मनस्तुल्यगुणेन शत्रुणा प्राप्तस्य ब्राह्मणस्य विकल्पः—आत्मनो वध आततायिनो वा । **विशिष्टे आत्मत्यागः** [वै० सू० ६।१।१८], आत्मनोऽधिकगुणेन शत्रुणा प्राप्तस्य आत्मन एव रिपुप्रयुक्तो वधोऽङ्गीकार्यः । इहात्मापेक्षया हीनादिव्यवहारः, प्रतिग्रहे प्रतिग्रहीतॄणां अन्योन्यापेक्षश्चेति षष्ठस्याद्यमाह्निकम् ।

एवं श्रुतिस्मृतिविधिभ्यो धर्मो भवतीत्युक्त्वा इदानीमेषां धर्मसिद्धौ प्रकारविशेषमाह । तथाहि—**दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय** [वै० सू० ६।२।१], श्रुतिस्मृतिपरिदृष्टानां स्नानादीनां दृष्टस्य मलापकर्षादेरनभिसन्धाने प्रयोगोऽभ्युदयाय भवति । के ते ? **अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थ[2]यज्ञदानप्रोक्षणदिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्चादृष्टाय** [वै० सू० ६।२।२], विशिष्टदेशकालापेक्षेण अम्भसा यः शरीरस्य संयोगस्तदभिषेचनं स्नानम् । नक्तंदिनं वासो नियमपूर्वोऽनाहाररूप उपवासः । ब्रह्मशब्देन आत्मा, ब्रह्मणि चरणमात्ममनसोर्यः संयोगः स्त्र्यादिपरिहाररूपो ब्रह्मचर्यम् । विज्ञानार्थिनो गुरुचर्यापरस्य तद्गृहेषु वसनं गुरुकुलवासः । [3]शास्त्रविधिना निःसृतोऽरण्यप्रस्थितो वानप्रस्थः, तस्य कर्म [4]वानप्रस्थम् । यज्ञाः पाकयज्ञादयः । दानं सुवर्णादिदानमभयदानं च । प्रोक्षणं सन्ध्योपासनादि । दिङ्नियमादयोऽन्ये विशेषाः । दिङ्नियमः—प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत । नक्षत्रनियमः—कृत्तिकास्वादधीत । मन्त्रनियमः—देवस्य त्वेति निर्वपति । कालनियमः—वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत । एवमेतत् सर्वं दृष्टप्रयोजनतिरस्कारेण प्रयुज्यमानं धर्माय सम्पद्यत इति । तत्र **चातुराश्रम्यमुपधाश्चानुपधाश्च**[5] [वै० सू० ६।२।३], यदिदं चतुर्णामाश्रमिणां कर्म तदुपधया प्रयुज्यमानमधर्माय अनुपधया तु धर्माय भवति । का उपधा ? **भावदोष उपधा** [वै० सू० ६।२।४], भावस्य अभिसन्धेर्दम्भादिदोष उपधेत्यर्थः । काऽनुपधा ? **अदोषोऽनुपधा** [वै० सू० ६।२।५], अभिसन्धेर्दम्भादिरहितत्वमनुपधेत्यर्थः । **इष्टरूपरसगन्धस्पर्शं प्रोक्षितम[6]भ्युक्षितं च तच्छुचि** [वै० सू० ६।२।६], स्मृतौ यस्य रूपादयो न निषिद्धास्तच्छुचि मन्त्रपूर्वकं प्रोक्षितं केवलाभिरद्भिरभ्युक्षितं च । एतद्विपरीतमशुचि । किञ्च, **अशुचीति शुचिप्रतिषेधः** [वै० सू० ६।२।७], यस्य चात्यन्तशुचिप्रतिषेधस्तदप्यशुचि वाग्दुष्टादिकम् । **अर्थान्तरं च** [६।२।८], मद्यादि च यत् साक्षान्निषिध्यते तदप्यशुचि । ततः शुचि भोक्तव्यम् । ननु **अयतस्य शुचिभोजनादभ्युदयो न विद्यते यमाभावात्** [वै० सू० ६।२।९], अयतस्य विशिष्टप्रयत्नरहितस्य शुचिमाहारं यदृच्छयो[7]पयुञ्जानस्य अभ्युदयो नास्ति विशिष्टस्याभिसन्धेरभावात् । नैतत् । **विद्यते चानर्थान्तरत्वाद्यमस्य** [वै० सू० ६।२।१०], न प्रयत्नव्यतिरेकी यमः, प्रयत्नाभावे सर्वस्याः क्रियाया अभावाद् विद्यते शुचि-

---

1 सह-वृ० । 2 °प्रस्थायज्ञ°-वृसू० । 3 शास्त्रविधिनान्नि सृतारण्यप्रस्थितो वानप्रस्थ -वृ० । 'शास्त्रविधिना ग्रामान्निःसृतोऽरण्यं प्रस्थितो वनप्रस्थः.' इत्यपि पाठः सम्भवेदत्र । 4 वानप्रस्थाम्-वृ० । 5 °मुपधाश्चानुपधाश्च-वृसू० । 6 °भ्युषित-सू० वृसू० । 7 (°पयुञ्जानस्य ?) ।

पृ० ५९ प० २४ **तेनैव**। विशेषेण तवाग्निना बोद्धव्यमित्यर्थः।

पृ० ६० प० १ **निरूपणानुस्मरण** । "सवितर्कविचारा हि पञ्च विज्ञानधातवः । अन्त्यास्त्रयस्त्रिप्रकारा शेषा उभयवर्जिताः ॥ निरूपणानुस्मरणविकल्पेनाविकल्पका । तौ प्रज्ञा मानसी व्यग्रा स्मृतिः सर्वैव मानसी ॥"—अभिधर्मको० १।३२-३३। एतच्छ्लोकद्वयस्य व्याख्या तु स्फोटार्थभाष्यात् तट्टीकातश्चावगन्तव्या।

पृ० ६० प० ७ **विशेषणविशेष्ययोः** । "विशेषणं विशेष्यं च सम्बन्धं लौकिकीं स्थितिम्। गृहीत्वा सङ्कलय्यैतत् तथा प्रत्येति नान्यथा ॥ —प्रमाणवा० २।१४५।

पृ०६०प०१४ **रूपालोक** । द्रष्टव्यताम् अनेकान्तजयपताका उ० पृ० ११२२८। प्रमाणमी० पृ० १६। "मनस्कारः कतमः ? चेतस आभोग आलम्बनचित्तधारणकर्मकः ।"—अभिधर्मसमु पृ० ६।

पृ० ६० प० १५ **चक्षुः प्रतीत्य** । 'चत्वारः प्रत्यया हेतुश्चालम्बनमनन्तरम्। तथैवाधिपतेयं च प्रत्ययो नास्ति पञ्चमः ॥ १।२ ॥ तत्र 'निर्वर्तको हेतुः' इति लक्षणात् यो हि यस्य निर्वर्तको बीजभावेनावस्थितः स तस्य हेतुप्रत्ययः। उत्पद्यमानो धर्मो येनालम्बनेन उत्पद्यते स तस्यालम्बनप्रत्ययः । कारणस्यानन्तरो निरोधः कार्यस्योत्पत्तिप्रत्ययः, तद्यथा बीजस्यानन्तरो निरोधोऽङ्कुरस्योत्पादप्रत्ययः । यस्मिन् सति यद् भवति तत् तस्याधिपतेयमिति त एते चत्वारः प्रत्ययाः ।"—मध्यमकवृ० पृ० ७६-७७। द्रष्टव्या ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यभामती २।२।१९। सर्वदर्शनसं०। अभिधर्मसमु० पृ० ३८।

पृ० ६० प० १५ **समनन्तरनिरुद्ध** । "षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः ।"—अभिधर्मको० १।१७।

माहारसुपयुञ्जानस्य प्रयत्नः । यदि प्रयत्नः[ ] प्रधानम् विनापि यागादिनाभ्युदयः स्यात्। नैतत् **असति चाभावात्**[3] [वै० सू० ६।२।११] असति यागाद्यनुष्ठाने प्रयत्नमात्रस्य भावादभ्युदयः क्रियोपदेशवैयर्थ्यात् (?)। इदानीं निःश्रेयसहेतुं धर्ममाह—**सुखाद्रागः** [वै० सू० ६।२।१२] स्त्र्यादिविषयजनितात् सुखादेव रागो वर्धते। **तन्मयत्वात्** [वै० सू० ६।२।१३] वैरस्यसुखहेतुभिः[5] शरीरं भावितं [P पृ० २५ A] तन्मयं इवास्ते । ततस्तन्मयत्वाद् रागः । किञ्च **तृप्तेः** [वै० सू० ६।२। १४] यदा तृप्तो भवति तदास्य तृप्तिनिमित्तो रागो भवति शरीरपुष्टेः । किञ्च **अदृष्टात्** [वै० सू० ६।२।१५] अपूर्वदृष्टेषु अनुपकारकेषु च कस्यचिद् रागो जायतेऽदृष्टमेव कारणम्। किञ्च **जातिविशेषाच्च रागविशेषः** [वै० सू० ६।२।१६] यथा तिरश्चां तृणादिभोजने एवं जातिविशेषादपि रागः । सुखादिभ्यो रागो दुःखादिभ्यो द्वेषः ततः **इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिः** [वै० सू० ६।२।१७] इच्छापूर्विका धर्मप्रवृत्तिः अन्यस्य धनमदादभिभूतस्य वा द्वेषपूर्विकापि ग्रामकामेष्ट्यादौ । अधर्मेऽपीच्छा[पूर्विका ?] परदारादिषु द्वेषपूर्विका । एवं धर्माधर्मयोः सञ्चयः । यत एव **ततः संयोगो विभागश्च** [वै० सू० ६।२।१८] सञ्चितौ यदा धर्माधर्मौ भवतः तदा शरीरेन्द्रियसंयोगो जन्माख्यो भवति क्षीणयोश्च तयोर्मरणकाले वियोगः । पुनरप्याभ्यां धर्माधर्माभ्यां शरीरादिसंयोगो विभागश्चेत्येवमनादिरयं घटीयन्त्रवदावर्तते जन्तुः । एतद्विपरीतक्रमेणोच्यते तथाहि—**आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः**[6] [वै० सू० ६।२।१९] आत्मेति मनः, मनः कर्मसु तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च स मोक्ष इति मोक्षो व्याख्यातः । षष्ठोऽध्यायः । इति चन्द्रानन्दविरचितायां वैशेषिकसूत्रवृत्तौ P पृ० १५-२५। द्रष्टव्यता टिप्पृ० ८ प० २२।

१ कति अवितर्का अविचाराः ? सवितर्कविचारा हि पञ्च विज्ञानधातवः । नियमतो वितर्कविचाराभ्यां सम्प्रयुक्ताः । अवधारणार्थो हिशब्दः । अन्त्यास्त्रयस्त्रिप्रकाराः'। मनोधातुर्धर्मधातुर्मनोविज्ञानधातुश्चान्त्याः । एते त्रयस्त्रिप्रकाराः । तत्र मनोधातुर्मनोविज्ञानधातुः सम्प्रयुक्तश्च धर्मधातुरन्यत्र वितर्कविचाराभ्यां कामधातौ प्रथमे च ध्याने सवितर्काः सविचाराः । ध्यानान्तरेऽवितर्काविचारमात्राः । द्वितीयाद् ध्यानात् प्रभृति आभवाग्राद् अवितर्का अविचाराः । । शेषा उभयवर्जिताः ॥ १ ॥ ३२ ॥ दश रूपिणो धातवः शेषाः नित्यमवितर्का अविचाराः असम्प्रयोगित्वात्। यदि पञ्च विज्ञानकायाः सवितर्काः सविचाराः कथमविकल्पका इत्युच्यन्ते ? निरूपणानुस्मरणविकल्पेनाविकल्पकाः । त्रिविधः किल विकल्पः स्वभावाभिनिरूपणानुस्मरणविकल्पः । तदेषां स्वभावविकल्पोऽस्ति नेतरौ तस्मादविकल्पका इत्युच्यन्ते यथा एकपादोऽश्वोऽपादक इति । तत्र स्वभावविकल्पो वितर्कः । स चैतेषु पश्चान्निर्देक्ष्यते । इतरौ पुनः किंस्वभावौ ? यथाक्रमं तौ प्रज्ञा मानसी व्यग्रा स्मृतिः सर्वैव मानसी' ॥ १।३३ ॥ मनोविज्ञानसम्प्रयुक्ता प्रज्ञा मानसीत्युच्यते । असमाहिता व्यग्रेत्युच्यते । सा ह्यभिनिरूपणाविकल्पः ।

---

1 (सुखमुञ्जानस्य ?)। 2 योगा-वृ०। 3 असति भावात्-वृसू०। 4 'असति यागाद्यनुष्ठाने न प्रयत्नमात्रस्य भावादभ्युदयः क्रियोपदेशवैयर्थ्यात्' इति पाठोऽत्र समीचीनः प्रतिभाति। 5 (यद्वि सुखहेतुभिः ??)। 6 व्याख्यातः । षष्ठोऽध्यायः।—सू०।

पृ० ६० पं० १६ चतुर्भि···। "चत्वार प्रत्यया उक्ता हेत्वाख्या. पञ्च हेतव. ॥२।६१॥ 'चित्तचैत्ता अचरमा उत्पन्ना. समनन्तर । आलम्बन सर्वधर्मा कारणाख्योऽधिप. स्मृत ॥ २।६२ ॥ निरुध्यमाने कारित्रं द्वौ हेतू कुरुतस्त्रय । जायमाने ततोऽन्यौ तु प्रत्ययौ तद्विपर्ययात् ॥ २।६३ ॥ चतुर्भिश्चित्तचैत्ता हि समापत्तिद्वय त्रिभि. । द्वाभ्यामन्ये तु जायन्ते नेश्वरादे· क्रमादिभि ॥ २।६४ ॥"—अभिधर्मको० । अस्य व्याख्यानं तु अभिधर्मकोशभाष्यात् नटीकानश्चावगन्तव्यम् ।

पृ० ६१ पं० १, ५ चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी···अभिधर्मागमोऽपि । दृश्यता पृ० ७९ टि० ७ । मध्यमक० पृ० ७४ । अभिधर्मको० स्फुटार्था १।३३। तत्त्वस० पं० पृ० १२। "अभिधर्मेऽप्ति– मनोविज्ञानसमङ्गी तु 'नीलमिदम्' इति च ।"– प्रमाणवा० मनो० टि० पृ० १९२। "तत्र प्रत्यक्ष भगवतोपदिष्टम्–नीलज्ञानसमङ्गी पुद्गलो नील जानाति, नो तु नीलमिति।"– प्रमाणवार्तिकाल० पृ० १६६। अभिधर्मागमोऽपीत्यनेन सस्कृतभाषानिबद्धम् अभिधर्मपिटक ग्रहीतव्यम् । "श्रूयते हि अभिधर्मशास्त्राणा कर्तार, तद्यथा–ज्ञानप्रस्थानस्य आर्यकात्यायनीपुत्र कर्ता, प्रकरणपादस्य स्थविरवसुमित्र, विज्ञानकायस्य स्थविरदेवशर्मा, धर्मस्कन्धस्य आर्यशारिपुत्र, प्रज्ञप्तिशास्त्रस्य आर्यमौद्गल्यायन, धातुकायस्य पूर्ण, सङ्गीतिपर्यायस्य महाकौष्ठिल । क सौत्रान्तिकार्थ ? ये सूत्रप्रामाणिका न तु शास्त्रप्रामाणिकास्ते सौत्रान्तिका. । यदि न शास्त्रप्रामाणिका कथ तेषा पिटकत्रयव्यवस्था–सूत्रपिटको विनयपिटकोऽभिधर्मपिटक इति? सूत्रेऽपि ह्यभिधर्मपिटक पठ्यते–त्रैपिटको भिक्षुरिति। नैष दोष. । सूत्रविशेषा एव ह्यर्थविनिश्चयादयोऽभिधर्मसज्ञा येषु धर्मलक्षण वर्ण्यते । एतदाशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह–स तु

मानस्येव सर्वा स्मृति समाहिता चासमाहिता चानुस्मरणविकल्प ।" इति [विद्वद्वर्यप्रह्लादप्रधानमहाशयानां सौजन्यात् समुपलब्धे हस्तलिखिते] वसुबन्धुविरचितेऽभिधर्मकोशभाष्ये ।

१ 'चित्तचैत्ता अचरमा उत्पन्ना समनन्तरः ।' अर्हत पश्चिमानपास्योत्पन्नाश्चित्तचैत्ता समनन्तरप्रत्यय । समश्चायमनन्तरश्च प्रत्यय इति समनन्तरप्रत्यय । अत एव रूपं न समनन्तरप्रत्यय, विषमोत्पत्ते ।· · उक्त समनन्तरप्रत्यय । 'आलम्बन सर्वधर्माः' । यथायोग चक्षुर्विज्ञानस्य ससम्प्रयोगस्य रूपम् श्रोत्रविज्ञानस्य शब्द घ्राणविज्ञानस्य गन्ध जिह्वाविज्ञानस्य रस कायविज्ञानस्य स्प्रष्टव्यम् मनोविज्ञानस्य सर्वधर्मा ।··· ··उक्त आलम्बनप्रत्यय । 'कारणाख्योऽधिप स्मृतः' ॥२।६२॥ य एव कारणहेतु स एवाधिपतिप्रत्यय । अधिकोऽयं प्रत्यय इत्यधिपतिप्रत्यय· । आलम्बनप्रत्ययोऽपि सर्वधर्मा अधिपतिप्रत्ययोऽपीति किमस्याधिक्यम् ? न जातु सहभुवो धर्मा आलम्बन भवन्ति, भवन्ति त्वधिपतिप्रत्यय इत्यस्यै(स्त्ये ?)वाधिक्यम् । अधिकस्य वा प्रत्यय । सर्व सर्वस्य सस्कृतस्य स्वभाववर्ज्यस्य । । अथैते प्रत्यया कारित्र कुर्वन्त किमवस्थे धर्मे कुर्वन्ति ? हेतुप्रत्ययस्तावत् पञ्चविध उक्त, तत्र 'निरुध्यमाने कारित्र द्वौ हेतू कुरुतः' । निरुध्यमानं नाम वर्तमानम्, निरोधाभिमुखत्वात् । तत्र सहभू-सम्प्रयुक्तकहेतू कारित्र कुरुत । · 'त्रय जायमाने' । जायमान नामानागतमुत्पादाभिमुखम् । तत्र सभाग-सर्वत्रग-विपाकहेतव कारित्र कुर्वन्ति । एव तावद्धेतुप्रत्यय । 'ततोऽन्यौ तु प्रत्ययौ तद्विपर्ययात्' ।२।६३। · समनन्तरप्रत्ययो जायमाने कारित्र करोति, अवकाशदानात् । आलम्बनप्रत्ययो निरुध्यमाने, वर्तमानैश्चित्तचैत्तैर्ग्रहणात् । अधिपतिप्रत्ययस्तु सर्वस्यामवस्थायामनावरणभावेनावस्थित ·· · । अथ कतमो धर्म कतिभि प्रत्ययैरुत्पद्यते ? चतुर्भिश्चित्तचैत्ता हि । तत्र हेतुप्रत्यय एषा सर्वे पञ्च हेतव । समनन्तरप्रत्यय पूर्वकाश्चित्तचैत्ता अन्यैरव्यवहिता । आलम्बनप्रत्यय यथायोगं पञ्च विषया सर्वे धर्माश्च । अधिपतिप्रत्यय स्वभाववर्जा सर्वधर्मा । 'समापत्तिद्वयं त्रिभिः' । निरोधा-ऽसज्ञिसमापत्त्योरालम्बनप्रत्ययो नास्ति । न हि ते आलम्बिके ।·· ·· 'द्वाभ्यामन्ये तु जायन्ते' । अन्ये तु विप्रयुक्ता रूपिणश्च धर्मा हेत्वधिपतिप्रत्ययाभ्या जायन्ते यथाविहितमेव । आह–हेतुप्रत्ययेभ्यो भावा उपजायन्ते, न पुन सर्वस्यैव जगत ईश्वर-पुरुषप्रधानादिकं कारणमिति कोऽत्र हेतु ? यदि खलु हेतुकृता सिद्धिं मन्यसे ननु च अत एवास्य वादस्य व्युदास प्राप्नोति एकं कारणमीश्वरादिक सर्वस्येति । अपि च 'नेश्वरादे क्रमादिभिः' ।२।६४। यदि ह्येकमेव कारणमीश्वर स्यादन्यद्वा युगपत् सर्वेण जगता भवितव्य स्यात् । दृश्यते च भावानां क्रमसम्भव । स तर्हि छन्दवशादीश्वरस्य स्यात्–अयमिदानीमुत्पद्यताम् अयं निरुध्यताम् अय पश्चादिति । छन्दभेदात् तर्हि सिद्धमनेक कारण स्यात् । स चापि छन्दभेदो युगपत् स्यात् तद्धेतोरीश्वरस्याभिन्नत्वात् । कारणान्तरभेदापेक्षणे वा नेश्वर एव कारण स्यात् । तेषामपि च क्रमोत्पत्तौ कारणान्तरभेदापेक्षणादनवस्थाप्रसङ्ग स्यादित्यनन्तभेदाया कारणपरम्पराया अनादित्वाभ्युपगमादयमीश्वरकारणाधि(द्वि ?)मुक्त शाक्यपुत्रीयमेव न्यायं नातिवृत्त स्यात् । यौगपद्येऽपीश्वरच्छन्दाना जगतो न यौगपद्य यथाच्छन्दमुत्पादनादिति चेत् । न ।

---

1 Principal, Fakir Mohan College, BALASORE, Orissa

प्रवीण उक्तो भगवतेति विस्तर । यथा स्थविरधर्मत्रातेन उदाना 'अनित्या वत संस्कारा' इत्येवमादिका विनेयवशात् तत्र तत्र सूत्रे उक्ता वर्गीकृता एकस्थीकृता, एवमभिधर्मोऽपि धर्मलक्षणोपदेशस्वरूपो विनेयवशात् तत्र तत्र भगवतोक्त स्थविर कात्यायनीपुत्रप्रभृतिभिः नानाप्रस्थानेषु पिण्डीकृत्य स्थापित इत्याहु वैभाषिका । —अभिधर्मको स्फुटार्था १।३।

पृ० ६१ प० ४ अथऽर्थसती । कमलशीलरचिते न्यायबिन्दुपूर्वपक्षसंक्षेपेऽपि उद्धृतमेतत् । द्रष्टव्या मध्यमक वृ० पृ० ७४ टि० ।

पृ० ६१ पं० १४ व्यञ्जन । "चित्तविप्रयुक्तसंस्कारा कतमे ? प्राप्तिरसंज्ञिसमापत्तिर्निरोधसमापत्तिरासंज्ञिक जीवितेन्द्रिय निकायसभागता जातिर्जरा स्थितिरनित्यता नामकाया पदकाया व्यञ्जनकाया पृथग्जनत्व प्रवृत्ति प्रतिनियमो योग जवोऽनुक्रम कालो देश संख्या सामग्री च । नामकाया कतमे ? धर्माणा स्वभावाधिवचने नामकाया इति प्रज्ञप्ति । पदकाया कतमे ? धर्माणा विशेषाधिवचने पदकाया इति प्रज्ञप्ति । व्यञ्जनकाया कतमे ? तदुभयाश्रयेष्वक्षरेषु व्यञ्जनकाया इति प्रज्ञप्ति तदुभयाभिव्यञ्जनतामुपादाय ।' —अभिधर्मसमु० पृ० १ –११।

पृ० ६१ प० १८ भावनयाऽनया । (भावनया विशेषयति ?) ।

पृ० ६१ प० १९ त भवत । "हेतुमति च [पा० ३।१।२६] प्रयोजकव्यापारे प्रेषणादौ वाच्ये धातोर्णिच् स्यात् । भवन्त प्रेरयति भावयति ।"—वा० सिद्धान्तको० ।

पृ० ६२ प० ३, १९ नामकाय । द्रष्टव्या टि० ३९ प० ८ ।

पृ० ६२ प० ७ चैतसिक्या । "चैतसिका धर्मा चित्तविप्रयुक्ताश्च संस्कारा संस्कारस्कन्ध इत्युच्यते ।'— अभिधर्मसमु पृ ५।

पृ० ६३ प० १–४ कल्पना ज्ञानवत् । द्रष्टव्या पृ० १०८ प० २१ ।

पृ० ६३ प० ५ दिङ्नभिक्षो । द्रष्टव्या पृ० ५४७ टि० ९।

पृ० ६८ प० २३ तदग्रहे तद्बुद्ध्यभावात् । समूहिनामणूनामग्रहे समूहबुद्ध्यभावादित्यर्थ । द्रष्टव्या पृ० ९२ प० २३। न्यायवा० १।१।१४।

पृ० ६३ प० २६ गुणाना । "तथा च शास्त्रानुशासनम्—गुणाना परम रूप ।' इति योगभाष्ये ४।१३।

तेषा पश्चाद् विशेषाभावात् । कथ तावदीश्वरस्य इयता सर्गप्रयासेनार्थ ? यदि प्रीति तां ताह नान्तरेणोपाय शक्त कर्तुमिति न तस्यामीश्वर स्यात् । तथैव चान्यस्मिन् । यदि चेश्वरो नरकादिषु प्रजा बहुभिरीतिभिरुपसृष्टां सृष्ट्वा तेन प्रीयते नमोऽस्तु तस्म तादृशायेश्वराय । सुगतिश्चाय तमारभ्य श्लोको भवति — यन्निर्दहति यत् तीक्ष्णो यदुग्रो यत् प्रतापवान् । मासशोणितमज्जादो यत् ततो रुद्र उच्यते ॥ इति । एक खल्वपि जगत कारण परिगृह्णता अन्येषामथाना प्रत्यक्ष पुरुषकारो निह्नुत स्यात् । सहापि च कारणै कारकमीश्वरं कल्पयता केवलो भक्तिवाद स्यात् कारणेभ्योऽन्यस्य तदुत्पत्तौ व्यापारादर्शनात् । सहकारिषु चादिषु कारणेष्वीश्वरो नश्वर स्यात् । अथादिसर्ग ईश्वरहेतुक तस्याप्यन्यानपेक्षत्वादीश्वरवदनादित्वप्रसङ्ग । एव प्रधानेऽपि यथायोग वाच्यम् । तस्माद् न लोकस्यैक कारणमस्ति । स्वानि एवपा कर्माणि तस्यां तस्या जातौ जनयन्ति । अकृतबुद्धयस्तु वराका स्व स्व विपाकफल चानुभवन्त ईश्वरपरं मिथ्या परिकल्पयन्ति । गतमेतद् यत्तु खलु तदुक्त द्वाभ्यामन्ये तु जायन्ते' इति । इति [विन्दर्य श्रीप्रह्लादप्रधानमहोदयाना सौजन्यात् समुपलब्धे हस्तलिखिते] वसुबन्धुविरचितेऽभिधर्मकोशभाष्ये ।

१ धर्माणां प्रविचयमन्तरेण नास्ति क्लेशाना यत उपशान्तयेऽभ्युपाय । क्लेशैश्च भ्रमति भवार्णवेऽत्र लोकस्तद्धेतोरत उदित किलैष शास्त्रा ॥१।३॥ यतो न विना धर्मप्रविचयेनास्ति क्लेशोपशमाभ्युपाय । क्लेशाश्च लोक भ्रामयन्ति ससारमहार्णवेऽस्मिन् । अतस्तद्धेतो तस्य धर्मप्रविचयस्यार्थे शास्त्रा किल बुद्धेन अभिधर्म उक्त । न हि विना धर्मोपदेशेन शिष्य शक्तो धर्मान् प्रविचेतु मिति । स तु प्रकीर्ण उक्तो भगवता, भदन्तकात्यायनीपुत्रप्रभृतिभि पिण्डीकृत्य स्थापितो भदन्तधर्मत्रातोदानवर्गीकरणवदि त्याहुर्वैभाषिका । इति [विन्दर श्रीप्रह्लादप्रधानमहाशयानां सौजन्यादधिगते हस्तलिखिते] अभिधर्मकोशभाष्ये ।

२ गुणानां सत्त्वरजस्तमसा परम प्रधानलक्षण रूप न दृष्टिपथमृच्छति । यत्तु रूप महदादि दृष्टिपथप्राप्त तद् मायेव सुतुच्छम् । —न्यायकुमु० पृ० ६३ ।

---

1 Principal, Fakir Mohan College, Balasore, Orissa

अस्य योगभाष्यस्य तत्त्ववैशारद्या व्याख्यायाम् 'अत्रैव षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टिः'[1] इति व्याख्यातवान् वाचस्पतिमिश्रः, ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यव्याख्यायां भामत्यां [२।१।३।] तु "तस्मात् प्रमाणभूतादपि योगशास्त्रात् प्रधानादिसिद्धिः। अत एव योगशास्त्रं व्युत्पादयिता आह स्म भगवान् वार्षगण्यः—'गुणानां परमं रूपं ... ॥' इति, योगं व्युत्पिपादयिषता निमित्तमात्रेणेह गुणा उक्ताः, न तु भावतः, तेषामतात्त्विकत्वादित्यर्थः। अन्येषामपि सिद्धान्तानामपि प्रधानादीनामनादिपूर्वपक्षन्यायाभासोपेक्षितानामनुवाद उपपन्नम्।' इत्यभिहितं तेनैव वाचस्पतिमिश्रेण। प्रमाणसमुच्चयेऽपोहपरिच्छेदे दिङ्नागेनापि उद्धृतेयं कारिका सांख्यमतनिर्देशावसरे। द्रष्टव्या लघीयस्त्रयवृ० ५।८१। न्यायकुमु० पृ० ६२८। प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ८८०। तत्त्वोपप्लव० पृ० ८०। अष्टसहस्री पृ० १४८। सिद्धिवि० टी० पृ० ७८ B। सांख्यका० जयमं० पृ० ६३। अस्याः कारिकाया विस्तरेणार्थो योगभाष्यव्याख्यादिभ्योऽवगन्तव्यः।

पृ० ६४ पं० १-४. रूपादि ... सविषयता। द्रष्टव्या पृ० १०८ पं० ५—पृ० १०९ पं० १६।

पृ० ६४ पं० ६. केशोण्डुकादि। "केशोण्डुकं यथा मिथ्या गृह्यते तैमिरैर्जनैः।"—लङ्कावतारसू० पृ० २८८। कथमसति अर्थादौ विज्ञानं तदाभासमुत्पद्यते? न हि पुरुषेऽसति स्थाणु पुरुषाभासो भवति। नैष दोषः। अर्थाभासं हि विज्ञानम्। बाह्या विज्ञानात् पृथगर्थास्तित्वमभिनिविशन्ति तैमिरिकस्य केशोण्डुकादिवत्। तस्मात् तदभिनिवेशत्याजनार्थमुच्यते विज्ञानमेवेदमर्थाभासमुत्पद्यते तैमिरिकाणामिव केशोण्डुकाद्याभासं विनापि अर्थसत्त्वादिना इति।"—मध्यान्तविभागटी० पृ० १७-१८। "केशोण्डुका नाम पक्षिणः ये केशमल्लान्युत्पादयन्ति"—शिक्षासमु० पृ० ७०। "यथा चिरकालीनाध्ययनादिखिन्नस्योत्थितस्य नीललोहितादिगुणविशिष्टं केशोण्डुकाख्यं कश्चिन्नयनाग्रे परिस्फुरति, अथवा करमर्दितलोचनरश्मिषु येयं केशपिण्डावस्था स केशोण्डुकः'—शास्त्रदीपिकायुक्ति० पृ० ९९।

पृ० ६४ पं० ९. भ्रान्तिसंवृति। "भ्रान्तिसंवृति... प्रत्यक्षाभं सतैमिरम्॥ द्विविधं प्रत्यक्षाभो विकल्पो विप्लवश्च। पुनश्चतुर्विधः, तदाह—त्रिविधं कल्पनाज्ञानमाश्रयोपप्लवोद्भवम्। अविकल्पकमेकं च प्रत्यक्षाभं चतुर्विधम्॥ ३।२८९॥ स एव द्विविधो विकल्पस्य त्रिधा भेदाच्चतुर्विधः। कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्। ततो विकल्पस्त्रिविधोऽपि प्रत्यक्षाभासः। तत्र [3]भ्रान्तिज्ञानं मृगतृष्णिकादिषु तोयादिकल्पनाप्रवृत्तत्वात् प्रत्यक्षाभासम्, संवृतिसत्सु अर्थान्तराध्यारोपात् तद्रूपकल्पनाप्रवृत्तत्वात्, अनुमानतत्फलादिज्ञानं पूर्वानुभूतकल्पनयेति न प्रत्यक्षम्[3]। प्रभास्वरस्पन्दमानमरीचिनिचयप्रतिभासं प्रत्यक्षमेव। तोयादिकल्पना तु प्रत्यक्षाभासं, तोयेऽसाक्षात्करणाकारत्वात्। संवृतिसत्स्वपि रूपादिग्रहणमात्रमेव प्रत्यक्षम्। अवयविनि तत्समवायिकारणत्वाभिमते न साक्षात्करणम्, अर्थान्तरस्य पूर्वदृष्टस्याध्यारोपात् द्रव्यस्य वा पूर्वपूर्वप्रत्ययेन कल्पितस्य, नावयवी रूपादिव्यतिरेकेण क्वचित् प्रत्यक्षे प्रतिभासत इति। अनुमानज्ञानं लिङ्गज्ञानम्, तत्फलं लिङ्गिज्ञानं न पूर्वानुभूतिमन्तरेण।"—प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३३२। "नन्वविकल्पकं प्रत्यक्षम्, ततस्त्रयमपीदं सविकल्पकत्वादेकं प्रत्यक्षाभासं। तत् किं भ्रान्तिज्ञानं मृगतृष्णिकायां जलावसायि, संवृतिसतो द्रव्यादेर्ज्ञानम्, अनुमानं लिङ्गज्ञानम्, आनुमानिकं लिङ्गिज्ञानम्, स्मार्तं स्मृतिः, आभिलाषिकं चेति विकल्पप्रभेदः आचार्यदिङ्नागेन उक्तः? इत्याह—अनक्षजत्वसिद्ध्यर्थम्... ..।"—प्रमाणवा० मनो० पृ० २०५। "Therefore in this way I [implicitly] assume that memory, induction, desire, doubt, confused knowledge etc perception of water in mirage etc. cannot be called direct perception, since those constructions of thought are present which are the result of previous experiences"—न्यायमुख पृ० ५१। द्रष्टव्यं प्रमाणवा० मनो० टि० पृ० २०५। तत्त्वसं० प० पृ० ३९८। सन्मतिटी० ५२७।

पृ० ६४ पं० १०. सतैमिरम् तैमिरेण द्विचन्द्रादिज्ञानेन सहितं पूर्वोक्तं भ्रान्त्यादिज्ञानं प्रत्यक्षाभासमित्यर्थः।

पृ० ६४ पं० १४. °नित्यं सम्प्र०। (चित्तसम्प्र° ???)।

---

१ "अत्रैव षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टिः—माया इव, न तु माया, सुतुच्छकं विनाशि। यथा हि माया क्षणेनैव अन्यथा भवति एवं विकारा अपि आविर्भावतिरोभावधर्माणः प्रतिक्षणमन्यथा। प्रकृतिर्नित्यतया मायाविधर्मेण परमार्थेति।"—योगभाष्यतत्त्ववैशा० ४।१३। २ "योगशास्त्रस्य हैरण्यगर्भपातञ्जलादेः" इति भामत्याम् [२।१।३] अभिहितत्वात्, तदानीं हिरण्यगर्भादिरचितान्यपि योगशास्त्राण्यासन् इति भाति। ३ * - एतदन्तर्गतः पाठः दिङ्नागविरचितायां प्रमाणसमुच्चयवृत्तावपि विद्यते। ४ द्रष्टव्या टिप्प० ३१ टि० १।

पृ० ६४ प० २२ सङ्घात । "भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषाः ।५।२८। भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषाः स्कन्धा उत्पद्यन्ते। अचाक्षुषास्तु यथोक्तात् सङ्घातात् भेदात् सङ्घातभेदाच्चेति ।'–तत्त्वार्थभा० । "परस्परस्पृष्टगतिभाजनापचयाद् ध्वनिः । *स्पृष्टप्राप्तश्रुते गम्यगर्थभावोपयोगतः ॥ १९।११ ॥ सङ्घातभेदोभयतः परिणामाच्च सम्भवः । * बन्धस्पृष्ट(ष्टौ)मद्वयान्तिकस्नेह रौक्ष्यातिशायनात् ॥१९।१२ ॥'–उद्धृ० द्वात्रिं० ।

पृ० ६५ प० १–४ तत्र प्रतिनियत । दृश्यतां पृ० १०९ प० २५–२८, पृ० ११० प० ३ ।

पृ० ६५ पं० ७ रूपधातु । "धातवोऽष्टादश–चक्षुर्धातुः, रूपधातुः, चक्षुर्विज्ञानधातुः, श्रोत्रधातुः, शब्दधातुः, श्रोत्रविज्ञानधातुः, घ्राणधातुः, गन्धधातुः, घ्राणविज्ञानधातुः, जिह्वाधातुः, रसधातुः, जिह्वाविज्ञानधातुः, कायधातुः, स्प्रष्टव्यधातुः, कायविज्ञानधातुः, मनोधातुः, धर्मधातुः, मनोविज्ञानधातुश्च । [पृ० १] । धात्वर्थः कतमः ? सर्वधर्मबीजार्थः स्वलक्षणधारणार्थः कार्यकारणभावधारणार्थः सर्वप्रकारधर्मप्रभेदधारणार्थश्च ।"–अभिधर्मसमु० पृ० १८ ।

पृ० ६५ प० ८ स्वविषय्या । स्वस्य विषयि इन्द्रियमित्यर्थः । दृश्यतां टिपृ० ४६ प० २८ ।

पृ० ६५ प० १२ नील । दृश्यतां पृ० ६१ प० १ ।

पृ० ६७ पं० १५. हेतुरपदेशो । वैशेषिकसूत्रस्य Pप्रतौ नवमेऽध्याये आह्निकविभागाभावात् नवमाध्यायस्य सप्तदशमिदं सूत्रम्, तत्र च 'हेतुरपदेशो लिङ्गं निमित्तं प्रमाणं कारणमित्यनर्थान्तरम्' इति पाठः ।

---

१ * * एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठो यद्यपि मुद्रितायां द्वात्रिंशिकायां नास्ति तथापि पुण्यपत्तने भाण्डारकरप्राच्यविद्यामन्दिरे [Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona 4] विद्यमानायां हस्तलिखितायां विद्यते इति ध्येयम् । २ दृश्यतां टिपृ० ८ पं० २२ । ३ P वै० सू० नवमाध्यायस्य चन्द्रानन्दविरचितवृत्तिसहितानि आदितोऽष्टौ सूत्राणि पृ० ४८९ टि० ६ इत्यत्रावलोकनीयानि । नवमं तु सूत्रं सवृत्तिकं पृ० ४६० टि० १ इत्यत्र विलोकनीयम् । अवशिष्टानि सूत्राणि वृत्त्या सह अत्र प्रदर्श्यन्ते– [P पृ० २१ B] प्रत्यक्षपरोक्षविषयत्वाद् योगिप्रत्यक्षं प्रत्यक्षानुमानयोर्मध्ये व्याख्यायते– आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम् [वै० सू० ९।१०] आहृत्य विषयेभ्य इन्द्रियाणि तेभ्यश्च मन आत्मन्येव यदा समाधीयते तदा योगजधर्मापेक्षादात्मान्तःकरणसंयोगाद् विशिष्टात् तत्रभवतां स्वस्मिन्नात्मनि ज्ञानं प्रत्यक्षमुत्पद्यते । तथा द्रव्यान्तरेषु [वै० सू० ९।११] प्रतिषिद्धात्मसंयोगेषु व्यापकद्रव्येषु आत्मना असंयुक्तेषु अप्रतिषिद्धात्मसंयोगेषु च परमाण्वादिषु उभाभ्यां संयुक्तेषु ज्ञानमुत्पद्यते । किञ्च आत्मेन्द्रियमनोर्थसन्निकर्षाच्च [वै० सू० ९।१२] सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेष्वर्थेषु तेषां चतुष्टयसन्निकर्षादपि प्रत्यक्षं जायते । तथास्मदादिप्रत्यक्षेषु । तत्समवायात् कर्मगुणेषु [वै० सू० ९।१३] यथा अन्तःकरणसंयोगाद् द्रव्यान्तरेषु ज्ञानमुत्पद्यते तथैव तद्द्रव्यसमवेतेषु कर्मगुणेषु ज्ञानमुत्पद्यते । यथा च चतुष्टयसन्निकर्षात् सूक्ष्मादिष्वस्मत्प्रत्यक्षेषु च ज्ञानं तथैव तत्समवेतेषु गुणकर्मसु ज्ञानमुत्पद्यते संयुक्तसमवायात् । आत्मसमवायादात्मगुणेषु [वै० सू० ९।१४] यथा आत्ममनःसंयोगात् स्वस्मिन्नात्मनि ज्ञानं तथैव स्वात्मसमवेतेषु सुखादिषु ज्ञानमुत्पद्यते । योगिप्रत्यक्षं व्याख्यायानुमानं व्याचष्टे–अस्येदं कार्यं कारणं सम्बन्धि एकार्थसमवायि विरोधि चेति लैङ्गिकम् [वै० सू० ९।१५] अस्येदमिति सम्बन्धमात्रं दर्शयित्वा 'कार्यं कारणम्' इत्यादिना विनिर्दिष्टिः । कार्यकारणग्रहणेन समवायिनामोपलक्षणात्वात्वादपि ग्रहणम् । सम्बन्धिशब्देन संयोगिनो ग्रहणं धूमादेः । अन्यत् व्याख्यातं वैशेषिकसूत्रे । [P पृ० ३२ A] तत्र 'एवंविधप्रसिद्धसम्बन्धस्य अर्थस्य ...मरादिदर्शने परत्र शेषानुव्यवसायो स ग...(लिङ्गदर्शनात्?) ...मानो लैङ्गिकम्' इति वृत्तिकारः । एतेन शाब्दं व्याख्यातम् [वै० सू० ९।१६] यथा कार्यादिस्मृतिसव्यपेक्षमनुमानं त्रिकालविषयमतीन्द्रियार्थं तथैव शाब्दं सङ्केतस्मृत्यपेक्षं त्रिकालविषयमतीन्द्रियार्थं च । अतोऽनुमानेनैकार्थसमवेतत्वादनुमानमेवत्युक्तं भवति । कः शब्दोऽस्य चेत्, तदुच्यते–हेतुरपदेशो लिङ्गं निमित्तं प्रमाणं कारणमित्यनर्थान्तरम् [वै० सू० ९।१७] इत्यादिशब्दपर्यायैः कारणं कथयति । हेतुरपदेशः कारणमित्यर्थः । एवं शब्दः कारणं सदर्थस्य प्रतिपत्तेः लिङ्गं युक्तमिति चेत्, अस्येदमिति बुद्ध्यपेक्षत्वात् [वै० सू० ९।१८] यथा अर्थस्य प्रतिपत्तावस्य हस्तादेः कारणं प्रतिपत्तव्या इति हस्तादेन सो हस्तचेष्टां दृष्ट्वा तत एतस्मात् कारणात् अथ प्रतिपद्यते एवम्

---

1 'तत्र' सुमु० मध्ये नास्ति । 2 सुमु० नास्ति मु० ... । 3 वै० सू० ३।१।८ । दृश्यतां टिपृ० ३२ प० २१ । नय० टि० ६

'अस्यार्थस्य प्रतिपत्तावयं शब्दः कारणम्' इति प्रसिद्धसङ्केतः ततः शब्दात् कारणादर्थं प्रतिपद्यते, यथा अभिनयादेरपि अर्थं प्रतिपद्यन्ते लौकिकाः एवं शब्दोऽर्थस्य सङ्केतवशेन व्यञ्जकत्वात् कारणमिति **वृत्तिकारः**। एवमुपमा[ना]दीनामन्तर्भावः। एवं द्वे एव प्रमाणे। प्रमाणतत्त्वं च प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणं प्रमा प्रमाणमिति वा। अनुमानाङ्गं स्मृतिरुच्यते[1]—**आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः** [वै० सू० ९।१९], अग्न्यर्थिनो धूमदर्शनं यदुत्पन्नं तदपेक्षादात्मान्तःकरणसंयोगाद् विशिष्टाच्च भावनाख्यसंस्काराद् 'यत्र धूमस्तत्राग्निः' इति स्मृतिरुत्पद्यते। **तथा स्वप्नस्वप्नान्तिकम्**[2] [वै० सू० ९।२०], तथा स्वप्नः स्वप्नेऽपि स्वप्नज्ञानं स्वप्नान्तिकं च। उपरतेन्द्रियस्य प्रलीनमनस्कस्यान्तःकरणेनैव ज्ञानं स्वप्नः, [P पृ० ३२ A] स्वप्नेऽपि स्वप्नज्ञानं स्वप्नान्तिकम्, तदुभयं पूर्वप्रत्ययापेक्षादात्ममनःसंयोगविशेषाद् भावनासहायादुत्पद्यते। **धर्माच्च** [वै० सू० ९।२१], अननुभूतार्थविषयमपि स्वप्नज्ञानं शुभाशुभसूचकं धर्मात् 'च'शब्दादधर्माच्चेति। जाग्रतस्तु **इन्द्रियदोषात् संस्काराच्चाविद्या** [वै० सू० ९।२२], वातादिदोषेणोपहतेन्द्रियस्य पूर्वरजतानुभवजनितात् संस्कारादात्ममनःसंयोगाच्च विशिष्टादधर्मापेक्षात् अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं यथा शुक्तिकायां रजतमिति। अनध्यवसायो यथा दाक्षिणात्यस्योष्ट्रदर्शने। **तद्दुष्टं ज्ञानम्** [वै० सू० ९।२३], यदेतत् संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणं तद् दुष्टमप्रमाणमिति। **अदुष्टं विद्या** [वै० सू० ९।२३], यददुष्टं प्रत्यक्षानुमानाख्यं तद्विद्येत्युच्यते। **आर्षं सिद्धदर्शनं च धर्मेभ्यः**[3] [वै० सू० ९।२८], तत्र यल्लिङ्गनिरपेक्षमतीतानागतवर्तमानेषु धर्मादिषु अतीन्द्रियेषु ग्रन्थैरनुपात्तेषु देवर्षीणां यत् प्रातिभमुत्पद्यते विज्ञानं लौकिकानां कदाचिदेव 'श्वो मे भ्राता आगन्ता, हृदयं मे कथयति' इति अनवधारणफलं केवलं तर्केण नीयते तदार्षमित्युच्यते। अञ्जनरसायनादिसिद्धानां तु सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टार्थविषयं यद्वा दिव्यान्तरिक्षादिनिमित्तेभ्यः प्राणिनां धर्माधर्मविपाकपरिज्ञानं तत् सिद्धदर्शनम्। तच्च प्रत्यक्षानुमानाभ्यां न भिद्यते, आर्षं भिद्यत इति वर्णयन्ति। तदेतदार्षं सिद्धदर्शनं च विशिष्टाद् धर्मादात्ममनःसंयोगाच्चोत्पद्यत इति नवमोऽध्यायः।

बुद्धिप्रसङ्ग[4] एवं पर्यवसिते सुखदुःखयोरालम्बनं सुखदुःखे च कथयति। तथाहि—'सुखदुःखसमोहमयानि भूतानि' इत्याहुः। तद्युक्तम्, **आत्मसमवायः** [P. पृ० ३३ A] **सुखदुःखयोः पञ्चभ्योऽर्थान्तरत्वे हेतुस्तदाश्रयिभ्यश्च गुणेभ्यः** [वै० सू० [5]१०।१], आत्मन्येव यः समवायः सुखदुःखयोरसौ पञ्चभ्यः क्षित्यादिभ्यस्तदाश्रयिभ्यश्च गुणेभ्यो गन्धरसरूपस्पर्शेभ्योऽर्थान्तरत्वे हेतुः, अन्यगुणानामन्यत्रासमवायात्। आत्मसमवायश्चैनयोरहङ्कारेण एकवाक्यभावात्। आत्मसमवायित्वेऽपि **इष्टानिष्टकारणविशेषाद् विरोधाच्च मिथः सुखदुःखयोरर्थान्तरभावः** [वै० सू० १०।२], स्त्र्यादिकारणजन्यं सुखम्। परस्परविरुद्धे च सुखदुःखे, अन्योन्यविनाशेनोत्पत्तेः। अतोऽनयोर्भेदः, नैकत्वमेकार्थसमवायात्। संशयनिर्णयौ परस्पराभावमात्रम् न वस्तुसन्ताविति चेत्, **संशयनिर्णययोरर्थान्तरभावश्च ज्ञानान्तरत्वे हेतुः** [वै० सू० १०।३], अर्थान्तरात् परस्परविलक्षणात् कारणाद् भावः उत्पत्तिः संशयनिर्णययोः। तथाहि—विशेषं जिज्ञासोरगृहीतविशेषस्य सामान्यालोचनात् संशयो जायते। संशयात् परतः प्रमाणान्तरेण विशेषग्रहणात् 'स्थाणुरेवायम्' इति निश्चयः। यदि चैतौ न वस्तुसन्तौ भवेतां नैतौ विलक्षणकारणाभ्यामुत्पद्येयाताम्। अतो ज्ञानान्तरभूतौ संशयनिर्णयौ परस्परतः। निर्णयस्तु प्रत्यक्षानुमानाभ्यां न भिद्यत इति केचित्। **तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्यां ज्ञानाभ्यां व्याख्याता** [वै० सू० १०।४], यथा स्मृतिमत आत्मनः प्रत्यक्षं लिङ्गं दृष्ट्वा अप्रत्यक्षे ज्ञानमुत्पद्यते तथैव सामान्यमात्रदर्शनात् स्मृतिमतो विशेषं जिज्ञासोरगृहीते विशेषे 'स्थाणुः पुरुषो वा' इति जायते संशयः। यथा च भूतार्थसम्बन्धवशेन 'अयमेवंभूतोऽर्थः' इति प्रत्यक्षमुत्पद्यते तथैव विशेषसम्बन्धवशेन निवृत्ते संशये 'इदमेवंभूतम्' इति निर्णयो जायते। [P. पृ० ३३ B.] इदानीं कार्यकारणबुद्धी निरूपयति—**भूतमिति प्रत्यक्षं व्याख्यातम्** [वै० सू० १०।५], स्वकारणेभ्य उत्पन्ने कार्ये भूतं निष्पन्नमिदं कार्यमिति कार्यज्ञानम्, 'विशेषणज्ञानाद् विशेष्यज्ञानम्' इति न्यायेन तद् व्याख्यातम्, तच्च मुख्यम्, अन्यत्र त्वौपचारिकं कार्याभावात्, तथाहि—निष्पत्स्यमाने कार्ये **भविष्यतीति कार्यान्तरे दृष्टत्वात्**[6] [वै० सू० १०।६], यथाभूतायाः सामग्र्या अनन्तरं पटादि कार्यमुत्पन्नं दृष्टं तथाभूतसामग्रीदर्शनादिदानीमनुत्पन्नेऽपि कार्ये कार्यशब्दमुपचर्य 'भविष्यति कार्यम्' इति जायते कार्यबुद्धिः। निष्पद्यमानेऽपि **तथा भवतीति**[7] **सापेक्षेभ्योऽनपेक्षेभ्यश्च** [वै० सू० १०।७], यदा प्रस्तारिताग्न[8]

1 °तुच्यते—वृ०। 2 'तथा स्वप्नस्वप्नान्तिकम्'-वृसू० मध्ये नास्ति। 3 धर्मेभ्यः। नवमोऽध्यायः।—सू०। 4 बुद्धिप्रसंगा एगापर्यवसिते सुखदु खबुद्धयोरालम्बनसुखदु खे च—वृ०। 5 सू० मध्ये वृसू० मध्ये च दशमाध्याये आह्निकभेदो नास्ति। 6 कार्यान्तरदृष्टत्वात्-सू०। 7 भवति—वृसू०। सूत्रमिदं प्रशस्तपादभाष्ये संयोगनिरूपणे उद्धृतम्, व्याख्यातं च तद् व्योमवत्या न्यायकन्दल्या च। 8 प्रस्तारिता शून्यपूर्वपूर्व°—वृ०।

पृ० ६६ पं० १–४ ननु च यावत्। द्रष्टव्या पृ० ११० प० ३–८ ।

पृ० ६६ प० ८ साध्यधर्म । "एतेनैव दृष्टान्तदोषा अपि निरस्ता भवन्ति, यथा नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात् कर्मवत् परमाणुवत् घटवदिति साध्यसाधनधर्मोभयविकलाः ।"–न्यायवि० ।

पृ० ६६ पं० ९. इष्टविघातात् । "इष्टविघातकृद् विरुद्धः, यथा परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वात् शयनासनाद्यङ्गवदिति, तदिष्टासंहतपारार्थ्यविपर्ययसाधनाद् विरुद्धः ।"—न्यायवि० ।

पृ० ६६ प० १७ अन्यथा दाह । श्लोकोऽयं बहुषु ग्रन्थेषु उद्धृतो दृश्यते–शास्त्रवा० का० ६६७ । अनेकान्तजय० पृ० ११ ३६६ । व्योमव० पृ० ५८४ । तत्त्वसं०प० पृ० २८० । न्यायकुसु० पृ० ५५३ । न्यायम० । शास्त्रवार्तासमुच्चये अनेकान्तजयपताकायां च अग्रवदेव पाठः । अस्य व्याख्या–"अन्यथा दाहसम्बन्धात् स्वलक्षणानुभवेन दाहं दग्धोऽभिमन्यते पुमान् । तथा अन्यथा दाहशब्देन सामान्यलक्षणाध्यवसायेन दाहाय सम्प्रतीयते ।"–अनेकान्तजय स्वो० । "यदि शब्देन यथावद् बाह्योऽर्थः प्रत्याय्येत तदा शब्दसन्निधापितोऽसौ तामर्थक्रियां कथं न कुर्यात्? यतश्चाग्निसम्बन्धाद् दग्धो दाहमन्यथा अनुभवति दाहशब्देन च दाहमन्यथाऽवगच्छतीति शब्दार्थयोर्नास्ति कश्चिद् वास्तवः समन्वय इति बोद्धव्यम् ।"–तत्त्वसं० पञ्जि० श्लो० ४२५ ।

पूर्वं[1]संयोगापेक्षानुपलभमानः पश्चात् पश्चादुत्तरोत्तरतन्तुसंयोगे सति अनपेक्षानुपलभते तदास्य पट्टिकार्थया तत्कार्यं पश्यन् उत्पद्यमाने कार्यद्रव्ये निष्पन्नानिष्पन्नसंयोगपर्यालोचनया भवति कार्यमुत्पद्यते कार्यमिति जायते बुद्धिः । यथा चोत्पत्तौ एवं विनाशेऽपि प्रयत्नानन्तरोत्पत्तीनां घटादिद्रव्याणां विनाशे अभूत् इति प्रत्ययस्य भूतप्रत्यक्षाभावात् [९।१।६] इत्यादिना कथितत्वादिदानीं पारिणामिके शरीरादौ कथ्यते । तत्र विनष्टे अभूदित्यभूतात् [वै० सू० १०।८], अभूताद् विनष्टादित्यर्थः । पाण्यादसीवादीनवयवान् विभक्तानुपलभ्य विनाशादसमवायिकारणात् संयोगाद् विनष्टे कार्ये 'अभूत् कार्यं शरीराख्यम्' इति जायते बुद्धिः । विनश्यति पुनः सति च कार्यासमवायात् [वै० सू० १०।९] सति संयोगे 'च'शब्दादसति पावकादिविनाशकारणव्यापारेऽपि कदाचिद् ग्रीवाद्यवयवानामनिवृत्ते संयोगे विभागाच्च पाण्यादीनां विनिवृत्ते [P पृ ३४ A] कार्यस्य शरीरादेरसमवायाद् विनाशकारणप्राधान्येन प्रचलितत्वाद् विनष्टाविनष्टसंयोगालोचनेन कार्यं नश्यति इति ज्ञान मुत्पद्यते । अन्ये तु 'अभूत् कार्यम्' इति व्याचक्षते तदयुक्तं तदभिप्रायेणैव कार्यस्य विनष्टत्वात् । एषा च बुद्धिः एकार्थसमवायिषु कारणान्तरेषु दर्शनादेकदेशे इत्येतस्मिन् [वै० सू० १०।१०] शरीरादौ कस्मिंश्चिदेकस्मिन्नर्थे यदा पाण्यादयोऽवयवाः समवायिनः उपलब्धाः अथास्य तेषु एकदेशबुद्धिरुत्पन्ना इदानीं तान् विभज्य विभक्तानुपलभ्य एतस्मिन्नेव दर्शने 'अभूत् कार्यम्' इति ज्ञानोत्पत्तिः । के तेऽवयवाः? इत्याह–शिरः पृष्ठमुदरं पाणिरिति तद्विशेषेभ्यः [वै० सू० १०।११] स्वगतान्यविशेषेभ्यः शिरस्त्वादिभ्यो येषु ज्ञानं जायते [त] शिरआदयोऽवयवा इत्यर्थः । कारणबुद्धिस्तु कारणमिति द्रव्ये कार्यसमवायात् [वै० १।१२] कार्यं द्रव्यं गुणान् कर्म वा समवेतं द्रव्यं पश्यतो द्रव्यं कारणम् इति मुख्या बुद्धिः कार्यस्य आनन्तर्यात् । अजाते तु संयोगाद्वा [वै० सू० १०।१३] जनिष्यमाणेऽपि कार्ये तन्त्वादीनां परस्परेण संयोगात्पट प्राग् तेषु कारणबुद्धिरुत्पद्यते । कारणसमवायात् कर्मणि, [वै० सू० १०।१४] संयोगविभागेषु निरपेक्षकारणत्वात् तत्कारणद्रव्यसमवायात्वात् कर्मोत्पत्तिमात्रमेव कार[ण]बुद्धिं जनयति । इदानीं गुणेषु, तथा रूपे कारणकारणसमवायाच्च [वै० सू० १।१५] कार्यरूपस्य समवायिकारणे पटाख्ये यद् समवायिकारणं तन्तवः तेषु कारणकारणेषु समवेतत्वात् कारणं रूपादय इत्युच्यते, च शब्दादनुत्पन्नेऽपि कार्यरूपे कारणबुद्धिः । कारणसमवायात् संयोगे [वै० सू० १०।१६] कार्यस्य पटादेः समवायिकारणेषु तन्त्वादिषु समवेतत्वात् संयोगं द्रव्यं प्रति कारणबुद्धिः । [P पृ० ३४ B] तुल्यारम्भः तु तथा कारणाकारणसमवायाच्च [वै० सू० १०।१७] कारणं पटः अकारणं घातो अपि संयोगः समवेतत्वात् कारणं पटकस्थानाम् । अभिघात कर्मकारणं समवेतत्वाद् वेगवद्द्रव्यसंयोगः कर्मणः कारणम् । पाककारम्भ

---

1 'दाहस्या'–मू० । 2 द्रष्टव्यं न्यायमञ्जरी० पृ० ४८९ टि० ६ । 3 अभूतात्–मू० । 4 अभूत–मू० । 5 (कार्यस्याभिव्यक्तत्वात्?) । 6 ए,वमिन्–मू० । अत्र 'इत्येतस्मिन्' इति पाठः उपलभ्यते मूले, शङ्करमिश्राभिमतोऽपि स एव पाठः स्वीकृतः । 7 (दर्शनात्स इति?) । 8 द्रव्यमुत्तं भवेत्–मू० । 9 ११ इत्यन्तर्गतः पाठो मुद्रि० मध्ये नास्ति । 10 नास्ति मुद्रि० मध्ये नास्ति । 11 (अभिघाते?) ।

पृ० ६६ पं० २१. सर्वत्रा'' । (सर्वत्र अर्थान्तराध्यारोपवृत्ति अर्थान्तरहेयतयोत्पन्नं न तज्ज्ञानम्? सर्वं नार्थान्तराध्यारोपवृत्ति अर्थान्तरहेयतयोत्पन्नं तज्ज्ञानम्??)।

पृ० ६७ पं० १-३ कारकतापि· धूमानुमिताग्निवत्। दृश्यतां पृ० ११० पं० ६-९।

पृ० ६७ पं० ७ यस्मिन् । दृश्यता पृ० ९२ टि० ७।

पृ० ६८ पं० १-४. कारकताया । दृश्यता पृ० १ ० पं० ९-११।

पृ० ६९ पं० १-४ रूपैक । दृश्यतां पृ० ११० पं० ११-१५।

पृ० ६९ पं० ५. भावानामेकवचसाधारण । अत्र भावानां मेचकवत् साधारणभवनत्वाभवनत्वात् इति य०प्रत्यनुसारी पाठः समीचीनो भाति।

पृ० ६९ पं० १२. अनग्ने । अत्र 'अनग्नेरन्यस्य' इति भा० प्रतिपाठे 'अग्नितोऽन्यस्य अनग्ने.' इत्यर्थो ज्ञेयः, 'अनग्नेरग्नेरन्यस्य' इति य० प्रति पाठेऽपि स एवार्थो ज्ञेयः।

पृ० ७० पं० १-२. नाणुषु '' ' । दृश्यतां पृ० ११० पं० १५-१६।

पृ० ७० पं० ३,२०,२३. प्रत्यक्षविधि'''। दृश्यतां पृ० ७६ पं० २।

पृ० ७० पं० १७ प्रमेय· । "अनैकान्तिक. षट्प्रकार – साधारणः, असाधारण, सपक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापी, विपक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षव्यापी, उभयपक्षैकदेशवृत्ति., विरुद्धाव्यभिचारी चेति। तत्र साधारणः 'शब्द. प्रमेयत्वाद् नित्य' इति, तद्धि नित्यानित्यपक्षयोः साधारणत्वादनैकान्तिकम्—किं घटवत् प्रमेयत्वादनित्यः शब्द आहोस्विदाकाशवत् प्रमेयत्वाद् नित्य.? इति। असाधारण. 'श्रावणत्वाद् नित्य.' इति। तद्धि नित्यानित्यपक्षाभ्यां व्यावृत्तत्वाद् नित्यानित्यविनिर्मुक्तस्य चान्यस्यासम्भवात् संशयहेतु.–किम्भूतस्यास्य श्रावणत्वम्? इति।"—न्यायप्र०।

पृ० ७२ पं० ९. मायेयदिन्नाविव। मायाया अपत्यं मायेयो बुद्ध इत्यर्थ.। "शाक्यमुनिस्तु य.॥ १४॥ स शाक्यसिंह. सर्वार्थसिद्ध. शौद्धोदनिश्च स । गौतमश्चार्कबन्धुश्च मायादेवीसुतश्च सः॥ १५॥"—अमरको०। 'दिन्न' विषये दृश्यतां पृ० ५४७ टि० ९।

पृ० ७२ पं० १५. सति सम्भवे ·। "सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवत्। न शैत्येन न चौष्ण्येन वह्नि. क्वापि विशि(शे)ष्यते॥"—तन्त्रवा० पृ० २०८ । "सम्भवव्यभिचाराभ्यां विशेषणविशेष्ययो.। दृष्ट विशेषण लोके यथेहापि तथेक्ष्यताम्॥"—बृहदा० वा० पृ० २०१२। "सम्भवे व्यभिचारे च विशेषणविशेष्यभाव.।"—हेतुबि० टी० पृ० २१२। दृश्यतां प्रमाणमी० १।२।

तु संयुक्तसमवायादग्नेर्वैशेषिकम् [वै० सू० १०।१८], अणूना पाकजरूपाद्यारम्भे अणुभि संयुक्तेऽग्नौ समवेतमुष्णस्पर्श वैशेषिकं गुणमपेक्षते संयोग । द्रव्य वर्जयित्वा अन्यत्र संयोग. सापेक्ष कारणम्। अतीन्द्रिये भूतादावर्थे लैङ्गिकं प्रमाणं व्याख्यातम् [वै० सू० १०।१९], लैङ्गिकं परोक्षमुच्यते, 'भविष्यति' इत्यादि कार्याणा येनावगम्यते तदनुमानं प्रमाणं व्याख्यातम्। शास्त्रादौ धर्मो व्याख्येयतया प्रतिज्ञात, अतस्तस्य प्रत्याम्नायानुसन्धानार्थं सूत्रद्वयं गतमपि पुनरुच्यते–दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय [वै० सू० १०।२०], श्रुतौ स्मृतौ च दृष्टाना दृष्टस्य प्रयोजनस्याभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय धर्मायेत्यर्थ । तस्य चाम्नायात् समधिगम उक्त । आम्नायस्य च सिद्धं प्रामाण्यम्, तद्वचनादाम्नायप्रामाण्यमिति [वै० सू० १०।२१], तनुभुवनादिकार्यतया विज्ञातो भगवानीश्वर, तत्प्रणयनाच्चाम्नायस्य सिद्धं प्रामाण्यम्। 'इति'शब्द समाप्त्यर्थं । एवं द्रव्यादीना साधर्म्यवैधर्म्यपरिज्ञानाद् वैराग्यद्वारेण ज्ञानोत्पत्तेः 'आत्मा ज्ञातव्य.' इत्यादिवाक्येभ्यश्चोपासनाक्रमेण विज्ञानावाप्तेर्निःश्रेयसाधिगम ।

जगतोऽस्यानन्दकरं विद्याशर्वर्या सदैव युश्चन्द्रम्।
आनन्दयति स वृत्तिं चन्द्रानन्दो व्यधादेताम्॥"

इति चन्द्रानन्दविरचिताया वैशेषिकसूत्रवृत्तौ P पृ० ३१-३४। दृश्यता टिप्पृ० ८ पं० २२।

---

1 दृश्यता वै० सू० १०।६। 2 दूषणतां वै० सू० ६।२।१। टिप्पृ० ३६ पं० १९। 3 दृश्यतां वै० सू० १।१।२। पृ० ४४४ टि० ४। 4 इत्यादिना वाक्येभ्यश्चोपासाक्रमेण विज्ञानाव्याप्तेर्निःश्रेयसाधिगम –वृ०। 5 विद्यासर्वर्या –वृ०।

पृ० ७२ प० १९ रूपत इति रूप्यम्। अत्र 'रुप्यत इति रुपम्' इति पठनीयम्।

पृ० ७३ प० १,८ प्रत्येक । द्दश्यता पृ० ९६ प० ३०।

पृ० ७३ प० १३ निजानाति । द्दश्यता तत्त्वार्थसूत्रसर्वार्थसिद्धि १।१२। शास्त्रवार्तासमुच्चये [श्लो० ३३२] अनेकान्तजयपताकास्वोपज्ञवृत्तौ [पृ० १।२३३, २।२०२] च 'एकमर्थं विजानाति न विज्ञानद्वय यथा। विजानाति न विज्ञानमेकमर्थद्वय तथा ॥' इति पाठो हरिभद्रसूरिभि स्वीकृत इति ध्येयम्। "अयमत्र भाव —क्षणिकत्वाभ्युपगमे बौद्धस्य न कदाचित् क्वचित् कश्चिदप्यर्थ एकसन्तानवर्तिभ्या द्वाभ्या नानाभ्या चातु शक्य क्रमभाविनाद्उभयो। तथा द्वावपि क्षणौ क्रमभाविनावेकेन नानाक्षणेन न बोद्धु पार्यत क्षणिकवादिपति। –अनेकान्तजय० स्वो वि० पृ० १।२३३।

पृ० ७३ प० १६ प्रत्यक्ष कल्पना । इद न्यायमुखेऽप्यस्ति, द्दश्यता टिपृ० ३० प० ३०, टिपृ० ३१ प० ६।

पृ० ७३ प० २५ गुणसद्द्रावो । द्दश्यता टिपृ० १६ प० ३५।

पृ० ७४ प० ३ मायेयीय । मायेयो बुद्ध । मायेयीयो बुद्धसम्बन्धीत्यर्थ ।

पृ० ७४ प० १८ °पादनाय [अय] न्वित्यादि। (°पादनादय त्वित्यादि? पादनेऽय त्वित्यादि?)।

पृ० ७४ प० १४ शब्दादिभि । द्दश्यता पृ० २६८ टि० १।

पृ० ७४ प० २१ सघाता एव । उभाभ्यामपि चक्षुर्भ्या पश्यति व्यक्तदर्शनात्। चक्षु श्रोत्रमनोऽप्राप्तविषय त्रयम यथा ॥ १।४३ ॥ तद्यदि चक्षु पश्यति किमेकेन चक्षुषा रूपाणि पश्यति आहोस्विदुभाभ्याम्? नात्र नियम । 'उभाभ्यामपि चक्षुर्भ्या पश्यति व्यक्तदर्शनात्'। उभाभ्यामपि चक्षुर्भ्या पश्यतीति आभिधर्मिका। तथाहि–द्वयोर्विवृतयो परिशुद्धतर दर्शन भवति एकस्मिश्चोन्मीलित चक्षुषि द्वितीये चार्धनिमीलिते द्विचन्द्रादिग्रहण भवति, नैकतरान्यथाभावात्। न चाश्रयविभागाद् विज्ञानविभागप्रसङ्ग, विज्ञानस्य देशाप्रतिष्ठितत्वाद् रूपवदिति। यदि चक्षु पश्यति श्रोत्र शृणोति यावद् मनो विजानाति, किमेषा प्राप्तो विषय आहोस्विदप्राप्त? 'चक्षु श्रोत्रमनोऽप्राप्तविषयम्। तथाहि–दूरादर्थ पश्यति, अक्षिस्थमञ्जन न पश्यति। दूराच्छब्द शृणोति। सति च प्राप्तविषयत्वे दिव्य चक्षु श्रोत्रमिह ध्यायिना नोपलभ्येत घ्राणादिवत्। यद्यप्राप्तविषय चक्षु, कस्मान्न सर्वमप्राप्त पश्यति दूर तिरस्कृत च? कथ तावदयस्कान्तो न सर्वमप्राप्तमय कर्षति? प्राप्तविषयत्वेऽपि चैतत् समानम्, कस्माद् न सर्व प्राप्त पश्यति अञ्जन शलाका वा? यथा च घ्राणादीना प्राप्तो विषयो न तु सर्व सहभूगन्धाद्यग्रहणात् एव चक्षुषोऽपि अप्राप्त स्याद् न तु सर्व। मनस्तु अरूपित्वात् प्राप्तुमेव अशक्यम्। केचित् पुन श्रोत्र प्राप्ताप्राप्तविषय मन्यन्ते कर्णाभ्यन्तरेऽपि शब्दश्रवणात्। शेष तु घ्राणजिह्वाकायाख्य त्रयमन्यथा प्राप्तविषयमित्यर्थ । घ्राण कथ प्राप्तविषयम्? निरुच्छ्वासस्य गन्धाग्रहणात्। कथ प्राप्तिर्नाम? निरन्तरोत्पत्ति। कि पुन परमाणव स्पृशन्ति अन्योन्यमाहोस्विन्न? न स्पृशन्तीति काश्मीरिका। कि कारणम्? यदि तावत् सर्वात्मना स्पृशेयु, मिश्रीभवेयुर्द्रव्याणि। अथैकदेशेन सावयवा प्रसज्येरन्। निरवयवाश्च परमाणव । कथ तर्हि शब्दाभिनिष्पत्तिर्भवति? अत एव। यदि हि स्पृशेयु हस्तो हस्तेऽभ्याहत सज्जेत उपलश्चोपले। कथ सञ्चित प्रत्याहत न विशीर्यते? वायुधातुसधारितत्वात्। कश्चिद्धि वायुधातुर्विकिरणाय प्रवृत्तो यथा सवर्तन्याम्। कश्चित् सधारणाय यथा विवर्तन्यामिति। कथमिदानीं निरन्तरप्राप्तया प्राप्तविषयत्रयमुच्यते? तदेवैषा निरन्तरत्व यद् मध्ये नास्ति किञ्चित्। अपि खलु सघाता सावयवत्वात् स्पृशन्तीत्यदोष। एव च कृत्वा अयमपि ग्रन्थ उपपन्नो भवति विभाषाया 'किं नु स्पृष्टहेतुक स्पृष्टमुत्पद्यत आहोस्विदस्पृष्टहेतुकम्' इति प्रश्नयित्वा आह–कारण प्रति कदाचित् स्पृष्टहेतुकम् * अस्पृष्टमुत्पद्यत यदा विशीर्यते। कदाचिदस्पृष्टहेतुक स्पृष्ट यदा चय गच्छति। कदाचित् स्पृष्टहेतुक स्पृष्ट यदा चयवता चय। कदाचिदस्पृष्टहेतुकमस्पृष्ट यथा वातायनरज इति। यदि परमाणव स्पृशेयुस्तत क्षणान्तरावस्थान स्यादिति भदन्तवसुमित्र। न स्पृशन्ति। निरन्तरे तु स्पृष्टसज्ञेति भदन्त। भदन्तमत चैष्टव्यम्। अन्यथा हि सान्तराणा परमाणूना शून्येष्वन्तरेषु गति केन प्रतिबध्येत यत सप्रतिघा इष्यन्ते। न च परमाणुभ्योऽन्ये सघाता इति। त एव त सघाता स्पृश्यन्ते यथा रूप्यन्ते। यदि च परमाणोर्दिग्भागभेद कल्प्यते स्पृष्टस्यास्पृष्टस्य वा सावयवत्वप्रसङ्ग।

---

१ अभिधर्मकोशभाष्यस्यायमश श्रीप्रह्लादप्रधानमहोदयाना [Principal Fakir Mohan College, Balasore, Orissa] सौजन्यादधिगत । * एतच्चिह्नपर्यन्तोऽपीयानश श्रीवासुदेवविश्वनाथगोखलेमहोदयाना [Poona] सविधेऽपि एतस्मिन पत्रे विद्यते। प्र० पुस्तक धा० पत्रात् क्वचित् क्वचित् पाठभेदोऽस्ति। 'रूपाणि प्र० पुस्तक नास्ति। २ अन्योन्यम् प्र० पुस्तके नास्ति।

नो चेत् स्पृष्टस्याप्यप्रसङ्गः।" इति वसुबन्धुविरचितेऽभिधर्मकोशभाष्ये १।४३। विस्तरेण त्वस्य व्याख्यानं यशोमित्रविरचितायां स्फुटार्थाया व्याख्यायामवलोकनीयम्।

पृ० ७४ पं० २६. पिण्डोऽणुमात्रकः···। "न तदेकं न चानेकं विषय. परमाणुश. । न च ते संहता यस्मात् परमाणुर्न सिध्यति ॥ ११ ॥ इति, किमुक्तं भवति? यत् तद् रूपादिकमायतनं रूपादिविज्ञप्तीनां प्रत्येकं विषय स्यात् तदेकं वा स्याद् यथा अवयविरूपं कल्प्यते वैशेषिकै.? अनेकं वा परमाणुशः? संहता वा त एव परमाणवः? न तावदेकं विषयो भवति अवयवेभ्योऽन्यस्य अवयविरूपस्य क्वचिदप्यग्रहणात्। नाप्यनेकम्, परमाणूनां प्रत्येकमग्रहणात्। नापि ते संहता विषयीभवन्ति, यस्मात् परमाणुरेकं द्रव्यं न सिध्यति। कथं न सिध्यति? यस्मात्, षट्केन युगपद् योगात् परमाणो षडंशता। षड्भ्यो दिग्भ्यः षड्भिः परमाणुभिर्युगपद् योगे सति परमाणो षडंशता प्राप्नोति, एकस्य यो देशस्तत्रान्यस्यासम्भवात्। षण्णा समानदेशत्वात् पिण्ड. स्यादणुमात्रक ॥ १२ ॥ अथ य एवैकस्य परमाणोर्देशः स एव षण्णाम्, तेन सर्वेषां समानदेशत्वात् सर्वः पिण्डः परमाणुमात्रः स्यात् परस्पर(रा?)व्यतिरेकादिति न कश्चित् पिण्डो दृश्यः स्यात्।" इति वसुबन्धुविरचितायां स्ववृत्तिसहिताया विंशतिकाया विज्ञप्तिमात्रतासिद्धौ।

पृ० ७४ पं० २६,३१. सप्रतिघत्व··। 'सनिदर्शन··'। "अपि खलु त्रिभि. कारणैः सप्रतिघं द्रष्टव्यम्। जातितोऽपि उपचयतोऽपि अपरिकर्मकृततोऽपि। तत्र जातित. यद्(द)न्योन्यमावृणोति आव्रियते च। तत्रोपचयत. परमाणोरूर्ध्वम्। तत्रापरिकर्मकृततो यद् न समाधिवशावर्तिरूपम्। अपि खलु प्रकोपपदस्थानतः सप्रतिघम्।'–अभिधर्मसमु० पृ० १७।

पृ० ७५ पं० ८. गतिप्रतिबन्धाभाव···। दृश्यता टिप्प० ४५ पं० ३४।

पृ० ७५ पं० २३. प्रत्येकं··। दृश्यतां पृ० ९६ पं० ३०।

पृ० ७६ पं० १९. रूपरसा···। अत्र 'रूपरसादिवदन्यरूपम्' इति यथाश्रुतपाठोऽपि कथञ्चित् सङ्गच्छते।

पृ० ७७ पं० १३. यस्मिन् भिन्ने···। दृश्यतां पृ० ९२ टि० ७।

पृ० ७७ पं० २४. नामजात्यादि···। दृश्यतां टिप्प० ३० पं० २१।

पृ० ७८ पं० ६. प्रमाण । "प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः"–पाणिनि० ५।२।३७।

पृ० ७८ पं० २,९,३८. यदेतद्···। अस्य अभिधर्मकोशभाष्यस्य यशोमित्ररचिता स्फुटार्था व्याख्या—"यदा तत्प्रकारव्यवच्छेद इति यदा नीलादिप्रकारनिमित्ताभोगः। एवं श्रोत्रादिविज्ञानमिति। य एष चतुर्विध. शब्द उक्तः तत्र कदाचिदेकेन द्रव्येण श्रोत्रविज्ञानमुत्पद्यते यदा तत्प्रकारव्यवच्छेदो भवति कदाचिद्बहुभिर्यदा न व्यवच्छेद.। तद्यथा तूर्यशब्दसमूहमनेका-

---

१ "ये पुनरिमे अष्टादश धातव उक्तास्तेषा कति सनिदर्शना. कति अनिदर्शना? सनिदर्शन एकोऽत्र रूपम्। स हि शक्यते निदर्शयितुम् 'इदमिहामुत्र' इति। उक्त भवति अनिदर्शना शेषा इति। कति सप्रतिघा कति अप्रतिघा? सप्रतिघा दश रूपिणः। य एते रूपस्कन्धसङ्गृहीता दश धातव उक्तास्ते सप्रतिघा। प्रतिघो नाम प्रतिघात। स च त्रिविध. आवरणविषयालम्बनप्रतिघातत। तत्र आवरणप्रतिघात स्वदेशे परस्योत्पत्तिप्रतिबन्ध, यथा हस्तो हस्तेन प्रतिहन्यते उपले वा, उपलोऽपि तयो। विषयप्रतिघातश्चक्षुरादीना विषयिणां रूपादिषु विषयेषु। यथोक्तं प्रज्ञप्तौ–अस्ति चक्षुर्जले प्रतिहन्यते न स्थले, यथा मत्स्यानाम्। अस्ति स्थले न जले, प्रायेण मनुष्याणाम्। अस्त्युभयत्र शिशुमारमण्डूकपिशाचकैवर्तादीनाम्। अस्ति नोभयत्र, एतानाकारान् स्थापयित्वा। अस्ति चक्षुर्यद्रात्रौ प्रतिहन्यते, न दिवा, तद्यथा तितीलोलूकादीनाम्। दिवा, न रात्रौ, प्रायेण मनुष्याणाम्। रात्रौ दिवा च, श्वशृगालतुरगद्वीपिमार्जारादीनाम्। नोभयत्र, एतानाकारान् स्थापयित्वा। इत्ययं विषयप्रतिघात। आलम्बनप्रतिघातश्चित्तचैत्ताना स्वेष्वालम्बनेषु। क पुनर्विषयालम्बनयोर्विशेष? यस्मिन् यस्य कारित्रं स तस्य विषय, यच्चित्तचैत्तैर्गृह्यते तदालम्बनम्। क पुन [आलम्बनप्रतिघात]? स्वस्मिन् विषये प्रवर्तमानमालम्बने वा प्रतिहन्यत इत्युच्यते तस्मात् परेणाप्रवृत्तेः। निपातो वात्र प्रतिघात था स्वविषये प्रवृत्ति। तदिहावरणप्रतिघातेन दशाना सप्रतिघत्वं वेदितव्यम्, अन्योन्यावरणात्। ·· 'यत्रोत्पित्सोर्मनस प्रतिघात शक्यते परैः कर्तुम्। तत् सप्रतिघं ज्ञेयं विपर्ययादप्रतिघमिष्टम् ॥' इति भदन्तकुमारलात। उक्ता सप्रतिघा अप्रतिघाश्च। एषामष्टादशधातूना कति कुशला. कति अकुशलाः कति अव्याकृता? अव्याकृता अष्टौ। कतमे अष्टौ? य एते सप्रतिघा दशोक्ता त एवारूपशब्दकाः। पञ्चेन्द्रियाणि गन्धरसस्प्रष्टव्या धातवश्च, एतेऽष्टौ कुशलाकुशलभावेनाव्याकरणादव्याकृता। विपाकं प्रति अव्याकरणादित्यपरे। एवमनास्रवेऽपि प्रसङ्ग।" इति वसुबन्धुविरचिते अभिधर्मकोशभाष्ये १।२९ [श्रीप्रह्लादप्रधानमहोदयानां] Principal, Fakir Mohan College, Balasore, Orissa [सौजन्यादधिगते हस्तलिखिते]।

कारतारमद्रताच्छिदाब्दस्य श्रुण्वत । एवं घ्राणजिह्वाविज्ञाने अपि स्वविषये योज्ये । कायविज्ञानं तु परं पञ्चभिरिति । कथम्? कदाचिदेकेन द्रव्येणोत्पद्यते यत्र तथाकारव्यवच्छेदो भवति । कदाचिद् द्वाभ्यां यावत्पञ्चभिर्यदा न व्यवच्छेदः । एकेन च श्लक्ष्णतादिनेति । किमत्र कारणम्? श्लक्ष्णत्वादीनामप्यभूतचतुष्काश्रितत्वात् । ननु चैवम् इति विस्तरः । यथा चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वाकायविज्ञानान्यनेकद्रव्यालम्बनान्यपि समस्य मनोविज्ञानं गृह्णातीति कृत्वा सामान्यलक्षणविषयं तद् व्यवस्थाप्यते तथा नीलपीतलोहितावदातालम्बनानां चतुर्णां चक्षुर्विज्ञानानां तानि चत्वारि बहुतराणि वालम्बनान्यभिसमस्य चक्षुर्विज्ञानमेकं गृह्णातीति सामान्यलक्षणविषयं तत् प्राप्नोति रूपायतनसामान्यलक्षणमस्यालम्बनमिति कृत्वा । तथा श्रोत्रघ्राणजिह्वाकायविज्ञानान्यपि स्वविषयेषु योज्यानि । आयतनस्वलक्षणं प्रतीति । स्वं लक्षणं स्वलक्षणम् । आयतनानां स्वलक्षणमायतनस्वलक्षणम् चक्षुर्विज्ञानविज्ञेयत्वादि रूपायतनत्वादि वा । तत् प्रति एते पञ्च विज्ञानकायाः स्वलक्षणविषया इष्यन्ते प्रवचने । न द्रव्यस्वलक्षणं प्रति स्वलक्षणविषया इष्यन्त इति प्रकृतम् । द्रव्याणां नीलादिकानां स्वलक्षणं नीलाद्याकारचक्षुर्विज्ञानादिविज्ञेयत्वं नीलाकारादि वा । न तमपेक्ष्यैते पञ्च विज्ञानकायाः स्वलक्षणविषया इष्यन्त इत्यदोषः । युगपद्विषयसंप्राप्ताविति । कायजिह्वेन्द्रिययोर्युगपद्विषयसंप्राप्तिः संभवति । द्वयोश्च विज्ञानयोर्युगपत्प्रवृत्तिर्न संभवति । अत पृच्छति कतरद्विज्ञानं पूर्वमुत्पद्यत इति । यस्य विषयः पटीयान् । यदि कायेन्द्रियस्य विषयः पटुतरः कायविज्ञानं पूर्वमुत्पद्यते । अथ जिह्वेन्द्रियस्य विषयः पटीयाञ्जिह्वाविज्ञानं पूर्वमुत्पद्यते । समे प्राप्ते तु विषये तुल्य इत्यर्थः । जिह्वाविज्ञानं पूर्वमुत्पद्यते कस्मात्? भोक्तुकामतावर्जितत्वात् सततं भोजनेच्छाप्रवणत्वात् सत्त्वानामित्यर्थः । पूर्वं जिह्वाविज्ञानमुत्पद्यत इति वचनात् पश्चात् कायविज्ञानमुत्पत्स्यत इत्यर्थादुक्तं भवति तेनात्र विचार्यते । किं योऽसौ जिह्वाविषयक्षणेन सह प्राप्तः कायविषयक्षण आसीत् तत्र तत्कायविज्ञानमुत्पद्यते आहोस्विदन्यस्मिन्कायविज्ञानविषयक्षण इति । अन्यस्मिन्नित्याह । कथमालम्बननियमो न भिद्यते । नैष दोषः । यत्तद्विषयालम्बनं विज्ञानं तदनन्तरमप्यानिरोधनिरुद्धम् । अन्यत्तु तत्सदृशं कायविज्ञानमुत्पद्यत इति । अतः पश्चात् तदुत्पद्यत इत्युच्यते सामान्येनैकत्वोपचारात् ।"

पृ० ७८ पं० १६–१७ रूपं द्विधा ... किलास्ति । अस्य व्याख्या यशोमित्रविरचितस्फुटार्थावृत्तितोऽवगन्तव्या ।

पृ० ७९ पं० २ बुद्धवचनं । यद्यपीदं वसुबन्धुवचनं तथापि तस्य बौद्धागमानुसारित्वाभिप्रायेण बुद्धवचनत्वेनोल्लेखोऽत्र विहित इति भाति ।

पृ० ७९ पं० १७ ज्ञानतेत्यत्र । अत्र 'ज्ञानेत्यत्र' इति य० प्रतिपाठोऽपि साधुः ।

पृ० ८१ पं० ५ सवृतिसत्सामान्या । द्रष्टव्यं पृ० ८२ पं० २१ ।

पृ० ८१ पं० १० भेदाभेदविकल्पनात् । (भेदोऽभेदविकल्पनात्??) ।

पृ० ८२ पं० २ द्वय प्रतीत्य । "कतमो च भिक्खवे दुक्खस्स समुदयो? चक्खुं च पटिच्च रूपे च उप्पज्जति चक्खुविञ्ञाणं । तिण्णं सङ्गति फस्सो । फस्सपच्चया वेदना । वेदनापच्चया तण्हा । अयं खो भिक्खवे दुक्खस्स समुदयो । कतमो च भिक्खवे दुक्खस्स अत्थगमो? चक्खुं पटिच्च ... सोतं च पटिच्च सद्दे च घानं च पटिच्च गन्धे च जिह्वं च पटिच्च रसे च कायञ्च पटिच्च फोट्ठब्बे च ... मनञ्च पटिच्च धम्मे च ।' इति संयुत्तनिकाये निदानवग्गे २२।४३।१ २ ।

पृ० ८२ पं० १६ विजानाति । द्रष्टव्यं पृ० ७३ पं० १३, टिपृ० ४४ पं० ३ ।

पृ० ८२ पं० १९ जात्याख्याया [पा० १।२।९] । अत्र 'पा० १।२।५८' इति पठनीयम् । अस्य व्याख्या– "एकोऽप्यर्थो वा बहुवद् भवति । ब्राह्मणाः पूज्याः ब्राह्मणः पूज्यः ।"–ला० सिद्धान्तकौ० । "आकृत्यधिकरणन्यायेन घटादिशब्दानां जातिवाचकत्वाज्जातेश्चैकत्वादेकवचनमेव स्यादित्यारम्भः । जातिवाद एकत्वे बहुवचनं वा स्यादित्यभिप्रायः ।"–बालमनोरमा ।

पृ० ८३ पं० ३ ज्ञाता । अत्र 'ज्ञाता सर्वथाद्भेदयाथात्म्यपरिज्ञानात्' इति पठितव्यम् ।

पृ० ८३ पं० १० अतीन्द्रियत्वाद्यानुपश्य । अत्र 'अतीन्द्रियश्चानुपश्य' इति पाठः स्यात् ।

पृ० ८४ पं० ५ भद्दं । भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स । जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥ [सन्मति० ३।६९] । अत्र कल्याणं जिनवचनस्य अस्तु इति सम्बन्धः । मिथ्यादर्शनसमूहमयस्य । न विद्यते मृतं मरणं यस्मिन् असौ अमृतो मोक्षः, तं सारयति गमयति प्रापयतीति वा तस्य, । 'अमयसारस्स' इति वा पाठे अमृतवत् स्वादनं इति अमृतस्वादम् अमृततुल्यमिति यावत् । तथा रागादिजयात्मानुजैर्बुधैरविशारदैर्यत इति जिनवचनम्, तस्य ।

भगवत ···। संविग्नैः 'इदमेव जिनवचनं तत्त्वम्' इत्येवं सुखेनावगम्यते यत तत स्वविकसुखाभि(वि ?)गम्यम ।···एवंविध-गुणाध्यासितस्य जिनवचनस्य सामायिकादिबिन्दुसारपर्यन्तश्रुताम्भोधे कल्याणमस्तु ।'–नन्दिवि० ।

पृ० ८४ पं० ६ द्रव्यस्य । दृश्यतां टिप्पृ० १४ पं० १ ।

पृ० ८५ पं० ५. भेद । दृश्यतां टिप्पृ० ४१ पं० १ ।

पृ० ८५ पं० १९. विरोध-सङ्कर··· । शास्त्रवार्तासमु० ७।३८–३८ । प्रमाणस० पृ० १०३ पं० ८ । तत्त्वार्थ-श्लोकवा० पृ० ४३५ । अष्टसह० पृ० २२७ । प्रमेयक० पृ० ५२६ । न्यायकुमु० पृ० ३६० । नन्दिवि० पृ० ४५२ । स्याद्वादर० पृ० ७३८ । प्रमेयरत्नमा० ४।१ । प्रमाणमी० १।१।३२ । स्याद्वादम० श्लो० २४ ।—इत्यादिग्रन्थेभ्यो विरोधादि-दोषस्वरूपमवगन्तव्यम्, तत्खण्डनमपि तेषु वर्तते । पूर्वोक्तग्रन्थेषु एते दोषा क्वचित् संख्यानिर्देशं विना निर्दिष्टा, क्वचित्तु सप्त क्वचिच्च अष्टौ परिगणिताः । "तदुक्तम्—'संशयविरोधवैयधिकरण्यसङ्करमथोभयं दोषः । अनवस्थाव्यतिकरमपि जैनमते सप्त दोषाः स्युः ॥ १ ॥' इति ।"–स्याद्वादर० पृ० ७३८ । एतेषु कतिपये दोषा तत्त्वसंग्रहकारेणा० २।२।३३ । तत्त्वसं० का० १७२२–१७३० । हेतुबिन्दुटी० ।–इत्यादिग्रन्थेषु आपादिता दृश्यन्ते ।

पृ० ८५ पं० २१. परस्पर ··· । श्लोकार्धमेतदिति भाति ।

पृ० ८५ पं० २२–२७ सर्वं ··· । अत्र यथाक्रमं स्याद्वाद-बौद्ध-वैशेषिकमतानि वर्णितानि ।

पृ० ८६ पं० ९–१०. अनेकार्थं । दृश्यतां पृ० ८९ पं० २७, पृ० ९१ पं० ९ । प्रमाणवार्तिकाल० ३।१९३ पृ० २७९, प्रमाणवा० म० २।१९४ ।

पृ० ८६ पं० २६. अन्यापृक्तत्वा··· । (अन्यापृथक्त्वाद ?) ।

पृ० ८७ पं० १२ आरोटना ··· । (आरोहणा ··· ?) ।

पृ० ८७ पं० १४–१५ अचाक्षुष ··· । दृश्यतां पृ० ५५ पं० ११–१२, टिप्पृ० २० पं० १५–१६ ।

पृ० ८८ पं० १६. भेद··· । अत्र 'भेद'शब्दस्य वस्तुविशेष इत्यर्थो भाति ।

पृ० ८८ पं० ३२. ध्यनुमानम् । अत्र 'अनुमानम्' इति पठितव्यम्, दृश्यतां प्रमाणवार्तिकाल० पृ० १६९ । तत्त्वार्थराजवा० १।१२ पृ० ५६ पं० ३० ।

पृ० ८९ पं० ११. अदृष्टार्थम्, प्रत्यक्षदृष्टार्थं ··· । अत्र 'अदृष्टार्थं प्रत्यक्षम्, दृष्टार्थं ···' इति प्रतिस्थः पाठ एव समीचीन ।

·· पृ० ८९ पं० १३. तद्विस्तरोऽपरो ··· । (तद्विस्तरपरोऽपरो ?) । अत्र अपरो ग्रन्थ प्रमाणसमुच्चयादिर्ज्ञेय ।

पृ० ८९ पं० १८. तादृशः । पद्यान्तमेतत ।

पृ० ९० पं० २,१२ आरातपरा ··· । दृश्यतां पृ० ८७ पं० १ ।

पृ० ९० पं० ३ सामान्यानात्मकत्वात् । अत्र 'सामान्यात्मकत्वात्' इति पठनीयम् ।

पृ० ९० पं० १३ °मननुमानत्व ··· । अत्र '···मनुमानत्व···' इति पाठः सङ्गत एव ।

पृ० ९० पं० २० ते विषयो । अत्र 'स विषयो' इति भा० प्रतिपाठ समीचीन एव ।

पृ० ९१ पं० ३. स्वाभासां ··· । "आत्मधर्मोपचारो हि विविधो य प्रवर्तते । विज्ञानपरिणामेऽसौ परिणाम स च त्रिधा ॥ १ ॥ ··· कथमेतद् गम्यते—विना बाह्येनार्थेन विज्ञानमेवार्थाकारमुत्पद्यत इति ? बाह्यो ह्यर्थः स्वाभासविज्ञानजनकत्वेन विज्ञानस्यालम्बनप्रत्यय इष्यते, न कारणत्वमात्रेण, समनन्तरादिप्रत्ययादिविशेषप्रसङ्गात । सञ्चितालम्बनाश्च पञ्च विज्ञानकाया, तदाकारत्वात् । न सञ्चितमवयवसंहतिमात्रादन्यद् विद्यते, तदवयवानपोह्य सञ्चिताकारविज्ञानाभावात् । तस्माद् विनैव बाह्येनार्थेन विज्ञान सञ्चिताकारमुत्पद्यते । न च परमाणव एव सञ्चितास्तस्य आलम्बनम्, परमाणूनामतदाकारत्वात् । न ह्यसञ्चितावस्थात सञ्चितावस्थायां परमाणूना कश्चिदात्मातिशय । तस्मादसञ्चितवत् सञ्चिता अपि परमाणवो नैवालम्बनम् ।··· एवं बाह्यार्थाभावाद् विज्ञानमेवार्थाकारमुत्पद्यते ।"—इति वसुबन्धुरचितत्रिंशिकाविज्ञप्तिकारिकाणां स्थिरमतिविरचिते भाष्ये ।

पृ० ९१ प० ३,१७ स्वाभासा हि विज्ञप्ति । अत्र 'स्वाभास हि' इति प० प्रतिपाठानुसरणे तु स्वाभास हि विज्ञान इति पाठो मूले [प० ३] युक्त ।

पृ० ९१ प० १५ वन्ध्यापुत्रपुत्रत्वा । (वन्ध्यापुत्रत्वा ?)।

पृ० ९१ प० २५–२६ स्ववचन । द्रष्टव्यं पृ० ६२ प० ४।

पृ० ९२ प० २५ चत्वार्यपि । अस्य व्याख्या–"अत्रार्थे द्वे अपि सत्ये इति सत्यप्रसङ्गेनेदमुच्यते । घटाम्बुवदिति दृष्टान्तद्वयोपन्यासो भेदद्वयोपप्रदर्शनार्थ । उपक्रमभेदेनिश्च घटादय । बुद्धिभेदेनिश्च जलादय, जलादिषूपक्रमेण रूपाद्यप कर्षणानुपपत्ते । अथवा द्विविधा संवृति–सवृत्यन्तरव्यपाश्रया द्रव्यमात्रव्यपाश्रया च। तत्र यासौ सवृत्यन्तरव्यपाश्रया तस्या भेदोऽपि सम्भवति अन्यापोहोऽपि। या त्वसौ द्रव्यमात्रव्यपाश्रया तस्यामपोह एव सम्भवति, न भेद । न हि परमाणोरष्ट द्रव्यकस्य अवयवविश्लेष शक्यत कर्तुमिति। संवृतिसदिति सव्यवहारेण सत् । परमार्थसदिति परमार्थेन सत् स्वलक्षणेन सदित्यर्थ । एव वेदनादयोऽपि द्रष्टव्या इति वेदना-चेतना-सज्ञादयोऽपि द्रव्यसन्त एव द्रष्टव्या । कथम् ? वेदनादीनां धर्मा णाम(धर्मान ?)योऽपि बुद्धया वेदनास्वभाव बुद्धिर्भवतीति द्रव्यसती वेदना। एव सज्ञा-चेतनादयोऽपि योज्या । घटश्चाम्बु चाशनि बुवन्त सयमेवाहु, न सूपति संवृतिसत्यस्य वचने प्रयोजनं दर्शयति । 'द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना। लोकसंवृतिसत्य च सत्य च परमार्थत ॥ १ ॥' तथा परमार्थसत्यमिति परमस्य ज्ञानस्यार्थ परमार्थ, परमार्थश्च सत्य च तत् परमार्थसत्यम्। यथा येन ज्ञानेन गृह्यते तथा संवृतिसत्यम् संवृत्या सव्यवहारेण ज्ञानेन वा क्लिष्टेन अक्लिष्टेन वा गृह्यत इति संवृतिसत्यम्। त्रिविध हि योगाचाराणां सत्–परमार्थ[सत्] संवृतिसद् द्रव्यसच, द्रव्यत स्वलक्षणत सद् द्रव्यसदिति।"–अभिधर्मकोशस्फुटार्था पृ० ५२४।

पृ० ९२ प० ३० चेति संवृतिसत्। अत्र 'चास्तीति संवृतिसत्यम्' इति पाठोऽपि।

पृ० ९४ प० ७ विजानाति । द्रष्टव्यं टिपृ० ४४ प० २१।

पृ० ९५ प० २–३ कारकाद वान्तवत । अय पाठ प्रमादादागत इति परित्याज्य ।

पृ० ९५ प० १५ हेतुप्रत्येयस्य। (हेतुप्रत्ययस्य ??)।

पृ० ९७ प० ४, १७ स्वनिभास । द्रष्टव्यं टिपृ० ४८ प० ३०।

पृ० ९७ प० ८ प्रत्यक्षमितरान्। प्रत्यक्षेण अवगतत्वादित्यर्थ ।

पृ० ९७ प० १० अभ्युपगम्य। अत्र अभ्युपगमस्य इति भा० प्रतिपाठ समीचीनो भाति।

पृ० ९७ पं० २२ प्रत्यक्षचाभावात्। अत्र 'प्रत्यक्षाभावात्' इति भा० प्रत्यनुसारी पाठो पि रम्य ।

पृ० ९९ प० ६, २७ प्रत्येक । द्रष्टव्यं पृ० ९६ प० ३०।

पृ० १०४ प० ६ आकाश । "अनास्रवा मार्गसत्यं त्रिविधं चाप्यसस्कृतम्। आकाशं द्वौ निरोधौ च तत्राकाश मनावृति ॥ प्रतिसख्यानिरोधो यो विसयोग पृथक् पृथक्। उत्पादात्यन्तविघ्नोऽन्यो निरोधो प्रतिसख्यया॥ ते पुन सस्कृता धर्मा रूपादिस्कन्धपञ्चकम्। त एवाध्वा कथावस्तु सनि सारा सवस्तुका ॥'–अभिधर्मको० १।५–७।

---

१ 'अनास्रवा कतमे ? अनास्रवा मार्गसत्य त्रिविध चाप्यसस्कृतम्। कतमत् त्रिविधम्? आकाशं द्वौ निरोधौ च। कतमौ द्वौ ? प्रतिसख्यानिरोधोऽप्रतिसख्यानिरोधश्चेति। एतदाकाशादि त्रिविधमसंस्कृत मार्गसत्य चानास्रवा धर्मा । किं कारणम् ? न हि तेष्वास्रवा अनुशेरते इति। यस्तावत् त्रिविधमसस्कृतमुद्दिष्टम् तत्राकाशमनावृति । अनावरणस्वभावमाकाश यत्र रूपस्य गति । प्रतिसख्यानिरोधो यो विसयोग , य सास्रवैर्धर्मैर्विसंयोग स प्रतिसख्यानिरोध । दु खादीनामार्यसत्यानां प्रतिसख्यानं प्रतिसख्या प्रज्ञाविशेष तेन प्राप्यो निरोध प्रतिसख्यानिरोध, मध्यपदलोपात्, गोरथ वत्। किं पुनरेक एव सर्वेषां सास्रवाणां धर्माणां प्रतिसख्यानिरोध ? नेत्याह । किं तर्हि ? पृथक् पृथक्। यावन्ति सयोग द्रव्याणि तावन्ति विसयोगद्रव्याणि। अन्यथा हि दु खदर्शनहेयक्लेशनिरोधसाक्षात्करणात् सर्वक्लेशनिरोधसाक्षात्क्रिया प्रसज्येत। सति चैव शेषप्रहाणाय मार्गभावनावैयर्थ्य स्यात्। यत् तर्हि सूत्रमुक्तम् 'अनागतो निरोध' इति अस्य कोऽर्थ ? नास्य कश्चित् धर्मो हेतुरस्ति मार्गो ऽन्यविरहितत्वस्य मार्गस्यार्थं न तु नाम कश्चित् सरागोऽस्तीति। उक्त प्रतिसख्यानिरोध । उत्पादात्यन्तविघ्नो

पृ० १०४ पं० ११. अनभिलाप्यतथावस्थानां । अत्र 'अनभिलाप्यतयावस्थं' इति भा०प्रत्यनुसारी पाठः समीचीनो भाति ।

पृ० १०५ पं० १४. दोषाकाङ्क्षमेव । (दोषाकान्तमेव ?) ।

पृ० १०५ पं० २२ द्यौः क्षमा] "तथा च यदेकत्वं काष्ठामनुप्राप्तं तदा सर्वत्र तदेव प्रकार इत्याह—'द्यौः क्षमा वायुरादित्य सागरा सरितो दिश । अन्त करणतत्त्वस्य भागा बहिरव(रिव ?) स्थिता ॥ [वाक्यप० ३।७।८१] अथवा आत्तां कतिपयवस्तुविषय एकत्वानेकत्वविचार । चरमे द्यौश्च आकाश पृथिवी च द्यावा-पृथिव्यौ। महत्यो महाभूतसज्ञके जल-धुनी तदन्तरे च वायुरपि तृतीयः । यज्ञादित्यलक्षणमपि सकलतेजसा प्रधान उच्यतेज, आप सग्नि समुद्र. गौर्वापितनरा (?) सर्वाण्येव एतानि महाभूतानि सकलजगज्जीवितभूतानि, दिशो वा लोकव्यवहारनियमनिमित्तभूता, कालश्च वक्ष्यमाण' । तदेतत् सर्वमन्तःकरणतत्त्वस्येति । अन्त करणस्येन अ(आ ?)न्तररूपतया प्रतिभासमान यत् तस्यैवैते भागाः प्रतिबिम्बका आभासाः बहिरव(रिव ?)स्थिता. । परमार्थे तु कीदृशोऽन्तर्बहिर्भाव, एकमेव सच्चिन्मयं पर शब्दब्रह्म यथा तथाऽवस्थितमिति कारिकार्थ' ।"—वाक्यपदीयहेलाराजवृ० पृ० २०० ।

पृ० १०६ प० २,१५ विज्ञान । "रूपधातुररूपधातु कामधातुरिति त्रैधातुक जगत्"—न्यायवा० ता० ११११८। "महायाने त्रैधातुक विज्ञप्तिमात्र व्यवस्थाप्यते"—विंशतिकाविज्ञप्तिमात्रतासिद्धिवृ० पृ० १ । "विज्ञप्तिमात्रमेवेदं त्रैधातुकम्"—तत्त्वस० पं० पृ० ५५० । विस्तरेण धातुत्रयनिरूपणम् अभिधर्मकोशस्य तृतीये कोशस्थाने विलोकनीयम् ।

पृ० १०७ पं० ४,२४ श्रोत्रादि । द्रष्टव्यता टिपृ० ३२ प० २ ।

पृ० १०८ पं० ८ नपुंसक । द्रष्टव्यता पृ० २४२ टि० ४ ।

पृ० १०८ प० ४-७ तत्तु प्रत्यक्षम् । एतत्स्थाने 'न तु त्वन्मतवत्' इत्येतावन्मात्रमपि स्यात ।

पृ० १०८ प० १५ तत्तु प्रत्यक्षम्,……। अत्र 'न तु त्वन्मतवत्, न त्वेवं लक्षणं प्रत्यक्ष त्वन्मत इव त्वन्मतवत्' इत्येवमपि पाठो भवेत । द्रष्टव्यतां टिपृ० ५० पं० १७ ।

ऽन्यो निरोधोऽप्रतिसंख्यया । अनागताना धर्माणामुत्पादस्यात्यन्तविघ्नभूतो विसयोगाख्योऽन्यो निरोधः सोऽप्रतिसख्यानिरोध' । न ह्यसौ प्रतिसख्यया लभ्यते । कि तर्हि ? प्रत्ययवैकल्यात । यथैकरूपव्यासक्तचक्षुर्मनसो यानि रूपाणि शब्दगन्धरसस्प्रष्टव्यानि च अत्ययन्ते तदालम्बनै पञ्चभिर्विज्ञानकायैर्न शक्यं पुनरुत्पत्तुम् । न हि ते शक्ता अतीतं विषयमालम्बयितुमिति । अतस्तेषामप्रतिसख्यानिरोध प्रत्ययवैकल्यात् प्राप्यते । चतुष्कोटिकं च भवति—सन्ति ते धर्मा येषां प्रतिसख्यानिरोध एव लभ्यते, तद्यथा—अतीतप्रत्युत्पन्नोत्पत्तिधर्माणा सास्रवाणाम् । सन्ति येषामप्रतिसख्यानिरोध एव, तद्यथा अनुत्पत्तिधर्माणामनास्रवसस्कृतानाम् । सन्ति येषामुभयम्, तद्यथा—सास्रवाणामनुत्पत्तिधर्माणाम् । सन्ति येषा नोभयम्, तद्यथा—अतीतप्रत्युत्पन्नोत्पत्तिधर्माणामनास्रवाणामिति । उक्तं त्रिविधमसस्कृतम् । यतूक्त 'सस्कृता मार्गवर्जिता सास्रवा' इति कतमे ते संस्कृता ? ते पुनः संस्कृता धर्मा रूपादिस्कन्धपञ्चकम् । रूपस्कन्धो वेदनास्कन्ध संज्ञास्कन्ध सस्कारस्कन्धो विज्ञानस्कन्धश्चेत्येते सस्कृता धर्मा, समेत्य सम्भूय प्रत्ययै कृता इति संस्कृता । न ह्येकप्रत्ययजनित किञ्चिदस्तीति । तज्जातीयत्वादनागतेष्वविरोधो दृग्वेन्धनवत् । त एवाध्वा कथावस्तु सनिःसाराः सवस्तुकाः । त एव सस्कृता गतगच्छद्गमिष्यद्भावादध्वान, अद्यन्तेऽनित्यतयेति वा । कथा वाक्यम्, तस्या वस्तु नाम, सार्थकवस्तुग्रहणात्तु सस्कृतं कथावस्तूच्यते, अन्यथा हि प्रकरणग्रन्थो विरुध्येत—'कथावस्तूनि अष्टादशभिर्धातुभि सगृहीतानि' । नि सरण नि सार सर्वस्य सस्कृतस्य निर्वाणम्, तदेषामस्तीति सनि सारा । सहेतुकत्वात् सवस्तुका । हेतुवचन किलार्थ(त्र?) वस्तुशब्द इति वैभाषिका. । इत्येते सस्कृतपर्याया ।" इति वसुबन्धुविरचितेऽभिधर्मकोशभाष्ये ११५-७। हस्तलिखितोऽयमभिधर्मकोशभाष्यांशो विद्वद्वरश्रीप्रह्लादप्रधानमहोदयै [Principal, Fakir Mohan College, Balasore, Orissa] सौजन्यात् प्रदत्त ।

१ "यथाह भर्तृहरि—'द्यौ क्षमा वायुरादित्य ·· बहिरिव स्थिता' इति ।" इत्येवं महायानसूत्रालङ्कारटीकायामुद्धृतेयं कारिका असभावेन । द्रष्टव्यताम् Tibetan citations of Bhartrihari's verses and the problem of his date by Hajime Nakamura, Professor, University of Tokyo, Japan, p. 122, 135 published in the *Studies in Indology and Buddhology*, Presented in Honour of Professor S Yamaguchi, Kyoto Hozokan, 1955, Japan अत्र च असभावस्य समय 450-530 A. D. अथवा 470-550 A. D. इति सम्भावित. ।

पृ० १०९ प० ५. न परमाणसत्समुदाय । परमाणुमत् समुदायो नैन्द्रिय इति भाव ।

पृ० १०९ प० २६ व्यपेक्षया । अय पाठ सगत एव। तथा च पृ० १०९ इत्यत्र ११ टिप्पण नाद्येयम्।

पृ० ११० प० १ आत्मेन्द्रिय । दृश्यता टिपृ० २२ प० ३५।

पृ० १११ प० ६ गुणग्रहणेन। (रूपग्रहणेन ??)।

पृ० १११ प० १२ प्रागुक्ता । दृश्यता पृ० ६५ प० ११।

पृ० ११२ प० ४ तत्रोक्त, आगानिश्चयाद । इह 'तत्रोक्त, तेष्वागानिश्चयाद' इति पाठ समञ्जस । को ह्येतद् वेद । दृश्यता पृ० ११८ प० १२।

पृ० ११२ प० १०–११ भूयस्त्वाद् निपातात्। दृश्यता पृ० ४८० प० २५–२८।

पृ० ११३ प० ६, २६ निर्णयानगमा । अत्र 'निर्णयानामनगमा' इत्यपि भवत् पाठ । दृश्यतां पृ० ११३ प० १२।

पृ० ११३ प० २० अब्राह्मणवत् । दृश्यता पृ० २७९ प० ६। न चागान । दृश्यता पृ० ११६ प० ३।

पृ० ११३ प० २३, २४ विशिष्य । अत्र 'विशेष्य' इति शोभनम्।

पृ० ११३ प० २८ अनुध नगमने। अत्र 'नुध अवगमने' इति पठितव्यम्।

पृ० ११४ प० २ अस्त्यर्थ । "सर्वशब्दानामसरामृष्टाकारविशेषमर्थमात्र वाच्यमिति कश्चिदाहु । एतत् सर्व शब्दाना प्रत्याय्यलक्षणम्, प्रत्याय्यस्य वाच्यस्य लक्षण वाद्धव्यम्। एत तुल्यमेतत् स्यादित्याह—अपूर्वदेवता इत्यादि। अपूर्वदेवतादिशब्देषु हि नाकारप्रथनम्। यत्तु गवादिशब्देषु आकारप्रथन तद् नान्तरीयकतया बोद्धव्यम्। अन्यथा अपूर्वशब्दाद् देवताशब्दात् स्वर्गशब्दाद्वा गवादिशब्दादाकाराप्रथन स्यात्। यतश्च तेभ्यो नास्त्याकाराप्रथनमतोऽर्थमात्रमेव ते प्रत्याययन्तीति युक्तम्। —वाक्यपदीयपुण्यराजवृ २।१२०। श्लोकोऽय तत्त्वसग्रहेऽप्युद्धृता व्याख्यातश्च तस्य पञ्जिकाया पृ० २८३। तत्त्वार्थवार्तिकेऽप्युद्धृत ११३।९।

पृ० ११४ प० ५ द्रव्यशब्दो द्रुगति । अत्र 'द्रव्यशब्दो द्रोरवयवे, द्रुगति' इति पाठ शोभन ।

पृ० ११४ प० १३ प्रतिपत्तव्यम्। एतस्मिन्नेव। अत्र 'प्रतिपत्तव्यम्। अस्मिन्नेव' इत्यपि भवेत् पाठ ।

पृ० ११४ प० १६ अर्थकत्वा । 'अथ प्रक्लिप्टपठितेषु यजुष्षु कथमवगम्येत 'इयदेक यजु' इति? यावता पदसमूहेन इज्यते तावान् पदसमूह एक यजु। कियता चेज्यते? यावता क्रियाया उपकार प्रकाश्यते तावद् यजुष्त्वाद् वाक्यमित्युच्यते। तदाभिधीयते—अर्थैकत्वादेक वाक्यमिति। एतस्माद्धेतो कारणादेकवाक्यता भवति यस्मादेकार्थ पदसमूहो वाक्यम्, यदि च विभज्यमानं साकाङ्क्ष पद भवति। किमुदाहरणम्? 'देवस्य त्वा सवितु प्रसवे' [तै० स० ११११४]" इति।'—मीमांसासूत्रशाबरभा २।१।४६। अत्र आत्मपरिहारार्थक शाबरभाष्यात् तत्त्वार्थवार्तिकाच्च विज्ञातव्यम्।

पृ० ११४ प० १८ आख्यात । दृश्यता पृ० ४४८ टि० २।

पृ० ११४ पं० २३ लौकिक्सम । अस्याथ सिद्धसेनगणिकृतिरिरतिव्याख्याभ्यो ज्ञातव्य ।

पृ० ११५ प० ५. [भगवतीसू० १२।३।४६७]। अत्र '१२।३।४६७' इत्यस्य स्थाने '१२।१०।४६८' इति पठनीयम्। सम्प्रति तु 'आया भंते! नाणे अन्नाणे? गोयमा! आया सिय नाणे सिय अन्नाणे, नाणे पुण नियमं आया।" इति पाठो भगवतीसूत्रे दृश्यते।

---

१ अस्य व्याख्या— अथानन्तर एव ज्ञानविचारमाह—आया भंते नाणे इत्यादि आत्मा ज्ञानम्, वाऽथमात्राऽन्यो ज्ञानम्, स तयोर्भेद, अथात्मनोऽन्यद् ज्ञानमिति प्रश्न। उत्तरं तु–आत्मा स्याद् ज्ञानम्, सम्यक्त्व सति मत्यादिज्ञानस्वभावत्वात् तस्य। स्यादज्ञानम्, मिथ्यात्वे सति तस्य मत्यज्ञानादिस्वभावत्वात्। ज्ञान पुनर्नियमादात्मा, आत्मधर्मत्वाद् ज्ञानस्य। न च सर्वथा धर्मो धर्मिणो भिन्नो भवति, सर्वथा भेदे हि विवक्षितात्मनो ज्ञानाद्भिन्नत्वेऽपि प्रतिनियतगुणिभाव एव न स्यात्, अन्यस्मादिव अन्य तद्गुणित्वात्। इष्यते च यदा कश्चिद्विशिष्टदेहमनुष्ठात्मा गर्भे आत्मान्तर कियत्कालान्तर किमपि गुण पश्यति तदा किमिव तस्य किमिति ज्ञानस्य प्रतिनियतगुणिविषयताऽ॥। न च धर्मिणो धर्म सर्वथैवाभिन्न, सर्वथैवाभेदे हि ज्ञानान्यतरैव गुणमात्रत एव गुणिनोऽपि सर्वस्यास्य। अत एव कथंचिद्भेदाभेदवानात्मा ज्ञान पुनर्नियमादात्मेत्युक्तम् इति। इह चात्मन ज्ञानस्य कथंचिदभेदमात्रं प्रतिपादितं न सर्वात्मना भेदोऽभेदो वा... इति। —अभयदेवसूरिविरचिता भगवतीसूत्रवृत्ता १२।१० ४६८, पृ० ५९ ।

पृ० ११५ पं० ७ दव्वट्ठियणय···। "अत्र च कुण्ठधियोऽप्यन्तेवासिनो योग्यताप्रतिपादनार्थं प्रकरणारम्भ प्रतिपादित । सा च विशिष्टसामान्यविशेषात्मकतदुपायभूतार्थप्रतिपादनमन्तरेणात प्रकरणात् समुपयत इति प्रकरणाभिधेयं योग्यतोपायभूतमर्थं तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी । दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं ॥ ३ ॥ इत्यनया गाथया निर्दिशति । अस्याश्च समुदायार्थ. पातनिकयैव प्रतिपादित । अवयवार्थस्तु—तरन्ति संसारार्णवं येन तत् तीर्थं द्वादशाङ्गं तदाधारो वा सङ्घ, तत् कुर्वन्ति उत्पद्यमानमुत्पादयन्ति तत्स्वाभाव्यात् तीर्थकरनामकर्मोदयादिति · । तीर्थकराणां वचनम् आचारादि, अर्थतस्तस्य तदुपदिष्टत्वात् । तस्य सङ्ग्रह-विशेषौ द्रव्य-पर्यायौ सामान्य-विशेषशब्दवाच्यावभिधेयौ, तयो प्रस्तारः, प्रस्तीर्यते येन नयराशिना सङ्ग्रहादिकेन स प्रस्तार , तस्य सङ्ग्रह-व्यवहारप्रस्तारस्य मूलव्याकरणी आद्यवक्ता ज्ञाता वा द्रव्यास्तिक, इतिर्भवन द्रव्यं सत्तेति यावत, तत्र 'अस्ति' इति मतिरस्य द्रव्यास्तिक, · द्रव्यमेव चार्थोऽस्येति द्रव्यार्थिक, द्रव्ये वा स्थितो द्रव्यस्थित । परि समन्तात् अवनम् अव पर्यवो विशेष. तज्ज्ञाता वक्ता वा नयनं नयः नीति पर्यवनय', अत्र छन्दोभङ्गभयात 'पर्यायास्तिक.' इति वक्तव्ये 'पर्यवनय.' इत्युक्तम्, तेनात्रापि पर्याय एव अस्ति इति मतिरस्येति द्रव्यास्तिकवद् व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या । स च विशेषप्रस्तारस्य ऋजुसूत्रशब्दादे आद्यो वक्ता । · शेषास्तु नैगमादयो विकल्पा भेदा अनयो. द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयो , सि इति प्राकृतशैल्या· द्विवचनस्थाने बहुवचनम् ।···'दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य' इत्यादिपश्चार्धैकदेशस्य विवरणायाह सूरि —दव्वट्ठियनयपगडी सुद्धा संगहपरूवणाविसओ । पडिरूवे पुण वयणत्थनिच्छओ तस्स ववहारो ॥ ४ ॥ इति गाथासूत्रम् । अत्र च सङ्ग्रहनयप्रत्ययः शुद्धो द्रव्यास्तिक, व्यवहारनयप्रत्ययस्त्वशुद्ध इति तात्पर्यार्थ । अवयवार्थस्तु द्रव्यास्तिकनयस्य व्यावर्णितस्वरूपस्य प्रकृतिः स्वभाव शुद्धा इत्यसङ्कीर्णा विशेषासंस्पर्शवती सङ्ग्रहस्य अभेदग्राहिनयस्य, प्ररूपणा प्ररूप्यतेऽनयेति कृत्वा उपवर्णना पदस्तदति, तस्या विषयोऽभिधेयः, विषयाकारेण विषयिणो वृत्तस्य विषयव्यवस्थापकत्वादुपचारेण विषयेण विषयिप्रकथनमेतत । · सर्वं सन्मात्रतया सङ्गृह्णन् सङ्ग्रह शुद्धा द्रव्यास्तिकप्रकृतिरिति स्थितम् । तामेवाशुद्धां 'पडिरूवं पुण' इत्यादिगाथापश्चार्धेन दर्शयत्याचार्य. । प्रतिरूप प्रतिबिम्ब प्रतिनिधिरिति यावत, विशेषेण घटादिना द्रव्येण सङ्कीर्णा सत्ता । पुनरिति प्रकृति स्मारयति । तेनायमर्थ —विशेषेण सङ्कीर्णा सत्ता प्रकृति. स्वभावः 'वचनार्थनिश्चयः' इति, हेयोपादेयोपेक्षणीयवस्तुविषयनिवृत्तिप्रवृत्त्युपेक्षालक्षणव्यवहारसम्पादनार्थमुच्यते इति वचनम्, तस्य 'घट ' इति विभक्तरूपतया 'अस्ति' इत्यविभक्तात्मतया प्रतीयमानो व्यवहारक्षमोऽर्थ , तस्य निश्चय. निर्गत पृथग्भूत चय. परिच्छेद , तस्य इति द्रव्यास्तिकस्य व्यवहारः इति लोकप्रसिद्धव्यवहारप्रवर्तनपरो नयः । सोऽभिमन्यते—यदि हि हेयोपादेयोपेक्षणीयस्वरूपा. परस्परतो विभिन्नस्वभावा सद्रूपतया शब्दप्रभवे संवेदने भावा प्रतिभान्ति ततो निवृत्तिप्रवृत्त्युपेक्षालक्षणो व्यवहारस्तद्विषय प्रवृत्तिमासादयति, नान्यथा, न चैकान्तत सन्मात्राविशिष्टेषु भावेषु संग्रहाभिमतेषु पृथक्स्वरूपतया परिच्छेदोऽबाधितरूपो व्यवहारनिबन्धनं संभवतीति ।· यद्वा प्रतिशब्दो वीप्सायाम्, रूपशब्दश्च वस्तुन्यत्र प्रवर्तते । तेनायमर्थ.—रूपं रूप प्रति वस्तु वस्तु प्रति यो वचनार्थनिश्चयः तस्य प्रकृति. स्वभाव. स व्यवहारः इति । तथाहि—प्रतिरूपमेव वचनार्थनिश्चयो व्यवहारहेतुर्न पुनरस्तित्वमात्रनिश्चयः, यत. 'अस्ति' इत्युक्तेऽपि श्रोता शङ्कामुपगच्छन् लक्ष्यते, अत. 'किमस्ति' इत्याशङ्कायां 'द्रव्यम्' इत्युच्यते । तदपि किम् ? पृथिवी । सापि का ? वृक्षः । सोऽपि क ? चूत' । तत्राप्यर्थित्वे यावत् 'पुष्पित.' 'फलित ' इत्यादि तावन्निश्चिनोति यावद् व्यवहारसिद्धिरिति । व्यवहारो हि नानारूपतया सत्ता व्यवस्थापयति, तथैव संव्यवहारसम्भवात् । अतो व्यवहरतीति व्यवहार इत्यन्वर्थसंज्ञा बिभ्रत् अशुद्धा द्रव्यास्तिकप्रकृतिर्भवति ।"—सन्मतिटी० ।

पृ० ११५ पं० ९. द्रोरवयवो···। "द्रोश्च"—पाणिनि० ४।३।१६१ । दृश्यतां टिपृ० १६ पं० ३० ।

पृ० ११५ पं० २०. मन्यते लोकोऽलौकिकैकान्तं । (मन्यते—अलौकिकैकान्त···?) ।

पृ० ११६ पं० ३. अज्ञानोक्तिविरोध । दृश्यतां पृ० ११३ पं० ५ ।

पृ० ११७ पं० १९ क्षणसद्रूप । (क्षणवद्रूप ?) । 'क्षणतद्रूप' इति य० प्रतिपाठोऽप्यत्र शुद्धो भाति ।

पृ० ११८ पं० १६. वातादि । प्रकोपादिस्वरूपं चरकसंहितायां प्रथमे सूत्रस्थाने द्वादशे वातकलाकलीयेऽध्याये विलोकनीयम् ।

पृ० ११८ पं० २० रसवीर्य विशेष ·। रसादिविशेषस्वरूपं चरकसंहितायां सूत्रस्थाने षड्विंशे आत्रेयभद्रकाप्यीयेऽध्याये विलोकनीयम् । भागाभाग । (भाव ?) (भावाभाव ?) । "यथास्वयुक्त्यपेक्षिणौ हि भावाभावौ"—चरकसं० १।११।४८ । संयोग । "संयोग पुनर्द्वयोर्बहूनां वा द्रव्याणां संहतीभाव ···तद्यथा मधुसर्पिषो· ··।"—चरकसं० ३।१।३ ।

पृ० ११८ पं० २०, पृ० ११९ पं० २ **देशकाला** । द्रष्टव्यम् चरकसू० १।८-६ १।९-१० ३।१।

पृ० १२० पं० १३ **वाक्येते** । अत्र प्रतिषु वाक्येते इति पाठः तदनुसारेण वाच्येते' इत्यपि भवेत्। (उच्येते?)।

पृ० १२० पं० १७ **प्रमाणानि** । द्रष्टव्यम् टिपृ० २८ पं० १३ ।

पृ० १२१ पं० १० **विधि, अनुवाद** । "विधिर्विधायकः । स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः" । विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ।'—न्यायसू० २।१।६३-६५ । विस्तरार्थिभिर्न्यायभाष्यादिकमवलोकनीयम् ।

पृ० १२१ पं० २० **अग्निष्टोमादि** । "अष्टका पार्वणः श्राद्धं श्रावण्याग्रहायणी चैत्री आश्वयुजीति सप्त पाकयज्ञसंस्थाः । अग्न्याधेयम् अग्निहोत्रम् दर्शपूर्णमासौ आग्रयणं चातुर्मास्यानि निरूढपशुबन्धः सौत्रामणी इति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः । अग्निष्टोम अत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशी वाजपेयः अतिरात्रः अप्तोर्याम इति सप्त सोमसंस्थाः ।"—गौतमधर्मसू० ८।१६-१८ । यजतिशब्दो यागमात्रे वषट्कारप्रदाने रूढः । "वषट्कारप्रदाना यजतयः । स्वाहाकारप्रदाना जुहोतयः ।'—कात्यायनश्रौतसू० १।२।६-७ । 'षडुत्तरे—अत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशी वाजपेयः अतिरात्रः अप्तोर्याम"—कात्यायनश्रौतसू० १।५।१६ ।

पृ० १२१ पं० २० **वसन्ते ब्राह्मणो वाजपेयेन वैश्यः** । द्रष्टव्यम् पृ० २१० पं० २०-२१ ।

पृ० १२२ पं० ३ **न तु घटवद्** । द्रष्टव्यम् पृ० १५२ पं० १० ।

---

१ सप्तग्रहणमेकैकस्य गणनार्थम् । पाकग्रहणं स्थालीपाकसम्बन्धार्थम् । यज्ञग्रहणमग्निसम्बन्धार्थम् । संस्था सम्यक् स्थिता गृह्य एवैता इत्यर्थः । –मस्करिभा० पृ० १२९ Government Library Series Mysore । २ षडुत्तरे [अग्निष्टोमसंस्थायाः] षड् विकारा इत्यर्थः । –कर्कभा० । ३ कात्यायनश्रौतसूत्रप्रस्तावनायां यज्ञादिस्वरूपं सम्यग् विचारितमस्ति, तथाहि—"**सूत्राणां प्रस्थानत्रयम्**–धार्मिकविषयसम्बन्धीनि सूत्राणि श्रौतसूत्र-गृह्यसूत्र-धर्मसूत्रनामना प्रथितानि । तत्र वेदाख्यानां त्रेताग्निसाध्यानां कर्मणामनुष्ठानक्रमबोधकानि श्रौतसूत्राणि । जातकर्मादिसंस्कारकर्मणामेकाग्निसाध्यानां कर्मणां प्रतिपादको ग्रन्थो गृह्यसूत्रम् । साधारणवर्णाश्रमधर्मप्रतिपादको ग्रन्थो धर्मसूत्रमिति । [पृ० २८] "**यज्ञादिस्वरूपम्**–तत्र श्रुतौ तावत् वैदिकानि कर्माणि पञ्चधा विभक्तानि । त एव यज्ञाः पञ्चविध–अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यानि पशुः सोमः । स्मृतौ तु औपासनहोमः, वैश्वदेवम् पार्वणम् अष्टका मासि श्राद्धम् श्रवणा शूलगवः, इति सप्त पाकयज्ञसंस्थाः । अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमासौ, आग्रयणम् चातुर्मास्यानि निरूढपशुबन्धः, सौत्रामणी पिण्डपितृयज्ञादयो दर्वीहोमा इति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः । अग्निष्टोमः अत्यग्निष्टोमः, उक्थ्यः, षोडशी वाजपेयः अतिरात्रः, अप्तोर्यामः इति सप्त सोमसंस्थाः इति श्रौतानि स्मार्तानि मिलित्वा एकविंशतिरुक्तानि । तत्र स्मार्ता सप्त पाकयज्ञसंस्थाः स्मृतौ गृह्ये वा निरूपिता इति न सूत्रकारेण तासामत्र निरूपणं कृतम् । तथापि तेषामपि स्वरूपमतिसंक्षेपेण निरूप्यते किञ्चिदिह । तत्र या इमाः स्मार्ताः संस्थाः ता गृहीतस्मार्ताग्निना पुरुषेण स्वशाखानुसारेणानुष्ठेयाः । [पृ ३०-३१] तत्र श्रौताः सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः ॥ [पृ ३२] **वाजपेययज्ञ**—अथ वाजपेयस्वरूपमुच्यते–स च ब्राह्मण-क्षत्रियमात्रकर्तृकः न वैश्याधिकारिकः । एतदतिरिक्ते सप्तसंस्थान्तर्गते वाजपेये तु वैश्योऽप्यधिकारी । कालश्चास्य शरदृतुः । [पृ० ३८] **अग्निहोत्रे द्रव्यं देवता च**—एवमाधानसिद्धेषु वैतानिकाग्निषु अग्निहोत्रादीनि कर्माण्यनुष्ठेयानि । तत्राग्निहोत्रं नाम अभ्युदितेऽस्तमिते वा सायं प्रातः क्रियमाणो होमविशेषः । अत्र द्रव्याणि पयआदीनि बहूनि आम्नातानि । तत्र पयो मुख्यं द्रव्यं नित्यत्वेन आम्नातम् इतराणि च यवागूतण्डुलदधिघृतादीनि द्रव्याणि काम्यानि श्रुतावाम्नातानि । । अत्रापि अग्निर्मुख्या देवता, प्रजापतिरङ्गदेवता स्विष्टकृदग्नीषोमावपि । प्रातश्च सूर्यो मुख्या देवता प्रजापतिरङ्गदेवता । अत एव च अग्निदेवतात्वं प्रवृत्तिनिमित्तमादाय अग्निहोत्रशब्दः कर्मनामधेयम् । अस्यैव च श्रौतस्य कर्मणोऽग्निहोत्रमिति संज्ञा न तु स्मार्तस्यौपासनहोमस्य । अस्य च अग्निहोत्रस्य महत् प्राशस्त्यम् अकरणे च महान् प्रत्यवायो जन्मनो वैफल्यं च बहु प्रतिपादितं श्रुतौ स्मृतौ च । [पृ ३३] **अथ सोमयागनिरूपणम्**—[अग्निष्टोम] अथानुष्ठानप्रकारद्वयम् । यत्र सोमेन ... तत्र कश्चित् यत्र तदमावास्याय समनन्तरमेव सोमेन इष्ट्वा दर्शपूर्णमासावनुतिष्ठेदित्येकः । आधानादिकं दर्शपूर्णमासाविष्ट्वा तदनन्तरं सोमेन यजेतेत्यपरः । अत्र च द्रव्यं सोमरसः । सोमो नाम लताविशेषः । स कस्माच्चित् पुरुषात् क्रीतः सन् रसं निष्काश्य तेन च होमः क्रियते अत एवास्य सोमयाग इति व्यवहारः । इह तु इदानीं भारते क्वापि सुलभ्या पूर्वमपि न सर्वत्रोपलब्धाऽभूत् किं तर्हि ? कतिपयेषु स्थानेष्वेव । तानि च स्थानानि पूर्वं सर्वैः संगृहीतानि । इदानीमस्या

---

१ इत्यस्मात् मेरोत्पमा० ।

पृ० १२२ पं० ४. वायव्यं ···। "तत्र च प्रथमानुवाकस्यादावैश्वर्यकामिनः पशुं विधत्ते—'वायव्य९ श्वेतमालभेत भूतिकाम., वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति, स एवैनं भूतिं गमयति, भवत्येव ।२।१।१।' इति । वायुर्देवता यस्य पशो. सोऽयं वायव्य· । स च श्वेतवर्णः । तमालभेत संस्पृशेत्, बर्हिः-प्लक्षशाखाभ्यां यागार्थमुपकुर्यादित्यर्थ. । यद्यप्यत्र 'यजेत' इति न श्रूयते तथापि द्रव्यदेवतात्मकस्य यागरूपस्य श्रूयमाणत्वादन्यथानुपपत्त्या 'वायव्येन यजेत' इत्येवं यागः कल्पनीय. । न च सत्सु सहस्रसंख्याकेषु देवेषु कुतो वायुरेवापेक्ष्यत इति शङ्कनीयम्, वायोरतिशयेन क्षिप्रगामिदेवत्वात् । श्वेतपशुप्वतिप्रियत्वाद्वायो. स्वकीयो भाग., स्वार्थे 'धेय'प्रत्यय. । यद्वा वर्णव्यत्ययेन दातव्यत्वमुच्यते । तेन च भागधेयेनासाधारणेन वायुमेवोपधावति, समीपं प्राप्नोति, सेवत इत्यर्थ. । इतरदेवानामस्मिन् पशावत्यन्तप्रियत्वाभावाद् 'वायुमेव' इत्यवधार्यते । यद्वा यजमानस्यानादरव्यावृत्त्यर्थम्, 'उपधावत्येव' इति योज्यम् । तेन तुष्टः स वायुरेनं यजमानमैश्वर्यं गमयति, पूर्ववद् 'गमयत्येव' इति योज्यम् । तदनुग्रहादयं भवत्येव, ऐश्वर्यं प्राप्नोत्येव ।" इति तैत्तिरीयसंहिताया सायणभाष्ये २।१।१।

पृ० १२२ पं० १२. °धान्याद्यर्थं ममीक्रिया । अत्र "°धान्याद्यर्थमयी क्रिया' इति शुद्धं भाति ।

पृ० १२३ पं० १९. भेदसंसर्गाभ्यां ··। "समर्थ. पदविधि. ।२।१।१।····· परार्थाभिधान वृत्तिरित्याहुः । · अथवा समर्थाधिकारोऽय वृत्तौ क्रियते । सामर्थ्यं नाम [1]भेदः संसर्गो वा । अपर आह—भेदसंसर्गौ वा सामर्थ्यमिति । क.

अनुपलम्भात् तत्स्थाने पूतीकसंज्ञक लतान्तर गृहीत्वा तत्रैव सोमे क्रियमाणान् संस्काराननुष्ठाय तद्रसेनैव याग क्रियते । यागोऽयं दिनैकसाध्य , तथापि स्वाङ्गै सहित पञ्चभि दिनैरनुष्ठीयते, तत्र ऋत्विज षोडश । · ······ अथ सोमयागोऽग्निष्टोमसंस्थाकोऽग्निष्टोम इत्युच्यते । अग्निष्टोम इति साम्न संज्ञा । सामवेदे 'यज्ञायज्ञा वोऽग्नये' इत्यृचि गेयत्वेन विहितं साम अग्निष्टोम इत्युच्यते । संस्थाशब्द समाप्तिवाची । एतदेवात्र क्रतौ अन्तिम साम, न तत सामान्तरमस्ति । इति अनेनैव समाप्यमानत्वादयमेव क्रतुरग्निष्टोमसंस्थाकोऽग्निष्टोम इत्युच्यते । सोमयागस्य येन नाम्ना समाप्तिस्तेन नाम्ना व्यवहार श्रुतौ बहुधा दृष्ट यथा [पृ ४२] उक्थ्य षोडशीत्यादि । अतोऽग्निष्टोमसाम्ना समाप्यमानत्वादस्य अग्निष्टोम इति युक्ता संज्ञा । इयं च ज्योतिष्टोमस्य प्रथमा संस्था । तस्य हि चतस्र संस्था –अग्निष्टोम , उक्थ्य , षोडशी, अतिरात्रश्चेति । अग्निष्टोमसाम्ना समाप्यमानस्य क्रतोरग्निष्टोमशब्दवाच्यत्वमुक्तम् । अग्निष्टोमसामानन्तर यत्र उक्थ्याख्यसाम्ना स्तूयते न तत परमस्ति किञ्चित् साम स उक्थ्यसंस्थाको ज्योतिष्टोम । उक्थ्यस्तोत्रानन्तर यत्र षोडश्याख्यं स्तोत्रं क्रियते स षोडशिसंस्थाको ज्योतिष्टोम । षोडशिस्तोत्रानन्तर यत्र अतिरात्रसंज्ञकानि सामानि गीयन्ते सोऽतिरात्रसंस्थाको ज्योतिष्टोम । एव संख्याचतुष्टयविशिष्टस्य क्रतोर्ज्योतिष्टोम इति संज्ञा । त्रिवृत् पञ्चदश सप्तदश एकविंश इति चत्वार स्तोमा ज्योति पदेन अभिधीयन्ते । ज्योतींषि स्तोमा यस्य स ज्योतिष्टोम । एतत्पदनिर्वाचके ब्राह्मणे हि एवमेव निरुक्तमस्ति । 'त्रिवृत् पञ्चदश सप्तदश एकविंश एतानि वाव तानि ज्योतींषि य एतस्य स्तोमा ' [तै० ब्राह्म० १।५।११] इति । एतासामेव चतसृणा संस्थाना क्वचिदावापोद्वापादिना अपरास्तिस्र संस्था. सम्पाद्यन्ते । अत्यग्निष्टोम , वाजपेय अप्तोर्यामश्चेति । अग्निष्टोमस्तोत्रानन्तरमुक्थ्यमकृत्वा यत्र षोडशी क्रियते सोऽत्यग्निष्टोमसंज्ञक क्रतु । [पृ ४३]· · इमा एव सप्त संस्था स्मृतौ नित्यतया विहिता । [पृ ४४] ···· कल्पोऽय ब्राह्मणयजमानके सोमयागेऽग्निष्टोमसंस्थाके उक्त । कर्मणा त्रैवर्णिकाधिकारित्वात् राजन्य-वैश्यावप्यत्राधिक्रियेते इति तु निर्विवादमेव । एवं च यदि राजन्यो वैश्यो वा अग्निष्टोममाजिहीर्षति तदा न तत्र सोमो द्रव्य भवितुमर्हति, किन्तु न्यग्रोधवृक्षस्य अङ्कुराणि फलानि वा आहृत्य तानि च सम्यक् पेषयित्वा लौकिकेन दध्ना साकं सम्मेल्य तदेव च द्रव्य सोमस्थाने कृत्वा यजेरन् । सोमे क्रियमाणा सर्वेऽपि संस्कारा क्रयादयोऽत्रापि भवन्त्येव । मन्त्राणामपि सोमपदघटितानामनूहेनैव प्रयोग ।" [पृ० ५४]–कात्यायनश्रौतसूत्रभूमिका [अच्युतग्रन्थमालाया प्रकाशिता, काशी] ।

१ तत्र भेद संसर्गाविनाभावित्वादनुमीयमानसंसर्ग सामर्थ्यम्, संसर्गो वा भेदाविनाभाव्यनुमेयभेदः, उभौ वा यौगपद्येनाश्रीयमाणौ सामर्थ्यमित्यर्थ । ' तत्र भेदपक्षे राजा पुरुषं स्वाम्यन्तरेभ्यो निवर्त्य स्वार्थं जहाति । पुरुषस्तु अजहदपि स्वार्थं स्वान्तरेभ्यो राजानं निवर्तयति । एवं संसर्गेऽपि योज्यम् ।" इति कैयटविरचिते **पातञ्जलमहाभाष्यप्रदीपे** । अस्य **प्रदीपस्य** विस्तरेण व्याख्यान तु **उद्योते** विलोकनीयम् ।

---

1 "भेदसंसर्गवदर्थप्रतिपादकत्वमेवैकार्थीभावसामर्थ्यमित्यर्थ । तत्र युक्तिरुक्तैव । तत्र भेद इति । स्वत्वसमानाधिकरणो राजभिन्नस्वामिकभेदो राजसंसर्गव्याप्य । एव वृत्त्युपस्थाप्यराजसम्बन्धवद्व्यक्तिगतराजसम्बन्धो राजभिन्नस्वामिकभेदव्याप्य इति भाव ।" इति नागोजीभट्टविरचिते **उद्योते** ।

पुनर्भेदः संसर्गो वा ? इह 'राज्ञ' इत्युक्ते सर्वं स्वं प्रसक्तम्, 'पुरुष' इत्युक्ते सर्वः स्वामी प्रसक्तः । इहेदानीं 'राजपुरुषमानय' इत्युक्ते राजा पुरुषं निवर्तयत्यन्येभ्यः स्वामिभ्यः, पुरुषोऽपि राजानमन्येभ्यः स्वेभ्यः । एवमेतस्मिन्नुभयतो व्यवच्छिन्ने यदि स्वार्थं जहाति कामं जहातु, न जातुचित् पुरुषमात्रस्यानयनं भविष्यति ।" इति पातञ्जलमहाभाष्ये २।१।१।

पृ० १२३ प० २० **येन समानो** । (येन समानो ब्रह्मचारी ?) । "चरणे ब्रह्मचारिणि"–पा० ६।३।८६।

पृ० १२४ प० १,७ **प्रमादाधीत** । 'प्रमादपाठ' [शाबरभा० १।३।८] 'प्रमत्तगीत' [पातञ्जलमहाभा० १।१। पस्पशा०] इत्यादयः शब्दप्रयोगा बहुलमुपलभ्यन्ते ग्रन्थेषु।

पृ० १२४ प० १-२ **अग्निहोत्रादय** । "तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम् १।४।४।" इति मीमांसादर्शनसूत्रस्य शाबरभाष्ये कुमारिलभट्टविरचिते तन्त्रवार्तिके च 'अग्निहोत्र'शब्दस्य कर्मनामधेयत्वं सिद्धान्तितम्। "अग्निहोत्रं जुहोति [तै० सं० १।५।९।१ मै० सं० १।८।,] इत्यत्र 'अग्निहोत्र'शब्दस्य कर्मनामधेयत्वं तत्प्रख्यशास्त्रात्। तस्य गुणस्य प्रख्यापकस्य प्रापकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वाद् 'अग्निहोत्र'शब्दः कर्मनामधेयमिति यावत्। नन्वत्र गुणविधिरेव कुतो न इति चेत्, न, यदि 'अग्नौ होत्रमस्मिन्' इति सप्तमीसमासमाश्रित्य होमाधारत्वेनाग्निरूपो गुणो विधेयः तदा 'यदाहवनीये जुहोति' इत्यनेनैव अग्नेः प्राप्तत्वात् तद्विधानानर्थक्यम्। 'अग्नये होत्रम्' इति चतुर्थीसमासमाश्रित्य अग्निदेवतारूपगुणोऽनेन विधीयत इति चेत्, न, तद्देवताया शास्त्रान्तरेण प्राप्तत्वात्। किं तच्छास्त्रान्तरमिति चेत्, 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' [मै० सं० १।८।७] इति केचित्। अपरे तु 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' [मै० सं० १।८।१०] इति मन्त्रवर्णः एवाग्निरूपदेवताप्रापकः।'–इति लौगाक्षिभास्करप्रणीतार्थसंग्रहः। मीमांसान्यायप्रकाश[पृ० ६०]प्रभृतिग्रन्थेष्वपि चर्चितोऽयं विषयः।

पृ० १२४ प० ८ **दशदाडिमादिवाक्यवत्** । "अनर्थकानि–'दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिनं पललपिण्डः । अधरोरुकमेतत् कुमार्याः स्फैयकृतस्य पिता प्रतिशीनः ॥' इति ।" इति पातञ्जलमहाभाष्ये १।१।१।, १।२।४५।

पृ० १२५ प० ३-४ **नापि घटादि** । द्रष्टव्यता पृ० १५२ प० ११-१२ ।

पृ० १२५ प० ९-१० **वाक्यभेदा** । "भिद्यतेत्तमानर्थो उभयाभिधाने वाक्यं भिद्येत ।"–शाबरभा० १।२।७। "आवृत्त्या उभयविधानावृत्तिलक्षणो वाक्यभेदः । एकवाक्यस्य प्रत्येकमुभयपदार्थं व्यापारभेदेनोभयविधायकत्वे वाक्यभेदो भवति । विधेयस्योभयत्वे तद्विधायकवाक्यस्यापि व्यापारभेदेनैव तद्विधायकत्वं सम्भवति, नान्यथा ।" इति लौगाक्षिभास्करप्रणीतस्य अर्थसंग्रहस्य रामेश्वरभिक्षुकृतायां कौमुद्यां व्याख्यायाम्।

पृ० १२५ प० १५ **नेतद्** । "सेयोऽनड्वान् विषाणित इति । नैतद् विचार्यते अनड्वान् नानड्वानिति । किं तर्हि ? आलब्धव्यो नालब्धव्य इति ।"–इति पातञ्जलमहाभाष्ये १।१।४३। आलब्धव्यो इत्यत्र इत्यथा भाति ।

पृ० १२५ प० १७ **स्वभावसिद्ध** । "एवं तर्हि कर्मसाधनो भविष्यति 'भाव्यते यः स भावः' इति । क्रिया चैव हि भाव्यते । स्वभावसिद्धं तु द्रव्यम् ।" इति पातञ्जलमहाभाष्ये १।३।१ । द्रष्टव्यता पृ० ३८३ प० १२ ।

पृ० १२५ प० २५, पृ० १२६ प० १ **अत्र पुन** । द्रष्टव्यता पृ० १५२ प० १९ ।

पृ० १२६ प० २४,३२ **पूर्वापरीभूत** । अत्र विस्तरार्थिभिर्वाक्यपदीयतृतीयकाण्डस्याष्टमः क्रियासमुद्देशो विलोकनीयः । द्रष्टव्यतां पृ० ३८३ प० १३, पृ० ४०६ प० २२ ।

---

१ "भाष्ये अन्येभ्यः स्वामिभ्यो निवर्तयति इत्युक्त्या स्वस्वामिनो न निवर्तयतीत्यर्थलाभात् संसर्गो बोधितः । एतेन भेदप्रतिपादनेऽपि संसर्गाप्रतिपादनान्न्यूनत्वमपास्तम् ।" इति उद्योते । २ हृद्य । ३ 'अनुत्पन्नपरं सन्तमेकत्वात् पूर्वापरीभूतं पूर्वापरमिव पौर्वापर्येणावस्थितमेकमनेकासु क्रियासु आश्रितम् तदभिनिर्वृत्तिवशेनाभिनिवर्तमानम् आचष्टे–गच्छतीति । उपक्रमप्रभृतीति । उपक्रम आरम्भः, तस्मादारभ्य अपवर्गपर्यन्तम्, यावदन्त्या क्रियेत्यर्थः । उपक्रमादारभ्य यत्र भवति यत्र भज्यते यत्र भजिष्यमाणं तत् सर्वमङ्गीकृत्य व्यवहारो भवति–व्रजति देवदत्त इति । तस्मात् प्रसिद्धशास्त्रयोरपि लौकिकप्रसिद्ध्यैव पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेन आचष्टे व्रजति पचति इत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम् । तस्मादुपपन्नमनेकक्रियाभिर्निर्वर्त्यमानो भाव आख्यातेनोच्यते । आह च–'क्रियासु बह्वीष्वभिसंश्रितो यः पूर्वापरीभूत इवैक एव । क्रियाभिनिर्वृत्तिवशेन सिद्ध आख्यातशब्देन तमर्थमाहुः ॥ [बृह० १४।८] इति । भूतं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिः '। कथमिति नैव भाव तथैव उपक्रमप्रभृत्यभिनिर्वर्त्यमानमपवर्गपर्यन्तं भूतं सत् सत्त्वभूतं सत्त्वरूपिणं लिङ्गसंख्यायुक्तं सत्त्वनाम भिराचष्टे । कथम् ? व्रज्या पक्तिरिति । तयोरसौ विशेषः–कृदभिहितो भावो द्रव्यवद् भवति । आह च–'क्रियाभिनिर्वृत्तिवशोपजात कृदन्तशब्दाभिहितो यदा स्यात् । संख्याविभक्तिव्ययलिङ्गयुक्तो भावस्तदा द्रव्यमिवोपलक्ष्यः ॥ [बृह० १।४] इति ।' इति यास्कविरचितनिरुक्तस्य दुर्गवृत्तौ १।१।

पृ० १२७ पं० ११–१४. संसर्गो·········शब्दस्यार्थव्यवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः । उद्धृताविमौ श्लोकौ काव्यप्रकाश[२।१९]टीकादिषु व्याख्यातौ च तत्र । इद पुनरवधेयम्–मुद्रिते वाक्यपदीयेऽन्यत्र च बाहुल्येन 'शब्दार्थस्यानवच्छेदे' इति पाठो दृश्यते तथापि 'शब्दस्यार्थव्यवच्छेदे' इति प्राचीनः पाठ, स च शुद्ध एव । अर्थव्यवच्छेदे स्वार्थनिर्णये कर्तव्ये इत्याशयः । सिद्धसेनगणिविरचितायां तत्त्वार्थवृत्तावपि उद्धृतमिदं श्लोकद्वयम्, तत्र च 'शब्दस्यार्थव्यवच्छेदे' इत्येव पाठो दृश्यते । पुण्यराजविरचिता वाक्यपदीयवृत्तिरपि एतत्पाठानुकूलेव भाति ।

पृ० १२७ पं० १५. आसन्नश्रुतोऽग्निहोत्रशब्दः, तच्चोदित । अत्र स० प्रत्यनुसारि 'आसन्नश्रुताग्निहोत्रशब्दात्तच्चोदित ' इति पाठोऽपि समीचीन एव ।

पृ० १२८ प० ७. प्रलम्बते···। "अर्थवदधातुरप्रत्यय प्रातिपदिकम् ।१।२।४५।····· निपातस्यानर्थकस्य प्रातिपदिकसंज्ञा वक्तव्या । प्रपञ्जति । निरपञ्जति । लम्बते । प्रलम्बते । किं पुनरत्र प्रातिपदिकसंज्ञया प्रार्थ्यते ? 'प्रातिपदिका'दिति स्वाद्युत्पत्तिः । 'सुबन्तं पदम्' इति पदसञ्ज्ञा । पदस्य पदादिति निघातो यथा स्यात् । ·· ···· अधिपरी अनर्थकौ ।१।४।९३ । ·· ·· अथवा नेमावनर्थकौ । किं तर्ह्यनर्थकाविच्युच्यते ? अनर्थान्तरवाचिनावनर्थकौ धातुनोक्तां क्रियामाहतुः । तद-

---

१ "वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्याद् देशकालत । शब्दार्था प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात् ॥ २।३१६ ॥ तत्र वाक्याच्छब्दार्थनिर्णयो यथा 'कटं करोति भीष्ममुदार दर्शनीयम्' इति ··· भीष्मगुणान्वितस्य कटस्य करणं वाक्यार्थं । ·· तथात्र प्रकरणमप्यशब्दं शब्दार्थनिर्णयनिमित्तम्, यथा ग्रामप्रस्तावे सैन्धवाना चोदनमश्वानयनपर्यवसायि भवति । भोजनप्रस्तावे तु तदेव लवणप्रतीतिमुपजनयतीति ।·· अर्थस्तु शाब्दत्वाच्छब्दार्थनिर्णयं परस्परयति, यथा 'अञ्जलिना जुहोति, अञ्जलिना सूर्यमुपतिष्ठते, अञ्जलिना पूर्णपात्रमाहरति' इत्यत्र जुहोतीत्यादयर्थवशाद् विभिन्नार्थवाचकोऽञ्जलिशब्द । ··· ····औचित्यादपि शब्दार्थव्यवस्थान दृश्यते, यथा 'यश्च निम्ब परशुना यश्चैनं मधुसर्पिषा । यश्चैनं गन्धमाल्याभ्यां सर्वस्य कटुरेव स ॥' इत्यत्र अनुक्तक्रियापदानि साधनान्येव औचित्यवशात् स्वसमुचितक्रियापदावगत्या ·····वाक्यार्थस्य प्रतीतिमुपजनयन्ति । तथा च यो निम्बं परशुना छिनत्ति यश्चैनं गन्धेनानुलिम्पति सर्वस्य तस्य 'दुस्त्यजा प्रकृति ' इति कृत्वा कटुरेव, दौर्मनस्यदाननिपुण एव । इति क्वचित् खलत्वप्रतिपादनमत्र तात्पर्यार्थ ।·· देशाच्छब्दार्थनिर्णयो यथा 'मथुराया प्राचीनादुदीचीनाद्वा नगरादागच्छामि' इत्युक्ते नगरविशेषात् पाटलिपुत्रादागच्छामि इति गम्यते ।· ··· कालात्तु खलु व्यवस्था दृश्यते, यथा शिशिरे 'द्वारम्' इत्युक्ते 'पिधेहि' इति, ग्रीष्मसमये त्वेवमभिधाने 'समुद्घाटय' इति गम्यते । एतत्र शब्दार्थनिर्णयोपायानां दिग्मात्रप्रदर्शनं बोद्धव्यम् । 'तथा चापरै ससर्गादय शब्दार्थावच्छेदहेतवः प्रदर्शिता इत्याह–संसर्गो विप्रयोगश्च······ ॥ २।३१७ ॥······विशेषस्मृतिहेतवः ॥ २।३१८ ॥·········ससर्गादिभिरवच्छेदः क्रियते · · ससर्गादिभिरर्थनिर्णय क्रियते ।···सामर्थ्यमेव हि ससर्गादिभिर्व्यज्यत इति । तत्र ससर्गाद् यथा 'सकिशोरा धेनुरानीयताम्' इत्यत्र नियतेन सम्सर्गिणा किशोरलक्षणेन विशेषावगायनिमित्तेन वडवाया एव सम्प्रत्यय । यथा च 'सवत्सा धेनु ' इत्यत्र वत्ससंसर्गाद् गोधेनोरेव सम्प्रत्यय इति ससर्गादर्थनिर्णय ।·· तथा ससर्गवद् विप्रयोगोऽपि अवच्छेदहेतु ।···'अकिशोरा धेनु अवत्सा अकरभा वा आनीयताम्' इति किशोरादिविप्रयोगेन विशिष्टजातीयाया एव धेनोरवगतिरुपजायत इति । · साहचर्याद् यथा 'रामलक्ष्मणौ' इत्युक्ते लक्ष्मणसाहचर्याद् दाशरथेरेव प्रतीति ।···विरोधादप्ययोंऽवधार्यते, यथा 'रामार्जुनौ' इत्यत्र अर्जुनसन्निधाने निसर्गवैरिणो जामदग्न्यस्यैव प्रतीति । अर्थप्रकरणदेशकालौचित्यैर्विशेषेऽवस्थापनं प्राक् प्रदर्शितम् । लिङ्गाच्च वाक्यान्तरे दृष्टाद् भेदप्रसिद्ध प्रतीयते, यथा 'अक्ता शर्करा उपदधाति' इत्यत्र अनेकस्याञ्जनद्रव्यस्य सम्भवे तेजोघृतस्य स्तुतिरुक्ता । एतस्माल्लिङ्गाद घृतसाधनत्वमञ्जिक्रियाया शर्कराकर्मिकाया निर्धार्यते ।·· शब्दान्तरसनिधानादपि विशेषावगति, यथा 'अर्जुन कार्तवीर्य' 'रामो जामदग्न्य ' इति । सामर्थ्याद् विशेषप्रतिपत्ति, यथा 'अनुदरा कन्या' इति सामर्थ्यादुदरविशेषप्रतिषेधप्रतीति । व्यक्तिर्लिङ्गम् । तस्मान्निर्णयो यथा 'तद् ग्रामस्यार्धं लभेत' इत्यत्र समप्रविभागेऽर्धशब्दो नपुंसकेन परामर्शात् । तस्माद् ग्रामस्यार्धं सममेव प्रतीयते । 'तं ग्रामस्यार्धम्' इत्यत्र तु तमिति पुलिङ्गेन परामर्शाद् ग्रामैकदेशमात्रं प्रतीयते ।·· स्वराद् यथा 'स्थूलपृषतीमालभेत' इत्यत्रान्तोदात्तस्य श्रवणात् 'स्थूला चासौ पृषती' इत्येवंविधार्थप्रतीति । पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वदर्शने 'स्थूलानि पृषन्ति यस्याम्' इत्यन्यपदार्थप्रतीति ।···णत्वनत्वाभ्या यथा प्रणायक इत्यत्र उपसर्गाश्रयणत्वसद्भावे प्रणयनक्रियाकर्तु प्रतीति । णत्वाभावे तु प्रगता नायका अस्माद्देशादसौ 'प्रनायको देश ' इत्यन्यपदार्थप्रतीतिरिति । तदेवमेते शब्दार्थस्य सन्देहनिराकरणद्वारेण नियतार्थावसायहेतुत्वाद् विशेषस्मृतिहेतवो निर्णयहेतव ससर्गादय इति बोद्धव्यम् ।" इति पुण्यराजविरचिताया वाक्यपदीयवृत्तौ २।३१६–३१८ ।

विशिष्ट भवति । उक्तायानामपि प्रयोगो दृश्यते । तद्यथा—अपूपौ द्वावानय, ब्राह्मणौ द्वावानयेति ।" इति पातञ्जलमहाभाष्ये । 'अधिपरी अनर्थकौ ।१।४।९३। उक्तमनौ [=कर्मप्रवचनीयमनौ] स्तः । कुतोऽध्यागच्छति । कुतः पर्यागच्छति ।'—पा० सिद्धान्तकौ० । "इदानीं ममूयार्थाभिधायकत्वमपि दर्शयितुमाह—अप्रयोगेऽधिपर्योश्च यावद् दृष्टं क्रियान्तरम् । तस्या भिधायको धातुः सह ताभ्यामनर्थकः ॥ [वाक्यप० २।१९१] समुदाय एव विशिष्टार्थाभिधायक इत्यधिपर्यो केवलयोधात्वोश्चाप्रयोगादनयत्वमनया नरवाचकत्वमित्यर्थः ।' इति पुण्यराजविरचितायां वाक्यपदीयवृत्तौ ।

पृ० १२८ पं० ७ कुम्भकारवत् । उपपदमतिङ् ।२।२।१९। उपपदं सुबन्तं समर्थेन नित्यं समस्यते । अतिङन्तश्चायं समासः । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः । इह कुम्भ अस् कार इत्यलौकिकं प्रक्रियावाक्यम् ।'—पा० सिद्धान्तकौ० ।

पृ० १२८ पं० १०-११ अस्तिक्षीराश्नीतपिबतादिषु तिङन्तप्रतिरूपकनिपातः । "अनेकमन्यपदार्थे । २।२।२४। सुबविकारेऽस्तिक्षीरादीनामुपसंख्यानं कर्तव्यम् । अस्तिक्षीरा ब्राह्मणी । न वा वक्तव्यम् । किं कारणम्? अव्ययत्वात् । अव्ययमेषोऽस्तिशब्दः । नैषोऽस्तत्वः । कथमव्ययत्वम्? 'उपसर्गविभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च निपातसंज्ञा भवन्ति' इति निपातसंज्ञा । 'निपातोऽव्ययम्' इत्यव्ययसंज्ञा ।"—पा० म० भा० । अनेकमन्यपदार्थे ।२।२।२४। अनेकं प्रथमान्तमन्यस्य पदस्यार्थे वर्तमानं वा समस्यते । स बहुव्रीहिः । अस्तीति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम् । अस्तिक्षीरा गौः । मयूरव्यंसकादयश्च ।२।१।७२। एते निपात्यन्ते । अश्नीत पिबत इत्येवं सततं यत्राभिधीयते सा अश्नीतपिबता ।"—पा० सिद्धान्तकौ० ।

पृ० १२८ पं० १४ शङ्कुलाखण्डप्रातिपक्ष्येण । "तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन । उपादानविकल्प, शङ्कुलाखण्ड, किरिकाण । समर्थग्रहणं किमर्थम्? 'तिष्ठ त्वं, शङ्कुलया, खण्डो धावति मुसलेन । किं त्वं करिष्यसि शङ्कुलया, खण्डो विष्णुमित्र उपलेन ।" इति पातञ्जलमहाभाष्ये २।१।१।

पृ० १२८ पं० १५-१६ देवदत्तस्य सापेक्षस्यापि समासः । "यदि सापेक्षमसमर्थं भवतीत्युच्यते 'राजपुरुषोऽभिरूपः' 'राजपुरुषो दर्शनीयः' अत्र वृत्तिर्न प्राप्नोति । नैष दोषः । प्रधानमत्र सापेक्षम् । भवति च प्रधानशब्दस्य सापेक्षस्यापि समासः । यत्र तर्ह्यप्रधानं सापेक्षं भवति तत्र वृत्तिर्न प्राप्नोति—'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' 'देवदत्तस्य गुरुपुत्रः' 'देवदत्तस्य दासभार्या' इति । नैष दोषः । समुदायापेक्षात्र षष्ठी सर्वं गुरुकुलमपेक्षते । —इति पातञ्जलमहाभाष्ये २।१।१। विस्तरार्थिभिस्तु अस्य व्याख्यानं प्रदीपे उद्द्योते च विलोकनीयम् ।

पृ० १२८ पं० १८-१९ अपशब्दो हि नाम । "भूयांसोऽपशब्दाः । तद्यथा—'गौः' इत्यस्य शब्दस्य 'गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका' इत्यादयो बहवोऽपभ्रंशाः ।" इति पातञ्जलमहाभाष्ये १।१। पस्पशाह्निके । "तत्र 'गौः' इति प्रयोक्तव्ये अशक्त्या प्रमादादिभिर्वा गाव्यादयस्तत्प्रकृतयोऽपभ्रंशाः प्रयुज्यन्ते । ते च साधुत्वाभिमतेष्वेव रूपवत्स्वरूपाः साधुत्वं विभ्रति । अर्थान्तरे तु प्रयुज्यमाना साधव एव विज्ञायन्ते । न ह्येतेषां रूपमात्रप्रतिबद्धमसाधुत्वम् । अतो गोणादयः शब्दाः साधवो विषयान्तरे ।१।१४९। आवपने 'गोणी' इति स्वविप्रयोगाभिधाने च 'अश्व' इत्येतयोरवस्थितं साधुत्वम् ।' इति भर्तृहरिविरचितायां वाक्यपदीयस्ववृत्तौ १।१४९ ।

पृ० १२९ पं० ३ पदान्तरविषयत्वात्, अज्ञात । अत्र 'पदान्तरविषयत्वात्, वाक्यभेद एव वा अज्ञात' इति पाठः समीचीनो भाति । द्रष्टव्यं टिप्प० ५७ पं० ३५ ।

पृ० १२९ पं० १४ क्रियार्थत्वरूढस्य । अत्र हस्तलिखितप्रत्यनुसारी 'क्रियार्थे च रूढस्य' इति पाठः शोभन एव ।

पृ० १२९ पं० १४-१६ आख्यातस्य । द्रष्टव्यं टिप्प० ५५ पं० २८ ।

पृ० १२९ पं० १९ धातुप्रातिपदिक । "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ।' —पा० १।२।४५। "भूवादयो धातवः ।'—पा० १।३।१। "क्रियावचनो धातुः ।'—पा० म० भा० १।३।१। 'सुप्तिङन्तं पदम् ।"—पा० १।४।१४ ।

पृ० १२९ पं० २३ 'न' इत्यनुवर्तनात् । 'न' इत्यनुवर्तनाद् 'न केवलं वाक्यभेद एव वा' इत्यादायः प्रतीयते । एवं च मूलेऽपि [पृ० १२९ पं० ३] 'न पदभेद एव पदान्तरविषयत्वात् वाक्यभेद एव वा अज्ञातस्याभिहोत्रस्य क्रिया-विशेषणत्वानुपपत्तेः इति पाठः समीचीनो भाति । द्रष्टव्यं टिप्प० ५७ पं० २८ ।

---

१ तिष्ठ त्वम् शङ्कुलया न प्रयोजनम् मुसलेन कृत खण्डो धावतीत्यर्थः । शङ्कुलयेति गदयाग तृतीया इत्यपि ईर्ष्यार्थः । हे विष्णुमित्र त्वं शङ्कुलया किं करिष्यसि ? उपलेन पाषाणेन कृत खण्ड इति द्वितीयार्थः ।' इति उद्द्योते ।
म० टि० ८

पृ० १३० पं० १०. **शब्दान्यवस्थानात्** । अत्र य०प्रतिपाठानुसारेण 'शब्दान्यवस्थानम्, तदव्यवस्थानात्' इत्यपि पाठः संभवेत् ।

पृ० १३० पं० १५-१६ **प्रतिज्ञात्यागप्रतिज्ञान्तरगमन**··· । "प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः । प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात् तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ।"—न्यायसू० ५।२।२-३ । विस्तरेण न्यायभाष्यादितो ज्ञेयम् ।

पृ० १३१ पं० ७,२६ **अनुवादादृ** । कारिकेयं विशेषावश्यकभाष्यकोट्यार्यवृत्ति-कोट्याचार्यवृत्ति[पृ० ९७३]-वृहत्कल्पसूत्रवृत्ति[पृ० ४०१]-षड्दर्शनसमुच्चयबृहद्वृत्ति[पृ० १२३]प्रभृतिग्रन्थेषु उद्धृतास्ति ।

पृ० १३१ पं० १७,२४ **अर्थपुनरुक्तं** । दृश्यतां पृ० १५६ पं० २२ । टिपृ० ६२ पं० २४ ।

पृ० १३२ पं० १. **न चात्र कश्चि** । दृश्यतां पृ० १४२ पं० १७ ।

पृ० १३२ पं० ६. **घनं घनं** । (दानं दानं ? हुतं हुतं ? धूतं धूतं ? ? ?) ।

पृ० १३२ पं० ६-७ **हेतौ कृतकत्वा** · । "अनित्यः शब्दः । कृतकत्वात् । कृतकमनित्यं दृष्टं यथा घटः । तथा च कृतकः शब्दः । तस्मात् कृतकत्वादनित्यः ।" इति चन्द्रकीर्तिविरचितायां मध्यमकवृत्तौ पृ० २० ।

पृ० १३३ पं० ४. **शब्दः कर्तृ** । 'शब्दः प्रयुज्यते, स च कर्तृ · ' इत्याकारकः पाठोऽत्रापेक्ष्यते ।

पृ० १३४ पं० ८. **प्रत्यपेक्षित** । (प्रत्यवेक्षित ?) । दृश्यतां पृ० १३० पं० ११ ।

पृ० १३४ पं० १३. **दशदाडिमादिश्लोक** । दृश्यतां टिपृ० ५७ पं० १६ ।

पृ० १३४ पं० २०. **काकवाशितं** । "[1]तिरश्चां वाशितं रुतम् ।" इति अमरकोषे १।७।२५।

पृ० १३५ पं० १,८,१०. **[3]वातिकमन्त्रादि**·· । अत्र सर्वत्र 'वातिक'स्थाने 'धातिक' इति पाठः शुद्धो भाति ।

पृ० १३५ पं० ७. **आदिमदनादिप्रसिद्धीनां** । आदिमत्प्रसिद्धीनामनादिप्रसिद्धीनां चेत्यर्थः । अत्र अस्वारस्ये तु 'आदिवद् अनादिप्रसिद्धीनाम्' इति कल्पनीयम् ।

पृ० १३५ पं० ९. **[2]वातिकानां ज्ञानानि** । अत्र प्रतिस्थः "**°वादिकानां ज्ञानानि**" इति पाठः पुरस्करणीयः ।

पृ० १३५ पं० १३ **नक्षत्रं दृष्ट्वा** वाचो विसृजन्ति । "न पुरा नक्षत्रेभ्यो वाचं विसृजेत्, यत् पुरा नक्षत्रेभ्यो वाचं विसृजेत् यज्ञं विच्छिन्द्यात् । उदितेषु नक्षत्रेषु व्रतं कृणुतेति वाचं विसृजति ।" इति तैत्तिरीयसंहितायाम् ६।१।४।२७-२८। "नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजते ।" इति कठसंहितायाम् २३।५। "[4]सतोऽविवक्षा पारार्थ्यम् · ·· ॥१।१३७॥' 'नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्' इति कालोपलक्षणार्थं नक्षत्रदर्शनं तत ।" इति भर्तृहरिविरचिताया वाक्यपदीयस्ववृत्तौ ।

पृ० १३६ पं० १,७ **युक्ततरी तु** । (युक्ततरा तु ?) ।

---

१ "तिरोऽञ्चन्ति ते तिर्यञ्चः, तेषां यद् रुतं तद् वाशितम् । 'वाशृ शब्दे' [पा० धा० दिवादि०] । '**वासिता** करिणीनार्योर्वासितं सुरभीकृते । ज्ञानमात्रे खगारावे **वासितं** वस्त्रवेष्टिते ॥' इति विश्वकोषादिदर्शनेन तु दन्त्यवानपि । एकं पक्षिशब्दस्य ।" इति अमरकोषसुधाव्याख्यायाम् । २ "तपोयुक्तं च श्रेयांसं **भद्रबाहुं** निरामयम् ॥४॥ · प्रणम्य शिरसाचार्यमूचुः शिष्या वचस्पतिम् । ॥६॥ विस्तीर्णं **द्वादशाङ्गं** तु भिक्षवश्चाल्पमेधसः । भवितारो हि बहवस्तेषां चैवेदमुच्यताम् ॥१३॥ सुखग्राह्यं लघुग्रन्थं स्पष्टं शिष्यहितावहम् । सर्वज्ञभाषितं तथ्यं निमित्तं तु ब्रवीहि नः ॥१४॥ उल्काः समासतो व्यासात् परिवेषांस्तथैव च । विद्युतोऽभ्राणि सन्ध्याश्च मेघान् वातान् प्रवर्षणम् ॥१५॥ गन्धर्वनगरं गर्भान् यात्रोत्पातं तथैव च । ग्रहचारं पृथक्त्वेन ग्रहयुद्धं च कृत्स्नतः ॥१६॥ **वातिकं** चाथ स्वप्नांश्च मुहूर्तांश्च तिथींस्तथा । करणानि निमित्तं च शकुनं पाकमेव च ॥१७॥ ·बलाबलं च सर्वेषां विरोधं च पराजयम् । तत् सर्वमानुपूर्वेण प्रब्रवीहि महामते ॥१९॥ सर्वानेतान् यथोद्दिष्टान् भगवन् वक्तुमर्हसि । प्रश्नं शुश्रूषवः सर्वे वयमन्ये च साधवः ॥२०॥ इति नैर्ग्रन्थे **भद्रबाहुके** निमित्ते ग्रन्थाङ्गसञ्चयो नाम प्रथमोऽध्यायः ।" इति **भद्रबाहुसंहितायाम्** । ३ अत्र **धातिको** नाम कश्चिद् धातुविषयमन्त्रादितो धातुवादी सम्भाव्यते । "सुवर्णरूप्यताम्राणि हरितालं मनःशिला । गैरिकाञ्जनकासीससीसलोहाः सहिङ्गुलाः । गन्धकोऽभ्रकमित्याद्या धातवो गिरिसम्भवाः ॥" इति **अमरकोषसुधाव्याख्यायाम्** २।४।८। ४ "**सतोऽविवक्षा** इति । शब्देनोपात्तस्याप्यर्थस्याविवक्षा **पारार्थ्यमि**ति शब्दोपात्तस्याप्यर्थस्योपलक्षणता । पारार्थ्यस्योदाहरणं **नक्षत्रमि**ति । शब्दोपात्तो हि वाग्विसर्गो नक्षत्रदर्शनपूर्वकः, तत्र नक्षत्रदर्शनेन कालः उपलक्ष्यते, यदा नक्षत्रमुदेति तदा वाचंयमेन वाग्विसर्गः कर्तव्य इति ।"—**वृषभदेवटी०** ।

पृ० १३६ पं० ३-४,२१-२५ त्वदभिप्रायवत् । दृश्यतां पृ० १५२ पं० २० ।

पृ० १३६ पं० ८ पुरुष एवेदं । "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् । उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥" इति ऋग्वेदे पुरुषसूक्ते १०।९०। वचनमिदं यजुर्वेदेऽप्युपलभ्यते । दृश्यतां पृ० १४४ पं० ११, पृ० १८९ पं० ५।

पृ० १३६ पं० ५ विध्यन्तरविधान　　मष्टाविमित्यादि [पृ० १३७ पं० १] । 'विध्यन्तरविधानशैल्या तत्सिद्धिः', यूपं छिनत्ति　　पालाशमष्टाश्रिमित्यादिना इत्यपि मूलं सम्भाव्यतेऽत्र ।

पृ० १३७ पं० १,१० एतदपि । दृश्यतां पृ० १५३ पं० ७ ।

पृ० १३७ पं० २,१२ संस्कृत सन् । "संस्कारास्त्वावर्तेरन्, अर्थकालत्वात् । तत्कालास्तु यूपकर्मत्वात् तस्य धर्मविधानात् सर्वार्थानां च वचनादन्यकालत्वम् । सद्गमानं च दर्शयति ।" इति मीमांसादर्शने ११।३।४।१-७ ।

पृ० १३७ पं० ४,१५ ननु तच्छन्दता । "तद्यत्तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यं तस्येदं ग्रहणम् ।' इत्यपि पातञ्जलमहाभाष्य [१।१।२८ २९] उपलभ्यते पाठः । एवं च तदनुसारेण 'ननु तद्यत्तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यं तस्येदं ग्रहणम्, यथेन्द्राया स्थूणेन्द्र ।' इत्यपि मूलं चिन्त्यम् । हस्तलिखितप्रतिषु तु अशुद्धः पाठोऽत्र ।

पृ० १३७ पं० २३ यथा यूप । दृश्यतां टि० पृ० ५९ पं० ५ ।

पृ० १३८ पं० ३,११ न च च्छेदनमेव । (न च च्छेदनमेव ?) ।

पृ० १३८ पं० ८,२३ शर्वी । दृश्यतां पृ० १५३ पं० ५ ।

पृ० १३९ पं० १,९ ननु सेनादिवत् । दृश्यतां पृ० १५३ पं० २२-२३ ।

पृ० १४० पं० २,१४ वेदवादासाधुता । दृश्यतां पृ० १५३ पं० २३ ।

पृ० १४० पं० ४,२२ अथ अग्निहोत्र । दृश्यतां पृ० १५२ पं० १४ ।

---

१ 'भाव्यम्' इति यजुर्वेदे पाठः तत्र चैवं व्याख्यायते— स एव पुरुषः पूर्वपर्यायविशेषिते एवंशब्दः नाय । इदं वर्तमानकं सर्वं यच्च भूतमतीतं यच्च भाव्यं भविष्यत् तस्य कालत्रयस्य ईशानः । न केवलं कालत्रयस्य ईशानः उत अमृतत्वस्यापि मोक्षस्यापि, उतशब्दोऽपिशब्दार्थः । कस्मात् कारणात् ? यत् अन्नेन अमृतेन अतिरोहति अतिरोहं करोति सर्वस्येश्वर इति । इति उवटविरचिते शुक्लयजुर्वेदभाष्ये ३१।२। यत् इदं वर्तमानं जगत् तत् सर्वं पुरुष एव । यद् भूतमतीतं जगत् यच्च भाव्यं भविष्यं जगत् तदपि पुरुष एव । यथास्मिन् कल्पे वर्तमानाः प्राणिदेहाः सर्वेऽपि विराट्पुरुषस्यावयवाः तथैवातीतानागामिनोरपि कल्पयोर्द्रष्टव्यमिति भावः । उतापि च अमृतत्वस्य देवत्वस्य ईशानः स्वामी स पुरुषः, यद् यस्मात् अन्नेन प्राणिनां भोग्येन अन्नेन फलेन निमित्तभूतेन अतिरोहति स्वायीं कारणावस्थामतिक्रम्य परिदृश्यमानां जगदवस्थां प्राप्नोति तस्मात् पुरुष एव । प्राणिनां कर्मफलोपभोगाय जगदवस्थास्वीकारान्नेदं तस्य वस्तुत्वमित्यर्थः । यद्वा स एव पुरुषश्चेत् तर्हि परिणामी स्यादित्याशङ्क्याह-अमृतत्वस्य अमरणधर्मस्येशानः मुक्तेरीशः । यो हि मोक्षेश्वरो नासौ म्रियत इत्यर्थः । किंच यदन्नेन जातमश्नाति रोहति उत्पद्यते तस्य सर्वस्य चेशानः ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तो भूतग्राम उक्तः तस्यान्नेनैव स्थितेः । इत प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति इति श्रुतेः । इति महीधरविरचितायां शुक्लयजुर्वेदवृत्तौ ३१।२ । महीधरविरचितवृत्तिसदृशमेव व्याख्यानं ऋग्वेदस्य सायणभाष्ये । २ संस्कारा ।११।३।४।५। यूपसंस्कारा ये पशुतन्त्रमध्ये क्रियन्ते तथा प्रोक्षणमञ्जनमुच्छ्रयणं परिव्याणं च तेषु चिन्त्यते-किं तस्य तस्य पशोर्भेदेन कर्तव्या अथवा तन्त्रमिति । किं प्राप्तम् ? संस्कारास्त्वावर्तेरन् यूपस्य न यथा यूपान्तरं तथा स्युः । किं कारणम् ? अर्थकालत्वात् । अर्थः पशोर्नियोजनम् । तत्काला एते संस्काराः । तत्र दृश्यते विशेषः । यस्य पशोर्नियोजनकाले कृतास्तदर्था इति । इतरयोस्तु पश्वोरप्राप्तकालत्वात् तादर्थ्येन नास्ति प्रयोगः । तस्मादावर्तेरन् । यथा अग्ने समार्जनम् । तत्कालास्तु ।११।३।४।६। तन्त्रमावर्तेरन्, यदेव नियोजनकाला भवेयुः । तद्यागार्थमेव दीक्षाकाले । कथं ज्ञायते ? यूपकर्मत्वात् । नेत नियोजनार्थाः । यूप एते क्रियते । यूपो नियोजनार्थः । न च दीक्षासु कर्तव्यः । दीक्षासु यूपं छिनत्ति इति वचनात् । संस्कारार्थं स क्रियते । तस्माद् दीक्षाकाला एवैते संस्काराः । ननु छेदनमात्रं तत्र यूपस्य श्रूयते, न यूपक्रिया । उच्यते—न किंचिद् द्रव्यं यूपाख्यमस्ति यस्य छेदनमुच्यते । तदनेन ज्ञायते-दीक्षासु छेदनात्प्रभृति यूपं करोतीति । छेदनग्रहणं च मुख्यत्वात् प्रदर्शनार्थम् । यत् कारणम् । नासौ छेदनेन केवलेन यूपो भवति इति । तस्माद् यूपस्य संस्कारा अपि तन्त्रम् । सद्गमानं च दर्शयति ।११।३।४।७। सद्गमिनं स्थानं यूपं दर्शयति । तस्मादपि तन्त्रं संस्काराः । इति शाबरभाष्ये ।

पृ० १४० पं० २५ **यज्ञसंस्थाभिरग्निष्टोमादिभिरिष्टिभिश्चा** ०। दृश्यतां टिपृ० ५३ टि० ३।

पृ० १४१ पं० ४ **तदनुष्ठातव्यम्**। दृश्यतां पृ० १५२ पं० १५।

पृ० १४१ पं० ५ **मीमांसकैरेवं**। अत्र 'मीमांसकैरेव' इति भा० प्रतिस्थ. पाठः समीचीनतर.।

पृ० १४१ पं० ६ **यज्ञेन यज्ञम** । "अथातो धर्मजिज्ञासा ।१।१।१। चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म ।१।१।२। ० तस्माच्चोदनालक्षणोऽर्थ श्रेयस्कर.। एवं तर्हि श्रेयस्करो जिज्ञासितव्य, किं धर्मजिज्ञासया? उच्यते—य एव श्रेयस्कर स एव धर्मशब्देनोच्यते। कथमवगम्यताम्? यो हि यागमनुतिष्ठति तं धार्मिक इति समाचक्षते। यश्च यस्य कर्ता स तेन व्यपदिश्यते, यथा पाचको लावक इति। तेन य. पुरुष नि श्रेयसेन संयुनक्ति स धर्मशब्देनोच्यते। न केवल लोके, वेदेऽपि 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'[१] [ऋग्वेद० १०।९०।१६] इति यजतिशब्दवाच्यमेव धर्मं समामनन्ति।" इति मीमांसादर्शनस्य शाबरभाष्ये।

पृ० १४१ पं० १८ **भावनस्य** ०० **हेतुकर्तृसाधनसाध्यस्य**। भावयतीति भावन, तस्य भावनस्य, भवन्तं धर्मं भावयत इत्यर्थ। तथा च हेतुकर्तृसाधनोऽयं भावनशब्द., "स्वतन्त्रः कर्ता। तत्प्रयोजको हेतुश्च।"[२] [पा० १।४।५४-५५] इति हेतुसंज्ञाया. कर्तृसंज्ञायाश्च व्याकरणेन विधानात्।

पृ० १४२ पं० १. **तदनुबन्धाच्चे** ०। दृश्यतां पृ० १४६ पं० १०,२०, पृ० १४७ पं० १२, पृ० १४९ पं० २१।

पृ० १४२ पं० १० **योगविभागा** ०।"चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः । [पा० २।१।३६।] ० ०० योगविभाग. करिष्यते-'चतुर्थी'। चतुर्थी सुबन्तेन सह समस्यते। तत 'तदर्थार्थ'।" इति पातञ्जलमहाभाष्ये ।२।१।३६।

पृ० १४३ पं० १०. **प्रागुक्तविधिना**। प्रथमे विधिनये विस्तरेणाभिहितमेतत। दृश्यता पृ० ३५।

पृ० १४३ पं० ११ **चानिष्ट** ०। दृश्यतां पृ० ३५ पं० २१ टि० ८, टिपृ० २६ पं० १७।

पृ० १४४ प० ३-४. **प्राग् नासीत्** ० **वाच्यत्वाच्च**। दृश्यतां पृ० १४६ प० ७।

पृ० १४४ पं० ८ **'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।'** इति मुद्रिताया कैवल्योपनिषदि महानारायणोपनिषदि च दर्शनादस्माभिरप्ययं पाठ स्वीकृत., तथापि "तथा च वेदेऽप्युक्तम्—न प्रजया न धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशु ॥" इति उत्तराध्ययनसूत्रबृहद्वृत्तौ [४।१७, पृ० ४०१] दर्शनात् सर्वासु हस्तलिखितनयचक्रप्रतिषु च 'न कर्मणा प्रजाय न धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानस.' इति पाठोपलब्धे. **न**[३] **कर्मणा न प्रजया न धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः'** इत्यपि पाठ पुरा प्रसिद्ध आसीदिति प्रतिभाति। तथा च 'न कर्मणा न प्रजया न धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशु' इति प्रत्यनुसारी पाठ शुद्ध एवात्र।

पृ० १४४ पं० ११ **पुरुष एवेदं** ०। दृश्यतां टिपृ० ५९ पं० २।

पृ० १४५ प० १७ **काकनुमत्या**। "काकुर्ध्वनिविकार स्यात् ०।"[४] इति अभिधानचिन्तामणौ ६।४६।

पृ० १४७ पं० २० **°कारणभावादतथाता च**। (°कारणभावोऽतथाता च?)।

पृ० १४८ पं० २४ **परान्तर्बुध्नादि** । (परान्तबुध्नादि ००)। दृश्यतां पृ० ९० पं० ३,१६।

---

१ "देवा प्रजापतिप्राणरूपा यज्ञेन यथोक्तेन मानसेन यज्ञ यथोक्तयज्ञस्वरूपं प्रजापतिमयजन्त पूजितवन्त । तस्मात् तानि प्रसिद्धानि धर्माणि जगद्रूपविकाराणा धारकाणि प्रथमानि मुख्यान्यासन्" । इति **सायणभाष्ये**। २ **"स्वतन्त्रः कर्ता** १।४।५४। क्रियाया स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थ कर्ता स्यात्। **तत्प्रयोजको हेतुश्च** ।१।४।५५। कर्तु प्रयोजको हेतुसज्ञ कर्तृसज्ञश्च स्यात्। **हेतुमति च** ।३।१।२६। प्रयोजकव्यापारे प्रेषणादौ वाच्ये धातोर्णिच् स्यात्। भवन्त प्रेरयति भावयति।" –पा० **सिद्धान्तकौ०**। ३ हस्तलिखितनयचक्रप्रत्यनुसारेण **'न कर्मणा प्रजया न धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः'** इत्यपि शुद्ध पाठ स्यादत्र। "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशु" इति साङ्ख्यकारिकायुक्तिदीपिकायाम् [पृ० १९] उद्धृत पाठ। ४ "कायत्यर्थान्तर काकु पुंस्त्रीलिङ्ग, 'कौशिगमि' –[हैमउणा० ७४९] इति कु। क्वते प्रकृतार्थातिरिक्त वाञ्छतीति वा, हृदयस्थवस्तुप्रतीतेरीषद्भूमिर्वा काकु, तद्व्यापारसम्पाद्यत्वाद्वा। ध्वनेर्विकारोऽन्यथापत्तिर्ध्वनिविकार।" इति हेमचन्द्रसूरिप्रणीतायाम् अभिधानचिन्तामणिस्वोपज्ञवृत्तौ।

पृ० १४९ प० १४ **वाचादिशासाया प्रयुक्तस्य चैकार्थत्वात्।** (वाचादिस्मात्रा प्रयुक्तस्य चैकार्थत्वात्? वा वादिस्मात्रा प्रयुक्तस्यैकार्थत्वात्?)। 'गारूक दृशि स्वर्गं दिशि पशौ रश्मौ वज्रे भूमाविषौ गिरि।' इति अनेकार्थसंग्रहे हैमे, श्लो० ६। द्रष्टव्य पृ० ५२४ प० ५।

पृ० १५० प० ५,२५ **वचनच्छलात्।** 'वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्। तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं चेति। अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्। सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसद्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम्। धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम्।" —न्यायसू० १।२।१०-१४। अस्य विस्तरणार्थो न्यायभाष्यादितोऽवगन्तव्यः।

पृ० १५० प० १० **मिष्यते निरक्ष्यते।** अत्र **मिष्टतो निवक्ष्यते** इति प्रतिस्थः पाठः समीचीनः एवेति सम्प्रधारणीयः, तुलना—"इष्टतो व्यवस्था।"—पा० म० भा० १।३।६०। "इष्टतोऽवधारणार्थ।"—पा० म० भा० २।२।२०।

पृ० १५० प० १९ **प्रातिस्वादि।** द्रष्टव्य पृ० १४२ प० ७।

पृ० १५१ प० ३ **सर्वं व्यभावा।** द्रष्टव्य पृ० १५१ प० २५, पृ० १५२ प० ४,१६।

पृ० १५१ प० ५ **केदमभिहितं।** द्रष्टव्य पृ० १५२ प० १६।

पृ० १५३ प० ९ **इतिकर्तव्यतामर्तव्यतया।** इतिकर्तव्यतामित्यस्य कर्तव्यतयेत्यर्थोऽत्र यथाप्रतिपाद्यस्वीकारे। **'इतिकर्तव्यतया'** इति भा० प्रतिपाद्येऽपि अत्र समीचीन इति ध्येयम्।

पृ० १५३ प० १० **कातरसतेन।** 'कातरशतेन शूरः शूरसहस्रेण पण्डितः भरः। अलम् येन वा तेन वा नरः। कृपण परिहर॥' इत्यर्थः।

पृ० १५३ प० १८ **घृतं दाहयेदग्निम्।** अत्र 'घृतं दाहयेदग्नौ' इति रम्यं भाति।

पृ० १५४ प० ११-१२ **इषे त्वोर्जे त्वा।** कृष्णयजुर्वेदस्य तैत्तिरीयसंहितायां काठकसंहितायां चोपलभ्यमानो मन्त्रपाठ उद्धृतोऽत्र नयचक्रवृत्तिकृता। शुक्लयजुर्वेदे तु 'वायव स्थ देवो व' इति पाठ इति ध्येयम्।

पृ० १५४ प० १३ **द्वे विद्ये।** 'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति—परा चैवापरा च॥४॥ तत्रापरा। ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा। यया तदक्षरम्

१ "**इषे त्वोर्जे त्वा।** दर्शयागं चिकीर्षुरमावास्यायां प्रातरग्निहोत्रं हुत्वा दर्शयागार्थं ममाग्ने वर्च इत्यादिभिर्मन्त्रैर्वह्निषु समिदाधानरूपमन्वाधानं कृत्वा वत्सापाकरणार्थमनेन मन्त्रेण पलाशशाखां छिन्द्यात्। । इडित्यन्नम्, सर्वैः प्राणिभिरिष्यमाणत्वात्। ऊर्ग् बलहेतू रस। ऊर्ज बलप्राणनयो [पा० धा० चुरादि०] इति धातुः। ऊर्ज्यते बलं सम्पाद्यतेऽनया रसरूपयेति ऊर्क्। हे पलाशशाखे देवानां भागरूपद्रव्यार्थं त्वामाच्छिनद्मि। तस्य देवस्य बलप्रदरसार्थं त्वामाच्छिनद्मीति वाक्यार्थः। **वायव स्थोपायव स्थ।** उप समीपे यजमानगृहे पुनरायन्ति आगच्छन्तीत्युपायव। हे वत्सा तृणभक्षणाय प्रथमं मातृसकाशादपेत्य स्वेच्छयारण्ये गन्तारो भवत। सायं पुनर्यजमानगृहे समागन्तारो भवत। **देवो व सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे।** हे गावः प्रेरको देवोऽन्तर्यामी परमेश्वरोऽत्यन्तश्रेष्ठाय इन्द्रदधिरूपाय कर्मणे युष्मानरण्ये ग्रामं च प्रापयतु प्रेरयत्विति प्रथममन्त्रार्थः। इति **सायणभाष्ये।** २ 'द्वे विद्ये वेदितव्ये ज्ञातव्ये इति एवं ह स्म किल यद् ब्रह्मविदो वेदार्थाभिज्ञाः परमार्थदर्शिनो वदन्ति। के ते इत्याह—परा च परमात्मविद्या अपरा च धर्माधर्मतत्साधनफलविषया। उपनिषद्वेद्याक्षरविषयं हि विज्ञानमिह परा विद्येति प्राधान्येन विवक्षितम्, नोपनिषच्छब्दराशिः। वेदशब्देन तु सर्वत्र शब्दराशिर्विवक्षितः। शब्दराश्यधिगमेऽपि यत्नान्तरमन्तरेण गुर्वभिगमनादिलक्षणं वैराग्यं च नाक्षराधिगमः सम्भवतीति पृथक्करणं ब्रह्मविद्याया—अथ परा विद्येति। अद्रेश्यमदृश्यं सर्वेषां बुद्धीन्द्रियाणामगम्यम्। अग्राह्यं कर्मेन्द्रियाविषयम्। अगोत्रमनन्वयमित्यर्थः। न हि तस्य मूलमस्ति येनान्वितं स्यात्। वर्णा द्रव्यधर्माः स्थूलत्वादयः शुक्लत्वादयो वा अविद्यमाना वर्णा यस्य तदवर्णम्। चक्षुश्च श्रोत्रं च नामरूपविषये करणे अविद्यमाने यस्य तदचक्षुःश्रोत्रम्। तदपाणिपादं कर्मेन्द्रियरहितम्। नित्यमविनाशि। विभुं विविधं ब्रह्मादिस्थावरान्तप्राणिभेदैर्भवतीति विभुं सर्वगतमाकाशवत्। शब्दादयः स्थूलकारणानि तदभावात् सुसूक्ष्मम्। न व्येतीत्यव्ययम्। यदेवंलक्षणं भूतयोनिं भूतानां कारणं परिपश्यन्ति धीरा धीमन्तो विवेकिनः। इत्येतमक्षरं यया विद्ययाधिगम्यते सा परा विद्येति समुदायार्थः। इति **शङ्कराचार्यकृते मुण्डकोपनिषद्भाष्ये।**

धिगम्यते ॥५॥ यत् तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥६॥" इति मुण्डकोपनिषदि।

पृ० १५४ पं० २३ **नियोगार्थस्य**। "कोऽयं नियोगो नाम? निशब्दो निःशेषार्थः, योगार्थो युक्तिः, निरवशेषो योगो नियोगः निरवशेषत्वम् अयोगस्य मनागप्यभावात्। अवश्यकर्तव्यता हि नियोगः।"—प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ८। नियोगस्य स्वरूपं प्रकारादिकं च विस्तरेण प्रमाणवार्तिकालङ्कारे [पृ० ८–१५] अष्टसहस्र्यां [पृ० ५–१०] तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके [पृ० २६१–२६५] न्यायकुमुदचन्द्र [पृ० ५८२–५८८]प्रभृतिग्रन्थेषु च विलोकनीयम्। "प्रमाणान्तरागोचरः शब्दमात्रालम्बनो 'नियुक्तोऽसि' इति प्रत्यात्मवेदनीयः सुखादिवत् अपरामृष्टकालत्रयो लिङ्गादीनामर्थो विधिः।" इति विधिविवेके पृ० ४८।

पृ० १५४ पं० २५,२६. °**जुहोत्यनुवाद इति। व्यत्यया**•।"°जुहोत्यनुवाद इति चेत्। व्यत्यया···" इत्यपि पाठः स्यादत्र। दृश्यतां 'पृ० १५४ टि० १२' इत्यत्र भा० प्रतिस्थं पाठान्तरम्।

पृ० १५५ पं० ४–५ **सुप्तिङ्···तदपि च**······। अत्र '**तदपि च**' इत्यस्य स्थाने '**सोऽपि च**' इति पातञ्जलमहाभाष्ये पाठः। अस्याः कारिकाया विस्तरेण व्याख्यानं पातञ्जलमहाभाष्य-सिद्धान्तकौमुद्यादिभ्योऽवगन्तव्यम्।

पृ० १५५ पं० ९. **कोशपान**···। "तुलाग्न्यापो विषं कोशो दिव्यानीह विशुद्धये। महाभियोगेष्वेतानि शीर्षकस्थेऽभियोक्तरि ॥ २।९५ ॥ ··देवानुग्रान् समभ्यर्च्य तत्स्नानोदकमाहरेत्। संश्राव्य पाययेत् तस्माज्जलं तु प्रसृतित्रयम् ॥२।११२॥ अर्वाक् चतुर्दशादह्नो यस्य नो राजदैविकम्। व्यसनं जायते घोरं स शुद्धः स्यान्न संशयः ॥२।११३॥" इति याज्ञवल्क्यस्मृतौ। "अतः परं प्रवक्ष्यामि कोशस्य विधिमुत्तमम्। शास्त्रविद्भिर्यथा प्रोक्तं सर्वकालाविरोधिनम् ॥ पूर्वाह्णे सोपवासस्य स्नातस्यार्द्रपटस्य च। सशूकस्याव्यसनिनः **कोशपानं** विधीयते ॥ इच्छतः श्रद्दधानस्य देवब्राह्मणसन्निधौ ॥ यद्भक्तः सोऽभियुक्तः स्यात् तद्दैवत्यं तु पाययेत्। अभ्यर्च्य देवतां स्नाप्य जलस्य प्रसृतित्रयम् ॥ सप्ताहाभ्यन्तरे यस्य द्विसप्ताहेन वाऽशुभम्। रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमर्थभ्रंशो धनक्षयः। प्रत्यात्मिकं तु दृश्येत सैव तस्य विभावना ॥" इति नारदस्मृतौ ४।३२७–३३०।

पृ० १५५ पं० १०. **कुत एव ज्ञायते**। (कुत एतज्ज्ञायते?)।

पृ० १५५ पं० १४. **देशविशेषस्य वा**। दृश्यतां पृ० १२१ पं० ११–१२।

पृ० १५६ पं० ८ **प्रकृताध्ययनक्रियेणेति**। प्रकृता अध्ययनक्रिया येन स प्रकृताध्ययनक्रियः, तेन प्रकृताध्ययनक्रियेण सब्रह्मचारिणा इत्यर्थे यथाश्रुत साध्वेव। अत्र अस्वारस्ये तु '**प्रकृताध्ययनक्रिययेति**' इति कल्पनीयमत्र।

पृ० १५६ पं० २२. **शब्दार्थयोः· पुनर्वचनं च**। अत्र '**पुनर्वचनं वा**' इति प्रतिस्थः पाठोऽपि सङ्गत एव। "शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात्। [न्यायसू० ५।२।१४], अन्यत्रानुवादात् शब्दपुनरुक्तमर्थपुनरुक्तं वा। 'नित्यः शब्दः, नित्यः शब्दः' इति शब्दपुनरुक्तम्। अर्थपुनरुक्तम् 'अनित्यः शब्दः, निरोधधर्मको ध्वानः' इति। अनुवादे त्वपुनरुक्तम्, शब्दाभ्यासादर्थविशेषोपपत्तेः। यथा 'हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्' [न्यायसू० १।१।३९] इति। अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् [न्यायसू० ५।२।१५], पुनरुक्तमिति प्रकृतम्, निदर्शनम्—'उत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यम्' इत्युक्त्वा अर्थादापन्नस्य योऽभिधायकः शब्दस्तेन स्वशब्देन ब्रूयात् 'अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यम्' इति। तच्च पुनरुक्तं वेदितव्यम्। अर्थसम्प्रत्ययार्थे शब्दप्रयोगे प्रतीतः सोऽर्थोऽर्थापत्त्येति।" इति न्यायभाष्ये।

पृ० १५७ पं० ३. **विधिविषयविप्रकृष्टीभूतार्थत्वात्**। दृश्यतां पृ० १५८ प० १३।

पृ० १५७ पं० १८. **जुहोतेरनुवादत्वे [वा]**। अत्र '**[वा]**' इति त्याज्यम्।

पृ० १५८ प० २४–२७ **गुडस्य चाक्षुष्यत्वात्· चक्षुस्तेजोमयं तस्य**· । अत्र '**गुडस्याचक्षुष्यत्वात्**' इत्येव शुद्धं प्रतीयते। गुडस्य चक्षुर्हितकरत्वाभावादित्यर्थः। एतच्च '**चक्षुस्तेजोमयं तस्य**' इत्यादिना दर्शयति ग्रन्थकारः।

पृ० १५९ पं० २७. **शङ्खः कदल्यां 'उन्मत्तगङ्गाप्रतिमं बभूव**। 'उन्मत्तगङ्गप्रतिमम्' इति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके [पृ० २८९] प्रमेयकमलमार्तण्डे [पृ० ६६७] प्रमाणमीमांसायां [पृ० ६८] चोद्धृतः पाठः।

---

१ "शरीरावयवाद् यत्।"—पा० ५।१।६। २ "**चक्षुरित्यादि**। चक्षुरिन्द्रियस्य तैजसस्य **श्लेष्मतः** आप्यात् तैजसविरुद्धत्वेन हेतुना **विशेषादिति** वातपित्तभयादधिकत्वेन **भयं** भवति।" इति **चक्रपाणिदत्तविरचितायां चरकसंहिताटीकायाम्** पृ० ३९।

पृ० १६० प० १,१० त्वन्मतात्तु वेदो । अत्र 'त्वन्मतात्तु वेदो न ज्ञाता न ज्ञानत' इति पाठो मूलेन बाध्य । त्वन्मतात् वेद स्वयं न जानम्, न च ज्ञानतो जायते वेदस्यापौरुषेयत्वाङ्गीकारात् । अत परमार्थत उपचारतो वा वेदस्य चेतनत्वाभाव इत्याशय ।

पृ० १६० प० ३ कुतुपादि । अत्र 'कुतुपादि' इत्यपि शुद्ध पाठ स्यात् । "कुतू कृत्ते स्नेहपात्रम्, सैवाल्पा कुतुप पुमान् ।" इति अमरकोषे २।९।३३ ।

पृ० १६० प० ४ यदेतद् । इत आरभ्य पृ० १७१ पर्यन्त विहितया चर्चया कथञ्चित् समाना चर्चा पृ० ४३०–४३५ मध्येऽपि वर्तत इति तत्रापि विलोकनीय यथायोगम् ।

पृ० १६० प० १२ प्राणाद्यन्नमदिति । 'प्राणेऽन्नमदिति' इति भा० प्रत्यनुसारी पाठोऽपि समीचीन एवात्र । "अन्न वै चन्द्रमा, अन्न प्राणा, उभयमेवोपत्यनामिनाय ।' इति तैत्तिरीयब्राह्मणे ३।२।३।११ ।

पृ० १६१ प० ३, १२ उभयसत्त्वकार्यसत्त्वयो । सप्तम्यन्तमेतत् । एतस्मिन् विकल्पद्वये इत्यर्थ ।

पृ० १६१ प० ८, २७ ननु घटसत्त्व । तुलना–"सत्त्वमभाव, भावेऽपि इतरेतराभावसिद्धे । न, स्वभावसिद्धे भावानाम् ।'–न्यायसू० ४।१।३७–३८ । अर्थोऽस्य न्यायभाष्यादितोऽवगम्य ।

पृ० १६२ प० ६,७ सतो वैलक्षण्यात् । अत्र 'सत' इति पञ्चम्यन्त ज्ञेयम् ।

पृ० १६२ प० १५ तुल्यजातीयेन [अतुल्यजातीयेन] च । अत्र [अतुल्यजातीयेन]' इति परिहर्तु शक्यम् ।

पृ० १६३ प० ८,९ जात्युत्तरता जातिवाद । असदुत्तर जाति । "साधर्म्यवैधर्म्याभ्या प्रत्यवस्थान जाति ।" न्यायसू० १।२।१८ । विस्तरेण तस्याश्चतुर्विंशतिर्भेदा न्यायसूत्रस्य पञ्चमाध्याये प्रथमाह्निके विलोकनीया ।

पृ० १६५ प० ५ सङ्गीत्या । सङ्केतनत्यर्थ । तुलना–"सङ्गीतिमात्रमत्र प्रत्ययहेतु, अकृतसङ्केतस्य घटादिप्रत्ययाभावात् ।" इति विशेषावश्यकभाष्यस्वोपज्ञवृत्तौ पृ० ५ ।

पृ० १६५ प० ८ अग्नेर्मङ्गलनामवत् । "तत्र नाममङ्गल यज्जीवस्य अजीवस्य उभयस्य वा मङ्गलमिति नाम क्रियते, तद्यथा–सिन्धुविषयेऽग्निर्मङ्गलम् । लाटविषये दवरकवलनकम् । उभय चन्दनविषये मालेत्यादि ।' इति विशेषावश्यकभाष्यस्वोपज्ञवृत्तौ ।

पृ० १६५ प० ९ एकान्त । 'कार्यमेव असत्' इत्युक्तौ कार्यं सत् न निषिध्यते । तथा च कार्यं सदपि असदपि च सम्भवतीत्यत 'कार्यमसदेव' इत्येकारस्य त्यागो बोध्य ।

पृ० १६५ प० १२ यदि कार्यं कथमसत् दीपनेव क्रियेतेति । द्रष्टव्या पृ० १७१ प० ३–४ ।

पृ० १६५ प० २१ परिहारार्थमथोच्यते । (परिहारार्थमथोच्येत ?) ।

पृ० १६६ प० ३, १७ अनुपादानमबुद्धिसिद्ध । "नासत्, न सत्, न सदसत् सदसतोर्वैधर्म्यात् । उत्पादव्ययदर्शनात् । बुद्धिसिद्ध तु तदसत् ।–न्यायसू० ४।१।४८–९ । द्रष्टव्या पृ० ४६० टि० १, पृ० ५०४ टि० ३ ।

पृ० १६८ प० १९ यत एव । "यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्ट प्रकरणसम ।१।२।७।' इति न्यायसूत्रे पाठ । 'पृ० ४३५ प० ९' इत्यत्र च स एव पाठ स्वीकृतो नयचक्रवृत्तिकृद्भि । द्रष्टव्या पृ० ४३५ टि० ४ ।

पृ० १७२ प० १० अज्ञानप्रतिबद्धैकान्तेऽपि चाज्ञानप्रतिबद्धत्वे । द्रष्टव्या पृ० ११३ प० १९–२० ।

पृ० १७२ पं० २३ सामान्यादिविचारप्रत्याख्यायिन । षष्ठ्यन्तमेतत् ।

पृ० १७३ पं० १८ सन्निश्रये । अत्र सन्निश्रये इति भा० प्रतिपाठ समीचीनो भाति, तदपेक्ष्यम् आश्रित्य न्याय्य [पृ० १७३ पं० २,१६] इत्यभिहितत्वात् ।

पृ० १७३ प० २४–२५ भावे घञो मिति वा । द्रष्टव्या पृ० १८ प० २१, पृ० ३८२ प० १३–१५ ।

पृ० १७४ पं० १,१० न च विनि । अत्र 'न विवि' इत्यपि पाठ समीचीनो भाति ।

---

१ इति चर्म । तथा च श्रीलिङ्ग कुतूशब्द चर्ममयस्य तैलघृतादिस्नेहपात्रस्य वाचक । सैवाल्पा कुतू पुंलिङ्गेन कुतुपशब्देन अभिधीयते । २ द्रष्टव्या पृ० १६० प० १२ ।

पृ० १७४ पं० २,१६,१७. विधिरुत्सर्गः। (विधेरुत्सर्गः ?)।

पृ० १७४ पं० ८ विविच्यते च। (विविच्यते न विविच्यते च ?)।

पृ० १७४ पं० १०. चेति, प्रतिज्ञा सा। अत्र 'चेति प्रतिज्ञा, सा' इति सम्यग् भाति। दृश्यतां टिप्प० ६३ पं० ३५।

पृ० १७४ पं० १३. विविच्यते चापि। (विविच्यतेऽपि ?)।

पृ० १७४ पं० २०. विधिर्विधिर्भवति लोके, यथा। 'विधेर्विधिर्भवति, लोके यथा' इति सम्यग् भात्यत्र।

पृ० १७५ पं० २. कः कर्ता? यः स्वतन्त्रः। दृश्यतां टिप्प० ६० टि० २।

पृ० १७५ पं० ६. घटभवनव्यवहारवद् मृद्। अत्र 'घटभवनव्यवहारे मृद्वत्' इत्याशयो भाति।

पृ० १७५ पं० ७. उक्तनिरुक्तः। दृश्यतां पृ० १७३ पं० ७। दृश्यतां पृ० १९० पं० १२-१३।

पृ० १७५ पं० ८ ज्ञाता ज्ञानशीलो ...। "आ क्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु ।३।२।१३४। क्विपमभिव्याप्य वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु कर्तृषु बोध्याः। तृन् ।३।२।१३५। कर्ता कटान्।" - पा० सिद्धान्तकौ०।

पृ० १७५ पं० ९. ज्ञानावयवो ज्ञानविकारो वा ज्ञानमयः स उपयोगलक्षणत्वात्। "तस्य विकारः ।४।३।१३४। अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ।४।३।१३५।...मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः ।४।३।१४३। प्रकृतिमात्राद् मयड् वा स्याद् विकारावयवयोः। अश्ममयम्। आश्मनम्। अभक्ष्येत्यादि किम्? मौद्गः सूपः। कार्पासमाच्छादनम्।" - पा० सिद्धान्तकौ०। उपयोगलक्षणत्वात्। दृश्यतां टिप्प० ४ पं० १६।

पृ० १७५ पं० १९ शर्करा। "अथ इक्षुवर्गः - वृष्यः शीतः सरः स्निग्धो बृंहणो मधुरो रसः। श्लेष्मलो भक्षितस्येक्षोर्यान्त्रिकस्तु विदाहकृत् ॥१।२७।२३७॥" इति चरकसंहितायाम्।

पृ० १७५ पं० २१. °निष्पन्दनादि। दृश्यतां पृ० १७५ पं० १२।

पृ० १७६ पं० १. अस्यैव सुप्तावस्थत्वात्। मूलमिदं परिहर्तुं शक्यम्।

पृ० १७६ पं० १,२,१०,१४. सुप्तावस्थत्वात्। अत्र भा०प्रत्यनुसारी 'सुप्तावस्थात्वात्' इति पाठ एव साधुः।

पृ० १७६ पं० ३,४,१६ यथैव। दृश्यतां पृ० १८६ पं० १०।

पृ० १७६ पं० २५. कृमि ·। "कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि।" - तत्त्वार्थसू० १।२।२४।

पृ० १७६ पं० २६ रसवीर्यविपाक ·। दृश्यतां टिप्प० ५२ पं० ३८।

पृ० १७६ पं० २८,३२ चित्रकः ·। अयमेव ग्रन्थकार 'पृ० ३२५ पं० ६' इत्यत्र 'पृ० ३५८ पं० १४' इत्यत्र च चरकसंहितायां दृश्यमानं 'कटुकः कटुकः पाके वीर्योष्णश्चित्रको मतः।' इति पाठमेवोद्धरति। दृश्यतां पृ० ३२५ पं० २६।

पृ० १७७ पं० १० स्वतत्त्वम्। अत्र 'स्वं तत्त्वम्' इत्यपि पाठः प्रत्यनुसारेण स्यात्।

पृ० १७९ पं० ५. आ द्रवो ...। आ ईषदित्यर्थः। "दुग्धं क्षीरं पयः समं, द्रप्सं[1] दधि घनेतरत् ॥ घृतमाज्यं हविः सर्पिः, नवनीतं नवोद्धृतम्। तत्तु हैयङ्गवीनं यद् ह्योगोदोहोद्भवं घृतम् ॥ दण्डाहतं कालशेयमरिष्टमपि गोरसः। तक्रं ह्युदश्विन्मथितं पादाम्ब्वर्धाम्बु निर्जलम् ॥ मण्डं दधिभवं मस्तु।" इति अमरकोषे २।९।५१-५३।

पृ० १७९ पं० १०. जिनवचना...। "सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तिसम्पदः। तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥" इति सिद्धसेनसूरिप्रणीतायां द्वात्रिंशिकायाम् १।३०।

पृ० १७९ पं० १० से किं। 'अथ को भावपरमाणुः? भावपरमाणुर्वर्णवान् गन्धवान् रसवान् स्पर्शवान्'

---

१ 'द्रप्सं शिथिलदधि 'ढगडा' इति ख्यातस्य नाम। दण्डेन मथाहतं विलोडितं दण्डाहतम्, कलश्यां मन्थपात्रे भवं कालशेयम्, अरिष्टमक्षेमं यस्मात् तदरिष्टम्, गोरसस्य दुग्धस्य विकारत्वादुपचाराद् गोरसः। एतानि चत्वारि घोलस्य नामानि। तक्रम् उदश्वित् मथितमिति त्रीणि नामानि चतुर्थांशजलघोल-अर्धजलघोल-निर्जलघोलानां नामानि। मण्डं वस्त्रनिस्रुतदधिजलस्य नाम, दध्न उपरिभागस्य इत्यन्ये।' इति अमरकोशसुधाव्याख्यायाम्।

इत्यर्थः । "कैविहे णं भंते ! परमाणुपोग्गले पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे परमाणुपोग्गले पण्णत्ते । तं जहा—दव्वपरमाणु, खेत्तपरमाणु, कालपरमाणु, भावपरमाणु । [1]" इति भगवतीसूत्रे ।

पृ० १७९ प० १५. परस्परत उत्कर्षभेदः । अत्र 'परस्परमुत्कर्षभेदः' इति प्रत्यनुसारी पाठोऽपि शुद्धः ।

पृ० १८१ प० १५ सर्वप्रमाणश्रेष्ठ । दृश्यतां टिपृ० ३१ प० २७–२९ ।

पृ० १८१ प० २५ कुण्डकः । "कणकुंडगं जहित्ताणं [2] ॥" इति उत्तराध्ययनसूत्रे ११५ ।

पृ० १८२ प० २ १५ १८ सुरत ऊर्ध्वतिर्यग । "अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति । मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥५३॥ "ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः । मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥५४॥"—सांख्यका० । [3]

पृ० १८२ प० १३ जं जं जे जे । दृश्यतां पृ० ४७८ प० ४ टि० १, पृ० २१७ प० १९ ।

पृ० १८२ प० १६ प्रसादलाघव । दृश्यतां पृ० १२ प० १९ ।

पृ० १८२ प० १९ संज्ञिनः समनस्काः । "संज्ञिनः समनस्काः ।२।२५। सम्प्रधारणसंज्ञायां संज्ञिनो जीवाः समनस्का भवन्ति । सर्वे नारकदेवा गर्भव्युत्क्रान्तयश्च मनुष्याः तिर्यग्योनिजाश्च केचित् । ईहापोहयुक्ता गुणदोषविचारणात्मिका सम्प्रधारणसंज्ञा, तां प्रति संज्ञिनो विवक्षिताः । अन्यथा हि आहार भय मैथुन-परिग्रहसंज्ञाभिः सर्व एव जीवाः संज्ञिन इति ।"—तत्त्वार्थभा० ।

पृ० १८२ प० २४ मिथ्यादृष्ट्यादिका । दृश्यतां टिपृ० ६६ टि० १ ।

पृ० १८२ पं० २५ सम्यग्दर्शन । "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।"—तत्त्वार्थसू० १।१ ।

पृ० १८२ प० २६ ज्ञानदर्शना । "आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायाः ।"—तत्त्वार्थसू० ८।५। विघ्नोऽन्तराय इत्यर्थः ।

पृ० १८३ प० ५. स्त्यानर्द्ध्युदय । "चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धिवेदनीयानि ।"—तत्त्वार्थसू० ८।८। स्त्यानर्द्धिनाम तासां निद्राविशेषः ।

पृ० १८३ प० ६ सुत्ता । 'सुप्ता अमुनयः सदा, मुनयः सदा जाग्रति' इत्यर्थः । "सुत्ता अमुणी मुणिणो सययं जागरंति ।" इति आचाराङ्गसूत्रे सम्प्रति उपलभ्यते पाठः [4] ।

---

१ परमाणु इत्यादि । तत्र द्रव्यरूपः परमाणुर्द्रव्यपरमाणुः एकोऽणुः वर्णादिभावानामविवक्षणात् द्रव्यत्वस्यैव च विवक्षणादिति । एवं क्षेत्रपरमाणुराकाशप्रदेशः । कालपरमाणुः समयः । भावपरमाणुः परमाणुरेव वर्णादिभावानां प्राधान्यविवक्षणात्, एकगुणकालकादिर्वा । इति अभयदेवसूरिविरचितायां वृत्तौ । २ कणा णाम तंदुला कुंडगा कुक्कुसा कणानां कुण्डगा कणिसगो वा कुण्डकः कणकुण्डकः सो य वुद्धिकरो सूयराणं प्रियश्च । –उत्तराध्ययनचूर्णि पृ० २७ । कणाः तन्दुलाः, तेषां तन्मिश्रो वा कुण्डकः तत्क्षोदनोत्पन्नकुक्कुसः कणकुण्डकः । –उत्तराध्ययनबृहद्वृत्ति पृ० ४५ B । ३ अस्याः कारिकाया व्याख्या पृ० ३१५ टि० ५ इत्यत्र द्रष्टव्या । ऊर्ध्वमिति ब्रह्मादिपिशाचान्तो योऽष्टविधः सर्गः असौ सत्त्वबहुलः । तस्मात् सुखप्राया देवाः । तमोविशालश्च मूलतः पश्वादिषु तमस उद्रेकात् पश्वादि स्थावरपर्यन्तः । तस्मात् ते तमोबहुलाः । मध्ये रजोविशालः, तस्मात् ते दुःखप्राया मनुष्याः ।" इति सांख्यकारिकाया माठरवृत्तौ । ऊर्ध्वं सत्त्वविशाल इति । द्युप्रभृतिसत्यान्तो लोकः सत्त्वबहुलः । तमोविशालश्च मूलतः सर्गः पश्वादि स्थावरान्तः । सोऽयं मोहमयत्वात् तमोबहुलः । भूर्लोकस्तु सप्तद्वीपसमुद्रसन्निवेशो मध्यः रजोबहुलः धर्माधर्मानुष्ठानपरत्वाद् दुःखबहुलत्वाच्च । तानिमां लोकश्रेणिं संक्षिपति–ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः । स्तम्बग्रहणेन तृणादयः [=स्थावराः] संगृहीताः । इति सांख्यतत्त्वकौमुदी । ४ सुत्ता इत्यादि । इह सुप्ता द्वेधा द्रव्यतो भावतश्च । तत्र निद्राप्रमादापन्ना द्रव्यसुप्ताः भावसुप्तास्तु मिथ्यात्वाज्ञानमयमहानिद्राव्यामोहिताः । ततो येऽमुनयः मिथ्यादृष्टयः सततं भावसुप्ताः [ते] सद्धर्मानुष्ठानरहितत्वाद् द्रव्यनिद्रया तु भजनीयाः । मुनयस्तु महापोशेताः मोक्षमार्गाद्यनुष्ठाने सततमनवरतं जाग्रति हिताहितप्राप्तिपरिहारं कुर्वते ।

1 दे० मन्दोश मू मध्ये सुत्तेक, तथा च सूत्र समग्रसूत्र सन्दर्भोऽत्र गृहीतः ।
म० टि० १

पृ० १८३ पं० १२ दर्शनचारित्र । "मोहनीयबन्धो द्विविध.—दर्शनमोहनीयाख्यश्चारित्रमोहनीयाख्यश्च ।"—तत्त्वार्थभा० ८।९ ।

पृ० १८३ प० १५,२५ यदा तु · श्रमान्विताः । अतिस्थौल्यकार्श्यचिकित्सायामयं चरकसहितायां श्लोकः ।

पृ० १८३ प० १७,२७ अष्टादश · । "ज्ञानं चतुर्भेदं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मन पर्यायज्ञानमिति । अज्ञानं त्रिभेदं मत्यज्ञान श्रुताज्ञान विभङ्गज्ञानमिति । दर्शन त्रिभेदं चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनमिति । लब्धय. पञ्चविधा दानलब्धिर्लाभलब्धिर्भोगलब्धिरुपभोगलब्धिर्वीर्यलब्धिरिति । सम्यक्त्व चारित्रं सयमासंयम इत्येतेऽष्टादश क्षायोपशमिका भावा भवन्तीति ।"—तत्त्वार्थभा० २।५ ।

पृ० १८३ पं० १८. ज्ञानदर्शनवीर्य "। दृश्यतां पृ० ४७७ पं० १,९, पृ० ३७२ पं० २२ ।

पृ० १८३ पं० १९–२१ निर्वर्तितानि · भावेन्द्रियम् । दृश्यतां पृ० ४७४ टि० १०, पृ० ४७६ टि० २ ।

पृ० १८३ पं० २३,३० णो सुत्ते । 'नो सुप्तः स्वप्नं पश्यति, सुप्तजागरिकायां वर्तमानः स्वप्नं पश्यति' इत्यर्थः ।

पृ० १८५ पं० १६–१७ निद्रा आचैतन्यविशेष. । दृश्यतां टिपृ० ६५ पं० १९ ।

पृ० १८६ पं० १,९. प्रत्यग्र "। "प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यो नवीनो नूतनो नव. ॥ नूलश्च"—अमरको० ३।१।७७ ।

पृ० १८६ पं० ४. आपद्यते । अत्र 'आपद्यते कर्मादि पृथिव्यादि च' इत्यपि पाठ. स्यात् । दृश्यतां पृ० १८६ पं० २४,२५ ।

पृ० १८६ पं० १५–१६. मिथ्या · । "सकषायत्वाज्जीव. कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते ।"—तत्त्वार्थसू० ८।२ ।

पृ० १८६ पं० १९ पुव्विं । दृश्यता पृ० ३६२ पं० ९–११ । 'पूर्वं भदन्त! कुक्कुटी पश्चादण्डकम्? पूर्वमण्डकं पश्चात् कुक्कुटी? रोह! या सा कुक्कुटी सा कुतः? अण्डकत. । यत् तदण्डकं तत् कुत.? कुक्कुटीत. । एवं रोह! पूर्वमपि एते पश्चादप्येते । द्वावप्येतौ शाश्वतौ भावौ । अनानुपूर्वी एषा रोह!' इत्यर्थः ।

पृ० १८६ प० २३. सव्वजीव · । दृश्यतां पृ० ३६१ पं० ५–८ । 'सर्वे जीवा भदन्त! एकैकस्य मातृतया पितृतया भ्रातृतया भार्यातया पुत्रतया दुहितृतया? गौतम! असकृत् अथवा अनन्तकृत्व. ।' इत्यर्थ. ।

पृ० १८६ पं० २४–२५. उच्छ्वासनिःश्वासभाषामनस्त्वादिकार्मण " । दृश्यतां पृ० ३४८–३४९ ।

अनो द्रव्यनिद्रोपगता अपि क्वचिद् द्वितीयपौरुष्यादौ सततं जागरूका एव ।" इति आचाराङ्गसूत्रस्य शीलाङ्काचार्यविरचितवृत्तौ । "या निशा सर्वभूताना तस्या जागर्ति सयमी । यस्या जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने ॥" इति भगवद्गीतायाम् २।६९ ।

१ "सम्प्रति प्रस्तावागतं स्थौल्यकार्श्यचिकित्साप्रधानभूतं स्वप्न निद्रारूप सर्वतो निरूपयति—यदा त्वित्यादि । मनसीति अन्त करणे, किंवा मनोयुक्त आत्मा मन इत्युच्यते । तस्मिन् क्लान्त इति निष्क्रिये । कर्मात्मान इति इन्द्रियाणि । क्लमान्विता क्रियारहिता । विषयेभ्यो रूपादिभ्य । मनसोऽप्रवृत्त्या इन्द्रियाण्यपि न प्रवर्तन्त इति भाव । तदा स्वपितीति स्वप्नगुणयुक्तो भवति । स्वप्नश्च निरिन्द्रियप्रदेशे मनोऽवस्थानम् । किंवा कर्मात्मान समायात्मान । मनसि क्लान्ते आत्मान क्लान्ता भवन्ति, मनोधीनप्रवृत्तित्वादात्मनाम् । ततश्च मनोनिवृत्त्या आत्मानोऽपि न विषयान् गृह्णन्ति । इन्द्रियाणि चात्मनोऽप्रवृत्त्यैव न प्रवर्तन्ते ।"—इति चक्रपाणिदत्तविरचिताया चरकसहितावृत्तौ पृ० ११८ । २ "स्वप्नाधिकारादेवेदमभिधातुमाह—सुत्ते णमित्यादि । सुत्तजागरेत्ति नातिसुप्तो नातिजाग्रदित्यर्थं ।" इति भगवतीसूत्रस्य अभयदेवसूरिरचितवृत्तौ । ३ अचेतनस्य भाव आचैतन्यम् । ४ "मिथ्यादर्शनम् अविरति प्रमाद कषाया योगा इत्येते पञ्च बन्धहेतवो भवन्ति । तत्र सम्यग्दर्शनाद् विपरीतं मिथ्यादर्शनम् । तद् द्विविधम्—अभिगृहीतमनभिगृहीतं च । तत्र अभ्युपेत्य असम्यग्दर्शनपरिग्रहोऽभिगृहीतमज्ञानिकादीना त्रयाणा त्रिषष्टाना कुवादिशतानाम् । शेषमनभिगृहीतम् । यथोक्ताया विरतेर्विपरीता अविरति । प्रमाद स्मृत्यनवस्थानं कुशलेष्वनादरो योगदुष्प्रणिधान चैष प्रमाद । कषाया मोहनीये वक्ष्यन्ते [८।१०] । योगस्त्रिविध पूर्वोक्त [६।१] । एषा मिथ्यादर्शनादीना बन्धहेतूना पूर्वस्मिन् पूर्वस्मिन् सति नियतमुत्तरेषा भाव । उत्तरोत्तरभावे तु पूर्वेषामनियम इति । सकषायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते । कर्मयोग्यानिति अष्टविधे पुद्गलग्रहणकर्मशरीरग्रहणयोग्यानि । नामप्रत्यया सर्वतो योगप्रत्ययादिति वक्ष्यते [८।२५] ।" इति तत्त्वार्थभाष्ये ८।१-२ ।

पृ० १८८ प० १० श्वेतिका । अत्र 'श्वेतिका'शब्देन श्वेतवर्णा 'पीतिका'शब्देन च पीतवर्णा मृद् विवक्षिता।

पृ० १८९ प० ५ पुरुष प्रवेद । दृश्यता टिपृ० ५९ प० २ टि० १ ।

पृ० १८९ प० २१, २७ औषधभैषज्यज्ञनाणीनि । अत्र हस्तलिखितप्रत्यनुसारेण 'औषधभैषज्यअनादीनि' इति पाठ शुद्ध प्रतीयते, पादाभ्यअनादेर्नेत्रोपकारित्वात् । दृश्यता पृ० ४७५ प० १, पृ० ३७२ प० २१ ।

पृ० १८९ प० २४, २८ एकोऽप्यहं । दृश्यता पृ० २४५ प० १-७ ।

पृ० १९० प० ७-९. अक्खरस्स चंदसूराण । 'सव्वागासपएसग्गं सव्वागासपएसेहिं अणंतगुणिअं पज्जवक्खरं निप्फज्जइ । सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो णिच्चुग्घाडिओ । जइ पुण सो वि आवरिज्जा तेण जीवो

१ 'अथ भगवतो वस्तुतत्त्वज्ञानजिज्ञासयाह-एगे भवमित्यादि । एको भवानिति एकत्वाभ्युपगमे भगवता आत्मनः श्रोत्रादिविज्ञानानामवयवानां चात्मनोऽनेकत्वोपलब्धित एकत्वं दूषयिष्यामीति बुद्ध्या पर्यनुयोगः सोमिलभट्टेन कृतः । द्वौ भवानिति च द्वित्वाभ्युपगमे अहमित्येकत्वविशिष्टस्यार्थस्य द्वित्वविरोधेन द्वित्वं दूषयिष्यामीति बुद्ध्या पर्यनुयोगो विहितः । अक्खये भवमित्यादिना च पदत्रयेण नित्यात्मपक्षः पर्यनुयुक्तः । अणेगभूयभावभविए भवति अनेके भूता अतीता भावाः सत्तापरिणामा भव्याश्च भाविनो यस्य स तथा । अनेन चातीतभविष्यत्सत्ताप्रश्नेन अनित्यात्मपक्षः पर्यनुयुक्तः एकतरपरिग्रहे तस्यैव दूषणायेति । तत्र च भगवता स्याद्वादस्य निखिलदोषागोचरत्वात् तमवलम्ब्य उत्तरमदायि-एगेवि अहमित्यादि । कथमेकत्वमित्याह-दव्वट्ठयाए एगोऽहमिति । जीवद्रव्यस्य एकत्वेन एकोऽहम् । न तु प्रदेशार्थतया तया ह्यनेकत्वाद् ममावयवादीनामनेकत्वोपलम्भो न बाधकः । तथा च कथित् स्वभावमाश्रित्य एकत्वसंख्याविशिष्टस्यापि पदार्थस्य स्वभावान्तरद्वयापेक्षया द्वित्वमपि न विरुद्धमित्यत उक्तं नाणदंसणट्ठयाए दुवेवि अहमिति । न चैकस्य स्वभावभेदो न दृश्यते एको हि देवदत्तादिः पुरुष एकदैव तत्तदपेक्षया पितृत्वपुत्रत्वभ्रातृत्वभ्रातृव्यत्वादीननेकान् स्वभावांल्लभत इति । तथा प्रदेशार्थतया असंख्येयप्रदेशतामाश्रित्य अक्खओऽप्यहं सर्वथा प्रदेशानां क्षयाभावात् । तथा अव्वओऽप्यहम्, कतिपयानामपि च व्ययाभावात् । किमुक्तं भवति ? अवट्ठिओऽप्यहम्, नित्योऽप्यहम् असंख्येयप्रदेशिता हि न कदाचनापि व्यपैति अतो नित्यताभ्युपगमेऽपि न दोषः । तथा उवओगट्ठयाए त्ति विविधविषयान् उपयोगानाश्रित्य अनेकभूतभावभविकोऽप्यहम् । अतीतानागतयोर्हि कालयोरनेकविषयबोधानामात्मनः कथंचिदभिन्नानां भूतत्वाद् भावित्वाच्चेत्यनित्यपक्षोऽपि न दोषायेति । इति अभयदेवसूरिविरचितायां भगवतीसूत्रवृत्तौ । ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्रेऽपि पञ्चमाध्ययने शुकपरिव्राजकप्रश्ने एतादृश्येव अभयदेवसूरिविरचिता वृत्तिः । २ 'सव्वागासे'त्यादि । सर्वं च तदाकाशं च सर्वाकाशम् लोकालोकाकाशमित्यर्थः । तस्य प्रदेशा निर्विभागा भागाः सर्वाकाशप्रदेशाः तेषामग्रं परिमाणं सर्वाकाशप्रदेशाग्रम् तत् सर्वाकाशप्रदेशैरनन्तगुणितमनन्तशो गुणितमेकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽनन्तागुरुलघुपर्यायभावात् पर्यायाग्राक्षरं निष्पद्यते पर्यायपरिमाणाक्षरं निष्पद्यत इत्यर्थः । इयमत्र भावना-सर्वाकाशप्रदेशपरिमाणं सर्वाकाशप्रदेशैरनन्तशो गुणितं यावत्परिमाणं भवति तावत्प्रमाणं सर्वाकाशपर्यायाग्राक्षरं भवति । एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे यावन्तोऽगुरुलघुपर्यायास्ते सर्वेऽपि एकत्र पिण्डिता एतावन्तो भवन्तीत्यर्थः । एतावत्प्रमाणं चाक्षरं भवति । इह यद्यपि सर्वं ज्ञानमविशेषेणाक्षरमुच्यते सर्वद्रव्यपर्यायपरिमाणं च भवति तथापि श्रुताधिकारादिहाक्षरं श्रुतज्ञानमवसेयम् । श्रुतज्ञानं च मतिज्ञानाविनाभूतं ततो मतिज्ञानमपि । सव्वजीवाणं पी'त्यादि । सर्वजीवानामपि णमिति वाक्यालङ्कारे अक्षरस्य श्रुतज्ञानस्य श्रुतज्ञानं च मतिज्ञानाविनाभावि ततो मतिज्ञानस्यापि अनन्तभागः अनन्ततमो भागो नित्योद्घाटः सर्वदैवानावृतः । तथा चाह-जइ पुण इत्यादि । यदि पुनः सोऽपि अनन्ततमो भागः आव्रियेत तेन तर्हि जीवोऽजीवत्वं प्राप्नुयात् । जीवो हि नाम चैतन्यलक्षणः ततो यदि प्रबलश्रुतावरणस्त्यानर्द्धिनिद्रोदयभावे चैतन्यमात्रस्याप्यावरणं तर्हि जीवस्य स्वस्वभावपरित्यागादजीवत्वमेवेति । अत्रैव दृष्टान्तमाह-सुट्ठुवी'त्यादि । सुष्ठु अपि मेघसमुदये भवति प्रभा चन्द्रसूर्ययोः । यथा निबिडनिबिडतरमेघपटलैराच्छादितयोरपि सूर्याचन्द्रमसोर्नैकान्तेन तत्प्रभानाशः एवमनन्तानन्तैरपि ज्ञानदर्शनावरणकर्मपरमाणुभिरेकैकस्यात्मप्रदेशस्य आवेष्टितपरिवेष्टितस्यापि नैकान्तेन चैतन्यमात्रस्याप्यभावो भवति । अत निगोदावस्थायामनन्ततमो भागो नित्योद्घाटः । इति नन्दीसूत्रस्य मलयगिरिविरचितायां वृत्तौ । ३ दृश्यतां पृ० ३११ प० ४५६,२८ । 'अत्र सन्दर्भकृता कारणमन्तरेण पुस्तके लिखितमपि ......तेन समग्रमानम । न च उपलभ्यते...... त आवरिज्जा । जति पुण सो वि परिज्जेज्ज तेण जीवो अजीवय पावेज्ज । सुट्ठु " इति जयन्तविजयैर्निर्दिष्टस्य सन्दर्भस्य नन्दीचूर्णौ पाठ दृष्टः पुरा अयं पाठो नन्दीसूत्रे प्रसिद्ध आसीत् इत्यनुमाय निर्दिष्टोऽस्माभिरिति पाठः । तथा हि नन्दीसूत्रे 'जति पुण सो वि आवरिज्जा तेण जीवो अजीवत्त पावेज्जा । सुट्ठु ' इत्ययं पाठ उपलभ्यत इति ध्येयम्।

अजीवयं पावे। सुट्ठुवि मेहसमुदए होइ पभा चंदसूराणं ॥ से तं साइयं सपज्जवसियं, से तं अणाइयं अपज्जवसिअं।" इति नन्दीसूत्रे [सू० ४२] पाठ उपलभ्यते। "तेन विज्ञानमविनाभावित्वात् सिद्धमेव, शब्दानुविद्धत्वं तु साध्यत इति। नैतत् स्वाभिप्रेतोपपत्तिबलादेव, किं तर्हि ? भगवदाज्ञापि तथोपश्रूयते—सव्वजीवाणं पीलादि। 'अक्खराणक्खरसुता'-दिभेदेन श्रुतज्ञानप्ररूपणायामेकेन्द्रियादिस्वामिकमुक्तं सूत्रे, तथा भाष्येऽपि—तं पि जति आवरिज्जेज्ज तेण जीवो अजीवत्तं पावे। सुट्ठुवि मेहसमुदए होइ पभा चंदसूराण॥" इति अष्टमारे नयचक्रवृत्तौ वक्ष्यते [पृ० ३७४-१], तदनुसारेण नयचक्रवृत्तिकृतां समये नन्दीसूत्र तद्भाष्यं च पृथक् पृथगासीदिति प्रतीयते। कस्मिंश्चित् समये तु बृहत्कल्पसूत्रनिर्युक्ति-भाष्यवत् तदुभयं परस्परं सम्मील्य एकीभूतं 'नन्दीसूत्र'नाम्नैव च उभयमपि प्रसिद्धिमापन्नमिति प्रतिभाति।

पृ० १९० प० १०. अद्यते। "अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते।"—इति तैत्तिरीयोपनिषदि २।२।

पृ० १९० पं० १०-११. अनाद्यनन्तशोऽपि विपरि°। अत्र 'अनाद्यनन्तशो विपरिवर्तितत्वात्' इति भा०-प्रत्यनुसारी पाठः साधुः प्रतिभाति।

पृ० १९० पं० १३. नाक्षस्यैतत्। अत्र 'नान्यस्यैतत्' इति भा०प्रति पाठःसाधुर्भाति, पुरुषादन्यस्यैतत् सर्वं न घटत इत्याशयः। दृश्यतां पृ० १८९ पं० २६।

पृ० १९० पं० १८. भोक्तृभोग्य। "भोज्य भक्ष्ये।७।३।६९। भोग्यमन्यत्।"—पा० सिद्धान्तकौ०। अत्र 'गिलति' इति शब्ददर्शनाद् भोज्यत्वं चेद् विवक्षितं तदा 'भोक्तृभोज्यभावाद्' इति हस्तलिखितप्रतिस्थ पाठोऽपि साधुः।

पृ० १९० पं० २५-२६. स्वात्मनि…छिनत्तीति। "स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्। न हि तदेव अङ्गुल्यग्रं तेनैवाङ्गु-ल्यग्रेण स्पृश्यते सैवासिधारा तयैवासिधारया छिद्यते।"—अभिधर्मकोशस्फुटार्था० १।३९। मध्यमकवृत्ति० पृ० ६२-६३।

पृ० १९१ पं० १,५. तन्त्रवायक°। अत्र भा०प्रत्यनुसारी 'तन्त्रवायकोशकारक' इति पाठोऽपि साधुः। "लूता स्त्री तन्तुवायोर्णनाभमर्कटकाः समा।२।५।१३।' 'तन्त्रं तन्तून् वयति तन्त्रवायः इति स्वामी।"—अमरकोषसुधा०।

पृ० १९१ पं० ७-८. [१]यथोर्णनाभिः… केशलोमानीति वा यथा सुदीप्तात्…तथाक्षरात्[२]। मुण्डकोप-निषदि 'केशलोमानि' इत्यस्यानन्तरं 'तथाक्षरात्' इति पाठोपलम्भेऽपि तत्र वक्ष्यमाणं 'यथा सुदीप्तात्' इति चतुर्थमुदाहरणं लाघवायात्रैवोपन्यस्तं नयचक्रवृत्तिकृद्भिरिति भाति।

पृ० १९१ पं० १७. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां°। दृश्यतां पृ० २६६ पं० ६,२६।

पृ० १९१ पं० २२ कः कण्टकानां। आचाराङ्ग-सूत्रकृताङ्गसूत्रयोः शीलाङ्काचार्यकृतवृत्तौ उत्पादादिसिद्धि षड्-दर्शनसमुच्चयबृहद्वृत्तिप्रभृतिग्रन्थेषु चोद्धृतेयं कारिका। "कण्टकस्य च तीक्ष्णत्वं मयूरस्य विचित्रता। वर्णाश्च ताम्रचूडानां स्वभावेन भवन्ति हि॥" इत्यप्युद्धृतं पद्यं शीलाङ्काचार्यकृताया सूत्रकृताङ्गवृत्तौ।

पृ० १९२ पं० २, २७. "बहुधानमिति, धाना बीजानि, तदेवैकं सर्वबीजकम्।"—वृषभदेवटी० पृ० २०।

---

१ दृश्यता टिपृ० ९ प० ३१ टि० ७। २ दृश्यता पृ० १९१ टि० ४। "यथा लोके प्रसिद्ध उर्णनाभिर्लूताकीट किञ्चित् कारणान्तरमनपेक्ष्य स्वयमेव सृजते स्वशरीराव्यतिरिक्तान् तन्तून् बहि प्रसारयति पुनस्तानेव गृह्णते च गृह्णाति स्वात्म-भावमेवापादयति। यथा च पृथिव्यामोषधयो व्रीह्यादिस्थावराणीत्यर्थं, स्वात्माव्यतिरिक्ता एव सम्भवन्ति प्रभवन्ति। यथा च सतो विद्यमानाज्जीवत पुरुषात् केशाश्च लोमानि च सम्भवन्ति विलक्षणानि। यथैते दृष्टान्तास्तथा विलक्षण सलक्षण च निमित्तान्तराद्यनपेक्षाद् यथोक्तलक्षणादक्षरात् सम्भवति समुत्पद्यत इह समारमण्डले विश्व समस्तं जगत्। अनेकदृष्टान्तोपादानं तु सुखार्थप्रबोधनार्थम्। • दृष्टान्तमाह—यथा सुदीप्तात् सुष्टु दीप्तादिद्धात् पावकादग्नेर्विस्फुलिङ्गा अग्न्यवयवा सहस्रशोऽनेकशः प्रभवन्ते निर्गच्छन्ति सरूपा अग्निलक्षणा एव, तथोक्तलक्षणादक्षराद् विविधा • हे सोम्य! भावा जीवा प्रजायन्ते तत्र चैव तस्मिन्नेवाक्षरेऽपियन्ति देहोपाधिविलयमनु विलीयन्ते अक्षरस्यापि नामरूपकृतदेहोपाधिनिमित्तमेव जीवोत्पत्तिप्रलय-निमित्तत्वम्।" इति शंकराचार्यरचिते मुण्डकोपनिषद्भाष्ये।

पृ० १९२ प० ३,१६, ३१ तदुपान्तिके । (तदु यान्तिके ?) ।

पृ० १९२ प० १३ बहूनामाश्रय । (बहूना धानमाश्रय ?) । द्रष्टव्य पृ० २६५ प० ८ ।

पृ० १९२ प० १४ यच्च चेतन । अत्र यच्चेतन इति य०प्रतिस्थ पाठ समीचीन ।

पृ० १९२ प० १६ अलोके । धर्माधर्मावच्छिन्नमाकाश लोक , तदनवच्छिन्नमाकाशमलोक ।

पृ० १९३ प० २, १७ वितट । "प्रपातस्त्वतटो भृगु ॥"—अमरको० ।२।३।८।

पृ० १९३ प० ९ सर्वज्ञमेव । (सर्वज्ञ एव ?) ।

पृ० १९४ प० ३ प्रातर्यो । आचाराङ्गसूत्रवृत्तिप्रभृतिषु उद्धृतय कारिका ।

पृ० १९४ प० १७ जिनवचनोपजीवनम् । (जिनवचनोपजीविनाम् ?) । द्रष्टव्य पृ० १९४ टि० ४ ।

पृ० १९५ प० १५-१६ कोऽसौ भेदो नाम नियतेरपि ? क्रियासाध्यासाध्यार्थरूपत्वाद् । अत्र 'कोऽसौ भेदो नाम ? नियतेरपि क्रिया क्रियासाध्यासाध्यार्थरूपत्वाद्' इति य०प्रत्यनुसारी पाठो योजना च सम्यक् प्रतीयेते । द्रष्टव्य पृ० १९५ प० २१ ।

पृ० १९५ प० २२ सत्यप्यभेदबुद्ध्याभासभावे सतीति । अत्र 'सत्यप्यभेदबुद्ध्याभासभावेऽसतीति' इति पाठ स्यात् ।

पृ० १९५ प० २३ परमार्थतो भेद । अत्र 'परमार्थतोऽभेद ' इति पाठो रम्यो भाति ।

पृ० १९५ प० २५ तदा तदाभासाद् । अत्र 'तदाऽभेदाभासाद्' इति पाठो रम्यो भाति ।

पृ० १९६ प० ४, २७ बाल्यकौमार । द्रष्टव्य पृ० २०६ प० १४ ।

पृ० १९७ प० ६-७ नियताया उत्पत्ते । अत्र 'नियताया ' इत्यस्य 'उत्पत्ते' इत्यादिना सम्बन्ध ।

पृ० १९७ प० २१-२२ व्रीहि भेदाद्वा भिन्ना । व्रीहिरित्येका अङ्कुरादिभेदाद् भिन्ना । अथवा अङ्कुर इत्यभिन्ना रूपादिभेदाद् भिन्ना नियतिरित्याशयोऽत्र भाति ।

पृ० १९८ प० ६,१६,१९,२२ स्त्रीपुस । अचतुरविचतुरस्त्रीपुसधेन्वनडुहर्क्सामवाङ्मनसाक्षिभ्रुवदारगवोर्वष्ठीव पदष्ठीवनक्तन्दिवरात्रिंदिवाहर्दिवसरजसनि श्रेयसपुरुषायुषद्व्यायुषत्र्यायुषर्ग्यजुषजातोक्षमहोक्षवृद्धोक्षोपशुनगोष्ठश्वा [पा ५।४।७७] । एते पञ्चविंशतिरजन्ता निपात्यन्ते ।"—पा० सिद्धान्तकौ० ।

पृ० १९९ प० १ मृद्द्रव्य । अत्र 'मृद्वर्तिदिनन' इति 'मृद्वान्तिवर्धन' इति वा पाठोऽपि स्यात् ।

पृ० १९९ प० ४ एव । अत्र 'एव च' इति पठनीयम् ।

पृ० १९९ प० ५ अन्यत्रविधानप्रतिषेध । अन्यत्र विधान यस्मिन् प्रतिषेधे विवक्षित सोऽन्यत्रविधानप्रतिषेध ।

पृ० १९९ प० ७ अस्तिभवति । द्रष्टव्य पृ० ३२४ प० २७-२८ ।

पृ० २०० प० ६ एकप्रयोजनेनान्योन्या । अत्र 'एकप्रबन्धेनान्योन्या ' इत्ययं शुद्ध पाठ । द्रष्टव्य पृ० २९४ प० १७, पृ० ४५३ टि० २ ।

पृ० २०० प० २४ प्रविशीर्णा विशीर्य विशीर्यमाणो । अत्र यदि 'प्र शब्दसूचितं प्रकर्षं द्योतयितु 'विशीर्य' इति पदमुपात्त तर्हि यथाश्रुत साध्वेव । अन्यथा तु 'प्रविशीर्णा विशीर्यमाणो' इत्येतावतापि निर्वहिष्यति ।

पृ० २०१ प० १,१० व्यवस्थावकाशक्रमेण । (व्यवस्थाविकाशक्रमेण ?) ।

---

१ एव कारणरूपमात्मानमुद्दिश्य अथेदानीं कार्यरूपेणाह—तदेजति । तदेव सर्वप्राणिरूपेणावस्थित सत् एजति कम्पवद् भवति क्रियावद् भवति । तन्नैजति तदेव च न एजति स्थावररूपावस्थित सत् । तद्दूरे तदेव च दूरे आदित्यनक्षत्रादिरूपेणावस्थितम् । तत् उ अन्तिके, उ समुच्चये, तदेव च अन्तिके पृथिव्यादिरूपेणावस्थितम् । तदन्तरस्य सर्वस्य, तदेव च अस्य सर्वस्य प्राणिजातस्य विज्ञानान्तररूपेणावस्थित सत् अन्तमध्ये आस्ते । तदु सर्वस्यास्य बाह्यत , तदेव च सर्वस्यास्य प्राणिजातस्य बाह्यत जडरूपेणावस्थितमास्ते । चेतनाचेतनरूपमनन्त सर्वग ब्रह्मेत्यर्थ । इति उवटविरचिते शुक्लयजुर्वेदभाष्ये । ईशावास्योपनिषद्यपि दृश्यते इय 'तदेजति ' इति कारिका ६ ।

पृ० २०१ पं० २,१२. मायाकार···। दृश्यतां पृ० ३७८ पं० ३,१७-२४। मायाकार[1] इन्द्रजालिकः।

पृ० २०१ पं० ५,२०. षष्टिकाः···। "षष्टिका[2] षष्टिरात्रेण पच्यन्ते।"—पाणिनि० ५।१।९०।

पृ० २०१ पं० ११. पाडव। पाडवो नाम मधुरो रस इति अर्थः शब्दकोषे दृश्यते।

पृ० २०१ पं० १६. दग्धे वीजे। "दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः। · ॥८॥" तत्त्वार्थभा० १०।७।

पृ० २०१ पं० १७. अन्यथा च तथा दृश्यन्ते। अत्र 'अन्यथान्यथा च दृश्यन्ते' इति भा०प्रतिस्थ-पाठोऽपि साधुः।

पृ० २०२ पं० ३. द्रव्यान्तरसंयोगस्तम्भनादिभ्यः। अत्र 'द्रव्यान्तरसंयोगेन स्तम्भनद्रावणादिभ्यः' इत्यपि स्यात्।

पृ० २०२ पं० ४,१८. ज्ञातुरिच्छा···। दृश्यतां पृ० २०३ पं० २५।

पृ० २०२ पं० ७,२६. तथानियतित्वात्। दृश्यतां पृ० २०४ पं० ८।

पृ० २०२ पं० १३. कोद्रवपलाल···। फलपाचनविधिरयं बृहत्कल्पसूत्रभाष्येऽपि वर्णित', गा० ८४२, पृ० २७१।

पृ० २०२ पं० १४. शाखायां चद्धायां। (शाखायां चार्द्रायां ?)।

पृ० २०४ पं० २-३. अनादिमध्यान्तां · पश्यन्। दृश्यतां पृ० २२० पं० २५-२६।

पृ० २०४ पं० १०. सम्यग्दर्शन· ·। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।१।१। 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणा-न्तरायक्षयाच्च केवलम्।१०।१। बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्।१०।२। कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष·।१०।३।"—तत्त्वार्थसू०।

पृ० २०५ पं० २, २४. न केचि·· । दृश्यतां पृ० २१७ पं० ११, पृ० २१९ पं० ७।

पृ० २०५ पं० ९. लोगम्मि· । 'लोके जीवचिन्ता सर्वागमकादिता (सर्वागमोत्कृष्टा ?) दुरवगाहा । ततोऽपि कृष्टतरी (उत्कृष्टतरी ?) चिन्ता बन्धे च मोक्षे च ॥' इत्यर्थ· प्रतिभाति।

पृ० २०५ पं० १५. अपरस्मिन्··· । दृश्यतां पृ० ४५३ टि० २, टिपृ० १९ पं० ८।

पृ० २०५ पं० २३. कलनं··· । दृश्यतां पृ० २० पं० ४।

पृ० २०७ पं० ६. सप्ताहं कललं···। दृश्यतां पृ० २५९ प० १९-२१, पृ० ३५४ पं० २२, पृ० ३१८ पं० ५।

पृ० २०७ पं० ९. ग्राहवद् ग्राहः। दृश्यतां पृ० ११ पं० १५, पृ० १७३ टि० ५, पृ० ३८२ टि० ५।

पृ० २०८ पं० १, ७. भवतीति भावितम्। अत्र 'भवति' इत्येतावदेव मूलम्, 'इति भावितम्' इति तु वृत्त्यंश इति भाति।

पृ० २०८ पं० १६. यमनियमादिः। दृश्यता पृ० ३३२ पं० १६-२५। "योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञान-दीप्तिरा विवेकख्याते·। यम-नियमाऽऽसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि। अहिंसा-सत्या ऽस्तेय-ब्रह्मचर्या ऽपरिग्रहा यमाः। एते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना· सार्वभौमा महाव्रतम्। शौचसन्तोषतप·स्वाध्यायेश्वरप्रणि-धानानि नियमाः।" इति पातञ्जलयोगदर्शने २।२८-३२।

पृ० २०८ पं० १७. अहिंसानृता··· । दृश्यतां पृ० २०४ टि० ८।

पृ० २०९ पं० ११. चान्तर्गतात्मरस··· । (चान्तर्गताक्षरस · ?)।

पृ० २१० पं० १, १९. तथा ग्राह्य ·· । अत्र 'तद्यथा ग्राह्य···' इत्यपि पाठ· स्यात्। दृश्यतां पृ० २१० पं० २०।

पृ० २१० पं० ७. स्ववचनं ·· । अत्र 'स्वं वचनं ' इत्यपि पाठ स्यात्।

पृ० २११ पं० २,८. अप्पणो णिक्खमणकालं · । 'आत्मनो निष्क्रमणकालमाभोग्य [=विलोक्य] त्यक्त्वा राज्यम्' इत्यर्थः। सम्पूर्णस्यास्य सूत्रस्यार्थस्तु कल्पसूत्रस्य सुबोधिकादिव्याख्याभ्योऽवसेयः।

पृ० २११ पं० ७. उपशम · । "औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च।"—तत्त्वार्थसू० २।१।

---

१ "मायाकारस्तु प्रातिहारिक।"–अमरको० २।१०।११। २ "शालय कलमाद्याश्च षष्टिकाद्याश्च।"—अमरको० २।९।२४।

पृ० २१२ प० १,९ कलनात्मक लक्षणम् । अत्र 'ध्रुवादिसर्वनित्यलक्षणमेतदेव कलनात्मक कारणमुपपद्यते' इत्यपि मूलं स्यात् । दृश्यतां पृ० २१२ प० ११–१२ ।

पृ० २१२ प० १९ ज ज जे जे । दृश्यतां पृ० १८२ प० १३, पृ० ४७८ प० ४ टि० १ ।

पृ० २१२ प० ११, २८ कूटस्थम । दृश्यतां टिपृ० २३ प० ३ १२ ।

पृ० २१३ प० ३–५ तेन तसे एकत्र मेघादिरेकत्र पटादि । अत्र 'तेन च तस्से एकत्र पटादि रेकत्र मेघादि' इति पठितव्यम् ।

पृ २१३ प० ८ जरत्ता । जरद्भावो जरत्ता इत्यर्थः ।

पृ० २१३ प० २० मेघे चोन्नतमात्रे वर्षति अथ 'तत । अत्र मेघे चोन्नतमात्रे 'वर्षत्ययम्, तत इति योजना समीचीना भाति ।

पृ० २१५ प० १,८ कर्माभाव । कर्माभावे पुरुषनादिमते ससारानादिता न युज्यत इत्याशयः ।

पृ० २१५ प० ५ तस्मात्त्वनादिवर्तनात्मकत्वात् न न युज्यते [पृ० २१६ पं० ४] । एतत्स्थाने 'तस्मात्त्वनादिवर्तनात्मकत्वात् कालस्य यथा पृथिव्यादिव्रीह्यादिवृत्तिविवृत्तिप्रबन्धेन स्वात्मविषयक्रियाप्रबन्धमरण जीवपुद्गलयोरभिव्यवर्तनस्वतत्त्वयो स्वत एव बन्धक्रिया समारक्रिया च वर्तनाभेदेन रूपभेदेन च एव कालस्य आत्मन्यात्मन्येव क्रिया अनात्मन्यात्मनि यनि युगपदेव बन्धमरणविहिता बन्धससारानादिता न न युज्यते ।' इत्याद्यर्थकमपि मूलमत्र स्यात् ।

पृ० २१५ प० १२ अतत्त्व चास्य ससारस्य । अत्र हस्तलिखितप्रतिषु 'अतत्त्व चास्य न भवति ससारस्य' इति पाठ, तदनुसरणे त्वत्र 'तत्त्व चास्य न भवति ससारस्य' इति शुद्ध पाठो मन्तव्य । 'अतत्त्वं चास्य भवति ससारस्य' इत्यपि पाठ स्यात् ।

पृ० २१५ प० २२ पूर्वपरा । (पूर्वापरा ?) । एवमग्रेऽपि ।

पृ० २१६ प० १–४ स्वात्मविषय । दृश्यतां टिपृ० ७१ प० १२ ।

पृ० २१६ प० ५ प्रभेदपूर्वापरादिक्रमाद् भावा° । (प्रभेदपूर्वापरादिक्रमा एव भावा ? प्रभेदभावा ?) ।

पृ० २१६ प० २३ पुण्डक° । दृश्यतां पृ० १८१ प० २५, टिपृ० ६५ पं० ५ टि० ३ ।

पृ० २१७ प० ३,१३ सुषमादि । सुषमादिस्वरूप तत्त्वार्थसूत्र[४।१५]प्रभृतिग्रन्थेभ्योऽवसेयम् ।

पृ० २१७ प० ५,२३ लग्नवर्तनाद् । "राशीनामुदयो लग्नम् ।"—अमरको० १।३।२७ ।

पृ० २१७ प० १०,२५ द्रव्य भूम्यादिर्व्रीह्यादि, द्रव्यात्मा । 'द्रव्यम्, भूम्यादिर्व्रीह्यादिद्रव्यात्मा' इत्यपि योजना स्यादत्र ।

पृ० २१८ प० १,१० तन्मात्रभेदप्रभेदस्वामि° । अत्र भा०प्रत्यनुसारी 'तन्मात्रभेदप्रभावात् स्वामि°' इति पाठ शोभनो भाति ।

पृ० २१८ प० ५,२० काल पचति । आचाराङ्गसूत्रवृत्तिप्रभृतिषु बहुषु ग्रन्थेषु उद्धृतोऽयं श्लोक ।

---

१ दृश्यतां पृ० २३९ प० १९–२३ । 'भाष्ये कूटस्थेष्विति, कूटमयोघन , तद्वत् तिष्ठन्ति ये तेषु । संसर्गिनाशेऽपि स्वयमनष्टेष्वित्यर्थः । अथावयवसंस्थानरूपाया जातिव्यञ्जिकाया आकृतेर्यावद्व्यवहारकाल मध्ये मध्ये उत्पत्तौ नाशेऽपि प्रकारान्तरेण नित्यत्वमाह भाष्ये—अथवेति । नित्यत्वलक्षणे ध्रुवपदस्यैव व्याख्यान कूटस्थमिति । रूपान्तरापत्तिर्विचालः, यथा पयसो दध्यादिरूपता । अनेन परिणामानित्यता परास्ता । उत्पत्ते सत्तापर्यन्तत्वाद् अनुत्पत्तीत्यनेन जन्मसत्ताख्यौ भावविकारौ निरस्तौ । अनृद्धीत्यनेन तृतीयो वृद्धिलक्षण । अनुपजनेति चतुर्थ परिणाम । अनपायेति पञ्चमोऽपक्षय । एतद्रूपविकाररहितमिति तदर्थं । अव्ययेति षष्ठो विनाश । इद च प्रकृतिविषय नित्यत्व यावद्व्यवहारमेकरूपस्थितपदार्थविषयं च । भवतेऽत्र न नित्यशब्दार्थ प्रवाहाविच्छेदेऽनात्मन्यपि नित्यत्वव्यवहारमित्याह भाष्ये—तदपीति । यस्मिंस्तत्त्वमिति यस्मिन् विहतेऽपि तद्धर्मो न विहन्यत इत्यर्थ । प्रवाहनित्यता चानेनोक्ता । तथापि तद्धर्मो न नश्यति आप्रवाह-विच्छेदादिति भाव । इति पातञ्जलमहाभाष्यस्य उद्द्योते १।१। पस्पशाह्निके । २ तत एव बन्धससारौ वर्तनाभेदेन ' इत्यपि पाठः स्यादत्र । दृश्यतां पृ २१९ प० ८ ।

पृ० २१९ पं० ३. स्वपक्षापि स । (स्वपक्षापि च ?)।

पृ० २१९ पं० १३–१७. तः…स्वातन्त्र्ये' सर्वत्र …। क्रमेण पुस्तनियतिकालवादा अत्र विवक्षिताः।

पृ० २२० पं० १६ द्रव्यार्थप्रसवाद्। अत्र 'द्रव्यार्थप्रभवात्।' इत्यपि सम्यग् भाति।

पृ० २२१ पं० १,९,१४,१६ सत्त्वस्य 'सत्त्वस्य कालसत्त्वपुरुषसत्त्वयो' "सत्त्वानुल्यता' 'पूर्वत्र सत्त्वस्य। 'पं० १,९,१४,१६' इत्यत्र यथाक्रमं स्थितेष्वेतेषु पाठेषु 'सत्त्व'स्थाने 'स्वत्व'शब्दः समीचीनः स्यादित्यपि भाति। दृश्यतां पृ० २२० पं० ४, टि० ११। प्रतिषु सर्वत्र 'सत्त्व'स्थाने 'स्वत्व'शब्द एव दृश्यते इत्यपि ध्येयम्।

पृ० २२१ पं० ८. समनन्तरानुलोमाः पूर्वविरुद्धा निवृत्तनिरनुशयाः। दृश्यतां पृ० ४५५ पं० ७। उद्धृतमिदं विशेषावश्यकभाष्यस्य कोट्याचार्यवृत्तौ कोट्याचार्यवृत्तौ [पृ० ६५३] च।

पृ० २२१ पं० १७. सत्त्वाविनाभावित्वेन। अयं पाठः शोभन एव भाति, दृश्यतां पृ० २२१ पं० ६।

पृ० २२२ पं० ५,१७,२९,३०. मयूरगण्डक…। अत्र 'मयूरांगक' इति प्रतिस्थः पाठः शोभन एव भाति। एवं च 'तथा मयूराङ्गकबर्हादीनामेव पञ्चवर्णता, मयूरादिबर्हाण्येव च विचित्राणि' इत्यपि मूलमत्र सम्भाव्यते।

पृ० २२२ पं० ८,१९. केनाञ्जितानि…। उद्धृतेयं कारिका शीलाङ्काचार्यकृतायाम् आचाराङ्गसूत्रवृत्तौ।

पृ० २२२ पं० १७. मयूर…। "मयूरचन्द्रिकादिर्वा विचित्रः केन निर्मितः॥" – विशेषावश्यकमलधारिवृ० पृ० ७०२।

पृ० २२२ पं० १८. लोटकादीनाम्। (लोटगर्दानाम् ?)।

पृ० २२३ पं० ७. तदपि। हस्तलिखितप्रतिस्थः 'तमिति' इति पाठोऽप्यत्र कथञ्चित् सङ्गच्छेत।

पृ० २२४ पं० ४,१४. क्रियाया…। पञ्चम्यन्तोऽयं निर्देशः। दृश्यतां पृ० २२५ पं० २९।

पृ० २२४ पं० १०. 'घृताद्यवस्था°। भा० प्रतावयं पाठः, स च समीचीनतरः। य० प्रतौ तु °घृतावस्था° इति पाठः।

पृ० २२४ पं० १८. अस्यामन्त्र…। "तत्र बुद्धिमान् नास्तिक्यबुद्धिं जह्याद् विचिकित्सां च। कस्मात्? प्रत्यक्षं ह्यल्पम्, अनल्पमप्रत्यक्षमस्ति यदागमानुमानयुक्तिभिरुपलभ्यते। यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि। सतां च रूपाणामतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात् करणदौर्बल्याद् मनोनवस्थानात् समानाभिहारादभिभवादतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः। तस्मादपरीक्षितमेतदुच्यते–प्रत्यक्षमेवास्ति, नान्यदस्तीति।" – चरकसू० १।११।७–८।

पृ० २२५ पं० ५,२६ कण्टकः…। दृश्यतां टिपृ० ६४ पं० २३।

पृ० २२६ पं० १९–२०. "नाहं कर्तेति भावानां। "नाहं कर्तेति भूतानां" – आचाराङ्गसूत्रशीलाङ्कवृ० पृ० १७।

पृ० २२७ पं० ६. तत्पट उत्पद्यते। (न घट उत्पद्येत ?)।

पृ० २२८ पं० १,२. स्थितः, योऽस्ति…। अत्र "स्थितो योऽस्ति' इति सम्यक्।

पृ० २२८ पं० ५,६. किमिदं…। 'किमिदं भदन्त! अस्ति इत्युच्यते? गौतम! जीवाश्चैव अजीवाश्चैव। किमिदं भदन्त! 'समयः' इत्युच्यते? गौतम! जीवाश्चैव अजीवाश्चैव' इत्यर्थः।

पृ० २२८ पं० ७ आवलिको…। "तदुक्तं कालविभागः।४।१५।… तत्र परमसूक्ष्मक्रियस्य सर्वजघन्यगतिपरिणतस्य परमाणोः स्वावगाहनक्षेत्रव्यतिक्रमकालः समय इत्युच्यते परमदुरधिगमोऽनिर्देश्यः।……ते त्वसङ्ख्येया आवलिका। ताः सङ्ख्येया उच्छ्वासस्तथा निश्वासः। तौ बलवतः पट्विन्द्रियस्य कल्यस्य मध्यमवयसः स्वस्थमनसः पुंसः प्राणः। ते सप्त स्तोकः। ते सप्त लवः। तेऽष्टात्रिंशदर्धं च नालिका। ते द्वे मुहूर्तः। ते त्रिंशदहोरात्रम्। तानि पञ्चदश पक्षः।…" इति तत्त्वार्थभाष्ये।

पृ० २२८ पं० ९. स्वशक्ति…। "स्वाश्रये समवेतानां तद्वदेवाश्रयान्तरे। क्रियाणामभिनिष्पत्तौ सामर्थ्यं साधनं विदुः॥ ३।७।१॥ क्रियानिर्वृत्तौ द्रव्यस्य शक्तिः साधनं साध्यतेऽनेन क्रियेति भाष्यकारप्रभृतयो विदुः।" – वाक्यपदीयवृ०।

पृ० २२९ पं० ९. भरत-मरुदेव्या…। "अहो योगस्य माहात्म्यं प्राज्यं साम्राज्यमुद्वहन्। अवाप केवलज्ञानं भरतो भरताधिपः॥ पूर्वमप्राप्तधर्माऽपि परमानन्दनन्दिता। योगप्रभावतः प्राप मरुदेवा परं पदम्॥" इति योगशास्त्रे १।१०,११।

पृ० २२९ पं० १९. अधुनाऽनादित्व…। प्रतिस्थपाठानुसारेण 'अथानादित्व°' इति पाठः स्यादत्र।

पृ० २२९ प० २१,२२,२३ निर्हेतुकहेतुक । भावप्रधानोऽयं 'निर्हेतुक'निर्देशः, तेन अन्तरत्वानुमाने आदिमत्वानुमाने च निर्हेतुकत्वस्य हेतुत्वेन विवक्षितत्वात् 'निर्हेतुकहेतुक' इत्युक्तमत्र, दृश्यतां पृ० २२९ प० १८ ।

पृ० २३० प० ९ साधनदूषण । "साधनं दूषणं चैव साभासं परसंविदे । प्रत्यक्षमनुमानं च साभासं त्वात्मसंविदे ॥ इति शास्त्रार्थसंग्रहः ।" इति न्यायप्रवेशके हेतुतत्त्वोपदेशे च । दिङ्नागविरचिते न्यायमुखेऽपि अन्नत्य 'साधनं दूषणं चैव' इत्यादी कारिका ग्रन्थारम्भे आसीदिति 'साभासोक्तयाद्युपक्षेप' ॥[४।२७]।' इति प्रमाणवार्तिककारिकाया व्याख्याविलोकनेन प्रतिभाति । यद्यपि अस्य चीनभाषानुवादमवलम्ब्य Prof Giuseppe Tucci इत्येभिर्विहिते Englishभाषानुवादे I have compiled this book, because I desire to assertain what is the real nature of the arguments to prove [a thesis as well] as to refute it' [न्यायमुख पृ ५] इति दृश्यते तथाप्ययं चीनभाषानुवादे बहुषु स्थलेषु सङ्क्षिप्तोऽस्पष्टश्च भाति ।

पृ० २३० प० ९ पक्ष । "पक्षादिवचनानि हि साधनं, तत्र तु स्वयम् । साध्यत्वेनेप्सितः पक्षो विरुद्धार्थानिराकृत ॥२॥ पक्षेत्यादि, पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि परेषामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यते ।" इति दिङ्नागरचिते न्यायमुखे प्रतायते । "परार्थमनुमानं तु स्वदृष्टार्थप्रकाशनम् । तत्रानुमेयनिर्देशो हेत्वर्थविषयो मतः ॥३।१॥ स्वरूपेणैव निर्देश्यः स्वयमिष्टोऽनिराकृतः । प्रत्यक्षाद्यनुमानाप्तप्रसिद्धेन स्वधर्मिणि ॥३।२॥" इति दिङ्नागविरचिते प्रमाणसमुच्चये ।

---

१ स्वयूथ्यानां [=न्यायमुखटीकाकारादीनां] पूर्वपक्षपरिहारोक्तिः – पक्षवचनं साधनं साभासत्वादिति चेत् न, प्रत्यक्षेणानैकान्तात् । प्रत्यक्षं साभासमपि न कस्यचित् प्रमाणस्य साधनम् । वचनात्मत्वे सति साभासत्वात् साधनत्वमिति चेत् न, दूषणेनानैकान्तात् । दूषणं साभासवचनात्मत्वेऽपि न साधनम् । इति मनोरथनन्दिरचितायां प्रमाणवार्तिकवृत्तौ पृ० ४२३ ४।२७ अन्य पुनराह — प्रतिज्ञा साधनं साभासत्वेनोक्ते, साभासत्वस्य साधनत्वेन सह दर्शनात् । दूषणवादाह – प्रत्यक्षेण अनैकान्त । वचनात्मकत्वेन विशेषणाददोष इति परिहार । दूषणेनानैकान्त इति चेत्, अदूषणत्वे सतीति परिहार ।' तदेतत् सकलमसत् । इति प्रमाणवार्तिकालङ्कारे पृ० ४९३ । इयं च साभासत्वोक्त्यादिचर्चा न्यायमुखे 'साधनं दूषणं चैव साभासं' ।' इत्येनांशपाठसम्भवे घटत इति ध्येयम् । २ दृश्यतां पृ ३०६ प २२ । ३ "तत्र पक्षादिवचनानि साधनम् । पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्निकानामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यत इति । तत्र पक्षः प्रसिद्धो धर्मी प्रसिद्धविशेषणविशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः, प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति वाक्यशेष । [पृ १] एषां [=पक्षहेतुदृष्टान्तानां] वचनानि परप्रत्यायनकाले साधनम् । एतान्येव त्रयोऽवयवा इत्युच्यन्ते । — न्यायप्रवेश० पृ० १–३ । वादिना स्वयं साधयितुमिष्टोऽर्थः साध्य साध्यते येन तत् साधनं हेतोस्त्रिरूपवचनम् ।" – हेतुतत्त्वोप । ४ "न्यायमुखप्रकरणे 'तत्र तु स्वयं कृत' इति पाठः । –प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ५१० ५१९ ५२२ ५६१ । प्रमाणवा मनो० पृ० ४४३ । न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका १।१।३३ । ५ The proposition and the other terms are called the proof [साधन] Here is called "proposition' only that particular argument that we want to prove in accordance with our own opinion It must be such as no argument contradictory [to it] can exclude it "The proposition etc , this means that through the formulation of a proposition, a reason and an example, an argument which has not yet been understood by onother [man] is made evident to him –न्यायमुख पृ० ५ । ६ प्रमाणवार्तिकालङ्कार पृ ४८८ । प्रमाणवा मनो० पृ० ४२० । ७ प्रमाणवार्तिकालङ्कार पृ० ५४ ५४ १४९ । प्रमाणवार्तिकमनोरथनन्दिवृत्ति पृ ४२८,४४७ ४ ८,४५९ । ८ यद्यपि प्रमाणसमुच्चयो नदानीं संस्कृतभाषायामुपलभ्यते तथापि भोटभाषानुवादमवलम्ब्य प्राचीनेषु च ग्रन्थेषु विद्यमानानि दिङ्नागवचनानि सङ्गृह्य समालोच्य च मया सङ्कलिता इमा कारिका इति ध्येयम् ।

पृ० २३० पं० १०. **हेतुः पक्षधर्मः** । दृश्यतां टिपृ० २८ पं० २१ । "[1]अनुमान द्विधा, स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृक् । पूर्ववत् फलमर्थः स्वरूपं चातुल्यमेतयो ॥२।१॥ ··[2]परार्थमनुमानं तु स्वदृष्टार्थप्रकाशनम् । तत्रानुमेयनिर्देशो हेत्वर्थविषयो मत. ॥३।१॥ ·[3]साध्यधर्मो यतो हेतुस्तदाभासश्च भूयसा । तस्मात् [4]तद्विस्तर पूर्वं हेत्वाद्यर्थात् [5]प्रदर्श्यते ॥··· तत्र य. सन् सजातीये द्वेधा चासंस्तदत्यये । [6]सपक्षे सन्नसन् द्वेधा पक्षधर्म. पुनस्त्रिधा । प्रत्येकमसपक्षेऽपि सदसद्द्विविधत्वत. ॥···

१ प्रमाणवा०मनो०परिशिष्ट पृ० ५२४ । "**अनुमानं द्विधा**–स्वार्थं परार्थं च । तत्र **स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृक्** । वक्ष्यमाणत्रिलक्षणाल्लिङ्गाद् यदनुमेयार्थदर्शनं तत् स्वार्थमनुमानम् । **पूर्ववत् फल**मत्रापि । यथा प्रत्यक्षे [विषयसवित्ति स्वसवित्तिश्चेति] प्रतीतिद्वयमेव आश्रित्य फलमुक्तमेवमत्रापि । यद्युभयमपि प्रतीतिलक्षणम् कोऽनयोर्विशेष इति चेत, **अर्थः स्वरूपं चातुल्यमेतयोः** । प्रत्यक्षानुमानयोरर्थो [=आलम्बनं] भिन्न । तदाकारविशेषाच्च स्वरूपमपि भिन्नम् ।" इति दिङ्नागविरचिताया प्रमाणसमुच्चयवृत्तौ पृ० २८ B, पृ० १११ Narthang edition । अस्या वृत्ते सस्कृतभाषायामनुपलम्भात् **भोट**भाषानुवादानुसारेण कतिपतमेतदस्माभि सस्कृते अस्या **भोट**भाषानुवादोऽत्रैव टिप्पणेषु वक्ष्यमाणे **भोट**परिशिष्टे द्रष्टव्य । २ प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ४६७ । प्रमाणवा० मनो० टि० पृ० ४१३ । "यथा स्वस्मिन् त्रिरूपाल्लिङ्गाद् लिङ्गिनि ज्ञानमुत्पन्न तथा परस्मिन् त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानोत्पिपादयिषया त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थमनुमानम्, कारणे कार्योपचारात् ।" इति दिङ्नागविरचिताया प्रमाणसमुच्चयवृत्तौ पृ० ४८ A, १२६ A, Narthang edition सस्कृतभाषायामस्या वृत्तेरनुपलब्धेरस्या भोटभाषानुवादोऽत्रैव टिप्पणेषु वक्ष्यमाणे **भोट**परिशिष्टे द्रष्टव्य । ३ न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका ११११३५ । न्यायमुख पृ० ११ । प्रमाणवार्तिकालंकारे त्वत्र 'पक्षधर्म' [पृ० ५१०] इति पाठ तथापि **भोट**भाषानुवादेषु '**व्स्ग्रुब् ब्यऽि छोस्**' इति पाठदर्शनात् 'साध्यधर्म' इत्येव समीचीनम् । न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायामपि 'साध्यधर्म' इत्येव पाठ । ४ प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ५८० । Therefore I shall now indicate the various characteristics of this.–न्यायमुख. पृ० ११ । ५ यद्यप्यत्र प्रमाणसमुच्चयस्य कनकवर्म वसुधररक्षितविरचित**भोट**भाषानुवादानुसारेण प्रमाणवार्तिकालङ्कारे च 'हेत्वाद्यर्थात्' इत्येव पाठ, तथापि प्रमाणवार्तिकालङ्कारे एव इत ऊर्ध्वम् "अत एव '**हेत्वाभासात् पूर्वम्**' इत्युक्तम्, हेतुश्चाभासश्च हेत्वाभासम्, आभासश्च प्रत्यासत्तेर्हेत्वाभास एव, नाभासमात्रम् ।" इत्यभिहितत्वाद् '**हेत्वाद्यर्थात्**' इत्यस्य स्थाने '**हेत्वाभासात्**' इत्यपि पाठ स्यादिति सम्भाव्यते । प्रमाणसमुच्चयस्य **जिनेन्द्रबुद्धि**विरचिताया '**विशालामलवती**'टीकाया त्वेव दृश्यते— "**साध्यधर्मो यतो हेतुरि**त्यादि । 'भूयसा' इति पदम् असिद्धस्य अपक्षधर्मस्यापि हेत्वाभासत्वज्ञापनार्थम् । अथ कारिकार्थ — यस्मान हेतुस्तदाभासश्च भूयसा पक्षधर्म एव तस्मात् हेतु-विरुद्ध-अनैकान्तिकत्वेभ्य पूर्वं पक्षधर्मविस्तर प्रदर्श्यते इति । एतदुक्तं भवति — यस्मात् पक्षधर्मत्वमिदं वहूना सामान्य रूप तस्मात् पक्षधर्मप्रभेद एव हेत्वादे पूर्वं प्रदर्श्यते ।" – **विशालामलवती** पृ० १५४ A. Derge edition. । सस्कृतभाषायामस्या टीकाया अनुपलम्भादस्या **भोट**भाषानुवादोऽत्र सस्कृतेऽस्माभि परिवर्त्य लिखित इति ध्येयम् । ६ प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ५८०,६०१ । न्यायमुख पृ० २९,३० । न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका ११११३५ ।

1 **धर्मकीर्ति**रपि **दिङ्नाग**मेवानुसृत्य **प्रमाणविनिश्चये** लक्षणमत्र प्रणीतवानिति **वादिदेवसूरि**प्रणीत**स्याद्वादरत्नाकरा**नुसारेण प्रतीयते । तथाहि— "अपि च - धर्मकीर्तिरपि न्यायविनिश्चयस्य आद्य-द्वितीय तृतीयपरिच्छेदेषु यथाक्रम 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्' इति 'तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृक्' इति 'परार्थमनुमान तु स्वदृष्टार्थप्रकाशनम्' इति त्रीणि लक्षणानि तिमिराशुभ्रमणनौयानसक्षोभाद्यनाहितविभ्रममविकल्पक ज्ञानं प्रत्यक्षम्' इति 'त्रिलक्षणाल्लिङ्गाद् यदनुमेयेऽर्थे ज्ञान तत् स्वार्थमनुमानम्' इति 'यथैव हि स्वय त्रिरूपाल्लिङ्गतो लिङ्गिनि ज्ञानमुत्पन्न तथैव परत्र लिङ्गिज्ञानोत्पिपादयिषया त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थमनुमानम्' इति च व्याचक्षाणो लक्ष्यस्यैव विधिमन्वकीर्तयत् ।" इति स्याद्वादरत्नाकरे पृ० २३ । न्यायविनिश्चय इति प्रमाणविनिश्चयस्यैव नामान्तर ज्ञेयम् । प्रमाणविनिश्चयस्य भोटभाषानुवादेऽक्षरश सर्वमेतदुपलभ्यते, पृ० २६१ B, २७६ A, २९९ A Narthang edition. । पृ० १५४,१६७ A, १८७ A Derge edition. । अथ भोटभाषानुवादो 'व्स्तन्-ऽग्युर्' सग्रहे 'म्दो' वर्गे 'चे' [=९५] पुटे द्रष्टव्य ।

स हेतुर्[1] विपरीतोऽस्माद् विरुद्धोऽन्यस्त्वनिश्चित ॥" इति प्रमाणसमुच्चये।

पृ० २३० प० १०-११ दृष्टान्त साध्यानुगत । "त्रिरूपो हेतुरित्युक्त पक्षवम च समन्वित । द्वेधे पद्भ्य तेन दृष्टान्तन प्रदर्श्यत ॥ साध्येनानुगमो हेतो साध्याभावे च नास्तिता। ख्याप्यते यत्र दृष्टान्त स साधर्म्यतरो द्विधा ॥ -न्यायावतार ४।१ ?। "दृष्टान्तो द्विविध - साधर्म्येण वैधर्म्येण च। तत्र साधर्म्येण तावत् यत्र हेतो सपक्ष एवास्तित्व ख्याप्यते, तद्यथा-यत् कृतक तदनित्य दृष्ट यथा घटादिरिति। वैधर्म्येणापि यत्र साध्याभावे हेतोरभाव एव कथ्यते, तद्यथा-यन्नित्य तदकृतक दृष्ट यथाकाशमिति। नित्यशब्देनात्रानित्यत्वस्याभाव उच्यते, अकृतकशब्देनापि कृतकत्वस्याभाव, यथा भावाभावोऽभाव इति। '-न्यायप्रवेश० पृ० १-२।

पृ० २३० प० ११ तद्विपर्यये तदाभासा । "साधयितुमिष्टोऽपि प्रत्यक्षादिविरुद्ध पक्षाभास [पृ० २]। असिद्धानैकान्तिकविरुद्धा हेत्वाभासा [पृ० ३]। दृष्टान्ताभासो द्विविध साधर्म्येण वैधर्म्येण च [पृ० ५]। एषां पक्षहेतुदृष्टान्ताभासाना वचनानि साधनाभासम् [पृ० ७]।'-न्यायप्रवेश ।

पृ० २३० प० १२ तत्साधनदोषो । The refutation [दूषण] consists in showing that the formulation of a syllogism is defective [न्यून] etc The fallacies of refutation [दूषणाभास] are called Jātis-न्यायमुख पृ० ५४। साधनदोषोद्भावनानि दूषणानि। साधनदोषो न्यूनत्वम्। पक्षदोष प्रत्यक्षादिविरुद्धत्वम्। हेतुदोषोऽसिद्धानैकान्तिकविरुद्धत्वम्। दृष्टान्तदोष साधनधर्माद्यसिद्धत्वम्। तस्योद्भावन प्राश्निकप्रत्यायन दूषणम्। अभूतसाधनदोषोद्भावनानि दूषणाभासानि। सम्पूर्णे साधने न्यूनत्ववचनम्। अदुष्टपक्षे पक्षदोष वचनम्। सिद्धहेतुकेऽसिद्धहेतुकवचनम्। अदुष्टदृष्टान्ते दुष्टदृष्टान्तवचनम्। एतानि दूषणाभासानि । न ह्यभि परपक्षो दूष्यते, निरवद्यत्वात् तस्य। '-न्यायप्रवेश० पृ० ८। "वाद्युक्ते साधने प्रोक्तदोषाणामुद्भावनम्। दूषण निरवद्ये तु दूषणाभासनामकम् ॥२६॥ इति सिद्धसेनसूरिप्रणीत न्यायावतारे। "साधनदोषोद्भावन दूषणम्। अभूतदोषोद्भावनानि दूषणाभासा जात्युत्तराणि । -प्रमाणमीमांसा० २।१।२८-२९ । न्यायबिन्दु[३।१३८-१४१]-हेतुतत्त्वोपदेश[पृ० २ ८]प्रभृति ग्रन्थेष्वपि दूषण-तदाभासा लक्षिता ।

पृ० २३० प० १६-१८ शब्दब्रह्मतत्त्वमेदसंसर्गरूपनिवर्तमानमिद अनादिनिधन ब्रह्म । अनादिनिधन ब्रह्म इत्याद्य वाक्यपदीयकारिका कमलशीलेन तत्त्वसंग्रहपञ्जिकायां [पृ० ६७] अभयदेवसूरिभि सन्मति

---

१ एवम् 'ग्राह्यधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतु' इति प्रयुक्तम्। -न्यायवा० १।१।३५ । दिङ्नागस्यैव प्रमाणान्तरहेतुलक्षणम्-ग्राह्यधर्म पक्षधर्म तदंशेन तस्य पक्षस्यांशेन साध्यधर्मसामान्येन व्याप्तो हेतुरिति । तदेव तद्दूषणमुपन्यस्यास्मिन् पूर्वोक्त दोषमतिदिशति-एतेनेति । -न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका १।१।३५ । "आचार्यैरपि निर्दिष्टम् सङ्क्षेपलक्षणम्। ग्राह्यधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुरितीदृशम् ॥१३८५॥ -तत्त्वसंग्रह । २ कारिकेय वाद न्यायस्य शान्तरक्षितकृतटीकायाम् [पृ० ९२] उद्धृता तत्र च यद्यपि 'पक्षधर्मे च' इति पाठो दृश्यते तथाप्यशुद्ध स स्यादिति भाति। प्रमाणसमुच्चयस्य विशेषतश्च जिनेन्द्रबुद्धिरचित'विशालामलवती'टीकाया भोटभाषानुवादानुसारेण [पृ० २१२ B, Derge edition] पक्षधर्मस्तु' इति पक्षधर्मो हि' इति वा पाठोऽत्र स्यादिति भाति। अयं च भोटभाषानुवादोऽत्रैव टिप्पणेषु वक्ष्यमाण भोटपरिशिष्टे द्रष्टव्य । ३ 'द्वे' इति पञ्चम्यन्त पदम् द्वे सत्यित इति अन्वय । ४ तत्त्वसंग्रहपञ्जिका पृ० ४१९ । ५ सम्पूर्णेय कारिका दशवैकालिकसूत्रस्य हरिभद्रसूरिकृतवृत्तावुद्धृता पृ ३४ B। विशेषावश्यकभाष्यस्य कोट्याचार्यवृत्तौ [पृ० १५४ B] न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका[१।१।३७]प्रभृतिषु च अशत उद्धृता उपलभ्यते। ६ 'सर्वपरिकल्पातीततत्त्व भेदसंसर्गसमतिक्रमेण समाविष्ट सर्वाभि शक्तिभिर्विद्याऽविद्याप्रविभागरूपप्रविभाग काल

---

1 एतदनुसारेणैव प्रमाणवार्तिके [१।३] हेतुबिन्दौ च धर्मकीर्तिना "पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव स । अविनाभाव नियमाद्, हेत्वाभासास्ततोऽपरे ॥" इति लक्षण प्रणीतमिति ध्येयम्। 2 "आचार्यैरिति तन्मताविरोध प्रतिपादयति। ग्राह्यधर्म इति साध्यस्य साध्यधर्मिणो धर्म पक्ष इति यावत्। '-तत्त्वसंग्रहपञ्जिका पृ० ४ ९ । 3 "भेदसंसर्गसमतिक्रमेणेति भेदो व्यतिरेक, संसर्ग एकत्वम्। एतद्द्वयमतिक्रमेण ताभि शक्तिभिरध्यासितम् विद्याऽविद्याप्रविभागरूपम् इति । एतदुक्त भवति-विद्यारूप सर्वाङ्गत्वेन 'सर्वविकल्पातीततत्त्वम्' इति । अविद्यानिबन्धनरूपसर्वाङ्गत्वात् 'समाविष्ट सर्वाभि शक्तिभि' इति। अपूर्वापरे

वृत्तौ षष्ठगाथाव्याख्यायां वादिदेवसूरिभिश्च स्याद्वादरत्नाकरे [पृ० ९०] उद्धृता व्याख्याता च । अन्येष्वपि न्यायमञ्जरी-स्पन्दकारिकाप्रभृतिग्रन्थेषु उद्धृतेयम् ।

पृ० २३१ पं० ३,१५ सम्भववद् व्यभिचार… । दृश्यतां टिपृ० ६४ पं० २१–२४ ।

पृ० २३१ पं० २३. भेदप्राधान्येनैव भावीकृतेनार्थोऽपि भिन्नो विशेषणत्वेनोपादातुं योग्यः, तद्यथा । अत्र 'भेदप्राधान्येनैव । अभावीकृतेनार्थोऽपि · तद्यथा' इति भा०प्रतिस्थपाठ एव समञ्जसः ।

पृ० २३२ पं० २३–२४, २७–२८. नञिव ह्यर्थ[गतिः] इति । यद्यपि कात्यायनविरचिते पाणिनीयवार्तिके 'ह्यर्थगतिः' इति पाठः सम्प्रति उपलभ्यते तथापि 'ह्यर्थः' इति पाठान्तरस्याप्यत्र पूर्वं प्रचार आसीदिति प्रतीयते, "नञिव-युक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथाह्यर्थं इति" इति विशेषावश्यकभाष्यस्य कोट्यार्यवृत्तौ [पृ० ९५] उल्लेखदर्शनात् । एवं चात्र हस्तलिखितप्रतिस्थः 'ह्यर्थः' इति पाठः समीचीन एव । अतो '[गतिः]' इति पूरणमनावश्यकमत्रेति ज्ञेयम् ।

पृ० २३३ पं० ७. अब्राह्मणवत्, वैधर्म्येण… । अब्राह्मणवचने ब्राह्मणवदित्याशय, दृश्यतां पृ० २३२ पं० २३,२९ । सत्त्वे साध्ये 'खपुष्पवत्' इत्यस्य वैधर्म्यदृष्टान्तत्वादत्र 'वैधर्म्येण' इत्युक्तमिति ध्येयम् ।

भेददर्शनाभ्यासेन मूर्तिविभागभावनया च व्यवहारानुपातिभिर्धर्मार्थेम सर्वास्ववस्थासु अनाश्रितादिनिधनं ब्रह्मेति प्रतिज्ञायते । न हि कार्यकारणात्मनस्य विभक्ताविभक्तस्यैकस्य ब्रह्मण सर्वप्रवादेष्वपूर्वापरे प्रवृत्तिनिवृत्तिकोटी परिसङ्ख्यायेते । [1]न चास्योर्ध्वमधस्तिर्यग् वा मूर्तिपरिवर्तप्रत्यङ्गाना क्वचिदवच्छेदोऽभ्युपगम्यते । तत्तु भिन्नरूपाभिमतानामपि विकाराणा प्रकृत्यन्वयित्वाच्छब्दोपग्राह्यतया शब्दोपग्राहितया च शब्दतत्त्वमित्यभिधीयते । स्थितिप्रवृत्तिनिवृत्तिविभागा हि शब्देनाक्रियन्ते । तच्चाक्षरनिमित्तत्वादक्षरमित्युच्यते । प्रत्यक्चैतन्येऽन्त सनिवेशितस्य परसम्बोधनार्था व्यक्तिरभिष्यन्दते । …· विवर्ततेऽर्थभावेन । एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेण असत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्त, स्वप्नविषयप्रतिभासवत् ।' …· प्रक्रिया जगतो यतः । तत एव हि शब्दाख्यादुपसहृतक्रमाद् ब्रह्मण सर्वविकारप्रत्यस्तमये संवर्तादनाकृतात् पूर्वं विकार-ग्रन्थिरूपत्वेनाव्यपदेश्याज्जगदाख्या विकारा प्रक्रियन्ते । तथा ह्युक्तम्—य सर्वपरिकल्पानामाभासेऽप्यनवस्थित । तर्कागमानुमानेन बहुधा परिकल्पित ॥ १ ॥ व्यतीतो भेदसंसर्गौ भावाभावौ क्रमाक्रमौ । सत्यानृते च विश्वात्मा प्रविवेकात् प्रकाशते ॥२॥ … [2]प्रकृतित्वमपि प्राप्तान् विकारानाकरोति स । ऋतुधामेव ग्रीष्मान्ते महतो मेघसंप्लवान् ॥ ४ ॥ तस्यैकमपि चैतन्यं बहुधा प्रविभज्यते । अङ्गारकितमुत्पाते वारिराशेरिवोदकम् ॥ ५ ॥ ·····यथा विशुद्धमाकाश तिमिरोपप्लुतो जन । संकीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते ॥ १० ॥ तथेदममृत ब्रह्म निर्विकारमविद्यया । कलुषत्वमिवापन्न भेदरूप विवर्तते ॥ ११ ॥ ब्रह्मेदं शब्दनिर्माण शब्दशक्तिनिबन्धनम् । विवृत शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते ॥ १२ ॥" इति भर्तृहरिविरचिताया वाक्यपदीय-स्ववृत्तौ । "अनादिनिधनमिति कालप्रदेशकृतपरिच्छेदाभावप्रकाशनाय । ब्रह्मेति नामकथनम् । शब्दतत्त्वमिति स्वरूपकथनम् । यदक्षर विवर्ततेऽर्थभावेन इत्यनेन ब्रह्मण सकाशाच्छब्दार्थयोरभेदकथनम् । प्रक्रिया जगतो यत इति अस्य चिद्रूपस्य विवर्तस्य प्रधान परमाणवो वा अन्यद्वा न निमित्तम् अपि तु ब्रह्मैवेति दर्शयति ।"–इति वाक्यपदीयस्य वृषभदेवरचित-टीकायाम् ।

इति । कोटिर्मर्यादा । [अपूर्वा प्रवृत्तिमर्यादा] यस्या कार्योत्पादात् पूर्वं न किञ्चिदासीत् । अपरा निवृत्तिमर्यादा यस्या. पर नास्ति । ते प्रवृत्तिनिवृत्तिमर्यादे अपूर्वापरे न सख्यायेते । ननु सर्वपरिकल्पातीततत्त्व तत् कथ शब्दतत्त्वमित्युच्यत इत्याह–विकाराणां प्रकृत्यन्वयित्वादिति । विकारा हि प्रकृतिरूपेणान्विता दृष्टा यथा शकल-कपाला-ऽमत्रभूषणानि । रूपादयश्चैते शब्दरूपानुगता दृश्यन्त इति प्रकृतिभूते ब्रह्मणि शब्दापदेश. । स्वप्नविषयप्रतिभासवदिति यथा स्वप्नावस्थाया ज्ञानक्षण एक एव भिन्नजातीयानेकपदार्थाव-भासी जायते । प्रकृतित्वमपीति । य एते प्रधानपरमाण्वादयोऽपि कारण महादादीना प्रकृतित्व प्राप्ता तानप्यसावेव आकरोति जनयति । अत एव चैते विकारशब्देनोक्ता, न तु तै सांख्यादिभिर्विकारत्वमिष्ट तेषाम् । ऋतुधामा इति, ऋतवो हेमन्तादय षट् तेषां सारभूत तेजो ऋतुधामा वर्षारात्रय. । संवत्सरो वा ऋतु. तस्य सारभूता वर्षा इति । व्याप्ति संप्लव. । व्यापकमेघान् जनयति । तस्य इति व्यपदेशिवद्भावेन पृथक्त्वापदेश. ।" इति वृषभदेवरचितटीकायाम् ।

1 नयचक्र. पृ० २३९ पं० १ । 2 "प्रकृतित्वमनापन्नान् विकारा " – नयचक्र. पृ० २४१ ।

पृ० २३४ प० ४,१९ य त । एतादृश शब्दप्रयोग 'पृ० ३२ प० २३, पृ० १३२ प० २०' इत्यत्रापि दृष्ट ।

पृ० २३५ प० ३,१९-२० भेदसमसगपरिणामे । द्रष्टव्य टिपृ० ४१ प० ३ ।

पृ० २३५ प० ४ विकल्पेन च । 'विकल्पेत च' इत्यपि पाठोऽत्र सभवेत, द्रष्टव्य पृ० २३६ प० ९ ।

पृ० २३५ प० ९ चित्रलेप्य । द्रष्टव्य टिपृ० २० प० ३३ ।

पृ० २३५ प० १० एकत्रैवोपयुक्तार्थत्वाद् । घटादग्भेदनस्य । 'एकत्रैवोपयुक्तात्वाद् घटादे । अभय नस्य इत्यन्वयविवक्षाया तु मूले [पृ० २३५ प० ९] 'घटादे ' इति न ग्राह्यम् ।

पृ० २३५ प० २१ उक्ति प्रयोजनादिनानात्वाद् । द्रष्टव्य पृ० ४८ प० २३,३०-३२ ।

पृ० २३५ प० २४ स एवात्मास्य भाव । अत्र 'स एवात्मा भाव' इति य०प्रतिपाठ समीचीन एव भाति । द्रष्टव्य पृ० २६५ प० १६ । (स एवात्मास्य भावस्य ?) ।

पृ० २३६ प० २-३,११ ननु भेद प्रत्यक्षत एव न गृह्यते । द्रष्टव्य पृ० २३७ प० २२, पृ० २३८ प० ७ ।

पृ० २३६ प० ७ विकल्पेन च । (विकल्पेत च ?) । द्रष्टव्य पृ० २३६ प० ९, टिपृ० ७७ प० ३ ।

पृ० २३६ प० २३ निष्युपलिङ्गत्वेन । द्रष्टव्य पृ० २२३ प० १२ ।

पृ० २३८ प० ७ अभेदे भावे य । अत्र 'अभेदे भाव तस्य य ' इति पठितव्यम् । द्रष्टव्य पृ० २४० प० ६ ।

पृ० २३८ प० ६ तस्य ह्येकोऽपि नतिम्ना त [पृ० २३९ प० १] । द्रष्टव्य पृ० २४० प० ५ । "येन सर्वविकल्पातीन एकस्मिन्नर्थे सर्वशक्तियोगाद् ब्रह्मणा दर्शनविकल्पा तत एव खलु-सत्ता विशुद्धिस्तत्त्वोक्ता विवर्तरूपदा गता । युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिना ॥ [वाक्यप० ११९] इहैवैकस्मिन सर्वरूपे ब्रह्मणि य परिकल्प स निरूढरूपा भिमतेभ्य पारकल्पान्तरेभ्यो न भिद्यते । अपि खलु ब्रह्मविद आहु - प्रदेशोऽपि ब्रह्मण सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्पश्च' इति ।"-वाक्यपदीयभर्तृहरिवृत्ति ।

पृ० २३८ प० २५ पर्यायान्तरेण । 'तद् व्याचष्टे पर्यायान्तरेण' इति सम्बन्धोऽत्र भाति ।

पृ० २३९ प० १,१३,२९ न चास्यो । द्रष्टव्य टिपृ० ७६ प० १४ ।

पृ० २३९ प० ३ ध्रुव । द्रष्टव्य टिपृ० २३ प० ११ टिपृ० ७१ टि० १ ।

पृ० २३९ प० १४ दक्षिणोत्तरमथुरयोरपि । दक्षिणमथुरा सम्प्रति मदुरा [Madura] इति व्यवह्रियते, सा च 'दक्षिणभारत स्थत्वाद् दक्षिणमथुरा इति गीयत, इयमेव पाण्डुमथुरा' पाण्ड्यमथुरा' इत्यपि चोल्लिख्यते स्म शास्त्रेषु । उत्तरभारतस्था मथुरा तु उत्तरमथुरा इति भाति ।

पृ० २४० प० ३,१९ तदभावे तदसिद्धे । प्रत्यक्षानुपलम्भाभावेऽनुमानासिद्धेरित्याशय ।

पृ० २४० प० ११-१४ सम्बन्धादेकस्मात् । "एवं तावद् वैशेषिकस्यानुमान दुष्टम् । * साङ्ख्यानामपि 'सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम्' इति । तत्र सम्बन्ध सप्तविध । तत यथासम्भव सम्बन्धात्* एकस्मात् प्रत्यक्षात् शेषस्य अप्रत्यक्षस्यास्यार्थस्य सिद्ध कारण तदनुमानम् । ' इति दिङ्नागरचितायां प्रमाणसमुच्चयवृत्तौ द्वितीये स्वार्थानुमान

१ यतश्चैते इति । य एते दर्शनभेदा उपन्यस्तास्ते इति यावत् । यत एते भिन्नरूपानुपातिनोऽगलाश्च तत अभिन्नवत् शब्दाश्च स्थिरा वदे उक्ता । तनेति वदे । यत्तु अविचालक अत्र तत्राह्गुणायमाह-एकपदागमा इति एक पदमागतो यस्मा । मना हि पदात् गा गम्यते । तथाहि वद उक्तम्-'ओमित्येकाक्षरमुद्गीथमुपासीत' । प्रदेशोऽपि इति योऽय ब्रह्मणस्य प्रदेशान्तरेभ्यो भेदावकल्प -अयमस्मादन्य इति पर इति परविकल्प । स नास्ति ।' -वृषभदेवटी० ।

२ * * एतदन्तर्गत पाठ जिनागमरत्नसूरिसन्तानप्रज्ञीकानुसारेण प्रतीयते प्रमाणसमुच्चयवृत्तिभोटभाषानुवादानुसारेण तु तत्स्थाने साङ्ख्यानामपि 'सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम्' इत्याहु । तपु अन्यथा इति पाठ प्रतीयते । "साङ्ख्यानामपीत्यादि । अनुमान त्रिविध वार्षगण्यशिष्यै स्थित तत्स्वरूपज्ञानाय परेण किमिदमनुमान नाम इत्युक्ते आह-सम्बन्धादेकस्मादित्यादि । सम्बन्ध सप्तविध इति अपरा सम्बन्धस्य सप्तविधत्वम्, 'स्वस्वामिभावेन या

परिच्छेदे, Derge edition पृ० ३५ B–३६ A। अत्र वक्ष्यमाणं भोटपरिशिष्टं द्रष्टव्यम्। "एतेन सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेपसिद्धिरनुमानम्' इति लक्षणं प्रत्युक्तम्।" – न्यायवा० १।१।५। "प्रत्यक्षादीन्यपि च तन्त्रान्तरेषूपदिश्यन्ते – श्रोत्रादिवृत्ति प्रत्यक्षम्। सम्बन्धादेकस्माच्छेपसिद्धिरनुमानम्। यो यत्राभियुक्त कर्मणि चादुष्ट स तत्राप्त, तस्योपदेश आप्तवचनम् । इति।" – सांख्यकारिकायुक्तिदीपिका० पृ० ४। तुलना — "अवगृहीते विषयार्थैकदेशाच्छेपानुगमन निश्चयविशेषजिज्ञासा ईहा।" – तत्त्वार्थभा० १।१५।

पृ० २४० पं० १४. आत्मेन्द्रिय · । दृश्यतां टिप्पृ० ३२ प० ३५।

पृ० २४० प० १९ तदसिद्धेःप्रत्यक्षत्वा । 'तदसिद्धेः। प्रत्यक्षत्वा ···' इति योजनीयमत्र। टिप्पृ० ७७ पं० २५।

पृ० २४० पं० २३. सामान्यप्रत्यक्षाद् । दृश्यतां टिप्पृ० १९ पं० २९।

पृ० २४० पं० २५ मात्रामात्रिकभावेन वा। एतदनन्तर [सहचारिभावेन वा] इति पूरणीयम्।

पृ० २४१ पं० १,१५. विपर्येतव्य । अत्र विपर्ययितव्य° इति ज्यायः प्रतिभाति, प्रत्यनुसारित्वात्।

पृ० २४१ पं० ४–११. यथा[3] तथेद[3]· ·तस्यैक[4] अङ्गारकितम्[5] प्रकृतित्व ··। दृश्यतां टिप्पृ० ७६ पं० २१···।

इत्यादिभाष्यवचनात् । 'सम्बन्धानामर्थानाम्' इति निर्देशात् सूत्रे[1] कर्मसाधन सम्बन्धशब्दो ज्ञेय । स्वस्वामिभावेन वेति, राजसेवकवत् प्रधान-पुरुषवच्च। उदाहरणद्वयं लोक शास्त्रप्रसिद्धिवशात्। एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । स्वस्वामिभावोऽन्योन्यापेक्ष । स्वस्य स्वामिन प्रति सत्त्वं तद्योग्यत्व च, एव स्वामिनोऽपि स्वं प्रति सत्त्वम् । प्रकृतिविकारभावेन क्षीरदध्यादिवत् प्रधानमहदादिवच्च। प्रकृतिरविभाग कारणम्। विकार तस्या परिणामिन्या धर्म । कार्यकारणभावेन अन्योन्योपकारलक्षणेन रथाङ्गवत् सत्त्वादिवच्च शब्दादिभावेन परिणामे । निमित्तनैमित्तिकभावेन अन्यतरोपकारलक्षणेन कुम्भकारघटादिवत पुरुष-प्रधानप्रवृत्तिवच्च। मात्रामात्रिकभावेन च अवयवावयविभावलक्षणेन शाखादि-वृक्षवत् शब्दादि-महाभूतवच्च। सहचारिभावेन चक्रवाकवत् सत्त्वादिवच्च। वध्यघातकभावेन अहिनकुलवत् अङ्गाङ्गिभूतसत्त्वादिवच्च। सत्त्वादीना यस्य अङ्गित्व तेन इतरस्य अभिभूतत्वात् । अय सप्तविध सम्बन्ध । तेन यथासम्भवं सम्बन्धादेकस्मादिति । यथोक्तम्— 'कश्चिदर्थः कस्यचिदिन्द्रियस्य प्रत्यक्षो भवति। तस्मादिदानीमिन्द्रियप्रत्यक्षादर्थात् पूर्वं समुदाये कृतसम्बन्धात् बुद्ध्या अविशिष्टस्यार्थस्यास्तित्व प्रतिपद्यते, यथा पूर्वं धूमाग्न्यो सम्बन्ध दृष्ट्वा धूमदर्शनादग्नेप्यरस्तित्व प्रतिपद्यते।' इति । सिद्धेः कारणमिति लिङ्गज्ञानं सम्बन्धस्मरणापेक्षम्, तद्विशे(तद्वि शे)पस्य अप्रत्यक्षस्य लिङ्गिन सिद्धे कारणम्। सिद्धि कार्यम्। सूत्रे कारणे कार्योपचारात 'शेषसिद्धिरनुमानम्' इत्युक्तम्।" — विशालामलवती० पृ० ११७ B–११८ B Derge edition अस्य भोटभाषानुवादोऽत्र वक्ष्यमाणे भोटपरिशिष्टे द्रष्टव्य । "तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमनुमान चेति । लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्तु स्वस्वामिप्रकृतिविकारकार्यकारणमात्रिकाप्रतिपत्ति(क्षि ?)सहचरितनिमित्तनैमित्तिकभावैरिति।" – सांख्यकारिका० A।

१ "सम्प्रति सांख्यीमनुमानलक्षण दूषयति – एतेनेति। सम्बन्धोऽविनाभाव साधनस्य साध्येन। तस्मात् प्रत्यक्षाद् दृढतरप्रमाणावधारितात्। तथापि यत्राविनाभूते लिङ्गे भवत एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धाव्यभिचारिणी तयोरपि हेतुत्वं प्रसज्येतेत्यत उक्तम् – एकस्मादिति। शेषस्य अनुमेयस्य सिद्धि ।" – न्यायवार्तिकतात्पर्यटी०। २ 'श्रोत्रादिवृत्ति प्रत्यक्षम्' इति वार्षगण्यरचितं लक्षणम्, दृश्यता टिप्पृ० ३२ पं० २। तेन सहोपात्तत्वादिदमपि लक्षणं वार्षगण्यरचित भवेदिति सम्भाव्यते। ३ बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक पृ० १२४६ । तत्त्वसग्रहपञ्जिका पृ० ७२ । शास्त्रवार्तासमुच्चय ५४४-५४५ । सन्मतिवृत्ति पृ० ३८३। प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ४४-४५। न्यायकुमुदचन्द्र पृ० १४१। अष्टसहस्री पृ० ९३। न्यायविनिश्चयटीका पृ० ११३१२। स्याद्वादरत्नाकर. पृ० ९। —प्रभृतिग्रन्थेषु उद्धृतोऽयं श्लोक । ४ बृहदा० वा० पृ० १२४६ इत्यत्र उद्धृत । ५ अत्र 'अङ्गारकितम्' इति शुद्ध एव पाठ, तथा प्राचीनग्रन्थेषु प्रयोगदर्शनात्। "मैत्रक इव त्वगङ्गारकितादिभेदपलाशस्तत्त्वस्य · त्वन्मात्र अङ्गारकितः किशलयित पत्रित इत्यादि ब्रुवन् मैत्रक पलाशं निरवयवप्रभेद तत्र निरावरणज्ञान इति प्रसिद्ध ।" इति वक्ष्यतेऽत्रैव नयचक्रवृत्तौ पृ० ५७१–१।

1 अत्र निर्दिष्ट सूत्रं भाष्यं च साख्यप्रणीतमभिप्रेतमिति ध्येयम् । सूत्रं वार्षगण्यप्रणीत भाति। 2 नयचक्रेऽस्मारे पृ० ४४६–१] उद्धृतोऽय पाठो मल्लवादिनापि।

पृ० २४१ प० १८ पुढविकायि । 'पृथिवीकायिकान्यो जीवा अन्धा मूढा तम प्रविष्टा' इत्यर्थ ।

पृ० २४२ प० ४ अनागम । 'यद्येवं किमविद्योपवर्णकशास्त्रप्रक्रियासमाश्रयेण प्रेक्षापूर्वकारिणामित्याह—अनागम । अविद्योपमर्देन ह्युत्तरकालमागमविकल्परहिता शास्त्रप्रक्रियाप्रपञ्चशून्या विद्योपायनत प्रकटीभवति । एतदुक्त भवति—अविद्यैव विद्योपाय इति ।"—वाक्यपदीयपुण्यराजवृ० ।

पृ० २४२ प० १० नर्तकहस्त । (नर्तकीहस्त ?) ।

पृ० २४२ प० २३ वेदशिर । वेदशिर शब्देन उपनिषद्ग्रहणम् यथा अथर्वशिर अथर्ववेदस्योपनिषत् ।

पृ० २४८ प० ३ सर्वघातजो । दृश्यता पृ० २३४ प० ४ ।

पृ० २४३ प० ५ पण्णवणिज्जा । दृश्यता टिपृ० १० प० ६ ।

पृ० २४३ प० ८,९ विकल्प नार्थान् शब्दा । दृश्यता पृ० ५४७ प० ७ टि० ५ । 'नार्थान् शब्दा स्पृशन्त्यमी'—न्यायकुमु० पृ० ५३७ । न्यायविनिश्चयटी० पृ० १।६७ ३।९१ । स्याद्वादरत्ना पृ० ७०१ ।

पृ० २४३ प० १० शब्दा इति शब्दगडुमान । दृश्यता पृ० ५४७ प० ६ ।

पृ० २४३ प० १५ मयूरनिरत । दृश्यता पृ० २५१ प १६–१७ ।

पृ० २४३ प० १६ कृतसङ्कीर्ते । दृश्यता टिपृ० ६३ प० १७ ।

पृ० २४८ प० २१–२२ गोविषाणी । दृश्यता टिपृ० १७ प० २७ ।

पृ० २४४ प० १ न तु सर्वाणि । सङ्कृह । 'न तु सर्वाणीति सङ्ग्रह ' इति सम्यग् भाति ।

पृ० २४४ प० २,२३ दिग्नागवयचौ । दृश्यता पृ० ११५ प० १ ।

पृ० २४४ प० ७–१० आख्यातशब्द । दृश्यता पृ० ४४८ टि० २ ।

पृ० २४४ प० १४ एकिको । दृश्यता पृ० ५४० टि० १ ।

पृ० २४४ प० १६ तित्थकर । दृश्यता टिपृ० ५२ प० ३ ।

पृ० २४४ प० १९–२१ द्रवतीति इत्येवमादि । दृश्यता टिपृ० १९ प० २४—टिपृ० १७ प० ८ ।

पृ० २४५ प० १–३ किं भव । दृश्यता टिपृ० ६७ टि० १ । 'किं भवान् ? एको भवान् द्वौ भवान् अक्षयो भवान् अव्ययो भवान् अवस्थितो भवान् अनेकभूतभव्यभविको भवान् ? सोमिल ' एकोऽप्यहं द्वावप्यहम् अक्षयोऽप्यहम् अव्ययोऽप्यहम् अवस्थितोऽप्यहम् अनेकभूतभव्यभविकोऽप्यहम् । इत्यर्थ ।

पृ० २४५ प० ३ ६४७] । अत्र '६४७] । इति द्वितीयो विधिविध्यर ।' इत्यपि पाठ सम्भवत् ।

पृ० २४५ प० ८ समाप्त । एतदनन्तर प्रतिषु दृश्यमाना 'कमलदलविपुलनयना ' [पृ० २४६ प० ७–८] इति कारिका अत्र द्वितीयारसमाप्तौ निवेश्यमाना अधिक शोभते । इयमपि च न नयचक्रवृत्तिकारस्य, किन्तु केनचित् प्रक्षिप्ता, वृत्तिकारस्य तथाविधशैल्यदर्शनादिति भाति ।

पृ० २४६ प० ३ अथ कि । तुलना, पृ० २६० प० २४–२५ ।

पृ० २४६ प० ३–४ उक्त । (उक्तास्तु पुरस्तादि तत्र तल्लक्षणम् ? उक्त तल्लक्षण पुरस्तादि तत्त्वम् ?) ।

पृ० २४६ प० ७ कमलद० । दृश्यता टिपृ० ७९ प० २५ ।

---

१ 'अथति अन्धा इवान्धा अनाना । मूढत्ति मूढास्तत्त्वश्रद्धान प्रति । एत एवोपमयोच्यन्ते—तमपविट्ठत्ति । तम प्रविष्टा इव तम प्रविष्टा । तमपडलमोहजालपडिच्छण्णत्ति । तम पटलमिव तम पटल ज्ञानावरणम् । मोहो मोहनीयम् तदेव जाल मोहजालम् । ताभ्यां प्रतिच्छन्ना आच्छादिता ये ते तथा । इति अभयदेवसूरिरचितायां भगवतीसूत्रवृत्तौ । २ न्यायविनिश्चयटीका पृ० १।३९२, ५३३, २।७५८ ३२४ । सिद्धिविनिश्चयटीका पृ० २६० B ३६५ B ४८४ B । न्यायमञ्जरी । न्यायावतारटीका । रत्नाकरावतारिका । स्याद्वादमञ्जरी ।—प्रभृतिग्रन्थेष्वपि अयात सम्पूर्णा वोद्धतोऽयं श्लोक ।

पृ० २४६ पं० १३. पुरुषः सुप्तादि° । अत्र सर्वासु हस्तलिखितप्रतिषु 'पुरुष सुप्तादि°' इति पाठः । वक्ष्यमाणशैल्यनुसारेण 'पुरुष एव सुप्तादि°' इत्यपि पाठ. स्यादत्र ।

पृ० २४८ पं० २ विनिद्रा 'प्रतिपादनवत् [पृ० २५८ पं० ४] । एतत् सर्वं मूलं 'पृ० २७५ पं० २८–२७७ प० १२' इत्यत्र वक्ष्यमाणेन ग्रन्थेन संवदति ।

पृ० २४८ पं० ७. यस्मात् परं । "कस्मात् पुनस्तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति इत्युच्यते । यस्मात् पर पुरुषात् परमुत्कृष्टमपरमन्यद् नास्ति । यस्माद् नाणीयोऽणुतरं न ज्यायो महत्तर वास्ति । वृक्ष इव स्तब्धो निश्चलो दिवि द्योतनात्मनि स्वे महिम्नि तिष्ठत्येकोऽद्वितीयः परमात्मा । तेनाद्वितीयेन परमात्मनेदं सर्वं पूर्णं नैरन्तर्येण व्याप्त पुरुषेण पूर्णम् ।" इति शङ्कराचार्यकृते श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये ।

पृ० २४८ पं० १६ जागरितृत्वात् । अत्र 'जागरितत्वात्' इति शुद्ध. पाठ ।

पृ० २४८ पं० १८ पशवश्चा' । "एवम् अवध्यादिज्ञानप्राप्तिप्रसङ्ग. · "पशवश्चाप्यनिवृत्तकेवला' इति वचनात् । न ·, अवध्यादिज्ञानावरणानामक्षयोपशमादक्षयाच्च 'पशव' इत्यादस्य च शक्तिमात्रोपवर्णनात् ।" – विशेषावश्यकभाष्यकोट्याचार्यवृ० पृ० ४८ ।

पृ० २५१ प० १९. रूपस्य–तत्त्वस्य । 'रूपस्य तत्त्वस्य –' इति योजनीयमत्र ।

पृ० २५२ पं० १८ 'अर्यते' इत्यलक्षणत्वाच्छब्दाभिधेयो ज्ञानज्ञेयो वा नेति विनिद्रावस्थाऽविनिद्रावस्था वा स्याद् । 'अर्यते इत्यरलक्षणत्वाच्छब्दाभिधेयो ज्ञानज्ञेयो वा विनिद्रावस्थाऽविनिद्रावस्था वा स्यात्', इति भा०प्रत्यनुसारी पाठ एवात्र समीचीन । 'ऋ गतौ' इति धातुत. 'अर्थ'शब्दस्य निष्पत्ते 'अर'लक्षणत्वादित्युक्तमत्रेति ध्येयम् ।

पृ० २५२ पं० २१ इतश्चेत्यवस्थातः । भा०प्रत्यनुसारि 'इतश्चेत्यवस्थाभ्यः' इत्यपि पाठोऽत्रचिन्त्य. ।

पृ० २५३ पं० ७,१७ पितृपुत्रवत् । (पितृत्वपुत्रत्ववत् ? पितृपुत्रत्ववत् ?) । दृश्यतां पृ० २७६ टि० ११ ।

पृ० २५३ प० २५. अथवा नावस्था "। एवं समासे तु 'अनवस्थात्वात्' इति पाठान्तरेणापि मूले [पृ० २५३ पं० ६] भाव्यम् । दृश्यतां पृ० २५४ टि० १, पृ० २७६ टि० १३ ।

पृ० २५५ पं० १३ प्राप्तावित्थ । प्रतिष्वत्र प्राप्तमित्थ° इति पाठ । लेखनदोषोऽयम्, दृश्यतां पृ० २२ प० १६ ।

पृ० २५७ पं० ७ अतिदिश्यात् । अत्र 'अतिदिश्यते' इति शुद्ध. पाठः ।

पृ० २५८ पं० ३ त्वदभिप्राय एव एवं । 'त्वदभिप्राय एव' इत्यपि स्यादत्र, दृश्यतां पृ० २७७ प० १२ ।

पृ० २५९ पं० १९–२१ मातुओयं' । 'मातुरोज. पितु' शुक्र तत् तदुभयसंसृष्टं कलुषं किल्बिष तत्प्रथममाहारमाहार्य जीवो गर्भतया व्युत्क्रामति । सप्ताह कललं भवति सप्ताहं भवत्यर्बुदम् । अर्बुदाज्जायते पेशी पेशीतो जायते घनम् ।' इत्यर्थः । दृश्यतां भगवतीसू० १।७।६१। सूत्रकृताङ्ग० २।३।५६।

पृ० २६१ पं० १,७, तत्त्वं तावत् । (नन्वेतावत् ? ?), दृश्यतां पृ० २६१ टि० ३ ।

---

१ अत्र नयचक्रवृत्तिप्रत्यनुसारी 'मातुंतोयं पितुंसुक्कं' इति पाठ शुद्ध एव भाति । भगवतीसूत्रस्य [१।७।६१] अहमदावादे 'लवारनी पोळ' इत्यत्रस्थाया प्रतावपि 'मातुंतेयं पितुंसुक्कं' इति पाठदर्शनादीदृशस्य पाठस्यापि पुरा प्रचार आसीदिति भाति । "अयं जीव ·· मातापित्रो सयोगे 'माउओय'ति मातुरोजो जनन्या आर्तव शोणितमित्यर्थ, 'पिउसुक्कं'ति पितु शुक्रम्, इह 'यत्' इति शेष, 'त'ति तदाहार, तस्य गर्भव्युत्क्रमणस्य प्रथमता तत्प्रथमता तया 'आहारित'ति तैजसकार्मणशरीराभ्या भुक्त्वा गर्भतया गर्भत्वेन व्युत्क्रामति उत्पद्यते इत्यर्थ । किम्भूतमाहारम् ? 'तदुभयसंसिट्ठ'ति तयो शुक्रशोणितयोरुभयं तच्च तत् सस्पृष्ट च मिलित च तदुभयसंसृष्ट कलुष मलिनं 'किब्बिस'ति कर्बुरमिति । तत केन क्रमेण शरीरं निष्पाद्यते ? इत्याह—'सत्ताह सिलादि यावद् 'भवे'त्ति पद्यम् । सप्ताहोरात्राणि यावत् शुक्रशोणितसमुदायमात्र कललं भवति । तत सप्ताहोरात्राणि अर्बुदो भवति, ते एव शुक्रशोणिते किञ्चित् स्त्यानीभूतत्व प्रतिपद्येते इति । ततोऽपि चार्बुदात् पेशी मांसखण्डरूपा भवति । ततश्चानन्तर सा घन समचतुरस्र मांसखण्ड भवति ।" इति तन्दुलवैचारिकवृत्तौ पृ० ७ ।

पृ० २६१ पं० ३ सन्निध्या। "न पुरुषः सन्निधिमात्रेण चुम्बक इव लोहस्य प्रवृत्तिकारणम्। अतः प्रधानस्य जडस्य प्रवृत्तिहेतुरयमस्ति।"—सांख्यकारिकामाठरवृत्ति पृ० ९।

पृ० २६१ पं० १९ भाग। (भाव? विभाग?)। पृ० ३४ पं० २१ इत्यत्र त्वन्यथा वर्णनम्।

पृ० २६२ पं० १ आपत्ति तथावृत्ति। एतत्स्थाने 'अस्तिभवनं सन्निहिततथावृत्ति आपत्तिभवनम्' इत्यपि स्यात्।

पृ० २६३ पं० ७ नैकैकस्मा। "कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च। परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्॥१६॥"—सांख्यकारिका।

पृ० २६४ पं० २,१० संघातामकरणात्। दृश्यता पृ० २७७ पं० २१।

पृ० २६५ पं० ३ प्रसादलाघवाभि। 'प्रसादलाघवप्रसवाभि°' इति पठनीयमत्र। दृश्यता टिप्पृ० १४ पं० २८।

पृ० २६६ पं० २ यद् यमये। दृश्यता पृ० २९१ पं० २०।

पृ० २६६ पं० ६ अजामेका। दृश्यता पृ० १९१ पं० १७।

पृ० २६६ पं० २३ वैनाशिका। वैनाशिका क्षणभङ्गवादिनो बौद्धा ज्ञेयाः।

पृ० २६७ पं० ३ उभा सखायौ सयुजा सुपर्णा न्योऽभिचाकशीति। ऋग्वेदे [१।१६४।२०] मुण्डकोपनिषदि [३।१।१] श्वेताश्वतरोपनिषदि [४।६] च दृश्यत इयं कारिका, किन्तु तत्र सर्वत्र 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' इति पाठः। मुण्डकोपनिषदि श्वेताश्वतरोपनिषदि च 'न्यो अभिचाकशीति' इति पाठ उपलभ्यते।

पृ० २६७ पं० ६ प्रधानीति। भा०प्रतिस्थ 'प्रधानेति' इति पाठ एवात्र शुद्धः।

पृ० २६८ पं० ११ गुणसद्भावो। दृश्यता टिप्पृ० १६ पं० ३५।

पृ० २७० पं० २१ एष वक्ष्यमा। अत्र 'एत वक्ष्यमा' इति य०प्रतिपाठः शोभनः।

पृ० २७१ पं० १८ क्रियागुण। दृश्यता पृ० ४८९ टि० ६।

पृ० २७१ पं० १४ द्रव्याणि येषां चाधिकृत। दृश्यता पृ० ४३७ पं० ११–१३ पृ० ४५२ पं० ४।

पृ० २७२ पं० १ एत तु तत्रैवोक्तत्वात् [पृ० २७३ पं० ३]। सर्वमिदं मूले पृ० २८३ पं० १५–२३ इत्यत्र वक्ष्यमाणेन ग्रन्थेन सङ्गच्छते।

पृ० २७२ पं० ३,१७,२० असदकरणा। दृश्यता पृ० ३५ पं० १७, टिप्पृ० २६ पं० १–१५।

पृ० २७२ पं० ६ करोति। अत्र करोति परिणामित्वात् इत्यपि स्यात्, दृश्यता पृ० २८३ पं० २१।

पृ० २७३ पं० १ पूर्ववद्। अत्र एव तर्हि पूर्ववद् इत्यपि स्यात्, दृश्यता पृ० २८३ पं० २१।

---

१ "इदानीं तत्त्वलक्षणां प्रकृतिं छान्दोग्योपनिषत्प्रसिद्धामजारूपकल्पनया दर्शयति—अजामेकामिति। अजां प्रकृतिं लोहितशुक्लकृष्णां तेजोऽबन्नलक्षणां बह्वीः प्रजाः सृजमानामुत्पादयन्तीं ध्यानयोगानुगतदृष्टां देवात्मशक्तिं या सरूपाः समानाकाराः। अजो ह्येको निजात्मा अनादिकामकर्माविनाशितः स्वयमात्मानं मन्यमानो जुषमाणः सेवमानोऽनुशेते भजते। अन्य आचार्यो पदार्थ...धकारो जहाति त्यजति। इति शङ्कराचार्यरचिते श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये। २ "द्वा द्वौ सुपर्णा सुपर्णौ शोभनपतनौ सुपर्णौ पक्षिसामान्याद् वा सुपर्णौ सयुजा सयुजौ सदैव सर्वदा युक्तौ सखाया सखायौ समानाख्यानौ समानाभिव्यक्तिकारणावेवंभूतौ सन्तौ समानमविशेषमुपलब्ध्यधिष्ठानतया एकं वृक्षं वृक्षमिवोच्छेदनसामान्याच्छरीरं वृक्षं परिषस्वजाते परिष्वक्तवन्तौ सुपर्णाविवैकं वृक्षं फलोपभोगार्थम्। अयं हि वृक्ष ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखोऽश्वत्थोऽव्यक्तमूलप्रभवः क्षेत्रसंज्ञकः सर्वप्राणिकर्मफलाश्रयः तं परिष्वक्तौ सुपर्णाविवाविद्याकामकर्मवासनाश्रयलिङ्गोपाध्यात्मेश्वरौ। तयोः परिष्वक्तयोरन्य एकः क्षेत्रज्ञो लिङ्गोपाधिवृक्षमाश्रितः पिप्पलं कर्मनिष्पन्नं सुखदुःखलक्षणं फलं स्वादु अनेकविचित्रवेदनास्वादरूपं स्वादु अत्ति भक्षयति उपभुङ्क्तेऽविवेकतः। अनश्नन्नन्य इतर ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सर्वज्ञः सत्त्वोपाधिरीश्वरो नाश्नाति। प्रेरयिता ह्यसावुभयोर्भोज्यभोक्त्रोर्नित्यसाक्षित्वसत्तामात्रेण। स त्वनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति पश्यत्येव केवलम्। दर्शनमात्रं हि तस्य प्रेरयितृत्वं राजवत्।" इति शङ्कराचार्यकृतश्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये।

पृ० २७३ पं० ६ **प्रवर्त्य उक्तत्वम्** [पृ० २७५ पं० ६]। सर्वमिदं मूलं पृ० २८४–पृ० २८६ पं० २ इत्यत्र वक्ष्यमाणेन मूलेन सङ्गच्छति।

पृ० २७५ पं० ५–६ **स्यान्मतम् उक्तत्वात्**। 'स्यान्मतम्–प्रकर्षेण काशनं प्रकाशनम्, सत्त्वानुग्रहात् तद्रूपव्यक्ति प्रकर्षेण काशनम्, रजोनुग्रहात् प्रवृत्तिवत्। तत्रापि सत्त्वस्यापि रजोवदपरिसमाप्तरूपत्वात् प्रवर्तकाभावस्य चापर्याप्तत्वेनोक्तत्वात्।' इत्यपि मूलमत्र सम्भवेत्। दृश्यतां पृ० २८६ पं० १४–१७, पृ० २७१ पं० ८–पृ० २७२ पं० ३।

पृ० २७६ पं० २३-२४ **न तर्हि ना**। अत्र सर्वप्रतिस्थ. 'न तर्हि ता ना' इति पाठ 'न तर्हि ता अवस्था ना पुरुष.' इत्यर्थविवक्षाया सङ्गच्छेतापि कथञ्चिदिति ध्येयम्।

पृ० २७७ पं० २१ [1]**संघातपरार्थत्वात्**। दृश्यता पृ० २६४ पं० १,१०–१७।

पृ० २७७ पं० २३–२४ **प्रवृत्तेरचेतनस्य**। (प्रवृत्तेश्चेतनस्य ?)।

पृ० २७७ पं० २६ **तेच्चेव**। 'त एव ते पुद्गला. सुरभिगन्धतया परिणमन्ति, त एव ते पुद्गला दुरभिगन्धतया परिणमन्ति' इत्यर्थ.। दृश्यता पृ० ३५९ पं० २६, पृ० ३६१ पं० १९।

पृ० २७९ पं० ८ **अवरणाद्यात्मकं शोपादिप्रसादाद्यात्मकं**। अत्र भा०प्रतौ य०प्रतौ च 'अवरणात्मकं शोपादिप्रसादाद्यात्मकं' इति पाठ.। एवं च 'अवरणात्मकशोपादिप्रसादाद्यात्मक' इति प्रत्यनुसारी पाठोऽप्यत्र समीचीनो भाति।

पृ० २८३ पं० ७ **नाऽनाकाशादिर्वा**। अत्र य०प्रतौ 'नानाकाशादिर्वा' इति पाठ। शब्दाकाशस्य भेदात् 'नाकाशादिर्वा' इति भा०प्रतिपाठ एव आदरणीयो भाति।

पृ० २८६ पं० १–२ **स्यान्मतम् उक्तत्वात्**। 'स्यान्मतम्–प्रकर्षेण काशनं प्रकाशनम्, सत्त्वानुग्रहात् तद्रूपव्यक्ति प्रकर्षेण काशनम्, रजोनुग्रहात् प्रवृत्तिवत्। तत्रापि सत्त्वस्यापि तमोवदपरिसमाप्तरूपत्वात् नियामकाभावस्य चापर्याप्तत्वेनोक्तत्वात्।' इत्यपि मूलमत्र सम्भवेत्। दृश्यतां टिप्पृ० ८२ पं० ३–५।

पृ० २८८ पं० २९ **रवाच्या। तत्साधन°**। '°रवाच्या। एतत्साधन°' इति प्रत्यनुसारी पाठ एवात्रादरणीय।

पृ० २९५ पं० ५ **°वृत्तिता**। अत्र '**वृत्तितेति**' इति पठनीयम्।

पृ० २९५ पं० २७ **सत्त्वसत्त्वस्यैव**। अत्र '**सत्त्वस्य सत्त्वस्यैव**' इति य०प्रतिपाठ सम्यगेव।

पृ० २९६ पं० १ **सतो हि भावः सत्त्वम्। रजःसत्त्वेन**। अत्र '**सतो हि भावः सत्त्वं प्रवृत्तिनियमानपेक्षेण सत्त्वसत्त्वेन। एवं रजःसत्त्वेन**' इति मूलं वोध्यम्।

पृ० २९६ पं० ५,२५ **अत्थित्तं**। 'अस्तित्वमस्तित्वे परिणमति' इत्यर्थः।

---

१ "**संघातपरार्थत्वात्**। इह सघाता परार्था दृष्टा, तद्यथा–शयनासनरथचरणादय। अस्ति चाय शरीरलक्षण सघात, तस्मादनेनापि परार्थेन भवितव्यम्। योऽसौ पर स पुरुष। तस्मादस्ति पुरुष। [पृ० ९३] · **त्रिगुणादिविपर्ययात्**। त्रिगुणमविवेकि विषय सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि च वाह्याध्यात्मिकं तथा प्रधानम्। तत्र यद्येतावदेतत् स्यात्, किमपेक्ष्य व्यक्ताव्यक्तयोस्त्रैगुण्यादि ? किञ्चान्यत्, **अधिष्ठानात्**। इहाकस्मिक्या प्रधानप्रवृत्तावर्थवश सन्निवेशविशेषनियमो न स्यात्। · तस्मादस्ति तद्व्यतिरिक्तो यदधिष्ठितानां गुणानामयं चित्ररूपो विपरिणाम। · **पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्**। इह सुखदु खमोहात्मकत्वादचेतनं व्यक्तमव्यक्त च। तस्मादस्य परस्परेण भोगो नोपपद्यते इत्यवश्यं भोक्त्रा भवितव्यम्। योऽसौ भोक्ता स पुरुष। [पृ० ९४]· **कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च**। इह प्रवृत्तिमता निमित्तमन्तरेण निवृत्तिर्नोपपद्यते। प्रधानमपि च प्रवृत्तिमत्, व्यक्तदर्शनात्। तस्माद् यस्य कैवल्य प्रधानप्रवृत्तिहेतु स पुरुष।"–**सांख्यकारिकायुक्तिदीपिका** पृ० ९३–९७। २ "**से** नूणमित्यादि। अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइत्ति, **अस्तित्व**मङ्गुल्यादेरङ्गुल्यादिभावेन सत्त्वम्। तच्चेह ऋजुत्वादिपर्यायरूपमवसेयम्, अङ्गुल्यादिद्रव्यास्तित्वस्य कथञ्चिदृजुत्वादिपर्यायाव्यतिरिक्तत्वात्। **अस्तित्वे** अङ्गुल्यादेरेवाङ्गुल्यादिभावेन सत्त्वे वक्रत्वादिपर्याये इत्यर्थ, **परिणमति** तथा भवति। इदमुक्त भवति–द्रव्यस्य प्रकारान्तरेण सत्ता प्रकारान्तरसत्तायां वर्तते, यथा मृद्द्रव्यस्य पिण्डप्रकारेण सत्ता घटप्रकारसत्तायामिति। नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइत्ति, **नास्तित्व**मङ्गुल्यादेरङ्गुष्ठादिभावेनासत्त्वम्, तच्चाङ्गुष्ठादिभाव एव। ततश्चाङ्गुल्यादेर्नास्तित्वमङ्गुष्ठाद्यस्तित्वरूपमङ्गुल्यादे**र्नास्तित्वे** अङ्गुष्ठादे पर्यायान्तरेणास्तित्वरूपे परिणमति। यथा मृदो नास्तित्व तन्त्वादिरूपं मृन्नास्तित्वरूपे पटे इति। अथवा अस्तित्वमिति धर्मधर्मिणोरभेदात् सद्

पृ० २९६ प० ९ **सत्त्वसत्त्व** । य०प्रतिस्थ 'सत्त्व सत्त्व' इत्यपि पाठोऽत्र समीचीन । दृश्यता पृ० २९५ प० २६ ।

पृ० २९७ प० १८ **एव समापितप्रसङ्ग** । 'एवमेवसमापितप्रसङ्ग' इत्यपि पाठोऽत्र प्रत्यनुसारेण स्यात् ।

पृ० २९८ प० ७-११ **ननूक्तम वयमीत एव, अत्राह- गुरुप्रकाशको दृष्ट** । अत्र 'न वयमाते इति सतम्यन्तो निर्देशो भाति । "अत्राह—कथ पुन [पृ० २९८ प० ७] कार्यकारणात्मकानाम्' [पृ० २९८ प ११] इति पाठ कुतश्चित् सांख्यग्रन्थाद् [वार्षगणतन्त्रात्] अत्र नयचक्रवृत्तिकृद्भिरुद्धृत इति भाति । अन्वयमीत प्रयोग पृ० ३०१ प० ७, पृ० ३१४ प० ७, पृ० १२ प० १७ इत्यत्र च द्रष्टव्य ।

पृ० २९९ प० १-२ **एतेनाध्यात्मिकाना कार्यकारणात्मकाना भेदानाम्** । पाठोऽय मूले न ग्राह्य । दृश्यता टिपृ० ८३ प० ४-५ ।

पृ० २९९ प० ३४-३५ **एतेन समन्वयदर्शनात्** । इद मूले न ग्राह्यम्, दृश्यता टिपृ० ८३ प० ४-५ ७ ।

पृ० ३०० प० १४ **दृष्ट** । अत्र 'दृष्ट' इति युक्त भाति ।

पृ० ३०१ प० ७-९ **अस्ति प्रधान चन्द्रशकलादिवत्** । दृश्यता पृ० २६५-२६६ पृ० २१४ प० ७ पृ १२ प १७ ।

पृ० ३०१ प० ९ **तदात्मकानि** । अत्र य०प्रत्यनुसारी 'तदारब्धानि' इति पाठ एव समीचीनो भाति ।

पृ० ३०२ प० ९ **रातीति** । "रा दाने । -पा० धा० अदादि ।

वस्तु अस्तित्वे सत्त्वे परिणमति सत् सदेव भवति नात्यन्त विनाशि स्यात् विनाशस्य पर्यायान्तरगमनमात्ररूपत्वात् दीपादि विनाशस्यापि तमिस्रादिरूपतया परिणामात् । तथा नास्तित्वमत्यन्ताभावरूप यत् खरविषाणादि तद् नास्तित्वेऽत्यन्ताभाव एव वर्तते । नात्यन्तमसत सत्त्वमस्ति खरविषाणस्येवेति । उक्त च- नासतो जायते भावो नाभावो जायते सत । अथवा अस्तित्वमिति धर्म्यभेदात् सदस्तित्वे सत्त्वे वर्तते यथा पट पटत्वे एव । नास्तित्व चेह नास्तित्वेऽसत्त्वे वर्तते यथा अपटोऽपटत्वे एवेति । इति अभयदेवसूरिरचितायां भगवतीसूत्रवृत्तौ १।३।३२ ।

[१] पीडऽतस्मणि [पा०धा दिवादि०] इति धातोर्ण्यन्तस्य रूपमिदम् । समापितप्रसङ्ग इति भाव ।
[२] अत्राह—न खलु सत्त्वरजस्तमांसि जात्यन्तराणि कुत ? स्वभावेष्ववस्थानात् । तत्त्वमवस्थितस्वभावत्वादेक सत्त्वरजस्तमांसि । अत्रोच्यते—जात्यन्तरममूनि त्रीणि लक्षणपृथक्त्वव्यवस्थानात् । कथमिति चेत् तदुच्यते—**सत्त्व लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भक चल च रज । गुरु वरणकमेव तम प्रदीपवच्चार्थतो वृत्ति ॥** [सांख्यका० १३] अत्र यत् पूर्वस्यामार्यायामभिहित सत्त्व तल्लघुत्वलक्षण प्रकाशकलक्षण च । यदा सत्त्वमुत्कट भवति देवदत्ते तदा लघून्यङ्गानि निर्मलानीन्द्रियाणि स्वविषयग्रहणसमर्थानि भवन्ति । तदा मन्तव्यमद्य मे सत्त्वमुत्कर्षेण वर्तते इष्ट च स्वरूप साधनहेतुत्वात् । उपष्टम्भक चल च रज । उपष्टम्भक प्रेरकमुत्साहकमित्यर्थ यथा मत्तवृषो वृष दृष्ट्वा उद्धतो भवति तद्वत् अथवा गर्वं चल(रुद्ध)मित्येतदर्थ । एव यस्मिन् देवदत्ते यज्ञदत्ते वा रज उत्कट भवति स कलह मृगयते । विज्ञायत् चलचित्तश्च भवति—ग्राम गच्छामि स्त्रिय कामये तप करोमीत्यादि । एव नित्यमुत्सुकमना भवति । एतद् रजोलक्षणम् । तम आह—गुरु वरणकमेव तम । यद् गुरुत्वमावरणत्व चास्ति तत्तम । यदा गुरूण्यङ्गानि भवन्ति इन्द्रियाण्यावृतानि स्वविषयग्रहणासमर्थानि भवन्ति तदा मन्तव्यमेतत् तम उत्कर्षेण वर्तत इति । तस्माज्जात्यन्तराण्येव सत्त्वरजस्तमांसि । प्रदीपवत् **अर्थत** कार्यवशात् परस्परविरुद्धानामप्यमीषा वृत्तिर्दृष्टा यथा तैलाग्निवर्तिकासंयोगात् परस्परविरुद्धा अपि पदार्था सहत्य एककार्य प्रकाशरूप निष्पादयन्ति एव गुणा अपि परस्परविरुद्धा सहत्य पुरुषार्थं कुर्वन्ति । -सांख्यकारिकामाठरवृत्ति ।

---

1 'यत् किञ्चित् कार्ये करणे लघु प्रकाशक च तत् सत्त्वरूपमिति प्रत्यवगन्तव्यम् । तत्र कार्यस्य तावदुद्गमनहेतुधर्मो लघुत्वम्, करणस्य वृत्तिपटुत्वहेतु । प्रकाशस्तु पृथिवीधर्मस्य छायालक्षणस्य तमसस्तिरस्कारेण द्रव्यान्तरप्रकाशनम् करणस्यापि ग्रहणसंकल्पाभिमानाध्यवसायेषु यथास्व प्रवर्तनम् । य कश्चिदुपस्तम्भश्चलना चोपलभ्यते तद् रजोरूपमित्यवगन्तव्यम् । तत्रोपस्तम्भ प्रयत्न, चलना क्रिया । यत् किञ्चिद् गौरव वरण चोपलभ्यते तत् तमोरूपमिति प्रत्यवगन्तव्यम् । तत्र गुरुत्व कार्यस्याधोगमनहेतुधर्म, करणस्य वृत्तिमन्दता । वरणमपि कार्यगत च द्रव्यान्तरतिरोधानम्, करणगत चाशुद्धि प्रकाशप्रतिबन्धभूता । एषा नानात्व मवसीयते ।'—सांख्यकारिकायुक्तिदीपिकावृत्ति पृ० ७०-७१ ।

पृ० ३०३ पं० ४. १६ **गुणसन्द्रावो** ·। दृश्यतां टिपृ० १६ पं० ३५ ।

पृ० ३०३ पं० २९. **पंचपलसइया तुला** । प्राय सर्वासु प्राचीनासु अनुयोगद्वारसूत्रप्रतिषु ‘पंचुत्तरपलसतिया तुला’ इति पाठ उपलभ्यते । ‘पंचपलसइया’ इति पाठस्यापि ‘पञ्चाधिकपलशतिका’ इत्यर्थ उचितो भाति ।

पृ० ३०४ पं० २,१३ **यथाहेत्वैकान्तिकत्वप्रयुक्तलक्षणवैलक्षण्यविशेषणपक्षविरचनया** ·। दृश्यतां पृ० ३०५ पं० ९ । लक्षणवैलक्षण्य गुरुत्वादि विशेषण यस्मिन् पक्षे साध्यनिर्देशे स तथा, तद्विरचनयेत्यर्थ. । ‘सुखं मोहाद् गुरोरन्यत्’ [पृ० ३०० पं० १] इत्यादिषु मोहादे. गुरुत्वादिना लक्षणवैलक्षण्येन विशेषितत्वादेवमभिहितमत्रेति ध्येयम् ।

पृ० ३०४ पं० ३,१३ **विपर्यसनीयाः** । दृश्यता टिपृ० ११ पं० २० ।

पृ० ३०४ पं० ५ **प्रवृत्ति** । अत्र ‘अप्रवृत्ति · ’ इति शुद्धम् । **मुक्त्वापि**···। दृश्यतां टिपृ० ८४ पं० ४-६ ।

पृ० ३०४ पं० २७ **शरीरेन्द्रिय**·· । दृश्यतां पृ० ३०० पं० २ ।

पृ० ३०५ पं० ११,१२. **मुक्त्वापि** · । दृश्यतां टिपृ० ८४ पं० ४-६ ।

पृ० ३०५ पं० २०. **विरुद्धाव्यभिचारि**···। “अनैकान्तिक. षट्प्रकार —साधारण १, असाधारण २, सपक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापी ३, विपक्षैकदेशवृत्ति. सपक्षव्यापी ४, उभयपक्षैकदेशवृत्ति· ५, विरुद्धाव्यभिचारी चेति ६ । तत्र साधारण —शब्द प्रमेयत्वान्नित्य इति । असाधारणः—श्रावणत्वान्नित्य इति । तद्धि नित्यानित्यपक्षाभ्यां व्यावृत्तत्वाद् नित्यानित्यविनिर्मुक्तस्य चान्यस्यासम्भवात संशयहेतु·—किंभूतस्यास्य श्रावणत्वमिति । विरुद्धाव्यभिचारी यथा—अनित्यः शब्द. कृतकत्वाद् घटवत्, नित्य. शब्द श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति । उभयोः संशयहेतुत्वाद् द्वावप्येतावेकोऽनैकान्तिक. समुदितावेव ।”—न्यायप्रवेशक पृ० ३-५ । प्रमाणसमुच्चयेऽपि परार्थानुमानपरिच्छेदे **दिङ्नागेन** निरूपितोऽय विरुद्धाव्यभिचारी । “विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्त. । स इह नोक्त, अनुमानविषये तस्यासम्भवात् । न हि सम्भवोऽस्ति कार्यस्वभावयोरुक्तलक्षणयोरनुपलम्भस्य वा विरुद्धताया. । न चान्योऽव्यभिचारी । तस्मादवस्तुदर्शनबलप्रवृत्तमागमाश्रयमनुमानमाश्रित्य तदर्थविचारेषु विरुद्धाव्यभिचारी साधनदोष उक्त· । · ” इति प्रमाणविनिश्चये, पृ० २२४ Choni edition । प्राय ईदृश एव पाठो न्यायबिन्दावपि दृश्यते ३।११०-१४ । “स्वलक्षणयुक्तयोर्हेत्वोरेकत्र धर्मिणि विरोधेनोपनिपाते सति विरुद्धाव्यभिचारी ।”—हेतुबिन्दु पृ० ७० ।

---

१ “अधिकृतहेत्वनुमेयविरुद्धार्थसाधको विरुद्ध । विरुद्धं न व्यभिचरतीति विरुद्धाव्यभिचारी । उपन्यस्त सन् तथाविधार्थानिराकृते प्रतियोगिन न व्यभिचरतीति भाव । अन्ये तु विरुद्धश्चासाव्यभिचारी च विरुद्धाव्यभिचारीति व्याचक्षते । इद पुनरयुक्तमेव विरोधादनेकान्तवादापत्तेश्च । उदाहरणमाह—यथा अनित्य शब्द कृतकत्वाद् घटवदिति वैशेषिकेणोक्ते **मी**मांसक आह—नित्य शब्द श्रावणत्वात् शब्दत्ववत् । एकत्र धर्मिणि कृतकत्व श्रावणत्वाख्यौ हेतू सन्देहं कुरुत —किं कृतकत्वाद् घटवदनित्य आहोस्विच्छ्रावणत्वाच्छब्दत्ववन्नित्य इति ।· · किं समस्तयो सन्देहहेतुत्वम् उत व्यस्तयो ? यदि समस्तयो सन्देहहेतुत्वं तदा असाधारणान्न भिद्यते, यत श्रावणत्व चासाधारणत्वेनोक्तम् । अथ व्यस्तयो , तदपि न, व्यस्तयो सम्यग्घेतुत्वात् । अत्रोच्यते समस्तयोरेव संशयहेतुत्वम् । ननूक्तम्—असाधारणान्न भिद्यते । तन्न, यतो भिद्यत एव, परस्परसापेक्षो विरुद्धाव्यभिचारी चेति । एकोऽसहायोऽसाधारण । स चानेनांशेनाचार्येण भिन्न उपात्त इति । तस्माददोष । उक्तं च मूलग्रन्थे—‘द्वावप्येतावेकोऽनैकान्तिक समुदितावेव’ । अनुद्भाविते तु तदभाव इति ।” इति हरिभद्रसूरिरचिताया **न्यायप्रवेशकवृत्तौ** पृ० २६-२७ । २ दृश्यता टिपृ० ८५ पं० ४ । प्रमाणविनिश्चयस्य संस्कृतभाषायामिदानीमनुपलब्धे **भोटभाषानु**वादमवलम्ब्य इदमस्माभिर्लिखितमिति ध्येयम् ।

---

1 पार्श्वदेवरचिताया **न्यायप्रवेशकवृत्तिपञ्जिकायामस्य** व्याख्यान विलोकनीयम् । 2 “विरुद्धार्थसाधनाद् विरुद्धौ च तावव्यभिचारिणौ चेति विरुद्धाव्यभिचारिणौ अवयवधर्मेण समुदाये निर्देशाद् ‘विरुद्धाव्यभिचारी’ इत्युच्यते । अथवा विरुद्धयोरव्यभिचार , सोऽत्रास्तीति विरुद्धाव्यभिचारी । स विरुद्धैकार्थासम्भवात् संशयहेतु ।” इति प्रमाणसमुच्चयस्य जिनेन्द्रबुद्धिरचिताया ‘विशालामलवती’टीकायाम्, पृ० १६८ B-१६९ A Derge edition । संस्कृतेऽस्या अनुपलम्भादस्या भोटभाषानुवाद. संस्कृते परिवर्त्यात्रास्माभिर्लिखित । “हेत्वन्तरसाधितस्य विरुद्ध यत् तन्न व्यभिचरतीति विरुद्धाव्यभिचारी । यदि वा विरुद्धश्चासौ साधनान्तरसिद्धस्य धर्मस्य विरुद्धसाधनात् अव्यभिचारी च स्वसाध्याव्यभिचाराद् विरुद्धाव्यभिचारी ।” इति **धर्मोत्तररचितायां न्यायबिन्दुटीकायाम्** ३।११० ।

पृ० ३०६ प० १,९,२१ प्रत्यक्षागमबलीयस्त्वात् । "यदि संशयहेतुः, कुतोऽत्र निश्चय उत्पद्यत इति चेत्, अत्र चेत्याह । 'अत्र शब्देन विरुद्धाव्यभिचारविषयमात्रमिष्यते न तु संशयः । प्रत्यक्षेण अविसंवादी आगमः प्रत्यक्षागमः सामर्थ्योपात्तमाकाशादिवत्, अनुमानादिकं च । 'प्रत्यक्षवचनं प्रमाणोपलक्षणम्, प्रमाणाविसंवाद्यागमबलीयस्त्वादित्यर्थः । इत्युक्तं भवति–आगमसिद्धं लिङ्गमविकृत्य विरुद्धाव्यभिचारी उक्तः । स एतेन च आगमो बलीयानभ्युपगम्यते । बलीयांश्च स प्रमाणतानुग्रहात् भवति । तस्मात् ततः प्रमाणाद् निश्चयोऽन्विष्यते । तदुक्तेन गुणभूतमपि प्रमाणमभिसम्बध्यते । अथवा तत एव प्रमाणाविसंवाद्यागमाद् निश्चयोऽन्विष्यते । तयोस्तथापि 'प्रमाणादत्र निश्चयोऽन्विष्यते' इत्ययमुक्तं भवति।" इति प्रमाणसमुच्चयस्य जिनेन्द्रबुद्धिविरचितायां 'विशालामलवती टीकायाम्' परि० ३ पृ० १७२ A Derge edition

पृ० ३०६ प० २,९,११,२१ अन्विष्यते । अत्र प्रतिषु 'अन्वेष्यते' इति पाठः स्वीकार्यः ।

पृ० ३०६ प० १०–११ प्रत्यक्षीकृतार्थनागमेन बलीयान् प्रैत्यफलसत्त्वादिना, प्रत्यक्षेण , प्रत्यक्षेणैव व्याख्यायिकल्पेषु । क्रमशात्र अयो व्याख्याविकल्पा निर्दिष्टा इति भाति।

पृ० ३०६ प० १९ यदा शब्दत्व । अत्र 'यदा तर्हि शब्दत्वं नित्यमभ्युपैति तदायं हेतुरेव स्यात् यद्यत्र अनित्यत्वहेतुम् [अपि ?] कृतकत्वादि कश्चिन्न दर्शयेत् । उभयोपलम्भात् विरुद्धैकार्थसम्भवात् संशयहेतुः । इत्येवं पाठः प्रमाणसमुच्चयवृत्तौ तृतीये परार्थानुमानपरिच्छेदे ।

---

१ द्रष्टव्यं टिप्पृ० ८४ प० १८। २ अन्वेष्यते इत्य । एषृ गतौ [पा० धा० भ्वादि०] । इषि [पा० धा० दिवादि०] इच्छायां वा । –अमरकोषसुधा ३।१।१०५। ३ द्रष्टव्यं टिप्पृ० ८५ प० २। ४ 'यदा तर्हीत्यादि । असमसाधारणत्वात् संशयहेतुरित्युक्तम् । यदा शब्दत्वश्रावणत्वे नित्ये अभ्युपगच्छति तदा कुतोऽस्य संशयहेतुभूतमसाधारणत्वम् । कथम् ? तदाऽयं सिद्धः । अनुभयात्मिकत्वस्याभावसाधारणत्वात् संशयहेतुत्वमुक्तम् । यदा शब्दत्वमपि श्रावणमभ्युपगच्छति तदाऽयमनुभयात्मकः स्यात् न चायं तदा असाधारण इष्यते । तस्मात् तदाऽयं हेतुरेव स्यात् अनित्याद् व्यावृत्तत्वात् तद्व्यवच्छेदेन नित्यगमकत्वाच्च । यद्यत्र अनित्यत्वहेतुमपि वैशेषिको न दर्शयेत् तदा हेतुत्वमपि स्यादिति सम्बन्धः । विरुद्धैकार्थासम्भवादिति विरुद्धयोर्नित्यानित्यत्वयोरेकस्मिन् धर्मिण्यसम्भवात् । विरुद्धत्वं च तयोः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणत्वात् । विरुद्धयोरन्यायोऽसम्भवादिति अन्ये । अनको हि विरुद्धः सम्भवति । यथा आकाशं नित्यमनित्यमिति एकत्र नास्ति । तस्मात् संशयः स्यात् विरुद्धार्थाभिधायिकथनद्वयवत् । इति जिनेन्द्रबुद्धिविरचितायां प्रमाणसमुच्चयटीकायाम् पृ० १७१ B–१७२ A Derge edition 'यथाह–यदा तर्हि शब्दत्वं नित्यमभ्युपगच्छति तदायं हेतुरेव स्यात्, यद्यत्रानित्यत्वहेतुं कृतकत्वादिं कश्चिद् न दर्शयेत् [प्र० समु० वृ०] इति । इदमत्र [illegible] तरे [illegible] शक्येत । पुरुषप्रतिभाकृतं न साधनत्वं भवति । तद् वस्तुतो न किञ्चित् साधनमसाधनं वा । –हेतुबिन्दुटीका पृ० ९५ B Choni edition 'ननु श्रावणत्वनित्यत्वे इति पक्षद्वयेऽनैकान्तिक उक्तः न चेदं युक्तम् [illegible] विरुद्धाव्यभिचारिणश्चापरस्याप्यनैकान्तिकत्वात् । न अभिप्रायापरिज्ञानात् । असंदिग्धोऽनैकान्तिक इति वक्तव्यः । [illegible] विरुद्धाव्यभिचारिणोरपीदमेव लक्षणमिति तयोरप्यनैकान्तिकस्य न निराधेयम् । [illegible] व्यभिचारित्व [illegible] स्यात्, अनुप[स]हारेऽपि न दोषः । तथा चाह–यदा तर्हि शब्दत्वं नित्यमभ्युपैति तदायं हेतुरेव स्यात् । आचार्य आह–स्याद् एतत् यद्यत्र कृतकत्वमपि कश्चिदनित्यत्वे हेतुं न ब्रूयात् । उभयं तु समस्तमुपलभ्य [illegible] । तस्माद् [illegible] । तस्मात् पराभ्युपगमेन विरुद्धाव्यभिचारी नान्यथेत्याचार्यस्याभिप्रायोऽवगन्तव्यः 'यदा तर्हि शब्दत्वं नित्यमभ्युपैति' इति वचनात् । –प्रमाणवार्तिकस्ववृत्ति टीका पृ० ९४६–७।

---

1 [illegible] विरुद्धाव्यभिचारी इति पर [illegible]–यथाह दिङ्नागाचार्य । [illegible] यदा तर्हीत्यादि । '[illegible] न कश्चित् [illegible] इति दिङ्नागाचार्येण [illegible] –यदा तर्हि वैशेषिकः शब्दत्वं नित्यमभ्युपगच्छति तदायं [illegible] हेतुरेव स्यात् [illegible] इति । [illegible] –यद्यत्र [illegible] अनित्यत्वहेतुं कृतकत्वादि [illegible] कश्चिद् [illegible] न दर्शयेत् [illegible] इति ।' इति धर्मोत्तरकृतायां हेतुबिन्दुटीकायां पृ० २१८। 2 [illegible] हेतुबिन्दौ [पृ० ७१] [illegible] पाठ इति प्रतिभाति । 3 द्रष्टव्यं टिप्पृ० ७१ प० १।

पृ० ३०७ पं० ५,१४ **किं त्वान्मात्रादेव** । 'प्रमादाद्यनात्मकत्वात्' इत्यादिहेतुषु 'त्वात्' इति पञ्चम्यन्तशब्द-प्रयोगमात्राद् न परिवर्तनमित्याशय. । "तस्य भावस्त्वतलौ" [पा० ५।१।११९] इति सूत्रेण भावे 'त्व'प्रत्यय । अत्र मूले [पृ० ३०७ पं० ५] 'किं त्वान्मात्रादेव, त्रैलक्षण्यात्?' इत्यपि पाठ स्यात्, दृश्यता पृ० ३०९ पं० १३ ।

पृ० ३०८ पं० ४, २१,२२ **व्यपदेशिवद्भावं** । दृश्यतां टिप्पृ० १४ पं० २० ।

पृ० ३०८ पं० ५, १४ **धर्मधर्मिस्वरूपविरोधौ** । इमौ पक्षदोषौ[1] । अनयोश्च स्वरूपं प्रमाणसमुच्चयवृत्ति[३।२]-प्रमाणवार्तिकमनोरथनन्दिवृत्ति[४।१५१-१६३]प्रमाणवार्तिकालङ्कारा[४।१५१-१६३]दिभ्योऽवसेयम् ।

पृ० ३०८ पं० १२. **बहुव्रीहेरन्यपदार्थविषयत्वात्** । दृश्यतां टिप्पृ० ५७ पं० ११ ।

पृ० ३०८ पं० १३,१६. **कप्** । "उर.प्रभृतिभ्य कप् । इन स्त्रियाम् । नद्यृतश्च । शेषाद्विभाषा ।"–पा० ५।४।१५१–४ ।

पृ० ३०८ पं० १७ **तद्गुणसंविज्ञान** । "बहुव्रीहिसमास । अयं च तद्गुणसंविज्ञानोऽतद्गुणसंविज्ञानश्च भवति । तत्र तद्गुणसंविज्ञानो यथा 'लम्बकर्ण' इत्यादि । लम्बौ कर्णौ यस्यासौ लम्बकर्ण , लम्बकर्णत्व तस्यैव गुण । अतद्गुणसंविज्ञानस्तु यथा 'पर्वतादि क्षेत्रम्' इत्यादि । पर्वत आदिर्यस्य तत् पर्वतादि क्षेत्रम् । न पर्वत. क्षेत्रगुण , किं तर्हि ? उपलक्षण मात्रमिति भावना ।"–न्यायप्रवेशवृ० पृ० १३ ।

पृ० ३०९ पं० २४ **सुखादन्यस्य** । अत्र 'सुखादनन्यस्य' इति शुद्धं प्रतीयते ।

पृ० ३०९ पं० २६. **भवतीत्यशक्यं** । अत्र 'भवतीति शक्यं' इति सम्यग् भाति ।

पृ० ३११ पं० २४-२५. **लाघवगौरवे त्वपनीय · पञ्चषष्टिसहस्राणि पञ्च शतानि च षट्त्रिंशानि** । प्राग् [पृ० ३११ पं० २४] निर्दिष्टे सप्तत्यधिके साधनशते लघुत्व-गुरुत्वयोरन्तर्भूतत्वाद् 'लाघवगौरवे त्वपनीय' इत्युक्तमत्र । एव च अवशिष्टानां 'प्रसादात्, प्रसवात्, अभिष्वङ्गात्, उद्धर्षात्, प्रीते., शोषात्, तापात्, भेदात्, उपष्टम्भात्, उद्वेगात्, अपद्वेषात्, वरणात्, सदनात्, अपध्वसनात्, बैभत्स्यात्, दैन्यात्' इति षोडशानां धर्माणां प्रत्येकं द्विकादिसंयोगेन

---

१ हेतुदोषा अपि एतादृशा अन्ये सन्तीति ध्येयम्, तथाहि–"विरुद्धश्चतु प्रकार , तद्यथा–धर्मस्वरूपविपरीतसाधन धर्मविशेषविपरीतसाधन , धर्मिस्वरूपविपरीतसाधन , धर्मिविशेषविपरीतसाधनश्चेति । तत्र धर्मस्वरूपविपरीतसाधनो यथा–नित्य शब्द कृतकत्वात् प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद्वेति । अय हेतुर्विपक्षे एव भावाद् विरुद्ध । धर्मविशेषविपरीतसाधनो यथा–परार्थाश्च क्षुरादय , सघातत्वात्, शयनासनाद्यङ्गवदिति । अय हेतुर्यथा पारार्थ्यं चक्षुरादीना साधयति तथा सहतत्वमपि परस्यात्मन साधयति, उभयत्राव्यभिचारात् । धर्मिस्वरूपविपरीतसाधनो यथा–न द्रव्य न कर्म न गुणो भाव , एकद्रव्यवत्त्वाद् गुणकर्मसु च भावात्, सामान्यविशेषवदिति । अय हि हेतुर्यथा द्रव्यादिप्रतिषेध साधयति तथा भावस्याभावत्वमपि साधयति । उभयत्राव्यभिचारात् । धर्मिविशेषविपरीतसाधनो यथा–अयमेव हेतुरस्मिन्नेव पूर्वपक्षेऽस्यैव धर्मिणो यो विशेष सत्प्रत्ययकर्तृत्वं नाम तद्विपरीतमसत्प्रत्ययकर्तृत्वमपि साधयति उभयत्राव्यभिचारात् ।"–**न्यायप्रवेशक.** पृ० ५ । २ दृश्यता टिप्पृ० ७३ पं० १३ । ३ "तस्य बहुव्रीहेर्गुणा अवयवा आरम्भकविशेषा यैर्बहुव्रीहिरारभ्यते ते तद्गुणा, तेषा संविज्ञानं यत्र । यद्वा तस्य बहुव्रीहिवाच्यस्य गुणस्तद्गुण , तस्य संविज्ञानं यत्रेति स तथा । 'पर्वतादिकम्' इत्यत्र 'आदि'शब्द समीपार्थ ।"–**न्यायप्रवेशकवृत्तिपञ्जिका** पृ० ४२ ।

---

1 "धर्म पर्याय इत्यनर्थान्तरम्, तस्य स्वरूपमसाधारणमात्मलक्षण धर्मस्वरूपम्, तस्य विपरीतसाधन इति समास । एव शेषेष्वपि द्रष्टव्यमिति । अधुनोदाहरणमाह—यथा नित्य. शब्द कृतकत्वादित्यादि । अत्र धर्मस्वरूप नित्यत्वम् , अय च हेतुस्तद्विपरीतमनित्यत्व साधयति तेनैवाविनाभूतत्वात् । तथा चाह–विपक्ष एव भावाद् विरुद्ध । "–**न्यायप्रवेशकवृ०** पृ० २७ ।

च हेतुवत्र प्रयोगे सर्वसङ्ख्यया ६५५३६ हेतवो भवन्ति। सांयोगिकभङ्गसङ्ख्यानयनोपायः प्रवचनसारोद्धारवृत्त्यादौ विस्तरेण वर्णितः। तदनुसारेणात्र षोडश पदानि इत्थं स्थाप्यन्ते —

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
१६	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	८	७	६	५	४	३	२	१

अत्र च प्रवचनसारोद्धारवृत्त्यादिवर्णितप्रक्रियानुसारेण प्रत्येकं १६ भङ्गाः, द्विकसंयोगे १२०, त्रिकसंयोगे ५६०, चतुष्कसंयोगे १८२०, पञ्चकसंयोगे ४३६८, षट्कसंयोगे ८००८, सप्तकसंयोगे ११४४०, अष्टकसंयोगे १२८७०, नवकसंयोगे ११४४०, दशकसंयोगे ८००८, एकादशकसंयोगे ४३६८, द्वादशकसंयोगे १८२०, त्रयोदशकसंयोगे ५६०, चतुर्दशकसंयोगे १२०, पञ्चदशकसंयोगे १६, षोडशकसंयोगे १, इत्येवं सर्वसङ्ख्यया ६५५३५ भङ्गा भवन्ति। प्रवचनसारोद्धारवृत्त्यादिवर्णनानुसारेण एतन्मध्ये एकस्य प्रक्षेपेण षोडशानां हेतूनां ६५५३६ भङ्गा लभ्यन्ते। अतो 'हेत्वत्र पञ्चषष्टिसहस्राणि पञ्चशतानि च षट्त्रिंशानि' इत्यभिहितमत्र नयचक्रवृत्तिकृद्भिरिति ध्येयम्।

---

[1] इदानीं थंडिल्लाण चउवीसं उ सहस्सेत्ति द्वारमेकनवतितममाह — अणावायमसंलोए परस्साणुवघायए। समे अज्झुसिरे यावि अचिरकालकयम्मि य ॥ ७०९ ॥ विच्छिन्ने दूरमोगाढेऽनासन्ने बिलवज्जिए। तसपाणबीयरहिए उच्चाराईणि वोसिरे ॥ ७१० ॥ अनापातमसंलोकम् १ परस्यानौपघातिकम् २ समम् ३ अशुषिरम् ४ अचिरकालकृतम् ५ विस्तीर्णम् ६ दूरमवगाढम् ७ अनासन्नम् ८ बिलवर्जितम् ९ त्रसप्राणबीजरहितम् १० यत् स्थण्डिलं तत्र उच्चारादीनि पुरीषप्रस्रवणप्रभृतीनि व्युत्सृजेत्। [पृ० २०४] अमीषां चानन्तरोदितानां दशानां पदानामेकद्वित्रिचतुःपञ्चषट्सप्ताष्टनवदशकैः संयोगाः कर्तव्याः। तेषु च भङ्गाः सर्वसङ्ख्यया चतुर्विंशत्यधिकं सहस्रम्। अथ कस्मिन् संयोगे कियन्तो भङ्गका [2] उच्यन्ते इह भङ्गानामानयनार्थमियं करणगाथा — 'उभयमुह रासिदुगं हेट्ठिल्लाणंतरेण भय पढमं। लद्धऽहरासिविभत्ते तस्सुवरि गुणित्तु संजोगा ॥' [पञ्चवस्तु ॥ ४०३ ॥] अस्या अक्षरगमनिका — इह दशानां पदानां द्व्यादिसंयोगभङ्गा आनेतुमभिप्रेताः ततस्तावत्प्रमाणौ द्वौ राशी उभयमुखौ स्थाप्येते। किमुक्तं भवति [2] एककादीन् दशकपर्यन्तानङ्कान् पूर्वानुपूर्व्या उपरि स्थापयित्वा तेषामधस्तात् पश्चानुपूर्व्या भूय एककादयो दशकपर्यन्ता अङ्काः स्थापनीयाः। स्थापना चेयम् —

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१०	९	८	७	६	५	४	३	२	१

अत्राधस्तनराशिपर्यन्तवर्तिन एककस्योपरि यो दशकस्तेन एककसंयोगे दश भङ्गा द्रष्टव्याः। न च तत्र करणगाथाया व्यापारः द्व्यादिसंयोगभङ्गानयनायैव तस्याः प्रवृत्तत्वात्। ततोऽधस्तनराशिपर्यन्तवर्तिन एककस्यानन्तरेण द्विकलक्षणेनोपरितनराशौ पश्चानुपूर्व्या प्रथममङ्कं दशकरूपं भजेत्, तस्य भागाहारं कुर्यात्। ततो लब्धाः पञ्च। यतो दश द्विधा विभक्ताः पञ्चैव भवन्ति। लद्धऽहरासिविभत्ते त्ति अधोराशिना द्विकलक्षणेनोपरितने प्रथमे अङ्के दशकलक्षणे विभक्ते सति लब्धेन अङ्केन पञ्चकेन तस्य द्विकलक्षणस्योपरितनमङ्कं नवकलक्षणं गुणयेत्, ताडयेत्, जाताः पञ्चचत्वारिंशत्। इत्थं च गुणयित्वा संयोगाः संयोगभङ्गा वाच्याः, यथा द्विकसंयोगे भङ्गाः पञ्चचत्वारिंशदिति। ततो भूयोऽपि त्रिकसंयोगभङ्गानयनाय प्रथमपाददर्शिता करणगाथा व्यापार्यते, यथा — अधस्तनराशिस्थितेन द्विकादनन्तरेण त्रिकेणोपरितनराशिव्यवस्थितं त्रिकोपरितनाष्टकरूपाङ्कापेक्षया आद्यं पञ्चचत्वारिंशल्लक्षणमङ्कं भजेत्, ततो लब्धाः पञ्चदश। यतः पञ्चचत्वारिंशत् त्रिधा विभक्ता पञ्चदशैव भवति। तैश्चाधोराशिना उपरितनेऽङ्के विभक्ते लब्धैः पञ्चदशभिस्त्रिकलक्षणस्याङ्कस्योपरितनमष्टकलक्षणमङ्कं गुणयेत्। गुणिते च सति जातं विंशत्युत्तरं शतम्। एतावन्तस्त्रिकसंयोगे भङ्गाः। एवं चैककसंयोगे १० दश भङ्गाः, द्विकसंयोगे ४५ पञ्चचत्वारिंशत्, त्रिकसंयोगे १२० विंशं शतम्, चतुष्कसंयोगे २१० द्वे शते दशोत्तरे, पञ्चकसंयोगे २५२ द्वे शते द्विपञ्चाशदधिके, षट्कसंयोगे २१० द्वे शते दशोत्तरे, सप्तकसंयोगे १२० विंशं शतम्, अष्टकसंयोगे ४५ पञ्चचत्वारिंशत्, नवकसंयोगे १० दश, दशकसंयोगे १ एकः। सर्वेषां च मीलने त्रयोविंशत्युत्तरं सहस्रं द्विकभङ्गानां भवति। चतुर्विंशस्तु शुद्धो भङ्गो यद्यपि करणेन नागच्छति तथाप्येतन्मध्ये स प्रक्षिप्य भङ्गसङ्ख्या पूरणीया, यतः सर्वभङ्गप्रस्तारे सर्वेष्वपि पदेषु शुद्धभङ्गस्यागतिः। उक्तं च [पञ्चवस्तुग्रन्थे] — दस पणयाल सिओत्तरसयं च दो सय दसुत्तरा दो य। बावन्न दो दसुत्तर सिउत्तरं पचत्ता य ॥ ४०४ ॥ दस एगो य कमेणं भंगा एगाइचारणाए उ। सुद्धेण समं मिलिया भंगसहस्सं चउव्वीसं ॥ ४०५ ॥ इति प्रवचनसारोद्धारवृत्तौ पृ० २०४, २०६-२०७।

पृ० ३१२ पं० ६ त्रिलक्षणतां । दृश्यतां टिपृ० ११ पं० ३४ ।

पृ० ३१२ पं० १३. आत्मनोऽपरिहारेण । अत्र आत्मपरिहारेण इति भा०प्रतौ य०प्रतौ [श्रीयशोविजयोपाध्यायैर्लिखितायां प्रतौ] च पाठः । स एव च समीचीन आदरणीयश्च ।

पृ० ३१२ पं० १४. °कत्वादभिन्न° । भा०प्रतिस्थ °कत्वादिभिन्न° इति पाठोऽत्र समीचीनतरो भाति । (°कमत्वादिभिन्न° ?) ।

पृ० ३१२ पं० १७. परस्परमुपकुर्वन्ति · । दृश्यतां पृ० २८८ पं० १, पृ० ३१८ पं० ८ ।

पृ० ३१२ पं० १६-१७ सुखादित्र्यात्मकत्वं न · अन्यत्वोक्तेश्चेति । 'सुखादित्र्यात्मकत्वं न, घटादावेकस्मिन्नेव चेति त्वयैवाभ्युपगतत्वात् । ऐक्यं न, अन्यत्वोक्तेश्चेति' इति योजना अत्र ज्ञेया ।

पृ० ३१३ पं० १ व्यवहारसम्प्रसिद्ध । (व्यवहारसम्प्रसिद्धेः · ?) । दृश्यतां पृ० ३२१ पं० ४ ।

पृ० ३१३ पं० २ °विघटनमेव । अत्र "°विघटनमेव । तस्मात् सर्वसर्वात्मकत्वपरिग्रहो न्याय्यः ।' इत्यपि मूलं स्यात् । दृश्यतां पृ० ३२४ पं० १२ ।

पृ० ३१३ पं० ७-८. °सम्प्रसिद्धेत्यादि । (°सम्प्रसिद्धेरित्यादि ?) । दृश्यतां पृ० ३२१ पं० ४ ।

पृ० ३१३ पं० ९. प्रागनुमानं · । अत्र वक्ष्यमाणं सर्वमपि सांख्यमतं वार्षगणतन्त्रानुसारेणाभिहितं भाति, दृश्यतां पृ० ३२८ पं० ११ । तथा च वार्षगणे तन्त्रे पूर्वं सप्रभेदमनुमानं व्याख्याय अनन्तरं 'तेषां यदेतत् · ' इत्यादि तत्राभिहितं भाति । तदनुसारेणात्र नयचक्रवृत्तिकृतापि तथा अभिहितमिति भाति । सम्प्रति तु वार्षगणतन्त्रं नोपलभ्यत इति ध्येयम् ।

पृ० ३१३ पं० १० वीत इति । अत्र 'वीत [आवीत] इति' इति पठितव्यम् ।

पृ० ३१४ पं० १३-१४ शकलकपालामत्रभूषण · । दृश्यतां टिपृ० ७६ पं० ३१ ।

पृ० ३१८ पं० ८. शब्दाद्यात्मना । अत्र 'शब्दात्मना' इति सम्यक् । दृश्यतां पृ० २८८ पं० २, पृ० ३२७ पं० २० ।

पृ० ३२१ पं० ८ द्वितीयस्य शिरसो··· । "ननु प्रत्यक्षेण योऽर्थो नोपलभ्यते स सर्वथा नास्तीति मतं भगवच्छते, यथा द्वितीयमनीश्वरशिर, तृतीयो बाहु, शशविषाणादयो वा । एव प्रधानपुरुषौ नोपलभ्येते तस्मात्तावपि न स्त ।"–साख्यकारिकामाठरवृत्ति पृ० १४ ।

पृ० ३२१ पं० १०. यदि व्यक्तस्या । "यदि चासत् कार्यं स्यात् तदा सर्वं सर्वत सम्भवेत, ततश्च तृणपांसुवालुकादिभ्यो रजतसुवर्णमणिमुक्ताप्रवालादयो जायेरन् ।" – साख्यकारिकामाठरवृत्ति पृ० १७ ।

पृ० ३२१ पं० ४. °प्रसिद्धेरित्यादि । (°प्रसिद्धेत्यादि ???) । दृश्यतां पृ० ३१३ पं० ७ । टिपृ० ८८ पं० ९,१२ ।

पृ० ३२१ पं० ११. कस्मात् ? अभावक्रिया गुरुकार्या भावक्रिया लघ्वीति । (कस्मात ? भावक्रिया गुरुकार्या, अभावक्रिया लघ्वीति) । 'कस्मादभावक्रिया गुरुकार्या, भावक्रिया लघ्वीति' इत्येव सुष्ठु भाति । य०प्रतावत्र 'कस्माद्भावक्रिया गुरुकार्या भावक्रिया लघ्विति' इति पाठ, । भा०प्रतौ तु 'कस्मादभावक्रिया लघ्विति' इति पाठः ।

पृ० ३२३ पं० १६,१७. °प्रवृत्तेरभावाच्चेत्यादिभिः · ·· सर्वो ग्रन्थो । प्रतिस्थपाठानुसारेणात्र "°प्रवृत्तेरभावाच्चेत्यादि· · सर्वो ग्रन्थो' इत्यपि पाठः स्यात् ।

पृ० ३२४ पं० २७ अस्ति · । दृश्यतां पृ० १९० पं० २३,१९९ पं० ७ ।

पृ० ३२५ पं० ८ भवति · । दृश्यतां पृ० ३३९ पं० १९ । 'भवति कर्ता स्वतन्त्र , प्रवर्तनवृत्तत्वात्, प्रधानशब्दाऽऽद्विवत । तथाभवनवृत्तत्वात, तन्तुपटवत ।' इत्यपि मूलमत्र स्यात् ।

पृ० ३२५ पं० १८ शब्दादि यथा प्रवर्तयत् । अत्र 'शब्दादि' इति द्वितीयान्तं पदम्, 'यथा शब्दादि प्रवर्तयत्' इति चान्वयोऽत्र ज्ञेय ।

पृ० ३२६ पं० १. पूर्वपूर्वं · । दृश्यतां पृ० ३३९ पं० २२ ।

पृ० ३२६ पं० ७ क्रियते । अत्र 'क्रियते इति यावत्' इत्यपि पाठः स्यात् ।

पृ० ३२८ प० १,८ **अष्टमूर्तिता**। दृश्यतां पृ० ३३२ प० २५, पृ० ३४० प० १२। क्षितिर्जलं तथा तेजो वायुराकाशमेव च। यष्टाऽर्कश्च तथा चन्द्रा मूर्तयोऽष्टौ पिनाकिनः ॥ १ ॥

पृ० ३२८ प० ३ **इतरथा अदृष्टाणु** । ईश्वरः कारणम्, पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्। ४।१।१९। न, पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः। ४।१।२०। तत्कारितत्वादहेतुः। ४।१।२१। -न्यायसू०।

पृ० ३२८ प० ५, पृ० ३२९ प० २,१२,१९,२१ **तनुकरण** **अचेतनत्वात्** **स्थित्वा प्रवृत्ते** । "अविद्ध-कर्णोपन्यस्तमीश्वरसाधने प्रमाणद्वयमाह-यत् स्वारम्भकेत्यादि। तदुक्तम्- द्वीन्द्रियग्राह्याग्राह्यं विमत्यधिकरणभावापन्नं बुद्धिमत्कारणपूर्वकम् स्वारम्भकावयवसन्निवेशविशिष्टत्वात्, घटादिवत्, वैधर्म्येण परमाणव इति। द्वितीयं च तदुक्तं प्रमाणं बोधयन्नाह-तन्वादीनामित्यादि। यथोक्तम्-'तनु भुवन करणोपादानानि चेतनावदधिष्ठितानि स्वकार्यमारभन्ते इति प्रतिजानीमहे रूपादिमत्त्वात्, तन्त्वादिवत्।' इति। **उद्द्योतकरस्तु** प्रमाणयति-'भुवनहेतवः प्रधानपरमाण्वदृष्टाः स्वकार्योत्पत्तावतिशयबुद्धिमन्तमधिष्ठातारमपेक्षन्ते, **स्थित्वा प्रवृत्तेः**, तन्तुतुर्यादिवत्। इति। तथा अपराणि **उद्द्योतकरोक्तानि** प्रमाणानि-बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितं महाभूतादिकं व्यक्तं सुखदुःखनिमित्तं भवति, **अचेतनत्वात्** कार्यत्वाद् विनाशित्वाद् रूपादिमत्त्वात्, वास्यादिवत्।' इति।" इति तत्त्वसंग्रहपञ्जिकायां पृ० ४१ ४३। स्थित्वाप्रवृत्तिसंस्थानविशेषार्थक्रियादिषु। इष्टसिद्धिरसिद्धिर्वा दृष्टान्ते संशयोऽथवा ।२।१०।' इति प्रमाणवार्तिके ईश्वरनिराकरणप्रसङ्गे।

पृ० ३३० प० ९,१० **सामादि**। साम शब्देनात्र 'साम गानं विवक्षितं भाति।

पृ० ३३० प० १० **चोदनम्**। चोदनं जायते [पृ० ३३० प० १२] इत्यन्वयः।

पृ० ३३१ प० ६, २५ **अन्योन्याभिभव** । "अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः।'- सांख्यका० १२।

पृ० ३३१ प० १८ **चित्रकरचेतनदाना** । दृश्यतां टिपृ० ७ प० २३-२४।

पृ० ३३२ प० २-३ **एको वशी** **तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्**। अत्र "एको वशी तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।' इति पाठः श्वेताश्वतरोपनिषदि सम्प्रति दृश्यते।

---

१ 'क्षिति-जल-पवन-हुताशन-यजमानाऽऽकाश-सोम-सूर्याख्याः। इत्येतेऽष्टौ भगवति वीतरागे गुणा मताः ॥ ३४ ॥ क्षितिरित्युच्यते क्षान्तिर्जलं या च प्रसन्नता। निःसङ्गता भवेद् वायुर्हुताशो योग उच्यते ॥ ३५ ॥ यजमानो भवेदात्मा तपोदानदयादिभिः। अलेपकत्वादाकाशसकाशः सोऽभिधीयते ॥ ३६ ॥ सौम्यमूर्तिरुचिश्चन्द्रो वीतरागः समीक्ष्यते। ज्ञानप्रकाशकत्वेन आदित्यः सोऽभिधीयते ॥ ३७ ॥ पुण्यपापविनिर्मुक्तो रागद्वेषविवर्जितः। श्रीअर्हद्भ्यो नमस्कारः कर्तव्यः शिवमिच्छता ॥ ३८ ॥ इति हेमचन्द्रसूरिप्रणीते महादेवस्तोत्रे। २ अथापर आह-**ईश्वरः कारणम्** ।४।१।१९। पुरुषोऽयं समीहमानो नावश्यं फलमाप्नोति। तेनानुमीयते-पराधीनं पुरुषस्य कर्मफलाराधनमिति। यदधीनं स ईश्वरः। तस्मादीश्वरः कारणमिति। **न, पुरुष** ।४।१।२०। ईश्वराधीना चेत् फलनिष्पत्तिः स्यात् अपि तर्हि पुरुषस्य समीहामन्तरेण फलं निष्पद्येतेति। **तत्कारितत्वादहेतुः** ।४।१।२१। पुरुषकारमीश्वरोऽनुगृह्णाति। फलाय पुरुषस्य यतमानस्येश्वरः फलं सम्पादयति। यदा न सम्पादयति तदा पुरुषकर्माफलं भवतीति ईश्वरकारितत्वात् पुरुषकारस्याहेतुः - पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः इति। गुणविशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः। तस्यात्मकल्पात् कल्पान्तरानुपपत्तिः। अधर्ममिथ्याज्ञानप्रमादहान्या धर्मज्ञानसमाधिसम्पदा च विशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः। तस्य धर्मसमाधिफलमणिमाद्यष्टविधमैश्वर्यम्। संकल्पानुविधायी चास्य धर्मः प्रत्यात्मवृत्तीन् धर्माधर्मसञ्चयान् पृथिव्यादीनि च भूतानि प्रवर्तयति। एवं च स्वकृताभ्यागमस्यालोपेन निर्माणप्राकाम्यमीश्वरस्य स्वकृतकर्मफलं वेदितव्यम्। आप्तकल्पश्चायं यथा पिताऽपत्यानां तथा पितृभूत ईश्वरो भूतानाम्। न चात्मकल्पादन्यः कल्पः सम्भवति। न तावदस्य बुद्धिमन्तरेण कश्चिद्धर्मो लिङ्गभूतः शक्य उपपादयितुम्। आगमाच्च द्रष्टा बोद्धा सर्वज्ञ ईश्वर इति। बुद्ध्यादिभिश्चात्मलिङ्गैर्निरुपाख्यमीश्वरं प्रत्यक्षानुमानागमविषयातीतं कः शक्त उपपादयितुम्। स्वकृताभ्यागमलोपेन च प्रवर्तमानस्यास्य यदुक्तं प्रतिषेधजातमकर्मनिमित्ते शरीरसर्गे तत् प्रसज्यत इति ॥' इति **न्यायभाष्ये** जेसलमेरस्थे। ३ दृश्यतां पृ० ३२८ टि० १। ४ यद् वस्तु स्थित्वा स्थित्वा प्रवर्ततेऽभिमतसाधनाय तद् बुद्धिमत्कारणाधिष्ठानाद्। यथा वास्यादि छेदीकरणादौ। न खलु वास्यादयः स्वयमेव प्रवर्तन्ते। प्रवर्तने वा सदा प्रवर्तनं भवेत्। स्थित्वा च प्रवर्तनम[भिमतम् अतः] केनचित् प्रवर्तकेन भवितव्यम्। तथा यत् संस्थानविशेषपरिमाणत्वादियोगि तत् चेतनावदुत्पादितम् तद्यथा घटादिकम्। तथा यदर्थक्रियाकारि तच्चेतनावत्पदार्थप्रेरितम् तद्यथा घटादयः। अत्राह-**स्थित्वाप्रवृत्ति** । इति प्रमाणवार्तिकालङ्कारे पृ० ३७। ५ "एको

पृ० ३३३ पं० ८ सायोज्यं । यद्यपि 'सायुज्यम्, इति शब्दप्रयोग सम्प्रति प्रसिद्ध· तथापि नयचक्रवृत्तौ 'सायोज्यम्' इति शब्दप्रयोगस्य पुनः पुन. [पृ० ३४१ पं० २३–२८, पृ० ३८३ प० १९] दर्शनात् स एवात्रादृतोऽस्माभि ।

पृ० ३३३ प० २५ आख्यातशब्दः ··। दृश्यता पृ० ४४८ टि० २ ।

पृ० ३३३ प० २७ यथा । अत्र भा०प्रत्यनुसारेण 'यस्माद्' इत्यपि स्यात ।

पृ० ३३४ पं० १ गुणसन्द्रावः । एतच्च लक्षण कस्मिश्चित् सांख्यग्रन्थे [वार्षगणतन्त्रे ?] सम्भाव्यते । दृश्यता टिपृ० १६ प० ३५–पृ० १७ पं० १६ ।

पृ० ३३४ प० ३–५ दुविहा किमिदं · । 'द्विविधा प्रज्ञापना प्रज्ञप्ता – जीवप्रज्ञापना अजीवप्रज्ञापना च । किमिदं भदन्त ! लोक इति प्रोच्यते ? गौतम ! जीवाश्चैव अजीवाश्चैव । एवं रत्नप्रभा यावत् ईषत्प्राग्भारा समयावलिकादि ।' इत्यर्थः । तुलना–पृ० २२८ पं० ५–६ टि० १–२ ।

पृ० ३३४ पं० ५ समयावलियादि [ ] । अत्र 'समयावलियादि [ ] । इति तृतीयो विध्युभयारः ।' इत्यपि मूलं स्यात् ।

पृ० ३३५ पं० २. नन्वेवं ·। दृश्यता पृ० ३२९ प० १८ ।

पृ० ३३५ पं० ६ सदसद्वेद्या । दृश्यतां तत्त्वार्थसू० ८।५–१४ ।

पृ० ३३५ पं० ७ सामान्यतोदृष्टा । । "अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्–पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च ।"–न्यायसू० ।१।१।५। "त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।"–सांख्यका० ५ ।

पृ० ३३५ प० ८. अन्नप्राणत्ववत् । दृश्यतां पृ० १९९ प० १२ । "अन्नं वै प्राणिनः प्राणाः"–न्यायभा० १।१।१।

पृ० ३३६ प० ७ स्वकर्म । तुलना–"स्वकर्मणा युक्त एव सर्वो ह्युत्पद्यते जन. । स तथाकृष्यते तेन न यथा स्वयमिच्छति ॥" इति शीलाङ्काचार्यकृतायां सूत्रकृताङ्गवृत्तौ पृ० २१० ।

पृ० ३३६ प० १६ यः स्वतन्त्रो भवितापि स एव । अत्र प्रतिस्थपाठानुसारेण 'कः स्वतन्त्रः ? भविता यः स एव ।' इत्यपि पाठ स्यात् ।

पृ० ३३७ प० २,१७. द्रव्यादिपञ्च···। दृश्यतां पृ० ३३८ टि० १ ।

पृ० ३३८ पं० ५. दोषौ । अत्र 'दोषौ' इत्यनावश्यकं भाति, दृश्यता पृ० ३४१ प० १३ ।

पृ० ३३९ प० ३,१९ भवति · । दृश्यतां पृ० ३२५ पं० ४ ।

पृ० ३३९ पं० १०. यथा च । दृश्यतां पृ० ३२७ पं० १ ।

पृ० ३४० पं० १,९,१० शक्तिमत्प्रवृ पक्त्रादिवत् । दृश्यतां पृ० ३२६ पं० ३ ।

पृ० ३४० पं० १२ एवमेव चास्य । दृश्यता पृ० ३२८ पं० १,८ । टिपृ० ८९ पं० १ टि० १ ।

पृ० ३४० प० २३ प्रवर्तत इति । अत्र 'प्रवर्तक इति' इत्येव पाठो युक्त प्रतीयते ।

पृ० ३४१ पं० ६, २२–२३ तद्दणमोक्षणवत् । नयचक्रवृत्तौ अत्र 'तद्दणमोक्षणात्' इति पाठ, अग्रे तु [पृ० ३८३ प० १७] 'तद्दणमोक्षणवत्' इति पाठो दृश्यते । अत एकतर एव कश्चिदपि पाठ उभयत्राप्यादरणीयः । 'तद्दणमोक्षणात्' इति तु सम्यग् भाति ।

वशीनि । एको वशी स्वतन्त्रो निष्क्रियाणा बहूना जीवानाम् । सर्वा हि क्रिया नात्मनि समवेता, किन्तु देहेन्द्रियेषु । आत्मा तु निष्क्रियो निर्गुण सत्त्वादिगुणरहित कूटस्थ सन अनात्मधर्मानात्मनि अध्यस्य अभिमन्यते–कर्ता, भोक्ता, सुखी, दु खी, कृश, स्थूल, मनुष्य, अमुष्य पुत्र, अस्य नप्तेति । एकं बीजस्थानीय भूतं सूक्ष्मं बहुधा य करोति । तमात्मस्थं बुद्धौ स्थितं येऽनुपश्यन्ति साक्षाज्जानन्ति धीरा बुद्धिमन्त तेषामात्मविदा सुखं शाश्वतम्, नेतरेषामनात्मविदाम् ।" इति शंकराचार्यरचिते श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये ।

१ "तत्पूर्वकमित्यनेन लिङ्गलिङ्गिनो सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनं चाभिसम्बध्यते । लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनेन लिङ्गिस्मृतिरभिसम्बध्यते । स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते । पूर्ववदिति यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते यथा मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति । शेषवत् तद् यत्र कार्येण कारणमनुमीयते । पूर्वोदकविपरीतमुदक नद्या पूर्णत्व शीघ्रत्व च दृष्ट्वा स्रोतसोऽनुमीयते–भूता वृष्टिरिति । सामान्यतोदृष्टम्–व्रज्यापूर्वकमन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र दर्शनमिति, तथा चादित्यस्य, तस्मादस्ति अप्रत्यक्षापि आदित्यस्य व्रज्या इति ।" इति न्यायभाष्ये । २ "अनुमान त्रिप्रकारमाचार्ये व्याख्यातम्–पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्ट च ।" इति सांख्यकारिकायुक्तिदीपिकायां पृ० ४३ ।

पृ० ३४१ प० ७, २३-२४ सायोज्य। दृश्यता टिपृ० ९० प० १।

पृ० ३४१ प० ९. ईश्वरे। अत्र 'ईश्वरे' इति पाठो युक्त प्रतीयते।

पृ० ३४१ प० १७ शरीरादीन्युत्पा। अत्र 'शरीरादीनुत्पा' इति सम्यग् भाति।

पृ० ३४३ प० ३,१९. तत्सायोज्य। दृश्यता टिपृ० ९० प० १।

पृ० ३४३ प० १२ शीतलिका। यथा लूता रोगेऽपि 'शीतलिका' इति पर्यायेण लोकैरभिधीयते एवम् अत्र तपरवशत्वमपि त्वया 'ऐश्वर्यम्' इत्यभिधीयत इत्याशय।

पृ० ३४३ प० १४ हिंसा सद्गदोषे। दृश्यता पृ० ३१७ प० २ टि० २-३। (हिंसा सद्दोषे ?)।

पृ० ३४३ प० १५ दु खात्मकत्वाद्यानुग्रह। अत्र 'दु खहेतुत्वाद् दु खात्मकत्वाच्चानुग्रह' इत्यपि पाठ स्यात्।

पृ० ३४३ प० २७ प्रोक्त इति। (प्राप्त इति ?)।

पृ० ३४४ प० २, १२,१३ कारण्ये प्रोक्ते। द्विवचनान्तमिदम्। आदौ स एव। दृश्यता पृ० ३४६ प० १८।

पृ० ३४४ प० १०, पृ० ३४५ प० १ सर्गादौ अन्तवत्। दृश्यता पृ० ३४५ प० १५-१६।

पृ० ३४५ प० ३ धारणाद्धानाद्वा धर्म। "दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून् यस्माद्धारयते तत। धत्ते चैतान् शुभे स्थाने तस्माद्धर्म इति स्मृत॥" इति प्रसिद्धा कारिकात्रानुसन्धेया।

पृ० ३४५ प० १९-२० यस्याभावे इतरत् कार्यम्। दृश्यता पृ० ३४२ प० २,३,१८।

पृ० ३४७ प० १-४ आन्विक्षत्व तत्प्रयुक्तत्वात्। दृश्यता पृ० ३५० प० १-४, २०-२२।

पृ० ३४७ प० ५,२६ तन्वेव। (तद्वि ?)। 'दृष्टान्तश्च च' [पृ० ३४७ प० २६] इति वचनात 'तन्वि' इत्यपि स्यादत्र।

पृ० ३४७ प० ७ अभिव्यञ्जयन्। 'अभिव्यञ्जयन् पदार्थ आन्विक्षत्वाद् वस्तु भवति' इत्याशय। अत्रार्थेऽस्वारस्ये तु 'अभिव्यञ्जयद् भवति वस्तु' इति कल्पनीयम्।

पृ० ३४८ प० ६ परमाणुवर्गणा अग्रहणवर्गणा। ग्रहणयोग्याग्रोग्यवर्गणास्वरूप कर्मप्रकृति[गा० १८-२०]-वृत्ति-तत्त्वार्थसूत्रसिद्धसेनीयवृत्ति[८।१२]प्रभृतिग्रन्थेष्वपि निरूपितमस्ति। तत्र कश्चिद् विशेषोऽप्यत्रत्यनिरूपणे विलोक्यत इति ध्येयम्।

पृ० ३४८ प० ९ स्वेदेनैव। विशेषावश्यकभाष्यकार्यवृत्तावपीदृश एव पाठ। "न स आत्मनु स्कन्धानतिसूक्ष्मान् बादरांश्च गृह्णाति। स्वेदेन न सम्यन्त गात्रमण शर्कराश्च तथा॥" इति सिद्धसेनगणिकृताया तत्त्वार्थसूत्रवृत्तौ [८।१२] उद्धृत श्लोकेऽपि दृश्यत।

पृ० ३४८ पं० १२ औदारिककारणत्वेन। अत्र प्रतिषु 'औदारिककारत्वेन' इति पाठ। तदनुसारेणात्र 'औदारिककायत्वेन' इत्यपि पाठः स्यात्।

पृ० ३४९ प० १२ जोगेहिं। "जोगेहिं तयणुरूवं परिणमइ गिण्हिऊण पच तणू। पाउग्गे चालंबइ भासाणु मणत्तणे खंधे॥ १९॥" इति शिवशर्मसूरिकृतायां कर्मप्रकृतौ।

---

१ अस्या मलयगिरिकृता व्याख्या इत्थम्-'जोगेहिं'ति। योगैरनन्तरोक्तस्वरूपै प्रायोग्यान् स्कन्धान् पुद्गलस्कन्धान् गृहीत्वा यथायोग पंच तणुत्ति पञ्च शरीराणि परिणमयति औदारिकादिपञ्चशरीरतया परिणमयतीत्यर्थ। कथ पुनर्गृह्णातीति चेत् अत आह-तदनुरूप योगानुरूपम्। तथाहि-जघन्ययोगे वर्तमान स्तोकान पुद्गलस्कन्धान गृह्णाति, मध्यम मध्यमान् उत्कृष्ट च योग वर्तमान प्रभूतानिति। अथवा तच्छब्देन पञ्च शरीराणि सम्बध्यन्ते। ततश्च तदनुरूप पञ्चशरीरानुरूप शरीरपञ्चकप्रायोग्यमित्यर्थ पुद्गलस्कन्धान् गृह्णाति। तथा भाषाप्राणापानमनस्त्वप्रायोग्यान् पुद्गलस्कन्धान् प्रथमतो गृह्णाति, गृहीत्वा च भाषादित्वेन परिणमयति। परिणमय्य च तन्निसर्गहेतुसामर्थ्यविशेषसिद्धये तान पुद्गलानेवालम्बते। ततस्तद्बल सम्भूतो भाषणसामर्थ्यविशेष सन् विसृजति नान्यथा। तथाहि-यथा दुर्बलो यष्टि अन्यानि ऊर्ध्वं गमनाय प्रथमत यष्ट्याद्य व्याजनावलम्बते तन्मदवष्टम्भतो जातसामर्थ्यविशेष सन् तानि अङ्गानि ऊर्ध्व प्रक्षिपति नान्यथा तद्वदिति द्रव्यनिमित्त वीर्य संभाषिणामुपजायत इति वचनप्रामाण्यात्। एवमहापि भावनीयमिति।

पृ० ३४९ पं० १६, २०, पृ० ३५० पं० ७–१० **तेजोयोगाद् ऊष्मगुणः "तद्वद् स्नेहा** "। अस्य कारिकाचतुष्टयस्यार्थः सिद्धसेनगणिकृतायां तत्त्वार्थसूत्रवृत्तौ [८।३] द्रष्टव्यः।

पृ० ३५० पं० १५ **नरनरकदेवतिर्यग्गतिसंग्रहभवनवास्याद्यनेकप्रभेद** । संग्रहेण समासतो नर-नरक-देव-तिर्यग्गतिभेदेन चतुर्धा जीवाः। भवनवासिप्रभृतयो देवादीनां प्रभेदाः।

पृ० ३५० पं० १७ **जीवपरिणामहेतू** । जीवपरिणामो हेतुर्येषां ते जीवपरिणामहेतवः पुद्गलाः कर्मतया परिणमन्ति। एवं पौद्गलिकं कर्म निमित्तीकृत्य जीवोऽपि तथैव परिणमति इत्याशयोऽत्र भाति। "**जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति। पोग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि** ॥ ८६ ॥ ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे। अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ॥ ८७ ॥ एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण। पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥ ८८ ॥ णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि। वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥ ८९ ॥" इति कुन्दकुन्दाचार्यरचिते समयसारे। "जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो। भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो ॥ ७५ ॥ **जीवपरिणामहेदू कम्मत्तण पोग्गला परिणमंति** । ण दु णाणपरिणदो पुण जीव(वो) कम्म समादियदि ॥ ७६ ॥" इति मूलाचारे समयसाराधिकारे।

पृ० ३५० पं० २०–२२. **यथा चा तत्प्रयुक्तत्वात्**। द्रष्टव्यं पृ० ३४७ पं० १–४।

पृ० ३५० पं० २४. **ज्ञानदर्शनावरण सप्रभेदानि**। द्रष्टव्यं टिपृ० ६५ पं० १७।

पृ० ३५० पं० २५, पृ० ३५१ पं० ४–६ **अक्षरानन्त सव्वजीवाणं** । द्रष्टव्यं टिपृ० ६७ पं० ६ टि० २।

पृ० ३५१ पं० १५ **पुमांसं गिलति** । द्रष्टव्यं पृ० १९० पं० १७।

पृ० ३५२ पं० ३ **सम्भूय** । द्रष्टव्यं पृ० ३२९ पं० १–२।

पृ० ३५२ पं० ४,२४ **एवं च कृत्वा** । द्रष्टव्यं पृ० ३५९ पं० १६, पृ० ३५७ पं० १३।

पृ० ३५२ पं० ५,२८ **प्रधानमध्यमा** । द्रष्टव्यं पृ० ३६५ पं० १७।

पृ० ३५२ पं० ६ **°विकल्पसम्भव** । अत्र '°विकल्पासम्भव' इति सम्यग् भाति।

पृ० ३५४ पं० १५ **गङ्गास्रोतस्यान्यथा प्रवृत्तस्य कर्मणोऽन्यथा प्रवर्तनमिति**। अत्र '**गङ्गास्रोतस्यान्यथा प्रवृत्तस्यान्यथा प्रवर्तनम्, न त्वन्यथा प्रवृत्तस्य कर्मणोऽन्यथा प्रवर्तनमिति**।' ईदृशोऽपि पाठः सम्भाव्यते।

पृ० ३५५ पं० १० **अकारणमपि कर्म, सहायापेक्षत्वात्** । **पुरुषकारम** । 'अपि'शब्देन कारणत्वमपि ग्राह्यम्। अत्र अकारणत्वे साध्ये सहायापेक्षत्वं हेतुः। तथा च यतः पुरुषकारं सहायमपेक्षते ततोऽकारणमपि कर्म इत्याशयो भाति।

पृ० ३५६ पं० ७ **गम्यते** । 'गम्यते **द्रव्येणैव द्रव्यं क्रियते** ' इत्यपि मूलं स्यादत्र, द्रष्टव्यं पृ० ३७३ पं० २४।

---

१ "यथा दीपः ऊष्मगुणयोगाद् वर्त्या स्नेहमादाय अर्चीरूपेण परिणमयति तथा रागादिगुणयोगात् कायादियोगवर्त्या आत्मदीपः स्कन्धानादाय कर्मतया परिणमनमापादयति। कायादिकरणयोगाच्चात्मनो वीर्यपरिणतिर्भवतीति योगशब्देनोच्यते। त(य?)था मृण्मयघटस्याग्निसंयोगाद् रक्तत्वादिपरिणतिर्घटस्यैव तथा आत्मनः कायादिकरणयोगे वीर्यपरिणतिरात्मन एव प्रादुरस्ति, न द्रव्यान्तरस्येति। यथा च स्नेहाभ्यक्ते वपुषि जलार्द्रवाससि वा परागो लगति मलीभवति च तथा रागादिस्नेहाभ्यञ्जनस्यात्मनः कार्मणशरीरपरिणामोऽपूर्वकर्मग्रहणे योग्यतामास्कन्दति।" इति **तत्त्वार्थसूत्रवृत्तौ** ८।३। २ प्रभेदजिज्ञासुभिः **तत्त्वार्थसूत्र**[अध्याय २–४]प्रभृतिग्रन्था विलोकनीयाः। ३ "अथ यद्यपि जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यनिमित्तमात्रत्वमस्ति तथापि निश्चयनयेन तयोर्न कर्मकर्तृभाव इत्यावेदयति **जीवपरिणामहेतुं**" । यथा कुम्भकारनिमित्तेन मृत्तिका घटरूपेण परिणमति तथा जीवसम्बन्धिमिथ्यात्वरागादिपरिणामहेतुं लब्ध्वा कर्मवर्गणायोग्यं पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणमति। **पुग्गलकम्मणिमित्तं** ॥ ८६ ॥ यथैव च घटनिमित्तेन 'एवं घटं करोमि' इति कुम्भकारः परिणमति तथैवोदयागतपुद्गलकर्म हेतुं कृत्वा जीवोऽपि निर्विकारचिच्चमत्कारपरिणतिमलभमानः सन् मिथ्यात्वरागादिभावेन परिणमतीति।" इति **जयसेन**कृता व्याख्या। "यतो जीवपरिणामं निमित्तीकृत्य पुद्गलाः कर्मत्वेन परिणमन्ति पुद्गलकर्म निमित्तीकृत्य जीवोऽपि परिणमतीति इतरेतरनिमित्तमात्रभवनेनैव द्वयोरपि परिणामः। ततः स्थितमेतज्जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च।" इति **अमृतचन्द्र**कृता व्याख्या। ४ प्रभेदजिज्ञासुभिः **तत्त्वार्थसूत्र**[अध्याय ८]–**कर्मग्रन्थादयो** विलोकनीयाः।

पृ० ३५६ पं० १३ °साधनता गतत्वात् । (साधनताङ्गत्वात् ? साधनताङ्गभूतत्वात् ?)।

पृ० ३५६ प० २० पूर्वविधानु । सूत्रकृताङ्गवृत्त्यादिषु 'पूर्वकृतानु°' इति पाठ उद्धृत ।

पृ० ३५७ प० ६ कर्तुरेव भाव तच्छके । 'कर्तुरेव भाव सत्त्य, तच्छके' इत्यपि मूल स्यात् ।

पृ० ३५९ प० ११ व्रीहिरेष्यागर्तकत्वात् । (व्रीहिरेष्याजनकत्वात् ??)।

पृ० ३५९ प० ११ मुपयाति, नासावतो व्रीहि° (मुपयाति नभो, नातो व्रीहि ??)।

पृ० ३५९ प० १८ परवचनेन स्ववचनेन चेकत्वात् । (परवचनेन स्ववचनेन वा ? एकत्वात्) ?? ।

पृ० ३५९ प० २५ सुरादिवत् । अत्र सुरा मदिरा विवक्षिता भाति ।

पृ० ३६० प० ६ उक्तनिरुक्ति । दृश्यतां पृ० १९० प० १७, पृ० ३५१ प० १५ ।

पृ० ३६१ प० १,२१ परिणाम्य । अत्र परिणम्य° इति भा०प्रतिपाठ शुद्ध । *

पृ० ३६१ प० ५–८ एगमेगस्स आणपाणत्ताए । दृश्यता टिप्० ६६ प० १९ । 'एकैकस्य भदन्त ! जीवस्य एकैको जीवो मातृतया आजातपूर्व ? गौतम ! असकृत् अथवा अनन्तकृत्व । एव सर्वजीवानामपि एकजीव एकजीवस्यापि सर्वजीवा । तथा सर्वपुद्गला एकजीवस्य सर्वजीवाना चाहारतया उच्छ्वासतया भाषातया शरीरतया इन्द्रियतया मनस्तया प्राणापानतया । इत्यर्थ प्रतिभाति ।

पृ० ३६१ प० २५ तद्धयेत्र । अत्र भा०प्रतिस्थ 'तथेद्' इति पाठश्चेदुपादीयत तर्हि तदनुसारेण मूले [पृ० ३६१ प १] 'तथात्मकर्मणोरपि । तथा क्षीरादे घटादे ।' इति पाठ सम्भाव्यते ।

पृ० ३६२ प० ३, ५ परिणाम्य° । अत्र प्रतिस्थ 'परिणम्य ' इति पाठ शुद्ध ।

पृ० ३६२ प० १३ परिणाम्य° । अत्र 'परिणम्य ' इति सम्यक् ।

पृ० ३६३ प० १३ अधिपत्यालम्बन । दृश्यता टिप्० ३७ प० ९ ।

पृ० ३६३ प० १६ रूपालोकमनस्कार । दृश्यता पृ० ६० प० १४, टिप्० ३७ प० ७ ।

पृ० ३६३ प० १८ अनेकसम्बन्धि । दृश्यता पृ० ८५ प० १८ टिप्० ८ प० ३ ।

पृ० ३६३ प० २४ इत्यथ । अत पर 'रूपाद्यात्मकत्वमात्मनो नाभ्युपगम्यतेऽसङ्ख्यातप्रदेशस्यापि' इत्यधिक पाठोऽत्र यं०प्रतिषु तदाधारभूताया य०प्रतौ च उपलभ्यते, तथापि 'यथेत्र [पृ० ३६३ प० २५] इत्यत पर स पाठो योजनीय इत्येतत्सूचनार्थं य०प्रतौ सङ्केतचिह्न वर्तते इति तत्रैव स योजनीय । भा०प्रतौ तु तत्रैव स लिखितोऽस्तीति ध्येयम् ।

पृ० ३६३ प० २५ यथेत्र यातीति । रूपादिमदेकद्रव्योपयोगकाले 'आत्मा ग्राह्ये तादात्म्य याति इति आत्मनो रूपाद्यात्मकत्व चेदभ्युपगम्यते ततोऽनेन एव स व्याख्यातव्य ।

पृ० ३६४ प० १२ उदये भव औदयिक । 'तत्र भव' [पा० ४।३।५३] इति सूत्रेणात्र 'ठञ् प्रत्यय' ।

पृ० ३६५ प० २ तस्यैवोक्तत्वात् सर्वत्वात् कमापि । तस्यैव कर्मतापि । एतत्स्थाने तस्यैवोक्तत्वात् सर्वत्वात् कमतापि' इत्यपि मूल स्यात्, दृश्यता पृ० ३६८ पं० ८ ।

पृ० ३६५ पं० १२ कृतारम्भ । असन्निहित 'इति विधानादसन्निहिताथस्य दर्शयति ।

पृ० ३६६ प० ३ २० २१ हृष्टवत् । 'हृष्ट इति निम्नतलभागादकास्थादि दर्शितद्रव्यमुच्यते । यथा तदुत्सार्यमाण मपि स्वच्छन्दत पुन पुनरुद्गच्छति एवं यो न्या पि स्वच्छन्दव्यवहार स हृष्ट इति प्रसिद्ध । इति कुमारिलविरचित तन्त्रवार्तिके १।४।३।

पृ० ३६७ प० ४,२० भारोत्पाटवत । प्रागपि [पृ० ३ ५ प १ १४] उपात्तो यं दृष्टान्त । व्याख्यानं तु तत्र विभिन्नमपि दृश्यम् ।

---

¹ अत्र एकवचनान्तर 'य०प्रति ... गिरगोविन्दयोरभ्यापर्वोर्णिगिना प्रतिनिर्दिष्टेना बहुवचनान्तेन य०प्रति पाठेन तु तदनुसारिण्य पा० क० ली० र० ही० वि० इत्यास्य प्रतयो लिखिता इति दृश्यम् । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् ।
² य ... नीतौ ... सङ्केतचिह्नमवगिरिणानमिति भाति ।

पृ० ३६७ पं० ४. **पुरुषात्मना · तृणदाहवद्वा।** 'पुरुषात्मना सहैकीभूतस्य उदयोपशमक्षयोपशमक्षयाः· ···· तृणदाहवद्वा' इत्यपि मूलं स्यादत्र।

पृ० ३६७ पं० ११. **विपरिणाम्यं।** अत्र प्रतिस्थ. 'विपरिणम्यं' इति पाठ. शुद्ध.।

पृ० ३६८ पं० १–२,१० **तत्र तत्प्रदर्शित** ·। प्रत्यनुसारी 'तत्र प्रदर्शित ' इति पाठोऽत्र युक्तो भाति।

पृ० ३६८ पं० ४. **उदयोपशमक्षयोपशमक्षयान् सोदाहरणान्।** दृश्यतां पृ० ३६८ टि० १, पृ० ३३८ टि० १। सापेक्षाणामुदयोपशमक्षयोपशमानामुदाहरणानि तु शास्त्रान्तरेषु मृग्याणि।

पृ० ३७१ पं० ४, ५ **ज्ञानादि न भवत्यज्ञानादिर्वा इति।** (ज्ञानादिर्न भवत्यज्ञानादिर्वा इति? ज्ञानादि न भवत्यज्ञानादि वा इति?)।

पृ० ३७१ पं० २५ **ज्ञानाज्ञानात्मा°।** अत्र भा०प्रतिस्थ. 'ज्ञानात्मा°' इति पाठोऽपि सगच्छेतेति भाति।

पृ० ३७२ पं० ३. **तत्त्व एव चेतना।** अत्र 'तत्त्वमेव चेतना' इति पठनीयम्।

पृ० ३७२ पं० १९–२२. **निर्वृत्त्युपकरण उपयोगो।** दृश्यता पृ० १८३ पं० १८–२१, पृ० ४७४ टि० १०, पृ० ४७६ टि० २।

पृ० ३७३ पं० ४,२४ **द्रव्येणैव द्रव्यं क्रियते।** दृश्यतां पृ० ३५७ पं० १, टिपृ० ३५६ पं० ७।

पृ० ३७३ पं० २,१८ **द्रव्यमपि** । तुलना पृ० ३३४ पं० १।

पृ० ३७३ पं० ११. **एक्केको य** । दृश्यता पृ० ५५० टि० १।

पृ० ३७३ पं० १२–१३. **द्रव्यास्थितनयप्रकृतयः।** दृश्यता टिपृ० ५२ पं० १३, तत्र च 'दव्वट्ठियनयपगडी' इति सन्मति[१।४]गाथाया वृत्तौ अभयदेवसूरिकृत व्याख्यान्तरमपि विलोकनीयम्।

पृ० ३७४ पं० ११,१२ **अवति रक्षति पाति** । अत्र 'पाति'स्थाने 'याति' इति सम्यग् भाति, 'अव रक्षण-**गति**-कान्ति-प्रीति-तृप्त्य-वगम-प्रवेश-श्रवण-स्वाम्यर्थ-याचन-क्रिये-च्छा-दीप्त्यवाप्त्यालिङ्गनहिंसादहनभाववृद्धिषु' [पा० धा० ६००] इति धातुपाठात्। हैमधातुपाठेऽपि [धा० ४८९] इमे एव एकोनविंशतिरर्था 'अव'धातोरुक्ता इति ध्येयम्।

पृ० ३७४ पं० २०. **नोकर्मा** · ·। दृश्यतां ३६५ पं० १४।

पृ० ३७४ पं० २१ **वान्वित°।** अत्र 'चान्वित°' इति रम्यं भाति।

पृ० ३७४ पं० २ **जे एकणामे** ··· । "जे एगं णामे से वहु णामे जे वहु णामे से एगं णामे।"–आचाराङ्गसू०।

पृ० ३७५ पं० २ **इति।** अत्र '**इति चतुर्थोऽरः प्रथमश्च मार्गः।**' इत्यपि मूलं स्यात्।

पृ० ३७५ पं० ७ **घटादि तावत्तदनित्यत्वम्।** अत्र भा०प्रतौ '**घटादितावतदनित्यत्वम्**' इति पाठ.। (घटादिभाववदनित्यत्वम्?)।

पृ० ३७५ पं० १५ **मार्गो नेमिरित्यर्थः।** अत्र '**मार्ग**'शब्दो 'नेमि'वाचकः, त्रिनेमि चेदं द्वादशार **नयचक्रम्।** अतश्चतुर्षु चतुर्षु अरेषु एको **मार्गो** नेमि. परिसमाप्यत इति ज्ञेयम्। तुलना—"यस्मिन् समये **तथागतः** त्रिपरिवर्त द्वादशार **धर्मचक्र** परिवर्तयति।" इति **बौद्धग्रन्थे** दिव्यावदाने पृ० २०५। "आर्यसत्यानां प्रथमपरिवर्तो दर्शन**मार्गः**। आर्यसत्यानां द्वितीयपरिवर्तो भावना**मार्गः**। आर्यसत्यानां तृतीयपरिवर्तो शैक्ष**मार्गः**।" इति महाव्युत्पत्तौ पृ० ६४।

पृ० ३७५ पं० १६. **अर्धमेकपुस्तकं** । अत्र य०प्रतौ 'अर्धमेकमेकपुस्तकं · ' इति पाठ, भा०प्रतौ तु 'अर्धमेकं एकपुस्तक ' इति पाठ। एतदनुसारेणात्र 'अर्धमेवमेकपुस्तक ' इत्यपि पाठ स्यात्।

---

१ "उपशम कर्मणोऽनुदयावस्था भस्मपटलावच्छन्नाग्निवत्। क्षयोपशमाभ्या निर्वृत्तो मिश्र दरविध्या[ताव]च्छन्नज्वलनवत्।" इति **सिद्धसेनगणिरचिताया तत्त्वार्थसूत्रवृत्तौ** २।१। २ "**जे एग**मित्यादि। यो हि प्रवर्धमानशुभाध्यवसायाधिरूढकण्डक एकमनन्तानुवन्धिन क्रोध नामयति क्षपयति स वहून् मानादीन् नामयति क्षपयति, अप्रत्याख्यानादीन् वा स्वभेदान् नामयति। मोहनीय चैक यो नामयति स शेषा अपि प्रकृतीर्नामयति। यो वा वहून् स्थितिविशेषान् नामयति सोऽनन्तानुवन्धिनमेक नामयति मोहनीय वा। यो वहुनाम स एव परमार्थत एकनाम इति क्षपकोऽभिधीयते उपशामको वा।" इति **आचाराङ्गसूत्रस्य शीलाङ्काचार्यकृताया वृत्तौ** १।३।४।

ॐ अर्हम्

॥ श्री ऋषभदेवाय नमः ॥

भोटपरिशिष्टम् ।

आचार्यश्रीमल्लवादिक्षमाश्रमणपूज्यपादैर्नयचक्रे वृत्तिकृद्भिः सिंहसूरिवादिगणिक्षमाश्रमणैश्च नयचक्रवृत्तौ वाददर्शननिरूपणावसरे बौद्धाचार्यदिङ्नागमतं बहुषु स्थानेषु निर्दिष्टं चर्चितं पराकृतं च । श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणैरपि विशेषावश्यकभाष्यवृत्त्यादिषु दिङ्नागमतमुल्लिखितम् । अतो दिङ्नागमतस्य परिज्ञानं बहु आवश्यकमिति विभाव्य जिज्ञासूनामुपकाराय भोटपरिशिष्टमिदमस्माभिरारभ्यते । दिङ्नागेन प्रमाणसमुच्चय-न्यायमुख-हेतुमुख-आलम्बनपरीक्षा-वृत्तिकैकाल्यपरीक्षा-त्रैकाल्यपरीक्षा-सामान्यपरीक्षा-हस्तवालप्रकरण-वृत्ति-द्वादशशतिका-न्यायप्रवेशक-हेतुचक्रहमरु(डमरु)-उपादायप्रज्ञप्तिप्रभृतयो बहवो ग्रन्था विरचिताः, किन्तु तेषु न्यायप्रवेशकं विना सर्वेऽपि संस्कृतभाषायां नष्टा इति प्रतिभाति, सम्प्रति क्वचिदपि तेषामनुपलब्धेः । तथापि कथाञ्चित् ग्रन्थाना पर शतेभ्यो वर्षेभ्यः पूर्वं विहिता भोटभाषानुवादाः चीनभाषानुवादाश्च सम्प्रति उपलभ्यन्ते । एतेषु च सर्वेषु प्रमाणसमुच्चयो मुख्यो ग्रन्थः, स च कारिकात्मकः । अत्र दिङ्नागेन वृत्तिरपि विरचितास्ति । अयं च षट्सु परिच्छेदेषु विभक्तः । तत्र प्रथमे परिच्छेदे 'प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणे' [१।२] इत्यभिधाय तदनन्तरं प्रत्यक्षलक्षणविचारः, द्वितीये स्वार्थानुमानविचारः, तृतीये परार्थानुमानविचारः, चतुर्थे दृष्टान्तविचारः, पञ्चमेऽन्यापोहविचारः, षष्ठे जातिविचारः । प्रमाणसमुच्चयस्य तद्वृत्तेश्च वसुधररक्षितविरचितौ कनकवर्मविरचितौ च भोटभाषानुवादौ सम्प्रति उपलभ्येते । सवृत्तिकस्य प्रमाणसमुच्चयस्योपरि ईश्वरसेन-जिनेन्द्रबुद्धिप्रभृतिभिर्बहुभिष्टीका विरचिता, तासु जिनेन्द्रबुद्धिविरचिताया 'विशालामलवती'टीकायाः भोटभाषानुवाद एव सम्प्रति उपलभ्यते ।

---

१ 'भोट' शब्देन तिब्बत[Tibet]देशीयभाषा विवक्षिताऽत्र तिब्बतदेशे तथा व्यवहारात् । २ दृश्यतां पृ० १०६ पं० २२–२३ टिप्पृ० ३१ टि० १ । ३ तत्त्वसंग्रहपञ्जिका पृ ३१२ पं० २१ पृ० ३३९ पं० १५ । ४ सवृत्तिकाया अस्या भोटभाषानुवादो 'बस्तन् ऽग्युर्'संग्रहे मृदो वर्गे 'चे'[=९५]पुटे विद्यते । N ed पृ० १८० A–१८३A । P ed पृ० १७७A–१७९A । D ed पृ० ८६A–८७B । The Adyar Library Series No 32 Adyar, Madras–इत्यत्र संस्कृतानुवादेन सह प्रकाशितेयम् । ५ बस्तन् ऽग्युर् मृदो चे[=९५] । N ed पृ० १८२A–१८३B । P ed पृ० १७९A–१८०B । D ed पृ० ८७B–८८B । C ed पृ० ८७A–८८B । तन्त्रालोकवृत्तौ [Kashmir Series XXIX ५।११ पृ० १८] उल्लिखितेयम् । भोटभाषानुवादे तु त्रिकालपरीक्षा इति अभिधानम् । ६ दिङ्नागेन प्रमाणसमुच्चयस्य पञ्चमपरिच्छेदे उल्लिखितम् । ७ नयचक्रवृत्तौ उल्लिखितम् । ८ एतद्विषयेऽधिकमग्रे वक्ष्यते । ९ दृश्यतां पृ० ५८८ पं० २४ । तत्त्वार्थसूत्रसिद्धसेनीयवृत्ति ५।२४ । १० Gaekwads Oriental Series No XXXVIII Baroda इत्यत्र संस्कृतभाषायां प्रकाशितः । ११ बस्तन् ऽग्युर् मृदो चे [=९५] इत्यत्र अस्या भोटभाषानुवादो विद्यते । N ed पृ० १९३B–१९४A । P ed पृ १८९A–१९०A । D ed पृ० ९३A–अनुसारेणास्य संस्कृते हेतुचक्रडमरु(समा ?)श्च इति नाम । हेतुचक्रनिर्णय इत्यपि अस्य नाम भोटभाषानुवादानुसारेण प्रतीयते । १२ चीनभाषानुवादानुसारेणेदं नाम । संस्कृतेऽस्य किं नाम आसीदिति न सुष्ठु ज्ञायते । अस्य चीनभाषानुवाद एवोपलभ्यते । तदनुसारेण Prof Hidenori Kitagawa [Nagoya University Nagoya, Japan] इत्यनेन सम्प्रति English भाषानुवादोऽपि विहितोऽस्ति । १३ C ed–D ed मध्ये तु अस्य 'सुघनरक्षित' इति नामोपलभ्यते इति ध्येयम् । १४ अनुवादा एते 'बस्तन् ऽग्युर्'संग्रहे 'मृदो'वर्गे 'चे' [=९५] पुटे संगृहीताः । १५ ईश्वरसेनमतस्य धर्मकीर्तिना बहुत्र निराकृतत्वात् धर्मकीर्तेः प्राग्‌यं सञ्जात इति प्रतीयते । १६ धर्मकीर्तेरन्येषां च मतस्य किञ्चित् स्पृष्टम् इति विशालामलवतीटीकाप्रारम्भे जिनेन्द्रबुद्धिना अभिहितत्वात् जिनेन्द्रबुद्धिः धर्मकीर्तेः पश्चाज्जात । १७ बस्तन् ऽग्युर्'संग्रहे मृदो विभागे N ed–P ed मध्ये रे[=११५]पुटेऽयं वर्तते C ed–D ed मध्ये तु ये [=११४] पुटे विद्यते इति ध्येयम् । नवसहस्रश्लोकपरिमितेयं टीका । C ed पृ० १–३३६ । D ed पृ० १–३१८ । P ed पृ० १–३५५ । N ed पृ० १–३६० । १८ केनचित् भोटदेशीयविदुषा भोटभाषायां रचिता एका प्रमाणसमुच्चयटीका A complete catalogue of the Tibetan Buddhist canons [Published by Tohoku University, Sendai, Japan] इत्येतदनुसारेण D ed मध्ये 5437 ग्रन्थाङ्के विद्यत इति ध्येयम् ।

सम्यक् शास्त्राशयापरिज्ञानात् अनुवादार्थमवलम्बितसंस्कृतग्रन्थस्याशुद्धत्वादेर्वा कारणात् प्रमाणसमुच्चयस्य तद्वृत्तेश्च भोटभाषानुवादौ अनुवादकाभ्यां न सम्यग् विहितौ अशुद्धौ च इति भाति। यद्यपि स्थलेषु शब्दश एव न अनूदितम्, किन्तु आशय एव वर्णित इत्यपि दृश्यते। अतस्तदनुसारेण यथावत् संस्कृतेऽनुवादनमतीव दुष्करम्। वसुधररक्षितनिर्मितानुवादयोः कनकवर्मविरचितानुवादयोश्च परस्परं साम्यमपि दृश्यते क्वचिच्च अल्पं बहुतरं वा वैषम्यमपि दृश्यते। विशालामलवती टीकाया अनुवादस्तु अतीव समीचीनः प्रायः शुद्धश्च, किन्तु तत्र प्रमाणसमुच्चयस्य वृत्तेश्च कानिचिदेव पदानि प्रतीकतया उपादाय व्याख्यातानि, न तु सर्वाणि। अतस्तदनुसारेण प्रमाणसमुच्चयस्य वृत्तेश्च कानिचिदेव पदानि यथावत् संस्कृतेऽनुवदितुं शक्यन्ते इति ध्येयम्।

एते चानुवादा अनेकेषु स्थानेषु उत्कीर्णकाष्ठफलकैर्मुद्रिता उपलभ्यन्ते। अनन्तेषामनेकानि संस्करणानि सन्ति। अस्माभिश्चत्वारि ज्ञायन्ते – Narthang edition 1, Peking edition 2, Derge edition 3, Chone edition 4। तत्र N ed–P ed मध्ये कनकवर्मविरचित. प्रमाणसमुच्चयकारिकानुवाद, वसुधररक्षितविरचित प्रमाणसमुच्चयवृत्त्यनुवाद, कनकवर्मविरचित. प्रमाणसमुच्चयवृत्त्यनुवादश्च इत्यनुवादत्रयमेव उपलभ्यते। C ed–D ed मध्ये तु वसुधररक्षितविरचित. प्रमाणसमुच्चयकारिकानुवादः प्रमाणसमुच्चयवृत्त्यनुवादश्च इत्यनुवादद्वयमेवोपलभ्यते। विशालामलवत्या भोटभाषानुवादस्तु सर्वेष्वपि संस्करणेषु उपलभ्यते। एतेषु च सर्वेषु संस्करणेषु N ed संस्करणमपरसंस्करणेभ्योऽधिकतरं शुद्धमिति विदुषामनुभवः। एतेषां पत्राणां मानम् २२" × ६" इञ्च[Inch]प्रमितं ज्ञेयम्। प्रतिपत्रं पृष्ठद्वयम्, आद्यपृष्ठं विना प्रतिपृष्ठं च सप्त सप्त पङ्क्तयः प्रायशो दृश्यन्ते।

सर्वानेताननुवादानवलम्ब्य अनेकेषु च प्राचीनग्रन्थेषु उल्लिखितं दिङ्नागमतं परिशील्य भोटभाषानुवादेभ्योऽस्माभिः संस्कृतभाषायां परिवर्तितस्य प्रमाणसमुच्चयस्य वृत्तेश्च प्रसक्तानुप्रसक्तव्याजेन उपयुक्तोऽंश इह उपन्यस्यते—

[अस्माभिरत्र प्रयुक्तानां सङ्केतानां स्पष्टीकरणम्। C ed=Chone edition D ed=Derge edition N ed=Narthang edition P ed.=Peking edition। Ps¹=प्रमाणसमुच्चयकारिकाणां वसुधररक्षितविरचितो भोटभाषानुवादः। Ps²=प्रमाणसमुच्चयकारिकाणां कनकवर्मविरचितो भोटभाषानुवादः। Psv¹=प्रमाणसमुच्चयवृत्तेः वसुधररक्षितरचितो भोटभाषानुवादः। Psv²=प्रमाणसमुच्चयवृत्तेः कनकवर्मरचितो भोटभाषानुवादः। VT=सवृत्तिकस्य प्रमाणसमुच्चयस्योपरि जिनेन्द्रबुद्धिरचिताया 'विशालामलवती'टीकाया भोटभाषानुवादः। तत्त्वसं०=तत्त्वसंग्रहः। तत्त्वसं० पं०=तत्त्वसंग्रहपञ्जिका। तत्त्वार्थरा०=तत्त्वार्थसूत्रस्योपरि अकलङ्कप्रणीतं राजवार्तिकम्। न्या० र०=मीमांसाश्लोकवार्तिकस्य पार्थसारथिमिश्ररचिता न्यायरत्नाकराख्या व्याख्या। परि०=परिच्छेदः। प्रं० वा०=धर्मकीर्तिरचितं प्रमाणवार्तिकम्। प्र० वार्तिकालं०=प्रज्ञाकरगुप्तरचितः प्रमाणवार्तिकालंकारः Tibetan Sanskrit Works Series [Published by K P Jayaswal Research Institute, Patna] इत्यत्र प्रकाशितः। प्र०वा०म०=प्रमाणवार्तिकस्य मनोरथनन्दिकृता[10] वृत्तिः। प्र० वा० म० टि०=प्र० वा० म० इत्यस्य विभूतिचन्द्रलिखितं टिप्पणम्। प्र० वा० म० परिशिष्ट.=प्र० वा० म० इत्यस्य अन्ते विभूतिचन्द्रलिखितं परिशिष्टम्। भोट.=भोटभाषानुवादः। मी० श्लो० वा०=कुमारिलरचितं मीमांसाश्लोकवार्तिकम्। विशाला०=विशालामलवत्या भोटभाषानुवादा[VT]नुसारेणास्माभिः संस्कृतभाषायां विहितोऽनुवादः, पृष्ठाङ्कास्तु तत्र भोटभाषानुवादस्यैव अस्माभिर्लिखिता इति ध्येयम्। सं.=भोटभाषानुवादानुसारेण विहितः संस्कृतेऽनुवादः।]

---

१ Xylographs। २ N ed P ed पृ० १–१३ A। ३ C ed–D ed इत्यत्र तु अस्य 'सुधनरक्षित' इति नाम। ४ C ed–D ed पृ० १४–८५ B। N ed पृ० १३ A–९६ B। P ed पृ० १३ A–९३ B। ५ N. ed पृ० ९६ B–१८० A। P ed पृ० ९३ B–१७७ A। ६ C ed–D ed पृ० १–१३। ७ अस्माभिस्त्वत्र प्रायः सर्वत्र D ed इत्यस्यैवोपयोगो विहितः। Dr Yensho Kanakura [Professor in Indology and specialist in Jain Philosophy, Tohoku University, Sendai, Japan], Prof. Hidenori Kitagawa [Lecturer in Indian Philosophy, Nagoya University, Nagoya, Japan] इत्यनयोर्महता सौहार्देन 'फोटो'[Photographs]प्रतिकृतिरूपेण लब्धोऽयं D ed विशालामलवतीभोटभाषानुवादोऽस्माभिः। ८ भारतीयज्ञानपीठ, काशी–इत्यत्र प्रकाशितम्। ९ इदं तु ध्येयम्–प्रमाणवार्तिकपरिच्छेदानां द्विविधः क्रम उपलभ्यते–स्वार्थानुमानपरिच्छेदः १, प्रमाणपरिच्छेदः २, प्रत्यक्षपरिच्छेदः ३, परार्थानुमानपरिच्छेदः ४ इति एकः। अपरस्तु प्रमाण० १, प्रत्यक्ष० २, स्वार्थानु० ३, परार्थानु० ४ इति। आद्यो धर्मकीर्तिना स्वयमेव सहेतुकं स्वीकृतः तट्टीकाकारैश्च देवेन्द्रबुद्धि-प्रज्ञाकरगुप्तादिभिरनुसृतः। अतोऽयं मौलिकः क्रमः। मनोरथनन्दिना तु सुगमतायै द्वितीयः क्रमः स्वीकृतः। अस्माभिरपि 'प्र० वा०'सङ्केते 'प्र० वा० म०'सङ्केते च अयं द्वितीय एव क्रमोऽत्र श्लोकाङ्कनिर्देशाय विवक्षितः, 'प्र०वार्तिकालं०'सङ्केते तु प्रथमः क्रम इति ध्येयम्। १० Journal of The Bihar and Orissa Research Society, PATNA इत्यत्र प्रकाशिता।

दिङ्नागविरचित' सवृत्तियुक्त

[1]प्रमाणसमुच्चयः

[तत्र प्रथमस्य प्रत्यक्षपरिच्छेदस्य कतिपयोंऽश]।

भोट छद् मर् ग्युर् प ऽग्रो ल फन् पर् बृशेद् ॥ स्तोन् प बृदे ग्शेग्स् स्क्योब् ल फ्यग् ऽछ्ल् नस् ॥ छद् मर् स्ग्रुब् फियिर् रङ् गि ग्शुङ् कुन् ल्स् ॥ बतुस् ते स्न छोग्स् ऽथोर् नेम्स् ऽदिर् ग्चिग् ब्य ॥ १ ॥

ऽदिर् यङ् रब् तु ब्येद् पऽि दङ् पोर् ग्यु दङ् ऽग्रस् बु फुन् सुम् छोग्स् पस् छद् मर् ग्युर् च जिद् क्यिस् ब्चोम् ल्दन् ऽदस् ऽ बस्तोद् प बृजात् प नि गुस् प ब्स्क्येद् पर् ब्य बऽि दोन् दुऽो ॥ दे ल ग्यु नि ब्सम् प दङ् स्ब्योर् ब फुन् सुम् छोग्स् पऽो ॥ ब्सम् प नि ऽग्रो ब ल फन् पर् बृशेद् पऽो ॥ स्ब्योर् ब नि ऽग्रो ब ल ब्स्तन् प स्तोन् पऽो ॥ ऽब्रस् बु नि रङ् दङ् ग्शन् ग्यि दोन् फुन् सुम् छोग्स् पऽो ॥ रङ् दोन् फुन् सुम् छोग्स् प नि बृदे बर् ग्शेग्स् प जिद् क्यिस् ते ॥ दोन् ग्सुम् वे बर् ब्ल्ङ् बर् ब्यऽो ॥ रब् तु मृजेस् पऽि दोन् नि स्क्येस् बु ग्सुग्स् लेग्स् ब्शिन् नो ॥ फियिर् मि ल्दोग् पऽि दोन् नि रिम्स् नद् लेग्स् पर् ब्यङ् ब ब्शिन् नो ॥ म लुस् पऽि दोन् नि बुम् प लेग्स् पर् गङ् ब ब्शिन् नो ॥ [2]दोन् ग्सुम् पो दे यङ् फियि रोल् बऽि ऽदोद् छग्स् दङ् ब्रल् ब दङ् स्लोब् प दङ् मि स्लोब् प नेम्स् लस् रङ् दोन् फुन् सुम् छोग्स् प ल्यद् पर् दु ब्य बऽि फियिर् रो ॥ ग्शन् दोन् फुन् सुम् छोग्स् प नि स्ग्रोल् बऽि दोन् ग्यिस् न स्क्योब् प जिद् दो ॥ द ल्त बुऽि योन् तन् चन् ग्यि स्तोन् प ल फ्यग् ऽछल् नस् छद् म ब्स्ग्रुब् पर् ब्य

---

१ अस्योपार जिनेन्द्रबुद्धिना विशालामलवती टीका विरचितास्ति। तस्या भोटभाषानुवादादुद्धृत्य संस्कृतेऽनूद्य च कतिपयोंऽश इह टिप्पणेषु बध्यते। सोऽप्यवश्य द्रष्टव्य । २ भोटलिप्या सीसकाक्षरा[Types]णामत्र देशे दुर्लभत्वात् सवृत्तिकस्य प्रमाणसमुच्चयस्य कतिपयांशात्मको भोटभाषानुवाद इह देवनागरीलिप्यां मुद्यते। इद पुनरवधेयम्-प्रमाणसमुच्चय वृत्तौ प्राय सर्वासामपि प्रमाणसमुच्चयकारिकाणा प्रतीकरूपेण अन्तर्गतत्वात् PSV^{1} एवास्माभिरत्रोपन्यस्यते। यत्र तु कारिकाणां पृथग् निर्देशोऽप्यावश्यक इत्यस्माक मत तत्र PS$^{1-2}$ इत्यतो यथायोगमुद्धृत्य 卐 卐 एतादृशचिह्नमध्ये च निवेश्य पृथगपि विहित कारिकाणां निर्देश । C ed मुद्रित एव PS^{1} अस्माभिरुपयुक्तोऽत्र । C ed मुद्रितौ PS^{1} PSV^{1} Mr Walter H Maurer इत्येतयां महता प्रयत्नेन सौजन्येन च The Library of Congress, Washington 25 D C [U S A] इत्यत 'मायक्रोफिल्म'[Microfilm]रूपेणास्माभिर्लब्धौ । PS^{2} PSV^{2} च N ed मुद्रितावेवास्माभिरुपयुक्तावत्र। तत्र PS^{2} फोटोस्टाट[Photostat]रूपेण India Office Library, London –इत्यतो लब्ध । अत्रPSV^{1} इत्यस्य सम्पादने C ed, D ed, N ed –इति त्रयाणामपि यथायोग विहितोऽस्माभिरुपयोग पृष्ठाङ्कास्तु C ed इत्यस्यैवात्र दर्शित । यत्र च PS$^{1-2}$ PSV^{2}, VT-इत्येतेषु अत्यन्तमुपयोगी पाठभेदोऽस्माकमभिमतस्तत्र सोऽपि टिप्पण्यां दर्शित । संस्कृतीकरणे तु PS$^{1-2}$, PSV$^{1-2}$ VT-इत्येतयां सर्वेषामपरेषां चानेकसंस्कृतग्रन्थानामप्यत्र विहित उपयोग । D ed मुद्रित PSV^{1} अस्माभि Dr Susumu Yamaguchi [President of the Otani University, Kyoto, Japan] Dr Jyosho Nozawa [Prof Koyasan University, Koyasan, Japan], Dr Hideo Kimura [Prof Ryukoku University, Kyoto, Japan] इत्येतेषां महता सौजन्येन प्रयत्नेन च लब्ध । N ed मुद्रितौ PSV$^{1-2}$ तु Dr H R R Iyengar [Retired Director of the Oriental Research Institute, Mysore University, Mysore] इत्येतेषां महाशयानां सौहार्दादौदार्याद् महासौजन्याच्च लब्धौ। २ दोन् ग्सुम् पो ऽदि यङ् ग्ष्लेग्स् प ल सोग्स् प स्ते –VT पृ० ७ B।

बडि फ्यिर् रङ् गि रब् तु ब्येद् प गिग्स् पडि स्गो ल मोगस् प नम्स् लस् ऽदिर् गचिग् तु बँतुस ते। छ्
म कुन् लस् बतुस् प बर्चस् पर् ब्यऽो॥ गृशन गियि छद् म दगग् पर् ब्य बडि फ्यिर् दङ् रङ् गि छद् मडि
योन तन बर्जोद् पर् ब्य बडि फ्यिर् दङ्॥ गट् गि फ्यिर् गृशन ब्य नोंगस् प नि छद् म ल रग् लस् प
यिन पस् ऽदिर् यद् लोग् पर् तोंगस् प मद् बा नऽो॥

सं. 5 प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने।
प्रमाणसिद्ध्यै स्वमतात् समुच्चय· करिष्यते विप्रसृतादिहैकतः॥ १॥

अत्र च भगवतो हेतुफलसम्पत्त्या प्रमाणभूतत्वेन स्तोत्राभिधानं प्रकरणादौ प्रसादजननार्थम्। तत्र हेतुराशयप्रयोग-

---

१ "बतुस् नस् गेस् प ल मोगस् प नि। · छद् म नमूस् ग्यि कुन लस बतुस् प यद् दग पर्
बतुस् पर् ब्यऽो॥"–VT. पृ० ११ A। २ प्र० वा० म० परिशिष्टे उद्धृतो व्याख्यानत्रयं श्लोक, पृ०५१८-५२१।
३ "अत्र भगवतो हेतुफलसम्पत्त्या प्रमाणभूतत्वेन स्तोत्राभिधानं शास्त्रादौ शास्त्रार्थत्वात्। भगवानेव हि प्रमाणभूतोऽस्मिन्
प्रसाध्यते। तत्र हेतुराशयप्रयोगसम्पत् साव्यवहारिकप्रमाणापेक्षया। आशयो जगद्धितैषिता। प्रयोगो जगच्छासनाच्छास्तृत्वम्।
फलं स्वपरार्थसम्पत्। स्वार्थसम्पत् सुगतत्वेन त्रिविधमर्थमुपादाय, प्रशस्तत्व(त्वार्थ ?) सुरूपवत्, अपुनरावृत्त्यर्थं सुनष्ट-
ज्वरवत्, निःशेषार्थं सुपूर्णघटवत्। परार्थसम्पत् जगत्तारणात् तायित्वम्। सन्तानार्थं चापरिनिर्वाणधर्मत्वात्। एवम्भूतं भगवन्तं
प्रणम्य प्रमाणसिद्धिर्विधीयते। प्रमाणाधीनो हि प्रमेयाधिगमः। भगवानेव च प्रमाणम्। [पृ० १] ···· नन्वाचार्येण
शासनमुपायत्वेन तु सप्रयत्नस्य निर्दिष्टम्। तथा चोक्तम्–'प्रयोगो जगच्छासनाच्छास्तृत्वम्।[पृ० ११५]' 'हेतुफलमिदं द्वयम्–
'तत्र हेतुराशयप्रयोगसम्पत्। आशयो जगद्धितैषिता, प्रयोगो जगच्छासनाच्छास्तृत्वम्।' किं तत् सुगतत्वम्? ··तस्य हेतोः
प्रहाणं त्रिगुणं प्रशस्तत्वात् अपुनरावृत्तेः निःशेषप्रहाण(णात् ?) चेति [पृ० ११६]।"–प्र०वार्तिकालं०। "अत्रेति श्लोके,
भगवान् इति 'भग'शब्दोऽयमैश्वर्यादिषु वर्तते यथोक्तम्–'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः। [ये शेस् दङ्=] ज्ञानस्याथ
च वीर्यस्य षण्णां भग इतीरणा॥ १॥' इति। तस्य स्तोत्राभिधानम्· स्तोत्रेणाभिधानं स्तोत्रवचनेन गुणवत्त्वप्रकाशन-
मित्यर्थः। केन गुणेन तथा प्रकाशनमित्याह–प्रमाणभूतत्वेनेति। स च गुणः केन हेतुनेत्याह–हेतुफलसम्पत्त्येति [पृ० ४A]
··· · तच्च किमर्थमित्याह–प्रकरणादौ प्रसादजननार्थमिति [पृ० ४B] तत्र हेतुराशयप्रयोगसम्पदिति। आशयं दर्शयति–
आशयो जगद्धितैषिता इति।·· प्रयोगो जगच्छासनात् इत्यादि [पृ० ५B]। 'जगच्छासनाच्छास्तृत्वमिति [पृ० ६A]
·· तस्य फलं स्वपरार्थसम्पत्।·· स्वार्थसम्पत् सुगतत्वेन इत्यादि। 'सु'शब्दोऽयमत्र प्रभूतत्वाद्यर्थप्रकाशको वेद्य। यदाह–
त्रिविधमर्थमुपादाय इत्यादि [पृ० ७A]। · अर्थत्रय चेदमित्यादि। तत्र बाला वीतरागा ··· ··[पृ० ७B]। ·······
···'परार्थसम्पत् तारणार्थेन' इत्यनेन 'ताय'शब्दार्थमाह। तारणं स्वदृष्टमार्गोपदर्शनम्। स एवार्थ।·· सोऽस्यास्तीति तेनार्थेन
भगवतः तायित्वम् [पृ० ८A]···· ····· ·····'भगवान् बाह्यशैक्षाऽशैक्षेभ्योऽधिकः [पृ० ९B]। ··
स्वप्रकरणेभ्य इतीदं 'स्वमतात्' इत्यस्य विवरणम्। 'मुख'शब्देनैवापि पूर्वोक्त 'विप्रसृत'शब्दार्थो द्योतित एव प्रतीयते इति न
व्याख्यातः। 'मुखं द्वारं दिङ्मात्रप्रदर्शनं सङ्क्षेपः।·· ·· बहुष्वपि मतसामान्यात् श्लोके 'स्वमतात्' इत्येकवचनम्। वृत्तौ विशेष-
विवक्षया 'स्वप्रकरणेभ्य' इति बहुवचनम् [पृ० १०B]। इचित्येत्यादि, पूर्वकृतमन्यच्च किञ्चिदपूर्वं बुद्धौ स्थितमपि समादाय
प्रमाणानां समुच्चयः स्मद्ध्द् सग्रह **करिष्यते**। अत्र च प्रमाण-प्रमेय-तदाभासादय ·· · 'प्रमाण'शब्देनाभिधी-
यन्ते। परप्रमाणप्रतिषेधार्थेत्यादिना 'प्रमाणसिद्धि'शब्दार्थमाह।·· · स्वप्रमाणमेव गुणः अर्थार्थिभिर्गुण्यत इति कृत्वा अर्थ-
प्रापकत्वाच्च।·· यस्मादित्यादिना प्रमाणस्य पुरुषार्थोपयोगित्वं दर्शयति।· प्रमेयं चात्र हेयमुपादेयं च। यस्मात् तदधिगमः
प्रमाणाधीनः तस्मात् प्रमाणसिद्ध्यै प्रयत्नः सफल इत्याशयः। अत्र केचिदाहु–प्रमाणानि स्वत एव सिद्धानीति। तन्मतानुयायि-
नोऽपरं श्लोकं पठन्ति–'प्रसिद्धानि प्रमाणानि व्यवहारश्च तत्कृतः। प्रमाणलक्षणस्योक्तौ ज्ञायते न प्रयोजनम्॥' [न्यायावतारे
श्लोकोऽयं दृश्यते॥ २॥] इति। तस्मात् तन्निराकरणायाह–अत्र च [पृ० ११A] विप्रतिपत्तिर्बहुधा इति।···यस्मात् प्रमाणे
विप्रतिपत्तयो बहुधा तस्मात् तासां निराकरणाय शास्त्रमिति [पृ० ११B]।"–विशाला०। ४ PS[1]–[2]. अनुसारेणा-
स्माभिः 'च'शब्दोऽत्र लिखितः, किन्तु विशालामलवत्यामव्याख्याततत्वादनर्थकोऽपि स्यादिति भाति। ५ "तुल्ना–"भगवति
प्रसादजनने श्रोतृजनानुग्रहार्थं च स्तुतिपूर्वकमाचार्यो नमस्कारश्लोकमाह।"–प्र० वा० म० पृ० १। "शास्तृपूजाविधानं तु
भगवति सर्वश्रेयोधिगतिहेतौ प्रसादस्य उत्पादनार्थम्।"–तत्त्वसं० पं० पृ० ७।

सम्पत् । आशयो जगद्धितैषिता । प्रयोगो जगच्छासनाच्छास्तृत्वम् । फलं स्वपरार्थसम्पत् । स्वार्थसम्पत् सुगतत्वेन त्रिविधमर्थमुपादाय, प्रशस्तार्थे सुरूपवत् अपुनरावृत्त्यर्थे सुनष्टज्वरवत् निःशेषार्थे सुपूर्णघटवत् । अर्थत्रयं चेदं बाह्यवीतरागशैक्षाऽशैक्षेभ्यः स्वार्थसम्पद्विशेषात् । परार्थसम्पत् तारणार्थेन तायित्वम् । एवंगुणं शास्तारं प्रणम्य प्रमाणसिद्धौ स्वप्रकरणेभ्यो न्यायमुखादिभ्य इह एकत्र उच्चित्य प्रमाणसमुच्चयः करिष्यते परप्रमाणनिषेधाय स्वप्रमाणगुणाभिधानाय च, यस्मात् प्रमाणाधीनो हि प्रमेयाधिगमः, अत्र च बहुधा विप्रतिपत्तिः ।

भोट ཕྱ मूङोन् सुम् दङ् नि जैम् सु दपग् ॥ छद् म दग् नि मूछन् निद् गूञिस् ॥
गफल् ब्य दे ल रङ् स्योद् फियर् ॥ छद् म गूशन् नि योद् म यिन् ॥ २ ॥
यङ् यङ् शेस् पऽङ् म यिन् ते ॥ धुग् प मेद् ऽग्युर् द्रन् सोगस् बृशिन् ॥ ཕྱ P₃[2] पृ० १–२ ।

द ल । मूङोन् सुम् दङ् नि जैम् सु दपग् छद् म गूञिस् स्वो नऽो ॥ गङ् गि फियर् जे न । मूछन् निद् गूञिस् गफल् ब्य । रङ् दङ् स्पियिऽ मूछन् निद् दग ल्स् गूशन् पऽि मूछन् निद् गूशल् बर् ब्य ब गूशन् नि मद् दो ॥ रङ् गि मूछन् निद् क्यि युल् चन् नि मूङोन् [14] सुम् ल । स्पियिऽ मूछन् निद् क्यि युल् चन् नि जैम् सु दपग् पऽो जेस् नेस्[5] पऽो । गल् ते ऽदि मि तग् चेस् ब्य ब ल सोगस् पऽि नेस् पस् स दोग् ल सोगस् प ऽजिन् प दङ् ल्न् चिग् म यिन् प ऽजिन दे जि ल्तर् जे न । दे ल्तर् ऽजिन् प नि योद् मोद् क्यिस् ऽोन्[6] कयङ् गूशल् ब्य देऽि रङ् स्योद् बस् ॥ द ल रङ् स्योद् छद् म गूशन् म यिन् । रङ् दङ् स्पियिऽ मूछन् निद् य स्नद् दु म ब्यस् प दङ् ख दोग् निद् दग् ल्स् ख दोग् ल सोगस् प गसुम् नस स्पियिऽ मूछन् निद् नि ख दोग् ल सोगस् प मि तग् गो जेस् मि तग् प निद् ल सोगस पर् यिद् क्यिस् स्व् तु स्योर् बर् ब्येद् दो ॥ देऽि फियर् छद् म गूशन् म यिन् नो ॥ यङ् यङ् नेस् पऽङ् म यिन् ते । गङ् ल्न् चिग् म यिन् पर् दोन् दे यिन् सो सोर्[7] शो शेस् प योद् मोद् । दे ल्तर् न यङ् छद् म गूशन् नि म यिन् नो ॥ चिऽि फियर् जे न । धुग् प मेद् ऽग्युर् । गल् ते शेस् प थमस् चद् छद् म निद् दु ऽदोद् प दे ल्त न नि छद् म धुग् प मेद् पर् ऽग्युर् ते । द्रन् सोगस् बृशिन् । द्रन् प नि द्रन् प निद् दो ॥ दपेर् न द्रन् प दङ् ऽदोद् प दङ् जे स्दङ् ल सोगस् प स्ङर् तोग् पऽि दोन् ल छद् म गूशन् म यिन् प बृशिन् नो ॥

स प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणे, लक्षणद्वयम् ।
प्रमेयं, तत्र संधाने न प्रमाणान्तरं, न च ॥ २ ॥
पुनः पुनरभिज्ञानेऽनिष्ठासक्तेः स्मृतादिवत् ।

---

१ सु'शब्दस्य त्रिविधोऽर्थः-प्रशस्तता सुरूपवत् । अपुनरावृत्तिः सुनष्टज्वरवत् । निःशेषता च सुपूर्णघटवत् । -प्र० वा० म० पृ ५९ । तुलना-प्र० वा० १।१४१-४४ । धर्मोत्तरप्रदीप पृ० ३ । २ तुलना- तायात् तत्त्वस्थिराशेषविशेषज्ञानसाधनम् । बोधायत्वाद् गमे बाह्यशैक्षाशैक्षाधिकस्ततः ॥ -प्र० वा० १।२८२-८३ । स च भगवान् बाह्यशैक्षाशैक्षेभ्योऽधिकः । ये लौकिकभावनामार्गेण वीतरागा बाह्या अतत्त्वदर्शिनस्तेभ्यस्तत्त्वदर्शित्वादधिकः । ये शैक्षा अबाह्या परिहाणिधर्माणस्तेभ्योऽपुनरावृत्त्या । ये च अशैक्षा श्रावका अप्रहीणक्लेशवासना असाक्षात्कृतसर्वाकारवस्तवस्तेभ्यो निःशेषप्रतीत्या । -प्र० वा० म० पृ १०७ । परार्थवृत्तेः खड्गादेर्विशेषोऽयं महामुनेः । -प्र० वा० १।१४० । अयमेव वासनाहानिलक्षणः स्वार्थः प्रत्येकबुद्ध आर्यस्य श्रावकस्य तस्मात् सकाशात् महामुनेः सम्यक्सम्बुद्धस्य विशेषः स्वार्थसम्पत्तेः । -प्र० वा० म० पृ० ५८ । ३ "वृत्तौ 'एवंगुण शास्तारं प्रणम्य' इति ।"-विशाला० पृ० २ B । ४ किं पुनरस्य प्रमाणस्य फलम् ? प्रमेयाधिगतिः । उक्तं च-प्रमाणाधीनो हि प्रमेयाधिगमः" ।-प्र० वार्तिकाल० पृ० ३४० । ५ शेस् पर् ब्यऽो ॥ गङ् ते ऽदि ल्तर् ऽदि -PSV[2] पृ ९२ A । ६ ऽोन् कयङ् दे ल रङ् स्योर् फियर् छद् म गूशन् नि योद् म यिन् । -PSV[2] पृ ९७ A । ७ 'शेस् प यिन् मोद् -PSV[2] । ८ तदेव 'प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणे लक्षणद्वयं प्रमेयम्' इत्याख्याय 'तस्य संधाने न प्रमाणान्तरं न च पुनः पुनरभिज्ञानेऽनिष्ठासक्तेः स्मृतादिवत्' इत्यस्य वृत्तिः यत् तर्हि इदमनित्यमित्याकारैर्वर्णादि गृह्यतेऽसकृद्वा' इति व्याख्याता । -प्र० वा० म० टि० पृ० १४० । ९ 'तस्माद् याजनाद् वर्णसामान्ये न प्रमाणान्तरत्वम् । न च पुनः पुनरभिज्ञानेऽनिष्ठासक्तेः स्मृतादिवत् ।"-प्र० वार्तिकाल० पृ० २८ ।

तत्र प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणे द्वे एव, यस्माद् लक्षणद्वयं प्रमेयम्, न हि स्वसामान्यलक्षणाभ्यामन्यत् प्रमेयमस्ति। स्वलक्षणविषयं हि प्रत्यक्षम्, सामान्यलक्षणविषयमनुमानमिति प्रतिपादयिष्याम। यत तर्हीदमनित्यादिभिराकारैर्वर्णादि गृह्यतेऽसकृद्वा तत् कथम्? तद् ग्रहणमस्ति, अपितु तत्र सन्धाने न प्रमाणान्तरम्। स्वसामान्यलक्षणाभ्यां हि अव्यपदेश्यवर्णत्वाभ्यां वर्णादि गृहीत्वा, सामान्यलक्षणं वर्णादि 'अनित्यम्' इति अनित्यत्वादिना मनसा सन्धत्ते। तस्माद्

---

१ "एवं सामान्यलक्षणमभिधाय विशेषलक्षणमाह–'प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणे।'·· यस्माल्लक्षणद्वयं प्रमेयम्। यदाह–'न हि स्वसामान्यलक्षणाभ्यामपरं प्रमेयमस्ति। स्वलक्षणविषयं प्रत्यक्षम्, सामान्यलक्षणविषयमनुमानमिति प्रतिपादयिष्यामः। [पृ० १७०]।' ···उक्तं चाचार्येण–'यस्माल्लक्षणद्वयं प्रमेयम्' इति [पृ० २१३]।"–**प्र० वार्तिकालं०** पृ० १६९। तुलना–**नयचक्र-वृत्ति.** पृ० ८८ पं० ३, ५, १८–२४, टि० १०। "**तत्र** फल-स्वरूप-गोचर-सङ्ख्यासु चतस्रो विप्रतिपत्तय, तासु सङ्ख्याविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थमाह–**प्रत्यक्षमनुमानं चे**त्यादि [पृ० ११ B]।· 'प्रत्यक्षमनुमानं च' इत्येकं वाक्यम्, 'प्रमाणे' इति च द्वितीयम्। एवं च निश्चीयते–प्रमाणे एव, न प्रमाणानि एकं प्रमाणं वेत्यर्थः। तस्मादेव **वृत्तौ** अवधारणं कृतम्–**द्वे एव** इति। वाक्यस्य व्यवच्छेदफलत्वात् 'एव'शब्दाभावेऽपि तदर्थो लभ्यते। ···· के ते द्वे इति ···· उच्यते–प्रत्यक्षमनुमानं चेति [पृ० १२ B]। ···अत्र कारणमाह–**यस्माल्लक्षणद्वयं प्रमेय**मिति। तद् विवृणोति–**न ही**त्यादिना [पृ० १३ A] प्रमेयद्वित्वात् प्रमाणद्वित्वमिति कथमित्याह–**स्वलक्षणविषयं ही**त्यादिना। 'हि'शब्दोऽवधारणार्थ–स्वलक्षणविषयं प्रत्यक्षमेव सामान्यलक्षणविषयमनुमानमेव। प्रमाणान्तरं नास्ति। इमं चार्थं विस्तरेण 'स्वलक्षणमनिर्देश्यं ग्राह्यभेदात्' [प्र० समु० २।२] इत्यादिना प्रतिपादयिष्याम इति दर्शयितुमाह–**प्रतिपादयिष्याम** इति [पृ० १४ B]।"–**विशाला०**। २ "°मन्यत्"–**नयचक्र वृत्ति.** पृ० ८८, **प्र० वा० म०** पृ० १३२। "°मपरं"–**प्र० वार्तिकालं०** पृ० १६९। ३ "स्वलक्षणविषयं हि प्रत्यक्षम्, सामान्यलक्षणविषयमनुमानम्।"–**तत्त्वार्थरा०** पृ० ५६ पं० ३०। ४ दृश्यतां टिपृ० ९९ टि० ८। "यत् तर्हीदमनित्यादिभिराकारैर्वर्णादि **गृह्यते तत् कथम्?**"–**प्र० वार्तिकालं०** पृ० २२७। "**यत् तर्ही**त्यादि। यदि प्रमेयनियम 'स्वसामान्यलक्षणाभ्यामन्यत् प्रमेयं नास्त्येव' इत्यभ्युपगम्यते तर्हि नीलादिषु कृतकत्वादिलिङ्गदर्शनात् 'रूपमनित्यम्' इत्यादि ग्रहणं न स्यात्। तथाहि–नीलादि स्वलक्षणम्, अनित्यत्वं च सामान्यलक्षणम्।·· तस्मादिदं सामान्यविशेषरूपं प्रमेयान्तरमेव।·· तस्मात् 'रूपमनित्यम्' इत्यादि सामान्यविशेषविषयग्रहणं प्रमाणान्तरमेव। तथाहि–न तत् प्रत्यक्षं सामान्यस्यापि ग्रहणात्। [पृ० १४ B]। नाप्यनुमानम्, विशेषस्यापि ग्रहणात् लिङ्गाभावेऽपि तथाप्रतीतिसम्भवाच्च। **तत् कथमिति** तद् ग्रहणं कथं न प्रमाणान्तरमित्यर्थः। **असकृ**दिति। अनेनापि विशेषदृष्टं नाम यदनुमानं तत् प्रमाणान्तरमिति दर्शयति।·· ···एकदा प्रत्यक्षेणाग्निधूमपरिच्छेदे पुनरपि परम्परया तेनैव धूमेन 'स एवायमग्नि' इति परिच्छिनत्ति तदा विशेषदृष्टं नाम अग्निग्रहणं प्रमाणान्तरम्, अनुमानस्य सामान्यतो दृष्टत्वात्। [पृ० १५ A]"—**विशाला०**। "प्रमेयनियमे वर्णानित्यता न प्रतीयते। प्रमाणमन्यत् तद्बुद्धिर्विना लिङ्गेन सम्भवात् ॥ २।७६ ॥ विशेषदृष्टे लिङ्गस्य सम्बन्धस्याप्रसिद्धित। तत् प्रमाणान्तरं मेयबहुत्वात् बहुतापि वा ॥ २।७७ ॥ प्रमाणानामनेकस्य वृत्तेरेकत्र वा यथा। विशेषदृष्टेनैकत्रिसङ्ख्यापोहो न वा भवेत् ॥ २।७८ ॥ विषयानियमादन्यप्रमेयस्य च सम्भवात्।" इति **प्रमाणवार्तिक**कारिकाणां **मनोरथनन्दिवृत्तौ** [पृ० १३९] **प्रमाणवार्तिकालङ्काराच्च** [पृ० २२७] अयं पूर्वपक्षो विस्तरेण वेदितव्य। ५ "**असकृद्वेति**, [प्रमाण]समुच्चयं व्याचष्टे।"—**प्र० वा० म० टि०** पृ० १३९। ६ "**तथा ग्रहणमस्ति**"–PSV[1-2]। "त्र्यादिसङ्ख्या निरासश्च नास्ति, प्रमेयान्तरसम्भवात्। यस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वयोक्तौ यदा प्रमेयान्तरसम्भव तदा तद्ग्राहकं प्रमाणान्तरं स्यादिति न द्वे एव प्रमाणे इति चेत्, **तद्ग्रहणमस्ति** इत्यत्र नापलाप क्रियते, **अपितु तत्र सन्धानं(ने?) न प्रमाणान्तरम्** [पृ० १५ A]। इदं तावत् पूर्वस्य उत्तरम्। **तत्र** इति अनित्यादौ वर्णादौ च, **सन्धानं** योजनम्, यत् तद्योजने प्रवृत्तं तन्निमित्तं ज्ञानं तद् न प्रमाणान्तरम् [पृ० १५ B]।"-**विशाला०**। ७ " " PSV[1-2] अनुसारेणेत्थमस्माभि संस्कृतेऽनूदितम्। **प्रमाणवार्तिकालङ्कारे** त्वत्र अन्यथा पाठ। तथाहि "**स्वसामान्यलक्षणाभ्यां ह्यव्यपदेश्य-वर्णत्वाभ्यां वर्णादि गृहीत्वा अनित्यतया च 'अनित्यं वर्णादि' इति मनसा सन्धत्ते**' [इति] यदुक्त**माचार्येण** तत्रायं क्रमो वर्णित 'योजनाद् वर्णसामान्ये' [प्र० वा० २।८९] इत्यादिना। अनुमानेन वर्णत्वसामान्येऽनित्यताप्रतिपत्तौ प्रमाणान्तरम्।"—**प्र० वार्तिकालं०** पृ० २३६। "तद्योजनमपि कथमित्याह—**स्वसामान्यलक्षणाभ्या**मित्यादि। आदौ तावद् वर्णादि अव्यपदेश्य स्वलक्षणं प्रत्यक्षेण गृह्णाति, पश्चात् [दे सो' न ऽमू VT=] तदेव वर्णत्वादिसामान्यलक्षणं वा सविकल्पेन मनोविज्ञानेन। तस्मात् सामान्यलक्षणमनित्यत्वाद्यपि 'यत् किञ्चित् कृतकं तत् सर्वमनित्यम्' इत्येवं गृहीत्वा तत

प्रमाणान्तरम्। न च पुन पुनरभिज्ञाने। यद्सकृत् तत्रैवार्थे प्रत्यभिज्ञान तथापि (तत्रापि?) न प्रमाणान्तरम्। कस्मात्? अनिष्टासक्तेः। यदि सर्वं ज्ञान प्रमाणमिष्यते तर्हि प्रमाणानामनवस्था स्यात्, स्मृतादिवत्। स्मृतिरेव स्मृतम्। यथा स्मृतीच्छाद्वेषादि पूर्वाधिगतार्थे न प्रमाणान्तरम्, तद्वत्।

भोट 卐 मृडोन् सुम् तोंग् प दङ् ब्रल् ब ॥ मिङ् दङ् रिग्स सोग्स् प स्ब्यॊर् पडो ॥ ३ ॥ 卐 PS[2]

दे ल। मृडोन् सुम् तोंग् दङ् ब्रल् बडो ॥ शेस् प गङ् ल तोंग् प मेद् प [दे नि PSV[2]] मृडोन् सुम् मो ॥ तोंग् गेस् ब्य ब ऽदि जि ल्त बु ज़िग् यिन् ज़े न । मिङ् दङ् रिग्स सोग्स् सु स्ब्योर् बडो ॥ ऽदोद् र्ग्येन् बडि स्ग्र नॆमूस् ल मिङ् गि स्ग्यद् पर् दु ब्यस् नम् जोंद् पर् ब्येद् दे। ल्हस् यिन् गेस् ग्य ब दङ्। रिग्स् क्यि स्ग्र नॆमूस् ल चि स्ते ब ल्ङ गेस् ब्य ब दङ्। योन् तन् ग्यि स्ग्र नॆमूस् ल योन् तन् ग्यिस् ते दक़र् पो गेस ब्य ब दङ्। ब्य बडि स्ग्र नॆमूस् ल ब्य बडि स्गो नस् ते ऽछेद् प गेस् ब्य ब दङ्। र्जस् क्यि स्ग्र नॆमूस् ल र्जस् क्यि स्गो नस् ते। दब्युग् प चन् ब चन् शेस् ब्य ब ल्त बुडो ॥ ऽदि ल ख चिग् न रे ऽब्रेल् प स्ग्यद् पर् दु ब्यस् पडि स्ग्र यिन् नो शेस् सेद् दो ॥ ग्ज़न् दग् नि दोन् ग्यिस् स्तोंग् बडि स्ग्र ऽगऽ ज़िग् गिस् दोन् नॆमूस् स्ग्यद् पर् दु ब्यस शिङ् बजोंद् दो शेस् ऽदोद् दो ॥ गङ् ल तोंग् प दे दग् मेद् प दे मृडोन् सुम् मो ॥

स *प्रत्यक्ष कल्पनापोढ, नामजात्यादियोजना * ॥ ३ ॥

तत्र प्रत्यक्ष कल्पनापोढम्। यत्र ज्ञाने कल्पना नास्ति तद् प्रत्यक्षम्। अथ केय कल्पना नाम? नामजात्यादि

वर्णादि कृतकम्, तस्मादनित्यम्' इति मनसा वर्णत्वादिसामान्यमनित्यत्वसामान्येन सह योजयति तद्युक्त करोति। तस्मान्न प्रमाणान्तरम्, अपि त्वनुमानमेव। —विशाला० पृ० १५ B। योजनाद् वर्णसामान्ये नाय दोष प्रसज्यते ॥ —प्र० वा० ३।७९। विकल्पकेन मानन अनित्यताया वर्णसामान्ये योजनात् अय सामान्यविशेषात्मकप्रमेयग्राहकप्रमाणान्तरलक्षणो दोषो न प्रसज्यते। न हि विशेषोऽनित्यतया योज्यते विकल्पानामतद्विषयत्वस्योक्तेर्वक्ष्यमाणत्वाच्च। —प्र० वा० म० पृ० १४०।

१ द्रष्टव्या टिपृ० ९९ टि० ८९। "न च पुन पुनरभिज्ञानम्(ने?) इति। अभिज्ञामे फले कर्तव्ये यन्विशेष दृष्ट ज्ञानं तद् न प्रमाणम् [पृ० १६ B] इत्यर्थ। 'च शब्देन प्रत्यक्षेण गृहीते एव पुनरपि वर्णादि अनित्यम् इति यद् ग्रहण तदपि न प्रमाणमिति दर्शयति। 'पुन पुन' इत्यनेन असकृद् इत्यस्यार्थमाह [पृ १७ A]।'—विशाला०। २ PSV[1-2] अनुसारेण यदसकृत् स एवार्थ प्रत्यभिज्ञायते तथापि न प्रमाणान्तरम् इत्यपि पाठ स्यादत्र। ३ 'दे ल्त न यङ्' PSV[1-2] =तथापि। ४ "अनिष्टासक्तेरिति। सङ्ख्या-लक्षणाभ्यां प्रमाणानामियत्तापरिच्छेदो नियम तदभावप्रसङ्ग इत्यर्थ। 'अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणम्' सामान्येन प्रमाणलक्षणम् सङ्ख्या द्वे एवेति इत्यादि। तद् न स्यात्। 'यदि सर्वं ज्ञान प्रमाणमिष्यते' इत्यनेन पूर्वपक्षविरोधमाह। अनिष्टाया व्यवस्थया निराकृतत्वात्। स्मृतादिवदित्युदाहरणमाह। विपर्ययेऽप्येव निर्देशोऽस्तीत्याह—स्मृतिरेव स्मरणमिति भावे क्तविधानात्। यथादिना साध्येन हेतोरनुगम दृष्टान्ते दर्शयति। तद्वत् इति प्रमाणस्य फलम्। यदधिगतार्थविषय [पृ० १७ A] तद् न प्रमाणम् स्मृत्यादिवत् विशेषदृष्टमपि तथा [इति] व्यापकविरोध [पृ० १७ B]। —विशाला०। ५ 'यदुक्त स्मृतीच्छाद्वेषादिवत् पूर्वाधिगत विषयत्वात् पुन पुनरभिज्ञान न प्रमाणम्' इति, तद् व्याहन्यते। —तत्त्वार्थरा० पृ० ५६ प ८। ६ * * तत्त्वार्थरा० पृ० ५३। तुल्ना—नयचक्र पृ० ५९,६०। ७ तत्त्वस० प० पृ० ३६८,३६९,३७०। ८ द्रष्टव्या नयचक्र पृ० ६० टि० १५ टिपृ० ३० प० २१—टिपृ० ३१ प० २५। स्वरूपविप्रतिपत्तिनिराकरणायाह—प्रत्यक्षमित्यादि। प्रतिगतमक्ष प्रत्यक्षम् प्रादिसमास। इद लक्ष्यम्। कल्पनापोढम् इति लक्षणम्। कल्पनया अपोढ [ल्दन् प मेद् चिङ् VT =] रहितम् कल्पनाया वा अपोढ रहित [ल्दन् प मेद् चिङ् VT =] कल्पनापोढम्। —विशाला० पृ० १८A। ९ नयचक्र-वृत्ति पृ० ५९ प० २ २६। टिपृ० ३० प २१। "अथ केय कल्पना नाम इति कल्पनानां बहुत्वादत्र का कल्पना विवक्षिता इति [थे छोम् स बडि द्रि बडो VT =] संशयभाज प्रश्न। नामजात्यादियोजना। नामादिशब्देन संग्रहेऽपि जात्यादिभिरसमानसामर्थ्यात् [सोग्स् सु ब्यस् पडो VT =] पृथक्कृता। असमानसामर्थ्यं च नाम्न सत्त्वात् जात्यादीनां च तद्विपरीतत्वात्। जात्यादय परिकल्पिता तत्त्वतस्तु असन्त। नामजात्यादीनां योजना नामजात्यादियोजना 'कृद्योगा च षष्ठी समस्यत [पा म० भा० २।२।८] इति समास।"—विशाला० पृ० १८A।

योजना । [1]यदृच्छाशब्देषु नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते 'डित्थ.' इति । जातिशब्देषु जात्या 'गौ.' इति । गुणशब्देषु गुणेन 'शुक्ल.' इति । क्रियाशब्देषु क्रियया 'पाचक.' इति । द्रव्यशब्देषु द्रव्येण 'दण्डी, विषाणी' इति[2] । अत्र सम्बन्धविशिष्ट इति केचित । [3]अन्ये त्वर्थशून्यैः शब्दैरेव विशिष्टोऽर्थ उच्यते इति । [4]यत्रैषा कल्पना नास्ति तत् प्रत्यक्षम् ।

भोट. फ्र शुन् मोद् म यिन पऽि म्यु यि फ्यिर् ॥ दे यि थ स्नद् द्वर् पोस् ब्यस् ॥ PS 1-2

चि' गङ्' गि फ्यिर् ग्जिम् ल ब्र्तेन नस् स्क्येस् पऽि र्नम् पर् शेस्' पऽि द्वङ्' पो ल ब्र्तेन पऽो ॥ शेस् ब्र्जोद् क्यि युल् ल ब्र्तेन प शेस् चि म यिन शे' न । शुन मोद् मिन पऽि र्गु [पृ० १५ A] यि फ्यिर् ॥ दे यि थ' स्नद् द्वङ्' पो लस् ॥ युल् ग्सुगस् ल सोगस् प नि म यिन नो ॥ ऽदि ल्तर् शुल् नि र्युद् गशन' यिस् यिद् क्यि र्नम् पर् शेस् प दङ् थद् शुन मोद् यिन नो॥ शुन मोद् म यिन प ल थ स्नद् ब्येद् प' थद् मुथोङ् स्ते । द्पेर् न दऽि स्र नस् क्यि म्यु गु शेस प बशिन नो ॥ [5]दे ल्त बस् न मुङोन् सुम् तेंग प दङ् थ्रल् बर् ऽग्युर् प यिन नो ॥ [6]छोस् मुङोन प लस् क्यङ् मिग् गि र्नम् पर् शेस् प दङ् ल्दन पस् स्ङोन पो शेस क्यि' स्ङोन पऽो स्नम् दु नि म यिन नो ॥ दोन ल' दोन दु ऽदु' शेस क्यि दोन ल छोस् सु' ऽदु शेस् प नि' म यिन नो शेस् ग्सुङ्स् सो ॥

---

१ ४ ५ टिपृ० ३० पं० २८-२५ । "यदृच्छाशब्देषु हि · नाम्ना·· विषाणीति ।"-**न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका** [जेसलमेरस्था] ११११४। "यद्येवं कथमाचार्यीयो **वृत्तिग्रन्थो** नीयते-यदृच्छाशब्देषु **नाम्ना** ··· · विषाणीति ।"-**तत्त्वसं० पं०** पृ० ३६९ । "यदृच्छाशब्देष्वित्यादि । जात्यादिप्रवृत्तिनिमित्तनिरपेक्षा यदृच्छाशब्दा । यस्मात् कल्पना ज्ञानधर्म. न तु शब्दधर्म तस्मात् नाम्ना विशिष्टोऽर्थो 'गृह्यते' इति वक्तव्ये कल्पनाया अभिधायकशब्देन समानविषयत्वदर्शनाय 'उच्यते' इत्युक्तं तदपि 'अभिधानवत् कल्पनाज्ञानमपि न स्वलक्षणविषयम्, तस्मादप्रत्यक्षमभीष्ट'मिति ज्ञापनार्थम् । **डित्थ** इति डित्थशब्दस्वरूपात्मना सोऽर्थ तदभेदरूप प्रतीयते इति प्रसिद्धम् । एव जात्यादिभि तदभेदोपचारभृतोऽर्थ · · ···। '**दण्डी विषाणी**' इति संयोगिसमवायिद्रव्यभेदेनोदाहरणद्वयम् ।"-**विशाला०** पृ० १८B । **न्यायमञ्जर्यां** तु प्रकारान्तरेण उपचारवर्णनम्-"पञ्च चैता कल्पना भवन्ति-जातिकल्पना, गुणकल्पना, क्रियाकल्पना, नामकल्पना, द्रव्यकल्पना चेति । ताश्च क्वचिदभेदेऽपि भेदकल्पनात् क्वचिच्च भेदेऽप्यभेदकल्पनात् कल्पना उच्यन्ते । 'जातिजातिमतोर्भेदो न कश्चित पारमार्थिक । भेदारोपणरूपा च जायते जातिकल्पना ॥' इदमस्य गोर्गोत्वमिति न हि कश्चिद् भेदं पश्यति । तेनाभेदे भेदकल्पनैव । एतया सदृशन्यायाद् मन्तव्या गुणकल्पना । तत्राप्यभिन्नयोर्भेद कल्प्यते गुणतद्वतो ॥···भेदारोपणरूपैव गुणवत् कर्मकल्पना । तत्स्वरूपातिरिक्ता हि न क्रिया नाम काचन ॥·· विभिन्नयोस्त्वभेदेन प्रवृत्ता नामकल्पना । चैत्रोऽयमित्यभेदेन निश्चयो नामनामिनो ॥···एव दण्ड्ययमित्यादिर्मन्तव्या द्रव्यकल्पना । सामानाधिकरण्येन भेदिनोर्ग्रहणात् तयो ॥' ··· एव च पश्यता तासा प्रामाण्यामोदमन्दताम् । **भिक्षुणा** लक्षणग्रन्थे 'तदपोढ'पद कृतम् ॥"-**न्यायमञ्जरी.** पृ० ८७-८८ । २ "ऽदि ल स्व चिग् न रे ऽब्रेल् पस् ख्यद् पर् दु ब्यस पऽि यिन नो शेस् सेर् गे" इति PSV[2]अनुसारेण '**अत्र सम्बन्धविशिष्ट इति केचित्**' इति पाठो भाति । अयं च पाठ समीचीनो भाति । 'अत्र सम्बन्धविशिष्टोऽर्थ उच्यते इति केचिद् वदन्ति' इति तदाशय. । PSV[1] अनुसारेण तु 'अत्र सम्बन्धविशिष्ट शब्द इति केचित्' इति संस्कृतेऽनुवादो भवति । "अत्रेति क्रियाद्रव्यशब्देषु क्रियाद्रव्याभ्या यस्तद्वतां सम्बन्ध स शब्दप्रवृत्तिनिमित्तम् । तथाहि-'कारकत्वम्, दण्डित्वम्' इति भावप्रत्यय क्रियाकारकादिसम्बन्धे भवति । यथोक्तम्-समासकृत्तद्धितेषु सम्बन्धाभिधानम् [ ] इति । शब्दप्रवृत्तिनिमित्ते च भावप्रत्ययो भवति । तथा चोक्तम्-'यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेश तदभिधाने त्वतलौ' [पा० म० भा० ५।१।११९] इति । 'पाचक, [पृ० १८B] दण्डी' इति च कृत्तद्धितौ । तस्मादत्र सम्बन्धे भावप्रत्यय । अन्ये त्वर्थशून्यैरिति स्वमतं दर्शयति तदर्थजात्यादिविशेषरहितैरित्यर्थ [पृ० १९A] ।"-**विशाला०** । ३ "**अन्ये त्वर्थशून्यैः शब्दैरेव विशिष्टोऽर्थ उच्यते**' इत्यनेन ग्रन्थेन पृथक् स्वमतसिद्धा कल्पना पश्चादुपवर्णिता **आ**चार्येण।···अन्ये इति बौद्धाः अर्थशून्यैरिति जात्यादिनिरपेक्षैरपोहमात्रगोचरै शब्दैरित्याचार्यग्रन्थस्यार्थ ।"-**तत्त्वसं० पं०** पृ० ३७१ । ४ "**प्रत्यक्षं कल्पनापोढमित्यादि यत्रैषा कल्पना नास्तीत्यन्त** [प्रमाण]समुच्चयो व्याख्यात ।"-**प्र० वा० म० टि०** पृ० १७४। "यत्रैषा कल्पना **नास्ति** तत प्रत्यक्षम्' इत्यनेन ग्रन्थेन लक्षणकारस्यादात्म्यप्रतिषेधं करोति, एवम्भूत कल्पनात्मक यद ज्ञान न भवतीत्यर्थ ।"-**तत्त्वसं० पं०** पृ० ३७३ । ५ "ऽदि ऽथद् दो शेर् प रिगस् प स्ते"-VT पृ० १९B । ६ "छोस् मुङोन पर् थद् शेस् प ल सोगस् पऽो"-VT N. ed पृ० २५A ।

म　　असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद् व्यपदिश्यते ।

[1]अथ कस्माद् द्वयाधीनायामुत्पत्तौ 'प्रत्यक्षम्' उच्यते, न 'प्रतिविषयम्' ? [2]असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद् व्यपदिश्यते, न विषयै रूपादिभि । [3]तथाहि-विषयो हि मनोविज्ञानान्यसन्तानिकविज्ञानसाधारण । [4]असाधारणेन च व्यपदेशो दृष्टो यथा 'भेरीशब्द' 'यवाङ्कुर' इति । [5]इदमुपपन्नम्-प्रत्यक्षं कल्पनापोढम् । [6]अभिधर्मेऽप्युक्तम्-'चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी नीलं विजानाति नो तु नीलमिति । अर्थेऽर्थसंज्ञी न तु धर्मसंज्ञी [अभिधर्मपिटक] इति ।

भोट　　गऽ् ते [द॰ १५१२] ग्ञिस् ल ब्टेन् पऽि स्क्ये बऽि मङोन् सुम् ग्यि ऽ्ब्रस् बु दोन् दम् द्बङ् पो ल शिन्. दबङ् पो ल प्रीमिग् प वि श्लग् ग्रिन् म गद् ल कपे मनोन् गिन्. रिब् रद् गि मृत्य मिद् ल सो मा रद् गि मृत्य मिद् ियि युर् चन' यि यग् क्यि रद् ग मृग्न् मिद् ल नि म ग्यिन नो ग्रोम् कयट् नि ल्पर् गसुम् न न ।

द्द् दोन् दु मग् यरकयट् पऽि शियद् ॥ रद् दोन् ग्यि यि स्पोद् युर् चन ॥ ४ ॥

द जग् दु मग् यस्क्येद् पऽ् व्य वऽि शियद् न रद् गि स्क्ये मृग्न ल ग्यिऽि स्प्याद् युल् चन' नम यूर्योद् क्यि । थ दद् प न थ मि दद् पऽ् तोंगस् प ल्गर् नि म यिन नो ॥ दोन् ऽरि गिद् स्ग्रम् प ।

दु मऽि दो थाऽि छाम् चन नि ॥ म्वङ् पा गम् ताग्स् शिद् म यिन ॥

[1]रद् दऽ् रिग् ब्य य राद् वियग् ॥ बृनन ब्य मिन् न ऽबन पोऽि युर् ॥ ५ ॥

द ल्गर् न र गिग् दुबङ् पो लन उग् स्क्येग् पऽि मृनोन् सुम् ग्यि गग् प तोंग प मद् प यिन् यद् ग्सान् ग्यि ऽदोद् प न चर्नेन् नग ऽग्द् स्पद् पर् ब्यम पऽ् रते । द दग नि थमुग चद् दु तोंग प मेद् प ऽरऽ गिग् गो ॥

यिद् कयङ् दोन् दऽ् छगग् न सोगस् ॥ रऽ् रिग् तोंग प मद् प यिन ॥

यिद् क्यद् युर् ग्सुगस् न मोगस् प न द्मिगस् गिद् थमृस् मु म्योर् बऽि नम् पग् ऽदुग प रते । तोंग् प मेद् प ऽवऽ गिग् गो ॥ ऽदोद् छगस् द ऽ शे स्दन् दऽ् ग्नि मुग दद् थ' ब दद् स्दुग् ब्स्ङर् न गागस् प नि द्बङ् पो न मि रताग् पऽि शियद् रऽ् रिग् पऽि मृनान् सुम् मो ॥ द बृगिन् दु ।

---

१ * * प्र० वार्तिकाल० पृ० ७७ । प्र० वा० म० टि० पृ० १०५ । "अत्र कस्मादित्यादि -विशाला० पृ० १९ A । तुलना- अथ कस्माद् द्वयाधीनजन्म तत्तेन नोच्यत । -प्र० वा० ३।१९१ । २ प्र० वा० म० टि० पृ० १०० । तत्त्वार्थरा० पृ० ५१ । न्यायप्रवेशकवृत्ति पृ० ३५ । "असाधारणहेतुत्वादिति -विशाला० पृ० १९ A । ३ अत्र PSV [1-2] अनुसारेण न विषयै रूपादौ इति भवत्यनुवादो भवत् । ४ तथाहि-विषया मनोविज्ञानान्यसन्तानिकविज्ञानसाधारणा अभिनवचक्षुरादिनापि नानासन्तानिकचक्षुर्विज्ञानकारणत्वात् तदनुप्रापणमनोविज्ञानकारणत्वात् तस्माद् विषयैन व्यपदिश्यत ।' -विशाला० पृ० १९B । तथा चाह-विषयो हि मनोविज्ञानान्यसन्तानिकविज्ञानहेतुत्वात् साधारण ।"-प्र० वार्तिकाल० पृ० २७८ । ५ अत एवाह-असाधारणेन व्यपदेशो दृष्टो भेरीशब्दो यवाङ्कुर इति ।"-प्र० वार्तिकाल० पृ० २७८ । "असाधारणेन व्यपदेशाद् दृष्ट -[illegible] विशाला० पृ० १९B । असाधारणेन च व्याख्यातव्यापारिकया भेरीशब्दो यवाङ्कुर इति । -न्यायप्रवेशकवृत्ति पृ० ३ । स्याद्वादरत्नाकर पृ० ९० टि० १३ । ६ अत्र PSV [1-2] अनुसारेण तु "कथं प्रत्यक्षं कल्पनापोढमुपपन्नम्' इति पाठ स्यात् । 'इदमुपपन्नमिति युक्तम् यस्मात् प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेण सिध्यति । अत्र तुल्यार्थत्वात् निर्दिष्ट इत्यर्थ । -विशाला० पृ० १९ B । ७ स्याद्वादरत्नाकर पृ० ६१ पृ० ४९ टि० २ टिप्पण ३८-३ । 'न कारणप्रत्यक्षेण कल्पनापोढं सिध्यति अपि तु आगमादपि इति दर्शयन्-अभिधर्मेऽपीत्यादि । चक्षुर्विज्ञानसमङ्गी नीलं विजानाति इति नामरूपकल्पनारहितं मो नु नीलमिति तदाश्रयाद् ग्रहीतव्यं निन जानाति । [illegible] वचनद्वयन [illegible]-अर्थ [illegible] अर्थसंज्ञी न तु धर्मसंज्ञीति [illegible] । -विशाला० पृ० १९ A । ८ द्रष्टव्य अभिधर्मदीपे विज्ञानकाये [illegible] Taisho Issaikyo No 1539, पृ 559 b [illegible] । ९ [illegible] -१५१२ । [illegible] -V T =[illegible] इति अस्य संग्रहं भवत् । १० [illegible] रिग् ब्य [illegible] यि प ॥ [illegible] (दो बा १५३) द्बङ् पो [illegible] स्प्याद् युल् [illegible] ॥ ५ ॥-१५३ १५२ ।

नॅल् ऽब्योर् नॅम्स् क्यि व्ल मे यिम् ॥ ब्ल्नन ढोन् थ ढद् च़ुम् शिग् मूथोद् ॥ ६ ॥

नॅल् ऽब्योर् प नॅम्स् क्यिस् क्यङ् ळुद् लस् नॅम् पर् तोंग् प ढद् म ऽद्रेस् पऽि ढोन् च़ुम् मूथोद् च नि मूढोन् सुम् मो ॥ [पृ० १५B] रे शिग् गल् ते ऽढोद् छगस् ल गोगस् पऽि रद् रिग् प मूङोन सुम् यिन् न तोंग् पऽि शेन् प यद् मूढोन सुम् दु ऽग्युर् रो शे न । दे नि व्ढेन् ते ।

तोंग् पऽङ् रङ् रिग् निद् दु ऽढोद् ॥ ढोन् ल म यिन् दे तोंग् फ्यिर् ॥

दे युल् ल नि ऽढोद् छगस् ल सोगस् प निद् वृशिन दु मूढोन सुम् म यिन् यद् *रँङ् रिग् गो शेस् व्य वऽि* स्क्योन् नि मेद् दो ॥ [दे ल्तर् PSV[2]] दे दग् नि मूढोन् सुम् मो ॥

सं. कथं तर्हि 'सञ्चितालम्बना पञ्च विज्ञानकाया' [अभिधर्मपिटक] इति, यदि तद् एकतो न विकल्पयति । *यच्चोक्तम्–आयतनस्वलक्षणं प्रति एते स्वलक्षणविषया न द्रव्यस्वलक्षणम् [अभिधर्मकोशभाष्य. १।१०] इति तत् कथं ?*

तत्रानेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थे सामान्यगोचरम् ॥ ४ ॥

अनेकद्रव्योत्पाद्यत्वात तत् स्वायतने सामान्यगोचरमित्युच्यते, न तु भिन्नेष्वभेदकल्पनात् । आह च—

***धर्मिणोऽनेकरूपस्य नेन्द्रियात् सर्वथा गतिः ।**
स्वसंवेद्यमनिर्देश्यं रूपमिन्द्रियगोचरः ॥ ५ ॥*

---

१ "मस् व्ल्तन् ॥ म ऽद्रेन् प यि ढोन च़ुम मूथोद्"–PS[2] PSV[1-2] । २ ** "रद् रिग् प ल म यिन् पऽि फ्यिर्"–PSV[2] । ३ नयचक्रवृत्त्यनुसारेण त्वत्र 'यत् तर्हीदं सञ्चितालम्बना पञ्च विज्ञानकाया इति तत् कथं यदि तदेकतो न विकल्पयति' इति पाठ, पृ० ७९ पं० १५–१६ । "[ऽोन् चि ल्तर् शेस् प ल सोगस् प VT =] कथं तर्हीत्यादि । सञ्चितालम्बना पञ्च विज्ञानकाया इत्ययं सिद्धान्त , स कथं युक्त यदि तदेकत [गूचिग् निद् दु दूमिग्स. प ल VT =] एकत्वेन आलम्बने न विकल्पयति ।"–**विशाला०** पृ० २१ A । ४ **नयचक्रवृत्ति.** पृ० ६४ पं० १, १३ । **प्र० वा० म०** पृ० १७६ । ५ ** **नयचक्रवृत्ति.** पृ० ७९ पं० १६, १८, १९ । "यच्च **वसुबन्धुनोक्तम्**—आयतनस्वलक्षणं चक्षुर्ग्राह्यत्वादि, तत् प्रति ज्ञानानि स्वलक्षणविषयाणि, न द्रव्यस्वलक्षणं प्रति एकपरमाणुम्" ।—**प्र० वा० म० टि०** पृ० १७६ । "यच्चेत्यादि आयतनस्वलक्षणं चक्षुर्ग्राह्यत्वादि, तत् प्रति एते पञ्च विज्ञानकाया स्वलक्षणविषया , न द्रव्यस्वलक्षणमिति [पृ० २१ A] । द्रव्यं नीलादयो विशेषा । नीलादिद्रव्यस्वलक्षणविषयत्वनिषेधेन सामर्थ्यात् यत् सामान्यमभिन्नं स तेषा विषय इत्युक्त भवति । ततश्च कल्पनापोढत्वविरोध । तस्य तच्छास्त्रं कथमन्यथा नेतुं शक्यते इति भाव [पृ० २१ B]"—**विशाला०** । ६ "उक्तं च–आयतनस्वलक्षणं प्रत्येते स्वलक्षणविषया न द्रव्यस्वलक्षणम् ।'–**प्र० वार्तिकालं०** पृ० २८० । ७ **नयचक्रवृत्ति.** पृ० ७९ पं० २४ । ८ **नयचक्र-वृत्ति.** पृ० ८६ पं० ९, पृ० ८९ पं० २७ । **प्र० वा० म०** पृ० १७६ । **प्र० वार्तिकालं०** पृ० २७९ । विस्तरेण एतत्सम्बन्धिनी चर्चा **प्रमाणवार्त्तिका**[२।१९४–२३०]दिग्रन्थेभ्योऽवसेया । "तदुभयस्यापि [लन् चिग् गूछुङ्स् प VT =]युगपद्[उत्तरम्] आह–तत्रानेकार्थजन्यत्वादित्यादि । तत्रेति शास्त्रे अनेकार्थजन्यत्वादिति अनेकपरमाणुजन्यत्वादित्यर्थ ।··· · यच्च 'आयतनस्वलक्षणं प्रति एते' इत्याद्युक्तमत्रापि तैरेव यथोक्तै सहितै परमाणुभिश्चक्षुरादिविज्ञानं जन्यते न त्वेकैकेनैव, तस्मात् अनेकार्थजन्यत्वात् 'स्वार्थे सामान्यगोचरम्' इत्युच्यते । सामान्य गोचरोऽस्येति विग्रह । ननु सामान्यमारोपितोऽभेद , इन्द्रियज्ञानविषय परमाणुर्नाम अनेको भाव , तत्कथं सामान्यगोचरत्वं प्रतिपाद्यते इति चेत्, नाय दोष , य स 'सञ्चित'शब्देन 'आयतनस्वलक्षण'शब्देन च परमाणुरनेको भाव उक्त स एव प्रतिनियतविज्ञानजननसामर्थ्येन साधर्म्येण परस्परापेक्षया [थुन् मोङ् वस् ते VT =] समान । समान एव च सामान्यम् । स्वार्थे तद्धितविधानात् ।·· तेन एतदुक्तं भवति—सञ्चितगोचरम् आयतनस्वलक्षणगोचर चोच्यते इति । न तु भिन्नेष्वभेदकल्पनादिति, 'सामान्यगोचरमुच्यते' इत्यनेन सम्बन्ध ।'–**विशाला०** पृ० २१ B २२ A । ९ **नयचक्र-वृत्ति.** पृ० ९१ प० ९ । टिपृ० ३१ प० १२ । १० दृश्यता टिपृ० १०३ टि० ९ । "**आह चेति** गोचरविप्रतिपत्ति निराकुर्वन् तदेव अविकल्पकत्वं [गूशुङ् ऽजुग्स् ते VT =] समर्थयति । धर्मिणोऽनेकरूपस्येति । · नेन्द्रियात् सर्वथा गतिरिति । अथ कीदृशं तदालम्बनमित्याह–स्वसंवेद्यमित्यादि ।· अनिर्देश्यमवाच्यम् [पृ० २२ B] ।· एव स्वसंवेद्यमनिर्देश्यं रूप प्रत्यक्षस्य विषय । ईदृशे आकारे कल्पनाप्रवृत्तिश्च नास्ति [पृ० २३ B]"–**विशाला०** । ११ ** **प्र० वार्तिकालं०** पृ० २९८ । **न्यायमुख** पृ० ५० । " ·· स्वसंवेद्यं त्वनिर्देश्यं···॥"—**प्र० वा० म० टि०** पृ० १८९ । "**अनेकधर्मणोऽर्थस्य**·· । स्वसंवेद्यं त्वनिर्देश्यं · ॥"–**विशेषावश्यकभाष्यकोट्टार्यवृत्ति** पृ० ८५ । दृश्यता टिपृ० ३१ पं० २४ । एतत्सम्बन्धिनी चर्चा विस्तरेण **प्रमाणवार्त्तिका**[२।२३१–८]दिरवसेया । **१२ तत्त्वसं० पं०** पृ० २९३ ।

एवं तावत् पञ्चेन्द्रियजं प्रत्यक्षज्ञानमविकल्पकम् । अत्र विशेषणं परमतापेक्षम्, सर्वं त्वविकल्पका एव ।

मानसं चार्थरागादिस्वसंवित्तिरकल्पिका ।

मानसमपि रूपादिविषयालम्बनमविकल्पकमनुभवाकारप्रवृत्तं *रागादिषु च स्वसंवेदनमिन्द्रियानपेक्षत्वाद् मानसं प्रत्यक्षम्* । तद्वत्—

योगिनां गुरुनिर्देशाव्यतिभिन्नार्थमात्रदृक् ॥ ६ ॥

---

१ "एवं तावदित्यादिरुपसंहारः । अत्र 'एवं तावत् पञ्चेन्द्रियजम्' इति वचनात् तावच्छब्देन अपञ्चेन्द्रियजमपि अन्यदस्ति तस्यापि लक्षणस्य विशेषणं [पृ० २३ B] पृथग् वक्ष्यत इत्येतत् ख्याप्यते । **अत्र विशेषणं परमतापेक्षमिति** । विशेषणं विशेषो विभाग इति पर्यायाः । स च प्रस्तुतत्वात् प्रत्यक्षलक्षणस्येति प्रतीयते । अत्रेति प्रकरणे । यदिदं लक्षणस्य पृथग् विशेषणं तत् परैर्यद् विप्रतिपन्नं लक्षणमिष्टं तदपेक्षया । तत्र मनोविज्ञानप्रत्यक्षे इन्द्रियज्ञानेनानुभूतोऽर्थः स एव गृह्यत इति केषाञ्चिद् विप्रतिपत्तिः रागादिस्वसंवेदनं तद् नास्ति । योगिज्ञानेऽपि इदमेव । यस्मादेवं परेषां विप्रतिपत्तिः तस्मात् तदपेक्षया 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' इत्यनेन संग्रहेऽपि अपञ्चेन्द्रियजस्य प्रत्यक्षस्य लक्षणस्य विशेषणं पृथगुच्यते परविप्रतिपत्तिनिराकरणायेत्याशयः [पृ० २४ A] । **सर्वे त्वविकल्पका एवेति** तुशब्देन लक्षणविशेषणस्य पृथगभिधानमिदं न स्वमतापेक्षया विप्रतिपत्त्यभावादिति अर्थः प्रकाश्यते । 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' इत्यनेनैव विशेषणेन सर्वं लक्ष्यं संगृह्यते [पृ० २४ B] ।' – **विशाला०** । प्रमाणवार्तिकालङ्कारे त्वस्य आशयोऽन्यथा वर्णितः – परे तु सविकल्पकमपि मानसप्रत्यक्षमाकारमभ्रान्तमिच्छन्ति तदनुरोधेन द्वयमेतदुच्यते । तथा चाह—**विशेषणं लक्षणे परमतापेक्षम्, सर्वे त्वविकल्पका एव** इति । –**प्र० वार्तिकाल०** पृ० ३२५ २५२ । २ **प्र० वा० म० टि०** पृ० १९१ । **प्र० वार्तिकाल०** पृ० ३ ३ । तुलना–**प्र० वा० म०** २।२३९।२८० । "**मानसं चेत्यादि** । चशब्दः समुच्चयार्थः । अर्थशब्दोऽयं ज्ञेयपर्यायः । रागादीनां स्वं रागादिस्वम् । स्वशब्दोऽयमात्मवाचकः । अर्थश्च रागादिस्वं च तत्संवित्तिरर्थरागादिस्वसंवित्तिः । संवेद्यते ज्ञायतेऽनयेति संवित्तिः । संवित्तिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । अविकल्पिका सा मानसं प्रत्यक्षम् । –**विशाला०** पृ० २४ B । ३ मानसमपि रूपादिविषयालम्बनमनुभवाकारप्रवृत्तमविकल्पकमेव रागद्वेषमोहसुखदुःखादिषु [च ?] इन्द्रियानपेक्षत्वात् स्वसंवेदनं प्रत्यक्षम् । — PSV[1-2] । "**वृत्तिः** – मानसमपि रूपादिविषयमविकल्पकमनुभवाकारप्रवृत्तम् इति । –**प्र० वा० म० टि०** पृ० १९१ । तुलना–**प्र० वार्तिकाल०** पृ० ३०३ । **मानसमपीत्यादि** । रूपादयश्च ते [पृ० २४ B] विषयाश्चेति कर्मधारयः । रूपादिविषयाणां विकारः रूपादिविषयविकारः स आलम्बनं यस्य तत् तथोक्तम् । समुदायविकारषष्ठ्याश्च बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च [पा० म० भा० २।२।२४] इति वचनात् समास उत्तरपदलोपश्च यथा सुवर्णालङ्कार इति । **अनुभवाकारप्रवृत्तमिति** [पृ० २५ A] । **रागादिषु च स्वसंवेदनमिति** [पृ० २५ B] ननु इन्द्रियजस्यापि सर्वस्यैव ज्ञानस्य आश्रयोऽस्ति इति 'एष्टव्यः पञ्च विज्ञानकाया द्वीन्द्रियाश्रिताः' इति वचनात्, तत् कस्मादिदमेव मानसमुच्यते इत्याह–इन्द्रियानपेक्षत्वादिति । रूपीन्द्रियानपेक्षत्वादित्याशयः । यस्य आश्रयो मन एव न तु रूपि इन्द्रियं तद् मानसम् अभिधीयते [पृ० २६ B] । –**विशाला०** । समुदायविकारषष्ठ्याश्च बहुव्रीहिर्वक्तव्य उत्तरपदस्य च लोपो वक्तव्यः । केशानां समाहारः चूडा अस्य केशचूडः । सुवर्णविकारोऽलङ्कारो यस्य सुवर्णालङ्कारः । –**पातञ्जलमहाभाष्य** २।२।२४ । ४ ** **प्र० वा० म० टि०** पृ० २२९ १९४ । अत्रापि मूलाचार्यवचनं विरुध्यते—**रागद्वेषमोहसुखदुःखादिषु [च] स्वसंवेदनमिन्द्रियानपेक्षत्वाद् मानसं प्रत्यक्षम्** इति । –**प्र० वार्तिकाल०** पृ० ३०५ । ५ [दे वृत्तिन् दु VT=] **तद्वद् योगिनामिति** । यथा मनोविज्ञानमविकल्पकं प्रत्यक्षं **तद्वद्** योगिनामपि । योगः समाधिः स येषामस्ति ते योगिनः । [पृ० २६ B] **गुरुनिर्देशाव्यतिभिन्नमिति** अत्र विषयेण विषयिनिर्देशः आगमविकल्पो गुरुनिर्देशशब्देन अभिधीयते । तेन अव्यतिभिन्नम् अपोन्मिश्रम् । अनेन स्पष्टावभासित्वमपि तत्र सूच्यते । अविकल्पकं स्पष्टत्वाव्यभिचारात् । मात्रशब्दः अध्यारोपितार्थव्यवच्छेदार्थम् । तेन यत् सद्भूतार्थविषयमार्यसत्यदर्शनं तदेव प्रमाणम् न तु असद्भूतार्थविषयम् 'अशुभा कृत्स्ना पृथिवी' इत्यादि [पृ० २७ A] । —**विशाला०** । तुलना–**प्र० वा०** २।२८१–२८७ । ६ **प्र० वा० म० टि०** पृ० १९१ । तत्त्वार्थरा० १।१ पृ० ५४ ।

नय० टि० १४

✻[1]योगिनामप्यागमविकल्पाव्यवकीर्णमर्थमात्रदर्शनं प्रत्यक्षम्✻ । यदि [2]तावद् रागादिस्वसंवित्तिः प्रत्यक्षं, [3]कल्पनाज्ञानमपि प्रत्यक्षं स्यात् । सत्यमेतत् ।

✻[4]कल्पनापि स्वसंवित्तावृष्टा नार्थे विकल्पनात् ।✻

तद् विषये रागादिवदेव अप्रत्यक्षमपि स्वसंवित्तौ न, इति न दोषः[5] । [6]एवं तावत् प्रत्यक्षम् ।

भोट. ऽख्रुल् दट् कुन् जोंब् योद् शेस् दङ् ॥ जेंस् सु दृपग् जेंस् दृपग् लस् ब्युद् ॥ ७ ॥
ग्रन् दट् मृटोन् ऽद्दोद् चेस् ब्य व ॥ मृटोन् सुम् ल्तर् स्नद् रब् रिब् वृचस् ॥

रे शिग् ऽख्रुल् पऽि शेस् प नि स्मिग् र्ग्यु ल सोगस् प ल छु ल सोगस् पर् [7]र्तोग् पऽि फियर् मृङोन् सुम् ल्तर् स्नङ् बऽो ॥ कुन् जोंब् तु योद् प नि दोन गशन् स्रो ऽद्दोगस् पस् न देऽि टो बोर् वृर्तगस् नस् ऽज़ुग् पऽि फियर् मृटोन् सुम् ल्तर् स्नङ् बऽो ॥ जेंस् सु दृपग् प दट् देऽि ऽब्रस् बु ल सोगस् पऽि शेस् प नि स्ङर् जमृस् सु म्योङ् म्योङ् ब ल (जमृस् सु म्योट् ब ल PSV²) र्तोग् पऽि फियर् मृटोन् सुम् म यिन नो ॥ ऽदिर् यट् ।

ब्य दङ् वृचस् पर् र्तोग्स् पऽि फियर् ॥ छद् मऽि ऽब्रस् बु विद् दु योद् ॥ ८ ॥

ऽदि ल फिय रोल् प र्नमृस् क्यि वृशिन दु छद् म लस् ऽब्रस् बु दोन गशन् दु ऽग्युर् प नि मेद् क्यि । ऽब्रस् बुर् ग्युर् पऽि शेस् प दे विद् युल् ग्यि र्नम् प चन् दु स्क्येस् प दट् ब्य व दङ् वृचस् पर् र्तोग्स प दे ले वर् ब्लट्स् नस् ।

छद् म विद् दु ऽद्दोगस् प स्ते ॥ ब्य व मेद् पऽङ् म यिन नो ॥

दृपेर् न ऽब्रस् बु र्ग्यु दङ् जेंस् सु मृथुन् पर् स्क्येस् प ल र्ग्युऽि ग्सुगस् ऽजिन् शेस् वृजोंद् दो ॥ ब्य ब मेद् पर् यङ् म यिन् प दे वृशिन् दु ऽदिर् यट् यिन् नो ॥

卐यङ् न रट् रिग् ऽब्रस् बु यिन् ॥ दे यि टो वो लस् दोन् टेस् ॥
युल् ग्यि स्नट् ब विद् दे ऽदिऽि । छद् म दे यिस् ऽजल् वर् ब्येद् ॥ ९ ॥卐 PS²

रट् रिग् ल यङ् ऽदिर् ऽब्रस् बु ॥ शेस् प नि स्नङ् व ग्रिस् लस् स्क्येस् ते । रङ् गि स्नट् व दङ् युल् ग्यि स्नङ् बऽो ॥ स्नङ् व ग्निस् लस् (ल PSV²) गट् रङ् रिग् प दे नि ऽब्रस् बुर् ऽग्युर् रो ॥ चिऽि फियर् शे न ॥ दे यि टो वो लस् दोन् टेस् ॥ गट् गि छे शेस् प 'दोन् ग्यि युल् दङ् वृचस् पऽि देऽि छे दे दङ् जेंस् सु मृथुन पऽि रट् रिग् प ऽदोद् पऽम् मि ऽद्दोद् पऽि दोन् र्तोग्स् पर् ब्येद् दो ॥ गङ् गि छे फिय रोल् ग्यि दोन् ऽवऽ शिग् गृशल् वर् ब्येद् प देऽि छे नि । युल् ग्यि स्नङ् ब ऽदि विद् ऽदि ॥ छद् म देऽि छे नि शेस् प रट् रिग् प यिन् यङ् र्तोस् प मेद् पऽि रङ् गि टो वोऽि दोन् ग्यिस् स्नट् व ऽदि छद् मऽो । गट् गि फियर् शे न (गङ् गि फियर् PSV²) । दोन् दे यिस् ऽजल् वर् ब्येद् ॥ जि ल्त जि ल्तर् दोन् ग्यि र्नम् प दृकर् [पृ० १६A] पो दङ् दृकर् पो म यिन् प ल सोगस् प विद् शेस् प ल स्नट् ब न दे दट् देऽि टो वो युल् दट् वृचस् पर् ऽजल् वर् ब्येद् दे । दे ल्त र्नम् प दु म रिग् पऽि शेस् प ले वर् ब्लङ्स् प दे ल्त दे ल्तर् छद् म दट् गृशल् ब्य विद् दु ने वर् ऽदोगस् प यिन् ते । छोस् थमस् चद् नि ब्य व दङ् ब्रल् ब यिन् पस् नऽो । दे विद् (ऽदि विद् PSV²) स्म्रस् प ॥

---

१ प्र० वा० म० टि० पृ० २०३ । २ 'तावत्' PSV² मध्ये नास्ति । ३ "कल्पनाज्ञानमपीति । अयमस्यार्थः – यत् स्वसंवेद्यं तत् स्ववेदनं प्रति प्रत्यक्षम्, रागादिज्ञानवत्, कल्पनाज्ञानमपि तथा इति स्वभावहेतुः । सत्यमेतदित्यादिना इष्टसाधनं दर्शयति । अयमाशय – यस्मिन् विषये यद् ज्ञानं शब्दसंकेतग्राहि तत् तत्र शब्दद्वारेण विषयग्रहणात् सविकल्पकं स्यात्, स्वरूपं तु अशक्यसंकेतम्, पूर्वोक्तवत् । तस्मात् तस्मिन् अधिगम्ये सर्वं ज्ञानं प्रत्यक्षमेवेति ।' – **विशाला०** पृ० २७ A । ४ ✻ ✻ **प्र० वार्तिकालं०** पृ० ३३१ । **प्र० वा० म०** २।२८७, पृ० २०४ । **न्या० र०** पृ० १७५ । **मी० श्लो० वा० काशिका.** पृ० २५८ १।१।४ । ५ स्वसंवित्तिरिति न दोषः – PSV¹ । ६ "[दे ल्तर् रे शिग् मृङोन् सुम् शेस् प ल' VT.=] एवं तावत् प्रत्यक्षमित्यत्र 'तावत्'शब्दः क्रमे, प्रत्यक्षमुक्त्वा तदाभासाभिधानमिति क्रमः ।" – **विशाला०** पृ० २८A-B । ७ "वृर्तगस् नस् ऽज़ुग् पऽि फियर् रो" – PSV² । ८ "युल् दङ् वृचस् प दोन् यिन् प' देऽि छे।" – PSV² ।

गङ् छे नॆम् प [स्न्ह् च PSI] दे ग्सल् ब्य ॥ छुद् म द्न् देऽि ऽग्रस् बु नि ॥
ऽजिन् नॆम् लग पऽि द यि क्यिर् ॥ द ग्सुन् थ दद् दु म ब्यस् ॥ १० ॥

म　　*भ्रान्तिसंवृतिसज्ज्ञानमनुमानानुमानिकम् ॥ ७ ॥
स्मार्ताभिलाषिकं चेति प्रत्यक्षाभं सतैमिरम् ॥

तत्र भ्रान्तिज्ञानं मृगतृष्णिकादिषु तोयादिकल्पनाप्रवृत्तत्वात् प्रत्यक्षाभासम् । संवृतिसत्सु अर्थान्तराध्यारोपात् तद्रूपकल्पनाप्रवृत्तत्वात् । अनुमानतत्फलादिज्ञानं पूर्वानुभूतकल्पनयेति न प्रत्यक्षम्[४] । अत्र च

\- सव्यापारप्रतीतत्वात् प्रमाणं फलमेव सत् ॥ ८ ॥

अत्र बाह्यानामिव प्रमाणात् फलमर्थान्तरभूतं नास्ति । तस्यैव फलभूतस्य ज्ञानस्य विषयाकारतयोत्पत्त्या सव्यापार

---

१ * * प्र० वार्तिकाल० पृ० ३३२ । इस्यतां टिप्प० ४० पं० १७–३२ । तुलना–प्र० वा० २।२८८–३०० । २ °लाषिक–प्र० वा० म० पृ० २०५ प्र० वा० म० टि० पृ० २०५ 'स्नॊन् प लस् ब्युङ् [=आभिलापिक] –प्र० वा० देवेन्द्रबुद्धिवृत्ति भोट पृ० २४७ A । ३ तदाभास –नयचक्रवृत्ति पृ० ६४ पं० १० । ४ भ्रान्तिज्ञानं तावत् मृगतृष्णिकादिषु तोयादिकल्पनया प्रवृत्तत्वात् प्रत्यक्षाभासम् । संवृतिसत्सु अर्थान्तराध्यारोपात् तद्रूपकल्पनया प्रवृत्तत्वात् प्रत्यक्षाभासम् । अनुमानतत्फलादिज्ञानं पूर्वानुभूतकल्पनया न प्रत्यक्षम् । –PSV[13] 'अनेन चतुर्विधं प्रत्यक्षाभासमुक्तं । तत्र भ्रान्तिज्ञानमित्यनेन अर्थान्तरकल्पनाज्ञानं तावदुक्तम् । संवृतिसत्सु इत्यनेन संकेतान्वयकल्पनाप्रवृत्तं द्वितीयम् । संवृतिसत्स्वपि यज्ज्ञानं तत् प्रत्यक्षाभासमित्यस्य किं कारणमित्याह –अर्थान्तराध्यारोपादिति । सोऽपि कथं जायत इत्याह –तद्रूपकल्पनाप्रवृत्तत्वादिति । [पृ० २७ B] अनुमानतत्फलादिज्ञानमिति । अनुमीयतेऽनेनेति अनुमानं लिङ्गम् । तत्र स एवायं धूम इति सम्बन्धकालानुभूतार्थकल्पनाप्रवृत्तं ज्ञानम् । तत्फले लिङ्गिज्ञानेऽपि पूर्वानुभूतकल्पना अस्ति स एवायमग्निः इत्यनुमानात् । स्मरणेऽपि पूर्वानुभूताकारकल्पना [पृ० २८ A] एव मया [म्योङ् ङो ङT =] अनुभूत इति । आभिलापिकमपि पूर्वानुभूतकल्पनानतिक्रान्तम् तदभावेऽभिलापाभावात् । आदिशब्देन संशयज्ञानग्रहणम् । तत्रापि किं स एव आहोस्विदन्य इत्येवमाद्याकारा पूर्वानुभूतकल्पना जायत इति इदं पूर्वानुभूतार्थकल्पनाज्ञानं तृतीयम् । सतैमिरमित्यनेन इन्द्रियोपघातजं तैमिरादिज्ञानं प्रत्यक्षाभासं चतुर्थमुक्तमिति [पृ० २८ B] । –विशाला० । ५ "अत्र चेति अस्मन्मते । सव्यापारप्रतीतत्वादिति व्यापारेण सह प्रतीतत्वादित्यर्थः । इदं प्रमाणत्वोपचारस्य कारणम् । प्रमाणं फलमेव सदिति । प्रमाणस्य फलम् अधिगतिः तच्च स्वयमेव तदात्मकमिति । तस्मादभेदः । –विशाला० पृ० ३० B । ६ * * प्र० वार्तिकाल० पृ० ४९ । सन्मतिवृत्ति पृ० ५२ । न्यायमञ्जरी पृ० ६६ । सव्यापारप्रतीतत्वात् प्रमाणं फलमेव सत् । स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपो ह्यर्थनिश्चयः । विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते ॥ यदाभासं प्रमेयं तत् प्रमाणफलते पुनः । ग्राह्यग्राहक(ग्राहकाकार?)संवित्ती त्रयं नातः पृथक्कृतम् । –प्र० वा० म० टि० पृ० २२९ । तुलना–प्र० वा० ।३०१३१९ । तत्त्वसं० ॥१३४४॥ न्यायबिन्दु १।१८ १९। माध्यमकारिकावृत्ति दीपिकावृत्ति पृ० ४ । 'उभयत्र तदेव ज्ञानं फलम् अधिगमरूपत्वात् । सव्यापारवत्ख्यातेः प्रमाणत्वम् । –न्यायप्रवेशक पृ० ७ । ७ 'अत्र बाह्यानामिव प्रमाणात् फलमर्थान्तरं नास्तीति । अत्रापि तादृश एव दोषो न भवति । तस्यैवेत्यादिना आगमं प्रदर्शयते [पृ० ३ B] । ज्ञानस्याधिगतिरूपत्वात् साध्यत्वप्रतीतिरिति फलत्वमुपचर्यते । तस्यैव च विषयाकारपरिग्रहधर्मेण व्यापारेण च सह प्रतीतिरिति प्रमाणत्वमुपचर्यते व्यापारस्यैव इत्यर्थः [३१ A] –विशाला० । ८ इदं दिङ्नागवचनं देवेन्द्रबुद्धिना प्रमाणवार्तिकटीका उद्धृतम् । तस्य च ऽग्रो बुद् ग्युर् पऽि देस् प दे यिद् क्यि युल् गि नम् पर् स्नङ् बऽि म्गो नस [स्य च ?] ताग् प दङ् ब्चस् प ञ मॊन् नस् ग्दॊ म यिद् दु स बद् ब्ताग्स् प यिद् दो इत्यर्थं भोटभाषानुवाद उपलभ्यते । तदनुसारेणैवमस्माभिः संस्कृतेऽनूदितम् । PSV[13] अनुसारेण व्यापारेण च सह प्रतीतिं तामुपादाय प्रमाणत्वमुपचर्यते इति 'व्यापारेण च सह प्रतीततामुपादाय' इति वा संस्कृतं भवतीति ध्येयम् । तुलना– तस्मिन्नधिगमरूपे फले सव्यापारप्रतीततामुपादाय प्रमाणव्यवहारः । –तत्त्वार्थरा० पृ० ५६ ।

प्रतीततामुपादाय *प्रमाणत्वमुपचर्यते, [2]न व्यापाराभावेऽपि । [3]यथा फलं [4]हेत्वनुरूपमुत्पद्यमानं हेतुरूपं गृह्णाति इत्युच्यते, न व्यापाराभावेऽपि, एवमत्रापि ।

[7]स्वसंवित्तिः फलं वात्र तद्रूपो ह्यर्थनिश्चयः* ।
[6]विषयाभासतैवास्य प्रमाणं तेन मीयते ॥९॥

[7]स्वसंवित्तिः फलं वात्र । द्व्याभासं हि ज्ञानमुत्पद्यते—स्वाभासं विषयाभासं च । तस्योभयाभासस्य [8]यत् स्वसंवेदनं तत् फलम्* । कस्मात्? [10]तद्रूपो ह्यर्थनिश्चयः । [11]यदा हि सविषयं ज्ञानमर्थः, तदा [12]स्वसंवित्त्यनुरूपं इष्टोऽनिष्टो वार्थः प्रतीयते । [13]यदा

---

१ * * अथ पाठः PS$^{1-2}$ PSV$^{1-2}$ मध्ये "छद म विद् दु ऽदोग्स् प स्ते ॥ व्य व मेद् पऽद् म यिन नो ॥" इत्येवं श्लोकार्धरूपेण अनूदितोऽस्ति तथापि अनुवादकै वृत्त्यंश एव भ्रान्त्या श्लोकार्धरूपेण अनूदित इति प्रतिभाति । दृश्यतां टिपृ० १०७ टि० ६ । २ तुलना—"सव्यापारमिवाभाति व्यापारेण स्वकर्मणि । तद्वशात् तद्व्यवस्थानाद् **कारकमपि स्वयम्** ॥ २।३०८ ॥ यथा फलस्य हेतूनां सदृशात्मतयोद्भवात् । हेतुरूपग्रहो लोकेऽक्रियावत्त्वेऽपि दृश्यते ॥ २।३०९ ॥" इति प्रमाणवार्तिके । ३ "यथार्थव्यापाराभावेऽपि कथं तद्वस्त्वाभासो भवतीति चेत्, आह—**यथे**त्यादि ।"—**विशाला०** पृ० ३१B । ४ तुलना—"कार्यं ह्यनेकहेतुत्वेऽप्यनुकुर्वदुदेति यत् । तत् तेनार्पिततद्रूपं गृहीतमिति चोच्यते ॥"—**प्र० वा०** २।२८८ । ५ * * "यङ् न रङ् रिग् ऽब्रस् बु यिन् · · ·"—PS$^{1-2}$ PSV^{2} । टिपृ० १०७ टि० ६ । **प्र० वा० म० टि०** पृ० २१५,२२१ । **प्र० वार्तिकालं०** पृ० ३४९ । **न्या० र०** पृ० १५८ । **मी० श्लो० वा० काशिका.** पृ० २३७ । संस्कृतग्रन्थेषु सर्वत्र '**तद्रूपो ह्यर्थनिश्चयः**' इति पाठः । यद्यपि PS$^{1-2}$ PSV$^{1-2}$ VT अनुसारेण **शाक्यमति**विरचितायां प्रमाणवार्तिकटीकायां "दोन ङेस् प नि दे ङोस् यिन्" [पृ २६७B] इति **भोटभाषानुवादानुसारेण** चात्र 'तद्रूपेणार्थनिश्चयः' इति पाठः प्रतिभाति तथापि **तद्रूपो ह्यर्थनिश्चयः** इति पाठ एव भोटभाषायां शैल्यन्तरेण तथानूदित इति ध्येयम् । ६ **प्र० वा० म० टि०** पृ० २२१ । "**विषयाकारतैवास्य** ··"—**प्र० वार्तिकालं०** पृ० ३९३ । "**विषयाकार एवास्य** ··"—**मी० श्लो० वा० काशिका.** पृ० २३७, **न्या० र०** पृ० १५८ । ७ अत्र PSV^{1}-अनुसारेण 'स्वसंवित्तिः फलं **चात्र**' इति पाठः । केषुचिच्च संस्कृतग्रन्थेष्वपि '**चात्र**' इति पाठ उपलभ्यते इति ध्येयम् । "**स्वसंवित्तिः फलं वा**त्रेति । पूर्वं विषयसंवित्तिः फलमुक्तम् । तस्माद् 'वा'शब्दो विकल्पार्थः । अत्रेति पूर्वोक्तप्रत्यक्षे । **स्वाभासं विषयाभासं** चेति··· । **तस्ये**त्यादि [पृ० ३२ A] । उभयाभासं विज्ञानमनुभूयते । तस्य **यत् स्वसंवेदनं** स्वानुभवः **तत् फलं** भवति । **कस्मा**दिति, कया युक्त्या? · स्वसंवित्तेः फलत्वमनुपपन्नमित्याशयेन पृच्छति [पृ० ३२ B]"—**विशाला०** । ८ ~ * **तत्त्वार्थरा०** पृ० ५६ पं० १०–११ । तुलना—**प्र० वा० म०** पृ० २२८ । **प्र० वा०** २।३३७ । **प्र० वार्तिकालं०** पृ० ३४९ । ९ "**संवेदनं**"—तत्त्वार्थरा० पृ० ५६ । **प्र० वा०** २।३३७ । "**स्वसंवेदनं**"—प्र० वा० म० पृ० २२८ । प्र० वार्तिकालं० पृ० ३४९ । १० टिपृ० १०८ टि० ५ । "तद्रूपो ह्यर्थनिश्चय इति हेतुः । "**यदा ही**त्यादि अस्यैव विवरणम् । हिशब्दो यस्मादर्थे । यस्माद् यदा सविषयं ज्ञानमर्थः तदा स्वसंवित्त्यनुरूपोऽर्थः इष्टोऽनिष्टो वा प्रतिपत्त्रा प्रतीयते तस्मात् स्वसंवित्तिः फलं युज्यते । **स**विषयमिति विषयेण सहितं सविषयम् [पृ० ३२ B] । '**स्वसंवित्त्यनुरूपः इष्टोऽनिष्टो वार्थः प्रतीयते**' इत्येतावन्मात्राभिधाने स्वसंवेदनप्रत्यक्षमेवाधिकृत्येयं फलव्यवस्थेति कस्यचिदाशङ्का स्यात् । इदं तु सर्वस्य प्रमाणस्य फलमिति । तस्मात् आशङ्कानिवृत्त्यर्थं '**यदा हि सविषयं ज्ञानमर्थः**' इत्युक्तम् । अयं च '**अर्थ**'शब्दः प्रमेयवाची [पृ० ३३ A] ।"—**विशाला०** । ११ तुलना—"यदा सविषयं ज्ञानं ज्ञानांशेऽर्थव्यवस्थितेः । तदा य आत्मानुभवः स एवार्थविनिश्चयः ॥ यदीष्टाकार आत्मा स्यादन्यथा वानुभूयते इष्टोऽनिष्टोऽपि वा तेन भवत्यर्थः प्रवेदितः ॥"—**प्र० वा०** २।३३९–३४० । १२ एतदस्माभिः VT अनुसारेणोपन्यस्तम्, दृश्यतां टिपृ० १०८ टि० १० । **शाक्यमतिना** विरचितायां प्रमाणवार्तिकटीकायामपि सङ्गृहीतमिदं **दिङ्नागस्य** वचनम् । तस्य च "देऽि छे रङ् रिग् प दङ् जेस् सु मथुन् प" इति **भोटभाषानुवाद** उपलभ्यते । तदनुसारेणापि 'तदा स्वसंवित्त्यनुरूपः' इति पाठ एव समीचीनः । १३ "यदा तु बाह्य एवार्थः प्रमेयः"—**प्र० वा० म० टि०** पृ० २२४,२३६ । "अत्रापि फले विषयाकारतैव प्रमाणम् । यदाह आचार्यः—'**यदा तु बाह्य एवार्थः प्रमेयः तदा विषयाकारतैवास्य प्रमाणम्, तथा(दा) हि ज्ञानं(न)स्वसंवेद्यमपि स्वरूपमपेक्ष्य अर्थाभासतैवास्य प्रमाणम् । यस्मात् सोऽर्थस्तेन मीयते । यथा ह्यर्थस्याकारः शुभादित्वेन प्रतिभाति निविशते तद्रूपः स विषयः प्रतीयते** यावदाकारभेदेन **प्रमाणप्रमेयत्वमुपचर्यते** ।"—**प्र० वार्तिकालं०** पृ० ३९३ । "यदा त्वित्यादि"—**विशाला०** पृ० ३३ B । तुलना—**प्र० वा०** २।३४१ ।

तु बाह्य एवार्थः प्रमेयः तदा [1]विषयाभासतैवास्य प्रमाणम् । तदा हि ज्ञानस्वसंवेद्यमपि स्वरूपमनपेक्ष्य अर्थाभासतैवास्य प्रमाणम् । यस्मात् सोऽर्थस्तेन मीयते । [2]यथा यथा हि अर्थस्याकारः [3]शुभाशुभादित्वेन ज्ञाने निविशते [4]तत्तद्रूपः स विषयः प्रमीयते । [5]यथा ज्ञानस्य संवित्तिं नानाकारामुपादाय तथा तथा प्रमाणप्रमेयत्वमुपचर्यते । [6]निर्व्यापारा [हि ?] सर्वधर्मा इति । [7]आह च—

---

[1] द्रष्टव्या टिपृ० १०८ टि० ६ । बाह्ये प्रमेये स्वसंवित्तिफलत्वेऽपि विषयाभासतैव ज्ञानस्य प्रमाणमिष्यते न तु स्वसंवित्तिमात्रत्वात् ग्राहकाकारः । तदा हि ज्ञानस्वसंवेद्यमपीत्यादि । ज्ञानस्य स्वसंवेद्यमिति विग्रहः । यस्मादित्यादिना कारणमाह मीयते इति निश्चीयते । यथा यथेत्यादि ज्ञानस्य तथाकारत्वेन बाह्योऽर्थो निश्चीयते इत्यर्थः । यद्यपि सोऽर्थस्तेन मीयत इत्यभिहितं तथापि तत्साधनतया स्वसंवित्त्या इति अवगन्तव्यम् । तथा हि—यथा यथा अर्थाकारः शुभाशुभादिरूपेण ज्ञाने निविशते तथा तथा स्वसंवित्तिः प्रथते । यथा यथा स दृश्यते तथा तथा शुभाशुभादिरूपादिरर्थो विनिश्चीयते [पृ० ३३ B] । तद्वशात् विषयनिश्चयो भवति नान्यथा तस्माद् विषयाभासता प्रमाणम् [पृ० ३४ A] । –विशाला० । तुलना– तस्मात् प्रमेये बाह्येऽपि युक्तं स्वानुभवः फलम् । यतः स्वभावोऽस्य यथा तथैवार्थविनिश्चयः ॥ तदर्थाभासतैवास्य प्रमाणं न तु सन्नपि । ग्राहकात्माऽपरार्थत्वात् बाह्येष्वर्थेष्वपेक्ष्यते ॥ यस्माद् यथा निविशतेऽसावर्थात्मा प्रत्यये तथा । निश्चीयते निविशतेऽसावर्थात्मेति ततो यदि ॥ इत्यर्थसंवित् सैवेष्टा यतोऽर्थात्मा न दृश्यते । तस्माद् बुद्धिनिवेश्यार्थः साधनं तस्य सा क्रिया ॥ यथा निविशते सोऽर्थो यतः सा प्रथते तथा । अर्थस्थितेस्तदात्मत्वात् स्वविदप्यर्थविद् मता ॥'–प्र० वा० ।३४६–३५० । [2] इद् ल्टर् चो ल मि चि नाम् पडि –PSV[2] । [3] यथाकारमनादृत्य प्रामाण्यं च प्रकल्पितम् । अर्थक्रियाऽविसंवादात् तद्रूपो ह्यर्थनिश्चयः ॥ १३२८ ॥ इत्यादि गदितं सर्वं कथं न व्याहतं भवेत् । वासनापाटवहेतुत्वं तस्मात् संवादसम्भवः ॥ १३२९ ॥ नेव ह्यर्थक्रियाऽविसंवादित्वमात्रेणाकारमनपेक्ष्य प्रामाण्यं कल्पनीयम् विषयाकारस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात् । तद्रूप इति ज्ञानस्याभासस्य । 'आदि'शब्देन यथा यथा ह्यर्थस्याकारः शुक्लादित्वेन सन्निविशते तद्रूपः स विषयः प्रमीयते इत्यादिकमाचार्यीयं वचनं विरुध्यत इति दर्शयति । अर्थक्रियासंवादस्तु पूर्वानुभवसन्तानपरिपाकात् प्रमाणान्तराद् भवतीत्यदुष्टम् । –तत्त्वस० प० पृ० ३९५ । [4] शुक्लाशुक्लादित्वेन –PSV[2] । शुभादित्वेन –तत्त्वस० प० पृ० ३९५ । शुभादित्वेन –प्र० वार्तिकाल० पृ० ३९३ । [द्कर् प मि द्कर् प ल सोग्स् प VT=] शुभाशुभादि° –विशाला० पृ ३३ B । [5] "तत्तद्रूप"–PSV[2] । "तद्रूप"–तत्त्वस० प० पृ ३९५ प्र० वार्तिकाल० पृ ३९३ । [6] अविभागात्मकस्य ज्ञानस्य ग्राहकाकारादिविभागः कथमिति चेत् आह–[दे ल्तर् न्गेस् प ञ सोग्स् प मे VT.=] तथेत्यादि । अयमस्य संक्षिप्तार्थः—तत्त्वतस्तद्विभागोऽसन्नेव । यथा दर्शनं प्रमाणप्रमेयव्यवस्थैव नियता न तु यथावत् तत्त्वतः । [पृ० ३४ A] । तथेति यथोक्तोभयाभासस्य ज्ञानस्येति । ज्ञानस्य संवित्तिमिति फलभूतस्य ज्ञानस्य संवित्तिं दर्शयति । किम्भूताम् [2] नानाकाराम् । नाना आकारो यस्याः सा तथोक्ता । उपादायेति तां प्रमाणभूतां गृहीत्वा तथा तथा इत्यादौ अविकल्पके तावद् ग्राहकाकारः कल्पनापोढं प्रत्यक्षप्रमाणम् स्पष्टाभासि ग्राह्याकारस्वलक्षणं प्रमेयम् । लिङ्गेऽपि ग्राहकाकारोऽनुमानप्रमाणम् । अस्पष्टाभं ग्राह्याकारसामान्यलक्षणं प्रमेयमिति । उपचर्यते इति व्यवह्रियते [पृ० ३४ B] । —विशाला० । [7] अत्र प्राक्तम्–निर्व्यापाराः सर्वधर्मा इति ।"–प्र० वार्तिकाल० पृ० ३६९ । "निर्व्यापारा [हि ?] सर्वधर्मा इति अनेन तस्या ज्ञानसंविदो भ्रान्तत्वं प्रदर्श्यते । –विशाला० पृ० ३४ B । न व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकत्वेन साध्यसाधनसंस्थितिः । निराकारे तु विज्ञाने सा युक्ता न हि युज्यते [तत्त्वसं० ॥ १३४६ ॥] नैयायिका उत्तरमाह । नीलस्येदं संवेदनं न पीतस्येति विषयाधिगतिव्यवस्थाया अर्थसारूप्यमेव निबन्धनं नान्यत्, इति व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन साध्यसाधनव्यवस्था नान्योन्यकारकभावेन । यस्मात् पारमार्थिकं कर्तृकरणादिभावो नास्ति प्रतिक्षणं निर्व्यापारत्वात् सर्वधर्माणाम् । ज्ञानं हि विषयाकारमुत्पद्यमानं विषयं परिच्छिन्दद् इव व्यवस्थाप्यते इत्यभिप्रायः । तस्मात् साकारमेव ज्ञानं प्रमाणं न निराकारम् । –तत्त्वस० प० पृ० ३९९ । [8] '[ग्स्ल् प य स्ट् VT =] आह चेत्यादि अयमर्थः प्रदर्शयति । य आभागोऽस्येति विग्रहः । सोऽर्थसाधनत्वात् प्रमाणमित्यर्थः । प्रमेयं तत्र विषयाकारः प्रमा । प्रमाणफलं तु पुनः ग्राहकाकारस्वसंवित्तिः [पृ० ३५ A] इति । स्वदृशायां प्रमाणता नैषाम् इत्यर्थः । प्रमाणत्वं पृथङ्नास्ति [पृ० ३ B] ।'–विशाला० । [9] द्रष्टव्या टिपृ० १०३ टि० । 'तदेव (एतदा PSV[2]) कथयति'—PSV ।

[1] यदाभासं प्रमेयं तत् प्रमाणफलते पुनः।
ग्राहकाकारसंवित्ती त्रयं नातः पृथक्कृतम् ॥ १० ॥

चि' स्ते शेस् प छुल् ग्ञिस् सो शेस् जि ल्तर् र्तोग्स् पर् ब्य शे न।
युल् शेस् प दङ् देऽि शेस् पऽो ॥ द्ब्ये ब्म् ब्लो यि छुल् ग्ञिस् नि ॥

युल् नि' ग्सुग्स् ल सोग्स् प स्ते। गङ्' गिस् (गि PSV[2]) दे शेस् प नि दोन' दट् रट् स्नङ् बऽो ॥ युल् शेस् प' नि गङ् युल् दङ् जेंस् सु मथुन् पऽि शेम् प स्ते। शेम् प स्ते (दे PSV[2]) नट् व दट् रट स्नट् बऽो ॥ दे ल्तर् म यिन् ते गल् ते ग्सुग्स् जिद् (ग्शन्' दु न गल् ते' युल् ग्यि' टो वो जिद् PSV[3]) रट् शेस् पऽम् रङ् गि ङो वोर्' ऽग्युर् प नि शेम् प [शेस् प PSV[2]] यङ् युल् शेस् प दट् ख्यद् पर् मेद् पर् ऽग्युर् रो ॥ फ्यिस् जेंस् ल स्क्ये बऽि शेस् प ल यट् स्ङर् रिट् दु' ऽदस् पऽि युल् स्नङ् बर् मि ऽग्युर् ते। गङ् गि फ्यिर् शे न (गङ् गि फ्यिर् PSV[2])। दे' युल् म यिन् पऽि फ्यिर् रो ॥ देऽि फ्यिर् शेस् प ल छुल् ग्ञिस् योद् पर् ग्रुब् बो ॥

卐 दुस् फ्यिस् द्रन् प लस् क्यङ् स्ते ॥ ऽदिर् म म्योङ् व मेद् फ्यिर् रो ॥ ११ ॥ 卐 PS[1]

दुस् फ्यिस् द्रन् प लस् क्यङ् स्ते ॥ छुल् ग्ञिस् जिद् दो शेस् ऽब्रेल् तो ॥ गङ् गि फ्यिर् छुल् ग्शन् दु (युल् ब्शिन् दु PSV[2]) शेस् प ल यङ्' दुस् फ्यिस् म्योङ् बऽि द्रन प स्क्ये स्ते। देऽि फ्यिर् यट् शेस् पऽि छुल् ग्ञिस् जिद् दु ग्रुब् प यिन् नो ॥ रङ् रिग् प जिद् दु यङ् टो ॥ चिऽि फ्यिर् शे न। ऽदिर् म म्योङ् व मेद् फ्यिर् रो ॥ जमूस् सु म म्योङ् वर् दोन् मूयोङ् बऽि द्रन् प नि मेद् (दोन् द्रन् प नि मूयोङ व मेद् दे PSV[2])। ग्सुग्स् ल सोग्स् पऽि द्रन् प ब्शिन् नो।

[2] अथ द्विरूप ज्ञानमिति कथ प्रतीयते?

[3]† विषयज्ञानतज्ज्ञानविशेषात्तु द्विरूपता। †

[4] "विषये हि रूपादौ यद् ज्ञानं तदर्थस्वाभासम्। विषयज्ञाने तु यद् ज्ञानं तद् विषयानुरूपज्ञानाभास स्वाभास च। अन्यथा यदि [5] विषयरूपमेव [6] स्वज्ञानं स्यात् स्वरूपं वा, ज्ञानज्ञानमपि विषयज्ञानाविशिष्टं स्यात्"। [7] न चोत्तरोत्तराणि ज्ञानानि

---

१ प्र० वा० म० टि० पृ० २२१, २२९। " ग्राहकाकारसंवित्त्योः "–मी० श्लो० वा० भट्टोम्बेकवृत्ति. पृ० १३९, मी० श्लो० वा० काशिका. पृ० २३८, न्या० र० पृ० १५९, तन्त्रालोकवृत्ति.। "ग्राहक-विषयाभास-संवित्तिशक्तित्रयाकारभेदात् प्रमाण-प्रमेय-फलकल्पनाभेद इति"–तत्त्वार्थरा० पृ० ५६। २ "अथ द्विरूपमित्यादि।"–विशाला० पृ० ३५ B। तुलना–प्र० वा० २।३९८। "विषयाकारता प्रकृता साधयितुम्, 'कथं पुनर्ज्ञायते द्विरूपं विज्ञानम्' इति प्रक्रमात्। तत्रापि द्व्याभास हि विज्ञान स्वाभास विषयाभास च। तत्र विषयतायामेव महत्यास्था।"–प्र० वार्तिकालं० पृ० ४२५, ४०३। ३ †† प्र० वा० म० टि० पृ० २३४, २३२, २४४। प्र० वार्तिकालं० पृ० ४२५। "विषयज्ञानतज्ज्ञानविशेषात्त्वित्यादि"–विशाला० पृ० ३५ B। "घटविज्ञान-तज्ज्ञानविशेषात्तु ।"–मी० श्लो० वा० भट्टोम्बेकवृत्ति पृ० २६७, न्या० र० पृ० २९८। "विषयज्ञानतज्ज्ञानभेदाद् बुद्धेर्द्विरूपता"–PS PSV। ४. * "विषये रूपादौ यद् ज्ञान तदर्थस्वाभासम्, विषयज्ञाने तु यद् ज्ञानं तदर्थानुरूपज्ञानाभास स्वाभास च। अन्यथा यदि विषयज्ञानमर्थाकारमेव स्यात् स्वाकारमेव वा विषयज्ञानज्ञानमपि तदविशिष्टं स्यात्।"–प्र० वार्तिकालं० पृ० ४०३। "विषये हि इति। हिशब्दोऽवधारणार्थ भिन्नक्रमश्च। तदर्थस्वाभासमिति इद प्रमाणफलम्। तत्र अर्थाभास विषयाकारत्वात्, स्वाभासमनुभवाकारत्वात्। विषयानुरूपज्ञानाभासमिति। ... स्वाभासमिति। 'अन्यथेति द्विरूपत्वाभावे यदि विषयानुरूपमेव विषयज्ञानं स्यादिति नानुभवरूपमपि [पृ० ३६ A] · स्वरूपं वेति अनुभवाकारमेव वा, न विषयाकारमपि। ज्ञानज्ञानमपि विषयज्ञानाविशिष्टं स्यादिति। ज्ञानज्ञान विषयज्ञानालम्बक ज्ञानम्, तद् विषयज्ञानादविशिष्ट, विशिष्टं न स्यात् [पृ० ३६ ।"–विशाला०। तुलना प्र० वा० २।३६८–४२२। ५ "युल् ग्यि टो वो जिद्"–PSV[1]। ६ PSV[1-2] अनुसारेण 'स्वज्ञानम्' इत्यस्माभिरत्र लिखितम्। 'विषयज्ञानम्' इति पाठश्चेत् तत्स्थाने स्यात् तदा सम्यग् भाति। ७ "यदाहाचार्य –न चोत्तरोत्तराणि ज्ञानानि पूर्वपूर्वज्ञानविषयाभासानि स्युः, तस्याविषयत्वात्।"–प्र० वार्तिकालं० पृ० ४०९। तुलना–"अन्यथा

पूर्वविप्रकृष्टविषयाभासानि स्युः, कस्मात्? तस्याविषयत्वात्। तस्माद् ज्ञानस्य द्विरूपता सिद्धा।

[3]स्मृतेरुत्तरकालं च न ह्यसावविभाविते ॥ ११ ॥

स्मृतेरुत्तरकालं च द्विरूपता' इति सम्बन्धः। [4]यस्माच्चानुभवोत्तरकालं विषये इव ज्ञानेऽपि स्मृतिरुत्पद्यते तस्मादस्ति द्विरूपता ज्ञानस्य [5]स्वसंवेद्यता च। [6]कस्मात्? न ह्यसावविभाविते। न ह्यननुभूतेऽर्थे स्मृतिरुत्पद्यते, रूपादिस्मृतिवत्।

卐गनस् प ग्शन् यिस् अमुस् म्योङ् न ॥ थुग् मेद् दे ल्टर् ग्न् प ले ॥
द ब्लिन् युल् ग्शन् ल ऽफो ब ॥ मेद् ऽग्युर् द यङ् मैथोङ् ब सिद् ॥१२॥ 卐 PS[1]

चि स्ते गसुगस् ल सोगस् प बशिन् दु यन् शेस् प ग्शन् ग्यिस् म्योङ् ब यिन् नो शे न। द यन् रिगस् प म यिन् त। गङ् गि फ्यिर्। शेस् प ग्शन् ग्यिस् अमुस् म्योङ् न॥ थुग् मेद्। थुग् मेद् प शेस् ब्य ब नि। शेस् प ग्शन् ग्यिस् म्योङ् ब्यर् ब्यर् नऽो ॥ नि ल्तर् श न। द ल्टर् द्रन् प ल्त। शेस् प ग्शन् ग्यिस् शेस् प दे अमुस् सु म्योङ् बर् ऽग्युर् न। द ल यन् फ्यिस् क्यि द्रन् प मूयान् ऽद्गाम् पस् सो ॥ देस् न द ल यङ् शेस् प ग्शन् ग्यिस् अमुस् सु म्यान् ब यिन् न नि थुग् मेद् पर् ऽग्युर् रो ॥ द ब्लिन् युल् ग्शन् ल ऽफो ब ॥ मेद् ऽग्युर् द यन् मूयोङ् ब सिन् ॥ दऽि फ्यिर् गनोन् मि म बर् रब रिग् पऽि [16B] शेस् प सम् ब्लङ् बर् ब्यऽो ॥ द यन् ऽग्रम् बु निं दु ग्नस् पर् ग्युर्। द ल्तर् न ग्शन् सुम् दु तोंगस् प दङ् ग्रर् ब यिन् ना ॥ दऽि नेस् सु ग्शन् ग्यिर् ब्यम् पऽि मूडोन् सुम् यनग् पर् ब्य ले ॥

चोंद् स्तुन् स्नार् दूपोन् ग्यैस् म यिन् ॥ [11]ऽेस् पर् ग्सिर् पा मेद् पर् ग्गोन्स ॥

ह्यायमर्थः सयोज्यनाथगम्भवात । ज्ञान नाम्प्रसम्बन्ध पूर्वार्थेनोत्तरोत्तरम् ॥ –प्र० वा० २।३८७। "उत्तरोत्तराणि चेत्यादि । चकारोऽवधारणे । उत्तरोत्तराणि विषयज्ञानानादीनि तानि पूर्व अनुभवज्ञानस्य यो विषय उत्तरोत्तरज्ञानमपेक्ष्य ज्ञानेन अन्तरितत्वाद् [रिङ् ब VT=] विप्रकृष्ट इति तदाभासानि न स्युरेव । कस्मात्? तस्य अविषयत्वात्। तस्य यथोक्तस्य अर्थस्य उत्तरोत्तरज्ञानानामविषयत्वात्। –विशाला० पृ० ३७A । PSV[12] VT अनुसारेणात्र 'उत्तरोत्तराणि च ज्ञानानि पूर्वविप्रकृष्टविषयाभासानि न स्युः' इत्यपि पाठः स्यात्।

१ रिङ् ब –VT = विप्रकृष्ट । 'रिङ् दु ऽदस् प' –PSV[12] = अतिक्रान्त (?)। २ तस्मात् तस्यापि अर्थाभासत्वमशक्यम्। तस्माच्च द्विरूपता सिद्धा –विशाला० पृ० ३७ B। ३ * * प्र० वार्तिकाल० पृ ४२ । मी० श्लो० वा० महाम्बेरशक्ति पृ० २६७ न्याय० र० पृ २९८। ४ "यस्माच्चानुभवोत्तरकाल विषय इव ज्ञानेऽपि स्मृतिरुत्पद्यते तस्मादस्ति द्विरूपता ज्ञानस्येत्यादि व्याख्या –प्र० वा० म० टि० पृ २४४। "यस्मादनुभवोत्तरकाल विषय इव ज्ञानेऽपि स्मृतिरुत्पद्यते तस्माच्च ज्ञानस्य द्विरूपता सिध्यति" –PSV[12] । "तस्मात्–स्मृतेश्च द्विरूपता सिद्धेति । –प्र० वार्तिकाल० पृ० ४२७ । नापि सिध्यति सस्मृते । –प्र० वा० ।४२३ । "स्मृतेरुत्तरकाल चेत्यादि । यस्माद् यथा परस्परविलक्षणेषु रूपादिष्वनुभूतेषु अन्योन्यविवेकेन स्मृति भवति तथा ज्ञानेऽपि । तस्मादस्ति द्विरूपता ज्ञानस्य । [पृ० ३८A] यन भेदेन स्मृतिर्भवतीति अर्थाकारस्यानिष्पत्त । तस्माच्च ज्ञान द्विरूप सिध्यतीति । स्वसंवेद्यता चेति । उत्तरकाल स्मृतेर्ज्ञानस्य द्विरूपता केवला न सिध्यति अपि तु स्वसंवित्तिरपि या प्रमाणस्य फलत्वेन इष्यते [पृ० ३८B] । –विशाला० । ५ प्र० वार्तिकाल० पृ ४५,४२६। तुलना–प्र० वा० २।४२६,४८५ । ६ कस्मादिति [ऽदि ल शेस् प ल सोगस् प VT =] न ह्यसावविभाविते । अस्यायमर्थः –यत्र स्मृतिस्तत्र अनुभवः, रूपादिवत् स्मृतिश्च [अत्र] अस्तीति कार्यहेतुः । –विशाला० पृ० ३८B । तुलना–प्र० वा० म० टि० पृ ७१। ७ ऽदोद् फ्यिर् रो –PS[2] । ८ क्य ब ऽि शेस् प शस् प ग्शन् ग्यिस –PSV[2]। ९ 'गङ् ल्तर् गिर् –PSV[2]। १० ऽदोद् फ्यिर् रो –PSV[2] । ११ 'गिद् द दे ल्टर् न ग्शन् शुम् तोंग् प दङ् ग्रल् ब शेस् ब्य ब ऽि ग्नस् प यिन् ना। –PSV[2] । १२ यि"–PSV[2] VT । १३ गिनह् पो दे र् पर् म द्गार् गा । छ ग्शन् ग्शन् दु सम पऽि फ्यिर् ।" –PSV[2] । गिनह् पो मद् चम् शेस् प ग्स् । गझर् दु म छ शस् स्नम् फ्यिर् –VT ।

ग्शन् दु छ शस् सु ग्सुङ्स् ऽग्युर् । देस् न खो वोस् वृतंग् पर् व्यऽो ॥ १३ ॥

चोंद् प वस्गुव् प नि स्लोव् द्पोन् द्व्यिग् ग्ञेन ग्यि म यिन् नो ॥ . गेङ् गि फ्यिर् चोंद् प स्गुव् प दे ल नि स्लोव् द्पोन् ग्यिम् स्ञिङ् पो मेद् पर् द्गोङ्स् प स्ते । दे ल्त म यिन् न छ शस् चन दु मृजद् पर् ग्युर् रो ॥ देस् न खो वोस् क्यद् छद् म ल सोग्स् प चुङ् सद् चिग् वृतंग् पर् व्यऽो ॥

[2] ज्ञानान्तरेणानुभवेऽनिष्ठा, तत्रापि [3] हि स्मृतिः ।
विषयान्तरसञ्चारस्तथा न स्यात्, [4] स चेष्यते ॥ १२ ॥

[5] स्यादेतत्–रूपादिवद् [6] ज्ञानस्यापि ज्ञानान्तरेणानुभव इति । तच्चायुक्तम् । यस्माद् **ज्ञानान्तरेणानुभवेऽनिष्ठा** [7] अनवस्था [8] इति, [9] अस्य ज्ञानस्य ज्ञानान्तरेणानुभवे । कथम् ? **तत्रापि हि स्मृतिः** । [10] *येन ज्ञानेन तद् ज्ञानमनुभूयते * तत्रापि पश्चात् स्मृतिर्दृष्टा । तेन तत्रापि ज्ञानान्तरेणानुभवेऽनवस्था स्यात् । **विषयान्तरसञ्चारस्तथा न स्यात् [11] स चेष्यते ।** तस्मादवश्यं [12] ज्ञानस्य स्वसंवेदनमभ्युपगन्तव्यं तस्य च फलत्वमिति स्थितमेतत् प्रत्यक्षं कल्पनापोढमिति । ततः परं परप्रणीत प्रत्यक्ष परीक्ष्यते —

---

१ * "यङ् न दे ल स्लोव् द्पोन ग्यिस् स्ञिङ् पो म द्गोङ्स् प यिन् ते । गङ् गि फ्यिर् चोंद् प वस्गुव् पर् छ शस् ग्शन् दु व्कोद् प यिन् पऽि फ्यिर् रो ।" – PSV[2] । २ * मी० श्लो० वा० भट्टोम्वेकवृत्ति पृ० २८७, **न्या० र० पृ०** २७७,३२१। **प्र० वा० म० टि०** पृ० २६१, २७१ । तुलना– प्र० वा० ३।५१३–२१। –३ **"च स्मृति" – न्या० र०** पृ० २७७। ४ **"स चेक्ष्यते"** – PS[1] PSV[1], **प्र० वा० म० टि०** पृ० २६१,२७१ । "गोचरान्तरसञ्चारस्तथा न स्यात् स **चेक्ष्यते** ॥ २०२६ ॥" – **तत्त्वसं०** पृ० ५६५ । ५ "चि स्ते ग्सुग्स् ल सोग्स् प व्शिन् दु" [=**अथ** रूपादिवत् ·] PSV[1-2] । [ऽदिर् ऽग्युर् मोद् चेस् प ल सोगस् पस् VT =] । **स्यादेत**दित्यादिना 'ज्ञानान्तरेणानुभवोऽभीष्ट एव, तस्मात् सिद्धसाधनत्वम्' इति पराभिप्रायं प्रकाशयति । **ज्ञानान्तरेणे**त्यादिना सिद्धसाधनत्व परिहरति । **येन ज्ञानेन ज्ञानमनुभूयते तत्रापि** उत्तरकाले **स्मृतिर्दृष्टा,** अननुभूते च स्मृतेरयोग इति । तस्मान् तदालम्बनं ज्ञानान्तरमुत्पद्यते, तत्रापि स्मृति , ततस्तत्राप्यन्येनेति । तस्माज्ज्ञानान्तरेणानुभवे ज्ञानानामनवस्था [पृ० ३८B] । · तथा सति को दोष इति चेदाह – **विषयान्तरसञ्चार** इत्यादि । विषयान्तरे ज्ञानप्रवृत्तिर्न स्यात्, **इष्यते च** ।" – **विशाला०** पृ० ३९ A । "अथापि स्यात्–ज्ञानान्तरेण तस्य सिद्धिर्भविष्यतीत्याह—ज्ञानान्तरेणेत्यादि" – **तत्त्वसं० पं०** पृ० ५६४ । ६ 'ज्ञानमपि ज्ञानान्तरेणानुभूयते इति । तदप्ययुक्तम् ।' इत्यपि अत्र संस्कृत स्यात् । ७ "किञ्च, यदि ज्ञानान्तरेणानुभवोऽङ्गीक्रियते तदा तत्रापि ज्ञानान्तरे स्मृतिरुत्पद्यते एव 'ज्ञानज्ञान ममोत्पन्नम्' इति, तस्याप्यपरेणानुभवो वक्तव्य , न ह्यननुभूते स्मृतिर्युक्ता । ततश्चेमा ज्ञानमाला कोऽनन्यकर्मा जनयतीति वक्तव्यम् । " सेव पूर्वधीरुत्तरोत्तरा बुद्धिं जनयतीति चेदाह – **गोचरान्तरे**त्यादि । एव हि विषयान्तरसञ्चारो न प्राप्नोति । तथाहि – पूर्वपूर्वा बुद्धिरुत्तरोत्तरस्य ज्ञानस्य विषयभावेनावस्थिता प्रत्यासन्ना चोपादानकारणतया । ता तादृशीमन्तरङ्गिकां त्यक्त्वा कथ च बहिरङ्गमर्थं गृह्णीयात् ।" – **तत्त्वसं० पं०** पृ० ५६५ । "यदि ज्ञानस्य ज्ञानान्तरेणानुभव , स कथं ज्ञातव्य ? तत्रापि स्मृतिर्दृष्टेति, तद्वेदन तर्हि ज्ञानान्तरेणेति तत्रापि स्मृतिरेव प्रमाणम् । तदा चेमा माला ज्ञानतद्वेदनाना को हेतुरनुबन्धवर्तां जनयेत् ।" – **प्र० वार्तिकालं०** पृ० ४५५-६ । ८ "शेस् व्य व" – PSV[1-2] । अत्र यथास्य **'इति'** इति संस्कृत भवति तथा **'नाम'** इत्यपि संस्कृत भवेदिति ध्येयम् । ९ **'अस्य ज्ञानस्य'** इति पाठ PSV[1] मध्ये नास्ति । १० * * PSV[1] अनुसारेण तु एतत्स्थाने **'ज्ञानान्तरेण तस्य ज्ञानस्यानुभवे'** इति पाठ प्रतिभाति । ११ दृश्यता टिपृ० ११२ टि० ४ । १२ **'ज्ञानस्य स्वसंवेद्यत्वमभ्युपगन्तव्यम्'** इति पाठोऽप्यत्र संस्कृते स्यात् । "यदि ग्राह्यव्यक्त्यसिद्धावपि व्यक्त वस्तु इष्यते [पृ० ३९A] सर्वमिद जगद् व्यक्त स्यात्, अव्यक्तव्यक्तिकत्वेन विशेषाभावात् । न च भवति । **तस्माद् ज्ञानस्य स्वसंवेद्यत्वमभ्युपगन्तव्यमिति** [पृ० ३९ B]" – **विशाला०** । तुलना – **प्र० वा० म०** ३।५४१ । "तस्मात् स्वसंवेदनमेष्टव्यम् ।" **प्र० वा० म० टि०** पृ० २८१ ।

नोचार्यस्य वादविधिरसारो वेति निश्चितम् ।
अन्यथाशास्य वचनात् तेनास्माभि परीक्ष्यते ॥ १३ ॥

वादविधिनाचार्यवसुबन्धो , *तेनाचार्येण असारो वाभिप्रेत, यस्माद् वादविधाने* अन्यथा अंश उक्त, तेनास्माभिरपि प्रमाणादिषु किञ्चित् परीक्ष्यते ।

[5]दोन् द लम् स्क्येस् पडि नंम् शेस् ॥ मुदोन् सुम् यिन् शेस् ब्य व ऽदिद् ॥
थुन् ल दोन् ऽदि शेस् ब्र्जोद् न ॥ गङ् दे दे ऽबऽ शिग् ल्स् मिन् ॥

गल् त दे ऊम् नेस् ब्य व ऽदिस् क्येन् थुन् थ्नाद् प यिन् न नि शेस् प गङ् युल् गन् ऊ स्क्येस् प दङ् थ स्नद् दु ब्यङ दे ऽबऽ शिग् लस् नि म यिन् नो ॥ द्मिगस् पडि क्येन् ऽबऽ शिग् ल्स *[7]शेस् प नि म यिन् नो ॥ सेमुस् दङ् सेमुस् ऊस् ब्युङ् व नंमुस् वृगि ल्स् स्क्ये वडो शेस् थुन् पडि मूयऽ लस् ऽब्युङ् बडि फियर् रो ॥

द्मिगस् पडो ने न इन् सोगस् किय ॥ शेस् पऽङ् गुनन् ल ल्तोस् म यिन् ॥ १४ ॥*

गन् ते दोन् दे ल्म् शेस् प ऽदिस् युल् चम् यिन् न नि द्रन् प दङ् । जैस् सु द्पग् प दङ् मूनोन् पर् ऽदोद् प ल सोगस् पडि शेस् प यन् द्मिगस् पर् ब्य व गुशन् ल मि ल्तोस् ते । दुद् प ल सोगस् †[8]प द्मिगस् नम् † मे ल सागस् पडि नेस् प स्क्ये व नि म यिन् नो ॥ गुसुगस् ल सोगस् प निद् ऊ द्मिगस्

१ "वादविधिर्नाचार्यस्य सारो वा नेति निर्णीतम् । अन्यथाशास्त्रप्रणयनात् (उक्तत्वादन्यथाशास्त्र[2]) तेनास्माभि परीक्ष्यते ॥" इत्येवमपि अत्र संस्कृत भवेदिति ध्येयम् । तथाच तदनुसारेण वृत्तौ विशाला मलवत्यामपि च पठितव्य संस्करणम् । अत्र 'आचार्यवसुबन्धोर्वादविधि' इति लोकप्रसिद्धिरियम् । शास्त्रकारेण तु येन कृतानां शास्त्रान्तराणां निर्दोषत्वमपेक्ष्य सदोषस्य वादविधे तत्कर्तृत्व न सम्भवतीत्याह–नाचार्यस्य वादविधि रिति । ननु अन्यकर्तृकानां शास्त्राणां कर्ता प्रसिद्ध्यैव निश्चीयते, अत्रापि सास्तीति कथ वादविधिर्नाचार्यस्येति चेत् [स्लिन् पो मेद् चम् ङेस् प ऽम् ॥ नेस् प स्ते । VT =] असारो वेति निश्चितमिति प्रकृतत्वात् आचार्येण तत्र' इति गम्यते । अनेन अयमर्थ प्रकाश्यते–प्रसिद्धिमात्रेण तावदयनिश्चयो न भवति अर्थाभावेऽपि तत्सम्भवात् । यद्यपि तेन स कृत तथापि [दङ् पो शेस् रब् फुर् दु ब्युङ् थ म स्क्येस् पर् ग्युर् प म्ने । फियस् ब्लो ब्यङ् वर् ग्युर् प न ऽदिस् दे ल रिनङ् पा मेद् पर् ङेस् प स्क्यस् सो शेस् पडो VT=] आदौ प्रज्ञा प्रज्ञा अनुत्पन्ना पश्चात्तु बुद्धौ विशुद्धायाम् अनेन तत्र असारो निश्चित इति । [यङ् जि ल्त बुर् VT=] यथा पुनरनेन तत्र असारो निश्चित इद कथ ज्ञायत इति चेत् [गुनन् दु न छ शस् स्म्रस् फियर् नेस् प स्ते VT=] अन्यथाशास्य वचनादिति निर्दोषाशाभिधानादित्यर्थ । यद्दोषदर्शनाद् आचार्येण [चोंद् प स्मुस् प ऊ VT=] वादविधौ असारनिश्चयाद् [चोंद् प स्मुर् पर् ब्येद् प ल VT=] वादविधाने अन्यथांशस्य वचन त एव दोषा [सो सो चग् गिर् VT=] अस्माभि प्रकाश्यन्ते इति दर्शयितुमाह–तेनेत्यादि । तेनेति दोषवत्त्वेन । तथाहि– अन्यथा-शस्य वचनात् इत्यनेन वादविधे दोषवत्त्व प्रकाशितम् । प्रमाणादिष्विति प्रमाणाश तदाभास-जाति-तदुत्तरेषु । –विशाला० पृ० ३९ B । २ * * PSV[3] अनुसारेणायं पाठोऽस्माभिर्लिखित । ३ यस्माद् वादविधाने अन्यथांशस्य वचनात् इत्यपि सम्भवमत्र भवेत् PSV[2] अनुसारेण । ४ 'वादविधान'नामा ग्रन्थो वादविधेर्भिन्न सोऽपि च वसुबन्धुना रचित इति ध्येयम् । द्रष्टव्य The Vadavidhi and the Vadavidhāna of Vasubandhu [Adyar Library Bulletin Vol XVII Part I Feb 1953 pp 9-19] by H R R Iyengar । धान्यामवृत्ति पृ० १४२ । ५ दोन् द ल्म् स्क्येस् पडि नंम् पर् शेस् प मूनोन् सुम् यिन् नो नेस् ब्य व ऽदिद् । दोन् द नेस् पस् थुन् ब्र्जोद् न ॥ गङ् द दे ऽबऽ शिग् ल्स् मिन् ॥ —PSV[2] । ६ 'युल् ऊ गङ् ल्स्' —PSV[2] । ७ * * शेस् प स्क्ये व नि म यिन् ते । वृगि बि सेमुस् दङ् सेमुस् ब्युङ् नंमुस् नेस् थुन् पडि मूयऽ ल्स् ऽब्युङ् बडि फियर् रो ॥ द्मिगस् पडो ने न इन् सोगस् किय । शेस् प गुनन् ऊ ल्तोस् म मिन् । —PSV[2] । ८ † † प ल द्मिगस् प —PSV[2] ।

प दोन् दु व्र्जोद् पर् ब्य ग्रङ् न । [1]चि शेस् प स्क्ये व ढे ल्तर् स्नङ् व दे ल ढे वृशिन् दु दमिगस् नस् स्क्ये व यिन् नम् दे स्ते ग्शन् दु स्नङ् दु सिन् क्यङ् जि ल्तर् योद् पडि दे ग्युर् ऽग्युर् व यिन् ग्रङ् । ढे लस् चिर् ऽग्युर् शे न । गल् ते जि ल्त व ढे लस् शेस् प स्क्ये न नि दे ल्तर् न वृसगस् प ल दमिगस् प यिन् पडि फियर् ल्ड वो कुन् जोंव् पर् ऽग्युर् ते । ढे जिद् ल दमिगस् प यिन् पडि फियर् रो ॥ स्टोन् पो ल सोगस् पर् स्नङ् वडि शेस् प ल दोन् ढे लस् स्क्येस् पडि शेस् प मूडोन् सुम् दु ऽग्युर् रो शेस् ऽदोद् प दे ल्त न नि छोगस् ल दे दग् ल खस् ब्लङ्स् प वृदेन् यट् योद् पडि [पृ० 17 A] जेस् क्यि नेम् प जिद् थोव् स्ते [2] । दे जिद् [ल N ed] जेस् ल सोगस् प जिद् दु स्नट् वस् न जेस् दङ् ग्रङ्स् ल सोगस् पडि नेम् प यङ् ऽथोव् वो ॥

[3]दे स्ते जि ल्तर् योद् प ग्युर् ऽग्युर् न नि दे ल्तर् जेस् ल सोगस् प नि थल् बडि ञेस् पर् मि ऽग्युर् ते दे ल्तर् न ढे दग् मेद् पडि फियर् रो ॥ दे ल्तर् न यट् गङ् ल य स्नद् दु ब्य व स्ते ढे नि ऽथोव् पर् मि ऽग्युर् ते । दे दग् सो सो ल शेस् प योद् प म यिन् नो ॥ सो सो व दे दग् ऽडुस् प ग्युं यिन् यङ् दे ऽडुस् पर् योद् प ल सोगस् प नि खस् म ब्लट्स् सो ॥ दे जिद् स्नस् प ।

जि ल्तर् स्नङ् व दे योद् मिन् ॥ दे यि फियर् न दोन् दम् दु ॥
सेमूस् क्यि दमिगस् प ल्ट नेमूस् सो ॥ दे ल य स्नद् दु म ब्यस् ॥ १५ ॥[4]

दमिगस् (मिग्) प ल सोगस् प यट् दमिगस् पर् ब्य व जिद् दु थल् वर् ऽग्युर् ते । [5] दे दग् नि दोन् दम् पर् योद् पस् सो ॥ ग्शन् दु न योद् प यिन् प स्ल व ग्जिस् प ल सोगस् पर् स्नट् व य(द)ङ् स्डोन् पो ल सोगस् पर् स्नङ् वडि शेस् पडि ग्युर् ऽग्युर् रो ॥

"ततोऽर्थाद् विज्ञानं प्रत्यक्षम्" [वादविधौ] इत्यत्र

---

१ ... "चि गङ् स्नङ् व दे नेमूस् ल शेस् प स्क्येस् प ढे ल्तर् दे दग् दमिगस् पर् व्र्जोद् प यिन् नम् । चि स्ते ग्शन् स्नङ् दु सिन् क्यङ् जि ल्तर् योद् प शेस् पडि ग्युर् ऽग्युर् ग्रङ् । दे लस् चिर् ऽग्युर् शे न । गल् ते जि ल्तर् स्नङ् व दे दे दग् ल शेस् प स्क्ये न नि दे ल्तर् न नेम् पर् शेस् पडि छोगम् ल्ड नि वृसगस् प ल दमिगस् प यिन् पडि फियर् कुन् जोंव् तु योद् पर् जिद् दमिगस् प शेस् ब्य व खस् ब्लङ्स् नस् । स्डोन् पो ल सोगस् पर् स्नङ् वडि शेस् प नेमूस् दोन् दे लस् स्क्येस् पडि नेमूस् पर् शेस् प यिन् पडि फियर् मूडोन् सुम् जिद् दु ऽग्युर् रो ॥ दे ल्तर् न दे दग् ल दे वृसगस् प य स्नद् दु योद् प यिन् यङ् जर्स् सु योद् पडि नेम् प जिद् ऽथोव् स्ते ।"—PSV[2] । २ "जेस् दङ् ग्रङ्स् ल सोगस् पडि नेम् प ल ऽङ् थोव् वो"—PSV[2] पृ० १००A । "जेस् दङ् ग्रङ्स् ल सोगस् पडि नेम् प नेमूस् ल यङ् थोव् बो शेस् प"—VT पृ० ४२A । ३ ... "जि स्ते जि ल्तर् योद् प लस् ग्शन् दु स्नङ् यङ् शेस् पडि ग्युर् ऽग्युर् न नि दे ल्तर् न जेस् ल सोगस् प ल थल् वडि ञेस् पर् नि मि ऽग्युर् ते । दे ल्तर् दे दग् मेद् पडि फियर् रो ॥ दे ल्तर् न यङ् गङ् लस् गङ् शेस् थ स्नद् दु ब्य व दे नि थोव् पर् मि ऽग्युर् ते । दे दग् सो सो व ल शेस् प योद् प म यिन् नो ॥ दे दग् वृसगस् प न यङ् सो सो व ग्युं यिन् गिय दे वृसगस् प नि म यिन् ते । य स्नद् दु योद् पडि फियर् रो ॥ दे जिद् स्नस् प । गङ् शिग् स्नङ् व दे लस् मिन् ॥ ल्ट् पो वृसगस् प दमिगस् पडि फियर् ॥ गङ् लस् दे नि दोन् दम् प ॥ दे ल थ स्नद् दु म ब्यस् ॥ शेस् ब्य व नि वर् स्कब्स् क्यि छिगस् सु व्चद् पडो ॥"—PSV[2] । ४ "दे दग् क्यङ् दोन् दम् पर् ग्शन् दु योद् पडि फियर् रो ॥ स्ल व ग्जिस् ल सोगस् पर् स्नङ् व दङ् स्डोन् पो ल सोगस् पर् स्नङ् व यङ् शेस् पडि ग्युं यिन् नो ॥"PSV[2] । ५ भोटभाषानुवादे PSV[1] मध्ये भ्रान्त्या श्लोकार्धरूपेणानूदितमिदम् । तुलना—**नयचक्रवृ०** पृ० ९६ टि० १ । **"ततोऽर्थाद् विज्ञानं प्रत्यक्ष**मिति येन विषयेण विज्ञानं व्यपदिश्यते यदि तत एव तद् भवति नान्यस्मात्, न ततोऽन्यस्मादपि, तद् ज्ञानं प्रत्यक्षं रूपादिज्ञानसुखादिज्ञानवदिति । अनेन भ्रान्तिज्ञानमपक्षिप्तम्, यथा शुक्तौ रजतज्ञानम् । तद्धि 'रजतज्ञानम्' इति रजतेन व्यपदिश्यते, ततो रजताच्च न जायते, शुक्त्यैव तज्जन्यते । संवृतिज्ञानमप्यनेनापक्षिप्तम्, तथाहि—'घटज्ञानं घटज्ञानम्' इत्येवं तद् घटादिभिर्व्यपदिश्यते, तेभ्यस्तद् नोत्पद्यते तेषां संवृतिसत्त्वेन अकारणत्वात् । रूपा-

ततोऽर्थादिति सर्वश्चेद् येन तत् तत एव न ।

यदि 'तत' इत्यनेन सर्व प्रत्यय उच्यते, यद् ज्ञान यस्माद् विषयाद् भवति तस्य व्यपदिश्यते, तत एव तु न भवति, आलम्बनप्रत्ययादेव ज्ञान न भवति 'चतुर्भिश्चित्तचैत्ता [अभिधर्मकोशे २।६४] इति सिद्धान्तात् ।

आलम्बन चेत् स्मृत्यादिज्ञान नान्यदपेक्षते ॥ १४ ॥

दिभ्य एव तथा समुदितेभ्यस्तदुत्पद्यते । अनुमानज्ञानमप्येतेनैवापक्षिप्तम् धूमज्ञानसम्बन्धस्मरणाभ्यामपि तदुत्पद्यते न वह्नेरेवेति । तत उत्पन्नमेव न अनुत्पन्नम् इत्ययमप्यर्थोऽत्र अभिमत । – विशाला० पृ० ३९B–४०A । "अपरे पुनर्वर्णयन्ति – ततोऽर्थाद् विज्ञान प्रत्यक्षमिति । तत ततोऽर्थात् इति यस्यार्थस्य यद् विज्ञानमपदिश्यते यदि तत एव तद् भवति नार्थान्तराद् भवति तत् प्रत्यक्षम् । एतेनानुमानादिज्ञानमपक्षिप्त भवति न हि तत एव तद् भवति किं तर्हि ? ततश्च अन्यतश्च तद् भवति । – न्यायवार्तिक १।१।४। 'तदेव प्रत्यक्षलक्षण समर्थ्य वासुबन्धव तावत् प्रत्यक्षलक्षण दूषयितुमुपन्यस्यति – अपरे पुनरिति । लक्षण व्याचष्टे – ततोऽर्थादिति । यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धाद् यस्यार्थस्य यद् विज्ञान व्यपदिश्यते यदि तत एव तद् भवति नार्थान्तराद् व्यपदेशासम्बन्धिन तत् प्रत्यक्षम् । अत एव व्यपदेशासम्बन्धिनोऽर्थान्तरात् शुक्तिरूपाज्जायमान रजतेन व्यपदिश्यमान शुक्तिज्ञान न प्रत्यक्षम् व्यपदेशकादनुत्पत्ते व्यपदेशकस्य रजतस्य तत्राभावात् । – न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका १।१।४।

१ "तदेव व्यवस्थिते इद परीक्ष्यते – किमय प्रत्ययापेक्षो नियम आहोस्विदालम्बनापेक्ष इति । तत किम् ? उभयथापि दोष । पूर्वनियममधिकृत्य तावदाह – ततोऽर्थादिति सर्वश्चेदिति । यदि तत इत्यादि अस्यैव विवरणम् । अत्र सर्वधर्मात्मकत्वादालम्बनप्रत्यय एव 'सर्व'शब्देनोच्यते । कथ पुन तस्य सर्वधर्मात्मकत्वमिति चेत् 'आलम्बन सर्वधर्मा [अभिधर्मकोशे २।६२] इति लक्षणात् । ततश्चायमर्थो भवति – यदि सर्वधर्मस्वरूप प्रत्यय उच्यते यदि आलम्बनप्रत्यय उच्यते इति यावत् । येन आलम्बनप्रत्ययसम्बन्धिना ज्ञान व्यपदिश्यते तत् तत एव न भवति, किं तर्हि ? प्रत्ययान्तरादपि । 'चतुर्भिश्चित्तचैत्ता' [अभि को० २।६४] इति वचनात् । एव प्रत्ययनियमपक्षे सिद्धान्तविरोध प्रकाश्यते । – विशाला० पृ० ४०A–४०B । २ द्रष्टव्यं टिप्पृ० ३८ टि० १ । ३ आलम्बननियममधिकृत्याह – आलम्बन चेदित्यादि । अत्र लक्षणस्यातिव्याप्तिरुक्ता । 'विषयमात्रम्' इत्यत्र यत् तदा सन्निहित रूपादि व्यक्त तद् विज्ञानालम्बनत्वेन विषय शब्देनोच्यते । मात्र शब्द आलम्बनान्तरव्यवच्छेदक । स्मृत्यादिज्ञानमपि रूपादिभिर्व्यपदिश्यते रूपस्मृति, आम्लाभिलाष, अग्न्यनुमानम् इति आलम्बनान्तरानपेक्ष च । तस्मात् तदपि प्रत्यक्ष स्यात् । स्यादेतत् – अनुमेयविषय ज्ञानमग्निमात्रान्न जायते अपि तु पक्षधर्मत्व-सम्बन्धज्ञानाभ्यामपि । तत कुतोऽय प्रसङ्ग इत्याह – अग्न्यादिज्ञानमित्यादि । यद्यपि तदर्थान्तरादपि जायते तथापि तदर्थान्तर तेन नालम्ब्यते तत्र आलम्बनान्तरानपेक्षजन्मत्वात् [शेस् (शेस् ?) देप =] तद् ज्ञान प्रत्यक्ष स्यात् । ननु यदि 'येन विषयेण यद् ज्ञान व्यपदिश्यते तद् यदि ततो भवति न न भवति इत्ययमपि नियमोऽत्र अभीष्ट स्मरणादीनां येनालम्बनेन व्यपदेश तत उत्पत्तिरपि नास्ति तदभावादिति चेत् असदेतत्, परम्परयापि तत उत्पत्तेरभीष्टत्वात् । अन्यथा कथमिद युज्यते यद् वादविधावुक्तम् – अनुमानज्ञानमप्यत एव निराकृतम् धूमज्ञानसम्बन्धस्मरणाभ्यामपि तद् भवति न तु अग्नेरेव' इति । अनेन धूमज्ञानसम्बन्धस्मरणाभ्याम् 'अपि शब्दादग्नेरपि तदुत्पद्यते इत्युक्त भवति । तत्किं कथ युज्यते यदि व्यपदेशहेतो परम्परयाप्यत्र जनकत्व [न] इष्यते ? अन्यथा यदि स्मरणादीनां व्यपदेशहेतोर्विषयस्य तदानीमभावादजनकत्व तदिदमजनकत्वमनुमानेऽपि समानमिति वाक्यमिदमप्रयोजक स्यात् । अथ स्मरणादीनां विषय कल्पित सामान्य व्यपदेशहेतु तस्य च सङ्गतिसद्भावादजनकत्वमेव तस्मात्तेषामप्रत्यक्षत्वमितीष्यते अत्रापि इदमेवोत्तरम् । तथाहि – अनुमानमपि संवृतिसदेव आलम्बते, तत्र धूमज्ञानसम्बन्धस्मरणाभ्यामपि तद् भवति न तु अग्नेरेव' इति यदुक्त तत्र युक्त स्यात् । तस्मादतिव्याप्तिदोष स्थित एव । – विशाला० पृ० ४०B–४१A । बाह्यार्थवादिनां परमार्थत एव बाह्य प्रमेय तद्विषय च प्रमाणमभीष्टम् । तच्च यथा न युज्यते तथा साधनाय तदालम्बनमधिकृत्य विचारणामारभमाह – रूपादिष्वालम्बनार्थो वक्तव्य इति । बाह्यार्थवादिषु सयूथ्या वर्त्तन्ते तेषां निराकरणे इतरे निराकृता एव भवन्ति इति तैरेव सह विचारयति । आलम्बनार्थ इति 'आलम्बन शब्दार्थ । किं यदाभासमित्यनेन रूपादिपरमाणूनां प्रत्येक स्वरूपेणाभासाभावात् समुदायाकार[ण] च तेषु विज्ञानप्रतिभासादाभासाय आलम्बनार्थो दर्शित । अथ यथेत्यादिना हेत्वर्थ । यथा विद्यमाना इति नीलादिस्वलक्षणत्वेन । अन्याभासस्यापीति समुदायाभासस्यापि । यद्यपि स्वाभासं विज्ञानं न जनयन्ति तथापि इति अपिशब्दार्थ । – विशाला० पृ० ४१B ।

यदि 'ततोऽर्थात्' इत्यनेन विषयमात्रम् [उच्यते] स्मृत्यनुमानाभिलापादिज्ञानमपि आलम्बनान्तरं नापेक्षते। अग्न्यादिज्ञानं धूमाद्यालम्ब्य[1] न जायते। रूपादिषु आलम्बनार्थो[2] वक्तव्यः। किं यदाभासं[3] तेषु ज्ञानमुत्पद्यते तथा ते आलम्बनम्, अथ[4] यथा विद्यमाना अन्याभासस्यापि विज्ञानस्य कारणं भवन्ति? ततः किमिति चेत्, यदि यथाभासं तेषु ज्ञानमुत्पद्यते तथा संञ्चितालम्बनत्वात्[5] पञ्चानां विज्ञानकायानां संवृतिसदेवालम्बनमिति इष्टं नीलाद्याभासज्ञानेषु 'ततोऽर्थाद् विज्ञान'त्वात् प्रत्यक्षत्वं भवति, तथाहि—तेषु तत्समुदाये प्रज्ञप्तिसत्यपि द्रव्यसदाकारो लभ्यते। द्रव्यसंख्याद्याकारेष्वपि लभ्य(प्स्य?)ते। तँ एव हि द्रव्यादित्वेनाभासन्ते।

अथ[6] यथा विद्यमाना अन्याभासस्यापि ज्ञानस्य कारणं भवन्ति तथा[7] सति द्रव्यादिप्रसङ्गदोषो न भवति, तथा तेषामसत्त्वात्, तर्ह्यपि 'येन तस्य व्यपदेशः' इत्येतन्न लभ्यते। न हि तेषु प्रत्येकं ज्ञानमस्ति। *[8]प्रत्येकं च ते समुदिताः कारणम्,*

---

१ "धूमाद्यालम्बनम्" - PSV². २ नयचक्रवृत्ति पृ० ९६ पं० ७। ३ नयचक्रवृत्ति पृ० ९६ पं० 1, पृ० ९९ पं० २३। ४ नयचक्रवृत्ति पृ० ९९ पं० २९। ५ "सञ्चितालम्बनत्वादिति समुदायालम्बनत्वात्, सञ्चितम्सञ्चय इति कृत्वा, सञ्चयश्च समुदाय। सञ्चितालम्बनत्वं तेषां [पृ० ४१ B] समुदायाभासत्वात्। अथवा सञ्चितत्वेन आलम्बनत्वादिति समुदायाभासत्वादित्यर्थ। आलम्ब्यतेऽनेनेति करणकारकं कृत्वा आभास 'आलम्बन'शब्देनोच्यते। **संवृतिसदेवालम्बन**मिति अप्रत्यक्षत्वम् इति शेष। संवृतिसदालम्बनत्वं संघातस्याद्रव्यसत्त्वात्। अनेन 'यत् संवृतिसदालम्बनं तदप्रत्यक्षम्, स्मृत्यादिज्ञानवत्, इन्द्रियज्ञानमपि तथा' इति व्यापकविरोधप्रसङ्ग उक्त। ननु स द्रव्यसतामेव परमाणूनामाकार, त एव हि परस्परोपकारका तथा प्रतिभासन्त इति नानाकारार्थवादे कदाचिदसिद्धत्वमुच्येत इत्याशङ्कायामाह—**इष्ट**मित्यादि। **इष्ट**मिति अभ्युपगमे। **नीला**द्याभासविज्ञानेषु '**ततोऽर्थात्**' इत्यस्माल्लक्षणाद् भवन्मतेन प्रत्यक्षत्वं भवति। कस्मादित्याह—**तथाही**त्यादि। **ते**ष्विति नीलाद्याभासज्ञानेषु [ढे छोगस् प ल वतगम् पर् योद् न यद् शेस् प VT=] **तत्समुदाये प्रज्ञप्तिसत्यपी**ति नीलादिपरमाणुसमुदाये। यद्यपि स प्रज्ञप्तिसन् तथापि नीलपीतादिज्ञानेषु **द्रव्यसदाकारो लभ्यते** भवदभिमतन्यायेन। अथवा **तेषु** इति नीलादिपरमाणुषु द्रव्यसदाकारो लभ्यते। **द्रव्यसंख्याद्याकारेष्वपि लभ्य(प्स्य?)ते**। यदि परमाण्वाकारत्वात् समुदायाकारस्य परमार्थसत्त्वं द्रव्यसंख्यादीनामपि परमाण्वाकारत्वात् परमार्थसत्त्वं स्यात्। ततश्च तदाकाराणि विज्ञानानि [पृ० ४२ A] प्रत्यक्षाभासाभिमतान्यपि प्रत्यक्षाणि स्यु। तत्रापि अयं न्यायो वक्तुं शक्यते य **त एवे**त्यादिरुक्त [पृ० ४२ B]।"—**विशाला०**। ६ तुलना—**न**यचक्रवृत्ति पृ० ९८ पं० ४,१९। ३ तुलना—**न**यचक्र-वृत्ति पृ० ९८ पं० २,६,१५,२३। ७ "**अथ यथे**त्यादि पक्षान्तरमुपन्यस्यति। [दे ल्तर् ग्युर् न शेस् प ल सोगस् प नि VT=] **तथा सति** इत्यादि। द्रव्यादिषु यद् ज्ञानं तस्य प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गो नास्तीत्यर्थ। कस्मादित्याह—[दे ल्तर् दे नंमूस् शेस् प ल सोगस् प स्ते VT=] **तथा ते** इत्यादि। **तथा** इति घटादिरूपेण [दे नंमूस् शेस् प VT=] **ते** इति द्रव्यादय। ते नीलादिपरमाणुवत् तत्त्वतोऽसन्त। 'घटज्ञानम्, द्वित्वज्ञानम्' इति तैरपि ज्ञानं व्यपदिश्यते, ततश्च न तदुत्पत्ति, तेषां तत्त्वतोऽसत्त्वात्। तस्मान्न तज्ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वप्रसङ्ग। संवृतिसदालम्बनत्वमप्यसिद्धम्, यस्मात् स्वरूपेण परमाण्वालम्बनत्वे इन्द्रियज्ञानं संवृतिसदालम्बनं न भवति। तर्हि को दोष इत्याह—**तर्हि** इत्यादि। **ने**त्यादिना तत्रैवोपपत्तिमाह। यदि परमाणुषु प्रत्येकं ज्ञानं स्यात् तथा सति एकैकेन परमाणुना तद्व्यपदेश स्यात्, ततश्च ते प्रत्येकं ज्ञानस्य कारणं तैश्च प्रत्येकं तद्व्यपदेश स्यादिति तदालम्बनज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वं लभ्येत। तथा च नास्ति। तस्माद् **येन तस्य व्यपदेश इत्येतन्न लभ्यते**। अथ संघाताभासत्वात् 'तस्य व्यपदेश' इष्यते, परमाणवोऽपि संघातावस्था एव परस्परोपकारका ज्ञानस्य हेतव, तस्माद् येन तद्व्यपदेश तत एव जन्म इति नीलादिज्ञानानां प्रत्यक्षत्वं सिद्धमित्याह—**प्रत्येकं चे**त्यादि। संघातावस्थायामपि प्रत्येकमेव हेतुभाव, न समुदायस्य [पृ० ४२ B] इत्यर्थ। तेन '**येन तस्य व्यपदेश इत्येतन्न लभ्यते**' इति स एव प्रसङ्ग। **यदाभासा न सा तस्मा**दिति समुदायाभासा। कस्मान्न भवतीत्याह—**चितालम्बं हि पञ्चक**मिति, समुदायाभासमित्यर्थ। करणकारकं कृत्वा आभास आलम्बनशब्देन उच्यते। [गङ् लस् दे नि दोन दम् पर् VT.=] **यतः सा परमार्थेने**ति परमाणुत। [दे ल य स्लद् दु म व्यम् VT=] **तत्र(स्य?) न व्यपदिश्यते** इति, अतदाभासत्वेन तदप्रतीतत्वात्।"—**विशाला०** पृ० ८३ A। ८ * * तुलना—**न**यचक्र-वृत्ति पृ० ९९ पं० ६,२७, पृ० १०१ पं० ९।

न तत्समुदाय[१] प्रज्ञप्तिसत्त्वात् । तत्रैवाह[२]—

यदाभासा न सा तस्माच्चितालम्ब हि पञ्चकम् ।
यत सा परमार्थेन तत्र न व्यपदिश्यते ॥ १५ ॥

[इत्यान्तरश्लोक PSV[२]] । चक्षुरादीनामप्यालम्बनत्वप्रसङ्ग[३] । तेऽपि हि परमार्थतोऽन्यथा विद्यमाना नीलाद्याभासस्य द्विचन्द्राद्याभासस्य च ज्ञानस्य कारणीभवन्ति[४] ।

卐 दोन् ग्यि छुल् ग्यिस् दुनेन् प यङ् ॥ सूर्नोद् ब्य म यिन् युल ऽदिऽि यन् ॥
स्पिय यि छुल् ग्यिस् बम्तन् पर् ब्य ॥ दस् न थ स्नद् दु मि ब्य ॥ १२ ॥ 卐 PS[२]

दोन् ग्यि छुल् ग्यिस् दुनेन् प यन् ब्नाद् ब्य म यिन् । शेस् प[५] थमुस् चद् दोन् ग्यि छुल् दङ् ब्रन् न यङ् * थ स्नद् दु ब्य बर् मि नुस् सो ॥ युल् ऽदिऽि यन् । स्पिय यि छुल् ग्यिस् बम्तन् पर् ब्य ॥ दस् न थ स्नद् दु मि ब्य ॥ नम् पर् नस् प ल्न नमस् क्यि युट् [नि युल् PSV] देऽि [स्पिय ऽि N ed] छुल् ग्यिस् थ स्नद् दु ब्य ब यिन् गि रङ् गि दो बोऽि छुल् ग्यिस् थ स्नद् दु ब्य ब नि म यिन् नो ॥ स्पियऽि दो बोऽि छुल् ल्स् (नस् PSV[२]) नि गसुगस् ल सोगस् प [गिद् क्यि PSV[२]] थ स्नद् दु ब्येद् दो ॥[६] देऽि फ्यिर् नम् पर् शेस् प ल्न नमस् क्यि युट् नि थ स्नद् दु ब्य बर् (बस् PSV[२]) मि नुस् सा गेस् ब्य ब नि चोंद् प स्दुन् लऽो (पऽो N ed) ॥[७]

रिगस् प चन् नमस् नि दुबङ् पो दङ् दोन् मद् प लम् स्क्येस् पऽि शेस् प थ स्नद् दु ब्यस् प म यिन् प ऽखुल् प मेद् प गेन् पऽि बुदग् निद् नि मुङोन् सुम् मो शेस् सेद् दो ॥[८] ऽदि यङ् रिगस् प म यिन् ते स्यद् पर् ऽनि दग् नि मि ग्शाऽो । गङ् गि फ्यिर् ।

दुबङ् पो ल्स् ब्युङ् दोन् ब्लो लस् ॥ थ स्नद् ल सोगस् स्निद् म यिन् ॥ [पृ० १७B] ।

[९] ऽखुल् प मिद् पऽि युल् नि स्यद् पर् दु ब्य मन् न । थ स्नद् दु ब्य बऽि युल् ल नि

१ PSV[२] अनुसारेणैतत् । PSV[१] अनुसारेण तु न तत्समुदाय प्रज्ञप्तिसत्' इति संस्कृतं भवेदिति भाति । २ अत्र तदेव आह' इत्यस्य स्थाने 'आह च' इति यद्वा 'उक्तं च' इति सम्यक् सम्भाव्यते तुलना—टिपृ० १०३ पं० ११ टि० ९ टिपृ० १०४ पं० १० । ३ "तत्रोऽर्थान्तरान प्रत्यक्षम्' इति तु लक्षणमेव । अथ तावत् आचार्येणोक्त 'यदाभासा न सा तस्माच्चितालम्ब हि पञ्चकम् । न हि परमाणुस्य उत्पद्यमान तदाकारं चक्षुरादिज्ञानम् । अन्याकारस्यापि विज्ञानस्य कारणत्वेनालम्बनत्वे चक्षुरादिपरमाणूनामप्यालम्बनत्वप्रसङ्ग । तेऽपि हि तथाऽन्यथा वा भवन्तो द्विचन्द्रनीलाद्याभासविज्ञानहेतव इति । परमार्थमविरुद्धोक्तमेतत् । लोकप्रसिद्ध्या तु वादविधे(विधिर?)चनम् । लोके हि न परमाण्वादिकल्पना । —प्र० वार्तिकाल० पृ० २२९ । "मानसं तदपीत्येके तेषां ग्रन्थो विरुध्यते । नीलद्विचन्द्रादिधियां हेतुरक्षाण्यपीत्ययम् ॥ २।२९४॥ तद् द्विचन्द्रादिज्ञानं मानसं मनोभ्रम इत्येके आचार्याः । तेषामेववादिना नीलद्विचन्द्रादिधियामक्षाण्यपि हेतुरित्येतदर्थवाचको ग्रन्थो विरुध्यते । अथ पुनरयं यावच्चक्षुरादीनामप्यालम्बनत्वप्रसङ्गः । तेऽपि हि परमार्थतोऽन्यथा विद्यमाना नीलाद्याभासस्य द्विचन्द्राद्याभासस्य च ज्ञानस्य कारणीभवन्तीति । स्यादेतत्—मानसस्य प्रत्यक्षस्येन्द्रियं पारम्पर्येण हेतु तेन विरोधाभाव एव । वादविधिप्रकरण इन्द्रियज्ञानस्य प्रत्यक्षस्य गोचरं विचार्यमाणे मानसस्य विकल्पस्येहावसरे इति न प्रस्ताव येन परम्परया तद्धेतुरिन्द्रियमुच्यते । —प्र० वा० म० पृ० २०६–२०७ । 'तेषां प्रत्यक्षरोध । यद्यपीन्द्रियविज्ञप्ते कारणं परमाणव । अतदाभतया नास्या अक्षवद् विषयोऽणव ॥ १ ॥ [आलम्बनपरीक्षा], त एव हि चक्षुरादिपरमाणव तथाऽन्यथा च भवन्तो द्विचन्द्रनीलाद्याभासहेतव । द्विचन्द्रादिभासस्य हि मानसत्वे नेन्द्रियहेतुता स्यात् तथा ।'—प्र० वार्तिकाल० पृ० ३३६ । ४ सा विज्ञप्तिरित्यर्थ । इयं कारिका कुतश्चिदन्यस्माद् ग्रन्थादुद्धृता प्रतीयते । ५ * * थमुस् चद् क्यि दोन् ग्यि दो बो स्न् न्न् दु –PSV[२] । ६ PSV[२] मध्ये स्पियऽि फ्यिर् नास्ति । ७ युस्दुन् पऽि ऽो ॥ –PSV[२] । ८ ऽनि यङ् स्यद् पर् नमस् रिगस् प म यिन् ते । गङ् गि फ्यिर् । –PSV[२] । ९ 'ऽखुल् प मिद् प योद् प न नि स्यद् पर् दु ब्य मन् न । दुबङ् पोऽि ब्लो ल बम्तन् पर् ब्य बऽि युल् निद् मिद् प म यिन् त । बम्तन् पर् ब्य ब नि ङेस् सु दुपग् पऽि युल् यिन् पऽि फ्यिर् रो ॥ बम्तन पर् ब्य ब यिन प मिद् न यङ् ऽखुल्

[1]जेंस् सु द्पग् प लस् यिन् यिं। द्बङ् पोऽि ब्लो नि य स्नङ् क्यि' युल् चिङ् दु' ब्रिड्' प म यिन् ते। [2]देऽि फ्यिर् म ऽग्रुल् पऽि ख्यद् पर् ब्रुस्न् पर् मि व्य य विद् दो॥ द्बङ् पोऽि ब्लो थ' स्नङ दु व्य वर् मि नुस् प देऽि फ्यिर् ख्यद् पर् दु व्य' व [पृ० १८ A] (ठ्रिगस् ख्यद् पर् यिं ठ्रिग्' N. ed) मि व्य व विद् दो॥ ऽग्रुल् पऽि ख्यद् पर् जिद् क्यट स्रिद् प म यिन् ते। ऽग्रुल् प नि गिद् ल गो। दे [3]ऽग्रुल् पऽि' युल् चन यिन् पऽि फ्यिर् रो॥

अर्थरूपविविक्तं च [4]नोच्यते, विषयोऽस्य च।

सामान्यरूपनिर्देश्यः, [5]तस्मान्न व्यपदिश्यते॥ १६॥

अर्थरूपविविक्तं च नोच्यते। सर्वं ज्ञानमर्थरूपरहितं व्यपदेष्टुं न शक्यते। **विषयोऽस्य च सामान्यरूपनिर्देश्यः तस्मान्न व्यपदिश्यते**। पञ्चानां विज्ञानानां विषयः तत्सामान्यरूपेण व्यपदिश्यते, स्वरूपेण तु न व्यपदिश्यते। सामान्यरूपेण [6]रूपादित्वेन व्यपदिश्यते। तस्मात् पञ्चानां विज्ञानानां विषयो व्यपदेष्टुं न शक्यते इति **[7]वादविधिः**।

[8]नैयायिकानाम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्

प योद् प म यिन्' ते। द्बङ् पोऽि ब्लो यमुस्' चद् (थ' स्नङ् ?) दु व्य वर् मि नुस्' प देऽि फ्यिर् ख्यद् पर् यिं छिगस् सु मि व्य व विद दो॥ ऽग्रुल् पऽि युल् जिद् क्यिस् चिद् प म यिन ते। यिद् क्यि युल् नि ऽग्रुल् पऽि युल् यिन् पऽि फ्यिर् रो॥"–PSV[2]। † 'ख्यद् पर् नि' शेस् प ल सोगस् प स्ते।"–VT. पृ० ४४ B।

१ 'जेंस् सु द्पग् पऽि युल् चिद् क्यि' फ्यिर्' शेस् प ल सोगस् प स्ते।–VT पृ० ४५ A। २ 'थ' स्नङ् दु व्य व म यिन् प चिद् लऽङ् ऽग्रुल् प मेद् प स्ते' शेस् प स्ते।"–VT पृ० ४५ A। ३ 'ख्रुल्' पऽि युल् जिद् ल यङ् म यिन् ते।' स्रिद् प योद् प शेस् जेंस् सु' ऽजुग् गो॥ 'यिद् नि ऽग्रुल्' पऽि' युल् चिद् क्यि' फ्यिर्' शेस् प ल सोगस् प स्ते।–VT पृ० ४५ B। ४ तुलना–"घटज्ञानमिति ज्ञानं घटज्ञानविलक्षणम्। घट इत्यपि यज्ज्ञानं विषयोपनिपाति तत्॥ यतो विषयरूपेण ज्ञानरूपं न गृह्यते। **अर्थरूपविविक्तं च स्वरूपं (तद्रूपम्–इति पाठान्तरम्)** नावधार्यते॥"–**वाक्यपदीय** ३।१।१०५,१०६। "अर्थरूपविविक्तमित्यादि। सर्वस्य ज्ञानस्य 'रूपज्ञानम्' 'शब्दज्ञानम्' इति विषयेण निर्देशो दृश्यते, [युल् गियि छुल् दङ् ब्रल् व नि VT =] विषयरूपरहितं तद् व्यपदेष्टुं न शक्यते। ननु ज्ञानस्य 'बुद्धि' इति विषयाभावेऽपि व्यपदेशो दृश्यते इति चेत्, न, आशयापरिज्ञानात्। अत्र च क आशय इति चेत्, विषयसम्बन्धित्वमर्थरूपेण विविक्तं वक्तुं न शक्यते इत्याशय। तथाहि–'येनार्थेन यद् ज्ञानं व्यपदिश्यते यदि तत एव तज्जायते' इति विषयेण विचारस्य प्रस्तुतत्वम्, अन्यथा 'ज्ञानम्' इति दर्शितमेव। अथैवं ब्रूयात्–तर्हि तदा विषयरूपेण अस्य व्यपदेश स्यादित्याह–[ऽदि यङ् युल् शेस् प स्ते VT =] **विषयोऽस्य चेति। सामान्यरूपेण** रूपत्वादिना **निर्देश्यः**। सामान्यं च आरोपबुद्धिस्थमेव, इन्द्रियविषयाभिमतवस्तुनि नास्ति, तत् कथं तस्मिन् व्यपदिष्टे तद् व्यपदिष्टं स्यात्? ततो 'येन व्यपदिश्यते' इति तत्र सम्भवतीति दर्शयितुमाह–[देऽि फ्यिर् थ' स्नङ्' दु मि व्य॥ शेस्' पऽो VT =] **तस्मान्न व्यपदिश्यते** इति। [पृ० ४३A]। ततश्च बाह्यार्थाश्रिता प्रमाणादिव्यवस्था न युक्तेति स्थितमेतत् [पृ० ४३B]।"–**विशाला०**। ५ **'न वाच्यम्'** इत्यपि संस्कर्तुं स्यात्। ६ PS[1-2] PSV[1-2] अनुसारेण **'तेन न'** इति **'ततो न'** इति वा संस्कृतमपि स्यादत्र। ७ **'रूपादि'** PSV[1]। ८ **"वादविधौ"**–PSV[1] [c ed]। ९ "[रिगस् प चन् र्नमस् क्यि नि शेस् प VT=] **नैयायिकाना**मिति।.........इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमित्यादि। इन्द्रियाणि [पृ० ४३B] घ्राण-रसन-चक्षु त्वक्-श्रोत्राणि। अर्था पञ्च गन्धादय, तदाश्रिता- कर्मसत्तादय। तेषा सन्निकर्ष सम्बन्ध। स पञ्चविध–संयोग संयुक्तसमवाय संयुक्तसमवेतसमवाय समवाय- समवेतसमवाय-। ..[पृ० ४४ A] ...तत उत्पन्नं नाभिव्यक्तम्। ज्ञानं प्रत्यक्षम्। ज्ञानवचनं सुखादिव्यवच्छेदार्थम्। व्यपदेश्य [स्ग्योर् वर् स्र् ब ल सोगस् पऽि र्तगस् क्यिस् VT=] प्रयोगयोग्यतादिलिङ्गेन (?) ज्ञेय इति व्यपदेश्यो विषय। न विद्यते व्यपदेश्यो विषयोऽत्रेत्यव्यपदेश्यम्। अथवा तदेव ज्ञानमव्यपदेश्यमनिर्देश्यमित्यव्यपदेश्यम्। मरीचिकादिर्विषयो व्यभिचारी, यथा जलादिरूपेण गृह्यते तथाऽसत्त्वात्। न विद्यते व्यभिचार्यत्रेत्यव्यभिचारि। अथवा तदेव ज्ञानमतस्मिंस्तद्ग्रहणाद् व्यभिचारि। व्यवसाय आत्मा अस्येति व्यवसायात्मकम्। आत्मशब्द स्वरूपवाचक [ऽब्रस् बु VT=] फलवाचको वा। ... **इन्द्रियार्थोद्भव** इति। उद्भवत्यस्मादित्युद्भव। इन्द्रियार्थ उद्भवोऽस्येति विग्रह। इन्द्रियार्थवचनं तत्सन्निकर्षोपलक्षणार्थम्। **नास्ति**

[न्यायसू० १।१।४] इति, अत्रापि विशेषणान्ययुक्तानि । यस्मात्

इन्द्रियार्थोद्भवे नास्ति व्यपदेश्यादिसम्भव ।

विशेषण व्यभिचारसम्भवे सति क्रियेत । इन्द्रियबुद्धौ व्यपदेश्यविषयत्वस्य न सम्भव, अनुमानविषयत्वाद् व्यपदेश्यस्य । अव्यपदेश्यत्वेऽपि न व्यभिचार, इन्द्रियबुद्धि व्यपदेष्टु न शक्यते । तस्माद् विशेषणवचन नैव कर्तव्यम् । व्यभिचारिविषयत्वेऽपि न, मनोभ्रान्तिविषयत्वाद् व्यभिचारिण ।

× × × × × × × × × × × × × × ×

ऋ नद् दङ् ब्चस् प ऽब्रिन् प दङ् ॥ शम् प ल्हग् पऽम् मि योद् ऽग्युर् ॥ १७ ॥

र्तेन् ऽग्रु द्बङ् पो फियद् मिन् पद् ॥ [दे गृषो ब ऱ मोगृस् प ल रद् तु स्न्योद् बडि फियद् रो ॥

फ्यि रोल् तु ऽक्रो ब थृदन् ड छुग् न यङ् PSV] युल् ल ऽब्रिन् पद् ग्रुद् म यिन् ॥

[गृन्न् द्र न र्तेन् ब्गिमस् क्यङ् युत् ऽब्रिन् पद् ऽग्युर् रो ॥ PSV]

व्यपदेश्यादिसम्भव इति । आदिवचनाद् व्यभिचारित्व व्यवसायात्मकत्व च । यदि नास्ति, विशेषणायोग कस्मादिति चेत् विशेषणमित्यादि । यदि अव्यपदेश्यादिस्वरूपमितरस्वरूप च इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान स्यात् ततो विशेषणत्रयमिद युज्येत । अथवा अव्यपदेश्यमव्यभिचारि इति विशेषणद्वय सम्भवत्येव न व्यभिचरति । व्यवसायात्मक न सम्भवत्येव । तदन च विशेषण भवति यत् तत्राश्रये भवति तत्रासत्त्वात् तत्र च व्यभिचरति यथा उत्पलनीलत्वादि । [पृ० ४४B] न इन्द्रियबुद्धौ सदपीति यदा बहुव्रीहिसमासदमुच्यते । अनेन व्यपदेश्यत्वासम्भवेन अव्यपदेश्यत्वस्याव्यभिचारो दर्श्यते । कुत इत्याह-अनुमानविषयत्वादित्यादि । व्यपदेश्य सामान्यम् न तु स्वलक्षणम् तस्य पूर्वमदृष्टत्वात् । तच्च सामान्यमनुमानस्यैव विषय, धूमादिभि पूर्वदृष्टसाधारणव्याप्त्यादरनुमानात् न प्रत्यक्षस्य तस्यासाधारणविषयत्वात् । अथापि विषयोऽव्यपदेश्यो भवतु मा वा तथापि ज्ञान व्यपदेश्यम् । अतो व्यपदेश्यत्वमस्ति, ततश्च व्यभिचारात् 'अव्यपदेश्यत्व विशेषण युज्यते इति चेत्, अत्रापि तदेव ज्ञान स्वरूपेण यदनिर्देश्य तस्य अव्यपदेश्यत्वं युज्यते इत्याह-अव्यपदेश्यत्वेऽपि न व्यभिचार इति । कुत इत्याह-इन्द्रियबुद्धिरित्यादि । सर्वं ज्ञानमव्यपदेश्यस्वरूपमेवात अव्यपदेश्यत्व व्यभिचारोऽपि नास्त्येव । अनेन तदुपन्यासेऽपि दोष उक्त [पृ० ४५ A] । व्यभिचारिविषयत्वेऽपि न सम्भव इत्यनुवर्तत । मनोभ्रान्तिविषयत्वादित्यादि । व्यभिचार तथा असद्भाव । यथा अनेन उपलभ्यते तथा स नास्तीत्र यथा मरीचिकादिविषय । स च यस्मिन् ज्ञान स्वरूपेण भासते तदपेक्षया अव्यभिचरितभूत एव । यस्मिन् ज्ञानेऽन्यरूपेण प्रतिभासते तदेव प्रति तस्य व्यभिचारित्वम् । मनोविज्ञानभ्रान्तौ च स तथा प्रतिभासते । तथाहि-अजलादिस्वरूपभूतेऽपि समुदाये जलादिस्वरूपाध्यवसायिनी मनोभ्रान्ति रुत्पद्यते । तस्मात् तत्कल्पितत्वात् तस्या एव स विषय न इन्द्रियज्ञानस्य । तस्मात् तदर्थ व्यभिचारार्थम् [ऽग्युर् प मद् प स्तोन् पद् व्य ब म यिन् नो PSV=] 'अव्यभिचारि'वचनं न कर्तव्यम् । इद बहुव्रीहिमभिप्रेत्योक्तम् । यदा [पृ० ४५ B] तदेव ज्ञान स्वयमव्यभिचारि इति तत्पुरुष परिगृह्यते तदा कथ वक्तव्यम्-अव्यभिचारित्वे न व्यभिचार इति । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान न व्यभिचारि मनोविज्ञानस्यैव व्यभिचारित्वात् । किंच ज्ञानशब्दोपादाने 'सन्निकर्षोत्पन्न'वचनेनैव निरासम् । आचार्येणात्र तत्पुरुषे दोषा नोक्ता दिग्मात्रदर्शनेनैव पूर्वानुसारेणावगम्यत इति कृत्वा [पृ० ४६ A]' -विशाला० ।

[१] अत्र PSV[१] अनुसारेण इदमत्र युक्तम् । इमानि विशेषणानि न युज्यन्ते' इति संस्कृत स्यात् । [२] तथा चोक्तम्-इन्द्रियार्थोद्भवे नास्ति व्यपदेश्यादिसम्भव ।"-प्र० वार्तिकाल० पृ० ३३८ । [३] PSV[२] V? अनुसारेणाय मनुवाद । [४] तथा चाह-मनोभ्रान्तिविषयत्वाद् व्यभिचारिण ।"-प्र० वार्तिकाल० पृ० ५३ ३३८ । [५] र्तेन् ऽम् ल्हिग् ख्यद् ऽयो मिन् सिन् — P[३] PSV[२] । [६] [ ] ज्ञानविज्ञानगत पाठ PS मध्य नास्ति PSV मध्येऽपि स्पष्टतेरोलब्धत तथापि न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका तथैव विशालादिग्रन्थेऽपि मनसि च सौहार्दे नैति कारिकेति मूलितत्वादस्माभिरत्र दत्त । PSV मध्य कारिकान एव ग्रन्थस्य स्पष्टेनानुवादो भाति । अत्र PSV मध्ये पृथक् PS समुद्धृता एव PS मध्येऽपि कारिका त्रुटितप्रायेति सम्भाव्यते । [७] [ ] एत त्रिन्त्यांश PSV मध्ये स्पष्टोपलब्ध तस्य च तत्त्वसारवार्तिकानुसारेण 'अन्यथा अधिष्ठानपिधानेऽपि विषयग्रहणप्रसङ्ग' इत्यत्र सम्भव भवति तथापि न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायां 'यदि च स्यात् तत् प्रत्यक्षदर्शनस्य

वृंद सोगस् गसल् व्य मिन प ऽम् ॥ द्बङ् पो गृग्न् योद् यिद् द्बङ् पो ॥
ब्स्क्ग् प मेद् पऽि फ्यिर् योव् चे न ॥ द्बङ् पो गृग्न् यिय न्य दोन मेद् ॥ 卐

सं. [1]सान्तरग्रहणं न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानेऽधिकस्य च ॥ १७ ॥
[2]अधिष्ठानाद् वहिर्नाक्षं [तच्चिकित्सादियोगतः ।
सत्यपि च वहिर्भावे] न शक्तिर्विषयेक्षणे ॥ १८ ॥
[यदि च स्यात् तदा पश्येदप्युन्मील्य निमीलनात् ।]
[3]न सुखादि प्रमेयं वा मनो वास्तीन्द्रियान्तरम् ॥ १९ ॥
अनिषेधादुपात्तं चेदन्येन्द्रियरुतं वृथा ।

× × × × × × ×

निमीलनात्' इति भासमानस्य कारिकार्थस्य सूचकत्वादेवास्माभिरयं PSV पाठ उपन्यस्त इति ध्येयम् । PS PSV मध्येऽत्र काचित् त्रुटिराशङ्क्यते ।

१ एतत् सार्धकारिकाद्वयं वृत्तिं विना मूलमात्रमेवास्माभिरुपन्यस्तमिति ध्येयम् । तुलना–"यदोक्तं दिङ्नागेन–सान्तरग्रहणं न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानेऽधिकस्य च । वहिर्वर्तित्वादिन्द्रियस्य उपपन्नं सान्तरग्रहणमिति चेत्, अत उक्तम्–अधिष्ठानाद् वहिर्नाक्षम्, किन्तु 'अधिष्ठानदेश एवेन्द्रियम्' [PSV] । कुत ? तच्चिकित्सादियोगतः । सत्यपि च वहिर्भावे न शक्तिर्विषयेक्षणे । यदि च स्यात् तदा पश्येदप्युन्मील्य निमीलनात् । यदि च स्यात्, उन्मील्य निमीलितनयनोऽपि रूपं पश्येत्, उन्मीलनादस्ति वहिरिन्द्रियमिति ।"–न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका १।१।४ पृ० ११८ । "किञ्च, यदि प्राप्यकारि चक्षुः स्यात् सान्तराधिकग्रहणं न प्राप्नोति [1]न हीन्द्रियनिरन्तरे विषये गन्धादौ सान्तरग्रहणं दृष्टम्, नाप्यधिकग्रहणम् । अथ मतम्–वहिरधिष्ठानाद् वृत्तिरिन्द्रियस्य, अत उपपन्नं सान्तराधिकग्रहणमिति तदयुक्तम्, यस्माद् [PSV] न वहिरधिष्ठानादिन्द्रियम्, तत्र चिकित्सादिदर्शनात् । अन्यथा अधिष्ठानपिधानेऽपि ग्रहणप्रसङ्गः [PSV] । मनसश्चावहिर्भावात् । मनसाधिष्ठितं हीन्द्रियं स्वविषये व्याप्रियते । न च मनो वहिरधिष्ठानादस्ति । तदभावादग्रहणप्रसङ्ग । अनुवृत्तौ च सम्भवाभावात् विप्रकीर्णे चक्षुरश्मिसमूहे कथमणुमनोऽधिष्ठास्यति ।"–तत्त्वार्थरा० १।१९, पृ०६८ । २ इन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वे सान्तरस्य विच्छिन्नस्य इन्द्रियासम्बद्धस्य अधिकस्य पृथुतरस्य च ग्रहणं ज्ञाने न स्यादित्याशयः । ३ "आत्मादिषु सुखादिषु च प्रत्यक्षलक्षणं वक्तव्यम् । अनिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं हि तदिति । इन्द्रियस्य वै सतो मनस इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशो धर्मभेदात् । मनसश्चेन्द्रियभावात् न वाच्यं लक्षणान्तरमिति । तन्त्रान्तरसमाचाराच्चैतत् प्रत्येतव्यमिति । परमतमप्रतिषिद्धमनुमतमिति हि तन्त्रयुक्तिः ।"–न्यायभाष्य. १।१४। "तन्त्रान्तरसमाचाराच्च । तन्त्रान्तरे मन इन्द्रियमिति पठ्यते । तच्चेह न प्रतिषिध्यते । अप्रतिषेधादुपात्तं तदिति । न, शेषाभिधानवैयर्थ्यात् । अनिषेधादिति । [2]अथ मतान्तरानिषेधेन सिद्धस्य मनस इन्द्रियत्वाप्रतिषेधादुपात्तं तदिति चेत्

---

1 "फ्रद् नस् स्क्ये व मूदोन् सुम् दु ऽदोद् गसुगस् दङ् स्प्र दग् ॥ बर् दङ् ब्चस् पर् ऽज़िन् प' दङ् ॥ शेस् प ल्हग् पऽम् मि योव् ऽग्युर् ॥ ज़ि ल सोगस् प नि युल दङ् द्बङ् पोऽि बर् मेद् प स्ते । बर् दङ् ब्चस् प स यिन् प' ब्गिस् दु ऽजिन प सूयोङ् मोद् क्यि । द्बङ् पो ल्हग् पर् ऽज़िन् प नि रिग्स् प म' यिन नो ॥ गल् ते फ्यि रोल् दु ऽजुग् पऽि फ्यिर् ऽथद् प यिद् दो ॥ द्बङ् पो ग्निस् क्यि नि र्तेन् लस् फ्यि रोल् दु ऽजुग् प स्ते । देस् न युल् दे बर् दङ् बचस् प दङ् ल्हग् म ऽज़िन् पऽङ् ऽथद् प यिन् नो शे न । दे यङ् रिगस् प म यिन् ते । गङ्' गि फ्यिर् । र्तेन् लस् फ्यिर् द्बङ् ऽफो मिन् पर् ॥ स्रुव् बो' शेस् ब्य व नि छिग् गि ल्हग् मऽो ॥ द्बङ् पो नि र्तेन् गि युल् जिद् न ग्नस् प स्ते । दे ल ग्सो व ल सोगस् प रव् तु स्योर् वऽि फ्यिर् रो ॥ देस् न द्बङ् पो खो नस् बर् दु छोद् पऽि दोन ऽज़िन् पर् ब्येद् दो ॥ द्बङ् पो फ्यि रोल् तु ऽफो व बूदेन् दु छुग् न यङ् । युल् ल ऽज़िन पर् नुस् म यिन् ॥ ग्ग्नस् दु न र्तेन ब्स्ग्रिब् क्यङ् युल् ऽज़िन पर् ऽग्युर् रो ॥"–PSV[2] पृ० १०१ A–B । तुलना PSV[1] पृ० १८ B ।

2 "जि स्ते यङ् ग्ग्नस गियि ऽदोद् प' ल म ब्स्ग्ग् प ब्स्तुब् प ल यिद् क्यि' द्बङ् पो यिद् ब्स्ग्ग् प' मेद् पऽि फ्यिर् योव् प यिद् दो शे न । ग्ग्नस् गिय ऽदोद् प ल नि यिद् क्यि द्बङ पो योद्'

षेर् स्क्य ब नॅमूस् क्यिम् नि (क्यि यङ् PSV²) मे व ल सोगूस् पडि ऽजुग् प मृोन् सुम् दु ऽदोद् दो ॥ न व दङ् पगूस् प दङ् मिग् दङ् ल्चे दङ् स्न नॅमूस् यिद् क्यिस् ग्यिन् ग्यिस् बर्लॅबूस् नस् युङ् ल ऽजुग् प स्ते । स्म दङ् रेग् ब्य दङ् गुसुगस् दङ् रो दङ् 'द्रि द ल्तर् प नॅमूस् ल गो रिमूस् बृझिन् दु ऽज्रिन् प नि मृोन् सुम् ग्यि छद् मऽो गेम् मो [पृ० २१B] ॥

कापिलानां * श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम् [वार्षगणतन्त्रे] । श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानां मनसाधिष्ठिता वृत्तिः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु यथाक्रमं ग्रहणे वर्तमाना प्रत्यक्षं प्रमाणम्* [वार्षगणतन्त्रे तद्भाष्ये वा] इति।

× × × × × × × × × × × × × × ×

[अथ द्वितीयस्य स्वार्थानुमानपरिच्छेदस्य कतिपयोंऽशः]

卐 नॅग् दृपग् नॅमू गृयिम् रङ् दोन् नि ॥ छुल् गसुम् तगस् लस् दोन् मृथोङ् वऽो ॥

ऽब्रस् बु स्ऩ् बृशिन् ऽदि गृजिस् क्यि ॥ दोन् (युङ् P3¹ VT) दङ् रङ् बृशिन् मृथुन्स् म यिन् ॥ १ ॥ 卐

जॅस् सु दृपग् नम् गृजिस् ते । रङ् गि दोन् दङ् गृशन् ग्यि दोन् तो ॥ दे ल्तर् (ल PSV²) रङ् दोन् नि । छुल् गसुम् तगस् लस् दोन् मृथोङ् वऽो ॥ ऽङन् पडि (पर् PSV²) ऽग्युर् पडि मृङ्न् शिद् गृसुम् पडि तगस् लस् नॅग् सु दृपग् पर् ब्य बडि (दृपग् पडि PSV²) दोन् मृथोङ् ब नि [गङ् यिन् प PSV²] दे नि रङ् गि दोन् ग्यि जॅस् सु दृपग् पऽो ॥ ऽदि यङ् ऽब्रस् बु स्ऩ् बृशिन् ते ॥ जि ल्तर् *मृोन् सुम् लस् तॉगस् प नम् प गृनिस् स्तो न ल बृतॅन् नस् ऽब्रस् बु बृशद् प * दे बृशिन् दु ऽदिर् यङ् यिन् नो ॥ गङ् ते ऽदि गृजिस् ग यङ् तॉग् पडि मृङ्न् शिद् चन् यिन् न ऽदि गृजिस् (दग् PSV²) ल ब्ये ब्रग् (दयद् पर् PSV²) चि गिग् योद् चे न । युल् (दोन् PSV²) दङ् नि । दो बो मृदुङ्स् मिन् दे गृजिस् क्यि मृोन् सुम् दङ् जॅस् सु दृपग् प गृजिस् क्यि युल् नि थॅ दद् प स्ते । देऽि नॅमू प दङ् ब्ये ब्रग् गि स्गो नस् सो ॥ रङ् गि ङो बो यङ् थ दद् प यिन् नो ॥ [पृ० २७A]

[P3V] अन्येन्द्रियेत्यादि । यदि परेण पठितस्य मनसोऽप्रतिषेधादिन्द्रियत्वं 'घ्राणादीनि इन्द्रियाणि' [न्यायसूत्र १।१।१२] इति यदुक्तं तद् वृथा [PSV] —न्यायवार्तिक १।१।४। 'तदिदमुक्तं दिङ्नागेन-न सुखादि प्रमेयं वा मनो वास्तीन्द्रियान्तरम् । न च तत् सम्भवति घ्राणादिसूत्रेण विभागवचनेन निषेधादिति भावः । तन्त्रान्तरेति । तत्रपते व्युत्पादयतऽनेन तस्त्वमिति तन्त्रं शास्त्रम्। तदनेन 'मनसश्च इत्यादि भाष्यं व्याख्यातम् । तदुक्तं दिङ्नागेन-मनिषेधादुपात्तं चेदन्येन्द्रियरुतं वृथा ।"-न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका १।१।४, पृ० १४६-१४७।

१ द्रि नॅमूस् ल गो रिमू जि ल्त ब घृनि दु ऽज्रिन् प ग ऽजुग् प नि मृोन् सुम् ग्यि छद् मऽो गेम् गेर् ब । -P3V² । २ "कापिलानामपि '-P3V² । कापिलानामित्यादि । तत्रोक्तम्- त्रिमनुमानमक्षमेव प्रमाणम्। इत्युक्त। श्रोत्रादिवृत्तिरपि प्रत्यक्षं 'प्रमाणम् इति शेष । श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानां मनसाधिष्ठिता वृत्तिः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु यथाक्रमं ग्रहणे वर्तमाना प्रत्यक्षं प्रमाणम्। मनसेति मनोवृत्तिः प्रकृतिविकारयोरभेदो पचारात् तथाप्युक्त । अधिष्ठितेति तेन सह एकस्मिन् विषये व्यापारेणैत्यर्थः । अत्र अधिष्ठिताप गहिनाथ । यथा राजपुरुषेणाधिष्ठित इति तेन सहितेति गम्यते । -विशाला० पृ० ६१B । ३ * * नयचक्रवृ० पृ० १०७ प० २४-२५। ४ द्रष्टव्या टिपृ० १२ प० २-५। वस्तुतस्तु वार्षगणतन्त्रस्यैव 'षष्टितन्त्रम्' इति संज्ञा इत्यपि वदिदाहुः। द्रष्टव्या टिपृ० ४० पं० १-१०। ५ विशाला पृ० ११८१। नयचक्रवृत्तौ 'प्रमाणं प्रत्यक्षम् इति पाठः । ६ * * मृोन् सुम् लस् तॉग् प गृनिस् शिद् ल्र ऽब्रस् बुर् बृजॉद् प -PSV²। ७ 'ब दद् प बिन् ल । दऽि नम् पडि ल्वद् पर् चन् गिस (ग्यिस् ?) रङ् बृशिन् दा बा यङ् ब दद् प बिन् ना ॥ -PSV²।

ग रङ् ग द ल्ता ब नि । दृबङ् पो गृन्स् ग्यि स्य दोन् मेद् ॥ ल्न ग गृन्स् ग्यिर् स्मस् पडि यिद् ल दृपग् प मेद् पर्- स्यिद् दृबङ् पो दिन न देस् क स गोगस् प दृबङ् पोर् बृजॉद् दो ॥ तग् स्नस् प दोन मेद् पर ऽग्युर् रो । दृपग् प मेद् प यिद् स्ग् द सुर् पडि स्यिद् दो ॥ -P3V¹ पृ० १०१B । तुलना PSV¹ पृ० १८B ।

अनुमानं द्विधा स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृक् ।
पूर्ववत् फलमर्थः स्वरूपं चातुल्यमेतयोः ॥ १ ॥

अनुमानं द्विधा स्वार्थं परार्थं च । तत्र **स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृक्** । वक्ष्यमाणत्रिलक्षणाल्लिङ्गाद् [यत् PSV²] अनुमेयार्थदर्शनं तत् स्वार्थमनुमानम् । अत्र च **पूर्ववत् फलम्** । यथा प्रत्यक्षेऽधिगतिर्द्विविध्यमाश्रित्य फलमुक्तमेवमत्रापि । यद्युभयमपि अधिगतिलक्षणं कोऽनयोर्विशेषः ? **अर्थः स्वरूपं चातुल्यमेतयोः** । प्रत्यक्षानुमानयोर्विषयो भिन्नः । तदाकारविशेषाच्च स्वरूपमपि भिन्नम् ।

× × × × × ×

भोट. ग्रटन्' चन प नॅमस् नि ⁶रे शिग् ऽग्रेल् प मूटोन् सुम् प ग्चिग् लस् ल्हग् पर् ग्युर् प नि जॅस् सु द्पग् पऽो शेस् मेर् रो ॥ दे ल (दे ल्तर् PSV²)ऽग्रेल् प नि नॅम् प ब्दुन् ते । ⁷दे नॅमस् [नम् N ed] गङ् यट्' रुङ् बऽि मूटोन् सुम् प ग्चिग् गिस् ल्हग् पऽि दोन् मूटोन् सुम् प म यिन् प देस् पर् ग्युर् पऽि ग्नन् छिग्स् दे नि जॅस् सु द्पग् पऽो ॥ [पृ० ३६ A]

सं. ⁸साङ्ख्यानामपि 'सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम्' [वार्षगण्यकृततन्त्रे] इति । तत्र

---

१ "अनुमानं द्विधा स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृक् । पूर्ववत् फलमर्थः स्वरूपं चातुल्यमेनयोः ॥ १ ॥ अत्र **प्रमाणसमुच्चये** द्वितीयपरिच्छेदश्लोके पूर्ववदिति प्रत्यक्ष इव विषयाधिगतिरूपं प्रमाणादव्यतिरिक्तं फलमनुमानेऽपि ज्ञेयम् । अर्थस्त्वालम्बनं प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणम् । इतरस्य तु सामान्याकारोऽन्यापोहो विषयः । स्वरूपं च स्पष्टास्पष्टप्रतिभासमतुल्यं प्रत्यक्षानुमानयोरिति ।"–**प्र० वा० म० परि०** पृ० ५२४ । दृश्यतां टिपृ० ७४ टि० १ । २ °त्रिरूपा°–PSV² । ३ तुलना–"यत्तु विषयैकत्वतृष्णया भिक्षुणा ज्ञानमेव प्रमाणं फलं चेति प्रत्यक्षे दर्शयित्वा तदेवानुमानेऽप्यतिदिष्टं **पूर्ववत् फलमस्येति** तस्य निराकरणमपि प्रत्यक्षोक्तमेव ।"–**न्या० र०** पृ० ३६१ । ४ "**पूर्ववत् फल**मिति । यथा प्रत्यक्षे फलं द्विविधमुक्तं विषयसंवित्तिः स्वसंवित्तिश्च [इति] एवमत्रापि । प्रत्यक्षवदनुमानस्याधिगत्यात्मकं फलमभिन्नमिति वचनेन अनुमानमपि अधिगतिस्वरूपमित्युक्तं भवति । ततः आशङ्कते–**यद्युभयमपी**त्यादि । [युल् दट् नि VT=] **अर्थः स्वरूपं चातुल्य**मेतयोरिति । ... यत् तस्य विषयसारूप्यं प्रमाणव्यवस्थापकं तदतुल्यमित्युच्यते । तथाहि–प्रत्यक्षस्य स्पष्टम्, अनुमानस्य अस्पष्टम् ।"–**विशाला०** पृ० ८३B । ५ '**युल्**' इति शब्दस्य PS¹ PSV¹ VT. मध्येऽत्र प्रकरणे **अर्थ**पर्यायत्वेन प्रयोगादत्र '**अर्थः**' इत्यपि संस्कृतेऽनुवादः स्यात् । तथा च **विशालामलवत्या**मपि ज्ञेयम् । "**विषय** इत्यादौ '**विषय**'-शब्देनात्रालम्बनं विवक्षितम् । ... तस्मादालम्बनभेदात् प्रमाणयोर्विषयो भिन्न उच्यते । आलम्बनभेदोऽपि कथमिति चेत्; प्रतिभासभिन्नत्वात् । **तदाकारविशेषाच्चे**त्यत्र **तदि**ति प्रत्यक्षानुमानयोर्विषयः [स्नेग् गो VT] अनुकृष्यते । तस्य आकारः स्वरूपम् [पृ० ८३B], आक्रियते परिच्छिद्यत इति कृत्वा । तदाकारस्य विशेषो भेद इत्यर्थः [पृ० ८४A] ।"–**विशाला०** । ६ "रे शिग्"–PSV². मध्ये नास्ति । ७ "दे दग् ल जि ल्तर् ऽग्रेल् प ग्चिग् लस् ल्हग् प नि मूटोन् सुम् म यिन् पऽि ऽग्रेल् प चन् ग्युर् पऽि र्ग्यु मट् यिन प दे जॅस् सु द्पग् पऽो ॥"–PSV² । ८ दृश्यतां टिपृ० ७७ पं० २६–२८ । "[ग्रङ्स् चन् प नॅमस् किय यङ् शेस् प ल सोगस् प स्ते VT=] **सांख्यानामपी**त्यादि । अनुमानं विस्तरेण वेदितव्यमिति स्थिते तत्स्वरूपज्ञानाय परेण 'किमिदमनुमानं नाम' इत्युक्ते आह–**सम्बन्धादेकस्मादि**त्यादि । **सम्बन्धः सप्तविध** इति । अर्थानां सम्बन्धस्य सप्तविधत्वं 'स्वस्वामिभावेन वा' [शेस् प ल सोगस् प ब्शद् ऽग्रेल् दु ब्शद् पऽि फियिर् रो VT=] इत्यादि**भाष्य**वचनात् । 'सम्बद्धानामर्थानाम्' इति [वार्षगण्यतन्त्रभाष्ये] निर्देशात् **सूत्रे** कर्मसाधनः सम्बन्धशब्दो ज्ञेयः । स्वस्वामिभावेन वेति राजसेवकवत् प्रधान-

---

1 'सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम्' इति वार्षगण्यतन्त्रसूत्रस्य 'सम्बद्धानामर्थानां स्वस्वामिभावेन वा प्रकृतिविकारभावेन वा कार्यकारणभावेन वा निमित्तनैमित्तिकभावेन वा मात्रामात्रिकभावेन वा सहचारिभावेन वा वध्यघातकभावेन वा कश्चिदर्थः कस्यचिदिन्द्रियस्य प्रत्यक्षो भवति । तस्मादिदानीमिन्द्रियप्रत्यक्षादर्थात् पूर्वं समुदाये कृतसम्बन्धमतिरविशिष्टस्यार्थस्यास्तित्वं प्रतिपद्यते, यथा पूर्वं धूमाग्न्योः सम्बन्धं दृष्ट्वा धूमदर्शनादग्नेरप्यस्तित्वं प्रतिपद्यते' इति **भाष्यं** प्रतीयते । दृश्यतां **नयचक्रवृत्ति** पृ० २४० पं० १२–१३ । तथा **नयचक्रस्याष्टमेऽ**प्यरे [पृ० ४४६–१] द्रष्टव्यम् ।

सम्बन्ध सप्तविध । 'तेपु येयायोगमेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेपस्य अप्रत्यक्षस्यार्थस्य नियमेन सिद्धे [यत् PSV²] कारण तदनुमानम्।

× × × × × × × × × × × × × × ×

[अथ तृतीयस्य परार्थानुमानपरिच्छेदस्य कतिपयोंऽश]

भोट

ग्शन् दोन् जॅस् सु स्तन् प नि ॥ रङ् गिस् मथोङ् दोन् रब् ग्सल् ब्येद् ॥

जिल्तर् रँङ् गि छुल् ग्सुम् पडि तगस् लस् तगस् चन् ग्यि शेस् प स्कयेस् प दे बृशिन् दु ग्शन् ल [छुल् गसुम् पडि तँगस् लस् PSV³] तगस् चन् ग्यि शेस् प बस्कयेद् पर् ऽदोद् नम् छुल् ग्सुम् पडि तगस् ब्र्जोद् प नि ग्शन् ग्यि दोन् ग्यि जस् सु स्पग् प स्ते । र्ग्यु लस् ऽब्रस् बु ब्तगस् पडि फ्यिर् रो । ऽदिर् यङ् छुल् गङ् यङ् *रुङ् ब चिग् म ब्स्नस् न यङ् म छङ् ब ब्र्जोद् पर् ऽग्युर् रो* ॥ *गॅल् ते जॅस सु दपग् पर् ब्य ब स्तोन् प नि । दम् ब्चऽ ब [ब्र्जोद् पर् N] ब्य म्ने । ताग् गेडि ब्स्तन् ब्चोस् नॅमूस् सु ग्शन् ग्यि दोन् ग्यि जॅस् सु दपग् प ऽगोद् प (ब्कोद् प PSV² VT) दे जि ल्तर् यिन् शे न । दे बिद् द्रि बर् ब्यऽो* ॥ सो सो चग् नि ।

दे ल दपग् ब्य ब्स्तन् प नि ॥ तगस् क्यि दोन् ग्यि युल् दु ऽदोद् ॥ १ ॥

पुरुपवच्च । उदाहरणद्वय लोकशास्त्रप्रसिद्धिवशात् । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् [पृ० ११७ B] । स्वस्वामिभावोऽन्योन्यापेक्ष । [नोर् ब्दग् पोडि ब्दोर् योद् प दङ् । रङ् रुङ् ब निद् दे । दे बृशिन् दु नोर् चन् ग्यि यङ् नोर् ग्यि ब्दोर् योद् पऽो VT=] स्वस्य स्वामिन प्रति सत्त्व तद्योग्यत्व च एव स्वामिनोऽपि स्व प्रति अस्ति । प्रकृतिविकारभावेन क्षीरदध्यादिवत् प्रधानमहदादिवच्च । प्रकृतिरविभाग कारणम् विकारस्तस्या परिणामिन्या धर्म । कार्यकारणभावेन अन्योन्योपकारलक्षणेन रथाङ्गवत् सत्त्वादिवच्च शब्दादिभावेन परिणामे । निमित्तनैमित्तिकभावेन [गङ यङ् रुङ् नम् VT =] अन्यतरोपकारलक्षणेन कुम्भकार घटादिवत् पुरुष प्रधानप्रवृत्तिवच्च । मात्रामात्रिकभावेन च अवयवावयविभावलक्षणेन वृक्ष-शाखादिवत् शब्दादि-महाभूतवच्च । सहचारिभावेन [ब्दुर् ब ल्न बु VT=] चक्रवाकवत् सत्त्वादिवच्च । वध्यघातकभावेन अहिनकुलवत् अङ्गाङ्गिभूतसत्त्वादिवच्च । सत्त्वादीनां यस्याङ्गित्व तेन इतरस्य [ग्नोन् पडि फ्यिर् रो VT =] अभिभूतत्वात् । अय सप्तविध सम्बन्ध । [देस् न जि ल्तर् स्रिद् प बृशिन् VT =] **तेन यथासम्भव सम्बन्धादेकस्मादिति** । यथोक्तम्— कश्चिदर्थं कस्यचिदिन्द्रियस्य प्रत्यक्षो भवति । तस्मादिदानीमिन्द्रियप्रत्यक्षादर्थात् [रङ् ब्दागस् प ल ऽब्रेल् प ब्यस् प लस् ब्लोस् नि =VT=] पूर्वं समुदाये कृतसम्बन्धमनिरविशिष्टस्यार्थस्यास्तित्व प्रतिपद्यते यथा पूर्वं धूमाग्न्यो सम्बन्ध दृष्ट्वा धूमदर्शनादग्नेरप्यस्तित्व प्रतिपद्यते' [षष्टितन्त्रभाष्ये] इति । **सिद्धे कारणमिति** लिङ्गज्ञान सम्बन्धस्मरणापेक्षम् । तद्धि **शेपस्य** अप्रत्यक्षस्य सिद्धे कारणम् । लिङ्गिन सिद्धि कार्यम् । [मृदो रु [पृ० ११८ A] नि र्ग्यु ग्नस् ऽब्रस् बुर् ने बर् ब्तगस् पडि फ्यिर् ल्हग् म ऽग्रुब् प नि जॅस् सु दपग् प गेम् बृशद् दो VT=] **सूत्रे** कारणे कार्योपचारात् **'शेपसिद्धिरनुमानम्'** इत्युक्तम् [पृ० ११८ B] । —विशाला० । ९ **नयचक्रवृत्ति** पृ० ७४० प० ११ । टिप्प० ७८ प० १–५ । १० दृश्यता टिप्प० ७८ टि २ ।

१ PSV² अनुसारेण तु **'तेपु यथा[सम्भव ?] सम्बन्धादेकस्मात् शेपस्य अप्रत्यक्षस्य सम्बन्धिन सिद्धे यत् कारण तदनुमानम्'** इति संस्कृतेऽनुवाद स्यात् । विशालामलवत्यनुसारेण तु **'तेन यथासम्भव सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षात् शेपस्य अप्रत्यक्षस्यार्थस्य सिद्धे कारण तदनुमानम्'** इति पाठो भाति स च समीचीनतर प्रतीयते । २ अत्र **तेपु यथायोगम्'** इत्यस्य स्थाने **'तेषामन्यतमात्'** इत्यपि संस्कृतेऽनुवादो भवेत् । ३ 'रङ् ल' –PSV¹ N ed PSV² । ४ 'र्ग्यु उ''–VT पृ १३३ B । ५ * * 'रुङ् ब म ब्र्जोद् प नि म छङ् ब निद् चेग् बृशद् पर् ऽग्युर् रो गेम्' –VT पृ० १३५ A । "रुङ् ब म ब्नाद् न नि म छङ् ब गेम् ब्य ब ब्र्जोद् प यिन् नो ॥ –PSV² । ६ ऽोन् त लॉग् गेडि ब्स्तन् ब्चोस् नमूस् सु ग्शन् ग्यि दोन् ग्यि नॅस्र दपग् प ऽ जॅस् दपग् पर् ब्य ब स्तोन् प दम् ब्चऽ ब ब्कोद् प गङ् यिन् प दे जि ल्तर् शे न । दे बिद् ल दि बर् ब्यऽो ॥ –PSV² ।

*[1]यन् लग् नमुम् नस् गद् जैन् मु दुपग् पर् व्य व वुस्तन् प दे नि खो वो चग् गि स्नुव् व्येद् जिद् दु मि ऽद्रोद दे ॥ दे जिद् थे छोम् स्क्येद् पर् व्येद् पऽि फियर् रो** ॥ ऽोन क्यङ् तंगम् किय दोन दु जुल् वुन्तन् पऽि फियर् दे[2] नि देस् वुस्नुव् पर् व्यऽो ॥

卐 रङ् गि टो वो खो न वुस्तन ॥ वुदग् ऽद्रोद् रङ् गि छोग् चन् ल ॥

मृटोन् सुम् दोन् दद् जैस् दुपग् दङ् ॥ यिद् छेम् ग्रगस् पस् म वुसल् वऽो ॥ २ ॥ 卐 PS[2]

दे यद् । रङ् गि टो वो दङ् जिद् वुस्तन ॥ रङ् दद् ऽद्रोद् ऽग्युर् । रद् गि टो वो [3]खो न शेस् व्य व नि वुस्नुन् पर् व्य वऽि टो वोम् यिन यिग ग्रुव् प लम् स्नुव् पऽि टो वोम् नि म यिन नो ॥ [4]दे वुशिन् दु [6]तंगस् म ग्रुव् प दङ् । दुपे ल्तर् व्रद् व दग् क्यद् योद्न् मु स्पद्स् पर् वुर्जोद् प स्ते । दे[7] दग् स्नुव् पर् ऽोस् पऽि डो वो वुर्जोद् पर् मि व्यऽो ॥ रद् दङ् ऽद्रोद् ऽग्युर् शेस् [8]सोम् प ऽदिस् नि रङ् गि वुन्तन् वुचोम् ल [म PSV[2] VT]वुल्तोम् नन् सस् व्रद्स् पर् वुन्तन् प यिन् नो ॥ दे यङ् म वुसल् पऽो ॥ मृटोन् सुम् दोन् दङ् जैम् दुपग् दङ् ॥ यिद् छेस् ग्रगस् पम् रद् तेन् लऽो ॥ गद् स्नुव् पर् ऽद्रोद् पऽि छोम् [9]कियन् स्यद् पर् दु व्यन् पऽि छोम् चन् दे ल वुस्नुव् पर् व्य व नि छोस् दङ् ऽगल् पऽि मृटोन् सुम् दङ् । जैन् मु दुपग् प दल् । [10]लुङ् दद् ग्रगम् प नमुम् ते । छोम् गुशन् यियम् म वुसल् पऽो ॥ * [11]दे ल्तर् न वुस्नुव् पर् व्य व खन म थो व मेद् पर् वुन्तन् प यिन् नो ॥ दे ल्त म यिन् न नि * दे ल्तर् व्रङ् व स्ते । दुपेर् न स्त्र मूलन् दु मि रद् डो ॥ ग्रुम् प तंग् गो ॥ छद् मम् गुशल् पर् व्य वऽि दोन स्नुव् पर् सि व्येद् दो शेस् प ल्त बु दम् वुचऽ व चमू दङ् ऽगल् व दङ् । *[12]गङ् यङ् थुन मोङ् म यिन् पऽि फियर् जैस् सु दपग् प नि [पृ० ४० B] योद् प म यिन् गिङ् स्त्र ग्रगस् प दङ् ऽगल् वऽि दोन् स्योद् व नि [दुपेर् न PSV[2]] रि वोद् चन् नि स्ल व म यिन् ते योद् पऽि फियर् रो शेस् व्य व ल्त बु स्ते । *[13]दे दग् गिस् नि छोस् क्यि रङ् गि टो वो वुसल् वऽि स्गो चमू चिग् (शिग् N ed) वुस्तन् प यिन् नो ॥ फ्योगस् ऽदिम् नि छोस् दङ् छोम् चन् यिय व्ये व्रग् गि रङ् गि टो वो वुसल् व यङ् मूटोन् पर् रिग् पर् व्य स्ते । ऽदि ल्तर् दुपेर् न * यन् लग् चन् नि यन् लग् ल्म् गुशन् म यिन् नो ॥ स्वङ् मूथो दुमन् यिय व्ये व्रग् म गसुद् वऽि फियर् रो ॥ यन लग् दङ् यन् लग् चन् दग् नि गुशन् म यिन् ते । मूटोन् सुम् म यिन पर् थल् वर् ऽग्युर् पऽि फियर् रो ॥ जैस् नि योद् प म यिन् ते । योन

१ ** "यन् लग् ल नमुम् ल जैमु दुपग् पर् व्य व वुस्तन् प गङ् यिन् प दे नि खो वो चग् गि स्नुव् व्येद् जिद् दु वुस्तन् प नि म यिन ते । दे जिद् लस् थे छोम् स्क्ये वऽि फियर् रो ॥"–PSV[2] । २ दे नि देस् स्नुव् पर् व्येद् दो ॥" – PSV[2] । "दे नि देम् गुसल् वर् व्य वऽो" – VT. पृ० १३६ A । ३ 'खो न ' PSV[2] मध्ये नास्ति । ४ "ग्रुव् प दङ् स्नुव् पर् व्येद् पऽि टो वोम् नि म यिन् नो शेस् प ।"–VT. पृ० १३६ B । "स्नुव् पर् व्येद् म ग्रुव् पऽि टो वोस् नि म यिन् नो"–PSV[2] पृ० १२६ A । ५ "दे ल्त न यङ्"–PSV[2] VT. । ६ "गतन छिगस् म ग्रुव् प दद् दुपे ल्तर् व्रङ् व वुर्जोद् प योङ्स् सु स्पङ्स् प यिन् नो ॥"–PSV[2] । "म ग्रुव् पऽि गतन् छिगस् दद् दुपे ल्तर् व्रङ् व दग् वुर्जोद् प योङ्स् सु स्पद्स् पर् ऽग्युर् ते ।"–VT पृ० १३६ B । ७ "दे दग् नि वुस्नुव् पर् व्य वऽि डो वो जिद् दु वुस्तन् प म यिन् नो ॥"–PSV[2] । "दे दग् वुस्नुव् पर् व्य वऽि छुल् यियस् वुस्तन् पर् व्य व नि म यिन् नो शेस् प स्ते ।"– VT. पृ० १३७ A । ८ "सोम् प "–PSV[2] VT मध्ये नास्ति । ९ "छोम् चन् गङ् छोस् कियस् ख्यद् पर् दु व्यस् प शेस् प"–VT. पृ० १४० A । १० "लुङ् दङ् ग्रगस् पऽि छोस् गुशन्"–PSV[2] पृ० १२६ B । ११ ** "दे ल्तर् न वुस्नुव् व्य वुस्तन् ख न मूथो व मेद् प यिन् ल । गुशन् दु नि "–PSV[2] पृ० १२६ B । १२ गङ् ल थुन मोङ् म यिन् पऽि फियर् जैस् सु दुपग् प मेद् प ल यङ् स्त्र ग्रगस् पऽि ऽगल् प सेल् वर् व्येद् प स्ते"–PSV[2] १२६ B । १३ "ऽदि यङ् छोस् किय रद् गि टो वो दङ् ऽगल् पस् सेल् वऽि स्गो चमू शिग् वुस्तन् प यिन् ल । फ्योगस् ऽदिस् नि छोस् दङ् छोम् चन् यिय ख्यद् पर् दङ् रङ् गि डो वो सेल् वर् व्येद् प रिग् पर् व्य स्ते । दुपेर् न"–PSV[2] पृ० १२६ B–१२७ A ।

तन् थिग् ठंम् नमूस् क्यि ठंस् ठंम् म यिन् पर् थल् बर् ऽग्युर् पडि फ्यिर् रो ॥ गृनिस् कडि रङ् गि ङो बोडि ब्ये व्रग् नि । ग्येर् न [1] स्ग्र वडि दोन् थमूस् चद् ब्र्जोद् नो शेस् ब्य व ल्त बुडो [1] ॥ स्ग्र व योद् मोद् क्यिस् क्यङ् स्ग्र व दङ् स्ग्र वडि ब्दग् निद् ब्र्जोद् प निद् दु ऽग्युर् वडि ल्त न नि [2]दिडि स्ग्र वडि ब्दग् निद् दङ् यङ् ब्र्जोद् प निद् गृनिस् क नम् प थमूस् चद् दु ब्सल् बर् ऽग्युर् रो ॥ दे ल्तं बु नि गृनिस् कडि रङ् गि ङो बो ब्सग् लो ॥ [3]चि स्त स्ग्र वडि ब्दग् निद् क्यि ब्र्जोद् प निद् ब्सल् ब म यिन् नो शे न । [4]दे ल्त न नि गृनिस् कडि ब्ये ब्रग् ब्सल् ब यिन् नो ॥ [पृ ४१ A]

परार्थमनुमानं तु स्वदृष्टार्थप्रकाशनम् । [11] स

यथा स्वस्मिंस्त्रिरूपाल्लिङ्गतो लिङ्गिनि ज्ञानमुत्पन्नं तथा परत्र [त्रिरूपाल्लिङ्गतो PSV[2]] लिङ्गिज्ञानोत्पिपादयिषया [12]त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थमनुमानम्, कारणे कार्योपचारात् । [13]अत्र चान्यतमस्यैकस्यापि रूपस्यानुक्तौ न्यूनतेत्युक्तं भवति । नन्[14]

---

१ 'ग्यिर् रो' शेस् ब्य न दङ् । दे ब्शिन् दु ङग् थमूस् चद् ब्जुद् पडि दोन् चन् यिन् नो शेस् ब्य व ऽदि नि ङग् दङ् ङग् गि ब्दग् निद् ब्र्जोद् पडि दोन् चन् निद् दु ङग् योद् प गङ् यिन् प दे नि ब्र्जोद् प निद् यिन् न । गल् ते ङग् दङ् ब्र्जोद् प दग् थमूस् चद् दु सेल् बर् ब्येद् दे ल्त न गृनि गडि रङ् गि ङो बो सेल् बर् ब्येद् प यिन् नो ॥ चि स्ते ङग् गि ब्दग् निद् क्यि ब्र्जोद् प निद् क्यि सेल् ब दे ल्त न गृनि गडि ख्यद् पर् सेल् व यिन् नो । –PSV[2] पृ० १२७ A । २ 'ङग् थमूस् चद् ब्र्जोद् पडि दोन् चन् नो शेस्' –VT पृ० १४६ B । ३ "ङग् योद् दे । ङग् गि ब्दग् निद् क्यिस् दङ् ब्र्जोद् पडि दोन् चन् निद् क्यिस् क्यङ् शेस् प स्ते । –VT पृ० १४६ B । ४ ऽदिडि शेस् प –VT पृ० १४६ B । ५ दे ल गल् ते ङग् दङ् ब्देन् मिन् निद् दग् ल नम् प थमूस् चद् दु ङेस् पर् ब्सल् व यिन् न शेस् प ।'–VT पृ० १४७ A । ६ 'दे ल्तर् ग्युर् न गृनिस् कडि रङ् गि ङो बो ब्सग् व शेस् पडो ॥ –VT पृ १४७ A । ७ 'चि स्ते"–VT । ८ "ङग् ब्दग् निद् क्यि शेस् प । –VT पृ० १४७ A । ९ 'ब्देन् प मिन् प दोन् चन् निद् क्यिस् क्यङ् शेस् प । –VT पृ० १४७ A । १० दे ल्तर् गृनिस् क दग् गि ख्यद् पर् ब्सल् वडो शेस् पडो ॥ –VT पृ १४७ B । ११ * * प्र० वार्तिकाल० पृ० ४६७ प्र० वा० म० पृ ४१३ । 'स्वार्थपरार्थविभागेनानुमानं द्विविधमित्युक्तम् । तत्र स्वार्थमुक्तम् । इदानीं परार्थं निर्णेतुकाम आह–परार्थमित्यादि । स्वार्थस्य अनुमानत्वं वस्तुत, इदमुपचारितमिति विशेषार्थं तुशब्द । स्वेन दृष्ट स्वदृष्ट स्वदृष्टश्चासावर्थश्चेति स्वदृष्टार्थ त्रिरूपो हेतु स येन वचनेन प्रकाश्यते तत् परार्थमनुमानम् । –विशाला० पृ० १३३ B । १२ * * तुलना–प्रमाणविनिश्चय D ed पृ० १८७ A, N ed पृ २९९ A । अत्र 'यथा स्वयम्' इत्यपि पाठ स्यात् द्रष्टव्य स्याद्वादरत्नाकर पृ० २३ । द्रष्टव्य टिप्पृ ७४ टि० २ । कथ पुनस्तस्य परार्थत्वमित्याह–यथेत्यादि । ननु अनुमेयविषय ज्ञानमनुमानम् ज्ञानस्यैव प्रमाणत्वात् । तत् कथं वचनस्यानुमानत्वमित्याह–कारणे कार्योपचारादिति । –विशाला० पृ १३३ B । १३ तुलना– त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम् ३।१।१। कारणे कार्योपचारात् ।३।१।२। –न्यायबिन्दु । त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानमिति प्रमाणसमुच्चयवृत्ति ।[पृ० ४६८] त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थमनुमानम् [पृ० ४६९ ४८५] –प्र० वार्तिकाल० । त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थमनुमानम् इत्यादि आचार्यवच ।'–वादन्यायवृत्ति [विपञ्चितार्था] पृ० ६६ । १४ 'अत्र चान्यतमस्यैकस्यापि रूपस्यानुक्तौ न्यूनतोक्ता भवति –PSV[1] । "अत्र चान्यतमरूपस्यानुक्तिर्न्यूनतेत्युक्तं भवति" इति पाठ एव आदरणीय प्रतिभाति । "अत्र च अन्यतमरूपस्यानुक्तिर्न्यूनतेत्युक्तं भवति इति पुनर्नोच्यते अनेनैव निर्देशेन अर्थेन उक्तत्वात् । यस्माद् यथा त्रिरूपो हेतु इति वचनेन 'एकैकद्विद्विरूपोऽर्थो न हेतु इति उक्तं भवति तथा त्रिरूपाख्यानं परार्थमनुमानम्' इति वचनेन एकैकद्विद्विरूपाख्यानं नानुमानम् किं तर्हि ? न्यूनता साधनदोष तत परस्य सम्यग् निश्चयानुपपत्ते । –विशाला० पृ० १३५ A । तुलना–"अनुक्तावपि पक्षस्य सिद्धेरप्रतिबन्धत । त्रिष्वन्यतमरूपस्यैवानुक्तिर्न्यूनतोदिता ॥ –प्र० वा० ४।२३ ॥ त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानमित्युक्तम् । तत्र त्रयाणां रूपाणामेकस्यापि रूपस्यानुक्तौ साधनाभास ।' –न्यायबिन्दु ३।५७ । १५ ['ऽोन् गङ् शेस् प ल सोगस् पस् VT =] ननु य इत्यादिना त्रिरूपलिङ्गाख्यानमात्रस्यानुमानत्वेनोक्ते [रिगस् प म मो ञ सोगस् प VT =] न्यायसूत्रादितर्कशास्त्रेषु पक्षवचनस्यापि साधनत्वेन निर्देशादाशङ्कते । परार्थानुमाने प्रयोग तदन्तर्भाव साधनावयवत्वेन निर्देशात् । स कथमिति तच्छास्त्रकृता तत्र का उपपत्तिरिति । [दे नमूस् स्तो न जे दि बर् ब्यडो शेस् प VT =] त एव प्रष्टव्या इति य साध्यसिद्धिं प्रति अशक्तस्यापि पक्षवचनस्य साधनत्वादिन इत्याशय । –विशाला० पृ० १३५ A ।

यस्त्वर्कशास्त्रेष्वनुमेयनिर्देशस्य प्रतिज्ञाया परार्थानुमाने प्रयोग स कथम् ? त एव प्रष्टव्याः । अस्माकं तु—

तत्रानुमेयनिर्देशो हेत्वर्थविषयो मतः ॥ १ ॥

अवयवेषु योऽनुमेयनिर्देश सोऽस्माकं न साधनत्वेन मत, तत एव संशयोत्पत्तेः; अपि तु हेत्वर्थविषयत्वेन । स तेन प्रकाश्यते ।

स्वरूपेणैव निर्देश्यः स्वयमिष्टोऽनिराकृतः ।
प्रत्यक्षार्थानुमानाप्तप्रसिद्धेन स्वधर्मिणि ॥ २ ॥

---

१ "तत पक्षानुक्तावपि सिद्धेरप्रतिबन्धात् त्रिषु रूपेष्वन्यतमस्यैवानुक्तिर्न्यूनतोक्ता साधनदोष., न तु पक्षानुक्ति । ननु यदि पक्षवचनमसाधन तदा साधनाङ्गावसरे भवतामपि अनुमेयलक्षणनिर्देशो न युक्त इत्यत आह—अस्माकं त्वित्यादि । निर्दिश्यतेऽनेन [इति निर्देश] अनुमेयस्य निर्देशोऽनुमेयनिर्देश, न चात्र लक्षणनिर्देशो वेद्य, न प्रतिज्ञावचनम् । हेतुस्त्रिरूपं लिङ्गम्, तस्यार्थ हेत्वर्थ, स विषयो यस्य स हेत्वर्थविषय । यस्मादनुमेयलक्षणनिर्देशेन हेत्वर्थोऽविपरीत प्रकाश्यते तस्मात् तद्विषयत्वात् साधनप्रस्तावेऽपि तदुपन्यास इति वाक्यार्थ । अवयवेष्वित्यादि । अवयवेषु प्रस्तुतेषु योऽनुमेयनिर्देशः सोऽस्माकं न साधनत्वेन, कस्मात् ? तत एव संशयोत्पत्तेः । तत इति आद्यादित्वात् सप्तम्यर्थे तसि । तत्रैव अनुमेये संशयोत्पत्ते [पृ० १३५ B] इत्यर्थ । अथवा हेतुसङ्ख्यानन्तादिवाय तसि, तत एव अनुमेयोपलब्धिहेतो संशयोत्पत्तेरित्यर्थ । एतेन अनुमेयस्य सन्दिग्धत्व दर्शयन्निममर्थं प्रकाशयति—सिद्ध साधनम्, नेतर । अनुमेयं च सन्दिग्धम् ।··· ·· अनुमेयस्य चासाधनत्वदर्शनेन तद्वाक्यस्यापि दर्शितं भवति । तथाहि—अर्थ एव साक्षाद् गमक, न वचनम् । तत् शब्दार्थ सूचकत्वात् परम्परया साधनं भवति । यत्र अर्थे एव साध्यसाधनाशक्तिर्निश्चिता तत्र वचने सुतरामशक्तिरिति व्यक्तमेव प्रतीयते । अपि त्वित्यादिना 'हेत्वर्थविषयो मत ' इत्यस्यार्थो व्याख्यायते । ननु हेत्वर्थलक्षणनिर्देश तर्कशास्त्रेऽन्यथा कृतः, स कस्मादत्र क्रियत इत्यत आह—स तेन प्रकाश्यते इति । यस्मादव्यभिचारी [यो]ऽनुमेय स एव तेन हेतुना साध्यते न परपरिकल्पित तस्मात् तस्य लक्षण निर्दिश्यते, 'एतादृश एवार्थो हेतुना साध्य, न तद्विपरीत' इति यथा ज्ञानं स्यादित्याशय । तस्मादत्र संक्षेपेण निर्देश । बहुधा साध्यविषया विप्रतिपत्तिर्दृश्यते, तस्मात् तन्निराकरणार्थं शास्त्रे पक्षलक्षणं दर्शितम् । न तु प्रयोगकाले स निर्देश्य उपयोगाभावात् [पृ० १३६ A]।'—विशाला० । "ननु च विपर्योपदर्शनाय प्रतिज्ञावचनमसाधनाङ्गमप्युपादेयमेव । न । वैयर्थ्यात् [वादन्याय. पृ० ६५] । समुच्चयटीकाकारास्त्वाहु —नन्वित्यादि । नेत्याद्युत्तरम् ।······अप्रदर्शिते तु सम्बन्धे संशयोत्पत्तिहेतुत्वादिदमुक्तम्—तत एव संशयोत्पत्तेरिति ।······'अस्माकं तु तत्रानुमेयनिर्देशो हेत्वर्थविषयो मत ' इत्यपि वचनं विरुध्यते, यस्मात् 'तत्रेति तर्कशास्त्रस्य सम्बन्धोऽत्राभिधीयते । प्रयोगस्य तु सम्बन्धे बहु स्यादसमञ्जसम् ॥ १ ॥"—वादन्यायवृत्ति [विपञ्चितार्था] पृ० ६५-६६ । "नन्वाचार्यस्य पक्षवचनमसाधनत्वेनेष्टमिति कथ ज्ञायत इत्याह—हेत्वर्थविषयत्वेन तदशक्तोक्तिरीरिता । हेतोरर्थ साध्य, स विषयोऽस्येति हेत्वर्थविषय, तत्त्वेन साध्यार्थोपदर्शकत्वेन तस्य पक्षवचनस्य साध्यसाधन प्रति अशक्तस्योक्तिरीरिता निर्दिष्टा आचार्येण 'तत्रानुमेयनिर्देशो हेत्वर्थविषयो मत.' इत्यनेन ग्रन्थेन । ततो ज्ञायते पक्षवचनमसाधनमिष्टमाचार्यस्येति ।"—प्र० वा० म० ४।१८ । "नन्वाचार्यस्य पक्षवचनमभिमतमेव, यदाह—स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनेच्छया । पक्षधर्मत्वसम्बन्धसाध्योक्तेरन्यवर्जनम् ॥ [प्रमाणसमुच्चय ४।६] । नैतदस्ति । यत हेत्वर्थविषयत्वेन तदशक्तोक्तिरीरिता ॥ [प्र० वा० ४।१८], यदाह—'तत्रानुमेयनिर्देशो हेत्वर्थविषयो मत । अस्माकं तु योऽनुमेयनिर्देश. स हेत्वर्थविषयत्वेन, न साधनत्वेन' ।··· ·· ·· [पृ० ४८८]···कथं तर्हि इदमुक्तम्—'अस्माक तु पक्षनिर्देशो यः स न साधनत्वेन अपि तु हेत्वर्थविषयत्वेन' इति [पृ० ४९०] ।"—प्र० वार्तिकालं० । २ 'मतः' PSV[2] VT मध्ये नास्ति, प्र० वार्तिकालङ्कारेऽपि नास्ति । PSV[2] मध्ये 'मत.' इत्यस्य स्थाने 'निर्देशः' इति दृश्यते । ३ दृश्यता टिपृ० १२४ पं० १० । प्र० वार्तिकालं० पृ० ४८९ । प्र० वा० ४।१६ । ४ "साध्यते" PSV[1-2] । 'उपदर्श्यते' इति 'ख्याप्यते' इति वा इत्यपि पाठोऽप्यत्र चिन्त्य । "तस्मादनुमेयस्योपदर्शनार्थं सिद्ध्यर्थं पक्षवचनमुपादेय नान्यदित्युपस्कार ।"—वादन्यायवृत्ति. पृ० ६६ । ५ प्र० वार्तिकालं पृ० ५४५,५४६,५४९ । प्र० वा० म० पृ० ४२४,४६५,४५८, ४५९ । तुलना—दिङ्नागप्रणीतन्यायमुखस्य चीनभाषानुवादमवलम्ब्य Prof. Giuseppe Tucci इत्येभिर्विहिते English भाषानुवादे पक्षस्वरूपमित्थमुपलभ्यते—

I have compiled this book because I desire to ascertain what is the real nature of the arguments meant to prove [a thesis as well] as to refute it The proposition and the other terms are called the proof [साधन] Here is called 'proposition only that particular argument that we want to prove in accordance with our own opinion It must be such as no argument contradictory [to it] can exclude it 'The proposition etc' this means that through the formulation of a proposition a reason and an example an argument which has not yet been understood by another [man] is made evident to him That many terms represent the sādhana syllogism was already asserted by Vasubandhu in his Vādavidhi etc but they are called here the sādhana in the singular in order to show that they have as a whole the nature of a syllogism Therefore we must acknowledge that when [some terms] are defective there is an error of the syllogism The word 'here (atra) is meant either to introduce the beginning [आरम्भ] of the śastra or has the meaning of restriction (avadhārana) that is among these terms such as proposition etc There fore [the author] uses the word "here" Only" is used in order to distinguish [the proposition from the other members of a syllogism] 'In accordance with our opinion" is used here in order to express that the proposition is independent of the sāstra, but is established in accordance with ones own opinion 'That we want to prove" means that we do not want as a proposition [a sentence] having the nature of the proof (sādhana) Were not the probandum defined in this way that is as a proposition that 'one wants to prove", then even a fallacious reason or a fallacious example [hetvābhasa, drstanta-abhāsa] could be called a proposition In order to show that it must be devoid of any fallacy [such as those admitted] by other schools [the author] says it must be such as no argument contradictory [to it] can exclude [it]" [This can mean] also that it is not excluded by a sentence having a contradictory meaning [A proposition is called a fallacious proposition] when one of the [five] following cases happens to be 1 [If it is self-contradictory] e g if one says all words are false 2 If it is contradictory to the proposition that one has already assumed as the probandum e g if a Vaiśeṣika says 'sound is eternal" 3 If it is excluded by a statement generally accepted as true [prasiddha] when the proposition is concerned with some notion that cannot be the object of inference, because there is no other homogeneous thing which can be referred to as a positive instance [sapakṣa] e g if one says śaśi [an epitheton of the moon] is not the moon because it exists 4–5 If [the particular attribute] of the subject [dharmin] that one wants to prove is contradicted either by an inference or by direct perception the validity of which is generally admitted E g if one says 'sound cannot be heard, this proposition is contradicted by the evidence of direct perception [If on the other hand somebody says] 'the pot is eternal", this proposition is

स च **स्वरूपेणैव निर्देश्यः स्वयमिष्टः** । स्वरूपेणैवेति साध्यरूपेण, न तु सिद्धसाधनरूपेण । तथाच असिद्ध-

---

contradicted by inference —न्यायमुख पृ० ५-७ । चीनभाषानुवादानुसारेणास्य संस्कृतमीदृशं सम्भाव्यते– "साधनदूषणस्वरूपव्युत्पादनार्थमिदमारभ्यते । **पक्षादिवचनानीति साधनं तत्र तु स्वयम् । साध्यत्वेनेप्सितः पक्षो विरुद्धार्थानिराकृतः** ॥२॥ पक्षादीति, पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि परेषामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यते । [वसुबन्धुना] **वाद**विध्यादौ बहूनां वचनानां साधनत्वाभिधानेऽपि अनेकवचननिर्देशः समस्तानां साधनत्वप्रतिपादनाय । तेनान्यतमस्य न्यूनतायां साधनदोषः । **'तत्र'**शब्दः शास्त्रोपन्यासार्थोऽवधारणार्थो वा 'तेष्वेव पक्षादिषु' इति । **'तु'**शब्दो विशेषणार्थः [पक्षमितरेभ्यो व्यावर्तयति] । स्वयमिति शास्त्रानपेक्षमभ्युपगमं दर्शयति । 'साध्यत्वेनेप्सित' इति अनभिधाने असिद्धहेतुदृष्टान्ताभासयोरपि पक्षत्वं स्यात् । विरुद्धार्थानिराकृत इति । [यदि विरुद्धार्थेन न निराक्रियते स पक्षः, अन्यथा तदाभासः] । **यदि विरुद्धार्थवाचिना स्ववचनेन बाध्यते यथा 'सर्वमुक्तं मृषा' इति, पूर्वाभ्युपगमेन वा यथा औलूक्यस्य 'नित्यः शब्दः' इति साधयतः,** यत्राप्यसाधारणत्वादनुमानाभावे शाब्दप्रसिद्धेन विरुद्धेनार्थेनापोद्यते यथा 'अचन्द्रः शशी सत्त्वात्' इति, यो वा धर्मो धर्मविशिष्टः साधयितुमिष्टः तत्र यदि प्रत्यक्षानुमानप्रसिद्धेन बाध्यते यथा 'अश्रावणः शब्दः' 'नित्यो घटः' इति [नासौ पक्षः] ।"

१ "**स्वरूपेणैवे**त्यादि । अत्र रूप-निपात-इष्ट-स्वयंपदैश्चतुर्भिर्यथाक्रमम् १ असिद्धः २ असाधनम् ३ इच्छाविषयीकृतः ४ साधनकर्त्रा सिसाधयिषितश्च गृह्यते । ततश्च चतूरूपं साध्यमिति दर्शितं भवति । **न सिद्धसाधनरूपेणे**ति यथाक्रमं रूपनिपाताभ्यां व्यवच्छेद्यं दर्शयति । तथाहि–स्वरूपशब्देन असिद्धं गृह्यते, तद्व्यवच्छेद्यं सिद्धम्, [यथा] 'शब्दः श्रावणः' इति । स्वरूपेणैव इति निपातेन असाधनं गृह्यते, असिद्धमपि साधनत्वेनेष्टं तद्व्यवच्छेद्यम्, यथा असिद्धहेतुदृष्टान्तौ 'शब्दो नित्यः चाक्षुषत्वाद् बुद्धिवत्' इत्येतादृशरूपौ । तत्र सिद्धव्यवच्छेदफलस्य [गो रल व सिद् क्यिश् क्यिश् VT=] सुगमत्वात् साधनव्यवच्छेदफलमेव **'तथाच'** इत्यादिना दर्शयति । **तथाचे**त्यवधारणे गतीत्यर्थः । हेतुश्च दृष्टान्ताभासश्च, तौ असिद्धौ चेति विग्रहः । **असिद्धहेतुदृष्टान्ताभासवचनं परिहृतं भवति** । प्रतिज्ञात्वेन [दोर् बर् ऽग्युर् VT=] प्रतिक्षिप्तं भवतीत्यर्थः । ... [पृ० १३६ B] **तौ साध्यरूपेण न निर्देश्या**विति, असिद्धयोरपि साधनत्वेनाभिधानात् ।... [पृ० १३७ A]...**शास्त्रानपेक्ष**मिति शास्त्रनिरपेक्षमित्यर्थः । **अभ्युपगम** इति प्रतिज्ञार्थः, सोऽभ्युपगम्यत इत्यभ्युपगमः ।... **स्वयमिष्ट इत्यनेन शास्त्रानपेक्षमभ्युपगमं दर्शयति** ...[पृ० १३७ B]...तस्मादनुक्तोऽपि इच्छया व्याप्तः साध्यः । तदन्वयाभावे साध्यवैकल्यादयो दृष्टान्तादिदोषा इति । **अनिराकृत** इत्यादि । प्रत्यक्षश्चासावर्थश्चेति प्रत्यक्षार्थः, स चानुमानं चाप्तश्च प्रसिद्धश्चेति विग्रहं कृत्वा द्वन्द्वैकवद्भावेन तथा निर्देशः । **स्वधर्मिणी**ति निमित्ते सप्तमी । स्वधर्मिनिमित्तेन अनिराकृत इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति–स्वधर्मिणि बाधाया तद्द्वारेणायाता बाधा यदि साध्यधर्मेऽपि न भवतीत्यर्थः [पृ० १३८ B]"– **विशाला०** । तुलना–"कीदृशः पुनः पक्ष इति निर्देश्यः । स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्ष इति । स्वरूपेणेति साध्यत्वेनेष्टः । स्वरूपेणैवेति साध्यत्वेनैवेष्टो न साधनत्वेनापि । यथा शब्दस्यानित्यत्वे साध्ये चाक्षुषत्वं हेतुः शब्देऽसिद्धत्वात् साध्यम्, न पुनस्तदिह साध्यत्वेनैवेष्टं साधनत्वेनाभिधानात् । स्वयमिति वादिना । यस्तदा साधनमाह । एतेन यद्यपि क्वचिच्छास्त्रे स्थितः साधनमाह तच्छास्त्रकारेण तस्मिन् धर्मिणि अनेकधर्माभ्युपगमेऽपि यस्तदा तेन वादिना धर्मः स्वयं साधयितुमिष्टः स एव साध्यो नेतर इत्युक्तं भवति । इष्ट इति यत्रार्थे विवादेन साधनमुपन्यस्तं तस्य सिद्धिमिच्छता सोऽनुक्तोऽपि वचनेन साध्यः । तदधिकरणत्वाद् विवादस्य । यथा परार्थाश्चक्षुरादयः, सङ्घातत्वात्, शयनासनाद्यङ्गवदिति, अत्रात्मार्था इत्यनुक्तावपि आत्मार्थता साध्या, तेन नोक्तमात्रमेव साध्यमित्युक्तं भवति । अनिराकृत इति एतल्लक्षणयोगेऽपि यः साधयितुमिष्टोऽप्यर्थः प्रत्यक्षानुमानप्रतीतिस्ववचनैर्निराक्रियते न स पक्ष इति प्रदर्शनार्थम् ।"–**न्यायबिन्दु.** ३।३७-४८ । २ "असिद्धहेतुदृष्टान्ताभासवचनं परिहृतम्"–PSV ।

---

1 टिप्पृ० ७३ पं० १०-११ । 2 **प्र० वार्तिकालं०** पृ० ५१०,५१९, ५२२,५६१ । **प्र० वा० म०** पृ० ४४३ । **न्याय**वार्तिकतात्पर्यटीका १।१।३३ । टिप्पृ० ७३ टि० ३,४ । 3 तुलना–"पक्षादिवचनेन हेतुदृष्टान्तयोः परिग्रहः । बहूनामवयवानां साधनत्वाभिधानेऽपि 'साधनम्' इति चैकवचननिर्देशः समस्तसाधनत्वख्यापनार्थम् ।"–**न्यायप्रवेशवृत्ति** पृ० १३-२३ । 4 "**न्यायमुखे–यदि......साधयतः ।**"–**प्र० वार्तिकालं०** ४।१०३, पृ० ५२६ ।

हेतुदृष्टान्ताभासवचन परिहृत भवति। 'तौ [हि?] साध्यरूपेण न निर्देश्यौ। स्वयमिति शास्त्रानपेक्षमभ्युपगम दर्शयति। स च अनिराकृत प्रत्यक्षार्थानुमानाप्तप्रसिद्धेन स्वधर्मिणि । [3]यो हि धर्मी धर्मविशिष्ट साधयितुमिष्टस्तत्र यदि साध्यधर्मविरुद्धेन प्रत्यक्षानुमानागमप्रसिद्धेन धर्मान्तरेण अनिराकृतस्तर्हि साध्यनिर्देशो निरवद्य । अन्यथा तदाभास, यथा—अश्रावण शब्द, नित्यो घट, न सन्ति प्रमाणानि प्रमेयार्थानीति प्रतिज्ञामात्रेण, यत्राप्यसाधारणत्वादनुमानाभावे

---

१ तौ हि साध्यरूपेण न निर्दिश्येते' इत्यपि पाठोऽत्र भवेत्। २ 'उक्तमाचार्येण—स्वयमिति शास्त्रानपेक्षमभ्युपगम दर्शयति इति। —प्र०वार्तिकाल० पृ० ४९५। "आचार्यो वृत्तौ आह—स्वयमिति शास्त्रानपेक्षमभ्युपगम दर्शयति।"—प्र० वा० म० ४।३०, पृ० ४२५। 'स्वयमिष्ट इत्यनेन [वचनेन PSV[1]] शास्त्रानपेक्षमभ्युपगम दर्शयति। —PSV VT। ३ 'अत एवाह—'यो हि धर्मी धर्मविशिष्टस्तत्र यदि साध्यधर्मविरुद्धेन प्रत्यक्षानुमानागमप्रसिद्धेन न बाध्यते स पक्ष अन्यथा तदाभास' इति। —प्र० वार्तिकाल० पृ ५५१। तुलना—प्र० वा० ४।१३६-१४८। "यो धर्मी धर्मविशिष्ट' इत्यनेन साध्यधर्मविशिष्टस्यैव धर्मिण साध्यतां दर्शयन् केवलस्य धर्मिण उपराधेऽपि बाधा न भवतीति प्रकाशयति। यदि तत्रेति साध्यधर्मनिषेधनिमित्तेन तेन धर्मान्तरेण यदि निराकृत यदि तस्मिन् बाध्ये तद्द्वारेणायाता बाधा साध्यधर्मेऽपि न भवतीत्यर्थ । —विशाला० पृ० १४० A। ४ 'तर्हि' इत्यस्य स्थाने 'तदा' इति 'एव हि' इति वा पाठोऽपि भवेत्। ५ तत्राचार्येणेदमुक्तम्—स्वरूपेणैव निर्देश्य स्वयमिष्टोऽनिराकृत पक्ष यदि प्रत्यक्षानुमानागमप्रसिद्धेन। तद्यथा अश्रावण शब्दो नित्यो घट इति न सन्ति प्रमाणानि प्रमेयार्थानीति प्रतिज्ञामात्रेण, यत्राप्यसाधारणत्वादनुमानाभावे शाब्दप्रसिद्धेन विरुद्धेनार्थेन अपोह्यते न स पक्ष इति।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ५४५। "आह चाचार्य —यत्राप्यसाधारणत्वादनुमानाभावे शाब्दप्रसिद्धेन विरुद्धेनार्थेनापोह्यते न स पक्ष इति यत्र विषये प्रतिपक्षभूतस्यानुमानस्यासाधारणता तत्र एव तदभाव । अभावे शाब्दप्रसिद्धमनुमान बाधक न स पक्ष । [पृ० ५३४] अचन्द्र शशी सत्त्वादिति [पृ० ५३५] यत्राप्यसाधारणत्वादनुमानाभावे प्रसिद्धेन विरुद्धेनाथनापोह्यते न स पक्ष इति [पृ० ५३६] उक्तम्—असाधारणत्वादनुमानाभावे' इति 'अचन्द्र शशी सत्त्वादिति।'—प्र० वार्तिकाल०। अनुमानबाधायामन्तर्भावादनयोरभ्युपगमप्रतीतिबाधयो सिद्धयोरपि पृथगाख्यानप्रयोजन दर्शयन्नाचार्य एते अभ्युपगमप्रतीतिबाधे सहेतुके आह—न सन्ति प्रमाणानि प्रमेयार्थानीति प्रतिज्ञामात्रेणेति। अत्र प्रतिज्ञामात्र शास्त्रस्ववचनयो सिद्धयोरप्रामाण्यप्रतिपादकमुक्तम्। यत्राप्यसाधारणत्वादनुमानाभावे शाब्दप्रसिद्धेनापोह्यते न स पक्ष इति। अत्र शाब्दप्रसिद्धेन शशिनश्चन्द्रत्वेन अचन्द्रत्वप्रतिज्ञाया बाधनमुक्तम्। अनुमानाध्यक्षबाधने तु न सहेतुके प्राह 'अश्रावण शब्दो नित्यो घट' इति॥ तस्माद् विषयभेदोपलक्षणार्थ सहेतुकत्वे हेतुत्वदर्शनम्। प्रत्यक्षानुमानबाधे सर्वविषये अभ्युपगमप्रतीतिबाधे तु नियतविषये इत्यर्थ।' —प्र० वा० म० ४।१३० पृ० ४५७। 'उदाहरणमप्यत्र सदृश तत्र वर्णितम् [प्र० वा० ४।९६]। अत्र शास्त्र[स्व]वचनयोर्व्याघातेन आचार्येण उदाहरणमपि सदृशमभिन्न वर्णितम् यथा न सन्ति प्रमाणानि प्रमेयार्थानीति। —प्र० वा० म० पृ० ४४६। योऽचन्द्रत्व शशिनि प्रतिजानीते त प्रति चन्द्रत्वसाधनाय लोकस्य ब्रुवतोऽनुमानाभाव आचार्येणोक्त —'यत्राप्यसाधारणत्वादनुमानाभावे शाब्दप्रसिद्धेन विरुद्धेनार्थेनापोह्य(ध)ते यथा 'अचन्द्र शशी सत्त्वात्' इति नासौ पक्ष' इत्येतेन ग्रन्थेन। —तत्त्वस० प० ॥ १३९६ ॥ पृ० ४११। "अश्रावण शब्द इति। [पृ० १४० A] —इति प्रत्यक्षेण बाधनम्। अनुमानविरोधस्योदाहरण नित्यो घट इति। [पृ० १४० B] न सन्ति प्रमाणानीति आप्तबाधाया उदाहरणम् [पृ० १४१ A]। येनैवमेते समाने तेन उदाहरणमपि अत्र सम दर्शितमाचार्येण—न सन्ति प्रमाणानि प्रमेयार्थसाधनानीति। प्रतिज्ञामात्रेणेति। [पृ० १४१ B] यत्रापीत्यादिना प्रसिद्धिबाधामुदाहरति। अत्र अचन्द्र शशीति प्रतिज्ञा। 'शशिन चन्द्रवाच्यत्व नास्ति' इति अस्या अर्थ। स च शाब्दप्रसिद्धेन विरुद्धेनार्थेनापोह्यते। शाब्दी प्रसिद्धिरनुमानम्, तेन प्रसिद्धो निश्चित शाब्दप्रसिद्ध। [पृ० १४२ A] असाधारणत्वादिति। सत्त्वाख्यस्य हेतोरसाधारणत्वात्। तस्मात्चानुमानाभाव। [पृ० १४२ B]। —विशाला०। विमलार्थिभि गवेषितव्यं प्रमाणवार्तिकम् [४।९२ १४८] अत्र द्रष्टव्यम्। 'तत्र प्रत्यक्षनिराकृतो यथा अश्रावण शब्द इति। अनुमाननिराकृतो यथा नित्य शब्द इति। प्रतीतिनिराकृतो यथा अचन्द्र शशीति। स्ववचननिराकृतो यथा नानुमान प्रमाणम्। इति चत्वार पक्षाभासा निराकृता भवन्ति। एव सिद्धस्यासिद्धस्यापि साधनत्वेनाभिमतस्य स्वय वादिना तदा साधयितुमनिष्टस्योक्तमात्रस्य निराकृतस्य च विपर्ययेण साध्य तेनैव स्वरूपेणाभिमतो वादिन इष्टोऽनिराकृतः पक्ष इति पक्षलक्षणमनवद्य दर्शित भवति। —न्यायबिन्दु ३।४०-५१। ६ प्रमेयार्थसाधनानि' —PSV VT।

शाब्दप्रसिद्धेन विरुद्धेन [1]अर्थेन अपोह्यते यथा अचन्द्रः शशी सत्त्वादिति । [2]इदं धर्मस्वरूपनिराकरणद्वारमात्रं दर्शितम् । अनया दिशा धर्मधर्मिविशेषस्वरूपनिरा[3]करणमपि वेदितव्यम् । [4]तद्यथा – [5]नान्योऽवयवी अवयवेभ्यः, तुलानतिविशेषाग्रहणात् ।

---

१ "अर्थेन" – PSV[2] अनुसारेण नास्ति । २ "इद च धर्मस्वरूपविरोधेन निराकरणद्वारमात्र दर्शितम्" – PSV[2] । "एभिर्धर्मस्वरूपनिराकरणद्वारमात्र दर्शितम्" – PSV[1] । "इद धर्मस्वरूपनिराकरणेन दिङ्मात्रमुक्तम्" इति पाठोऽपि VT अनुसारेण भवेदिति भाति । "[ऽदि नि शेस् प ल सोगस् प स्ते । VT =] इदमित्यादि । अत्र धर्मधर्मिसमुदाय एव साध्य । तत सर्वथा समुदायनिराकरणादेव [ञे वर् ऽगोग् चिद् VT =] उपरोध । स क्वचिद् धर्मद्वारेण धर्मिद्वारेण तदुभयद्वारेण तद्विशेषद्वारेण वा क्रियते इति तेन व्यपदिश्यते । इदमुदाहरणचतुष्टयं **धर्मस्वरूपनिराकरणेन** धर्मस्वरूपनिराकरणमुखेन एकस्य प्रकारस्य दर्शनाद **दिङ्मात्रम्** [^यशद् प VT =] उक्तम् । **अनया दिशा** धर्मधर्मिविशेषाणाम् [ञे स्कब्स् सु बब् पडि VT =] उपस्थितसाध्याविनाभाविना धर्मिस्वरूपस्य च निराकरणद्वारेण प्रकारान्तराणि वेदितव्यानि ।" – **विशाला०** पृ० १८८ A । "ननु 'अश्रावण शब्द, नित्यो घट, नानुमानं प्रमाणम्, अचन्द्र शशी' इत्युदाहरणैरेभिर्धर्मस्वरूपनिराकरणेन बाधा दर्शिता यथाप्रतिज्ञातधर्ममात्रस्य विपरीतधर्मोपस्थापनेन निराकरणात् । धर्मिविशेषस्य धर्मविशेषस्य धर्मिस्वरूपस्य च बाधनेन पक्षबाधास्ति सा कथमवगन्तव्येत्याह – 'धर्मिधर्मविशेषाणा स्वरूपस्य च धर्मिण । बाधा साध्याङ्गभूतानामनेनैवोपदर्शिता' [**प्र० वा०** ४।१५१], धर्मिधर्मयोर्विशेषाणा, व्यक्तिभेदापेक्षया बहुवचनम्, धर्मिण स्वरूपस्य च, सर्वेषामेषा साध्यं प्रति अङ्गभूताना बाधा अनेनैव धर्मस्वरूपनिराकरणपरेणोदाहरणेन साध्यतोपलक्षणत्वाद् बाधा उपदर्शिता । 'तत्रोदाहृतिदिङ्मात्रमुच्यतेऽर्थस्य दृष्टये' [**प्र० वा०** ४।१५२], तत्र 'अश्रावण शब्द' इत्यादिषु उदाहरणदिङ्मात्रमुच्यते 'साध्याङ्गभूतस्य सर्वस्यैव बाधा भवति' इत्यर्थस्य दृष्टये दर्शनार्थम् ।" – **प्र० वा० म०** ४।१५१-२, पृ० ४६४-५ । तुलना – "कथ तर्हि धर्मधर्मितत्समुदायविशेषनिराकरणभेद ? तद्द्वारेण निराकरणात् । यद्द्वारेण हि समुदायो निराक्रियते तेन व्यपदिश्यते । परमार्थत 'समुदायनिराकरणमेव ।" – **प्र० वार्तिकालं०** ४।४०, पृ० ५०१ । ३ "°करणं वेदितव्यम् ।" – PSV[2] । "°रणमपि लक्षितं वेदितव्यम्" – PSV[1] । ४ **"यथा"** – PSV[1] । ५ "अवयवी अवयवेभ्योऽन्य' इति प्रतिज्ञाया कृताया **नान्योऽवयवी अवयवेभ्यः तुलानतिविशेषाग्रहणादिति** । इदं [सुन ऽब्यिन् पऽी VT =] प्रतिवचनम् । अनेन च अन्यविशेषो निराक्रियते नान्यत्वमात्रम् । तथाहि '। [पृ० १८८ A] ···· **नान्येऽवयवा अवयविन** इति धर्मविशेषनिराकरणम् । अवयवा अवयविनोऽन्ये इति प्रतिज्ञा । अत्र अवयवा धर्मिण, तेषामन्यत्व धर्म साध्य । तेषां च केषाञ्चित् प्रत्यक्षत्व विशेष परेणाभिमत ततोऽन्यत्वे ततो भेदेन अभासनादनुपपन्न । [पृ० १४५ B] ···· **नास्ति द्रव्य**मित्यादि । · द्रव्यमस्तीति प्रतिज्ञा । द्रव्य पृथिव्यादि, तदस्ति सदित्यर्थ । सत्तायोगात् **काणभुजस्य** द्रव्यादि त्रयं सदित्यभिमतम् । ततो गुणानामपि द्रव्यतापत्ति, द्रव्यस्थितात्मसत्तासम्बन्धात् । [पृ० १४६ A] ···· यत् सत्तावद् न तद्द्रव्यम्, गुणवत् । द्रव्याभिमत च वस्तु सत्तावदिति विरुद्धव्याप्तेन धर्मिस्वरूपनिराकरणात् प्रतिज्ञादोष ।" — **विशाला०** । तुलना – **प्र० वा० म० टि०** पृ० ४६८-४६९ । "परस्यावयवेभ्योऽवयविनो गुरुत्वादिगुणयोगिनोऽन्यत्वेऽभिमते यदोच्यते – "**नान्योऽवयवी अवयवेभ्य तुलानतिविशेषाग्रहणादिति,** एतद् धर्मविशेषनिराकरणेनोदाहरण बोद्धव्यम् । तथाहि नात्रान्यत्वमात्र निषेद्धुमिष्टम्, तथात्वे धर्मस्वरूपनिराकरणोदाहरणमेतत् स्यात् । तस्मादन्यत्वस्य साध्यधर्मस्य नान्तरीयका गौरवादयो विशेषा निराकर्तुमिष्टा । तथा च धर्मविशेषोदाहरणमेव तत् । [४।१५२, पृ० ४६५] तत्र परेणावयविन सकाशादवयवानामन्यत्वे प्रतिज्ञाते यदुच्यते **नान्येऽवयवा अवयविनः, अप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गा**दिति तद् धर्मिविशेषनिराकरणोदाहरणम् । तथाहि – अवयवाना भेदमिच्छन् प्रत्यक्षतामपीच्छति । अन्यत्वे च निराकृते प्रत्यक्षतायाश्च निरासादवयवाना धर्मिविशेषनिराकरणोदाहरणत्व व्यक्तम् । अभ्युपगम एव चात्र बाधक, अवयवादर्शने द्रव्यादर्शनस्वीकारात् । गुणव्यतिरिक्त द्रव्यमस्तीति परेणोक्ते यदोच्यते **नास्ति द्रव्यं गुणद्रव्याणां द्रव्याद्रव्यत्वप्रसङ्गात्** तद् धर्मिस्वरूपनिराकरणोदाहरणम् । तथाहि – धर्मिण एव द्रव्यस्य स्वरूपमात्रं(पमत्र ?) निराक्रियते । गुणद्रव्याणामन्योन्य भेद । गुणोऽपि द्रव्य स्याद् द्रव्य च गुण भेदाविशेषादित्यभ्युपायस्य बाधकत्वम् [पृ० ४६८-४६९] ।" — **प्र० वा० म०** । "**नान्योऽवयवी अवयवेभ्यस्तुलानतिविशेषाग्रहणात्** । **नान्येऽवयवा अवयविनो** वा, **अप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्** । **नास्ति द्रव्यं गुणद्रव्याणां द्रव्याद्रव्यत्वप्रसङ्गात्** [पृ० ५५३] **नान्येऽवयवा अवयविनः,** तस्य **अप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्** । अन्यत्वे हि तेषामप्रत्यक्षतायामवयविनोऽप्यप्रत्यक्षताप्रसङ्गात् ।·· ······ **नास्ति द्रव्य**मिति गुणव्यतिरिक्तमिति सम्बन्ध । **गुणद्रव्याणां द्रव्याद्रव्यत्वप्रसङ्गा**दिति गुणस्य वा द्रव्यत्व द्रव्यस्य वा गुणत्वमित्यर्थ । तथाहि –

नान्येऽवयवा अवयविन, अप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। नास्ति द्रव्यम्, गुणद्रव्याणां द्रव्याद्रव्यत्वप्रसङ्गात्। *उभयस्वरूपविशेष [निराकरण] यथा* सर्वं वाक्यमनृतार्थमिति। यदेतद् वाक्य 'वाक्यमस्ति वाक्यात्मना अनृतार्थत्वेन च' इति, अस्य अनृतत्वे

व्यतिरेके सति परस्परव्यावृत्तत्वाद्रूप सत्ताधिष्ठित द्रव्यस्य भाव गुणानामपि तथैवेति न्याय । ततो द्वयो परस्परपरिहारेण स्थितयारेका गुणोऽन्यत् द्रव्यमिति कुतो विवेक ? अपरस्परपरित्यागेऽपि कुतो विवेक ? [पृ० ५५४] —प्र० वार्तिकाल०। विस्तरार्थिभि सव्याख्या प्रमाणवार्तिककारिका [४।१५२ १६३] अत्र विलोकनीया । नयचक्रवृत्ति पृ० १७२ प० १६–१९

१ * * PSV² मध्य एतत्स्थाने 'एवम्' इति पाठ । * * एतच्चिह्नान्तर्गतपाठान् परतस्तु PSV² अनुसारेण सव संस्कृतानुवाद PSV¹ मध्ये तु तत्र विशृङ्खलोऽनुवाद । VT अनुसारेण तु यादृश पाठ सम्भवति स विशालामलवत्यन्त र्गतप्रतीकत उन्नेय । 'उभयस्वरूपनिराकरणमुखेनोदाहरण तद्यथा सर्वं वाक्यमनृतार्थमिति । अनृतार्थं वच सर्वमिति वाक्यानृतत्वयो । तत्स्वरूपविशेषस्य क्षेपे दोषो विवक्षिते ॥ २७१ ॥ वाक्यत्वमनृतत्व च सामान्येन यदा निरा कर्तुमभिप्रेत तदोभयस्वरूपनिराकरणम्, यदा तु वाक्यस्य धर्मिणो धर्मोऽनित्यत्व[मनृतत्व]श्चानृताभिधेयत्व तदोभय विशेषनिराकरणम् सत्यस्य वाक्यविशेषस्यानृताभिधेयत्वस्य च निराकरणात्। प्रामाण्य हि वचनसामर्थ्यात् अनन्तेन वाक्यत्वा नृताभिधेयत्वाभाव(त्वोभय ?)निराकरण धर्मविशेषश्चात्र कश्चिन्नित्यत्वादिको द्रष्टव्य । यदि हानिरत्र न साध्यते व्यर्थकमेव वक्तृप्रामाण्याद्भ्रकरणम्। यदि निश्चिता स्यात वक्तृता स्थिति क्रियेतेति व्यर्थ एव वक्ता स्यादत स्ववचनविरुद्धमेतत्। यदि नित्य भवेद्वाक्य वक्तुर्वैयर्थ्यमापतेत्। अवाक्यस्पोक्तौ सिद्धापस्थायितापतेत् ॥ २७६ ॥' वक्तुर्हि वाक्यस्वरूपमनुपकुर्वाणस्य न वाक्योपकारिता । अनतकृतोपकारे न तस्य किञ्चिदित्यनुपकारी न वाक्येन वक्तापेक्ष्येत । अपेक्ष्यते च । तस्मादनित्यता तस्य साधनीया । तनत्वद्विशेषनिराकरणमुखेनाय पक्षाभास इति कथितम्। —प्र० वार्तिकाल० पृ० ५५४–५। २ सर्वं वाक्यमनृतार्थमिति प्रतिज्ञा । अनेन च ¹सम्मादयत् सर्वं वाक्यमनृतार्थमिति प्रतिज्ञायते । परप्रतिपादनाय वचनमुच्चारयतैव वादिना स्ववचन प्रमाणमभ्युपगतम्। तस्मात् तदनाविवक्षितम्। तस्मात् 'सर्व'शब्दोऽत्र वाक्यैकदेशे परस्मिन् [वाक्ये] वर्तते। यच्च 'वाक्यम्' इत्यनूद्यते तद् वाक्य कीदृशमित्याह–वाक्यमस्ति ³वाक्यात्मना अनृतार्थत्वेन च इति। वाक्यात्मनेति वाक्यस्वरूपेण अनेन धर्मिस्वरूपमनूद्यते। अनृतार्थत्वेन चेति अयथार्थत्वेन अनेन च धर्मस्वरूपम्। इत्थम्भूत लक्षणे इय तृतीया । चशब्दो धर्मिधर्मविशेषानुवादवाक्यसमुच्चयार्थ । तत् पुन कीदृशमिति चेत् 'वाक्यस्य विशेषो ऽनित्य त्वादिरस्ति अनृतार्थत्वस्य च अनृतपदाभिधेयत्वादिरस्ति एवविधम्। ⁴अस्येति अनुवादवाक्यस्य । अस्यापि प्रतिज्ञावाक्येन भारतादिवाक्यवदनृतार्थत्व प्रतिज्ञायते। तस्य चानृतार्थत्वे भारतादिवाक्यस्वरूपमवाचकमपि सत्यार्थं सम्भवति यथासत्यार्थत्व तस्मिन्नेव सोऽपि हीयते । तस्मात् प्रतिज्ञा स्ववाक्ये निराकृता भवति तत्स्वरूपद्वारेण [पृ० १४६ B] विशेषद्वारेण वा । तत्र यदि वाक्यासत्यत्वयो सर्वथा निराकरणमिति अनेन धर्मधर्मिस्वरूपनिराकरणद्वारेण प्रतिज्ञार्थनिराकरण दर्श्यते। कथ इत्येवेति चेत् ⁵वाक्यासत्यत्वयोरिति निमित्तार्था सप्तमी । तेनायमर्थो भवति—यदि वाक्येन धर्मिणा असत्यार्थेन साध्यधर्मेण च निमित्तेन सर्वथा निराकरण पक्षीभूतम्। इदमुक्त भवति—यदि धर्मिरूपे धर्मरूपे वा बाध्यमाने तद्द्वारेण साध्ये समुदाये बाधा भवति तथा सति उभयस्वरूपनिराकरणमिति । 'सर्वथा' इत्यनेन सर्वप्रकारेण समस्त साध्य यदि उपरुध्यते तर्हि प्रतिज्ञादोष न तु यथा कश्चिदाह धर्मिमात्रबाधयेति दर्शयति। एव तावत् [स्म जि ल्त र्वािन् पडि दग् गि VT =] यथाशब्द वाक्यस्यानृतार्थत्वे उभयस्वरूपद्वारेण निराकरणम्। [द नि स्प्रग् गिन् प VT =] इदानीं शब्दितस्य अयथार्थत्वे विशेषद्वारेण प्रतिज्ञार्थनिराकरणप्रतिपादनायाह—अथेत्यादि। वाक्यात्मन इति । अयमपि क इति चेत् धर्मि वाक्यविशेष । कुतोऽयमिति चेत्, यत स वाक्यात्मभूत । अपि च धर्मिधर्मविशेषनिराकरणप्रतिपादन प्रकृतम् यतस्त दनन्तरमेवोक्तम्-तथा सति उभयविशेषनिराकरणमिति । तस्मादय सामान्यशब्दोऽपि प्रकरणात् सामर्थ्याच्च वाक्य

---

1 रङ् गिद् ग्सुम् —VT । तुलना– सर्व मिथ्या ब्रवीमीति नैतद् वाक्य विवक्ष्यते । तस्य मिथ्याभिधाने हि प्रक्रान्ताऽर्थो न गम्यते ॥३।३।२३॥ न च वाचकरूपेण प्रवृत्तस्यास्ति वाच्यता । प्रतिपाद्य न तत् तत्र यतोऽन्यत् प्रतिपाद्यते ॥३।३। ४॥ असाधिका प्रतिज्ञेति नेयमेवाभिधीयते । यथा तथास्य धर्मोऽपि नव कश्चित् प्रतीयते ॥३।३।२५॥ —वाक्यपदीय । प्र० वा० ४। ४ १०३। न्यायबिन्दुटीका ३।५४। 2 ग्सु फ्यागस् ग्चिग् प रङ् थोड्स् मो न ऽ ऽजुग् गो ॥ —VT । 3 ङग गि ब्दग् जिद् यिग्–VT = वाक्यात्मत्वेन ? । 4 क्यङ्–VT = अपि ? । 5 ब्र्जुन् ठिग् गि ब्र्जोद् पर् ब्य ब चन जिन् ऽ मोगस् प–VT । (अनृताभिधेयत्वादि ?)। 6 'ऽदि निग् प' –VT । 7 ङग् दङ् ब्र्दुन् मिन् जिद् दग् ऽ VT । (वाक्यानृतत्वयो ?)।

यदि वाक्यानृतत्वयोः सर्वथा निराकरणं तर्हि उभयस्वरूपनिराकरणम् । अथ वाक्यात्मन अनृतत्वेन निराकरणं तर्हि उभयविशेषनिराकरणम् ।

× × × × × × ×

[अथ चतुर्थस्य दृष्टान्तपरिच्छेदस्य कतिपयोंऽशः]

[1]छुल् गसुम् तंगस् शेस् व्र्जोद प लस् ॥ [2]फ्योगस् क्यि छोस् नु लेगस गनस् पऽि ॥
ल्टग् म छुल् गञिस् सु ग्रगस् प ॥ द्पे यिस् रब् तु स्गोन पर् ब्येद् ॥ १ ॥

[3]तोंग् गेऽि व्स्तन व्चोस् नंमुस् सु नि फ्योगस क्यि छोस् निद् चम् गतन ळिगस् क्यि स्व्योर् व यिन् नो शेस् ग्रगस् ते । द्पेर् न ऽदि ब्यस् पऽि फ्यिर शेस् पस् स्प्र मि तंग् पर् गो बर् ब्येद प त्त बुऽो । [4]मंछन निद् ल्टग् म नि स्व्योर् व ल म व्र्जोद् पस् [5]देऽि दोन दु द्पे व्र्जोद् पर् ब्यऽो ।

ब्स्ग्रुब् ब्यऽि जेंस् सु ऽग्रो वऽि तंगस् ॥ ब्स्ग्रुब् ब्य मेद् न मेद् निद् गस् ॥
छोस् म्थुन चिग शोस् दस् ब्ल्दग् गञिस् ॥ द्पे ल रब् तु ब्स्तन पर् ब्य ॥ २ ॥

[6]जेंस् सु ऽग्रो व यमस् चद् दु ऽग्रोऽो ॥ [7]गस् शेस् प नि व्र्जोद् पर् ब्यऽो ॥ छोस् म्थुन प नि रे शिग् स्प्र मि तंग् स्ते ब्यस् पऽि फ्यिर् शेस् ब्य व त्त बुऽो ॥ [8]गल् ते गस् चोंल् व लस् ब्युर् न दे मि तंग् पर् [9]बुम् प ल सोगस् प ल मूथोंट् व दे व्शिन दु छोस् मि म्थुन प ल यङ् तंग् प चोंल् व लस् म ब्युर् बर् नम् मूखऽ ल मूथोंट् वऽि फ्यिर् [पृ० ६१][10] ।

विशेषे एव वर्तते । [पृ० १४७ A] . . . **असत्यार्थत्वेनापि** इति । असत्योऽर्थोऽभिधेयो यस्य, तद्भावोऽसत्यार्थत्वम् । स च साध्यधर्मस्य विशेष । इद चानन्तरोक्तोपपत्त्यैव प्रतीयते । **अपि**शब्दात् केनचिद् विशेषान्तरेणापि । तृतीयेयं हेतौ । ततोऽयं वाक्यार्थो भवति–अथ धर्मिविशेषेण अनित्यत्वादिना धर्मविशेषेणानृतपदाभिधेयत्वादिना च निमित्तेन तन्निराकरणद्वारेण सर्वथा प्रतिज्ञातार्थो निराक्रियते तर्हि उभयविशेषनिराकरणमिति । एवमत्र प्रतिज्ञावाक्येन अनुविधानवाक्येन च अयथार्थत्वप्रतिज्ञयापि स्वार्थ एव निराकृतो भवतीति स्ववचनविरोध प्रतिज्ञादोष [पृ० १४७ B]"–**विशाला०** ।

१ *"छुल् गसुम् गतन् छिगस् शेस् ब्शद् पऽि ॥ ऽदिर् नि फ्योगस् छोस् ब्स्तन प नि ॥ गनस् यिन् ल्टग् मऽि छुल् गञिस् नि ॥ द्पे यिस् रब् तु स्तोन् पर् ब्येद ॥ तोंग् गेऽि ब्स्तन् ब्चोस् नंमुस् नु स्व्योर् व ल गतन छिगस् शेस् ब्य बस् फ्योगस् क्यि छोस् चम् निद् ब्स्तन् प यिन ते । द्पेर न ब्यस् पऽि फ्यिर् शेस् ब्य व ऽदिर् स्प्रऽि शेस् ब्य व तोंगस् प यिन् नो ॥ मूछन निद् ल्टग् म नि स्व्योर् व ल म व्र्जोद् पऽि फ्यिर् देऽि दोन् दु द्पे व्र्जोद् पर् ब्यऽो ॥ गतन छिगस् ब्स्ग्रुब् ब्यऽि जेंस् ऽग्रो व ॥ ब्स्ग्रुब् ब्य मेद् ल मेद् प निद् ॥ द्पे गञ् ल नि ब्स्तन ब्य व ॥ दे छोस् म्थुन दस् चिग् शोस् गञिस् ॥ गस् ल शेस् व्र्जोद् पर ब्य व ल यमस् चद् ल ऽग्रो व नि जेंस् सु ऽग्रो वऽो ॥ रे शिग् छोस् मथुन् पस् नि स्प्र मि तंग् ते । चोंल् व लस् ब्युट् वऽि फ्यिर् रो ॥ गस् चोंल् व लस् ब्युट् व दे नि मि तंग् पर् मूथोंट् व स्ते । द्पेर् न बुम् प व्शिन शेस् ब्य व दस् छोस् मि म्थुन पस् तंग् प नि चोंल् व लस् ब्युङ् व म यिन् पर् मूथोङ् स्ते । [द्पेर् न ?] नम् मूखऽ शेस् ब्य व त्त बुऽो ॥"—PSV[2] पृ० १४९ A–B । २ "फ्योगस् छोस् सु नि लेगस् गनस् प"—VT पृ० २१२ B । ३ "तोंग् गेऽि ब्स्तन् ब्चोस् नंमुस् नु नि शेस् प ल सोगस् प स्ते ।" VT पृ० २१२ B । ४ "मूछन् निद् ल्टग् म नि स्व्योर् व ल मो व्र्जोद् चेस् प"—VT पृ० २१३ A । ५ "देऽि फ्यिर् देऽि दोन् दु द्पे व्र्जोद् पर् ब्य वऽो शेस् प"—VT पृ० २१३ A । ६ "यमुस् चद् ल ऽग्रो व नि जेंस् सु ऽग्रो वऽो शेस् प"—VT पृ० २१३ B । ७ "गस् ल शेस् प व्र्जोद् पर् ब्य ल शेस् प"—VT पृ० २१३ B । ८ "गस् चोंल् व लस् ऽब्युट् व दे नि शेस् प"—VT पृ० २१३ B । ९ "द्पेर् न बुम् प व्शिन् शेस् पऽो ।"—VT पृ० २१० B । १० "तंग् प नि चोंल् म यग् तु ब्युट् व म यिन् शेस् प"—VT पृ० २१३ B ।

1 'ब्देन' मिन् पऽि दोन् ते व्र्जोद् ब्य चन् नो ।–' VT = असत्यार्थाभिधेयवत् । अस्माक तु 'असत्योऽर्थोऽभिधेयो यस्य' इति विग्रहोऽत्र समीचीनो भाति । 2 "ब्देन् प मिन् पऽि दोन चन् निद् दो"–VT ।

卐 ज्ञेस् सु ऽग्रो ब' मूलम् उ तग् प निद्॥ म' ब्यम् फ्यिर् दङ् ऽजिग् पडि' फ्यिर्॥
ऽदि नि ऽब्रस् निद् म बृजोंद् प॥ ऽजुग् म' ल्दब् मि ऽदोद् ऽग्युर्॥ ४॥
रङ् ल डेस् बृनि गृतन् दग् ल॥ डेस् प ब्स्क्येद् पर् ऽदोद् प यिन्॥
फ्योगस् छोस् निद् दङ् ऽब्रेल् प दङ्॥ ब्स्गुब् ब्य बृजोंद् ब्य गृतन् दग् म्यद्॥६॥卐PS[2]

[1]त्रिरूपो हेतुरित्युक्तः पक्षधर्मे तु संस्थितः ।
रूढेः रूपद्वयं शेषं दृष्टान्तेन प्रदर्श्यते ॥ ४ । १ ॥

[4]तर्कशास्त्रेषु प्रयोगे पक्षधर्ममात्रमेव हेतुरिति रूढम्। यथा कृतकत्वादित्यत्र 'शब्दस्य' इति प्रतीयते। शेषं लक्षणद्वयं प्रयोगेऽनुक्तमिति तदर्थं दृष्टान्तो वक्तव्यः ।

*[7]साध्येनानुगमो हेतोः साध्याभावे च नास्तिता ।
ख्याप्यते यत्र दृष्टान्तः स साधर्म्येतरो द्विधा ॥ ४।२ ॥*

---

१ दृश्यतां टिपृ० ७१ टि० २। वादन्यायवृत्ति पृ० ९२। "अत्र तादात्म्य-तदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धकथनाय हेतोः सजातीयविजातीययोः सत्त्वासत्त्वे दृष्टान्तप्रयोगेण वक्तव्ये। तयोश्च हेतुलक्षणादेव सिद्धिः। तस्माद् दृष्टान्तलक्षणं निरर्थकमित्यत आह-त्रिरूपो हेतुरित्यादि। यद्यपि त्रिरूपो हेतुरित्युक्तः तथापि प्रयोगकाले पक्षधर्मे तु संस्थितः। [निङि स्प्र VT =] तुशब्दोऽवधारणे पक्षधर्ममात्रस्वरूपेण स्थितो हेतुवचनेन दर्श्यते। पक्षधर्ममात्रमुच्यत इत्यर्थः। कुत इत्याह-रूढेरिति। किं पुनस्तया रूढ्या क्रियत इत्याह-तर्कशास्त्रेष्वित्यादि। निमित्तार्थे सप्तमी। [रिगस् प मो ल सोगस् प नंमस् सु फ्योगस् छोस् चम् गृतन् छिगस् सु बृशद् दे VT=] न्यायसूत्रादिषु पक्षधर्ममात्रं हेतावुक्तम्। तस्मात् तद्द्वारेण लोकप्रयोगेऽपि पक्षधर्ममात्र [गृतन् छिगस् निद् रब् तु ग्रगस् मो VT =] हेतुत्वेन प्रसिद्धम्। एवं तत्र हेतुवचनमुक्तम्। [पृ २१२ B] तामेव रूढिं दर्शयन्नाह-यथेत्यादि। शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्' इत्युक्ते कृतकत्वमात्र(मत्र) हेतुः पक्षीकृतशब्दस्य धर्म इत्येतन्मात्रं प्रतीयते इत्यर्थः। शेषं लक्षणद्वयं प्रयोगेऽनुक्तमिति, 'कृतकत्वात्' इत्यनेनैव सपक्षविपक्षयोरस्य सत्त्वासत्त्वे नोक्ते। तस्मात् तदर्थं दृष्टान्तो वक्तव्य इति 'दृष्टान्तेन प्रदर्श्यते' इति च वाच्यवाचकयोरभेदोपचारे[ण] एवमुक्तम्। अन्यथा 'यत्र इति अभिधेये' इति वचनात् अर्थस्यैव दृष्टान्तत्वम्, अर्थेन च प्रदर्शनं नास्तीति अयुक्तं स्यात्। तस्मादभेदोपचाराद् दृष्टान्ताभिधानस्य वचनमत्र दृष्टान्तशब्देनोच्यते [पृ० २१३ A]। -विशाला०। २ दृश्यतां टिपृ० ७५ टि० २। ३ रूढेः इति पञ्चम्यन्तं पदम्। 'रूढेः पक्षधर्मे तु संस्थितः' इत्यन्वयः। ४ तत्त्वसंग्रहपञ्जिका पृ ४१९।५ 'तर्कशास्त्रेषु प्रयोगे हेतुवचनेन पक्षधर्मत्वमात्रं दर्श्यते, यथा कृतकत्वादित्यत्र 'शब्दस्य' इति प्रतीयते' इत्यपि PSV[1] अनुसारेण संस्कृतेऽनुवादः स्यादत्र। *-* PSV[2] अनुसारेणायं संस्कृतेऽनुवादः। यद्यपि क्वचित् PSV[2] अपेक्षया PSV[1] समीचीनतरः। तथापि PSV[1] अपेक्षया PSV[2] एव बहुषु स्थानेषु समीचीनतर इत्यस्माकमनुभव इति ध्येयम्। PSV[1] मध्ये तत्र किञ्चिदसङ्गतो भोटभाषानुवादः प्रतीयते, तदनुसारेण तु तर्कशास्त्रेषु पक्षधर्मत्वमात्रस्य हेतोः प्रयोग इति प्रसिद्धम्। यथा इदं कृतकत्वादिति 'शब्दोऽनित्यः गम्यते' इत्यनुवादः संस्कृते स्यात्। ६ 'दृष्टान्त उच्यते' इत्यपि पाठः स्यादत्र। ७ *-* दृश्यतां टिपृ० ७१ टि० ५। दशवैकालिकसूत्रहारिभद्रीवृत्ति पृ० ३४ B। न्यायमुख ॥ ११॥ "साध्येनानुगमो हेतोरिति साध्यशब्दोऽत्र जिज्ञासितधर्ममात्रे वर्तते। अनुगमो हेतोरन्वयः। यत्र हेतोर्भावस्तत्र साध्यस्य भाव एव, न तदभावमात्रम्। साध्येनैव हेतोः, न हेतुना साध्यस्य। साध्याभावे नास्तिता साध्याभावे एव हेतोर्नास्तिता, न हेत्वभावे साध्यस्य। नास्तिता इति 'नास्ति'शब्दोऽयं वाक्यस्य शब्दान्तरमभावप्रतिपादकं द्रष्टव्यम्। स साधर्म्येतर इति, साधर्म्यदृष्टान्तो वैधर्म्यदृष्टान्तश्चेति शुक्लपटादिवद् विशेषणसमासः। अथवा साधर्म्येण इतरेण च सहित इति ससाधर्म्येतर इति बहुव्रीहिः। अस्मिन् व्याख्याने 'सः' इति सर्वनामपदमनुक्तमपि [पृ २१३ A] यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद् लभ्यते। सर्वत्र गमनमनुगम इत्यनेन अनुशब्दोऽत्र व्याप्तिद्योतक इति दर्शित। यत्रेति अभिधेये इत्यनेन अर्थस्य दृष्टान्तत्वमाह। पदं तु तद्वाचकत्वाद् उपचरितो दृष्टान्तः। इदं च 'दृष्टान्तेन प्रदर्श्यते' इत्यनेन पूर्वमत्र [टिपृ० १३३ पं० २०] आवेदितम्। यद् प्रयत्नजं तदनित्यमिति हिशब्दो वीप्सार्थः। एवं हि हेतोः सपक्ष एव सत्त्वमुक्तं भवति यदि यद् यत् प्रयत्नानन्तरीयकं तत् तदनित्यमिति दर्श्यते। नान्यथा। एवं सर्वोपसंहारेण व्याप्तिं दर्शयित्वा स्वालक्षण्यसंदर्शने उदाहरति—यथा घट इति। नित्यमप्रयत्नानन्तरीयकमिति नित्यशब्देनानित्यत्वाभावो लभ्यते। एवं हि हेतोः साध्याभावे नास्तित्वमुक्तं भवति। न प्रकारान्तरेण [पृ० २१३ B]। —विशाला०। ८ जिनेन्द्रबुद्धिभाष्यतात्पर्यवृत्ति पृ० १४ B। न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका १।१।३७।

सर्वत्र गमनमनुगमः । यत्रेति अभिधेये । [1]साधर्म्येण तावत् शब्दोऽनित्यः प्रयत्नजत्वात् । यत प्रयत्नज तद्धि अनित्यं दृष्टं यथा घट इति । वैधर्म्येण नित्यमप्रयत्नानन्तरीयक दृष्टम् [यथा] आकाशमिति ।* ......

[2]अन्यच्च —

[3]नित्यताऽकृतकत्वेन नाशित्वाद्वा(च्चा ?)त्र कार्यता ।
स्यादनुक्ता कृताऽव्यापिताऽनिष्टा च समान्वये ॥ ४।८ ॥ ...
[4]स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनेच्छया ।
पक्षधर्मत्वसम्बन्धसाध्योक्तेरन्यवर्जनम् ॥ ४।९ ॥

× × × × × × × × × × × × × × ×

॥ इति भोटभाषानुवादात संस्कृते परिवर्तितस्य सवृत्तिकस्य **प्रमाणसमुच्चयस्य** कतिपयोंऽशः ॥

अथ पूर्ववद् नयचक्रवृत्तिटिप्पणान्यारभ्यन्ते—

पृ० ६२ पं० २२. **वर्णो गन्धो रसः** । कारिकेयं [6]तामीलभाषानिबद्धे नीलकेशीनामके प्राचीने जैनग्रन्थेऽप्युद्धृता।

पृ० ६३ पं० २५ **गुणानां परमं रूपं** । कारिकेयं [7]दिङ्नागेनापि प्रमाणसमुच्चये पञ्चमेऽपोहपरिच्छेद उद्धृता । तस्याश्चेदृशो भोटभाषानुवादः—

[8]ख्योद् चग् गि' यद् । योन तन नेमुस् श्रिय रट् ब्शिन् म्थोग् ॥ म्थोर् वडि लम् दु स्नो व मिन ॥
म्थोद् वडि लम् दु गद् ग्युर् व ॥ दे नि [9]स्गु म रत दुर् गसोग् ॥"–PS[2] । PSV[2] पृ० १६९ A ।

पृ० ७३ पं० १३ पृ० ८२ पं० १६ **विजानाति न विज्ञानं** [10]। [11]आर्यदेवविरचितचतुःशतकस्य पञ्चविंशतिश्लोकपरिमितेषु षोडशसु प्रकरणेषु एकादशे प्रकरणेऽष्टादशीय कारिका । ईदृशश्च तस्या भोटभाषानुवादः—

---

१ PSV[1] अनुसारेणायं संस्कृतेऽनुवादः । २ तुलना न्यायप्रवेशक पृ० १-२ । टिपृ० ७५ पं० ४-६ । ✻ * "साधर्म्यं तावत् शब्दोऽनित्य कृतकत्वादिति । यद् यद् प्रयत्नज तदनित्य घटादौ दृष्टम् । एव वैधर्म्येऽपि नित्यमप्रयत्नजमाकाशादौ दृष्टत्वात्"—PSV[1] । ३ दिङ्नागरचितां वृत्तिं विना केवलमेवेद कारिकाद्वयमत्रास्माभिरुपन्यस्यत इति ध्येयम् । "विपरीतप्रयोगेण [न] केवलं हेतोर्व्याप्तिर्दर्शयितु न शक्यते, दोषान्तरमप्यापद्यत इति दर्शयन्नाह–**अन्यच्चे**त्यादि । अकृतकत्वेन नित्यता अनुक्ता कृता स्यात्, नाशित्वाच्च कार्यतापि अनुक्ता कृता स्यात्, अव्यापिता चानिष्टा स्यादत्र समान्वये इति पदाना सम्बन्धो योज्य । **चकार** समुच्चयार्थं । **कार्यते**ति कृतता । **अनुक्ते**ति अप्रतिज्ञाता । **कृते**ति साधिता ।"–**विशाला०** पृ० २१५ A । ४ न्यायमुख ॥ १२ ॥ **वादन्यायवृत्ति.** पृ० ६ । ५ न्यायमुख ॥ १३ ॥ **वादन्यायवृत्ति.** पृ० ६६ । **प्र० वार्तिकालं०** पृ० ४८७ । **विशेषावश्यकभाष्यकोट्यार्यवृत्ति** । ६ दृश्यता Gleanings from the **नीलकेशी,** Journal of the Oriental Institute, Tirupati Vol II by N Aiyaswami Shastri । ७ प्राय सर्वमपि साङ्ख्यमत **दिङ्नागेन वार्षगणतन्त्रं** मनसि निधाय वर्णितमत इयमपि कारिका **दिङ्नागेन वार्षगणतन्त्रा**दुद्धृतेति भाति । दृश्यतां टिपृ० ३९ पं० ११–टिपृ० ४० पं० ८ । ८ 'भवतामपि–गुणाना परम रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तद् मायेव सुतुच्छकम् ॥' इति **संस्कृतमस्य** । "**भवतामपी**त्यादि । **गुणानां परमं रूपं** यत् साम्यावस्थायामविपरीत स्वरूपं तदतीन्द्रियत्वाद् दृष्टिविषयभाव नोपयाति । व्यक्तावस्थाया तेषा रूप **तद् मायेव सुतुच्छकम्** स्वरूपेण शून्यमित्यर्थ । ततश्च भवतापि भावस्य तत्त्वतो निर्निमित्त एव व्यपदेशोऽभ्युपगम्यते इति समानो वाद ।"–**विशाला०** पृ० २८३ B । ९ "शिन् तु ग्सोग्"–VT. पृ० २८३ B । "शिन् तु स्तोङ्"–PSV[1] । १० दृश्यता टिपृ० ४५ पं० ३-७ । ११ सम्प्रति अस्य **चीन-भोटभाषानुवादावे**वोपलभ्येते । अन्त्यस्य प्रकरणाष्टकस्य [२०१–४०० कारिकाणा] तदुपरि **धर्मपालविरचितवृत्ते**श्च चीनभाषानुवादो यथाक्रमं B Nanjio's Catalogue of the Chinese Translation of the Buddhist Tripitakas, Oxford University 1883 अनुसारेण No 1189-1198 मध्ये उपलभ्यते । समग्रग्रन्थस्य भोटभाषानुवादो 'ब्स्तन् ऽग्युर् म्दो'वर्गे छ [=१८] पुटे विद्यते D ed No 3846. पृ० १–१८ A । P. ed पृ० १-२० B । एतदुपरि **चन्द्रकीर्तिविरचिता** टीका 'ब्स्तन् ऽग्युर् म्दो'वर्गे य[=२८]पुटे विद्यते D ed. No 3865 पृ० ३० B–२३९ A । P ed पृ० ३३ B–२७३ B । अन्तिमस्य प्रकरणाष्टकस्य **भोटत** P. L.

जि ल्तर् नम् शेस् गृचिग् गिस् नि ॥ दोन् गृञिस् नॅम् पर् मि नेस् प ॥
दे बृगिल् नम् पर् शेस् गृञिस् क्यिस् ॥ दोन् गृचिग् नॅम् पर् मि शेस् सो ॥ २६८ ॥

पृ० ९१ प० १७ विषयो हि नाम । दिङ्नागविरचिताया आलम्बनपरीक्षावृत्तेर्वाक्यमेतदुद्धृतमत्र तथाहि ।–

गन् दग् मिग् ल सोगस् पडि नॅम् पर् शेस् पडि दमिगस् प फ्यि रोल् ग्यि दोन् यिन् पर् ऽदोद् प दे भो दग् नि देडि र्ग्यु यिन् पडि फ्यिर् दुल् फ र‍ब् दग् यिन् पऽम् ऽेर् स्नङ् बडि शस् प स्क्येस् पडि फ्यिर् दे ऽदुस् प यिन् पर् ताग् प्रन् न । दे ऊ र गिग्

द्बङ् पो नम् पर् रिग् पडि र्ग्यु ॥ फ र‍ब् र्दुल् दग् यिन् मोद् क्यि ॥
देर् मि स्नङ् फ्यिर् दडि युल् नि ॥ र्दुल् फ्रन् म यिन् द्बङ् पो बृञिन् ॥ १ ॥

युल् नेस् ब्य ब नि शेस् पस् रङ् गि ङो बो ङेस् पर् ऽजिन् प यिन् ते । दडि नॅम् पर् स्क्येस् पडि फ्यिर् रो ॥ दुल् फ मो दग् नि देडि र्ग्युं जिद् यिन् दु सिन् क्यङ् दे ल्त म यिन् ते द्बङ् पो बृञिन् नो ॥ दे ल्तर् न रे शिग् दुल् फ मो दग् दमिगस् प म यिन् नो ॥–D ed पृ० ८६ A B ।

ये चक्षुरादिविज्ञानस्य बाह्याऽर्थ आलम्बनमिति मन्यन्ते ते तत्कारणत्वात् परमाणून् तदाभासज्ञानजनकत्वात् तत्सञ्चयं वा कल्पयेयु ? तत्र तावत्—

यद्यपीन्द्रियविज्ञप्ते कारणं परमाणव ।
अतदाभतया नास्या अक्षवद् विषयोऽणव ॥ १ ॥

विषयो हि नाम यस्य ज्ञानेन स्वभावोऽवधार्यते तदाकारोत्पत्ते । परमाणव तत्कारणत्वेऽपि न तथा इन्द्रियवत् । एव तावत् परमाणवो नालम्बनम् ।

Vaidyaरचित संस्कृतानुवाद ' Études sur Āryadeva et son Catuhsataka Paris France, 1923 इत्यस्मिन् ग्रन्थे वर्तते तत्र विज्ञानाति यथा नैक विज्ञान वस्तुयुग्मकम् । विजानाति तथा नैक वस्तु विज्ञानयुग्मकम् ॥ ११।१८ ॥ इत्यमनूदितमिति ध्येयम् । चन्द्रकीर्तिप्रणीतवृत्तिसहितस्य अन्तिमस्य प्रकरणाष्टकस्य भोटत संस्कृते विधुशेखर भट्टाचार्यरचितोऽनुवाद Visva Bharati Series No 2-मध्ये विद्यते तत्र चन्द्रोऽनुवाद –' नास्ति स्थिति नास्ति । तथाहि – विज्ञानानि यथा नार्थद्वय विज्ञानमेकम् । विज्ञानद्वयमेव न विजानात्यर्थमेकम् ॥ ११।१८ ॥ यदि भावस्य स्थितिर्नाम भवेत् तदा क्रमेणानकविज्ञानज्ञेयो भवेत् । नास्य सम्भावनापि ज्ञानज्ञेययोर्द्वया क्षणिकत्वात् यदेकेन गृहीत न तदन्येन ग्रहीतु शक्यते । तस्मान्नास्ति स्थिति । स्थितेरभावाच्च न भावो नापि काल इति सिद्धम् । –चतु शतक वृत्ति पृ० १२७ । वस्तुतस्तु विजानाति न विज्ञानमेकमर्थद्वय यथा । एकमर्थ विजानानि न विज्ञानद्वय तथा ॥ इत्येव यथा नयचक्रवृत्तौ [पृ० ७३ प० १३ पृ० ८२ प १६] इय कारिकोद्धृता तथैव चतु शतके पाठ आसीदिति ध्येयम् ।

१ अस्या मूलसंस्कृत सम्प्रति नोपलभ्यते प्राचीनौ चीन भोटभाषानुवादौ एवत्र प्राप्येते । द्रष्टव्या टिपृ० ५५ टि० ४ । अत्र Prof Dr E Frauwallner इत्येभिमहाशयैर्विहिता सूचनाप्यनुसन्धेया–

As to the Ālambanaparīksā the following editions might be mentioned Susumu Yamaguchi Examen de l objet de la connaissance, Journal Asiatique 1929 [Tibetan and Chinese texts with translation and notes] E Frauwallner Dignagas Ālambanaparīksā, Wiener Zeitschrift fur die Kunde des Morgenlandes Bd 37/1930 [Tibetan text with translation and notes] further Susumu Yamaguchi has added the Tibetan text and a translation into Sanskrit to his studies in Vijnaptimatrata, which were published in Japanese (Kyoto 1953)

२ गद् गि' ५ ed मध्ये नास्ति । ३ प्र० वार्तिकाल० पृ० ३३६ । ४ * * नयचक्रवृत्ति पृ० ९१ पं० १७ ।

पृ० ९३ पं० १. **रज्ज्वां सर्प इति ज्ञानं** ··। आचार्यश्रीमल्लवादिक्षमाश्रमणैरियं कारिका हस्तवालप्रकरणादुद्धृता प्रतीयते। अस्या भोटभाषानुवाद इत्थमुपलभ्यते—

थग् प ल नि स्प्रुल् स्त्रम् ऽजिन ॥ थग्' प मूथोर् न दोन मेद् दो ॥
दे' यि छ मूथोर् दे ल' गद् ॥ स्प्रुल् ब्लृगिन' शेस प ऽख्रुल् प यिन ॥ १ ॥

6 पृ० ३१३ पं० ९. **प्रागनुमानं सप्रभेदं व्याख्याय तेषां यदेतत्** । इत आरभ्य पृ० ३२३ पर्यन्त वर्णितं

---

१ सम्प्रति सवृत्तिकोऽयं ग्रन्थो मूलसंस्कृते नोपलभ्यते । चीनभोटभाषानुसारेण षट्कारिकात्मकोऽयं मूलग्रन्थः । वृत्तावपि सर्वा कारिका प्रतीकरूपेणान्तर्गता एवेति मुद्रितेषु लिखितेषु च वृत्त्यनुवादेष्वपि षडेव कारिका लभ्यन्ते । 'बृत्तन् ऽग्युर् मृदो'वर्गे चपुटान्तर्गते ग्रन्थे तु सप्तम्यपि कारिका वृत्त्या सह उपलभ्यते तथापि सा पश्चात् प्रक्षिप्तेति भाति । P. Cordier's Catalogue du fonds Tibetain de la Bibliotheque Nationale, Troisieme partie, 1915 इत्यत्र छ [=१८]पुटवर्णनानुसारेण अस्य Tibetan index मध्ये 'मध्यमकहस्तवाल' इति नामदर्शनादयं मध्यमकसम्प्रदायस्य ग्रन्थ प्रतीयते । एतद्ग्रन्थाध्ययनादपि प्रतीयत एवैतत । [557–569 A D वर्षमध्ये] **परमार्थ**विहित [703 A D वर्षे] **इत्सिंग**विहितश्च **चीनभाषानुवाद** B Nanjio's Catalogue अनुसारेण यथाक्रमं Nos 1255–6 मध्ये उपलभ्यते । अस्य द्वौ भोटभाषानुवादौ, [1000 A D निकटवर्षे] एकः श्रद्धाकरवर्मरचित, अपरस्तु **दानशील**रचित । उभयमपि परस्पर समानप्रायमेव । तत्र श्रद्धाकरवर्मकृतौ मूलवृत्त्यनुवादौ 'बृत्तन ऽग्युर्' मृदो'वर्गे च [=१७] पुटे यथाक्रमं स्त । D ed No. 3844 पृ० २८२ B, No 3845 पृ० २८२ B–२८४ A । N.ed पृ० ३१२ B, पृ० ३१२ B–३१५ A । P. ed पृ० ३१९ A-B, पृ० ३१९ B–३२१ । दानशीलरचितौ तु छ [=१८]पुटे स्त —D ed No 3848 पृ० २२ B, No 3849 पृ० २२ B–२८ A । N ed. पृ० २१ B, पृ० २१ B–२३ A । P ed पृ० २८ A–B, पृ० २८ B–२९ B । अस्य ग्रन्थस्य किमभिधानमासीदिति निश्चेतु न पार्यते । भोटानुवादेषु P ed N ed. मध्येऽनयोर्मूलवृत्त्यो '**हस्तवालप्रकरणकारिका, हस्तवालप्रकरणवृत्ति**' इति च यथाक्रमं सस्कृत नामोपलभ्यते । C. ed D ed मध्ये तु चपुटे '**हस्तपास(श?)प्रकरण, हस्तपास(श?)प्रकरणवृत्ति**' इति नाम दृश्यते, छपुटे तु '**हस्ताभावप्रकरण, हस्ताभावप्रकरणवृत्ति**' इति दृश्यते । C ed D ed, N. ed P ed मध्ये **चपुटे मूलनाम्नो वृत्तिनाम्नश्च** यथाक्रमं ' छ शस् क्यि यन् लग् चेन्' व्य बडि रब् तु ब्येद् प ।, छ शस् क्यि' यन् लग्' चेस्' व्य बडि रब्' तु' ब्येद् पडि ऽग्रेल् प ।' इति **भोटानुवाद** उपलभ्यते । छपुटे तु 'रब्' तु' ब्येद् प लग्' पडि छद्' क्यि' छिग् लेऽउर् ब्यस् प ।, लग्' पडि' छद् क्यि ऽग्रेल् प ।' इति भोटानुवादो दृश्यते । चीनभाषानुवादेषु सस्कृतनाम्नो न निर्देश , तथापि कथञ्चित् **चीननामसाहाय्येन** 'हस्तवालप्रकरण' इति नाम सम्भाव्यते। अनयो क कर्ता इत्यत्रापि विप्रतिपत्ति । **दिङ्नागग्रन्थाना** चीनभाषानुवादेषु एतद्भाषानुवादस्यान्तर्गतत्वा**च्चीन**परम्परानुसारेण उभयोरपि दिङ्नागो रचयिता । भोटग्रन्थेषु तु सर्वत्र उभयोरपि **आर्यदेवः** कर्ता इति स्पष्टमेव निर्दिष्टम् । **दिङ्नाग**रचितमिद हस्तवालप्रकरणं मनसि निधाय 'अद्रे शृङ्गं हरति पवन किस्विदित्युन्मुखीभिर्दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभि । स्थानादस्मात् सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुख ख **दिङ्नागानां** पथि परिहरन् स्थूल**हस्तावलेपान्** ॥ १४ ॥' इत्येवं मेघदूते **कालिदासेन** अर्थान्तर ध्वनयतोक्तमित्यपि केचिदैतिह्यान्वेषका विद्वांसस्तर्कयन्ति। अन्ये तु विद्वास ईदृशमर्थान्तरकल्पनमत्र कालिदासवचने सर्वथैवानुचितमिति प्रतिपादयन्तीत्यपि ध्येयमत्र । उपरि निर्दिष्टाश्चीन-भोटानुवादा काष्ठमुद्रित हस्तलिखितग्रन्थान्तर्गतपाठभेदै सह महता परिश्रमेण सम्पाद्य Journal of the Royal Asiatic Society, London, April, 1918 इत्यत्र Dr F W Thomas इत्येभि प्रकाशिता । तत्र च स्वीय सस्कृतानुवाद आङ्ग्लभाषानुवादश्चापि तैर्योजित । तत्र सस्कृते तै प्रथमा कारिका इत्थमनूदिता–'रज्वा सर्पमनस्कारो रज्जु दृष्ट्वा निरर्थक । तदंशान् वीक्ष्य तत्रापि भ्रान्ता बुद्धिरहाविव ।'–पृ० २८७। वस्तुतस्तु '**रज्ज्वां सर्प इति ज्ञानं रज्जुदृष्टावनर्थकम् । तदंशदृष्टौ तत्रापि सर्पवद् रज्जुविभ्रम.**।' इत्येव यथा **नयचक्रे** [पृ० ९३ प० १] इयं कारिकोद्धृता तथैव मूलसंस्कृतग्रन्थ आसीदिति ध्येयम्।

मत्वें साख्यमत वार्षगणतन्त्र मनसि निधायात्र नयचक्रवृत्तिकृतोपन्यस्तम्। तत्र कश्चिद् वार्षगणतन्त्रस्य पाठोऽक्षरश इहोपन्यस्त कश्चित्तु मतिप्योपन्यस्त इति ध्येयम्। प्रमाणसमुच्चयवृत्ति विशालामलवतीटीकयोर्दिङ्नागजिनेन्द्रबुद्धिभ्याम पीदमेव वार्षगण्यप्रणीत शास्त्रमवलम्ब्य साख्यमतमुपन्यस्तम्। तथा च तदनुसारेण वार्षगण्यप्रणीते तन्त्रेऽत्र निम्नलिखित पाठ आसीदिति भाति—

"अनुमान द्विविधम्—विशेषतो दृष्ट सामान्यतो दृष्ट च। *तत्र विशेषतो दृष्ट यदा अग्निधूमयो सम्बन्ध दृष्ट्वा तेनैव धूमेन तस्यैव अग्ने पुन पुन 'स एवायमग्नि' इति अग्निच प्रतिपद्यते। सामान्यतो दृष्ट यत् क्वचिद् धूमाग्न्यो सम्बन्ध दृष्ट्वा उत्तरकाल धूममात्रदर्शनादग्निसामान्यमनुमिमीते। इद च सामान्यतो दृष्टमनुमान द्विविधम् पूर्ववत् शेषवच्च। तत्र पूर्ववद् यदा अविकल कारण दृष्ट्वा कार्यस्य भविष्यत्त्व प्रतिपद्यते यथा मेघ भूत दृष्ट्वा वृष्टेर्भविष्यत्त्वम्। शेषवद् यदा कार्य सिद्ध दृष्ट्वा कारणस्य भूतत्व प्रतिपद्यते यथा नद्या नवीन जलोपचय दृष्ट्वा मेघस्य भूतत्वम्। तत्र पूर्ववदनुमान व्यभिचारि। शेषवद् सविचारमव्यभिचारि। 'तेषा यदेतत् सामान्यतो दृष्टमनुमान शेषवदेष हेतुरतीन्द्रियाणा भावाना समधिगमे*।

---

१ पृ० ३२४ प० ११ इत्यत्र यद्यपि नयचक्रवृत्तिकृता वार्षगणतन्त्रस्यैव निर्देशो विहितस्तथापि वार्षगणतन्त्रस्यैव षष्टितन्त्रमिति सज्ञा [दृश्यतां टिपृ० ४० प० १-५] आसीदिति Prof Dr E Frauwallner [Head Indological Institute University of Vienna, Austria] इत्येतेषां महाशयानामभिप्राय । अस्मिश्च विषये तैर्महानुभावैर्महता विस्तरेण लिखित Die Erkenntnislehre des klassischen Sāmkhya Systems [=The Epestemology of The Classical Samkhya System] इति निबन्ध एव द्रष्टव्य । अस्मिश्च निबन्ध सस्कृत चीन भोटादिभाषानिबद्धानेकप्राचीनार्वाचीनग्रन्थानुसारेण प्राचीन साख्यमतमपि महता विस्तरेण तैरुपदर्शित मस्ति। अय च निबन्ध Wiener Zeitschrift für die Kunde Süd und Ostasiens, Band II 1958 इत्यत्र मुद्रितोऽस्ति। २ यच्चोक्तम् 'अनुमान द्विविधम्–सामान्यतो दृष्ट विशेषतो दृष्ट च' इति तत्र विशेषतो दृष्ट तावदनुमानमेव नेष्यत । इति प्रमाणसमुच्चयवृत्तौ द्वितीयपरिच्छेदे PSV[1] N ed पृ० ४१B PSV[2] पृ १२३ B। अत परम् * * एतच्चिह्नान्तर्गत पाठोऽस्माभिर्विशालामलवत्या भोटभाषानुवादानुसारेणेह सस्कृतीकृत्योपन्यस्त । स चेत्थ भोटभाषानुवाद —

'दे ल ख्यद् पर् मृयोङ् ब नि। गङ् गि छे मे दङ् दु ब ऽब्रेल् प मृयोङ् नस्। दु ब द ग्यो नस् मे द स्रो नडि यन् दङ् यङ् दु मे दे स्रो न ऽदिऽो ग्नस् योद् प निद् दु र्तोगस् पर् ब्येद् पऽो॥ स्प्यिर् मृयोङ् ब नि गङ् ऽगऽ शिग् तु दु ब दङ् मे ऽब्रेल् पर् मृयोङ् नस्। दुस् फ्यिस् दु ब चम् [पृ० १२४ A] मृयोङ् ब नम् मे स्प्यिर् जेस् सु द्पोग् पऽो॥ स्प्यिर् मृयोङ् बडि जेस् सु द्पग् प ऽदि यन् नम् प ग्निस् ते। स्ङ म दङ् ल्दन् प दङ् ल्हग् म दङ् ल्दन् पऽो॥ दे ल स्ङ म दङ् ल्दन् प नि गङ् गि छे र्ग्यु म छङ् ब मेद् प मृयोङ् नस् ऽब्रस् बु ऽब्युङ् बर् ऽग्युर् प निद् र्तोगस् प स्ते। द्पेर् न स्प्रिन् ब्युङ् ब मृयोङ् नग् छर् प ऽब्युङ् बर् ऽग्युर् प निद् ल्त बुऽो॥ ल्हग् म दङ् ल्दन् प नि गङ् गि छे ऽब्रस् बु ग्रुब् प मृयोङ् नस् र्ग्यु ब्युङ् ब्निन् प निद् र्तोगस् प स्ते। द्पेर् न छु क्लुङ् ग्सर् दु छु ऽफेल् ब मृयोङ् नस् स्प्रिन् ब्युङ् ब निद् ल्त बुऽो॥ दे ल स्ङ म दङ् ल्दन् पडि जेस् सु द्पग् प नि ऽख्रुल् पऽो॥ ल्हग् म दङ् ल्दन् प नेस् पर् द्प्यद् प दङ् बचस् प नि ऽख्रुल् प मेद् पऽो॥ दे नेमस् क्यिस् (क्यि) गन् ऽदि स्प्यिर् मृयोङ् बडि जेस् सु द्पग् प ल्हग् म दङ् ल्दन् प ऽदि नि दबङ् पो ल्स् ऽदस् पडि द्ङोस् पो नेमस् यङ् दग् पर् र्तोगस् पर् ब्येद् पऽो ऽऽो॥ [पृ १२४]"—VT।

३ इदमपि सामान्यतो (?)। ४ सामान्यतो दृष्ट द्विविधम्'—PSV[1] पृ० N ed ४१ B PSV[2] पृ० १२३। ५ तुलना–युक्तिदीपिका पृ० ४४। ६ कार्योत्पत्ति (?)। ७ पूर्ववदनुमान व्यभिचारि'—PSV[1] N ed पृ० ४२ A PSV[2] पृ० १२४ A। ८ तेषा यदेतत् सामान्यतो दृष्ट शेषवदेष हेतुरतीन्द्रियाणां भावानां समधिगम —नयचक्रवृत्ति पृ ३१३ प० ६। दृश्यतां टिपृ० ८८ प० १३-१६। ९ PSV[1] N ed पृ० ४२ B PSV[2] पृ० १२४। १० "गतन् ग्निस् विन् नो -PSV[2] VT पृ० १९३ A। ल्दन् दो"—PSV[2]।

पृ० ३१३ पं० १०.–पृ० ३१४ पं० ४. **तस्य प्रयोगो निगमनमिति** । तुलना—

"कापिलानां परप्रतिपादनार्थं [1]'वीतावीतविशेषाद् द्विविधमनुमानम् । तत्र **वीतस्य वाक्यभावः पञ्चप्रदेशः** प्रतिज्ञादिभेदात्[2] । ·· [3]**परिशेषादावीतसिद्धिः । परपक्षप्रतिषेधेन स्वपक्षपरिग्रहक्रिया आवीत** [इति PSV^{1}] । **प्रतिषेधस्य** [च PSV^{2}] **उपायद्वयम्–लोकदृष्टान्तविरोधोऽभ्युपगमहानिश्च**[4] [इति PSV^{1}] ।"–इति प्रमाणसमुच्चयवृत्तौ तृतीये परार्थानुमानपरिच्छेदे ।

पृ० ३१४ पं० ४. **वीतस्य [आवीतस्य] वा भावः** । वस्तुतोऽत्र **'वीतस्य वाक्यभावः'** इत्येव शुद्धः पाठ । दृश्यतां टिपृ० १३८ पं० २ ।

पृ० ३१४ पं० ४–५. **साध्यावधारणं ··पसंहारः** । तुलना–टिपृ० १३९ पं० १९–२७ ।

पृ० ३१४ पं० ७–१४. **प्रयोगश्च दृष्टान्तबाहुल्यम्** । नयचक्रवृत्तिकृता सर्वमिदं साङ्ख्यमतं **वार्षगणतन्त्रं** मनसि निधायाभिहितम् । तथा च नयचक्रवृत्ति-PSV-VT युक्तिदीपिकाद्यनुसारेण निम्नलिखितः पाठो **वार्षगणे तन्त्रे**ऽत्र आसीदिति सम्भाव्यते–

"प्रयोगश्च–[5]अस्ति प्रधानम्, भेदानामन्वयदर्शनात । [6]आध्यात्मिकानां भेदानां कार्यका(क ?)रणात्मकानामेक-

---

१ "**वीतावीतविशेषा**दिति । तत्रोक्तम्–**यदेतत् सामान्यतो दृष्टमनुमानं शेषवदेव हेतुरतीन्द्रियाणां भावानां समधिगमे । तस्य प्रयोगोपचारविशेषाद् द्वैविध्यम्–वीत आवीत** इति । प्रयोगोपचारविशेषात् [स्त्योर् व तोंगुस् पडि ब्ये ब्रग् लस् VT =] प्रयोगप्रतिपादनविशेषादित्यर्थः । अन्ये वदन्ति–प्रयोग परप्रतिपादनकाल, 'प्रयुज्यतेऽत्र' इति कृत्वा । उपचारोऽभिधानम् । तद्विशेषाद् द्वैविध्यम्, न पुनरर्थविभाग । क्वचित् स्वपक्षसाधनाय हेतुरुपादीयते क्वचित् परपक्षप्रतिषेधाय । प्रतिपाद्यार्थस्य विशेषेण अधिगति **वीतः** । परपक्षनिषेधेन स एवार्थ आयातीति **आवीतः** । **तत्र वीतस्य वाक्यभाव** इति वाक्यभावो वाक्यस्वभावो वाक्यस्वरूपम् । **पञ्चप्रदेश** इति पञ्चावयव । **प्रतिज्ञादिभेदा**दिति 'आदि'शब्दो हेतुदृष्टान्तोपसहारनिगमनसङ्ग्रहार्थम् ।"–**विशाला०** पृ० १९३ । २ "स्क्येद् स्क्य व नैमुस् न रे गृशन् ल वृस्तन पर् ब्य वडि दोन दु नैम् पर् ल्दन् प दट् वृसल् ते ङोग्स् पडि ब्ये ब्रग् गिस् जेंस् सु दुपग् प नैम् प गृजिस् ते । दे लस् नैम् पर् ल्दन् पडि टग् गि दूटोस् पोडि युल् नैम् प ल्ट न्ते । दम् वृचऽ व ल सोगस् पडि द्व्ये वस् सो शेस् सेर् रो ॥"–PSV^{1} N ed. पृ० ५९ b । "सेर् स्क्य व नैमुस् क्यट् गृशन् तोंगुस् पडि दोन् गिय जेंस् सु दुपग् प नि वृसल् ते ङोग्स् प दट् ल्दन पडि स्त्यद् पर् गियस् नैम् प गृजिस् सो ॥ दे ल ल्दन् प नि दम् वृचऽ व ल सोगस् पडि स्त्यद् पर् गियग् टग् गि रट् वृशिन ल्टडि फ्योगस् सो ॥"–PSV^{2} N ed पृ० १४२ b । ३ "**परिशेषादावीतसिद्धि**रिति इदमावीतस्य लक्षणम् । [ऽदिडि वृशद् प नि VT=] अस्य **भाष्यम्–यदा नेदमतोऽन्यथा सम्भवति, अस्ति चेदम्, तस्मात् परिशेषतो हेतुरेवायमित्यवधार्य कार्यसिद्धावपदिश्यते तदा आवीताख्यो भवतीति** । **परपक्षप्रतिषेधेने**त्यादिना आवीतलक्षणार्थं सङ्क्षिप्य कथयति । **लो[क]**शब्दोऽनभिमतनिराकरणार्थं । प्रतिषेधस्योपायद्वयमिति द्वौ मार्गावित्यर्थ । उदाहरणे दृष्टान्त प्रसिद्ध, तद्व्यवच्छेदार्थमुक्तं **लोकदृष्टान्ते**ति । यद् लोकप्रसिद्धिविरुद्धं वचन तद् दृष्टान्तविरुद्धम् । तस्य तद्विरुद्धाभिधानेनैव निराकरणे **'लोकदृष्टान्तः'** इति 'अनुमानम्' इत्यन्ये । शास्त्रस्य प्रमाणत्वमभ्युपेत्य यत् तद्विरुद्धाभिधानं सा अभ्युपगमहानि ।"–**विशाला०** पृ० २०० B–२०१ A । ४ PSV^{1} N ed पृ० ६१ B–६२ A । PSV^{2} N. ed पृ० १४४ B । ५ तुलना—"**अस्ति प्रधानं भेदानामन्वयदर्शनात्**' इति । तत्र यदि प्रधानस्य अस्तित्व साध्यते तदसम्यक्, प्रमाणविषयाज्ञानात् । असामान्यलक्षणविषयमनुमानमिति दर्शितम् ।" PSV^{1} N ed पृ० ५९ b, PSV^{2} पृ० १४२ b । "अस्ति प्रधानमिति प्रतिज्ञा । 'प्रधानं सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्था । भेदानामन्वयदर्शनादित्यादिर्हेतु । परस्पर भिद्यन्ते विभज्यन्त इति भेदा विकारा । तेषामन्वयोऽनुगम, सुखदु खमोहात्मकत्वात् ।··· 'तयोक्तम्–**आध्यात्मिकानां बाह्यानां च भेदानामेकजातिसमन्वयोऽयमस्ति । ते मन्यामहे भेदात् पूर्वमेते क्वचित् सामान्यभूता** इत्यादि [पृ० १९३ B] । **अस्ति प्रधानं भेदानामन्वयदर्शनात् । आध्यात्मिकानां भेदानां कार्यकारणभूतानामेकजातिसमन्वयो दृष्टः** । [जि स्निद् दु VT =] यावत् **शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः पञ्च त्रयाणां सुखदुःखमोहानां सन्निवेशविशेषा । कस्मात्? पञ्चानां पञ्चानामेककार्यभावात्** इत्यादि विस्तरवाक्य हेतुर्न भवति ।

जातिसमन्वयो दृष्टः । आध्यात्मिकाः कार्यात्मका भेदाः शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः पञ्च त्रयाणां सुखदुःखमोहानां सन्निवेशविशेषाः । कस्मात् ? पञ्चानां पञ्चानामेककार्यसमागात् । सुखानां शब्दस्पर्शरसरूपगन्धानां प्रसादलाघवप्रसवाभिष्वङ्गोद्धर्षप्रीतयः कार्यम् । दुःखानां शोषतापभेदोपष्टम्भोद्वेगापद्वेषाः । मूढानां वरणसदनापध्वंसनवैभत्स्यदैन्यगौरवाणि । *शब्दाद्यात्मकानि चाकाशादीनि भूतानि सुखादिमयान्येव, तन्मयकारणारब्धत्वात्, यद् यन्मयैः कारणैरारब्धं तन्मयं तत्, कार्पासिकपटवत् । भूतारब्धानि पुनः शरीरादीनि पञ्चकीर्तन् परम्परारब्धत्वात्* । तथा करणात्मकाः श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्हस्तपादपायूपस्थमनांस्येकादश तैर्यग्योनमानुषदैवानि बाह्याश्च भेदाः सत्त्वरजस्तमोमयाः कार्ये समन्वयदर्शनात् । एवं पृथिव्यादि गवादि घटादि । सामान्यपूर्वकाणां च भेदानां लोके एकजातिसमन्वयो दृष्टो यथा शकलकपालामत्रभूषणप्रभृतीनां चन्दनादिजातिसमन्वयः । आध्यात्मिकानां बाह्यानां च भेदानामेकजातिसमन्वयोऽयमस्ति, तस्मात् मन्यामहे—भेदाः पूर्वमेते क्वचित् सामान्यभूताः । यच्च सामान्यं तत् प्रधानम् । तस्मादस्ति प्रधानमिति ।"

इदमत्रावधेयम्—अन्वय-परिमाण-कार्यकारणभाव-शक्ति-प्रवृत्ति-वैश्वरूप्याख्या प्रधानास्तित्वसाधकाः पञ्च हेतवो येन क्रमेणात्र नयचक्रवृत्तौ वर्णिताः स एव क्रमो दिङ्नागादिभिरप्यादृतोऽतो वार्षगणतन्त्रेऽपि स एव क्रमः प्रत्येतव्यः । दृश्यतां PSV[1] N ed पृ० ४० b PSV[2] पृ० १२२ a । विशाला० पृ० १२१ b । ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य २।२।१। ईश्वरकृष्णविरचितायां सांख्यसप्ततौ [का० १५] तु भिन्नः क्रमः, दृश्यतां पृ० ३१४ टि० ५ ।

पृ० ३१८ पं० ७ शब्दाद्यात्मना । दृश्यतां पृ० २८७ पं० २४, पृ० २८८ पं० १ । तुलना—"सत्त्वरजस्तमांसि परस्परोपकारकभावेन प्रवर्तमानानि शब्दाद्यात्मना व्यवतिष्ठन्ते इति शब्दादि एककार्यमुक्तम्, सत्त्वादीनां चैकजातिसमन्वयो नास्ति अत्यन्तभेदात् । लोकेऽपि चक्षूरूपालोकमनस्काराणामेकजातिसमन्वयाभावेऽपि विज्ञानमेकं कार्यमस्ति । तस्माच्चानैकान्तिकत्वादेकजातिसमन्वयोऽसिद्धः ।' —विशाला० पृ० १९७ a ।

पृ० ३२० पं० ७ इति एभिः पञ्चभिर्वीतैः । दृश्यतां टिपृ० १३९ पं० ३४ ।

कस्मात् ? 'साधनसमासवचनं हेतुः' इति लक्षणात् । [पृ० १९४ A] 'तन्निदर्शनं दृष्टान्तः' इत्यनाधिकरणसाधनमाश्रीयते ते साध्यसाधने निदर्श्येते यस्मिन्' इति करणे वा ते निदर्श्येतेऽनेन इति । दृष्टान्तदोषान्तरमाह—अन्वयाभावादिति । साध्येन साधनस्य व्याप्त्युपदर्शनमन्वयः । अत्र साधनेन साध्यं व्यपदिश्यते-सामान्यपूर्वकाणां च भेदानां लोके एकजातिसमन्वयो दृष्ट इति । एवं साधनार्थं कश्चिदपि नास्तीति दृष्टान्ताभावेऽन्वये हेतुः ।

[पृ० १९४ B] उपसंहारो न युक्त इति । साध्यदृष्टान्तयोरेकक्रिया [उपसंहार इति] उपसंहारलक्षणम् । तद् वाक्यस्य दृष्टान्तत्वेऽनुपपन्नम् । [दुपेद् न दुम् गोगुम् दङ् धोद् प दङ् म्थोद् स्ब्यद् दङ् ग्येन् ङ सोगुम् प VT=] 'यथा शकलकपालामत्रभूषणप्रभृतीनाम्' इति यादृशं वाक्यं न तथा प्रधानादि साध्यम् । एवमवयवलक्षणं साक्षात् प्रधानास्तित्वे इति अस्ति प्रधानम् इत्यस्य व्यवहिते साध्ये सर्वथाऽसम्बद्धम् । तथाहि—साध्याभिधानं प्रतिज्ञा इति प्रतिज्ञालक्षणम् । तन्निदर्शनं दृष्टान्तः इति दृष्टान्तलक्षणम् । तयोरेकक्रिया उपसंहारः इत्युपसंहारलक्षणम् । तदुभयमप्यत्र नास्तीति प्रतिपादितम् । न्यायमुखदिशेति । तेन प्रधानमथत साध्यते न साक्षात् । साक्षाद् भेदा एव साध्यन्ते । भेदा एव तत्र एककारणत्वेन साध्यत्वात् पक्ष इति वचनात् । प्रतिज्ञार्थविरोधो भवती स्वाभ्युपगमविरोध उच्यते । यत् तत् शकलकपालामत्रभूषणप्रभृतीनां भेदत्वे सति [पृ० १९५ a] चन्दनघटमृत्पिण्डसुवर्णादिनानाकारणपूर्वकत्वमभ्युपगम्यते तेन एककारणपूर्वकत्वनिरासात् प्रतिज्ञार्थविरोधः । अथ सत्पूर्वकत्वमिति । 'अस्ति प्रधानम्' इति प्रतिज्ञाया तस्मादस्ति प्रधानमिति निगमनाच्च सत्पूर्वका एव भेदाः साध्यन्ते दृष्टान्ताभावो नास्ति, शकलादीनां सत्पूर्वकत्वेन प्रतीतेरिति चेत्, न एकत्वेऽपीत्यादि । एकत्वेऽपि प्रधानस्य साध्ये इदमेव मातरं दर्शयेत 'एभिः पञ्चभिर्वीतैः प्रधानस्यास्तित्वं सिद्धम्, अत एवास्यैकत्वमपि सिध्यति' इति वचनात् । य(अ?)थाक-दोषपरिहाराय पर्यायान्तरमाश्रीयते [पृ० १९५ b] तथाहि—यद् यन्मयैरारब्धं तन्मयमेव तद् इति शास्त्रं कार्यकारणयोरेकस्वरूपत्वं प्रतिपादयति । इदमुक्तं भवति—यद् यज्जातिमत् तत् तन्मयकारणकम् शकलादिवत् भेदा अपि सुखादिजातिमन्त इति [पृ० १९६ a] । —विशाला० । ६ सांख्यकारिकायुक्तिदीपिकावृत्ति पृ० ४९ पं० ११ ।

१ नयचक्रवृत्ति पृ० १२ पं० १९–२३ । २ * * एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठो नयचक्रवृत्तौ पृ० २६९, पृ० २९६ पं० २३ पृ० २९१ पं० २०–२१ अनुसारेण कल्पनयास्माभिरिहोपन्यस्तः वार्षगणतन्त्रे तु यथावत् कीदृशः पाठ इति निश्चित्य वक्तुं न पार्यते । ३ दृश्यतां टिपृ० १४ पं० ३१–३२ । ४ तुलना—नयचक्रवृत्ति पृ० ३२० पं० ४ ।

पृ० ३२० पं. ३४. [दश मूलिकार्थाः]। सर्वेषु सांख्यग्रन्थेषु 'मूलिकार्थाः' इति प्रयोगदर्शनेऽपि प्रमाणसमुच्चये तद्वृत्तौ विशालामलवत्यां च 'चूलिकार्थाः' इति पाठो दृश्यत इति ध्येयम् । तथाहि –

"दशै चूलिकार्था."–प्र० समु० पृ० [परार्थानुमानपरिच्छेदे] । "एकत्वार्थवत्त्वपारार्थ्यादयश्चूलिकार्था."–विशाला० पृ० १२१ b । "दशै चूलिकार्था इति 'अस्तित्वमेकत्वमथार्थवत्त्व पारार्थ्यमन्यत्वमकर्तृभावः । योगो वियोगो बहव' पुमांस. स्थितिः शरीरस्य च शेषवृत्ति.' इत्येते वेदितव्या. ।"–विशाला० पृ० १२२ b ।

पृ० ३२१ पं० ५. एवमेभिः ·· । तुलना – "ततश्च यदुक्तम् 'एवमेभिः पञ्चभिर्वीतैः प्रधानस्य परिग्रहं कृत्वा पुनरावीतैः करिष्यामः' इति अयुक्तमेतत् ।"–विशाला० पृ० २०४ a ।

पृ० ३२१ पं० १२–१६ निर्विशेषमित्येतत् । अत्र 'निर्विशेषमित्येतत् प्रसज्येत' इति शुद्धः पाठः । तुलना –

"नाय दोष', 'योन्यभावादेकत्वप्रसङ्गः' इत्युक्तमिति चेत् । अयुक्तमिदमुक्तम् ।" इति प्रमाणसमुच्चयवृत्तौ । अस्या व्याख्या–'नाय दोष इति नाभ्युपगमहानिः, एकजातिसमन्वयप्रसङ्गस्यापीष्टत्वात् । तदिष्टत्वं दर्शयति – उक्तमिति । शास्त्रे उक्तमेव –

'योन्यभावादेकत्वप्रसङ्ग इति । सामान्यपूर्वकत्वाद् विशेषाणाम् । सामान्यपूर्वका हि लोके विशेषा एकजातिमन्तो दृष्टा, तद्यथा – क्षीरपूर्वका. [शो' दङ्' स्क्रिस् म दङ्' दर् ब' दङ्' मर् ल सोगस्' प नंमूस ऽग्युर्. शिङ्' VT=] दधिमस्तुद्रप्सनवनीतादिभावा । न त्वसति भाव' कश्चिदस्ति यत्पूर्वका व्यक्तविशेषाः स्यु. । तस्मात सामान्यमात्रमिदं व्यक्त निर्विशेषमित्येतत् प्रसज्येत' इति"–विशाला० पृ० २०२ b–२०३ a ।

पृ० ३२२ पं० १३–१५ आकारो गौरवं ··इति ते···निबोधत । उद्धृते इमे कारिके विशालामलवत्याम्, पृ० १९८ a ।

पृ० ३२३ पं० १. योन्यभावाद् ·· । तुलना—"तत्र तावदन्वय[वीत]स्यावीत. –[६]यदि व्यक्तमसतत्पद्यते योन्यभावाद् भेदप्रसङ्गः ।"–इति प्र० समु० वृ० ।

पृ० ३२१ पं० १६ नेदं व्यक्तमसत उत्पद्यते । तुलना–"असतो नोत्पद्यते, परिशेषात् [च VT] प्रधानादेवोत्पद्यते" इत्यप्ययुक्तम् ।"–प्र० समु० वृ० ।

पृ० ३२४ प० ११. वार्षगणे तन्त्रे । दृश्यतां टिप्पृ० १३७ टि० १ ।

---

१ "गचुग् फुद् चन् ग्यि दोन् [बृचु]"–PSV[1] N. ed पृ० ४० b । "सिल् बुडि दोन् बृचु पो"–PSV[2] पृ० १२२ b । "गचुग् फुद् चन् दोन्"–PS[1], PSV[1] N ed पृ० ४२ b । "सिल् बुडि दोन्"–PS[2] PSV[2] पृ० १२८ b । "गचुग् फुद् चन नम् सिल् बु' चन' ग्यि दोन् बृचु नंमूस्"–VT पृ० १२७ b । २ "चू लि कडि' दोन नंमूस् सो"–VT पृ० १२१ b । ३ "गचुग् फुद् चन ग्यि' दोन् बृचु शोस् प"–VT. । ४ "ब्येद् प पोडि दूदोन् पो म यिन प,"–VT । ५ "इत्येते"–विशाला० । ६ "यदि व्यक्तमसत उत्पद्यत इति । असतोऽसत्कारणादित्यर्थः । योन्यभावादिति कारणाभावादित्यर्थः । ··भेदानामन्वयव्यावृत्ति', भेदप्रसङ्गादन्वयाभावप्रसङ्गादित्यर्थः ।" विशाला० । पृ० २०२ a । ७ PSV[1] N ed. पृ० ६२ a । PSV[2] पृ० १४५ a । ८ "परिशेषाच्चेति । सर्वत शेष परिशेष । किमत्र सर्वमिति चेत्, प्रतिपक्षा । ते चानेकप्रकारा सर्वैकान्तिपुरुषेश्वरादिविभागात् । तेषां सर्वेषां प्रतिषेधेन परिशेषो युज्यते । 'न चेदमसत उत्पद्यते नापीश्वरादिभ्यः, परिशेषात् प्रधानादेव' इति । अन्यथा असतो नोत्पद्यत इति परिशेषादीश्वरादेरेवेत्यपि स्यात् । ····अयुक्तोऽय परिशेष. । कस्मात् ? नेदमसत उत्पद्यते, पारिशेष्यात् प्रधानादेवेदं व्यक्तमुत्पद्यत इत्येतत् परिशेषलक्षणमसम्बद्धम् ॥" विशाला० पृ० २०४ b । ९ PSV[1] N ed पृ० ६३ a PSV[2] पृ० १४६ a–b ।

वैशेषिकसूत्रसम्बन्धि परिशिष्टम्।

प्राक् 'पृ० ८ प० २२–टिपृ० ९' इत्यत्रोपवर्णितस्वरूपां P प्रतिमवलम्ब्य चन्द्रानन्दविरचितवृत्तिसहितं समग्रमपि वैशेषिकसूत्रं नयचक्रवृत्तेष्टिप्पणेषु पृथक् पृथग् मुद्रितमत्रास्माभिः । तत्र यानि यानि सूत्राणि यस्मिन् यस्मिन् पृष्ठे टिप्पणरूपेण मुद्रितानि तदत्र दर्शयामः—

वैशेषिकसूत्रम्	[3]पृ०	[4]टिपृ०
*१।१।१-६	४४४	
१।१।७	४५८	
१।१।८-९	४३७	
१।१।१०		२४
१।१।११-१६	४४०	
१।१।१७-२९	४३७-३८	
१।२।१-२		१४१
१।२।३-४	४४५	
१।२।५-६	४४६	
१।२।७-१७		९
१।२।१८	५२६	
२।१।१-२८ }		१७-२०
२।२।१-४२ }		
३।१।१-१४ }		
३।२।१-१७ }		३२-३५
४।१।१-१४ }		
४।२।१-९ }		
५।१।१-१८ }	४८१-४८३	
५।२।१-१३ }		

वैशेषिकसूत्रम्	[3]पृ०	[4]टिपृ०
*५।२।१४-२२	४३८	
५।२।२३-२८ }		
६।१।१-१८ }		३५-३७
६।२।१-१९ }		
७।१।१-१४	४५२-४५३	
७।१।१५-३२		२१-२२
७।२।१-३	४५३	
७।२।४-९		२२
७।२।१०-१४	५१६	
७।२।१५-२८		२३
७।२।२९	४४९	
७।२।३ -३१	५२९	
卐८।१-१३	४४२-४४३	
८।१४-१७	४८०	
९।१-८	४८९-४९०	
९।९-११	४३४-४३५	
९।१२	४६०	
९।१३-२८ }		४१-४४
१०।१-२१ }		

---

१ केवलं द्वे एव सूत्रे ये प्रागमुद्रिते तेऽत्रोपदर्श्येते—

"कारणाभावात् कार्याभावः" [वै० सू० १।२।१] कार्यकारणशब्दौ पूर्वमुक्तौ तन्निरूपणार्थमाह—यस्याभावात् तन्त्वादेः समवायिकारणस्य तत्संयोगाना वा असमवायिकारणाना कार्यद्रव्यं न जायते पटादिविनाशे वा विनश्यति तत् कारणम् अन्यत् कार्यम्। **न तु कार्याभावात् कारणाभावः** [वै० सू० १।२।२] न पुनः पटादेरनुत्पत्तौ द्रव्यस्य तन्तूनां तत्संयोगानां वानुत्पत्तिः ।

२ एतदनन्तरम् Oriental Institute, Baroda [प्राच्यविद्यामन्दिरम् वडोदरा] इत्यतोऽपि शारदालिप्यां लिखिता चन्द्रानन्दवृत्तेरेका प्रतिरस्माभिर्लब्धा सा च यद्यप्यशुद्धिबहुला तथापि क्वचित् क्वचित् P प्रत्यपेक्षयातीव शुद्धा ते च शुद्धपाठाः शुद्धिपत्रके O सङ्केतसहिता द्रष्टव्याः । ३ 'पृ०' शब्देन नयचक्रवृत्तेः पृष्ठाङ्को ज्ञेयः । ४ 'टिपृ०' शब्देन नयचक्रवृत्तिमुद्रणानन्तरं पश्चाद् योजितानां टिप्पणानां पृष्ठाङ्को वेदितव्यः । * अत्र प्रथमोऽङ्कोऽध्यायस्य द्वितीय आह्निकस्य ततः परं तु सूत्रस्येति ध्येयम्। 卐 अष्टम-नवम-दशमाध्यायेषु O P चन्द्रानन्दवृत्तौ P सूत्रपाठे चाह्निकविभागो नास्त्येव अतः प्रथमोऽङ्कोऽध्यायस्य ततः परं तु सूत्राङ्क एवेत्यवधेयमत्र ।

---

1 अयं ग्रन्थः 'Oriental Institute Collection No 1831 तर्कभाषादिद्वादशपुस्तकानि' इत्यस्मिन् पुस्तके षड्विंशतिपत्रात्मको [पृ० २०३-२२८ मध्ये] वर्तते। तत्र च प्रतिपत्रं पृष्ठद्वयम् प्रतिपृष्ठं च षड्विंशतिः सप्तविंशतिर्वा पङ्क्तयः ।

य० प्रतिपाठपरिशिष्टम् ।

भगवद्भिः श्रीयशोविजयोपाध्यायैर्नयचक्रवृत्तेरतिदुर्लभं किञ्चित् प्राचीनं पुस्तकमवलम्ब्य [अणहिलपुर]-पत्तननगरेऽनेकसाधुसाहाय्येन एकपक्षाभ्यन्तरे एव नयचक्रवृत्तेरादर्शो लिखितः । अस्माभिरस्य य० इति संज्ञा व्यवहारार्थं कृता । एतद्गवेषणार्थं सुमहति प्रयत्ने कृतेऽप्यस्माभिरियं य० प्रतिः नयचक्रमुद्रणारम्भसमये क्वचिदप्यनुपलब्धा । अतो निम्नलिखिताः प्रतीरवलम्ब्यास्माभिरेतन्मुद्रणमारब्धम्–

[3]पा० डे० लीं० वि० रं० ही० भा० ।

अत्र पा० डे० लीं० वि० रं० ही० प्रतयः साक्षात् परम्परया वा य० प्रतिमनुसृत्यैव लिखिता इत्यस्माभिस्तत्समूहस्यापि य० इत्येव संज्ञा कृता । भा० प्रतिस्तु य० प्रतितः प्राचीनतरा विधिपक्षगच्छीयाचार्यश्रीधर्ममूर्तिसूरीणामुपदेशेन गोविन्दमन्त्रितनुजेन मुञ्जेन संवत् १६५० वर्षनिकटसमये लिखिता । तत्र तु य० प्रत्यपेक्षया बहवो विशिष्टाः पाठभेदा उपलभ्यन्ते । अत इत्थमत्र प्रतीयते–

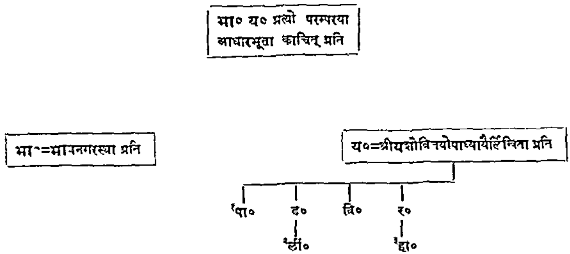
---

१ "भट्टारकश्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्यमहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यपण्डितश्रीलाभविजयगणिशिष्यपण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यपण्डितश्रीनयविजयगणिगुरुभ्यो नमः । प्रणिधाय परं रूपं राज्ये श्रीविजयदेवसूरीणाम् । नयचक्रस्यादर्शं प्रायो विरलस्य वितनोमि ॥१॥ ऐँ नमः ॥"–य० पृ० १ ।

२ "इति श्रीमल्लवादिक्षमाश्रमणपादकृतनयचक्रस्य तुम्बं समाप्तम् ॥ छ ॥ ग्रन्थाग्रं १८००० ॥
यादृशं पुस्तके दृष्टं तादृशं लिखितं मया । यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयते ॥ १ ॥
संवत् १७१० वर्षे पोसवदि १३ दिने श्रीपत्तननगरे ॥ पं० श्रीयशोविजयेन पुस्तकं लिखितं । शुभं भवतु ॥
उदकानलचौरेभ्यो मूख(=ष)केभ्यो विशेषतः । कष्टेन लिखितं शास्त्रं यत्नेन प्रतिपालयेत् ॥ १ ॥
भग्नपृष्ठकटिग्रीवा दृष्टिस्तत्र अधोमुखी । कष्टेन लिखितं शास्त्रं यत्नेन प्रतिपालयेत् ॥ २ ॥
पूर्वं प० यशोविजयगणिना श्रीपत्तने वाचितम् ॥ छ ॥

आदर्शोऽयं रचितो राज्ये श्रीविजयदेवसूरीणाम् । सम्भूय यैरमीषामभिधानानि प्रकटयामि ॥ १ ॥
विबुधाः श्रीनयविजया गुरवो जयसोमपण्डिता गुणिनः । विबुधाश्च लाभविजया गणयोऽपि च कीर्तिरत्नाख्याः ॥२॥
तत्त्वविजयमुनयोऽपि प्रयासमत्र स्म कुर्वते लिखने । सह रविविजयैर्विबुधैरलिखच्च यशोविजयविबुधः ॥ ३ ॥
ग्रन्थप्रयासमेनं दृष्ट्वा तुष्यन्ति सज्जना बाढम् । गुणमत्सरव्यवहिता दुर्जनदृक् वीक्षते नैनम् ॥ ४ ॥
तेभ्यो नमस्तदीयान् स्तुवे गुणांस्तेषु मे दृढा भक्तिः । अनवरतं चेष्टन्ते जिनवचनोद्भासनार्थं ये ॥ ५ ॥ श्रेयोऽस्तु ॥
सुमहानप्ययमुच्चैः पक्षेणैकेन पूरितो ग्रन्थः । कर्णामृतं पटुधिया जयति चरित्रं पवित्रमिदम् ॥ ६ ॥ श्री ॥"–य० पृ० ३०९ ।

३ पा० = 'पाटण, तपागच्छजैनज्ञानभंडार'सत्का प्रतिः । डे० = 'डेलानो उपाश्रय, अमदावाद'सत्का प्रतिः । संवत् १७२९ वर्षे कार्तिकवदि ७ दिने शुक्रवासरे लिखितेयं प्रतिः । लीं० = 'लींबडी जैनग्रन्थसंग्रह'सत्का प्रतिः । वि० = 'विजयानन्दसूरिज्ञानमन्दिर, जीरा'सत्का प्रतिः । संवत् १७५३ वर्षे पौषमासे कृष्णपक्षे ३ तिथौ शरपे(=खे)जग्रामे लिखितेयं प्रतिः । रं० = 'रंगविमलजीगणिजैनग्रन्थभंडार, विजापुर'सत्का प्रतिः । संवत् १७२४ वर्षे फाल्गुने कृष्णपक्षे १ तिथौ भौमवासरे लिखितेयं प्रतिः । ही० = 'हीराचन्द्रजीयति, श्रीसुपार्श्वनाथजैनमन्दिर, काशी'सत्का प्रतिः । इमाश्च सर्वाः प्रतयः श्रीयशोविजयोपाध्यायलिखितप्रत्यनुसारिण्यः । भा० = 'भावनगर, डोसाभाई अभेचंदनी पेढी'सत्का य०प्रतेरपि प्राचीना प्रतिः ।



एषाञ्चिदशुद्धपाठानामुभयत्र सर्वथा समानरूपेणोपलम्भाद् भा०य०प्रत्योः परम्पराधारभूता काचिदेव प्रतिः प्रतिभाति । एते चोभयत्र समाना अशुद्धपाठा अस्माभिः '[4]प्र०' सङ्केतेन टिप्पणेषु दर्शिताः । पा० डे० लीं० वि० र० ही० प्रतयस्तु साक्षात् परम्परया वा य० प्रतिमवलम्ब्यैव लिखिताः, तत्र यशोविजयोपाध्यायानां नामोल्लेखादिदर्शनात् । इत्थं पा०डे०लीं०वि०र०ही०प्रतीनां य०प्रत्यनुसारित्वात् प्रायः एकरूप एव पाठस्तासूपलभ्यते । यस्तु कश्चित् स्वल्पीयान् पाठभेदस्तासु दृश्यते स लेखकदोषेण सञ्जातः । अतो नयचक्रवृत्तेः सतारमुद्रणपर्यन्तं यः पाठभेदः पा० डे० लीं० वि० र० ही० प्रतिषु सर्वत्रैकरूप उपलब्धः सोऽस्माभिः 'य०' इति सङ्केतेन टिप्पणेषु दर्शितः । यत्र तु तासु परस्परं भेदः स 'पा०' 'डे०' 'लीं०' इत्यादिसङ्केतैष्टिप्पणेषु दर्शितः । मूल'य०'प्रतौ तत्र कीदृशः पाठोऽस्ति इति तु तदानीं निर्णेतुमशक्यमासीत् । इदानीं तु सतारमुद्रणानन्तरमस्मद्भाग्येन मूल'य०'प्रतिरपि [5]दृष्टा । अत सतार[पृ० १–५५२]मुद्रणपर्यन्तं य०शब्देन पा०डे०लीं०वि०र०ही०प्रतीनां समूहोऽवगन्तव्यः । अतः परं तु य०शब्देन श्रीयशोविजयोपाध्यायैर्लिखिता मूल'य०'प्रतिरेवावगन्तव्या । एवं च पा० डे० लीं० इत्यादिसङ्केतैर्यत्र पाठभेदा नयचक्रवृत्तावधस्तात् टिप्पणेष्वस्माभिर्दर्शितास्तत्र मूल'य०'प्रतौ यादृशः पाठो विद्यते तं दर्शयितुमिदं य०प्रतिपाठपरिशिष्टमारभ्यते । यस्मिन् पृष्ठे यस्मिंष्टिप्पणे 'पा० डे०' आदि सङ्केतनास्माभिः पाठभेदो दर्शितस्तत्र मूल'य०'प्रतौ यादृशः पाठो वर्तते सोऽत्रोपदर्श्यते—

---

1 पा० डे० जे० १ –इमाश्चतस्रः प्रतयः साक्षात् परम्परया वा य०प्रतिमनुसृत्य लिखिताः । 2 लीं०प्रतिः डे०प्रतिमनुसृत्य लिखिता भाति । लीं०प्रतावधस्तादस्माभिरस्य ग्रन्थस्य मुद्रणपर्यन्तमेव पूर्णं गति प्रयत्नम् । 3 ही० प्रतिः र० प्रतिमवलम्ब्य लिखिता भाति । र० प्रतिगता ही० प्रतौ क्वचित् दृश्यमानः पाठभेदो लेखकदोषेण जात इति अस्पष्टमुद्रणानन्तरं प्रयत्नात् नास्माभिर्निर्दिष्टो ही०प्रतिपाठः । 4 प्र०=प्रतिषु प्रतिषु दृश्यमानः पाठः । 5 पं० श्रीमहेन्द्रविमलजीजैनज्ञानभण्डार इत्यादौ एषो अस्मदर्थे–इत्थं रक्षिता प्रतिः ।

पृं०[1]	टि०[2]	यं०[3]
२	११	द्रव्यापर्या°
५	२	गम्यत्वेनभि°
५	४	°मन्यमिथ्या°
५	५	वौद्धे [[4]सं०]
५	१०	°वाद च
७	३	क्रिमेवं
८	६	अनताज्ञानिकल्पा
७	१४	पदार्थावद्योतमद्योतमाटनेका°
१५	७	°तदोर्निर्वा°
१५	१०	°तमवस्त्विति
२०	८	°कर्मगवाश्च
२१	११	प्रकल्प्यते
२४	१०	अपेक्षाभावात्
३१	३	°शवलयो
३१	८	°त्रुव्यो
३२	४	इत्येतो प्रागुक्तौ विक°
३२	७	°दोषो
३३	८	°हरणामक्ता°
३३	१३	°सामान्याग एव
३४	४	प्रकल्प्यन्ते
३४	५	°तरवारणाय
३४	१०	लोके प्रसिद्ध
३४	११	सत्वार्थो
३४	१५	वादे च
३८	२	करोत्येव न करोत्येव वेति
३८	८	°रूप्यदर्शनात्
४०	१२	प्रवृत्तयो
४३	९	इत्यवधार्यते
४३	१०	अदृष्ट कारणा°
४५	१	°वाचिना [सं०]
४८	५	सर्वं विशिष्ट°
४९	३	सवद्धाणु°
५५	१०	व्याख्यानार्थं प्रति°

पृ०	टि०	यं०
५५	११	साक्षात्कृतपक्षाभ्युपगम°
५६	१८	न भ्व इति
५८	१	°पातीत्वनिष्टन्तैरपि
५९	५	°कार्य इति
६०	२	यादृच्छिकी
६०	५	°काया कल्पनया
६१	२	कल्प्यमानत्वीकल्प
६१	१७	भावनात् । तुशब्दो
६२	९	°मभिधर्मे उक्तं
६३	६	आचार्यो नु तत्साव°
६४	२	आदिग्र°
६५	११	यद्यदर्था°
६६	८	स्यावकारका°
६७	८	°भ्युश्नन् [सं०]
६९	२	भावनामेकवचनमाधारणभवनत्वार त पर°
७०	९	सम्बद्धमर्थं [सं०]
७४	६	°त्सत्मात्रं°
७५	४	नील विजानाति
८७	११	न तत् प्रत्यक्ष
९१	३	कार्यीभूता
९२	८	°व्व्यपो°
९८	५	°सचय स तस्मा°
१००	३	सहात्सहार्थेना°
१०१	३	यावदन्त्यपंक्ति च प्रत्येका°
१०२	७	°न्यथात्
१०६	६	°स्येयमवस्था
१०७	११	च कारक°
१०८	७	प्रत्यक्षा
१०८	८	ततु त्वन्मत°
१०९	७	°न्त । तत्र
१११	१४	अर्थो
११२	४	°मन्यो
११७	३	भावनात्मभि° [सं०]
११७	४	°वृत्तिभिर्विदित°[सं०]

पृ०	टि०	यं०
११८	४	विप्रतिषेधात् यद्यप्युक्तमनर्थको विवेकयत्न शास्त्रेष्विति । तत्रापि विप्रतिषेधात । तद् ज्ञानमफलमेव [सं०]
११८	१७	°णाम तद° [सं०]
११८	२०	अज्ञातवैद्यवस्तु°[सं०]
११९	५	°ष्ठानादि
११९	१४	वत् तस्य तद्विपर्यं [सं०]
११९	१५	तत्त्वज्ञान [सं०]
११९	१८	°मायित्वात्
११९	१९	त्पत्रिविधः सम्बद्ध
१२१	११	पुनरु°
१२१	१४	°कर्तृकामाकाला°
१२२	२	भूमिं निधत्ते
१२३	४	उत्पन्न सत्कर्तव्यता
१२३	८	प्रवर्त्तते । ऽन्यत्र
१२३	१२	तयाकाक्षया [सं०]
१२३	१६	ननु
१२३	१८	°स्यार्थवत्त्ववद° [सं०]
१२३	२०	°त्वायेष्यते
१२४	१	°काङ्क्षेष्यते [सं०]
१२४	४	वचन
१२४	१०	°काक्षाहून° [सं०]
१२४	११	वैधर्म्येण [सं०]
१२४	१६	एकार्थत्वे विशेषेण
१२५	४	°कं ह्यनु° [सं०]
१२५	५	कुशलयोदे°
१२६	१०	कर्त्रर्थे
१२६	१५	प्रजति [सं०]
१२६	१६	°पत्ति°
१२७	६	°श्रुताग्नि° [सं०]
१२७	८	°च्छब्दार्थ° [लि०सं०]
१२७	११	°श्रुतानि°
१२७	१३	°त्सक्तासत्कर्तृ° [सं०]
१२८	११-१२	निपातमुपातत्वाच्च

१ पृष्ठाङ्क । २ टिप्पणाङ्क । यत्र तु पूर्वत्राशुद्धटिप्पणाङ्को मुद्रितस्तत्स्थानेऽस्माभिरत्र संशोधितटिप्पणाङ्क उपदर्शित इति ध्येयम् । ३ श्रीयशोविजयोपाध्यायैर्लिखिताया प्रतौ विद्यमान पाठः । ४ सं० = पूर्वमन्यथा लिखित्वा पश्चात् संशोधित पाठ ।

पृ०	टि०	य०
२९	६	°ध्यसत्कर्तृत्व
२९	८	क्रियार्थं च स्वस्य
२९	१०	सत्त्वार्थति
१२९	१४	°धारता [स०]
१२९	१६	न पदभेद [स०]
१३०	५	°स्यात् तद् यवस्था नान्
१३०	७	°वाद् या° [स०]
१३२	१	घून घूर्ने
१३२	३	तत्रय°
१३३	७	त्व मन्यसे
१३९	२	°मठाद्यादि°
१४	१८	विशेष्य ते
१४३	७	ततान्द्रा°
१४४	२	नानप्रश्ने°
१४५	१	क्रियतां सत्त्व° [स]
१४७	५	कर्तव्यतां
१४७	६	°व्यता । समाते°
१४७	९	°णाभावात्तया ताव द्यदि
१४८	१३	परेण पिते
१४९	१	यत्यत्यभेक्य
१४९	३ ४	वाचा दिशामादिमदर्थे युगपत्प्रयुक्तचैकार्य त्वात्°
१४९	७	त्कार्यत्व
१५	५	नवत् [सं०]
१५०	१०	नेति कत° [सं०]
१ १	६	त्वाच पून°
१ १	१०	°वादिदे ।
१५२	५	क इष्यते
१ २	६	°दट*
१ २	१६	प्रमाणता [सं०]
१५२	१९	°त्वान्ति [सं]
१५२	१४	°सिद्धान्त तथासिद्धो न्ता तथा [सं]
१५३	१४	दृत एवा
१५३	१८	यति
		नय० टि १९

पृ०	टि०	य०
१५५	६	तमेतेनैव
१५७	७	°वादत्वे [स०]
१५७	८	ग्राह्यर्थप्राप्तौ
१६२	३	तत्सत
१६२	१०	°ग्यनचन्द्रान्तो
१६३	३	तेष्वावि
१६८	१०	°त्यप्रत्यक्षाणां तथा
१६९	२	असत्सतद्विलक्षण
१७४	३	दर्शन विवेकात्२ च। यत्राप्यंशेन विवकस्तत्र
१७४	१२	विधिविधि°
१७	५	स्यानकर्तृण
१७९	२	मूलमद्दु
१८१	२	°लभ्य च यावद्ध स्तुत्वा°
१८१	३	किं चा
१९०	१३	त्रगुलश्रममहु यम स्पृशति
१९५	३	स्व सम्प
१९६	४	°वध°
१९७	३ ४	चाभावा
१९७	५	°न्यतोवतिष्ठन
१९८	१	°स्याशाध्यवामावा°
१९९	५	°ाहमूर्द्धादित्व घवेन मेदेनैव
२०१	७	°ण शिद्धा
२०१	८	°तेर्व्यतिरेकमति
२०६	१	°द्भाविनो भाविनो मनितु°
२०६	८	। चातत्
२०७	८	°दित्यकाल°
२०८	६	ऽदितेचादन°
२०९	२	क्रियात एवोदन
२११	१	आमोएता
२११	४	°गम्या° [सं०]
२१२	१	°लि धनेत धृ
२१२	४	आदित्यवायार्गी°
२१२	५	°कारणण°
२१३	१	परायापर गमनमरी

पृ०	टि०	य०
२१३	८	°यारेव
२१६	८	°क्रमान् त एव [स]
२१७	४	°कालात् सुपमसुप मादि° [स०]
२१७	९	भूयिष्यमुसत्वात्
२२०		सम्य
२२२	६	वैचित्राणि
२२३	८	°दित्वभाव
२२४	४	°वेश्याभिव्यग्य°
२२५	१	न त्वस्माभि° [स]
२२६	५	निवृत्तेश्व
२२६	७	प्रवर्त्तते । प्रतर्क्तो [सं०]
२२६	८	ऽप्रतर्कन एव [सं०]
२३०	६	वर्त्तन । त्वान्
२३४	२	इत्य यति [सं०]
२३४	६	कथा हृदय
२३५	१	तया २ अहेय°
२३५	१५	इत्येचैक°
२३६	५	महाकालमनो उष्मा
२३७	४	तत्र तत् । त्रय°
२३८	५	°त्वान्ति विशेष
२३	९	°मक्तोत्थामेद
२४०	९	तदच्छिद्दे । प्रत्यक्ष त्वात् च्छिद्रैरनन्तरा°
२४१	५	°मानो नोप्याह
२४६	१	भवना
२५४	८	यैना या°
२७०	३	°पतिप्रवृत्तौ° [सं०]
२७०	१४	°ध प्रकाराते । सधा
२७४	२	°कया प्रवर्त्तमान प्रकाशक
२७	३	°स्य पान पञ्च पञ्चमा [सं]
२७९	१	°णात्मर्क
२७९	१०	°त्वाच अपि सुग दु खयो यत्णात्म य यतो [सं]
२८१	६	निष्पये
३०९	३	सुक

पृ०	टि०	य०
३०६	४	°मेयोर्यत् पक्षी°
३१२	५	°त्मपरि [स०]
३२२	४	°त्थाप°
३४०	१०	रथार्थ दार्वा°
३४९	१	°वगाढगाढनिचिते
३६६	३	°ब्योऽपि जड [स०]
३७५	७	अर्द्धमेक्रमेकपु°
३७८	८	तद्यक्ति वस्तुत्वव्यक्ति । वस्तुशक्त्यभिव्यक्ति
३८९	१	कटकर्तु° [स०]
३८९	२	तत्तत्
३९४	४	°रोक्त
३९५	४	गन्त्राद्यु°
४०४	६	भावावाव्यस्तुस्थिति
४०६	९	भवन् मे°
४०७	१०	तथातथासर्व° [स०]
४२५	३	तवैव
४२५	७	°र्थव्याख्याशंक्य
४३०	७	स्यामहमतो वादा° [स०]
४३०	८	°विर्भाववसत्कार्या°
४५६	२	किंकरत्वं
४५६	६	घंटादिभि सम्व° [स०]
४६०	५	सन्तं
४६१	६	°मतिना न गोच्येना°
४६२	११	°माने । प्रधा°
४७१	६	सापेक्षऽनिर°
४७४	४	°सिद्ध्यर्थे स्वसामा°
४७६	१	°णातद्यो°
४७९	५	°सदमत्त्वे सत्त्वेना°
४८३	२	°शयिन
४८५	१०	तत्कारण°
४९०	७	वीरणोद्धिवद् घटो
४९३	२	°कत्वं प्रदर्शन
४९३	३	सत एवं चंपकस्य
४९८	९	°र्लभ्यस्वरूपं वास्येति
५००	१०	लक्षणमेदा सहा°
५०३	४	°कृतकर्घटा°
५१५	२	सर्वत्र [स०]
५२२	४	अत्र
५३०	६	°ङ्गभावभावगतं गतार्थं
५३५	५	°स्य बहु°
५३६	६	°र्थयोरुभयोरुभयो नियमो
५४०	२	इति न तर्हि
५४२	४	मनोंतर्देश.
५४६	१	दत्विष्टा° [सं०]

नयचक्रे वृत्तौ वा चतुर्नरेपूल्लिखितानां वाद-वादि-ग्रन्थ-ग्रन्थकृन्नाम्नां सूचि[1]

---

[1] अस्यां सूचौ मू. नयचक्रमूलम् वृ.=नयचक्रवृत्तिरित्यर्थो ज्ञेय ॥
नयच० १९७

संपादनोपयुक्तग्रन्थसूचि सङ्केतादिविवरणं च

अग्निस्मृति, आनन्दाश्रम, पुना
अनुयोगद्वारसूत्रम्, आगमोदयसमिति सुरत
अनुयोगद्वारसूत्रवृत्ति ,,
अनेकान्तजय स्वो वृ अनेकान्तजयपताकास्वोपज्ञवृत्ति Gaekwad's Oriental Series, Baroda
अनेकान्तजय स्वो वि अनेकान्तजयपताकास्वोपज्ञवृत्तिविवरणम् ,,
अनेकार्थसंग्रह हेमचन्द्राचार्यरचित
अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका आर्हतमतप्रभाकर कार्यालय पुना
अभिधर्मागम } अभिधर्मपिटकम् (चीनभाषानुवादात्मकम्)
अभि पि
अभि को अभिधर्मकोश, Royal Asiatic Society Journal, Bombay
अभि को भा अभिधर्मकोशभाष्यम्
अभि को स्फुटा अभिधर्मकोशभाष्यस्फुटार्थावृत्ति (i) Bibliotheca Buddhica Russia
(ii) Calcutta Oriental Series (iii) The Publishing Association of
अभिधर्मकोशव्याख्या Tokyo, Japan
अभिधर्मकोश सङ्गीतिक काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पटना
अभिधर्मसमुच्चय, शान्तिनिकेतन
अभिधानचिन्तामणि, यशोविजयजैनग्रन्थमाला काशी
अभि० चिन्ता० स्वो० अभिधानचिन्तामणिस्वोपज्ञवृत्ति यशोविजयजैनग्रन्थमाला काशी
अमरकोश, निर्णयसागर प्रेस मुंबई
अमरकोशटीका क्षीरस्वामिकृता, Oriental Book Agency, Poona
अमरकोशसुधाव्याख्या निर्णय सागर प्रेस, मुंबई
अमृतनादोपनिषद्
अर्थसंग्रह, Oriental Book Agency, Poona
अर्थसंग्रहकौमुदीवृत्ति ,,
अष्टशती जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था कलकत्ता
अष्टसह० अष्टसहस्री, गांधी नाथारंग जैनग्रन्थमाला मुंबई
अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणम्, जैनग्रन्थप्रकाशकसभा अमदावाद
आचाराङ्गसू० आचाराङ्गसूत्रम् आगमोदयसमिति सुरत
आचाराङ्गसूत्रवृत्ति श्रीजिनदत्तसूरि ज्ञानभंडार सुरत

---

¹ ग्रन्थो प्रकाशकाश्च पुनः अपि अन्या अन्या सूची निर्दिष्टा इति ध्येयम्। किन्तु अत्र टिप्पणक उद्धृतानामन्यासां सूची तदुद्धृतानां व्याख्यानानि स्वस्थानस्थानि न कतमानि सन्ति तदुद्धृतानामन्यासां ग्रन्थो नास्तीति ध्येयम्।

आपस्तम्बश्रौतसूत्रम्, Adiyar Library मद्रास
आप्तमीमांसा, जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
आलम्बनपरीक्षा वृत्तिश्च, Adiyar Library, मद्रास
आव० नि० आवश्यकनिर्युक्ति., आगमोदयसमिति, सुरत
आवश्यकचू० आवश्यकचूर्णिः, ऋषभदेवजी केशरीमलजी, रतलाम
आवश्यकसूत्रवृत्ति. हरिभद्रसूरिरचिता, आगमोदयसमिति, सुरत.
आवश्यकसूत्रवृत्ति. मलयगिरिसूरिरचिता, देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड, सुरत
ईशावास्योपनिषद्, निर्णयसागर प्रेस, मुंबई.
उत्तराध्य० उत्तराध्ययनसूत्रम्, आगमोदयसमिति, सुरत
उत्तराध्ययनसूत्रचूर्णि, ऋषभदेवजी केसरीमलजी, रतलाम
उत्तराध्ययनसूत्रबृहद्वृत्ति, आगमोदयसमिति, सुरत.
उत्तराध्ययनसूत्रटीका नेमिचन्द्ररचिता, पुष्पचन्द्र क्षेमचन्द्र, वलाद
उत्पादादिसिद्धिस्वोपज्ञवृत्ति, ऋषभदेवजी केसरीमलजी, रतलाम
ऋग्वेद, स्वाध्यायमण्डल, औंध
कठसंहिता, स्वाध्यायमण्डल, औंध
कर्कभा कर्कभाष्यम्
कर्मप्रकृति, मुक्ताबाई जैनज्ञानमन्दिर, डभोई
कर्मग्रन्थवृत्ति, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर
कल्पसूत्रम्, देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, सुरत
कल्पसूत्रसुबोधिका ,, ,,
काठकम काठकसंहिता, स्वाध्यायमण्डल, औंध.
कातन्त्रव्याकरणम्
कात्यायनश्रौतसूत्रम्, अच्युतपदवर्धनग्रन्थमाला, काशी
कात्यायनश्रौतसूत्रप्रस्तावना
कारणोपादानप्रज्ञप्ति. दिङ्नागरचिता (चीनभाषानुवाद)
काव्यप्रकाश, Bombay University Series
काव्यप्रकाशवृत्ति. ,,
कैवल्योप० कैवल्योपनिषद्, निर्णयसागर प्रेस, मुंबई
कौटिलीयमर्थशास्त्रम्, Government Oriental Library Series, Mysore.
क्षेत्रसमास, जैनधर्मप्रसारकसभा, भावनगर
गुरुतत्त्वविनिश्चयटीका, जैन आत्मानंदसभा, भावनगर
गौतमधर्मसूत्रम्
चतु श० चतु:शतकम्, विश्वभारती ग्रन्थमाला, शान्तिनिकेतन
चतुःशतकवृत्ति चन्द्रकीर्तिरचिता ,,
चतु:शतकवृत्तिः धर्मपालरचिता ,,
चरकसं० चरकसंहिता, निर्णयसागर प्रेस, मुंबई
चरकसंहितावृत्ति ,,
चान्द्रव्याकरणम्
छन्दोनुशासनवृत्ति हेमचन्द्राचार्यरचिता, मुंबई
जाबालदर्शनोपनिषद्, निर्णयसागर प्रेस, मुंबई

जिनागमकथा (काम्यनाना, गामगुच्छक) निर्णयसागर प्रेस, मुंबई
जीवसमासवृत्ति, आगमोदयसमिति, सुरत
जीवाभि० जीवाभिगमसूत्रम् आगमोदयसमिति, सुरत
ज्ञाताधर्म० ज्ञाताधर्मकथासूत्रम्
ज्योतिष्करण्डक, ऋषभदेवजी केसरीमलजी रतलाम
तत्त्वसं० } तत्त्वसंग्रहकारिका Gackwad's Oriental Series Baroda
तत्त्वसं० का० }
तत्त्वसं० प० तत्त्वसंग्रहपञ्जिका
तत्त्वार्थसूत्रम् देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड सुरत
तत्त्वार्थभाष्यम्
तत्त्वार्थ० सिद्ध०वृ० तत्त्वार्थाधिगमसूत्रस्य सिद्धसेनगणिकृता वृत्ति देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड सुरत
तत्त्वार्थ० हारिभद्रीवृ० तत्त्वार्थाधिगमसूत्रस्य हरिभद्रसूरिकृता वृत्ति जैनानन्द पुस्तकालय, सुरत
तत्त्वार्थरा० तत्त्वार्थराजवार्तिकम् सनातन जैनग्रन्थमाला, काशी
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्, गांधी नाथारंग जैन ग्रन्थमाला मुंबई
तत्त्वार्थसूत्रस्याधिगमवृत्ति, कोल्हापुर
तत्त्वोपप्लवसिंह Gackwad's Oriental Series Baroda
तन्त्रवा० तन्त्रवार्तिकम्, आनन्दाश्रम पुना
तन्त्रालोकवृत्ति Kashmir Series
तन्दुल० तन्दुलवैचारिकप्रकरणम् आगमोदयसमिति, सुरत
तन्त्रवार्तिकवृत्ति
तिलोयपण्णत्ति श्री जैन ग्रन्थमाला शोलापुर
तैत्तिरीयब्राह्मणम्
तै० सं० तैत्तिरीयसंहिता स्वाध्यायमण्डल औंध
तैत्तिरीयोपनिषद्, निर्णयसागर प्रेस मुंबई
त्रिकाण्डशेष दिङ्नागकृता (सांख्यानुवादादिकृत)
त्रिंशिकाविज्ञप्तिकारिकाभाष्य स्थिरमतिकृतम् पॅरिस
दशवैकालिकसूत्रवृत्ति हरिभद्रसूरिरचिता आगमोदयसमिति सुरत
दशाश्रुतस्कन्धसूत्रम्
दिव्यावदानम् बौद्धग्रन्थ
द्रव्यालङ्कार स्वोपज्ञवृत्तिसहित मुनिराजश्रीपुण्यविजयमहोदयेभ्योऽधिगत (हस्तलिखित)
द्वादशारनयचक्र दिङ्नागरचिता
धर्मोत्तरप्रदीप, काशीप्रसाद जायसवाल रीसर्च इन्स्टीट्यूट पटना
धवलाटीका षट्खण्डागमस्य धवला टीका जैनसाहित्योद्धारक फण्ड अमरावती
नन्दीसू० नन्दीसूत्रम् आगमोदयसमिति सुरत
नन्दीसूत्रचूर्णि
नन्दीसूत्रवृत्ति हरिभद्रसूरिरचिता
नन्दीसूत्रस्य मलयवृ० नन्दीसूत्रस्य मलयगिरिरचिता वृत्ति आगमोदयसमिति सुरत
नारदस्मृति
निरुक्तम् यास्कनिर्मितम् निर्णयसागर प्रेस मुंबई
निरुक्तस्य दुर्गवृत्ति
नीलकेशी तामिलभाषानिबद्धो जैनग्रन्थ

न्यायकुमु० न्यायकुमुदचन्द्र, माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मुंबई
न्यायकन्दली, Vizianagaram Sanskrit Series.
न्यायपरीक्षा दिङ्नागरचिता
न्यायप्र० न्यायप्रवेशक, Gaekwad's Oriental Series, Baroda.
न्यायप्रवेशकवृत्ति. ,,
न्यायप्रवेशकवृत्तिपञ्जिका ,,
न्यायबिन्दु, चौखम्बा सीरीज़, काशी
न्यायबिन्दुटीका ,,
न्यायबिन्दुपूर्वपक्षसंक्षेप कमलशीलरचित (भोटभाषानुवादात्मक)
न्यायमञ्जरी, काशी संस्कृत सीरीज़
न्यायमु० न्यायमुखं दिङ्नागरचितम्,
न्यायविनिश्चय, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
न्यायविनिश्चयटीका ,,
न्यायसू० न्यायसूत्रम्, चौखम्बा सीरीज़, काशी
न्यायभाष्यम् ,,
न्यायवा० न्यायवार्तिकम् चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, काशी.
न्यायवा० ता० न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, कलकत्ता संस्कृत सीरीज़.
न्यायावतार, जैन श्वेताम्बर कोन्फरन्स, मुंबई
न्यायावतारटीका ,, ,,
न्यायावतारवार्तिकवृत्ति, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, मुंबई
पंचवस्तु हरिभद्रसूरिरचितम्, देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार फंड, सुरत
पंचसं० पंचसंग्रह, मुक्ताबाई जैन ज्ञानमंदिर, डभोई
पंचसंग्रहस्वोपज्ञवृत्ति. ,, ,,
पा० पाणिनीयव्याकरणम्, निर्णयसागर प्रेस, मुंबई
पा० धा० पाणिनीयधातुपाठ, निर्णयसागर प्रेस, मुंबई
पा० वा० पाणिनीयव्याकरणस्य वार्तिकम्, राजस्थान संस्कृत कोलेज ग्रन्थमाला, बनारस
पा० म० भा० प्रदीप पातञ्जलमहाभाष्यस्य प्रदीप कैयटकृत, राजस्थान संस्कृत कोलेज ग्रन्थमाला, बनारस
पा० म० भा० राजलक्ष्मी पातञ्जलमहाभाष्यस्य राजलक्ष्मीवृत्ति, राजस्थान संस्कृत कोलेज ग्रन्थमाला, बनारस.
पातञ्जलमहाभाष्यस्य उद्द्योत, राजस्थान संस्कृत कोलेज ग्रन्थमाला, बनारस
पातञ्जलमहाभाष्यस्य त्रिपादी वृत्ति भर्तृहरिरचिता
पाणिनीयव्याकरणस्य काशिका वृत्ति, चौखम्बा, काशी
पा० सिद्धान्त कौ० पाणिनीयव्याकरणस्य सिद्धान्तकौमुदी व्याख्या, निर्णयसागर प्रेस, मुंबई
पा० बालमनोरमा पाणिनीयसिद्धान्तकौमुद्या बालमनोरमा व्याख्या, चौखम्बा काशी
पातञ्जलयोगदर्शनम् चौखम्बा सीरीज़, बनारस
पातञ्जलयोगदर्शनभाष्य व्यासप्रणीतम् ,
पातञ्जलयोगभाष्यवृत्ति तत्त्ववैशारदी ,,
पाशुपतसूत्रस्य पञ्चार्थभाष्यम् Trivandrum Sanskrit Series
प्रज्ञापनासू० प्रज्ञापनासूत्रम्, आगमोदयसमिति, सुरत
प्रज्ञापनासूत्रवृत्ति ,,
प्रभावकचरित्रम्, सिंघी जैन ग्रन्थमाला

प्रमाक० मल्लवादिप्र० प्रभाकरचरिते मल्लवादिप्रबन्ध
प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार, बनारस
प्रमाणमी० प्रमाणमीमांसा सिंघी जैन ग्रन्थमाला
प्र० वा० प्रमाणवार्तिकम्, पटना
प्रमाणवा० स्ववृ० प्रमाणवार्तिकस्य स्ववृत्ति बनारस हिन्दु युनिवर्सिटी
प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीका, किताब महाल इलाहाबाद
प्र० वा० देवेन्द्र० प्रमाणवार्तिकस्य देवेन्द्रबुद्धिकृता वृत्ति (भोटभाषानुवाद)
प्रमाणवार्तिकटीका शाक्यमतिरचिता (भोटभाषानुवाद)
प्र० वा० म० / प्रमाण वा० मनो० } प्रमाणवार्तिकस्य मनोरथनन्दिनी टीका Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Patna
प्र० वा० म० टि० प्रमाणवार्तिकमनोरथनन्दिनीटिप्पणम्
प्र० वा० म० पार० प्रमाणवार्तिकमनोरथनन्दिनीपारटिप्पणम् ,,
प्र० वार्तिकाल० / प्रमाणवार्तिकाल० } प्रमाणवार्तिकालङ्कार काशीप्रसाद जायसवाल रीसर्च इन्स्टिट्यूट पटना
प्रमाणविनिश्चय धर्मकीर्तिरचितः (भोटभाषानुवादात्मक)
प्र० समु० प्रमाणसमुच्चय
प्र० समु० स्ववृ० प्रमाणसमुच्चयस्य दिग्नागरचिता स्ववृत्ति (भोटभाषानुवादात्मिका)
प्रमाणल० प्रमाणलक्ष्म सिंघी जैन ग्रन्थमाला
प्रमालक्ष्म जिनेश्वरसूरिरचितम्
प्रमेयकमलमार्तण्ड, निर्णयसागर प्रेस मुंबई,
प्रमेयरत्नमाला अनन्तवीर्यरचिता अमरावती
प्रवचनसारोद्धारटीका, देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड सुरत
प्रामरनिप्रकरणम् भामानातिरचितम्
प्रशस्तपा० प्रशस्तपादभाष्यम्, चौखम्बा सीरीज काशी
प्रशस्तपादभाष्यकिरणावली, चौखम्बा सीरीज काशी
प्रा० व्या० प्राकृतव्याकरणम् Bombay Government
बृहट्टिप्पनिका जैन साहित्य संशोधक पत्रपरिशिष्टान्तर्गता
बृहत्कल्पसूत्रम् जैन आत्मानंद सभा भावनगर
बृहत्संग्रहणी जिनभद्रगणिरचिता
बृहदा० वा० बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिकम् आनन्दाश्रम पुना
बोधिचर्या० बोधिचर्यावतार, एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता
ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् निर्णयसागर प्रेस मुंबई
ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यभामती वाचस्पतिमिश्ररचिता
भगवतीसू० भगवतीसूत्रम्, आगमोदयसमिति सुरत
भगवतीसूत्रस्य वृत्ति
भगवद्गीता
भद्रबाहुच० भद्रबाहुचरित्र सिंघी जैन ग्रन्थमाला मुंबई
मध्यमकवृ० मध्यमककारिकावृत्ति Leningrad Russia
मध्यान्तविभागटीका, जापान
मस्करिभा० मस्करिकृतभाष्यम् Government Library Series, Mysore

महादेवस्तोत्रम्, जैन आत्मानन्दसभा, भावनगर
महानारायणोपनिषद्
महाभा० आश्व० महाभारत आश्वमेधिक पर्व, चित्रशाला प्रेस, पुना
महाभा० वनप० महाभारतवनपर्व ,,
महाव्युत्पत्ति. जापानदेशे प्रसिद्धा टिबेटन–संस्कृतशब्दकोशरूपा
मीमांसाद० } मीमांसादर्शनम्, आनन्दाश्रम, पुना
मीमांसासू० }
मीमांसान्यायप्रकाशः, निर्णयसागर प्रेस, मुंबई
मीमांसाश्लोकवा० } मीमांसाश्लोकवार्तिकम्,
मी० श्लो० वा० } चौखम्बा सीरीज, काशी
मीमांसाश्लोकवार्तिकस्य शर्करिकावृत्ति., मद्रास युनिवर्सिटी संस्कृत सीरीज
मीमांसाश्लोकवार्तिकस्य भट्टोम्बेककृता वृत्ति, मद्रास युनिवर्सिटी संस्कृत सीरीज
मुण्डको० मुण्डकोपनिषद्, निर्णयसागर प्रेस, मुंबई
मुण्डको० भा० मुण्डकोपनिषद्भाष्यम्
मूलाचार, माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, मुंबई
मेघदूतम्, निर्णयसागर प्रेस, मुंबई
मै० सं० मैत्रायणीसंहिता, स्वाध्यायमण्डल, औंध
यजुर्वेद ,,
याज्ञवल्क्यस्मृति, निर्णयसागर प्रेस, मुंबई
योगभाष्यम्, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, काशी
योगभाष्यस्य तत्त्ववैशारदी वृत्तिः ,,
योगवार्तिकम् ,,
योगशास्त्रम्, जैनधर्मप्रसारकसभा, भावनगर
योगशास्त्रस्य स्वोपज्ञवृत्ति ,,
रत्नाकरावतारिका यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी.
लङ्कावतारसू० लङ्कावतारसूत्रम्
वसुदेवहिण्डी, जैन आत्मानन्दसभा, भावनगर
वाक्यप० वाक्यपदीयम् (i) रामलाल कपूर ट्रस्ट सोसाइटी, लाहोर, (ii) चौखम्बा संस्कृत सीरीज, काशी
वाक्यपदीयस्ववृत्ति, रामलाल कपूर ट्रस्ट सोसाइटी, लाहोर
वाक्यपदीयस्ववृत्तेः वृषभदेवकृता वृत्तिः ,,
वाक्यपदीयस्य पुण्यराजकृता वृत्ति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, काशी
वाक्यपदीयस्य हेलाराजकृता वृत्ति ,,
वादन्याय, महाबोधि सोसाइटी, सारनाथ
वादन्यायवृत्ति ,,
वादविधानम् वसुबन्धुरचितम्
वादवि० वादविधि ,,
वार्षगणतन्त्रम्
वार्षगणतन्त्रभाष्यम्
विधिविवेक., लाजरस प्रेस, काशी
विशाला० प्रमाणसमुच्चयस्य विशालामलवती टीका (भोटभाषानुवादात्मिका)
विशेषणवती जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणरचिता

विशेषाव० भा० विशेषावश्यकभाष्यम् यशोविजय जैन ग्रन्थमाला काशी
विशेषावश्यकभाष्यस्य स्वोपज्ञा वृत्ति हस्तलिखिता
विशेषावश्यकभाष्यस्य कोट्टार्यवादिगणिरचिता वृत्ति हस्तलिखिता
विशेषावश्यकभाष्यस्य कोट्याचार्यरचिता वृत्ति
विशेषावश्यकभाष्यस्य मलधारिहेमचन्द्रसूरिरचिता वृत्ति , यशोविजय जैन ग्रन्थमाला काशी
विंशतिकाविज्ञप्तिमात्रतासिद्धिवृत्ति Edited by Sylvain Levi, France
वैशेषिकदर्शनस्य भूमिका गुजराती प्रिंटिंग प्रेस मुंबई
वै० सू० वैशेषिकसूत्रम् काशी संस्कृत सीरीज़
वैशेषिकसूत्रस्य चन्द्रानन्दरचिता वृत्ति , गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज, बडोदरा
वैशेषिकसूत्रव्याख्या, मिथिला विद्यापीठ दरभंगा
वै० सू० उप० वैशेषिकसूत्रस्य उपस्कार चौखम्बा संस्कृत सीरीज काशी
शतपथब्राह्मणम्, स्वाध्यायमण्डल औंध
शाकटायनव्याकरणम्
शान्त्युपनिषद्, निर्णयसागर प्रेस मुंबई
शाबरभा० शाबरभाष्यम् आनन्दाश्रम पुना
शास्त्रदीपिकायुक्ति० शास्त्रदीपिकाया युक्तिस्नेहप्रपूरणी सिद्धान्तचन्द्रिका निर्णयसागर प्रेस मुंबई
शास्त्रवार्तासमुच्चय, देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड सुरत
शिक्षासमुच्चय, Bibliotheca Buddhica Russia
शुक्लयजुर्वेदस्य वाजसनेयी संहिता, स्वाध्यायमण्डल, औंध
शुक्लयजुर्वेदभाष्यम्
शुक्लयजुर्वेदस्य महीधरकृता वृत्ति
श्लोकवार्तिकम् मीमांसाश्लोकवार्तिकम्
श्वेताश्व० श्वेताश्वतरोपनिषद् निर्णयसागर प्रेस, मुंबई
श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्यम् शङ्कराचार्यरचितम्
षड्दर्शनसमुच्चयस्य बृहद्वृत्ति , जैन आत्मानन्द सभा भावनगर
षष्टि० षष्टितन्त्रम्
सत्याषाढश्रौतसूत्रम्
सत्याषाढश्रौतसूत्रटीका
सन्मति० सम्मति० सन्मतितर्कप्रकरणम्, गुजरातपुरातत्त्वमन्दिर अमदावाद
सन्मतिवृ० सन्मतिवृत्ति
समयसार कुन्दकुन्दाचार्यरचित
समयसारस्य व्याख्या अमृतचन्द्ररचिता
समयसारस्य व्याख्या जयसेनरचिता
सरस्वतीकण्ठाभरणम् भोजरचितम्
सर्वदर्शनस० सर्वदर्शनसंग्रह आनन्दाश्रम पुना
संयुत्तनिकाय Pali Text Society, London
सामान्यपरीक्षा दिङ्नागरचिता
सायणभाष्यम् ऋग्वेदादीनां सायणविरचितं भाष्यम्
सारस्वतव्याकरणम्, निर्णयसागर प्रेस मुंबई
सांख्यका० सांख्यकारिका सांख्यसप्तति , सुवर्णसप्तति , चौखम्बा सीरीज काशी आदि

१ सांख्यकारिकाया एव 'सांख्यसप्तति' 'सुवर्णसप्तति' इति च नामान्तरे ॥

सांख्यकारिकाया गौडपादभाष्यम्
सांख्यका० जयम० सांख्यकारिकाया जयमङ्गलावृत्ति
सांख्यका० जे. वृ A सांख्यकारिकाया जेसलमेरस्था हस्तलिखिता वृत्ति
सांख्यका० जे. वृ B सांख्यकारिकाया जेसलमेरस्था हस्तलिखिता वृत्ति
सांख्यका० माठर० सांख्यकारिकामाठरवृत्ति, चौखम्बा संस्कृत सीरीझ, काशी
सांख्यका० युक्तिदीपिका सांख्यकारिकायुक्तिदीपिकावृत्ति, कलकत्ता संस्कृत सीरीझ
सांख्यतत्त्वकौ० सांख्यकारिकाया सांख्यतत्त्वकौमुदीवृत्ति
सिद्ध० द्वा० सिद्धसेनदिवाकररचिता द्वात्रिंशिका, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर
सिद्धप्राभृतम्
सिद्धहेम० सिद्धहेमशब्दानुशासनम्, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी
सिद्धहेमशब्दानुशासनस्य बृहद्वृत्ति
सिद्धहेमशब्दानुशासनस्य लघुन्यास
सिद्धिविनिश्चयटीका हस्तलिखिता
सुवर्णसप्तति सांख्यकारिका सटीका, तिरुपति, मद्रास
सुश्रुतसंहिता, निर्णयसागर प्रेस, मुंबई
सूत्रकृताङ्गम्, आगमोदयसमिति, सुरत
सूत्रकृताङ्गवृत्ति ,,
सूर्यप्रज्ञप्तिसूत्रम् ,,
स्थानाङ्गसूत्रम् ,,
स्थानाङ्गसूत्रटीका ,,
स्पन्दकारिका, काश्मीर सीरीझ IV
स्याद्वादम० स्याद्वादमंजरी, आर्हतमतप्रभाकरकार्यालय, पुना
स्याद्वादरत्नाकर वादिदेवसूरिरचित ,,
हस्तवालप्रकरण सटीकम् Journal of the Royal Asiatic Society, London
हेतुचक्रह(ड)मरु दिङ्नागरचित (भोटभाषानुवादात्मक)
हेतुतत्त्वोपदेश Series Oriental Rome, Italy
हेतुबिन्दु Gaekwad's Oriental Series, Baroda
हेतुबि० टी० हेतुबिन्दुटीका ,,
हेतुमुखम् दिङ्नागरचितम्
हैम उणा० हैम उणादि (सिद्धहेमबृहद्वृत्त्यन्तर्गत)
हैमकोश हेमचन्द्राचार्यरचित अनेकार्थसंग्रह
हैमधा० हैमधातुपाठ
हैमधातुपारायणम्, Vienna, Austria, Europe

अ—अध्याय अनुवाको वा। **का**—कारिका। **टि**—टिप्पणम्। **टिपृ**—टिप्पणपृष्ठाङ्कः। **पं.**—पङ्क्ति। **भोट.**—भोटभाषानुवाद। **श्लो.**—श्लोक। **सू**—सूत्रम्। **सं.**—संस्कृते विहितोऽनुवाद।
A = उपरितन पृष्ठम्। B = अधस्तन पृष्ठम्। T = Text सूत्रपाठ

---

१ इयं वृत्ति **सुवर्णसप्ततिव्याख्यया** (चीनभाषानुवादत N Aiyaswami Shastri इत्येभि संस्कृतेऽनूदितया) बहुषु स्थलेषु समानप्राया इत्यस्माकमनुभव ॥
२ इयं वृत्ति **माठरवृत्त्या** बहुषु स्थानेषु समानप्राया इत्यस्माकमनुभव ॥
३ सम्प्रति भारतीयज्ञानपीठेन (काशी) प्रकाशिता ॥

C ed = Chom edition
D ed = Derge edition
N ed = Narthang edition
O = चन्द्रानन्दरचितवृत्तियुक्तस्य वैशेषिकसूत्रस्य Oriental Institute Baroda सत्का प्रति
P = चन्द्रानन्दरचितवृत्तियुक्तस्य वैशेषिकसूत्रस्य मुनिराजश्रीपुण्यविजयमहोदयेभ्योऽधिगता प्रति
P ed = Peking edition
PS[1]—प्रमाणसमुच्चयकारिकाणां वसुधररक्षितविरचितो भोटभाषानुवाद संस्कृते तत्परिवर्तन वा
PS[2]—प्रमाणसमुच्चयकारिकाणां कनकवर्मरचितो भोटभाषानुवाद संस्कृते तत्परिवर्तन वा
PSV[1]—प्रमाणसमुच्चयवृत्तेर्वसुधररक्षितविरचितो भोटभाषानुवाद, संस्कृते तत्परिवर्तन वा
PSV[2]—प्रमाणसमुच्चयवृत्ते कनकवर्मविरचितो भोटभाषानुवाद, संस्कृते तत्परिवर्तन वा
VT— विशालामलवती' इत्यभिधाया जिनेन्द्रबुद्धिविरचिताया प्रमाणसमुच्चयटीकाया भोटभाषानुवाद संस्कृते तत्परिवर्तन वा
WZKSO—Wiener Zeitschrift für die Kunde Süd-und-Ostasiens

चन्द्रानन्दरचितवृत्तियुतस्य वैशेषिकसूत्रस्य अध्यायक्रमेण
O. पुस्तके[1] शुद्धपाठाः

प्रथमोऽध्यायः

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृ०[2]	पङ्क्तिः
हेतुत्वेनोप°	हेतुत्वेनाप°	४४४	१९
द्रव्याणि	द्रव्यगुणकर्माणि	४४४	२६
द्रव्याणि नाधिकानि	द्रव्याणि पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात् पृथिवी । एवमवादिसंज्ञा । ' नैव द्रव्याणि नाधिकानि	४४४	२७
°मर्वं	°मर्वम्	४४४	२७
अपोवृनि	अथोऽम्वृनि	४४८	३४
" द्रव्याणि	" त्रयाणामेकत्वे प्राप्ते वैधर्म्यमुच्यते तथा हि—द्रव्याणि "	टि पृ०[3] २४	३४
°नुपलम्भात् । एवं कानिचिद् द्रव्याण्यारम्भकानि कारणाविरोधि	°नुपलम्भ स्यात् । एव च कानिचिद द्रव्याण्यारम्भकाणि कारणाविरोधि "	पृ० ४४०	२४
कारणः विरोध	कारणविरोध	,, ४४०	२८
रूपादय कारणै°	रूपादय कार्योभयकारणै—°	,, ४४०२	९
तदैव	तदेव	,, ४४०	१६
सापेक्षकारणम्	सापेक्ष कारणम्	,, ४४०	१९
°दुत्पाद्या°	°दुत्पाद्य°	,, ४४०	२३
°र्बहूना द्रव्याणां	°र्बहूना वा द्रव्याणा	,, ४३८	१८
" आनुपत्तिका '	' इन्द्रा आनुपत्तिका "	,, ४४५	२८
सत्ता सामान्यमेव	भाव सत्ता सामान्यमेव "	,, ४४५	२७
कर्मसु कर्मणाम्	कर्मसु च कर्मणाम्	टि पृ० ९	१४
सत्तात्वादय	द्रव्या (व्यत्वा) दय	९	१६
तथैकद्रव्यत्वान्न	तथैकद्रव्यत्वान्न	,, ९	१७
चावृत्ते [कर्म न]	चावृत्तेर्न कर्म		
कर्मत्वम्	कर्मत्वम्	९	२२

द्वितीयोऽध्यायः

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृ०	पङ्क्तिः
°परत्वसंस्काराश्च	°परत्वगुरुत्वसंस्काराश्च	,, १७	२१
पुच्छ	पुच्छम्	,, १७	२९
वायुरिति सन्निकर्षे	वायुरिति सति सन्निकर्षे	,, १८	२
[चक्षुषा गो] सन्निकर्षे यथा 'अय गौ ' इति परोक्षत्वात्	गोश्चक्षुषा सन्निकर्षे परोक्षत्वात्	,, १८	२
प्रतिषेधेन	तत्प्रतिषेधेन	,, १८	५
भावप्रतिघात	भावाना प्रतिघात	,, १८	६
तत्र	तत्र	,, १८	१५
चाकाशकृत	चाकाशकृतत्वाद्		
द्वारादिना	द्वारादिना	,, १८	१९
कार्यगुणो	का(र्ये) गुणो	,, १८	२२

---

१ Oriental Institute, Baroda सत्कस्य O पुस्तकस्य निर्देशो वैशेषिकसूत्रसम्बन्धिपरिशिष्टे [टि० पृ० १४८ प० ३०] विहित एवास्माभि । P प्रत्यपेक्षया O प्रतौ ये शुद्धा पाठास्तेऽत्राध्यायक्रमेण सगृहीता । किञ्च P प्रतौ विद्यमाना अपि ये शुद्धपाठा अशुद्धा मुद्रितास्तेऽपि शुद्धीकृता अत्र, तेषा च पुरत * ईदृश चिह्नं स्थापितमिति ध्येयम् ।

२ ' पृ० ' इत्यनेन सवृत्तिकस्य नयचक्रग्रन्थस्य पृष्ठं ज्ञेयम् ॥

३ ' टि० पृ० ' इत्यनेन नयचक्रस्य चतुर्णामराणामन्ते योजितानां टिप्पणानां पृष्ठं ज्ञेयम् ॥

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृ०	पंक्ति
अनारब्धद्रव्येऽपि	अनारब्धेऽपि	, १८	३४
न यावद्द्रव्यभा	ननु(न्व)यावद्		
विना	द्रव्यभावेनो	,, १९	४
°पुपलब्धे ।	नुपलब्धे । न ।		
व्यवस्थि न	व्यवस्थित	१९	४
सलिलशीतला	सलिले शीतला	,, १९	८
तथैव क्रिया	तथैव क्रिया	पृ० ४५३	२०
तुल्यक्तरि	तुल्य क्तरि	पृ ४५३	२१
ऊर्ध्वादीनि	पूर्वदक्षिणादीनि		
दिगन्तराणि	दिगन्तराणि	टि पृ० १९	२५
[गुण] स्थमसिद्ध	गुणस्थमसिद्ध	१९	२८
स्थाणु पुरुषो नु वा	स्थाणु स्यात्		
	पुरुषो न वा	,, १९	३०
वायोऽन्यतरश्च ।	वायुरन्यतरश्चेति ।	, १९	३१
°स्वगत आलाप	°स्वगत आलाप		
मानेन च	मानेन च	, १९	६
अभ्यन्तरेषु	अभ्यन्तरेषु	१९	३६
श्रोत्रेण यो गृह्यतेऽर्थ	श्रोत्रेण गृह्यते योऽर्थ	२०	९
स शब्द । श्रोत्रेण यो स शब्द सामान्या°			
गृह्यत सामान्या°			
°भूतेषु विशेषस्या°	भूतेषु च विशेषस्यो		
		टि पृ० २०	११
असजातीयाभ्या [च	असजातीयाभ्यां च		
गुणकर्मभ्याम्] तत	गुणकर्मभ्यां । तत	२०	१२
अचाक्षुषत्वात् न कर्म	अचाक्षुषत्वात् कर्म	२०	१५
तेभ्यस्त्रय वेदा	तेभ्यस्त्रयो वेदा	२०	२६
शब्द[स्य] प्रथमाया	शब्दस्य प्रथमाया	२०	३१
शब्दस्य [स] एवाय	शब्दस्य स एवाय	२०	३२

तृतीयोऽध्याय

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृ०	पंक्ति
°स्वभावा सिद्धा	स्वभावा प्रसिद्धा		
		टि पृ ३२	१३
अन्य एव हेतुरित्यनप	अन्य एव हेतुरित्यनप		
देश	देश ।३।१।१। अर्थान्तरे		
	ह्यर्थान्तरस्यानपदेश		
	३।१।८	, ३२	१९
प्रसिद्धिपूर्व	प्रसिद्धिपूर्व	३२	२८

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृ०	पंक्ति
°मित्रसम्बन्धेन	मित्रेण सम्बन्धिन	, ३३	३६
देवदत्त प्र	देवदत्तशब्द प्र	, ३३	३७

चतुर्थोऽध्याय

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृ०	पंक्ति
मुपलब्धे त[स्मा]त्	°मुपलब्धेऽन सार्यस्य		
कार्यस्य		३४	१०
तदपि [अ]नित्यत्व	तदपि अनित्यत्व	३४	१३
विशिष्टाया अग्रहणात्	विशिष्टायाश ग्रहणा	३४	१८
द्व्यणुकेऽपि	द्व्यणुकेऽपि	३४	१८
घटादिना	घटादिना	३४	२०
[रूपेण] विशिष्ट	रूपीति विशिष्ट	, ३४	२४
सर्वेन्द्रिय ज्ञान	सर्वेन्द्रियज्ञान	, ३४	२७
सामान्यविशेषेषू	सामान्यविशेषास्ते		
लम्भ०	पूर्वलम्भ	३४	२९
शरीरे नारम्भकत्वन	शरीरेऽनारम्भकत्वन	, ३५	४

पञ्चमोऽध्याय

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृ०	पंक्ति
°संयोगादे [व]	संयोगादेव	पृ० ४८२	८
च कर्मारम्भे	च गुणकर्मारम्भे*	, ४८२	११
वा अयस्कान्त	चायस्कान्त	४८२	२९
°विशेषात्कर्मा यत्वे	विशेष (पा)		
	कर्मान्यत्व	४८२	३०
नोदनाद्यभिघातात्	नोदनादभिघातात्*	४८२	३७
नोदनाद विभागहेतो	नोदनात् प्रेरणाद्वि		
	भागहेतो	,, ४८३	१४
पदादि	पादादि°	४८२	१४
वभूषा	त्रिरूपा ' [यजुर्वेद		
	७।१।३]	४८३	२८
तरङ्गा(ङ्गा)भूताना	तरङ्गभूताना	,, ४८३	३०
मनसि शरीरस्य	मनसः सशरीरस्य	४३९	१८
नाड्यानुप्रविष्टेन	नाड्यनुप्रविष्टेन	४३९	२५
संयोगा त ताय	संयोगा ताय	४३९	२६
न्यग्टनेन	न्यग्भेनैव*	, ४२९	२६
भाऽभावमात्र	भावाभावमात्र*	४३९	२९
निष्क्रियाणि	निष्क्रियाणि		
	द्रव्याणि	टि पृ० ३५	१६

१ चन्द्रानन्दरचितवृत्ताविदमेकमेव सूत्र दृश्यते ॥ २ केवले वैशेषिकसूत्रपाठेऽस्य सूत्रद्वयमुपलभ्यते । अनन्तदनुसारेणोत्तरसूत्रेष्वेकोऽङ्क वर्धनीय ॥ ३ केवले सूत्रपाठेऽस्य पाठ ॥ ४ चन्द्रानन्दरचितवृत्तावयं पाठ ॥
नय टि २१

षष्ठोऽध्यायः

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृ०	पंक्तिः
द्विपूर्वा या अत	बुद्धिपूर्वा सा तत	टि पृ० ३५	२५
युज्येत	युज्यते	,, ३६	६
सम । तौ त्यक्त्वा अन्यो°	सम । सर्वैर्युक्तौ विशिष्ट । तौ त्यक्त्वान्यो°	,, ३६	९
प्रतिग्रहीतृणा अन्योन्यापेक्षश्चेति	प्रतिग्रहीतृणामन्योन्यापेक्षयेति	,, ३६	१७
°वानप्रस्थयज्ञदान°	°वानप्रस्थ्ययज्ञदान°	,, ३६	२१
गुरुचर्यापरस्य	गुरुपरिचर्यापरस्य	,, ३६	२४
°विधिना नि सृतोऽरण्यप्रस्थितो°	°विधिना गेहान्नि-सृत्यारण्यप्रस्थितो°	,, ३६	२४
वानप्रस्थम्	वानप्रस्थ्यम्	,, ३६	२५
°मुपधाश्चानुपधाश्च	°मुपधाच्चानुपधाच्च	,, ३६	२८
यदि प्रयत्न [ ] प्रवानम्	यदि प्रयत्न प्रधानम्	टि० पृ० ३७	१५
प्रमेयमात्रस्य भावा°	न प्रयत्नमात्रस्य भावा°	,, ३७	१६
वैरण्यसुख°	यैर्यैरस्य सुख°	,, ३७	१७
अवर्मेऽपीच्छा-[पूर्विका] पर°	अवर्मेऽपीच्छा-पूर्विका पर°	,, ३७	२३

सप्तमोऽध्यायः

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृ०	पंक्तिः
पार्थिवस्य विनाशात्	पार्थिवस्य द्रव्यस्य विनाशात्	पृ० ४५२	२५
नित्या [आ]श्रय°	नित्या आश्रय°	,, ४५२	३०
°मनसा[म]नुपलब्धि	°मनसामनुपलब्धि	टि० पृ० २१	३२
एकस्मिन्नेव वस्तुनि	एकस्मिन्नेव काले तस्मिन्नेव वस्तुनि	,, २२	९
°द्वित्वौपचारिकत्वम् ।	°द्वित्वौपचारिकत्वं	,, २२	१६
इत्या(त्य) तिदेश	इत्यतिदेश	,, २२	१६
द्रव्यस्या[त्यन्त]-मसम्भव	द्रव्यस्यासम्भव	पृ० ४४६	१६
°नित्यत्वाद्यानित्यौ	°नित्यत्वादनित्यौ	,, ४५३	३४
निर् (र्तृ) तिश्च	निष्पत्तिश्च	,, ४५३	३४
एकत्वैकपृथक्त्वयो°	एकत्वपृथक्त्वयो°	टि० पृ० २२	२५
गुणादिषु भाक्तमित्यत एतीप्रसगात्	गुणादिषु भाक्तं यदेकत्वं कल्प्यते तद् भवत एकत्वसिद्धौ न पर्याप्नोति, ' द्रव्येषु मुख्यम्, गुणेषु भाक्तम्' इत्यत एव भेद-प्रसङ्गात् ।	टि० पृ० २२	२९
एतदनित्ययोर्व्याख्यातम्	एतदनित्यनित्ययोर्व्याख्यातम्	,, २२	३१
°कारणयोरेकत्वं [न],	°कारणयोर्नैकत्वं	,, २२	३३
वाऽनित्ययो' त्वगिन्द्रिय°	चाऽनित्ययो त (य)था घटपटयो त्वगिन्द्रिय° ।	पृ० ५१६	३०
शब्दा [द] र्थं°	शब्दादर्थं°	टि पृ० २३	२३
सम्बन्ध°	सम्बद्ध	,, २३	२६
चार्था	चार्थः	,, २३	२७
सङ्केतनिमित्त [ ] शब्दा [द] र्थे	सङ्केतनिमित्त शब्दादर्थे	,, २३	२९
°गुणत्वप्रतिषेधो	°गुणत्वकर्मत्व-प्रतिषेधो	पृ० ५२६	३१

अष्टमोऽध्यायः

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृ०	पंक्तिः
न तथा गुणादिषु	न तु गुणादिषु	पृ० ४४२	२६
गुणादीना यत	गुणादीना चेन्द्रियेण सन्निकर्षो नास्तीत्यत-स्तिदानीं ज्ञान-मुच्यते तेषामसन्नि-कर्षे विज्ञान यत	,, ४४२	२७
संयुक्तसमवाय ज्ञानम्,	संयुक्तसमवाया-ज्ज्ञानम्	,, ४४२	३०
प्रसिद्ध्यर्थशब्द	प्रसिद्धया अर्थशब्द'	,, ४८०	२०
आरम्भकानि	आरम्भकाणि	,, ४८०	२४
आकाशे	आकाश	,, ४८०	३१
शष्कुल्यावच्छिन्नं	°शष्कुल्यवच्छिन्नं	,, ४८०	३१

नवमोऽध्यायः

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृ०	पंक्तिः
भूतप्रत्ययाभावाद्	भूतस्य प्रत्यक्षाभावाद्	,, ४८९	३१
स असदिति	असदिति	,, ४८९	३२
अन्यथा कथमिव	अन्यथा तत् कथमिव	,, ४९०	१५
यथा हि	यदा हि	,, ४९०	१८
कारणान्तरितसम्यक्	कारणान्तरत सम्यक्	,, ४९०	१९
त[था] सा°	तथा सा°	,, ४९०	२०

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृ०	पंक्ति
घगाद स्वरूपतो निषे घ क्रिय[त] इनि	घगादे न स्वरूपतो निषेध क्रियत नि	, ४३५	२१
लिङ्गदर्शनान्	लिङ्गदर्शनात् टि पृ	४१	३१
मर्ताद्रियार्थे	°मताद्रियार्थं च	, ४१	३२
तथा स्वप्नस्वप्नान्ति-कम् [वै० सू० ९।२०] तथा स्वप्न स्वप्नऽपि स्वप्नान स्वप्नान्तिक च। उपरतेद्रियस्य	तथा स्वप्न स्वप्नान्तिक च [वै० सू० ९।२] उपरतेद्रियस्य	४२	५

दशमोऽध्याय

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृ०	पंक्ति
सुखम्। परस्पर विरुद्धे	सुखम्। विशादि कारण जन्य दु खम्। परस्पर विरुद्धे	, ४२	२४
°विति चेत् सशय	विनि चेत् न सशय°	, ४२	२३
इत्येतस्मिन्	इत्येकस्मिन्	, ४२	२२
कार[ण]बुद्धी	कारणबुद्धि	, ४३	२९
कमकारणे समवेतत्वाद्	कमकारणेऽभिहृ तरि च(चा)कारण(णे) समवेतत्वाद्	४३	३४
लैङ्गिक	गङ्गिर	४४	२६
°थोपासनाक्रमेण	°थाभामाक्रमण*	, ४४	३२
विद्यादावर्या	विद्यादानर्या	४४	३४

नयचक्रप्रथमविभागस्य शुद्धिपत्रकम्[2]

पृ०	पं०	मुद्रितम्	शुद्धम्
२	२२	भाव ।	भाव इति भाति
४	५	स्याश्निल	'स्याश्निल्य
७	७	क्रिमेव	क्रिमेव
७	२, ५, १८	एवम्विध°	एवंविध°
८	३०	च	च ॥
१०	१	स्थिति	स्थिति प्रवृत्तिर्मर्यादा
१२	९	°रात्मनश्च	°रात्मनश्च,
१२	१९	°लाघवाभिष्व°	लाघवप्रसवाभिष्व°
१५	१०	तर्व्यातिगयिक	तर्व्यातिशायिक
२२	३०	उक्तिप्र	उक्तिप्र°
२४	५	जातेरिवाजाते	जातेरिवाजाते ,
२५	१	तदात्मन्व,	तदात्मत्व
२५	१८	प्रातपु	प्रातेपु
२६	१०	क्षेत्रतो प्यूर्ध्व°	क्षेत्रतोऽप्यूर्ध्व°
२६	१०-११	°मर्वाग्भाग°	°मधोभाग°
२६	३१	अवाग्भाग	अर्वाग्भाग
३२	६	प्रकल्पते,	प्रकल्पेते
३२	२५	25	२१-२ 25
३२	२७	प्रकापते,	प्रकल्प्यते,
३३	६	प्रधानत्वाच्च तदेव	प्रधानत्वाच्च तदेव
३३	२३	°पापरिभाषा	°पा परिभाषा
३४	४	कार्यम्	कार्यम्, यदि सामान्य, यदि विशेष
३४	११	तथाविशेषे	तथा विशेषे
३५	३	पुणअदिट्ठ°	पुण अदिट्ठ°
३९	२१	स्वकारण वस°	स्वकारणत्वस°
४०	५	देशादिकारण	देशादि कारण
४०	२५	20	25
४२	१६	ज्ञायते	ज्ञायते

पृ०	पं०	मुद्रितम्	शुद्धम्
४२	२८	जाघटीति ।	जाघटीति,
४५	३, १६	नैवं वेति	नैवं चेति
४५	१९	वैवम्'	चैवम्'
४६	१०	नैवं वेति	नैवं चेति
४६	३२	लोमश [शो ?]	लोमश (शो)
४७	१४	°स्तांव्युत्पन्नबुद्ध्यर्तुं°	°स्तांव्युत्पन्नबुद्ध्यर्तुं°
४७	१६	वैस्तृच्य°	वैस्तृच्य°
४७	१७	'मोह	मोह
४९	११	°त्वात् खपुष्पवत्	°त्वात् खपुष्पवत्
४९	२८	°त्वात् खपुष्पवत्	त्वात्
५१	१०	°मन्विष्यते	°मन्वेष्यते
५४	६	पृथुकुक्ष्या°	विकुक्ष्या°
५५	२५	20	25
५६	२६	सूत्रण	सूत्रेण
६१	२१	°श्लोक्कि°	°श्लोक्कि°
६१	३०	°नाभि° ॥	°नाभि° य० ॥
६३	६	४३२	४३-२
६३	१४	आँचार्योऽत्र	आँचार्योऽत्र
६४	२१	इति ।	इति
६७	५	सवृतिसत्वाद्	सवृतिसत्त्वाद्
६९	१५	रन्यनु-°	अरन्यनु-
७२	१९	रूपत इति रूप्यम्	रूप्यत इति रूपम्
७८	१४	एवम्विध	एवविध
७८	३६	बहुविध रूपमुक्त	बहुविध रूपमुक्त
७९	३१	स्वलक्षणाविषया	स्वलक्षणविषया
८०	२, २७	पञ्चविज्ञान°	पञ्च विज्ञान°
८२	२०	१।२।९	१।२।५८
८३	३	त्राता ।	त्राता सर्ववादभेद-याथार्थ्यपरिपालनात्

१ यत्र वृद्धिरावश्यकी तत्र वृद्धिरपि अत्र शुद्धिपत्रके समावेशितेति ध्येयम् ॥

२ ये पाठा परित्याज्या अनावश्यका वा तत्र × एतादृशं चिह्नं विहितमस्मिन्छुद्धिपत्रके इति ध्येयम् ॥

पृ०	प०	मुद्रितम्	शुद्धम्
८८	३१ ३२	विषय ह्यनुमानम्	विषयमनुमानम्"
८८	३३	अर्यते	अर्यते
८९	२१	स्वपिय	स्वविषय,
९०	१४	सामान्यान्म°	सामान्यात्म
९२	२०	चति	चास्तीति
९३	२०	स्मृतिसतम्	स्मृतिसत्यम्
९५	२२	कारकादप्यने	×
		कर्मादथाजायते	×
		साध्यसाधनधर्मा	×
		न्वयव्यातवत ।	×
९६	९	मित्यादि	मित्यादि,
९	२७	°ज्ञानपु	°विज्ञानपु
९८	२१	तत्र	तस्य
९९	१०	गम्य	°गमय
९९	२८	ख्याँप्यायां	ख्याँप्यायां
१००	२	एवम्विधा	एवंविधा
१०४	११	तयार्थस्थाना	°तयार्थद्वय
१०८	२९	४।२२	२।२२
१०९	२८	°मेवावत	मेवविन
११३	२८	अबुध वगमने	बुध अवगमने
११४	७	द्रव्यशब्दा	द्रव्यशब्दो द्रोरवयवे
११६	२	भिन	भिन्न
११७	७	१२।३।१६७	१२।१०।४६८
१२०	९	व्यावर्त्यायते	व्यापायते
१२१	४	वाग्य	वाय य
१२१	९	प्रतिपत्ति	प्रति ति
१२१	१	द्विविपया	द्विविपगा
१२	१ २२ २ ७-२		२०८१
१२६	५	सामान्यस्था	सामान्यस्था
१२८	१	पा म० मा	पौ० म मा०
१२९	२	°त्वात्	°त्वात् वाक्यभेद एव वा
१३०	१३	श्रुति	श्रुति
१३१	१५	प्राप्तिरिति	प्राप्तिरित्ति
१३३	१	तुल्य°	तुल्येन
१३३	०	°माय	°माय १।१।४४
१३९	२	तुलाणी	तुन्यरा
१४१	२	वार्य	वाय
१४६		तम	तम,
१४७	१८	कार्य्येन	कनयता
१४८	२१	धृत्या	धैर्य्या°
१४८	४	"यया	"भैया

पृ०	प०	मुद्रितम्	शुद्धम्
१४८	१५	°पर्वते	पर्वते
१४८	२५	भावस्थो	भावस्थो
१५०	१०	°मिप्यते	मिष्यतो
१५२	२२		२०८२
१५६	१९	पुनरुक्तत्वान्	पुनरुक्तवात्
१५७	१८	[वा]	×
१५८	२४	गुड्स्य चाम्बु	गुडस्याचम्बु
१६२	७	तैन्	तेन,
१६३	५	वा	वा
१६५	२८	पृ० १६५ प० ७	पृ० १६८ प० ५
१६	१२	वैयास्त्वया	वायास्त्वया
१६६	१७	°पादानाबुद्धि°	पौदानाबुद्धि
१६७	२५	घटव	घटव
१६७	२६	चक्रकमव	चक्रकम् एव°
१७३	११	नित्यबुद्धि	नामनवि
१७६	१, १० ११	वस्थ वान्	वस्थात्वात्
१७६	३०	सूक्ष्मामूर्त°	सूक्ष्मामूर्त
१८३	२०	तद्वस्तुप्रत्य १	तद्वस्तु प्रत्य १
१८५	४ २५	निमुक्तिस्मात्	निमुक्तिस्मात्।
१८४	५	हि हि	हि
१८५	१८	वस्तु त्वप	विस्तुत्य
१८	६	मनस्त्वादिकाम°	मनन्त्वादि काम
१८७	५	तथाहि	तथा हि
१८८	२१	गौपैधायस्थ°	औपैगायस्थ
१८८	२७	(न्य ?)	(न्य)
१९१	९	सद्दृति	स्हृत
१९४	३	न वत्तो	न्यैरता
१९४	१०	तस्मा	तस्मा
१९४	१६	कदाच	कदाचि
१९४	१७	°पैतीत्नम°	°पैशान्तिम
१९४	१९	तुर्थप	तुथप°
१९४	२१	मूता°	मूता°
१९६	२२	तैथान्या	तैथानथा
१९	२८	आ० पा ।	आ ।
१९७	८	म० पा०	
		[मा॥]	म०॥
१९	२९	वि र हा	
		विनोत्र	×

पृ०	पं०	मुद्रितम्	शुद्धम्
१९५	१९	पा० टे० लीं० ।	प्र० ।
१९७	७	निश्चना	निश्चना-
१९७	१९	पृथिवीचोका	पृथिवी लोका
१९८	१२	नै	नै
१९८	१४	सदिदै	सद्दिदै
१९८	१५	र्थ्यतम्	र्थ्यातम्
१९८	१७	निर्पला	निर्भला
१९८	१८	°नाविर्दाया	°नाविर्थाया
१९८	१९	°योग°	°योगं°
१९८	२१	°र्नादिग°	°र्नादिग°
१९८	२२	°हुवनि°	°युवनि°
१९८	२३		
१९८	२७	३ ४ ४न्यदिति प्र० ॥ ५	
१९८	२८	५ ६ ..७ ८	६ ७ ८ ..९
१९८	२८-२९	९अत्र निधानाद्येषु इत्यपि पाठः स्यात्	×
१९९	८	एव	एव न
२००	६	एकप्रयोजनेना°	एकप्रयत्नेना°
२०१	१८	तिलकमाख	तिलकमाख°
२०२	६	शीखाया	शाखाया
२०२	२८	पा० टे०	प्र० ॥
२०२	२९	लीं० पि० । शाखाया वाप्रया र० हीं० ॥	×
२०३	१५	भावोकुर°	भावोऽङ्कुर°
२०३	३०	१।७।८५	१।६।४५
२०४	८	[कारग	[कारण
२०४	२०	ब्रुवान	ब्रूवान्
२०९	१०	तृप्ति	तृप्ति ,
२०९	२०	भवता	भवता
२१०	१८	चतुर्वर्ग°	चतुर्वर्ग°
२१०	२०	शास्त्रैरै	शास्त्रैरेवै
२१०	२०	वैसन्ते	वैसन्ते
२१०	२३	सन्धि°	सन्धि°
२११	१०	अतेउर	अनेउर
२१३	२	तेन तस्मै	तेन च तस्मै
२१३	८	मेघादिरेकत्र पटादि	पटादिरेकत्र मेघादि

पृ०	पं०	मुद्रितम्	शुद्धम्
२१३	२०	वर्णीति अयं तग	वर्णातम्, तत्र
	२५	शाब्दागम्ड	शाब्दा शब्द
२१५	२२	पूर्वागादि°	पूर्वावगादि°
२१६	२०	,,	,,
२१७	३०	दन्तादिना	दन्तादिना°
२१८	१०	°प्रमेनादि°	प्रमाणाद् सादि°
२२१	२	पूर्व पूर्व	पूर्वपूर्व
२२३	१०,	[illegible]	[illegible]
२२६	२३	°सर्वादि	°सर्वादि°
,,	,	महत्त्व°	महत्त्व°
२३८	५	[illegible]	[illegible]
,,	१०	[illegible]	[illegible]
२३९	८	°आगमात्त	[illegible]
,,	३१	°नेत°	नेतो
२४०	२६	[illegible]	[illegible] वर्य
२४२	५	निस्ति	निस्तिसिरं
,,	१२	[illegible]	[illegible]
२४८	२६	[illegible] ॥	[illegible] ॥
२५४	१	°नि । सर्व°	°नि सर्व°
२५८	८	[illegible]	[illegible]स्यते
,,	३०	२०१-२	२०२-१
२६०	५	[illegible]	[illegible]
२६५	३	[illegible]	[illegible]
२६६	३०	२०७	२६५
२६७	२३	[illegible]	[illegible]
,,	२९	°नत्य° पा० टे० लीं० ॥	°सत्य° प्र० ॥
,,	,,	टे० लीं० र० हीं०	प्र० ॥
२७१	१०	°पर्याय	°पर्याय ,
,,	,	°स्यात	°स्यात्,
२७३	३	[illegible]	°कावान ,
,,	१२	निशिष्टा	निशिष्टा,
२७४	१३	सत्वेन	सत्त्वेन,
२७९	४	सुखदुःखे	सुखदुःखे
,,		णात्मक	णात्मक
२८२	१	वेन्ध्या°	वन्ध्या°
,,	२९	भा० ॥	प्र० ॥
२८३	,,	प० १	प० ४
,,	,,	भा० ॥	प्र० ॥
२८७	३	वात्	वात्
२८७	१०	सन्निहित	सन्निहितं

पृ०	पं०	मुद्रितम्	शुद्धम्
२८७	१५	सावरन संयोगे	सत्त्वरज संयोगे
,,	२१	एव स्वरूप–	एव स्वरूप°
२८९	२०	सिध्दिद्	सिध्दिद् गुरु
२९०	२८	–	×
२९४	२९	प्र ॥	प्र० ॥
२९५	५	वृत्ति ।	वृत्तिरिति ।
२९६	१९	नियमनवनि,	नियमर्नवति,
२९८	४	पृथग्भावना°	पृथग्भवना°
३००	१४	दृष्ट	दृष्ट (दृ ?)
३०१	९	तैःप्रमकाति	तैःधानि
३०३	२८	त्वस्य	इत्यर्थ
३०४	५	प्रवृत्तिनीत्त्वात्	नाप्रवृत्तिनीत्त्वात्
३०६	२, ११	विस्पते	चेष्यते
,,	२	। शुद्धम्	॥दि शुद्धम्
३०८	१८	३१।१६६	।१।१६९
३०९	२	तद्वत्	स्वद्वत्
३११	१७	इदुन्मा	इदुम्य
३१२	१	°लेनोऽपरि	लेपरि
३१३	१०	वीन	वीत [आर्यीत]
३१४	३	[आर्यी स्य] था भाव	यावयभाव
३१६	१	नारस्वाद्	नारवाद्
३१८	८	द्वादामना	मद्रामना
,,	२७	२६०	२६८
३१९	१८	°नादिकास्य	नादि कायस्य
,,	१९	नानि	मानि ।
,,	२	°हारे मार्य°	°हारमय°
,,	२२	]	[
३२३	१६	°र्यादि	°र्यादिः
३३०	७	]	] इति ।
	२८	तदाप्पानं	सप्पापानाथ
३३१	११	न्धिति दिशा	मन्नियिण°
,,	२८	विवेर	विवेर
	२२	द्दर्शा	दृष्ट°
,,		११ नदिनाम १ निरिनमी	
	१८	३ दुर्गा दा इत नवान्तर्	
		१ हरस्वाभावनि पाठ ॥×	
	२ ४ १ ६	३ ४ ५	
	३० ७ ८	६ ७ ८	
		१ स्यपरि य० ॥	
		१० °मादि त्रम् प्र० ॥	
३३२	८	१ °स्यादि° इ ॥ १ गु । पाठ ।	
		२ मादि भेद व्यत्ययम् । नृ	
		स्थान प्र चे चा ॥	

पृ०	पं०	मुद्रितम्	शुद्धम्
३३६	४	धन्–	धन्
३३९	२५	तनेयरेणा°	तनेने यरणा
३४०	११	यावदयोवाम्य	यावद्[वेभे]वाम्य
,,	२४	तु	तु
३४२	६	मप्यनुमहक्रियाया अपि	महक्रियाया अपि
,,	९	तन्निरपेक्ष	तन्निरपेक्ष–
	१०	नैवयं	नैवयम्,
३४३	७	प्राप्तं	प्राप्तं (प्राप्त ?)
३४४	८	तदनुप्पानात्	तदनु प्पानात्
३४८	२७	टीकायां पाठ	टीकायाम्
३५०	६	°त्वमप्य	त्व(त्वा)मप्य
	१६	युग दय	युगा य
	२१	निर्यं प्रन	निर्यं प्रय
	२२	नि उन्यतो	निर्दयतो
,,	२३	अनर°	अनर°
३५४	१५	योऽप्यन्यथा	योऽप्यन्यथा
३५९	७	इति मम	इति । मम
३६०	१	°काय ।	काय
३६१	१	परिणाम्यपरिणाम	°परिणाम्यपरिणाम°
	१४	कनम्मा–	काम्, कम्मा–
	२१	पारिणाम्यस्य	परिणाम्यस्य
३६२	४	परिणाम्यपरिणा°	परिणामपरिणा°
,,	५	परिणाम्यन्तम्	परिण मतम्
३६७	११	निवर्तिन्यम्	निवर्तिन्यम्
	२९	(°क्रिया°	(क्रिया°
३७२	३	तस्य एव	तस्यैव
३७३	१२	भावनि°	भावनि
३७४	१	दृष्टा स एव दसमर्थ	स एव दसमर्थ [ ]
,,	१	इति	इति
	११	मानि	मानि
	२४–२	मन्तर इति ।	मन्तर इति
		मस । न । मस	नि ।
२	१३	भेदन	भेदन
२	११	मानविन प्रतीत इति	पगिरम् प्रतीतः
४	२३	द	दानं
९	१	नगप्तदेव	नगतदेव–
९	१६	।	×
१४	२१	कायुं	कायुं

पृ०	पं०	मुद्रितम्	शुद्धम्
१८	२२	दमुख्यो	द् मुख्यो
१४	२३	कार्यं	कार्यं
१४	३२	शोभनो भाति	×
१६	१८	न्योऽत्तर	न्यो उत्तर
२१	७	)	व्रीहीक्षीरोदना° ?)
२३	३६	५५२	४५३
२६	१४	तत्त्ववैशारद्या	तत्त्वकौमुद्या°
२७	७	„	„
२८	१३	विपर्य	प्रमेय
३०	२६	यंत्र	यंत्र
३०	३५	Preception	Perception
३१	४, ६	„	„
३२	४	पृ० ६२	पृ० ६३
३८	३५	प्रतिषेधभाव	प्रतिषेधाभाव
३७	७	पताका वृ०	पताकावृ०
३९	२१	प० २६	प० २५
„	२८	सुगति	सुगीत
४०	३४	°नित्य सम्प्र°	नित्यं सम्प्र०
४१	१७	नवम तु	नवमं दशममेकादश च पृ० ४३४ ४३५ इत्यत्र द्वादश तु
४८	१३,२१, २३,२४, २६,२८, ३१,३४, ३५	१०,११, १२,१३, १४,१५, १६,१७, १८	१३,१४, १५,१६, १७,१८, १९,२०, २१
४२	४,६,८, ९,११, १२	१९,२०, २१,२२, २३,२४	२२,२३, २४,२५, २६,२७
„	८०	योमवल्ला	व्योमवल्ला
४६	३९	]	[
„	८०	[	]
४७	२९	४८	४५
५०	१८	त्वैव लक्षण	त्वैवलक्षण
५५	२१	लौगाक्षि	लौगाक्षि–
५९	२२	विराद्व पुरु	विराट्पुरु
६८	११	प्रति पाठ साधु	प्रतिपाठ साधु
७३	१७	४।२७	४।२७।
७५	३५	ग्राह्यधर्मे	ग्राह्यधर्मे
७८	३७	४८६	[पृ० ४४६
८०	१०	,	„
„	१८	ऽत्रचिन्त्य	ऽत्र चिन्त्यः
८८	२३	विरुद्धश्वासा	विरुद्धश्चासा
९५	३६	Japan	Japan 1953

पृ०	पं०	मुद्रितम्	शुद्धम्
१००	३१	संख्या निरासश्च	संख्यानिरासश्च
१०१	३८	जात्यादिभिरसमान पृथक्कृता	जात्यादयोऽसमान पृथक्कृता
„	„		
१०२	३८	विशेषरहितं	विशेषणरहितं
१०४	९	कथं ?	कथम् ?
१०५	१६ १७	प्र० वा० म० २८०	प्र० वा० २८७
१०६	५	मु° दूषण° जैम्°	दूषण° जैम्° मु°
१०८	१६	टोम्°	दृष्टोम्°
„	३८	स्वरूपमपेक्ष्य	स्वरूपमनपेक्ष्य
११०	४	टो	डि
„	„	नि	जिद्
„	३०	Psv[1]	Psv[2]
१११	८	व जित ॥	पियद् रो ॥
„	१३	मूर्धोद्	मूर्धोद्
११२	१	गमुद्रम्	गमुद्र्
„	४	श्युर	ऽश्युर
११३	१	निश्चितम् ।	निश्चय. ।
„	२४	प्रकृष्टा प्रज्ञा अनुपज्ञा,	प्रज्ञातिशयो ऽनुत्पन्न ,
११४	१९	स्वयम् प	स्वये व
११९	२०	व्यभिचारोऽपि	व्यभिचारो
१२०	२४	१।१।८।	१।१।४।
„	२५-२६	तन्त्रान्तर	चेत् ×
१२१	२०-२१	[Psv] १।१।४	×
„	२७	विष्ठित	विष्ठिता
„	३२	१९८१	१९८ A
१२६	१३	पञ्चयन्ता	पञ्चम्यन्ता
१२८	५	अनेक	अत्र साधनमिति चैक
„	५	समस्ताना साधनत्व-	समस्तसाध-
„	„	प्रतिपादनाय ।	नत्वख्यापनार्थं ।
„	३६	तुलना– 'पक्षादि- वचनेन हेतुदृष्टान्तयो परिग्रह । बहूनामवयवाना साधनत्वाभिधानेऽपि साध- नमिति	तुलना– "उक्तं च दिङ्नागाचार्येण 'साधन- मिति
साध			
„	३७	ख्यापनार्थम्	ख्यापनार्थं
„	३८	१३–३३	१३, २३
१४१	६	४३८	४३८–४३९
१४२	८	मुञ्जेन	पुञ्जेन